आत्मपुराणम्

तृतीयो भागः

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन

काशी

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला—३९

श्रीमच्छङ्करानन्दसरस्वतीप्रणीतम्

आत्मपुराणम्

(उपनिषद्रत्नम्)

श्वेताश्वतर-काठक-तैत्तिरीय-गर्भाद्युपनिषद्व्याख्यारूपः
अध्यायचतुष्टयात्मकः
तृतीयो भागः

सत्प्रसवः
श्रीदत्तकुलतिलक-श्रीमद्रामकृष्णपण्डितकृतः

'दिव्यानन्द' हिन्दी व्याख्या
श्रीमत्परमहंस स्वामी स्वयम्प्रकाशगिरि

प्रकाशक
श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन, वाराणसी

प्रकाशक
श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
डी ४६/६, मिश्रपोखरा
वाराणसी २२१०१०

प्रथम संस्करण
शङ्कराब्द : १२१३
वैक्रमाब्द : २०५८
ख्रीष्टाब्द : २००१

मूल्य 390/- रुपये
तीन सौ नब्बे रुपये मात्र

अक्षर योजना
मानस टाइप सैटर,
४६४८/१, २१, अंसारी रोड,
नयी दिल्ली-२

मुद्रक :
महिम पत्रन प्रा. लि.,
5/161, सौंठ की मण्डी,
आगरा

ॐ

विषयानुक्रमणिका

ॐ

भूमिका

आचार्य श्रीशंकरानन्द की अतुलनीय उपनिषद्-व्याख्यारूप आत्मपुराण संस्कृत-हिंदी व्याख्याओं सहित क्रमशः प्रकाशित हो रहा यह सन्तोष व हर्ष का विषय है। प्रथम-द्वितीय खण्डों में सात अध्यायों द्वारा ऐतरेय, कौषीतकी और बृहदारण्यक उपनिषदों का विशद विवेचन हो चुका है। इस तीसरे खण्ड में चार अध्यायों से कृष्ण-यजुर्वेद की प्रधान उपनिषदें तथा गर्भादि अनेक स्वल्पकाय उपनिषदें विस्तार से समझायी गयी हैं। अंतिम खण्ड शीघ्र ही प्रकाशित होगा जिसमें साम-अथर्व वेदों की मुख्य उपनिषदें समाविष्ट हैं। औपनिषद विचार को समग्रता से समझने और हृदयंगत करने के लिये आत्मपुराणका श्रवण-मनन अत्यन्त उपयोगी है इसमें कोई सन्देह नहीं। यद्यपि वाक्ययोजनाओं में स्वतन्त्रप्रज्ञ आचार्य कई जगह भाष्योक्त ढंग से हट कर व्याख्या करते हैं तथापि किसी भी अंश में इसकी व्याख्या अद्वैतविरोधी नहीं है, प्रामाणिक व आदरणीय ही है। श्रुतिवाक्यों की एकाधिक प्रकार से योजना नहीं हो सकती ऐसा भाष्यकार का आग्रह नहीं रहा और न ही आचार्यों ने ऐसा कोई बंधन स्वीकारा है। उपनिषत्तात्पर्य के अवगम में उपयोगी सभी तरह की व्याख्यायें समुचित मानी जाती हैं क्योंकि शास्त्र-प्रयोजन सत्यविषयक अविद्या मिटाने में ही है, अमुक ढंग से ही वाक्यों का अर्थ समझा जाये इसमें नहीं। मूल सिद्धान्त के अनुसार की गयी सभी व्याख्याएँ इसीलिये परस्पर विरोधी नहीं होतीं बल्कि एक-दूसरे को समझने में सहायक ही होती हैं। भाष्यपंक्तियाँ आत्मपुराण से नहीं समझी जा सकतीं पर भाष्य का आशय समझने में इस ग्रन्थ का उपकार मना नहीं किया जा सकता। उपनिषद्व्याख्याओं में भाष्यके बाद आत्मपुराण का ही महत्त्व अविवाद है।

आठवाँ अध्याय श्वेताश्वतरोपनिषत् का अर्थ बताता है। कारण-विकल्प और असद्वाद का खण्डन इसके महत्त्वपूर्ण स्थल हैं जो शंकरानंद जी की विशिष्ट शैली के कारण आकर्षक और गंभीर दोनों बने रहते हैं। चक्र और नदी के रूपकों का विशदीकरण भी मनोरम है। सभी उपनिषदध्यायों का यथामन्त्र व्याख्यान पुराण की विशेषता है क्योंकि श्वेताश्वतर की संभवतः सबसे प्राचीन साम्प्रदायिक व्याख्या शंकरानंद जी की ही है। इस उपनिषत् पर अनेक आचार्यों ने टीका की है और सभी के ढंगों में कुछ-कुछ अंतर हैं पर इससे अध्येता को संशयग्रस्त नहीं होना चाहिये वरन् सभी के आलोक में उपनिषत् का रहस्य देखना चाहिये। श्रुति का आशय इतना गंभीर होता है कि सैकड़ों तरह भी शब्दों में उसे व्यक्त कर देने पर भी यह नहीं कर सकते कि अन्य तरह से उसे नहीं व्यक्त कर सकते! वेद का तात्पर्य तो एक अखण्ड तत्त्व ही है, उसे वर्णित करने के प्रकार असंख्य हैं।

नौवें अध्याय में कठोपनिषत् की व्याख्या है। सहज ढंग से साहित्यिक शैली में नचिकेता की कथा का वर्णन पुराण में मनोहर बन पड़ा है। वरों की संख्या आदि के विषय में भी सुस्पष्टता रखी गयी है। धर्मादि से अतीत आत्मा श्रेयोमार्गी को प्रणव की सहायता से श्रवण-मननादिपूर्वक कैसे प्राप्त हो इसका एक-एक कदम पुराणकार ने समझा दिया है। देहान्तर-सम्बन्धी आत्मा को शास्त्रानुसार युक्तियुक्त तरह से यहाँ समझाया गया है। छहों वल्लियों की पुराणकार ने व्याख्या कर दी है।

तैत्तिरीय व महानारायण उपनिषदें दसवें अध्याय का विषय हैं। महानारायण पर शांकरभाष्य न होने से शंकरानन्दीयव्याख्या का बहुत महत्त्व है। तैत्तिरीयकी शीक्षावल्ली उपासनाप्रधान होने से पुराणकार ने विद्या सूत्र से ही विस्तार किया है। कोशों का रूपक उपनिषद् में अत्यधिक महत्त्वका है और वेदान्तदर्शन में जीवतत्त्व के सन्दर्भ में सर्वत्र इसका अवलम्बन है। शुद्ध आत्मा की प्रतिपाद्यता का विरोध बिना किये कोश-कल्पना उपासना का भी क्षेत्र बन जाती है यह तैत्तिरीय वार्तिक में सुरेश्वराचार्य ने सूचना दी है। पुराणकार ध्यान के महत्त्व को समझने के कारण आत्मध्यान

के सभी प्रसंगों का उपयोग करते ही हैं। ब्रह्मनिश्चय में कामना आदि पाँच हेतु हैं इसे शंकरानंद जी ने सुव्यक्त कर दिया है। वारुणी विद्या और मुक्त का सामगान संक्षेप में समझाया गया है। महानारायण के कर्म-अंशों को छोड़कर ब्रह्मोपासना-अंशों का संग्रह पुराण में रोचक है। वेनके अनुभव के प्रकाशन में परतत्त्व का उल्लेख हो गया है। 'नारायण' शब्द की ग्यारह व्याख्यायें आचार्य की अप्रतिम प्रतिभा की साक्षी हैं।

ग्यारहवाँ अध्याय लगभग बारह उपनिषदों के सार का परिपाक करता है। इसमें वर्णित उपनिषदें दार्शनिक दृष्टि से भले ही अप्रधान कही जाती हैं पर साधक को मार्गदर्शन देने में इनका योगदान प्रधान कहलाने वाली उपनिषदों से भी ज़्यादा है। इनमें साधनाकी प्रक्रिया ही मुख्य है, पुराणकार ने भी इसी दृष्टि से इनका संग्रह और विस्तार किया है। पुत्रोत्पादन के महत्त्वके बोधक शास्त्रसंदर्भों की मीमांसा पुराण की विशेषता है। पंचीकरण को श्रौत सिद्ध करना तो शंकरानंदजी की सूझ है ही, पंचीकरण का अनुपात भी इन्होंने विलक्षण माना है जो गणितरसिकों को आनंद देगा। इस अध्याय का महत्त्वपूर्ण अंश संन्यासका सर्वांगीण वर्णन है। अधिकार, संस्कार, धर्म, और्ध्व-देहिक आदि सभी विषय विस्तार से समाविष्ट हैं। व्यासपूजा का मण्डलादि स्पष्ट किया गया है। मनोनिरोध के उपाय समझाने में गौडपादीय कारिकाओं की व्याख्या हो गयी है और धैर्य में टिट्टिभ के उदाहरण की साहित्यिक शैली में प्रस्तुति अतीव मनोहारी है। आत्मा की एकता जैसी अतीव कठिन बात पुराण में बहुत सरल ढंग से अनुभवारूढ कर दी गयी है। गौडपादीय अलात का दृष्टान्त भी प्रसंगानुसार प्रयोग में लाकर विषय स्पष्ट किया है। श्रीकृष्ण और उमा-महेश्वर के ध्यानोपयोगी वर्णन साधकों को याद करके अनुसन्धान के योग्य हैं। संन्यासियों में आदृत कैवल्योपनिषत् के विवरण में यह अध्याय समाप्त हुआ है।

आत्मपुराण के निहित गूढार्थ व्यक्त करने में संस्कृतकी 'सत्प्रसव' टीका अत्यन्त सक्षम है। श्री विश्वेश्वराश्रम के कृपापात्र रामकृष्ण पण्डित ने यह व्याख्या 'नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते' की नीति का अनुसरण करते हुए लिखी है जिसमें इनका वैदुष्य तो प्रतिपंक्ति झलकता है पर ग्रन्थ को कहीं भी बोझिल नहीं होने देता। कोई भी ऐसा स्थल नहीं जहाँ आवश्यकता हो और इन्होंने व्याख्या न की हो। जिस सहजता से ये मूलकार के आशय खोलते हैं उससे लगता है कि इन्होंने सम्प्रदायपरम्परा से यह ग्रंथ अवश्य पढ़ा होगा। आत्मपुराण पर कोई अन्य प्राचीन टीका उपलब्ध नहीं है। श्रीचिद्घनानन्द जी ने अपने आत्मपुराण-अनुवाद में भी संभवतः इस टीका से सहयोग लिया है। प्रस्तुत संस्करण की हिन्दी व्याख्या में स्वयम्प्रकाश गिरि ने सत्प्रसव का संपूर्ण संग्रह करने का प्रयास किया है। टिप्पणी में व्याख्येय श्रुतियों का समग्र पाठ दिखा देने से अध्येता को सरलता हो गयी है। विषय के स्पष्टीकरण के लिये हिंदी में कहीं-कहीं विस्तार हो गया है पर प्रायः मूल व टीका का ही प्रांजल भाषा में उपस्थापन है। आशा है मुमुक्षु साधक आत्मपुराण समझकर तदनुसार साधनापूर्वक परम कल्याण के भागी बनेंगे।

श्रीशंकर मठ, आबू

भगवत्पादीय
महेशानन्द गिरि

ॐ

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

आत्मपुराणम्

(उपनिषद्रत्नम्)

श्वेताश्वतरोपनिषत्-सारार्थप्रकाशः

श्वेताश्वतर-संन्यासिसंवादः

अष्टमोऽध्यायः

याज्ञवल्क्येरितं ब्रह्मज्ञानं श्रुत्वाऽतिविस्मितः। शिष्यः पुनरिमं प्रश्नं कृतवान् स्वगुरुं प्रति।।१

सत्प्रसवः

सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च श्वेताश्वतरदर्शितः। देवोऽष्टमूर्तिः सर्वात्मा सम्यगष्टम ईर्यते।।

शिष्यप्रश्नं पूर्वोक्तानुवादपूर्वकमभिनयति-याज्ञवल्क्येरितमिति द्वादशभिः। स्पष्टं द्वयम्। परन्तु[1] उक्तम्

'उपनिषद्रत्न' आत्मपुराण में

श्वेताश्वतर-उपनिषत् के सारभूत अर्थ का प्रकाशक

'श्वेताश्वतर ऋषि का संन्यासियों से संवाद' नामक

आठवाँ अध्याय

भगवत्तत्त्व प्रत्यग्रूप से निरावृत प्रकाशमान हो तभी कर्तृत्व-भोक्तृत्व के क्लेशमय भँवर से जीव बच सकता है। वह निरावरण असन्दिग्ध अनपोह्य प्रमा से ही सम्भव है जो श्रद्धेय प्रमाण पर निर्भर है क्योंकि सामान्य ज्ञानोपाय आत्मा को ही विषय नहीं करते तो उसकी व्यापकता का प्रकाशन कर पायें इसकी सम्भावना कहाँ ! केवल आत्मा के और उसके भी व्यापक स्वरूप के बारे में प्रतिज्ञापूर्वक प्रतिपादन प्रमाणभूत वेद के सिवाय और कोई ज्ञानसाधन करता नहीं अतः श्रौत तात्पर्य का अवधारण कर लेना ही अनन्त आत्मा का बोध है जिसे स्वानुभव से अविरुद्ध समझने में युक्तियों का उपयोग और जब तक वह बोध हमारी ग़ैरजानकारी मिटा न दे तब तक उसे भुला न देने में समाधि का विनियोग है। अत्यन्त विस्तृत वेद का तात्पर्य निश्चित करने के लिये आवश्यक है उन सभी स्थलों का विचार करना जहाँ आत्मस्वरूप का सप्रसंग उपस्थापन है और फिर उन वचनों से अतिरिक्त प्रकरणों में भी यह देखना कि निर्णीत तात्पर्य के अनुसार समग्र वेद का सामंजस्य कैसे है। जैसे काले रूप से निश्चित कौवे को आँख सफेद देखे तो यह सोचकर सन्तोष नहीं किया जा सकता कि 'अपने-अपने विषयों में प्रमाण सीमित हैं अतः वर्ण में आँख भी सही ज्ञानोपाय है और छूने से, शब्द आदि से कौवा पता चल रहा है तो वे भी सही ज्ञान ही दे रहे हैं' क्योंकि प्रमेय-स्वरूप में प्रवेश पाने वाले

---

१. परं—श्लोकान्ते 'उक्तम्' इति शेष इत्यर्थः।

शिष्यप्रश्नः

भगवन् ! भवता ब्रह्मज्ञानमाख्यानसंयुतम्। ऐतरेयोदितं तद्वत् कौषीतकिसमीरितम्। ।२
आदित्येन तथा प्रोक्तं यत्र चित्रकथा इमाः। इन्द्रप्रतर्दनौ यत्र गुरुशिष्यौ महाबलौ।।
अजातशत्रुबालाकी सर्वज्ञसदृशौ तथा। ।३

इति।।१-२।। आदित्येनेति। यत्र यदुपबृंहणार्थम्। यत्र आदित्यप्रोक्तज्ञाने।।३।। काण्डत्रयस्येति। भेदाऽभेदाभ्यां सभी प्रमाण परस्पर सामञ्जस्य वाली प्रमा ही उत्पन्न करने पर प्रमाण स्वीकारे जा सकते हैं वैसे ही वेद के विभिन्न वाक्य आत्मा के बारे में एकरूप समंजस बोध उत्पन्न करने पर ही प्रमाण हो सकते हैं, यह संभव नहीं कि कहीं आत्मा को व्यापक तो कहीं सीमित बताये और दोनों बाते सही हों और न यही हो सकता है कि वेद का कोई भी वाक्य अप्रमाण हो ! इसलिये समस्त वेद का समन्वय अद्वैत आत्मा में समझना ज़रूरी हो जाता है जिसे 'श्रवण' नाम से कहा जाता है। श्रवण का क्षेत्र समग्र वेद होने पर भी सर्वप्रथम एवं प्रधानतः विचारणीय वे भाग हैं जिनका आत्म-प्रबोधन से अतिरिक्त कोई अन्य प्रयोजन नहीं और आत्मा के बारे में जो विविध प्रकार से कुछ-न-कुछ बताते हैं। वेद के ऐसे भागों को 'उपनिषत्' कहा जाता है जो यद्यपि सैकड़ों हैं तथापि प्रतिनिधिरूप से चुने हुए कुछ स्थल हैं जिन पर ऊहापोह-पूर्वक आचार्यों ने विस्तृत विचार किया है एवं जिनमें आयी उन बातों पर आचार्य श्री बादरायण ने विवेचनपूर्वक निर्णय दिया है जिनके बारे में पूर्ण विचार न करें तो ग़ैरसमझी मुमकिन है। ऐसी उपनिषदों में दस पर भगवान् श्रीशंकराचार्य ने भाष्यों का प्रणयन किया है तथा अनेकों पर अन्यों ने व्याख्यायें रची हैं। भाष्य क्योंकि श्रुति के पदक्रम का ही अनुगमन करता है और अत्यन्त प्रबुद्ध शिष्यवर्ग के साथ-साथ प्रतिवादियों को भी सम्बोधित करता है इसलिये अल्पमेधा वाले जिज्ञासु उससे उपनिषदर्थ पूरी तरह समझ पाने में स्वयं को अक्षम पाते हैं। भाष्य पर भगवदानन्दगिरि तथा कुछ अन्य आचार्यों की टीकायें अवश्य हैं पर सभी पंक्तिशः प्रबोधन की प्राचीन परिपाटी पर प्रतिष्ठित होने से पर्याप्त बुद्धिकौशल एवम् एकाग्रता के बिना सुबोध नहीं हैं। प्रस्थानत्रयीव्याख्याता आचार्य श्री शंकरानन्द जी ने अत्यन्त कृपालु होकर अनुपम कल्पनाशील अनुसन्धान का परिचय देते हुए उपनिषदों को समझना चाहने वाले साधकों के लिये एक दुर्लभ खजाना खोल दिया है जिसमें उपनिषदें ही रत्न हैं; उस निधि का नाम 'आत्मपुराण' है। वेदक्रम से प्रसिद्ध उपनिषदों को समझाते हुए अब आठवें अध्याय में वे कृष्णयजुर्वेद की श्वेताश्वतर नामक उपनिषत् के सारभूत अर्थ को अपनी दिव्य प्रज्ञा के आलोक से अनावृत करेंगे। सातवें अध्याय में मैत्रेयी को याज्ञवल्क्य महर्षि द्वारा दिया उपदेश समझाते हुए बताया था (श्लो. ५१२) कि कारणविचार से जिसका दर्शन मुनीश्वरों ने पाया उस गुणवती आत्मशक्ति के मिथ्यात्व को समझते हुए याज्ञवल्क्य ने संन्यास ग्रहण किया। उस सूचना से प्रेरित होकर शिष्य उसी कारणविचार के बारे में जिज्ञासा करता है जिसके उत्तर में पुराणप्रवक्ता श्रीगुरु श्वेताश्वतर उपनिषत् की विस्तृत व्याख्या उपस्थापित करेंगे।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने निरवधिक प्रिय मुख्य आत्मा के स्वरूप का जो प्रबोधन किया उसका गुरुमुख से वर्णन सुनकर शिष्य को अत्यधिक विस्मय हुआ (कि अहो ! जिसकी मैं उपेक्षा-सी किये बैठा हूँ वह निज आत्मा कितना महत्त्वशाली है) और उसने अपने गुरु के सम्मुख पुनः आत्मप्रबोधार्थ प्रश्न उपस्थित करते हुए अब तक बताया विषय स्मारित कराया।।१।।

शिष्य ने कहा—हे भगवन् ! आपने अनेक कथायें संजोते हुए आत्मा के सर्वभेदरहित व्यापक स्वरूप का ज्ञान कराने वाला उपदेश देकर मुझे कृतार्थ किया। आत्मपुराण नामक इस प्रवचनमाला में सर्वप्रथम आपने ऐतरेय महर्षि द्वारा प्रकट किये ब्रह्मबोध का व्याख्यान किया। इसी तरह कौषीतकी ऋषि ने भली भाँति जो परमेश्वर के बोध का वर्णन किया है उसे आपने मुझे समझाया।। २।। एवं साक्षात् भगवान् आदित्य द्वारा प्रवर्तित शाखा में आये ब्रह्मप्रसंगों पर भी आपने प्रभूत प्रकाश डाला। इन सभी विषयों का विस्तार करने के लिये आपने ये विविध एवं मन-मोहक कथायें

काण्डत्रयस्य वंशोऽपि भेदाऽभेदविभेदवान्। ऋषिणा सह संवादोऽह्यश्विनोर्देवयोस्तथा।।
दध्यङ्ङाथर्वणेनापि शक्रस्यामिततेजसः।।४
दध्यङ्ङाथर्वणस्यैव गुरुता शिष्यताऽपि च। अश्विनोरस्य सङ्क्लेशो मरणान्तस्तथा मुनेः।।५
संवादो याज्ञवल्क्यस्य ह्याश्वलाद्यैर्द्विजोत्तमैः। नानादेश्यैश्च मरणं शाकल्यस्यातितेजसः।।६
भूपतेर्जनकस्याऽपि शिष्यता गुरुता तथा। धीमतो याज्ञवल्क्यस्य मैत्रेय्याश्चापि शिष्यता।।७
गुरुता याज्ञवल्क्यस्य कथिता सोऽपि वै द्विजः। संन्यस्य सर्वकर्माणि ह्यविद्यां स्वात्मनि स्थिताम्।।८
दृष्टवान् पृथगेवाऽयं यथापूर्वं मुनीश्वराः। कारणानां विचारेण दृष्टवन्तो महाधियः।।९
अत्र तेषां मुनीशानां विचारः कीदृशो गुरो। जातः सभा वा बुद्धिर्वा कथं केनैव कीदृशी।।१०

भिन्नः।।४।। दध्यङ्ङाथर्वणस्येति। अश्विनोः शिष्यता, अस्य दध्यङ्ङाथर्वणस्य।।५।। पञ्चमाध्यायार्थमनुवदति—संवाद इति।।६।। षष्ठसप्तमयोरर्थमाह—भूपतेरिति। जनकस्य याज्ञवल्क्यशिष्यता षष्ठ उक्ता, मैत्रेय्याः तच्छिष्यता तु सप्तम उक्ता। तत्र सप्तमान्ते यदुक्तं—याज्ञवल्क्यः संन्यस्य अविद्याख्यामात्मशक्तिं परमार्थात्मस्वरूपात् पृथग्दृष्टवान् यस्याः शक्तेः स्वरूपं मुनिभिः कारणस्वरूपेण दृष्टमिति—अत्र पृच्छ्यते—तेषां मुनीनां विचारः कीदृशो जातः ? तेषां सभा च कीदृशी जाता ? तत्र केन वादिना बुद्धिः स्वस्वाभिप्रायरूपा कीदृशी कथं च प्रकटिता ? इति चतुर्णामर्थः।।७-१०।। कारणानामिति। तेन विचारेण मुनिभिः किं कारणं निश्चितम् ? ब्रह्म वा ? अन्यत्

भी सुनायीं: (सबसे पहले प्रजा-ऋषि संवाद, इन्द्र-यति संवाद, वामदेव-कथा आदि का वर्णन किया। फिर) वह घटना सुनायी जिसमें अत्यंत बलिष्ठ देवराज इंद्र गुरु और उसी प्रकार के मानवराज काशीनरेश प्रतर्दन शिष्य थे। सर्वज्ञतुल्य राजा अजातशत्रु ने दर्पयुक्त किंतु पर्याप्त विद्वान्—शास्त्रज्ञ एवं उपासक—बालाकी गार्ग्य को जैसे परब्रह्मविद्या में शिक्षित किया यह भी आपने सरस ढंग से बताया। आदित्य द्वारा बतायी विद्या के तीन हिस्से हैं—मधुकाण्ड, मुनिकाण्ड और खिलकाण्ड—जिनकी आचार्यपरंपरा को 'वंश' कहते हैं। उपनिषत् में तीन जगह वंशवर्णन है जिस पर अपूर्व अनुसन्धान कर आपने स्पष्ट किया कि उन वंशों में विभिन्न नामों से किन-किन व्यक्तियों का उल्लेख है और कौन-कौन विभिन्न व्यक्ति ही परंपराओं में हैं। दधीचि ऋषि का अश्विनी कुमारों से जो संवाद हुआ, उन्हीं ऋषि का अतुलवीर्य इन्द्र से जो संवाद हुआ, वे ऋषि अश्विनी कुमारों के गुरु बने, मरणान्त क्लेश पाकर भी उन्होंने अपना वचन निभाया और कुमारों को मधुविद्या का सम्पूर्ण उपदेश दिया, यह रहस्य एक ऋषि ने देववैद्यों को आद्योपान्त सुनाया—यह सब भी आपने मुझे बताया।। ३-५।। (फिर पाँचवें अध्याय में) आपने याज्ञवल्क्य महर्षि के उस संवाद का विवरण किया जो अनेक देशों से आये आश्वल आदि उत्तम ब्राह्मणों से उन आदित्यशिष्य ऋषि का हुआ था और जिसके अन्त में अतितेजस्वी शाकल्य ब्रह्मवेत्ता से द्वेष करने के फलस्वरूप दुर्गतिपूर्ण अकालमृत्यु को प्राप्त हुआ था।। ६।। (छठे अध्याय में) राजा जनक ने विद्वान् याज्ञवल्क्य का शिष्य बनकर जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया (जिसे देते हुए याज्ञवल्क्य को भी राजा की सूक्ष्मदर्शिता पर आश्चर्य हुआ था) वह आपने विस्तार से मुझे समझाया। (सातवें अध्याय में) याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रयी ने शिष्य बनकर अपने गुरु याज्ञवल्क्य से आत्मा की प्रियरूपता का जो ज्ञान प्राप्त किया उसका आपने वर्णन किया। उसी प्रसंग में आपने बताया कि वे ब्राह्मण याज्ञवल्क्य सभी कर्मों का संन्यास कर घर छोड़कर चल दिये। आपने बताया था कि उन मुनीश्वर ने स्वात्मा में अवस्थित अविद्याको अपने से पृथक्—अर्थात् मिथ्या—ही समझ लिया था जैसे पहले कभी महाविद्वान् श्रेष्ठ मुनियों ने कारणविचार से समझा था।। ७-९।।

हे गुरुदेव ! अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि उन पूर्वकालिक मुनियों ने कारणविषयक क्या विचार किया था, उनकी सभा कैसी हुई थी, उसमें किस-किस वादी ने अपने क्या-क्या अभिप्राय किस-किस तरह प्रकट किये।।१०।।

कारणानां विचारेण कारणं किं मुनीश्वरैः। निश्चितं ब्रह्म वाऽन्यद् वा निश्चयोऽपि च कीदृशः।।११
तेषां महात्मनामासीद् गुरो ! त्वं तद् वदाऽधुना। कृपया परया मह्यमवक्तव्यं न तेऽस्ति हि।।१२

गुरोरुत्तरम्

एवमुक्तोऽतिसंहृष्टो गुरुः शिष्यमभाषत। शृणु वत्स कथामेतां श्वेताश्वतरकीर्तिताम्।।
यतिभ्योऽतिविरक्तेभ्यो ह्यर्थिभ्यो ब्रह्मवेदने।।१३
श्वेताश्वतरमासीनं तपसा दग्धकिल्बिषम्। यतयः कुत्रचिद् दृष्ट्वा पप्रच्छुस्तं महाधियम्।।१४

यतीनां जिज्ञासा

श्वेताश्वतर ! ते स्वस्ति वेदशाखाप्रवर्तिने। ब्रह्मज्ञानं स्वशाखोत्थं भिक्षां यच्छाऽद्य नो मुने।।१५
भवता यादृशं ब्रह्मज्ञानं प्राप्तं स्वयंभुवः। तद् वयं श्रोतुमिच्छाम एतदर्थमिहागताः।।१६

किंचिद् वा ? एवं तेषां महात्मनां सर्वेषां सिद्धान्तनिश्चयश्च किमाकारकः ? एतत् सर्वं वद यतो मत्सकाशाद् गोप्यं तव नास्ति। इति द्वयोरर्थः।।११-१२।।

एवं पृष्टो गुरुः श्वेताश्वतरेण मुनिना या ब्रह्मविद्या तदर्थिभ्य उक्ता तां वर्णयितुमुपचक्रम इत्याह—एवमिति।।१३।। तत्र श्वेताश्वतरमुनिं प्रति अर्थिनां यतीनां प्रश्नादिकमुपोद्घाततया कथयति—श्वेताश्वतरमिति नवभिः। तं प्रसिद्धम्।।१४।। श्वेताश्वतर ! त इति। ब्रह्मज्ञानरूपां भिक्षां देहीति।।१५।। भवतेति। स्वयंभुवः तपसाऽनुस्मृताद् वेदाद्, हिरण्यगर्भाद् वा, भवता यादृशं ज्ञानं प्राप्तं तद् ज्ञानम् एतदर्थं श्रोतुमिहागताः

संभावित कारणों के विचार द्वारा उन उत्तम मुनियों ने किसे कारण रूप से निश्चित किया ? जिसका आपने प्रधान रूप से वर्णन किया है क्या उस ब्रह्म को ही उन्होंने कारण माना या ऐसे निश्चय पर पहुँचे कि ब्रह्म से अन्य ही कुछ कारण है ? कारणता के सिद्धान्त के बारे में उन सब महात्माओं का कैसा निश्चय था ? हे गुरो ! क्योंकि आपकी परम कृपा से आपने मुझसे छिपाने लायक कोई रहस्य नहीं रखा इसलिये आप मुझे इस बारे में भी प्रबोधित करें।। ११-२।।

शिष्य की इस जिज्ञासापूर्ण प्रार्थना से गुरु को बहुत प्रसन्नता हुई और उन्होंने यों कहना प्रारंभ किया: हे वत्स! अत्यंत वैराग्यशील और परमात्मदर्शन के लिये समुत्सुक यतियों को महर्षि श्वेताश्वतर ने जो कथा सुनाई उसका मैं खुलासा करता हूँ, तुम एकाग्र-चित्त होकर सुनो।।१३।।

महादेव के कृपापात्र महर्षि श्रीश्वेताश्वतर ने तप के प्रभाव से समस्त दोष जलाकर समाप्त कर दिये थे। (व्रत आदि से दुष्कृतों का तो नाश कर ही लिया था, विचारात्मक एकाग्रतारूप परम तप से ज्ञानाग्नि प्राप्त कर सभी कर्मों को व उनके कारणभूत अज्ञान को भी भस्मसात् कर दिया था।) सबसे महान्, व्यापक परमात्मा ही उनकी बुद्धि में, विचारों में छाया रहता था। सौभाग्य से कुछ उत्तमाधिकारी संन्यासियों को उन श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ का दर्शन हुआ तो उन सबने उनके संमुख अपना प्रश्न उपस्थापित किया।।१४।।

संन्यासी बोले—वेद की एक शाखा का ही प्रवर्तन करने वाले हे श्वेताश्वतर ऋषि ! आपको हर प्रकार का मंगल प्राप्त हो। हम लोगों को भिक्षा में आज आप अपने नामसे अंकित शाखा में प्रकाशित परमात्मज्ञान ही प्रदान कीजिये।।१५।। साक्षात् हिरण्यगर्भ ने जिस अनादि वेद का आपके चित्त में स्फुरण कराया उसके विचार से आपने जैसा ब्रह्मज्ञान पाया है वह हम सुनना चाहते हैं। हमारे यहाँ आने का यही प्रयोजन है।।१६।। इस यतिसमूह में अनेक सम्प्रदायों के अनुसर्ता साधक हैं जिनकी कारणविषयक विभिन्न दृष्टियाँ हैं— कारणता के बारे में तथा संसार का क्या कारण इस बारे में अलग-अलग मत हैं। जगत् के कारण के सम्बन्ध में हम लोगों में बहुत गम्भीर विचार चला था।

अस्माकं कारणे वादो यतीनां सुमहानभूत्। भिन्नकारणदृष्टीनां सम्प्रदायविभेदिनाम्।।१७
चिरकालं वयं सर्वे संवाद्य च परस्परम्। इतरेतरसङ्केतं कृत्वा त्वां हि समागताः।।१८
श्वेताश्वतरनामाऽयं वेदशाखाप्रवर्तकः। कारणं यदयं ब्रूयात् तदस्माभिर्यतीश्वराः।
अभिवादेन निखिलैरङ्गी कार्यमसंशयम्।।१९
पक्षपातेन रहितः सर्वज्ञोऽयं मुनीश्वरः। शत्रौ पुत्रे स्वदेहे च विषमो न कदाचन।।२०
इत्थं विधाय सङ्केतं वयमत्र समागताः। छिन्धि नः संशयान् ब्रह्मन् स्वस्ति ते मुनिपुङ्गव।।२१

श्वेताश्वतरप्रवचनम्

एवमुक्तो यतीन् प्राह यथान्यायमुपागतान्। कारणं यदहं तत्ते कथयामि महामते।।२२
ब्राह्मणा[1] बहवः पूर्वं यतयो वेदवादिनः। षडङ्गकुशलास्तद्वद् ऊहापोहविशारदाः।।२३
शिष्या नाना गुरूणां च केचिद् ब्रह्मविदामपि। यथा भवन्तो यतय एकत्र मिलिताः क्वचित्।।२४

स्मेति सम्बन्धः।।१६।। 'एतदर्थं' किमर्थम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्, विप्रतिपत्तिजन्यसंशयवारणार्थम्[2] इति दर्शयन्ति—अस्माकम् इत्यादिना। सम्प्रदायभेदेन भिन्नं भिन्नं कारणं मन्यमानानाम् अस्माकं जगतः कारणे विवादः अभूद् इत्यर्थः।।१७।। चिरकालमिति। सङ्केतं कर्तव्यनिश्चयम्। स्पष्टमन्यत्।।१८।। सङ्केतमभिनयन्ति—श्वेताश्वतरनामेति द्वाभ्याम्। अयं मुनिः यत् कारणं ब्रूयात् तद् अस्माभिः सर्वैः प्रणम्य अङ्गी कार्यम् इत्यर्थः।।१९।। तत्र हेतुतया मुनेराप्ततामाहुः—पक्षेति।।२०।। इत्थमिति। स्पष्टम्।।२१।। गुरुः शिष्यं प्रत्याह—एवमिति। एवं पृष्टः श्वेताश्वतरो मुनिः तेभ्यो यतिभ्यो यद् उक्तवांस्तदहं तुभ्यं श्रावयामीत्यर्थः।।२२।।

तत्र[2] 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति' इति ब्राह्मणभागस्य अर्थं प्रपञ्चयति—ब्राह्मणा इति नवभिः। श्वेताश्वतर उवाच—हे यतयः ! यथा इदानीं भवन्तो मिलिताः समवेताः तथा पूर्वम् अपि नानाविधमुनीनां समाजोऽभवद्।

आपस में हमने बहुत समय तक पक्ष-प्रतिपक्षों की परीक्षा की पर निश्चय पर नहीं पहुँच पाये तब हम ऐकमत्य से यह निर्णय कर आपके पास आये हैं कि 'श्वेताश्वतर' नाम वाले आप अत्यन्त आप्त मुनीश्वर हैं क्योंकि स्वयम्भू वेद की एक शाखा आपसे ही प्रवृत्त हुई है जो तब तक संभव नहीं था जब तक आप भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा से सर्वथा रहित और वास्तविकता के ज्ञाता एवं प्रवक्ता न होते; आप कारण के विषय में जो भी निर्णय देंगे वह हम सभी सादर स्वीकारेंगे, उसकी यथार्थता में हम कोई संशय नहीं रखेंगे (समझ में बैठाने के लिये चाहे जितनी उपपत्तियाँ लगायें)। प्रपञ्च और इससे परे जो कुछ भी जानने लायक है वह आपसे तिरोहित नहीं। शत्रु, पुत्र और यहाँ तक कि अपने शरीर के लिये भी आप किसी तरह की तरफदारी नहीं करते, आपमें कभी भी भेदभाव नहीं देखा गया, हमेशा समान प्रवृत्ति ही रहती है। इन सब विशेषताओं का आकलन कर ही हम सब आप पर श्रद्धा रख यहाँ एकत्र हुए हैं कि आपका निर्णय हम सब शिरोधार्य करेंगे। हे मुनियों में वीर्यवत्तम ! ब्रह्मस्वरूप महर्षि ! आप हमारे संशय मिटाने की कृपा करें।। १७-२१।।

शिष्टतापूर्वक शिष्यभाव से समीप आये यतियों के अनुरोध पर श्वेताश्वतर महर्षि ने उन्हें कारण के संदर्भ में जो कुछ बताया वह मैं (—पुराणप्रवक्ता) तुम्हें सुनाता हूँ। महद् ब्रह्म का साक्षात्कार पाने के लिये तुम कृतनिश्चय हो अतः तुम्हें सुनाने-समझाने में मुझे भी उत्साह है।।२२।।

१. श्वेताश्वतरस्य 'सह नाववु' त्वित्यादिशान्तिः। 'ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति' इत्यारम्भः।
२. नात्र जल्पकथाप्रवृत्तिः किन्तु बुभुत्सामूलो वाद एवेत्यर्थः। व्युदसनीयतया संशयस्य, तज्जननयोग्यतया च विप्रतिपत्तिवाक्यस्य विचाराङ्गताऽऽकरेषु समर्थिता।

तेषु ब्रह्मविदः केचिद् एताननुजिघृक्षवः। इदं वचनमाहुस्ते निरीक्ष्यैव परस्परम्।।२५
भवन्तो ब्राह्मणाः सर्वे वेदवेदाङ्गपारगाः। अत्रागता महाभागा लोकानुग्रहकारिणः।।२६
समाजो भवतां तस्माद् एष लोकोपकारकः। भवताद् ब्राह्मणा हेतुर्जगतोऽत्र विचार्यताम्।।२७
परित्यज्य कथा एता लौकिकीर्ग्लानिहेतुकाः। वचसो मुनिशार्दूला भवद्भ्यो रोचते यदि।।२८
एवमुक्तेऽथ ते सर्वे संहृष्टा जातकौतुकाः। ब्राह्मणा मिलितास्तत्र तर्ककर्कशबुद्धयः।।
कारणं जगतः श्रोतुमूचुस्तान् ब्रह्मवादिनः।।२९

इति द्वयोरर्थः।। २३-२४।। तेष्विति। तेषां समुदितानां मध्ये केचिद् ब्रह्मविद एतान् अविज्ञान् अनुग्रहीतुमिच्छन्तः एवमूचुरिति।। २५।। 'एवं' कथम् ? इत्याकाङ्क्षायां तद्वाक्यमभिनयति—भवन्त इति त्रिभिः। भो ब्राह्मणाः ! भवतां लोकोपकारिणाम् अत्र देशे समाजो लोकोपकारायाऽस्तु। स च लोकोपकार इदानीं वाचोग्लानिहेतुभूता लौकिकीः कथाः विसृज्य जगत्कारणविचारेण सिद्ध्येत्। इति त्रयाणामर्थः।। २६-८।। एवं ब्रह्मविद्भिरुक्ते सति इतरे तर्कप्रधाना विप्रा 'एवम्' आहुरित्याह—एवमुक्त इति।। २९।। इतरवाक्यमभिनयति—भवन्त एवेति।

श्री श्वेताश्वतर महामुनि ने कहना आरंभ कियाः हे ब्रह्मविविदिषुओं ! जैसे आप यति लोग आज यहाँ इकट्ठे हुए हैं ऐसे ही प्राचीन काल में बहुत-से वेदविचारक कहीं एकत्र हुए थे। उनमें प्रायः सब वेद के छहों अंगों में निष्णात थे—वेदोच्चारण का सही ढंग, वैदिक कर्मों के अनुष्ठान की शास्त्रीय प्रक्रिया, वैदिक वाक्यों व शब्दों के उचित सम्बन्ध, वैदिक शब्दों के सन्दर्भानुकूल अर्थ, वैदिक कर्म करने के उचित काल और वैदिक मन्त्रों में प्रयुक्त छन्द, इन छहों हिस्सों समेत वेद के जानकार थे—तथा स्थापित परम्पराओं के अनुसार वेदार्थ के विषय में शंकाओं के उद्भावन और उनके संमाधान में समर्थ थे। अनेक गुरुजनों के वे शिष्य थे (अर्थात् प्रत्येक ने भी अनेक विद्वानों से शिक्षायें ग्रहण की थीं तथा अलग-अलग आचार्यों के छात्र भी वहाँ मौजूद थे)। उनमें कुछ यति ऐसे भी थे जो ब्रह्मवेत्ताओं के शिष्य थे।। २३-४।। उनमें जो कुछ परमात्मबोद्धा थे उन्हें वहीं उपस्थित अज्ञ यतियों पर अनुग्रह करने की इच्छा हुई। एक-दूसरे को साभिप्राय देखकर ही सब ब्रह्मज्ञों ने समझ लिया कि सभी उस समय कृपावश ब्रह्मप्रवचन के लिये तैयार हैं अतः उन्होंने ये वचन कहना प्रारंभ किया :।। २५।।

'हे ब्राह्मणो ! वेदों में और वेद के छहों अंगों में तलस्पर्शी ज्ञान वाले आप सभी महानुभाव यहाँ उपस्थित हुए हैं जो स्वभावतः साधारण लोगों पर अनुग्रह करते हैं अतः यही उचित है कि आपका यह सम्मेलन लोगों का उपकारक सिद्ध हो। इसके लिये हम समझते हैं कि यदि आप सब को उचित लगे तो लोकव्यवहार-विषयक अतएव ग्लानिप्रद वार्तालाप छोड़कर यह विचार किया जाये कि इस सारे जगत् का कारण क्या है। आप सब मनन करने में विचक्षण हैं अतः (जिसमें विचार की अपेक्षा सामयिक प्रचलन ही प्रधान हुआ करता है ऐसे लोकव्यवहार के बारे में कहने-सुनने में समय न गवाँकर और क्योंकि वह व्यवहार अधिकतर शास्त्रीय मर्यादाओं का उल्लंघन करने वाला ही होता है इसलिये आप जैसे पारंपरीणों को उसकी जानकारी दुःख ही देती है, उससे भी बचकर आत्मकल्याण के हेतुभूत और आपकी सामर्थ्य के अनुरूप जो शास्त्रयुक्ति के अनुसार संसारकारण का विचार है उसी में आप प्रवृत्त हों)।' ।२६-२८।।

विद्वानों द्वारा यों कहा जाने पर वहाँ इकट्ठे हुए सभी ब्राह्मण प्रसन्न हुए। क्योंकि उनकी बुद्धियाँ तर्क करने में सूक्ष्म गति वाली थीं इसलिये उन्हे कौतूहल भी हुआ कि प्रत्यक्षादिमात्र से अनिर्णेय यह विषय किस प्रकार निर्धारित होगा कि इतने बड़े समुदाय के सभी विचारक सन्तुष्ट हो जायें ! जगत् का कारण क्या है यह सुनने के लिये तार्किक विप्रों ने ब्रह्मवादियों से ही कहा—'हे मुनियो ! आप अत्यन्त विद्वान् हैं, आप ही जगत् के कारण के बारे में बतायें, यहाँ एकत्र हुए हम सब सुनेंगे।' ।२९-३०।।

भवन्त एव मुनयः कीर्तयन्तु महाधियः। कारणं जगतः सर्वे श्रोष्यामः सङ्गता वयम्।।३०
इत्युक्ता मुनिवर्यास्ते सर्वदा स्वात्मवेदिनः। तर्ककर्कशबुद्धींस्तान् ज्ञात्वा मीमांसयोचिरे।।३१

स्पष्टम्।। ३०।। इत्युक्ता इति। एवम् उक्तास्ते ब्रह्मविद इतरद्विजांस्तार्किकान् ज्ञात्वा मीमांसया मीमांसारीत्या विषय-संशय-पूर्वपक्षादिरूपाधिकरणोपन्यासेनेति यावद्, उक्तवन्त इत्यर्थः। 'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्। प्रयोजनं च पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्।।' इति।।३१।।

हमेशा अपने स्वरूप का जिन्हें स्फुरण बना रहता है ऐसे श्रेष्ठ मुनियों से जब उक्त प्रार्थना की गयी तब उन्होंने यह जानते हुए कि उपस्थित श्रोता हर स्थापना को तर्क की कसौटी पर कसने वाले हैं, मीमांसा की रीति से संसारकारण सम्बंधी विचार व्यक्त करना आरंभ किया। (मीमांसा अर्थात् सद्भावपूर्ण विचार। उसकी मान्य रीति है कि सर्वप्रथम विचारणीय विषय निर्धारित किया जाये ताकि इधर-उधर की बातों में बिना उलझे किसी निश्चित बात का निर्णय किया जा सके। उस विषय में विचार प्रवृत्त तभी हो जब उसके बारे में कोई संशय हो अन्यथा विचार अन्तहीन हो जायेगा क्योंकि संशय मिटना ही विचार का अंत होने लायक सीमा माना जाता है। आपाततः, अर्थात् गंभीर विचार के बिना प्रतीत होने वाले, सन्देह संभव होने चाहिये तभी विचार होना संगत है, निराधार संशय भी विचारप्रवर्तक हो नहीं सकता क्योंकि तब भी विचार अनंत हो जायेगा कारण कि निर्णय पर पुनः कोई-न-कोई अनर्गल संशय किया ही जा सकता है। अतः संभव लगने वाले संशय निर्धारित करने चाहिये जिन्हें विचार से दूर करना है। सद्भावपूर्ण विचार उन्हीं कोटियों की परीक्षा उचित समझता है जिन्हें स्वीकार कर तदनुसार समस्त व्यवस्थाओं का उपपादन करते हुए कोई अपना जीवन ढालता हो। केवल एक सीमित परिस्थिति को संसार की संरचना से अलग कर उसमें संभावनाओं की कल्पना को शुष्कतार्किक भले ही संमान दें, मीमांसक उसका कोई मूल्य नहीं आँकते। अतः संशय के बाद एक या एकाधिक पक्षों का उन संशयों के बारे में जो मत है और जो वे निर्णय रखते हैं उनका आकलन ज़रूरी है क्योंकि चाहे ग़लत हैं लेकिन जो कोई 'पक्ष' हैं, ऐसी चिन्तनधारा है जो न केवल उस एक विषय में वरन् समग्र ढाँचे पर किसी निर्धारित रीति से सोचती है, उन्हीं की भूलों का भी कोई मूल्य है और उन्ही भूलों को दूर करना परिश्रम के योग्य है। शुष्कतार्किक तो ऐसी भी विचारप्रक्रिया स्वीकारते हैं जिसमें कोई स्वपक्ष होता ही नहीं, केवल परपक्ष की काट ही की जाती है ! किंतु मीमांसक इसे नादानगी ही मानेगा। पूर्वपक्ष की स्थापना हो जाने पर अर्थात् उक्त विषय पर उठे संशयों का जो समाधान अन्यों ने माना है उसे सामने रखकर सिद्धान्ती विचार करता है; पूर्वपक्ष या पूर्वपक्षों की ग़लतियाँ निर्धारित करता है और स्वयं वह उन संशयों को मिटाने वाला प्रमाण-युक्ति से समर्थित समाधान उपस्थित करता है जिसे उत्तरपक्ष कहते हैं। यद्यपि प्रायः ग्रंथों में पूर्वपक्ष पहले और उत्तरपक्ष बाद में ही मिलता है जिससे 'पूर्व-उत्तर' नाम भी समुचित हैं तथापि ये नाम विचार की अपेक्षा से हैं अर्थात् जो विचार करने में प्रवृत्त है उसे विचार से पूर्व जो मत उपलब्ध होते हैं वे 'पूर्व पक्ष' और जब वह विचार कर चुकता है उसके बाद जिस निर्णय पर पहुँचा, जो पक्ष उसने ग्रहण किया, वह 'उत्तर पक्ष', लेखन में भले ही पहले-पीछे का व्यत्यास भी हो जाये। व्यक्तिगत दृष्टि से संभव है कि विचार के बाद पूर्वोपलब्ध पक्षों में से ही कोई उत्तर पक्ष बन जाये—और इससे मीमांसा को परहेज हो यह ज़रूरी भी नहीं क्योंकि अद्वयवादिनी श्रुतियों का आपाततः आकलित अद्वैत रूप अर्थ ही विचारनिष्पीडन से भी निष्पन्न होता ही है—लेकिन साम्प्रदायिक दृष्टि से जो मान्य मत है उसी को उत्तरपक्ष एवं सदोष मतों को ही पूर्वपक्षरूप से रखा जाता है; सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्य के विचार की अपेक्षा से यह व्यवस्था भी सुसंगत है। किंच विचार की प्रवृत्ति सप्रयोजन होनी चाहिये यह भी मीमांसारीति में आवश्यक माना गया है; पूर्व-उत्तर पक्षों के फलों में कोई अंतर हो, पूर्वपक्ष स्वीकारने से जो फल निकले उसकी अपेक्षा विलक्षण फल उत्तरपक्ष में सामने आये तभी विचार की सार्थकता है। एक ही फल की निष्पत्ति की केवल विभिन्न उपपत्तियाँ हों तब भी मीमांसादृष्टि से विचार की ज़रूरत नहीं, विकल्प आदि के रूप में मानकर चलना ही पर्याप्त है। इस प्रकार विचार के ये पाँच अंग हैं—विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और प्रयोजन। इनका अनुसन्धान कर वे ब्रह्मवादी किस प्रकार समझाने लगे यह अब बताया जायेगा।)।। ३१।।

किं कारणम्

अकारणं जगत् सर्वं विप्रा नैतत् प्रजायते। पटो यथा न जायेत विना तन्त्वादिकारणम्। ।३२
अहेतुता भवेद् दृष्टे यदि तेन विना भवेत्। पटस्तन्तून् विना विप्रा न भवत्येव सर्वथा। ।३३
अपि कार्याणि हेतूनाम् अभावेऽपि जनिं यदि। व्रजेयुश्चरितार्थाः स्युः सर्व एवाऽत्र जन्तवः। ।३४
नारी न नरमागच्छेद् नरो नारीं च कामुकः। प्रजाद्यर्थं तथान्योऽपि निर्धनो धनिनं न च। ।३५
स्वस्वाम्यादिश्च सम्बद्धो नैव कश्चिद् भविष्यति। क्षुत्पिपासातुरस्तद्वद् अन्नपानेच्छया न हि।
इतस्ततो जनो गच्छेत् तृप्तिरन्नादिना न च। ।३६
एवं वासःप्रभृत्यर्थे न गच्छेत् कोऽपि कुत्रचित्। व्यवहारस्तथा सर्वः परिलोपं गमिष्यति। ।
ततः सकारणं सर्वं जायमानं मुनीश्वराः। ।३७

तत्र विषयशोधनपरत्वेन 'किं कारणम्' इत्यादि मन्त्रं[1] योजयन् 'किं कारणम्' इत्यंशस्य अर्थं प्रपंचयति—अकारणम् इत्यादिभिरष्टषष्टिश्लोकैः। हे विप्राः! एतज्जगद् अकारणकं जायत इति न वाच्यं यथा पटः तन्त्वादिकारणं विना जायत इति वक्तुं न शक्यमित्यर्थः। ।३२। । दृष्टान्तमेव स्फुटयति—अहेतुतेति। यदि दृष्टे प्रत्यक्षसिद्धे पटेऽहेतुता भवेत् तदा पटस्तन्तून् विनाऽपि भवेत्। स च तथा सर्वथा न भवत्येव इति सम्बन्धः। ।३३। । उक्तमर्थम् उदाहरणान्तरैः विशदयति—अपि कार्याणीति चतुर्भिः। यदि कार्याणि कारणैर्विनाऽपि स्युः जायेरन्, तदा सर्वे जन्तवः साधनार्जनमन्तरेणाऽपि कृतार्थाः स्युः इत्यर्थः। ।३४। । तथा च नार्यादिभिः नरसमीपगमनादिकं न क्रियेतेत्याह—नारीति। । ३५। । स्वस्वाम्यादिश्चेति। धनाद्यनपेक्षत्वे च सेव्यसेवकभावादिसम्बन्धेन सम्बद्धोऽपि कश्चन न स्यात्। तथाऽन्नादीच्छयाऽपि न कश्चिद् भ्रमेत्, अन्नादिभिस्तृप्तिश्च न स्याद् इत्यर्थः। । ३६। । एवमिति। तथा वस्त्राद्यर्थमपि न कश्चिद् भ्रमेद्, एवमन्योऽपि व्यवहारो न स्याद् इत्यर्थः। फलितमाह—तत इति। ।३७। ।

व्याख्यायमान उपनिषद्ग्रन्थ का आरंभ होता है कि 'ब्रह्मवादी एकत्र होकर आपस में विचार करते हैं कि हे ब्रह्मवेत्ताओ! आप लोग निर्णय करें कि क्या सारे जगत् का कारण है? हम किससे पैदा हुए हैं? किससे जीवित हैं? हम सभी तथा सारा संसार कहाँ सम्प्रतिष्ठा पाये है? किसके अधीन होकर हम सुख-दुःख में प्रवृत्ति करते रहते है?'—इस मंत्र में 'सारे जगत् का कारण है' अर्थात् कोई कारण है या नहीं, है तो क्या है—यह अंश विचार के अंगभूत विषय का निर्णायक है ऐसा मानकर पुराणकार मुनियों का प्रवचन वर्णित करते हैं—

मुनियों ने कहा : हे वेदज्ञो! यह सारा जगत् बिना किसी कारक के पैदा नहीं होता जैसे धागे आदि कारणों के बिना कपड़ा पैदा नहीं होता। यदि प्रत्यक्षसिद्ध कपड़ा निष्कारणक होता तो धागों के बिना ही कपड़ा बन जाया करता! लेकिन ऐसा होता नहीं, धागों के बिना कपड़ा नहीं बना करता है। । ३२-३। । यदि कारणों के न रहने पर भी कार्य उत्पन्न हो जाते तो संसार में सभी प्राणी साधनों को अर्जित किये बिना ही कृतार्थ हो जाते, कार्यसंपन्न हो जाते। । ३४। । यदि कार्य के लिये कारण अपेक्षित न होता तो सुख आदि पाने के लिये नारी नर के समीप न जाती और प्रजा आदि पाने के लिये कामुक नर नारी के समीप न जाता! ऐसे ही अन्य निर्धनादि व्यक्ति धनादि पाने किसी धनिकादि के सामने न जाता। साधनभूत धनादि की ज़रूरत ही न रह जाने से मालिक-नौकर के सम्बंध वाला कोई व्यक्ति ही संसार में न होता! इसी तरह भूख-प्यास से व्याकुल व्यक्ति भोजन-जल की इच्छा से इधर-उधर न भटकता और अन्न आदि से तृप्ति—क्षुधानिवृत्ति—भी न होती! कपड़े आदि के लिये भी कोई कहीं न जाता! यदि बिना कारण के ही कार्य हो जायें तो जैसा उपलब्ध है ऐसा संपूर्ण व्यवहार ही नहीं दीखना चाहिये। इसलिये हे मुनीश्वरो! यही मानना होगा कि जो भी पैदा होता है उसका कोई-न-कोई कारण भी होता ही है। । ३५-७। ।

१. 'किं कारणं? ब्रह्म। कुतः स्म जाताः? जीवाम केन? क्व च सम्प्रतिष्ठाः? अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्। ।' इति।

अभावस्य कारणतानिरासः

कारणाऽभाव एतेन कारणं नोपपद्यते। व्याख्यातमिदमप्यत्र ज्ञातव्यं मुनिसत्तमाः।।३८
अपि चेत् कारणाभावः कारणं स्यात्तथाऽत्र कः। अत्यन्ताभाव एवैष इति चेद् व्यर्थमेव तत्।।३९
अकारणमिदं विश्वं पक्ष एष व्यवस्थितः। तथा च सति सोऽप्यत्र यथा न स्यात्तथेरितम्।
प्रागभावो यदा स स्यात् तदाऽप्येतत्समं भवेत्।।४०

केचिद् बाह्याः[1] कारणाऽभावं बीजाद्यभावरूपम् अङ्कुरादिकार्याणां कारणमाहुः। तन्मताऽसम्भवेऽपि उक्तहेतुजातं योजयति—कारणाभाव इति। एतेन व्यवहारलोपान्तदोषप्रसङ्गेन कारणाऽभावः कारणम् इति पक्षोऽपि नोपपद्यते। अत्र पक्षे, इदं वक्ष्यमाणं दूषणजातम् अपि व्याख्यातं विस्तरेणोक्तं सद् बोध्यमित्यर्थः।। ३८।। 'इदं'-पदोक्तं दूषणजातमेव प्रपंचयति—अपि चेद् इत्यादिना। कारणाभावः कारणम् इति अत्र पक्षे कः असौ कारणस्याऽभावः कारणम् ? किं कारणस्य अत्यन्ताभावः ? किं वा प्रागभावः ? तत्र नाद्यः, त्वदुक्तेः व्याघातदोषेण व्यर्थत्वापत्तेरित्यर्थः।।३९।। व्याघातमभिनयति—अकारणमिति। इदं विश्वम् अकारणकम् इति पक्षः त्वयाऽङ्गीकृत एव, तदुपपादनायैव हि त्वया 'कारणाऽभावः कारणम्' इति पक्ष उपपाद्यते। तथा च तदत्यन्ताऽभावस्य कारणत्वाङ्गीकारे सति यथा स प्रथमाङ्गीकृतपक्षः अपि न स्याद् हीयेत तथा त्वयोक्तं स्यात्। तथा च प्रतिज्ञा-विरोधरूपो व्याघातः स्फुट इत्यर्थः।

शास्त्र-युक्ति का अनुसरण न कर तर्कमात्र से सोचने वाले कुछ तथाकथित 'दार्शनिक' कहते हैं कि कारणों का अभाव ही कार्य का जनक होता है ! वे दृष्टांत भी देते हैं कि बीज नष्ट होने पर ही वृक्ष उत्पन्न होता है अतः सर्वत्र कारण के अभाव को अर्थात् लोकादिसिद्ध जो कारण माना जाता है उसके न होने को ही कार्य के प्रति कारण स्वीकारना चाहिये। (प्राचीन भारत में बौद्ध इस कल्पना के प्रचारक बने और 'नया समाज बने इसके लिये पुराना समाज नष्ट करना होगा' के द्वारा वर्तमान में साम्यवादी इस विचारधारा के समर्थक हैं। जैसे बौद्धों की मान्यता पूरी तरह खोखली निकली और तन्त्र-मन्त्र के शिकंजों में उनका संप्रदाय जकड़ा गया वैसे ही साम्यवाद का मत भी जब व्यवहार में उतरा तब उसका खोखलापन प्रकट होता गया एवं उसमें ऐसे परिष्कार प्रवेश कर गये जो उसे अन्य प्रचलित वादों के ढर्रों पर चलाने लग गये। सामाजिक सुविधा के मोह में भले ही आज बौद्ध मत स्वीकारने का रिवाज़ बढ़ाया जा रहा है पर या इस स्वीकृति में बेईमानी रहेगी अर्थात् सिद्धान्ततः सत्कारणता मानते रहकर, संसार में सुख हो सकता है ऐसा मानते रहकर, स्वयं को व स्वकीय को स्थायी मानते रहकर, केवल मुख से 'हम बौद्ध हैं' बोलते रहेंगे और इस पाखण्ड के कारण स्वयं तो नष्ट होंगे ही बौद्ध वाद भी निरस्त होगा; और या यह स्वीकृति हृदय से हुई तो पुनरपि क्षणिकता-दुःखता-शून्यता का भूत जनमानस में आविष्ट होकर अकर्मण्यता, निराशा और अव्यवस्था का साम्राज्य स्थापित होगा। इनमें कौन-सा पक्ष सही निकलेगा यह तो काल पाकर ही पता चलेगा पर यह ज़रूर समझ सकते हैं कि भगवान् भाष्यकार और कुमारिल, उदयन आदि आचार्यों के प्रयासों के फलस्वरूप शनैः शनैः सनातन समाज की विकासोन्मुख जो दृष्टि पनपी थी उसका विकास अवरुद्ध होना निश्चितप्राय है यदि असद्वादी विचारधारा का प्रचार बढ़ता गया। सर्वथापि ब्रह्मविद् मुनि लोग समाज में एकत्र जिज्ञासुओं को संबोधित कर स्पष्ट कर रहे हैं कि कारण रूप से अभाव को मानना व्यवहारविरुद्ध है।) अभाव को कारण मानने पर पूर्वोक्त दोष तो आयेंगे ही कि कोई कार्यार्थी कारण बटोरने का प्रयास नहीं करेगा, बिना तंतुओं के पट बन जायेंगे आदि, और भी अनेक युक्तिविरोध उपस्थित होंगे जिनका अभी परिचय देने जा रहे हैं।। ३८।।

किं च, जो पक्ष उपस्थापित किया जा रहा है कि 'कारण का अभाव ही कारण हुआ करता है' उसमें 'कारण का अभाव' कौन-सा विवक्षित है ? यदि कारण के अत्यन्ताभाव को विवक्षित बताओ तो तुम्हारी पूर्व-उत्तर बातें विरुद्ध

१. शून्यवादिबौद्धाः।

प्रागभावाद् यदा जन्म कार्याणां वादिनो भवेत्। प्रागभावस्तदा नष्टः स्थितो वेति विचार्यताम्।।४१
यदा नष्टस्तदा कार्यजनेः पूर्वमनन्तरम्। अथवा यदि पूर्वः स्यात् तदा नैषोऽत्र कारणम्।।४२
अनन्तरं यदा नाशो भवेत् तस्य तदा हि सः। किमेकोऽप्यथ वाऽनेको यद्येकस्तर्हि किं हि सः।।४३
नष्टोऽधुनाऽथ वा नैव यदि नष्टः कथं भवेत्। कार्यमेतदिदानीं यद् दृश्यते सर्वजन्तुभिः।।४४
अधुना यद्यनष्टोऽयं भावी नाशः कदाऽस्य सः। यस्मिन् काले त्वयं नाशं यास्यत्येतत् तदादि
किम्। भविष्यति जगत्कार्यमथवा न भविष्यति।।४५

एतद् दूषणं कारणप्रागभावस्य कारणत्वाङ्गीकारेऽपि बोध्यमित्यर्थः।।४०।। प्रागभावपक्षे दोषान्तराणि वक्तुं विकल्पयति—प्रागभावादिति। यदा 'प्रागभावात् कार्याणां जन्म भवति' इत्याकारकं वादिनो मतं तदा 'इति' विचार्यतां विकल्प्यताम्। 'इति' किम् ? तदा कार्योत्पत्तिकाले प्रागभावो नष्टः स्थितो वेति।।४१।। यदेति। आद्येऽपि इदं विचार्यम्—किं प्रागभावः कार्योत्पत्तेः पूर्वं नष्टः, अथवाऽनन्तरं नष्ट इति ? यदि तु पूर्वं नष्टः तदा स कथं कारणं स्यात् ? न हि घटोत्पत्तेः पूर्वं मृतः कुलालो घटकारणमित्युच्यत इत्यर्थः।।४२।। कार्योत्पत्तेरनन्तरं प्रागभावो नश्यतीति पक्षेऽपि विकल्पयति—अनन्तरमिति। यदा तस्य प्रागभावस्य नाशः कार्योत्पत्तेः अनन्तरं भवति, तदाप्येतद् वक्तव्यम्। 'एतत्' किम् ? स प्रागभावः किम् एकव्यक्तिकः ? अनेकव्यक्तिको वा ? यदि सकलकार्य-हेतुः प्रागभाव एकव्यक्तिकः, तर्हि इदं वक्तव्यं—किम् अधुना नष्टो, न वा ? इति। आद्ये, इदानीं जायमानं कार्यं कथं स्यात् ? न हि कारणे नष्टे सति कार्यं जायते। इति द्वयोरर्थः।।४३-४४।। अधुना स प्रागभावो न नष्ट इति पक्षं दूषयति—अधुनेति द्वाभ्याम्। प्रागभावो हि कार्यनाश्य इति प्रसिद्धम्। यदि तु अधुना इदानीन्तनकार्यपर्यन्तकार्येषु जातेष्वपि अयं प्रागभावो न नष्टः तदाऽस्य प्रागभावस्य स नाशः कदा भावी भविष्यतीति ? अस्मिंस्ते पक्ष इदमपरं पृच्छ्यते—यदाऽयं प्रागभावो नंक्ष्यति तत्प्रभृति इदं जगद्रूपं कार्यं भविष्यति,

हो जाने से तुम्हारा कथन निरर्थक होगा। विरोध ऐसे है : तुमने पूर्व में स्वीकारा कि यह विश्व अकारणक है, इसका कोई कारण नहीं। इसी मत को युक्तिसंगत बनाते हुए तुमने कारण के अभाव को कारण बताया। यदि यहाँ कारण का अत्यन्ताभाव कारणरूप से स्थापित करो तो 'कोई कारण नहीं' यह पूर्वोक्त मत कट जाता है ! (भाव न सही पर अभाव को तो कारण मान लिया, अतः 'अकारणकता है' से विरोध स्पष्ट है।) इस प्रकार अगर कारण के प्रागभाव को कारण कहो तब भी यह विरोध आता ही है, पूर्व-पर बातें विरुद्ध हो जाती हैं।। ३९-४०।।

प्रागभाव को—प्रतियोगी अर्थात् जिसका अभाव है उसकी विद्यमानता से पूर्व उसके अभाव का नाम प्रागभाव होता है—कारण मानने पर पूर्वोक्त व्याघात (विरुद्धाभिधान) से अतिरिक्त अन्य भी दोष प्राप्त होते हैं : जब वादी यह पक्ष रखता है कि 'प्रागभाव से कार्यों का जन्म होता है' तब यह विचार करना चाहिये कि कार्यजन्म के समय प्रागभाव नष्ट हो जाता है या बना रहता है ?।। ४१।। यदि तब नष्ट होता है तो भी विचारणीय है कि कार्योत्पत्ति से पूर्व प्रागभाव नष्ट होता है या कार्योत्पत्ति के बाद ? यदि कार्यजन्म से पहले ही प्रागभाव नष्ट हो चुकता है तब उसे कार्य के प्रति कारण कहना नहीं बनता। घड़ा बनने से पूर्व ही मर चुके कुम्हार को उस घड़े का कारण नहीं कहा जाता।। ४२।। अगर कार्योत्पत्ति के बाद उस (= कारणत्वेन विवक्षित) प्रागभाव का नाश मानो तो यह बताओ कि वह प्रागभाव एक है या अनेक ? यदि समस्त कार्यों का हेतुभूत प्रागभाव एक ही है तो स्पष्ट करो कि अब तक वह नष्ट हो चुका है या नहीं ? यदि नष्ट हो चुका है तब इस समय उत्पन्न होते कार्यों का क्या कारण है ? कारण नष्ट हो चुकने पर तो कार्य उत्पन्न होते नहीं ! कार्य तो इस समय भी सब जन्तुओं को उत्पन्न होते दीख रहे हैं।। ४३-४।।

यदि कहो कि प्रागभाव है तो एक ही पर अभी तक नष्ट हुआ नहीं है अतः अभी भी कार्योत्पत्ति होते रहना संगत है; तो यह बताओ कि इस प्रागभाव का नाश होगा कब ? (अर्थात् प्रागभाव का नाशक कार्य प्रसिद्ध है अतः

कार्यभावे विनैव स्यात् कारणेन तदा जनिः। तथा च सति पूर्वोक्तं दूषणं पुनराव्रजेत्।।४६
अपि चेत् कारणाऽभावे सदा[1] कार्यं भविष्यति। इदानीं केन तन्नैव भवतीति वदन्तु ते।।४७
तस्मिन्नष्टे तदा नैतत् कार्यं क्वापि भविष्यति। अनायासेन मुक्तिः स्यात् तर्हि तेषां महात्मनाम्४८
अप्यनन्तस्य चेदन्तः संसारस्य भविष्यति। अनादेः सादिता कस्मात् तस्य नैव भविष्यति।।४९
अन्तवांश्च तथा सादिः संसारो यदि वादिनः। मुक्तस्य तस्य केनाऽयं पुनर्नैव भविष्यति।।५०
यदि मुक्तस्य संसारः पुनरेव भविष्यति। व्यर्थास्तदा समस्ताः स्युर्वादिनो मुक्तिहेतवः।।५१

न वेति ?।।४५।। भविष्यतीति पक्षे व्यवहारलोपान्तं पूर्वोक्तदूषणं प्रसज्जेतेत्याह—कार्यभाव इति। प्रागभावरूपं कारणं विनाऽपि कार्यस्य भावे, उत्पत्तौ सत्यां, कारणेन विना कार्यजनिरिति पक्षः स्याद् आपद्येत, तथा च पूर्वोक्तदोषप्रसक्तिरित्यर्थः।।४६।। अस्मिन् पक्षे निर्युक्तिकत्वं चेत्याह—अपि चेदिति। यदि तदा प्रागभावनाशोत्तरकालेऽकारणकं कार्यं भविष्यति तदा इदानीम् अपि तथा कुतो न भवति इति प्रश्ने; इदानीमकारणककार्यसम्भवोपपादिकायुक्तिर्वक्तव्या, सा च नास्तीत्यर्थः।।४७।। प्रागभावनाशे कार्यं न भविष्यतीति पक्षं दूषयति—तस्मिन्निति चतुर्भिः। तस्मिन् प्रागभावे नष्टे सति कार्यं न भविष्यति इति चेद् इति शेषः। तर्हि अनायासेन मुक्तिसिद्धिनिश्चयाद् मुक्त्यर्थं प्रयासवैयर्थ्यमित्यर्थः।।४८।। किं चात्र पक्षे संसारस्य अनन्ततयाऽनादितया च सर्वसंमतस्य[2] सान्तत्वसादित्वयोरापत्तिः इत्याह—अप्यनन्तस्येति। विवेकख्यातिहीनान् प्रति संसारोऽनन्तोऽनादिश्च प्रसिद्धः। तस्याऽत्र पक्षे सान्तत्वं स्यात्, सान्तत्वे च सादित्वमपि स्यादित्यर्थः।।४९।। सादित्वे च मुक्तस्याऽपि बन्धापत्तिरित्याह—अन्तवानिति। वादिनो मत इति शेषः। तस्य उक्तवादिसंमतस्य मुक्तस्य अयं संसारः पुनः केन हेतुना न भविष्यति ? किन्तु भविष्यत्येवेत्यर्थः।। ५०।। ततः किम् ? अत आह— यदीति। स्पष्टम्।।५१।।

वह कार्य कौन-सा है जिसकी उत्पत्ति से यह प्रागभाव समाप्त होगा ?) किं च यह भी घोषित करना चाहिये कि जिस समय यह प्रागभाव नष्ट हो जायेगा उसके बाद क्या यह जगद्रूप कार्य (जगत् में होते रहने वाले नाना कार्य) होगा या नहीं होगा ? अगर तब भी जगत्कार्य चलता रहेगा ऐसा मानो तब पूर्वोक्त दोष ही बना रहा क्योंकि तुमने उस काल में प्रागभावरूप कारण नष्ट हो जाने से उसके बिना ही कार्यजन्म मान लिया अतः 'प्यासे को पानी की ज़रूरत न पड़े' आदि जो पहले कहे थे वे दोष लागू होंगे ही।। ४५-६।। यदि भविष्य में यह संभव है कि कारण के बिना ही कार्य हुआ करेंगे—क्योंकि कारणभूत प्रागभाव नष्ट होने के बाद भी कार्यशृंखला मान रहे हो—तो यह बताओ कि इस समय ही वैसा क्यों नहीं हो जाता ? अभी भी बिना कारण क्यों नहीं कार्य उत्पन्न हुआ करते ? (यदि कहो कि अभी भी होते हैं तो प्रागभाव को कारण कैसे मानते हो ?)।। ४७।।

प्रागभाव एक ही है और वह नष्ट हो जाने पर जगद्रूप कार्य होगा नहीं—यह पक्ष मानने वाले महात्माओं को तो बिना किसी प्रयास के मोक्ष सुलभ रहेगा ! जब संसार-कार्य ही नहीं चलेगा तब संसारभ्रमणरूप बंधन रहेगा ही नहीं, सभी मुक्त होंगे तो वे महात्मा भी मोक्ष पा जायेंगे।। ४८।। सामान्यतः सब विवेकी संसार को अनादि और विवेकज्ञान के बिना अन्त न होने वाला मानते हैं। यदि ऐसे अनन्त संसार का भी अंत हो जायेगा (प्रागभाव का नाश होने पर) तो इस अनादि संसार को सादि भी क्यों न मान लिया जाये ? यदि वादी स्वीकार ले कि संसार अंतवान् और प्रारंभ होने वाला है तो वादी जिसे मुक्त मानता है उसका भी पुनः संसरण क्यों नहीं हो जायेगा ? और यदि मुक्त को भी फिर से इस संसार-चक्र में घूमना पड़ेगा तो वादिसंमत जितनी भी मोक्षप्रद साधना है वह सब निरर्थक हो जायेगी। (अत एव सत्यप्रपंचवाद में आत्यंतिक मोक्ष अस्वीकार्य और अनुपपन्न रहता है। संसार को अनादि-अनंत मानना 'प्रायिक' दृष्टि इसलिये है कि साधारणतः यही मान्य है कि 'कुछ' है जिससे 'कुछ और' पैदा होता है जिसकी समाप्ति पर भी

१. तदा—इति टीकानुसारी। २. सर्वेति बाहुल्याभिप्रायेण।

यदाऽनेकस्तदा तस्य भेदः केन भवेदिह। प्रागभावो हि यस्य स्यात् तद्भेदादेव भेदवान्।
अभावस्य स्वतो भेदो न दृष्टो वादिभिर्यतः।।५२

कार्यभेदाद् यदा भेदः प्रागभावगतो भवेत्। तदाऽयं कारणाऽभावो न भवेत् कर्हिचित् क्वचित्।।५३

एवं च सति कार्यस्य कारणेन विना जनिः। पूर्वोक्ताऽऽवर्तते भूयो वादिनं दुर्धियं प्रति।।५४

अपि कार्ये ह्यनुत्पन्ने तस्याऽभावः कथं भवेत्। विशेषणे सति ज्ञाते विशिष्टावगतिर्यतः।
अनुत्पन्नं कथं तत् स्यात् कथं वा ज्ञायतेऽत्र तत्।।५५

एतावता एकव्यक्तिकः प्रागभावो जगत्कारणम् इति पक्षो निरस्तः। अथ अनेकव्यक्तिकः स तथा—इति पक्षं (श्लो. ४३) दूषयति—यदाऽनेक इत्येकादशभिः। प्रागभावस्य अनेकव्यक्तित्वे तस्य भेदः प्रतियोगिभेदादेव वाच्यः, स्वरूपमात्रेण अभावे भेदाऽसम्भवादित्यर्थः।। ५२।। तस्य प्रतियोगित्वं कारणानां कार्याणां वा ? नाद्यः, अनादेः प्रागभावस्य कारणाऽसम्भवाद्, इत्यभिप्रेत्य; नान्त्यः, तथा सति तस्य कार्याभावत्वेन तव कारणाभावः कारणम् इति प्रतिज्ञा हीयेतेत्याह—कार्यभेदादिति। यदा प्रागभावस्य भेदः कार्यरूपप्रतियोगिभेदाधीनः तदा स कारणाभावपदेन व्यवहार्यो न स्यात्, किन्तु कार्याभावपदेन। तथा च त्वत्प्रतिज्ञाहानिरित्यर्थः।। ५३।। एवं च कारणाभावरूपस्य त्वदुक्तकारणस्य अपि असम्भवे व्यवहारलोपान्तदूषणविशिष्टाकारणककार्योत्पत्तिः प्रसज्जेतेत्याह—एवं च सतीति। आवर्तते पुनः प्रसज्जते।।५४।।

किं च प्रागभावः प्रागभावत्वरूपेण घटजनको, घटीयत्वरूपेण वा ? आद्ये, पटप्रागभावादपि घटोत्पत्त्यापत्तिः। अन्त्ये, तस्य घटीयत्वं प्रतियोगितासम्बन्धेन घटविशिष्टत्वं, तच्च विशिष्टज्ञानाधीनं, न हि पदार्थानाम् अयःशलाकासदृशानां स्वभावेन परस्परं संश्लेषः। विशिष्टज्ञानं तु विशेषणज्ञानाधीनमित्यतोऽनुत्पन्ने घटे तदसम्भवाद् विशिष्टरूपेण कारणमपि न वक्तुं शक्यम् इत्याशयेनाह—अपि कार्य इति। कार्येऽनुत्पन्ने सति अभावः प्रागभावः तस्य तदीयत्वेन कथं भवेद् ज्ञायेत ? यतो विशेषणज्ञानं विशिष्टज्ञानं प्रति हेतुरिति। अनुत्पन्नं कार्यं तु तद् विशेषणं कथं स्यात् ? अत्र अनुत्पन्नकार्यरूपे विशेषणे सति तद् विशिष्टं रूपं कथं ज्ञायेत ?

'कुछ' तो बचता ही है—मिट्टी से घड़ा बना और घड़ा फूटा तो ठीकरे बचे—अतः तत्तत् कार्य सादि-सांत, किन्तु समस्त कार्य व इनकी जन्म-नाश प्रक्रिया यह जो संसार है वह अनादि-अनंत है यह प्रायः सबको मान्य है।)।। ४९-५१।।
प्रागभाव एक ही है इस पक्ष की परीक्षा अब तक की।

प्रागभाव को एक न मानकर यदि अनेक स्वीकारो तो बताना होगा कि प्रागभावों में भेद कैसे होता है ? क्योंकि विचारशील अभाव में स्वतः भेद नहीं समझा करते हैं इसलिये जिसका प्रागभाव हो उस प्रतियोगी के भेद से ही उस प्रागभाव में भेद मानना संभव है।। ५२।। जब इस प्रकार प्रागभावों में होने वाला भेद कार्यों के भेद से ही होगा तब इस प्रागभाव को कभी कहीं कारणाभाव नहीं कह सकते ! (तात्पर्य है कि विभिन्न प्रागभाव मानते ही उनमें भेद क्या? यह प्रश्न उठने पर उत्तर यही संभव है कि उनके प्रतियोगी विभिन्न हैं यही प्रागभावों में भेद है। तब जिज्ञासा होती है कि उनके प्रतियोगी हैं कौन ? प्रागभावों के कारणों को प्रागभावों का प्रतियोगी कहना बनता नहीं क्योंकि प्रागभाव अनादि होता है अतः उसका कोई कारण हो नहीं सकता। बलात् कहना पड़ेगा कि कार्य ही प्रतियोगी हैं। किंतु तब प्रागभाव को कार्याभाव ही मानना पड़ेगा, उसे कारणाभाव क्योंकर कहा जा सकेगा ? वादी स्थापित तो करने चला था कि जगत् निष्कारण है क्योंकि उसका कारण कारणाभाव है और अब कारणाभाव की जगह वह कार्याभाव की बात करने लगा ! इसी को 'प्रतिज्ञाहानि' नामक दोष कहते हैं।)।। ५३।। इस प्रकार जिसे कारण कहना चाहते थे वह कारणाभाव जब असंभव हो गया तब तुम्हारे अनुसार कार्य की उत्पत्ति बिना कारण के ही होने लगेगी और ऐसे दुर्बुद्धि वादी को पूर्वोक्त दोष ही फिर सुनाने पड़ेंगे कि तब प्यासा पानी न माँगा करे इत्यादि।। ५४।।

कारणात्मतया तत् स्याद् यदीदं नैव कारणम्। विद्यते भवतस्तेन तस्य ज्ञानं च दुर्घटम्।।५६
वन्ध्यापुत्रादिवत् तस्य ज्ञानं चेच्छब्दयोगतः। तद्वदेव च तस्यापि जनिर्नैव भविष्यति।।५७

इत्यर्थः।।५५।। ननु विशिष्टज्ञानं प्रति विशेषणज्ञानं कारणमिति न स्वीक्रियते, 'कारणाभावः कारणम्' इति वादिभिः कस्यापि कारणस्य कुत्रापि अनभ्युपगमाद्—इत्याशङ्क्य; तर्हि सुतरां प्रागभावस्य कारणतावच्छेदकं विशिष्टं रूपं न ज्ञायेत उपायान्तराभावाद् इत्याह—कारणात्मतयेति। तद् विशेषणज्ञानं कारणरूपेण विशिष्टज्ञानोपयोगि स्याद् इत्यालोच्य इदं विशेषणज्ञानं यदि भवतः कारणाभावकारणतावादिनो मते न कारणं विद्यते, तर्हि तस्य विशिष्टस्य स्वरूपज्ञानं तेन सामग्र्यभावेन सुतरां दुर्घटं स्यादित्यर्थः।।५६।।

ननु विकल्परूपेण ज्ञानेन अनुत्पन्नकार्यविशिष्टत्वं प्रागभावस्य उपपादयिष्यते ? इत्याशङ्क्य; तर्हि वन्ध्यापुत्रप्रागभाव इत्याकारेण विशिष्टज्ञानेन यथा प्रागभावस्य न वन्ध्यापुत्रकारणत्वं, तथा घटादिकं प्रत्यपि न स्याद्, असत्त्वाऽविशेषादित्याह—वन्ध्येति। तस्य अनुत्पन्नकार्यस्य शब्दयोगतः शब्दप्रभावात्। तदुक्तं 'अत्यन्ताऽसत्यपि

प्रागभाव को कारण (या कारणसामग्री का घटक भी) मानने वाले से पूछना चाहिये कि कोई प्रागभाव घड़े का जनक क्या इसी से हो जाता है कि वह प्रागभाव है ? या इसलिये हो पाता है कि वह प्रागभाव घड़े का है ? यदि केवल प्रागभाव होने से घड़े का जनक बनता हो तब पटप्रागभाव भी घड़े का जनक हो जाये ! अतः कहना होगा कि 'घड़े का' होने से वह घड़े को उत्पन्न करता है। 'घड़े का' से अभिप्राय है कि प्रतियोगिभूत घड़ा उस प्रागभाव का विशेषण है। इस विशेषण से युक्त प्रागभाव का ज्ञान ही संभव नहीं—क्योंकि अभी तक घड़ारूप विशेषण तो पैदा ही नहीं हुआ जो उसका ज्ञान हो सके और फिर वह विशेषण के रूप में समझा जा सके—तो उसे कारणरूप से निर्धारित कर कैसे सकेंगे ? यह विषय श्लोक में समझाते हैं: जब तक कार्य उत्पन्न हुआ नहीं तब तक अभाव को—प्रागभाव को 'उस का'—कार्य का—समझा कैसे जा सकता है ? विशेषण का ज्ञान होने पर ही विशिष्ट, विशेषण से युक्त विशेष्य, का ज्ञान हुआ करता है। जो अभी उत्पन्न ही हुआ नहीं ऐसा कार्य विशेषण कैसे बन जायेगा ? विशेषण यदि अजात कार्य है तो उस विशिष्टात्मक प्रागभाव को जानना किस तरह संभव होगा ?।।५५।।

वादी कह सकता है 'हम जब कहीं भी कारण नहीं मानते तब विशिष्टज्ञान के प्रति विशेषणज्ञान को भी कारण क्यों मानने लगे ! अतः विशेषणज्ञान असंभव होने से हमारे विशिष्टज्ञान ('घड़े का' इस विशेषण से युक्त प्रागभाव का ज्ञान) में रुकावट क्यों आयेगी ?' इस पर ब्रह्मवादी या कोई भी विचारशील विवेकी यही कहेगा कि यदि विशेषणज्ञान उसका हेतु है नहीं तथा अन्य भी कोई हेतु है नहीं तो यह पता चल ही कैसे सकता है कि प्रागभाव तत्तत् कार्य का ही कारण बन पाता है इसका नियमन किस से होता है ? घड़े का जनक प्रागभाव क्योंकि घड़े का ही उत्पादक होता है न कि कपड़े आदि का इसलिये इस व्यवस्था का नियंत्रण अवश्य है और वह यही है कि प्रागभाव में ही कोई खासियत है जो उसे अमुक का ही कारण बनने देती है, अन्य का नहीं। पूर्वोक्त ढंग से वह खासियत यही समझ आयी कि जिसके प्रति वह कारण बनेगा वह प्रतियोगी उस प्रागभाव का विशेषण होता है। किंतु अब परिस्थिति बनी कि किस स्वरूप का प्रागभाव कारण हुआ करता है इसकी जानकारी ही असंभव हो गयी, तो प्रागभाव को कारण कहना ही संभव नहीं रहा ! यह बात श्लोक में यों कही है—विशिष्टज्ञान का कारण होने से ही विशेषणज्ञान उसके लिये उपयोगी है अतः आप—जो कारणाभाव को कारण स्वीकारते हैं—विशेषणज्ञान को कारण न मानें (क्योंकि वह भावविशेष है न कि कारणाभावरूप) तो विशिष्ट के स्वरूप का ज्ञान—कारण बन सके ऐसे स्वरूप वाले प्रागभाव का ज्ञान—हो यह मुमकिन नहीं क्योंकि उसके लिये आवश्यक सामग्री ही उपलब्ध नहीं होगी।।५६।। तात्पर्य है कि 'प्रागभाव कारण है' यह जानकारी संभव न होने से इस पक्ष का समर्थन अंधपरंपरा ही है।

अत्यन्त असत् अर्थ भी ज्ञानका विशेषण बना मिलता है जैसे 'वन्ध्या-पुत्र' यह ज्ञान होता है जिसमें विशेषण जो वन्ध्यापुत्र वह कुछ है ही नहीं। एवं च जो है ही नहीं वह जब विशेषण बन सकता है तब अनुत्पन्न जो कार्य उससे

उत्पन्ने सति चेत्तस्य प्रागभावो भविष्यति। न हि जाते घटे तस्य प्रागभावोऽत्र विद्यते।।५८

अपि चैवं न नाशः स्यात् प्रागभावस्य जन्मनः। कार्यस्य तत एवैतत् पक्षान्तरमुपागतम्।।
अनष्टप्रागभावोऽयं कारणं जगतामिति।।५९

कार्यस्य जनिरेव स्यात् प्रागभावविनाशिनी। तया न नाशितो यस्मात् प्रागभावस्ततो ध्रुवः।।६०

ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि' (श्लो. वा. १.१.२ श्लो. ६) इति।।५७।। ननु घटादिकार्योत्पत्त्यनन्तरं प्रागभावो घटादिकार्यसम्बन्धी भविष्यति, तथा च भाविसम्बन्धम् आदाय कुमारे राजत्ववद् घटीयत्वादिव्यपदेशोऽपि स्याद् इत्याशङ्क्ते—उत्पन्न इति। कार्य उत्पन्ने सति प्रागभावस्तस्य कार्यस्य सम्बन्धी भविष्यति इति चेद् ? इत्यर्थः। कार्य उत्पन्ने प्रागभावस्य नष्टत्वात् सम्बन्धिद्वयाश्रितः सम्बन्धः कथं स्याद् ! इत्याशयेन उत्तरयति—न हीति। अत्र कार्योपादाने।।५८।।

किं च कार्योत्पत्त्यनन्तरं प्रागभावस्य कार्येण सम्बन्धाङ्गीकारे प्रागभावस्य अविनाशित्वापत्तिः। तथा च 'प्रागभावस्तदा नष्टः स्थितो वा ? इति विचार्यताम्' इत्यधस्तादुक्तं (श्लो. ४१) स्थितत्वेन, कारणरूपं पक्षान्तरं प्रसज्जेतेत्याह—अपि चैवमिति। कार्यस्य जन्मन इति योजना। तच्च पक्षान्तरं प्रागभावपदघटकप्राक्पदार्थ-विरोधादेव असङ्गतमिति भावः।।५९।।उत्पत्त्यनन्तरसम्बन्धाङ्गीकारेऽविनाशित्वाऽपत्तिमेव स्फुटयति—कार्यस्येति। कार्योत्पत्तिरेव प्रागभावनाशसामग्रीत्वेन प्रसिद्धा। तया यदि न स नाशितः तदा कस्तं प्रागभावं नाशयिष्यति !

प्रागभाव भी विशेषित हो तो क्या हर्ज़ है ? यह शंका उठा कर इसका समाधान करते हैं—शब्द के प्रभाव से अनुत्पन्न कार्य का ज्ञान हो जाये जैसे 'वन्ध्यापुत्र' आदि बोध होते हैं (और उससे विशिष्ट प्रागभाव का भी ज्ञान हो जाये) तो वंध्यापुत्र की तरह ही कार्य भी उत्पन्न नहीं हो सकेगा। अर्थात् 'वंध्यापुत्र का प्रागभाव' इस विशिष्टज्ञान से जैसे वह प्रागभाव वंध्यापुत्र को उत्पन्न नहीं कर देता इसी प्रकार घड़े आदि को भी उत्पन्न नहीं करेगा क्योंकि विशिष्टज्ञान होते समय घड़े आदि भी वैसे ही असत् हैं जैसे वन्ध्यापुत्र।।५७।।

प्रागभाव नामक पदार्थ ही सिद्ध न हो पाता देखकर वादी कहता है कि घड़ा आदि कार्य जब पैदा हो चुकेगा तब प्रागभाव उस घड़े आदि कार्य का सम्बन्धी बन जायेगा अतः जैसे 'भविष्य में राजा बनेगा' इसलिये राजकुमार को भी राजा कह देते हैं ऐसे 'भविष्य में सम्बद्ध होगा' इसलिये पूर्व में भी प्रागभाव को घड़े आदि कार्य से सम्बद्ध कहा-समझा जाये तो क्या हानि है ? विवेकी समझाता है कि यह भी असंभव कल्पना है क्योंकि जब घड़ा आदि कार्य पैदा हो जाता है तब उसके उपादान कारण में उस घड़े आदि का प्रागभाव रह ही नहीं जाता कि दोनों का कोई संबंध हो सके। संबंध अपने संबंधियों पर आश्रित होता है, प्रतियोगी का उदय होने पर प्रागभाव जब अस्त ही हो गया तब प्रतियोगी और प्रागभाव का सम्बंध स्थापित हो कैसे कि प्रागभाव को प्रतियोगी 'का' कहा-समझा जा सके ?।। ५८।।

इतना ही नहीं, यदि कार्यजन्म के बाद उससे प्रागभाव का सम्बन्ध होता है ऐसा माना जाये तो वह प्रागभाव अविनाशी वस्तु ही होगा क्योंकि कार्यजन्म से अतिरिक्त तो कुछ है नहीं जो उसका नाश करे। इसका मतलब हुआ कि 'नष्ट न होने वाला प्रागभाव जगत् का कारण है' यह पक्ष स्वीकारा गया (न कि नाशशील प्रागभाव को कारण माना। किंतु प्रागभाव नाम ही उसे बताता है जो केवल प्राक् अर्थात् पूर्व में रहे ! अतः कार्योत्पत्ति के बाद भी बना रहे ऐसा प्रागभाव संभव ही नहीं कि जगत् का कारण हो सके)।। ५९-६०।। यदि प्रागभाव नामक स्वरूपतः नित्य कोई पदार्थ मान लें तो जो यह कहा था (श्लो. ५२ में) कि प्रागभाव अनेक हैं वह बात सिद्ध नहीं हो पायेगी और एक प्रागभाव मानने पर आये दोष पहले ही बता चुके हैं। नित्य प्रागभाव अनेक क्यों नहीं हो सकते ? इसलिये नहीं

नित्येन नैव भेदोऽस्ति प्रागभावे त्वकार्यतः। अनित्येनाऽस्य भेदश्चेत् प्रध्वंसोऽयं भविष्यति। ।६१
कारणस्याऽप्यनित्यत्वे सममेतद्धि दूषणम्। नित्यत्वे प्रागभावश्च न भवेदात्मनो यथा। ।६२

तथा च स ध्रुवो नित्यः स्यादित्यर्थः। ।६०। । स्वरूपेण प्रागभावस्य नित्यत्वे तु तस्य अनेकत्वं यदुक्तं (श्लो. ५२) तद् व्याहतं स्याद् इत्याह—नित्येनेति। अस्य नित्यस्य प्रागभावस्य नित्येन उपाधिना भेदो न स्यात्, कुतः ? अकार्यतः नित्यस्य भावस्य अकार्यत्वात् प्रागभावप्रतियोगित्वलक्षणकार्यत्वविरहात्, प्रागभावभेदस्य प्रतियोगिभेदमात्रनिरूप्यत्वाद् इति यावत्। अनित्येन उपाधिना अस्य नित्यप्रागभावस्य भेदश्चेद् अङ्गीक्रियते तदा अयम् एव प्रागभावो ध्वंसाभावरूपोऽपि स्याद्, अतिरिक्तस्य ध्वंसस्य कल्पने गौरवात्। न चेष्टापत्तिः, ध्वंसस्य कार्यविरोधिनः कारणत्वस्य व्याहतत्वाद् इति भावः। ।६१। ।

एवं कारणस्य नित्याऽनित्यत्वपक्षयोः अपि तत्प्रतियोगिकप्रागभावाऽसम्भवः तस्य ध्वंसत्वापत्तिश्च दूषणतया बोध्येत्याह—कारणस्याऽपीति। एतद् उक्तं दूषणं खण्डनीयतया प्रकृते कारणाभावस्य प्रागभावरूपत्वेऽपि बोध्यं यतः कारणस्य नित्यत्व आत्मवत् प्रागभावाऽसम्भवः, अनित्यत्वे तु नित्यस्य प्रागभावस्यैव ध्वंसत्वापत्तिरित्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्—यथा कार्यध्वंसः कार्यविरोधी तथा कारणध्वंसोऽपि, न हि मृत्तिकाध्वंसे घटो जायत इति। ।६२। ।

हो सकते : यह निश्चित हो ही चुका है कि प्रागभाव में भेद इसी से संभव है कि उसके प्रतियोगी विभिन्न हैं अर्थात् विभिन्न प्रतियोगियों 'के' होने से ही प्रागभाव अनेक होते हैं। अभाव का प्रतियोगी कोई-न-कोई भावपदार्थ ही होता है। प्रागभाव के भेद को (अनेकत्वको) संभव करने के लिये प्रतियोगी रूप उपाधि की आवश्यकता है (क्योंकि जैसे जपाकुसुम से स्फटिक में रक्तिमा संगत है ऐसे ही प्रतियोगिभेद से प्रागभाव में भेद उपपन्न होता है)। कोई नित्य भावपदार्थ इस प्रयोजन के लिये उपाधि नहीं बन सकता क्योंकि नित्य वस्तु कार्य न होने से (उत्पद्यमान न होने से) प्रागभाव का प्रतियोगी नहीं हुआ करती जो उसका किसी प्रागभाव से संबंध हो। इस प्रकार नित्य कोई उपाधि प्रागभावभेद की उपपादक संभव न होने पर यदि यह स्वीकारना चाहो कि नित्य प्रागभाव में भेद का उपपादन अनित्य उपाधियाँ कर लेंगी—क्योंकि अनित्य अर्थात् जन्म लेने वाली होने से उनका अपने-अपने प्रागभावों से सम्बंध रहेगा—तो जिसे तुम प्रागभाव कह रहे हो यही ध्वंसरूप अभाव भी हो जायेगा क्योंकि 'अनित्य उपाधि से जिसमें भेद हो ऐसा अभाव होना' उसमें भी समान है। और यह बात इस मूल पक्ष से विरुद्ध होगी कि प्रागभाव कारण है क्योंकि ध्वंस तो कार्य का विरोधी होने से वही कारण नहीं हो सकता। (प्रागभाव का लक्षण ध्वंस में रहने से प्रागभाव ही ध्वंस हो गया अतः वह कारण कहलाने लायक नहीं रहा। 'प्रतियोगिताभेद से अभावभेद होता है' यह सिद्ध कर चुके हैं। प्रतियोगिता को प्रतियोगिस्वरूप ही मानना उचित है क्योंकि वह 'स्वरूपसम्बंधविशेष' ही स्वीकार्य है। एवं च तद्घट (अर्थात् कोई एक घटव्यक्ति) के प्रागभाव की प्रतियोगिता और तद्घटके ध्वंसकी भी प्रतियोगिता तद्घट स्वरूप ही हो जायेगी जिससे ध्वंस और प्रागभाव परस्पर विलक्षण नहीं कहे जा सकते। 'प्रागभाव नाशवान् होने से ध्वंसविलक्षण हो जायेगा'—यह भी कथन संभव नहीं क्योंकि ध्वंस भी विनश्वर है। यह बात चित्सुखी (पृ. ४४३ योगीन्द्र.) आदि में स्पष्ट की गयी है। अतः पुराणकार ने समझाया कि अनित्य उपाधि से निरूपित भेद वाला होने पर प्रागभाव क्योंकि ध्वंस से अनतिरिक्त रह जायेगा इसलिये वह कारण नहीं कहा जा सकता क्योंकि ध्वंस को कारण नहीं माना जाता।)।। ६१।।

अकारणक-जगद्वादी जिस प्रागभाव को कारणरूप से पेश कर रहा है वह कार्य का प्रागभाव है यह मानकर (श्लो. ५३ से) विचार किया। यदि कारण के प्रागभाव को ही वादी कार्य के प्रति कारण कहना चाहे तब भी संगत नहीं होगा। जिसके प्रागभाव का उल्लेख किया जा रहा है वह कारण नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य हो तब उसका प्रागभाव ही होगा नहीं जैसे आत्मा का। आगे जिसका जन्म होना हो उसी का प्रागभाव हुआ करता है। यदि वह कारण अनित्य ही है तब पूर्वोक्त दोष यथावत् है कि अनित्यप्रतियोगिक जो नित्य प्रागभाव वह ध्वंस से अतिरिक्त नहीं हो सकता

अपि चेत् कारणं लोके विद्यते किञ्चिदेव हि। अनित्यं वाऽपि नित्यं वा तस्याऽभावेन किन्तव।।६३
बीजादि नाऽविनष्टं चेत् कारणं कार्यकारणम्। कारणाऽभाव एतस्मात् कारणं नैव कारणम्।।६४
आयुष्मांस्तत्र वदतु प्रागभावः किमत्र सः। अङ्कुरादेर्हि जनको बीजादिः कारणं न तु।।६५
प्रागभावस्य पक्षत्वं त्यक्तवानसि सम्प्रति। प्रध्वंसस्य यतो ब्रूषे कारणत्वं जगज्जनौ।।६६

अथ कारणाऽभावस्य ध्वंसरूपस्य कारणतापक्षम् एकादशभिः दूषयंस्तत्र वादिन आशयं श्रोतुं तं पृच्छति—अपि चेदिति। किं च यदि लोके नित्याऽनित्यभावरूपं कारणं प्रसिद्धं तर्हि तदेवास्तु, तस्य लौकिककारणस्य अभावेन कारणतया स्वीकृतेन तव वादिनः किं प्रयोजनम् ? इत्यर्थः।। ६३।। एवं सिद्धान्तिना पृष्टः सौगतः स्वाभिप्रायम् उद्घाटयति—बीजादीति। बीजादिरूपं कारणम् अविनष्टं चेत् कार्यस्य अङ्कुरादेः कारणं न भवति, किन्तु विनष्टमेव। एतस्माद् एतदालोच्य मया कारणाभावः कारणम् उच्यते, न बीजादिरूपं कारणम् इत्यर्थः।।६४।। एतद् श्रुत्वा सिद्धान्ती वादिनं प्रतिज्ञान्तरेण[1] निगृह्णंस्तदुक्तित एव प्रागभावविचारसमाप्तिं दर्शयति—आयुष्मानिति द्वाभ्याम्। समाधानार्थं वादिना महदायुरपेक्ष्यम् इति सूचनाय आयुष्मान् इत्युच्यते वादी। तत्र उक्ताभिप्राये सति स वादी तावद् 'इति' वदतु। 'इति' किम् ? बीजादिरूपकारणस्य प्रागभावः किमङ्कुरादेः कार्यस्य जनकः ? इति त्वया सम्मतं यतः प्रागभावपक्षं परित्यज्य 'बीजादि नाविनष्टम्' इत्युक्त्या प्रध्वंसस्य कारणत्वं प्रब्रूषे ? इति द्वयोः सम्बन्धः।।६५-६।।

अतः कारण नहीं हो सकता। (प्रागभाव को अनित्य मानने पर जो दोष आते हैं उन पर चर्चा हो ही चुकी है। पूर्व में कार्यप्रागभाव कार्यध्वंसात्मक होने पर उसकी कारणता का निषेध किया था क्योंकि कार्यध्वंस कार्य का विरोधी है। कारणप्रागभाव यदि कारणध्वंस रूप हो तो भी उसे कार्य के प्रति कारण मानने में क्या आपत्ति है ? यही आपत्ति है कि जैसे कार्यध्वंस कार्य का विरोधी होता है वैसे ही कारणध्वंस भी केवल कारण का ही नहीं कार्य का भी विरोधी होता है; मिट्टी का ध्वंस होने पर उस मिट्टी का कार्यभूत घट पैदा नहीं हो सकता।)।। ६२।।

कारणत्वेन अभिमत का ध्वंस ही कार्यजनक है इस मत की आलोचना करने के लिये वैसा मानने वाले बौद्ध से सिद्धान्ती पूछता है—नित्य या अनित्य कोई-न-कोई भाववस्तु लोक में कारणरूप से प्रसिद्ध है तो उस लोकप्रसिद्ध कारण के अभाव को कारण मानने से तुम्हारा क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ?।। ६३।। इसके उत्तर में बुद्धमत मानने वाला अपना अभिप्राय समझाता है—बीजादिरूप लोकसंमत कारण यदि नष्ट न हो तो अंकुरादि कार्य के प्रति कारण नहीं बन पाता, नष्ट होने पर ही बनता है। यह परिस्थिति देखकर ही हम कहते हैं कि कारण का अभाव कारण है न कि बीजादि भाववस्तु कारण हैं।। ६४।।

इस पर सिद्धान्ती बताता है कि वादी ने 'प्रतिज्ञान्तर' नाम की ग़लती कर दी है जो वाद-विवाद के नियमों के अनुसार अनुचित है। जो प्रतिज्ञा की हो अर्थात् जिस पक्ष को उपपादित करना आरंभ किया हो, वह पूरी तरह युक्तियुक्त सिद्ध हो इससे पूर्व ही यदि वह वादी कोई अन्य प्रतिज्ञा कर दे तब 'प्रतिज्ञान्तर' नामक दोष होता है जिससे वादी के अंक घट जाते हैं। यहाँ प्रागभाव को कारण बताना आरंभ किया था और अब ध्वंस को कारण कह दिया अतः वादी से यह ग़लती हुई है। इससे यह भी सूचित है कि प्रागभाव का विचार हो चुका—उसके उपपादनार्थ कोई युक्ति वादी के पास नहीं बची—और अब ध्वंस की कारणता का परीक्षण होगा। इस अभिप्राय से सिद्धान्ती कहता है—हे दीर्घ आयु वाले वादी ! पूर्व श्लोक में जो आपने कहा उससे क्या हम यह समझ लें कि 'बीजादिरूप कारण का प्रागभाव अंकुरादि कार्य का जनक है, बीजादि कारण नहीं है' यह बात इस प्रसंग में निश्चित हो चुकी ? यह पूछना इसलिये पड़ रहा है कि तुमने अब प्रागभाव की कारणता का पक्ष छोड़ दिया और जगत् के जन्म के प्रति ध्वंस को कारण कहने

१. एकप्रतिज्ञासिद्धेः पूर्वमेव यदि अन्या प्रतिज्ञा क्रियते तदा 'प्रतिज्ञान्तरम्' नाम निग्रहस्थानं न्यायिनां प्रसिद्धम्। अत्र प्रागभावः कारणमित्यस्य निर्णयात् प्रागेव ध्वंसं कारणं ब्रुवतोऽसौ दोषः।

बहूनां कारणानां स्यात् प्रध्वंसो जठरादिषु। अङ्कुरादीनि कार्याणि कुतस्तत्र भवन्ति न।।६७
अपि यद् यस्य जनकं कारणं तस्य तद् भवेत्। बीजाद्यजनकं केन कारणं भवतोच्यते।।६८
यद्यभावो भवेत् कार्यजनौ कारणमत्र ते। तर्हि तस्याऽप्यभावः स्यात् कारणत्वेन हेतुना।।६९
एवं च कारणं हित्वा भवेत् कार्यजनिस्तव। तत्रोक्तदूषणं पूर्वं पुनरावर्ततेऽधुना।।७०
अपि तन्तुसुवर्णादेः कारणस्याऽत्र दर्शनात्। कार्योत्पादेऽपि केनास्य प्रध्वंसः कीर्तितस्त्वया।।७१

तत्र मौनेन वादिनः स्वीकारं लक्षयित्वा ध्वंसस्य अकारणतायां हेतुतया व्यभिचारं दर्शयति—बहूनामिति। बहूनां बीजकन्दादिरूपाणां कारणानां भक्षकोदरादिषु प्रध्वंसेऽपि अङ्कुरादयो न जायन्त इति व्यभिचारात् कथं तस्य कारणत्वम् ? इत्यर्थः।।६७।। 'कारणाभावः कारणम्' इत्युक्तौ व्याघातश्चेत्याह—अपि यद्यस्येति द्वाभ्याम्। जनकत्वलक्षणं कारणत्वं बीजादेर्यदि नास्ति तदा बीजाद्यभावपरः कारणाभावशब्दः कथं न व्याहत इत्यर्थः।। ६८।। यद्यभाव इति। किं च यदि त्वन्मते बीजाद्यभावः कारणं तदा तस्य बीजाद्यभावस्य अपि अभावः कारणम् इति त्वया वक्तव्यं, कारणत्वाऽविशेषात्। तथा च बीजाद्यभावस्य कारणतोक्तिर्व्याहता, अनवस्थिता चेति।।६९।। किं च यद्यत् कारणत्वेन आघ्रातं तस्य तस्य अभावः कारणम् इत्युक्तौ व्यवहारलोपान्तदोषविशिष्टाऽकारणककार्योत्पत्तिः पुनः प्रसज्जेत इत्याह—एवं चेति।। ७०।। ध्वंसस्य कारणत्वं प्रत्यक्षविरुद्धं चेत्याह—अपि तन्त्विति। कार्योत्पादे सति अत्र पटकुण्डलादिकार्यशरीरेऽनुगतस्य तन्तुसुवर्णादिरूपकारणस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् 'कारणाभावः कारणम्' इति त्वया कथं कीर्त्यते ? इत्यर्थः।। ७१।।

लग पड़े। (दीर्घ आयु वाला वादी को इसलिये कहा कि अभावकारणता के समर्थन के लिये उसे अत्यधिक समय चाहिये होगा क्योंकि यह अत्यंत असंगत पक्ष है। किं च 'आयुष्मान्' ऐसा अपने शिष्य, पुत्र आदि को कहा जाता है; यहाँ जिस प्रकार की ग़लती की है उससे वादी ने प्रकट किया कि उसे अभी बहुत कुछ सीखना बाकी है ! 'निश्चित हो चुकी' अर्थात् उस संदर्भ में अब तुम्हें कोई वक्तव्य नहीं सूझ रहा ? तात्पर्य है कि आगे ध्वंस को कारण मानने के ही दोषों की चर्चा करेंगे, प्रागभाव संबंधी बात पूरी हुई।)।।६५-६।।

सिद्धांती ही कह रहा है कि कारण के ध्वंस को कार्य का कारण मानना उचित नहीं : भोजन आदि करने वाले के उदर आदि में बहुत से कारणों का ध्वंस हो जाया करता है, वहाँ अंकुरादि कार्य क्यों नहीं पैदा हो जाते ? (सौगत ने लोकसिद्धकारण के ध्वंस को कार्यजनक माना था अतः सिद्धांती कहता है कि वैसा ध्वंस तो अन्यत्र भी होता रहता है, वहाँ कार्यजन्म क्यों नहीं होता ? अर्थात् कारणध्वंस कार्यजन्म का नियमतः पूर्ववर्ती नहीं है, व्यभिचारी है अतः कार्यजन्म के प्रति कारण नहीं हो सकता। 'भोजन आदि'—इस आदि से भट्टी जलाने वाला और 'उदर आदि'—इस आदि से जलती भट्टी समझने चाहिये। भट्टी में बीज डालने पर बीजध्वंस तो होगा पर अंकुर पैदा होगा नहीं। अतः लोकप्रसिद्ध कारण के ध्वंस को कार्यहेतु मानना ग़लत है।)।। ६७।।

किं च, जो जिसका उत्पादक हो वही उसका करण होता है। बीज आदि यदि अंकुरादिके उत्पादक हैं नहीं तो उन्हें कारण कह कैसे रहे हो ? 'कारणाऽभाव' अर्थात् कारण का अभाव, इसमें कारणशब्द से बीजादि ही वादी कह रहा है, क्योंकि वह भी घटध्वंस को तो अंकुर का जनक मानता नहीं ! इस प्रकार व्याघात अर्थात् अपनी बात स्वयं काटने का दोष भी वादी कर रहा है क्योंकि बीजादि को कारण भी कह रहा है और वे कारण नहीं यह भी सिद्ध करने की कोशिश में है।। ६८।। इतना ही नहीं, 'कारण का अभाव ही कारण होता है' यह नियम मानने पर यदि अभाव को कार्योत्पादक अर्थात् कारणपद पर अभिषिक्त करते हो तो उक्त नियम से उस अभाव के भी अभाव को ही कारण कहना पड़ेगा ! जो भी भाव या अभाव 'कारण' कहलायेगा उसका अभाव ही तुम्हें जब कारण मान्य है तब

ततो बीजस्य चेद् नाशो मा भूत् कारणमत्र तत्। अनष्टा बीजजठरे पृथिव्यवयवा हि ये।
त एव कारणं तत्र सन्तु सर्वाऽविरोधतः।।७२

एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां भावानां कारणत्वे निश्चिते सति यत्र बीजाङ्कुरोदाहरणे त्वया ध्वंसस्य हेतुतोच्यते तत्र बीजाद्यवयवानां हेतुतासम्भवाद् ध्वंसोऽन्यथासिद्धत्वाद् न हेतुरित्याह—तत इति। ततः सतः कारणस्य सिद्धत्वाद् बीजस्य नाशे सति तद्[1] बीजं कारणं माऽस्तु, ये तु बीजस्यान्तर्वर्तमाना अनष्टाः पार्थिवा अवयवाः त एव कारणतां भजन्तु, सर्वप्रमाणाऽविरोधाद् इत्यर्थः। बीजस्य बीजत्वं तु 'तदुपाधिकमिति भावः।।७२।। प्रागभाव-

बीजध्वंस के भी अभाव को ही कारण कहना चाहिये क्योंकि जैसे बीज कारण कहलाता है ऐसे तुम्हारे मत में बीज-ध्वंस भी कारण ही कहलाता है। तब 'बीजाभाव कारण है' यह बात स्थिर नहीं रही और इस अभावाभाव को भी कारण कहते ही इसके भी पुनः अभाव की ज़रूरत पड़ेगी अर्थात् अनवस्था दोष हो जायेगा। इस तरह तुम्हारी बात मानी जाये तो कारण के बिना ही कार्योत्पत्ति हुआ करे और यह बात जैसे ग़लत है वैसा पूर्व में समझा चुके हैं।। ६९-७०।। 'ध्वंस कारण है, यह बात तो प्रत्यक्ष से भी विरुद्ध है क्योंकि कार्य उत्पन्न होने के बाद भी उस कार्य के शरीर में कारण दीखता ही रहता है—जैसे कपड़े, गहने आदि में धागे, सोना आदि दीखते ही हैं। इस अबाधित अनुभव के रहते तुम कह कैसे रहे हो कि कारण का ध्वंस हो गया ?।। ७१।। (वस्तुतः असत्कारणवाद को क्षणिकवाद के आधार पर ही समझा जा सकता है, स्थिरता मानकर चलने वाली युक्तियाँ उसे संगत नहीं कर सकतीं। क्षणिकवाद ग़लत है, अनुभव व शास्त्र से विरुद्ध है अतः यहाँ स्थिरवाद के तर्कों से ही परीक्षण किया गया है। बौद्धों का अभिप्राय क्योंकि संसार को दुःखमय मानकर इसे छोड़ने का है इसलिये वे कार्यकारण सिद्ध न हो इसके लिये यत्नशील हैं ताकि धनादि साधन एकत्र करने की प्रवृत्ति न हो। किंतु सामान्य लौकिक व्यवहार के लिये उनकी धारणायें संगत नहीं, बल्कि प्रतिकूल ही हैं और मोक्षवाद भी उनसे उपपन्न नहीं होता क्योंकि मुक्त होने वाला वह किसी को मानते नहीं—आत्मा है ही नहीं जो मुक्त हो।—तथा नैतिकता, धार्मिकता आदि के भी कोई मायने नहीं रह जाते क्योंकि ये न केवल हेतुफलवाद पर निर्भर हैं वरन् हेतुप्रयोक्ता को भविष्य में फललाभ होता है, अर्थात् प्रयोक्ता स्थिर है, यह मानकर प्रवृत्त हैं। इन सब बातों को समझकर आचार्य ने असत्कारणता की हास्यास्पदता व्यक्त कर दी है। बौद्ध तो असत्को ही कारण कहता है पर कुछ आस्तिकंमन्य असत्को 'भी' कारण कहना चाहते हैं, प्रागभाव आदि रूप से अभाव को कारण सामग्री में गिनते हैं। उनका भी यहाँ निरास हो गया। इस बारे में वादग्रंथों में प्रभूत विचार मिल सकता है।)

कार्य तभी उत्पन्न होता है जब उसका जनक कोई भावपदार्थ हो, भावात्मक जनक न रहने पर कार्योत्पत्ति कहीं नहीं मिलती यह निश्चित है। इसलिये जो बीजनाश को अंकुरोत्पादक मानते हैं उन्हें भी ध्यान से देखकर समझ लेना चाहिये कि बीज के अवयव ही जलादि अन्यान्य वस्तुओं से मिल कर अंकुर के हेतु बनते हैं; ऐसा नहीं कि बीज नष्ट हो तब अंकुर पैदा होवे। बीज जिस अवयवसंरचना के रहते 'बीज' कहा-समझा जाता है वह संरचना न रह जाने से 'बीज नष्ट हो गया' ऐसा व्यवहार भले ही हो पर जैसे कलम का ढक्कन, निब, स्याही भरने वाली टंकी आदि को अलग-अलग रख देने से कलम का ध्वंस कहना असंगत है, या टार्च के बल्ब, सैल आदि खोल कर अलग-अलग रख लेने पर टार्च का ध्वंस समझना संभव नहीं वैसे बीजध्वंस की बात भी युक्तियुक्त नहीं है। अंकुर बनने के लिये बीज की संरचना में अंतर आना आवश्यक ज़रूर है बस इतने अर्थ में ही बीज-'नाश' की बात समझ आ सकती है। बीज को अवश्य कारण मानना ही पड़ता है अंकुर के प्रति; अंकुरोत्पादनप्रक्रिया में बीज के अवयवविन्यास में परिवर्तन रूप बीजनाश भी हो जाया करता है; अतः बीजनाश 'अन्यथासिद्ध' कहा जाना चाहिये क्योंकि अवश्य मान्य हेतु के साथ जो रहा करे उसे अन्यथासिद्ध नाम से तार्किक मानते हैं। इस विषय को श्लोक में बताते हैं—सद्वस्तु ही कारण हो सकती है यह निश्चित है अतः यदि अवयवसंरचना बदल जाने से तुम्हें लगता है कि बीज नष्ट हो गया तो भले

१. तद्=उक्तावयवेति।

प्रागभावे हि ये दोषाः प्रध्वंसेऽपि त एव हि। उक्तिभेदाद् भवन्त्येते ह्यभावे सकलेऽपि च।।७३

अन्योन्यभेदधीहेतुरभावोऽपि न कारणम्। अदर्शनादभावोऽतः कारणं कोऽपि नैव सः।।७४

शून्यवादनिरासः

अत एव न शून्यस्य कारणत्वं द्विजोत्तमाः। अत्यन्ताऽभाव एवाऽयं शून्यं वादिजनेरितम्।।
वन्ध्यासुतसमस्यास्य कारणत्वं कथं भवेत्।।७५

पक्षोक्ता दोषा अपि ध्वंसादिपक्षे योज्या इत्याह—प्रागभाव इति। उक्तिभेदात् किंचित्प्रकारभेदात्—यथा एकस्य ध्वंसस्य जगद्धेतोः इदानीं जातत्वे पूर्वं सृष्ट्यनापत्तिः। अनेकत्वे, अविद्यमानप्रतियोगिसम्बन्धानुपपत्तिः इत्यादयः। एवम् अत्यन्ताभावेऽन्योन्याभावे च यथासम्भवं दोषा योज्या इत्यर्थः।।७३।।

अन्योन्याभावस्य कारणत्वं त्वनुपलब्धिबाधितमित्याह—अन्योन्येति।।७४।।

अत्यन्ताभावपक्षं दूषयितुं शून्यवादिमतं खण्डनीयत्वेन उपन्यस्यति—अत एवेति। अतः अभावत्वावच्छिन्नस्य कारणत्वासम्भवाद् एव हे द्विजोत्तमाः! शून्यस्य कारणत्वं न मन्तव्यम्। शून्यम् इति हि सामान्याऽभावात्मकाऽत्यन्ताऽभावस्यैव नाम वादिभिः कल्पितं, तस्य वन्ध्यापुत्रवत् सत्ताहीनस्य कारणत्वं कथं स्यादित्यर्थः।।७५।।

ही अंकुर के प्रति बीज को कारण मत कहो किन्तु बीज के शरीर में जो पार्थिवादि अवयव थे, जो अभी भी नष्ट नहीं हुए हैं उन्हीं को अंकुर के प्रति कारण समझ लो; ऐसा मानने पर किसी प्रमाण से विरोध नहीं आयेगा। जो बीज को भी अंकुर का कारण कहते हैं वे भी उसमें स्थित उन अवयवों को दृष्टि में रखकर ही कहते हैं। अंकुराकार में परिणत होने वाले अवयवों से रहित हो तो बीज जैसा दीखने पर भी उसे बीज नहीं माना जाता। नवीन पद्धति से ऐसे पौधे तैयार हुए हैं जिनसे बने 'बीज', अनाज आदि, खाये तो जा सकते हैं पर उन्हें बोने पर आगे पौधा उत्पन्न नहीं होगा; ऐसों को 'बीज' उपचार से ही कह सकते हैं, बीज का वे मुख्यार्थ नहीं।। ७२।।

प्रागभाव को कारण मानने पर प्राप्त होने वाले दोष भी ध्वंसकारणतावाद में लागू होते ही हैं। सभी प्रकार के अभाव यदि कारण माने जायें तो वे दोष लग ही जायेंगे केवल कहने के ढंग में थोड़ी-बहुत हेर-फेर होगी। (पूर्व में जैसे प्रागभाव के बारे में विकल्प उठाये थे वैसे ध्वंस में भी समझ सकते हैं : ध्वंस यदि एक और अनित्य है तब जब वह स्वयं पैदा हुआ उससे पूर्व सृष्टि कैसे हुई ? और यदि तब सृष्टि थी नहीं तो ध्वंस पैदा किससे हुआ ? यदि ध्वंस अनेक हैं तो भी उनमें भेद कैसे—स्वतः अभाव में भेद होता नहीं और ध्वंसकाल में प्रतियोगी रहता नहीं जो उसका भेदक बने ? इत्यादि सभी तर्क समझ लेने चाहिये। ऐसे ही अत्यंताभाव और अन्योन्याभाव को कारण कहा जाये तब भी ये विकल्प उठेंगे ही, इनका उपपन्न समाधान असंभव है।)।। ७३।।

अनेक वस्तुओं में परस्पर भेद है ऐसा ज्ञान कराने वाला अभाव—जिसे अन्योन्याभाव या इतरेतराभाव कहते हैं—भी जगत्कारण नहीं कहा जा सकता क्योंकि लोक में ऐसा कहीं नहीं देखा जाता कि बीजभेद से अंकुर पैदा हो जाये ! इसलिये सार यही निकलता है कि कोई भी अभाव जगत्कारण नहीं है।। ७४।।

हे उत्तम द्विजो ! क्योंकि कोई भी अभाव कारण होना सम्भव नहीं इसलिये यह स्वीकार्य नहीं कि शून्य जगत्कारण है। सामान्याभावरूप अत्यन्ताभाव को ही सुगतानुयायियों ने 'शून्य' नाम दे रखा है। वन्ध्यापुत्र के समान वह शून्य कारण हो कैसे सकता है ? (अभाव को दो तरह बाँटा जाता है—सामान्याभाव, विशेषाभाव। प्रतियोगी विशेषधर्म से विशिष्ट हो तो अभाव को विशेषाभाव एवं सामान्यधर्म से विशिष्ट हो तो सामान्याभाव कहते हैं। उदाहरणार्थ किसी एक खास घट (तद्घट) के अभाव को विशेषाभाव और सभी घटों के अभाव को सामान्याभाव कहा जायेगा। शून्य का अभिप्राय सामान्याभाव से है अर्थात् कुछ भी न होने का नाम शून्य है। यद्यपि बौद्धों ने शून्य पर भी काफी सूक्ष्मेक्षिका

अपि कार्यस्य वाऽयं स्याद् अथ वा कारणस्य हि। उभयोर्वाऽपि नैव स्यात् त्रेधाऽप्येष महाधियः।।७६

कार्यस्य यदि सोऽयं स्यात् तदा पक्षपरिक्षयः। कारणाऽभावतः कार्यं पक्ष एष यतस्तव।।७७

अपि भूयान् विरोधः स्याद् अस्य पक्षस्य सङ्ग्रहे। अतः कारणतः कार्यमत्यन्ताऽसत् प्रजायते। वन्ध्यायास्तनयः कस्मात् तादृगेव न जायते।।७८

तत्र दोषं वक्तुं विकल्पयति—अपि कार्यस्येति। शून्यपदार्थघटकोऽभावः किं कार्यप्रतियोगिकः ? कारणप्रतियोगिको वा ? कार्यकारणोभयप्रतियोगिको वा ? त्रेधाऽपि असम्भव इत्यर्थः।। ७६।। तत्र नाद्यः; कारणाऽभावः कारणम् इत्यभ्युपेत्य कार्याभावस्य कारणतां वक्तुः प्रतिज्ञाहानेः, अपसिद्धान्तस्य वा दोषस्य आपाताद् इत्याह—कार्यस्य यदीति। कार्यस्य अत्यन्ताभावः तत्कारणम् इत्यङ्गीकारे पक्षहानिरित्यर्थः।। ७७।। अत्रैव दोषान्तरमाह—अपि भूयानिति। अस्य कार्याऽभावः कारणम् इत्याकारकस्य पक्षस्य अङ्गीकारेऽतः हेतोः भूयान् विरोधः स्यात्। 'अतः' कुतः ? इत्याकाङ्क्षायामाह—कारणत इत्यादि। अयं भावः—कार्याभावो निरपेक्षः कारणम् ? किं वा दण्डो यथा चक्रादिसापेक्षो घटकारणं तद्वत् सापेक्षः ? आद्ये, सर्वत्र सर्वकार्यापत्तिः। अन्त्येऽपि दृष्टसामग्रीसद्भावाद् वन्ध्यायाः सुतः कुतो न जायते ? एतन्मते कार्यस्य अत्यन्ताऽसद्रूपत्वाद् वन्ध्यासुतस्य अपि अत्यन्ताऽसत्त्वाऽविशेषाद्—इति।। ७८।।

की है और उसे यों अभावरूप नहीं माना है तथापि आस्तिकाचार्यों ने उनकी कल्पनायें खोखली सिद्ध करने के अनेक सफल प्रयास किये हैं और उक्तविध अभाव से अन्य शून्य की अवधारणा स्थापित नहीं हो सकती यह दिखाया है। इसे मानकर यहाँ पुरणकार शून्य को कारण मानने का खण्डन कर रहे हैं। यद्यपि सीधे ही 'शून्य जगत्कारण है' ऐसा कोई वादी नहीं कहता तथापि माध्यमिक का जगत्कारण-विषयक अभिप्राय यही है इस तात्पर्य से उसका यहाँ निरास कर रहे हैं। पूर्व में ग्रंथकार ने वंध्यापुत्र से बहुत कुछ उपपन्न किया था किंतु वह मिथ्यात्वदृढीकरण के अभिप्राय से ही था न कि असत्कारणवाद को मान्यता देने के लिये। यहाँ भी शून्य की वास्तविक कारणता का विरोध है, कल्पना से उसे कारण *कह* नहीं सकते—यह बात नहीं; कह भले लें पर वह कथन उपपन्न, प्रामाणिक नहीं होगा यह विवक्षित है। ब्रह्मकारणवाद व्यवहारभूमि में प्रमाणयुक्त, युक्तिसंगत है जबकि शून्यकारणवाद व्यवहार के धरातल पर भी टिकता नहीं यह याद रखना चाहिये।)।। ७५।।

शून्य कहलाने वाला अभाव है किसका ? क्या कार्य के अभाव को शून्य कहते हो ? या कारण के अभाव को ? या कार्य व कारण दोनों के अभाव को ? हे महाबुद्धिमानो ! तीनों ही बातें सही नहीं।। ७६।। तुम्हारा स्वीकृत सिद्धांत पहले यही बताया था कि 'कारणाभाव से कार्य उत्पन्न होता है' अतः कार्य के उत्पादक शून्य को यदि कार्याभाव बताओगे तो तुम्हारे सिद्धान्त की हानि स्फुट है।। ७७।। कार्याभाव को कारण मानने पर और भी बहुत-से विरोध उपस्थित होते हैं—कार्याभाव क्या किसी और की सहायता लेकर कारण बनता है या अकेले ही ? यदि अकेले ही बने तो सभी जगह, सभी समय सभी कुछ पैदा हो जाया करे ! यदि सहायक चाहिये तो भी अन्य सामग्री रहते वन्ध्या को पुत्रलाभ क्यों नहीं हो जाता ? अत्यन्त असत्—अर्थात् व्यक्त या अव्यक्त किसी भी तरह जो है नहीं—कार्य ही जन्म लिया करता है यह जब मान लिया तब इसी तरह का जो वंध्यासुत वह पैदा क्यों नहीं हो जाता ? (ऐसे ही अन्य प्रश्न भी होते जायेंगे जिनका उत्तर इस वाद में बनेगा नहीं अतः कार्याभाव को शून्यात्मक कारण नहीं मान सकते। वंध्या अर्थात् ऐसा स्त्रीदेह जो दृष्ट-अदृष्ट किसी उपाय से माता नहीं बन सकता।)।। ७८।।

अथ वन्ध्या भवेद् नैषा कारणं शक्त्यभावतः। केयं शक्तिस्तदैतत्तु वक्तव्यं शक्तिवादिना।।७६
यया संजायते कार्यं कारणात् सेति चेद् मतम्। कारणं किं ततो भिन्नं शक्तेरेतद् निरूप्यताम्।।८०
शक्त्या संजायते कार्यं कारणं स्यादकारणम्। भावमात्रस्य नैवैतत् कारणत्वं प्रसिद्ध्यति।। ८१

ननु वन्ध्यायाः सामग्रीघटकत्वमेव नास्ति, शक्त्यभावेन कारणत्वविरहाद् इति शक्तिवादिनः[1] शङ्काम् अनूद्य, तन्निरासाय शक्तिलक्षणं पृच्छति—अथेति।। ७६।। यद्बलात् कारणात् कार्यं जायते सा शक्तिः इति लक्षणमाशङ्क्य; सा शक्तिः किं कारणाद् भिन्ना ? अभिन्ना वा ? इति विकल्पयति—ययेति। सा शक्तिः। ततः शक्तेः सकाशात् कारणं भिन्नम्, अभिन्नं वा ? इत्यर्थः।। ८०।। आद्येऽपि, कार्यारम्भकत्वं किं शक्तेरेव ? उत कारणस्यापि ?[2] प्रथमे, कारणस्य कारणत्वहानिः, कारणत्वस्य कार्यारम्भकतामात्ररूपत्वात्। चरमे तु, किं शक्त्या? तां विनाऽपि कार्यारम्भकतायाः सत्त्वाद् इत्याह—शक्त्येति द्वाभ्याम्। यदि शक्त्या कार्यं जायते तदा प्रसिद्धं कारणम् अकारणं कारणताहीनं स्यात्। किं च शक्तिसद्भावे भावमात्रस्य एतत् प्रसिद्धं कारणत्वं न स्यात्, तयैव निर्वाहात्। तार्किकैः शक्तिस्थानाभिषिक्तः प्रतिबन्धकाभावः कारणं स्याद्—इत्याशयेन भावमात्रस्य इत्युक्तम्।।८१।।

कार्याभाव सामग्री की सहायता से कार्योत्पादक होता है यह मानने पर दोष दिया कि सामग्री रहते वंध्या का पुत्र क्यों पैदा नहीं होता। इस पर शक्तिवादी शंका करता है कि उक्त स्थल पर सामग्री नहीं है क्योंकि वंध्या सामग्री की घटक नहीं हो सकती; इसमें हेतु है कि उसमें शक्ति नहीं है। सिद्धान्ती की ओर से शक्तिवादी से पूछा जाता है कि यह शक्ति क्या पदार्थ है ? 'शक्ति' नामक पदार्थ मानने वाले को यह समझाना चाहिये कि वह शक्ति से कहना क्या चाहता है।। ७६।। यदि माना जाये कि 'जिसके बल पर कारण से कार्य उत्पन्न होता है वह शक्ति है'; तो जिज्ञासा होती है कि कारण उस शक्ति से भिन्न होता है या अभिन्न ?।। ८०।। यदि कारण व शक्ति परस्पर भिन्न हैं तो विचारणीय है कि कार्य उत्पन्न कौन करता है—शक्ति या कारण ? यदि शक्ति से कार्य उत्पन्न हो जाये तो कारण को कारण ही कहना व्यर्थ है, जिससे कार्य उत्पन्न न हो वह कारण नहीं वरन् अकारण कहा जाये यही ठीक है। और अगर कारण से ही कार्य उत्पन्न हो जाता है तो शक्ति मानने का क्या प्रयोजन ? शक्ति इसीलिये मानते हैं कि उससे कार्य उत्पन्न होता है; यदि ऐसा ही है तो जितने भावपदार्थ कारण रूप से प्रसिद्ध हैं उनकी कारणता भी जाती रहेगी क्योंकि कार्योत्पादन तो इकलौती शक्ति से ही हो जायेगा ! इसलिये यदि शक्ति मानो तो लोकप्रसिद्ध कारण व्यर्थ हो जाता है और अगर कारण स्वीकारते हो तो शक्ति व्यर्थ हो जाती है। कार्य का उत्पादक ही कारण कहलाता है और शक्ति का भी तुम यही स्वरूप कहते हो अतः दोनों में से एक ही मान्य हो सकता है, एक मान लेने पर दूसरा व्यर्थ हो ही जाता है। ('जितने भाव पदार्थ कारणरूप से प्रसिद्ध' यों 'भावपदार्थ' शब्द का प्रयोग इसलिये किया कि न्यायी प्रतिबंधक के अभाव को भी कारण कहते हैं जिसे लेकर कोई कह सकता है कि शक्ति और वह अभाव दोनों रहने से कार्यजन्म होता है अतः शक्ति से विलक्षण जो वह अभाव उसे कारण शब्द से कह देना चाहिये। इस संभावना का पृथक् समाधान यह है कि प्रतिबंधकाभाव कारण नहीं होता : कारणसामग्री रहते जो कार्योत्पत्ति को रोके वह प्रतिबंधक कहलाता है। यदि प्रतिबंधकाभाव कारण ही हो तो वह कारणसामग्री में ही आ जायेगा जिससे प्रतिबंधक कभी अपना प्रभाव न दिखा सकने से प्रतिबंधक ही नहीं कहलायेगा तो उसका अभाव कहाँ प्रसिद्ध होगा ? इस विषय पर अनेक ग्रंथों में विवेचन है उदाहरणार्थ वेदान्त-तत्त्वविवेक और उसकी व्याख्या दीपन में (पृ. २४६ मैसूर) कई बातें उपलब्ध हैं। उक्त संभावना और उसका समाधान मनमें रखकर पुराणकार ने 'भावपदार्थ' कहा है।)। ८१-२।। यदि कारण व शक्ति को अभिन्न मानो तब तो 'शक्ति' और 'कारण' ये नाम ही दो हैं, इनके अर्थ तो पृथक् हैं नहीं अतः उस हालत में शक्ति की चर्चा करना तुम्हारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं करेगा।।८३।।

---

१. तौतातिकादेः। २. शक्तिसहितकारणस्यारम्भकतेति चेत् ? किमिदं साहित्यम् ? शक्तिश्च नित्याऽनित्या वा ? नित्यत्वे यदा कारणं नास्ति तदा कुत्र वसति ? कारणसत्त्वे च सदा कार्यं स्यात् ! अनित्यत्वे सा कुतो जायते ? इत्यादिविचारेण निरसनीयोऽयमपि विकल्पः।

तेन शक्तेस्तु सद्भावे कारणं व्यर्थमेव तत्। कारणस्याऽपि सद्भावे शक्तिर्व्यर्था प्रसज्जते।।
कारणं कार्यजनकं शक्तिश्चेत् तादृशी तव।।८२

एतयोर्यद्यभेदः स्यात् तदा नामद्वयं भवेत्। कारणं शक्तिरित्येतद् व्यर्था शक्तिस्तदा तव।।८३

ततो वन्ध्यापि कस्मान्न जनयेत् सुतमात्मनः। अत्यन्ताऽसत्त्वसामान्यं तत्सुतस्याऽपि विद्यते।।८४

न कारणत्वं चास्त्यस्या इति चेत् तत्त्वतो वद। कार्यस्याऽदर्शनं नैव भवेदस्य नियामकम्।।
कुतो न स्यादिदं यस्माद् अस्माभिः पृच्छ्यतेऽधुना।।८५

पुत्राऽजनिं विना चैव न वन्ध्या लभ्यते क्वचित्। अभावे कारणत्वस्य कारणं धीमताऽपि च।।८६

तेनेति। तेन एकत्रैव आरम्भकतौचित्येन शक्तिकारणयोः अन्यतरस्य वैयर्थ्यं; यतः कार्यजनकात्मकं कारणं, तव मते तु शक्तिः अपि एतादृशी—कार्यजनकात्मिकैवेत्यर्थः।। ८२।। शक्तिकारणयोः अभेदपक्षे तु शक्तिकारणपदयोः पर्यायत्वापत्तिरित्याह—एतयोरिति।।८३।।

एवं शक्त्यङ्गीकारस्याऽपि असामंजस्ये कार्यात्यन्ताभावः कारणम् इत्याकारकेऽसत्कार्यवादे वन्ध्यासुतोत्पत्तिप्रसक्तिः अपरिहार्यैवेत्याह—तत इति। एतत् प्रत्यक्षसिद्धम् अत्यन्ताऽसत्त्वरूपं कार्यलक्षणं यतो वन्ध्यासुतस्यापि वर्ततेऽतो वन्ध्याऽपि कथं सुतं न जनयेद् ? इति सम्बन्धः।। ८४।। नन्वत्यन्ताऽसद्रूपमपि कार्यं कारणादेव जायते, वन्ध्या तु न कारणमिति चेत् ? तत्त्वं विचार्य ब्रूहि। न हि 'वन्ध्यायाः कारणत्वमेव कुतो न' इति पृच्छन्तं प्रति सन्दिग्धः कारणत्वाभावो हेतुतया उपन्यसितव्य इत्याह—न कारणत्वमिति। अस्या वन्ध्यायाः। अस्य कारणत्वाऽभावस्य नियामकं नियमेन बोधकं कार्यादर्शनं न सम्भवति, इदं कार्यदर्शनम् एव कुतो न स्याद् इति प्रश्नारूढतया सन्दिग्धत्वादित्यर्थः।। ८५।। न च वन्ध्यात्वं कारणत्वाभावो वा पुत्राऽदर्शन- प्रयोजकत्वेन वाच्यः, तयोः पुत्राऽदर्शनैकप्रयोज्यत्वेन अन्योन्याश्रयतया सन्दिग्धत्वाद् इत्याशयेनाह—पुत्राजनिमिति। पुत्राजनिरूपं हेतुं विना वन्ध्यात्वं कारणत्वाभावे कारणं साधकं धीमताऽपि दुर्लभमित्यर्थः।। ८६।।

इसलिये पूर्वोक्त प्रश्न यथावत् रह जाता है कि यदि अत्यन्त असत् जो कार्य उसकी उत्पत्ति कार्यात्यन्ताभाव से हो जाती है तो वन्ध्या अपना पुत्र क्यों नहीं पैदा कर लेती जबकि वह पुत्र भी अत्यन्त असत् ही है ?।। ८४।। वादी कह सकता है—कि कार्य अत्यन्त असत् होने पर भी उत्पन्न होगा अपने कारण से ही, वंध्या कारण ही है नहीं तो उससे वंध्यापुत्र पैदा होने का प्रसंग क्यों उठाते हो ? वादी का यह कथन अनुचित है। प्रश्न उठा था कि 'वंध्या कारण क्यों नहीं है ?' अर्थात् 'वन्ध्या कारण नहीं है' यह बात अभी संदिग्ध है, निर्णीत नहीं। अतः उक्त प्रश्न का उत्तर यह कैसे हो सकता है कि 'वंध्यापुत्र इसलिये पैदा नहीं होता क्योंकि वन्ध्या कारण नहीं है' ? यह बात श्लोक में कही—यदि कहो कि 'वन्ध्या में कारणता नहीं है (अतः वंध्यापुत्र उत्पन्न नहीं होता)' तो यह कथन अविचारित लगता है, विचार्यमाण विषय को समझ कर उत्तर दो ! कार्य की उपलब्धि न होना इस बात का नियमतः बोधक नहीं हो सकता कि अमुक वस्तु में कारणता नहीं है क्योंकि अब हम यह पूछ रहे हैं कि 'कार्य की उपलब्धि ही क्यों नहीं हो जाती ?' (तात्पर्य है : वंध्या से वंध्यापुत्र क्यों पैदा नहीं होता ? इस प्रश्न का वादी ने उत्तर दिया 'क्योंकि वन्ध्या में कारणता नहीं है।' प्रश्न हुआ कि 'वंध्या में कारणता नहीं यह कैसे निश्चित हुआ ?' तो जवाब मिला 'कार्य उपलब्ध न होने से !' सवाल है 'कार्य उपलब्ध क्यों नहीं होता ?' वादी क्या उत्तर दे ? यह कह नहीं सकता कि है नहीं इसलिये उपलब्ध नहीं होता', क्योंकि उसके मतमें उत्पत्ति से पूर्व है तो घड़ा भी नहीं पर कुलालादिव्यापार से उपलब्ध हो जाता है। यदि कहें कि 'पैदा नहीं हुआ इसलिये उपलब्ध नहीं' तो लौट कर प्रथम प्रश्न पर ही आ गये कि वह पैदा क्यों नहीं हुआ ! इस प्रकार जिस ढंग से वादी चल रहा है उससे वह अपनी मान्यता स्थापित नहीं कर

अपि कार्यं न कुत्राऽपि कारणेऽस्ति कुतो न तत्। सर्वस्माज्जायते सर्वमत्यन्ताऽसत्त्वसाम्यतः।।८७

असत्कार्यवादप्रत्याख्यानम्

अत्यन्ताऽसदिदं कार्यं यदि तस्य कुतो भवेत्। कारणं सदिदं नैव वैलक्षण्येऽस्ति कारणम्।।
अत्यन्ताऽसत्त्वमेतस्मात् कार्ये नैवोपपद्यते।।८८

असतश्चेद्धि सत्तायाः सम्बन्धात् कार्यता भवेत्। तस्य सत्ताऽभिसंयोगो यदि केन भवेद् न हि।।
वन्ध्यासुतस्य तस्याऽपि कार्यताऽस्तु तथैव सा।।८९

किं च यथा सत्कार्यवादिभिः कारणे कार्यस्य सूक्ष्मरूपेण स्थितिः कार्यनियामिकाऽङ्गीकृता तथा भवद्भिः अनभ्युपगमात् सर्वं सर्वत्रोत्पद्येत, अत्यन्ताऽसत्त्वात्मकस्य भवदभ्युपगतस्य कार्यतावच्छेदकस्य अविशेषाद् इत्याह—अपि कार्यमिति। यतः कारणे कार्यं नाऽस्ति अतः सर्वं सर्वत्र कुतो न जायत इति सम्बन्धः।। ८७।।

अपि च असतः कार्यस्य सत्कारणाऽभ्युपगमोऽयुक्तः, 'योग्यं योग्येन सम्बध्यत' इति न्यायविरोधाद् इत्याह—अत्यन्ताऽसदिदमिति। यदि कार्यमत्यन्ताऽसत् तर्हि तस्य सद्रूपं कारणं कुतः स्यात् ? न हि विलक्षणयोः कार्यकारणभावे किंचित् कारणं साधकं विद्यते। फलितमाह—अत्यन्ताऽसत्त्वमित्यादिना।। ८८।। किं च असत्कार्यवादिभिः तार्किकैः सत्ताजातिसम्बन्धाद् असतः सत्त्वरूपोत्पत्तिः इष्यते, तथा वन्ध्यापुत्रस्य अपि स्याद्। इत्याह—असतश्चेद् इति। सत्तायाः सम्बन्धाद् यदि असतः कार्यता उत्पत्तिरिष्यते तदा तस्य वन्ध्यापुत्रस्य अपि सत्तायोगः कार्यता चास्तु इति योजना।। ८९।। स्वेच्छयैव कार्यस्य असत्त्वमभ्युपगम्य कारणस्य असत्त्वम्

सकता।)।। ८५।। वन्ध्यासुत की अनुपलब्धि का प्रयोजक 'स्त्री का वन्ध्या होना' या 'उसमें कारणता न होना' नहीं कहा जा सकता क्योंकि यदि पूछें कि 'उसके वंध्या होने का प्रयोजक क्या ? या कारणता न होने में क्या प्रयोजक ?' तो यही उत्तर मिलेगा 'पुत्र की अनुपलब्धि !' एवं च अन्योन्याश्रय दोष होगा—दोनों संदिग्ध बातें एक-दूसरे की सिद्धि नहीं कर सकतीं। इसी आशय से श्लोक में कहा—पुत्र की अनुत्पत्ति के बिना कहीं वंध्या नहीं मिलती और चाहे जितना बुद्धिमान् हो, कारणता के बिना कहीं कारण नहीं ढूँढ सकता। (अर्थात् यह कैसे निश्चित हो कि वंध्या होने से उसका पुत्र नहीं है या पुत्र न होने से वह वंध्या है ? कारणता न होने से वह कारण नहीं है या क्योंकि वह कारण नहीं है इसलिये उसमें कारणता नहीं है ? इसे केवल शब्दक्रीडा नहीं समझना चाहिये। कार्यकारणता निर्वचनीय निश्चित व्यवस्था नहीं है यह यहाँ अभिप्रेत है। संभावनाओं से व्यवहार चलता है पर हम निश्चय मान बैठते हैं अतएव निराशा होने पर दुःख हो जाता है। यदि संभावनामात्र पर स्थिर रहें तो कभी निराशा अतः दुःख भी नहीं होगा। जैसे रज्जु में सर्प, माला, जलधारा आदि कुछ भी दीख सकता है क्योंकि सभी अनिर्वाच्य, मिथ्या हैं वैसे सारा संसार और इसकी सारी व्यवस्थायें मिथ्या होने से अमुक-अमुक अनुभवों के प्रति आग्रह पाल कर दुःखी नहीं होते रहना चाहिये—यह समझाने के लिये करुणाप्रेरित पुराणकार का सत्प्रयास है।)।।८६।।

असत्कार्यवाद में यह भी समस्या है कि किसी भी कारण में कार्य तो है नहीं—जैसा सत्कार्यवादी मानते हैं कि कार्य सूक्ष्म रूप से, अव्यक्तरूप से कारण में रहता है—अतः अत्यंत असत् होना सर्वत्र एक-सा है तो सभी से सभी कुछ क्यों नहीं पैदा हो जाता ? (अतः असत्कार्यवाद ठीक नहीं।)।। ८७।।

किं च, यदि जन्मोत्तर उपलभ्यमान कार्य जन्म से पूर्व अत्यन्त असत् होता है तो उसका कारण कोई सद्वस्तु क्योंकर हो सकती है ? कोई हेतु नहीं कि इतनी विलक्षणता रहते परस्पर कार्यकारणभाव हो, बल्कि नियम है कि योग्यों का ही आपसी संबंध होता है और कार्यकारणभाव भी एक सम्बन्ध है अतः उचित यही है कि कार्य व कारण परस्पर सम्बंध के योग्य हों जो तभी हो सकता है जब दोनों सत् हों। इसलिये कार्य अत्यंत असत् हो यह किसी तरह युक्तियुक्त

अप्यर्धजरतीयं स्यात् कार्यस्याऽसत्त्ववादिनः। कारणस्याऽपि तत् कस्माद् मते तस्य भवेन्न हि ।९०
कारणस्य तथात्वस्य स्वीकारे पक्षसङ्क्षयः। असिद्धिश्च यतो नात्र कार्यं संजायतेऽसतः ।।९१
वन्ध्यासुतादयोऽभावाः पटतैलादिहेतवः। न दृश्यन्ते प्रदृश्यन्ते तिलतन्त्वादिकास्तथा ।।९२
दर्शनेऽपि यदा भ्रान्तिर्विधते भवतस्तदा। अस्ति किंचिदसम्भ्रान्तं यतः पक्षविनिर्णयः ।।९३

अनभ्युपगच्छतः तार्किकस्य अर्धजरतीयन्यायापत्तिः इत्याह—अप्यर्धेति। यथा जरतीकामुकः स्वेच्छयैव किंचिदङ्गमुपादत्ते किंचित् त्यजति तथेदमपि इत्यर्थः। एतद् असत्त्वम्।। ९०।। यदि तु तार्किकः कारणस्यापि असत्त्वम् अङ्गीकुर्यात् तदा तस्य 'सतोऽसज्जायत' इत्याकारकसिद्धान्तहानिः, दृष्टविरोधरूपाऽसिद्धिश्च। न ह्यसतः सकाशात् कार्यं जायमानं दृश्यत इत्याह—कारणस्येति। तथात्वस्य असत्त्वस्य।। ९१।। दृष्टविरोधरूपाऽसिद्धिमेव स्फुटयति—वन्ध्यासुतादय इति। वन्ध्यासुतादयः असन्तः पटादीनां हेतुभूता न दृश्यन्ते किन्तु सद्रूपाः तन्त्वादय एव तथा पटादिहेतुत्वेन दृश्यन्त इत्यर्थः।। ९२।।

ननु भ्रान्तत्वाद् लौकिकान्वयव्यतिरेकदर्शनं सत्कारणत्वे न प्रमाणम् ? इति शङ्कां वारयति—दर्शनेऽपीति। यदा सदन्वयव्यतिरेकयोः दर्शने सति 'इदं दर्शनं भ्रान्तिरूपम्' इति ते मतं तदाऽपि न सर्वं ज्ञानं भ्रान्तित्वेन स्वीकार्यं किन्तु किञ्चिद् धर्मिविषयं ज्ञानम् अभ्रान्तम् अप्यस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्, 'सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः' (नयनप्रसादिनी पृ. १०७) इति न्यायात्; यतो यद्धर्म्यंशे ज्ञानप्रामाण्यमाश्रित्यैव पक्षाणां पूर्वपक्षसिद्धान्तरूपाणां निर्णयो भवति। धर्मितत्त्वबहिर्भूता हि पक्षाः पूर्वपक्षा इत्युच्यन्ते यथा रज्जौ सर्पदण्डधाराद्यवगाहिनः। धर्मितत्त्वावगाहिपक्षस्तु सिद्धान्तो यथा इयं रज्जुरिति। धर्म्यंशे ज्ञानप्रामाण्याऽनङ्गी कारे तु स न स्यादित्यर्थः।।९३।। धर्मित्वेन तु सद्रूपमेव सर्वत्र अनुगतं गृह्यते, नाऽसद् इत्याह—प्रत्यक्षेणेति। कार्यस्य कारणस्य वाऽसद्रूपत्वं नहीं है।। ८८।। अगर मानते हो कि सत्ता का सम्बन्ध हो जाने से असत् की कार्यता हो जाती है, तो यदि असत् का सत्ता से सम्बन्ध हो सकता है तो वन्ध्यापुत्र का ही सत्ता से संबंध क्यों नहीं हो जाता ? उसकी भी कार्यता वैसे ही हो जानी चाहिये जैसे घड़े आदि की होती है।। ८९।। कार्य को असत् मानने वाला जब कारण को सत् मानता है तब उसका व्यवहार 'अर्धजरतीय' है। उसके मत में कारण भी असत् क्यों नहीं होता ? ('अर्धजरतीय' अर्थात् प्रामाणिक निश्चित नियम के बिना विषमता का व्यवहार। व्यवहार की विषमता का नियामक स्वेच्छामात्र हो, कोई युक्ति नहीं, तब इस शब्द का प्रयोग कर उसकी असंगतता कही जाती है। शाब्दिक अभिप्राय है कि जैसे 'आधी बुढ़िया'—जिसका आधा शरीर बूढ़ा और आधा जवान हो—नहीं हो सकती वैसे प्रकृत व्यवहार होना भी असंगत है।)।। ९०।। यदि वादी यह कह दे कि 'कारण भी असत् हो, मेरी क्या हानि !' तो एक तरफ उसके स्वीकृत सिद्धान्त का विरोध होगा—क्योंकि सत् से असत् पैदा होता है यह उसका सिद्धान्त है—और दूसरी तरफ उसकी बात सिद्ध नहीं हो पायेगी क्योंकि असत् से कोई कार्य संसार में पैदा होता दीखता नहीं। वंध्यापुत्र आदि असत् पदार्थ कपड़ा, तेल आदि के प्रति हेतु नहीं हुआ करते वरन् धागे, तिल इत्यादि सत् पदार्थ ही हेतु बना करते हैं।। ९१-२।।

बौद्ध कहता है कि 'कार्य-कारण सत् ही होते हैं, असत् और असत् में या असत् और सत् में कहीं कार्य-कारणभाव नहीं होता' यह अनुभव भले ही हो किंतु यह भ्रान्ति है अतः इसे सत्कारणता या सत्कार्यता का समर्थक नहीं मान सकते। उस बौद्ध से पूछना चाहिये कि तुम्हारे मत में क्या कोई अभ्रान्त ज्ञान है जिससे कोई पक्ष निर्णीत हो सके ? (निरधिष्ठान भ्रम मानना एक तरह से भ्रम न मानना ही है क्योंकि किसी प्रमाकी अपेक्षा से ही 'भ्रम' ऐसा व्यवहार होता है, जब कोई प्रमा है ही नहीं, सभी ज्ञान भ्रम हैं, तब उन्हें भ्रम कहें या प्रमा कहें बात एक ही रहती है। अतः विचारशीलों ने माना है कि सभी अनुभव भ्रम नहीं माने जा सकते। बल्कि कुछ चिंतक तो प्रसिद्ध भ्रम का विचार कर यह निर्णय देते हैं कि ज्ञान 'धर्मी' के बारे में अभ्रान्त रहता है, 'प्रकार' के बारे में ही भ्रम हो पाता है। जिसके बारे में ज्ञान होता है उसे धर्मी और उसके बारे में जो पता चलता है उसे प्रकार या धर्म कहते हैं। 'यह साँप है' इस भ्रम

प्रत्यक्षेण च केनाऽपि कार्यकारणयोर्भुवि। असत्त्वं गृह्यते नैव नानुमानं च विद्यते।।६४

अत्यन्ताऽसदिदं सर्वं कार्यकारणरूपकम्। ग्राह्यं तेन यथैवैतद् नरशृङ्गमिदं न च।।

ग्राहकं सन्तमात्मानं परिहाय प्रसिद्ध्यति।।६५

अपि भ्रान्तिं विना बाह्यैर्नरि शृङ्गं कदाचन। गृह्यते न च कार्यं च कारणं चात्र गृह्यते।।६६

प्रत्यक्षेणानुमानेन वा न गृह्यत इत्यर्थः।। ६४।। यदि सर्वम् असद्रूपं स्यात् तदाऽसत्त्वं सर्वत्रानुगतं भासेत, न च तथा भासते। अपि च दृश्याऽसत्त्वाङ्गीकारेऽपि तद्ग्राहकस्य साक्षिणः सत्त्वम् अनपह्नवनीयमेव, निःसाक्षिकस्य कस्याप्यसिद्धेः इत्याह—अत्यन्ताऽसदिदमिति। यदि इदं कार्यकारणरूपं जगद् अत्यन्ताऽसत् स्यात् तदा तेन असद्रूपेण ग्राह्यं स्याद् यथा नरशृङ्गम् असद्रूपेण गृह्यते। इदं सर्वस्य असत्त्वमपि सद्रूपं ग्राहकं साक्षिणं विना न सिद्ध्यति किन्तु साक्षिणमाश्रित्यैवेत्यर्थः।। ६५।। किं च यदि सर्वमसद्रूपं स्यात् तदा नरशृङ्गवद् भ्रान्तिदशायां न प्रतीयेत। इदं तु प्रमाणव्यापारैः प्रतीयत इति कथमसत्त्वम् ? इत्याह—अपि भ्रान्तिं विनेति। बाह्यैः अतिपामरैः अपि नरि मनुष्ये शृङ्गं भ्रान्तिं विना न च गृह्यत, कार्यकारणरूपं जगत्तु अत्र प्रमाणव्यापारदशायां गृह्यत इति सम्बन्धः। एतेन उभयाभावः[1] कारणम् इति पक्षोऽपि निरस्त इति।। ६६।।

में भी 'यह'—धर्मी-अंश है, 'साँप'—प्रकार-अंश है। 'यह है' इतना ज्ञान भ्रम नहीं, 'साँप है' यही हिस्सा भ्रम है। आत्मपुराण की सत्प्रसव टीका में समझाया है कि धर्मी की वास्तविकता को विषय करने वाला सिद्धांत पक्ष होता है जबकि धर्मी की वास्तविकता से अन्य बातों को विषय करने वाले—सर्प, दण्ड, जलधारा आदि के बारे में होने वाले—पूर्वपक्ष होते हैं। एवं च कोई पक्ष पूर्वपक्ष है या सिद्धान्त यह निर्णय इसी पर निर्भर है कि धर्मी-अंश में ज्ञान प्रमा होता है। अतः यदि सभी ज्ञानों को, धर्मी-अंश में होने वाले ज्ञान को भी, अप्रमा माना जाये जैसा बौद्ध मानता है तो पूर्वोत्तर पक्षों का ही निर्धारण न हो सकेगा।)।। ६३।।

वास्तविकता तो यह है कि सद्रूप धर्मी सर्वत्र उपलब्ध होता है अर्थात् जैसे 'सामने, लम्बी, गोल' चीज़ धर्मी रूप से 'साँप है', 'माला है', 'धारा है' आदि सभी अनुभवों में अनुगत रहती है ऐसे ही सभी अनुभव 'है' को ग्रहण करके उसके बारे में नाना विकल्प अनुभव करते रहते हैं अतः 'है' वह धर्मी है जिसकी वास्तविकता सिद्धांत पक्ष तथा अन्य सब मान्यतायें पूर्वपक्ष हैं। जैसे चाहे कार्य हो या कारण, भूतल पर जो है उसके प्रत्यक्ष अनुभव में 'है' की उपलब्धि अवश्य रहती है ऐसे किसी को कहीं भी असत्त्व की ('नहीं है' की) अनुगत उपलब्धि नहीं होती और न ही इस बारे में कोई अनुमान संभव है। 'कारण नहीं है, कार्य नहीं है'—यों कार्य-कारण का प्रत्यक्ष या अनुमितिरूप ज्ञान किसी को, बौद्ध को भी, होता नहीं कि कारण या कार्य असत् माना जा सके।। ६४।। संसार असत्कार्य होता तो जैसे मृत्कार्य में मृत् अनुगत भासती है ऐसे समस्त कार्यों में असत् को अनुगत होकर भासना चाहिये था, हर चीज़ 'नहीं है' यों लगनी चाहिये थी, जब कि होता उल्टा है, हर वस्तु 'है' यों भासती है। इसलिये मृत्तिकास्थानीय जगत्कारण सत् ही स्वीकार हो सकता है। जो मान्य असत् पदार्थ वन्ध्यापुत्र, मनुष्य के सींग, कछुए के बाल आदि संकल्पना की परिधि में आते हैं वे 'नहीं है' रूप से ही आ पाते हैं अर्थात् 'वंध्यापुत्र नहीं है' यही उसकी संगत संकल्पना होती है। ऐसी चीज़ यदि 'है' समझी जाये तो भ्रम माना जाता है। कारणरूप व कार्यरूप जगत् भी असत् होने पर यों 'नहीं है' समझा जाता, जैसाकि होता नहीं। इतना ही नहीं, 'सब असत् है' इस बात की भी सिद्धि सद्रूप साक्षी के बिना होती नहीं अतः कम-से-कम साक्षी तो सद्रूप सबको मानना अनिवार्य है। वही क्योंकि सारे जगत् का अधिष्ठान तत्त्व है इसलिये उसे सद्रूप से, चिद्रूप से, प्रियरूप से—चाहे जिस तरह मानें, वह असद्वाद, जडवाद, दुःखवाद को टिकने नहीं

१. कार्यकारणयोरभाव इति। कार्याभावस्तत्प्रागभावो ज्ञेयः।

अपि शब्दो गृहीतार्थसम्बन्धो बोधको नृणाम्। वन्ध्यासुतादिविषये केनाऽयं जायते ग्रहः।।९७
अपि शब्दस्य जनको देहो वागादिसंयुतः। दृष्टः सत्त्वेन नैवाऽसन् दृष्टो वन्ध्यासुतस्य सः।।९८

यदि कार्यकारणात्मकं जगद् असत् स्यात् तदा तस्य केनाऽपि प्रमाणेन बोधो न स्यात्, असतः प्रमाणसंसर्गाऽयोग्यत्वाद् इत्यर्थं कैमुत्येन सूचयन्, शब्देनाऽपि अलीकानुभवाऽसम्भवमाह—अपि शब्द इति। गृहीतोऽर्थे सम्बन्धो यस्य एतादृश एव सन् शब्दो यतोऽर्थं बोधयति अतो हेतोः असति वन्ध्यासुतादिरूपे विषये केन करणेन ग्रहः अनुभवः संजायत इति वद इति सम्बन्धः। यच्च जायतेऽलीकविषयकं ज्ञानं[1] तद्विकल्परूपं, न च तादृशं जगद्ज्ञानं मन्तव्यं, सर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गादिति भावः।।९७।।अलं दूरं गत्वा। शब्दरूपकार्योदाहरणेनैव सतः कारणतां भवानवधारयतु इत्याह—अपि शब्दस्येति। वागादिव्यापारवान् सत्त्वविशिष्टो देवदत्तादिदेह एव शब्दस्य जनको दृष्टः, वन्ध्यापुत्रदेहस्तु असन् असद्रूपः शब्दजनकतया न दृष्ट इत्यर्थः।।९८।।

देता। ये तीन ही बौद्धों के आधारभूत वाद हैं : शून्यता असद्वाद का नाम है, स्थिर विज्ञान न मानकर उसे स्वरसभंगुर मानना जडवाद है और सभी कुछ दुःखरूप मानना दुःखवाद है ही। अत एव साक्षी से बौद्ध भय खाते हैं।।९५।। असत् चीज़ कहते ही उसे हैं जो प्रमा और भ्रम दोनों से ही उपलब्ध न हो। जो तो भ्रम से उपलब्ध हो वह मिथ्या कहलाती है, असत् नहीं; अत एव सद्-असद् दोनों से विलक्षण होना मिथ्या का लक्षण बताया जाता है। कार्य-कारणरूप संसार कम-से-कम भ्रम से तो उपलब्ध है ही यह बौद्ध भी मानता है, फिर इसे असत् कहना कैसे संगत है ! जिसके बारे में यह पता नहीं कि वह असत् है—है ही नहीं—उसकी यदि किसी को अनुभूति होती भी है तो उसे बौद्ध समेत सभी भ्रम ही मानते हैं जैसे यदि कोई मनुष्य के सिर पर सींग देख ले तो उसे भ्रम हुआ यही सब मानेंगे। किंतु संसार में जो कार्य और कारण का अनुभव होता है वह प्रमाणों से होता है अतः उन्हें असत् मानना सर्वथा अयुक्त है। इसलिये न कारण और न कार्य असत् हैं तथा संसारहेतु न कारणाभाव हो सकता है, न कार्याभाव और न दोनों का अभाव यह निश्चित है।। ९६।।

असत् को प्रमाण से तो विषय नहीं ही किया जा सकता, भ्रमसे भी उसका असद्रूपसे ग्रहण संभव नहीं। अलीक अर्थात् असत् का अनुभव शब्द से भी होना संगत नहीं। जिस शब्द का अर्थ से सम्बंध समझा जा चुका है वही शब्द ज्ञानोत्पादक हुआ करता है; पहले किसी तरह पता चल चुका हो कि 'घड़ा' शब्द अमुक आकार के मिट्टी के बर्तन से वाचकतया सम्बद्ध है तभी 'घड़ा' शब्द सुनकर हमें उस अर्थ की स्फुरणा हो सकती है। वन्ध्यापुत्र आदि अलीक विषयों से शब्दसंबंध का ग्रहण किस उपाय से हो सकता है ? शब्द-अर्थ के सम्बंध को ग्रहण करने के प्रत्यक्षादि उपाय होने ज़रूरी हैं क्योंकि 'घड़ा' आदि शब्दों के संबंध ऐसे ही उपायों से समझे जाते हैं। अलीक की संकल्पना केवल शब्द से बनती है, किसी ज्ञानोपाय का वह विषय है नहीं, अतः शब्द से उसका सम्बंध कभी भी समझा नहीं जा सकता—वस्तुतः कोई सम्बंध है भी नहीं जो समझा जाये—तो शब्द प्रमाणविधया उसका अनुभव कराये या स्मारक बनकर स्मृति कराये इसकी कोई संभावना नहीं। स्मृति भी अनुभवपूर्वक ही होती है, जिसका अनुभव न हो उसकी स्मृति कैसे होगी ? इसलिये शब्द भी अलीक का अनुभव नहीं करा सकता। अत एव जो आलोचक अलीक पर विचार करते हैं वे 'विकल्प' नामकी एक विशेष मनोवृत्ति मानते हैं जो अलीकव्यवहार का निर्वाह करती है। अज्ञाननिवर्तक न होने से विकल्प को ज्ञान या अनुभव नहीं माना जा सकता यह याद रखना चाहिये।।९७।।

अनुभवगोचर होने से कार्यकारणात्मक प्रपंच असत् संभव नहीं। यह तथ्य पग-पग पर स्पष्ट होता रहता हैः असद्वादी जो बात-चीत कर रहा है उसका उत्पादक वाणी आदि के व्यापारों वाला सद्रूप शरीर ही तो है, असद्रूप जो वंध्यापुत्र वह तो कभी आकर शास्त्रार्थ करता नहीं, वार्तालाप करता हो ऐसा अनुभव में आता नहीं ! अतः सद्वस्तु ही कारण हो यही संगत है।।९८।।

---

१. ज्ञानसदृशम्, विकल्पस्याऽज्ञानाऽनिवर्तकतया ज्ञानत्वायोगादिति द्रष्टव्यम्।

अपि वेदस्य मानत्वे कथंचिद् मायया भवेत्। अनुमानमिदं मानं नैव मानमयं तव।।६६

ननु 'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत' (तै. २.७) इत्यादिश्रुतार्थानुपपत्त्या कल्पितमाययाऽसत्कारणताम् उपपादयिष्यामि इति चेद्? मैवं वोचः। तव मते वेदप्रामाण्यस्यैवाऽभावाद् इत्याह—अपि वेदस्येति। अनुमानम् अनुमानरूपं तव मतमपि श्रुतिसिद्धमाययाऽऽलम्बनभूतया कथंचिद् मानं भवेदपि, परन्तु अयं वेदः तव मते मानं न अस्तीत्यर्थः।।६६।। वस्तुतस्तु तत्र वाक्ये 'असत्'-पदम् अव्याकृताख्यसूक्ष्मावस्थापरं, न शून्यत्वपरम्

नास्तिक सूक्ष्मेक्षिका करता है : निर्विशेष ब्रह्म से संसारजन्म सर्वथा असंगत है पर वेद ने कहा है इसलिये उसे संगत बनाने वाली माया से ब्रह्मवादी उसे उपपन्न करता है। ऐसे ही वेद में कहा है 'यह पहले असत् ही था, उससे ही सत् पैदा हुआ'। असत् से सत् का जन्म असंगत है पर वेदोक्ति को संगत बनाने के लिये हम बौद्ध भी माया से उसे उपपन्न कर लेंगे ! केवल प्राचीन नास्तिक ही नहीं, अभी भी अनेक शंकालु यही करते हैं—वैदिकों की व्यवस्थाओं का लाभ लेना चाहते हैं पर वैदिक सिद्धान्तों की काट करते हैं; वे अपना पक्ष रखते हैं; उसमें जब वैदिक कोई दोष दिखाये तो कहते हैं 'यही या इस जैसा ही कोई दोष तुम्हारे पक्ष में भी है, जैसे तुम उसका परिहार करते हो वैसे हम कर लेंगे !' यह प्रक्रिया नितान्त ग़लत है क्योंकि वैदिक के पक्ष में यदि कोई दोष प्रतीत हो रहा है और उसका वह कोई परिहार करता है तो अन्य बहुत-सी बातें मानकर ही वह विचारपूर्वक समाधान निकालता है। वे जो अन्य बहुत-सी बातें हैं उन्हें यदि छोड़ दिया जाये तो वह समाधान भी निकलेगा यह नहीं कह सकते। वैदिक के सिद्धांतों को न मानने वाला नास्तिक इसलिये वैदिक के परिहारों का उपयोग करने में अक्षम है। अकेला परिहार तो नास्तिक ग्रहण करे कैसे और परिहार के साथ जो अन्य बहुत-सी बातें माननी आवश्यक हो जाती हैं उन्हें स्वीकार ले तो वह नास्तिक ही रह नहीं जायेगा ! अतः पहले या अभी भी इस युक्ति का सहारा धोखा-धड़ी के लिये ही लेते हैं, सत्यान्वेषण के लिये नहीं। दर्शनशास्त्र में ही नहीं अन्य व्यवहार में भी यदि किसी व्यवस्था का कोई अंग ग्रहण किया जाता है तो अनुबंधरूप से अनेक उपांग भी प्राप्त होते ही हैं और यदि उनकी अवश्य प्राप्ति की पूर्वतः संभावना समझकर अपनी प्रचलित व्यवस्था में उन्हें उचित स्थान न दिया जाये तो वे इस व्यवस्था में प्रवेश कर इसकी हानि ही करते हैं। समाज व्यवस्था, अर्थव्यवस्था, तकनीक आदि सभी क्षेत्रों में यह देखा जा सकता है कि एक व्यवस्था का अंगमात्र यदि अन्य व्यवस्था में आरोपित होता है तो उसे नष्ट करने का उपाय बन जाता है। इसलिये पुराणकार बौद्ध को समझाते हैं—वेद जिस सिद्धान्त में प्रमाण है उसमें ऐसी व्यवस्थायें जो सामान्य युक्तियों से संगत नहीं होतीं, माया के आधार पर किसी तरह उपपन्न कर ली जाती हैं। तुम नास्तिकों के अनुसार वेद तो प्रमाण है नहीं, इस अनुमान को ही प्रमाण मानते हो और इससे असद्वाद का समर्थन कर पाते नहीं। (नास्तिक प्रत्यक्ष-अनुमान दो को ही प्रमाण मानना चाहता है अतः उसे यदि असत्कारणता सिद्ध करनी है तो इन्हीं से करनी होगी जो वह कर नहीं सकता यह भाव है। 'इस अनुमान को'—यहाँ 'इस' का मतलब वैसे अनुमान से है जो उन नियमों के अनुसार चलता है जिन पर आम सहमति है। यदि अनुमान के भी कोई वादी मनमाने नियम बनाये और तदनुसार असद्वाद स्थापित करने की कोशिश करे तो नाकामयाब ही होगा क्योंकि उसके नियमों को अन्य वादी तो मानेंगे नहीं कि उसके अनुमान सही स्वीकारें। फलतः वह भी शब्दतुल्य प्रमाण होगा : जैसे जिस शब्द को जो वादी प्रमाण मानता है वही वादी उससे ज्ञात अर्थों को स्वीकारता है, अन्य वादी नहीं। इसी तरह विशिष्ट नियमों के अनुसार चलने वाला अनुमान वही स्वीकारेगा जो उन नियमों को मानता है, अन्य कोई नहीं। एवं च परस्पर विचार इस ढंग से संभव नहीं, संप्रदाय के अंतर्गत ही इस तरह से ऊहापोह चल सकती है। इस बात को पंडित श्रीहर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य में स्पष्ट कर दिया है कि जो अनुमान पर ही आश्रित रहे उसकी अनुमान से ही आलोचना पूरी निर्ममता से करनी चाहिये। हर्षमिश्र की अनेक युक्तियाँ प्रतीत होती हैं मानो वादी पर वे अत्याचार कर रहे हों ! किंतु उनका अभिप्राय यही समझाने में है कि अकेला अनुमान, तर्क, व्यवहार की व्यवस्थाओं का साधक हो ही नहीं सकता। खण्डन की युक्तियाँ तर्क की उन्हीं मान्यताओं के अनुसार हैं जिन पर आम सहमति है,

अपि वेदो न कुत्राऽपि ब्रूतेऽसत्तां कदाचन। कार्यकारणयोः केन स्यादसत्त्वं तवानयोः।।१००

'असद्वा इदम्' इत्यादि पूर्वपक्षानुवादकम्। यत आह पुनः सोऽयं 'ततो वै सदजायत'।।
इत्यादिकं ततोऽसत्त्वे न मानं कस्यचिद् भवेत्।१०१

ततः शून्यं च नैव स्यादत्यन्ताभावसंहितम्। कार्यकारणयोर्यस्मात् सिद्धो भावः प्रमाणतः।।१०२

इत्याशयेनाह—अपि वेद इति। वेदोऽपि कार्यकारणयोरसत्तां कुत्रापि न ब्रूते, न चाऽन्यत् किञ्चिन्मानमस्ति, इत्यतः तव मतेऽनयोः कार्यकारणयोः असत्त्वं केन सिद्धयेद् इत्यर्थः।।१००।। छान्दोग्ये 'असद्वा' इत्यादिवाक्यं तु (छां. ६.२.१) पूर्वपक्षस्य अनुवादरूपं, 'तद्धैक आहुः' इत्युपक्रमात्; तदुत्तरवाक्येन असतः सदुत्पत्त्यसंभवस्य उक्तत्वाच्च इत्याह—असद्वा इदमिति। सोऽयं वेदो यतः 'ततो वै सदजायत' इत्यादिकं (तै. २.७) सत्कारणतोपपादकम् आह ततो हेतोः 'असद्वा' इत्यादिकं पूर्वपक्षानुवादकम् इति सम्बन्धः। यद्यपि 'ततो वै सदजायत' इत्यंशोऽपि[1] पूर्वपक्षवाक्ये पठितः तथापि पूर्वपक्षे तस्य अनुपपद्यमानत्वात् सिद्धान्तहेतुतया तदुपन्यास इति बोध्यम्। फलितमाह—तत इत्यादिना।।१०१।। शून्यवादनिरासं निगमयति—ततः शून्यमिति। अत्यन्ताभावेन संहितं घटितं शून्यम् अपि न कारणं यतः कार्यकारणयोर्भावः सत्ता प्रमाणसिद्धेति।।१०२।।

यही उनका चमत्कार है। प्रकृत में पुराणकार सावधान कर रहे हैं कि वेदप्रामाण्य से स्वीकार्य बातें माया से समझी जायें यह संगत है पर उस माया का उपयोग वेदविरुद्ध बातों के समर्थन के लिये किया नहीं जा सकता क्योंकि माया वहीं कारगर होती है जहाँ उपपाद्य प्रामाणिक हो; माया स्वयं तो कोई प्रमाण है नहीं।)।। ९९।।

वेद कहीं नहीं बताता कि कार्य या कारण कभी भी असद्रूप हैं। अतः तुम्हें संमत जो इनका असत्त्व वह कैसे सिद्ध हो सकता है? कहीं-कहीं जो 'असत्' आदि शब्द आते हैं वे अव्यक्तदशा के बोधक हैं न कि वैसी असत्ता के जैसी वादी मानना चाहता है।। १००।। 'यह पहले असद् ही था' इत्यादि कथन तो पूर्वपक्ष का उपन्यासमात्र है क्योंकि फिर उसी वाक्य में वेद ने कह दिया 'उससे ही सत् पैदा हुआ' इत्यादि। इसलिये कोई यह नहीं समझ सकता कि यह वाक्य असत् को कारण बताने में तात्पर्य रखता है। ('उससे सत् पैदा हुआ' यह बात सत्कारणता के उपपादनार्थ कही है अतः असत्कारणता वाक्यार्थ नहीं। छान्दोग्य में वाक्यक्रम से सुस्पष्ट है कि असत्कारणता को ग़लत बताने के लिये ही उसका उल्लेख है: आरुणि ने श्वेतकेतु को बताया कि 'यह सब जो इस समय व्यक्त हुआ उपलब्ध है यह जन्म से पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था। कुछ लोग कहते हैं कि यह सब पहले एक अद्वितीय असत् ही था, उस असत् से सत् पैदा हुआ। किंतु हे सोम्य! ऐसा कैसे हो सकता है! असत् से सत् कैसे पैदा होगा? पहले एकमात्र सत् ही था। उसने विचार किया...' इत्यादि। अतः यहाँ असत्कारणवाद में वेदवाक्य प्रमाण नहीं है यह स्फुट है। तैत्तिरीय में (ब्रह्म. ७) आया है 'यह पहले असत् ही था, उससे ही सत् पैदा हुआ। उसने अपने आपको स्वयं बनाया, इसलिये उसे सुकृत कहते हैं।' यहाँ 'असत्' से वह अविकृत ब्रह्म कहा गया है जिसमें नाम रूप व्यक्त नहीं है। यह इससे निश्चित है कि इस श्लोक का उद्धरण दिया ही इस बात में है कि (तै. ब्रह्म. ६) सद्रूप ब्रह्म समझने वाला ही 'सन्त' होता है, सत्पुरुष होता है; उसी ने कामनापूर्वक सृष्टि की। इसी बात में प्रमाणभूत श्लोक अकस्मात् असत्कारणवाद नहीं कह सकता।)।। १०१।।

इस प्रकार विचार से सिद्ध हुआ कि अत्यंताभाव-घटित शून्य (ऐसा शून्य जिसे अत्यंताऽभाव से अन्य किसी तरह समझना संभव नहीं) जगत्का कारण नहीं है क्योंकि प्रमाणों से निश्चित है कि कार्य व कारण भावरूप हुआ करते हैं।। १०२।। यहाँ तक उपनिषत्के 'किं कारणम्' भाग का व्याख्यान हुआ।

१. इत्यंश इत्यर्थकोंशः। छान्दोग्यवाक्यं 'तद्धैक आहुः असदेवेदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत। कुतस्तु खलु सोम्यैवꣳ स्यात्...'।

ब्रह्म कारणमित्यसम्भवि

न च ब्रह्माऽपि विप्रेन्द्राः ! कारणं जगतो भवेत्। ब्रह्मशब्दस्य मुख्यार्थः सर्वाधिक्यं प्रकीर्तितः।
सर्वाधिक्ये च भेदस्य स्यादभावोऽत्र सर्वदा।।१०३
स्वसजातिविजातीयैर्देशकालार्थरूपिभिः। भेदोऽत्र[1] क्रियते विप्राः ! न ते ब्रह्मणि सन्ति हि।।१०४
आनन्दात्मस्वभावेऽस्मिन् स्वयं ज्योतिषि निर्द्वये। ब्रह्मण्येकरसे केन कारणत्वं भविष्यति।।१०५
ब्रह्मणो यदपि प्राह शास्त्रं कारणतामिह। तथापि तर्कसहितैः प्रत्यक्षाद्यैर्विरुद्ध्यते।।१०६
ब्रह्मशब्दं हि तेनाऽत्र विप्रा ! मुख्यं न कारणम्। किन्तु किञ्चित् परं तत्र कल्प्यं वा
कारणान्तरम्।।१०७

एवं 'किं कारणम्?' इत्यंशेन प्रागभावादीनां कारणत्वाऽसम्भव उक्ते सति 'तर्हि ब्रह्म कारणमस्तु ?' इति शङ्कां ब्रह्मपदार्थस्य कारणत्वाऽयोग्यताप्रदर्शनेन परिहरन् 'ब्रह्म' इत्यंशं योजयति—न च ब्रह्मापीति पञ्चभिः। हे विप्रेन्द्रा ! ब्रह्मापि जगत्कारणं न सम्भवति सर्वाधिक्यात्मकेन ब्रह्मपदमुख्यार्थेन प्रयुक्तत्वात्। तच्च सर्वाधिक्यं सजातीयादिनिरूपितभेदराहित्यरूपं, सजातीयादीनां ब्रह्मणि असम्भवात्। इति द्वयोरर्थः।।१०३-४।। तथा च द्वितीयनिरूपितं कारणत्वं ब्रह्मणि कथं स्याद् ! इत्याह—आनन्दात्मेति।। १०५।। ब्रह्मण इति। यत् च कुत्रचित् शास्त्रेषु ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम् उच्यते तत् प्रत्यक्षानुमानादिविरोधाद् न सम्भाव्यत इत्यर्थः।। १०६।। ब्रह्मशब्दमिति। ब्रह्मशब्दवाच्यं यद् मुख्यं तद् न कारणत्वयोग्यं किन्तु परम् आपेक्षिकमहत्त्वाद् गौणं ब्रह्मशब्द-प्रतिपाद्यम् आकाशादिकं कारणं मन्तव्यम्। अथवा ब्रह्मण उपाधितया कारणत्वोपपादकं किञ्चित् कल्पनीय-मित्यर्थः।।१०७।।

उपनिषत् में आगे 'ब्रह्म' शब्द आया है। तात्पर्य है कि यदि पूर्वविचार से असत् की कारणता असंभव है तो सद्रूप ब्रह्म ही कारण क्यों न मान लिया जाये ? ब्रह्म में वास्तविक कारणता संभव नहीं इस अभिप्राय से इस प्रश्न के उत्तर में पुराण प्रवृत्त होता है : हे श्रेष्ठ वेदवेत्ताओ ! ब्रह्म भी जगत् का कारण हो यह संभव नहीं। ब्रह्मशब्द का प्रधान अर्थ बताया जाता है 'सबसे अधिकता' अर्थात् व्यापक वस्तु को ब्रह्म कहते हैं। 'सबसे अधिकता' रहते उसमें भेद होना कभी संभव नहीं। जिसमें भेद किया जाये अर्थात् जो अन्यों से भिन्न हो वही कारण हो सकता है जबकि किसी तरह का भेद ब्रह्म में—निःसीम व्यापक तत्त्व में—है नहीं। भेद या स्वगत होता है अर्थात् अंशों से अंशी भिन्न होता है, गुणों से गुणी भिन्न होता है इत्यादि; एवं च 'स्व' के घटक अनेक हों तो 'स्व' में उनसे भेद रहता है। ब्रह्म के कोई घटक नहीं, वह विज्ञानघन है। अथवा सजातीय वस्तुओं से भेद होता है या विजातीयों से, और ब्रह्म की कोई जाति है ही नहीं कि उसके समान या विषम जाति का कुछ हो जिससे ब्रह्म भिन्न हो सके। भेद परिच्छेदरूप, सीमात्मक होता है। देश या काल जब सीमा बनाते हैं तब उसे भेद की जगह अभाव नामसे कहा जाता है और पदार्थ, वस्तु जब सीमा बनायें तब उसे भेद कह देते हैं। देश-काल भी जब वस्तुरूप से सीमित करें तब भेद ही कहा जाता है। ब्रह्म देश से, काल से या किसी अर्थ से भिन्न नहीं और न ही प्रागभाव वाला, ध्वंस वाला या अत्यन्ताभाव वाला है। सब तरह की सद्वयता से हीन यह स्वप्रकाश स्वभाव से ही आनंदरूप प्रत्यक् है। ऐसे तारतम्य-शून्य ब्रह्म में कारणता क्योंकर होगी?।। १०३-५।। शास्त्र संसार के प्रति ब्रह्म की जो कारणता कहता है वह भी तर्क व प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध है अतः संभव नहीं। (कारणता होती है परिवर्तनयोग्यता तथा परिवर्तन निर्भर करता है विभिन्नता पर अतः अभिन्न कारण नहीं हो सकता यह सार है।)।। १०६।। हे विप्रो ! कारण-शब्द प्रधानतः जो अर्थ कहता है वह ब्रह्मपदार्थ नहीं हो सकता यह पूर्व विचार से निश्चित हुआ। इसलिये और ही कुछ कारण होगा (जिसके लिये शास्त्र ने गौणप्रयोग

१. अत्रेति। यत्रोक्तभेदः क्रियते तत्र कारणता सङ्गच्छत इत्यर्थः।

'कुतः स्म जाताः'

अतः कारणजिज्ञासा करणीया द्विजोत्तमाः। जायमानं यतः सर्वं कारणादेव जायते।
ततो वयमिमे सर्वे कुतो जाताः शरीरिणः।।१०८

रेतसश्चेद् भवेज्जन्म विप्रास्तस्मात् कुतो न हि। सप्तमात् पितृदेहस्थधातोर्जन्म सदा नृणाम्।।१०९

धातुभ्योऽपि पृथग्भावे हृदि कामाग्निदीपनात्। समागतात् कुतो न स्याज्जन्म सर्वशरीरिणाम्।।११०

'कुतो जाताः ?' इत्यंशं व्याकरोति—अत इति एकविंशत्या। यत उक्तविधया जगतोऽकारणकत्वम् अभावकारणकत्वं वा[1] न सम्भवति अतः किञ्चित् कारणान्तरमस्ति, तत् किम् ? इति जिज्ञासाप्रसङ्गे प्रथममिदं शरीरमेव कुतो जायत इति विचार्यमित्यर्थः।।१०८।।

तत्र रेतसः कारणत्वमाशङ्क्य अन्वयव्यतिरेकव्यभिचाराभ्यां निराकरोति—रेतस इति नवभिः। त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्ररूपाणां धातूनां मध्ये सप्तमाद्रेतसश्चेज्जन्म स्यात् तर्हि पितृदेहगतादेव तस्मात् कुतो देहजन्म सदा न भवतीत्यर्थः।।१०९।। यदि धातुभ्यः पृथग्भूतात् तस्माज्जन्म भवति इति उच्यते; तदापि कामाग्नितापाद् हृदयदेशमागतादेव तस्माद्रेतसः कुतो देहजन्म न भवतीत्याह—धातुभ्य इति।। ११०।। अथ प्रजननेति। प्रजननम् उपस्थः ।। १११।। अथ योनाविति। स्पष्टम्।। ११२।। जरायुजानाम् अण्डजानां च

किया होगा ब्रह्म शब्द का। अर्थात् शास्त्र ने जहाँ ब्रह्म को जगत्कारण कहा है वहाँ ब्रह्मशब्द सच्चिदानन्दाद्वैतघन का बोधक नहीं वरन् अन्य ही किसी योग्य अर्थ का बोधक होगा।) अथवा ब्रह्म में कारणता संभव बनाने वाली किसी उपाधि की कल्पना करनी पड़ेगी (हर हालत में सीधे-सीधे जो ब्रह्म कहा जाता है वह सन्मात्र भी वैसे ही संसारकारण नहीं जैसे असत्।)।।१०७।।

आगे श्रुति में आया है 'कुतः स्म जाताः' 'हम किससे पैदा हुए हैं ?' अब पुराण इस पर विचार करता है : हे उत्तम ब्राह्मणो ! क्योंकि पूर्वोक्त ढंग से जगत् को अकारण पैदा होने वाला, असत् से या सत् से पैदा होने वाला मानना संगत नहीं और पैदा यह अवश्य होता है, इसलिये कोई अन्य ही इसका कारण है जिसे जानने की कोशिश करनी चाहिये। अनुभव में आता सभी कुछ जन्मवान् है और जो कुछ भी पैदा होता है वह किसी कारण से ही पैदा होता है अतः सर्वप्रथम यही विचार किया जाये कि हम सब शरीरधारी किससे उत्पन्न हुए हैं ?।। १०८।। सारा जगत् पैदा हुआ कि नहीं इसमें अनादिकाल से विवाद चल रहा है पर हम सब पैदा हुए हैं यह सभी मानते ही हैं अतः पहले यही विचार कर लिया जाये कि हम किससे पैदा होते हैं। किंच अध्यात्मशास्त्र की प्राथमिकता भी यही है कि अपने बारे में, अपने कारण के व प्रयोजन के बारे में पता चले; केवल दुनिया के, उसके कारणादि के ज्ञान की यहाँ प्रधानता नहीं भले ही दुनिया के अंगरूप से उस ज्ञान से अपना भी पता चल सके।

हे वेदज्ञो ! यदि रेतस् से, वीर्य से हमारा जन्म होता है तो हमेशा ही होते रहना चाहिये क्योंकि पिता के शरीर में सातवें धातु के रूप में रेतस् रहता ही है ! (त्वक्, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये सात शरीरगत धातु शरीरविज्ञान में मान्य हैं। किसी न किसी रूप में शुक्र अर्थात् रेतस् पिता के शरीर में हमेशा रहता है अतः पिता का शरीर रहते निरन्तर हम पैदा होते रहें यह विडम्बना होगी यदि रेतस् ही हमारा कारण हो।)।। १०९।।

यदि कहें कि चाहे जिस रूप में स्थित रेतस् नहीं वरन् अन्य धातुओं से अलग हुआ रेतस् कारण है तो कामनारूप अग्नि से तपकर जब वह पिता के हृदय में पहुँच जाता है तभी उससे हमारा जन्म क्यों नहीं हो जाता ? (ऐतरेयव्याख्या प्रथमाध्याय में (श्लो. ३८८ आदि) रेतस् के निष्पादन का क्रम कह चुके हैं।)।। ११०।। यदि कहें कि उपस्थ से निकले

१. सन्मात्रकारणत्वं चाऽसम्भवीति वाशब्दार्थः।

अथ प्रजननद्वारा निर्गताच्चेज्जनिर्भवेत्। निद्रादिदोषतस्तस्य निर्गमे न जनिः कुतः।।१११

अथ योनौ प्रमथनाद् निर्गमे चेद्वपुर्भवेत्। स्वप्ने योनिप्रमथनाद् निर्गमे न कुतो वपुः।।११२

अथ जागरणे योनिमथनेन विनिर्गतात्। जरायुजाण्डजस्थानां तेजसो जायते वपुः।।११३

बालवृद्धस्त्रियो योनेर्मथनात् केन नैव सः। निर्गतो रेतसो देहो भवेत् सर्वशरीरिणाम्।।११४

युवत्या इति चेत् केन वन्ध्यायां न भवेद्धि सः। गर्भधारणशक्तायाा इति चेत् सङ्गमं प्रति।
सर्वदैव कुतो देहो न जायेत शरीरिणाम्।।११५

ततो रेतो न विप्रेन्द्राः कारणं देहजन्मनि। ततो वयं पितृभ्यां न जाताः सर्वे शरीरिणः।।११६

उद्भिज्जा अपि जीवा ये स्वेदजा ये च जन्तवः। पित्रोर्वीर्यं विना दृष्टं तेषां जन्म शरीरिणाम्।।
ततो वीर्यं न जन्तूनां देहधारणकारणम्।।११७

अदृष्टमिति चेत् किञ्चित् पुण्यपापात्मकं यदि। केन तज्जायते विप्रा ! आत्मना चेद् न
मुक्तता।। ११८

देहो जागरणे योनिमथनाज्जायत इति शङ्कते—अथ जागरण इति। विनिर्गतात् तेजसो रेतस इति सम्बन्धः।। ११३।। तत्रापि व्यभिचारप्रदर्शनेन उत्तरयति—बालेति। बालाया वृद्धाया वा स्त्रियो गमनाद् देहः कुतो न जायत इत्यर्थः।। ११४।। तत्र यौवनावस्थाकृतं विशेषमाशङ्क्य निषेधति—युवत्या इति। वन्ध्यायां तद्भिन्नायामपि च प्रतिसङ्गमं देहाजननाद् न युवत्या अपि कारणत्वमित्यर्थः।। ११५।। रेतसः कारणत्वाभावे च मातापित्रोः कारणत्वं न वाच्यमित्याह—तत इति।। ११६।। किं च स्वेदजोद्भिज्जशरीराणां देहस्य रेतो विना जायमानत्वदृष्टेः न रेतसः कारणत्वमित्याह—उद्भिज्जा इति।।११७।।

धर्माधर्मात्मकमदृष्टमपि न कारणमित्याह—अदृष्टमिति त्रिभिः। पुण्यपापात्मकमदृष्टं हेतुरिति उच्यते

हुए रेतस् से हम पैदा होते हैं तो नींद आदि में जब कदाचित् शुक्रपात हो जाता है तब क्यों बालकोत्पत्ति नहीं हो जाती? ।। १११।। यदि कहें कि योनि में मंथन से जब उपस्थ से रेतस् निकले तब शरीर पैदा होता है तो स्वप्न में जब योनिमंथन होकर जाग्रत् में शुक्रपात होता है—जिसे स्वप्नदोष नाम से जाना जाता है—तब क्यों नहीं शरीरोत्पादन हो जाता ?।। ११२।। यदि कहें कि जाग्रदवस्था में योनिमन्थन पूर्वक निःसृत रेतस् से देहनिर्माण होता है जैसा जरायुजों व अण्डजों में देखा जाता है; तो भी गर्भधारण में सक्षम अवस्था से छोटी या बड़ी स्त्री की योनि में मंथनपूर्वक निकला रेतस् सब शरीरधारियों का देह क्यों नहीं बना देता ?।। ११३-४।। यदि कहो कि योनि भी युवती की अर्थात् उक्त अवस्था वाली की होनी चाहिये तो युवावस्था वाली वन्ध्या की योनि में पड़ा रेतस् देहोत्पादक क्यों नहीं होता ? यदि कहें युवती भी गर्भधारण में सक्षम होनी चाहिये तो ऐसी से प्रत्येक संभोग के बाद हमेशा ही शरीर क्यों नहीं पैदा होता ?।।११५।। हे विप्रोत्तमो ! इसलिये देहजन्म के प्रति रेतस् कारण नहीं हो सकता। एवं च हम सब शरीरधारी अपने माता पिताओं से पैदा नहीं हुए हैं ।।११६।। किं च उद्भिज्ज और स्वेदज जो जन्तु होते हैं उन शरीरधारियों का जन्म माता-पिता के शुक्र-शोणित के बिना ही होता हुआ दीखता है इसलिये जन्तुओं के देहधारण के प्रति वीर्य को कारण नहीं कह सकते। ('दीखता है' से स्पष्ट किया कि शास्त्रनिरपेक्ष को अनुभव पर ही निर्भर करना पड़ेगा और साधारण अनुभव यही है कि उद्भिज्ज वृक्षादि एवं स्वेदज यूकादि के माता-पिता के शुक्र-शोणित मिलते हों ऐसा नहीं। यदि जन्तुविज्ञान की बात माननी हो तो शास्त्र का ही क्या अपराध है कि उसे ही स्वीकारने में आना कानी की जाये—यह भाव है।)।।११७।।

मुक्तानामपि यस्मात् स पुण्यपापं करोति च। सुखदुःखोपभोगी च मुक्तो बद्धसमो भवेत्।।
अनिर्मोक्षप्रसङ्गोऽयमनिष्टः सर्ववादिनाम्।।११९

देहेन तत एवैतत् क्रियते पुण्यपातकम्। पुण्यपापकरो देहः कुत एष प्रजायते।।१२०

सूक्ष्माच्छरीरतः सोऽयं जायते पुण्यपापकृत। देहश्चेत् तर्हि विप्रेन्द्राः! तथैवान्योऽपि
जायताम्।।१२१

पुण्यपापे भवेतां न कारणं देहजन्मनि। तथा च सति तद्द्वयर्थं कारणत्वं तयोर्भवेत्।।१२२

चेत्, तदापि इदं विचार्यम्—किमदृष्टस्य हेतुः शुद्ध आत्मा ? देहो वा ? आद्ये, मुक्तानामपि बद्धत्वापत्तिः यस्माद् मुक्तानामपि स आत्मा पुण्यपापकर्तृत्वस्य तत्फलभोक्तृत्वस्य च भागी। एतच्च सर्ववादिनाम् अनिष्टम्। इति द्वयोरर्थः।।११८-९।। पुण्यपापयेर्देहजन्यत्वरूपमन्त्यं पक्षं दूषयति—देहेनेत्यादिना। तत आत्मनो विकारित्वप्रसङ्गेन अनिर्मोक्षापत्तेः एव पुण्यपापयोर्देहजन्यत्वम् अभ्युपेयम्। तत्राऽपि चेदं विचार्यम्—किं स देहः पुण्यपापाभ्यामेव जायते ? अन्यस्माद्वा ? आद्ये, अन्योन्याश्रयः। न च बीजाङ्कुरवत् परिहारः, देहादृष्टयोः कार्यकारणभावस्य प्रत्यक्षाऽविषयस्य अङ्गीकारेऽन्धपरम्परापत्तेः। अन्त्ये तु तत्स्वरूपं वाच्यम् इत्यर्थः।।१२०।।

ननु स्थूलदेहस्य कारणं सूक्ष्मशरीरमेवेति चेदुच्यते; तदापि किं यं कञ्चित् स्थूलदेहं प्रति सूक्ष्मं कारणम्? उत सर्वान् प्रति ? आद्ये, यत्किञ्चिद्घटपूर्ववर्तिनो रासभस्याऽपि सर्वघटकारणत्वापत्तिरविशेषात् ! अन्त्ये, देवदत्तसूक्ष्मशरीराद् देवदत्तदेहवद् अन्येऽपि[1] स्थूलदेहाः कुतो न जायन्ते ? इत्याशयेनाह—सूक्ष्मादिति। यदि सूक्ष्मदेहादेव पुण्यपापहेतुभूतः स्थूलो देहविशेषो जायते तदाऽपरोऽपि ततो जायताम्, 'समर्थस्य क्षेपाऽयोगाद्' इति न्यायात्। क्षेपो विलम्बः।।१२१।। अत्र पक्षे पुण्यपापयोः कारणत्वाऽभ्युपगमो वृथा, सूक्ष्मदेहेनैव सर्वनिर्वाहाद् इत्याह—पुण्यपापे इति। सूक्ष्मेणैव निर्वाहसाम्ये तद् 'अदृष्टमिति चेद्' (११८) इत्यादिनाङ्गीकृतं तयोः पुण्यपापयोः कारणत्वं व्यर्थं स्याद् इत्युत्तरार्द्धार्थः।।१२२।। किं च सूक्ष्मशरीरस्याऽपि आगन्तुकत्वेन कार्यत्वात् तत्कारणान्वेषणायां

हे विप्रो ! पुण्य-पाप रूप कोई 'न दीखने वाली' वस्तु यदि देहोत्पादक कह दी जाये तो प्रश्न होगा कि वही वस्तु किससे पैदा होती है ? यदि शुद्ध आत्मा से हो तो मोक्ष संभव नहीं क्योंकि वह आत्मा मुक्तों के लिये भी पुण्य-पाप पैदा कर दिया करेगा ! तब मुक्त भी बद्ध जैसा ही हो जायेगा क्योंकि देह धारण कर उसे सुख-दुःख का उपभोग करना पड़ेगा। सभी मोक्षवादियों के लिये मोक्ष की असंभवता स्वीकारना अनिष्ट ही है।।११९।।

इस तरह शुद्ध आत्मा को कारण कहते ही उसे विकारी मानना होगा जिससे कैवल्य असंभव हो जायेगा इसलिये यही स्वीकारना होगा कि ये पुण्य-पाप शरीर से ही किये जाते हैं। किंतु पुण्य-पाप करने वाला यह शरीर किससे पैदा होता है ? यदि यह पुण्य-पाप से ही उत्पन्न हो जाये तो दोनों की उत्पत्ति एक-दूसरे पर आश्रित मानना रूप विचारदोष होगा और फलतः दोनों का जन्म अव्याख्यात रह जायेगा। यह भी कह नहीं सकते कि बीज-अंकुर की तरह एक पुण्य-पाप से एक शरीर बनता है, उससे दूसरे पुण्य-पाप और उनसे दूसरा शरीर—यों कार्यकारण की परंपरा चलती है; क्योंकि बीजांकुर स्थल में कारणता दृष्ट है, प्रत्यक्ष प्रमाण पर स्थित है जबकि देह के प्रति पुण्य-पाप और उनके प्रति देह कारण है यह प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है नहीं तथा प्रमाण से असिद्ध कार्यकारणव्यवस्था स्वीकारना अन्धपरंपरा होती है जो विचारकों को मान्य नहीं होती। इसलिये देह का और ही कारण कहना होगा।।१२०।। पुण्य-पाप का हेतुभूत विचाराधीन स्थूल शरीर यदि सूक्ष्म शरीर से पैदा होता है तो अन्य भी शरीर उत्पन्न हो जाने चाहिये ! (तात्पर्य है कि सूक्ष्म

---

१. देवदत्तस्यैव जन्मान्तरभाविन इत्यर्थः।

अपि सूक्ष्मं वपुः केन जायते द्विजसत्तमाः। अज्ञानादिति चेत्तस्मात् स्थूलं कस्माद् न जायते।।१२३

पुण्यपापविनिर्मुक्तमज्ञानं सूक्ष्मकारणम्। भवेच्चेद् न भवेत् केन तादृक् स्थूलस्य कारणम्।।१२४

पुण्यपापादिकार्याणां वासनाकोटिवासितम्। सूक्ष्मस्य चेदिदं हेतुः स्थूलस्याप्यस्तु तादृशम्।।१२५

वासना अपि संस्काराः संस्काराश्च विनाशतः। पुण्यादीनां प्रजायन्ते नाऽसतां च विनाशनम्।
पुण्यपापे ततः पूर्वं जायेते केन हेतुना।।१२६

पुण्यपापाच्च संस्काराः संस्कारेभ्यस्तथा वपुः। सूक्ष्मं वाऽप्यथ वा स्थूलं ततः पुण्यं च पातकम्।।१२७

यदि अज्ञानं सूक्ष्मस्य कारणमुच्यते, तर्हि तदेव स्थूलस्यापि कारणमस्तु, किं सूक्ष्मस्य कारणत्वाभ्युपगमेन, 'तद्धेतोरेवाऽस्तु हेतुत्वं किं तेन' इति न्यायाद् इत्याह—अपि सूक्ष्ममिति। तस्माद् अज्ञानात्।।१२३।।

किं च तदज्ञानं पुण्यपापाऽनपेक्षं सूक्ष्मशरीरकारणम्? तत्सापेक्षं वा? आद्ये, स्थूलशरीरमपि तथैव किं न जनयेद् इत्याह—पुण्येति। तादृक् पुण्याद्यनपेक्षम्।।१२४।। तत्सापेक्षत्वपक्षं दूषयति—पुण्यपापादिकार्याणामिति चतुर्भिः। यदि पुण्यकर्मादिरूपकार्याणां वासनाकोटिभिः वासितम् इदम् अज्ञानं सूक्ष्मस्य हेतुः इत्युच्यते तर्हि तादृशम् एवाऽज्ञानं स्थूलस्यापि हेतुरस्तु इति।।१२५।। तथा चाऽन्धपरम्परापत्तिरित्याह—वासना इति त्रिभिः। वासनापदं हि संस्काराणां वाचकम्। संस्काराः तु विनश्यदवस्थैः पुण्यादिभिः कार्यैः जन्यन्ते। विनाशयोग्यता तु पूर्वं विद्यमानानामेव, नाऽसताम्। इत्यतः संस्कारोत्पत्तये पूर्वं पुण्यादीनां सत्ताऽपेक्षितेत्यर्थः।।१२६।। एवं सति प्रसक्तां घटीयन्त्रसमामनवस्थामभिनयति—पुण्यपापाच्चेति। कर्मादिभ्यः संस्कारा जायन्ते, तेभ्यश्च द्विविधं शरीरं, शरीराच्च पुनः कर्माणि, इत्येवम् अनवस्था स्यादित्यर्थः।।१२७।।

शरीर क्या किसी खास स्थूल के प्रति हेतु है या सभी स्थूल देहों के प्रति? यदि किसी खास के प्रति कहो तो उसी के लिये भले ही मान लो, सभी स्थूल देहों के लिये तो सूक्ष्म देह को कारण कह नहीं सकते। किसी एक घड़े के बनने से पूर्व वहाँ किसी आवश्यक कार्य से—मिट्टी, पानी लाने के लिये—गधा लाया गया तो उस घड़े की कारणसामग्री में भले ही गधा गिना जाये, सभी घड़ों का कारण तो गधा नहीं मान लिया जायेगा! यदि सूक्ष्म को सभी स्थूलों के प्रति कारण कहो तो जैसे देवदत्तके सूक्ष्म शरीर से उसका स्थूल शरीर बना वैसे ही अन्य स्थूल शरीर भी क्यों नहीं बन गये? देवदत्त को ही अनेक जन्मों में अनेक स्थूल शरीर प्राप्त होने हैं, सभी इकट्ठे ही क्यों नहीं बन गये? सक्षम कारण कार्योत्पादन में विलंब नहीं करता। यदि सूक्ष्म शरीर स्थूल देह का सक्षम कारण है तो सभी स्थूल देह क्यों नहीं बना देता?)।।१२१।। सूक्ष्म से ही स्थूलोत्पत्ति हो जाये तो देहजन्म में पुण्य-पाप कारण न होंगे अतः उन्हें पूर्व में (श्लो. ११८) जो कारण कहा था वह बात व्यर्थ हो जायेगी।।१२२।। किं च सूक्ष्म शरीर भी आगंतुक पदार्थ होने से प्रश्न होगा कि वही किससे उत्पन्न होता है? यदि कहो कि कारणशरीर कहलाने वाले अज्ञान से तो जिज्ञासा होती है कि स्थूल शरीर भी अज्ञान से ही क्यों नहीं पैदा हो जाता? (ध्यान रहे, सूक्ष्मकी चर्चा छिड़ते ही प्रत्यक्ष का सहारा छूट गया और युक्ति के भरोसे कुछ मानना हो तो युक्ति निर्दोष होनी ज़रूरी है। कारणवाद में न्यूनतम कल्पना ही मान्य होती है अतः स्थूल का सूक्ष्म को उसका फिर अज्ञान को कारण मानने की अपेक्षा अज्ञान को स्थूल का ही कारण मानना न्यून कल्पना है। अतः सूक्ष्म को स्थूल के प्रति कारण कहना नहीं बनता।)।।१२३।।

पुण्य-पाप से निरपेक्ष अज्ञान यदि सूक्ष्म शरीर का कारण बनता है तो उसी तरह, कर्मनिरपेक्ष रहकर, वह स्थूल का भी क्यों नहीं बन जाता?।।१२४।। यदि पुण्य-पाप आदि कार्यों की करोड़ों वासनाओं से (संस्कारों से) युक्त अज्ञान सूक्ष्मजनक है तो वैसे ही स्थूल का भी हो जाया करे।।१२५।।

किं च पुण्य-पाप की अपेक्षा रखकर अज्ञान कारण है यह मानना अंधपरंपरा होगी: वासना कहते हैं संस्कारों

एवं न कारणं किञ्चिद् अस्माकं देहजन्मनि। लभ्यते तेन चैवाऽत्र भवितव्यं द्विजोत्तमाः ।।१२८

ततोऽस्मादिह संजाता इति नैवाऽस्ति निश्चयः। अस्माकं द्विजशार्दूलाः ! कुतो जाता वयं ततः ।।१२९

अन्नतो नैव संजाता वयं जाता यतस्त्विदम्। भक्षयामो वयं विप्राः! तृप्तितुष्ट्यादिकारणम् ।।१३०

जीवाम केन ?

जीवनस्याऽपि नैतत् स्यात् कारणं द्विजसत्तमाः। अन्नादा एव सत्यन्ने म्रियन्ते जन्तवो यतः ।।१३१

फलितमाह—एवमिति द्वाभ्याम्। एवं सति सर्वानुपपत्तिपरिहारक्षमं कारणं देहस्यापि न लभ्यते किमुतान्यस्य। परन्तु तेन कारणेन भवितव्यम्, अकारणककार्योत्पत्तेः असम्भवस्य उक्तत्वादिति।।१२८।। ततोऽस्मादिति। स्पष्टम्।।१२९।।

न चाऽन्नमपि देहकारणं वक्तुं शक्यम्, तस्य जन्मानन्तरं भक्ष्यमाणत्वेन जन्मनि कारणान्तरस्यैव वाच्यत्वाद् इत्याह—अन्नत इति। वयमन्नतो न जाताः स्म यतो जाताः प्राप्तजन्मानः सन्त इदम् अन्नं भक्षयामः तृप्त्याद्यर्थमित्यर्थः।।१३०।।

तिष्ठतूत्पत्तिकारणम्; स्थितिकारणमेव निर्णेतुं न शक्यते । इति प्रतिपादकस्य 'जीवाम केन' इत्यंशस्याऽर्थम् उपबृंहयति—जीवनस्यापीति चतुस्त्रिंशच्छ्लोकैः। एतद् अन्नं जीवनस्यापि हेतुतया न वक्तुं शक्यं यतः अन्नभक्षका जन्तवोऽन्ने विद्यमानेऽपि म्रियमाणा दृष्टा इत्यर्थः।।१३१।। प्रत्युत अन्नस्य व्याधिद्वारा

को। पुण्यादिके संस्कार बनेंगे पुण्यादि के नाश से (जैसे ज्ञान नष्ट होने पर उसका संस्कार बनता है जो स्मृति का उत्पादक होता है)। नाश तभी हो जब पुण्यादि सत्ता में आयें। वे जो पूर्व में अपेक्षित पुण्य-पाप हैं वे किस हेतु से उत्पन्न होते हैं ! एवं च रेहट की तरह यह अनवरत चक्र मानना होगा—पुण्य-पाप नष्ट हो तो संस्कार बनें, संस्कारों की अपेक्षा से सूक्ष्म और फिर स्थूल शरीर बनें तथा पुनः शरीर से पुण्य-पाप हों। ऐसी अनवस्था किसी विवेकी को मान्य होगी नहीं क्योंकि इसका समर्थक कोई प्रमाण नहीं। (शास्त्र को प्रमाण मानो तब तो 'यतो वा इमानि भूतानि' आदि ही मानना पड़ेगा, कर्मादि की कारणता का प्रसंग क्यों आयेगा, यह भाव है।)।। १२६-७।।

इस प्रकार विचार करने पर हमारे शरीर के जन्म के प्रति कोई कारण उपलब्ध नहीं होता जिसे स्वीकारने में कोई-न-कोई असंगति न आती हो। यदि कारणव्यवस्था सत्य है तो ऐसा कारण होना अवश्य चाहिये जो हर तरह से युक्तियुक्त हो। 'इससे हम संसार में पैदा हुए हैं' यों हमें अपने ही कारण का निश्चय नहीं तो अन्य वस्तुओं के कारण का क्या निश्चय होगा ! हे विप्रकेसरिओ ! यह ज़रूर निर्धारित करें कि हम किससे पैदा हुए हैं ?।। १२८-९।।

हम अन्न से पैदा हुए हों यह भी संभव नहीं क्योंकि अन्न तो हम पैदा होने के बाद खाया करते हैं । वह केवल तृप्ति, तुष्टि, पुष्टि आदि का हेतु हो सकता है, हमारे जन्म के प्रति हेतु नहीं। (पिता आदि द्वारा खाये अन्नका ज़िक्र इसलिये नहीं ला सकते कि वह तो धातुपाक से वीर्य द्वारा ही हेतु कहा जायेगा और उसकी असंभवता पहले ही दिखा दी है। अन्न का उल्लेख यहाँ तैत्तिरीयभृगुवल्ली को दृष्टि में रखकर किया है। उत्पत्तिकारण के बाद अब स्थितिकारण का विचार करना है जिसमें प्रवेशार्थ द्वार बनने के कारण भी यहाँ अन्न का निवेश किया है।)।।१३०।।

उपनिषद् में अगला प्रश्न है 'किससे जीवित रहते हैं ?' इस अंश का आत्मपुराण में विस्तार करते हैं : हे श्रेष्ठ द्विजो ! यह अन्न तो जीवन का भी हेतु नहीं होता (तो उत्पत्ति का क्या होगा ?) क्योंकि अन्न मौजूद रहते हुए ही अन्नभक्षक जन्तु मर जाया करते हैं ।।१३१।। चिकित्साशास्त्र का तो निर्णय है कि सभी जंतुओं में व्याधि अन्नदोष से पैदा होती है अतः अन्न व्याधि द्वारा मृत्यु का हेतु है, जीवन का नहीं।।१३२।। अन्नकी तरह अन्य विषय भी जीवनहेतु

अन्नदोषाद् यतो व्याधिः सर्वेष्वेव प्रजायते। मरणं चेति विप्रेन्द्राः ! चिकित्साशास्त्रनिर्णयः।।१३२
विषयान्तरसंयोग एवं मरणकारणम्। नारीसंयोगसंजातस्वान्ततापः पुमानयम्।।१३३
घण्टारवादिसदृशान् शृण्वन् प्राणरवान् बहून्। अल्पकालाद् मृतिं गच्छेदेवं नैमित्तिका विदुः।।१३४
वीर्यभ्रंशाद्धि नारीणां योनौ कामविमोहितः। स्वकीयानां दिवारात्रौ प्रत्यवेयात् पुमानयम्।
परेषां तु सकृद्वाऽपि प्रत्यवायाद् मृतिं व्रजेत्।।१३५
एवं वेदार्थतत्त्वज्ञा मरणं योगतः स्त्रियः। कथयन्ति तथा देहयोगशास्त्रविशारदाः।।१३६

मरणहेतुत्वं वैद्यशास्त्रप्रसिद्धमित्याह—अन्नदोषादिति।।१३२।। अन्नोपलक्षितानां विषयान्तराणामपि जीवनं प्रति अहेतुत्वं प्रत्युत तद्विरोधित्वं च दर्शयति—विषयान्तरेत्यादिना। एवम् अन्नसंयोगवद् विषयान्तराणां संयोगो भोगोऽपि मरणहेतुः। तथा हि—नारीसंयोगेन संजातः स्वान्ते हृदये तापो यस्य तथाभूतः अयं कामी पुमान् प्रसिद्ध इति शेषः।।१३३।। श्रोत्रविषयस्य मरणे हेतुतामुदाहरति—घण्टेति। घण्टाशब्दादितुल्यान् आभ्यन्तरवायोः शब्दान् शृण्वन् रोगी शीघ्रं म्रियत इति नैमित्तिका निमित्तशास्त्रविद आहुरित्यर्थः।।१३४।। वीर्येति। वेदार्थतत्त्वज्ञा अपि एवं स्त्रीयोगेन तु मरणं कथयन्ति। 'एवं' कथम् ? स्वकीयनारीषु दिवा रात्रौ दिनादिकालाऽनियमेन वीर्यभ्रंशात्, परकीयासु तु सकृद् एकवारमपि वीर्यभ्रंशात् कामी प्रत्यवायद्वारा मरणं गच्छेद् इति। तथा चाथर्वणश्रुतिः 'प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते (प्रश्न १.१३.) इति। तथा च प्रपञ्चसारे भगवत्पादैरप्युक्तं 'हानिं न गच्छेज्जीवस्य' (   ) इति। जीववासस्थानस्य रेतसो हानिः त्यागो यथा न भवति तथा यतेत इति तद्व्याख्यातारः। 'परदारा न गन्तव्याः सर्ववर्णेषु कर्हिचित्। नहीदृशमनायुष्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते।।'[1] इति धर्मशास्त्रेऽप्युक्तम्।

तथा देहयोगो देहान्तर्वर्तिषट्चक्रादिध्यानं तत्प्रतिपादकशास्त्रेषु शैवागमादिषु वक्ष्यमाणविधया वीर्यभ्रंशाद् हानिरुक्ता। इति द्वयोरर्थः।।१३५-६।। देहयोगशास्त्रोक्तां प्रक्रियामभिनयति—च्युत इति अष्टादशभिः। अस्य नहीं वरन् जीवनविरोधी ही हैं ! अन्नभक्षण की तरह अन्य विषयों का भोग भी मरणकारण बनता है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि कामी पुरुष के हृदय में नारीसंयोगजन्य ज्वाला धधकती रहती है। (संयोग न होने तक 'हो जाये' इसकी लालसा, हो जाने पर 'बना रहे, कहीं नष्ट न हो' यह भय इस प्रकार संयोग से प्रयुक्त चिंतातुरता बनी रहती है जो स्वास्थ्यहानि द्वारा मारक हो जाती है।)।।१३३।।

स्पर्श की तरह श्रोत्रका विषय शब्द भी मरणहेतु है क्योंकि निमित्तशास्त्र के जानकार मानते हैं कि जब घण्टानाद की तरह प्राणध्वनि बहुत ज़्यादा सुनाई दे तो जल्दी ही मौत आ जाती है।।१३४।। वेद के अर्थ का रहस्य जानने वाले कहा करते हैं कि स्त्रीसम्पर्क से मरण होता है क्योंकि कामनावश कार्य-अकार्य का विवेक खो देने वाला यह पुरुष दिन-रात आदि समय-मर्यादा का उल्लंघन कर यदि स्वकीय पत्नी का भी संभोग करता है तो पाप एकत्र कर मरता है और यदि कहीं किसी परायी स्त्री से एक बार भी संभोग कर लेता है तो पाप प्राप्तकर मरता है। (शास्त्र में स्त्रीसंपर्क की काल आदि मर्यादायें स्थापित हैं, उनमें बँधकर रह पाना कामुकों के लिये संभव नहीं और मर्यादोल्लंघन पापप्रद है ही। उदाहरणार्थ दिन में—सूर्य रहते—स्त्रीसंपर्क निषिद्ध है पर कामुकों को इस बात का ख्याल नहीं रहता। परायी स्त्री के उपभोग को 'अनायुष्य' अर्थात् आयु क्षीण करने वाले दोषों में सबसे बड़ा गिना गया है; स्वैरी-स्वैरिणी अपने राज्य में न रह पायें यह राजा की कोशिश होनी चाहिये (द्रष्टव्य छां. ५.११.५); अतः परस्त्री के भोग से पाप होगा जो मृत्युप्रद है। स्थूल संभोग तो अतिघृणित पाप है ही, मनसे भी यदि परायी औरत की ओर कामुक प्रवृत्ति हो तो वह भी दोषावह है। सद्यः मृत्यु ऐसे पापों से दृष्टिगोचर भले ही न हो पर ये मृत्युहेतु अवश्य बनते हैं यह शास्त्र का अर्थ है जिसके अनुसार स्त्रीभोगमात्र को जीवनविरोधी कहा है।)।।१३५-६।।

---

१. 'न हीदृशमनायुष्यं लोके किंचन विद्यते। यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्'।। इति मनुस्मृतिः ४.१३४।

च्युतो रसो विनाशाय देहस्याऽस्य प्रकीर्तितः। वृक्षस्येव च पुंसोऽपि धारणाज्जीवनं तथा।।१३७
सरसः स्निग्धतां प्राप्य चिरं जीवति पादपः। नीरसः शुष्कसर्वाङ्गः समूलोऽपि विनश्यति।।१३८
यथा तथैव पुरुषो जीवेद्धि रसधारणात्। कन्दर्पसदृशो भूत्वा म्रियते रसनिर्गमात्।।१३९
शाखास्कन्धादिगे यद्वद् निर्गतेऽपि रसे क्वचित्। वृक्षो न नाशमायाति मूलाच्चेद् नाशमाव्रजेत्।।१४०
हस्तपादादिगे तद्वद् निर्गते च रसे पुमान्। वनस्पतिः क्वचिन्नित्यं शिरसस्तु विनश्यति।।१४१
वृक्षस्यैव यथा मूलं पुरुषस्य तथा शिरः। मूलमध्यं यथा वृक्षे मस्तिष्कं पुरुषे तथा।।१४२
मूलमध्यस्थितो यादृग् रसो वृक्षस्य जीवनम्। मस्तिष्कमध्यगस्तादृग् रसः पुंसोऽत्र जीवनम्।।१४३
मस्तिष्कं श्लेष्मलं मांसं दशमद्वाररोधकम्। चन्द्रबिम्बसमं सर्वं नाडीसूत्रविधारकम्।।१४४

देहस्य वृक्षस्येव रसः च्युतः सन् विनाशाय, धृतः संश्च जीवनाय भवतीत्यर्थः।।१३७।। एतदेव स्फुटयति—सरस इति। यथा वृक्षस्य स्थितिशोषौ रसस्थितिनाशाभ्यां प्रयुक्तौ प्रसिद्धौ तथा पुरुषः अपि धातुरूपरसधारणात् कन्दर्पसदृशो भूत्वा जीवति। रसनिर्गमात् तु म्रियते। इति द्वयोः सम्बन्धः।।१३८-९।। इतरधातुभ्यो रेतस उत्कर्षं सदृष्टान्तं प्रतिपादयति—शाखेति त्रिभिः। यथा प्रसिद्धो वृक्षः शाखादिगते रसे निर्गतेऽपि न नश्यति, मूलाच्चेद् रसो निर्गच्छति तदा स नश्यति, तथा पुमान् वनस्पतिः पुरुषरूपो वृक्षो हस्तादिगते रसे निर्गतेऽपि क्वचिद् न नश्यति, शिरसः सकाशाद् रसे निर्गते तु नित्यं निश्चितं नश्यति। इति द्वयोः सम्बन्धः।।१४०-१।। वृक्षस्यैवेति। वृक्षस्य मूलसमं पुरुषस्य शिरो बोध्यम्, 'ऊर्ध्वमूलो ह्यवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातन' इति (कठ. ६.१) श्रुतेः। एष शरीररूपः सनातनः प्रवाहानादिः। यथा च वृक्षमूलस्य मध्यभागः तत्तुल्यं मस्तिष्कं मस्तकगतस्निग्धभागरूपं बोध्यमित्यर्थः।।१४२।। मूलमध्यगतरसतुल्यं च मस्तिष्कान्तर्गतं रेतो बोध्यम् इत्याह—मूलमध्येति। जीवनं जीवनहेतुः।।१४३।। मस्तिष्कपदार्थं विशदयति—मस्तिष्कमिति। यत् श्लेष्मलत्वादिविशिष्टं मांसं तद् मस्तिष्कम् इत्युच्यत इत्यर्थः।।१४४।। पद्मेति। यत्र मस्तिष्के विद्यमानाः सहस्रशो नाड्यः सहस्रदलकमलाकारेण परिणता भवन्तीत्यर्थः।।१४५।।

देह में मूलाधारादि प्रसिद्ध चक्रों का ध्यान प्रतिपादित करने वाले शैवादि आगमों में निष्णात विद्वान् भी वीर्यभ्रंश से हानि बताते हैं। उनका कहना है कि जैसे किसी भी वृक्ष के रसका निर्यास होता रहे तो उस वृक्ष के विनाश का हेतु होता है ऐसे ही शरीर का रस जो वीर्य उसका भी निःसरण होता रहे तो शरीरनाश का हेतु बनता है, उसे धारण कर रक्षित रखें तो जीवनहेतु बनता है।।१३७।। रसयुक्त वृक्ष में स्वस्थता, पुष्टता, एक तरह की चमक या चिकनाई बनी रहती है और वह दीर्घकाल तक हरा रहता है जबकि उसका रस निकलता रहे तो उसके सभी अंग सूख जाते हैं और मूल से ही वह नष्ट हो जाता है। इस तरह यदि पुरुष धातुरूप रस का धारण किये रहे तो कामदेव जैसा सुंदर ओजस्वी बना दीर्घ जीवन पायेगा और यदि उसका निःसरण होते रहने देता है तो केवल मौत पाता है।।१३८-९।। (जैसे वृक्ष से मर्यादित रसनिःसार हो तो हानि कम होती है ऐसे जितना कम धातुनिःसार हो, वह भी धर्मसंमत मर्यादा से, उतनी हानि भी कम होगी। आबाल्यवार्द्धक्य ब्रह्मचर्य रह सके तो उत्तम ओज का लाभ होगा।) वृक्ष की शाखा आदि किसी अंग से रस निकलने मात्र से समूचा वृक्ष नहीं नष्ट होता पर उसका मूल सूख जाये तो नष्ट हो जाता है। इसी तरह पुरुषशरीररूप वृक्ष के हाथ-पैर आदि से रस निकल भी जाये तो वह नष्ट नहीं हो जायेगा पर इसके सिर से यदि रस निकलता है तो निश्चय ही देह नष्ट होगा। जैसे वृक्ष का मूल वैसे पुरुष का सिर है—जैसा कि उपनिषत् ने शरीररूप वृक्ष के लिये कहा है कि 'इसका मूल ऊपर है'—और जैसे वृक्ष के मूल का मध्यभाग (भीतरी हिस्सा) होता है वैसा पुरुष में मस्तिष्क अर्थात् खोपड़े में भरा चिकना हिस्सा है।।१४०-२।।

पद्मपत्रसमा यत्र स्थूला नाड्यः सहस्रशः। सहस्रपत्रसंयुक्तं कमलं तत् प्रकुर्वते।।१४५
गङ्गां च यमुनां तद्वद्धित्वा हंसोऽत्र मानसः। यत्र पश्चिमवाहिन्या सरस्वत्या प्रयात्ययम्।।१४६
षट्चक्रमार्गसंरोधे भ्रामं भ्राममनेकशः। रसपाकसमुत्थानि खादित्वाऽन्नबिसानि सः।
चिरं वसति देहेऽस्मिन् सर्वव्याधिविवर्जितः।।१४७
त्वगादिधातुषट्कस्य सार एष उदीरितः। रसोऽत्र सप्तमो धातुर्योऽसौ मस्तिष्कसंस्थितः।।१४८

गङ्गां चेति। अत्र मस्तिष्कदेशे गङ्गाम् इडाख्यवामनाडीरूपां यमुनां च पिङ्गलाख्यदक्षिणनाडीरूपां हित्वा सुषुम्नाख्यतन्मध्यनाडीरूपां सरस्वतीं जीवात्मको हंसो गच्छति। कीदृशः ? मानसः मनोरूपमानससरोवासीत्यर्थः। तदुक्तं स्वरोदयेऽपि 'इडा गङ्गेति विज्ञेया पिङ्गला यमुना नदी। मध्ये सरस्वतीं विद्यात् प्रयागादिसमस्तयोः।।' (   ) इति । तयोः इडापिङ्गलयोः मध्ये तिसृणां सङ्गमस्तु प्रयागादिसम इति सम्बन्धः।।१४६।।

यस्तु मोक्षद्वारभूतसुषुम्नागतिं न जानाति तस्य संसारे स्थितिं निरूपयति—षट्चक्रेति। षट्चक्राणि—मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरकाऽनाहत-विशुद्धया-ऽऽज्ञासंज्ञानि कुण्डलिनीसंचरणस्थानानि; तद्रूपस्य मार्गस्य आचार्याद्यनुग्रहमन्तरा संरोधे—अविज्ञानरूपे निरोधे—सति तु स जीवरूपो हंसः अनेकशः विविधासु देहनाडीषु भ्रामं भ्रामं भ्रमित्वा भ्रमित्वा अन्नबिसानि 'विश्वस्तु स्थूलभुङ् नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्। आनन्दभुक् तथा प्राज्ञः त्रेधा भोगं निबोधत।।' (गौ. का. १.३) इति भगवद्गौडपादोक्तत्रिविधान्नरूपाणि भुक्त्वा अस्मिन् देहे चिरं वसति सर्वव्याधिविवर्जितः चेद् इति शेषः।। कीदृशानि तानि अन्नबिसानि ? रसपाकसमुत्थानि रसो भुक्तान्नजो द्रवांशः तत्परिणामात्मकानि। स्फुटमेतत् षष्ठे कूर्चब्राह्मणे। अयं भावः—यथा हंसो जलोर्ध्वगतिनिरोधे जलान्तर्भ्रमन् बिसान्येव भुञ्जानस्तिष्ठेत् तथाऽयमपि निरुद्धोर्ध्वगतिकः संसारे तिष्ठति—इति।।१४७।। तस्मात् सप्तधातूनां मध्ये रेत उत्कृष्टमित्याह—त्वगादीति।।१४८।।

मूल के भीतरी भाग में स्थित रस जैसे वृक्ष के जीवन का हेतु बनता है वैसे मस्तिष्क के अन्तर्गत रेतस् पुरुष के जीवन का हेतु बनता है।।१४३।। चंद्र-बिम्ब जैसा जो श्लेष्मायुक्त मांस सभी नाडियों के सूत्रों का धारण किये है व दसवें द्वार को रोके है वह मस्तिष्क है। (दसवाँ द्वार वह बारीक छेद है जो उस बिंदु पर है जहाँ खोपड़ी की हड्डियाँ मिलती हैं; जातमात्र शिशु के सिर में वह स्थान अत्यंत कोमल होता है; लगभग वहीं शिखाधारण किया जाता है।)।।१४४।। मस्तिष्क में कमलपत्र की तरह स्थूल हज़ारों नाडियाँ हैं जो एक हज़ार दलों वाले कमल के आकार में स्थित हैं।।१४५।। मानस हंस यहाँ गंगा-यमुना को छोड़कर पश्चिम की ओर बहने वाली सरस्वती द्वारा गमन करता है। (मानस अर्थात् मनरूप मानसरोवर में निवास करने वाला हंस अर्थात् जीव। इडा नाम की बायीं नाडी गंगा और पिंगला नामकी दायीं नाडी यमुना है जिनके बीच की सुषुम्ना नाडी सरस्वती है। नाडियों व चक्रों के बारे में ग्यारहवें अध्याय में पुराणकार स्वयं विस्तार करेंगे।)।।१४६।।

छह चक्र रूप मार्ग का ज्ञान न हो तो यह जीवरूप हंस देहगत विविध नाडियों में बारम्बार भटकते हुए भुक्त अन्न के रस के परिणामरूप पोषक तत्त्व का सेवन करता है। यदि सब व्याधियों से रहित रहे तो चिर काल तक इस शरीर में रहता है। (मूलाधार आदि छह चक्र आगमों में माने गये हैं जिनमें कुण्डलिनी संचरण करती बतायी गयी है। यह संचरण सुषुम्ना मार्ग से हो तो मोक्षप्रद है ऐसा आगमवादी मानते हैं। आचार्य आदि का अनुग्रह न होने तक वह मोक्ष-औपयिक मार्ग अज्ञात होने से मानो बंद ही बना रहता है। तब तक जीव अन्यान्य नाडियों में घूमता रहता है। हंस यदि जल से ऊपर न उड़ पाये तो जलस्थ कमलनाल ही खाता रहेगा, इसी तरह मोक्षद्वार से बाहर न निकल पाने तक जीव सांसारिक भोग ही पाता है। ये भोग विश्व, तैजस, प्राज्ञ के लिये क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और आनंद रूप हैं ऐसा माण्डूक्य कारिका से समझा जा सकता है।)।।१४७।। त्वक् आदि छह धातुओं का यह सारभूत रस है जो मस्तिष्क में संस्थित सातवाँ धातु है।।१४८।।

अयं त्रेधा शरीरेऽस्मिन् परिणामं प्रयाति हि। अकामहृदयाम्भोजे सर्वस्याऽपि च देहिनः।
सर्वाङ्गे संस्थितः कुर्याद् बलं वैरिभयङ्करम्।।१४९

मस्तकस्थोऽपि कुरुते चिरं देहविधारणम्। क्षुब्धो वाऽभ्यधिको वैष ओजो नामाष्टमीं दशाम्।
कुरुते यद्बलादेष नीरोगो वर्तते पुमान्।।१५०

क्षरत्ययं यदा देहाद् देहिनो न तदा भवेत्। इदं सर्वं ततस्तस्य क्षरणं विनिवारयेत्।।
मन्त्रैरप्यौषधैस्तद्वद्योगैर्नानाविधैरपि।।१५१

अग्नेर्मुखे यदा तिष्ठेद् रसो बद्धस्तदा भवेत्। बद्धे खेचरतादिः स्यात् सिद्धिः सर्वशरीरिणः।।१५२

नारीयोनिर्भवेदग्निः पुमान् वृक्ष इतीरितः। रसो रेत इति प्रोक्तं योगशास्त्रविचक्षणैः।।१५३

रेतसस्त्रेधा परिणाममाह—अयमिति द्वाभ्याम्। अयं रेतो धातुः। तत्र प्रथमं परिणाममाह—अकामेति। सर्वस्यापि देहिनः अकामे कामरहिते हृदयाम्भोजे विशेषेण, इतराङ्गेषु च सामान्यरूपेण स्थितः सन् वैरिभयहेतुबलरूपेण परिणमत इत्यर्थः।।१४९।। द्वितीयमाह—मस्तकस्थ इति। मस्तकगतो रेतो धातुः चिरदेहधारणोपयोगिसामर्थ्यात्मना परिणमत इत्यर्थः। तृतीयमाह—क्षुब्ध इति। क्षुब्धः प्राप्तक्षोभोऽपि निरुद्धः सन्, अभ्यधिकः सन् वा ओजः संज्ञकाष्टमधातुरूपां दशां प्राप्नोति येन नीरोगः क्षेत्रज्ञस्तिष्ठेद् इत्यर्थः। तदुक्तं प्रपञ्चसारे भगवत्पादैः 'शुक्रपाकात् स्वयं भिद्येदोजो नामाष्टमी दशा। क्षेत्रज्ञस्य तदोजस्तु केवलाश्रय इष्यते।।' ( ) इति।।१५०।। रेतसः क्षरणे दोषमाह—क्षरतीति। अयं रेतो धातुः यदा देहात् क्षरति तदा देहिन इदम् उक्तं फलं न भवति, अतो मन्त्राद्युपायैः तस्य क्षरणं निवारयेद् इति सम्बन्धः। योगा ध्यानविशेषाः तैः।।१५१।।

तन्निरोधस्य लक्षणमाह—अग्नेरिति। यदाऽग्नेर्मुखे सन्निधानेऽपि सति रसस्तिष्ठेत् तदा बद्धो ज्ञेयः। तस्मिन् बद्धे तु खेचरता आकाशगमनं तत्प्रभृतिः सिद्धिर्भवेत् जायेतेत्यर्थः।।१५२।। अग्निरसपदयोरर्थमाह —नारीति।

यह रेतस् (ब्रह्मचारियों के) इस शरीर में तीन तरह से विकसित होता है : जिस किसी भी देहधारी का जो निष्काम हृदयरूप कमल हो उसमें तथा अन्य भी सब अंगों में भली भाँति स्थित यह वीर्य ऐसा बल देता है जो दुश्मनों को डरा देता है।।१४९।। दूसरा विकसित रूप मस्तक में स्थित होता है और वह सामर्थ्य देता है जिससे चिरकाल तक देह को धारण किया जा सकता है। इसका तीसरा विकसित रूप तब तैयार होता है जब विचलन होने पर भी इसका निरोध किया जाये और यों जब यह तृतीय दशा का रेतस् अधिक हो जाता है तब 'ओज' नाम की आठवीं धातु बन जाती है जिससे पुरुष नीरोग बना रहता है।।१५०।। (ब्रह्मचर्य का पालन न कर सकने वाले) देहधारियों के इस वीर्य का जब शरीर से क्षरण होता है तब ऊपरोक्त कोई फल नहीं प्राप्त होता अतः नाना प्रकार के मंत्रों से, दवाओं से और ध्यानों से इसके क्षरण को रोकना चाहिये।।१५१।।

ओज बने इसके लिये ज़रूरी निरोध भी समझने योग्य है : अग्नि के मुख में सन्निहित होकर भी रस जब बिना बहे रह जाये तब उसे 'बँधा हुआ' समझना चाहिये। जिस किसी शरीरधारी का रस बँध जाता है उसमें आकाशगमन आदि सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं। 'अग्नि' का अभिप्राय नारीयोनि से है, पुरुष वृक्ष कहलाता है और 'रस' शब्द से रेतस् कहा जाता है। योगशास्त्र में पारंगत विद्वानों के ये संकेत हैं।।१५२-३।। एक बार भी आग लगने से वृक्ष के मूल से रस निकल जाता है तो वृक्ष नष्ट हो जाता है तब बहुत बार रस निकलने पर उसके नाश का क्या कहना ! नारीरूप आग के दृढ आलिंगन से पुरुष के रसका निर्यास होने पर उसका वृक्ष की तरह ही विनाश होता है इसलिये रस का निर्गम नहीं होने देना चाहिये। (निर्गमप्रतिबंध मन-इंद्रियों पर नियंत्रण तथा विवेक-विचार से करना ही अध्यात्मलाभ देता है। यद्यपि पूर्व में (श्लो. १५१) इसके लिये औषध आदि के प्रयोग का विधान कर चुके हैं तथापि वह

अग्निसम्पर्कतो मूलाद् रसो वृक्षस्य निःसरेत्। एकदाऽपि विनश्येत् स बहुकृत्वस्तु किम्पुनः।।१५४
नारीवह्निसमाश्लेषात् पुंसो रसविनिर्गमे। वृक्षस्येव विनाशः स्यात् ततस्तं परिवर्जयेत्।।१५५
इत्यादि देहयोगेऽपि श्रूयते मृतिकारणम्। नारीभोगस्ततो नाऽयं जीवनाय द्विजोत्तमाः।।१५६
चन्दनैर्बहुशो युक्तादतिशीतादयं पुमान्। वाताद्वा संनिपाताद्वा सद्यो मरणमाव्रजेत्।।१५७
अन्यैरपि तथा भोगैः सुगन्धैश्च मनोहरैः। परदृष्टोपभोगैस्तैर्भुक्तैस्तेऽपि तदर्थिनः।
सर्पदुर्जनवैर्याद्याः सद्यो मरणहेतवः।।१५८
ततोऽमी विषयाः केऽपि जीवनाय न देहिनः। जीवनायाऽपि न स्युर्ये ते स्युः केन जनौ नृणाम्।।१५९

स्पष्टम्।।१५३।। अग्नीति। यदा एकदाऽपि अग्निसम्पर्केण वृक्षस्य मूलाद् रसो निःसरेत् तदाऽपि वृक्षो नश्येत्, बहुवारं रसनिर्गमे वृक्षो नश्यतीति किमु वक्तव्यम्! इत्यर्थः।।१५४।। दार्ष्टान्तिके योजयति—नारीति। तं रसविनिर्गमम्।।१५५।। देहयोगोक्तप्रक्रियामुपसंहरति—इत्यादीति। अयं नारीभोगः।।१५६।।

त्वग्विषयस्य प्रतिकूलतामाह—चन्दनैरिति। चन्दनकर्पूरादिभिः युक्ताद् बहुशो लेपनाज्जातो योऽतिशीतः कफरोगो, वातरोगः संनिपातरोगो वा, तैर्हेतुभिः म्रियत इत्यर्थः।।१५७।।

परिशिष्टविषयाणां तथात्वमाह—अन्यैरपीति। तथाऽन्यैरपि भोगैः सद्यो मरणमाव्रजेद् इत्यनुषङ्गः। तत्र हेतुगर्भं भोगानां विशेषणं परेति। परैः कुदृष्टिभिः[1] दृष्ट उपभोगो येषां ते तथा तैः। न केवलं विषया एव मरणहेतवः किन्तु ते कुदृष्टयः सर्पाद्याश्चाऽपि मरणहेतवो भवन्ति यतः तदर्थिनः तत्तद्भोगकामा इति सम्बन्धः।।१५८।। फलितमाह—तत इति। स्पष्टम्।।१५९।।

प्रारंभिक सहायतामात्र समझना चाहिये। इसी तरह अन्यान्य उपाय यदि उपलब्ध हों तो वे भी यथावश्यक उपयोग में लिये जा सकते हैं किंतु उन पर निर्भर होने से यहाँ बताया लाभ नहीं मिलेगा, इसके लिये तो संयम ही पुष्ट करना पड़ेगा। अत एव रसनिर्गम-मार्ग को अवरुद्ध कर देना इत्यादि भी निरुपयोगी ही हैं यह याद रखना चाहिये। शारीरिक नियंत्रण अनिवार्य होने पर भी सिद्धिपर्यन्त फल के लिये मानसनियन्त्रण भी उतना ही आवश्यक है।)।।१५४-५।।

हे उत्तम द्विजो! आगमशास्त्रों में भी पूर्वोक्त (श्लो. १३७-५५) प्रकार से नारीसंभोग को मृत्यु का ही कारण माना है अतः यह हमारे जीवन का हेतु बन सके यह संभव नहीं।।१५६।।

स्पर्शरूप विषय का प्रधान प्रतिनिधि स्त्रीसुख जैसे जीवनहेतु न होकर विनाशकारी है ऐसे ही चंदन, कर्पूर आदि से निर्मित लेप आदि का बहुतेरा प्रयोग करने से त्वचा में अत्यंत शीतलता हो जाती है फलतः कफ या वात का उद्रेक होकर अथवा तीनों दोषों के कोप से संनिपात होकर जंतु मर जाता है। (आधुनिक शृंगारप्रसाधन त्वचाके एवं अन्य भी अनेक रोगों के प्रत्यक्ष व आयुर्विज्ञानसंमत हेतु बन रहे हैं। स्पर्शानुकूल्य के लिये वातानुकूल का अधिक प्रयोग भी इसी प्रकार अत्यंत हानिप्रद प्रसिद्ध है। एवं च स्पर्शसुख भी जीवनहेतु नहीं। यहाँ 'मृत्यु' से सर्वहर मृत्यु ही न समझकर स्वास्थ्यादि की हानि का भी ग्रहण कर लेना चाहिये क्योंकि ये सभी हानियाँ सर्वहर मृत्यु को उग्रतर बनाने में मददगार तो हैं ही। इसी तरह 'जीवनहेतु' से जीवन का प्रयोजन भी समझना चाहिये : ये भोग जीवन का प्रयोजन होने योग्य नहीं बल्कि इनका आस्वादन अतिशीघ्र जीवन को नीरस, निरुद्देश्य, निष्प्रयोजन, नैराश्यमय, अवसादनिष्ठ बना देता है यह वर्तमान उपभोक्ता-संस्कृति में सबको प्रत्यक्ष ही है।)।।१५७।।

१. 'यो मुखे प्रक्षिप्यमाणोऽपि ग्रासः परस्य पीडाकरो दृश्यते, 'ममेदं स्याद्' इति हि सर्वेषां तत्राशा प्रतिबद्धा। तस्माद् न परम् अपीडयित्वा ग्रसितुमपि शक्यते।' इति बृहद्भाष्ये (१.५.२. पृ. ११७) कथितरीत्या बोध्यम्।

प्राणोऽपि न च देहेऽस्मिन् जन्तूनां जीवनाय हि। निष्प्राणा अपि जीवन्ति देहिनः स्थावरा यतः ।१६०
जङ्गमा अपि मूर्छादौ प्राणशून्या दिनाऽधिकम्। जीवन्ति तत एवाऽयं प्राणो हेतुर्न जीवने।।१६१

प्राणस्याऽपि जीवनं प्रति हेतुत्वाऽभावं व्यभिचारेणाह—प्राणोऽपीति। प्राणपदेनाऽत्र श्वासप्रश्वासाख्यः प्राणव्यापारो लक्ष्यते, स्थावरेष्वपि अङ्कुराद्युद्गमेन प्राणसत्त्वस्य सर्वसम्मतत्वात्। तथा च निष्प्राणा अनुपलभ्यमानश्वासप्रश्वासका अपि स्थावरा यतो जीवन्तो दृश्यन्ते ततः श्वासप्रश्वासरूपः प्राणव्यापारोऽपि न जीवनहेतुरित्यर्थः।।१६०।। जङ्गमा अपि मूर्च्छाद्यवस्थासु अनुपलभ्यमानप्राणव्यापारका अपि जीवन्तो दृश्यन्त इत्यतो न तस्य हेतुत्वमित्याह—जङ्गमा अपीति। दिनाधिकम् एकदिनाद् अधिकं कालम्, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया।।१६१।।

सुगन्ध आदि अन्य मनोहर भोग भी सद्यः विनाशकारी होते ही हैं। (स्पर्श व शब्द की पूर्व में विस्तार से हानिकारकता बता चुके। स्वाद के लालच में अशुद्ध, निषिद्ध, अहितकर, अनियत मात्रा में आहार से मृत्यु स्पष्ट है। गंध को प्रिय प्रतीत कराने के लिये आज-कल ऐसे रसायनों का प्रयोग होता है जो अत्यधिक नुकसान करते हैं यह सर्वत्र ज्ञात है। भोजन को भी सुगंधित करने के लिये ऐसे रासायनिक अत्तर काममें लिये जाते हैं जो विष हैं। यही रूपका भी हाल है : भोज्य वस्तुओं में अखाद्य रंग पड़ते हैं ताकि दर्शनीयता आये। वस्त्रादि भी आकर्षक दीखें इसके लिये जैसे परिधान तैयार होते हैं वे मारक हैं ही। दूरदर्शन, सिनेमा, कंप्यूटर आदि के सेवन से आँख तथा अन्य अंग भी विकृत होते हैं इसमें किसी को संदेह नहीं। एवं च पाँचों विषय जीवनहेतु नहीं। कर्मेन्द्रियों के विषय—बोलना, पकड़ना, छोड़ना, सुख लेना व चलना—भी इसी तरह विचार करें तो जीवनहेतु नहीं सिद्ध होंगे एवं अंतःकरण के विषय भी जीवनहेतु नहीं यह भी निश्चित हो जाता है।) स्वतः तो भोग्य पदार्थ हानिप्रद हैं ही, दृष्टिदोष से भी ये दुष्ट रहते हैं; हम जब भोग करते हैं तब सर्प, दुर्जन, शत्रु इत्यादि कोई-न-कोई उसे स्वयं के लिये चाहते हुए उस पर दृष्टि लगाये रहते हैं जिस दृष्टि से दुष्ट वे भोग हानिकारक बन जाते हैं। कदाचित् वे सर्पादि स्वयं आक्रमण कर देते हैं तो तुरंत ही मृत्युहेतु होते हैं। (हमारे भोग्य अन्य प्राणियों को भी अभीष्ट हैं—अन्य प्राणियों में मनुष्य भी समझने चाहिये—अतः हमेशा ही भोग्य वस्तु अन्यों की प्रत्यक्ष या परोक्ष इस दृष्टि से ग्रस्त है 'यह मुझे मिले'। यह दृष्टि अर्थात् मनोभाव क्योंकि सभी की—या बहुतेरों की—है इसलिये यह शक्तिशाली स्पन्दन हो जाता जो उस वस्तु का हम भोग करें तो हमारी हानि करता है। अपने आस-पास उपस्थित भौतिक परिवेश की तरह मानस परिस्पंदों का भी जन्तु पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।) इस तरह विषयों का भोग जीवनहेतु नहीं है यह भाव है। जब जीवन के भी ये पर्याप्त निर्वाहक नहीं तब जन्म के प्रति कारण क्योंकर हो जायेंगे।।१५८-९।।

'किससे जीते हैं' का सहज उत्तर कोई दे सकता है कि श्वास-प्रश्वास से जीवित रहते हैं। इस पर पुराण का मत है—जन्तुओं के जीवन के लिये साँस लेना-छोड़ना भी कारण नहीं क्योंकि जिनमें श्वास-प्रश्वास लोकसिद्ध नहीं ऐसे देहधारी, उदाहरणार्थ स्थावर, भी जीवित रहते देखे जाते हैं। जंगम जंतु भी मूर्छा आदि की स्थिति में एक दिन से अधिक समय भी श्वासक्रिया से रहित रहकर जीवित रह जाते हैं। इसलिये साँस लेना-छोड़ना जीवन के प्रति हेतु नहीं है। ('स्थावर' से वृक्ष, लता आदि वनस्पतिवर्ग का उल्लेख है। उनकी श्वासक्रिया हमें प्रत्यक्ष नहीं होती। नाना प्रयोगों से समझ भले ही लें कि 'अवश्य साँस ले-छोड़ रहे हैं' पर यों वन-उपवन में जाकर कोई नहीं कह सकता कि कौन पौधा किस क्षण में श्वास ले रहा है, भीतर खींच रहा है, और कब छोड़ रहा है! समूचा पौधा इकट्ठे ही साँस लेता-छोड़ता भी नहीं। अतः उनका श्वासादि मानना आनुमानिक ही है एवं जिन हेतु-व्याप्ति आदि पर वह मानना निर्भर करता है उनकी पुराणकार परीक्षा करेंगे तो अन्यत्रकी तरह ये भी अनुमापक बन नहीं पायेंगे। किं च फेफड़े में वायु जाना और वहाँ से निकलना—यही लोकप्रसिद्ध श्वास-प्रश्वास है एवं वृक्षादि में—अनेक छोटे पशु कीट आदि में भी—फेफड़े नहीं होते यह प्रत्यक्ष ही है अतः श्वास-प्रश्वास का रूढ अर्थ उनमें संभव नहीं यह पुराणार्थ संगत है। अथवा स्थावरपद से पर्वतादि का ग्रहण करना चाहिये जिन्हें शास्त्र-दृष्टि से तथा लौकिक परंपराओं से जीवित तो मानते हैं पर उनमें

न च वह्निश्च रक्तं च जीवने कारणं स्मृतम्। नीरक्ताः प्राणिनः केचिज्जीवन्त्यपि निरग्नयः।।१६२
शस्त्रच्छेदेऽपि केषाञ्चिद् रोगिणां नैव दृश्यते। रुधिरं स्पर्शतोऽप्येषामौष्ण्यं नैवोपलभ्यते।।१६३
केन तेन वयं विप्रा जीवाम इति संशये। जीवनस्याऽपि चेच्छक्ता निश्चेतुं कारणं न हि।
शक्नुमः केन चोत्पत्तिकारणे निश्चयं प्रति।।१६४

क्व च संप्रतिष्ठाः ?

प्रतिष्ठामपि जानीमो न वयं स्वात्मनः क्वचित्। यदि भूमिस्थितो देहोऽस्त्यस्माकं कुत्र सा स्थिता।।१६५
यत्र सा वर्तते भूमिराधारः सोऽपि कुत्र वा। तिष्ठत्येवं न नश्चित्तमाधारेऽत्र व्यवस्थितम्।।१६६

केचिद् औदर्याग्निं केचिच्च रुधिरं जीवनहेतुं वदन्ति। तन्मतं दूषयति—न चेति द्वाभ्याम्। स्पष्टम्।।१६२।। तत्र उदाहरणमाह—शस्त्रेति। केषांचिद् रोगिणां शस्त्रेण नाडीविदारणेऽपि रुधिरं न दृश्यते। केषांचिद् रोगिणां च स्पर्शेन औष्ण्यं न लभ्यते। तथाऽपि ते जीवन्तो दृश्यन्ते यत इति शेषः।।१६३।।

एवं जीवनहेतुनिश्चयस्याऽपि दुर्लभत्वे उत्पत्तिहेतुनिश्चयस्य दुर्लभत्वं किमु वाच्यम् ! इत्याह—केनेति। वयं केन जीवाम इति संशये सति यदि जीवनस्य कारणं निश्चेतुं न शक्ताः स्म तदोत्पत्तिकारणविषयक-निश्चयं प्रति केन प्रकारेण शक्नुमः शक्ता भवेम ! न केनापीत्यर्थः।।१६४।।

वयं किमाधारका इत्यर्थकं 'क्व च सम्प्रतिष्ठा' इत्यंशं विवृणोति—प्रतिष्ठामिति चतुर्भिः। प्रतिष्ठाम् आधारमप्यात्मनः सङ्घातस्य न जानीमः। तथा हि यदि देहो भूम्याश्रितः तर्हि सा भूमिः किमाश्रयिका ? यश्च भूमेः आधारः कल्प्यते सोऽपि कुत्र तिष्ठति इति आकाङ्क्षा न शाम्यतीति। एवं चित्ताधारो देहाद्याधाराद् विलक्षण एव वाच्यः, देहविशेषेऽपि चित्तगतीनां नानाविधत्वस्य अनुभूयमानत्वाद् इत्याशयेनाह—एवं न न इति। एवं नः अस्माकं चित्तमत्र देहाधार एव व्यवस्थितम् इति न वक्तव्यम् इति योजना।।१६५-६।। किं च देहस्यापि प्राणनक्रिया नहीं मानते। पुराण में प्राणशब्द से श्वासक्रिया ही कही गयी है। कहीं कहीं जीवनशक्ति को भी प्राण कहते हैं जिसकी पाँच या दस वृत्तियाँ हैं; वह प्राण सूक्ष्मदेह का घटक है और मरने पर जीव उसे साथ ले जाता है। उसके अभिप्राय से यहाँ 'प्राण' नहीं कहा क्योंकि एक तो वह शास्त्रीय पदार्थ है और दूसरा उसका वृक्षादि या मूर्च्छितादि में निषेध असंभव है। मूर्च्छितादि से सर्दी-गर्मी आदि में मेढक आदि के शरीर भी समझ लेने चाहिये जिनमें श्वासादि प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं होते। पाँच वृत्तियाँ जिसकी हैं वह प्राण प्रत्यक्षसिद्ध नहीं क्योंकि रूपादिहीन होने से ऐन्द्रिय नहीं और स्वेतर पदार्थों के ग्रहण के लिये मन इन्द्रियों पर निर्भर रहता है। किंच वह प्राण सूक्ष्म भूतों का कार्य होने से भी प्रत्यक्षके अयोग्य है। वृत्तियों के आधार पर उसे समझा तो जा सकता है पर है वह हमेशा परोक्ष अतः शास्त्र से ही समधिगम्य। मन की भी यही दशा है ! किंतु मनसे भी ज़्यादा दुर्बोध प्राण है। लोक में तो श्वास-प्रश्वासमात्र प्राणपदार्थ प्रसिद्ध है, बाकी वृत्तियों को भी प्राण नहीं कहते तो इन सबसे अन्य किसी वृत्तिमान् द्रव्य की कोई संकल्पना लोक में—और लोकतुल्य आधुनिक देहशास्त्र में—होना असंभव है। पुराणकार स्पष्टतः शास्त्रनिरपेक्ष मान्यताओं के निरास में प्रवृत्त हैं अतः प्राण से श्वासादि क्रिया ही समझना उचित है।)।।१६०-१।।

जठराग्नि को एवं खून को भी जीवनकारण कहना नहीं बनता क्योंकि कुछ प्राणी खून व जठराग्नि के बिना भी जीवित रहते हैं। (अग्नि से ऊष्मा होती है और अनेक प्राणियों के शरीर भीतर-बाहर शीतल मिलते हैं अतः वे अग्निरहित कहे गये हैं।)।।१६२।। कुछ रोगियों को सूई आदि से छेदने पर भी खून निकलता नहीं दीखता व कुछ को छूने पर गर्मी महसूस नहीं होती, फिर भी जीवित वे रहते हैं अतः इन दोनों को जीवनहेतु नहीं मान सकते।।१६३।।

हम किससे जीवित रहते हैं—यह संशय होने पर हम जीवनकारण का भी निश्चय करने में समर्थ नहीं हैं तब उत्पत्तिकारण के बारे में निश्चय किस प्रकार कर सकेंगे!।।१६४।।

अपि निद्राभिभूतोऽयं तिष्ठन्नप्यासने स्थितः। देहः पतति तेनाऽयं भूमेरन्यत्र संस्थितः।।१६७
न च तं वयमाधारं जानीमो भूमिसंश्रयम्। जीवनस्य तथोत्पत्तेर्ज्ञास्यामः कारणं कथम्।।१६८

अधिष्ठिताः केन ?

अपि केन हृदिस्थेन भूताविष्टा इवाऽधुना। अनिच्छन्तोऽपि कर्माणि कुर्मो नानाफलान्यपि।।१६९

आधारता भूमेर्न सम्भवति, भूमिसत्त्वेऽपि पतनाऽभावलक्षणस्य आधारफलस्य अनुपलम्भाद् इत्याह—अपीति। यतः अयं देहः तिष्ठन् ऊर्ध्वस्थितः, आसने स्थित आसीनो वा निद्रादिकाले पतति स्थातुं न शक्नोति तेन ज्ञायते यद् अयं देहो भूमेः सकाशाद् अन्यस्मिन् कुत्रचिदाधारे स्थित इति।।१६७।। न च तमिति। तं देहस्य स्थितिहेतुं भूमिसंश्रयं भूमेरप्यालम्बनभूतम् आधारम् अपि यदा न जानीमः तदा जीवनादिहेतुं ज्ञातुं कथं शक्नुयाम इति।।१६८।।

केन प्रेरिताश्च सुखदुःखफलकेषु कर्मसु प्रवृत्ताः स्म तत्र व्यवस्थां निर्णयं कुर्म इति प्रतिपादकस्य उत्तरार्धस्य अर्थमाह—अपि केन इति पञ्चभिः। अस्माकं जीवानाम् अनिच्छतामपि नानाविधकर्मसु कर्तृत्वस्य हेतुः

आगे उपनिषत् में प्रश्न किया है कि 'हम कहाँ संप्रतिष्ठित हैं ?' अर्थात् हमारा आधार क्या है ? इस अंश का विवरण है : हमें अपनी प्रतिष्ठा का, आधार का भी कहीं ज्ञान नहीं है अर्थात् हम किसी ऐसी वस्तु से परिचित नहीं जो हमारे समेत सारे संसार को स्वयं पर स्थित रखती हो। यदि कहें कि हमारा देह भूमि पर स्थित है अतः वही आधार मान लेनी चाहिये तो पुनः शंका होती है कि वह भूमि कहाँ, किस पर स्थित है ? और भूमि का यदि कोई आधार है तो वह फिर किस पर स्थित है ? यों प्रश्न चलता ही रहेगा। स्थूलदेह का आधार पृथ्वी कह भी दी जाये तो चित्त का आधार किसे कहेंगे ? देह में भेद न आने पर भी चित्त की गतियाँ नाना प्रकार की होती हैं यह अनुभवसिद्ध है; शरीर से आसन पर बैठे रहते हैं और चित्त कहीं व्यवहित काल या देश में पहुँच जाता है, कहते भी हैं 'मेरा चित्त अन्यत्र था'; अतः उसका भी कोई आधार बताना पड़ेगा जो स्थूल के आधार से अलग ही होगा। ऐसा कोई आधार मिलता है नहीं।।१६५-६।।

इतना ही नहीं, भूमि को देह का आधार कहना भी कठिन है ! आधार होने का यही लाभ होता है कि गिरना न पड़े और भूमि बनी रहने पर भी शरीर गिर पड़ता है अतः वह आधार कैसे मानी जाये ! क्योंकि यह शरीर चाहे खड़ा हो या आसन पर बैठा हो, नींद मूर्छा आदि आ जाने पर यह गिर पड़ता है जिससे निश्चित हो जाता है कि भूमि की अपेक्षा किसी अन्य ही आधार पर यह टिका है। भूमि का भी आलम्बन वह जो आधार है उसे हम नहीं जान पा रहे तो उत्पत्ति व जीवन के कारण को कैसे जान पायेंगे ? (यहाँ संप्रतिष्ठा का प्रश्न प्रलयकालिक स्थिति के बारे में है अर्थात् प्रलय में हम कहाँ रहते हैं यह प्रश्न है ऐसा कुछ व्याख्याकारों का मत है। मोक्षदशा में कहाँ प्रतिष्ठित रहेंगे ?—यह भी इस प्रश्न का भाव किसी ने माना है। 'कहाँ स्थित हैं' की जगह 'कहाँ सम्-प्रति-स्थित हैं' यों सोपसर्ग कथन से सत्ताविषयक प्रश्न है—हमारी सत्ता किस पर निर्भर करती है—यह भाव है ऐसा भी व्याख्याताओं को अभिमत है। पुराण में केवल अधिकरण का प्रश्न माना है क्योंकि विचारप्रयोजक के रूप में उतना ही पर्याप्त है और स्वभावतः यह प्रश्न लोगों के मन में उठता भी है। प्रलय, मोक्ष आदि शास्त्रीय परिस्थितियाँ तो जो समझते हैं वे उनमें जो आधार बनता है उसे भी जानते हैं एवं 'हमारी सत्ता अन्य पर स्थित है' यही सामान्यतः जब कोई नहीं जानता तब 'वह अन्य कौन है जिस पर स्थित है' ऐसा विशेष प्रश्न संगत होना कठिन है।)।।१६७-८।।

उपनिषत् के मंत्र के उत्तरार्द्ध में अंतिम प्रश्न किया है 'सुख-दुःख देने वाले कर्मों में हम किस से प्रेरित होकर प्रवृत्त होते हैं ?' इसे पुराण में बताते हैं—जैसे भूत आदि का आवेश हो जाने पर व्यक्ति का स्वयं पर नियंत्रण नहीं रह जाता ऐसे हम संसारयात्रा के समय विविध फलों वाले कर्म न चाहते हुए भी करते हैं, हृदय में स्थित वह कौन

अपि कुर्मः सुखार्थानि कर्माण्यत्र तपोधनाः। दुःखदानि कुतस्तानि भवन्त्यस्माकमर्थिनाम्।।१७०

दुःखदेऽपि कृते क्वाऽपि कर्मण्यस्ति सुखं द्विजाः। सुखदुःखे ततोऽस्माकं स्वतन्त्रः[1] कोऽपि यच्छति।। प्रविष्टो हृदयाम्भोजे तं न विद्मो वयं द्विजाः।।१७१

यदैतमपि जानीमः सुहृदं हृदयस्थितम्। सुखदुःखप्रदं नैव जानीमः केन वा परम्।।
आधारे जीवने तद्वज्जनौ हेतुमलक्षितम्।।१७२

ततो मीमांस्यतां विप्राः कारणं जगतोऽत्र किम्। वयं दैवाद् इहायाताः सर्व एव महाधियः।।१७३

क इत्यर्थः।।१६९।। किं च नानाफलानां भोक्तृत्वस्य च हेतुः कः ? न च तत्र वयं स्वतन्त्राः; सुखार्थमर्थानुष्ठितकर्मणो विपरीतरूपस्य फलस्य दर्शनाद् इत्याह—अपि कुर्म इति। वयं सुखार्थं कर्माणि कानिचित् कुर्मः, तानि तु दुःखदानि कुतो भवन्ति अर्थिनां सुखमिच्छतां न इत्यर्थः।।१७०।। दुःखदेऽपीति। कदाचित्तु दुःखदत्वेनाऽभिमते कर्मणि कृतेऽपि सुखं भवति, यथाऽपथ्यसेवनाद् रोगनिवृत्तिरित्यादि। तस्मादेवं ज्ञायते यद् अस्माकं हृदतः कश्चित् कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः प्रेरको वर्तते परन्तु तं न जानीम इति।।१७१।। यदैतमिति। आधारपदेन आधारकार्यं धारणं लक्ष्यते। तथा च एतं कर्मसु प्रेरकं सुखादिप्रदं च यदा नैव जानीमः तदा परं धारणजीवनादौ हेतुं केन जानीमः। इति योजना।।१७२।।

ततः श्रुतिगतव्यवस्थापदोक्तो निर्णयो विचारेण कार्य इत्याह—तत इति। स्पष्टम्।।१७३।।

है जो भूत-सा हम पर चढ़कर हमसे ऐसे कार्य करा लेता है जिन्हें हम नहीं करना चाहते ? (केवल इच्छा ही नहीं, कई बार हम ऐसे कार्य कर जाते हैं जिनके लिये हममें सामर्थ्य भी साधारणतः नहीं होती, मौके पर जो सूझ तुरंत उपस्थित हो जाती है उसके संस्कार भी असंभावित लगते हैं, बाद में खुद भी आश्चर्य होता है कि हमने ऐसा कर कैसे लिया! अतः हमसे करा लेने वाला कोई है अवश्य; वह कौन है ?)।।१६९।।

हमारे कर्तृत्व का कौन हेतु है इतना ही विचारणीय नहीं, भोक्तृत्व का हेतु कौन है यह भी पता लगाना चाहिये। भोक्तृत्व में (भोग में) हम स्वतंत्र तो हैं नहीं। हे तपोधनो ! हम संसार में कई कर्म सुख के प्रयोजन से करते हैं और वे हमारे लिये दुःखप्रद हो जाते हैं, यदि हम भोक्तृत्व में स्वतंत्र हों तो ऐसा क्यों सम्भव होगा ?।।१७०।। कभी ऐसा भी होता है कि दुःखप्रद कर्म करने पर भी हमें उससे सुख मिल जाता है। (जैसे 'अपथ्य है' ऐसा जानने पर भी परिस्थितिवश कुछ खा लेते हैं और वही औषध का काम कर जाता है।) इसलिये निश्चित है कि हमारे हृदयकमल में घुसा हुआ कोई है जो स्वतंत्र रहकर हमें सुख-दुःख देता है, हमारे कर्तृत्व-भोक्तृत्व दोनों का प्रेरक है परन्तु हम उसे जानते नहीं हैं।।१७१।। हृदय में स्थित व हमें सुख-दुःख देने वाले सुहृद् को भी जब हम नहीं जानते तब और कुछ कैसे जानेंगे? हमारे आधार का, जीवन का, जन्म का हेतु जो न केवल इंद्रियों से अतीत है वरन् उसका अनुमान किया जा सके ऐसे चिह्नों से भी रहित है, उसे हम जान सकें इसकी क्या संभावना!।।१७२।।

हे विप्रो ! इसलिये आप लोग इस विषय पर आदरपूर्वक विचार कीजिये कि जगत् का कारण क्या है ? यह सौभाग्य की बात है कि हम सभी महान् बुद्धिशाली लोग यहाँ एकत्र हुए हैं, इस मौके का लाभ उठाकर इस बारे में निश्चय कर लेना चाहिये। (श्रोता ब्रह्मविद् अर्थात् वेदज्ञ होने से एवं वक्ता परमात्मदर्शी होने से महान् बुद्धिशाली हैं अत एव निर्णयपर्यन्त विचार संभव है। विचार में आदरपूर्वकता का अर्थ है कि एक तो विषय की महत्ता समझी जाये, अन्य चर्चायें छोड़कर इसी के बारे में सोचा जाये। फिर प्रमाण निर्धारित कर विचार करें, प्रामाणिक युक्तियुक्त चिंतन करें। और विचार के प्रति भी आदर हो कि इस विचार से जो निर्णय निकलेगा उस पर अपने मन-बुद्धि को समाहित

१. एतच्चानवस्थाभियाऽवगन्तव्यम्।

इत्युक्त्वा त इमान् पक्षान् ब्राह्मणानां समास्थिताः। ब्रह्मविज्ञानसम्पन्ना निराकार्यानथोचिरे।।१७४

कालकारणवादः

ब्राह्मणाः काल इत्येव केचित् कारणमास्थिताः। कालतो जायते सर्वं पञ्चभूतादिकं जगत्।।
सर्वं तिष्ठति काले च लीयते काल आगते।।१७५

एवं विषयांशशोधनपरत्वेन प्रथमो मन्त्रो व्याख्यातः। अथ नानापक्षोपन्यासमुखेन संशयपूर्वपक्षयोः निरूपणपरत्वेन 'काल' इत्यादेः द्वितीयमन्त्रस्य[1] अर्थं पञ्चसप्ततिश्लोकैः निरूपयंस्तत्रैकेन अवतारयति—इत्युक्त्वेति। निराकार्यान् खण्डनीयान् पक्षान् अथ अनन्तरेण द्वितीयमन्त्रेण ऊचिरे उक्तवन्तः।।१७४।।

तत्र कालस्य स्वतन्त्रकारणतावादिनां ज्योतिर्विदां पक्षं प्रपंचयति—ब्राह्मणा इति त्रयस्त्रिंशच्छ्लोकैः। केचिद् ब्राह्मणाः काल एव कारणम् इति पक्षम् आस्थिताः प्रतिज्ञातवन्तः। तमभिनयति—काल इत्यादिना।।१७५।।

कर लेंगे, उससे डिगेंगे नहीं। अत एव निर्णय पर पहुँचने तक विचार किया जा सकता है। श्रुति में तो कहा है कि उक्त प्रश्नों की व्यवस्था का चिन्तन करें। अभिप्राय है कि उक्त प्रश्नों के ऐसे उत्तर खोजें जो हमारे अनुभव के अनुकूल हों, परस्पर संवादी हों और संसार की अन्य समस्याओं के समाधान में उपयोगी हों। किं च उत्तर तक पहुँचने के लिये केवल बौद्धिक आयास ही नहीं, जो कोई भी यत्न आवश्यक हो वह करें और निर्णय पर पहुँचें। ब्रह्मविदों का संमेलन दुर्लभ योग होने से इसे सौभाग्य की बात कहा है।)।।१७३।। इस प्रकार उपनिषत् के प्रथम मंत्र की व्याख्या पूरी हुई।

द्वितीयमंत्र में उन वस्तुओं का उल्लेख है जो जगत् के कारण, व्यवस्थापक आदि रूप से लोकमानस में या कुछ वादियों में प्रसिद्ध हैं और उनकी वास्तविक कारणता का निषेध मंत्र में प्रतिज्ञात है। इसे पिचहत्तर श्लोकों से समझायेंगे।

उपस्थित ब्रह्मविदों के सामने विचारयोग्य प्रश्न रखने के बाद ब्राह्मणों की उस महान् सभा में उपस्थित परमात्मतत्त्व के पुष्ट अनुभव वाले कृपालुओं ने आगे बताये जाने वाले ये विकल्प भी सभा में रखे जो सदोष होने से अमान्य हैं। (वैदिक संप्रदाय मानव की बुद्धि को सर्वोच्च आदर देता है। धर्म एवं धर्मानुसारी दर्शन की विश्व में कोई एक भी अन्य ऐसी परम्परा नहीं है जो मानवीय विचारशक्ति को न केवल संमान दे वरन् उसे परिष्कार का न्यौता भी दे। जहाँ प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण की किसी तरह की गति नहीं उस धर्म के बारे में तर्क से अनुसंधान का आग्रह सनातन से अन्य कोई संप्रदाय नहीं करता, शिष्टाचार की प्रधानता से धर्म को सदा काल व देश के अनुरूप बना रहने नहीं देता, 'आत्मा को प्रिय धर्म है' यों हर व्यक्ति को निर्णायक बनाने की संकल्पना ही नहीं रखता। वैदिक दर्शन भी विवेक पर आधारित है, स्वयं श्रुति ने 'परीक्ष्य' परीक्षण करने की आज्ञा दी है। अतः यहाँ जगज्जन्मादिहेतु के विषय में उपस्थित सभी पक्षों पर विचार है। काल आदि का परिगणन नहीं है, कारणादि रूप से जो कोई भी संभावित हो उसका विश्लेषण कर लेना चाहिये ताकि इस बारे में संशय की संभावना भी न रहे कि अद्वितीय सच्चिदानंद से अतिरिक्त कोई जगत्कारण नहीं है। श्रुति ने उपस्थापित पक्षों की अमान्यता एक नकार से घोषित की है, यहाँ पुराणकर उस निषेध को विविधता से उपपन्न करेंगे।)।।१७४।।

कुछ ब्राह्मण यह पक्ष स्थापित करते हैं कि काल ही कारण है। उनका कहना है कि पाँचों महाभूत और बाकी सारा जगत् भी काल से पैदा होता है, सभी कुछ काल में ही रहता है और काल आने पर ही लीन भी होता है। (एवं च जन्म-स्थिति-भंग तीनों के प्रति काल ही कारण है। यहाँ साधारण लोगों की मान्यता के साथ काल को ही स्वतन्त्र कारण स्वीकारने वाले ज्योतिर्वेत्ताओं के एवं आधुनिक वैज्ञानिकों के कालकारणवाद का भी ग्रहण कर लेना चाहिये तथा इस पक्ष के दोषों का भी अनुवाद आधुनिक प्रकार से समझ लेना चाहिये क्योंकि वैज्ञानिक भी काल को सर्वनिरपेक्ष

१. 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्। संयोग एषां न त्वात्मभावाद् आत्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः।।'

कालतः स्वर्गमागच्छेत् कालतो नरकं व्रजेत्। कालतश्चाऽखिलान् लोकान् भूरादींश्चापि देहभाक्।।१७६

कालेनैवोच्चतां गच्छेत् कालादेव च नीचताम्। कालेन मध्यमो भूयाद् देहधारी जनोऽखिलः।।१७७

सम्पदो विपदश्चापि कालादेष समाप्नुयात्। कालतो विषयान् सर्वान् सुखदुःखप्रदानपि।।१७८

विद्या नानाविधाः कालाद् भोगमोक्षसुखप्रदाः। कालतः प्राप्नुयाद् दारान् नवयौवनशालिनः।।१७९

पुत्रान् नानागुणोपेतान् बान्धवांश्च सहस्रशः। सुहृदोऽपि च मध्यस्थान् वैरिणो द्वेषकारिणः।।१८०

उपकारापकाराणां कर्तॄन् जन्तूंश्च कालतः। कालतो लभते जन्म बाल्ययौवनवार्द्धकम्।।१८१

मरणं च तथा कालात् पितरं मातरं पुनः। सहोदराननेकांश्च स्त्रीपुंसवपुराश्रितान्।।१८२

गर्भवासं तथा कालाद् गर्भान्निःसरणं पुनः। ऐश्वर्यं विविधं कालात् तद्भ्रंशमपि कालतः।।१८३

कालाद् ऋतुमती नारी गर्भं कालाच्च गच्छति। वातवर्षातपाद्याश्च जायन्ते कालतः सदा।।१८४

किं बहूक्तेन विप्रेन्द्राः! कालात् सर्वस्य सम्भवः। जायमानं ततः सर्वं कालकार्यमुदीरितम्।।१८५

भावान्तरं यदा भूयात् कारणं कालवर्जितम्। कारणत्वं तदा तस्य भवताद् न निवार्यते।।१८६

कारणेषु च सर्वेषु स्थितेष्वेषोऽप्यपेक्ष्यते। यदा तदा कथं कालः कारणं न भविष्यति।।१८७

कालतः स्वर्गम् इत्याद्या दश श्लोका निगदव्याख्याताः।।१७६-८५।।

तत्रोपपत्तिमपि प्रपंचयति—भावान्तरमित्यादिना। यदि किञ्चिद् भावान्तरं कालवर्जितं कालनिरपेक्षं कारणं कार्यनियतपूर्ववर्ति स्यात् तदा तस्य एव कारणत्वं भवताद् अस्तु, न निवारयामः। परन्तु तादृशं भावान्तरं नास्ति यत एष कालः सर्वेषु कारणेषु कारणत्वाभिमतेषु स्थितेष्वपि संनिहितेष्वपि अपेक्ष्यते, अतः अनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकशालित्वात् काल एव कारणम्। इति द्वयोरर्थः।।१८६-७।।अन्यानि कारणत्वाभिमतानि

चिन्मात्र नहीं मानते जिससे उनका पक्ष भी अग्राह्य ही है।)।।१७५।। देहधारी काल से ही स्वर्ग, नरक व भूरादि समस्त लोकों में भ्रमण करता रहता है।।१७६।। सभी देहधारी कालवश ही ऊँची, नीची व मध्यम परिस्थितियाँ प्राप्त करते हैं।।१७७।। यह जन्तु काल से ही सम्पत्ति, विपत्ति व सुखद-दुःखद सभी विषय पाता है।।१७८।। भोग से या मोक्ष से सुख देने वाली नाना प्रकार की विद्यायें तथा नवयुवती पत्नियाँ काल से ही मिलती है। (कुछ ज्ञान ऐसे भोगों की शिक्षा देते हैं जो सुखद हों तथा अन्य शास्त्रादि समझाते हैं कि मोक्ष से ही सुख होगा। प्रवृत्तिविद्या हो या निवृत्ति-विद्या, इनका ज्ञान काल से ही होता है अन्यथा इकट्ठे ही पढ़ने वाले कुशाग्र छात्र एक-साथ ही क्यों नहीं समान निश्चय वाले बन जाते ? यही पत्नी आदि के बारे में समझना चाहिये।)।।१७९।। अनेक गुणों से युक्त पुत्र, हज़ारों बंधु, मित्र, सामान्य-परिचित, द्वेषी शत्रु, उपकार-अपकार करने वाले जन्तु—सभी काल से उपलब्ध होते हैं। जन्म, बचपना, जवानी, बुढ़ापा, मौत—सभी काल से मिलते हैं। पिता, माता, अनेक भाई-बहन कालवश प्राप्त होते हैं।।१८०-२।। गर्भ में रहना, वहाँ से निकलना, विविध ऐश्वर्य और ऐश्वर्यहीनता—सब में कारण काल ही है।।१८३।। नारी कालवश ही रजोवती होती है व काल से ही गर्भ धारण करती है। आँधी-तूफान, बर्सात, धूप आदि हमेशा काल से ही उत्पन्न होते हैं।।१८४।। हे विप्रेंद्रो ! ज़्यादा क्या कहें ! सभी का सम्यक् जन्मादि काल से ही है इसीसे जो कुछ भी पैदा होता है उसे 'काल का कार्य' कहा जाता है।।१८५।।

व्यभिचारीणि सर्वत्र कारणानि परस्परम्। कार्येष्वव्यभिचार्येकः कालस्तेनाऽत्र कारणम्।।१८८

यस्मिन् सत्येव यद् भूयाद् न भवेदसतीह तत्। कारणं प्रोच्यते सर्वैः कालस्तादृग्घि लभ्यते।।१८९

तन्तुभ्यस्तु पटो यद्वत् जायते च मृदो घटः। बीजेभ्यस्त्वङ्कुरस्त्वत्र भूमिः सर्वत्र कारणम्।।
सर्वत्रानुगतत्वेन हेतुना पार्थिवेष्विह।।१९०

एवं सर्वत्र कार्येषु नानाकारणजेष्वपि। कालः सर्वगतः सर्वकारणं परिकीर्तितः।।१९१

कालेन रहितं नैव कारणं कार्यजन्मनि। समर्थं दृश्यते नापि कार्यं स्वस्य जनौ तथा।।१९२

व्यभिचारीणीति नियतपूर्ववर्तीनि न भवन्ति, कालस्तु तथा भवति, इत्यतः काल एव कारणमित्याह—व्यभिचारीणीति।।१८८।। अनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकशालित्वरूपं कारणलक्षणं काले योजयति—यस्मिन्निति। यस्मिन् भावे सति पूर्वं विद्यमान एव यद् भूयात् जायेत, असति च अविद्यमाने तु न जायेत, तत् कारणम् उच्यते। कालः तु तादृग् उक्तकारणलक्षणवान् लभ्यते दृश्यत इत्यर्थः।।१८९।। किं च कालस्य सर्वत्र अनुगतत्वात् तस्यैव लाघवात् कारणत्वमस्तु, इतरेषां सहकारित्वमात्रम् इति दर्शयन्; अनुगतस्य कारणतायां दृष्टान्तमाह—तन्तुभ्य इति। यथा पटघटाङ्कुराणां तन्त्वादिरूपाणि विशेषकारणानि उपलभ्यन्ते तथापि सर्वेषु पार्थिवेषु कार्येषु भूमिः एव कारणत्वेन स्वी क्रियते, अनुगतत्वाद्; विशेषास्तु सहकारित्वेनैव अङ्गी क्रियन्त इत्यर्थः।।१९०।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवं सर्वत्रेति। स्पष्टम्।।१९१।।

कालस्य सर्वत्र अपेक्षितत्वरूपं सर्वत्र अनुगतत्वमेव स्फुटयति—कालेनेति। कार्यम् अपि स्वोत्पत्तौ तथा कालमनपेक्ष्य समर्थं न इति चतुर्थपादार्थः।।१९२।। यथा चोत्पत्तौ कालनिरपेक्षं कारणं न लभ्यते तथा

काल कारण है यह बात युक्तिसंगत भी है। यदि कोई अन्य पदार्थ काल से निरपेक्ष होकर कारण बनता हो तो वह कारण है इस बात का हम निषेध नहीं कर सकते लेकिन ऐसा कोई पदार्थ मिलता है नहीं क्योंकि अन्य जो कारण कहलाने वाले पदार्थ हैं उनके रहते भी काल की ज़रूरत बनी ही रहती है ! इस परिस्थिति में यह कैसे हो सकता है कि काल ही कारण न हो ? (कार्यकारणता क्योंकि कालापेक्ष बुद्धिविषयता है इसलिये काल का संदर्भ हट जाने पर कार्यकारणभाव का कोई मायने ही रह नहीं जाता। पूर्ववर्ती हो तभी कारण समझा जाये और पूर्ववर्तिता कालदृष्ट्या ही होगी। इस प्रकार अवश्य अपेक्षित है तथा इसके रहते ही कार्य होता है, इसके बिना या इसका संदर्भ हटा देने पर कार्य—अर्थात् कार्यता रूप धर्म—हो नहीं सकता अतः काल ही कारण होना युक्तिसंगत है।)।।१८६-७।। अन्य जो कारण माने जाते हैं वे हर कार्य के प्रति कारण नहीं होते जबकि सबके प्रति एक जैसा कारण बनने वाला काल है अतः वही विचारशीलों के मत में कारण माना जाने योग्य है। (तत्तत्कार्य के लिये तत्तत्कारण मानने वाले भी कार्यमात्र के लिये 'जन्यानां जनकः कालः' नियम से काल को कारण कहते ही हैं। विभिन्नों को कारण मानने की अपेक्षा एक अनुगत को कारण मानना तर्कसंगत है।)।।१८८।। जो वस्तु पूर्व में होने पर ही कार्य पैदा हो, वह वस्तु पूर्व में न रहे तो कार्य पैदा न हो, वही वस्तु कारण कही जाती है। यह लक्षण काल में है ही अतः वही कारण है।।१८९।। सर्वत्र अनुस्यूत काल को कारण तथा अन्यों को सहकारी मानना चाहिये। जैसे धागों से कपड़ा बनता है, मिट्टी से घड़ा बनता है, बीजों से अंकुर निकलते हैं, इस प्रकार धागे आदि विशेष कारण दीखने पर भी सभी पार्थिव कार्यों में भूमि (पृथ्वी) को ही कारण स्वीकारा जाता है क्योंकि वह इन सभी कारणों में (एवं कार्यों में) अनुगत है इसी प्रकार नाना कारणों से उपजने पर भी सभी कार्यों के प्रति काल ही कारण है क्योंकि वही सर्वगत है, कारण कहलाने वाले सभी में (और कार्य कहलाने वालों में भी) काल अनुस्यूत है ही। इससे काल ही सर्वकारण है। तत्तत् विशेष—जैसे तंतु आदि—तो सहकारी ही हैं।।१९०-१।।

एवं स्थितिविनाशेषु कालेन रहितं न हि। कारणं वापि कार्यं वा दृश्यते केनचित् क्वचित्।।१६३
ततोऽत्र जगदुत्पत्तौ यदि स्फुरणबोधतः। प्रधानं चाऽपरं वाऽपि कारणं तदकारणम्।।१६४
कालयोगाद्धि सामर्थ्यं तेषां नैव स्वतो यतः। कालस्ततोऽत्र विज्ञेयः कारणं नापरं ततः।।१६५

स्थित्यादिषु अपीत्याह—एवमिति।।१६३।।

फलितमाह—तत इति द्वाभ्याम्। तत उक्तयुक्त्या कालस्यैव कारणतौचित्याद् यदि किंचित् कारणान्तरं प्रधानरूपम्, अपरं परमाण्वादिरूपं वा वादिभिः कल्प्यते, तदकारणं बोध्यमिति सम्बन्धः। कारणान्तरकल्पनायां हेतुमाह—स्फुरणेति। स्फुरणं प्रत्ययरूपं ज्ञानम्, बोधः तु परोक्षरूपम्, ताभ्यामित्यर्थः। किञ्चिद्धि प्रत्यक्षेण अन्वयव्यतिरेकौ गृहीत्वा कारणं कल्प्यते, यथा पार्थिवानां पृथिवी। किंचित्तु परोक्षज्ञानेन सामान्यतो दृष्टाख्येन, यथा प्रधानादीति।।१६४।। कालयोगादिति। तेषां कल्पितकारणान्तराणां यतः कालसम्बन्धेनैव कार्यजननसामर्थ्यं ततः काल एव हेतुरिति।।१६५।।

कारण माना जाने वाला कोई भी पदार्थ काल से रहित होकर कार्योत्पादन में समर्थ नहीं और न कार्य ही काल से रहित होकर अपने जन्म में समर्थ है। (इसमें हेतु बता ही चुके कि कालिक पूर्व-परता ही हेतु-फलभाव है। 'काल से रहित' अर्थात् काल को नज़रन्दाज़ कर के; स्वरूपतः तो प्रकृत वादी कालराहित्य मानेगा नहीं और सामान्य लोकानुभव में भी निष्काल कुछ मिलेगा नहीं।)।।१६२।।

जैसे उत्पत्ति में कोई कारण काल से निरपेक्ष नहीं मिलता वैसे स्थिति और विनाश में भी कहीं किसी को कोई कारण या कार्य ऐसा नहीं मिलता जो कालसापेक्ष न हो। (अर्थात् स्थितिहेतु व नाशहेतु जो कुछ भी कहा-समझा जाता है वह कालापेक्ष है तथा स्थित व नष्ट कही-समझी जाने वाली चीजें भी कालसापेक्ष ही हैं।)।।१६३।। हो सकता है कि प्रत्यक्ष ही नियमतः पौर्वापर्य देखकर और युक्ति से उसे उपपन्न समझकर अथवा अनुमानादिके सहारे ही जगत् की उत्पत्ति में प्रधान (प्रकृति) आदि अन्य कुछ कारण मान लिया जाये लेकिन पूर्वोक्त विचार से निश्चित है कि वह कुछ भी कारण है नहीं। प्रधान आदि जो भी कारण समझे जायें उनकी कार्योत्पादन की सामर्थ्य क्योंकि काल के संबंध से ही है इसलिये संसारकारण की जिज्ञासा होने पर काल को ही कारण समझना चाहिये, उससे अन्य किसी को नहीं।।१६४-५।। यहाँ तक कालकारणवादी ने अपना पक्ष रखा।

जैसे ज्योतिरादिवेत्ता काल को परम कारण मानते हैं वैसे तार्किक (कणादानुयायी) परमाणुओं को। कालकी कारणता का पक्षधर ही तार्किकों के मत की आलोचना करते हुए अनित्य होने से परमाणु अंतिम कारण नहीं यह सिद्ध करने के लिये उन्हें अनित्य बताते हुए अणुवाद की परीक्षा करता है—महाभूतात्मक होने से मिट्टी आदि की तरह ही परमाणु नित्य नहीं हो सकते। मध्यम माप होने पर ही अनित्यता होती है जिससे कार्यभूत मिट्टी अनित्य है पर जो मध्यम माप वाले नहीं वे परमाणु क्यों अनित्य होंगे ? इसका उत्तर है कि शब्द आदि गुण बिना मध्यम माप वाले रहते हुए ही अनित्य देखे जाते हैं जिससे यह नियम अमान्य है कि अनित्य वही होगा जो मध्यम माप वाला है। (यह समझ लेना चाहिये कि तार्किक ने तीन माप-श्रेणियाँ मान रखी हैं—प्रथम है अणु-माप; वह माप जिससे और छोटा माप नहीं हो सकता। यह कोई इंच-मीटर में कहा जाने वाला नहीं है; पारिभाषिक है अतः तार्किक संमत अणु आदि का ही यह माप माना जाता है। द्वितीय है परममहत्-माप; यह सर्वाधिक बड़ा माप है जो अतीन्द्रिय व नित्य है और केवल आकाश, काल, दिक्, आत्मा—चार विभु द्रव्यों का ही माप है। यह भी मील-किलोमीटर में नहीं समझा जा सकता, पारिभाषिक ही है। इन दो से अतिरिक्त जो माप होते हैं—जिन्हें व्यवहारभूमि में नापा जा सकता है—वे मध्यम-माप तृतीयश्रेणि में आते हैं। तार्किक जैसे विभु द्रव्य नित्य मानता है ऐसे अणु द्रव्य भी, अतः वह अनित्यता और मध्यम माप में संबंध देखता है। हमारे व्यवहार में आती मिट्टी मध्यम-माप की है ऐसा तार्किक मानता है। यद्यपि लोक में

अणुपरीक्षा

अपि नैवाणवो नित्या भूतत्वाद्धि मृदादिवत्। न च मध्यममानस्य योगोऽनित्यत्वकारणम्।।१९६

असर्वगतमानत्वेऽसत्त्वं सर्वस्य वस्तुतः[1]। भूतात्मकस्य केनाऽयं पक्षपातस्तवाणुषु।।१९७

न चावयवहीनत्वं नित्यत्वे कारणं मतम्। क्रियागुणादयो यस्माद् अनित्याः सन्ति तादृशाः।।१९८

अत्र तार्किकमतसिद्धं परमाणूनां कारणत्वमाशङ्क्य तेषां कारणत्वम् अनित्यत्वादेव न सम्भवतीति परिहारं सूचयंस्तदनित्यत्वं साधयति—अपि नैवेति। पृथिवीपरमाणवो न नित्याः पृथिवीत्वाद् मृत्तिकावद् इत्यादयः प्रयोगाः। ननु मध्यममानम् अनित्यत्वस्य व्यापकं, तदभावे कथमणूनाम् अनित्यत्वम् इति चेत् ? न। शब्दादिषु गुणेषु मध्यमपरिमाणाभावेऽपि अनित्यत्वदर्शनेन मध्यमपरिमाणस्य अनित्यत्वाऽव्यापकत्वाद् इत्याशयेनाह—न चेति। अणुपरिमाण-परममहत्परिमाणभिन्नपरिमाणरूपस्य मध्यममानस्य योगः सम्बन्धः अपि अनित्यत्वस्य कारणं प्रयोजको न भवतीत्यर्थः।।१९६।। लाघवेन विभुभिन्नत्वमेव अनित्यत्वस्य प्रयोजकम्। तद्बलाच्च परमाणूनामनित्यत्वमभ्युपेयमित्याह—असर्वगतेति। सर्वस्य भूतात्मकस्य वस्तुनः असर्वगतमानत्वे विभुभिन्नत्वे सति असत्त्वम् अनित्यत्वं दृष्टम्। एवं सत्यपि तव परमाणुषु कः पक्षपातः यद् मूर्तानामपि नित्यत्वं मन्यस इत्यर्थः।१९७।।

ननु परमाणवो नित्याः स्युः निरवयवत्वाद् इति सत्प्रतिपक्षमाशङ्क्य निरवयवत्वस्य गुणादिषु व्यभिचारित्वेन हेतुत्वाऽयोग्यतामाह—न चावयवेति। निरवयवत्वं नित्यत्वसाधकं न भवति यतो गुणादयः तादृशा निरवयवा अपि अनित्या दृश्यन्त इत्यर्थः।।१९८।। अथ निरवयवत्वमात्रं न हेतुः किन्तु निरवयवत्वे सति द्रव्यत्वम्, तस्य च

'बड़ी मिट्टी' 'छोटी मिट्टी' यों व्यवहार नहीं होता तथापि व्यवहार्य मिट्टी के कण अवश्य होते हैं जिनके बारे में बड़ा-छोटा व्यवहार हो जाता है। ऐसी मिट्टी अनित्य होने पर भी अणुभूत मिट्टी नित्य है अर्थात् मिट्टी के अणु नित्य हैं यह तार्किक की सोच है। कालवादी अनित्यता का माप से कोई संबंध नहीं देखता। अनित्य तो शब्दादि हैं ही जबकि वे माप वाले नहीं क्योंकि तार्किक द्रव्यों को ही माप वाला मानता है व शब्दादि गुण हैं न कि द्रव्य। अतः मध्यम माप का न होना अनित्यता से बचा नहीं सकता यह कालवादी का तात्पर्य है।)।।१९६।। इस लिये यही स्वीकारना चाहिये कि सभी भूतात्मक (भावात्मक या महाभूतरूप) वस्तुएँ जो सर्वगत माप वाली नहीं हैं—परममहत् या विभु नाम पारिभाषिक माप वाली नहीं हैं—वे अनित्य हुआ करती हैं। हे तार्किक ! अणुओं पर तुम्हारा पक्षपात क्यों है जो तुम उन्हें नित्य मानते हो ?।।१९७।।

तार्किक अपनी स्थापना में युक्ति दे सकता है कि जो निरवयव होता है वह नित्य होता है अतः निरवयव परमाणु नित्य मानने चाहिये; किंतु निरवयव नित्य ही हो यह नियम नहीं क्योंकि क्रिया, गुण आदि निरवयव होते हुए ही अनित्य हैं। अतः इस युक्ति से अणुनित्यता समर्थनीय नहीं है।।१९८।। काणाद कहेगा कि निरवयव द्रव्य अवश्य नित्य होता है, क्रियादि द्रव्य नहीं अतः उनकी अनित्यता से इस नियम का निषेध नहीं हो सकता। ('द्रव्य' भी तार्किक का पारिभाषिक संकेत है; नौ चीज़ों का नाम उसने द्रव्य रख छोड़ा है—पाँच महाभूत, दिक्, काल, आत्मा व मन।) किंतु कालवादी कहता है कि 'जो मूर्त होता है वह अनित्य होता है' इस नियम से अणुओं को अनित्य कहने में कोई दोष न होने से तार्किक अणुनित्यता का निश्चय तो नहीं ही कर सकता। (अणु, नित्यता आदि आनुमानिक पदार्थ हैं और अनुमान की निश्चायकशक्ति में रुकावट डालने के अनेक उपाय हैं ! एक उपाय है कि जिस अनुमान को निश्चायक नहीं बनने देना हो उसके साध्य से विपरीत साध्य को सिद्ध करने वाला अन्य अनुमान उपस्थित कर देना। यों दोनों अनुमान एक-दूसरे की निश्चायक शक्ति को प्रतिबद्ध कर देंगे और जब तक दोनों में से एक अनुमान किसी तरह सदोष न

१. वस्तुन इति टीकापाठः।

न चावयवहीनत्वे सति द्रव्यत्वसङ्गमात्। नित्यत्वं तेषु यस्मात् स्याद् मूर्तत्वं च विपर्यये।।१९९
विरोधादनयोर्नैकं निर्णेतुं शक्यते त्वया। विभक्तत्वादनित्यत्वम् अस्माभिरवधार्यते।।२००
अप्यष्टदिक्समाश्लिष्टाः कुतोऽवयववर्जिताः। अणवो योगिनो यस्मात् सर्वे सावयवा मताः।।२०१

न कुत्रापि व्यभिचार इति चेत् ? तथापि अस्माभिः प्रयुक्तेन मूर्तत्वरूपहेतुनाऽनित्यत्वसाधकेन प्रतिरोधात् तव निश्चयो न सेत्स्यति, 'सत्प्रतिपक्षस्थले परस्परप्रतिबन्धाद् एकेनापि अनुमितिरूपो निश्चयो न जन्यत' इति सिद्धान्ताद् इत्याशयेनाह—न चावयवहीनत्वे सतीति। निरवयवत्वे सति द्रव्यत्वस्य हेतोः सङ्गमात् सम्बन्धाद् नित्यत्वं न सिद्ध्यति यतोऽस्मत्प्रयुक्तो मूर्तत्वरूपो हेतुः विपर्यये अनित्यत्वे साधनक्षमो वर्तते। तथा सति तव निर्णयो न भविष्यतीति।

नन्वेवं सति भवतामपि अनित्यत्वनिर्णयः कथं स्याद् इति चेद् ? 'यावद्विकारं तु विभागो लोकवद्' (ब्र. सू. २.३.७) इति न्यायप्रसिद्धेन 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ. ३.४.२) इति श्रुत्यनुगृहीतेन विभक्तत्वरूपहेतुना इत्याह—विभक्तत्वादिति। अस्माभिः तु विभक्तत्वादनित्यत्वमवधार्यते। इति द्वयोरर्थः।।१९९-२००।।

किं चोक्तहेतुर्विशेषणाऽसिद्धः, निरवयवत्वस्य, परमाणुषु असम्भवाद् इत्याह—अप्यष्टेति। अपि च परमाणवो मूर्तत्वात् सकोणपूर्वाद्यष्टदिग्भिः तद्वर्तिपरमाण्वन्तरादिभिः वा समाश्लिष्टाः संयुक्ता इष्यन्त एव

सिद्ध हो तब तक निश्चय दुर्लभ रहेगा। इस हथकंडे का उपयोग कालवादी यहाँ कर रहा है। वस्तुतस्तु पुराणकार स्फुट कर रहे हैं कि अचिन्त्य भाव तर्क से निर्धारित नहीं हो सकते। जगत्कारण आदि बुद्धि-अगम्य वस्तुओं को अकेले अनुमान से निश्चित करने का प्रयास विफल ही होगा। यद्यपि आजकल आनुमानिक वस्तु का दृश्य प्रभाव प्रत्यक्ष हो जाने पर उस वस्तु को सत्यवत् मानने का रिवाज़ है तथापि प्रभाव से भी वह अनुमेय ही रहने के कारण उस प्रभाव की उपपादक कोई अन्य वस्तु लाघवानुगृहीत हो तो पूर्वमान्य वस्तु के परित्याग का भी वैसा ही रिवाज़ होने से आधुनिक विचार-धारा 'तदर्थवादी' है अर्थात् 'फिल हाल अमुक सिद्धान्त है' इतना ही माना जाता है, 'यही चरम सिद्धान्त है' ऐसा नहीं। दृश्यजगत् के विस्तार में यह दृष्टिकोण भले ही उपयोगी हो किंतु निजके बारे में, अपने जीवने के प्रयोजनादि के बारे में, अपने मरणोत्तर भविष्य के बारे में यह 'फिलहाली-दृष्टिकोण' सर्वथा अनुपयोगी ही नहीं अशान्ति व निराशा के साथ अस्थिरता व भीरुता का हेतु बनकर प्रगति में बाधा ही डालता है यह सर्वानुभवसिद्ध है। इस तथ्य की ओर श्रीशंकरानंद जी इशारा कर रहे हैं।)।।१९९।।

तार्किक शंका करता है कि पूर्वोक्त दोनों अनुमानों का आपसी विरोधी रहते यदि हम अणु को नित्य नहीं सिद्ध कर पाते तो तुम उसे अनित्य भी सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि निश्चायक शक्ति दोनों ही अनुमानों की प्रतिरुद्ध है! इस का समाधान करने के लिये कालवादीशास्त्र प्रमाण की शरण लेता है। वेद ने घोषित किया है कि आत्मा से अन्य सब अनित्य है जिसके आधार पर महर्षि बादरायण ने नियम माना है कि स्वसमानसत्ताक भेद वाले सभी पदार्थ विकारात्मक, जन्य या अनित्य हैं। इससे परमाणु अनित्य हैं यह निश्चय हो जायेगा तथा 'मूर्त होने से, क्रियावान् होने से अणु अनित्य हैं' यह अनुमान क्योंकि इस निश्चय के अनुकूल है अतः उसकी निश्चायकता अप्रतिबद्ध हो जाने पर तार्किक का अनुमान बाधित हो जायेगा। यों हम अणु-अनित्यत्ववादी अपने मत को स्थापित कर लेंगे। (श्रुति ने आत्मा से अन्य को अनित्य कहा है न कि कालसे अन्य को किंतु कालवादी उससे इतना ही ग्रहण करता है कि आत्मा से अन्य होने से अणु अनित्य तो सिद्ध हो ही गये। शास्त्र से भी यों चुनकर बातें उद्धृत करना तार्किकों में हमेशा प्रचलित रहा है अतः शास्त्रश्रद्धालु को सावधानी-पूर्वक शास्त्रानुसंधान करना चाहिये अन्यथा धोखा होना सहज है। किं च अणुवादी का खंडन आत्मवादी भी करता ही है यह दिखाने के लिये कालवादी उसकी युक्तियों का अनुवाद कर रहा है। खण्डन के लिये अनेक तर्क उपलब्ध होने पर विचारकों की यह रीति भी प्रचलित है कि अन्य वादियों के प्रासंगिक तर्क दिखाकर अपनी बात पुष्ट की जाये।)।।२००।।

अणवोऽपि ततस्त्वेते कालादव्यक्तजन्मनः। प्रभवन्ति जगत् सर्वं यथा तस्माद् महात्मनः।
नित्या वा सन्तु मैवैते कारणं कालवर्जिताः।।२०२

अपि भिन्ना इमे नैव सर्वस्य जगतः कृतौ। प्रभवन्ति कुतस्त्वेषां सर्वकारणता भवेत्।।२०३

ततः सर्वगतः कालः सर्वव्यापारकारणः। एकः कारणमुद्दिष्टो नेतरत् कारणान्तरम्।।२०४

भवद्भिः, तथा च कथं निरवयवत्वम्? संयोगिनो हि सावयवा दृष्टाः, संयोगस्यैकदेशवृत्तित्वरूपाव्याप्यवृत्तित्वस्य प्रसिद्धेरिति[1]।।२०१।।

अणूनामनित्यत्वे च ते स्वोत्पत्त्यर्थं यं कालमपेक्षन्ते स एव जगद्धेतुः, 'तद्धेतोः'[2] इति न्यायाद् इत्याह—अणवोऽपीति। अव्यक्तम् अलक्षितं जन्म यस्य तस्मात् कालाद् एव अणवो जायन्त इति वाच्यम् अनित्यत्वात्। तथा च स एव जगद्धेतुरस्त्वित्यर्थः। तेषां नित्यत्वाभ्युपगमेऽपि सर्वदा सतां सृष्टिव्यवस्थार्थं कालस्य अवश्यापेक्षणीयत्वाद् अपि कालस्यैव जगद्धेतुत्वमुचितमित्यर्थः।।२०२।।

किञ्चाणुभिः प्रलये विभागेनावस्थितैः सृष्ट्यनारम्भात् संयोगहेतुः कालोऽपेक्षणीयः, इत्यतोऽपि कालस्यैव हेतुतोचितेत्याह—अपि भिन्ना इति। भिन्ना विभागेनावस्थिता एतेऽणवः जगतः कृतौ निर्माणे न प्रभवन्ति शक्ता न भवन्ति।।२०३।। फलितमाह—तत इति। सर्वव्यापारान् कारयतीति स तथा; ण्यन्तात् कर्तरि ल्युः (पाणि. ३. १.१३४)।।२०४।।

इतना ही नहीं, तार्किक ने अनुमान जिस हेतु के आधार पर किया है वह उसके पक्षभूत अणु में है ही नहीं! परमाणु निरवयव हो यही असंभव है। परमाणु आठों दिशाओं से तथा अन्य परमाणु आदि से संयोग वाले होने के कारण सावयव ही माने जा सकते हैं क्योंकि लोक में संयोगवान् पदार्थ सावयव ही मिलते हैं। (परमाणु का दिक्संयोग इसलिये मान्य है कि तार्किक परमाणु को क्रियावान् अर्थात् मूर्त मानता है तथा दिक् को विभु मानता है, विभु उसे ही कहते हैं जिसका सभी मूर्त द्रव्यों से संयोग हो। परमाणु का अन्य परमाणु से भी संयोग वह मानता ही है। और संयोग को भी वह अव्याप्यवृत्ति अर्थात् संयोगी के किसी हिस्से में रहने वाला, किसी हिस्से में न रहने वाला ही मानता है। एवं च संयोगी कह कर परमाणु को हिस्सारहित, निरवयव भी कहना तार्किक के लिये संभव नहीं है। फिर भी तार्किक अपनी मान्यता पर कायम रहे तो उसकी बुद्धिमानी ही बेनकाब होती है! पुराणकार सावधान करते हैं कि विचार व्यवस्थित रखने के लिये स्थापित मर्यादाओं में इतना नहीं उलझ जाना चाहिये कि सर्वथा विरुद्ध मान्यताओं की दलदल में फँसते चले जायें।)।।२०१।।

अनित्य होने से अणु भी अपने जन्म के लिये काल की अपेक्षा रखते हैं अतः जैसे सारा जगत् वैसे ये अणु भी उस काल से ही उत्पन्न होते हैं जिसका जन्म कभी लक्षित नहीं होता अर्थात् जो स्वयं अजन्मा है। कथंचित् अणुओं को यदि नित्य मान लें तो भी कालनिरपेक्ष हुए तो वे कारण बनेंगे नहीं अतः काल को जगत्कारण स्वीकारना अनिवार्य है।।२०२।।

तार्किकसंमत अणु विभिन्न होने से सारे जगत् की रचना में असमर्थ हैं तो इन्हें सर्वकारण कैसे स्वीकारा जाये? (प्रलय में परस्पर विभक्त हुए अणु जब संयुक्त होने लगें तब सृष्टि हो और संयुक्त वे होते हैं जब सृष्टि का काल उपस्थित

१. 'किञ्चाऽन्यत्—परमाणूनां परिच्छिन्नत्वाद् यावत्यो दिशः षडष्टौ दश वा तावद्भिरवयवैः सावयवास्ते स्युः, सावयवत्वादनित्याश्च।' इति शारीरकभाष्यम् (२.२. सू. १७)। तत्रैव पूर्वं (सू. १२)—'संयोगश्चाऽणोरण्वन्तरेण सर्वात्मना वा स्याद्, एकदेशेन वा? सर्वात्मना चेद्, उपचयानुपपत्तेः अणुमात्रत्वप्रसङ्गः। दृष्टविपर्ययप्रसङ्गश्च; प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगस्य दृष्टत्वात्। एकदेशेन चेत्? सावयवत्वप्रसङ्गः।'

२. 'तद्धेतोरस्तु हेतुत्वं किं तेन' इति न्यायः।

स्वभाववादः

अत्रापि दूषणं प्राहुः केचिन्मुनिवरा द्विजाः। एवं वदन्तो बहुशो युक्तिजालं महाधियः।।२०५

कारणं भवतां कालः कथं स्यादिति चिन्त्यताम्। किमेष कारणं कालो भवेद् निखिलवस्तुनः।

आत्मनस्तस्य कार्यस्य स्वभावाद् वाऽस्वभावतः।।२०६

अस्वभावाद् यदा हेतुः तदा व ह्नेस्तु संहतौ। कालो जलं कुतो नैष कुरुते खे ह्यनाश्रये।।२०७

वह्निना कुत एवैष तृषाशान्तिं करोति न। नीरेण शीतलेनाऽत्र कस्मात् शीतक्षयं न च।।२०८

अन्नं विना क्षुधानाशं कस्मादेष करोति न। जायां विना सुतानेष ददात्वेषां सुतार्थिनाम्।।२०९

मृतानामपि संयोगं शरीराणामिहैव च। सुखदुःखकरं कस्माद् न ददाति महेश्वरः।।२१०

स्वभावस्य जगत्कारणतां वदतां लोकायतानां मतं प्रपञ्चयति—अत्रापीति चतुर्दशभिः। अत्र कालवादिमते। एवं वक्ष्यमाणविधया।।२०५।। युक्तिजालं प्रपञ्चयति—कारणमिति। भवतां कालवादिनां कारणत्वेनाऽभिमतः कालः कथं कारणं स्याद् इति विचार्यम्। किमेष कालो निखिलवस्तुनः कारणं भवन् आत्मनः स्वस्य, कार्यस्य वा स्वभावात् स्वभावमपेक्ष्य कारणं भवेत्? किं वा स्वभावमनपेक्ष्य? इत्यर्थः।।२०६।। अन्त्यं दूषयति—अस्वभावादिति दशभिः। यदि एष कालः स्वभावमनपेक्ष्य हेतुः तदा वह्नेः संहतौ पुंजे ख आकाशे वा अनाश्रये जलानाधारस्वभावे जलं कुतो न उत्पादयति? इत्यर्थः।।२०७।। एवं वह्निना तृट्शान्तिं जलेन च शीतशान्तिं कुतो न करोतीत्याह—वह्निनेति।।२०८।। तथाऽन्नादिसाधनानि विना क्षुन्नाशादिकार्याणि कुत एष कालो न जनयेद्? इत्याह—अन्नमिति।।२०९।। एवं मृतशरीरसंयोगद्वाराऽपि सुखादिकं कुतो न जनयतीत्याह—मृतानामिति। महेश्वरः कालः।।२१०।।

होता है ऐसा तार्किक मानता है अतः कालनिरपेक्ष संयोग ही असंभव रहते अणु कालनिरपेक्ष ही कारण बन जायें यह कैसे संभव होगा? यह अर्थ है। किं च अणु अनंत हैं। किसी एक अणु को सारे जगत् का कारण कह नहीं सकते। सब मिलकर भी कारण कहे नहीं जा सकते क्योंकि अणुओं के मिलते ही जो द्व्यणुकादि उत्पन्न होते हैं, आगे के कार्य के लिये ज़रूरी वे ही बनते हैं यह तार्किक मानता है अर्थात् अन्त्यावयवी का कारण वह संयुक्त अणुओं को नहीं मानता वरन् उपान्त्यावयवियों को ही मानता है जो अन्त्यावयवी के अवयव हैं। उदाहरणार्थ पट के प्रति तंतुओं को कारण मानेगा न कि रुई को। अतः तार्किक अणुओं को सारे जगत् का कारण कह ही नहीं सकता, केवल द्व्यणुकादिकों के प्रति अणुओं को कारण कह सकता है। विभिन्न अणु सृष्ट्यनुकूल व्यापार बिना ईश्वराधिष्ठित हुए करते हैं यह अमान्य होगा क्योंकि दृष्टविरुद्ध है और ईश्वर अंगीकार करने पर उसे ही जगत्कारण मानना पर्याप्त रहते अणुओं को कारण मानना व्यर्थ है। यह भी अणुओं को भिन्न बताकर यहाँ पुराणकार ने व्यक्त किया है।)।।२०३।। इसलिये सर्वगत एक काल ही सभी व्यापार कराने वाला है अतः वही कारणरूप से मान्य है, जगत् का और कोई कारण नहीं है।।२०४।। यहाँ तक कालवादी ने अणुवादी का खण्डनकर अपना पक्ष रखा। आगे स्वभाववाद उपस्थित किया जायेगा।

कालवादी के उक्त मत में कुछ द्विज महाबुद्धिमान् मुनिश्रेष्ठों ने यों बहुत-सा युक्तिजाल सुनाते हुए दोष बताये: आपको मान्य काल कारण किस तरह बनता है यह विचार किया जाये। सारी वस्तुओं का कारण क्या यह अपने (काल के) स्वभाव से बनता है, या कार्यों के स्वभाव से? अथवा स्वभाव से निरपेक्ष ही यह कारण बन जाता है? (अर्थात् क्या यह काल का स्वभाव है कि वह सबका कारण बनता है? या वस्तुओं का स्वभाव है कि वे काल से निर्मित हो जाती हैं? या दोनों के उक्त स्वभाव न होने पर भी उनमें कार्यकारणता है?)।।२०५-६।। यदि स्वभाव से निरपेक्ष ही काल कारण हो तो वह्निपुंज में काल जल क्यों नहीं पैदा कर देता? जलधारण जिसका स्वभाव नहीं ऐसे कोरे आसमान

कुतो वा मृतदेहोऽयं नास्माभिर्भाषतेऽधुना। नारी पुरुषयोगेन विना गर्भं दधात्विह।।२११
नभो निश्छिद्रतां यातु पृथिवी च रसातलम्। अस्नेहत्वं च नीराणि तेजो यात्वप्रकाशताम्।।२१२
वायुर्निश्चलतां यातु यतो नाऽपेक्षते तव। कालः स्वभावं कस्यापि स्वस्य वाऽपि परस्य वा।।२१३
अपि कस्मादयं कालो मलमूत्रविसर्जनम्। नराणां वदनेनैव न कारयति कारणम्।।२१४
घ्राणेन शब्दश्रवणं श्रोत्राद् गन्धग्रहं तथा। नयनाभ्यां तथाऽऽहारग्रहणं सर्वदेहिनाम्।।२१५
एवं शेषेन्द्रियाणां च व्यापाराणां विपर्ययम्। न कारयति कस्मात् स कालः सर्वस्य कारणम्।।२१६
ततः स्वभाव एवाऽत्र कालस्याऽपि नियामकः। कारणस्याऽपि कार्याणां स्वभावस्तेन कारणम्।।२१७
व्यापारानिन्द्रियाण्येवं स्वभावादेव कुर्वते। विषयाश्च स्वभावेन स्वेन्द्रियाणि व्रजन्त्यमी।।२१८
एवं सर्वं स्वभावेन जगदेतच्च वर्तते। निवर्तते च जन्मादि स्वभावादेव गच्छति।।२१९

कुतो वेति। भाषते भाषणं करोति।।२११।। तथाऽऽकाशादयोऽवकाशादिरूपाणि कुतो न त्यजन्ति, कालः स्वस्य परस्य वा स्वभावं नापेक्षत इति त्वयाऽभ्युपेतत्वाद् ? इत्याह—नभ इति द्वाभ्याम्। पृथिवी च रसातलम् इत्यस्य पृथिवी धारणव्यापारं त्यजतु इत्यर्थः। शेषं स्पष्टं द्वयम्।।२१२-३।। एवं स्वभावानपेक्षः काल इतरेन्द्रियव्यापारमितरेन्द्रियेण कुतो न कारयतीत्याह—अपि कस्माद् इति त्रिभिः। निगदव्याख्यातं त्रयम्।।२१४-६।।

एवं स्वभावानपेक्षत्वपक्षस्य दुष्टत्वे स्वभावसापेक्षत्वपक्ष एवाऽभ्युपेयः। तथा च 'तद्धेतोः' इति न्यायात् स्वभाव एव जगद्धेतुरस्त्वित्याह—तत इति। ततः कारणस्य कार्याणां वा स्वभाव एव कालस्य नियामको व्यवस्थापकोऽभ्युपेयः तेन अवश्यापेक्षणीयत्वेन स्वभाव एव कारणम् अस्तु इति सम्बन्धः।।२१७।। स च स्वभावः सर्वशंकापरिहारक्षम इत्याह—व्यापारानिति। एवं स्वभावस्य हेतुताङ्गीकारे सति रूपग्रहणे चक्षुष एव करणत्वं, रूपस्य च चक्षुष एव विषयत्वं कुतः ? इत्यादिशङ्कासु, 'स्वभावाद्' इत्येव उत्तरमिति भावः।।२१८।। एवमिति। एवं विषयेन्द्रियनियमवत् सर्वस्य प्रवृत्तौ निवृत्तौ जन्मादौ च स्वभाव एव हेतुरित्यर्थः।।२१९।।

में ही काल जल क्यों नहीं उत्पन्न करता ?।।२०७।। आग से—या मिर्च आदि से—काल प्यास क्यों नहीं बुझा देता? ठण्डे जल को यह काल सर्दी दूर करने वाला क्यों नहीं बना देता।।२०८।। बिना अन्न के काल भूख क्यों नहीं मिटाता? पुत्र चाहने वाले बहुतेरे लोग हैं, पत्नी के बिना ही उन्हें काल पुत्रों से सम्पन्न कर दे!।।२०९।। सर्वसमर्थ काल मरे प्रियजनों से यहीं मिलन क्यों नहीं करा देता ? जो कुछ भी हमारे शरीरों के लिये सुखद है तथा हमारे विरोधियों के शरीरों के लिये दुःखद है वह सब अकेला काल क्यों प्रदान नहीं कर देता ?।।२१०।।

यह मरा पड़ा शव अब हमसे बातें क्यों नहीं करता ? पुरुषसंपर्क के बिना संसार में नारी गर्भ धारण कर लिया करे!।।२११।। जब काल को न अपने व न पराये स्वभाव की अपेक्षा है तब आकाश ठोस हो जाये, पृथ्वी किसी को धारण न करे, रसातल में चली जाये, जल शुष्क पदार्थ बन जाये, अग्नि ज्योतिहीन हो जाये, वायु निष्क्रिय हो जाये!।।२१२-३।। यह काल जब स्वभाव से निरपेक्ष रहते ही कारण है तब लोगों का मल-मूत्र यह मुँह से ही क्यों नहीं निकलवा देता ? नाक से आवाज़ सुनना, काल से सूँघना, आँखों से भोजन करना इत्यादि सब देहधारियों की इंद्रियों के व्यापारों में हेर-फेर यह काल क्यों नहीं करा लेता जिसे तुम सबका कारण कहते हो ?।।२१४-६।।

इसलिये काल का नियामक मानना पड़ेगा काल के या कार्यों के स्वभाव को और अवश्य ज़रूरी होने से स्वभाव ही कारण है, न कि काल आदि।।२१७।। स्वभाव को हेतु मान लेने पर सब समस्याओं का समाधान हो जाता है;

नियतिवादः

अत्रापि मुनयः केचिद् दोषं प्राहुर्विचक्षणाः। स्वभावो नियतो हेतुः अथवा नियतिं विना। ।२२०

विनापि नियतिं चेत् स्यात् स्वभावः कार्यकारणम्। सर्वत्र सर्वदा सर्वं सर्वथा किं न जायते। ।२२१

एवं स्थितौ विनाशे च दूषणं नियतिं विना। नियतस्तत एवाऽयं स्वभावः कारणं स्मृतः। ।२२२

यथा कालो जगत्यस्मिन् सृष्टिस्थित्यन्तकारणम्। भवन्नपि स्वभावेन भवतीति न कारणम्।
किन्तु स्वभाव एवाऽयं कारणं कालगोऽपि यः। ।२२३

एवं स्वभावसंस्थाना नियतिः सर्वकारणम्। नियतिश्च यतो हेतुः स्वभावो न तया विना। ।२२४

यदृच्छावादः

अत्राऽपि दूषणं प्राहुः केचित् सूक्ष्मार्थदर्शिनः। अनेनैव भवेदेवं हीदमेव न चाऽपरम्। ।२२५

स्वभावस्याऽपि व्यवस्थाहेतुः धर्माधर्मात्मकमदृष्टं नियतिपदवाच्यं जगद्धेतुरिति मीमांसकमतं प्रस्तौति— अत्रापीति पञ्चभिः। स्वभावोऽपि नियतः केनचिद् व्यवस्थापितः सन् हेतुः ? अनियतो वा ? अन्त्ये वह्न्यादिभिः शैत्यादिजननापत्तिः। इति द्वयोरर्थः। ।२२०-१।। एवमिति। दूषणम् अव्यवस्थारूपं, स्याद् इति शेषः। ततो नियतो नियत्या व्यवस्थापित एव स्वभावः कारणम् अभ्युपेयः इति। ।२२२।। नियतेरेव कारणत्वे पूर्वन्यायमतिदिशति— यथेति द्वाभ्याम्। यथा जगत्सृष्ट्यादौ कारणी भवन्नपि कालः स्वभावसापेक्षः कारणं भवति इति आलोच्य स न कारणं किन्तु स्वभाव एव कारणम् इत्युक्तम्; एवं स्वभावसंस्थाना स्वभावस्य संस्थानं व्यवस्थारूपो विन्यासो यया तादृशी नियतिः एव हेतुतया त्वयाऽभ्युपेया, न स्वभावः। इति द्वयोः सम्बन्धः ।२२३-४।।

प्रत्यक्षैकशरणाः केचित् काकतालीयन्यायेन उत्पत्तिं केषाँचिद् भावानां दृष्ट्वा कार्यस्य कर्त्राद्यालोचनानपेक्षत्वरूपां यदृच्छामेव हेतुतया मन्यन्ते। तन्मतं दर्शयति—अत्रापि दूषणमिति चतुर्भिः। अत्र नियतिकारणवादे दूषणं

इंद्रियाँ स्वभाववश ही केवल तत्तद् व्यापार करती हैं, अन्य नहीं, जैसे आँख ही देखती है और वह खा नहीं सकती इत्यादि; विषय भी स्वभाववश ही तत्तद् इन्द्रिय के गोचर बनते हैं, अन्यों के नहीं जैसे रूप आँख का ही गोचर बनता है, नाक का नहीं। ।२१८।। इसी तरह यह सारा जगत् स्वभाव से ही जन्म ग्रहण करता है तथा अन्य सब प्रवृत्ति-निवृत्ति स्वभाववश ही करता है। ।२१९।।

इस स्वभाववाद में भी कुछ सूक्ष्मदर्शी मुनि दोष बताते हैं : किसी से व्यवस्थापित होकर—उसके सापेक्ष होकर—स्वभाव कारण बनता है ? अथवा बिना व्यवस्थापित हुए ही ?। ।२२०।। यदि व्यवस्थापित हुए बिना ही स्वभाव कार्यों के प्रति कारण बने तो हर जगह हर समय हर तरह की सभी चीज़ें क्यों नहीं पैदा हो जातीं ? व्यवस्था न हो तो जन्म की तरह स्थिति व नाश में भी यही दोष आयेगा कि हमेशा स्थिति व हमेशा ही नाश क्यों नहीं होते इत्यादि। इसलिये नियति से व्यवस्थित हुआ स्वभाव ही कारण समझा जाता है। नियति अर्थात् पुण्य-पाप, उनके अनुसार ही स्वभाव कार्यकारी होता है। ।२२१-२।। जैसे स्वभाववादी ने सिद्ध किया था कि इस संसार के संदर्भ में सृष्टि-स्थिति-नाश का कारण बनते हुए भी क्योंकि स्वभावसापेक्ष हुआ ही काल कारण बन पाता है इसलिये वह चरम कारण नहीं वरन् यह स्वभाव ही चरम कारण है जो काल में भी विद्यमान है, वैसे ही यह सिद्ध होता है कि क्योंकि स्वभाव नियति के बिना कारण नहीं बन पाता इसलिये स्वभाव की भी व्यवस्थापिका नियति ही सबका कारण है। ।२२३-४।। यह नियतिकारणता मीमांसक ने स्थापित की।

कुछ कुशाग्र मति वाले इस नियतिवाद में भी दोष बताते हैं : 'इस ही कारण से यही कार्य इस ही तरह होगा,

इति भावे तथाऽभावे व्यतिरेकेण कारणम्। नियतिर्वादिनामिष्टा पुष्पवत्या यथा रजः।
एतद् यादृच्छिकं दृष्टं लोके कार्यं सकारणम्।।२२६

धर्मात्मनां यथा दुःखं पापिनां वा यथा सुखम्। नारीपुत्रादयस्तद्वत् सुखार्था दुःखकारणम्।।
प्रहाराद्याश्च दृश्यन्ते दुःखार्थाः सुखहेतवः।।२२७

नियतिः कारणं तेन भवेल्लोके यदृच्छया। यदृच्छैव ततो हेतुः नियतिर्न नियामिका।।२२८

व्यभिचाररूपं; सूक्ष्मम् अल्पं क्वाचित्कम् इति यावत्, तादृशमर्थं पश्यन्त इत्यर्थः। 'सूक्ष्मं स्यादल्पकेऽन्यवद्' इति विश्वप्रकाशः। नियतिस्वरूपमनूद्य तद्व्यभिचारप्रदर्शनमेव अभिनयति—अनेनैव इत्यादिना। व्यतिरेकपदमन्वयस्याप्युपलक्षणम्। तथा च इदं कार्यम् अनेनैव कारणेन भवेत्, तथा एवमेव अनेनैव प्रकारेण भवेत्, तथा अस्मात् कारणाद् इदमेव कार्यं भवेत्—इति एवंविधा नियतिः। कार्यस्य भावाभावयोः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वेन वादिभिः अभिमता। यथा ऋतुमत्याः स्त्रियो रज एव गर्भधारणकारणमिति। परन्तु तथा न मन्तव्यं यतो लोके कार्यं कारणं च यदृच्छायाः स्वैरितायाः कर्त्रालोचनाद्यनपेक्षत्वरूपाया हेतोः आगतं दृष्टम्। इति द्वयोरर्थः। 'यदृच्छा स्वैरिता स्वेच्छा' इति हेमचन्द्रः।।२२५-६।। तत्रोदाहरणं दर्शयति—धर्मात्मनामिति। यथा सुखसाधनधर्मसम्पन्नानाम् अस्माकं दुःखं जायमानं दृष्टं, तथा दुःखसाधनपापशालिनां सुखम्। सुखसाधनत्वेन प्रसिद्धानां नार्यादीनां दुःखहेतुत्वम्। दुःखहेतुतया प्रसिद्धानां पादप्रहारादीनां श्रान्तादौ सुखहेतुत्वं च दृष्टमित्यर्थः।।२२७।। नियतिरिति। तेन उक्तव्यभिचारेण एवं ज्ञायते यत् कुत्रचिद् यदृच्छयैव सम्पादिता नियतिः कारणत्वेन लोकैः मन्यते। परन्तु तन्न युक्तम्। घटपूर्वकाले यदृच्छया संनिहितानां रासभादीनां कारणत्ववारकेण 'अर्थसमाजग्रस्तानां[1] न कारणत्वम्' इति न्यायेन विरोधात्। किन्तु तत्प्रयोजिका यदृच्छैव कारणतायोग्येत्यर्थः।।२२८।।

इस व्यवस्था में हेर-फेर नहीं होगी' इस प्रकार की नियति, नियमन, कारणरूप से वादी स्वीकारते हैं क्योंकि कार्यों के होने-न-होने में ऐसा नियमन निश्चित उपलब्धि-अनुपलब्धि से निर्धारित होता है। उदाहरणार्थ ऋतुमती स्त्री के ही रज होगा और वही गर्भधारण में कारण बनेगा यह नियमित बात मानी जाती है। किन्तु वादियों का यह मानना अनुचित है क्योंकि लोक में कार्य व कारण होना यादृच्छिक देखा जाता है। (कार्य अवश्य जिससे व जैसे पैदा हो, जिसके व जिस ढंग के बिना न पैदा हो उसे व उस ढंग को कारण तथा अन्यों को व अन्य ढंगों को कारण नहीं मानना लोक-वादिसंमत है। प्रकृत विचारक कहता है कि संसार में अनेक अपवादों के रहते यह नियत कार्यकारणता अमान्य है। यदृच्छा अर्थात् अनियतता; इकट्ठे ही दो गाड़ियाँ चौराहे पर पहुँचती हैं तब उनमें टक्कर होती है, कोई पूछे कि वे इकट्ठे ही पहुँचीं इसमें कारण क्या ? तो लोक में यदृच्छा कारण कह दी जाती है जिसका अर्थ यही है कि किसी नियमित प्रक्रिया के तहत वे युगपत् वहाँ उपस्थित हुई हों ऐसी बात नहीं, बिना नियमित कारण के ही ऐसा हो गया। प्रकृत वादी का कहना है कि यों अनेकत्र यदृच्छा स्वीकार्य ही है तो सर्वत्र इसी को कारण मानने में क्या संकोच !)।।२२५-६।।

धर्मात्माओं को दुःख मिलता देखा जाता है, पापियों को सुख प्राप्त होता लोकसिद्ध है। सुख के लिये बटोरकर रखे पत्नी, पुत्रादि दुःख का कारण बन जाते हैं यह अनुभवानुसारी है। दुःख-प्रद बनने लायक प्रहार भी सुखहेतु देखे जाते हैं ! जैसे थके आदमी को लताड़ते हैं तो उसे आराम मिलता है। इसलिये लोकसिद्ध यही है कि यदृच्छा से ही नियति कारण बनती है। अतः नियति को नियामक न मानकर यदृच्छा को ही जगद्धेतु स्वीकारना चाहिये। (सामान्यतः व्यवहार निश्चित कारणादि से ही होता है अतः प्रश्न उठता है कि ये वादी ऐसे पक्ष उठा ही क्यों रहे हैं जिन्हें मानकर स्वयं इन वादियों का भी कोई व्यवहार संभव नहीं ? उत्तर है कि ये अध्यात्मवादी हैं और सवाल जगत्कारण का उठाया गया है अतः इनका मत है कि जगत् के कारणादि के व्यवस्थापन के लिये जैसा मानकर सन्तोष हो जाये वैसा मान

१. अर्थः प्रयोजनम्। प्रयोजनान्तरेणोपस्थितस्य न कारणत्वसिद्धिरिति न्यायार्थः।

भूतकारणवादः

अत्राऽपि केचिन्मुनय इत्थमाहुर्महाधियः। भूतेषु सत्सु साऽपि स्याद् न भूतानि विना क्वचित्।।२२९
यदृच्छा नाम धर्मोऽयं हेतोर्नियतिवर्जितः। धर्मिणं तु विना नैव धर्मः सिद्ध्यति कुत्रचित्।।२३०
धर्मी नैव प्रकल्प्योऽत्र प्रत्यक्षे सति धर्मिणि। प्रत्यक्षाणि च भूतानि ततस्तान्येव कारणम्।।२३१

अथ यदृच्छाया धर्मभूताया धर्मिनैरपेक्ष्येण कारणत्वाऽसम्भवात् प्रत्यक्षाणि भूतानि विहाय धर्म्यन्तरकल्पनाया अन्याय्यत्वाच्च पृथिव्यादीनि भूतान्येव कारणम् इत्याकारं प्रत्यक्षशरणानामेव मतान्तरमाह—अत्रापि केचिद् इति त्रिभिः। सा यदृच्छाऽपि भूतलक्षणधर्मिसापेक्षैव इत्युत्तरार्द्धार्थः।।२२९।। यदृच्छा नामेति। नियतिनिरपेक्षः अयं यदृच्छा नाम धर्मः कस्यचिद् हेतोः कारणस्यैव सम्बन्धितया वाच्यः यतो धर्मो धर्मिनिरपेक्षो न दृश्यत इत्यर्थः।।२३०।। तस्य च धर्मी भूतभिन्नो नाभ्युपेयः सम्भवति दृष्टेऽदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। तथा च भूतान्येव कारणमित्याह—धर्मी नैवेति। अत्र यदृच्छायाम् उपयोगी धर्मी न कल्पनीयः, प्रत्यक्षाणां भूतानामेव धर्मित्वसम्भवाद् इति। फलितमाह—प्रत्यक्षाणि चेति।।२३१।।

लेना चाहिये क्योंकि व्यवहार तो सभी वादियों को एक-सा ही करना पड़ेगा। किन्तु इनकी भूल यही है कि प्रत्यगात्मा ही जगत्कारण है इस तथ्य से ये बेखबर रहकर अध्यात्मनिष्ठ होना चाहते हैं। जगत्कारणचर्चा तो अध्यात्मबोध के ही लिये उठायी गयी है जैसे तैत्तिरीय, छांदोग्य, बृहदारण्यक आदि में तथा ब्रह्मसूत्रों में। अत एव सिद्धान्तसंमत अनिर्वचनीय कारणता भी अध्यात्मज्ञान में उपयोगी होने से ही मान्य है, व्यवहार में उसका उपयोग नहीं खोजना चाहिये। रज्जु में सर्प ही क्यों दीखा? सिद्धान्ती इस 'क्यों' का यही जवाब देगा कि इसका कोई निर्वचनीय कारण नहीं। फिर भी भूख-प्यास मिटाने के लिये वह अन्न-जल ही खोजेगा, किसी का कोई निर्वचनीय कारण नहीं ऐसा विश्वास कर भूखा-प्यासा मर नहीं जायेगा। यद्यपि संतोष, अनाग्रह आदि गुणों के लिये व्यवहार में यत्किंचिद् उपयोग अनिर्वचनवाद का भी हो सकता है—और यदृच्छादि वादों का भी हो सकता है—तथापि जो उसे स्वीकारा जाता है वह सांसारिक व्यवहारार्थ नहीं वरन् इसलिये कि वह अद्वैत को बुद्धिसंगत करता है। यदृच्छादिवाद यों आत्ममात्र में प्रतिष्ठित रखने में उपयोगी न होने से अमान्य हैं।)।।२२७-८।।

यदृच्छाकारणवाद पर विचार करने वाले कुछ अतिबुद्धिमान् मुनि यों कहते हैं: पृथ्वी आदि भूतों के रहते ही यदृच्छा भी कारण बन पाती है, बिना भूतों के वह कारण बनती कहीं देखने में आती नहीं। नियति से विलक्षण यह यदृच्छा कारण का एक धर्म है और धर्म कहीं धर्मी के बिना सिद्ध होता नहीं। यदृच्छा का धर्मी कल्पना से समझना पड़े इसकी कोई ज़रूरत नहीं क्योंकि प्रत्यक्षसिद्ध महाभूत ही उसके धर्मी उपलब्ध हैं। इसलिये जगत्कारण ये महाभूत हीं स्वीकार्य हैं। (ऐन्द्रिय वस्तुओं को 'धर्मी' और उन पर आश्रित रूप से जो अनुमानादि द्वारा समझ आयें, जिनकी संकल्पना बने उन पदार्थों को 'धर्म' कहने का दार्शनिक भाषा में रिवाज़ है। हालाँकि सभी आश्रित चीज़ें 'धर्म' कह दी जाती हैं फिर भी कहाँ उनकी 'धर्मता' या आश्रितता है वह बुद्धिसापेक्ष ही है क्योंकि ज्ञान या ज्ञानजनक वाक्यादि प्रमाण का आकार बदल जाने पर धर्म-धर्मिभाव में विपर्यय माना जाता है। अतः धर्म प्रत्यक्षसिद्ध नहीं और सदा आश्रयापेक्ष है। यदृच्छा भी कोई प्रत्यक्ष वस्तु नहीं है, हमें घर बनाना हो तो बाज़ार से 'यदृच्छा' लाकर नहीं बना सकते। कार्य होने के बाद उसके अज्ञात प्रयोजन का ही नाम यदृच्छा रख छोड़ा है; कार्य के भौतिक हेतु और कार्यसिद्धि की प्रक्रिया तो सदा निश्चित एवं निर्धारणीय रहती है। केवल जब उसका प्रयोजन न समझ आये तब यदृच्छा का उल्लेख किया जाता है। इसलिये यदृच्छा धर्म कही गयी है क्योंकि प्रत्यक्षसिद्ध किसी घटना के आधार पर यदृच्छा की संकल्पना बनती है। प्रत्यक्ष महाभूत ही होते हैं। घटना या क्रिया को भी किसी-न-किसी तरह महाभूतात्मक माने बिना उसे प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। महाभूतों के अनुसार समझी यदृच्छा के धर्मी वे महाभूत ही हो सकते हैं। पहले भूत उपलब्ध हों तब यदृच्छा समझी जाये—यह स्थिति होने से भूतों को ही कारण मानना व्यवहारसिद्ध है यह इन विश्लेषकों का कहना है।)।।२२९-३१।।

सांख्यमतम्

अत्राऽपि मुनयः केचिद् असन्तुष्टा इदं जगुः। भूतानि घटतुल्यानि कारणेन विना कथम्।।
भवन्ति तत एतेभ्यो ह्यन्यदप्यस्ति कारणम्।।२३२

कार्यं हि यादृशं दृष्टं तादृगेवाऽत्र कारणम्। भवेद्यद्वद् घटादेः स्याद् मृत्तिकैवाऽत्र कारणम्।।२३३

रत्नस्त्रीहेमवस्त्राद्या भावास्त्रिगुणका इमे। सुखस्यैते भवेयुस्ते हेतवो यस्य हस्तगाः।।
दुःखस्याऽपि भवन्त्येते कारणं स्वातिवैरिणः।।२३४

मोहं च जनयन्तस्ते लोभाविष्टस्य कामिनः। एतानलभमानस्य सर्वदा दीनचेतसः।।२३५

एतेषां कारणं तस्मात् त्रिगुणं सर्ववस्तुषु। अनुस्यूतं जडं चैतद् योनिशब्दसमीरितम्।।२३६

भूतानामपि सावयवत्वेन कारणसापेक्षाणां त्रिगुणत्वादिसाधर्म्येण कारणत्वयोग्या प्रकृतिरेव श्रुतिगत-'योनि'-पदोक्ता जगत्कारणमिति साङ्ख्यमतं दर्शयति—अत्रापि मुनय इति पञ्चभिः। अत्र भूतकारणत्वे। असन्तोषमेवाऽभिनयति—भूतानीति। घटवत् सावयवानां कारणेन विना भावाऽसम्भवाद् एतेषामपि किञ्चिद् अन्यत् कारणम् अभ्युपेयमित्यर्थः।।२३२।। तच्च कारणं सजातीयमेवाभ्युपेयम् इति सदृष्टान्तमाह—कार्यमिति। स्पष्टम्।।२३३।। तच्च साजात्यं सुखदुःखमोहलक्षणसत्त्वादिगुणत्रयशालित्वेन इति दर्शयन् भावानां त्रैगुण्यं प्रतिजानीते—रत्नेति। एते रत्नादयो यस्य हस्तगताः तस्य सुखहेतवो भवन्तीति। दुःखात्मकत्वेन राजसत्वमाह—दुःखस्येति। स्वस्य रत्नादिमतो योऽतिवैरी तस्य दुःखदाः।।२३४।। मोहात्मकत्वेन तामसत्वमाह—मोहं चेति। ते रत्नादयः।।२३५।। एतेषामिति। तस्मात् सदृशस्यैव कारणतायोग्यत्वाद् एतेषां जन्यभावानां त्रिगुणत्वेन जडत्वेन च सदृशं सर्वत्रानुगतं च यत् प्रधानाख्यं कारणं तदत्र श्रुतौ योनिशब्देनोक्तम् इत्यर्थः।।२३६।।

कुछ मुनि भूतकारणवाद से भी असन्तुष्ट रहे और उपनिषद् में 'योनि' शब्द से कही प्रकृति को जगत्कारण सिद्ध करने की दृष्टि से यों समझाने लगे : महाभूत सावयवादि होने से घटसदृश हैं तो बिना किसी कारण के ये स्वयंभू कैसे हो सकते हैं ? इसलिये इनसे अन्य इनका भी कोई कारण अवश्य है।।२३२।। संसार में यह नियम है कि जैसा कार्य देखा गया हो वैसा ही उसका कारण होता है जैसे घड़े आदि का कारण मिट्टी ही होती है।।२३३।। रत्न, स्त्री, स्वर्ण, वस्त्र आदि ये जागतिक पदार्थ तीन गुणों वाले हैं। ये जिसके हाथ आ जाते हैं उसके सुखके कारण बनते हैं अतः 'सुख पैदा करना' इनका गुण है जिसे सत्त्व कहते हैं। जिसे ये मिलते हैं उसके दुश्मन के दुःख के प्रति भी ये कारण बनते हैं अतः 'दुःख देना' भी इनका गुण है जिसे रजः कहते हैं। जो लोभी कामुक इन्हें प्राप्त नहीं कर पाता अतः हमेशा आकुल मन वाला रहता है, उसे होने वाले मोह (वैचित्त्य, इच्छित पदार्थ के आकर्षण से होने वाली चित्त की विक्षिप्तता) के भी ये पदार्थ ही कारण बनते हैं अतः 'मोह पैदा करना' भी इनका गुण है जिसे तमः कहते हैं।।२३४-५।। क्योंकि कार्य के सदृश ही कारण होता है इसलिये इनका कारण तीनों गुणों वाला जड 'प्रधान' है जो सब वस्तुओं में—जड, दृश्य पदार्थों में—अनुगत है व प्रकृत श्रुतिवाक्य में योनिशब्द से कहा गया है। ('प्रधान' सांख्यमत में एक पारिभाषिक पदार्थ है जो अजन्य, नित्य, सब दृश्यों का उपादान कारण, व्यापक, जड, त्रिगुणात्मक है। इसे प्रकृति आदि अन्य शब्दों से भी कहा जाता है। अनुमान पर आधारित होने पर भी हमेशा से सांख्यवादी इसे श्रौत वस्तु सिद्ध करना चाहते रहे हैं। 'योनि' से अभिप्रेत होने पर भी निराकार्यतया उपन्यस्त होने से इसकी अश्रौतता, 'अशब्दता' (ब्र. सू. १.१.५) कायम रहती है। कुछ व्याख्याता उपनिषत्के योनिशब्द का अर्थ करते हैं कारण और काल, स्वभाव आदि सबसे अन्वय मानते हैं अर्थात् काल योनि है, स्वभाव योनि है इत्यादि पक्ष रखे गये हैं ऐसा समझाते हैं। कुछ अत्याधुनिक व्याख्याता योनि

योगिमतम्

अत्राऽपि मुनयः केचिदिमं दोषं वदन्ति हि। सर्वात्मना न सादृश्यं विद्यते हेतुकार्ययोः।।
नियमस्तत एवाऽयं व्यर्थो यस्तु यथा तथा।।२३७

जडानां शकटादीनां न स्वतः स्यात् प्रवर्तनम्। ततो जडा कथं चैषा योनिर्विश्वं करोति सा।।२३८

अतोऽजडः परः कश्चित् पुरुषः तत्प्रवर्तकः। पुमानेव ततो हेतुर्न योनिः शकटोपमा।।२३९

एवमेते द्विजाः पक्षाः सप्ताऽस्माभिरुदाहृताः। पूर्वपूर्वपरित्यागाद् उत्तरोत्तरसङ्ग्रहात्।
आदेयस्तेषु को नाम पक्षो ब्राह्मणसत्तमाः।।२४०

सङ्घातपरार्थत्वादिहेतुभ्यः[1] प्रकृतिरपि यदर्था स पुरुष एव हिरण्यगर्भादिरूपो जगद्धेतुः इत्याकारं योगिनां मतं दर्शयति—अत्रापि मुनय इति त्रिभिः। तत्र प्रधानकारणाभ्युपगमे हेतूकृतं यत् सादृश्यं तत् सर्वात्मना अत्यन्तं भवद्विवक्षितं, यत्किञ्चिद्रूपेण वा ? तत्र नाद्यः; अत्यन्तसादृश्ये भेदाभावप्रसङ्गेन भेदसापेक्षकार्यकारणभावस्यैव असम्भवाद् इत्याशयेनाह—सर्वात्मनेति। नान्त्यः; यत्किञ्चित् सादृश्यस्य सर्वत्र सम्भवेन अतिप्रसङ्गाऽवारकत्वाद् इत्याह—नियम इति। यस्त्वयं यथा तथा यत्किञ्चिद्रूपेण वर्तमानसादृश्यनियमः स व्यर्थः, भावत्वादिरूपेण शुद्धचितोऽपि जडानां सादृश्यसंभवाद् इत्यर्थः।।२३७।। तस्माज्जडत्वेन प्रवृत्तौ शकटरथादिवत् परसापेक्षा प्रकृतिः न हेतुतयाऽङ्गी कार्येत्याह—जडानामिति। जडा योनिः प्रकृतिः।।२३८।। तस्मादजडः सर्वशेषी पुरुषो हेतुतया मन्तव्य इत्याह—अत इति। स्पष्टम्।।२३९।।

चिन्त्यम् इति पदस्यार्थमाह—एवमेत इति द्वाभ्याम्। एते कालादयः पुरुषान्ताः। तेषु क आदेयो ग्राह्यः?

से शक्ति का ग्रहण मानकर पाश्चात्य वैज्ञानिकों का निरासार्थ ग्रहण करते हैं। अतः योनिपद सांख्यमत प्रकृति का ही निर्विवाद वाचक नहीं है। यहाँ पुराणकार अवश्य सभी निराकार्य पक्ष एकत्र करने के लिये प्रकृति का योनि से उल्लेख मान रहे हैं।)।।२३६।।

'जड वस्तुओं की परस्पर मिल-जुलकर व्यवस्थित प्रवृत्ति तभी होती है जब उनसे अन्य किसी के लिये वह प्रवृत्ति हो' इस नियम का अनुसंधान करने वाले कुछ योगविद्याविशारद उक्त प्रकृतिपक्ष में भी यह दोष बताते हैं : प्रकृतिवादी ने प्रधानसाधनार्थ नियम माना कि कार्य के समान ही कारण होता है। प्रश्न होता है कि क्या हर तरह की समानता उनमें होती है या थोड़ी-बहुत ही होती है ? यदि हर तरह समानता माने तो कार्य-कारण में भेद ही नहीं सिद्ध हो पायेगा जिससे वे कार्य-कारण ही नहीं रह जायेंगे ! (अर्थात् कार्य-कारण में कुछ फ़र्क मानना ज़रूरी है। वस्तुतः 'कुछ' ही नहीं काफ़ी फ़र्क मानना पड़ता है अन्यथा बीज-वृक्ष, अण्डा-पक्षी आदि का कार्यकारणभाव कैसे समझा जायेगा ?) यदि केवल थोड़ी-बहुत समानता से कार्यकारणभाव संभव हो तो भी अव्यवस्था की हालत ही होगी क्योंकि किसी-न-किसी तरह की समानता तो सभी पदार्थों में मिल सकती है जिससे सभी को सभी का कारण माना जा सकेगा ! एवं च कार्य के समान कारण होता है यह मान्यता ही निरर्थक है।।२३७।। जड जो छकड़ा, रथ आदि उनमें स्वतः प्रवृत्ति नहीं होती तब वह जड योनि, प्रकृति, विश्वको कैसे पैदा कर लेगी ?।।२३८।। इसलिये जो जड नहीं है ऐसा कोई परम पुरुष ही उसको भी प्रवृत्त करने वाला (या उस प्रकृति की प्रवृत्ति का प्रयोजक) मानना ही होगा जिससे वह पुरुष ही जगत्कारण स्वीकार्य है, छकड़े जैसी जड योनि नहीं।।२३९।।

---

१. संघातपारार्थ्यं पतञ्जल्युक्तं (योग सू. ४.२४) 'तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वाद्' इति। तत् चित्तम्। सांख्यकारिकायां (१७) पुरुषसिद्धावयं न्याय उक्तः। पुराणेऽत्र पूर्वोक्तसांख्यमतं पुरुषसत्त्वेऽपि तस्य हेतुत्वमनङ्गी कुर्वतां ज्ञेयम्, तस्य कथंचिद्धेतुत्वमङ्गी कुर्वाणानां तु योगिभिः सह उल्लेख्यो बोध्यः।

पुरुषेऽपि वयं दोषं पश्यामः सङ्गवर्जिते। निर्गुणे हेतुता केन भवेद्व्यापारवर्जिते।।
चिन्तनीयं ततो विप्राः सर्वैरस्माभिरेव हि।।२४१

उक्तानां संयोगोऽकारणम्

संयोगोऽपि न तेषां स्यात् कारणं सति चेतने। जडः प्रकृतिवत् तस्मादत्र किं कारणं द्विजाः।।२४२

न कोऽपि ! सर्वत्र दोषसद्भावादिति भावः।।२४०।। ननु पुरुषपक्षे को दोष इति चेद् ? असङ्गत्वादिभिः कारणत्वाऽयोग्यत्वमेवेति दर्शयन् फलितमाह—पुरुषेऽपीति।।२४१।।

अस्तु तर्हि एषां कालादीनां पुरुषार्थो यः संयोगः स हेतुः ? इति शङ्कावारकस्य तृतीयपादस्याऽर्थमाह—संयोग इति। चेतने सति चेतनार्थं यः तेषां संयोगः सः अपि न कारणं, प्रकृतिवत् जडत्वेन परसापेक्षतया अत्र संयोगेऽपि किं कारणम् इत्याकाङ्क्षाया अनुपरमादित्यर्थः। एतेन श्रुतिगतस्य 'तथात्मभावाद्' इत्यस्य सापेक्षतया तत्तुल्यभावाद् इत्यर्थ इति सूचितम्।।२४२।।

(सांख्य मुख्यतः अपनी दार्शनिक प्रक्रिया में ईश्वर का कोई स्थान नहीं मानते। योगदर्शन प्रकृतिवाद स्वीकारते हुए भी ईश्वर का अस्तित्व मानता है। अतः उपनिषत् के 'पुरुष' पद से यहाँ योगमत का उल्लेख मानकर 'जिस हिरण्यगर्भ आदि रूप पुरुष के लिये प्रकृति प्रवृत्ति करती है वही जगत्कारण है' ऐसा योगिमत संस्कृत टीकाकार ने बताया है। भगवान् भाष्यकार ने योगसिद्धांत में भी 'प्रधानं स्वतन्त्रमेव कारणम्' (ब्र. सू. २.१.३) कहकर स्पष्ट किया है कि योगी भले ही ईश्वर मानता है लेकिन निर्विकारात्मवादी (तथा संभवतः अख्यातिवादी) होने से सृष्टिप्रक्रिया में वह ईश्वर को कोई स्थान नहीं दे पाता। इस दृष्टि से 'पुरुष' पद जीवों के लिये ही आया समझना चाहिये। सांख्य-योग दोनों ही यह मानते हैं कि प्रकृति करती सब कुछ है पुरुष के लिये। इस प्रकार प्रयोजनविधया पुरुष को कारण मानने का यह पक्ष माना जा सकता है। नारायण आचार्य ने पुरुष से मन का उल्लेख माना है। भृगु को भी यह प्रतीत हुआ था कि मनसे ही सब भूतों के जन्म-स्थिति-भंग होते हैं (तै. २.४)। मानस शक्ति की प्रधानता समझने वाले आज भी उसे भौतिक शक्ति का नियामक मानते ही हैं। ऐसा कोई प्राचीन पक्ष भी रहा होगा जो मनसे जगत् की उत्पत्ति आदि का प्रतिपादन करता होगा।)

हे द्विजो ! इस प्रकार काल से पुरुष पर्यन्त हमने ये सात पक्ष उपस्थापित किये हैं। एक-एक मत में दोष बताकर उसे छोड़ते हुए अगला पक्ष बताया है। हे श्रेष्ठ विप्रो ! इनमें से कौन-सा पक्ष माननीय हो सकता है ? हमें तो इनमें कोई भी निर्दोष नहीं लगता। पुरुष को कारण स्वीकारने में भी हम अयौक्तिकता समझते हैं। सम्बंध, गुण और परिवर्तन तीनों से रहित पुरुष में कारणता क्योंकर रह पायेगी ? (सांख्य-योग के अनुसार जीव-ईश्वर को आत्मा मानकर उनका कोई कारण भी नहीं और कार्य भी नहीं ऐसा स्वीकारा गया है अतः अब उसे कारण कहना असंगत है। तार्किकसंमत ईश्वर भी अविकारी है ही और कारण विकारी ही देखा गया है अतः वह भी कारण नहीं समझ आता। मन भी यत्किंचित् कार्यों का सहायक हेतु भले ही लोक में मान लिया जाये पर सारे संसार का—जो संसार भाष्यकार के शब्दों में 'मनसाऽप्यचिन्त्यरचनारूप' है—उसे अन्यानपेक्ष कारण मानना संभव नहीं।) हे वेदज्ञो ! इसलिये हम सभी को इस विषय पर चिंतन करना चाहिये कि हमारा, सारे संसार का कारण क्या है, कहाँ से हमारा जन्म है, हमारा जीवन कैसे चलता है, हम कहाँ सम्-प्रतिष्ठित, किसके निर्देशन से हम प्रवृत्ति-निवृत्ति करते हैं ?।।२४०-१।।

शंका संभव है कि पूर्वोक्त (तथा अन्य भी योग्य) सभी कारण मिलकर ही कारण हैं यह क्यों न माना जाये? समाधान है कि इनका 'मिलना' भी जड है अतः जैसे प्रकृति को जड होने से प्रवर्तक चाहिये यह कहा था ऐसे इस 'मिलने' के लिये भी कारण होना पड़ेगा अतः 'मिलना' अंतिम कारण नहीं है। आत्मा के रहते अर्थात् उसके लिये ये मिल जायें—यह भी संभव नहीं क्योंकि निर्विकार आत्मा का ये मिलकर भी जब कोई प्रयोजन सिद्ध कर नहीं सकते तब उसके लिये मिलेंगे क्यों ? और 'उसके लिये मिलें' ऐसा ज्ञान-इच्छादि इन जड कारणों को होगा नहीं एवं 'मेरे

जीवो न कारणम्

परिणाम्यपि नैवात्मा कारणं येन सोऽपि च। आत्मनः सुखदुःखादावनीशः कारणं कथम्। ।२४३

ऋषयः समाहिताः

एवमुक्ते महात्मानः सर्वे संशुद्धचेतसः। कारणं ब्रह्म जानाना वेदवाक्यप्रमाणतः। ।२४४

ते सर्वे सर्वपक्षेषु तर्कतो दूषणानि हि। निरीक्ष्य श्रुतिवाक्योक्तपक्षे ब्रह्मणि केवले। ।२४५

गुरुवेदोपदिष्टार्थे प्रत्ययानेकरूपकान्। सन्तत्या कृतवन्तोऽमी योगशास्त्रविशारदाः। ।२४६

ननु शुद्धात्मनः कारणत्वायोग्यत्वेऽपि प्रतिबिम्बात्मनोऽभिव्यंग्यचिच्छक्तित्वेन सांख्यमतप्रसिद्धस्य परिणामित्वेन कारणत्वयोग्यस्य कारणत्वमस्तु ? इति शङ्कां वारयंश्चतुर्थपादार्थमाह—परिणामीति। यदि जीवः सृष्टौ स्वतन्त्रः स्यात् तदा सुखसाधनमेव सृजेद्, न दुःखसाधनमिति भावः। ।२४३। ।

अथ सिद्धान्तपक्षप्रकाशकस्य 'ते ध्यान'[1] इत्यादेः तृतीयमन्त्रस्यार्थमाह—एवमुक्त इति सप्तदशभिः। एवं ब्रह्मवादिभिः उक्ते सति तत्समागताः सर्वे शुद्धचित्ताः श्रुतिवाक्याद् ब्रह्मकारणतां विज्ञायापि तत्रोपपत्तिं जिज्ञासन्त उक्तपूर्वपक्षेषु दोषान् निरीक्ष्य श्रुत्यनुकूलत्वात् सिद्धान्तभूते केवलब्रह्मरूपे गुरुवेदोपदिष्टार्थे समानाकार-चित्तवृत्तिसन्तानात्मकं ध्यानं योगशास्त्रानुसारेण कृतवन्त इति त्रयाणामर्थः। ।२४४-६। ।

लिये ये मिलें' ऐसा चेतन को भी ज्ञानादि नहीं होगा क्योंकि वह निर्विकार है, तब ये चेतन के लिये मिलेंगे कैसे ? एवं च इनका संयोग भी कारण नहीं मान सकते। दुःखादि के प्रति कारण का विचार करते हुए बृहद्भाष्य में (१.४.१०, पृ. ६८) बताया है कि कर्म, काल, दैव, द्रव्य आदि बहुतेरी चीज़ें गुण-प्रधानभाव से फलोत्पादक प्रतीत होती हैं। प्रायः लोकसिद्ध भी यही है कि किसी भी कार्य में अनेक पदार्थ मिलकर ही कारण होते हैं। रोटी का कारण केवल आटा नहीं कह सकते क्योंकि जल, आग, गूँथना, बेलना आदि सभी मिलकर कारण बनते हैं। जैसे प्रत्येक अक्षर घड़े का वाचक न होने पर भी 'घट' यह अक्षर-समूह वाचक है ऐसे कालादि प्रत्येक कारण न होकर भी मिलने पर कारण हों यह संभव प्रतीत होने से संयोगपक्ष उपस्थित किया है। अमान्य यह इसलिये है कि पूर्वोक्त प्रायः सभी चीज़ें स्वयं कार्य हैं अतः उनकी उत्पत्ति कैसे हुई यह प्रश्न तो अनुत्तरित ही रह जायेगा यदि इनके संयोग को कारण मानें। किंच मिलना या संयोग कहते किसे हैं यह भी ठीक-ठीक बताया नहीं जा सकने से यह पक्ष अस्वीकार है।)। ।२४२। ।

यदि आत्मा को परिणामी मान लें तो भी आत्मा जगद्धेतु नहीं होगा क्योंकि वह अपने सुख-दुःख आदि के बारे में अस्वतंत्र है; ऐसे को कारण कैसे मान सकते हैं ? (आत्मा कारण होता तो अपने लिये सुखसाधन ही रचता, दुःख के हेतुओं की सृष्टि ही क्यों करता ? प्रपंच मिथ्या न मानकर परमेश्वर को इसका निमित्तोपादान मानने वाले वैष्णवों को यहाँ परिणामी-आत्मवादी के रूप में उपस्थित समझना चाहिये। चिदाभासरूप जीव को परिणामी आत्मा मानकर यदि विचार करें तो भी क्या कोई एक जीव सारे संसार का कारण है या सब हैं ? इत्यादि अनेक असमाधेय समस्यायें खड़ी होंगी। दीपिकाकारों ने 'आत्मा' से जीवात्मा, कर्त्ता-भोक्ता का ही उल्लेख माना है। हर हालत में, आत्मा को भी वास्तविक चरम कारण मानना बुद्धिसंगत नहीं है।)। ।२४३। ।

उपनिषत् के तीसरे मन्त्र में बताया है कि उन ऋषियों ने चित्त-एकाग्रता द्वारा अन्तर्मुख होकर परमात्मा की शक्ति को समझा जो अपने ही गुणों से छिपी थी ! जिसकी वह सामर्थ्य थी वह परमात्मा स्वयम् अद्वितीय है तथा पूर्वोक्त समस्त कारणों का अधिष्ठान है। यह 'एक देव' और उसकी 'शक्ति'—इसी में जगत्कारण का रहस्य निहित है। इस मंत्र को पुराण में समझाते हैं :

---

१. 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्। यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः। ।'

देवात्मशक्तिदर्शनम्

एवं योगाद् महात्मानो ध्यानं प्राप्याऽथ चेतसि। ब्रह्माश्रयामिमां शक्तिम् अविद्यां ददृशुस्तदा।।२४७

आत्मनो ब्रह्मणः शक्तिः सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी। जगतो याऽतिदुर्दर्शा कुतर्कहतबुद्धिभिः।।२४८

भूदेवास्तामिमां स्वस्य गुणैरावरणादिभिः। निगूढामवलोक्याथ विस्मयं परमं गताः।।२४९

एवं योगादिति। एवं चेतसि ध्यानं प्राप्य निष्पन्नाद् योगात् समाधेः हेतोः ब्रह्मणो देवस्य शक्तिं मायाऽविद्यादिपदवाच्यां ददृशुः, या ब्रह्माऽभिन्नात्मनः शक्तिर्जगतः सृष्ट्यादिहेतुः, कुतार्किकैर्दुर्दर्शा च। इति द्वयोस्सम्बन्धः।।२४७-८।। भूदेवा इति। ते भूदेवा ब्राह्मणाः तां शक्तिं वक्ष्यमाणैः आवरणादिभिः गुणैर्निगूढां प्रच्छन्नां विलोक्य विस्मिता आसन्निति।।२४९।। आवरणादिगुणान् दर्शयति—स्वयमिति त्रिभिः। एषा शक्तिः

नाना वेदवेत्ताओं द्वारा जगत्कारण के बारे में अपनी-अपनी समझ के अनुसार यों अनेक पक्ष रख देने पर उस सभा में उपस्थित सभी ऋषि निदिध्यासन में तत्पर हुए। उन सभी के चित्त तो शुद्ध थे ही, साथ ही वेद के प्रमाणभूत वाक्यों के अनुसार ब्रह्म ही कारण है यह भी उन्हें मालूम था। जगत्कारण के विषय में अन्य सभी—उपस्थापित तथा और भी—संभावनाओं में युक्तिपूर्वक परीक्षण से दोष ही हैं यह वे इस संसत् में समझ चुके थे। अन्य कारण अनुपपन्न होने पर वेदोक्त कारण ही निर्धारणीय है क्योंकि उसकी सूचना में दोष की संभावना नहीं। इसलिये वेदवाक्यों द्वारा कहे केवल ब्रह्म को ही उन्होंने कारणरूप से स्वीकार किया किंतु इस तथ्य को शास्त्रोक्त रूप से ज़ानकर भी, ऊहापोह से समझ कर भी इसे आत्मसात् करने के लिये वे ध्यानरत हुए। चित्तवृत्ति के निरोध पर्यन्त मन पर नियंत्रण के उपायों से पूर्ण परिचित उन ऋषियों ने गुरुओं व वेदों द्वारा प्रतिपादित जगत्कारणभूत अर्थ पर एकाग्र हो समान आकार की वृत्तियों की सतत शृंखला चलायी, उसी तथ्य पर समाहित हुए। (ध्यान यद्यपि नवीन ज्ञान देने में अक्षम है—क्योंकि वह कोई प्रमाण नहीं—तथापि प्राप्त ज्ञान में जो ग़ैर-ज्ञान के हिस्से होते हैं उन्हें छाँट कर अत्यन्त स्पष्टता देता है और लगातार किये अभ्यास से संस्कार गहरा जाने पर वह ज्ञान मानस में कभी धुँधला न पड़े इसकी व्यवस्था कर देता है। अतः यहाँ स्पष्ट किया कि वैदिक सिद्धान्त पर ही ऋषियों ने चित्त एकाग्र किया अर्थात् ध्यान से किसी अपूर्व उत्तर के लिये नहीं वरन् वेदोक्त कारण के प्रौढ प्रकाश के लिये ही यत्न किया।)।।२४४-६।।

इस प्रकार जब चित्त में ध्यान की स्थिरता से समाधि संपन्न हुई तब उन महात्माओं ने इस शक्ति का दर्शन किया जो ब्रह्म पर आश्रित है, माया अविद्या प्रकृति आदि शब्दों से कही जाती है, जगत् के जन्म-स्थिति-भंग की हेतु है, ब्रह्म से अभिन्न आत्मा की शक्ति है और कुतर्कों से आक्रान्त बुद्धि वालों को बहुत मुश्किल से ही समझ आ सकती है। (यहाँ 'दर्शन' शब्द चाक्षुष बोध के अभिप्राय से नहीं, न रूपाकार वृत्ति के अभिप्राय से है, वरन् 'समझा' इस अर्थ में प्रयुक्त है। शक्ति रूपादिशाली वस्तु नहीं है, उसे कार्य के आधार पर समझा ही जा सकता है। आगे रूपकों के ढंग से भी दर्शन होगा, वहाँ भी यह बात याद रखनी चाहिये। ब्रह्म पर आश्रित होने का मतलब है कि शक्ति की अपनी कोई सत्ता-स्फूर्ति नहीं, ब्रह्म से ही उसे इनका लाभ होता है; वह ब्रह्म भी आत्मा से, प्रत्यक् से अन्य नहीं है। कुतर्क अर्थात् अनुभवविरोधी या प्रमाणविरुद्ध तर्क; अविद्या अनुभवानुसारी तथा शास्त्ररूप प्रमाण के अनुगुण है किंतु प्रमाणनिवर्त्य होने से क्योंकि प्रमाणसिद्ध हो नहीं सकती इसलिये कुतर्कों का इस पर प्रहार संभव रहता है। शक्तिरूप होने से इसे 'समझा' ही जा सकता है और वह भी इसे मिटाने के उद्देश्य से ! अतः जो ऐसा जगत्कारण चाहते हैं जो बना रहे, मिटे नहीं और उसका अपने भोग के लिये विनियोग खोजने को उतावले हैं वे कुतर्कों से विक्षिप्त चित्त से इसे समझने में अक्षम हैं।)।।२४७-८।। अपने आवरण आदि गुणों से छिपी इस शक्ति को देखकर उन ब्राह्मणों को अत्यंत विस्मय हुआ।।२४९।। इसका पहला गुण है आवरण, ढँकना। हालाँकि यह शक्ति वास्तव में आत्मा पर है नहीं फिर भी वहीं भासमान है—'मुझे अपने व्यापकस्वरूप का अज्ञान है' यों इसका अनुभव है। आत्मा बिना किसी अन्य सहारे के खुद-ब-खुद

स्वयम्प्रकाशमद्वैतम् आनन्दात्मानमीश्वरम्। आत्मना जाड्यरूपेण ह्यावृणोति न विद्यते !
तत्र चैषेति सम्प्रोक्तस्तस्याः स्वाभाविको गुणः।।२५०

सृष्टिस्थितिविनाशाद्या जगतोऽस्य तथाऽपरे। अहंममादयश्चान्ये कामक्रोधादयोऽपि च।।२५१

आगन्तारश्च गन्तारः कोटिशस्तद्गुणा इमे। आनन्दात्मानमप्येतं विषयं चाश्रयं तथा।।
मायया रहितं चाऽपि माययाऽत्र स्वयंप्रभम्।।२५२

देवः

यः कारणानि सर्वाणि कालादीन्यधितिष्ठति। उक्तानि भगवानेकः सविता विषयान् यथा।।२५३

आकाशवदयं देवः कारणानि घटादिवत्। अतो विश्वमिदं सर्वम् अधितिष्ठत्ययं पुमान्।।२५४

अनया मायया तस्य सङ्गेन रहितस्य हि। स्वयंज्योतिःस्वरूपस्य कारणत्वं स्वतो न हि।।२५५

तत्र आत्मनि वस्तुतः अविद्यमानाऽपि तत्रैव भासमाना यत् स्वयम्प्रकाशादिरूपम् आत्मानं तद्विपरीतजाड्यादिरूपेण आत्मना स्वरूपेण आवृणोति, एष तस्याः प्रथमः स्वाभाविको गुण इति सम्बन्धः।।२५०।। विक्षेपरूपांस्तद्गुणानाह—सृष्टीति। अस्य स्थूलसूक्ष्मात्मकस्य जगतो ये सृष्ट्याद्याः, तथा ये च अहन्ता-ममता-कामक्रोधादय एतमात्मानं प्रति आगन्तारः देहद्वयाध्यासेन आगमनशीलाः, गन्तारो निवृत्तिशीलाश्च, ते सर्वेऽस्याः शक्तेर्गुणाः। कीदृशमेतमात्मानम्? अद्वयत्वेन स्वयम्प्रकाशानन्दरूपं, वस्तुतो मायारहितम्, अपि च अनया मायया एवाऽस्या मायाया विषयताम् आश्रयतां च गतम्। इति द्वयोर्योजना।।२५१-२।।

कीदृशोऽयमात्मरूपो देवो यस्येयं शक्तिः ? इत्याकाङ्क्षापूरकस्य उत्तरार्धस्य अर्थमाह—य इत्यादिना। य एकोऽद्वितीयः उक्तानि कालादीन्यात्मपर्यन्तानि कारणानि अधितिष्ठति सत्तास्फूर्तिप्रदानेन व्याप्नोति यथा सूर्यश्चाक्षुषान् भावान् विषयी करोति तद्वद् इत्यर्थः।।२५३।। आकाशवदिति। यः अयं देवः कारणानि समष्टिरूपाणि व्याप्येति शेषः। अतः कारणव्याप्त्यनन्तरम् इदं व्यष्टिरूपं विश्वम् अपि अधितिष्ठति, यथाऽऽकाशो घटादीनित्यर्थः।।२५४।। येयमस्यात्मनः कार्यकारणाऽधिष्ठातृतोक्ता साऽप्यनयाऽघटितघटनापटीयस्या माययैवोपपद्यत इत्याह—अनयेति। तस्य असङ्गस्वप्रकाशरूपस्य यत् कारणतादात्म्यं तद् अनया मायया एव सम्भवति, न स्वतः स्वभावत इत्यर्थः।।२५५।। एवं कार्यसङ्गोऽपि तथेत्याह—पुरुष इति। सङ्गम् आयातः ससङ्गो जातः, यथा कयाचिद्

स्फुरता है, उसे 'दूसरा' बनाने वाला कुछ है ही नहीं, वह स्वयम् आनंद है और सर्वज्ञता तृप्ति आदि से सुशोभित है। किंतु अविद्या अपने जडतात्मक स्वरूप से उस आत्मा को आच्छादित कर देती है अर्थात् उसका वैसा व्यवहार नहीं होने देती। यह आवरण उस अविद्या का स्वाभाविक गुण बताया जाता है क्योंकि लौकिक अनुभवों में अविद्या आवरण करती हुई ही मिलती है।।२५०।। इसके विक्षेपात्मक गुण भी प्रसिद्ध हैं : इस स्थूल-सूक्ष्म जगत् के जन्मादि, मैं-पन, मेरा-पन, कामना, क्रोध आदि इसी के गुण हैं जो देहद्वय में अध्यास के कारण आत्मा में आते-जाते हैं। ऐसे विक्षेपात्मक गुण करोड़ों हैं। स्वप्रकाश आनन्दरूप यह आत्मा मायावर्जित रहते हुए भी मायाद्वारा ही इस माया का आश्रय और विषय बना हुआ है अर्थात् जो हमारा यह अनुभव है कि हम अपने व्यापक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं यह भी अपारमार्थिक ही है।।२५१-२।।

जिसकी यह शक्ति है वह आत्मरूप देव कैसा है ? इसका उत्तर देते हैं : जैसे भगवान् भास्कर चाक्षुष भावों को (रूपों को) विषय करते हैं वैसे वह एक अद्वितीय देव काल इत्यादि पूर्वोक्त एवं अन्य भी सभी कारणों को सत्ता-स्फूर्ति देकर व्याप्त करता है। (कालादि जो कुछ भी कारण रूप से प्रतीत होता है उसे सत्ता व भासमानता प्रदान करने वाला आत्मा ही है।)।।२५३।।

पुरुषो निर्गुणोऽसङ्गो विक्रियालेशवर्जितः। मायया सङ्गमायात औषधैरिव मोहितः।।२५६
असङ्गः सङ्गमागत्य यथा कश्चित् सुहृज्जनः। अभिशापं च पापं य प्राप्नुयाद् दुःखकारणम्।।२५७
एवमेष पुमान् मायासङ्गात् क्लेशान् अनेकधा। प्राप्नोति जीवतां प्राप्य हेतुतां जगतोऽपि च।।२५८
अहो! मायाबलं कीदृग् अनया संविमोहितः। असङ्गो निर्गुणो ज्योतिरानन्दात्मा स्वयम्प्रभः।।२५९

संसारचक्रम्

एवंभूतोऽपि संसारचक्रं स्वात्मविनिर्मितम्। प्राप्तवानिदमत्युग्रं मायया परिमोहितः।।२६०

योषिता कार्मणौषधैः मोहितः कश्चित् तद्विलासेषु सज्जेत तद्वदित्यर्थः।।२५६।। तत्र दृष्टान्तान्तरमाह—असङ्ग इति। यथा कश्चिदसङ्गः सङ्गविमुखोऽपि सकलानुग्राहकत्वलक्षणसौहार्दवशेन केनचिद् दुर्जनेनापि सङ्गमागत्य अभिशापं मिथ्यापवादं पापं तत्फलं च अणीमाण्डव्यवत्[1] प्राप्नुयाद् इत्यर्थः।।२५७।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति। स्पष्टम्।।२५८।। तदुपपादकं मायाया अघटितघटनापटीयस्त्वमाह—अहो! इति। कीदृग् अचिन्त्यं, यतः अनया असङ्गादिरूपोऽपि आत्मा मोहितः।।२५९।।

एतत्सम्बन्धादेव आत्मा संसारचक्रं प्रविष्ट इति दर्शयन् संसारं चक्रतया प्रतिपादयन्तं चतुर्थमन्त्रम्[2]

यह पूर्ण देव जो व्यापक स्तर पर कारण माने जाते हैं उन कालादि को व्याप्त कर इस सारे व्यष्टिरूप विश्व का भी अधिष्ठान बनता है जैसे आकाश घटादि का। (देव ही एकमात्र कारण है न कि अन्य जो गिनाये या नहीं भी गिनाये हैं। कारण या कार्य रूप से प्रसिद्ध सारे जगत् का अधिष्ठान आत्मदेव ही है। क्योंकि अनुभव के स्तरपर कारणपरंपरा उपलब्ध है इसलिये उसका शास्त्र अनुवाद कर देते हैं पर उससे यह भ्रम न हो कि आत्मभिन्न कुछ कारण है इसलिये यहाँ समझाया कि आत्मा ही उन-उन कारणों के रूप में समझा जाता है, वे 'कारण' अपने अधिष्ठानभूत आत्मा से अलग होकर कारण नहीं हैं। जैसे घड़े के कारणक्रम में मिट्टी आदि मिलते हैं पर वस्तुतः आकाश ही वायु-तेज-जल क्रम से मिट्टी रूप धर कर घड़ा बनता है वैसे समझना चाहिये। श्रुति इसीलिये कहीं क्रमशः और कहीं बिना क्रमके सृष्टि बता देती है ताकि याद रहे कि कारण तो आत्मा ही है। इस बात पर ब्र. सू. २.३.१० में भाष्यकारने विचार किया है। समष्टि ही नहीं व्यष्टि कारणों के रूप में भी वही उपस्थित है अर्थात् जलाहरण का कारण घट लगता है जबकि वहाँ भी उस रूप में कल्पित आत्मदेव ही कारण है। आत्मा कारणों को 'व्याप्त' करता है जैसे रज्जु ही सर्प माला आदि को व्याप्त करती है। व्यष्टि स्तर पर भी कोई स्वातन्त्र्य नहीं यह व्यक्त करने के लिये समष्टि के अधिष्ठान रूप से कहकर पुनः आत्मा को व्यष्टि का भी अधिष्ठान कहा। अत एव वही सब पर हमेशा नियंत्रण करता है।)।।२५४।। वास्तविक किसी भी संबंध से रहित ज्ञानरूप प्रत्यङ्मात्र आत्मदेव जो कारण बना है वह भी असंभवको संभव-सा दिखाने वाली इस मायाशक्ति से ही बना है, स्वभाव से वह कारण हो ऐसी बात नहीं।।२५५।। गुण, संबंध और किंचित् भी बदलाव से रहित यह परिपूर्ण देव जो कार्यों से संबद्ध है—उन्हें सत्ता-स्फूर्ति दे रहा है—वह भी मायावश ही है न कि स्वभावतः जैसे दवाओं से मोह में—नशे में—पड़ा व्यक्ति बेबस हो जाता है। (या वशीकरण के लिये प्रयोग किया जाने पर व्यक्ति वशीभूत हो जाता है।)।।२५६।। अथ वा जैसे कोई अनासक्त सज्जन अनुग्रह रूप सौहार्द के वश में आकर किसी दुर्जन का संग पाकर दुःखप्रद बदनामी और पाप का भागी हो जाता है ऐसे ही यह आत्मपुरुष माया के सम्बंध से जगत्की कारणता पा जाता है और जीवरूपता पाकर अनेक प्रकार के क्लेश प्राप्त करता है।।२५७-८।। आश्चर्य है! माया का बल कैसा है जो संगहीन गुणरहित ज्ञान-आनंदस्वरूप स्वप्रकाश आत्मा इससे पूरी तरह मोह में डाल दिया गया है।।२५९।। वह आत्मा ऐसे चक्र में पड़ा है—

१. आदिपर्वणि (अ. १०७) आनुशासिके चास्य कथा।
२. 'तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः। अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्।।'

'तमेकनेमिम्' आदि मंत्र की विभिन्न व्याख्यायें—

		श्रीशङ्करानन्ददीपिका	श्रीनारायणदीपिका	भाष्य	श्रीविज्ञानभगवद्विवरण	हिंदी-'विशिष्टार्थ'[1]
१.	चक्र	संसार	स्थूल देह	सर्वात्मा ब्रह्म	सच्चित्सुखैकरसात्मा	दर्शनविषयीभूत देवता
२.	नेमि	अविद्या	कुण्डलिनीलक्षणा चिच्छक्ति	१) जिस अधिष्ठाता परमात्मा की एक कारणावस्था है वह। २) कारणभूत अव्याकृत अवस्था।	माया शक्ति	१) ज्ञाता-ज्ञेय के संबंध रूप ज्ञानों का समूह। १) व्यक्त माया।
३.	त्रिवृत	शुक्ल-लोहित-कृष्ण रूपों से आवृत।	१) वात-पित्त-कफ २) त्रिगुण ३) इडा-पिंगला-सुषुम्ना ४) पृथ्वी-अप्-तेज	सत्त्वादि तीन गुणों से आवृत।	तीन गुणों से व ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र इन तीन मूर्तियों से आवृत।	ज्ञान-इच्छा-क्रिया से आवृत।
४.	षोडशान्त	ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच भूत अंत अर्थात् बाहर हैं जिसके।	१) इंद्रियाँ व भूत हैं अंत अर्थात् मर्म स्थान जिसके। २) प्रश्नोपनिषदुक्त १६ कलायें अंत अर्थात् स्वरूप हैं जिसके। ३) अमावस्या सहित १६ तिथियों से अंत अर्थात् परिणाम होता है जिसका।	१) इंद्रिय व भूतों में जिसके विस्तार की समाप्ति है। २) प्रश्नोपनिषदुक्त १६ कलायें जिसका अंत हैं। ३) प्रपंचात्मरूप से स्थित होकर विराट् सूत्र, १४ भुवन जिसके अवसान हैं।	१) प्रश्नोपनिषदुक्त १६ कलायें या २) इंद्रिय-भूतात्मक १६ विकार जिसके विस्तार की समाप्ति हैं।	बृ.१.५.१४ के अनुसार स्त्री, पशु आदि पंद्रह कलायें व सोलहवाँ जीव—ये संवत्सर से अभिन्न कालरूप हैं।
५.	शतार्धार	५ क्लेश, २८ अशक्तियाँ, ९ तुष्टियाँ ८सिद्धियाँ—ये ५० 'अरा' हैं संसारचक्र के।	छहों चक्रों में कुल पत्र पचास हैं, वे अरा हैं।	पुराणोक्त शक्तियाँ अरा हैं।	१) अकारादि पचास वर्ण २) १० इंद्रियाँ, १० उनके अधिदैव व १० उनके विषय; ४ अंतःकरण, ४ उनके देवता व ४ उनके विषय, १ तम, १ तम का विकार, १ तम का देवता ईश्वर, ५ प्राण—ये ५० अरा हैं।	पंचाग्निविद्या के २५ अंग और पाँच कोशों के २५ अंग—ये ५० अरा हैं।
६.	विंशति प्रत्यरा	१० इंद्रियवृत्तियाँ, १० उनके विषय।	हाथ-पैरों की अंगुलियाँ।	विषयों सहित इन्द्रियवृत्तियाँ।	१) ८ वसु व १२ आदित्य या २) इंद्रियाँ और विषय	तै. १.३ के अनुसार क) अधिलोक-पृथ्वी, द्यु, आकाश, वायु। ख) अधिज्यौतिष-अग्नि,सूर्य, जल, विद्युत्। ग) अधिविद्य-आचार्य, शिष्य, विद्या, प्रवचन। घ) अधिप्रज- माता,पिता, बालक,प्रजनन। ङ) अध्यात्म- नीचे की ठोड़ी, ऊपर की ठोड़ी, वाक्, जीभ। —ये २० सहायक ताड़ियाँ हैं।

---

१. हमारे गुरुचरणों द्वारा प्रणीत।

	श्रीशङ्करानन्ददीपिका	श्रीनारायणदीपिका	भाष्य	श्रीविज्ञानभगवद्विवरण	हिंदी-'विशिष्यार्थ'
७. षड् अष्टक	१) १. करणाष्टक-अव्यक्त, महद्, अहंकार, पंचतन्मात्रायें। २. योगांगाष्टक- यमनियमासनादि। ३. सिद्ध्यष्टक-ऊह, अध्ययन, शब्द, ज्ञान, सुहृत्प्राप्ति, आध्यात्मिकादि दुःखत्रय का विघात। ४. ऐश्वर्याष्टक-अणिमा, महिमा, गरिमा लघिमा, ईशत्व, वशित्व, प्राप्ति, प्राकाम्य। ५. ग्रहाष्टक-घ्राण, वाक्,रसना, चक्षु, श्रोत्र, मन, हस्त, त्वक्। ६. अतिग्रहाष्टक- गंध, वक्तव्य, रस, रूप, शब्द, काम, कर्म, स्पर्श। २) १.ग्रहाष्टक बृ.३.२ में २. अतिग्रहाष्टक बृ. ३.२ में ३. आयतनाष्टक बृ. ३.७.१० इत्यादि में ४. लोकाष्टक बृ. ३.७.१० इत्यादि में ५. देवाष्टक बृ. ३.७.१० इत्यादि में ६. पुरुषाष्टक बृ. ३.७.१० इत्यादि में	'अब्जकैः षड्भिः' पाठ है— १) छह चक्रों के 'क' अर्थात् सिर, कर्णिकाओं से उपलक्षित है। २) 'अक्षकैः षड्भिः' पाठ है— अकार से क्षकार पर्यन्त वर्णों से उपलक्षित है।	१. प्रकृत्यष्टक-भूमि, आप,अनल, वायु, ख, मन, बुद्धि, अहंकार। २. धात्वष्टक-त्वक्, चर्म, मांस, रुधिर, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र। ३. ऐश्वर्याष्टक ४. भावाष्टक- धर्म,ज्ञान,वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य। ५. देवाष्टक- ब्रह्मा, प्रजापति, देव, गंधर्व,यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच। ६. आत्मगुणाष्टक-दया, क्षान्ति अनसूया, शौच, अनायास, मांगल्य, अकार्पण्य, अस्पृहा।	अन्य सब भाष्य के समान है, देवाष्टक का एक विकल्प मूर्त्यष्टक दिया है जिसमें भव, शर्व, ईशान, पशुपति, उग्र, भीम, रुद्र और महादेव गिने हैं।	१.अ, कवर्ग,ह,विसर्ग २. इ, चवर्ग, य, श ३. ऋ, टवर्ग, र,ष ४.लृ, तवर्ग, ल,स ५. उ, पवर्ग, उपध्मानीय व जिह्वामूलीय ६. स्वरों के आठ भेद- ह्रस्व, दीर्घ,प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक, अननुनासिक। ये छह 'दाँते' हैं।
८. विश्वरूपैकपाश	विश्वरूप अर्थात् स्वप्रकाशात्मा है पाश अर्थात् अवस्थानकारण जिसका।	प्राण सहित अन्न ही एक पाश है।	विश्वरूप अर्थात् नाना रूपों वाला एक कामना नामक-पाश है	विश्वरूप से वर्तमान कामना ही प्रधान पाश है।	कामना ही 'फाँसी' है या 'चेन' है।
९. त्रिमार्ग	देवयान, पितृयाण, कीटादिभावों की प्राप्ति।	अर्चिर्मार्ग, धूममार्ग, अधोमार्ग।	धर्ममार्ग, अधर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग।	अर्चि, धूम व 'जायस्व-म्रियस्व' का मार्ग।	तीन अर्थात् सभी प्रकार के मार्गों पर चलते हुए विभिन्न जीवों को गंतव्यों तक पहुँचाता है।
१०. द्विनिमित्तैकमोह	सुख-दुःख जिसके दो निमित्त हैं, 'क चिदात्मा का मोह जिसके परे ाने में प्रतिबंधक है।	सुख-दुःख इन दो के निमित्त से जिसके साथ एक मोह होता है।	पुण्य-पाप—इन दो का निमित्तभूत एक मोह अर्थात् देहादि में अभिमान है।	भाष्य के समान।	आवरण-विक्षेप इन दो निमित्तों से सारी गति कराने वाला अज्ञानरूप मोह।

अविद्या यस्य चक्रस्य नेमिरुक्ता मनीषिभिः। यतः संसारचक्रस्य परितो नेमिवत् स्थिता।।२६१

रूपैस्त्रिभिस्तु संवीतं कृष्णशुक्लारुणैर्बहिः। अयो-रूप्य-प्रवालानां पट्टिकाभी रथाङ्गवत्।।२६२

एकादशेन्द्रियैः सार्द्धं भूतपञ्चकमस्य हि। नाभिच्छिद्रस्य संस्थानम् अरा यत्र प्रतिष्ठिताः।।२६३

अराः पञ्चाशदस्याऽपि चक्रस्योक्ता मनीषिभिः[1]। पञ्च क्लेशास्तथा चाष्टौ सिद्धयो नव तुष्टयः।
अशक्तयस्तथैवाऽष्टाविंशतिः स्युररा इमे।।२६४

अवतारयति—एवं भूतोऽपीति द्विषष्टिश्लोकैः। एवंभूतः असङ्गादिरूपः अपि आत्माऽनया मायया मोहितः संसारचक्रं प्राप्तवान्। कीदृशं चक्रम्? स्वात्मना मायाशबलरूपेण निर्मितम् इति सम्बन्धः। अत्र स्वात्मविनिर्मितम् इति पदेनेदं सूच्यते—मन्त्रगतः पुल्लिङ्गो द्वितीयान्तश्च तच्छब्द आत्मानं परामृश्य चक्रेण सह तत्तादात्म्यं मृद्घट इत्यत्रेव बोधयतीति।।२६०।। अविद्येति। यस्य संसारचक्रस्य मूलप्रकृत्यादिपदवाच्या अविद्या केवला नेमिः बहिर्मण्डलाकारकाष्ठसमा सर्वतो व्याप्य अवस्थितत्वाद् इत्यर्थः।।२६१।।

त्रिवृत्-पदार्थमाह—रूपैरिति। तच्चक्रं शुक्लरक्तकृष्णवर्णतया प्रसिद्धैः सत्त्वरजस्तमोगुणैः संवीतं वेष्टितं यथा लोहरजतविद्रुममयफलकैः खचितं प्रसिद्धं रथचक्रं भवेद् इत्यर्थः।।२६२।।

षोडशान्त-पदार्थमाह—एकादशेन्द्रियैरिति। नाभिच्छिद्रस्य इति जातावेकवचनम्। अरा नाभिनेम्योः तिर्यक्प्रोतानि काष्ठानि तानि येषु नाभिगतच्छिद्रेषु तिष्ठन्ति तेषां छिद्राणां यत् संस्थानं संनिवेशः तद्रूपाः षोडशविकारा बोध्याः। ते च एकादशेन्द्रियभूतपञ्चकात्मकाः प्रसिद्धाः। तथा च षोडश अन्ता नाभिप्रान्ता यस्य—इति श्रौतपदार्थः। नाभिर्नाम अराणाम् अन्तरत आधारभूतं काष्ठमित्यर्थः।।२६३।।

अज्ञानवश आत्मा संसारचक्र में भ्रमण कर रहा है यह दिखाते हुए उपनिषत्के चौथे मंत्र में संसार को चक्र रूप से बताया गया है। उस चक्र की एक नेमि बतायी है। नेमि चक्के का सबसे बाहरी गोला होता है। उस नेमि पर तीन पट्टियाँ चढी बतायी हैं जैसे चक्का सड़क की रगड़ से घिसे नहीं इसके लिये लोहे की पट्टी उस पर ठोक दी जाती है। चक्र में पचास अरे अर्थात् ताड़ियाँ हैं जो नाभि में सोलह छेदों में प्रोत हैं। अरों को सहारा देने वाले बीस प्रत्यरे या छोटे अरे हैं। नेमि में छह तीखी धारायें हैं, छह पहलू हैं। यह चक्र एक पाश या रस्सी से बँधा है, तीन मार्गों पर चलता है, इसके दो निमित्त हैं तथा इसका एक मोह है। चक्र के अंगों की प्रतीकता का खुलासा उपनिषद्व्याख्याओं में आचार्यों ने किया है जिसका संक्षेप दर्शित तालिका में स्पष्ट है।

इस चक्र का विस्तृत वर्णन अब पुराण में किया जायगा :

आत्मा किसी भी संबंध से परे रहते हुए भी इस माया से पूर्णतः मोह में पड़कर इस अतीव उग्र (भयावह) संसार रूप चक्र में फँस गया है जिसे स्वयं आत्मा ने ही बनाया भी है।।२६०।।

मनीषियों ने इस चक्र की, चक्के की, नेमि अविद्या को बताया है क्योंकि जैसे चक्के को सब ओर से घेर कर नेमि रहती है ऐसे संसार को अविद्या ही घेरे हुए है।।२६१।। जैसे रथ के चक्के पर लोहा चाँदी और प्रवाल की पट्टियाँ चढ़ी रहती हैं वैसे काला सफेद और लाल इन तीन रूपों द्वारा यह संसारचक्र बाहर से लिपटा है। (प्रवाल एक वनस्पति है जिसके फल लाल होते हैं। दार्ष्टांत में पृथ्वी जल और तेज को छान्दोग्य ६.४ के अनुसार काला आदि से कहा है।)।।२६२।। ताड़ियाँ चक्के के भीतरी ओर जिस पर आधारित रहती हैं उसे नाभि कहते हैं। उसमें छिद्र होते हैं जिनमें ताड़ियाँ फँसी रहती हैं। नाभि के घेरे को सोलह हिस्सों में बाँट कर छेद किये गये हैं। वे सोलह हैं ग्यारह इन्द्रियों सहित पाँच महाभूत। (दस बाहरी और एक भीतरी इंद्रिय अर्थात् मन।)।।२६३।।

१. संख्याने कुशलाः सांख्यवादिनः। अत्र प्रसंगे सांख्यकारिकाः ४६-५१ द्रष्टव्यास्तदनुसारित्वात् पुराणस्य।

अन्यस्मिन्नन्यबुद्धिर्या साऽविद्या तमईरिता। मोहोऽहंबुद्धिरुद्दिष्टा देहादौ मूढचेतसः। ।२६५

महामोहोऽत्र रागः स्याद् विषये सुखहेतुके। तामिस्रो द्वेष उद्दिष्टः प्रतिकूलेषु वस्तुषु। ।२६६

स्याद्योऽत्राऽभिनिवेशाख्यः सोऽन्धतामिस्र ईरितः। पुत्रदारादिविषये ममत्वेनैव जायते। ।२६७

ऊहः शब्दश्च सम्प्रोक्तस्तथैवाध्ययनं पुनः। दुःखत्रयविघातश्च सुहृत्प्राप्तिश्च सप्तमी।
दानमित्युदिता अष्टौ सिद्धयो मुनिसत्तमैः। ।२६८

आध्यात्मिकाश्चतस्रः स्युस्तुष्टयो मुनिसत्तमाः। अत्र प्रकृत्युपादानकालभाग्याभिधा इमाः।।
पञ्च बाह्याश्च सम्प्रोक्तास्तुष्टयः परमा इमाः। ।२६९

त्वक्चक्षुःश्रोत्ररसनाघ्राणानीन्द्रियपञ्चकम्। ज्ञानाभिधमिदं चान्यत् पञ्चकं कर्मसंज्ञितम्।।
वाक्पाणिचरणद्वन्द्वपायूपस्थाख्यमीरितम्[1]। ।२७०

'शतार्धार'-पदार्थमाह—अरा इति षट्त्रिंशच्छ्लोकैः। अस्य चक्रस्य अराः क्लेशादिरूपाः तत्तद्भेदसङ्ख्यया पञ्चाशत् च बोध्याः। क्लेशादेर्भेदान् साङ्ख्यप्रसिद्धान् दर्शयति—पञ्चेत्यादिना। ।२६४।। तत्र पञ्च क्लेशान् अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशरूपान् तमोमोहमहामोहतामिस्रान्धतामिस्रसंज्ञान् निरूपयति—अन्यस्मिन्निति त्रिभिः। या इयं विपर्ययरूपा अविद्या सा तम इत्युक्ता। या तु मूढस्य देहादिविषयिकाऽहंबुद्धिः अस्मिताऽऽख्या सा मोह इत्युक्तेत्यर्थः। ।२६५।। महामोह इति। स्पष्टम्। ।२६६।। स्याद्योऽत्रेति। ममत्वेनैव जायते त्यागाऽसहिष्णुत्वलक्षणममतारूप इति यावत्। ।२६७।।

सिद्ध्यष्टकमुद्दिशति—ऊह इति। एतत्स्वरूपं स्वयमेव वक्ष्यति (श्लो. २८३ तः)। ।२६८।। तुष्टीरुद्दिशति[2]—आध्यात्मिका इति। अध्यात्मं सङ्घातान्तर्वर्तिनं प्रकृत्यादिपदार्थमाश्रित्य प्रवृत्ता आध्यात्मिकाः ताः चतस्रः। बाह्या बाह्यविषयोपरमनिमित्ताः। ।२६९।। अशक्तीः अष्टाविंशतिसङ्ख्याः कीर्तयितुं तदुपयोगीनि एकादशेन्द्रियाणि

विचारक इस चक्र के पचास अरे (ताड़ियाँ) भी बताते हैं। पाँच क्लेश, आठ सिद्धियाँ, नौ तुष्टियाँ और अट्ठाइस अशक्तियाँ—ये अरे समझने चाहिये। ।२६४।। पाँच क्लेश इस प्रकार हैं: १) पदार्थ हो कुछ पर उसे समझा कुछ और जाय यह विपर्ययरूप अविद्या पहला क्लेश है जिसे तम कहते हैं। २) मूढतायुक्त चित्त वाले को देहादि में 'यह मैं हूँ' ऐसी जो अस्मिता होती है वह मोह नामक दूसरा क्लेश है। ३) तीसरा क्लेश महामोह है जिसका स्वरूप है सुखकारण समझे जाते विषय के प्रति राग। ४) प्रतिकूल वस्तुओं के प्रति द्वेष तामिस्र नामक चौथा क्लेश है। ५) पाँचवे क्लेश का नाम अंधतामिस्र है जो ऐसे अभिनिवेश या आग्रह रूप में उपस्थित होता है कि पुत्र पत्नी आदि विषय मेरे ही हैं और मेरे ही बने रहें। ।२६५-७।।

श्रेष्ठ मुनियों ने आठ सिद्धियाँ बतायी हैं—ऊह, शब्द, अध्ययन, आध्यात्मिक दुःखविघात, आधिदैविक दुःखविघात, आधिभौतिक दुःखविघात, सुहृत्प्राप्ति और दान। (इनका स्वरूप श्लोक २८३ से स्वयं बतायेंगे।)। ।२६८।।

हे मननशीलो ! नौ तुष्टियाँ हैं। देहादिसंघात में विद्यमान प्रकृति आदि पदार्थों के सहारे प्रवृत्त होने वाली चार तुष्टियाँ हैं—प्रकृतितुष्टि, उपादानतुष्टि, कालतुष्टि और भाग्यतुष्टि। संघात से बहिर्भूत विषयों से उपरत रखने वाली पाँच तुष्टियाँ हैं। (श्लो. २८८ से इनका विवरण करेंगे।)। ।२६९।।

---

१. पाणिचरणद्वन्द्वेति द्वन्द्वपदेन करचरणगोलकयोरेव द्वित्वमुक्तं नेन्द्रिययोरपि, संख्याऽधिक्यप्रसङ्गात्, सप्तगत्यधिकरणे (ब्र. सू. २.४.२ सू. ५-६) च संख्यानिर्धारणात्।

२. तुष्टिस्वरूपवर्णनं श्लो. २८८ तः।

एकादशं मनश्चात्र कारणं ज्ञानकर्मणोः। एकादशेन्द्रियाण्यत्र कथितानि मनीषिभिः।।२७१

तेषां स्वरूपहानं वा सत्त्वे वा कार्यशून्यता। स्वल्पसाम्यादिकारित्व मथवेन्द्रियजो वधः।।२७२

सिद्धितुष्टीन्द्रियाणां स्युर्वधा उक्तास्त्वशक्तयः। अष्टाविंशतिरित्येताः तुष्टिसिद्धिसमन्विताः।।
अविद्याद्यैः सह क्लेशैः अराः पञ्चाशदीरिताः।।२७३

तमोऽविद्येति या प्रोक्ता साऽविद्या परिकीर्तिता। अष्टधा विषयो यस्मादष्टधाऽयं व्यवस्थितः।।२७४

कारणं त्वेकरूपं स्यात् कार्यं सप्तविधं पुनः। द्विधान्तःकरणं तद्वद् महाभूतानि पञ्च च।।२७५

दर्शयति—त्वगिति द्वाभ्याम्। स्पष्टं द्वयम्।।२७०-१।। अशक्तीनाम् अष्टाविंशतिं स्फुटीकृत्य ताभिः अराणां पञ्चाशत्संख्यापूर्तिं दर्शयति—तेषामिति द्वाभ्याम्। तेषाम् एकादशेन्द्रियाणां यत् कुष्ठादिरोगैः स्वरूपस्य हानं नाशः, सत्त्वे विद्यमानत्वेऽपि वा विषयग्रहणरूपकार्यराहित्यम्, अथ वा पुरुषान्तरेन्द्रियापेक्षया स्वल्पकार्यकारित्वं, समकार्यकारित्वं वा—उत्कर्षाऽभाव इति यावत्। तद्रूप इन्द्रियाणां वधे सति बुद्धेस्तत्प्रयुक्ताऽसामर्थ्यरूपा अशक्तयो निरूपकभेदाद् एकादश। एवम् अष्टसिद्ध्यभावप्रयुक्ता बुद्धेरशक्तयोऽष्टौ, नवतुष्ट्यभावप्रयुक्ताश्च ता नव। सङ्कलनया अष्टाविंशतिः एता अशक्तयः नवभिस्तुष्टिभिः अष्टाभिः सिद्धिभिः पञ्चभिः क्लेशैश्च सहिताः पञ्चाशद् अरात्मका उक्ता इति द्वयोरर्थः।।२७२-३।।

प्रसङ्गात् क्लेशानामवान्तरभेदानाह—तमोऽविद्येति नवभिः। तम इति अविद्या इति च नामद्वयेन प्रसिद्धा या अनात्मनि आत्मबुद्धिरूपाऽविद्या सा अष्टधा ज्ञेया, तद्विषयस्य अष्टधा व्यवस्थितत्वादित्यर्थः।।२७४।। तद्विषयाष्टकमेव दर्शयति—कारणमिति। कारणं प्रकृत्याख्यं प्रथमम् आत्माध्यासविषयो भवति। तदनन्तरं कार्यक्रमेण महत्तत्त्वाऽहङ्काररूपमन्तःकरणद्वयं भूतपञ्चकं च तेऽध्यासगोचरी भवन्तीत्यर्थः।।२७५।। उक्ताऽविद्या बीजरूपेण सुषुप्तावपि तिष्ठति। तस्या अङ्कुरभूता मोहाख्या अस्मिताऽपि जाग्रत्स्वप्नयोः अहंरूपेण तानेव अष्टौ

अशक्तियाँ अट्ठाइस हैं, अब उनका स्पष्टीकरण करते हैं : त्वक्, चक्षु, श्रोत्र, रसना, घ्राण—यह ज्ञानेन्द्रियों का पंचक है और वाक्, हाथ, पैर, पायु, उपस्थ—यह कर्मेन्द्रियों का पञ्चक है। इंद्रियों के प्रसंग में ग्यारहवाँ मन है जो ज्ञान और कर्म दोनों का साधन है। विचारशीलों ने जीव की उपाधि में स्थित ग्यारह इंद्रियाँ कही हैं। (भाष्यकार ने विचारपूर्वक स्थापित किया है कि ग्यारह कार्यों से अन्य कार्य उपलब्ध न होने से इतनी ही इंद्रियाँ मानना संगत है।)।।२७०-१।। इन ग्यारहों का प्रकट न होना; प्रकट रहते भी कार्य न कर पाना; थोड़ा ही कार्य कर सकना; अत्यंत साधारण कार्य करना—इस तरह की अवस्था इन्द्रियवध कहलाती है जिससे बुद्धि में असमर्थता आ जाती है। ग्यारह इंद्रियों के वध से आने के कारण बुद्धि में ग्यारह अशक्तियाँ कही जाती हैं। आठ सिद्धियों के और नौ तुष्टियों के अभाव से भी बुद्धि में अशक्तियाँ रहती हैं। यों ग्यारह, आठ और नौ को मिलाकर अट्ठाइस अशक्तियाँ हैं। इनमें नौ तुष्टियाँ, आठ सिद्धियाँ और पाँच क्लेश जोड़ें तो पचास की संख्या प्राप्त हो जाती है जो संसारचक्र के अरे (ताड़ियाँ) हैं। (मूल में इन्द्रियों का 'स्वरूपहान' कहा है जिसका अर्थ है शरीर में उनकी स्थिति का बोधक कोई चिह्न न होना। यह कभी जन्मतः होता है, कभी रोग से, कभी दुर्घटना आदि से। स्वयम् इन्द्रिय तो प्रलयपर्यन्त या मोक्षपर्यन्त बनी रहती है ऐसा वेदान्त संप्रदाय में मान्य है।)।।२७२-३।।

मोहोऽस्मिता च तेषु स्याद् अहंबुद्ध्या ग्रहे सति। सोऽपि तेनाष्टधा प्रोक्तोऽनन्तभेदोऽपि
पूर्ववत्।।२७६

परत्राऽत्र च लोके स्युः पञ्च पञ्च विभेदिनः। दिव्याश्च मानुषाश्चैते विषयाः सुखहेतवः।।
रागो दशसु सर्वेषां तत्संख्यस्तेन स स्मृतः।।२७७

अणिमा गरिमा चैव लघिमा महिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमप्युक्तमीशित्वं वशिता तथा।।
अष्टावेता महासिद्धीः केचिदाहुर्मनीषिणः।।२७८

अविद्याविषयान् विषयीकरोतीत्यतः स मोहोऽप्यष्टधा ज्ञेय इत्याह—मोह इति। तेषु अविद्याविषयेषु अहंबुद्ध्यात्मके ग्रहणे सति निरूप्यमाणो यो मोहोऽस्मिताऽऽख्यः सोऽपि पूर्ववद् अविद्यावद् अष्टधा ज्ञेयः। कीदृशः? विषयव्यक्तिभेदेन अनन्तभेदोऽपि इति सम्बन्धः।।२७६।।

पञ्चज्ञानेन्द्रियविषयाणां दिव्याऽदिव्यभेदेन प्रत्येकं द्वैविध्यात् तद्विषयको रागो दशविध इत्याह—परत्रेति। परत्र लोके भवा दिव्याः पञ्च इन्द्रियविषयाः स्युः। अत्र लोके च भवा मानुषा विषया अपि पञ्च स्युः। तेषु दशसु सुखसाधनत्वाज्जायमानो रागः इच्छात्मकोऽपि दशविध इत्यर्थः।।२७७।।

द्वेषस्य अष्टादशविषयभेदाद् अष्टादशधाभावमाह—अणिमेति त्रिभिः। दिव्यादिव्यादिभेदेन उक्तविषयैः सहिता अणिमाद्या अष्टौ सिद्धीः वक्ष्यमाणविधया द्वेषस्य विषयभूताः प्राहुरिति शेषः। केचित् तु मनीषिणः इत्थम् आहुः। 'इत्थं' कथम्? इत्याकाङ्क्षायाम् आह—अस्मितेत्यादि। भेदाद् इतिं ल्यब्लोपे पञ्चमी। तथा च अस्मिताया यः कारणाद्यष्टविषयकत्वेन भेदो, यश्च रागस्य दशविधविषयकत्वेन भेदः, तं सविषयकम् आदायैव उत्तरयोः

प्रसंगवश क्लेश कितनी तरह के हैं यह समझाते हैंः जिसे तम या अविद्या कहा था (श्लो. २६५)—जिसका स्वरूप है अनात्मा को आत्मा समझना—वह अविद्या, अर्थात् कार्याऽविद्या आठ तरह की है क्योंकि उसके ये विषय आठ तरह से उपस्थित हैं। आत्मा के अध्यास का विषय बनने वाली पहली चीज़ है प्रकृति नाम कारण, वह तो एकरूप है (अर्थात् केवल कारण ही है, व्यावहारिक स्तर पर उसे कार्य नहीं समझ सकते)। कार्यवर्ग सात तरह स्थित है—महत्तत्त्व एवं अहंकार यों दो तरह अंतःकरण मौजूद है और महाभूत पाँच हैं। यों एक, दो, पाँच जुड़कर आठ हैं जो अविद्या के विषय हैं।।२७४-५।। अविद्याविषयों को मैं-रूप से ग्रहण करना अस्मिता या मोह है। यह भी विषय आठ होने से आठ तरह का है और यदि विषयों के तत्तद्रूपों को, कार्याकारों को लें तो मोह भी अनंत भेदों वाला है क्योंकि वैसे विषय अनंत हैं। (पूर्वोक्त अविद्या हमेशा रहती है, गहरी नींद में भी रहती है। जैसे बीज से अंकुर होता है ऐसे उस अविद्या से जाग्रत् व स्वप्न के समय मोह होता है जो अविद्याविषयों को ही ग्रहण करता है। सांख्यकारिकाव्याख्याता अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों को विषय करने से मोह को अष्टविध बताते हैं।)।।२७६।। परलोक में होने वाले इंद्रियों के दिव्य विषय रूपादिभेद से पाँच हैं और इस लोक में मनुष्यादि को उपलब्ध इंद्रियविषय भी पाँच हैं। ये दसों क्योंकि सुखोपाय बनते हैं इसलिये इनके लिये होने वाली इच्छा अर्थात् राग को दस तरह का कहते हैं। (कुछ लोग ज्ञानेंद्रिय-विषयों को तथा कर्मेन्द्रियविषयों को मिलाकर दस की संख्या बताते हैं जिन्हें गोचर करने से राग दशविध है।)।।२७७।।

द्वेष अठारह तरह का है। अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व—कुछ मनीषी ये आठ महासिद्धियाँ बताते हैं। पूर्वोक्त दस विषय और ये आठ महासिद्धियाँ मिलकर अठारह हैं जो द्वेष के गोचर बनकर उसे भी अठारह तरह का बना देते हैं। अन्य विचारशील कहते हैं कि आठ भेदों वाली अस्मिता और दस भेदों वाला राग, इन्हें मिलाने से जो अठारह भेद होते हैं उन्हीं के आधार पर राग के बाद गिने जाने वाले दो क्लेशों के,

अस्मिता रागयोर्भेदाद् भेदोऽत्रोत्तरयोर्द्वयोः। एकैकस्तेन कथितो लोकेऽष्टादशधा स्थितः। ।२७६

केनाऽप्यत्र निमित्तेन यदा ते दुःखहेतवः। प्रातिकूल्यान्निमित्तस्य तेषु द्वेषः प्रजायते। ।
विषयाष्टादशत्वेन तत्संस्था परिकीर्तिता। ।२८०

प्रातिकूल्यस्य विज्ञानाद् भीतिर्या जायतेऽधिकात्। आत्मनोऽभिनिवेशोऽयं ममत्वाद् द्वेषवद् भवेत्। ।२८१

अविद्यादिः समुद्दिष्टो विद्वद्भिर्यो विपर्ययः। पञ्चधा स तु सूक्ष्मत्वाद् द्विषष्टिरिह संस्थितः। ।२८२

ऊहस्तर्कः समुद्दिष्टो मननं यत् प्रकीर्तितम्। शब्दो वेदोऽत्र सार्थः स्याद् यतः सा ज्ञानसन्ततिः२८३

प्रवर्तते ततो ध्यानं शब्दशब्दादुदीरितम्। तदेवाध्ययनं प्रोक्तं श्रवणं शास्त्रगं हि यत्। ।२८४

द्वेषाऽभिनिवेशयोः भेदो वर्णनीयः। तेन अस्मितारागयोः विषयोपादानेनैव द्वेषाऽभिनिवेशयोः मध्य एकैकः प्रत्येकम् अष्टादशधा उक्तः। इति द्वयोरर्थः। ।२७८-६। । अष्टादशधात्वमेव स्फुटयति—केनाऽपीति। ते दश विषया अणिमादिसिद्ध्यष्टकसहिताः, पक्षान्तरेऽस्मिताविषयसहिता वा, केनचिद् निमित्तेन विहताः सन्तो दुःखहेतवो भवन्ति तदा विघातनिमित्तगतप्रातिकूल्यमाश्रित्य तेषु द्वेषो जायते। तत्संस्था तस्य द्वेषस्य संस्था सम्यग् भेदेन स्थितिः विषयाऽपेक्षयाऽष्टादशधोक्तेत्यर्थः। ।२८०। । एवमुक्तविषयाणां विनाशभयरूपोऽभिनिवेशोऽप्यष्टादशधा ज्ञेय इत्याह—प्रातिकूल्यस्येति। विषयेषु ममत्वाद् हेतोः तदपहारक आत्मनः प्रातिकूल्यं विज्ञाय या अधिकाद् बलिनः सकाशाद् भीतिर्जायते तद्रूपः अभिनिवेशः अपि द्वेषवद् अष्टादशधा भवेद् इति सम्बन्धः। ।२८१। । अविद्यादीति[1]। यः अयं विपर्ययः अविद्यादिपञ्चक्लेशरूपैः पञ्चधा उक्तो विद्वद्भिः व्यासाद्यैः। तथा चोक्तम्—'अविद्या पञ्चपर्वैषा तस्माज्जाता महात्मनः' (विष्णु पु. १.५.५) इति। स तु विपर्ययोऽवान्तरभेदैः सूक्ष्मो भवति, तां सूक्ष्मतामादाय तु द्व्यधिकषष्टिसंख्याक उक्तः[2]। तथा हि—अविद्याऽस्मितयोः उक्तविधया प्रत्येकम् अष्टविधत्वम्, रागो दशधा, द्वेषाभिनिवेशौ प्रत्येकम् अष्टादशधा; सङ्कलने द्विषष्टिरिति। ।२८२। ।

सिद्ध्यष्टकस्वरूपं[3] स्फुटयति—ऊह इति पञ्चभिः। ऊहपदेन तर्कात्मकं मननम् उच्यते। शब्दपदेन तु वेदवाचकेन स्वतः प्रवर्तमाना ज्ञानसन्ततिर्लक्ष्यते। ततो ध्यानं निदिध्यासनं शब्द इति पदेनोक्तम्। अध्ययनं तु श्रवणं बोध्यम्। तथा च—अर्थवशेन अध्ययनमूहः शब्द इत्येवम् एषामुत्पत्तिक्रमो बोध्यः। इति द्वयोर्भावः। ।२८३-४। ।

द्वेष और अभिनिवेश के भेद सिद्ध हो जाने से संसार में वे दोनों अठारह-अठारह तरह से उपस्थित हैं। ।२७८-६। । व्यवहारभूमि में जब किसी भी निमित्त से वे अठारह दुःखप्रद हो जाते हैं तब निमित्त की प्रतिकूलता के आधार पर उन विषयों के प्रति द्वेष हो जाता है। विषय अठारह होने से द्वेष की स्थिति भी अठारह तरह बँटी कही जाती है। ।२८०। ।

उक्त विषयों के विनाश का भय अभिनिवेश कहलाता है, वह भी अठारह तरह का है। विषयों में ममता होने से जो उनका अपहरण करे वह हमें अपने प्रतिकूल प्रतीत होता है। ऐसा अपहर्ता हमसे अधिक बलशाली हो तो उससे भय होता है जिसे अभिनिवेश कहते हैं। जैसे द्वेष वैस यह भी अठारह तरह का समझ लेना चाहिये। ।२८१। । जो विपर्यय (विपरीत ज्ञान) विद्वानों ने अविद्या आदि पाँच तरह बँटा बताया है वही उक्त अवान्तर सूक्ष्म भेदों से बासठ तरह का है। (आठ तरह की अविद्या, आठ तरह की अस्मिता, दस तरह का राग, अठारह तरह का द्वेष और अठारह ही तरह का अभिनिवेश—यों बासठ की संख्या बनती है।)। ।२८२। ।

---

१. 'द्यादिरि' सुवचम्।
२. 'सोऽयं पञ्चविधविकल्पो विपर्ययोऽवान्तरभेदाद् द्वाषष्टिरिति' इति सांख्यकौमुदीकाराः (सां. का. ४८) वाचस्पतयः।
३. सांख्यकारिकायां ५१ तट्टीकादौ च विस्तारः।

अध्यात्ममधिदैवं स्याद् अधिभूतमिति त्रिधा। दुःखं तस्य विघातोऽयं सिद्धित्रयमुदीरितम्।।२८५
गुरुः प्रोक्तः सुहृद् नृणां प्राप्तिस्तस्याऽतिदुर्लभा। सप्तमी सिद्धिरुद्दिष्टा यतः सर्वाश्च सिद्धयः२८६
दानं वेदान्तविज्ञानसम्प्रदायप्रवर्तनम्। ऊहाद्याः सिद्धयस्त्वेवं कथिता दुर्लभा नृणाम्।।२८७
प्रकृत्याख्या भवेत्तुष्टिरित्थमालस्यभाजिनाम्। मायेयं सकलं विश्वं सृजत्यत्ति च पाति च।।
सैव विक्रियते नानाकार्यरूपा विकारिणी।।२८८
ततस्तयैव सकलं माययैव यथा भवेत्। तयैव च तथैव स्यादात्मज्ञानं किमुद्यमैः।।२८९

अध्यात्मादि-दुःखत्रयस्य यद्विघातत्रयं तद्रूपं फलभूतं सिद्धित्रयं च बोध्यमित्याह—अध्यात्ममिति।।२८५।। फलरूपसिद्धित्रयस्य श्रवणादिसिद्धित्रयद्वारा जनिका गुरुप्राप्तिरूपा सुहृत्प्राप्त्याख्या सप्तमी सिद्धिर्बोध्येत्याह—गुरुरिति।।२८६।। 'दैपृ शोधने' इति धात्वर्थानुसाराद् दानपदेन विवेकख्यातेः शुद्धिः सम्प्रदायानुसारेण विमलप्रमेयावगाहित्वरूपा प्रतिपाद्यत इत्याह—दानमिति। एता एव मोक्षोपयोगित्वात् सिद्धिपदाभिधानयोग्याः। अणिमादयस्तु ऐश्वर्यरूपत्वाद् गौण्य इति सूचयन्नुपसंहरति—ऊहाद्या इति।।२८७।।

नव तुष्टीः चतुर्दशभिर्निरूपयंस्तत्र आध्यात्मिकासु प्रथमं प्रकृत्याख्यां तुष्टिमभिनयति—प्रकृत्याख्येति त्रिभिः। इत्थं प्रकृत्याख्या तुष्टिः अलसानां ज्ञेया। 'इत्थं' कथम्? मायायाः सकलकार्यकारित्वात् तया यथा कार्यान्तरं जन्यते तथा आत्मज्ञानम् अपि जनिष्यते, तत्र मम उद्यमैः किम्? इत्यालोच्य यद् आत्मज्ञान उद्यमविवर्जनम् एषा प्रकृतितुष्टिः इत्युच्यते। इति त्रयाणामर्थः।।२८८-९०।। संन्यासस्य ज्ञानसाधनतां श्रुत्वा संन्यासानुष्ठानमात्रेण

अब आठ सिद्धियों का स्वरूप बताते हैं—१) ऊह कहते हैं तर्क को जिसे मनन भी कहा जाता है। (वाचस्पति ने कहा है कि संशयों का और पूर्वपक्षों का निराकरण कर उत्तरपक्ष निर्णीत करना—यह यहाँ सिद्धिरूप से कहा जा रहा है।) २) शब्द नाम की सिद्धि से ध्यान, निदिध्यासन कहा जाता है। अर्थ समेत वेद का नाम शब्द है जिस के सहारे वह तात्त्विक ज्ञान की धारा प्रवृत्त होती है जो ध्यानात्मक है; एवं च 'शब्द'-पद लक्षणा से ध्यान का बोधक है। (वाचस्पति (सां. कौमु. ५१) शब्द से उत्पन्न अर्थबोध को ही यहाँ सिद्धिरूप से विवक्षित मानते हैं।) ३) अध्ययन शास्त्रविषयक श्रवण का नाम है। (वाचस्पति अध्यात्मविद्या को गुरुमुख से शब्दशः ग्रहण करना सिद्धि स्वीकारते हैं। अध्ययनमात्र से पदार्थ का तत्त्वज्ञान हो जाये तब सिद्धि है ऐसी अन्यों की व्याख्या है। प्रस्तुत पुराणकार ने अध्ययन-ऊह-शब्द यह क्रम मानकर श्रवण-मनन-निदिध्यासन को प्रथम तीन सिद्धियाँ बता दिया है।)।।२८३-४।। ४-६) दुःखत्रयविघात—ये फलरूप तीन सिद्धियाँ हैं। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक यों तीन तरह के दुःखों की समाप्ति मुख्य सिद्धियाँ हैं क्योंकि अन्य सब इन्हीं की प्राप्ति के लिये है।।२८५।। ७) सुहृत्प्राप्ति अर्थात् गुरुलाभ। बिना हेतु उपकार करने वाले को सुहृत् कहते हैं। नरों का सुहृत् गुरु बताया गया है। उसकी प्राप्ति एक दुर्लभ योग है। यही सातवीं सिद्धि है। इसी से बाकी सिद्धियाँ संभव होती हैं (क्योंकि गुरु से ही अध्ययन होकर श्रवणादि संपन्न हो सकते हैं जिससे तत्त्वज्ञान द्वारा दुःखविघात होगा। वाचस्पति गुरु के साथ शिष्य और सतीर्थ्य का भी संग्रह करते हैं।)।।२८६।। ८) दान का अर्थ है वेदान्त के विज्ञान के संप्रदाय को प्रवृत्त करना। (अर्थात् न्यायप्राप्त सच्छिष्य को अद्वैतोपदेश प्रदान करना आठवीं सिद्धि है। वाचस्पति यहाँ दान शब्द को 'दैपृ' धातु से निष्पन्न मानते हैं जिसका अर्थ है शोधन। अतः विवेकज्ञान की शुद्धि को वे दाननामक सिद्धि बताते हैं। किंतु पुराणकार दान का प्रसिद्ध अर्थ ही मान कर उपदेश को सिद्धि कह रहे हैं।) इस प्रकार जो ऊह आदि सिद्धियाँ बतायी हैं वे लोगों को प्राप्त होना अत्यंत कठिन हैं। (अणिमादि तो मिलना सुकर है अतः उन्हें यहाँ न गिनकर वास्तविक महत्त्व वाली सिद्धियाँ गिनी गयी हैं।)।।२८७।।

अब नौ तुष्टियों का वर्णन करेंगे : १) प्रकृति नामक पहली तुष्टि आलसियों में देखी जाती है। 'यह माया ही सकल विश्व का जन्म, नाश और पालन करती है, अनंत कार्यों के रूप में परिवर्तित होने वाली वह स्वयं बदलती

एषा प्रकृतितुष्टिः स्याज्ज्ञात्वा मायामयं जगत्। आत्मविज्ञानजनन उद्यमस्य विवर्जनम्। ।२९०
कारणं कार्यजनकं नियतं संस्थितं यतः। संन्यासोऽप्यात्मविज्ञानजनकः सम्प्रकीर्तितः। ।२९१
संन्यस्यापि ततो नैव श्रवणादिकृतिर्हि या। सोपादानाभिधा ध्यातुरालस्यादेव जायते। ।२९२
कालतो जायते विश्वं कालाज्ज्ञानं भविष्यति। श्रवणादौ ततो व्यग्रं चित्तं कुर्वन्न चोचितम्। ।२९३
इति संचिन्त्य दुर्बुद्धिः श्रवणादावनुद्यमम्। करोति कालतुष्टिः सा पुनर्देहकरी नृणाम्। ।२९४
भाग्याज्जन्तुः समाप्नोति राज्यं लक्ष्मीं यशस्तथा। भाग्यतश्च ममाप्येतदात्मज्ञानं भविष्यति। ।२९५
इत्थं विचार उद्दिष्टा भाग्यतुष्टिर्मनीषिभिः। विचार्यैवं प्रवृत्तोऽपि श्रवणादेर्निवर्तते। ।२९६

कृतकृत्यतां मन्यमानो यच्छ्रवणादिकं न कुर्याद् एषा उपादानाख्या तुष्टिरित्याह—कारणमिति द्वाभ्याम्। यद् नियतं कार्यजनकं तत् कारणम् इत्युच्यते। संन्यासोऽपि च आत्मज्ञानस्य कारणतया शास्त्रे प्रसिद्धः। तत उक्तकारणतालम्बनेन संन्यस्याऽपि यः श्रवणादेः कृत्यभावः सा उपादानाख्या तुष्टिः, आश्रमोपादानप्रयुक्तत्वाद्। इति द्वयोरर्थः। ।२९१-२। । कालमालम्ब्य श्रवणादेः अकरणरूपा कालाख्या तृतीया तुष्टिः इत्याह—कालत इति द्वाभ्याम्। ततः सर्वस्य फलस्य कालाधीनत्वाद् यः श्रवणादौ व्यग्रं चित्तं कुर्वन् भवति स उचितं न करोतीति शेषः। ।२९३। । इति संचिन्त्येति। स्पष्टम्। ।२९४। । चतुर्थीं भाग्य-तुष्टिमभिनयति—भाग्यादिति द्वाभ्याम्। राज्यादिलाभवद् आत्मज्ञानलाभोपि भाग्याधीन एवं विचार्य या श्रवणादेः निवृत्तिः, तद्रूपा भाग्यतुष्टिः। इति द्वयोरर्थः। ।२९५-६। ।

रहती है। जैसे उस माया से ही बाकी सब हो जाता है वैसे ही आत्मज्ञान भी हो जायेगा, उसके लिये मैं उद्यम क्यों करूँ?' —यों जगत् को मायामय समझ कर आत्मबोध के उत्पादनार्थ उद्यम न करना प्रकृतितुष्टि है। ।२८९-९०। । २) उपादान नामक तुष्टि भी ध्याता के आलस्य की ही उपज है। इस तुष्टि से आहत व्यक्ति सोचता है कि यह निश्चित युक्तियुक्त निर्णय है कि कारण कार्य को उत्पन्न करता है और यह भी प्रमाणसिद्ध है कि कर्मसंन्यास आत्मानुभवका उत्पादक है; यह विचार कर वह संन्यास तो ग्रहण कर लेता है लेकिन फिर श्रवणादि नहीं करता। आश्रम का उपादान अर्थात् ग्रहण कर लेने पर भी तन्निमित्तक आवश्यक साधनों का अनुष्ठान न करना—इस तुष्टि को उपादान कहते हैं। कार्यकारणभाव पर भरोसा कर उचित साधनों से विमुखता वस्तुतः आलस्यवश है क्योंकि कारण भी सहकारी आदि के सापेक्ष होता है इस तथ्य को नज़रन्दाज़ करने पर ही यह संतोष-सी स्थिति मन में आती है। ।२९१-२। । ३) कालतुष्टि भी जन्मप्रवाह से निकलने नहीं देती। संन्यास लेकर भी ज्ञान न होने पर वह सोचता है कि जब सारी दुनिया समय आने पर ही पैदा होती है तो काल से ज्ञान भी हो ही जायेगा ! क्योंकि कृषि, गर्भ आदि सर्वत्र फललाभ काल के अधीन है इसलिये श्रवणादि में चित्त को व्यग्र रखना उचित नहीं। इस प्रकार सोचकर जो दुर्मति श्रवणादि में उद्यत नहीं होता वह कालतुष्टि कही जाती है। (क्योंकि कहीं भी काल पर्याप्त कारण नहीं होता, केवल साधारण कारणों में एक है अतः उसी के भरोसे रहने में प्रेरित करना ही मति की दुष्टता है।)। ।२९३-४। । ४) भाग्यतुष्टि भी बड़ा प्रतिबंधक है। व्यक्ति सोचता है कि राज्य, लक्ष्मी, यश आदि जब भाग्य से ही मिल जाते हैं तब मुझे भी यह मोचक आत्मज्ञान भाग्य से ही हो जायेगा ! यह विचार आने पर वह श्रवणादि करना छोड़ देता है जिनमें पहले संलग्न था। इसे मनीषी भाग्यतुष्टि कहते हैं क्योंकि भाग्य के भरोसे दृष्ट सामग्री की उपेक्षा की जा रही है। (इस प्रसंग में तुष्टि से आलस्य या भ्रम के कारण ग़लत भावना के वशीभूत हो सन्मार्ग से च्युत होना कहा जा रहा है न कि अनुत्तम सुख देने वाला सन्तोष। सन्तोष भोगनिरोधक वृत्ति है न कि साधनानिरोधक, जबकि तुष्टियाँ साधना से विमुख करती हैं।)। ।२९५-६। । यहाँ तक चारों आध्यात्मिक तुष्टियों का वर्णन हुआ।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानामिन्द्रियैर्निजैः। अग्रहोऽप्यनुकूलानां तुष्टिपञ्चकमीरितम्। ।२९७

अर्जनं रक्षणं तद्वत् क्षयभोगौ च हिंसनम्। प्राणिनामर्थसम्बन्धाद् भवेदेतत्तु पञ्चमम्। ।२९८

अर्थसन्त्यागतोऽप्येते पञ्चाऽप्युपरमा विदुः। एवं वा पञ्चकं ज्ञेयम् अत्र तुष्टेर्मनीषिभिः। ।२९९

अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिपालने। नाशे व्यये च भोगे च धिगर्थान् क्लेशभाजिनः।।
इति वा पञ्चकं ज्ञेयं बाह्यतुष्टेर्मनीषिभिः। ।३००

सर्वथैवाऽत्र सन्तुष्टो नात्मज्ञाने प्रवर्तते। बाह्ये वाऽभ्यन्तरे वाऽपि स्वल्पस्तुष्टिगणे पुमान्। ।३०१

पञ्चाशत् संख्यया प्रोक्ता अरा विंशति संख्यया। इन्द्रियाणि दशैव स्युरेतेषां विषया अपि।।
क्षुद्रा अराश्च तिष्ठन्ति तस्य चक्रस्य सर्वतः। ।३०२

बाह्यतुष्टिपञ्चकं त्रिधा दर्शयति—शब्देति चतुर्भिः। अनुकूलानाम् अप्रतिषिद्धानामपि शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयाणां यदग्रहणमेतद्रूपं बाह्यतुष्टिपञ्चकं कैश्चिदुक्तमित्यर्थः। ।२९७।। द्वितीयं प्रकारमाह— अर्जनमिति। अर्थसम्बन्धाद् अर्जनम् आरभ्य पञ्चममेतद् हिंसनं क्लेशरूपं भवेद् इत्यनुसन्धाय यः सञ्चितानामर्थानां त्यागः तेन पञ्चनिमित्तकेन निरूप्याः पञ्च उपरमा भवन्ति इति केचिद् विदुः। इति द्वयोः सम्बन्धः। ।२९८-९।। अथवाऽर्जनादिक्लेशमनुसन्धाय अर्थसंचयादेव निवृत्तिः पूर्ववत् तुष्टिपञ्चकात्मिका बोध्येत्याह—अर्थानामिति। क्लेशभाजिनः क्लेशप्रयोजकान्। ।३००।। सकला एतास्तुष्टयो ज्ञानसाधनानुष्ठानविरोधित्वाद् बन्धहेतव इत्याह—सर्वथैवेति। स्वल्पो लघुचित्तः पुमान् बाह्यतुष्टिगणे, आन्तरे तुष्टिगणे वा अत्र एकत्राऽपि सन्तुष्टः सन् आत्मज्ञाने न प्रवर्तत इत्यन्वयः। ।३०१।।

उक्तं चक्रं विंशतिप्रत्यराभिः दशेन्द्रियदशविषयात्मिकाभिः युक्तमित्याह—पञ्चाशदिति। यस्य पञ्चाशदराः प्रोक्तास्तस्य विंशतिसंख्याः क्षुद्रा अराः प्रत्यरापदोक्ताः सर्वतस्तिष्ठन्ति इति सम्बन्धः। प्रत्यरा अराणां प्रति अभिमुखं वर्तमानाः स्वल्पा अराः। ।३०२।।

पाँच बाह्य तुष्टियाँ तीन तरह से समझायी जाती हैं : १) अनुकूल व अनिषिद्ध शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध को अपनी इन्द्रियों से ग्रहण न करना—इसे बाह्य पाँच तुष्टियों के रूप में कुछ लोग मान्यता देते हैं। (इस अग्रहण को ही मोक्षार्थ पर्याप्त समझकर साधनहीन रहना इस तुष्टि का फलित रूप होने से यह हानिकारक है।)। ।२९७। ।२) अर्थसंबंधी अर्जन, रक्षण, क्षय, भोग और प्राणिहिंसा—इन पाँच तकलीफों का विचार कर जो संचित धन का त्याग है वह इन पाँच निमित्तों से होने के कारण पाँच उपरम अर्थात् तुष्टियाँ हैं ऐसा अन्य मनीषी समझते हैं। (धन कमाने आदि में तकलीफ, हिंसा आदि स्पष्ट है। भोग में भी रोगप्रदता से तकलीफ है। इस विचार से धन छोड़ना मात्र मोक्षार्थ पर्याप्त समझ लेना तुष्टि है।)। ।२९८-९।। ३) धन बटोरने में, सँभालने में, उसका नाश होने पर, खर्च होने पर और उसका भोग करने पर क्लेश ही होता है, ऐसे क्लेशप्रद धन को धिक्कार है !—यह सोचकर धनसंचय से निवृत्त होना बाह्य पाँच तुष्टियाँ हैं यह भी विचारकों का एक दल मानता है। ।३००।। चाहे जैसे ये तुष्टियाँ समझी जायें, तुच्छ बुद्धि वाला पुरुष बाह्य या आंतर तुष्टियों से या इनमें किसी एक से भी स्वयं को कृतकार्य मानकर आत्मज्ञान के साधनों में प्रवृत्त नहीं होता जिससे ये तुष्टियाँ बंधन का ही कारण बनती हैं अतः इनसे बचना चाहिये। ।३०१।।

जिस चक्र के पचास अरे बताये उसके बीस प्रत्यरे, छोटे अरे भी हैं जो चक्र में हर तरफ यथास्थान संयोजित हैं। दस इंद्रियाँ और उनके दस विषय—ये बीस प्रत्यरे समझने चाहिये। ।३०२।।

भूमिरापोऽनलो वायुः खमहंबुद्धिमानसे। प्रकृत्यष्टकमेतत्स्यात् प्रकृत्या वा सहाऽपि च।।
मनोबुद्ध्योरभेदेन संयोगेऽप्यष्टकं भवेत्। ।३०३

यमोऽपि नियमस्तद्वद् आसनं प्राणसंयमः। प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं सह समाधिना। ।३०४

ऊहादि चाणिमाद्येतत् सिद्धेः स्यादष्टकद्वयम्। घ्राणं वाग् रसनं चक्षुः श्रोत्रं च मनसा सह।
हस्तौ स्पर्शश्च विज्ञेयं ग्रहाष्टकमिदं सदा। ।३०५

अमीषां विषयास्तद्वद् वेद उक्ता अतिग्रहाः। एतद्धि कथितं कैश्चिद् विद्वद्भिः षष्ठमष्टकम्। ।३०६

ग्रहातिग्रहयोरन्ये तथाऽऽयतनलोकयोः। सुरे च पुरुषे तद्वत् प्रवदन्ति षडष्टकम्। ।३०७

तस्य चक्रस्य षड्भिरष्टकैः नेमिगततीक्ष्णधारारूपैर्योगं दर्शयितुं षण्णामष्टकानां स्वरूपं मतभेदेन दर्शयंस्तत्र प्रथमं केषाञ्चिद् व्याख्यातॄणामभिमतं षडष्टकस्वरूपं प्रतिपादयति—भूमिरिति चतुर्भिः। भूतपञ्चकं मनोबुद्ध्यहङ्काररूपं प्रकृत्यष्टकं भगवद्गीतासूक्तं (७.४) ग्राह्यम्। अथ वा मनोबुद्ध्योरभेदेन संयोग ऐक्ये विवक्षिते सति मूलप्रकृत्याऽष्टसंख्या पूरणीया। तथा च सांख्यप्रसिद्धं प्रकृत्यष्टकं प्रथमं ग्राह्यमिति भावः। ।३०३।। योगाङ्गाष्टकं द्वितीयं बोध्यमित्याह—यम इति। स्पष्टम्। ।३०४।। ऊहादीति। सिद्धेः इति जातावेकवचनम्। तथा च—वर्णितम् ऊहशब्दादिकं सिद्धीनामष्टकं तृतीयम्। अणिमादिकमष्टकं चतुर्थम्। तथा वागादीनां स्पर्शपदोक्तत्वक्पर्यन्तानां पञ्चमाध्याये ग्रहपदेन व्यवहृतानामष्टकं पञ्चमं बोध्यम् इत्यर्थः। ।३०५।। अमीषामिति। अमीषां वागादीनां विषया इन्द्रियाणां बन्धकत्वप्रयोजकत्वाद् अतिग्रह-पदोक्ताः, तेषाम् अष्टकं षष्ठम् इत्यर्थः। ।३०६।। 'वैदिक्याकांक्षा वैदिकेनैव पूरणीया' इति[1] न्यायमनुसृत्य वैदिकपदार्थैः एव षडष्टकसंख्यापूर्ति दर्शयतां परेषां व्याख्यानं दर्शयति—ग्रहातिग्रहेति। ग्रहादिशब्दा जातिपराः। तथा च—ग्रहाणामतिग्रहाणां च पञ्चमाध्याय आर्तभागप्रश्ने प्रसिद्धानाम्, आयतनादीनां च प्रत्येकमष्टकानि आदाय षडष्टकं बोध्यम् इत्यन्य

संसार चक्र में छह अष्टक भी हैं। नेमी में तीखी धार को अष्टक-पद से समझना चाहिये; छह धार वाली नेमि उस चक्र की है। छह में किनका ग्रहण हो इसमें दो मत हैं, दोनों का ही प्रदर्शन पुराण में कर रहे हैं। १) प्रथम है प्रकृत्यष्टक। इसमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार, बुद्धि और मन—इनका ग्रहण है। अथवा मन-बुद्धि को एक ही गिनकर मूल प्रकृति जोड़ लेनी चाहिये। (पहला विभाजन भगवद्गीता के अनुसार और दूसरा सांख्यमत के अनुसार है।)। ।३०३।। २) योगांग-अष्टक दूसरा है। इसमें यम (अहिंसादि), नियम (शौचादि), आसन (स्वस्तिकादि), प्राणों का संयम, प्रत्याहार (चित्तनिरोध से इंद्रियों का निरोध), धारणा (चित्त को किसी स्थान पर स्थिर रखना), ध्यान (ध्येयाकार वृत्तियों का ही लगातार चलना) और समाधि (वृत्ति चलने का भी भान न रहकर ध्येय आकार का ही भान रहना)—इन आठ की गणना होती है। ।३०४।। ३) ऊह आदि पूर्वोक्त आठ सिद्धियाँ तृतीय अष्टक है। ४) अणिमा आदि आठ सिद्धयाँ चौथा अष्टक है। मुख्य-गौण भेद से ऊहादि व अणिमादि दोनों सिद्धि कहलाती हैं अतः दो तरह के सिद्ध्यष्टक समझने चाहिये। (अणिमादि को दीपिका में 'ऐश्वर्याष्टक' शब्द से कहा है।) ५) ग्रहाष्टक पाँचवाँ है जिसमें घ्राण, वाक्, जीभ, नेत्र, कान, मन, हाथ और त्वक् का ग्रहण है। ६) अतिग्रहाष्टक को विद्वान् छठा बताते हैं जिसमें पूर्वोक्त आठ ग्रहों के विषय समझे जाते हैं। (बृहदारण्यक के आर्तभाग ब्राह्मण में (३.२) ग्रह-अतिग्रह का विस्तृत वर्णन है जिसका इस पुराण में पंचमाध्याय में विस्तार किया जा चुका है।)। ।३०५-६।।

कुछ चिंतक मानते हैं कि वेदवाक्य की पूर्ति के लिये वैदिक पदार्थों का उपयोग ही समुचित है अतः यहाँ उपनिषत्

१. संख्योपसंग्रहाधिकरणे (ब्र. सू. १.४.३, सू. ११-३) वाक्यशेषात् प्राणादयः पञ्चजना निर्धारिताः। ततोऽयं न्यायो निःसरेत्।

पृथिवी च तथा कामो रूपाण्याकाश एव च। तमोरूपाणि नीराणि रेतश्चायतनाष्टकम्। ।३०८

अग्निश्च हृदयं चक्षुः श्रोत्रं हृदयचक्षुषी। हृदयं हृदयं चैतल्लोकाष्टकमुदीरितम्। ।३०९

अमृतं च स्त्रियः स्वर्गो दिशो मृत्युरसुस्तथा। अपांनाथः प्रजानाथो देवाष्टकमुदीरितम्। ।३१०

शारीरोऽयं काममय आदित्यः श्रौत्र एव च। छायामयस्तथाऽऽदर्शे स्थितो यश्चोदकस्थितः। ।
योऽयं पुत्रमयश्चैतद् विज्ञेयं पुरुषाष्टकम्। ।३११

षडष्टकमिदं चक्रे कुलालस्य घटादिवत्। वर्त्तते संसृतेश्चक्रे धारा नेमेर्द्विजोत्तमाः। ।३१२

विश्वरूपः पुमानेष रूपं रूपं बभूव यः। स्थावरं जङ्गमं सर्वं महाभूतसमन्वितम्।
स एकः पाश इत्युक्तो जगच्चक्राभिबन्धने। ।३१३

अरनेम्यादिसंयुक्तं बन्धनेन विना यथा। सद्यश्चक्रं विनश्येत तद्वदेतद् द्विजोत्तमाः। ।३१४

आहुरित्यर्थः। ।३०७। । आयतनादीनामष्टकचतुष्टयं पञ्चमाध्याये पञ्चसप्तत्यधिकपञ्चशतसंख्यापूरकं श्लोकम् आरभ्य वर्णितं स्मारयति—पृथिवीति चतुर्भिः। चतुर्णामर्थोऽपि तत एव अवगन्तव्यः। ।३०८-११। । एतत् षडष्टकं संसारचक्रस्य विदारकस्य [°विधार°] नेमिगततीक्ष्णधाराभूतमित्याह—षडष्टकमिदमिति। नेमेः धाराभूतमिदं षडष्टकम् अत्र संसृतिचक्रे तिष्ठति। स्थितिमात्रे दृष्टान्तः कुलालचक्रे घटादिवद् इति। ।३१२। ।

पुष्पमालायाः सूत्रवद् विधारकत्वेन पाशभूतस्तु अस्य चक्रस्य मायाशबलः परमेश्वर एवेत्याह—विश्वेति। ।३१३। । यदि पाशो न स्यात् तदा चक्रं विशीर्येतेति लोकेऽपि प्रसिद्धमित्याह—अरेति। विनश्येत विशीर्येत। तद्वदेतत् संसारचक्रम्। ।३१४। ।

ने संख्या कही है तो संख्येय भी वेदप्रसिद्ध ही समझने चाहिये, स्मृतिप्रसिद्ध नहीं। आठ के समूह को अष्टक कहते ही हैं। यहाँ छह अष्टक बताये हैं। वेद में छह अष्टक सुलभ हैं—१) ग्रहाष्टक २) अतिग्रहाष्टक ३) आयतनाष्टक ४) लोकाष्टक ५) देवताष्टक, ६) पुरुषाष्टक। बृहदारण्यक में ही शाकल्यब्राह्मण में (३.९) आयतनादि अष्टक उपलब्ध हैं। ।३०७। । आयतनाष्टक में ये आठ आते हैं—पृथ्वी, कामना, रूप, आकाश, तम, रूप, जल और रेतस्। ।३०८। । लोकाष्टक है—अग्नि, हृदय, चक्षु, श्रोत्र, हृदय, चक्षु, हृदय और हृदय। ।३०९। । देवाष्टक है—अमृत, स्त्रियाँ, स्वर्ग, दिशाएँ, मृत्यु, प्राण, वरुण और प्रजापति। ।३१०। । पुरुषाष्टक है—शारीर, काममय, आदित्य, श्रौत्र, छायामय, आदर्श में स्थित, उदक में स्थित और पुत्रमय। (यह विषय पूर्व में पाँचवे अध्याय में (श्लो. ५७५ आदि) विस्तार से आ चुका है।)। ।३११। । जैसे कुम्हार के चाक पर घड़े आदि स्थित होते हैं वैसे संसारचक्र की नेमि के धार-रूप से छह अष्टक विद्यमान हैं। (अष्टकों की दोनों ही व्याख्यायें ग्रंथकार को स्वीकृत समझनी चाहिये। इस प्रसंग में आयी संख्याओं से क्या संख्येय लिये जायें इस पर व्याख्याताओं में मतभेद पूर्व में ही दिखा चुके हैं अतः प्रमेय से अविरुद्ध बल्कि उसके अनुरूप सभी व्याख्यायें स्वीकार्य हैं।)। ।३१२। ।

जैसे पुष्पमाला को धागा धारण किये रहता है ऐसे इस चक्र को धारण करने वाला पाश (बंधन) माया से चित्रित परमेश्वर ही है यह 'विश्वरूपैकपाश' शब्द की व्याख्या करते हैं : महाभूतों समेत सभी चर-अचर रूपों में जो उपस्थित है वह अपरोक्ष पुरुष ही विश्वरूप (अर्थात् सर्वरूप) है जो जगद्रूप चक्र को बाँधे रखने में समर्थ इकलौता पाश है ऐसा शास्त्र बताते हैं। अर, नेमि आदि संयुक्तावस्था में रहें तभी तक चक्र होता है जो बंधन के बिना तुरंत नष्ट हो जायेगा, बिखर जायेगा; ऐसे ही यह संसार चक्र मायी महेश्वर के बिना रह ही नहीं सकता। ।३१३-४। ।

पुत्तिकाकीटमुख्या ये स्वल्पाकारास्तु देहिनः। सन्तत्या जनिमृत्यादि गच्छन्तो दुःखभाजनम्॥३१५
एष मार्गस्तृतीयः स्याद् दक्षिणोत्तरयोर्द्वयोः। अपेक्षयाऽत्र मार्गोऽयं चक्रभेदस्य कारणम्॥
त्रिनाभि तदिदं चक्रं ज्ञातव्यं मुनिसत्तमैः॥३१६
वलयत्रयसंयोगात् तदिदं जायते सदा। त्रिवृतं तत एवैतद् नेमिनाभ्योर्द्वयोरपि॥३१७
मध्यनाभिस्तु विज्ञेया मार्गो यो ब्रह्मलोकगः। पितृलोकगतो मार्गो ह्यन्तरा नाभिरीरितः॥३१८
बहिर्नाभिस्त्वियं ज्ञेया पन्था यः स्यात् तृतीयकः। तस्याऽपि च बहिर्ज्ञेया नेमिर्नाभिद्वयोपमा॥३१९

'त्रिमार्गभेदम्' इति पदस्य त्रिभिः मार्गैः भेदो नाभिविन्यासविशेषो यस्य तत्तथा इति व्युत्पत्तिमभिप्रेत्यार्थमाह—पुत्तिकेति पञ्चभिः। पुत्तिका पतङ्गिकाख्या वर्षासु जायमाना कृमिजातिः तत्प्रभृतयः कीटाः पुनः पुनः जनिमृतिभ्यां दुःखभाजनत्वेन प्रसिद्धाः॥३१५॥ एष इति। एष क्षुद्रजन्तुभावरूपो मार्गो दक्षिणोत्तरयोः पितृयाणदेवयानाख्ययोः मार्गयोः अपेक्षया तृतीयत्वेन प्रसिद्धः अत्र छान्दोग्यादौ। तथा च श्रुतिः—'जायस्व म्रियस्वेत्येतत् तृतीयं स्थानम्' (छा. ५.१०.८) इति। अयं त्रिविधो मार्गः उक्तचक्रस्य भेदे विन्यासविशेषे कारणं प्रयोजकं, तत् तस्माद् मार्गत्रयाद् नाभिभावमापन्नाद् इदं चक्रं त्रिनाभि ज्ञेयम्। तदिदं त्रिनाभित्वं मध्यगोलकस्य वलयत्रयेण मण्डलत्रयेण संयोगाद् वेष्टनाद् जायते। अत एवैतत् चक्रं द्वयोरपि नेमिनाभ्योः त्रिवृतम् आवृत्तित्रययुक्तम्। इति द्वयोः योजना। अयं भावः—एकमण्डलं कर्णिकावत् सूक्ष्मं लिखित्वा, तं त्रिभिर्मण्डलैर्बहिर्बहिर्विस्तृतैः वेष्टयेत्। तथा च तेषु मध्यमण्डलं नाभिरेव, बाह्यं नेमिरेव; आन्तरालकयोः मण्डलयोः बाह्यापेक्षया नाभित्वम्, आन्तरापेक्षया च नेमित्वम्। तथा च नाभित्रयं नेमित्रयं च सिद्ध्यति—इति॥३१६-७॥ मार्गत्रयस्य नाभित्रयभावे व्यवस्थां दर्शयति—मध्यनाभिरिति द्वाभ्याम्। अन्तर्मुखगम्यत्वसाधर्म्येण देवयानमार्गो मध्यनाभिः। तदपेक्षया बहिर्मुखगम्यत्वात् पितृयाणो द्वितीयनाभिः। केवलदुष्कृतपदैः अतिबहिर्मुखैः गम्यत्वात् तृतीयः पन्थाः बहिर्नाभिः। ततोऽप्यधमैः स्थावरादिभावयोग्यैः अतितामसैः गम्याऽविद्यात्मिका नेमिस्ततोऽपि बहिर्ज्ञेया। कीदृशी ? नाभिद्वयोपमा वेष्टकत्वसाधर्म्येण द्वितीयतृतीयनाभिभ्यां तुल्या। इति द्वयोरर्थः॥३१८-९॥

मंत्र में चक्र को 'त्रिमार्गभेद' अर्थात् तीन भिन्न रास्तों पर चलने वाला कहा है। पुराणकार इसकी विलक्षण व्याख्या करते हैं : पतिंगे आदि अत्यंत छोटे आकार के देह वाले जंतु लगातार जन्म-मरण भोगते हुए दुःखी बने रहते हैं यह प्रसिद्ध ही है। क्षुद्र जंतु होकर जीना-मरना यह तीसरा रास्ता है क्योंकि पहला उत्तरमार्ग या देवयान है और दूसरा दक्षिण मार्ग या पितृयाण है। क्योंकि तीनों रास्ते तय कराना चक्र का कार्य है इसलिये तीन तरह के रास्तों के कारण प्रकृत चक्र एक खास ढंग से निर्मित है। श्रेष्ठ मननशीलों को समझ लेना चाहिये कि इस चक्र में तीन नाभियाँ हैं। तीन वलयों के, गोलों के, संयोग से इस चक्र में नेमि और नाभि दोनों तिगुनी हैं। (टीकाकार ने स्पष्ट किया है : दृष्टांतभूत रथादिके चक्र की ऐसी कल्पना करनी चाहिये कि उसकी धुर धारण करने वाली नाभि को घेरे हुए एक गोला या वलय है, पुनः उससे बड़ा एक और वलय उन दोनों को घेरे है तथा एक तीसरा वलय उन तीनों को घेरे है। इस प्रकार मुख्य नाभि तीन वलयों से घिरी है। इनमें मुख्य नाभि तो हर हालत में नाभि ही है और सबसे बाहरी वलय नेमि ही है। इनके बीच जो दो वलय हैं वे बाहर वाले की अपेक्षा से नाभि कहे जा सकते हैं और भीतर वाले की अपेक्षा से नेमि कहे जा सकते हैं। इस प्रकार तीन नाभियाँ और तीन नेमियाँ इस एक चक्र में उपलब्ध हैं। ये तीन वलय पूर्वोक्त तीन रास्ते पार करा देते हैं। मुख्य नेमि एक ही है अतः 'एकनेमिम्' इस उपक्रम से कोई विरोध नहीं।)॥३१५-७॥

मध्य में स्थित नाभि को वह मार्ग समझना चाहिये जो ब्रह्मलोक जाता है (क्योंकि यह वलय 'अंदर' है और इससे जाने के लिये साधक को अन्तर्मुखी होना पड़ता है)। दूसरी—मध्य वाली—नाभि पितृलोक जाने वाला मार्ग कही

निमित्तमस्य विज्ञेयं सुखदुःखे सकारणे। कुलालचक्रस्य यथा काष्ठलोष्ठात्मकं द्वयम्। ।३२०

मोहस्तमोऽत्र विज्ञेयश्चक्रस्याऽस्यैकरूपकः। आनन्दात्मानमत्रैकं वेत्ति नैतद्भ्रमाद् यतः। ।३२१

नदीरूपेण दर्शनम्

अस्य चक्रस्य जननी माया नाम महानदी। तस्या विक्षेपरूपाया इदं रूपं मुनीश्वराः। ।३२२

'द्विनिमित्त'-पदार्थमाह—निमित्तमिति। कारणाभ्यां पुण्यपापाभ्यां तादात्म्येन विवक्षिते ये सुखदुःखे तदुभयरूपं निमित्तं फलरूपम् अस्य चक्रस्य बोध्यम्। यथा 'अध्ययनेन वसति' इत्यत्र अध्ययनं वासस्य इति निमित्ततायां दृष्टान्तमाह—कुलालेति। यथा कुलालचक्रस्य काष्ठं लोष्ठं मृत्पिण्डश्च कारणं तद्वद् इत्यर्थः। ।३२०। । 'एकमोह'-पदार्थमाह—मोह इति। तमोरूपो मोहः तु एतच्चक्रप्रयुक्त एकरूप एव। किन्तस्य रूपमिति चेत् ? यदात्मतत्त्वविस्मरणं नामेत्यर्थः; य आत्मतत्त्वं न स्मरन्ति ते सर्वेऽनेन मोहिता ज्ञेयाः। अज्ञानस्य चिदात्ममात्रविषयत्वस्य सिद्धान्तितत्वाद् इति भावः। ।३२१। ।

एवं चतुर्थो मन्त्रः पूर्वमन्त्राद् 'अपश्यन्' इति पदम् अनुषज्य एतादृशचक्रभावापन्न मज्ञानशबलमात्मानं दृष्टवन्त इति योजनाभिप्रायेण व्याख्यातः। अथ तमेवात्मानं नदीरूपेण वर्णयन्तं पञ्चमं मन्त्रं[1] व्याकरोति—अस्य चक्रस्येति द्वात्रिंशच्छ्लोकैः। अस्य चक्रस्य जननी उपादानभूता या माया तच्छबलात्मरूपा महानदी मन्त्रेणोक्ता।

गयी है (क्योंकि पूर्वपिक्षया कुछ बहिर्मुखता वाले इस पर यात्रा करते हैं)। ।३१८। । तीसरी—बाहरी—नाभि को तीसरा मार्ग समझना चाहिये (क्योंकि अत्यंत बहिर्मुखी पापबहुल लोग उस पर चलते हैं)। तीनों नाभियों से बाहर जो नेमि है—वेष्टन करने वाली होने से जिसे दूसरी-तीसरी नाभि के समान समझा जा सकता है—वह अविद्यात्मक स्थिति है जिसे वे जीव पाते हैं जो सर्वाधम अत्यन्त तामस होने से स्थावर आदि योनियाँ पाते हैं। इस प्रकार एक ही चक्र अवान्तर नाभि-नेमि व्यवस्था से सभी रास्ते तय करा देता है। ।३१९। ।

यह चक 'द्विनिमित्त' है। कुम्हार के चाक के जैसे दो निमित्त होते हैं—लकड़ी और मिट्टी का लोंदा ऐसे पुण्य-पाप रूप कारणों समेत सुख-दुःख को संसारचक्र के दो निमित्त समझना चाहिये। (फल या प्रयोजन भी निमित्त कहा जाता है जैसे जब पूछते हैं 'किस निमित्त से आये ?' तब आने का प्रयोजन पूछा जाता है। सुख-दुःख भी फलात्मक प्रयोजन हैं। पुण्य-पाप को प्रेरक निमित्त भी समझना चाहिये।)। ।३२०। ।

इस चक्र से प्रयुक्त (अर्थात् इसके चलते बना रहने वाला) एकरूप मोह तो मूलाज्ञान ही है क्योंकि इस चक्र के भ्रमण में पड़ कर श्रवणादि से दूर रहता व्यक्ति सर्वत्र मौजूद आनंदरूप आत्मा को नहीं जानता। (अज्ञान एकरूप है क्योंकि चिन्मात्र ही उसका विषय है और वह अनेकरूप है नहीं। जो आत्मतत्त्व की 'ध्रुवा स्मृति' से वंचित है वही इस चक्र से मोहित होते हैं यह भाव है।)। ।३२१। ।

यहाँ तक चौथे मंत्र की व्याख्या हुई। इसमें बताया कि ऋषियों ने ध्यानयोग से अज्ञानयुक्त आत्मा का दर्शन किया जो चक्ररूप धारण किये है। उसी आत्मा का नदीरूप में वर्णन पाँचवे मंत्र में है। इस नदी में पाँच स्रोतों से निकला जल बह रहा है। पाँचों प्राण इसकी लहरें हैं। पाँच ही इसमें भँवर हैं। इसके प्रवाह का वेग पंचदुःखात्मक है। इतना तो नदी के अनुरूप वर्णन है। इससे अलग यह भी मंत्र में बताया है कि इस नदी में पाँच योनि, उग्र और वक्र या चक्र हैं, पाँच बुद्ध्यादि इसके मूल हैं, इसके पचास भेद हैं और पाँच इसमें पर्व या जोड़ हैं। ये विशेषतायें नदी के अवयवों के अनुरूप समझना कठिन है। चक्रांगों की तरह इस मन्त्र की भी विविधि व्याख्यायें उपलब्ध हैं जिनका यह संग्रह है—

---

१. पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां, पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्। पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः। ।५। ।

नदी सम्बंधी विभिन्न व्याख्यायें—

	श्रीशंकरानन्ददीपिका	श्रीनारायण	भाष्य	विज्ञानभगवद्विवरण	हिंदी 'विशिष्टार्थ'
दार्ष्टान्त	संसार	अविद्यारूप बुद्धि	सर्वात्मा ब्रह्मचक्र	सर्वात्मक आत्मा	ऋषियों को दृष्ट 'देवता'
१. पंचस्रोत-अम्बु (पाँच अम्बु)	चक्षु-छिद्र, श्रोत्र-छिद्र, घ्राण-छिद्र, मुख (रसना) छिद्र त्वचा-छिद्र—पाँच स्रोत। पाँच इंद्रियाँ—अम्बु।	पाँच प्रवाहों वाली विषय-वासना अम्बु अर्थात् जलस्थानीय है।	ज्ञानेन्द्रियाँ जलस्थानीय हैं।	ज्ञानेन्द्रियाँ जल-स्थानीय हैं।	१. सद्योजात २. वामदेव ३. अघोर ४. तत्पुरुष ५. ईशान ये हृदय-गत पाँच छिद्र (छां.३.१३) स्रोत हैं। सृष्टिप्रवाह अम्बु अर्थात् जलस्थानीय है।
२. पंच योनि पंच उग्र पंच वक्र	पंच महाभूत आसुरवृत्तिप्रधान पाँच इन्द्रियाँ आसुर विषयग्रहण 'वक्त्राम्' वैकल्पिक पाठ है।	पाँच इंद्रियाँ उत्पत्तिस्थान हैं। वे ही उग्र हैं क्योंकि दुस्तर हैं और उन्हें विषयग्रहण से रोकना मुश्किल है। निषिद्ध-गामी व अभिमानवश विपरीतकारी होने से वक्र हैं।	पाँच भूतों से वह उग्र और वक्र है।	पंचतन्मात्रायें ही उग्र और वक्र हैं।	उक्त मुखों की शक्तियाँ - १. मही (क्रिया) २. काली (ज्ञान) ३. गौरी (इच्छा) ४. रमा (सृष्टि-स्थिति-लय) ५. माया (तिरोधान-आविर्भाव) इनसे उत्पन्न संसार ही कामनावश उग्र हो जाता है। कामना कराने वाली होने से शक्तियाँ उग्र हैं। पाठ है 'वक्त्राम्' : उक्त पाँच कारणों से उत्पन्न मुख (?) भयंकर हैं।
३. पंच प्राण	प्राणापानादि	प्राणापानादि	प्राणापानादि या कर्मेन्द्रियाँ	प्राणापानादि	पाँच महाभूत एवं ये पाँच अवस्थायें- १. निवृत्ति २. प्रतिष्ठा ३. विद्या ४. शान्ति ५. शान्त्यतीत। संरक्षक होने से ये प्राण हैं।
४. पंच बुद्धि पंच'आदि'	शब्दादिगोचर विभिन्न ज्ञान शब्दादिगोचर इच्छायें	१. बुद्धि-मन-चित्त-अहंकार-विषयवासना—ये पाँच बुद्ध्यादि कार्याविद्या के मूल हैं। अथवा पाँच-शब्दादि की बुद्धि=निर्विकल्पक ज्ञान वही आदिमूल=प्रथमकारण है सविकल्प अविद्यात्मक बुद्धि का।	पंचविषयों की बुद्धियों का आदिकारण मन ही मूल है संसारसरित् का।	बुद्धियों की कारणभूत इन्द्रियों का मूल है विज्ञानशक्ति वाला अहंकार।	१. मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार-सामान्यचेतना अथवा २. कामदेव के पाँच वाण
५. पंच आवर्त	अवान्तर सामान्य-विशेष सहित शब्दादि	विषय	विषय	महाभूत	१.ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-निषाद या २. देव-पितृ-दानव-मानव-प्रेत
६. पंच दुःख	ऐंद्रिय अनुभव	१. पाँच विषयों का अलाभ या २. विपरीत विषयों का लाभ	गर्भदुःख, जन्मदुःख जरादुःख, व्याधिदुःख मरणदुःख	१. गर्भादि के पाँच दुःख। या २. अविद्यादि पाँच क्लेश।	रूपादि ही दुःखद होने से दुःख हैं।
७. पंचाशद् भेद	१. स्रोत-अंबु-योनि-उग्र-वक्र-प्राण-बुद्धि-आदि-आवर्त-दुःख—सब जोड़कर पचास हैं। या २. पूर्व रूपक के 'शतार्धारं' में गिने पचास यहाँ भी समझ सकते हैं।	१. षट्चक्रों के कुल दल (पंखुड़ियाँ) ५० हैं, उनमें बुद्धि जाती है। अथवा २. पचास वर्ण हैं जिनके द्वारा भाषा से विषयों में प्रवेश होता है। वैदिक शब्द ही विषयोत्पादक हैं।	?	पचास अक्षर।	कर्मेन्द्रियाँ, उनके विषय और देवता- १५ दस प्राण, उनके विषय और देवता - ३० पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ५ ५०
८. पाँच पर्व	१. तम-मोह-महामोह-तामिस्र-अंधतामिस्र। या २. पाँच महाभूत।	१. रूपादि विषय। या २. पाँच कोश । या ३. अविद्यादि क्लेश।	अविद्यादि क्लेश	१. तम-मोह आदि। या २. ईश्वर-अंतर्यामी-सूत्र-हिरण्यगर्भ-विराट्।	ईश्वर-अन्तर्यामी आदि।

पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां स्युः स्रोतांसि स्थानकानि हि। अम्बूनि तेषु चलनात् पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि च ।।३२३

स्रोतसामम्भसां चैव महाभूतानि कारणम्। मेघा नद्या यथा योनिः स्रोतसामम्भसामपि। ।३२४

आसुराणीन्द्रियाणां स्युर्ज्ञानान्युग्राणि देहिनाम्। प्रवाहा नीरसंयुक्ताः प्रावृष्युग्रा यथैव ते। ।३२५

नक्रा दुःखकरा नृणां यथा कुटिलगामिनः। अशास्त्रीये तथैवैते विषये वक्रचारिणः। ।३२६

तस्या विक्षेपप्रधानाया इदं वक्ष्यमाणं रूपं मुनीश्वरा अपश्यन्निति शेषः। ।३२२।। पञ्च स्रोतांसि अम्बूनि च यस्या इति व्युत्पत्तिमभिप्रेत्य प्रथमपदार्थमाह—पंचेति। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणां यानि स्थानकानि तानि स्रोतांसि जलवहनस्थानानि बोध्यानि। तद्गतानि ज्ञानेन्द्रियाणि तु जलस्थानीयानि तेषु स्रोतःसु चलनात्मकसाधर्म्याद् इत्यर्थः। कर्मेन्द्रियाणि इति पाठे तु ज्ञानेन्द्रियविशिष्टानि तद्गोलकानि स्रोतांसि, तत्र त्वगाधारतया प्रसिद्धेन शरीरेण विशिष्टेषु स्रोतःसु चलनसामान्यात् कर्मेन्द्रियाणि अम्बूनीत्यर्थः। ।३२३।। तस्या नद्या योनिपदोक्तानि कारणानि पञ्चेत्याह—स्रोतसामिति। यथा प्रसिद्धनद्याः स्रोतसाम् अम्भसां च मेघाः कारणं तथाऽस्याः स्रोतसामम्भसां च पञ्च महाभूतानि कारणम् इति योजना। ।३२४।।

तस्याः पञ्चोग्रात्मका वक्राः कुटिलप्रवाहाः सन्तीति वक्रेति पाठाभिप्रायेणाह—असुराणीति द्वाभ्याम्। असुराः कामक्रोधाद्यात्मकाऽसुरसम्पच्छालिनो जीवाः तेषु वर्तमानानि पञ्चेन्द्रियजानि ज्ञानानि उग्राणि भवन्ति, दुःखहेतुत्वात्, यथा प्रावृषि आगन्तुकजलसंयुक्ताः प्रवाहा उग्रा भवन्ति, तद्वद् इत्यर्थः। ।३२५।। तेषामुग्रतां स्फुटयति—नक्रा इति। नक्राख्यजलजन्तुवत् कुटिलगामिनः ते नदीप्रवाहा यथा दुःखदाः तथैते आसुरा बोधा अपि अशास्त्रीयविषयेषु प्रवर्तयन्तो दुःखदा इत्यर्थः। ।३२६।। वस्तुतस्तु[1] श्रुतौ 'चक्रे'ति पाठः इति सूचयन्नुक्त-

पुराणकार इसकी विस्तृत व्याख्या करते हैं : इस चक्र की जननी, उपादानकारण, माया नामकी महानदी है। (माया नित्यपरतंत्र होने से मायाशबल का ही ग्रहण समझना चाहिये।) विक्षेपप्रधान उस नदी का यह वक्ष्यमाण रूप उन समाहित मुनियों ने देखा। ।३२२।। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के स्थान अर्थात् गोलक स्रोत हैं जिनमें चलने—कार्य करने—वाली पाँच ज्ञानेंद्रियाँ बहने वाले पाँच जल हैं। (पुराण में 'कर्मेन्द्रियाँ जलस्थानीय हैं' ऐसा पाठ भी टीकाकार की दृष्टि में आया अतः उन्होंने तदनुसार ज्ञानेंद्रियों से विशिष्ट गोलकों को स्रोत बताकर पुनः त्वगिन्द्रिय के आधाररूप प्रसिद्ध शरीर से विशिष्ट स्रोतों में—हाथ, पैर आदि गोलकों में—चलने की समानता से कर्मेन्द्रियों को जल समझाया है। स्रोतभेद से जल में भेद प्रसिद्ध है जैसा रामेश्वर आदि में विभिन्न कूपों के जलों में प्रत्यक्ष होता है। यहाँ भी स्रोत पाँच होने से जल पाँच तरह का होना संगत है।) ।३२३।।

जैसे नदी के स्रोतों और जलों का कारण मेघ होते हैं ऐसे इस महानदी के स्रोतों व जलों का कारण हैं पाँच महाभूत। ।३२४।।

'पंचयोन्युग्रवक्राम्' तथा 'पंचयोन्युग्रचक्राम्' यों श्रुति के दोनों पाठ हैं। पाँच योनियाँ तो महाभूतरूप से समझा दीं अब पाँच उग्र वक्र बतायेंगे। वक्र अर्थात् कुटिल प्रवाह। यह पुराण में समझाते हैं—जैसे वर्षात में आगंतुक जल से युक्त नदीप्रवाह उग्र हो जाते हैं ऐसे ही काम क्रोधादि आसुरी संपत्ति वाले देहधारियों के ऐन्द्रिय ज्ञान दुःखहेतु होने से उग्र हैं। घड़ियाल की तरह कुटिल गति वाले नदी के उग्र प्रवाह जैसे दुःखदायी होते हैं वैसे ये आसुर ज्ञान भी अशास्त्रीय विषयों में प्रवृत्त करते हुए दुःखप्रद ही होते हैं। (उग्र ज्ञान फलकाल में ही नहीं स्वकाल में भी उत्तेजक होने से राजस अत एव असुखप्रद होते हैं।) ।३२५-६।।

१. दीपिकायां वक्र-चक्रेति पाठद्वयमेवोक्तम्।

अथवाऽशास्त्रजनिता उग्रा बोधाः प्रकीर्तिताः। स्रोतसामम्भसां यद्वच्चक्रभूता अधोगतौ।।३२७
प्राणोऽपानस्तथा व्यानः समानश्चाप्युदानकः। पञ्चप्राणा इमे पञ्च कल्लोलाः परिकीर्तिताः।।३२८
नद्या अस्या द्विजश्रेष्ठा ! मूलपञ्चकमत्र च। शास्त्रीया अप्यशास्त्रीया बुद्धयो विषयेषु याः।।३२६
शब्दादिषु प्रजायन्त इह वाऽमुत्र वा नृणाम्। इच्छाभिः सहिताः तास्तु पञ्चमूलमुदाहृताः।।३३०
शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसगन्धौ च पञ्च ते। आवर्ताः कथिता यस्माद् एषु मज्जति देहभाक्।।३३१
नाविकोऽपि यदाऽऽवर्ते पतेद् मत्स्यसमो जले। उद्धर्तुं नैव शक्नोति स्वात्मानं तारको नृणाम्।।३३२
एवं शब्दादिजावर्ते विद्वानपि पतेद्यदि। उद्धर्तुं नैव शक्नोति स्वात्मानं परमेव वा।।३३३
तारयित्वा परं पारं नद्या यद्वद्धि तारकः। आवर्ते पतितो नैवमुद्धर्तुमिह शक्यते।।३३४

विधयोग्रास्ते बोधाः चक्रभूता अधोगतिहेतुत्वाद् यस्या इत्याह—अथवेति। अशास्त्रजनिताः प्रामादिका उग्रा बोधाः चक्रं जलभ्रमः तद्रूपाः अधोगतौ प्रयोजका इति शेषः। यथा स्रोतसामम्भसां च चक्रभूता गतिविशेषा अधोगतिहेतवः प्रसिद्धा इत्यर्थः।।३२७।।

तस्याः पञ्चप्राणात्मकाः पञ्च बृहत्तरङ्गा इत्याह—प्राण इति।।३२८।। बुद्धयः शब्दादिज्ञानानि, आदिपदग्राह्या इच्छाश्च संस्कारद्वारा तस्या मूलमित्याह—नद्या इति द्वाभ्याम्। अस्या मूलपञ्चकमत्र श्रुतौ उक्तमिति शेषः। किन्तद् ? इत्याकांक्षायामाह—शास्त्रीया इति। या विषयेषु शास्त्रीया अशास्त्रीया वा बुद्धय इच्छाश्च जायन्ते तद्रूपम् अस्याः पञ्चविधं मूलम् उत्पत्तिस्थानम्। इति द्वयोरर्थः।।३२६-३०।।

'पञ्चावर्ताम्' इति पदार्थं प्रपञ्चयति—शब्द इति त्रयोदशभिः। आवर्तो नाम महास्रोतोभ्रमणस्थानं मज्जनहेतुत्वात् तत्तुल्या अत्र शब्दादिविषया बोध्या इत्यर्थः।।३३१।। आवर्तस्य मज्जनहेतुतामेव स्फुटयति—नाविक इति। जले मत्स्यसमः तरणविधाविति शेषः।।३३२।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति। शब्दादिजे शब्दादिरूपैः कल्पित आवर्ते पतितो विद्वान् अपि स्वं परं वोद्धर्तुं न क्षमत इति।।३३३।।

अत्र विदुषैवमभिमानो[1] न कर्तव्यो यद् मम परेषां तारकस्य किं विषयावर्ताः करिष्यन्ति इति, यतः तारका अपि आवर्ते पतिताः शोच्यताम् उपहास्यतां वा गच्छन्तो दृश्यन्त इत्याह—तारयित्वेति चतुर्भिः। तारयित्वा नीत्वा।

श्रुति का 'चक्र'-पाठ मानें तो यों अर्थ समझना चाहिये—जैसे स्रोतों की व जलों की चक्रात्मक गति में फँसा व्यक्ति डूब जाता है वैसे ही शास्त्रविरुद्ध तरह से उत्पन्न उग्र ज्ञान वे चक्र हैं जिनमें फँसा व्यक्ति अधोगति ही प्राप्त करता है। (इच्छा-संस्कारादि द्वारा कर्म में प्रेरित करने वाला होने से ज्ञान अधोगतिहेतु बनता है। किंच ज्ञान भोगात्मक है अतः निषिद्ध विषयों का ज्ञानात्मक भोग भी स्यानुकूल यत्नादि से पापोत्पादक हो जाता है। उग्र ज्ञान स्वकाल में श्रेयउपाय से दूर रखने के कारण भी अधोगति के प्रयोजक हैं यह समझना चाहिये।)।।३२७।।

प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान—ये पाँच प्राण उस नदी की पाँच बड़ी तरंगें हैं।।३२८।।

हे श्रेष्ठ द्विजो ! श्रुति में इस महानदी के पाँच मूल बताये हैं। शास्त्रीय और अशास्त्रीय ऐहिक-आमुष्मिक शब्दादि विषयों के जो ज्ञान और इच्छायें लोगों को होती हैं वे पाँच मूल कहे गये हैं। (जहाँ से जल बाहर व्यक्त होता है यह

१. 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ. १.४.७) इत्यत्र 'सम्यग्ज्ञानप्राप्तावपि अवश्यंभाविनी प्रवृत्तिर्वाङ्मनःकायानाम्.. तेन पक्षे प्राप्तं ज्ञान-प्रवृत्तिदौर्बल्यम्, तस्मात् त्यागवैराग्यादिसाधनबलावलम्बेन आत्मविज्ञानस्मृतिसन्ततिर्नियन्तव्या भवति' इति भाष्यम्। एवं 'बुद्ध्या विशुद्धया' (१८.५१) इत्यादिगीतासु विदुषे साधनजातमुपदिष्टम्। विवेकचूडामणिप्रकरणे श्लो. ११६, ३२४-६ आदावन्यत्र च पुराणादौ पूर्वं चात्रैव याज्ञवल्क्यचरिते विदुषामपि बहिर्मुखत्वे हानिर्बहुशः प्रादर्शि। एतत्सर्वं मुमुक्षूपयोगि, न तु मुक्तस्य पुनर्बन्धे तात्पर्यमसंभवात्। निष्ठालाभपर्यन्तं सततयत्नशील एव स्यादित्येवाभिप्रायः। ग्रंथकृतां गीताटीकायामयं विषयः सुस्पष्टः।

परतीरं गता ये स्युरुपकारस्य बोधकाः। शोचन्ति तत्र तं त्वन्ये गच्छन्ति च यथासुखम्। ।३३५
शब्दाद्यावर्तपतितो विद्वानपि तथैव सः। शोच्यतेऽत्रोपकारज्ञैः परपारमुपागतैः। ।३३६
अशक्तैरेनमुद्धर्तुं तत्प्रसादाद् बहिर्गतैः। कृतघ्नैरपरैः सोऽयं बहुशस्तूपहस्यते। ।३३७
तस्माच्छब्दादिजावर्ताद् भेतव्यं द्विजसत्तमाः। विदुषाऽपि परं पारं दर्शकेनाऽपरेण किम्। ।३३८
आवर्ता मुनिशार्दूलाः शब्दादिजनिता इमे। दुस्तराः सर्वजन्तूनाम् अज्ञानां विदुषामपि।
तार्याणां तारकाणां च यथाऽऽवर्ता नदीकृताः। ।३३९
आवर्तांस्तारका यद्वद्वामदक्षिणभागतः। परित्यज्यैव गच्छन्ति न प्रविश्य कथञ्चन। ।३४०
एवं शब्दादिविषया आवर्ता मुनिसत्तमाः। विदुषाऽपि परित्याज्याः प्रवेशेन विनैव हि। ।३४१
तारकोऽपि यदावर्तप्रविष्टो न बहिर्व्रजेत्। विद्वानपि तथाऽऽवर्ते पतितो न बहिर्व्रजेत्। ।३४२

स्पष्टम्। ।३३४। । तस्य शोचकान् उपहासकांश्च दर्शयति—परेति। तं तारकमावर्ते पतितम्। अन्ये कृतघ्नाः। ।३३५। । दार्ष्टान्तिके योजयति—शब्दाद्यावर्त इति द्वाभ्याम्। स्पष्टं द्वयम्। ।३३६-७। । फलितमाह—तस्मादिति द्वाभ्याम्। निगदव्याख्यातं द्वयम्। ।३३८-९। । विषयावर्तेभ्यो रक्षाहेतुः तेषां दूरतः परिवर्जनमेवेति सदृष्टान्तमाह—आवर्तांस्तारका इति द्वाभ्याम्। प्रसिद्धमेतत्। ।३४०-१। । अन्तःप्रवेशिनान्त्वनुताप एव भवतीत्याह—तारकोऽपीति। ।३४२। ।

स्रोत कहलाता है। जिस किसी जलाशय, हिमखण्ड आदि से जल उस स्रोत की ओर बहता है उसे मूल कहते हैं। ऐसे ही ज्ञान व इच्छा को मूल और इन्द्रियों को स्रोत समझना चाहिये।)। ।३२९-३०। ।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध—ये पाँच आवर्त, भँवर कहे गये हैं क्योंकि देहधारी इनमें डूब जाता है। ।३३१। । जल में मछली-सा तैरने वाला तथा अन्यों को डूबने से बचाने वाला नाविक भी जब भँवर में फँस जाता है तब स्वयं का उद्धार नहीं कर पाता। इसी प्रकार विद्वान् भी अगर शब्दादिरूप भँवर में फँस जाये तो न अपना व न किसी अन्य का उद्धार कर पाता है। ।३३२-३। । नदी पार कराने वाला चाहे जितने लोगों को नदी के परले किनारे पहुँचा दे लेकिन उसके बाद यदि भँवर में गिर पड़ता है तो उसका उद्धार संभव नहीं होता। जो परले किनारे पहुँच चुके उनमें जो कृतज्ञ होते हैं वे भँवर में फँसे अपने तारक नाविक की दशा पर शोक करते हैं और जो कृतघ्न होते हैं वे उसका उपहास कर आनंद से अपने गंतव्य को चले जाते हैं। इसी तरह विद्वान् भी जब शब्दादि भँवरों में फँस जाता है तो जिन्हें वह परले किनारे पहुँचा चुका वे कृतज्ञ शिष्य उसकी स्थिति पर शोक करते हैं क्योंकि उसकी कृपा से वे तो संसार नदी से बाहर निकल गये पर अब उस विद्वान् को भँवर से बचाकर निकाल लाने में अक्षम हैं। अन्य जो कृतघ्न उपकृत लोग होते हैं वे तो अधिकतर उसकी हँसी ही उड़ाते हैं। ।३३४-७। । हे श्रेष्ठ द्विजो ! तात्पर्य है कि संसार नदी के परले पार का दर्शन कराने में समर्थ विद्वान् को भी शब्दादि विषय-भँवरों से डरकर रहना चाहिये। जब जानकार के लिये भी यह हिदायत है तब अन्यों को उनसे डरकर बहुत दूर ही रहना उचित है इसमें कहना ही क्या ?। ।३३८। । हे प्रगल्भ मुनियो ! जैसे नदी के भँवर पार कर सकना सब के लिये प्रायः असंभव है, चाहे पार कराने वाले नाविक हों या पार जाने वाले यात्री, वैसे शब्दादिरूप ये भँवर सभी जंतुओं के लिये पार करना अतिकठिन हैं, चाहे अज्ञानी हों या विद्वान्। ।३३९। । तैराक लोग नदी के भँवरों को बायें-दायें छोड़कर ही अर्थात् उनसे बचकर ही निकलते हैं, समझ-बूझकर उनमें किसी तरह नहीं घुसते; ऐसे ही विद्वान् को चाहिये कि शब्दादि विषयरूप भँवरों को छोड़कर अर्थात् उनसे बचकर ही रहे, उनमें प्रवेश न करे। तैराक भी जब भँवर में फँस जाता है तब उससे बाहर नहीं निकल पाता; विद्वान् भी विषय में फँस जाये तो उससे छूट नहीं पाता। ।३४०-२। ।

ततः शब्दादिविषया आवर्ता मुनिसत्तमाः। सर्वथैव परित्याज्या विदुषाऽविदुषाऽपि च। ।३४३
शब्दादिजनितं यत् स्यात् सुखं पञ्चप्रकारवत्। दुःखं तदेव विप्रेन्द्रा अन्ते नाशादिदर्शनात्। ।३४४
ततः सुखमिदं सर्वं दुःखमेव प्रकीर्तितम्। तेन शब्दादयो विप्रा दुःखानामेव कारणम्। ।३४५
पञ्चानामेव दुःखानां नैरन्तर्यमहर्निशम्। स एव वेग इत्युक्तो नद्या अस्या द्विजोत्तमाः। ।३४६
स्रोतसामम्भसां तद्वद् योनीनामुग्ररूपिणाम्। चक्राणां च तथैवैतत् प्राणानां च धियामपि। ।३४७
इच्छानां विषयाणां च दुःखानां पञ्चकानि हि। दश तैर्जायते चैषा पञ्चाशद्भेदसंयुता। ।३४८
अथ वा तमआदि स्यात् पञ्चकं त्वष्टकं पुनः। सिद्धेश्च नवकं तद्वत्तुष्टेश्चैता अशक्तयः। ।३४९
अष्टाविंशतिभेदिन्यः पञ्चाशदिति कीर्तिताः। एतैर्भेदैरियं ज्ञेया पञ्चाशद्भेदमागता। ।३५०

निगमयति—तत इति। तस्याः। ।३४३। ।

पञ्चेन्द्रियविषयजानां दुःखानां प्रवाह एव वेग इति दर्शयितुं विषयसुखानां मधुविषसम्पृक्तान्नवद् दुःखत्वमाह—शब्दादीति द्वाभ्याम्। पञ्चप्रकारवत् कारणभेदात् पञ्चविधम्। नाशादीति आदिपदेन[1] भयादिग्रहः। ततः दुःखसंसर्गात्। इदं वैषयिकम्। ।३४४। ।३४५। ।उक्तपञ्चविधदुःखसन्ततिरूपोऽस्या वेग इत्याह—पञ्चानामेवेति। स्पष्टम्। ।३४६। ।

तस्याःपञ्चाशद्भेदत्वं द्विधा दर्शयंस्तत्र प्रथमं स्रोतःप्रभृतीनां मन्त्रोक्तदशपदार्थानामेव प्रत्येकं पञ्चसंख्याः सङ्कलय्य पञ्चाशत्त्वं बोध्यमित्याह—स्रोतसामिति। उग्ररूपिणां चक्राणाम् एकं पञ्चकम्। विषयाणाम् आवर्तरूपाणां चकाराद् वक्ष्यमाणपर्वणां ग्रहः। एवं पञ्चकानि दश जातानि। तैः सङ्कलितैः एषा पञ्चाशद्भेदा। इति द्वयोरर्थः। ।३४७-८। । अथ वा साङ्ख्यप्रसिद्धं प्रत्ययसर्गं पञ्चाशद्भेदमादाय एषा पञ्चाशद्विधेति दर्शयन् स्मारयति—अथ वेति। सिद्धेरष्टकं, तुष्टेर्नवकम् इति सम्बन्धः। ।३४९। ।३५०। । तमआदिपञ्चकं दर्शयन्

हे मुनियो ! सार यही है कि विद्वान् और अज्ञानी दोनों को चाहिये कि संसार नदी के शब्दादि-विषयरूप भँवर हर तरह छोड़ दें। ।३४३। ।

पाँचों इंद्रियों के विषयों से उत्पन्न दुःखों का प्रवाह ही संसारनदी का वेग है यह दिखाने के लिये बताते हैं कि विषयसुख भी दुःख ही हैं जैसे जहर-से लेपित मिठाई भी जहर ही होती है—हे विप्रेन्द्रो ! शब्दादि से उत्पादित जो पाँच तरह का सुख होता है वह दुःख ही है क्योंकि आखिर में उसका नाश आदि देखा जाता है। यों दुःखमिश्रित होने से यह वैषयिक सुख समूचा ही दुःख बताया गया है। अतः हे विप्रो ! शब्दादि केवल दुःख के ही उत्पादक हैं। ।३४४-५। । हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! दिन-रात लगातार पाँचों दुःखों का बने रहना ही इस महानदी का वेग कहा गया है। ।३४६। ।

मंत्र में नदी को पचास भेदों वाला कहा है। मंत्र में जो स्रोतादि पदार्थ कहे हैं उन्हें जोड़ लेने पर पचास की संख्या उपलब्ध हो जाती है इस तात्पर्य से पुराणकार कहते हैं—महानदी के संदर्भ में दस पंचकों का वर्णन किया है: १) स्रोतों का पंचक, अर्थात् पाँच स्रोतों का समुदाय; २) जलों का पंचक; ३) योनियों का पंचक; ४) उग्ररूप वाले चक्रों या वक्रों का पंचक; ५) प्राणों का पंचक; ६) बुद्धियों का पंचक; ७) 'आदि' शब्द से कही इच्छाओं का पंचक; ८) विषयों का पंचक; ९) दुःखों का पंचक; और १०) पर्वों का पंचक (जो श्लो. ३५१ से समझायेंगे)। यों यह संसार नदी पचास भेदों से संबद्ध हो जाती है। ।३४७-८। । सांख्यमतानुसार भी इस संख्या तक पहुँचा जा सकता है जैसे चक्र के पचास

---

१. 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' इति योगसूत्रम् (२.१५)। 'दुःखयोनय एव' (५.२२) इति च भगवद्गीता। आचार्योऽपि 'दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेद्' (मा. का. ३.४३) इति निरदिशन्।

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः। एतैः पञ्चभिरुद्दिष्टा पञ्चपर्वा महानदी।।
संसारचक्रजननी स्वात्ममायेति कीर्तिता।।३५१
एनां शक्तिं हि ते विप्रा दृष्टवन्तो यतीश्वराः। आत्मस्थां तां स्मृतिं प्राप्य निश्चितां ब्रह्मकारणे।।३५२

ब्रह्मवर्णनम्

भविष्यत्येवमेवाऽत्र भवतामपि निश्चयः। यतीश्वरा भवद्भ्योऽत्र ततो ब्रह्म वदाम्यहम्।।३५३
ज्ञाते ब्रह्मणि तत्रस्थां शक्तिमेतां महानदीम्। स्वयमेव भवन्तोऽपि ज्ञास्यन्ति ब्रह्मवादिनः।।
योगध्यानं समागत्य यथा पूर्वं मुनीश्वराः।।३५४

पञ्चपर्वतामपि तस्याः प्रतिपादयति—तम इति। एतैः तमआदिभिः अविद्यादिरूपैः कृत्वा एषा नदी स्वात्ममायारूपा पञ्चपर्वा पञ्चभागा प्रोक्तेति।।३५१।।

'अपश्यन्' इति पदेन अनुषक्तेन विशिष्टस्य स्मरणार्थकस्य चरमपदस्य फलितार्थमाह—एनामिति। एषा शक्तिः आत्मस्था विश्वकारणभूते ब्रह्मणि आगमानुमानार्थापत्तिभिः पूर्वं निश्चिता सम्भाविताऽपि तामेनां ध्यानयोगकाले मुनयो दृष्टवन्तः साक्षादिव कृतवन्तः। ननु ब्रह्मणि समाहितानां कथं शक्तिमानम्? इति शङ्कां वारयन्नाह—स्मृतिं प्राप्येति। यदा ते समाधिकाले प्रणवार्थमिव सृष्ट्याद्यनुपपत्तिं स्मरन्ति तदैनां शक्तिमवधारयन्तीति भावः।।३५२।।

षष्ठं[1] मन्त्रमवतारयति—भविष्यतीति द्वाभ्याम्। यतो भवतामपि शक्तिनिश्चय एवमेव ब्रह्मसमाधानेनैव भविष्यति ततो यथा भवतां ब्रह्मनिश्चयो भवेत् तथा वदामीत्यर्थः।।३५३।। ज्ञात इति। योगध्यानम् इतरवृत्तिनिरोधात्मकं ब्रह्माकारवृत्तिप्रवाहम्।।३५४।। मन्त्रेण समानाधिकरणयोः जीवब्रह्मपदयोः तात्पर्यार्थमाह—

अरे समझाये गये थे यह भी विकल्प उपस्थित करते हैं—अथवा तम आदि पाँच, आठ सिद्धियाँ, नौ तुष्टियाँ और अट्ठाइस अशक्तियाँ—ये पचास हैं जिन भेदों से यह महानदी पचास भेदों वाली हो गयी। (श्लो. २६४ से प्रारंभकर इन पदार्थों का वर्णन कर चुके हैं।)।।३४९-५०।।

यह नदी पाँच पर्वों अर्थात् भागों वाली है। तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अंधतामिस्र—इन पाँचों से यह स्वात्ममायारूप महानदी पाँच भागों या पर्वों वाली कही गयी है। स्वात्मसम्बंधी अज्ञानरूप माया ही संसारात्मक चक्र की उत्पादिका है। (तमआदि का स्वरूप श्लो. २६५ आदि में कह चुके हैं।)।।३५१।।

हे विप्रो ! जगत्का कारण जो आत्मा से अभिन्न ब्रह्म उसमें इस शक्ति की संभावना उन यतीश्वरों ने शास्त्र-अनुमान-अर्थापत्ति से पूर्व में ही निश्चित कर ली थी। जब ध्यानयोग करते समय उन्हें निर्विशेष प्रत्यङ्मात्र में सृष्टि आदि की असंगति याद आयी तब उन्हें समाधि में इस शक्ति का मानो साक्षात्कार हो गया। ('मानो' इसलिये कि अविद्यारूप से भले ही सदा से अपरोक्ष है पर शक्तिरूप अपरोक्ष होना संभव नहीं, फिर भी जैसे अनुभव होता है कि 'मुझे अपनी शक्ति का—चलने, वजन उठाने आदि की सामर्थ्य का—साक्षात् अनुभव है' वैसे ही उन ब्रह्मसभा में उपस्थित मुनियों को समाहित दशा में इस ऐश्वरी शक्ति का अपरोक्ष-सा हो गया। आगम आदि से संभावना ही निश्चित की जा सकती है क्योंकि माया प्रमाण-सिद्ध वस्तु है ही नहीं यह याद रखना चाहिये।)।।३५२।।

अगले मंत्र में कहा गया है जीवरूप हंस स्वयं को अपने प्रेरक परमात्मा से पृथक् समझकर उस बड़े ब्रह्मचक्र में घुमाया जाता है जिसमें सारे जीव हैं और जिसमें सब लीन भी होते हैं। साधनादि के बल पर जब उस प्रेरक से अभिन्न होता है तब जीव अमरता पाता है। मंत्र के 'पृथक्' पद की भाष्यानुसारी योजना यह है; शंकरानंद स्वामी

१. 'सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे। पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनाऽमृतत्वमेति।।'

ब्रह्म यन्निर्गुणं प्रोक्तं दृष्टान्तैर्मुनिपुङ्गवैः। कारणानामधिष्ठातृ तद् भवन्तो न चाऽपरम्। ।३५५
भवतां हृदये योऽयं बुद्धिसाक्षी प्रकाशते। अविद्यां प्राप्य संसारचक्र एष प्रवर्तते। ।३५६
अस्मिन्नुक्ते महाभागाः सर्वजीवनहेतुके। सर्वेषामपि संस्थाने महत्याकाशतोऽपि च। ।३५७
अत्र स्थितो महानेको बुद्धिभेदविभेदवान्। कामक्रोधादिभिर्दण्डैर्भ्राम्यते विवशः सदा। ।३५८

ब्रह्मेति। यद् निर्गुणं ब्रह्म सर्वकारणानामधिष्ठातृ अधिष्ठानरूपं प्रसिद्धं तद् भवन्त एव, भवतां शुद्धं स्वरूपमेव इत्यर्थः। ।३५५।। तदेव भवतां ब्रह्मात्मस्वरूपं मायोपहितं साक्षी ईश्वर इति च व्यपदिश्यते। स्वरूपावरणलक्षणाऽविद्यया संसारी सन् जीवश्च भवतीत्याह—भवतामिति। योऽयं भवतां ब्रह्मरूप आत्मा बुद्धिसाक्षी सन् प्रकाशते स एव अविद्यां प्राप्य अस्मिन्नुक्ते वर्णिते संसारचक्रे प्रवर्तमानो जीव इत्युच्यत इति शेषः। ।३५६।। अस्मिन्निति। प्रथमपदद्वयं पूर्वान्वयित्वेन व्याख्यातम्। हे महाभागाः ! स जीवः अत्र हृदयस्थसाक्षिरूप ईश्वरे स्थितः सन् बुद्ध्युपाधिकनाना-भेदशाली कामादिदण्डैः ताडितत्वेन विवशः अनेन अन्तर्यामिणा ईश्वरेण भ्राम्यते। कीदृशेऽत्रेश्वरे ? सत्तादिप्रदत्वेन सर्वजीवनहेतुभूते, सर्वाधारे, आकाशाद् बृहति च। इति द्वयोरर्थः। ।३५७-८।।

तो संसारचक्र से पृथक् जो साक्षिरूप आत्मा उसमें समाहित होने पर आत्मबोध पाने से हंस होता है ऐसी व्याख्या करेंगे। दीपिका में भी संसारचक्र से पृथक् जो प्रत्यगात्मा है उसे प्रेरिता समझना मोक्षोपायभूत ब्रह्मज्ञान है—ऐसा समझाया है। नारायणदीपिका में संघात से और हर एक से—अर्थात् परस्पर—भिन्न आत्मा को समझना अर्थात् त्वंपदार्थ का शोधन करना और ईश्वर को भी पृथक् समझना अर्थात् तत्पदार्थ का शोधन करना बताने में पृथक् शब्द का उपयोग किया है। लघुचंद्रिकाकार तो (पृ. ७३१) जीव-ईश्वर रूपों से पृथक् जो अखण्ड रूप है उसका उपस्थापक पृथक्-शब्द बताते हैं 'प्रेरितारमीश्वरम्, आत्मानं जीवं च, पृथक् तदुभय-विलक्षणाखण्डानन्दरूपेण तत्त्वमस्यादिवाक्येन ज्ञात्वा'। उन्होंने यह भी योजना मानी है (पृ. ४३१) कि तत्त्वज्ञान से पहले जिसे पृथक् समझते हैं उसे अखंड समझने पर मोक्ष होता है। मधुसूदन स्वामी तो सगुणोपासना की विधि के अर्थवादरूप से प्रेरिता को पृथक् कहा है ऐसा मानते (पृ. ७३१ अ. सि.) हैं। जैसे ईशोपनिषत् में (म. १३-१४) 'विचचक्षिरेऽसम्भूतिं' यह छेद मानने का पक्ष है वैसे 'ब्रह्मचक्रेऽपृथक्' यों अपृथक् यहाँ भी समझा जा सकता है; अतः आत्मा और प्रेरिता को अपृथक् समझने के लिये ही कहा जा रहा है।

पुराणकार उक्त मंत्र की व्याख्या करते हैं : हे श्रेष्ठ यतियो ! क्योंकि आप लोगों को भी शक्ति के बारे में निश्चय उसी तरह—ब्रह्म में समाहित होने से ही—होगा इसलिये आपको ब्रह्म के बारे में बताता हूँ। (अर्थात् श्वेताश्वतर मुनि ने जो इतिहास प्रारंभ किया था (श्लो. २३) उसका समापन होकर अब स्वयं श्वेताश्वतर उपदेश दे रहे हैं।)। ।३५३।। जैसे प्राचीन मुनीश्वरों ने शक्तिबोध प्राप्त किया था वैसे ही आप ब्रह्मवादी साधक भी अन्य वृत्तियों का निरोध कर ब्रह्माकार वृत्तियों का प्रवाह स्थापित कर ब्रह्म को जान लेने पर उसमें स्थित इस महानदीरूप शक्ति को स्वयम् ही जान जायेंगे। ।३५४।। मुनियों ने दृष्टान्तों द्वारा जिस निर्गुण ब्रह्म को सभी कारणों का अधिष्ठान बताया है वह ब्रह्म आप लोग ही हैं, आप से अन्य कुछ नहीं जो ब्रह्म है। (मंत्र में 'आत्मानं प्रेरितारम्' कह कर जीव-ईश्वर के शुद्ध स्वरूप का अभेद ही बताया है।)। ।३५५।। जो यह ब्रह्मरूप आत्मा आपके हृदय में माया से उपहित हुआ बुद्धि के साक्षी रूप से प्रकाशमान है वही स्वरूप का आवरण करने वाली अविद्या के संपर्क में आकर वर्णित इस संसारचक्र में प्रवृत्त होता हुआ जीव कहा जाता है। ।३५६।। हे महाशयो ! हृदय में स्थित साक्षिरूप ईश्वर सत्ता प्रदान कर सब प्रकार के जीवन का हेतु बनता है तथा सभी का आधार है। वह आकाश से भी महान् है। जीव उस ईश्वर में स्थित है। स्वरूप से व्यापक और एक होने पर भी बुद्धियों के भेद से जीव भी भेद वाला हो गया है। अंतर्यामी ईश्वर काम-क्रोध आदि दण्डों से ताडित कर इस बेबस जीव को सदा इस संसारचक्र में घुमाता रहता है। (जीवको ईश्वर में स्थित इसलिये कहा कि ब्रह्मचक्र को ईश्वररूप बता चुके हैं। किंच प्रतिबिंब बिम्ब 'में' या घटाकाश मठाकाश 'में' प्रतिष्ठित कहा ही जाता है।)। ।३५७-८।।

ब्रह्मजे हृदयाकाशे पृथक् संसारचक्रतः। समागतः स्वबोधेन ह्यविद्यायाश्च घातकः। ।३५९

हंसो ज्ञात्वा स्वमात्मानं प्रेरकं च जडस्य हि। प्रीतस्तेन सदानन्दं सर्वप्रियतमं निजम्।।
दृष्टवान् यत एवाऽयम् अमृतत्वं ततो व्रजेत्। ।३६०

आनन्दात्मनि विज्ञाते सत्ये प्रियतमे पुमान्। अविद्यारहितो भूयो मरणं नैव गच्छति। ।३६१

सर्वाधिष्ठानम्

योऽयं हंसेन सर्वात्मा हृदयाकाश ईश्वरः। आनन्दात्मा परप्रीतिकरः स्वस्यात्मदर्शनात्। ।३६२

दृश्यते स हि वेदान्तैरूर्ध्वं गीतस्तु कर्मणः। स एव परमं ब्रह्म यतो नावर्तते गतः। ।३६३

कृष्णं श्वेतं तथा रक्तं तेजोबन्नात्मकं त्रयम्। ब्रह्मज्ञानाद् विना यस्या नाशो नास्ति कथञ्चन।।
माया साऽपि च तत्रैव स्वात्मावरणकारणम्। ।३६४।।

अयं जीवो यदा हृदयाकाशरूपे समागतो भवति तदाऽविद्यां घ्नन् सन् हंसपदाभिधेयो भवतीत्याह—ब्रह्मज इति। ब्रह्मजे शुद्धब्रह्मण एव विवर्तभूते हृदयाकाशे साक्षिरूपे संसारचक्राद् बन्धकात् पृथङ् मोक्षहेतुतया विलक्षणत्वेन स्थिते समागतः समाहितः सन् स्वबोधेन अविद्याया घातको भवति तदा हंस इत्युच्यते, हन्तीति हंस इति व्युत्पत्तिसमन्वयाद्—इति उत्तरश्लोकाद् हंसपदानुषङ्गेणार्थः। ।३५९।। हंस इति। स हंसः आत्मानं सर्वजडप्रेरकत्वेन सर्वान्तरं त्वम्पदार्थं ज्ञात्वा तेन एव रूपेण प्रीतः तुष्टः संस्ततः तत्पदार्थभूताऽद्वयसदानन्दरूपेण तदेव निजं रूपं दृष्टवान् यतो भवति तत एव अमृतत्वं गच्छतीत्यर्थः। ।३६०।। ब्रह्मात्मज्ञानाद् अमृतत्वम् इत्येतदेव स्फुटयति—आनन्दात्मनीति। स्पष्टम्। एतेन जीवस्य ब्रह्मणः सकाशाद् उत्पत्तिकथनेन 'कुतः स्म जाताः ?' इति प्रश्नोऽपि समाहित इति बोध्यम्। ।३६१।।

ब्रह्मणः सर्वाधिष्ठानतां तस्यात्मत्वज्ञानाद् मोक्षं च विशदयतः[1] सप्तममन्त्रस्यार्थमाह—योऽयमिति पञ्चभिः। योऽयमीश्वरो हृदयाकाशरूपो हंसेन आत्मतया दृश्यते स वेदान्तवाक्यैः कर्मणः कर्मप्रतिपादकात् पूर्वकाण्डात् उद् ऊर्ध्वं स्थितैः गीतः प्रतिपादितः। अथ वा कर्मणः कर्मफलाद् ऊर्ध्वम् उपरिष्टात् स्थितो गीतः, स हृदयाकाशरूप ईश्वर एव परं ब्रह्म। इति द्वयोरर्थः। ।३६२-३।। कृष्णमिति। तस्मिन्नेव ब्रह्मणि कृष्णादिवर्णत्वेन छान्दोग्ये षष्ठे प्रपाठके वर्णितं तेजःप्रभृति त्रयं स्थितम्। तथा स्वात्मावरणकारणत्वेन 'स्वप्रतिष्ठा'-पदोक्ता ब्रह्मात्मज्ञानेतरानाश्यत्वेन 'अक्षर'पदोक्ता च माया स्थितेत्यर्थः। ।३६४।। एतस्मिन्निति। एतस्मिन् हृदयाकाशे

शुद्ध ब्रह्म के ही विवर्त हृदयाकाश अर्थात् साक्षी का बंधनहेतु संसारचक्र से पृथक् जो मोक्षहेतु रूप है उसमें समाहित हुआ जीव आत्मज्ञान से जब अविद्या का घातक बनता है तब 'हंस' कहलाता है (क्योंकि 'हन्ति' अर्थात् हननकर्ता को हंस कहते हैं)। ।३५९।। वह हंस अपने आत्मा को सारे जड का प्रेरक, अर्थात् सबसे आभ्यंतर त्वम्पदार्थ समझकर उसी रूप से प्रसन्न हो जाता है। (उपाधियों से स्वयं को अलग जान लेने पर प्रसन्नता तो प्राप्त होती है पर उतने मात्र से मोक्ष नहीं।) क्योंकि अपने उसी प्रत्यग्रूप को महावाक्यों से वह अद्वय-सद्-व्यापक समझ लेता है—तत्पदार्थ से अभिन्न जान लेता है—इसीलिये अमरता पा जाता है। ।३६०।। सत्य, सर्वाधिक प्रिय, आनंदस्वरूप भूमा का अनुभव कर लेने पर पुरुष अविद्याशून्य हो जाता है। वह फिर मृत्यु को नहीं प्राप्त करता। (ब्रह्म ही अविद्यावश जीव बना यह यहाँ स्पष्ट किया, इससे उस प्रश्न का उत्तर हो गया जो प्रारंभ में उठाया था 'हम कहाँ से पैदा हुए हैं ?' जीव वैसे नहीं उत्पन्न होता जैसे आकाशादि (ब्र. सू. २.३. सू. १७) वरन् आभास, प्रतिबिंब की तरह इसकी 'उत्पत्ति' है (वहीं सू. ५०)। यहाँ तक छठे मंत्र की व्याख्या हुई।) ।३६१।।

१. 'उद्गीतमेतत् परमं तु ब्रह्म तस्मिन् त्रयं स्वप्रतिष्ठाऽक्षरं च। अत्रान्तरं वेदविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः।।'

एतस्मिन् हृदयाकाशे चिदानन्दात्मरूपिणि। स्वयंज्योतिषि मायातः सकार्याया विभिन्नताम्।
ज्ञात्वा वेदविदो विप्रा ब्रह्मात्मत्वेन तत्पराः।।३६५
विक्षेपावरणाद् योनेर्विनिर्मुक्ताः सुनिर्वृताः। अस्मिन्नेव च तादात्म्याल्लीना भवनवर्जिताः।।३६६

सकार्यायाः सविलासाया मायायाः सकाशाद् विभिन्नतारूपमन्तरं प्रथमं ज्ञात्वा पुनः ब्रह्मात्मत्वेन च तं ज्ञात्वा तत्परा ऐक्यपरा वेदज्ञविप्रा विक्षेपावरणरूपाया योनेः अविद्याया विमुच्य सुनिर्वृता आनन्दमग्ना अस्मिन्नेव ब्रह्मणि तादात्म्येन लीना भवनेन जन्मना वर्जिता जाताः। इति द्वयोरर्थः।।३६५-६।।

सप्तममंत्र में बताया है कि स्वात्मा में विषय-आश्रयभाव से रहने वाली, बिना तत्त्वसाक्षात्कार के नष्ट न होने वाली लोहित-शुक्ल-कृष्ण रूपों वाली अविद्या जिसमें कल्पित है यह अपरिच्छिन्न ब्रह्म ही वेद में उत्कृष्ट बताया गया है। समाहित वेदार्थविचारक इस ब्रह्म का जीव से अभेद समझकर ब्रह्मरूप हो निरविध हो जाते हैं। श्रुति में 'अंतर' शब्द आया है जिसका अर्थ तादात्म्य अर्थात् अभेद है ऐसा दीपिका से पता चलता है। अब इस मंत्र की पुराण में व्याख्या करते हैं :

हृदयाकाश अर्थात् साक्षिरूप ईश्वर सबका स्वरूप है, आनंदघन व परप्रेमास्पद है। हंसरूप जीव अपने आत्मा के साक्षात्कार से—अर्थात् आत्मरूप से—उस ईश्वर का ही दर्शन करता है। कर्मकाण्डरूप साधनों के विधान के अनंतर उपनिषदों द्वारा उसका प्रतिपादन वेद में उपलब्ध है जहाँ पता चलता है कि कर्मफल से यह अस्पृष्ट ही है। वही पर-ब्रह्म है जिसे जान लेने पर संसार में लौटना नहीं पड़ता।।३६२-३।। छांदोग्य में काले-सफेद-लाल रूपों वाले बताये पृथ्वी-जल-तेज (एवम् उपलक्षणा से वायु-आकाश) उस ब्रह्मपर अधिष्ठित हैं। ब्रह्मानुभव के बिना जिसका किसी तरह नाश नहीं होता वह स्वात्मा को मानो ढाँकने वाली माया भी उसी पर स्थित है।।३६४।।

साधक को पहले यह समझ लेना चाहिये कि ज्ञान-आनंद-प्रत्यग्रूप यह स्वप्रकाश हृदयाकाश (साक्षी) कार्यसमेत माया से विभिन्न, अस्पृष्ट है। फिर वेदज्ञको चाहिये कि उस हृदयाकाश को व्यापक आत्मा जाने और उस अभेद को ही परम सत्य समझकर उसी में प्रतिष्ठित रहे। तभी वह आवरण-विक्षेपात्मक मायायोनि से छूटकर आनंदमग्न हो इसी ब्रह्म से अभेद पाकर जन्मरहित हो जायेगा। (आवरण अर्थात् अपने सच्चिदानंद स्वरूप का स्फुरण न होना और विक्षेप अर्थात् कर्तृभोक्तृरूप का भान होना। माया परिणामी उपादान होने से योनि कही गयी है।)।।३६५-६।।

आठवाँ मंत्र कहता है कि व्यक्त क्षर कार्य-प्रपंच तथा अव्यक्त अक्षर कारणप्रपंच परस्पर संबद्ध हैं (एक ही सत्ता में हैं) तथा इस कार्यकारणात्मक विश्व का भरण और हरण महेश्वर करता है। स्वयं को भोक्ता समझने वाला आत्मा खुद को उस महेश्वर से अलग मानकर मायाबंधनों में बँधा रहता है। महादेव का प्रत्यग्रूप से साक्षात्कार होते ही सब फंदों से छूट जाता है। इसकी व्याख्या करते हैं :

वेदांतों में 'तत्' शब्द से ईश्वर और 'त्वं' शब्द से जीव का उल्लेख किया जाता है। ईश्वर को हृदयाकाश अर्थात् साक्षिरूप व्यापक आत्मा समझना चाहिये और जीव वही है जिसे पूर्व में हंस कहा था।।३६७।। उत्तम द्विजन्मा इन दोनों का भेद उपाधिप्रयुक्त बताते हैं। (कार्य में अन्वित हुए बिना भी कार्यपर्यन्त रहने वाला भेदक उपाधि कहलाता है। 'कार्य' अर्थात् स्वान्वितविशेष्यांश में जो विधेय है। स्व-उपाधि। प्रसिद्ध उदाहरण तार्किकों का है : कर्णरंध्र से अवच्छिन्न आकाश को वे श्रोत्र मानते हैं। यहाँ विधेय है श्रोत्रता, उपाधि है कर्णरंध्र। आकाशमात्र में श्रोत्रता नहीं कही जा रही किन्तु कर्णरंध्र में सीमित जो आकाश उसी में कही जा रही है। अतः कर्णरंध्र भेदक है। फिर भी श्रोत्रता में कर्ण-रंध्र का कोई अनुगम नहीं क्योंकि श्रोत्र तो आकाश है ! किंच श्रोत्रता रहते कर्णरंध्र ज़रूर रहेगा क्योंकि उसके बिना तो श्रोत्र होगा नहीं। इसलिये कर्णरंध्र को श्रोत्र की उपाधि कहते हैं। उपाधिप्रयुक्त धर्म वास्तविक नहीं होता जैसे रक्तपुष्प रूप उपाधि से प्रयुक्त रक्तिमा स्फटिक में वास्तविक नहीं होती। जीव-ईश्वर का आपसी भेद उपाधिप्रयुक्त है अतः

तत्त्वम्पदार्थौ

तत्पदार्थोऽत्र विज्ञेयो हृदयाकाश ईश्वरः। ब्रह्म हंसस्तथैवाऽयं त्वम्पदार्थः प्रकीर्तितः। ।३६७
औपाधिकोऽनयोर्भेदः कथितो द्विजसत्तमैः। उपाधिश्चानयोरेवं विभिन्नोऽत्र यतीश्वराः। ।३६८
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं कार्यकारणरूपधृक्। क्षराक्षरवचःप्रोक्तमीशो ब्रह्म बिमर्त्यदः। ।३६९
सुखदुःखोपभोगेन स्वात्मानं बुद्धिसंयुतः। अजानानोऽविवेकेन जीवत्वं गम्यते परः। ।३७०
जीवत्वस्य परित्यागाद् एष मायाकृतस्य हि। ईशमात्मानमाज्ञाय मुच्यते सर्वपाशतः। ।३७१
सूचीपाशस्थितं यद्वद् नभो न्यूनमुदाहृतम्। ब्रह्माण्डोदरसंस्थानं महदेतत् प्रकीर्तितम्। ।३७२
तद्वद् बुद्धिस्थितो जीव आत्मैव परिकीर्तितः। मायास्थितश्च परमो ह्यतो भेदो न वस्तुनि। ।३७३

तत्त्वम्पदार्थयोः विभाजकोपाधी तद्विवेकेन मोक्षं च दर्शयतः[1] अष्टममन्त्रस्य अर्थमाह—तत्पदार्थ इत्यष्टभिः। अत्र प्रस्तुतविवेके हृदयाकाशरूप ईश्वरो ब्रह्म अद्वितीयः महावाक्यगत-तत्पदार्थ उक्तः। तथा हंसत्वेनोक्तो जीवः त्वम्पदार्थ इत्यर्थः। ।३६७।। औपाधिक इति। अनयोः तत्त्वम्पदार्थयोः एवम् उत्तरश्लोकोक्तविधया विभिन्न उपाधिः ज्ञेय इति। ।३६८।। व्यक्तेति। तत्र व्यक्तं कारणसम्बद्धकार्यरूपं विश्वं क्षरपदोक्तं त्वम्पदार्थोपाधिः; अव्यक्तं कारणम् अक्षरं तु तत्पदार्थोपाधिः; अनयोः द्वयोरधिष्ठानभूतं तु शुद्धं ब्रह्म परमीशानमित्यर्थः। ।३६९।। एवमस्य आत्मनो बुद्ध्यविवेकेन जीवत्वं दर्शयति—सुखेति। पर आत्मैव बुद्धिसंयुत आत्मानम् अजानानः सन् जीवत्वं गत इति। ।३७०।। स एवोपाधिविवेकेन आत्मानमीशं जानानो मुच्यत इत्याह—जीवत्वस्येति। स्पष्टम्। ।३७१।। एतस्यात्मनः समष्टिव्यष्ट्युपाधिवशात् तत्त्वंपदार्थभावं दृष्टान्तेन स्फुटयति—सूचीति। सूचीपाशः सूचीमूलच्छिद्रम्; तद्गतमाकाशं स्वल्पमित्युच्यते। ब्रह्माण्डावच्छिन्नं महद् इति। तथा बुद्ध्यवच्छिन्न आत्मा जीवः, कारणावच्छिन्नस्तु परम ईश्वर इति उच्यते। इति द्वयोरर्थः। ।३७२-३।।

अवास्तविक है यह तात्पर्य है।) हे यतिवरो ! जीव-ईश्वर की विभिन्न उपाधि यों समझनी चाहिये : कारणसम्बद्ध जो कार्यरूप व्यक्त विश्व क्षर कहलाता है वह त्वम्पदार्थभूत जीव की उपाधि है। अक्षर कहलाने वाला कारणभूत अव्यक्त तत्पदार्थभूत ईश्वर की उपाधि है। इन दोनों उपाधिसहित उपहितों का अधिष्ठान तो शुद्ध ब्रह्म परमेश्वर ही है। ।३६८-९।। परमात्मा ही स्वात्मा की वास्तविकता न जानते हुए बुद्धि से जुड़ जाता है अर्थात् स्वयं को बुद्धि से अलग कर नहीं समझता अतएव सुख-दुःख का मानो भोग करता है जिससे वह जीवरूप हो जाता है। (यहाँ क्षर व्यक्त कार्य को त्वमर्थ की उपाधि समष्टिदृष्टि से या एक मुख्य जीव की दृष्टि से समझना चाहिये और बुद्धिसंयुक्त होने से जो जीवरूपता बतायी है वह व्यष्टि जीवों की या नाना जीवों की दृष्टि से समझना चाहिये। पंचपादिकामें (पृ. १७४) अविद्या को जीवत्वापादिका बताकर कर्तृत्वभोक्तृत्व का आधार अहंकार को कहा है तदनुसार यहाँ बुद्धिपद अहंकारार्थक जानना चाहिये। विवरणसिद्धान्त में अज्ञान-प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव होने पर भी जीवका नानात्व बुद्धियों के भेद से है—यह सिद्धांतबिंदु में स्पष्ट है। संक्षेपशारीरककार साक्षिता को अज्ञान से और प्रमातृता को मति या बुद्धि भी जुड़ जाने से (सं. शा. ३.१३२) संगत करते हैं। इसी दृष्टि से प्रकृत पुराण में कार्य और बुद्धि को अलग-अलग उपाधि कहा है। अथवा विराट् और हिरण्यगर्भ भी ईश्वर के ही रूप हैं ऐसा मानें तो कार्यकारण को ईश्वर की ही उपाधि मानना चाहिये और केवल बुद्धि को जीवकी उपाधि स्वीकारना चाहिये। वार्तिककार की प्रक्रिया से यह व्यवस्था भी उपपन्न है।)। ।३७०।। माया द्वारा उपस्थापित जीवता का उपाधिविवेक से त्याग कर जब जीव अपने आत्मा को ईश्वर से अभिन्न समझ लेता है तब सब पाशों से छूट जाता है। ।३७१।। सुई के छेद में सीमित आकाश न्यून (छोटा) कहा जाता है और ब्रह्माण्ड से घिरा यह आकाश बड़ा कहलाता है जबकि बड़ा-छोटापन ब्रह्माण्ड या छेद में है न कि आकाश में ! इसी तरह बुद्धि में स्थित—बुद्धि से तादात्म्यापन्न—आत्मा ही जीव कहा गया है और माया में स्थिति उसे ही परमेश्वर कहते हैं, आत्मवस्तु में कोई भेद नहीं, बुद्धि-माया उपाधियों का ही अंतर है। ।३७२-३।। यह जीव जब आनंदरूप ईश्वर को उक्त ढंग से

१. 'संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः। अनीशश्चात्मा बुध्यते भोक्तृभावाद् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।।'

एवं विज्ञाय जीवोऽयमानन्दात्मानमीश्वरम्। कामक्रोधादिकान् पाशान् सन्त्यजेद् मायया सह॥३७४

मोक्षोपायो विज्ञानम्

अनादि त्रयमेतत् स्याद् माययैव यतीश्वराः। अजत्वमत एव स्यात् त्रयाणामपि सर्वदा।।३७५

सर्वज्ञः परमात्मैको मूढो जीवस्तथा परः। आनन्दात्मा तथाऽन्यश्च माया सर्वस्य कारणम्।।३७६

एतत् त्रयं यदा जन्तुर्जानीते स्वस्वरूपतः। अभिन्नं भोक्तृभोग्यादिरूपेण परितः स्थितम्।।
अनन्तमेकमात्मानमहमस्मीत्यसंशयम्।।३७७

एवमिति। एवं परमार्थतो वस्तुन ऐक्येन आत्मानमद्वयं ज्ञात्वा जीवः कामादीन् पाशान्, तत्कारणी भूतां मायां च त्यजतीत्यर्थः।।३७४।।

नन्वात्मन एकत्वेऽयं भेदव्यवहारः किंकृतः ? इति शङ्कां निवार्य मोक्षसाधनं विज्ञानमभिनयतो[1] नवममन्त्रस्याऽर्थमाह—अनादीति। एतद् वक्ष्यमाणं पदार्थत्रयम् अनादि मायया एव कल्पितम्। तेषां त्रयाणां पदार्थानाम् अजत्वम् अनादित्वमपि अत एव मायात एव स्यात्। ते पदार्था अनादित्वेनैव मायया कल्पिता इति यावत्।।३७५।। के ते ? इत्याकांक्षायाम् आह—सर्वज्ञ इति। तथा च—ईशो, जीवः, शुद्धं ब्रह्म च इति त्रयम् अनादि इति पादत्रयार्थः। एतेषामनादित्व उक्ते तत्प्रयोजिकाया मायाया अनादित्वमर्थादुक्तमित्याह—मायेति। सर्वस्य त्रयाणां भेदस्य तदनादित्वादेश्च कारणं प्रयोजिकेत्यर्थः। तदुक्तं वार्तिककृता 'जीव ईशो विशुद्धा चिद् विभागश्च तयोर्द्वयोः।अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः'।।( )इति।।३७६।।मोक्षोपायमाह—एतत्त्रयमिति। यदाऽयमधिकारी एतद् वर्णितं त्रयं स्वस्वरूपाद् अभिन्नं जानाति, आत्मानं स्वस्वरूपं च सर्वात्मतया स्थितम् अत एव अनन्तं जानाति—अयम् अहमस्मीति—तदा मुच्यत इति शेषः।।३७७।।

अखण्ड समझ लेता है तब काम-क्रोधादि पाश और उनकी कारणभूत माया का यह बाधात्मक त्याग कर देता है।।३७४।।

नवें मंत्र में बताया है कि चैतन्यस्वभाव नियन्ता तथा अज्ञानी नियम्य—ये दोनों उपाधिभेद से प्रतीयमान ईश्वर और जीव अज हैं, जन्मरहित हैं। भोक्ता के भोग की सिद्धि के लिये प्रयासशील एक अजा है, जन्मरहित अज्ञान है। अपरिच्छिन्न तत्पदार्थ जगत्का उपादान समझा जाने पर भी कर्तृत्व से रहित ही है। जब उक्त तीनों को—ईश्वर, जीव, अपरिच्छिन्न ब्रह्म को—सही तरह समझा जाता है तब पता चलता है कि ये सब केवल ब्रह्म ही है। इस प्रकार इसमें बताया कि जीव-ईश्वरादि भेदव्यवहार उपाधिकृत है और अभेद-बोध मोक्षोपाय है। इसका पुराण में व्याख्यान करते हैं :

एक सर्वज्ञ परमात्मा है, उससे अलग मूढ जीव है और इनसे अन्य आनंदरूप शुद्ध ब्रह्म है—यों जो तीन समझे जाते हैं इनका भेद, इन्हें तीन स्वतंत्र वस्तु समझना, माया के कारण ही है। ये तीनों अनादि हैं एवं इनकी अनादिता भी माया से ही है।।३७५-६।। जब अधिकारी उक्त तीनों को अपने प्रत्यक्स्वरूप से अभिन्न जान लेता है, उसे इस बारे में कोई संशय नहीं रह जाता है कि 'भेद व अभाव का अप्रतियोगी एक अनंत मैं आत्मा ही भोक्ता-भोग्य आदि रूप से सब तरफ स्थित हूँ', तब वह मुक्त हो जाता है। ('त्रयं' शब्द से ईश, जीव और शुद्ध ब्रह्म यहाँ ग्रहण किये हैं तथा नारायणदीपिका में भी ये ही कहे हैं। शंकरानंद जी ने दीपिका में जीव-ईश्वर-माया का ग्रहण किया है। भाष्य में भोक्ता, भोग और भोग्य इन तीन के ग्रहण का पक्ष रखा है। सर्वथाऽपि अखण्डसाक्षात्कार के लिये सभी खंडों का बाध ही विवक्षित है।)।।३७७।।

---

१. 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता। अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्।।'

अज्ञानहानम्

अजा भोग्यस्वरूपेण सुखदुःखप्रदायिनी। अव्यक्तनामरूपत्वादक्षरं चेति कीर्तिता।।
स्वात्मनो ज्ञान उत्पन्ने नश्वरत्वात् क्षरं भवेत्।।३७८

मरणादिविनिर्मोक्षादक्षरं नाशवर्जितम्। अविद्याहरणादेष परमात्मा हरः सदा।।
ईष्टे क्षरमिदं सर्वं कार्यकारणरूपधृक्।।३७९

अथ बोधात् पूर्वम् अक्षरत्वेन प्रसिद्धाया अविद्यायाः क्षरत्वलक्षणः स्वभावविपर्ययः चतुर्भिर्निमित्तैः भवतीति प्रदर्शयतो दशममन्त्रस्य[1] अर्थमाह—अजेत्येकादशभिः। या अजा माया सृष्टिकाले भोग्यादिरूपेण, प्रलयेऽव्याकृतरूपेण च विद्यमानत्वाद् अक्षरम् इति नाम्ना प्रसिद्धा, सा बोधकाले क्षरणशीलत्वात् क्षरपदेन व्यवहार्या भवतीत्यर्थः।।३७८।। बोधकाले तु अविद्याक्षपणाद् 'हर'-संज्ञ आत्मैव अक्षरपदेन व्यवहार्य इत्याह—मरणादीति। यद् वस्तु नाशवर्जितं तद् अक्षरम् इति वाच्यम्। तादृशश्चात्मैव योऽविद्याया हरणाद् हर इति, क्षररूपयोः कार्यकारणयोः नियमनादीश इति चोक्त इत्यर्थः।।३७९।।

दसवाँ मंत्र बताता है कि प्रधान नामक माया ज्ञाननिवर्त्य होने से क्षर है एवं केवल अविद्या का हरण करने से 'हर' कहलाने वाला आत्मा ही अविनाशी अक्षर है। क्षरित होने वाले कार्य व कारण पर उसी एक देवका शासन है। उस आत्मा का सर्वत्र ध्यान करने से, प्रत्यक् को व्यापक समझने से एवं अद्वैत में परिनिष्ठित हो जाने से अविद्या मिट जाने पर जो संसार का प्रतिभास है वह भी प्रारब्धसमाप्ति के बाद समाप्त हो जाता है। मंत्र के 'अमृताक्षर' शब्द से भाष्य, शंकरानंद जी और विज्ञानभगवद्-विवरण मुख्य आत्मा को समझते हैं जो अक्षर और अमृत है। नारायण-दीपिका में आठवे मंत्र में क्षर-अक्षर शब्दों से स्थूल-सूक्ष्म शरीर कहे थे, उन्हीं का स्वरूप इस दशममंत्र में स्पष्ट कर रहे हैं ऐसा मानकर अक्षर अर्थात् सूक्ष्म शरीर को अमृत कहा है (क्योंकि ज्ञान के बिना उसका समापन नहीं होता)। हिन्दी व्याख्या में हमारे गुरुचरण ने 'अमृताक्षर' का अर्थ किया है 'अविद्याविशिष्ट चिदाभास अविनाशी है'। इसके लिये वे 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' इस गीता को (१५.१६) प्रमाण मानते हैं। 'हर' शब्द से अविद्याऽभाव का उल्लेख शंकरानंददीपिका की विशेषता है। 'अविद्याऽभाव भी अमृताक्षर है' यों भावाद्वैत नहीं केवलाद्वैत का वे वर्णन मानते हैं। 'क्षरात्मानावीशते' की भी शंकरानंददीपिका में वैकल्पिक व्याख्या है : संभवतः उनका पाठ 'क्षरात्मनावीशते' था अतः पाक्षिक पदच्छेद माना है 'क्षरात्मना वीशते'; क्षर से सभी की उपलक्षणा और 'वीशते' को 'विशति' का छांदस रूप मानकर 'सर्वात्मना विशति, सर्वं भवतीत्यर्थः' बताया है अर्थात् 'एक देव ही सब कुछ हो जाता है' यह अर्थ है। मंत्र के उत्तरार्ध में आये 'भूयश्चान्ते' पर कुछ ऊहापोह अद्वैतसिद्धि में (पृ. ८९१) है। संक्षेपशारीरक में (४.४६) यह पूरा मंत्र उद्धृत है, वहाँ भी मधुसूदन स्वामी ने प्रतिपद व्याख्या की है।

माया अक्षररूप से प्रसिद्ध है पर चार निमित्तों से यह अपना स्वभाव बदल कर क्षर बन जाती है यह प्रकट करते हुए पुराणकार उक्त मंत्र को समझाते हैं : जन्महीन माया सृष्टि के रहते भोग्य आदि रूप से उपस्थित होकर सुख-दुःख देती है और प्रलय में नाम-रूपों को स्वयं में अप्रकट रूप से छिपाये रखती है; यों सृष्टि-प्रलय दोनों समय रहने वाली माया अक्षर कही जाती है किंतु निज आत्मा का ज्ञान उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाना इसका शील है अतः श्रुति ने इसे 'क्षर' कहा है।।३७८।। मरण आदि से छूटा होने से अमृत और नाशरहित होने से अक्षर परमात्मा ही बोधकाल में अविद्या का हरण करने वाला होने से 'हर' कहलाता है। कार्य-कारण रूप धरे जो यह सारा क्षर है, दृश्य है, इस पर वह हर सदा नियमन करता है। (अर्थात् 'क्षरात्मानौ' का मतलब है 'क्षर स्वरूप वाले'। दीपिका में क्षर से कार्य और आत्मा से अविद्यासहित चैतन्य का ग्रहण किया है।)।।३७९।।

१. 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। तस्याऽभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।।'

यतीश्वरा! अयं ब्रह्म सर्वात्मा भेदवर्जितः। ज्ञातोऽविद्या गता नेति न मन्तव्यं कदाचन। ।३८०

तस्याभिध्यानतः काचिदविद्या नाशमाव्रजेत्। आत्मा सर्वमिदं जानन् यतो रागादिभिः पुमान्।।
न युज्यते यथापूर्वं भवन्त इव चाधुना। ।३८१

तेनाभिध्यानतश्चैकाऽविद्या नाशं प्रयाति सा। अत्युत्कटा यथा विद्वान् संसारिभ्यो विलक्षणः।।
भवेच्छान्त्यादिसम्पन्नो रागद्वेषविवर्जितः। ।३८२

आत्मनो ब्रह्मभावेन योजनाच्चाऽपराऽपि सा। विनश्यति महाभागा ! यथा ब्रह्मात्मतां प्रति। ।३८३

मन्त्रोत्तरार्द्धार्थमवतारयति—यतीश्वरा ! इति। हे यतयः ! भवद्भिः इति न मन्तव्यम्। 'इति' किम् ? अस्माभिः आत्मा ज्ञातः तथापि अविद्या न गता—न निवृत्ता—इति कथं ज्ञानस्याविद्यानिवर्तकत्वमिति। ।३८०।। तत्र हेतुतया आसक्त्यादिहेतवोऽविद्याशक्तयः तत्त्वज्ञानावस्थाभेदैः निरस्यमाना दृश्यन्त इति प्रतिपादकस्य उत्तरार्धस्य अर्थमाह—तस्येत्यादिना। यतः तस्य हरस्यात्मनः अभिध्यानाद् अभितः सर्वत्र जगति अनुस्यूतत्वचिन्तनात् काचित् जगति सत्यत्वभ्रमद्वाराऽऽसक्तिप्रयोजिका अविद्या अविद्याशक्तिः क्षीयमाणा बुध्यते यतः सर्वमिदं दृश्यम् आत्मा एवेति जानानः पुमान् पूर्ववद् रागादिभिः युज्यमानो न दृश्यते, तत्र भवन्त एवोदाहरणम् इत्यर्थः। ।३८१।। फलितमाह—तेनेति। तेन उक्तज्ञानफलप्रदर्शनेन अत्युत्कटाऽऽसक्तिहेतुत्वाद् यथा येन उत्कटाऽविद्यानाशेन संसारिभ्य संसारासक्तेभ्यो विलक्षणो भवेद् इति। ।३८२।।

जीवानां परस्परं ब्रह्मणश्च भेदभानहेतुभूता द्वितीयाऽविद्याशक्तिः ऐक्यचिन्तनलक्षणाद् 'योजनाद्' अपगच्छति येन आत्मनो ब्रह्मत्वे निःसंशयो भवेद्, यथाऽऽत्मनो ब्राह्मणत्वादिजातौ लौकिकजनो निःसंशयस्तद्वद्

हे यतीश्वरो ! आप लोगों को ऐसा कभी नहीं सोचना चाहिये कि 'यह अभिन्न सर्वरूप ब्रह्म हमने जान लिया फिर भी अविद्या मिटी नहीं तो ज्ञान अज्ञान का निवर्तक कैसे ?' क्योंकि तत्त्वज्ञान की विभिन्न अवस्थाओं में अविद्या की उन शक्तिओं का निरास होता जाता है जो आसक्ति आदि की हेतु हैं। (अविद्यानिवृत्ति तो अप्रतिबद्ध साक्षात्कार से होगी। जब तक ज्ञान प्रतिबद्ध दशा में है तब तक वह अज्ञान की तत्तत् सामर्थ्य को हटा सकता है, अविद्या नहीं मिटा सकता। ज्ञान की परा निष्ठा के साधनों के अभ्यास से ज्ञान विभिन्न अवस्थायें पार कर प्रतिबंधहीन होने पर अविद्या समाप्त कर देता है। जब कहते हैं कि ज्ञान अज्ञान का निवर्तक है तब अप्रतिबद्ध ज्ञान विवक्षित होता है।)। ।३८०।। अविद्या की एक विलक्षण शक्ति है कि जगत् में सत्यता के भ्रम से वह इसमें आसक्ति का पोषण करती है। पूर्वोक्त आत्मा के 'अभिध्यान' से अर्थात् वह सारे जगत् में अनुगत है ऐसे चिंतन से अविद्या की वह शक्ति क्षीण होती महसूस होती है क्योंकि 'यह सब आत्मा है' यों जानता व्यक्ति उस प्रकार रागादि वाला नहीं होता जैसे इस ज्ञान से पूर्व रहता था। इस बात में यहाँ उपस्थित आप सब मुनि ही उदाहरण हैं (—यह श्वेताश्वतर ऋषि कह रहे हैं। 'यह सब आत्मा है' का अर्थ है 'नाम-रूपात्मक यह सब केवल प्रतीयमान अतः मिथ्या है, वास्तविक तो आत्मा है'। 'यह सब जैसा है वैसे ही आत्मा है' यों मानने वाले वल्लभादि की तो अविद्या निवृत्त हो नहीं सकती क्योंकि वे ऐसी अविद्या मानते ही नहीं जो असत्य प्रपंच की हेतु हो। इस मत में 'विश्वमायानिवृत्ति' का औचित्य नहीं, 'नेह नानास्ति' (क. २.१.११), 'ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' (छां. ८.१४.१) 'प्रपंचोपशमः अद्वैतः' (मां. १२) आदि श्रुतियों का विरोध तो है ही।)। ।३८१।। 'यह सब आत्मा है' इस ज्ञान का आप जैसों में फल देखने से पता चलता है कि 'अभिध्यान' से वह अत्यंत उत्कट अविद्याशक्ति नष्ट हो जाती है और ऐसी जानकारी वाला—अभिध्यान में सदा संलग्न साधक—सांसारिक लोगों से, आसक्ति वालों से अलग ढंग का हो जाता है, राग-द्वेष से रहित और शमादिसंपत्ति से संपन्न हो जाता है। (प्रारंभ किया था कि 'हमें ज्ञान हो गया पर अविद्या नहीं मिटी' आदि चिंता नहीं करनी चाहिये और अब बताया कि जो 'ज्ञान' हुआ है वह तो शमादिसम्पत्ति प्रदान करने वाला ही है जिस संपत्ति से तत्त्वसाक्षात्कार का अधिकार मिलेगा !)। ।३८२।।

सन्देहादिविहीनः सन्ब्राह्मणत्वादिकं यथा। अवगच्छति तद्वत् तामवगच्छति सर्वदा। ।३८४

तत्त्वभावात् तृतीयैषा माया लयमुपाव्रजेत्। यथा विदेहकैवल्ये मुक्तानां मुनिसत्तमाः। ।३८५

अत्र सर्वाऽपि मायेयं संस्कारैश्च शुभाशुभैः। सदैव नाशमायाति मुक्तानां हि यतीश्वराः। ।३८६

अत्र स्वाप्नमिदं विश्वं प्रतिबुद्धो न पश्यति। आनन्दात्माऽद्वयः सोऽयं स्वयंज्योतिर्वपुःस्थितः। ।३८७

इत्याह—आत्मन इति द्वाभ्याम्। तां ब्रह्मात्मताम्। शेषं स्पष्टं द्वयम्। ।३८३-४। ।

अथ अद्वयनिष्ठारूपात् 'तत्त्वभावाख्यात्' तत्त्वज्ञानावस्थाविशेषात् ज्ञानकर्मवासनाप्रयोजिका तृतीयाऽविद्याशक्तिः नश्यति येन समाहितो विद्वान् जीवन्नपि विदेहमुक्तसमो भवेद् इत्याह—तत्त्वभावादिति। तत्त्वस्य अद्वयरूपस्य भावो नैरन्तर्येण अनुसन्धानं, तस्मात्। ।३८५। । अत्रेति। अत्र तत्त्वभावे समाहितत्वरूपे सर्वा सर्वविधा माया संस्कारैः वासनाभिः सह नश्यति, विदेहमुक्तवद् इत्यर्थः। ।३८६। । अत्र स्वाप्नमिति। तथा अत्र तत्त्वभावे जाग्रदवस्थः स्वाप्नं प्रपंचमिव विश्वं देहपर्यन्तं न पश्यति स्वयंप्रकाशानन्दरूपेऽवस्थितत्वादित्यर्थः। तदुक्तं भागवते—'देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्' (११.१३.३६) इति। एतेन प्रपञ्चमानप्रयोजिका चतुर्थी अविद्याशक्तिः प्रारब्धान्ते लीयत इति सूचितम्[1] समाधेरपि प्रारब्धात् प्राबल्यस्य सर्वतन्त्रसिद्धत्वादिति। ।३८७। ।

अविद्या की दूसरी महाशक्ति है जो जीवों के परस्पर और उनका ब्रह्म से भेद को दृढता से प्रतीत कराती है। इसकी निवृत्ति 'योजन' अर्थात् एकता के चिंतन से होती है। यह पुराण में समझाते हैं—हे महाभागो ! प्रत्यगात्मा ब्रह्म ही है ऐसे चिंतन के फलस्वरूप अविद्याकी दूसरी सामर्थ्य नष्ट होती है। जैसे अध्यासदशा में 'मैं ब्राह्मण हूँ' आदि निःसंशय अनुभव होता है ऐसे उक्त चिंतन से ब्रह्म ही प्रत्यगात्मा है इस बारे में साधक संशयरहित हो जाता है और हमेशा उस ब्रह्मात्मता का उसे भान बना रहता है। ।३८३-४। । अविद्या की तीसरी शक्ति है जो मानस-कायिक कर्मों के संस्कार कायम रखती है; इसी शक्ति से साधक को तत्तत् कर्म-उपासना के लिये प्रेरणा मिलती रहती है और वह सर्वकर्मसंन्यास से वंचित रहता है। 'तत्त्वभाव' अर्थात् अद्वैत में निष्ठा से यह शक्ति क्षीण होती है। प्रपंचमिथ्यात्व की द्रढिष्ठ भावना मानस में स्थिर हुए बिना 'नास्त्यकृतः कृतेन' हृदयंगम न हो पाने से कर्म का सहारा छूटता नहीं। इसी तरह अद्वैतसत्यता में अकम्प श्रद्धा के बिना प्राप्त की ही प्राप्ति है यह विश्वास न होने से परिवर्तन की अपेक्षा रहने के कारण भी कर्म का सम्बल नहीं छूटता। तत्त्वभाव से इन दोनों वास्तविकताओं को चित्त में स्थिर करना कहा गया है। यह पुराण में बताते हैं—हे उत्तम मुनियो ! तत्त्वभाव से—अद्वैत में निष्ठा से—माया की इस तीसरी शक्ति का समापन होता है जो कर्म में प्रेरित करने वाले संस्कारों की संरक्षिका है। उसके समापन से सभी कर्म छोड़ समाहित हुआ विद्वान् जीवित रहते हुए भी वैसी स्थिति पा जाता है जैसी मुक्तों की विदेह-कैवल्यदशा में होती है। समाहित होना रूप इस तत्त्वभाव में शुभ-अशुभ वासनाओं समेत यह सारी ही माया नाशको प्राप्त हो जाती है। जैसे जगे व्यक्ति को सपने के पदार्थ नहीं दीखते ऐसे अद्वैत आनंद व्यापक स्वप्रकाश रूप से स्थित इस सिद्ध को तत्त्वभाव की पूर्णता में अपने शरीर सहित यह संसार अनुभवगोचर नहीं रह जाता। (इस संदर्भ में भूमिकारोहण का परामर्श कर लेना चाहिये, ग्रन्थकार को आधारभूत ढंग से वह क्रम अभीष्ट है।)। ।३८५-७। ।

अविद्या की चौथी शक्ति जीवन चलाये रखती है ! समाधिस्थ का भी शरीर जीवित बना रखना इसी शक्ति का कार्य है। अत एव इसे समाधि से भी बलवान् माना गया है। इसकी अधिक प्रतिकूलता रहते समाधि भी संभव नहीं रहती, द्वैतभान हो जाता है। यह सामर्थ्य तो अपना कार्य करके ही निवृत्त होती है। तत्त्वज्ञान से इस शक्ति की

१. प्रारब्धसमाप्तौ यदप्रतिबद्धज्ञानं तेनैव सर्वशक्तिमदज्ञाननाश इति अद्वैतसिद्धौ (पृ. ८६१) वर्णितम्। न्यायरत्नावल्यादौ च प्रमव्याप्यभुज्यमानाऽदृष्टाद्यभावविशिष्टतत्त्वज्ञानमेव दृश्यविरोधीति प्रत्यपीपदन्।

अभिध्यानादिफलम्

अभिध्यानाद् यदाऽऽत्मानं जानात्येषोऽविमूढधीः। कामक्रोधादिकान् पाशांस्तदा सर्वानयं त्यजेत्।।३८८

यैर्निबद्धोऽभिसंयाति योनिमुच्चावचामयम्। तत्राऽपि त्रिविधं दुःखं व्रजेद् नानाविधं पुनः।।
यैर्निबद्धोऽत्र नैवाऽयं संसारेऽपि सुखं व्रजेत्।।३८९

त इमे दारुणाः पाशा हीयन्ते प्रथमं सदा। इदं जडाजडं विश्वं स्वात्मेत्येवावधारणात्।।
गुरुशास्त्रोक्तविश्वासात् तदभिध्यानरूपिणः।।३९०

अहं ब्रह्मेति तादात्म्याद् योजने सति यद् दृढम्। जायते ब्रह्मविज्ञानं नभोवत् स्वात्मनो यदा।।३९१

उक्तव्यवस्थामेव स्फुटी कुर्वत एकादशमन्त्रस्य[1] अर्थम् एकत्रिंशता श्लोकैः प्रपञ्चयन्; तत्र अभिध्यानफल-प्रदर्शकस्य पूर्वार्द्धस्यार्थं स्फुटयति—अभिध्यानादिति चतुर्भिः। एषः अधिकारी पूर्वं मूढः, अभिध्यानेन उक्तलक्षणेन यदाऽऽत्मानं जानाति तदा अविमूढा व्यामोहहीना मतिर्यस्य तथाभूतः सन् सर्वान् कामादिरूपपाशांस्त्यजेद् यैः कामाद्यैः बद्धो नानायोनिषु कारागारस्थानीयासु भ्रमति। तत्र तासु योनिषु अत्र देहे च नानादुःखानि च अनुभवति। इति द्वयोरर्थः।।३८८-९।। त इम इति। ते नानायोनिद्वारा दुःखप्रयोजका इमे कामादयः पाशाः क्षयं गच्छन्ति। कुतः? इदं विश्वम् आत्मैव इति आकारकाद् अभिध्यानाद् आत्मज्ञानात् श्रद्धया लब्धाद् इत्यर्थः।।३९०।।

अथ अर्थाल्लब्धं योजनफलं प्रपञ्चयति—अहं ब्रह्मेति चतुर्दशभिः। नभोवद् घटाकाशस्य महाकाश इव अहं ब्रह्मेति स्वात्मनः तादात्म्येन ब्रह्मणि योजने सति यदा ब्रह्मज्ञानं जायते तदा हृदये हृदयग्रन्थौ अध्यासरूपे

असत्यता तो स्फुट हो ही चुकती है लेकिन स्वरूप से इसकी निवृत्ति तभी है जब यह अपना समस्त शक्य प्रकट कर चुके। प्रारब्धसमाप्ति ही इसका नाश है। अतः इसके निवारणार्थ किसी यत्न की आवश्यकता नहीं।

ग्यारहवा मंत्र कहता है कि अहन्ता-ममता जिनमें प्रधान हैं ऐसे सभी पाश, बंधन तब खुल जाते हैं जब स्वप्रकाश तत्त्व को प्रत्यक् समझ लिया जाता है। इन बंधनों से छूटा सिद्ध जन्म से मृत्यु तक के सभी विकारों से परे हो जाता है। जिसने आत्मा का पूर्वोक्त क्रम से अभिध्यान परिपक्व कर लिया है उसका जब प्रारब्धसमाप्ति पर देहपात होता है तब उसे तीसरा अपरिच्छिन्न ऐश्वर्य मिलता है जिससे वह अविद्यालेश के भी परामर्श से रहित हो पूर्णकाम हो जाता है। 'तीसरे' का अभिप्राय वराहोपनिषत् (२.६९) से स्पष्ट होता है जहाँ बताया है कि संसार को पारमार्थिक मानना, व्यावहारिक मानना और प्रातिभासिक समझना इनका एक-एक कर नाश होता है अतः आत्ममाया त्रिधा नष्ट होती है। इस मंत्र का पुराण में व्याख्यान करते हैं—

बंधदशा में मोहग्रस्त रह चुका जो विद्याधिकारी वह पूर्वदर्शित अभिध्यान से जब व्यापक स्फुरणरूप आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है तब उसकी मति व्यामोह से रहित हो जाती है और वह कामनादि उन समस्त फंदों का बाधात्मक परित्याग कर देता है जिनसे पूर्व में मानो बँधा हुआ यह अच्छी-बुरी योनियों में भटकते हुए आध्यात्मिक आदि तीनों तरह के अनन्त दुःख बारम्बार भोगता रहा था; जिन फंदों में जकड़ा यह इस संसार में भी कभी सुख नहीं पा सका था।।३८८-९।। गुरु और शास्त्र के कथन में विश्वासपूर्वक 'यह चर-अचर सारा संसार स्वात्मा ही है' ऐसे अभिध्यान से—ज्ञानानन्तर चिन्तन से—सबसे पहले ये दुःखदायी पाश ही खुलते हैं। (एवं च काम-क्रोध आदि की परवशता की कमी साधक को बता देती है कि वह समुचित अभिध्यान कर पा रहा है या नहीं।)।।३९०।।

---

१. 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः। तस्याऽभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः।।'

हृदये सम्प्रभेदः स्यात् तदा तस्य महात्मनः। क्लेशकर्मक्षयश्चैव च्छिन्नसंशयबोधता।।३६२
मायालये यदा क्लेशाः क्षीयन्ते प्राणिनामिह। तदा कारणशून्यानि दुःखानि न भवन्ति च।।३६३
अज्ञानं हि यदैव स्यात् तदाऽहन्ता प्रजायते। रागद्वेषभयैः सार्द्धं ममतायास्तु कारणम्।।३६४
अज्ञाने विलयं प्राप्ते यात्यहन्ता लयं ततः। तल्लये केन दुःखानि प्राप्नुयादेष मानवः।।३६५
एवं निर्दुःखतां प्राप्य पुण्यपापविवर्जितः। आरब्धकर्मनिर्वाणम् इच्छन्नेषोऽत्र वर्तते।।३६६
सुकृतैः सुखमायाति दुःखं याति च दुष्कृतैः। सङ्घातो बुद्धिसहितो देहो नाऽहं कदाचन।।३६७
अतो देहकृतं किंचित् सुखं दुःखं न विन्दति। अभिमानाद् यथा देहे मण्डिते मण्डितो भवेत्।।
तस्मिन्नुपहते तद्वद् उपघातं च यात्यसौ।।३६८
एवं देहाभिमानेन सुखं दुःखं च गच्छति। अनुकूलात्तथैवाऽयं प्रतिकूलाच्च देहभाक्।।३६९

सम्प्रभेदो विशीर्णता, क्लेशादिक्षयो निःसंशयबोधशालित्वं च भवति। 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' (मु. २.२.८) इत्यादिश्रुतेः। इति द्वयोरर्थः।।३६१-२।। क्लेशानाम् अविद्यादीनां क्षये तु दुःखानि कारणाभावादेव न भवन्ति इत्याह—मायेति। मायाया भेदप्रयोजकाऽज्ञानस्य क्षये।।३६३।।

अज्ञानस्य क्लेशद्वारा दुःखप्रयोजकतामेव अन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्फुटयति—अज्ञानमिति द्वाभ्याम्। अहन्ता अस्मिताख्या, ममता अभिनिवेशः।।३६४।। व्यतिरेकमाह—अज्ञान इति। तल्लयेऽहन्तालये।।३६५।। तस्य विदुषः प्रारब्धकर्मणा देहसङ्घातधर्माणां दुःखादीनां मानमात्रं भवति, न तु आत्मनि अध्यास इत्याह—एवमित्यादिना। निर्वाणं समाप्तिम्। एष विद्वान्।।३६६।। दुःखादिकं सङ्घातधर्म एवेत्याह—सुकृतैरिति। बुद्धिसहितदेहरूपः सङ्घातो दुःखाद्याश्रयो, नात्मेति।।३६७।। अत इति। अत उक्तविवेकाद् विद्वान् सुखादिकं न याति यथा मूढोऽभिमानाद् देहधर्मान् याति इति सम्बन्धः। उपहते ताडिते। उपघातं पीडाम्।।३६८।। एवमिति। मूढो देहभाक् देहात्मदर्शी अनुकूलात् सुखं, प्रतिकूलाद् दुःखं च गच्छति इति।।३६९।। विद्वांस्तु न तथेत्याह-अभिमानेनेति।

जैसे घटरूप उपाधि की उपेक्षा पर घटाकाश को महाकाश से 'जोड़' कर समझा जाता है ऐसे जब 'मैं ब्रह्म हूँ' यों स्वात्मा को—परिच्छिन्न चेतन को—ब्रह्म से—व्यापक चेतन से—'जोड़' दिया जाता है, 'दोनों' में अंतर नहीं रह जाता, तब उस महात्मा को जो परमात्मानुभव होता है उससे अध्यासरूप 'हृदय की गाँठ' खुल जाती है, क्लेश तथा संचित-आगामी कर्म नष्ट हो जाते हैं और बोध में किसी तरह का संदेह नहीं रह जाता।।३६१-२।। अज्ञानात्मिका माया के बाध से जब प्राणियों के क्लेश समाप्त हो जाते हैं तब कारण ही न रह जाने से दुःख रह ही नहीं जाते हैं।।३६३।।

क्लेश के माध्यम से दुःख संभव करना अज्ञान का ही कार्य है। जब तक अज्ञान है तभी तक अहन्ता, अस्मिता, अभिमान होता है जो राग-द्वेष-भय-ममता का उत्पादक है। अज्ञान न रह जाने पर अहंता निवृत्त हो जाती है जिसके बाद यह मानव दुःख प्राप्त ही कैसे कर सकता है! (अभिमान रहते ही आत्मा दुःख पा सकता है, इसके बिना नहीं, जैसे सुषुप्ति आदि में।)।।३६४-५।। ज्ञान से संचितादि पुण्य-पाप जला चुका यह महात्मा उक्त क्रम से दुःखरहित हो जाता है, प्रतीयमान दुःखों से अपनी स्वरूपस्थिति में परिवर्तन नहीं समझता। तदनंतर वह संसार में इतना ही चाहते हुए रहता है कि प्रारब्ध कर्म कृतकार्य हो जायें। (मुक्त प्रारब्धक्षय 'चाहता' इसलिये है कि वह ईश्वररूप से उसी का संकल्प है।)।।३६६।। 'देहादिसंघात ही पुण्यवश सुख और पापवश दुःख प्राप्त करता है, मुझ आत्मा को कभी भी सुखादि नहीं होता' इस बोध के बने रहने से देहप्रयुक्त कोई सुख-दुःख विद्वान् को 'मैं सुखी या दुःखी' यों प्रतीत नहीं होता। अज्ञानी क्योंकि देह से तादात्म्याध्यास रखता है इसलिये देह के अलंकरण से 'मैं अलंकृत' यों समझता है, देह के उपघात

अभिमानेन रहितो यथा देहान्तरे पुमान्। सुखदुःखे न यात्येवम् अस्मिन्नपि वपुष्ययम्।।
पश्यत्येष निजं देहं परदेहसमं पुमान्।।४००
मध्यस्थोऽत्र यथा कश्चिद् द्वयोर्विवदमानयोः। सुखदुःखे विजानन् स नैव जानाति कर्हिचित्।।४०१।।
एवमेव शरीरस्थः पुमान् सङ्गविवर्जितः। सुखदुःखे विजानन् स न जानात्येकरूपभाक्।।४०२
वासनाभिर्यथा स्वप्नं पश्यत्येव विमूढधीः। पुमान् क्वचित्तथैवाऽयं क्षीणक्लेशः सुखादिकम्।।
जीवन्मुक्तवपुर्गच्छेत् सर्वदुःखविवर्जितः।।४०३
तत्त्वभावादविद्यायाः क्षये संस्कारवर्जितः। तत्पदार्थेऽस्ति यत्किञ्चिद् विश्वैश्वर्यं पुरोदितम्।।[1]
देहभेदे तृतीयं तद् द्वयमाद्यमपेक्ष्य हि।।४०४।।

देहान्तरधर्मान् इव स्वदेहधर्मानपि नात्मनि आरोपयतीत्यर्थः।।४००।। देहताटस्थ्ये लौकिकं दृष्टान्तमाह—मध्यस्थ इति। मध्यस्थः पक्षपातहीनः ।।४०१।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति। स्पष्टम्।।४०२।। तस्य समाधेर्व्युत्थानकाले प्रपञ्चमानं भवतीति दृष्टान्तेन स्फुटयति—वासनाभिरिति। यथा स्वप्नभानं स्वप्नभोगप्रदकर्मवासनाधीनं तथाऽस्य प्रारब्धकर्माधीनं विश्वभानमित्यर्थः।।४०३।।

अथ उत्तरार्द्धोक्तं तत्त्वभावफलं विशदयति—तत्त्वभावादिति। तदेकनिष्ठारूपात् तत्त्वभावाद् यदा निरविद्यः संस्कारवर्जितो भवति तदा तत्पदार्थे परमेश्वरे विद्यमाने विश्वैश्वर्यं पुरा 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' (कौ. ३.८; आत्म पु. २.५२६) इत्यादिश्रुतिव्याख्यानावसरे उक्तं देहभेदे वक्ष्यमाणस्वरूपे प्राप्नोतीति शेषः। कीदृशं तदैश्वर्यम्? अभिध्यानयोजनयोः फलभूतं यदैश्वर्यद्वयं तदपेक्षया तृतीयम् इत्यर्थः।।४०४।। तत्र अभिध्यानफलस्य

से 'मैं उपहत, पीडित' यों समझता है अर्थात् देह में अभिमान के कारण अनुकूल अनुभव से सुख और प्रतिकूल से दुःख प्राप्त करता रहता है। जिस देह में जिस पुरुष को अभिमान नहीं होता—जैसे यज्ञदत्त को देवदत्त के शरीर में या मरने पर स्वयं अपने ही त्यक्त शरीर में—वह उस देह से प्रयुक्त सुख-दुःख भी महसूस नहीं करता। यह विद्वान् पुरुष तो अपने शरीर को पराये शरीर जैसा ही समझता है अतः इस देह में भी अभिमान न रखने से इससे सुखी-दुःखी नहीं होता।।३९७-४००।। संसार में भी देखा जाता है कि दो जनों के विवाद में जो पक्षपातरहित मध्यस्थ होता है वह उन लोगों के सुख-दुःख देखते हुए भी 'मैं सुखी-दुःखी' ऐसा अनुभव नहीं करता (या मुक्केबाजी आदि का निर्णायक पहलवानों के आपसी प्रहारों की पीडा नहीं महसूस करता)। इसी प्रकार तत्त्वनिष्ठ पुरुष शरीर में अभिमान के बिना ही शरीर में स्थित जैसा रहता है अतः देहादिगत सुख-दुःख जानते हुए भी क्योंकि उसे अपनी एकरूपता में कोई अंतर नहीं प्रतीत होता इसलिये उसे सुख-दुःख का कोई अनुभव नहीं होता।।४०१-२।। जैसे अत्यधिक मूर्ख पुरुष वासनाओं से निर्मित दिवास्वप्न देखता ही रहता है इसी प्रकार समाधि से व्युत्थित होने पर जीवन्मुक्तशरीरधारी यह विद्वान् वस्तुतः सभी दुःखों से रहित रहते हुए ही, क्लेश का अनुभव न करते हुए भी प्रारब्धोपस्थापित सुखादि का अवलोकन कर लेता है। (मूल के 'स्वप्न' को दिवास्वप्नार्थ मानने का अभिप्राय है कि शयनकालिक स्वप्न में तो द्रष्टा तत्काल उसे स्वप्न नहीं समझता जबकि विद्वान् सुखादिदर्शनकाल में भी उसे मिथ्या ही जानता है। दिवास्वप्न में तत्काल भी मिथ्यात्वका निश्चय रहा करता है।)।।४०३।। यहाँ तक 'योजनात्' का व्याख्यान हुआ।

तत्त्वभाव के अभ्यास से अविद्या का क्षय हो चुकने पर मुक्त जब जीवभाव के संस्कारों से भी रहित हो जाता है तब उसे वह समस्त ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है जो तत्पदार्थ ईश्वर में है। अभिध्यान तथा योजन के फलभूत ऐश्वर्यों की अपेक्षा से इसे ही पहले (श्लो. ३८५) देहसमाप्ति पर होने वाला तीसरा ऐश्वर्य कहा था।।४०४।। पहले जिसका

१. तथा च पाराशरसूत्रम् 'पराऽभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ' (३.१.५), जीवस्येश्वरसमानधर्मत्वमविद्यादिव्यवधानात्तिरोहितमपीश्वरमभिध्यायतोऽपगतध्वान्तस्य कस्यचिदेवेश्वरप्रसादादाविर्भवति, ईश्वराद्धि जीवस्य बन्धमोक्षौ नियतौ तदविद्यया बन्धो मोक्षश्च तद्विद्यया—इति तत्र भाष्याभिप्रायः।

रागद्वेषादिराहित्यं सर्वपाशविमोक्षणम्। ऐश्वर्यं प्रथमं प्रोक्तम् इन्द्रस्याऽपि न चास्ति यत्।।४०५

सर्वक्लेशप्रहाणेन जायते यददुःखदम्। द्वितीयं न तदस्त्यत्र ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः।।४०६

तृतीयं सर्वसंस्कारसमुच्छेदात् प्रजायते। विश्वैश्वर्यं तृतीयं तद् विद्यते परमात्मनः।।४०७

नात्मानं न परं यत्र संस्कारैरपि पश्यति। आनन्दात्मा स्वयंज्योतिरवाङ्मनसगोचरः।।४०८

स्वसजातिविजात्युत्थभेदत्रयविवर्जितः। वर्तते प्राप्तकामोऽयमुपमादिविवर्जितः।।४०९

यदा विलीयते देहे प्राणः सत्य इतीरितः। उत्क्रान्तिरहितस्तस्मिन् देहभेदे यतीश्वराः।।
इदमाप्नोति कोऽप्यत्र पुमांश्चरमजन्मनि।।४१०

मनुष्याणां सहस्रेषु कोऽपि विद्वान् विमुक्तये। चित्तं करोति तेष्वत्र सहस्रेष्वपि कश्चन।।४११

ऐश्वर्यमावं सकामस्येन्द्रस्याऽपि दुर्लभत्वेनाह—रागद्वेषादीति। रागादिराहित्यात्मक-सर्वपाशविमोक्षणरूपम् ऐश्वर्यं प्रथमं प्रथमस्याऽभिध्यानस्य फलम्।।४०५।।योजनफलस्य तथात्वमाह—सर्वेति।अदुःखदं भेदाभावेन भूमानन्दरूपं द्वितीयम् ऐश्वर्यं भेददर्शनकाले हिरण्यगर्भस्याऽपि दुर्लभमित्यर्थः।।४०६।।तत्त्वभावप्रयुक्तमैश्वर्यं विशदयति—तृतीयमिति त्रिभिः। परमात्मनः परमेश्वरस्य।।४०७।। तस्य भूमानन्दरूपतामेव दर्शयति—नात्मानमिति। संस्कारप्रयुक्तं दर्शनं—स्मृतिः। तथा च भिन्नत्वेन आत्मादिकं स्मरत्यपि न, तथा अनुभवनं तु दूरत इत्यर्थः।।४०८।। स्वसजातीति। अयं विद्वान्।।४०९।। 'देहभेद'-पदार्थं ब्रुवंस्तत्रोक्तमैश्वर्यं विदुषा लभ्यत इत्याह—यदेति। सत्—पृथिव्यादि भूतत्रयम्, त्यत् परोक्षं वाय्वाकाशरूपम्, तत्समुदायात्मकत्वेन सत्यपदार्थतया 'सत्यस्य सत्यम्' इति ब्रह्मनामव्याख्याने (बृ. २.३.६) उक्तः प्राणो यदा देह एव लीयते तद्रूपे देहभेदे, इदम् ऐश्वर्यं कश्चिल्लभत इत्यर्थः।।४१०।। एतादृशस्य विदुषो दौर्लभ्यं गीतादिषु प्रसिद्धं दर्शयति—मनुष्याणामिति। मनुष्येषु मुमुक्षुर्दुर्लभः, तेषु मुमुक्षुष्वपि साधनसम्पन्नो दुर्लभतरः, तेष्वपि आत्मवान् परोक्षात्मविद् दुर्लभतम इति

अनुष्ठान करना चाहिये उस अभिध्यान का फलभूत प्रथम ऐश्वर्य है सब पाशों से छूटना अर्थात् राग-द्वेषादि से रहित हो जाना। कामनाशाली रहते इंद्र को भी यह ऐश्वर्य अप्राप्त है।।४०५।। तदनंतर अनुष्ठेय योजन के फलस्वरूप द्वितीय ऐश्वर्य प्राप्त होता है जो व्यापक आनंदरूप ऐसी निर्दुःख स्थिति है जिससे सभी क्लेश पूर्णतया हट चुके हैं। भेददर्शन रहते हिरण्यगर्भ को भी यह ऐश्वर्य दुर्लभ है।।४०६।। तत्त्वभाव से व्यक्त होने वाला तीसरा ऐश्वर्य सब संस्कारों की समाप्ति पर प्राप्त होता है। यह ऐश्वर्य परमात्मा में हमेशा है। वह ऐश्वर्य पाने पर विमुक्त स्वयं को व ईश्वर को विभिन्न रूप से याद भी नहीं कर सकता तो वैसा अनुभव नहीं करता इसमें कहना ही क्या ! (अर्थात् भेदसंस्कार मिट जाने से भेदस्मृति नहीं होती। भेददर्शन भी भेदसंस्कारापेक्ष है क्योंकि भेदग्रहण के लिये भिन्न प्रतियोगी का ज्ञान चाहिये।) यह विद्वान् स्वयं को वह आनंदस्वरूप समझता है जो मन-वाणी से परे है, स्वप्रकाश है, स्वगत-सजातीय-विजातीय भेदों से रहित है। अतः इस तत्त्वनिष्ठ के लिये कोई समीचीन उदाहरण नहीं मिलता। इसकी समस्त कामनायें परिपूर्ण हो चुकती हैं।।४०७-९।। हे यतीन्द्रो ! विद्वान् के प्राण का उत्क्रमण नहीं होता। 'सत्त्य' कहलाने वाला उसका प्राण जब शरीर में ही विलीन हो जाता है तब कहा जाता है कि उसका 'देहभेद' हो गया और तभी यह तीसरा ऐश्वर्य प्राप्त होता है। वह दुर्लभ ही पुरुष होता है जिसे इसकी प्राप्ति होती है क्योंकि यह 'देहभेद' उसी का होता है जिसे आखिरी जन्म मिला है। (प्राण को 'सत्त्य' नाम वाला पूर्व में बृहदारण्यक के व्याख्यान में बताया था। 'देहभेद' का अर्थ वही है जिसे सामान्यतः मृत्यु कहते हैं। क्योंकि गीतानुसार मृत का पुनः जन्म ध्रुव है और विद्वान् का जन्म होता नहीं इसलिये मृत्युशब्द से बचकर 'परान्तकाल' 'देहभेद' आदि का प्रयोग किया जाता है। विद्वान् के प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता यह भी अ. ५ श्लो. १५२ आदि में बता चुके हैं।)।।४१०।।

श्रवणादिसमुद्युक्तो भवेत् पुण्यकरः पुमान्। तादृशेष्वपि कश्चित् स्यात् सहस्रेष्वात्मवानयम्। ।४१२
आत्मबोधेन सम्पन्नो रागद्वेषविवर्जितः। आत्मवत् सर्वभूतानि कश्चिदेष प्रपश्यति। ।४१३
कृतार्था जननी तस्य जनकोऽपि महात्मनः। कुलं पवित्रं तस्यैतद् यत्र जातः पुमानयम्। ।४१४
किम्बहूक्तेन सर्वज्ञा ब्रह्मबोधजनिं प्रति। विश्वम्भराऽपि सकला कृतार्था तेन जायते। ।४१५
विदुषः स्वात्मविज्ञानं यस्य जातं महात्मनः। मुच्यन्ते पातकैर्घोरैः अपि तद्दृष्टिगोचराः। ।
महापातकिनोऽप्येते सर्वमात्मेति जानतः। ।४१६
क्षयी यथा निजं कायं गच्छत्येवाऽत्र कालतः। क्लेशै रागादिभिः शून्य आत्मध्यानपरायणः। ।
प्रत्यक्षमात्मनो ज्ञानं गच्छत्येव तथैव सः। ।४१७
तस्मिन्नाप्ते समाप्नोति देहभेदादनन्तरम्। विश्वैश्वर्यं यतश्चायं भयं किञ्चिद् न गच्छति। ।४१८

द्वयोरर्थः। ।४११-२। । तेष्वप्यपरोक्षात्मविद उक्तलक्षणस्य प्रभावो न वाङ्मनसगोचर इत्याह—आत्मबोधेनेति। ।४१३। । 'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था' (स्कंद. माहेश्व. कौमार. ५५.१४०) इत्यादिपद्यं[1] तस्यैव माहात्म्यं किञ्चित् ख्यापयतीत्याह—कृतार्थेति द्वाभ्याम्। ब्रह्मबोधस्य जनिम् उत्पत्तिस्थानं विद्वांसं विषयी कृत्य बहुनोक्तेन किं ! यतस्तस्य जनन्यादिमहिमाऽपि वर्णयितुमशक्यः। इति द्वयोः सम्बन्धः। ।४१४-५। । 'यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वे प्रवर्तते। तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः। ।' (वराहोप. ४.४३) इत्यस्याऽर्थमाह—विदुष इति। एते ब्रह्महादयः। ।४१६। । तस्य विदुष आत्मतत्त्वं यादृशं भवति तादृशं हस्तामलकवत् स्फुटं भासत इत्येतद् दृष्टान्तेन स्फुटयति—क्षयीति। यथा क्षयरोगी निजकायस्य तत्त्वं सर्वदोषनिधानत्वादिरूपं बहुना कालेन जानाति, नीरोगस्तु देहमात्मत्वेन मन्यमानो न तथा देहदोषान् जानाति, तथा विद्वांश्चिरमात्मध्यानेन आत्मगुणान् सत्यत्वादीन् सम्यग् गच्छति जानातीत्यर्थः। ।४१७। । तस्मिन्निति। तस्मिन् आत्मबोधे प्राप्ते 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु. ३.२.९) इति श्रुत्युक्तं फलं प्राप्नोतीत्यर्थः। ।४१८। ।

हज़ारों मनुष्यों में कोई ही समझदार 'मैं मोक्षार्थ यत्न करूँ' ऐसा संकल्प करता है। ऐसे निश्चय वाले हज़ारों में कोई ही पुण्यशाली पुरुष साधन-संपत्ति बटोर कर श्रवणादि अंतरंग साधनों में पूर्णतः संलग्न होता है। ऐसे भी हज़ारों साधकों में कोई ही होता है जिसे प्रतिबद्ध ही सही, पर निश्चय हो जाये कि 'दृश्य है नहीं, अखण्ड आत्मा ही मैं हूँ'। ऐसे निश्चय वालों में भी कोई ही आत्मबोध की उस परा निष्ठा को प्राप्त करता है जहाँ राग-द्वेष से पूर्णतः छूटकर सभी भूतों को आत्मा जैसा ही देखे। ।४११-३। । जो इस स्थिति में पहुँच गया उस महात्मा के माता-पिता कृतार्थ हो जाते हैं। वह पुरुष जिस कुल में पैदा हुआ वह भी पवित्र हो जाता है। अधिक क्या कहें ! जिसने अपने चित्त में ब्रह्माकार अखण्ड अप्रतिबद्ध वृत्ति पा ली उसके बारे में जो महत्त्व कहा जाये सो कम ही है। उसके प्रताप से तो सारी पृथ्वी ही कृतार्थ हो जाती है। ।४१४-५। । जिस विद्वान् महात्मा को ऐसा निज स्वरूप का अनुभव हो गया कि 'ये ब्रह्मा आदि सब मैं ही हूँ' उसकी दृष्टि पड़ जाने से महापापी लोगों के घोर पाप समाप्त हो जाते हैं। ।४१६। । क्षय-रोगी दीर्घ काल तक रुग्ण रहने से निरंतर अपने शरीर का चिंतन करते रहने से अपने शरीर की वास्तविक स्थिति समझ लेता है कि यह सभी दोषों की निधि है, स्वस्थ व्यक्ति क्योंकि शरीर के विकारों पर एकाग्र नहीं रहता इसलिये शरीर की वास्तविकता से बेखबर रहता है। इसी प्रकार रागादि क्लेशों से रहित रहकर हमेशा आत्मा के ध्यान में संलग्न महात्मा आत्मा की यथार्थता का अपरोक्ष ज्ञानं पा जाता है, बाकी भी सब हैं आत्मा ही पर उसकी वास्तविकता नहीं जान पाते। ।४१७। । आत्मबोध हो चुकने पर जब देहभेद (देहावसान) होता है तब विद्वान् विश्वैश्वर्य पा जाता है अतः उसे कोई भय नहीं रह जाता है। ।४१८। । जीवन रहते जो मुक्त है वही देहभेद पर विमुक्त होता है यह तात्पर्य है।

१. सूतसंहितायां 'विश्वंभरा पुण्यवती च तेन। अपारसच्चित्सुखसागरे सदा विलीयते यस्य मनःप्रचारः। ।' इत्युत्तरपादत्रयम् (२.२०.४५)।

ज्ञेयम्

आत्मनो हृदयाकाशमिदं ज्ञेयं सदैव हि। सर्वदैवात्मसंस्थानं सर्वाधारविवर्जितम्। ।४१९

आत्मनो ब्रह्मणो नैव भेदः कश्चिन्नु विद्यते। इति ब्रह्मात्मविज्ञानात् परं ज्ञेयं न विद्यते। ।४२०

हंसो भोक्ता य उद्दिष्टः सर्वदा सुखदुःखयोः। संसारचक्रसंस्थानो मायया ऽनीशतां गतः। ।४२१

मायाशक्तिश्च या प्रोक्ता संसारजननी नदी। भोग्या सा ऽपि च संसाररूपात्मावरणात्मिका। ।४२२

हंसेन यश्च विज्ञेयः प्रेरकः सर्वकर्मसु। ईश्वरो यस्य विज्ञानाद् हंस ईशः प्रजायते। ।४२३

ब्रह्मैवैतत् त्रयं ज्ञेयं सर्वभेदविवर्जितम्। मायया द्वित्वमापन्नमेकरूपं नभो यथा। ।४२४

ज्ञेयस्वरूपावधारणपरस्य[1] द्वादशमन्त्रस्यार्थमाह—आत्मन इति षड्भिः। यदेतद् हृदयाकाशं मायाशबलेश्वररूपम्; कीदृशम् ? आत्मसंस्थानं स्वस्मिन्नवस्थितम्; तदेव विवृणोति—सर्वाधारविवर्जितमिति। ।४१९।। तस्य ब्रह्मणो हृदयाकाशत्वाभिधानेन सूचितमात्मनैक्यमेव ज्ञेयमित्याह—आत्मनो ब्रह्मण इति। नु इति वितर्के[2]। ।४२०।। उक्तैक्यज्ञानसाधनं च पदार्थशोधनमिति सूचयन् सोपाधिकजीवेशरूपमभिधाय तत्र लक्ष्याखण्डैकमात्रतामाह—हंस इति चतुर्भिः। संसारचक्रे संस्थानं स्थितिर्यस्य तथाभूतो यो ऽयं सुखादिभोक्ता हंसः त्वम्पदार्थतयोक्तो, या च तस्य हंसस्य भोग्याकारपरिणामिनी मायाशक्तिः उक्ता, यश्च हंसस्य अन्तर्यामितया प्रेरक ईशः तत्पदार्थतयोक्त एतत् त्रयम् अपि वस्तुतो ऽखण्डब्रह्मैक्यमात्रं बोध्यम्, आकाशभेदवत्तद्भेदस्य कल्पितोपाधिमात्रप्रयुक्तत्वात्। इति चतुर्णां सम्बन्धः। ।४२१-४।।

बारहवा मंत्र पूर्वोक्त का उपसंहार करते हुए कहता है कि हमेशा ही स्वात्मरूप यह अखण्ड तत्त्व ही साक्षात्कार के योग्य है, इससे परे क्योंकि कुछ है ही नहीं इसलिये इससे अन्य जानने लायक कोई वस्तु नहीं है। भोक्ता (जीव), भोग्य (प्रकृति) और प्रेरयिता (ईश्वर) के बारे में सही समझ पाकर ब्रह्मवेत्ताओं ने बताया है कि भोक्ता आदि तीन प्रकार का जो कुछ है वह सब ब्रह्म ही है। जो भोक्ता रूप से अपरोक्ष है उसे ही भोग्य तथा प्रेरयिता समझना चाहिये क्योंकि प्रमदशा में इन तीनों तरह से उपलब्ध एक ब्रह्म ही है यह तात्पर्य है। मूल का 'ब्रह्मम्' पाठ दीपिकासंमत है। नारायण तो 'ब्रह्म हि एतत्'—पाठ के समर्थक हैं। कल्पतरुकार आदि ने 'ब्रह्म मे तत्' अर्थात् 'मैंने जो कहा वह ब्रह्म' यह वैकल्पिक पदच्छेद माना है। इस मंत्र को पुराणकार संक्षेप में समझाते हैं :

आत्मा का यह हृदयाकाशात्मक—मायायुक्त, ईश्वरात्मक—रूप ही हमेशा ऐसा है जो जानने योग्य है। वह हमेशा ही प्रत्यग्रूप से उपस्थित है। परम व्यापक होने से उसका किसी भी तरह का कोई अन्य आधार नहीं है। (सत्ता, स्फूर्ति, प्रियता आदि में परापेक्ष को साधार कहते हैं, परमात्मा ऐसा नहीं है। अज्ञान स्वातिरिक्त को ही आवृत कर सकता है और अज्ञान से अतिरिक्त ज्ञान ही हो सकता है और ज्ञान ही आत्मा है अतः आत्मा ही अज्ञात होने से वही ज्ञेय है। अज्ञान हट जाने पर स्वप्रकाश होने से उसकी भासमानता बनी रहती है अतः सदा ज्ञेय उसे ही कहा।)। ।४१९।। प्रत्यक् संवित् तथा निःसीम व्यापक तत्त्व में कोई भेद नहीं है यह प्रामाणिक तथ्य है। यह जो आत्मा का अभेद है इससे पर कोई ज्ञेय नहीं है। ।४२०।। आत्माद्वैत की स्पष्टता के लिये जीव और ईश्वर का वास्तविक स्वरूप समझना ज़रूरी है क्योंकि औपाधिक रूपों में तो भेद ही रहेगा। इस अभिप्राय से जीव-ईश्वर के सोपाधिक रूप और उनका वास्तविक अभिन्न स्वरूप समझाते हैं—मायावश ईश्वर से अलग हो संसारचक्र में भ्रमण करते हुए हमेशा सुख-दुःख का भोग करने वाला जो हंस बताया था वह वस्तुतः ब्रह्म ही है। आत्मा को आवृत करने वाली संसारोत्पादिका माया नामक जो शक्ति

१. 'एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नाऽतः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।।'

२. वितर्कोऽनुमानम्। न केवलं श्रुत्याऽभेदोऽनुमानाच्चेत्यर्थः।

आत्माधिगमोपायः

नानेकरूपताऽप्यस्य मायारूपाविशेषतः। दर्शनादिति मन्तव्यं कदाचिच्च यतीश्वराः।।४२५
देहादावात्मनो नित्यं नैव स्याद् दर्शनं यदा। तदैवं भवतात्त्वत्र ह्युपायादस्तिताऽऽत्मनः।।४२६
यथा काष्ठगतो वह्निः स्वरूपान्नोपलभ्यते। न चाऽसौ नास्ति येनाऽयमूष्मा तत्र प्रदृश्यते।।
लिङ्गं मानेऽस्तु सत्त्वे यः शरीर इव देहिनः।।४२७
तथैवात्माऽपि देहेषु विद्यमानो न लभ्यते। उपायेन विनाऽप्यस्ति लिङ्गं स्फुरणनामकम्।।४२८

परागदर्शिनं मन्दं प्रत्यपि आत्मसत्तामुपायद्वारेण बोधयतः त्रयोदशमन्त्रस्यार्थं[1] पञ्चदशभिः प्रपञ्चयंस्तत्र निवर्त्यां मन्दाशङ्कामनूद्य तत्समाधानार्थताम् उत्तरग्रन्थस्य उपन्यस्यति—नानेकेति द्वाभ्याम्। हे यतयः ! भवद्भिः इति न कदाचिद् मन्तव्यम्। 'इति' किम् ? अस्य आत्मनः अनेकरूपता एव, नाऽद्वितीयरूपता। कुतः ? मायाया रूपेभ्यो देहादिभ्योऽविशेषेण अवैलक्षण्येन प्रतीयमानत्वाद् इति।।४२५।। देहादाविति। एवम् उक्तविधाशंका तदा भवताद् अस्तु यदा उपायेन अपि देहादिसङ्घाते आत्मनो दर्शनं न स्याद्, अत्र तु उपायाद् आत्मनः अस्तिता सत्त्वं लभ्यते, अतो न तथा शङ्कितव्यमित्यर्थः।।४२६।।

तत्रानुमानेन विज्ञानरूपं प्रथममुपायमेकादशभिः प्रपञ्चयंस्तत्र दृष्टान्तमाह—यथेति। यथा काष्ठगो वह्निः स्वरूपेणानुपलभ्यमानोऽपि नास्ति इति न च वाच्यो यत ऊष्मा तत्र काष्ठे दृश्यते, स ऊष्मा हि देहे जीवस्येव काष्ठे वह्नेःलिङ्गम् अनुमापक इत्यर्थः।।४२७।। तथाऽऽत्मा देह उपायेन विना अनुपलभ्यमानोऽपि अस्तीति बोध्यः यतस्तस्य स्फुरणरूपं लिङ्गमस्ति इत्याह—तथैवेति।।४२८।।

नदी के रूपक से बतायी थी, जो भोग्यरूप संसार के आकार में परिणत होती है, वह भी ब्रह्म ही है। अंतर्यामी रूप से हंसशब्दित जीव को सभी कर्मों में प्रेरित करने वाला, जो जीव के लिये ज्ञेय है और जिसके सही अनुभव से हंस की अनीशता समाप्त हो जाती है वह ईश्वर भी ब्रह्म ही है। हंस, माया ईश्वर—ये तीनों ब्रह्म ही हैं यह निश्चित अनुभव प्राप्त करना चाहिये। जैसे आकाश एकरस रहते हुए ही नाना उपाधियों से मानो बँट जाता है ऐसे किसी भी भेद से रहित ब्रह्म अज्ञान से जीव-ईश्वर यों दो में बँटा प्रतीत हो रहा है।।४२१-४।। जिस कारणतत्त्व की जिज्ञासा प्रारंभ में उठी थी उसका यहाँ तक सांगोपांग वर्णन किया।

प्रत्यक्स्वरूप में बुद्धि स्थिर न कर सकना रूप मंदता वाला आत्मास्तित्वका बोध किस उपाय से करे यह तेरहवाँ मंत्र बताता है। लकड़ी आदि कारणसामग्री में जब तक अव्यक्त रहती है तब तक आग का जो जलाने वाला और रोशन करने वाला स्वरूप है वह प्रत्यक्ष नहीं होता लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि गर्मी आदि उसके जो चिह्न हैं उनका आत्यंतिक अभाव है क्योंकि ईंधन में प्रकट होने पर वह्नि का पुनरपि प्रत्यक्ष होता ही है, उसका दाहकत्व प्रकाशकत्व आदि स्पष्ट अनुभव में आता है। ऐसे ही पर-अपर ब्रह्म ॐकार द्वारा हृदयकमल में ग्रहण किया जा सकता है। आग की जगह ब्रह्म, लकड़ी की जगह हृदय या बुद्धि—जिसे श्रुति ने 'देह' कहा है—और जिससे उस लकड़ी को घिसते हैं उसकी जगह ॐकार है। इस मंत्र की पुराण व्याख्या करता है—हे यतिपूज्यो ! आपको ऐसा कभी नहीं मान लेना चाहिये कि यथानुभव यह आत्मा अनेक रूपों वाला ही है, अनेक जीव और इनसे अलग ईश्वर—ये आत्मा के वास्तव रूप हैं। ऐसा इसलिये नहीं मानना चाहिये क्योंकि माया के रूप जो देहादि उनसे अपरामृष्ट हो कर तो आत्मा के अनेक रूप समझ आते नहीं और जब मायारूपों से एकमेक होकर ही, उन रूपों के परामर्श से ही आत्मा के अनेक रूप प्रतीत होते हैं तब वह अनेकरूपता माया की ही सिद्ध होती है नकि आत्मा की।।४२५।। यदि देहादि मायारूपों में, उन रूपों से पृथक् कर आत्मा का कभी दर्शन न होता तब यह शंका संभव हो भी सकती थी कि मायारूपों से स्वतंत्र आत्मा नहीं होता होगा, किंतु ऐसी परिस्थिति है नहीं, उपाय द्वारा स्पष्ट पता चल जाता है कि आत्मा की स्वतंत्र सत्ता है।।४२६।।

---

१. 'वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः। स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे।।'

प्रकाशः सर्ववस्तूनां जडानां लिङ्गमीरितः। सत्ताया आत्मनो नित्यं मुनिभिर्हि यतीश्वराः। ।४२९
घटे पटे यथा कुड्ये भेदो न स्फुरणेऽस्ति हि। अभिन्नं तत एवैतत् स्वप्रकाशमुदीरितम्। ।४३०
इन्द्रियादेस्तु संयोगात् प्राकट्यं स्फुरणे भवेत्। एकरूपं नभोवत्तद् न जनिं धर्तुमर्हति। ।४३१
ततोऽभिव्यक्तिकारि स्यात् करणं हीन्द्रियादिकम्। स्फुरणे च न तस्याऽस्ति परापेक्षा कथञ्चन४३२
स्वयम्प्रकाशमेतस्मादिदमुक्तं यतीश्वराः। अन्तर्बहिश्च नैवास्ति यस्य भेदः कथञ्चन। ।४३३

स्फुरणपदार्थमाह—प्रकाश इति। योऽयं जडानां सर्ववस्तूनां प्रकाशः स स्फुरणसंज्ञः आत्मनो लिङ्गम् उक्तः। ।४२९।। स्फुरणस्य सच्चिदानन्दाऽद्वितीयरूपात्मनो लिङ्गत्वयोग्यत्वं दर्शयंस्तस्य अभिन्नत्वं स्वप्रकाशत्वं च दर्शयति—घट इति चतुर्भिः। यतो घटादिविषयेष्वेव भेदो भाति न तत्स्फुरणे तंत एतत् स्फुरणम् अभिन्नम्, तत अभिन्नत्वादेव पराऽप्रकाश्यत्वेन स्वप्रकाशं चेत्यर्थः। ।४३०।। इन्द्रियादिभिर्ज्ञानकरणैस्तु तस्य स्फुरणस्य आवरणाभिभवलक्षणं प्राकट्यमेव क्रियत इत्याह—इन्द्रियादेरिति। तत् स्फुरणं जनिं धर्तुं जन्मशालि भवितुं नार्हतीति। ।४३१।। फलितमाह—तत इति। स्फुरणेऽभिव्यक्तिं प्राकट्यमेव करोति इन्द्रियादिकं, तस्य स्फुरणस्य यतः परापेक्षा नास्ति एतस्मात् स्वप्रकाशमुक्तं, निर्भेदत्वाच्च। इति द्वयोरर्थः। ।४३२-३।।

जब जल नहीं रही तब लकड़ी में छिपी आग 'आग' रूप से प्रत्यक्ष नहीं होती लेकिन इतने मात्र से यह नहीं कह सकते कि वह उसमें है नहीं क्योंकि लकड़ी में गर्मी का प्रत्यक्ष हो जाता है और गर्मी आग का वैसे ही चिह्न है जैसे शरीर में जीव का : शरीर में गर्मी महसूस हो तो अनुमान हो जाता है कि शरीर में जीव मौजूद है, ऐसे ही लकड़ी में गर्मी से आग की उपस्थिति समझ आ जाती है। इसी तरह शरीरों में विद्यमान होने पर भी आत्मा बिना उपाय के उपलब्ध नहीं होता पर स्फुरणरूप, ज्ञानरूप, चेतनारूप चिह्न से निश्चय है कि देह में आत्मा है अवश्य। ।४२७-८।। सभी जड वस्तुओं का ज्ञान आत्मा की सत्ता में चिह्न होता ही है ऐसा मननशीलों का कहना है। (अर्थात् जड वस्तुओं का आपसी कोई व्यवहार ऐसा नहीं है जिसे ज्ञान कहा जा सके। जड से पृथक् चेतन का ही उनसे ऐसा व्यवहार प्रसिद्ध है जो ज्ञान कहलाता है। अतः जडों के बारे में होने वाला सर्वसम्मत ज्ञान ही जडविलक्षण चेतन आत्मा को सिद्ध कर देता है।)। ।४२९।।

घड़ा, कपड़ा, दीवाल आदि विषयों का भेद होने पर भी इनके परामर्श के बिना स्फुरण में, ज्ञान में कोई भेद न अनुभव में व न समझ में ही आता है अतः स्फुरण अभिन्न तत्त्व ही है। क्योंकि ज्ञान भेदरहित है इसलिये स्वप्रकाश भी मानना ज़रूरी है। (प्रकाश अर्थात् ज्ञानरूपता। ज्ञान में ज्ञानरूपता अज्ञान से तो आ नहीं सकती और ज्ञान अनेक हैं नहीं, क्योंकि विषयभेदरूप उपाधि छोड़ दें तो ज्ञानभेद बता नहीं सकते, इसलिये ज्ञान में ज्ञानरूपता बिना किसी अन्य कारण के है। इसी बात को स्वप्रकाश शब्द से कहा जाता है।)। ।४३०।। विषयादि से इन्द्रियादि का संयोग होने से ज्ञान प्रकट हो जाता है, उत्पन्न नहीं होता क्योंकि आकाश की तरह वह जन्म-नाश से रहित ही है, हमेशा एक-सा रहता है। (आकाश बना रहता है फिर भी 'घट खाली कर दिया', 'घट भर गया' यों उसके जन्म-नाश का व्यवहार उसकी अभिव्यक्ति के होने-न-होने से संगत है। ऐसे ही ज्ञान सनातन है—क्योंकि अभिन्न तत्त्व है—फिर भी प्रमाणव्यापार से प्रकट हो जाता है तब लगता है कि पैदा हो गया और अप्रकट दशा में नष्ट हुआ लगता है।)। ।४३१।। इस प्रकार इंद्रियादि ज्ञानोपाय इतना संभव कर देते हैं कि स्फुरण में, ज्ञान में अभिव्यक्ति आ जाये; इससे अधिक ज्ञान को कुछ नहीं चाहिये। ज्ञानरूपता पाने के लिये क्योंकि वह किसी का मुँह नहीं जोहता इसलिये वह स्वप्रकाश कहा ही गया है और भेद उसमें कोई है नहीं—न सजातीय और न स्वगत। ।४३२-३।। क्योंकि ज्ञान देहादि सबकी अपेक्षा प्रत्यक् है इसलिये मनीषी उसे आत्मा कहते हैं। क्योंकि ज्ञान सर्वाधिक प्रिय और व्यापक है इसलिये वह आनंद स्वरूप वाला

देहान्तरत एवैतदात्मेत्युक्तं मनीषिभिः। सर्वप्रियतमश्चात्मा तेनानन्दस्वरूपकः।।४३४

ऊष्मा यथा भवेल्लिङ्गं[1] वह्निर्भेदविवर्जितः। तथैव स्फुरणं लिङ्गम् आत्मनो भेदवर्जितम्।।४३५

मथनेन यथैवाऽयं काष्ठाद् वह्निः पृथक् कृतः। लौकिको वैदिकश्चाऽपि लभ्यते सर्वजन्तुभिः।।४३६

तद्वदात्मा स्वबोधेन लभ्यतेऽत्र परापरः। स्वर्गादिः फलभोक्ता च निर्गुणब्रह्मरूपधृक्।।४३७

तस्यैव स्फुरणस्य सर्वान्तरत्वेन आत्मपदार्थत्वं, निरतिशयप्रेमास्पदत्वेन निर्भेदत्वेन च आनन्दपदार्थत्वं चेत्याह—देहान्तरत इति। एतत् स्फुरणं यतो देहस्य सङ्घातस्य अन्तरतः प्रत्यग् भवति तत आत्मेत्युक्तम् इति पूर्वदलार्थः।।४३४।।

यथा तापकत्वेन वह्निसदृशस्य ऊष्मणो वह्निलिङ्गत्वं तथाऽऽत्म-लक्षणलक्षितस्य स्फुरणस्य आत्मलिङ्गत्वमित्याह—ऊष्मेति। भेदवर्जितः समः। अथ वा ननूक्तविधयाऽऽत्मनः स्वरूपभूतस्य स्फुरणस्य कथम् आत्मलिङ्गत्वम् ? इति शङ्कामपि दृष्टान्तेन परिहरति—ऊष्मेति। अयं भावः—यथा वस्तुतो भिन्नानामपि सत्यत्वादीनां कल्पितभेदेन ब्रह्मलक्षणत्वं तथा गमकत्वेन लिङ्गत्वमपि अस्तु, अन्यथा[2] स्वरूपलक्षणकथोच्छिद्येत—इति।।४३५।। यथा मथनरूपोपायेन लौकिको वैदिको वाऽग्निर्लभ्यते तथोक्तलिङ्गजानुमानलक्षणोपायेन संसारी शुद्धश्च आत्मा लभ्यत इत्याह—मथनेनेति द्वाभ्याम्। तत्र आत्मनो रूपद्वयं पादद्वयेनाह—स्वर्गादिरिति।।४३६-७।।

है। (दुःखद होने पर भी ज्ञान अभिलषित रहता है, जैसे पिताकी मृत्यु का ज्ञान, अतः ज्ञान की अतिशय प्रियता निश्चित है। संसार की कोई चराचर वस्तु ज्ञान से व्याप्त हुए बिना सिद्ध ही नहीं होती अतः ज्ञान की व्यापकता में क्या शंका !)।।४३४।। वह्नि से अत्यन्त भिन्न न होने पर भी गर्मी जैसे वन्हि का सूचक चिह्न है उसी तरह आत्मा से भेदरहित स्फुरण आत्मा का सूचक चिह्न है। (सूचक का ज्ञान सूच्य का बोध कराता है। यदि सूच्य-सूचक अभिन्न हों तो सूचक के ज्ञान से अतिरिक्त सूच्य का ज्ञान क्या होगा ? यह स्वाभाविक प्रश्न है। उत्तर है कि सूच्य की किसी अन्य विशेषता या व्यावृत्ति को बोधित करने वाला होने से सूचकज्ञान सार्थक है। उदाहरण में गर्मी जिस आग का बोध कराती है उसकी गर्मी से भिन्न विशेषताओं का समावेश करते हुए ही बोधक बनती है। ज्ञान भी आत्मा के सद्-व्यापक-प्रत्यक् स्वरूप के समावेश से आत्मा का बोधक होने से यद्यपि ज्ञान आत्मा से अभिन्न है तथापि ज्ञान सूचक और आत्मा सूच्य संगत है। सद् आदि स्वरूपों को विशेषण न भी मानें तो असद्व्यावृत्ति आदि ढंग से आत्मा की समझ कराता है—यह मान लेना चाहिये।)।।४३५।। जैसे लकड़ी को अन्य लकड़ी से रगड़ने से लोकोपयोगी या यज्ञोपयोगी आग प्राप्त हो जाती है वैसे ही ज्ञानरूप चिह्न से होने वाले अनुमानरूप उपाय से संसरणशील और शुद्ध आत्मा अनावृत हो जाता है यह बताते हैं : जैसे सभी जंतु इस लोकोपयोगी और शास्त्रीय-कर्मोपयोगी अग्नि को रगड़ने के द्वारा लकड़ी से अलग कर प्राप्त कर लेते हैं वैसे ही यहाँ परम व अपर आत्मा अपने चिह्नभूत ज्ञान के द्वारा समझ लिया जाता है। परम आत्मा गुणरहित व्यापक स्वरूप धारण किये है जबकि स्वर्गादि का फल भोगने वाला अपर आत्मा है। (लकड़ी से एकमेक हुई आग दाह-पाक आदि नहीं करती। लकड़ी से उसे अलग कर लें—'लकड़ी' इस बोध का

---

१. ऊष्मा वह्निरेव, तद्गुणत्वेन ततो भेदविवर्जित इत्यर्थः। तथाऽपि लिङ्गम्। प्रकारभेदेन विवक्षायामेकत्रापि लिङ्गलिङ्गिभावस्तार्किकसमाजसंमतः। मम तु 'वह्नेः' इति पाठः प्रतिभाति।

२. स्वरूपेति। 'लक्ष्यस्वरूपमपि सद् यदमुष्य साक्षाद् अर्थान्तराद् भवति भेदकमेतदाहुः। अस्य स्वलक्षणतयैव तु लक्षणं 'खं छिद्रं' 'द्रवं जलम्' इतीदृशमत्र लोके।।' इति संक्षेपशारीरके (१.५१४)। वेदान्ततत्त्वविवेकटीकायां 'दीपने' (पृ. ५७८) च स्पष्टी कृतम्-'न चासाधारणधर्मस्यैव लक्षणत्वात्कथं स स्वरूपलक्षणमिति वाच्यम्, पराभिमतविशेषादेः तदतिरिक्ताऽसाधारणधर्माभावात्, एवं घटत्वादेरपि नाऽसाधारणो धर्मोऽस्ति। तस्माद्—यद्विषयं सज्ज्ञानं यस्य तदितरभेदसंशयादि निवर्तयति तत् तस्य लक्षणम्।' इति।

अविद्यायाः सकार्याया भेदेनैव मनीषिणः। ब्रह्मबोधो यदा नैव जायतेऽत्राधिकारिणः।।४३८

तत्त्वमस्यादिवाक्येभ्यः कुतश्चित् प्रतिबन्धतः। तदाऽस्य प्रणवेनैवं कारयेद् ब्रह्मविद् गुरुः।।४३९

प्रणवेनोपासना

एवमेनं महात्मानं शिष्यं विगतकल्मषम्। आदिशेद् बुद्धिसम्पन्नो गुरुः सर्वार्थदर्शकः।।४४०

अधरारणिरेषोऽयं तव देहोऽत्र धार्मिकः। उत्तरारणिरेष स्यात् प्रणवो ब्रह्मवाचकः।।४४१

नामधेयमयं नित्यं मम ब्रह्मस्वरूपिणः। इति प्रत्ययसन्तत्या मथनं कुरु सर्वदा।।४४२

अनेन मथनेनैष पश्येद् देवं यथाऽरणौ। निगूढमग्निमचिरादेवं देहे निजेऽपि च।।४४३

यस्याऽधिकारिण उक्तविवेकेऽपि असामर्थ्यं तं प्रति प्रणवोपासनामुपदिशेदित्याह—अविद्याया इति द्वाभ्याम्। हे मनीषिणः! यदा सविलासाऽविद्यायाः सकाशाद् भेदेन विवेकेन ब्रह्मबोधो महावाक्येभ्यो न जायेत तदैवं वक्ष्यमाणप्रमाणेन ध्यानं कारयेद्। इति द्वयोरर्थः।।४३८-९।।

प्रणवोपास्यतामभिनयतः[1] चतुर्दशमन्त्रस्याऽर्थमाह—एवमिति चतुर्भिः। स्पष्टम्।।४४०।। 'एवम्' कथम्? इत्याकाङ्क्षायामाह—अधरेति। अरणिः अग्निमथनकाष्ठम्। तत्र देहः सङ्घातः अधरारणिः, प्रणवः तु उत्तर उपरिगतोऽरणिर्बोध्यः। अयं प्रणवो मम नाम इति चिन्तनमेव मथनम्। इति द्वयोरर्थः। अयं भावः—अस्मिन् सङ्घातेऽनुप्रविष्टं यत्प्रणवेन अभिधानयोग्यं वस्तु तदेव ममात्मेति चिन्त्यम्, प्रणवो हि महावाक्यार्थाभिधायक इत्यन्यत्र विस्तरः।।४४१-२।। अनेनेति। देवम् आत्मानम्।।४४३।।

विषय न रहे, 'आग' इस बोध का विषय बन जाये, ऐसी अवस्था में उसे ले आयें—तभी वह दाहादि में समर्थ होती है। आत्मा भी अविद्याविनाशक तभी होता है जब अखण्डवृत्ति में उपारूढ हो और वैसी वृत्ति बनाने में ज्ञानलिंगक अनुमान उपयोगी हो जाता है। परलोकगामी आत्मा—कर्ता-भोक्ता—अर्थात् त्वंपदका वाच्यार्थ भी ज्ञानरूप चिह्न से समझ आता है। यह याद रखना चाहिये, जैसे भगवत्पूज्यपादों ने बृहदारण्यसम्बंध भाष्य में सुस्पष्ट कहा है, कि शास्त्र-निरपेक्ष चिह्न लोकांतर-सम्बंधी आत्मा का निश्चायक नहीं बनता। प्रकृत में भी शास्त्रानुसारी उपपत्तिरूप से ही ज्ञान को चिह्न बनाकर आत्मा की समझ विवक्षित है।)।।४३६-७।।

हे मनीषियो! किन्ही प्रतिबंधकों के कारण कुछ अधिकारियों को कार्यसमेत अविद्या से अलग प्रत्यगात्मा का और महावाक्यों द्वारा ब्रह्म से उस आत्मा के अभेद का बोध श्रवण-मनन से हो नहीं पाता। ऐसे साधक के गुरु को चाहिये कि प्रणव के सहारे उससे ध्यान कराये। ध्यान-प्रकार उपनिषत् का चौदहवाँ मंत्र बता रहा है।।४३८-९।।

होमादि के लिये अग्नि उत्पन्न करने की प्रक्रियानुसार विशिष्ट (शमी आदि) लकड़ी का एक उपकरण होता है जिसके दो अंग होते हैं—अधरारणि और उत्तरारणि। डोसा आदि के लिये दाल-चावल आदि पीसने के प्रयोजन से पत्थर का जिस आकार का सिल-बट्टा दाक्षिणात्य घरों में प्रचलित है कुछ उसी आकार के ये अंग होते हैं। अधरारणि ज़मीन पर रखकर लम्बा दण्डारूप उत्तरारणि उसके मध्य में रखते हैं और दही मथने के लिये जैसे मथनी चलायी जाती है ऐसे उस उत्तरारणि को चलाते हैं जिससे रगड़ खाकर चिनगारी निकलती है और रुई आदि को उससे जला कर यज्ञकाष्ठ आदि को प्रज्वलित किया जाता है। क्योंकि मथनी-सी क्रिया की जाती है इसलिये इसे अग्नि-मंथन कहते हैं। इसके अनुसार रूपक बनाकर श्रुति ने बताया कि अपने देह अर्थात् हृदय को अधरारणि तथा ॐकार को उत्तरारणि बनाकर

१. 'स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्।।' इति। देहं हृदयमिति दीपिकायां।

शुद्धमनस्कैर्दृश्यः

ततश्चतुर्विधे देहे नाऽयं नास्ति यतीश्वराः। उपायाल्लभ्यते यस्माद् देहेष्वत्र चतुर्ष्वपि।।
चतुरस्तत्र दृष्टान्तान् भवद्भ्यः कथयाम्यहम्।।४४४
तिलेषु लभ्यते तैलं यथा सर्पिर्दधन्यपि। स्रोतस्यापोऽरणौ वह्निरेवमात्मा यतीश्वराः।।४४५
सत्यादिभिर्यमैस्तद्वद् नियमैस्तपआदिभिः। शुद्धे मनसि सङ्ग्रह्यो भवेदात्माधिकारिभिः।।
अनुपश्यन्ति ये नित्यं गुरुशास्त्रोपदेशतः।।४४६

स चात्मा शुद्धान्तःकरणैरेव दृष्टान्तचतुष्टयेन वेद्य इति दर्शयतः पञ्चदशमन्त्रस्य[1] अर्थमाह—तत इति त्रिभिः। तत उक्तविवेकेन चतुर्विधे जरायुजादिभेदैरयमात्मा नास्ति नोपलभ्यत इति न। शेषं स्पष्टम्।।४४४।। तिलेष्विति। स्रोतसि सिकतामयप्रवाहे खननेन। स्पष्टमन्यत्।।४४५।। सत्यादिभिरिति। श्रुतिगत-सत्यतपो-भ्याम् उपलक्षितैः यमनियमैः मनसि शुद्धे सति अधिकारिभिः सङ्ग्राह्यो भवति। कीदृशैरधिकारिभिः ? गुरुशास्त्रोपदेशानुसारिभिः इत्यर्थः।।४४६।।

ध्यानरूप मंथन करना चाहिये। लकड़ी में छिपी आग जैसे रगड़ने से प्रकट होती है ऐसे ही हृदय में त्वमर्थरूप से और प्रणव में तदर्थरूप से छिपे अखण्ड स्वयम्प्रकाश का ध्यान द्वारा दर्शन कर लेना चाहिये। इस मंत्र का पुराण में अर्थ बताते हैं :

श्रवण-मननमात्र से आत्मदर्शन में असमर्थ किन्तु संसारासक्तिरूप कल्मष से रहित और दैवी प्रकृति वाला होने से महात्मा जो शिष्य हो उसे सोपाय पुरुषार्थ समझाने वाला ब्रह्मनिष्ठ गुरु यों ध्यान करने का निर्देश दे : पाप से बचते हुए स्ववर्णाश्रमोचित धर्म करने वाला तुम्हारा यह शरीर अधरारणि है और ब्रह्म का वाचक यह ॐकार उत्तरारणि है 'हमेशा ब्रह्मस्वरूप जो मैं उस मेरा नाम ॐ है'—ऐसी वृत्ति की धारा बनाये रखना मंथन है। हे शिष्य ! तुम हमेशा यों मंथन करते रहो।।४४०-२।। जैसे अरणि में मंथन से शीघ्र ही अग्नि दीख जाती है ऐसे उक्त मंथन से शिष्य निज देह में छिपे आत्मा का शीघ्र ही दर्शन पर लेगा।।४४३।।

पंद्रहवें मंत्र में कहा है कि जैसे तिलों से तेल, दही से घी, स्रोतों से जल और अरणियों से आग विशिष्ट उपायों से प्राप्त होते हैं ऐसे ही सत्य, तप और अनुदर्शन रूप उपायों से प्रत्यगात्मरूप से परमात्मा ग्रहण किया जा सकता है। सत्य अर्थात् मन-वाणी-कर्म से सच का ही व्यवहार करना। तप अर्थात् उपवासादि, अपने वर्णादि धर्म एवं भगवान् ने 'ज्ञान' नाम से जिन साधनों का गीता-त्रयोदशाध्याय में विधान किया हे वे। अनुदर्शन अर्थात् श्रवणादि-अनुसारी चिंतन। इस मंत्र का संक्षिप्तार्थ पुराण में कहते हैं :

हे यतीन्द्रो ! क्योंकि लोकप्रसिद्ध चारों शरीरों में उपाय द्वारा उपलब्ध हो जाता है इसलिये चारों तरह के शरीर में आत्मा नहीं है ऐसा नहीं। (अर्थात् चारों में आत्मा है ही। चार से जरायुजादि ग्रहण करने चाहिये। वृक्षों में भी ज्ञान होता है जैसा महाभारत में (शांति. मोक्षधर्म. १८४ श्लो. ११-१८) समझाया है। विशिष्ट शब्दों से, संगीतादि से पौधों के विकास में अंतर उनके शब्दज्ञान में प्रमाण है। लता उचित सहारा खोज लेती है, छुइ-मुइ के पास हाथ ले जाने से वह सिकुड़ जाती है आदि उनके चाक्षुष-ज्ञान में प्रमाण है। गुग्गुल आदि के धूप से नींबू आदि पौधों में परिवर्तन प्रत्यक्षसिद्ध है जो उनके गंधज्ञान में प्रमाण है। जल-मिट्टी में बहुत तत्त्व हैं पर अलग-अलग पौधे चुन-चुनकर तत्त्व ग्रहण करते हैं जो उनके स्वादज्ञान के कारण है। ठण्ड गर्मी आदि का सद्यः प्रभाव बताता है कि उनमें स्पर्श ज्ञान भी है। अतः जैसे अपने घटादि ज्ञान से अपने आत्मा का हमें अनुमान होता है ऐसे उनके ज्ञानों से उनके बुद्धिसाक्षी का भी। जैसे देवदत्त के लिये यज्ञदत्तादि के ज्ञान उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया से ही गम्य हैं ऐसे हमें वृक्षादि का ज्ञान उनकी पूर्वप्रदर्शित

१. 'तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाऽग्निः। एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति।'

वेदवित्त्वम्

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिव स्थितम्। कर्मविद्यातपोमूलं ब्रह्म तत् सर्वकारणम्।।
आत्मनो विद्यया शक्त्या योऽधिगच्छति वेदवित्।।४४७

निगमनपरस्य[1] षोडशमन्त्रस्यार्थमाह—सर्वेति। क्षीरे सर्पिरिव सर्वान्तर्गतम्। तथेशरूपेण कर्मोपासनातपसां मूलं सम्प्रदायप्रवर्तकं फलप्रदं वा सर्वकारणम् आत्मानं योऽधिगच्छति स एव वेदविद् उपनिषदर्थज्ञः। केनाऽधिगच्छति ? इत्याकांक्षायां मन्त्रतृतीयपादस्यार्थान्तरं सूचयन्नाह—आत्मन इति। आत्मनो विद्या महावाक्यजा तदाकारा वृत्तिः, शक्तिश्च तद्योग्यतारूपा, तयेत्यर्थः। तथा च मूलपदं साधनवाचकं बहुव्रीहिश्च श्रुतौ इति भावः।।४४७।।

आदि क्रिया-प्रतिक्रियाओं से हो जाता है। ईसाई-मुसलमान तो पुरुष से अतिरिक्त प्राणियों में जीवात्मा नहीं मानते जिसका यौक्तिक कोई आधार नहीं यह ध्यान रखना चाहिये।) आप लोग समझ सकें कि शुद्धचेता साधक उपायवश आत्मसाक्षात्कार कर सकता है इसके लिये चार दृष्टांत देता हूँ : तिलों में तेल प्राप्त होता है, दही में घी मिलता है, स्रोत में जल उपलब्ध होता है, अरणि में आग प्रकट होती है; जैसे ये उदाहरण हैं ऐसे प्रत्यगात्मा में परमात्मा प्रकाश जाता है।।४४४-५।। जिन अधिकारियों का मन सत्यादि यमों के और तप आदि नियमों के अनुष्ठान से शुद्ध हो चुकता है वे जब गुरु व शास्त्र के उपदेश के अनुसार हमेशा चिंतनपरायण हो जाते हैं तब आत्मा निरावृत हो जाता है। (संयम के जो व्रत मन से पाले जायें वे यम और जो शरीर से पाले जायें वे नियम कहलाते हैं। अथवा पतंजलि ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (जमाखोरी से बचना) को यम तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर को अपने सब कर्म अर्पित करना—इन्हें नियम नाम दिया है।)।।४४६।।

प्रथमाध्याय के अंतिम मंत्र में कहा है कि सत्यादि उपायों से प्राप्य मुख्य चिन्मात्र ही है : दूध में निहित घी की तरह आत्मा सर्वव्यापक है, उपनिषदों का तात्पर्यसिद्ध विषय है। आत्मा की विद्या और विद्या साधनों का मूल भी वही ब्रह्म है। वही जानने योग्य है।—मंत्र में विद्या और विद्यासाधन उपलक्षणार्थ हैं, सारे ही जगत् का वह उपादान है यह तात्पर्य है। छह अध्यायों की श्वेताश्वतरोपनिषत् के इस प्रथमाध्याय में ब्रह्मलक्षण, मतांतरनिरास, साधन और फल—इन सभी का पूर्ण वर्णन है, आगे की पंचाध्यायी इसकी व्याख्या ही है। अंतिममंत्र का अर्थ पुराण में कहते हैं:

दूध में घी की तरह स्थित व्यापक चेतन प्रत्यगात्मरूप ही है। कर्म, उपासना और योगाभ्यासरूप तप का वही मूल है अर्थात् इनके संप्रदायों का प्रवर्तक और इनके अनुसार फल देने वाला है। साधनसम्पत्ति से सशक्त होकर जो महावाक्यजन्य आत्माकार वृत्ति से उस सर्वकारण का अधिगम कर लेता है वही वेद का वास्तविक जानकार है।।४४७।।

हे यतीश्वरो ! यहाँ तक संक्षेप में मैंने (श्वेताश्वतर ऋषि ने) समूचे शास्त्र का प्रतिपाद्य बता दिया। विषय की सूक्ष्मता समझकर पुनः विस्तार से आप लोगों को इसके बारे में बताता हूँ।।४४८।।

द्वितीय अध्याय का प्रथम मंत्र कहता है कि तात्त्विक स्वरूप की प्राप्ति के लिये परमात्मा हमारे मन को समाहित कर तत्त्वज्ञान का जनक बनता है। अग्नि आदि प्रकाशों के भी प्रकाशक तत्त्व का निश्चय हो जाने पर पृथ्वी आदि भूतों के विकासरूप शरीरों से पृथक् हुआ आत्मा व्यापक भाव से ही रहता है।—यह पुराणानुसार अर्थ है। दीपिका में साधक को ही उपदेश दिया है कि सारा अनर्थ मनोमूलक होने से सर्वप्रथम मन को योगसंलग्न करना चाहिये। समाहित मन से अग्नि अर्थात् अग्रेसर, सर्वोत्तम स्वप्रकाशस्वरूप का निश्चय करना चाहिये तभी मन आत्मतत्त्व के ज्ञान का उत्पादक बनेगा। तभी विराट् व सूत्रात्मा से अधिक जो अव्याकृत उसका भी यह धारक बनता है, सर्वाधिष्ठानभाव प्राप्त करता

१. 'सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्। आत्मविद्यातपोमूलं तद् ब्रह्मोपनिषत्परम्।। तद् ब्रह्मोपनिषत्पदम् इति।।' इति श्वेताश्वतराख्योपनिषदि प्रथमोऽध्यायः।

एष सङ्क्षेपतः सर्वशास्त्रार्थः कथितो मया। पुनर्विस्तरतो वक्ष्ये भवद्भ्योऽहं यतीश्वराः।।४४८

ईशस्तुतिः

आत्मा योऽयं हंसरूपो ब्रह्माऽभिन्नो मयेरितः। मनस्तत्रैव युञ्जानो योगेनाऽष्टाङ्गरूपिणा।।
तत्त्वायाथाभवद्बुद्धिस्तस्याः स जनकोऽभवत्।।४४९

अयमात्मा तमात्मानं स्वयंज्योतिःस्वरूपिणम्। तत्त्वबुद्ध्या विनिश्चित्य पृथिव्या देहरूपतः।।
अधितिष्ठन्नयं स्वान्तर्बहिश्चैवावतिष्ठते।।४५०

प्रथमाध्यायसमाप्तिं सूचयन्नुत्तराध्यायार्थव्याख्यानं प्रतिजानीते—एष इति। स्पष्टम्।।४४८।। पूर्वाध्यायान्ते परमेश्वरस्य तपोविद्यामूलत्वं यदुक्तं तत्स्फुटीकुर्वतां मनःप्रभृतिनिरोधात्मकतया तपोरूपस्य योगस्य आरम्भे विघ्नपरिहाराय अन्तर्यामित्वादिरूपेण ईश्वरस्तुतिपराणां सप्तमन्त्राणामर्थं षड्विंशतिश्लोकैः प्रदर्शयंस्तत्र[1] प्रथममन्त्रार्थमाह—आत्मेति द्वाभ्याम्। योऽयमात्मा तत्त्वंपदाभ्यां प्रतिपाद्यतया पूर्वमुक्तः स एवाऽयमात्माऽधिकारिणां मनः सङ्कल्पात्मकं तत्रैव आत्मस्वरूपे तत्त्वाय यथाभूतस्वरूपलाभाय अष्टाङ्गयोगविधया युञ्जानो योजयन्, अन्तर्भावितण्यर्थत्वात्, तस्य मनसः परिणामभूता या निश्चयात्मिका बुद्धिः तस्या जनकः कारणं भवेदिति। तथा च स एवान्तर्यामीति भावः।।४४९।।

एवमीश्वरेण अनुगृहीतो यस्तं साक्षात्करोति स तद्वत्सर्वात्मभावेन तिष्ठति इत्याकारम् उत्तरार्द्धस्यार्थमाह—अयमात्मेति। प्रथमपदद्वयं पूर्वान्वयित्वेन दर्शितम्। अयम् अधिकारी तमात्मानम् अग्न्युपलक्षितसर्वज्योतिषां भासकत्वेन स्वयंप्रकाशं तत्त्वावगाहिन्या बुद्ध्या निश्चित्य पृथिवीपदोपलक्षितदेहाख्यसङ्घातात् पृथक्त्वेन तन्नियन्तृतया स्थितः सन्नन्तर्बहिः पूर्णत्वेन तिष्ठतीत्यर्थः।।४५०।।[2] द्वितीयमन्त्रेऽन्त्यं पदत्रयम् उत्तरान्वयि,

है। आचार्य नारायण ने ब्राह्मणानुसार मंत्रव्याख्या इस प्रकार की है : कर्मों में मन को नियुक्त करने वाला होने से प्रजापति ही 'युंजान' है। वही पहला मन अर्थात् समष्टि लिंगरूप हिरण्यगर्भ है। वही सारे जगत् का उत्पादक बनता है ताकि उसकी मनोरूपता संपन्न हो (क्योंकि नाम-रूप आदि में बँटा जगत् होने पर ही संकल्प-विकल्प किये जा सकते हैं)। अग्नि अर्थात् आत्मा की ज्योति अर्थात् ज्ञानरूप प्रकाश को देखकर अर्थात् अपने में समेट कर वह प्रजापति बुद्धियाँ अर्थात् वाग् आदि वृत्तियाँ बन जाता है। वही समष्टि मन 'पृथिव्यै' अर्थात् विस्तीर्ण प्रजा में व्यष्टि मन बन जाता है। ('अध्याभरत्' का 'अध्याहरति' तात्पर्य मानकर 'प्रातिस्विकमनस्तया व्यष्टिरूपेण भवति' व्याख्यान किया है।) इन मन्त्रों की योगपरक व्याख्या भी नारायणदीपिका में उपलब्ध है। प्रथमाध्याय के समापन में परमेश्वर को तप और विद्या का उत्स बताया था, उस बात को इस अध्याय में प्रथम सात मंत्र स्फुट करते हैं। मन आदि को निरुद्ध करना योगात्मक तप है जो ज्ञानोपाय है। इसमें प्रवृत्त साधक के लिये आवश्यक है कि अंतर्यामी-बहिर्यामी रूप से स्थित ईश्वर से वह प्रार्थना करता रहे कि योग में सफलता मिले, साधना निर्विघ्न समाप्त हो। इस प्रार्थना का ही यह पहला मंत्र आरंभ कर रहा है। इसे पुराण में समझाते हैं :

तत् व त्वम् शब्दों से प्रतिपाद्य, ब्रह्म से अपृथक् जो यह 'हंस' रूप वाला आत्मा मैंने (श्वेताश्वतर ने प्रथमाध्याय में) बताया वही अधिकारियों के संकल्पात्मक मन को आठ अंगों वाले योग से आत्मस्वरूप में समाहित करता है ताकि यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि हो। इस प्रयास से जो परमात्मा के बारे में निश्चयात्मक वृत्ति बनती है उसका भी उत्पादक वही है। (अर्थात् वही अंतर्यामी है।)।।४४९।। ईश्वर की कृपा से जो उस स्वप्रकाशस्वरूप वाले आत्मा

---

१. 'युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः। अग्निं ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्।।' २.१
२. 'युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्गेयाय शक्त्यै।।'२.२।।

युक्तेन मनसा पूर्वं ते वयं मुनिसत्तमाः। देवस्य सवितुः शक्त्या स्वर्गिगेय सुखात्मने।।
कृतवन्तोऽत्र तज्ज्ञानं यतो दुःखं न संव्रजेत्।।४५१

'यतामहे' इति शेषश्च इत्यभिप्रेत्य; तदर्थमाह—युक्तेनेति। सवितुः सूर्यमण्डलाधिष्ठातुः देवस्य अन्तर्यामिणः अभ्यनुज्ञाने सति तदीयशक्त्यैव पूर्वकालेऽपि अस्मज्जातीया अधिकारिणो युक्तेन तत्परेण मनसा सर्वदुःखपरिहारकं ज्ञानाभ्यासरूपं यत्नं कृतवन्त इत्यर्थः। किमर्थम् ? स्वर्गिभिर्देवैः गेयं प्रशस्यं यत् सुखं ब्रह्मानन्दाख्यं तत्स्वरूपलाभायेत्यर्थः।।४५१।।

के बारे में वास्तविकता को विषय करने वाली बुद्धि से निश्चय कर लेता है वह 'पृथिवी' शब्द से कहे इस देहादिसंघात से स्वयं को ('अधि'=) पृथक् जानकर इसके नियन्ता रूप से रहते हुए इस शरीर के बाहर-भीतर एक रूप से बना रहता है। (अर्थात् जैसे घटादि से आकाश वस्तुतः परिच्छिन्न नहीं हो जाता ऐसे तत्त्वज्ञ देह से सीमित नहीं रह जाता।)।।४५०।।

द्वितीय मंत्र का पुराणोक्त व्याख्यानुसार सत्प्रसव-टीका में अन्वय बताया है: 'सवितुर्देवस्य सवे (= अभ्यनुज्ञाने सति) शक्त्या वयम् (अस्मज्जातीया) युक्तेन मनसा स्वर्गेयाय (यतामहे)'; अतः मंत्रार्थ है कि सूर्यमण्डल के अधिष्ठाता अन्तर्यामी की अनुमति से एवं उन्हीं की दी हुई शक्ति से हम समाहित मन से ज्ञानाभ्यास रूप यत्न करें ताकि वह ब्रह्मरूप आनंद पायें जिसे स्वर्गस्थ देवता भी प्रशस्त समझते हैं। शंकरानंद जी ने दीपिका में 'सवे प्रसवार्थम्' व्याख्या कर मन्त्र का अर्थ बताया है : सर्वोत्पादक स्वयंप्रकाश की शक्ति से हम मंत्रद्रष्टा समाहित अंतःकरण द्वारा (सविता देव के) प्रसवार्थ सक्षम हों जिससे वह मोक्षरूप प्रयोजन सिद्ध हो जिसका स्वर्गस्थ लोग भी गान करते हैं। नारायणाचार्य की ब्राह्मणानुसारी व्याख्या है : सविता देव अर्थात् हिरण्यगर्भ ने हमें कर्म में नियुक्त मन सहित पैदा किया है ताकि हम शरीर-सामर्थ्य से स्वर्ग के निमित्त कर्म करें (और कर्म से चित्त शुद्ध कर मोक्षार्थ यत्न करें)। पुराण में इस मंत्र को समझाते हैं :

हे मुनिवरो ! सूर्यमंडल के अधिष्ठाता तथा सबके अन्तर्यामी देवाधिदेव की अनुमति होने पर हमने एवं हम जैसे अन्य अधिकारियों ने उन देव द्वारा दी हुई सामर्थ्य से ही समाहित मनसे वह ज्ञान जीवन-दशा में ही संपन्न किया था जिससे आत्मा कभी दुःख नहीं प्राप्त करता। इसमें हमारा प्रयोजन ब्रह्मानंद नामक उस सुखस्वरूप की प्राप्ति था जिसकी प्रशंसा स्वर्गस्थ देवता भी गाते है।।४५१।।

तीसरे मंत्र का अर्थ है कि साधक समाहित मनसे जिन इंद्रियों को नित्य सुख के लिये प्रवृत्तिशाली बनाता है उन इंद्रियों को परमेश्वर बृहज्ज्योति कहलाने वाले सुखरूप ज्ञान का व्यंजक बना देते हैं; ईश्वर की ऐसी कृपा समझ लेने से परमात्मप्राप्ति हो जाती है। यह पुराणानुसारी अर्थ है। शंकरानंदजी ने दीपिका में अन्वय माना है 'स्वर्यतः दिवं बृहज्ज्योतिः करिष्यतः देवान् सविता प्रसुवाति। तान् मनसा बुद्ध्या युक्त्वाय (वर्तामहे, तेन न त उत्पत्स्यन्ते देवा विषयाभिमुखाः)।' अर्थात् वैषयिक सुख के लिये यत्नशील तथा द्योतनात्मक विषयों को अधिक प्रकाशरूप करने वाले इन्द्रियरूप देवों को जगत्कारण ही वैसा उत्पन्न करता है। 'ईश्वर ही यह सब है' इस मानस विचार से हम उन देवों को 'ये ईश्वर ही हैं' इस निश्चय से जोड़कर रहते हैं जिससे वे देव विषयों की ओर उन्मुख नहीं होंगे। अर्थात् जब ईश्वर से भेदेन इंद्रिय आदि को नहीं समझेंगे तब इंद्रियों की विषयप्रवणता समाप्त हो जायेगी। नारायणाचार्य का स्वोदाहृत ब्राह्मणानुसारी पाठ 'युक्त्वाय सविता' है, अंत में भी 'सविता प्रसुवाति तान्' है। उनका मंत्रार्थ है—'द्यु' नामक स्वर्ग जाते हुए वागादि देवों को मनका अधिष्ठाता प्रजापति कर्म में प्रवृत्त करने वाली बुद्धि से जोड़कर प्रेरित करता है। वे देव कर्म से सूर्यनामक ज्योति को बढ़ायेंगे। भाष्य के अनुसार मन्त्र में प्रार्थना है कि परमात्मा हमारे मन आदि करणों को ऐसा योग-युक्त बनाये कि वे विषयों की ओर नहीं वरन् सुखरूप ब्रह्म की ओर गतिशील हों और सम्यग्दर्शन से

सवितुः स्वात्मनः शक्त्या यद्धि युक्तं मनो भवेत्। मनसा तेन वागादीन् देवान् नित्यसुखार्थिनः। ।४५२
करिष्यतो बृहज्ज्योतिः सुखज्ञानमनेकधा। उत्पादयति यान् देवः सविता तानिमान् धिया। ।४५३
आनन्दात्मैकगामिन्या परिबुध्य स्वयंप्रभम्। देवं तं परमात्मानम् अधिगच्छन्ति सूरयः। ।४५४। ।
अत एव मनः पूर्वं युञ्जते योगतत्पराः। ततस्तज्जनितां बुद्धिं परमानन्दगोचराम्। ।४५५
ब्रह्मणस्तस्य बृहतः स्वयंज्योतिःस्वरूपिणः। यस्याः प्रसादतो ज्ञानं प्रत्यक्षमिह जायते। ।४५६

पूर्वान्त्यपदत्रयविशिष्टस्य[1] तृतीयमन्त्रस्य अर्थं परमेश्वर एव इन्द्रियाणां सन्मार्गे प्रवृत्तिहेतुः इत्याकारमाह—सवितुरिति द्वाभ्याम्। मन्त्रे 'युक्ताय' इति चतुर्थी तृतीयार्थे प्रथमार्धेन सूच्यते। तथा च—ईशशक्तियुक्तेन मनसाऽयमधिकारी यान् वागादिकरणरूपान् देवान् 'सुवः'-पदोक्त-नित्यसुखार्थं प्रवृत्तिशालिन उत्पादयति करोति तानिमान् सविता देवः परमेश्वर एवोत्पादयति, तस्यैवान्तर्यामित्वेन सर्वशक्तिप्रदत्वात्। कीदृशान् वागादिदेवान्? बृहज्ज्योतिःसुखज्ञानं करिष्यतः—बृहज्ज्योतिःपदाभ्यामुक्तस्य सुखज्ञानस्य भूमानन्दरूपज्ञानस्य अभिव्यञ्जयितॄन्। इति द्वयोरर्थः। ।४५२-३। । एतादृश ईश्वरानुग्रहो ब्रह्मसाक्षात्कारात्मककार्येण अनुमेय इति दर्शयन् 'धिया दिवम्' इत्यनयोः पदयोरर्थमाह—आनंदेति। आनन्दात्मैकगामिन्या धिया उक्त-विधदेवानामीश्वरानुगृहीतत्वमनुमाय दिवं द्योतनात्मकं तं परमात्मानम् अधिगच्छन्ति तदेकनिष्ठा भवन्तीत्यर्थः। ।४५४। ।

[2]चतुर्थस्यार्थं दर्शयति—अत एवेति षड्भिः। यत ईश्वरानुग्रहः कार्यैकगम्यः अत एव योगिनः प्रथमं मन ईश्वरतत्त्वे योजयन्ति न तु ईश्वरानुग्रहप्रतीक्षया विलम्बन्ते, ततो बुद्धिम् अपि युञ्जते। कीदृशीं बुद्धिम् ? तस्य परमात्मरूपस्य ब्रह्मणः परमब्राह्मणस्य स्वयंप्रकाशस्य स्वरूपभूतानन्दगोचराम्। यस्या बुद्धेः प्रसादतो नैर्मल्येन प्रत्यक्षज्ञानसिद्धिः। यस्य इति पाठे—यस्य ईश्वरस्य अनुग्रहेण। इति द्वयोरर्थः। ।४५५-६। । ये होत्राः प्राणा-

चिद्रूप ब्रह्म का ही प्रकाश करें। विज्ञानभगवद्विवरण में अर्थ किया है कि ब्रह्मा इंद्र आदि देवों को परमेश्वर अनुज्ञा देता है तभी वे साधनाभ्यास से ब्रह्मज्ञान पाते हैं। हमारे गुरु जी ने मंत्रार्थ बताया है : जो आनंद के इच्छुक हैं तथा मन-बुद्धि से स्वप्रकाश ब्रह्मज्ञान करना चाहते हैं उन देवताओं को निर्विकल्प समाधि के लिये परमेश्वर अनुज्ञा देता है। 'देवताओं' से इंद्रियाँ अभिप्रेत हैं। पुराण में मन्त्र का अभिप्राय बताते हैं :

निजात्मरूप परमेश्वर की शक्ति से युक्त जो मन होता है उस मन से अधिकारी जिन वागादि करणों को नित्य सुख के लिये प्रवृत्तिशाली बनाता है वस्तुतः उन्हें सविता देव ही, परमेश्वर ही ऐसा बना देता है कि वे 'बृहज्ज्योति' नामक व्यापक आनंदरूप ज्ञान के अनेक प्रकार से अभिव्यंजक हो जाते हैं। सिर्फ आनंदस्वरूप को विषय करने वाली बुद्धि से स्वप्रकाश को हर तरह समझकर विद्वान् लोग उस परमात्मदेव में ही प्रतिष्ठित हो रहते हैं। ।४५२-४। । तात्पर्य है कि ईश्वर ही इसमें हेतु है कि इंद्रियाँ सन्मार्गगामी हों और उसके इस अनुग्रह का अनुमान तभी होता है जब इंद्रियों की सत्प्रवृत्ति का फलभूत ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाये ! साक्षात्कार पर्यन्त इंद्रियों पर भरोसा कर उन्हें स्वतंत्रता नहीं देनी चाहिये यह अभिप्राय है।

चौथा मंत्र बताता है कि योगी सर्वप्रथम मन को परमात्मा में लगाते हैं। फिर परमब्राह्मण जो स्वयंप्रकाश ब्रह्म उसे विषय करती बुद्धि भी परमात्मा में ही स्थापित करते हैं। प्राचीन प्राणाग्निहोत्रियों के अभिप्राय के इकलौते जानकार

१. 'युक्त्वाय मनसा देवान् स्वर्यतो धिया दिवम्। बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्। ।'२.३। । सत्प्रसवकारस्तु युक्तायेति पपाठ। दीपिका-भाष्यादौ 'युक्त्वाय' इत्येव दृश्यते। पुराणकृतार्थानुसार्यन्वयः टीकोक्तः—युक्त्वाय (युक्तेन) मनसा (यान्) देवान् स्वर्यतः प्रसुवाति तान् सविता बृहज्ज्योतिः करिष्यतः प्रसुवाति (इति) धिया दिवम् (अधिगच्छन्ति) इति।
२. 'युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः। ।' २.४

पूर्वे विप्रा महात्मानः प्राणापानाग्निहोत्रिणः। योगिनो येऽत्र देवोऽयमभिप्रायावधारकः।।४५७
तेषां मनोरथं सर्वमित्थमेको दधाति सः। यथा मम महाभागा वर्तते ब्रह्मवेदने।।४५८
महती तस्य देवस्य सवितुः सा परिस्तुतिः। अवाङ्मनसगम्योऽपि यथा धीविषयो भवेत्।।४५९
स्तोतव्यस्तत एवाऽयमेवं नित्यं यतीश्वराः। दुर्दान्तस्याऽत्र मनसो युञ्जानेनाधिकारिणा।।४६०
कुर्वेऽत्र युवयोर्योगं मनसाऽतिप्रमाथिना। जीवानन्दात्मरूपौ वां श्रुतौ शास्त्रात्प्रमाणतः।।४६१

ग्निहोत्रिणः आसंस्तेषां वयुना-पदोक्ताभिप्रायाणां वेत्ता एकः परमेश्वर इद् इत्थं ममैव अभिप्रायान् विदधे पूरयामास इति योजनामभिप्रेत्य तृतीयपादार्थमाह—पूर्व इति। प्राणापानयोः श्वासप्रश्वासयोः परस्परविलयलक्षणम् अग्निहोत्रम् 'अपाने जुह्वति प्राणम्' इत्यादिना भगवद्गीतासु प्रदर्शितं (४.२९) कुर्वाणा योगिनो य आसन्, तेषां मनोरथान् एक ईश्वर इत्थं पूरयति यथा मदीयो ब्रह्मवेदनविषयको मनोरथः पूरितः। इति द्वयोः सम्बन्धः। ईश्वरस्य सन्मार्गवर्तिनाम् अनुग्राहकत्वं स्वभाव इति भावः।।४५७-८।। एतां च परमेश्वरशैलीमतिप्रशंसनीयां पश्यत यद् वाङ्मनसागोचरोऽपि अधिकारिणां मतिगोचरो भवति इत्यर्थपरत्वेन चतुर्थपादं व्याचष्टे—महतीति। सा अविषयस्वभावस्य विषयी भावरूपा परि सर्वतः प्रसिद्धा स्तुतिः स्तूयमाना शैली।।४५९।। अथवा मन्त्रे 'कर्तव्या' इति शेष इत्यभिप्रेत्य वक्ष्यमाण-मन्त्रत्रयोक्तविधया तस्य स्तुतिः कर्तव्या इत्यर्थमाह—स्तोतव्य इति। ततः अधिकारिणां सकलमनोरथपूरकत्वादेव वक्ष्यमाणविधया मनःसम्बन्धियोगपरेण स भगवान् स्तोतव्य इति।।४६०।।

अथ साक्षात् स्तुतिपराणां पञ्चमादित्रयाणां मध्ये 'पञ्चमस्यार्थम् आह—कुर्व इति षड्भिः। मन्त्रे प्रथमपदे उत्तमपुरुषस्थाने प्रथमपुरुषप्रयोगो व्यत्ययाद् इति सूचनाय योगं कुर्व इत्युक्तिः। हे ब्रह्मणः सोपाधिकरूपात्मकौ

परमेश्वर ने उनकी अभिलाषा पूरी की। ईश्वर महादेव की यह अत्यंत प्रशंसनीय शैली है कि वाणी-मन से परे रहते हुए ही वह साधकों को अपरोक्ष हो जाता है ! नारायणीय अर्थ में 'युंजते' से वैदिक कर्म में संलग्न करना बताया गया है। 'विप्रस्य' से वे वेदप्रतिपाद्य यज्ञपुरुष समझते हैं। उपनिषद्ब्रह्मयोगी व विज्ञानभगवत् 'युंजते' का अर्थ बताते हैं 'प्रत्यक्प्रवण करते हैं'। 'वयुनाविदेक इद् होत्रा वि दधे' संबंध जोड़कर उनका अर्थ है कि सर्वबुद्धिसाक्षी एक ही परमात्मा ने (होत्रा =) कर्म किये थे (और मोक्षार्थ प्रवृत्ति भी वह कर रहा है)। भाष्याभिप्राय भी ऐसा ही है। हमारे गुरु जी ने योजना बनायी है कि एक वयुनावित् अर्थात् सर्वज्ञ ने विपश्चित् सविता देव की ही विस्तृत स्तुति की जो देव होताओं द्वारा विशेषरूप से व्याप्त और महान् है। इस मंत्र की पुराण में व्याख्या करते हैं :

क्योंकि ईश्वरानुग्रह ब्रह्मबोधरूप फल होने पर ज्ञात होता है इसलिये ईश्वरकृपा के इन्तज़ार में बैठे न रहकर योगसंलग्न साधक पहले ही अपना मन परमात्मा में एकाग्र कर लेते हैं। मनःस्थैर्य से परमानंद-विषयक जो बुद्धि बनती है उसे भी वे परमात्मा में ही स्थापित करते हैं (अर्थात् त्वंपदार्थ-शोधनमात्र में रुके बिना अखण्डता की ओर बढ़ते हैं)। यही वह बुद्धि है जिसकी निर्मलता से स्वप्रकाशरूप वाले उस व्यापक ब्रह्म का अपरोक्ष बोध जीवित दशा में ही हो जाता है।।४५५-६।। प्राचीनकाल में भी वैदिकमार्ग पर चलने वाले, प्राणापान के सहारे ही अग्निहोत्र का (गीतोक्त ढंग से) अनुष्ठान करने वाले जो महात्मा ब्राह्मण योगी थे उनकी सभी अभिलाषाओं को उस एक ईश्वर ने वैसे ही पूरा किया जैसे मेरी ब्रह्मज्ञान की अभिलाषा को वह पूरा कर रहा है। हे महाशयो ! मन-वाणी से परे रहकर भी जो वह बुद्धिगत हो जाता है यह उस सविता देव की ऐसी शैली है जिसकी प्रशंसा की जाती है।।४५७-९।। हे यतीश्वरो! इसीलिये साधनपथपर चलने वाला जो अधिकारी अपना असंयत मन समाहित करने में प्रयासशील है उसे हमेशा इसी तरह इस परमात्मा की स्तुति करनी चाहिये।।४६०।।

---

१. 'युञ्जे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोकायन्ति पथ्येव सूरेः। शृण्वन्ति विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।।' २.५

भेदोऽपि युवयोर्नैव कोऽपि तत्त्वम्पदार्थयोः। सर्वस्य जगतः पूर्वं युवां ब्रह्माऽद्वयं सदा।।४६२
भवते ब्रह्मरूपाय नमस्कारैरनेकशः। कीर्तिमेव व्रजन्त्येतं मोक्षमानन्दरूपिणम्।।
ब्रह्मज्ञानाध्वना यद्वद् मार्गेण नगरं परे।।४६३
सूरयो ज्ञाततत्त्वार्थाः सर्वदोषविवर्जिताः। शृण्वन्ति बहुशः स्वीयकीर्तिं साधुजनैः कृताम्।।४६४
सर्व एते महाभागा अमृते ब्रह्मरूपिणि। पुत्रा इवात्र दायादा मोक्ष आवृत्तिवर्जिते।।४६५
ये समन्ताद् बहून्यत्र तेजांस्यात्मावबोधतः। प्राप्ता हृदयस्वप्नादिस्थानकस्था जितेन्द्रियाः।।४६६

तत्त्वंपदार्थौ ! अहं युवयोः योगम् ऐक्यलक्षणम् अतिप्रमाथिना शास्त्राचार्यप्रसादलब्धबलेन मनसा कुर्वे यतो युवयोः जीवानन्दात्मकयोः सर्वान्तरऽद्वितीयात्मकलक्ष्यरूपाभ्यां भेदाभावं शास्त्रं महावाक्यरूपम् अवान्तरवाक्यैः उपकृतं प्रतिपादयति; अत एव तत्पदार्थशोधकैर्वाक्यैः सृष्टेः पूर्वं भवतोः अद्वितीयब्रह्मात्मत्वं प्रतिपाद्यते। इति द्वयोरर्थः।।४६१-२।। भवत इति। भवते—एवमैक्येन ज्ञातं भवत्स्वरूपं लब्धुं कृतैः नमस्कारैः तत्प्रवणत्वरूपैः कीर्तिं कीर्तिवद् निरतिशयप्रेमास्पदत्वेन आनन्दरूपं मोक्षं व्रजन्ति एव, 'यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्' (छां. ८.१४.१) इत्यादिश्रुत्यन्तरात्। केन मोक्षं व्रजन्ति ? ब्रह्मज्ञानरूपेण मार्गेण यथा लौकिकमार्गेण परे लौकिका नगरं व्रजन्ति इत्यर्थः।।४६३।। एतादृशं ब्रह्मज्ञानफलं सर्वेषां भवति 'यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ. १.४.१०) इति श्रुत्यन्तरात्; इत्याशयेन उत्तरार्धार्थमाह—सूरय इत्यादिना। सर्व एते सूरयो ब्रह्मविदः स्वीयां कीर्तिं सद्भिः कृतां शृण्वन्ति, पुत्रवद् मोक्षलक्षणे ब्रह्मवित्ते भागार्हत्वाद्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।४६४-५।। 'धामान्यातस्थुः' इत्यस्य सूर्यचन्द्रमःप्रभृतिषु गतानीश्वरांशभूतानि तेजांसि प्राप्ताः, अथ वा हृदयादिस्थानानि आक्रम्य स्थिताः, अथ वा इन्द्रियरूपाणि तेजांसि आक्रम्य स्थिता इत्यर्थत्रयं सूचयन्नाह—ये समन्तादिति। ये विद्वांसो हृदयादिस्थानेषु ब्रह्मचिन्तनार्थं स्थिताः।।४६६।।

पाँचवे मंत्र का पुराणानुसार अन्वय है 'वां युंजे, (वां) पूर्व्यं ब्रह्म। पथ्या इव नमोभिः विश्लोका यन्ति। विश्वे सूरेः ये दिव्यानि धामानि आ तस्थुः (ते) पुत्राः अमृतस्य शृण्वन्ति।' तात्पर्य है कि हे तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ ! तुम दोनों को जोड़ता हूँ। सृष्टि से पूर्व तुम एकमात्र ब्रह्म ही थे। जैसे रास्ते से गन्तव्य तक जाया जाता है ऐसे ही साधक प्रणामों द्वारा विश्लोक अर्थात् मोक्ष तक पहुँचते हैं। जो समस्त ब्रह्मवेत्ता दिव्य धामों में स्थित हैं वे अमृत ब्रह्म की कीर्ति वैसे ही सुनते हैं जैसे पुत्र (पिता की कीर्ति सुनता है क्योंकि उस कीर्ति में स्वयं वह भी भागीदार होता है)। शंकरानंद दीपिकानुसार अर्थ है : हे जीव-परमात्मा ! तुम दोनों का तादात्म्य करता हूँ (समझता हूँ)। क्योंकि तुम पूर्व से ही वर्तमान ब्रह्मरूप हो इसलिये तुम्हें किये नमस्कारों द्वारा विद्वान् विविध कीर्ति वाले होकर वैसे ही जाते हैं जैसे सन्मार्गगामी। अमर परमात्मा के जो सभी पुत्र अपनी कीर्ति सुनते हैं वे दिव्य स्थान पा जाते हैं। नारायण का यथाब्राह्मण अर्थ है : हे प्राणों और अन्न ! तुम दोनों को नमनों से अर्थात् आहुतियों से संपन्न करता हूँ ताकि (मुझे) विविध कीर्ति मिले जो कर्मवित्ता के लिये (स्वर्गप्रद होने से वैसे ही हितकारी है) जैसे (रोगी के लिये) पथ्य। प्रजापति के सभी पुत्रो ! जो आप लोग दिव्य धामों में स्थित हैं वे (मेरा यश) सुनें। (उनके पाठ में 'युजे', 'विश्लोक एतु' और 'शृण्वन्तु' ये शंकरानंदीय पाठ से भेद हैं।)। भाष्यानुसार मन-बुद्धि को ब्रह्म में समाहित करना बताया है। उपनिषद्योगी वाणी-मन को ब्रह्म में समाहित करना तथा प्रणाम और स्तुति ईश्वर तक पहुँचे ऐसी प्रार्थना अभिप्रेत मानते हैं। पुराण में इसे समझाते हैं :

ब्रह्म के सोपाधिक रूप हैं तत्पदार्थ व त्वंपदार्थ। उन्हें सम्बोधित कर साधक कहता है कि शास्त्र की व आचार्य की कृपा से सबल हुए मन से मैं तुम दोनों (तत्-त्वम् पदार्थों) की एकतारूप योग करता हूँ क्योंकि शास्त्र इसमें प्रमाण

भवतोर्ब्रह्मरूपत्वं प्राप्तयोर्भेदशून्ययोः। जानामि स्थानकं नित्यमुपदेशाद् गुरोरहम्।।४६७

मथ्यमानो यतो वह्निः जायते स्थानकादिह। दग्धेन्धनानि[1] सर्वाणि यत्र चैष लयं व्रजेत्।।४६८

यतश्चोत्पद्यते वायुरेष यत्र च लीयते। सोमादीनि च तेजांसि यत्रोत्पन्नानि सर्वतः।।४६९

आधिक्यं च विनाशं च व्रजन्तीह स्वकारणे। तदेतद्भवतो रूपं परित्यक्तविभेदयोः।।४७०

षष्ठस्यार्थमाह[2]—भवतोरिति चतुर्भिः। हे तत्त्वंपदार्थौ ! अहं भवतोः स्थानम् उपलब्धिद्वारं गुरूपदेशाद् जानामि इति।।४६७।। किन्तद् ? इत्याकाङ्क्षायाम्; जगज्जन्मादिकारणमायाशबलरूपम् इति सूचयन्नक्षरार्थमाह— मथ्यमान इति। मथ्यमानः अग्निः यतो जायते, यत्र लीयते च, तथा वायोः सोमादितेजसां च यत्र उत्पत्तिलयौ, एतैः उपलक्षितानि कार्यान्तराणि च यत्राधिक्यम् आविर्भावं विनाशं तिरोभावं च व्रजन्ति तदेतत् शबलं रूपं भवतोः शुद्धरूपव्यञ्जकम्। इति त्रयाणामर्थः।।४६८-७०।।

है कि तत्-त्वम् पदार्थरूप तुम दोनों का जो सर्वान्तर-अद्वितीय लक्ष्यस्वरूप है उसमें कोई भेद है ही नहीं। सारे जगत् की अभिव्यक्ति से पूर्व, और वस्तुतः सदा ही तुम दोनों अद्वैत ब्रह्म ही रहते हो।।४६१-२।। तुम्हारे अभिन्न स्वरूप की प्राप्ति के लिये ब्रह्म को बारम्बार किये प्रणामों से ब्रह्मज्ञानरूप मार्ग द्वारा कीर्तिसदृश प्रिय इस आनंदरूप मोक्ष को साधक वैसे ही पाता है जैसे लौकिक लोग रास्ते से नगर तक पहुँच जाते हैं।।४६३।। सब दोषों से रहित जो सूरि, विद्वान्, तत्त्वस्वरूप का अपरोक्ष कर लेते हैं वे सज्जनों द्वारा की गयी अपनी बहुतेरी कीर्ति सुनते हैं। जैसे पुत्र पिता की संपत्ति पाते हैं ऐसे ये सभी सौभाग्यशाली विद्वान् आवृत्तिरहित ब्रह्मरूप अमृत मोक्ष के भागी बनते हैं।।४६४-५।। (पिता स्थानीय ईश्वर और संपत्ति स्थानीय निर्विशेष ब्रह्म समझना चाहिये।) जितेन्द्रिय विद्वान् ब्रह्मचिन्तन के लिये चारों ओर बहुत जगह स्थित हैं : कुछ सूर्य-चंद्र आदि तेजो-राशियों में स्थित हैं, कुछ हृदयादि स्थानों में एकाग्र हो स्थित हैं और अन्य हैं जो इंद्रियरूप तेजों में एकाग्र हो उपस्थित हैं। वे सभी कीर्तिश्रवण कर लेते हैं अर्थात् चाहे भूमिकारोहण में प्रयासशील विद्वान् हों चाहे आधिकारिक पुरुष, सभी की सज्जन प्रशंसा करते हैं।।४६६।।

छठे मंत्र का अर्थ है कि अग्नि, वायु, चंद्र, आदि सारा जगत् जिसमें आविर्भूत-तिरोभूत होता है उस शबल रूप में शुद्धस्वरूप अभिव्यक्त होता है। शबल की वास्तविकता पर एकाग्र होने पर 'वही मैं हूँ' यह मन में स्थिर हो जाता है। नारायणदीपिका इस मंत्र में शरीरोत्पत्ति के प्रकार का वर्णन मानती है। भाष्यानुसार मंत्र कह रहा है कि जो ईश्वरप्रार्थना किये बिना याग में प्रवृत्त होते हैं उन्हें भोगप्रद कर्म करने की ही इच्छा होती है। उपनिषद्योगी आदि ने यहाँ कुण्डलिनी योगादि का वर्णन माना है। हमारे गुरु जी का अभिप्राय लगता है कि 'जहाँ अग्नि को भली प्रकार मथा जाता है' में शरीरोत्पत्ति, 'जहाँ वायु को ऊपर रोका जाता है' में प्राणयोग तथा 'जहाँ सोम ज़्यादा बहता है' में भक्तियोग यों तीनों को एकत्र कर 'वहाँ' अर्थात् उस साधक में 'मन आत्मज्ञान के योग्य उत्पन्न होता है' यह मंत्रार्थ है। पुराण में इसे समझाते हैं :

हे तत्त्वमर्थो ! आप दोनों ब्रह्मरूपता पाकर अभिन्न हुए जहाँ उपलब्ध होते हो वह सनातन स्थान मुझे गुरूपदेश से मालूम है।।४६७।। मंथन की जाती वह्नि जिस स्थान से उत्पन्न होती है और सारा ईंधन जलाकर वह जहाँ लीन हो जाती है, यह वायु जहाँ से उत्पन्न और जहाँ लीन होता है, चंद्रादि तेज जहाँ उत्पन्न होते हैं जहाँ उनके सभी विकारों का आविर्भाव-तिरोभाव होता है और जिस अपने कारण में वे लीन होते हैं, वही आप दोनों का रूप है जब आप दोनों अपने प्रतीयमान भेदों को छोड़ चुकते हैं।।४६८-७०।। जगत्कारण मायासंवलित को तत्-त्वम् अर्थों का 'रूप' इसलिये

---

१. दग्ध्वेति पिपठिषामि।

२. अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राऽधिरुध्यते। सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः।।' २.६

तत्र संजायते भूयो विद्वान् नानात्वरूपतः। सर्वमोहपरित्यागात् तत्त्वभावेन सर्वतः।।४७१
ब्रह्मरूपस्ततो नित्यं जीवं हंसस्वरूपिणम्। आत्मज्ञानेन जातेन सेवसे प्रीतिमानपि।।४७२

शबलस्य शुद्धव्यञ्जकतां स्फुटयन्[1] सप्तमस्य अर्थं दर्शयति—तत्रेति पञ्चभिः। तत्र विश्वकारणे मायाशबलरूपे ज्ञाते सति विद्वान् ब्रह्मरूपः संजायते। केन ? नानात्वरूपदर्शनप्रयुक्ता ये सर्वे मोहा भ्रमाः तेषां परित्यागतः सिद्धो यस्तत्त्वभावः अखण्डभावः तेन—इति योजना। अयं भावः—यदा पुरुषः कारणदृष्टिर्भवति तदा कार्योपाधिप्रयुक्तान् भेदांस्त्यजति। अथ शुद्धं प्रकाशत—इति। तथा च श्रुत्यन्तरम्—'अस्तीत्येवावबुद्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति' (कठ. ६.१३) इति।।४७१।। मन्त्रे 'जुषेत' इति कर्मणि व्यत्ययेन रूपम्। तथा च सवित्रा तत्पदार्थेन आविर्भावलक्षणाभ्यनुज्ञानेन त्वंपदार्थः सेव्यते, त्वंपदार्थेन च ब्रह्म तत्पदार्थः सेव्यत इति योजनां दर्शयति—ब्रह्मरूप इति द्वाभ्याम्। प्रथमपदं पूर्वान्वयित्वेन दर्शितम्। ततः शुद्धाविर्भावात्। जीवं त्वंपदार्थम्।।४७२।।

कहा कि वही शुद्धस्वरूप का अभिव्यंजक बनता है। अपवादक्रम से स्पष्ट ही जीव अपनी निरुपाधिक दशा में ईश्वर का अस्तित्व नहीं नकार सकता अतः वह ईश्वर से अभिन्न हो जाता है अर्थात् आत्मा की जीवता-संभावक उपाधि हट जाने पर भी ईशता-संभावक उपाधि रह जाती है। तब ईश्वरोपाधि का परित्याग होने पर शुद्ध का प्रकाश होता है। यह क्रम इसलिये संगत है कि बौद्धिक विवेक त्वमर्थ से ही प्रारंभ होना संभव है क्योंकि वह अपरोक्ष है।

सातवाँ मंत्र बताता है कि प्रसव अर्थात् आविर्भाव द्वारा सविता त्वंपदार्थ का और त्वंपदार्थ ब्रह्म का (=तत्पदार्थ का) सेवन करता है अर्थात् तद्भाव प्राप्त कर लेता है। उस दशा में (हे आत्मा ! तुम) संसारयोनि माया को नष्ट कर देते हो। तुम्हारी प्राप्ति के लिये पूर्तादि कर्म नहीं करने चाहिये वरन् ज्ञानाभ्यास ही करना चाहिये। शंकरानंददीपिकानुसार अर्थ है—तत्त्वज्ञ जगत्कारण सविता से निःसीम प्रसन्नता पाता है क्योंकि वह सबसे पूर्व वर्तमान ब्रह्म है। हे मन ! तुम उस ब्रह्म में स्थान बनाये हुए हो और अपनी कारणभूत माया की हिंसा कर रहे हो। इस ब्रह्म में संलग्न तुम्हारी वृत्ति को बहिर्मुख न होने देने में तुम्हारा शुभकर्म काम आ गया, इसीसे तुम मायानिवृत्ति कर सके। अर्थात् अन्वय है 'प्रसवेन सवित्रा जुषेत (निरतिशयप्रीतिमान् क्रियते, यतः स एव) पूर्व्यं ब्रह्म। तत्र योनिं (स्थानं) कृणवसे (कुरुषे, किंच योनिं=मायां कृणवसे=हंसि) हि ते (वृत्तिमिति शेषः) पूर्तं (शुभं कर्म) न अक्षिपत्।' नारायण के पाठ में 'सवित्रा' की जगह 'सविता', व 'तत्र' की जगह यत्र है तथा 'युषेत' पाठ मानकर भी 'जुषेत' ही अर्थ किया है। उनके अनुसार मंत्रार्थ है : जिस भी योनि में उत्पत्ति करे, सविता अर्थात् मन उस उत्पत्ति के द्वारा वागादिवृत्तियों का और अन्न का सेवन करे। अन्न कर्मवश मिलेगा क्योंकि तुम्हारे कर्म का क्षय नहीं हुआ है। उपनिषद्योगी-विज्ञानभगवत् की समान व्याख्या षट्चक्रानुसारी है। भाष्यार्थ है (प्रसवेन) 'जगत्कारण है' इस रूप से (सवित्रा) परमेश्वर का, चिरन्तन ब्रह्म का (जुषेत) चिंतन करो, उस ब्रह्म में ही (योनिम्) समाधिरूप निष्ठा करो क्योंकि तभी तुम्हारा कर्म बंधक नहीं बनेगा। हमारे गुरु जी के व्याख्यानानुसार मंत्रार्थ निकलता है : क्योंकि जीव को कर्मों का पूरा फल दिया नहीं जा चुका इसलिये वह (सवित्रा=) मन से ब्रह्म का सेवन करे, उसे अपना कारण समझे। पुराण में इसकी व्याख्या करते हैं :

विश्वकारण मायासमेत रूप की जानकारी होने पर नानात्वरूप दर्शनवश होने वाले सभी भ्रमों के परित्याग से सिद्ध अखण्डभाव द्वारा विद्वान् ब्रह्मरूप हो जाता है। तात्पर्य है कि साधक जब कारण अर्थात् ईश्वर के धरातल पर समझने लगता है तब कार्योपाधि के भेद छोड़ने ही पड़ते हैं। वे भेद छूटने पर शुद्ध का प्रकाश हो जाता है क्योंकि कार्यप्रयुक्त भ्रम न होने से ईश्वर को शुद्ध का प्रकाश हमेशा ही है ।।।४७१।। शुद्ध के आविर्भाव से हुए तत्त्वज्ञान द्वारा हे तत्पदार्थ ! तुम हंस स्वरूप वाले जीव का हमेशा सेवन करते हो और प्रसन्न भी होते हो।।४७२।। प्रसन्नता वाले इस त्वम्पदार्थ द्वारा भी तादात्म्य से तुम्हारा सेवन किया जाता है जो तुम अद्वयरूप रहते हुए परमानंदरूप धारण किये हो। (अभिप्राय इतना ही है कि अविद्यानिवृत्ति से ठीक पूर्व जो तत्त्वज्ञान की स्थिति होती है उसमें दोनों

१. 'सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्। तत्र योनिं कृणवसे न हि ते पूर्तमक्षिपत्।।'२.७

तादात्म्येनामुना वाऽपि सेव्यसे प्रीतियोगिना। भवानद्वयरूपः सन् परमानन्दरूपभाक्।।४७३
तस्यामीदृग्दशायां त्वम् अविद्यां दुःखकारिणीम्। विनाशयसि भेदस्य जननीमात्मबोधतः।।४७४
पूर्तादिकं ततः कर्म नैव किञ्चित् सृजेदिह। भवन्तमेकमेवैतद् आत्मज्ञानं विहाय हि।।४७५
एवं हि वस्तुतस्तस्य पुंसः संशुद्धचेतसः। स्तुतितो जायते योग इच्छा पश्चादिमं पुमान्।
कुर्यात् ततोवसम्बद्धं मनसैनं प्रपश्यति।।४७६

अष्टाङ्गयोगः

अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहाः। सर्वदिग्देशकालेषु नित्या एते यमाः स्मृताः।।४७७

तादात्म्येनेति। अमुना त्वम्पदार्थेन त्वं तत्पदार्थो ब्रह्मरूपः सेव्यस इत्यर्थः।।४७३।। तदा संसारयोनिमविद्यां कृण्वसे निःशेषं हंसीत्याह—तस्यामिति। स्पष्टम्।।४७४।। ते त्वत्प्राप्त्यर्थं पूर्तादिकं न क्षिपेद् न कुर्यात्, किन्तु ज्ञानमेव अभ्यसेद् इति लिङ्स्थाने लङो व्यत्ययमभिप्रेत्यार्थमाह—पूर्तादिकमिति। सृजेत् कुर्यात्, भवन्तम् उद्दिश्येति शेषः।।४७५।।

एवं सप्तभिर्मन्त्रैः कृतायाः स्तुतेः योगोपकारितां दर्शयति—एवं हीति। एवं स्तुत्या प्रतिबन्धकदुरितापाये योगे वक्ष्यमाणे इच्छा जायते ततो योगं कुर्याद्। योगफलं तु मनसा सम्बद्धस्य मनःसाक्षिणो दर्शनमित्यर्थः।।४७६।। वक्ष्यमाणोपयोगाय अष्टाङ्गयोगमभिनयति—अहिंसेति सप्तभिः। अहिंसा षष्ठे 'यज्ञेन दानेन' इति श्रुतिव्याख्यानावसरे (श्लो. १६०७ तः) व्याख्याता। सत्यं यथार्थभाषणम्। अस्तेयं परस्वाद् व्यावृत्तिः। ब्रह्मचर्यम् इतरेन्द्रियनिरोधसहित उपस्थसंयमः। अपरिग्रहो भोगसाधनानाम् असङ्ग्रहः। एते नित्या देशकालाद्यनवच्छिन्नाः[1] सदा सर्वत्र च वर्तमाना यमसञ्ज्ञा योगस्य प्रथमाङ्गमित्यर्थः।।४७७।। स्वाध्याय इति। स्वाध्यायः प्रणवादिजपः। तपः

पदार्थों का भान रहते हुए ही अद्वैत का आभास होता है।)।।४७३।। ऐसी उस दशा में तुम आत्मज्ञान से उस अविद्या को विनष्ट कर देते हो जो दुःख करने वाली और भेद की उत्पादिका है।।४७४।। इसलिये तुम्हारी (= तत्पदार्थ के वास्तव स्वरूप की) प्राप्ति के लिये संसार में पूर्तादि कोई कर्म नहीं करना चाहिये, उक्त आत्मज्ञान ही करना चाहिये। (पूर्त से बावड़ी, कुए, तालाब, मंदिर, अन्नक्षेत्र, बगीचे आदि बनाकर सर्वसुलभ करना रूप सत्कर्म कहे जाते हैं। पूर्तादि से सभी सत्कर्म समझने चाहिये। कर्म चित्तशोधक ही हो सकते हैं, परमात्मस्वरूप का लाभ कर्मत्याग सहकृत ज्ञान से ही होता है।)।।४७५।।

वस्तुतः परिपूर्ण पुरुषोत्तम की यों स्तुति करने से शुद्धचेता साधक को योग करने की इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा होने के बाद पुरुष योग करे जिसके फलस्वरूप मनसे साक्षितया सम्बद्ध चित्तत्त्व को देख लेता है। (श्वेताश्वतर द्वितीयाध्याय के प्रथम सात मंत्रों से स्तुति करना साधना में उपयोगी बताया है।)।।४७६।।

उपनिषद् योगविधान करने जा रही है अतः योग के अंग संक्षेप में बताते हैं : योगानुष्ठान का पहला कदम यम का अभ्यास है। मनःसाध्य व्रतरूप नानाविध यम संभव रहने पर भी निदर्शनार्थ आचार्य पतंजलि के परिगणन को आदर देते हुए इन धर्मों को यम कहते हैं—१) अहिंसा—मन-वाणी-शरीर से ऐसा कुछ न करना जिसका उद्देश्य दूसरे को पीडा पहुँचाना हो। २) सत्य—जैसा स्वयं समझा है वैसा दूसरा समझे इस प्रयोजन से वागादिव्यवहार करना। ३) अस्तेय—पराये स्वत्व वाली चीज़ (व्यक्ति, वस्तु) को हथियाने की कोशिश न करना। ४) ब्रह्मचर्य—उपस्थ को संयत तथा अन्य इन्द्रियों को निरुद्ध रखना। ५) अपरिग्रह—भोग के विषयों और साधनों को बटोरने से बचना। इन पाँचों को देश-कालादि से बिना सीमित किये अभ्यास करें तब यम पूरी तरह संपन्न होता है। (तीर्थादि कुछ देशों में, संक्रांति

१. 'जातिदेशकालसमयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' (यो. सू. २.३१) इति परामृश्यते।

स्वाध्यायस्तपसा सार्द्धम् ईशध्यानादयस्तथा। नियमा देशकालादिसापेक्षाः कथिता द्विजैः।।४७८
पद्मकस्वस्तिकादीनि प्रोक्तान्यत्रासनानि च। पूरकः कुम्भकस्तद्वद् रेचकश्च त्रिधा स्मृतः।।
प्राणायामो गुरुमुखात् ज्ञातव्यो मुनिसत्तमैः।।४७९
विषयाभिमुखत्वस्य व्यावृत्तिर्या स्वबुद्धितः। प्रत्याहारः स विज्ञेय इन्द्रियाणां विनिग्रहः।।४८०
पञ्चकं बाह्यमेतत् स्याद् आन्तरं हि त्रयं त्विदम्। धारणा मनसो ज्ञेया बन्धनं ब्रह्मसद्मनि।
ध्यानं प्रत्ययसन्तानस्तत्रैव सदृशो हि यः।।४८१

कृच्छ्रादि। ईशध्यानम् ईश्वरप्रणिधानम्। आदिपदेन शौचादिग्रहः। एते विहितदेशादिषु अनुष्ठीयमाना नियमसंज्ञा द्वितीयमङ्गं योगस्य इत्यर्थः।।४७८।। आसनप्राणायामाख्यमङ्गद्वयमाह—पद्मकेति। पद्मासनम्—ऊर्वोरुपरि पादद्वयनिधानरूपं प्रसिद्धम्। स्वस्तिकं तु वामपादं दक्षिणजङ्घोर्वन्तरे निधाय दक्षिणपादस्य वामजङ्घोर्वन्तरे निधानरूपम् इत्यादीनि आसनानि। प्राणायामप्रकारश्च गुरुमुखाद् अवगन्तव्यः।।४७९।। प्रत्याहाराख्यं पञ्चमाङ्गमाह—विषयेति। या बुद्धेः सकाशाद् विषयाभिमुखत्वस्य व्यावृत्तिः तिरस्कृतिः इन्द्रियनिरोधलक्षणा, तद्रूपः प्रत्याहार इत्यर्थः।।४८०।। पञ्चकमिति। एतत् प्रत्याहारान्तमङ्गानां पञ्चकं बहिरङ्गम् इत्युच्यते, अङ्गिनः समाधेः भिन्नविषयत्वाद्। इदं धारणादित्रयं तु तत्समानविषयत्वाद् अन्तरङ्गम्। तत्र ब्रह्मणि मनसो विनियोजनं धारणेत्युच्यते। तत्र नियुक्तस्य मनसः यः प्रत्ययसन्तानः विजातीयप्रत्ययानन्तरितो वृत्तिप्रवाहः स ध्यानम् इत्युच्यत इत्यर्थः।।४८१।।

आदि कुछ कालों में, गाय आदि कुछ जातियों के प्रति, बीभत्स आदि कुछ ढंगों से हिंसा आदि न करना—यह है देशादि से सीमित अभ्यास। सभी देशादि में, सभी के प्रति, सभी ढंगों से न करना योगशास्त्र में 'महाव्रत' कहलाता है।)।।४७७।। योग का दूसरा अंग है नियम। ये भी स्थूलशरीरसाध्य धर्मरूप से अनेकविध हैं फिर भी योगाचार्य ने इन्हें यों गिना है—१) शौच—मिट्टी जल आदि से एवं शास्त्रानुमत भोजन-पान आदि से शरीर शुद्ध रखना एवं मद अभिमान असूया आदि चित्तमल निवृत्त करना। २) सन्तोष—जीवनयापनार्थ स्वतः प्राप्त साधनों से अतिरिक्त उपाय पाने की इच्छा भी न करना। ३) तप—भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि कष्ट सहना तथा मौन आदि व्रत पालना। ४) स्वाध्याय—मोक्ष के स्वरूप और साधन के प्रतिपादक शास्त्रों का अध्ययन और प्रणव आदि का जप। ५) ईश्वरप्रणिधान—परमगुरु ईश्वर को अपने सब कर्म अर्पित करना। विहित स्थान, समय आदि के अनुसार किये जा सकने वाले ये नियम द्विजों ने बताये हैं। (पुराणकार ने अन्यों का 'आदि' से ग्रहण कर तीन का नाम्ना उल्लेख इसलिये किया कि चित्त शांत करने के लिये इन्हीं तीन का 'क्रियायोग' नाम से पतंजलि महर्षि ने विधान किया है 'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' (२.१)। नियमपंचक सूत्र ३२ में कहा है।)।।४७८।। योग का तीसरा कदम है आसन। लम्बे समय तक शरीर स्थिर रह सके और उस एक स्थिति में रहने से कोई कष्ट न हो ऐसी शरीरस्थिति का नाम आसन है। धारणादि के उपयोगार्थ आसन के कुछ प्रतिष्ठित प्रकार हैं जैसे पद्म, स्वस्तिक आदि जिनमें बैठने से वायु आदि की उचित गति होती है व निद्रादि से दूर रहा जा सकता है। यथासंभव इन्हीं आसनों का अभ्यास करना चाहिये। शारीरिक स्वास्थ्य भी धारणादि के लिये उपयोगी होने से व्यायामरूप से भी आसनाभ्यास करना चाहिये। केवल स्वास्थ्यप्रयोजन से विविध आसन व्यायामरूप से करना योगांगभूत आसन नहीं कहलाता। योगांगतया तो शरीर में अकड़ना-आदि पीडा न हो और हिले-डुले बिना लम्बे समय तक धारणादि के लिये बैठा जाये इसे ही आसन कहते हैं। योग का चौथा अंग है प्राणायाम। श्वास-प्रश्वास की गति रोकने का नाम प्राणायाम है जिसके तीन प्रधान प्रकार हैं—पूरक अर्थात् साँस भरकर रोकना; रेचक अर्थात् साँस छोड़कर रोकना; कुंभक अर्थात् छोड़े-भरे बिना साँस रोकना। सभी योगांग और विशेषतः प्राणायाम को गुरु से ही सीखना चाहिये। सत्त्ववृद्धि से मन धारणायोग्य हो यही प्राणायाम का योग में उपयोग है। इससे अन्य शरीरसामर्थ्य-

समाधिः फलमुद्दिष्टं धारणाध्यानयोरपि। प्रत्यक्षं ब्रह्मविज्ञानं सविकल्पमथापरम्।।४८२

उत्पन्नेऽस्मिन्नियं माया कार्यकारणरूपिणी। आत्मज्ञानविनष्टा सा पुनर्नैव भविष्यति।।४८३

यमादिः कथितो योगः समाध्यन्तो मनीषिभिः। अष्टाङ्गस्तस्य वक्ष्यामि दिशमत्र यतीश्वराः।।४८४

समाधिरिति। यच्च धारणाध्यानयोः फलभूतं ब्रह्मप्रत्यक्षं सविकल्पकनिर्विकल्पकत्वाभ्यां द्विविधं, तद्रूपो योगः समाधिः इत्युच्यते। एतेन परोक्षविज्ञानरूपः समाधिरङ्गमिति सूचितम्।।४८२।। उक्तसमाधेः फलं दर्शयति—उत्पन्नेऽस्मिन्निति। अस्मिन् ब्रह्मप्रत्यक्षे। आत्मज्ञानम् आत्माकारा वृत्तिः।।४८३।। योऽयमष्टाङ्गो योग उक्तः तस्योपलक्षणमुत्तरमन्त्रैः क्रियत इत्याह—यमादिरिति। दिशम् उपलक्षणम् अत्र प्रकरणे वक्ष्यामि मन्त्रानुसारेण प्रकाशयामीत्यर्थः।।४८४।।

वर्धन आदि के लिये किये जाने पर उसे योगांग प्राणायाम नहीं कहेंगे।।४७६।। योग का पाँचवाँ अंग प्रत्याहार कहा जाता है। बुद्धि विषयोन्मुखता छोड़ दे और इंद्रियाँ भी उसी तरह निगृहीत हों—इस अभ्यास को प्रत्याहार कहते हैं। (बुद्धिनियंत्रण के बिना बहिरिंद्रियनिग्रह मिथ्याचार में परिणत हो सकता है अतः प्रत्याहार को बुद्धिनियंत्रणपूर्वक इंद्रिय नियंत्रण रूप माना गया है। प्रारंभ में बुद्धिनियमनार्थ इंद्रियों को बलात् नियंत्रित करना आवश्यक है पर उसे प्रत्याहार नहीं कहेंगे, ब्रह्मचर्य तप आदि ही कहेंगे।)।।४८०।। यम से प्रत्याहार तक के कदम योग के बाह्य अंग कहे जाते हैं। योग के आंतरिक अर्थात् संयमकाल में रहने वाले अंग तीन हैं—धारणा, ध्यान, समाधि। ब्रह्मरूप घर में मनको बाँधना धारणा कहलाता है। (शरीर में हृदयादि स्थानों पर या बाहर मूर्त्यादिपर पहले चित्त एकग्र करने का अभ्यास कर तब ब्रह्म में उसे स्थापित करना चाहिये। अनात्मतादात्म्य छूटने पर (सुषुप्ति आदि में) उसी में गति होती है, वहीं सारे बंधन खुलते हैं और वहीं जीवभाव नष्ट होता है इसलिये ब्रह्म ही सद्म कहा (सीदति अत्र)। मन को वहाँ बाँधना' अर्थात् उसके तटस्थ व स्वरूप लक्षणों का चिन्तनरूप ग्रंथियों से मन का उससे निरंतर सम्बंध स्थापित कर लेना।) योग का सातवाँ, अंतरंगों में दूसरा अंग है ध्यान अर्थात् ब्रह्माकार एकरूप वृत्तियों की धारा मनमें बहाना। (धारणा में विषय एक होने पर भी चिंतनप्रकारों में भेद अनुमत है अर्थात् ब्रह्म के अलग-अलग लक्षणों का एकाग्रतापूर्ण चिंतन अभिप्रेत है जबकि ध्यान में वृत्तियों का न केवल विषय वरन् आकार-प्रकार भी एक ही होना चाहिये। किं च अन्य वृत्ति या वृत्त्यभाव होने पर पुनः वृत्ति बनायी जाये तब तक धारणा और उक्त दोनों के बिना लगातार दीर्घकाल तक समान वृत्तियाँ बनती चली जायें तब ध्यान यह इनमें अंतर है।)।।४८१।। योग का और अंतरंगों में अंतिम अंग समाधि है। धारणा और ध्यान का फल जो ब्रह्म का अपरोक्ष अनुभव वह समाधि वेदांतसंप्रदाय में बतायी गयी है। इसके दो भेद हैं सविकल्प और निर्विकल्प। (वृत्ति रहते सविकल्प और वृत्ति अस्त होने पर निर्विकल्प ऐसा योगी (१.१७-१८) मानते हैं। मानसोल्लासवार्तिक में (९.३०) बुद्धि स्पंदनशून्य हो तो सविकल्प और सर्वचिंताविवर्जित स्थित को निर्विकल्प माना है। मुक्तिकोपनिषत् (२.५३-४) अहंकार न रहते ब्रह्माकारवृत्ति का प्रवाह—इसे सविकल्प तथा प्रशांतवृत्तिक चित्त को निर्विकल्प बताती है। किन्तु पूर्णतत्त्व के विलक्षण अनुभव का व्युत्थानदशा में स्मरण औपनिषद योगियों को मान्य है जिसके आधार पर पंचदशी में (१.५६) समाधि में भी आत्मगोचर वृत्तियाँ मानी हैं। सुषुप्ति और असम्प्रज्ञात समाधि में निर्विकल्पक साक्षिचैतन्य का अनुभव होता है ऐसा सिद्धांतबिंदु के प्रारंभ में समझाया है। इसी अनुभव के आधार पर त्वम्पद से सक्षिचैतन्य का संबंध पता चलता है। अतः वृत्तिसद्भाव तत्काल भी मान्य है। विरोध इसलिये नहीं कि तब अंतःकरणवृत्तियाँ नहीं होतीं वरन् अविद्यावृत्तियाँ चलती हैं।)।।४८२।। समाधिरूप ब्रह्मप्रत्यक्ष उत्पन्न होते ही कार्य-कारण दोनों रूपों वाली यह माया उस आत्मज्ञान से विनष्ट हो जाती है, पुनः कभी हो यह संभव नहीं।।४८३।। हे यतीन्द्रो ! मनीषियों ने यम से समाधि तक आठ अंगों वाला जो योग बताया है उसकी ओर मैं (श्वेताश्वतर) यहाँ निर्देश करता हूँ।।४८४।।

पद्मासनाद्यन्यतममासनं सुखमास्थितः। वक्ष्यमाणगुणे देशे ऋजुकायोऽतिनिर्मलः।।४८५
उरोंसोदरदेशेषु प्रबलाद् वायुपूरणात्। त्रिरुन्नतमिमं देहं स्थापयेद् दण्डवत् समम्।।४८६
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि वाजिनो बुद्धिसारथौ। हृदि स्थितो मनोरज्ज्वा बध्वाऽत्रैव समर्पयेत्।।४८७
अहं ब्रह्मेति बोधेन नावा सुदृढया पुमान्। मायानदीसमुत्थानि स्रोतांस्येतानि सर्वथा।।४८८
इन्द्रियाणि मनोरज्ज्वा बद्धान्यपि ततस्ततः। गतिमन्त्यतिदुःखाय यान्ति तानि तरेदयम्।।
संसारभयकारीणि पुंसः संसक्तचेतसः।।४८९

तत्र देहेन्द्रियानवधानवारकयोः आसनप्रत्याहारयोः प्रदर्शकस्य अष्टममन्त्रस्य[1] अर्थमाह—पद्मेति पंचभिः। वक्ष्यमाणा दशममन्त्रेण निरूपयिष्यमाणा गुणा यस्य स तथा तस्मिन् देशे कृतपद्मासनाद्यन्यतमासन आसीनः सन्नुरश्चांसद्वयं च उदरं च एषु त्रिषु देशेषु त्रिवारं कृताद् वायुपूरणाख्यप्रयत्नादुत्पन्नतत्त्वफलकाद् हेतोः 'त्रिरुन्नत' पदेन उक्तं देहं दण्डवत् सरलं स्थापयेत्। अंसपदेन ग्रीवोपलक्ष्येति केचित्[2]। वस्तुतस्तु उत्क्रमणे ग्रीवाया जत्रुदेशे निधानप्रसिद्धेः अंसपदं मुख्यार्थमेव। इति द्वयोरर्थः।।४८५-६।। इन्द्रियाणीति। तथा इन्द्रियरूपान् वाजिनो मनोरज्ज्वा बध्वा अत्र हृदि देशे समर्पयेत्। कीदृशे हृदि ? बुद्धिसारथौ श्रुत्यन्तरे बुद्ध्यात्मकसारथित्वेन वर्णिते। तथा च कठश्रुतिः 'बुद्धिं तु सारथिं विद्यद्'[3] (१.३.३) इति।।४८७।। अहमिति। अहं ब्रह्मेति बोधरूपया नौकया मायानद्याः स्रोतांसि इन्द्रियाणि तरेद् इति। तानि हि ब्रह्मबोधमन्तरा दुस्तराणि यतो मनोरज्ज्वा बद्धानि अपि इतस्ततो गतिमन्ति चलानि पुंसो दुःखाय यान्ति प्रवर्तन्ते संसारभयकारीणि च भवन्ति। इति द्वयोः सम्बन्धः।।४८८-९।।

आठवा मंत्र ब्रह्मज्ञान वाले को निर्देश देता है कि वह सर्वपरिच्छेदरहित ब्रह्म को ही नौका बनाकर सभी भयंकर विक्षेपरूप स्रोत पार कर जाये। प्रत्याहार से मनका अनुकरण करने लग चुकी इन्द्रियों का मन सहित हृदयकमल में प्रवेश कराने पर ही ब्रह्मनौका खेई जा सकती है और इसके लिये ज़रूरी है कि शरीर सीधा स्थिर किया जाये एवं किंचित् वायु भरकर दोनों कंधे, स्तनों का मध्यभाग और पेट—ये तीन स्थ ल सामान्य की अपेक्षा उठे हुए हों। यद्यपि अखण्डवृत्ति से विषय होना ही ब्रह्म का नौका बनना है तथापि प्रारंभ में प्रणव की सहायता से चित्त नियंत्रित किया जाता है और अंत में प्रणव ही वाक्यविधया अखण्डवृत्ति का उपस्थापक बन जाता है इसलिये ओंकार को भी नौकारूप से ग्रहण करना भाष्यादि को अभिप्रेत है। इस मंत्र को पुराण में समझाते हैं :

साधक को चाहिये कि आगे (श्लो. ४९६) बतायी विशेषता वाले स्थान पर अत्यंत निर्मल हो कर पद्म आदि किसी आसन से सीधा शरीर रखते हुए आराम से बैठ जाये और तीन बार दीर्घ श्वास खींचकर छाती, कंधे व पेट को ऊँचा कर शरीर को दण्डे-सा सीधा रखे। (तीन स्थलों की ऊँचाई और इसके लिये प्राणप्रयोग गुरुनिर्देश से ही समझने चाहिये। प्राणायाम तथा तीन स्थानों का उठा होना ऐसा नहीं होना चाहिये जो प्रधान अभ्यास का ही विरोधी हो जाये।)।।४८५-६।। यों स्थित साधक को चाहिये कि मानो मथ डालने वाले इन्द्रियरूप घोड़ों को मन-रूप रस्सी से बाँधकर सारथिस्थानीय बुद्धिरूप इस हृदय में प्रविष्ट करा दे। (कठप्रसिद्ध रूपक का परामर्श है। मन को वहाँ लगाम कहा है। यहाँ भी इंद्रिय-घोड़ों को सारथि के सुपुर्द करना है अतः लगाम घोड़ों के मुख व सारथि के हाथ में रखनी है। तात्पर्य है कि पहले इंद्रियों पर मनका नियंत्रण कर ले फिर इंद्रियसहित मन पर बुद्धि का शासन स्थापित

१. 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य। ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि।।'
२. 'शरीरग्रीवाशिरांसि त्रीण्युन्नतानि यस्मिंस्तत्तथा' इति कल्पतरौ (पृ. ४३६) व्याख्यातम्।
३. 'विद्धि' इति प्रसिद्धपाठः।

नवद्वारागतान् प्राणान् वायून् हृदि निरुध्य च। योगोपयोगिनीं चेष्टां कुर्वाणो गुरुदेशतः।।
आवायुप्रक्षयं स्वान्तरभ्यसेदेव रागतः।।४६०

क्षीणे वायौ ततो मन्दं नासिकापुटयोः पुमान्। श्वासोच्छ्वासं प्रकुर्वीत यावत् स्वल्पोऽवतिष्ठते।।
एवं वायुजये जाते जायते हि मनोजयः।।४६१

यथा रश्मिजये दुष्टानश्वान् जयति सारथिः। अप्रमत्तस्तथा विद्वानिन्द्रियाणि मनोजये।।४६२

अथ मनोजयफलकस्य प्राणायामप्रदर्शकस्य[1] नवमस्यार्थमाह—नवेति त्रिभिः। गुरुदेशतः गुरूपदेशानुसारेण सर्वद्वारनिरोधात्मिकां चेष्टां कुर्वन् सर्वद्वारागतान् वायून् हृदि निरुध्य आवायुप्रक्षयं स्वान्तः अन्तरेव वायोर्लयपर्यन्तं रागत उत्साहेन अभ्यसेद् इति।।४६०।। क्षीण इति। एवम् अन्तःक्षीणे विलयं प्राप्ते सति वायौ ततो नासा द्वारेण श्वासोच्छ्वासविधया बहिर्निःसारयेद्। यावद् वायुः सूक्ष्मतामापद्यते तावदयमभ्यासः। ततश्च वायुजयेन मनोजयो निश्चयेन भवतीत्यर्थः।।४६१।। मनोजये त्विन्द्रियजयोऽनायासेन भवति इत्याह—यथेति। अप्रमत्तः सावधानः तथा इन्द्रियाणि जयति इति सम्बन्धः।।४६२।।

करे। तात्कालिक आकर्षण को रुचि द्वारा जीतना चाहिये तथा रुचि व आकषर्ण को औचित्यबोध के अनुसार चलाना चाहिये ऐसा व्यावहारिक क्रम विवक्षित है।)।।४८७।। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह बोध ही मज़बूत नौका है जिससे माया-नदी के इन इंद्रियरूप स्रोतों को डूबे बिना पार किया जा सकता है। मनरूप रस्सी से बँधी होने पर भी इंद्रियाँ तत्तद् विषयों से चंचल होती रहती हैं अतः पुरुष के अत्यंत दुःख के लिये प्रवृत्तिशील हैं। आसक्तिपूर्ण चित्त वाले के भयंकर संसरण को ये इंद्रियाँ दीर्घ कर देती हैं। इनसे परे जाने का उपाय उक्त ब्रह्मबोध ही है।।४८८-९।।

अगला मंत्र कहता है कि संयत चेष्टाओं वाला साधक प्राणों का निरोध कर प्राणगति शरीर में ही सीमित कर ले। तदनंतर शरीर के भी अन्य द्वारों से रोक कर केवल नथुनों में श्वास चलाये। काम-क्रोधादि मदों से रहित और धारणा आदि के जानकार को चाहिये कि जैसे अशिक्षित व प्रबल घोड़ों की (वाहम् =) लगाम (सुशिक्षित सारथी के ही हाथ में रखना उचित होता है) वैसे इंद्रिय-घोड़ों की लगामभूत मन द्वारा बुद्धि के अनुसार धारणा कराये। अर्थात् उक्त प्राणनियंत्रण के बाद मनको धारणा में संलग्न करे। ('वाहम्' से नारायणादि रथ समझते हैं पर शंकरानंद जीने दीपिका में 'वाहम् अध्वनः परपारस्य नेतारं प्रग्रहभूतमित्यर्थः' व्याख्या की है।) इस प्रकार प्राणायाम मन पर विजय का उपाय है। इसकी पुराण में व्याख्या है :

साधक केवल योगाभ्यास के लिये आवश्यक चेष्टायें करते हुए अभ्यास करे। गुरु के निदेशानुसार प्राण-वायुओं को पहले तो नौ छिद्रों तक रोके (शरीर में एकत्र करे), फिर प्राण का हृदय में निरोध करे तथा उत्साहपूर्वक तब तक अभ्यास करे जब तक भीतर ही वायु विलीन हो जाये।।४६०।। भीतर वायु विलीन हो जाने पर नथुनों में बहुत हलका श्वास-प्रश्वास तब तक चलाये जब तक वायु अत्यंत सूक्ष्म हो जाये। यों जब वायु का चांचल्य पूर्णतः नियंत्रित हो जाता है तब मन पर अवश्य विजय हासिल हो जाती है।।४६१।। सारथि का लगाम पर नियंत्रण हो जाये तो बिगड़े घोड़ों को भी वह काबू कर लेता है, इसी प्रकार सावधान समझदार साधक मन जीत लेने पर इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण कर लेता है।।४६२।।

दसवाँ मंत्र बताता है कि ऐसे स्थान पर योगाभ्यास करे—स्थान समतल हो; पवित्र हो अर्थात् केश हड्डी आदि वहाँ न हो; कंकड़ आग, बालू, हल्ला, जलाशय आदि से रहित हो; उस स्थान के प्रति मनमें अनुराग हो; स्थान देखने में भद्दा न लगे; गुफा या अन्य कमरा आदि हो जहाँ हवाके झोंके न आते हों। हमारे गुरु जी मानते हैं कि 'शब्दजलाश्रयादि द्वारा मनोनुकूल हो' ऐसी योजना करनी चाहिये। अन्य व्याख्याता जलाशय की निकटता से शीतलता ज़्यादा रहेगी यह

१. 'प्राणान् प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोः श्वसीत। दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताऽप्रमत्तः।।'

योगयोग्यदेशः

देशोऽयमासनार्थं स्याद् विदुषः सुखदः सदा। निम्नोन्नतादिरहितो गोमयाद्युपलेपितः।।४६३
महानद्यादिसान्निध्यवर्जितः कण्टकादिभिः। वालुकाशर्कराभ्यां वा शीतोष्णाभ्यां च सर्वदा।।४६४
शब्दैर्नानाविधैर्मुक्तो नात्यन्तमपि पाथसः। समीपस्थोऽतिसुखदः सर्वलक्षणसंयुतः।।४६५
किम्बहूक्तेन देशस्य लक्षणेन यतीश्वराः। मनोनयनयोर्यः स्यात् सुखदः सोऽत्र कीर्तितः।।
गुहादिकोऽतिनिर्वातः तत्र योगरतिर्भवेत्।।४६६
यत्र योग उपक्रान्ते यदि दैवादिदोषतः। विघ्नः सम्भावितो नैव तत्र कुर्वीत तं सुधीः।।४६७
यथा देशस्तथा चान्यद् आहारादिकमात्मनः। आश्रयेद्यन्न कुर्वीत योगविघ्नं कदाचन।।४६८

योगदेशप्रदर्शकस्य[1] दशमस्यार्थमाह—देश इति। अयं सुखदत्वादिविशेषणकः।।४६३।। महेति। नद्यादिजलस्थानसामीप्येन वर्जितः, तथा कण्टकादिभिः वर्जितः। शर्करा सूक्ष्मपाषाणाः।।४६४।। शब्दैरिति। पाथसो जलस्य समीपस्थो यो न भवति।।४६५।। किम्बहूक्तेनेति। मशकादिराहित्येन[2] मनोनयनसुखदो यो देशः सोऽत्र मन्त्रे गुहादिरूपो, निर्वातः वायुरहितः कीर्तितः। तत्र योगं कुर्याद् इत्यर्थः।।४६६।। यत्रेति। यत्र योगारम्भे दैवादिदोषाद् विघ्नः सम्भावितः शङ्कितो भवेत् तत्र योगं न कुर्यादिति।।४६७।। एतेन आसननियमेन 'द्वौ भागौ पूरयेदन्नैः' इत्याद्युक्तोऽशनयोगोऽपि सूचित इत्याह—यथेति। स्पष्टम्।।४६८।।

कहकर अपना पक्ष रखते हैं। अतः विशिष्ट शब्द और जलाशय को ही मनोनुकूलता के लिये माना जा सकता है तथा सर्वथा शब्द-जल से रहित तो पांचभौतिक कोई स्थान हो नहीं सकता अतः दोनों व्याख्याओं का समन्वय कर लेना चाहिये। पुराण की मंत्रव्याख्या है :

विद्वान् योगाभ्यासार्थ अपना आसन जहाँ स्थापित करे वह देश ऐसा होना चाहिये—साधक को हमेशा (हर मौसम आदि में) सुखदायी हो; ऊँचा-नीचा अर्थात् ऊबड़-खाबड़ न हो; गोबर आदि से लीपकर पवित्र किया गया हो; बड़ी नदी आदि की सन्निधि में न हो; काँटे आदि बालू, कंकड़ आदि से रहित हो; हमेशा ही (ज़्यादा) सर्दी-गर्मी से रहित हो; नाना प्रकार के शब्दों से रहित हो; जलके अधिक निकट न हो; अधिक सुख देता हो; (यहाँ एवं अन्य योगग्रंथों में कहे) सभी लक्षणों से युक्त हो। हे यतीश्वरो ! योगयोग्य देश के लक्षण के विस्तार से क्या लाभ ! मच्छर आदि से रहित जो स्थान साधक के मन व आँखों को सुख दे वही वेदान्तों में कहे योगाभ्यास के लिये उपयुक्त है। ऐसी जगह गुफा आदि वायुरहित प्रकोष्ठ में योगतत्पर होना चाहिये।।४६३-६।। समझदार वहाँ योगाभ्यास प्रारंभ न करे जहाँ उसे संभावना लगे कि साधनारंभ के बाद दैवादि किसी दोष से विघ्न आयेंगे। (अर्थात् भूकंप, ज्वालामुखी, बाढ आदि जहाँ आते रहते हों ऐसा स्थान न चुने। ऐसे ही जानवर, गुण्डे आदि जहाँ परेशान न करें आदि निर्विघ्नता भी समझ लेनी चाहिये। किंतु सुविधा आदि खोजने के या पूर्वोक्त समस्त लक्षणों वाला देश मिलने के प्रयास में इतना समय भी न खो दे कि योगारंभ की आयु ही निकल जाये ! यथासंभव उचित देश ढूँढ कर साधना प्रारंभ कर देनी चाहिये।)।।४६७।। जैसे देश वैसे आहार आदि भी ऐसा ग्रहण करना चाहिये जिससे अपने योगाभ्यास में कभी कोई विघ्न न आये। (अर्थात् आहार आदि में भी परिगणन पर ही अधिक ध्यान न दे वरन् स्वयं को जो अनुमत वस्तु और मात्रा अनुकूल हो उसका सेवन करता रहे। इंद्रिय व मन पर नियंत्रण एवं अपरिग्रह बता ही चुके हैं अतः यह संभावना नहीं है कि अनुकूलता की छूट का दुरुपयोग होगा।)।।४६८।।

---

१. 'समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः। मनोऽनुकूले न तु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्।।'

२. चक्षुष्पीडनो मशक इति कल्पतरुकृतः।

ब्रह्मलाभसूचकसिद्धयः

एवमष्टाङ्गयोगेन स्वात्मप्रत्यक्षमिच्छतः। प्रथमं सिद्धयो नाना प्रादुः स्युर्विघ्नहेतुकाः।।४९९
नीहारेण समं रूपं पश्यत्येष कदाचन। धूमेन च कदाचित्तु भास्करेण च कर्हिचित्।।
वह्निनाऽपि च कुत्राऽपि वायुनाऽपि समं तथा।।५००
नीहारो जलरूपत्वं गच्छेदुक्तो मनीषिभिः। धूमः कृष्णस्तथैवार्कः पिङ्गलोऽनेकवर्णितः।।
रक्तो वह्निस्तथा वायुर्दूर्वाभःशास्त्रतो भवेत्।।५०१
खद्योतेन तथैवान्यद् विद्युता स्फटिकेन च। शशिनाऽपि समं रूपं कदाचित्तु प्रपश्यति।।५०२
यथा रूपाणि तद्वत्तु शब्दस्पर्शरसानपि। गन्धांश्च विविधानेष पूर्वं पश्यति योगतः।
समाधिस्थः सदा योगी ब्रह्मबोधसमीपगः।।५०३

एकादशस्य[1] ब्रह्मोपलब्धिसांनिध्यसूचकानां सिद्धीनां तत्र सक्तस्य विघ्नहेतूनां प्रदर्शकस्य अर्थमाह—एवमिति पञ्चभिः। प्रादुः स्युः प्रकटी भवेयुः। कीदृश्यः सिद्धयः ? तत्र सक्तस्य विघ्नरूपाः।।४९९।। नीहारेणेति। नीहारादिसमानि मनोरूपाणि पश्यति इति।।५००।। नीहार इति। तत्र नीहारो जलस्य यद्रूपं शुक्लाख्यं तद्वानेव। धूमस्य वर्णस्तु कृष्णः। सूर्यस्य पिङ्गलः, अनेकवर्णसमुदायात्मकत्वात्, आदित्यस्य हि पञ्च रोहितादिरूपाणि च्छान्दोग्ये[2] मधुविद्यायामुक्तानि। तथा वह्नेर्वर्णो रक्तः पाटलः। वायोर्वर्णस्तु दूर्वाभः श्याम उक्तः शास्त्रे आगमे, तथा च प्रपञ्चसारे आकाशादिवर्णाः क्रमेणोक्ताः 'सितशितिपाटलशुभ्रपीतभास' इति।।५०१।। तथा खद्योतादिरूपाणि च पश्यतीत्याह—खद्योतेनेति।।५०२।। न केवलं चाक्षुषविषयानेव दिव्यान् पश्यति किन्तु इतरेन्द्रियविषयानपीत्याह—यथेति। एताश्च सिद्धयो योगाश्वासद्वारा चित्तस्थितिहेतवोऽपि भवन्ति। तदुक्तं—विषयवतीवाप्रवृत्तिर्मनसः स्थितिनिबन्धनीति[3]—(यो. सू. १.३५)। तदेतत् सूचयति—ब्रह्मबोधसमीपग इति।।५०३।।

ग्यारहवाँ मन्त्र कहता है कि यमादि अष्टांग योग में प्रवृत्त साधक जब सिद्धावस्था में प्रवेश करता है तब ब्रह्म की अभिव्यक्ति सूचित करने वाले ये रूप (ध्यान में) पहले आते हैं—नीहार का रूप अर्थात् वैसा सफेद जैसा शिशिर आदि ऋतु में प्रभात के समय जलकणों का समूह गिरता हुआ दीखता है; धुएँ का श्याम रूप; सूर्य का पिंगल रूप; वह्नि का लाल रूप; वायु का नीला रूप अर्थात् वायुद्वारा हिलाये जाते पत्ते आदि का रूप; जुगनू का रूप; बादलों में चमकने वाली बिजली का रूप; स्फटिक का रूप; चंद्रमा का रूप। ये रूप दीखते हों इतना ही नहीं अन्य भी सिद्धियाँ आती हैं पर उनमें आसक्त न हो ब्रह्मदर्शन के लिये यत्नशील रहे यह तात्पर्य है। पुराण में समझाते हैं—

पूर्वप्रदर्शित आठ अंगों वाले योग द्वारा निज आत्मा के अपरोक्ष की इच्छा वाले अभ्यासी में आत्मदर्शन से पूर्व अनेक सिद्धियाँ प्रकट होती हैं जिनमें आसक्ति हो जाये तो वे सिद्धियाँ ही विघ्न बन जाती हैं (जैसा पतंजलि ने (यो. सू. ३.३७) भी बताया है)।।४९९।। कभी यह साधक नीहार के समान रूप देखता है, कभी धुएँ के तो कभी सूर्य के, कभी आग के और कभी वायु के समान रूप देखता है।।५००।। मनीषियों ने बताया है कि नीहार जलरूपता प्राप्त कर लेता है अर्थात् जलके ही शुक्ल रूप को यहाँ नीहार का रूप कहा है। धुआँ काला होता ही है। सूर्य पिंगल रंग का दीखता है क्योंकि सूर्य में अनेक रंग हैं। (पिंगल अर्थात् ललिमायुक्त भूरा। सूर्य में लाल, सफेद, हलका व गहरा काला तथा ध्यान से देखने पर जो चंचलता दीखती है वह—यों सूर्य के पाँच तरह के रूप छांदोग्य में कहे हैं। आजकल

1. 'नीहारधूमार्काऽनलाऽनिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्। एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे।।'११।।
2. रोहितं, शुक्लं, कृष्णं, परःकृष्णं, यत्समाहितदृष्टे संचलतीव दृश्यते—एवं पंचविधं रूपम् तत्र (३.१-५) उक्तम्।
3. 'प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः' इति भाष्यादिसम्मतपाठः।

समाधौ योगिनो यद्वदान्तराः प्रत्ययाः सदा। भवन्ति तद्वदेवाऽत्र बाह्या अपि भवन्ति च।।५०४
योगिनो रोगनिर्मुक्तो देहो भवति तत्क्षणात्। जरया मृत्युना तद्वदन्यलोकविलक्षणः।।५०५
योगाग्निना समग्रोऽपि रोगः पञ्चात्मकस्य हि। देहस्य नाशमायाति हेम्नो यद्वदिहाग्निना।।५०६

तथाविधशारीरसिद्धिप्रतिपादकयोः द्वादशत्रयोदशयोः[1] अर्थं दर्शयति—समाधाविति अष्टभिः। समाधिकाले यथोक्ता आन्तरा नीहारादिदर्शनरूपाः प्रभवन्ति तथेमा वक्ष्यमाणा बाह्या बहिर्व्युत्थान-दशायाम् उपलब्धाः सिद्धयोऽपि भवन्तीत्यर्थः।।५०४।। योगिन इति। योगिनो देहो रोगाद्यभावेन अन्यविलक्षणो भवतीति।।५०५।। योगाग्नेरिति। पञ्चात्मकस्य पाञ्चभौतिकस्य देहस्य रोगो हि योगाग्निना नश्यति इति। एतेन मन्त्रे पञ्चभूतसमुदाये सति समुत्थित उत्पन्नो यः पञ्चात्मको देहः तस्मिन् योगगुणे योगकृतातिशये प्रवृत्ते सतीति योजना सूचिता।।५०६।।

इंद्रधनुष के रंग सूर्यप्रकाश में बताये जाते हैं। चाहे जैसे समझें, पिंगल वर्ण दीखता है।) अग्नि का रंग लाल है। वायु दूर्वा जैसे रंग वाला है यह शास्त्र से पता चलता है।।५०१।। ध्याता कभी जुगुनू जैसा, बादलों में चमकने वाली बिजली जैसा, स्फटिक जैसा और चंद्रमा जैसा रंग देखता है।।५०२।। समाधि में स्थित योगी जब शीघ्र ही ब्रह्मबोध पाने वाला होता है तब जैसे ये रूप देखता है वैसे ही ब्रह्मज्ञान से पूर्व नाना प्रकार के शब्दों, स्पर्शों, रसों और गंधों का भी अनुभव करता है। योग के प्रभाव से ऐसा हमेशा होता है (कि चरमसिद्धि से पूर्व ऐसे अनुभव हों जो फललाभ की निकटता सूचित कर दें।)।।५०३।।

बारहवें मंत्र में और सिद्धियाँ कही हैं: पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—इनका परिणाम, इनसे उत्पन्न पांचभौतिक शरीर जब योग के गुण के लिये (योग के चरम फल के लिये) प्रवृत्त होता है और उसमें योगाग्नि पर्याप्त मात्रा में आ जाती है तब उसे रोग, बुढौती, दुःख नहीं होते। नारायणादि ने यहाँ शरीर के तत्तद् अंश में विशिष्ट धारणा से तत्तद् भूत पर विजय का प्रसंग पाँच भूतों के नामोल्लेख के आधार पर प्रकट किया है। हमारे गुरुजी 'पंचात्मके' से 'पाँच कोश वाले शरीर में' अर्थ समझकर तैत्तिरीयोक्त कोश-उपसंक्रमण प्रक्रिया से ब्रह्मप्रतिष्ठा अभिप्रेत बताते हैं। ऐसे ही 'योगाग्निमये' का अर्थ करते हैं 'नये, योगाग्नि से बने हुवे' और अभिप्राय बताते हैं कि पांचकौशिक शरीर से अहंकार हटाकर ध्यान से अध्यास बदलने की चर्चा है। इस प्रसंग में 'नकली पुनर्जन्म' के आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रयोगों का हवाला दिया है। वे मानते हैं कि योगाग्निमय शरीर की उत्पत्ति को व्यावहारिक प्रयोग में लाने के ये ढंग हैं। पुराणकार समझाते हैं :

योगी को समाधि में जैसे पूर्वोक्त अनुभव होते हैं वैसे ही व्युत्थान दशा में भी शरीर में सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं।।५०४।। योगी का देह तत्काल नीरोग हो जाता है। बुढ़ापा और मृत्यु में भी वह अयोगियों से अलग ढंग का होता है।।५०५।। योगी के पांचभौतिक देह का सारा रोग भी योगरूप अग्नि से नष्ट हो जाता है जैसे स्वर्ण का मल आग से नष्ट हो जाता है।।५०६।।

तेरहवे मंत्र में फललाभ से पूर्वभावी कुछ और चिह्न बताये हैं जो तब प्रकट होते हैं जब अष्टांग योग साधक में पूरा होने लगता है। ये चिह्न हैं—हलकापन, तंदरुस्ती अर्थात् हर तरह का उत्साह, विषयों के प्रति लोलुपता न होना, रंग ऐसा होना जो देखते ही प्रसंनता दे, आवाज़ की मधुरता, सुखद गंध, पेशाब-टट्टी की मात्रा कम होना। इसे पुराण में कहते हैं—

१. 'पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न दुःखं प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।।१२।।' दुःखमित्यत्र मृत्युरित्यपि पाठः। 'रघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च। गन्धः शुभः मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति।।१३।।' रघुत्वं लघुत्वमिति दीपिकानुसारिपाठः।

एते गुणाश्च देहस्य जायन्ते योगयोगतः। लघुत्वमङ्गजाड्यानाम् अभावश्चाप्यरोगता।।
अलोलुपत्वं सर्वेषु भूस्वर्गविषयेष्वपि।।५०७

स्निग्धवर्णस्तथैवाऽयं जायते कनकादिवत्। दर्शनात् सर्वलोकानां मनोनयननन्दनः।।५०८

स्वरश्च मधुरः सर्वलोककर्णसुखप्रदः। चम्पकादिसमो देहगन्धः शुभतमस्तथा।।५०९

भूयसोऽप्यन्नपानस्य ग्रहे तद्वच्च योगिनः। अल्पे मूत्रपुरीषे च सम्यग्जीर्णस्य पाकतः।।५१०

इयं योगप्रवृत्तिः स्यात् प्रथमं तु यतीश्वराः। अत्राणिमादिका सिद्धिर्जायते विघ्नहेतुका।।५११

सिद्धिरागःपरिहर्तव्यः

अस्यां संसक्तचित्तः सन् योगभ्रष्टोऽभिधीयते। एतांस्त्यजन्नवाप्नोति प्रत्यक्षं ब्रह्म वेदितम्।।५१२

मृदा लिप्तं यथा बिम्बं रवेश्चन्द्रस्य वा मृदः। अपरित्यागतो नैतद् द्रष्टुमर्हति कर्हिचित्।।५१३

एवं सिद्धेरसंत्यागाद् नात्मानं द्रष्टुमर्हति। मृदस्त्यागेऽमृदं बिम्बम् अमृतं तेजसां निधिम्।
पश्येदात्मानमेवं हि सिद्धित्यागात् प्रपश्यति।।५१४

त्रयोदशार्थमुपक्रमते—एत इति। योगस्य योगाद् अनुष्ठानाद् अङ्गगतजाड्याभावरूपं लघुत्वं नीरोगत्वं विषयेषु वैतृष्ण्यं च भवति इत्यर्थः।।५०७।। स्निग्धेत्यादिद्वयं निगदव्याख्यातम्।।५०८-९।। भूयस इति। प्रचुरस्यान्नस्य भक्षणे स्वल्पमलत्वं, जीर्णस्य अपि अन्नस्य सम्यक् पाकात्।।५१०।। इयमिति। इयम् एवं-विधा योगस्य योगफलस्य प्रवृत्तिः प्रवाहः प्रथमं स्यात्। 'प्रवृत्तिः कथिता वृत्तौ प्रवाहोदन्तयोरपि' इति विश्वप्रकाशः। अत्र उक्तफलप्रवाहे।।५११।।

आत्मसाक्षात्कारे सिद्ध्यादिषु रागः प्रतिबन्धकः, अतः तत्परिहारेण आत्मानं साक्षात्कृत्य कृतार्थो भवेद् इत्यावेदकस्य चतुर्दशस्य[1] अर्थमाह—अस्यामिति पञ्चभिः। अस्यां योगफलप्रवृत्तौ एतान् दिव्यादिव्यविषयान्। वेदितं वेदप्रतिपाद्यम्।।५१२।। तत्र दृष्टान्तमाह—मृदेति। यथा सूर्यस्य चन्द्रस्य वा बिम्बं मण्डलं रजतादिना पूजार्थं निर्मितं भवेत् तद् यदा मृदा मृत्तिकया लिप्तं तदा तद् मृत्परिहारमन्तरेण सम्यग् द्रष्टुं योग्यं न भवति द्रष्ट्रेत्यर्थः।।५१३।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति। मृदस्त्यागे तु अमृदं मृद्रहितं तद् बिम्बं पश्येत् तथाऽमृतादिविशेषणकम् आत्मानं सिद्धिरागपरिहारेण पश्यतीति द्वितीयादिदलार्थः।।५१४।।

योगानुष्ठान से शरीर में ये गुण भी आते हैं: लघुता अर्थात् शरीरांगों में जडता (आलस्य) न होना; नीरोगता; भूमि व स्वर्ग में स्थित सभी विषयों के प्रति वितृष्णा।।५०७।। इसी प्रकार योगी स्वर्णादि की तरह चिकने रंग का हो जाता है तथा इसे देखने से सभी लोगों के मन और नेत्र आनंद पाते हैं।।५०८।। इसका स्वर भी मधुर हो जाता है जो सब लोगों के कानों को सुख देता है। उसके देह की गंध भी चंपा आदि की तरह बहुत शुभ हो जाती है।।५०९।। अत्यधिक अन्न व पेय ग्रहण कर लेने पर भी योगी के मल-मूत्र कम होते हैं क्योंकि खाया-पिया अच्छी तरह पच जाता है और पचे हुए का भी धातुप्रक्रिया से पाक हो जाता है।।५१०।।

हे यतीश्वरो ! योगफल का प्रवाह पहले इस ढंग से उपलब्ध होता है। इस फलप्रवाह में अणिमादि सिद्धियाँ भी आती हैं जिनका विघ्नहेतु बनना सुलभ है।।५११।।

चौदहवाँ मंत्र मुक्तिरूप प्रधानसिद्धि का सोदाहरण वर्णन करता है। जैसे सूर्यादि का मंडल मिट्टी से ढका हो

१. 'यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्। तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः।।'

सर्वसिद्धिपरित्यागाद् आनन्दात्मानमद्वयम्। निरीक्ष्यैव कृतार्थः स्यात् कश्चिदेव पुमानिह।।५१५

एतद्विज्ञानतः शोकः कृतार्थस्यापयास्यति। यस्माच्छोकादिदं दुःखं दुःसहं देहजं व्रजेत्।।५१६

ततश्च कृतार्थो भवतीत्याह—सर्वसिद्धीति। स्पष्टम्।।५१५।। शोकात् कर्तृत्वादिरूपात् संसारप्रयोजकाच्च मुच्यत इत्याह—एतदिति।।५१६।।

तो धूल बैठ जाने के बाद ही वह अपने दीप्तिमान् रूप से दीखता है जिसमें बाहरी तरफ लालिमा चमकती है। इसी प्रकार आत्मतत्त्व का प्रामाणिक उपयुक्त साक्षात्कार कर देहधारी 'सभी भेदों से रहित इकलौता मैं ही ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान से पुरुषार्थ सिद्ध कर निर्दुःख हो जाता है। जैसे वस्तुतः सूर्यादि का धूल से संयोगादि नहीं वैसे माया का भी आत्मा से कोई सत्य संबंध नहीं यह दृष्टांत का भाव है। नारायणाचार्य 'सुधांतम्' की जगह 'सुध्मातम्' पाठ मानकर अग्नि से अत्यधिक तपाया हुआ स्वर्ण आदि का तेजोमय बिम्ब अर्थ करते हैं। उसका मिट्टी से ढकना व मिट्टी हटने पर स्पष्ट दीखना उदाहरण है। उन्होंने उत्तरार्ध में 'तद्वत्सतत्त्वम्' भी पाठ बताया है। उपनिषद्योगी 'बिम्ब' से दर्पणादि समझते हैं; दर्पण को भस्म, चूना आदि डालकर साफ करने से उसकी चमक बढ़ जाती है। उन्होंने सुधान्त का अर्थ सुधौत अर्थात् 'अच्छी तरह धुला' किया है। हमारे गुरु जी सुधान्त का अर्थ करते हैं 'चूना मिलाकर धो लेने के बाद'। स्वर्णादि पर पड़ी धूल आदि मैल को चूना-मिट्टी से माँज लेने पर वह चमकदार हो जाता है अतः मिट्टी को मिट्टी ने साफ किया यह प्रत्यक्ष हो जाता है; ऐसे ही अविद्या का ही कार्य जो ब्रह्माकार वृत्ति वही अविद्या को नष्ट करती है—ऐसा वे दृष्टान्तार्थ मानते हैं। पुराण में पूजा आदि के लिये सोने-चाँदी आदि से सूर्य-चंद्र आदि के बिम्ब की जो प्रतिकृति बनाते हैं उसे ग्रहण कर यों व्याख्या की है :

योग के अवान्तर फल पूर्वोक्त सिद्धियाँ प्राप्त होने पर जो अपने चित्त में उनके प्रति आसक्ति पाल लेता है उसे 'योगभ्रष्ट' कहते हैं क्योंकि मुख्य फल से वह वंचित रह जाता है। जो इन दिव्य आदि विषयों को छोड़े रहता है वही वेदप्रतिपाद्य ब्रह्म का साक्षात्कार पाता है।।५१२।। जैसे सूर्य या चंद्र के बिम्ब (मूर्ति, चित्र) को तब तक कोई साफ-साफ नहीं देख सकता जब तक उस पर पड़ी मिट्टी हटा न दी जाये वैसे ही सिद्धियों का त्याग किये बिना कोई आत्मा को नहीं देख सकता। मिट्टी हटाने पर मृत्तिकारहित बिम्ब जैसे दीखता है ऐसे ही सिद्धियाँ त्याग देने पर सभी प्रकाशों का उत्स अमृत आत्मा दीखता है।।५१३-४।। कोई ही ऐसा धीर मर्द होता है जो सभी सिद्धियों का पूरी तरह त्याग कर अद्वय आनन्दात्मा को निवृत्ताविध रूप से समझकर कृतार्थ होता है, कृतकृत्य प्राप्तप्राप्तव्य होता है।।५१५।। इस विज्ञान के फलस्वरूप कृतार्थ पुरुष का शोक निवृत्त हो जाता है। यहाँ शोक से कर्तृत्वादि अभिमान समझना चाहिये जिससे देह में होने वाले इस असह्य दुःख को जीव भोग रहा है।।५१६।।

पंद्रहवाँ मंत्र कहता है कि अष्टांगयोग द्वारा जो साधक आत्मा में ही समाहित हो जाता है वह जब ब्रह्मस्वरूप को उस आत्मरूप से ही समझता है जो दीपक जैसा स्वप्रकाश है तब जन्मादिविकारों से और परिणामों से रहित एवं कार्य-कारण रूपों से विहीन स्वयम्प्रकाश के साक्षात्कार के फलस्वरूप अविद्या और उसके कार्यरूप सब पाशों से छूट जाता है। ब्रह्म को आत्मा समझने में नारायणाचार्य ने शिष्य को पुत्र समझने का दृष्टांत दिया है जिसमें अवास्तविक अभेद की सूचना पाकर हमारे गुरु जी ने कल्पना की है कि वैसा स्थल समझना चाहिये जहाँ पुत्र ही छात्र रूप से उपस्थित हो; सामान्यतः कक्षा में उसे छात्र रूप से ही ग्रहण करने पर भी कभी पुत्र रूप से ग्रहण कर लेता है—ऐसा दृष्टांत होने पर अभेद वास्तविक रह जाता है। अथवा 'जहाँ भेद है वहाँ भी अभेददर्शन हो जाता है तो जहाँ है ही अभेद वहाँ उसे देखना उचित ही है' इस अभिप्राय से शिष्य-पुत्र का उल्लेख मान सकते हैं। दीपोपमा से उपनिषद्योगी समझते हैं कि प्रकाश्य घटादि से उनके प्रकाशक दीपक की तरह देहेन्द्रियादि से प्रत्यगात्मा विलक्षण है उस सर्वसाक्षी रूप से

साक्षिज्ञानमात्रं न मोक्षाय

यदाऽयमात्मरूपेण स्वप्रकाशेन सर्वदा। ब्रह्मतत्त्वं विजानाति भेदत्रयविवर्जितम्।।५१७

योगात् प्रत्यक्षविज्ञानं प्राप्य भाग्याधिकः पुमान्। जन्मादिरहितं तद्वद् ध्रुवं विगतविक्रियम्।।५१८

कार्यकारणनिर्मुक्तम् आनन्दात्मानमद्वयम्। प्रत्यक्षी कुरुते तर्हि सर्वपाशच्छिदिर्भवेत्।।५१९

योगिनः त्वम्पदार्थज्ञानमात्राद् मोक्षं मन्यन्ते। तथा न मन्तव्यम्। किन्तु आत्मानं पूर्णतया महावाक्यानुसारेण ज्ञात्वैव मुच्यत इति प्रदर्शकस्य[1] पञ्चदशस्यार्थमाह—यदाऽयमिति त्रिभिः। यदाऽयम् अधिकारी महाभागो ब्रह्मणस्तत्पदार्थस्य तत्त्वं सर्वभेदरहितस्वप्रकाशात्मरूपं प्रथमं विज्ञाय ततः त्वम्पदार्थस्य जन्मादिराहित्याद्युपलक्षितस्य प्रत्यक्षविज्ञानं प्राप्य तयोरैक्यं कार्यकारणात्मकसर्वतत्त्वराहित्यात्मकाखण्डत्वशालि प्रत्यक्षी कुरुते तदा सर्वपाशेभ्यो मुच्यते। इति त्रयाणां सम्बन्धः।।५१७-९।।

ब्रह्म को देखना है। 'युक्त' का अर्थ वे शमादिसाधनसंपन्न करते हैं। दीपोपमा से हमारे गुरु जी बताते हैं कि ज़्यादा रोशनी की मशाल और कम रोशनी के दीपक में कार्यक्षमता का अंतर होने पर भी स्वप्रकाशता समान है ऐसे ही जीव-ईश्वर में शक्तियों का बेशुमार भेद रहने पर भी ज्ञानसामर्थ्य एक-सी है। वस्तुतस्तु दीपोपमा का अभिप्राय है कि जब एक जलते दीपक से अनेक दिवोटियों में बत्तियाँ जलाते हैं तब वस्तुतः उन सब में जलता हुआ वह एक ही दीपक उपलब्ध होता है; सभी पूर्ण दीपक हैं, जिसने अन्यों को प्रज्वलित किया उसकी दीपरूपता में कोई कमी भी नहीं आयी और तेल-रुई आदि का भेद रहते हुए भी अर्थात् अनेक दीपक दीखते समय भी दीपक एक ही है। ऐसे ही ब्रह्म नाना जीवों के रूप में उपलब्ध होने पर भी अद्वैत खण्डित नहीं होता। यों दीपतुल्य आत्मतत्त्व के रूप में ब्रह्म का तत्त्व अर्थात् अखण्डता देखनी है। दीपक के ऐसे अभिप्राय में भाष्य प्रमाण है 'यथा प्रदीप एकोऽनेकप्रदीपभावमापद्यते' (ब्र. सू. ४.४.१५)। पुराण में मंत्र का संक्षिप्तार्थ है :

अत्यंत भाग्यशाली अधिकारी पुरुष जब पहले तत्पदार्थ ब्रह्म की सभी भेदों से रहित एवं हमेशा स्वप्रकाशरूप से विद्यमान वास्तविकता समझ लेता है, फिर योगाभ्यास से त्वम्पदार्थ का जो जन्मादि विकारों से वर्जित, अपरिवर्तनशील निष्क्रिय रूप है उसका अपरोक्ष अनुभव कर लेता है और अंत में उन दोनों का जो कार्यकारणभावरहित आनंद प्रत्यक् व्यापक अद्वैत अखण्ड रूप है उसे अपरोक्ष कर लेता है तब पाशों का समापन हो जाता है।।५१७-९।। (तात्पर्य है कि न केवल ईश्वरज्ञान और न केवल साक्षिज्ञान मोक्ष के लिये पर्याप्त है वरन् इनके अभेद का ज्ञान ज़रूरी है।)

सोलहवे मंत्र में श्रुति ब्रह्मवर्णन करती है। अनुकंपा से हमें सम्बोधित कर कहती है : हे जनों ! सभी ओर जिसकी उपलब्धि के द्वार सुलभ हैं वह सभी पुरुषबुद्धियों का स्वप्रकाश साक्षी सर्वप्रसिद्ध है। उसका चरित्र आश्चर्यमय है। सभी दिशाओं के रूप में वही प्रतिष्ठित है (यह उसकी अव्याकृतरूपता है)। वही सबसे पहले उत्पन्न हुआ (यह उसकी सूत्रात्मरूपता है)। कार्य-कारणरूप वाला वही आत्मा ब्रह्माण्डरूप गर्भ के आकार में स्थित है (यह उसकी विराट्-रूपता है)। वही ब्रह्माण्डरूप गर्भ के भीतर प्रजापतिरूप से मौजूद है। जो भी पैदा हो चुका है, पैदा होगा (और पैदा हो रहा है) वह सब उस देव से भिन्न नहीं है (अतः वह सभी जीवों के रूप में भी प्रतिष्ठित है)। बुद्धि आदि सभी दृश्यों से प्रतिलोम या विपरीत तरह प्रकाशमान वही एक आन्तर वस्तु कभी न हिलायी जा सके यों स्थित है। (शंकरानंद दीपिका में 'स गर्भे' और 'स गर्भेऽन्तः' यों 'गर्भे' का दो बार अन्वय माना है।) हमारे गुरु जी 'पूर्व जात' से कालोपाधिक समझते हैं एवं 'जनान्' पाठ मानकर 'चेतन-अचेतन उत्पन्न हुए पदार्थों को प्रत्यगात्मरूप से प्रतीत होता हुआ रहता है' अर्थ करते हैं। तीन श्लोकों में पुराण इस मंत्र का अर्थ बताता है :

---

१. 'यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।।'

एष एव स्वयंज्योतिः देवः सर्वा दिशो दश। एष एव पुरा जातः शरीरी ब्रह्मरूपधृक्।।५२०
एष एव जलादीनां गर्भे तिष्ठति सर्वदा। ब्रह्माण्डादिस्वरूपेण योनियन्त्रसमीपगः।।५२१
आन्तरोऽपि च बुद्ध्यादेः सर्वेन्द्रियशरीरवान्। योगिभिस्त्ववगम्यो यो मयोक्तः परमेश्वरः।।५२२
अग्नावप्सु च भूतेषु महत्स्वप्येष संस्थितः। जातो जनिष्यमाणश्चेत्येष एव महेश्वरः।।५२३
वर्तते सर्वभूतानामन्तर्हृदयसंस्थितः। सर्वेषु निखिलं विश्वं सृष्ट्वेवाऽत्र प्रविष्टवान्।।५२४
सर्वभूतात्मको योऽयं स्थावरेषु चरेषु च। तस्मै सर्वात्मने शुद्धरूपाय च नमो नमः।।५२५

आत्मनः परिपूर्णताप्रतिपादकस्य[1] षोडशस्यार्थम् आह—एष एवेति त्रिभिः। एष आत्मदेवः सर्वदिग्रूपः तथा पुरा जातो हिरण्यगर्भस्तद्रूपः।।५२०।। एष एव जलादीनामिति। तथा विराट्शरीरब्रह्माण्डादिरूपेण अप्प्रभृतिस्त्रीणां योनियन्त्रसमीपदेशरूपे गर्भे तिष्ठन्नेष एवेत्यर्थः।।५२१।। आन्तर इति। तथा सर्वव्यष्टिषु बुद्ध्यादेरान्तरः सर्वसङ्घातशेषी एष एव। एष कः ? यो मया योगिगम्य उक्तः इति।।५२२।।

आत्मनः सर्वान्तरत्वं विघ्नपरिहाराय नमस्कार्यत्वं च दर्शयतः[2] सप्तदशस्यार्थमाह—अग्नाविति त्रिभिः। प्रसिद्धाग्निजलयोः महाभूतेषु चाऽयं स्थितः, तथा जातो लब्धजन्मा जनिष्यमाणो लप्स्यमानजन्मा वा यो भावः तदन्तर्गतोऽपि एष एवेत्यर्थः।।५२३।। वर्तत इति। तथा वर्तमानभूतानाम् अन्तः साक्षिरूपेण स्थितः यतः सर्वं सृष्ट्वाऽयमेवान्तः प्रविष्टवान्। इति।।५२४।। सर्वेति। स्पष्टम्।।५२५।।

यही स्वप्रकाश देव सभी दसों दिशाएँ हैं। सर्वप्रथम उत्पन्न हिरण्यगर्भरूप शरीरी यही आत्मदेव है।।५२०।। जलादि के योनिस्थान के समीप गर्भ में ब्रह्माण्ड आदि के स्वरूप से यही आत्मा हमेशा रहता है। (जलादि अर्थात् जल है प्रधान जिनमें ऐसे पाँचों महाभूत। महाभूतों को देवता—अतः स्त्रीरूप में छांदोग्य ६.३ में कहा ही है। सूक्ष्म भूत स्त्री और उनकी स्थूलावस्था योनि है तथा पूर्वापरीभाव से प्रपंचाकार गर्भ है। ब्रह्माण्ड आदि के 'आदि' से ब्रह्माण्ड के अवयव समझने चाहिये।)।।५२१।। सभी इन्द्रियों और शरीरों वाला तथा बुद्धि आदि की अपेक्षा भीतरी यही है जिसके बारे में मैंने (श्वेताश्वतर ने) कहा था कि यह परमेश्वर योगियों द्वारा समझने लायक है। (बुद्धि आदि से भीतर समझने के लिये पाँच कोशों की प्रक्रिया याद रखनी चाहिये।)।।५२२।।

अंतिम मंत्र में उस देव को बार-बार नमस्कार किया है जो आग में, जल में, सारे भुवन अर्थात् चौदहों लोकों में, चावल आदि एक बार पक कर समाप्त होने वाले पौधों में तथा फलने-फूलने वाले पेड़ों में प्रवेश कर उपस्थित है। विज्ञानभगवान् 'सत्तादिप्रद रूप से प्रवेश किये हुए है' यों स्पष्ट करते हैं। हमारे गुरुजी अग्नि से कर्म और जल से कर्मफल अभिप्रेत मानते हैं तथा औषधि से सकाम अनुष्ठान और वनस्पति से निष्काम कर्म-उपासना अभिहित स्वीकारते हैं। पुराण में इसे तीन श्लोकों में समझाते हैं :

अग्नि, जल तथा सभी महाभूतों में भली भाँति यही स्थित है। जो कुछ पैदा हो चुका है और आगे होगा, उस सब में यही महेश्वर है।।५२३।। सभी प्राणियों के भीतर हृदय में मौजूद यही महेश्वर सभी में वर्तमान है क्योंकि समस्त संसार को मानो पैदा कर इसने उसमें मानो प्रवेश किया है।।५२४।। चर-अचर में एवं सब भूतों के रूप में जो यह शुद्ध रूप वाला सर्वात्मा है इसे प्रणाम है, नमस्कार है।।५२५।।

१. 'एष ह देवः प्र दिशो नु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यग् जनाः। तिष्ठति सर्वतो मुखः।।'

२. 'यो देवाऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश। य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः।।'

एष संक्षेपतो योगः कथितोऽत्र यतीश्वराः। योगगम्यमिमं देवम् आत्मानं शृणुताऽधुना।।५२६

ईश्वरतयाऽऽत्मवर्णनम्

यः पुरा कथितो देव ईश्वरोऽप्यधुना च यः। एक एव स विज्ञेयः सदा संसारजालवान्।।५२७

ईशनीभिः स्वमायाया विभिन्नाभिस्तु शक्तिभिः। सर्वान् लोकनिमानीष्ट एको जन्मनि च स्थितौ।।
सर्वदा जगतोऽपीशं ये विदुस्तेऽमृताः स्मृताः।।५२८

एतज्ज्ञानाद् यतो जन्म पुनर्नैव भविष्यति। अजातानां कुतो मृत्युः ततोऽमी अमृताः स्मृताः।।५२९

द्वितीय-तृतीयाध्यायव्याख्यायाः समाप्त्यारम्भौ सूचयति—एष संक्षेपत इति। योगेन गम्यो य आत्मा तस्य विद्यया लाभो यथा भवेत्तथा प्रतिपादयतः तृतीयाध्यायस्यार्थं शृणुत इत्यर्थः।।५२६।।

अस्मिन्नध्यायेऽन्तर्यामित्वादिलक्षणैः तत्पदार्थं प्राधान्येन प्रतिपादयन्ति मन्त्राः। तेषु[1] प्रथमस्यार्थमाह—यः पुरेति। य ईश्वरः पुरा प्रथमाध्याये तथा अधुना द्वितीयाध्याये च कथितः स एकः अद्वितीयः, संसाराख्यजालस्य स्वामी बोध्य इत्यर्थः।।५२७।। ईशनीभिरिति। ईशनीभिः तत्तन्नियमनसाधनभूताभिः स्वमायाया शक्तिभिः सर्वान् लोकानीष्टे वशे स्थापयति, ततस्तं सर्वस्य जगतः उत्पत्त्यादौ ईशं समर्थं ये जानन्ति तेऽमृताः स्युः इत्यर्थः।।५२८।। अमृतत्वमेव स्फुटयति—एतदिति। उक्तात्मनो ज्ञानेन रागादिक्लेशप्रहाणेन जन्मन एवाऽभावे कुतो मृत्युरित्यर्थः।।५२९।।

हे यतीशो ! यहाँ (श्वेताश्वतर द्वितीयाध्याय में) यह संक्षेप में योग बता दिया। योग से प्राप्तव्य इस आत्मदेव के बारे में अब सुनिये।।५२६।।

अब उपनिषत् के तीसरे अध्याय की व्याख्या की जायेगी। अंतर्यामी आदि रूप से ईश्वर का वर्णन यहाँ प्रधान है। पूर्वाध्याय में प्रधान सिद्धि मोक्ष कह चुके हैं जिसका उपाय वाक्यार्थज्ञान होने से उसके लिये आवश्यक पदार्थज्ञान के प्रयोजन से यह अध्याय उपनिषत् में आया है। पहले मंत्र में बताया है : जो प्रसिद्ध अद्वितीय शासक है वह अविद्यारूप महान् इंद्रजाल फैलाता है। वह अपनी विक्षेपरूप-शासनशक्तियों से सभी लोकों पर, दृश्यमात्र पर, शासन करता है। इस संसार में सब कुछ अनेक प्रकार का पैदा होने पर, (यथासमय) नष्ट होने पर तथा जन्म-नाश के मध्य—तीनों समय—वह शासक एक ही—एकरूप व अद्वितीय ही—रहता है। जो अधिकारी इस शासक को प्रत्यगात्मा समझ लेते हैं वे मृत्युरहित हो जाते हैं। नारायणाचार्य जालवान् का 'समूहवान्' भी अर्थ संभावित करते हैं। ईशनीनाम से वे ज्ञानशक्तियाँ-क्रियाशक्तियाँ समझते हैं क्योंकि शक्यभेद से शक्तिभेद व्यवहृत हो जाता है। 'उद्भव' से लय और 'संभव' से उत्पत्ति—यों भी समझ सकते हैं ऐसी उनकी व्याख्या है। उपनिषद्योगी कहते हैं कि उद्भव में अर्थात् सृष्टिदशा में वह उपादानप्रधान है और संभव अर्थात् लयदशा में निमित्तप्रधान। चकार से अभिप्राय है कि कार्यकारण की अपेक्षा से जो सविशेषता है वह बाधित होने पर निर्विशेष है। मंत्र में 'ईशनी' शब्द दो बार आने की उपपत्ति के लिये हमारे गुरुजी प्रथम बार 'ईश्वरी शक्ति' व दूसरी बार 'व्यक्त शक्ति' यों भेद बताते हैं। 'व्यक्त' शब्द से उनका अभिप्राय प्रतीत होता है व्यक्त उपाधियाँ ग्रहण करने पर प्रभावी शक्तियों से; क्योंकि स्वयं में तो शक्ति कभी व्यक्त नहीं होती, व्यक्त तो शक्य होता है। 'ईश्वरी शक्ति' से ज्ञान-इच्छा-क्रिया शक्तियाँ ग्रहण की गयी हैं। पुराण में समझते हैं :

जिस ईश्वर देव को पहले कारणरूप से, फिर योगद्वारा प्राप्तव्य रूप से कहा उसे हमेशा एक ही समझना चाहिये। संसार नामक इस जाल का वही मालिक है।।५२७।। उसकी निजी मायानामक समर्थ्य में विभिन्न शक्तियाँ हैं जो विभिन्न

१. 'य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः। य एवैक इहोद्भवे सम्भवे च य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति।।' ३.१।।

अन्तकाले ददद् दुःखं रुद्र एष प्रकीर्तितः। एक एव द्वितीयेन शून्य ईशः पुरेरितः।।५३०
सृष्टिं स्थितिं यथैवाऽयम् ईशनीभिः करोति हि। तथैव जगतो नाशमन्तकालमुपागते।।५३१
सञ्चुकोचात्मनो रूपं प्रत्यङ्क्षेषु व्यवस्थितः। गोप्ता विश्वमिदं सृष्ट्वा स्थावरं च चरं तथा।।५३२
यथा संहरते लूता तन्तून्निर्माय पालकः। आत्मन्येवमयं देवो रुद्र एकोऽवतिष्ठते।।५३३

उक्तमेव स्फुटयतो[1] द्वितीयस्यार्थं दर्शयति—अन्त्येति[2] चतुर्भिः। रुत्-पदोक्तं दुःखं प्राणिभ्यः अन्तकाले राति ददातीति रुद्रः। द्वितीयत्वयोग्यतया केनाऽपि भावेन अनवस्थानाद् एकपदोक्तश्च अयम् ईशो यथा जगतः सृष्टिस्थिती करोति तथा नाशम् अपि करोतीति द्वयोरर्थः।।५३०-१।। संचुकोचेति। ईशस्य अयमेव संसाराख्यो व्यापारो यत् सर्वान्तः स्थितत्वेन कार्याकारपरिणतस्य आत्मरूपस्य सङ्कोचनम् इति प्रथमदलार्थः। यथा लूताख्यः कीटः तन्तून् निर्माय तत्पालकः सन्नन्ते स्वस्मिंस्तान् संहरति तथा विश्वमयमपि। फलितमाह—रुद्र इत्यादिना। इति द्वयोरर्थः।।५३२-३।।

वस्तुओं के नियंत्रण में साधन बनती हैं। अकेला ईश्वर उक्त शक्तियों द्वारा इन सभी लोकों को अपने वश में रखता है। जो यह जानते हैं कि वही इस सारे जगत् को पैदा करने और बनाये रखने में समर्थ है वे जानकार अमर बताये गये हैं। (माया स्वयं शक्ति है, पुनः उसकी विभिन्न शक्तियाँ यहाँ कही हैं। 'मायाभिः' (बृ. २.५.१९) के भाष्यानुसार यहाँ 'ईशनी' से विभिन्न अभिमान समझने चाहिये जो माया रूप शक्ति और शक्यों के सम्बंध के व्यवस्थापक बनते हैं अर्थात् जिन अभिमानों के रहते ही माया से तत्तत् शक्य प्रकट होते हैं, अतः जिन्हें शक्य-सम्बद्ध होने से 'शक्ति' शब्द से लक्षित कर दिया है।)।।५२८।। उक्त परमेश्वर की वास्तविकता के साक्षात्कार के फलस्वरूप रागादि क्लेश मिट जाने से क्योंकि फिर जन्म ही नहीं होता—और जिनका जन्म नहीं हुआ उनकी मृत्यु कैसे हो सकती है !—इसलिये उसके जानकार अमर कहे गये हैं।।५२९।।

द्वितीय मंत्र में बताया कि परमात्मा रुद्र अर्थात् दुःखनाशक है। पूरी तरह दुःख मिटना बिना अविद्यानाश के सम्भव नहीं अतः रुद्र अविद्यानाशक है इसीलिये उसने स्थिति इस प्रयोजन से नहीं की कि कोई दूसरा रहे जिससे वह एक ही है ! यह अद्वितीय रुद्र वही है जो ईशनी नामक शक्तियों से इन लोकों पर शासन करता है तथा सबका अंतरात्मा है। हे जनों ! पहले सब भुवनों को सम्यक् उत्पन्न कर फिर इनका रक्षक रहकर अंतकाल आने पर वही इनका उपसंहार भी कर लेता है। भाष्य में 'न द्वितीयाय तस्थुः' पाठ है अतः ब्रह्मवेत्ता रुद्र से अन्य कुछ दूसरा नहीं स्वीकारते ऐसा अभिप्राय है। नारायण भी 'तस्थुः' पढ़कर इन्द्रादि देवता रुद्र से अन्य किसी का मुँह नहीं जोहते—यह अर्थ करते हैं। 'संसृज्य' से भी वे अध्यासरूप संबंध-प्राप्ति समझते हैं। विज्ञानभगवान् मानते हैं कि प्रमाण व न्याय रुद्र से अन्य किसी को सिद्ध नहीं करते। हमारे गुरु जी के अन्वयानुसार सृष्टि आदि के लिये 'रुद्र किसी दूसरे की अपेक्षा के लिये नहीं रुका' यह अर्थ है। वे 'तस्थे' पाठ के पक्षधर हैं। 'रुद्र सद्वितीय नहीं हुआ' ऐसा भी उन्होंने अभिप्राय माना है। पुराण में इस मंत्र का संक्षिप्तार्थ है :

उक्त परमेश्वर रुद्र कहा गया है क्योंकि अंतकाल में यह प्राणियों को दुःख देता है। पूर्वप्रतिपादित अकेला ही अद्वितीय ईश जैसे ईशनीशब्दित शक्तियों से सृष्टि व स्थिति करता है वैसे अंतकाल आने पर जगत् का नाश भी करता है। (मृत्यु और प्रलय में ही नहीं जब-जब भोक्ता, भोग्य या भोग का अंतकाल आता है तब-तब यही दुःख देता है ! परमात्मा आनंदरूप है तो सुखद होगा, दुःखद तो कोई अन्य होगा—इस शंका के समाधानार्थ यहाँ उसे रुद्र कहा। दूसरा कोई है ही नहीं अतः दुःख भी यही देता है। द्वितीय को सहन न करने से वह हमारे अभिमान को, अहंकार को मिटाता है जिसे हम अभी अत्यंत दुःखद स्थिति ही मानते हैं।)।।५३०-१।। अविषयरूप से निर्णीत सर्वपालक रुद्र

---

१. 'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः। प्रत्यग्जनास्तिष्ठति सञ्चुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोप्ता।।'३.२।।
२. 'अन्तेति' इति पठनीयम्।

अस्य सर्वत्र सर्वाणि ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि च। शरीराणि च सर्वाणि स्थावराणि चराणि च।।५३४
अयं सर्वमिदं विश्वं निर्मिमीते स्वमायया। महाभूतादिकं तद्वद् नित्यं भौतिकमेव च।।५३५
पतत्रैः पञ्चभिर्भूतैः सदा पतनशीलकैः। उत्पत्त्या च विनाशेन ग्रस्तत्वाद्विहगादिवत्।।५३६
भुजाभ्यामिव पुण्याख्यपापाभ्यां च महेश्वरः। भौतिकं सकलं विश्वं प्रलयान्तं सृजत्ययम्।।
द्यावाभूमी च जनयन् देव एकोऽत्र वर्तते।।५३७

तस्य प्रत्यक्त्वं सर्वस्रष्टृत्वं च स्फुटयतः[1] तृतीयस्यार्थमाह—अस्येति चतुर्भिः। सर्वाणि ज्ञानेन्द्रियादीनि सर्वान्तरस्य अस्यैव सन्ति।।५३४।। अयमिति। अयम् एव महाभूतद्वारा भौतिकं मायया सृजति।।५३५।। कथं महाभूतद्वारा भौतिकसृष्टिः? इत्याकांक्षापूरकस्य उत्तरार्द्धस्यार्थमाह—पतत्रैरिति। नवनवोत्पत्तिविनाशशालित्वलक्षणसाधर्म्येण पक्षिपक्षसमैः पञ्चभूतैः[2] बाहुसमाभ्यां पुण्यपापाभ्यां च सहितोऽयं विहङ्गवन्नीडसमं भौतिकजातं प्रलयपर्यन्तं सृजति। किं कुर्वन्? ऊर्ध्वाधोलोकविभागं कुर्वन्। परन्तु पक्षी स्वतो भिन्नं नीडादिकं करोति, अयं तु आत्मानमेव तथा करोति इति सूचयन्नाह—एक इत्यादि। इति द्वयोरर्थः।।५३६-७।।

का अपना रूप ही यह कार्यात्मक चर-अचर विश्व है जिसे वह उत्पन्न कर उपसंहृत कर लेता है। मकड़ी जाल पैदा कर, उसकी रक्षक रहकर स्वयं में ही उसे लीन कर लेती है; ऐसे ही यह रुद्र अकेला ही रहता है। (अर्थात् भेदोपलब्धि-दशा में भी क्योंकि सब उसी का फैलाव है इसलिये वह एक ही है। इसमें 'पटवच्च' (२.१.१९) सूत्र प्रमाण है।)।।५३२-३।।

तृतीय मंत्र सर्वात्मा को व्यक्त करता है: जो अद्वितीय स्वप्रकाश देव ब्रह्माण्ड के द्यु-भू नामक दोनों हिस्सों को उत्पन्न-स्थापित-संहृत करते हुए धर्म-अधर्मरूप दोनों बाहुओं से एवं पतनशील (पंचीकृत होने से भारशाली) महाभूतों से विविध शब्द करता है तथा सुख-दुःख देता है उसके चक्षु-मुख-बाहु-चरण आदि सभी तरफ हैं! अभिप्राय है कि दुनिया में जो भी चक्षुरादि हैं सभी उसीके हैं। 'विविध शब्द' अर्थात् तत्तत्कार्य के बोधक नाम। शंकरानंददीपिका में दो बाहुओं से धर्माधर्म लिये हैं, नारायण ने उपासना व कर्म और विकल्पतः ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति लिये हैं। भाष्यानुसार तो 'मनुष्यादि को बाहु आदि से संयुक्त करता है' यह अर्थ है। यही ब्रह्मयोगी का भी अर्थ है, वे 'पतत्र' से पैर समझते हैं। हमारे गुरु जी 'उत्पन्न कर जान फूँक देता है'—ऐसी व्याख्या करना चाहते हैं; चेतनों में जीवरूप से एवं जडों में सत्त्वस्फूर्तिरूप से प्रवेश प्रसिद्ध है। पुराण में समझाते हैं:

सभी जगह स्थित सभी चर-अचर शरीर और सभी ज्ञान-कर्म की इंद्रियाँ इसी सर्वान्तर आत्मदेव की हैं।।५३४।। यही हमेशा अपनी माया से इस सारे विश्व का निर्माण करता है जो विश्व महाभूतादिरूप व तत्कार्यरूप है।।५३५।। पक्षी अपने पंखों से उड़-उड़कर घोसला बनाता है। पंख नये-नये उत्पन्न होते रहते हैं यह मयूरादि अनेक पक्षियों में प्रत्यक्ष है। किंच पंखों में भार भी होता ही है। पंचभूत भी पंचीकृतदशा में भार वाले हैं और इनका नया-नया जन्म व नाश भी होता है; महाप्रलय में नाश व सृष्टि में जन्म, अथवा सुषुप्ति में प्रतिदिन सकल विलय होता है व जगने पर उत्पत्ति, अथवा दृष्टिसृष्टिपक्ष में इनका सदा जन्म व नाश होता रहता है। इसलिये महाभूत पक्षी के पंखों जैसे हैं। मनुष्य जैसे हाथों से घर आदि बनाता है ऐसे पुण्य-पाप के सहारे ईश्वर जगद्रचना करता है। द्यूलोक-भूलोक समेत सारे भौतिक संसार को प्रलय तक उत्पन्न करते हुए पैदा करने वाला यह एक महेश्वर देव ही यहाँ हमेशा है। तात्पर्य है कि महाभूत एवं अदृष्ट—इनकी योग्यतानुसार प्रपंचप्राकट्य के लिये ईश्वर अनुकूल है। 'प्रलय' नामक घटना की भी उत्पत्ति यही करता है; कालपर्यंत प्रतिक्षण को यही पैदा कर रहा है। अथवा 'द्यावाभूमि को पैदा करते हुए विश्व को पैदा करता है' यह अर्थ है। अर्थात् समष्टिसृष्टि के बाद व्यष्टिसृष्टि करता है। क्योंकि ब्र. सू. १.४.२३ के अनुसार वही जगत् का प्रकृतिशब्दित उपादान है इसलिये प्रपंचकाल में भी है वही अकेला। इन सभी प्रसंगों में परिणामिब्रह्मवाद से सावधान रहना चाहिये और स्वप्नादि उदाहरण याद रखने चाहिये।।५३६-७।।

१. 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः।।'३.३।

२. पतत्रैः परमाणुभिरिति केषांचिद्व्याख्यामालोच्य मूलकारैरत्र दीपिकायां परमाणुवादोऽखण्डि।

विश्वाधिकोऽत्र यो रुद्रो विद्यते नाधिको यतः। महर्षिः सर्वविज्ञानसम्पन्नो लोकभावनः।।५३८
देवानामग्निमुख्यानां वागादीनां तथैव च। उत्पत्तिस्थितिनाशानां कर्ता सर्वात्मको विभुः।।५३९
हिरण्यगर्भमीशानं जनयामास पूर्वजम्। स्थावराणां चराणां च सर्वेषां देहधारिणाम्।।
स देवः शुभया बुद्ध्या सदाऽस्मान् योजयन्निह।।५४०

चतुर्थादीनां[1] त्रयाणाम् एकवाक्यतयाऽर्थं दर्शयति—विश्वाधिक इति चतुर्दशभिः। यो रुद्रो विश्वाधिकः[2] महर्षिः सर्ववेदस्मर्ता, अत एव सर्वज्ञानसम्पन्नो देवादीनामुत्पत्त्यादिकर्ता च स्थावरादीनां च पूर्वजं हिरण्यगर्भं जनयामास स देवोऽस्मान् शुभया बुद्ध्या योजयन् सन्—इत्यर्थकानां त्रयाणां 'मयेति सम्प्रार्थित' इति दशमेन (५४७) अभिसम्बन्धः।।५३८-४०।।

चौथा मंत्र कहता है कि देवतारूप, उनकी उत्पत्ति-स्थिति-नाशरूप जो रुद्र है वह सबसे अतीत, महान् और अतीन्द्रिय ज्ञान वाला है। जगदुत्पत्ति से पूर्व उसी ने हिरण्यगर्भ (समष्टि ज्ञान-क्रियाशक्तिमान्) को पैदा किया था। वह हमें ब्रह्मविषयक निश्चय से संयुक्त करे। विज्ञानभगवान् 'देव' से दृश्यजात लेकर उन्हें प्रतिबिम्ब मानते हैं जिनका बिम्ब होने से ईश्वर को उनके जन्मादिका हेतु कहते हैं। प्रसिद्ध बिम्ब-प्रतिबिम्ब दृष्टांत से दृश्यगत सत्तादि को प्रतिबिम्ब समझना सरल होने पर भी नाम-रूप को प्रतिबिम्ब समझना कठिन है। अथवा प्रतिबिम्बतुल्य मिथ्यात्व अभिप्रेत समझना चाहिये। पुराणकार कहते हैं :

सद्रूप से उपलभ्यमान वस्तुओं में सर्वरूप व सर्वातीत जो रुद्र उससे अधिक कुछ नहीं है। समस्त लोगों को प्रसन्न करने वाला वही सभी विज्ञानों से भरा-पूरा है अतः महर्षि है।।५३८।। अग्नि आदि समष्टि एवं वाक् आदि व्यष्टि देवों के जन्म-स्थिति-भंग का कर्ता वही समस्तरूप व्यापक तत्त्व है।।५३९।। चराचर सब देहधारियों के पूर्वज हिरण्यगर्भ नामक सर्वसमर्थ को भी रुद्र ने ही पैदा किया था। हम प्रार्थना करते हैं कि वह देव हमें हमेशा शुभ बुद्धि वाला बनाये रखे।।५४०।।

पाँचवाँ मंत्र है : हे रुद्र ! हे पर्वत को सुख देने वाले ! आपका जो मंगल, अरौद्र और अपापप्रकाशक शरीर है उस सर्वाधिक सुखरूप शरीर से आप हमें सब तरफ से प्रकाशित करें। नारायण 'पापकाशिनी' पाठ मानकर 'पापनाशक' अर्थ करते हैं। उपनिषद्योगी सकल-निष्कल रूपों वाले रुद्र से अपना शिव अर्थात् निष्कल रूप दिखाने की प्रार्थना करते हैं। हमारे गुरु जी 'तन्वा' को 'छोट'-अर्थक तनुशब्द से जोड़कर 'एक अंतःकरण में प्रतीत हो जाना' रूप तनुभाव के आविर्भाव की अभिलाषा रखते हैं। पुराण में व्याख्या है :

हे रुद्र ! हे महान् शासक ! हे पर्वतस्वामी ! संसार में प्रसिद्ध श्रीगुरुरूप धारण किये हुए आपका मंगलमय शांतदर्शन शरीर है जो मोक्षोपायभूत विद्या के संप्रदाय का प्रवर्तन करने से पापों का आमूल हरण करता है। उस शरीर में आपका निजी आनंद सर्वाधिक व्यक्त होता है। मोह से बँधी आँखों वाले हम लोगों को आप उस शरीर से रोशनी दीजिये (ताकि हम सत्य देखें)। जैसे अंधों को आँखें देकर वैद्य प्रकाशित कर देता है वैस हमें इस गुरुशरीर का दर्शन करा दीजिये।।५४१-३।। (आँख मिलने पर सर्वप्रथम वैद्य ही दीखता है ऐसे ही ईश्वर की गुरुमूर्ति उपलब्ध हो ऐसी दृष्टि की याचना है।)

सप्तम मंत्र में पुनः प्रार्थना है—पर्वतों के लिये सुखद ! भक्तरक्षक ! पापियों पर छोड़ने के लिये आपने जो बाण हाथ में धारण किया है उसे मंगलमय बनाइये, स्थावर-जंगम रूप जगत् क्योंकि पुरुष का (आपका) ही रूप है इसलिये हिंसा मत कीजिये। उपनिषद्योगी की माँग है कि जब तक मुझे सम्यग्ज्ञान सिद्ध न हो जाये तब तक गुरु, वेदांत आदि तथा शमादियुक्त मेरा संघात नष्ट न हो। बाण से हमारे गुरु जी विषय समझते हैं और 'हाथ में' का अभिप्राय

१. 'यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः। हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु।।'३.४।।
२. आधिक्यमुत्कर्षः परमार्थसत्त्वात्मकः। विश्वाधिप इति भाष्यम्।

ईशप्रार्थना

तव रुद्र ! तनुर्याऽत्र प्रसिद्धा मङ्गलात्मिका। सौम्यरूपाऽथ पापानां हारिणी गुरुरूपिणी ।।५४१
तया तन्वा महेशान ! स्वानन्दतमयाऽपि च। अस्मान् मोहपिनद्धाक्षान् गिरीश ! त्वं प्रकाशय ।।५४२
यथा नयनदानेन ह्यन्धान् वैद्यः प्रकाशयेत्। अस्मान् प्रति तथैवैनां प्रकाशय गुरोस्तनुम् ।।५४३
कामक्रोधादिलोहाङ्गीं नारीं वैर्यादिबालिकाम्। अप्रसिद्धातिरूपां यां बिभर्ष्यत्र सदा भवान् ।।५४४
संसाररूपमापन्नो हस्ते मोक्षाय सर्वदा। संसारचक्रपाताय प्राणिनां तां शिवां कुरु ।।५४५
माऽनया भगवन् ! हिंसीर्जगत् पुरुषरूपकम्। मा वाऽस्यान्तः स्थितं तद्रूपं परमैश्वरम् ।।५४६

ईश्वरप्रार्थनापरस्य 'या ते'[1] इत्यादिमन्त्रयुगलस्य अर्थः प्रदर्श्यते—तवेति सप्तभिः। महादेवस्य द्वे मूर्ती—सात्त्विकी, तमसी च। तयोराद्या प्रथममन्त्रेण स्तूयते। तथा हि हे रुद्र ! या ते[2] सौम्यरूपा तनुः गुरुरूपिणी मोक्षसाधनविद्यासम्प्रदायप्रवर्तिका वर्तते तया तन्वाऽस्मान् मोहान्धान् प्रकाशवतः कुरु। इति द्वयोः सम्बन्धः।।५४१-२।। उक्तं दृष्टान्तेन स्फुटयति यथेति। गुरोः विद्याप्रवर्तकस्य तव या तनुः तां प्रकाशय दर्शयेत्यर्थः।।५४३।। अथ द्वितीयां तामसीमभिप्रेत्य प्रार्थनापरस्य[3] द्वितीयस्यार्थमाह—कामेत्यादिना। हे गिरिशन्त ! गिरिशत्वे सति अन्त ! संहारक ! शकन्ध्वादिः। यां द्वितीयां तनुं नारीरूपां तामसीं हस्ते स्वैकदेशे बिभर्षि धारयसि; कस्मै ? मोक्षाय पापिषु प्रक्षेपाय। कीदृशाय ? प्राणिनां संसारगर्तपातात्मकाय; ताम् अस्मान् प्रति शिवां शुभावहां कुरु इत्यन्वयः। कीदृशीं द्वितीयां तनुम्? कामक्रोधात्मकं यल्लोहं तन्मयीम्। अत्र लोहाङ्गीपदेन श्रौतेषुपद-सूचितं प्रहारसाधनशस्त्रतुल्यत्वं दर्शितम्। तस्या अतिदुःखदत्वसूचनाय विशेषणम्—वैर्यादिबालिकामिति। यथा वैरिणः, आदिपदग्राह्यराक्षसादेर्वा बालिका कन्या दुःखदा भवति तादृशीमिति। अथवा—इषुतुल्यत्वस्फुटी करणाय वैर्यादीनां 'वारिकाम्'—इति रलयोः सावर्ण्याद् उक्तम्—अत एव अप्रसिद्धम् अतिभयानकं रूपं यस्याः सा तथा। ईश्वरस्य तादृशरूपधारणमेव कुतः ? इति शङ्कां वारयन्नाह—संसाररूपमापन्न इति। यतो भवान् अज्ञानां संसाररूपेण भासमान इत्यर्थः। पापिनः प्रति दुःखहेतुत्वम् ईश्वरस्य भगवद्गीतासु अप्युक्तम् 'तानहं द्विषत' (१६. १९) इत्यादिना। इति द्वयोरर्थः।।५४४-५।। माऽनयेति। हे भगवन् ! अनया कामादिमय्या तामस्या नार्याकारया मूर्त्या पुरुषरूपं जगत् मा हिंसीः प्रमादलक्षणं मृत्युं मा प्रापय। अथ वा पुरुष-पदोक्तम् ऐश्वरं रूपं मा हिंसीः मा प्रच्छादयेत्यर्थः।।५४६।।

बताते हैं कि प्रारब्ध उनके हाथ से छोड़ा जा चुका है, उससे अन्य कर्म निवृत्त करने की प्रार्थना है। पुराण में बताते हैं :

पर्वतशायी होते हुए संहारकारक ! जो नारी काम-क्रोधादिरूप लोहे से बनी है, दुश्मन राक्षस आदि की कन्या की तरह दुःखद है और शत्रु आदि के निवारणार्थ भीषण रूप वाली है ऐसी जिस अतिभयानक रूप वाली नारी को पापियों को संसाररूप में भासमान आप अपने हाथ में हमेशा इसलिये धारण किये रहते हैं कि उसकी मार से प्राणियों को संसारचक्र में गिराया जाये, उसे हमारे प्रति शुभ बना दीजिये। हे भगवन् ! इसके द्वारा पुरुषरूप जगत् की प्रमादपात रूप हत्या मत कीजिये तथा पुरुष के भीतर स्थिर परम ऐश्वर रूप का प्रच्छादन मत कीजिये।।५४४-६।। (पूर्व में शिव के सात्त्विक शरीर से प्रार्थना थी जब कि यहाँ उनके तामस शरीर से प्रार्थना है। यहाँ नारी से कामादि वृत्तियाँ और उनसे प्रेरित चेष्टायें समझनी चाहिये। ईश्वर ही गलतफहमी से दीखने पर उक्त नारीरूप प्रतीत होता है। भगवान् का यह दुःखद रूप गीता (१६.१९) में भी कहा गया है। तामस प्रवृत्ति से प्रमाद होने पर शमादि असंभव रहते प्रत्यगात्मा आच्छादित ही रह जाता है, वैसा न हो यह प्रार्थना है।)

१. 'या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी। तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीः।।'३.५।।
२. गुरोर्जीवतो मुक्तस्येश्वरत्वं विनोपलब्धेरनुपपन्नतया तद्रूपतैव शक्यसमर्थनेति साम्प्रदायिकानां पन्थाः।
३. 'यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे। शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्।।'३.६।।

स्तुतिफलम्

इति सम्प्रार्थितो देवो मया पूर्वं महेश्वरः। कामक्रोधादिरहितस्ततोऽहं स्वगुरोस्तनुम्।।५४७
दृष्टवान् देवदेवस्य रुद्रस्य शिवरूपिणीम्। तद्दर्शनादहं जातः कृतकृत्यो यतीश्वराः।।५४८
अपुत्रोऽत्र यथा पुत्रं सम्प्राप्य धनिको गृही। यथा वा कामुकः कान्तां सम्प्राप्यात्ममनःस्थिताम्।।
यथा वा कृपणो लुब्धः प्राप्य नष्टं महाधनम्।।५४९
तया तन्वा मम कृत उपकारो यतीश्वराः। यस्तस्य नैव पश्यामि काञ्चनापचितिं भुवि।
दिवि वाप्यन्यलोके वा कर्तुं जन्मशतेन वा।।५५०
अतः शिवतमामेतामानन्दात्मस्वरूपिणीम्। तनुं रुद्रस्य सम्प्राप्य भवन्तोऽपि यतीश्वराः।।
कृतकृत्या भविष्यन्ति मद्वदत्र न संशयः।।५५१

गुरूपदेशः

इदमुक्तवती मह्यं रौद्री शिवतमा तनुः। अस्मात् संसारचक्राद्यत् परतोऽस्ति सकारणात्।
तत् त्वं ब्रह्म न संसारी मा दुःखं व्रज पुत्रक।।५५२

अनेन मन्त्रत्रयेण कृता स्तुतिरन्तःकरणशुद्ध्यादिद्वारा कृतकृत्यताहेतुरिति दर्शयति—इति सम्प्रार्थित इति पञ्चभिः। एवं यदा मया देवः प्रार्थितस्तदा अहं कामादिरहितः सन् देवस्य गुरुमयीं मूर्तिं दृष्ट्वा कृतकृत्यो जातः। इति द्वयोः सम्बन्धः।।५४७-८।। कृतकृत्यत्वहेतुतया दुर्लभलाभं सूचयन् दृष्टान्तत्रयम् आह—अपुत्र इति। आत्ममनःस्थिताम् ध्याताम्।।५४९।। तया भगवन्मूर्त्या गुरुरूपया य उपकारः कृतः तत्प्रत्युपकारः कथंचिदपि कर्तुं न शक्य इत्याह[1]—तयेति।।५५०।। अतो भवद्भिरपि सा मूर्तिः उक्तस्तुतिद्वारा द्रष्टव्या कृतकृत्यत्वाय इत्याह—अत इति। स्पष्टम्।।५५१।।

ईशानुग्रहादेव निर्गुणं ज्ञानं भवतीति दर्शयन् सप्तमार्थमवतारयति—इदमिति द्वाभ्याम्। सा गुरुरूपा रुद्रस्य मूर्तिः मह्यम् एवम् उपदिष्टवती। 'एवं' कथम् ? हे सौम्य ! यत्समूलकारणात् संसारात् परं ब्रह्म तद् एव तव रूपम्, त्वं संसारी न असीति।।५५२।। अनेकैरिति। उक्ताकारया तद्गिरा तस्य रुद्रस्य गुरुमूर्तेः उक्त्या नाना-

हे यतियो ! पहले मेरे (श्वेताश्वतर के) द्वारा महेश्वर देव की यों प्रार्थना किये जाने पर उनकी कृपा से काम-क्रोध आदि प्रतिकूल वृत्तियों से रहित हुआ महादेव रुद्र का कल्याणकारी रूप जो मेरे गुरु का शरीर उसका मुझे दर्शन हुआ जिससे मैं कृतकृत्य हो गया।।५४७-८।। पुत्रहीन धनी गृहस्थ जैसे पुत्र पाकर, अपने मनमें संकल्पित कामिनी को पूरी तरह पाकर कामुक, कंजूस लोभी नष्ट हुए अत्यधिक धन को पाकर जैसे कृतकृत्य होते हैं ऐसे मैं गुरुलाभ से हो गया। (नष्ट हुआ अर्थात् जिसके बारे में माना जा चुका था कि डूब गया है।)।।५४९।। हे श्रेष्ठ संन्यासियो! उस गुरुमूर्ति ने मेरा जो उपकार किया उसका प्रत्युपकार इस लोक या परलोक में सैकड़ों ज़न्मों में भी नहीं किया जा सकता।।५५०।। अतः इसमें संशय नहीं कि मेरी तरह आप सब भी स्तुतिपूर्वक रुद्र के आनंदात्मक सर्वाधिक कल्याणमय गुरुरूप का संनिध्य पाकर कृतकृत्य हो जायेंगे।।५५१।।

सातवे मंत्र में बताया है : हिरण्यगर्भ से परे है ब्रह्म जो देशादिपरिच्छेदों से सर्वथा रहित है। सब प्राणियों के जैसे भी शरीर हैं वैसे ही उन सबमें वह छिपा है। 'तत्त्वमसि'-ज्ञान से वही चराचर जगत् का उपसंहार करता है क्योंकि 'इसी से यह ही होता ही है' आदि नियमों का वही कर्त्ता है। उस ब्रह्म को 'मैं हूँ' समझकर (साधक) मरणशून्य हो

१. पूर्वं २.८९ आदौ पुराणे गुरुमहिमाऽऽवेदितः।

अनेकैः संशयैः शून्यस्तदाऽहं तद्गिराऽभवम्। नानायुक्तिसहस्रेण युक्तया च मनोज्ञया।।५५३
ततस्तस्य प्रसादेन तस्मात् संसारजालतः। अपश्यं परमीशानं ब्रह्मानन्दात्मरूपकम्।।५५४
परं ब्रह्म न यस्मात् स्यात् किञ्चिदभ्यधिकं त्विदम्। नितरां यस्य कायोऽयं विकायस्य महात्मनः।।
महाभूतानि सर्वाणि मायया सहितानि च।।५५५
यादृशो यस्य कायोऽयं वर्तते देहधारिणः। तादृग्रूपं स्थितं तस्य वर्तते गगनोपमम्।।५५६

युक्त्युपेतया अहं निःसंशयो जातः।।५५३।। तदुपदिष्टब्रह्मतत्त्वाभिनयपरः सप्तमो[1] मन्त्र इति सूचयन् तदक्षरार्थमाह—तत इति षड्भिः। तस्य रुद्रस्य प्रसादेन ततः संशयादिप्रतिबन्धापायात् संसारात् परं ब्रह्म अपश्यमिति।।५५४।। परमिति। पर-ब्रह्मपदाभ्यां समानाधिकरणाभ्यां सर्वातिशय उच्यते, बृहत्पदेन च तत उत्कृष्टं किंचिद् नास्तीत्युच्यते; श्रुतौ यथानिकाय-पदेन च यथादृश्यानि सकारणपञ्चभूतानि शरीरभूतानि यस्य इति उच्यत इत्यर्थः।।५५५।। अथ वा 'समः प्लुषिणा समो मशकेन' (बृ. १.३.२२) इति श्रुत्यनुसाराद् यस्य देहिनो यादृशो देहस्तादृशरूपेण स्थितम् इति यथानिकायपदार्थ इत्याह—यादृश इति। तस्य काये—इति सम्बन्धः।

जाते हैं। 'ततः' से हिरण्यगर्भ शंकरानंदस्वामी ने लिया है। भाष्य में पुरुषयुक्त जगत् से अथवा विराट् से परे—अर्थ है। नारायणाचार्य 'योग व उपासना सिद्ध होने के बाद' तथा उपनिषद्योगी 'देवकृपा से' अर्थ करते है। परिवेष्टिता से 'ज्ञानद्वारा निवर्तक' शंकरानंदजी, 'रक्षक होने से किले की तरह घेरे रखने वाला' नारायण, 'स्वात्मा रूप से सबको व्याप्त करने वाला' भाष्यकार एवं 'जैसे स्वमायाजनित मायाकार्यों को मायावी घेरे रहता है वैसे बाहर-भीतर से विश्व को व्याप्त करने वाला' उपनिषद्ब्रह्मयोगी समझते हैं। 'यथानिकाय' का शंकरानंदीयार्थ है जो शरीर जैसा है वैसा ही ब्रह्म के छिपने की जगह बन जाता है अर्थात् सबमें तो छिपता ही है, जिसमें छिपता है उससे अतिरिक्त और किसी उपाधि का ग्रहण कर नहीं छिपना पड़ता वरन् वही उसकी भी उपाधि हो जाता है। इस संदर्भ में बृहदारण्यक-अन्तर्यामीब्राह्मण के भाष्यादि का अनुसंधान कर लेना चाहिये। नारायणविश्वकोष से 'निकाय' को परमात्मवाचक एवं 'यथा' को 'यथार्थभूत'-अर्थक मानते हैं अतः 'सत्य परमात्मा'—यह उनको स्वीकृत अर्थ है। इसी के अनुसार 'यथा' से 'सभी प्रकार' समझकर हमारे गुरु जी अर्थ करते हैं 'जो कुछ भी, जहाँ भी, जिससे भी, जिस प्रकार भी अनुभव में आता है सब परमात्मा ही है'। किंच वे 'यथानिकायं ब्रह्म' और 'सर्वभूतेषु गूढं ब्रह्म' यों सम्बंध जोड़कर पहले कार्य-करण संघात का ईश्वर से अभेद, फिर जीव से ईश्वर का अभेद कहा है ऐसी व्याख्या करते हैं। पुराणकार तो ईश्वरानुग्रह से ही निर्गुणज्ञान होता है यह दिखाते हुए इस मंत्र की व्याख्या करते हैं :

प्रार्थना से प्रसन्न परमेश्वर के प्रसाद से जिसका मुझे दर्शन प्राप्त हुआ वह रुद्र का सर्वाधिक कल्याणकारी शरीर है (जो हर अधिकारी को ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरुरूप से उपलब्ध होता है)। उस मूर्तिने मुझसे कहा 'बेटा ! कारण समेत इस संसारचक्र से परे जो ब्रह्म वह तू है, संसारी नहीं। दुःखी मत हो।'।।५५२।। अनेक हज़ारों तरह से उन्होंने यह बात कही जो मन-बुद्धि दोनों को जँची अतः उनकी वाणी से मेरे अनेक (सभी) संशय मिट गये।।५५३।। उनकी कृपा से संशय आदि प्रतिबंधक हट जाने से उस संसारजाल से परे आनन्द-प्रत्यग् रूप वाले सर्वशास्ता ब्रह्म को मैंने (श्वेताश्वतर ने) देख लिया।।५५४।।

यही परम व्यापक आत्मा है जिससे उत्कृष्ट और कुछ नहीं है। माया सहित सारे भूत—यही उसका पूरा शरीर है यद्यपि वह महान् आत्मा वास्तव में अशरीर ही है।।५५५।। जिस देहधारी का जैसा यह शरीर है उसके शरीर में वैसे ही रूप वाला परमात्मा वर्तमान रहता है क्योंकि वह आकाश-सा है। (जैसे घट-शराव आदि चाहे जैसे छोटे-बड़े रूप का पात्र हो वैसे ही रूप का आकाश उसमें उपस्थित हो जाता है उसी तरह आत्मा भी सब शरीरों में स्थित हो

१. 'ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम्। विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति।।'३.७।।

सर्वभूतेषु सततं गूढत्वाद् न प्रकाशते। यथा सर्वेषु काष्ठेषु वह्निरन्तरवस्थितः।।५५७
विश्वस्यास्य समग्रस्य वेष्टको यः समन्ततः। तन्तूनां यादृशी लूता जीवत्वाप्तस्वरूपिणाम्।।५५८
तमेवमीश्वरं ज्ञात्वा भवन्ति मरणादिना। रहिता येऽत्र विद्वांसः प्राप्ताः शिवतमां तनूम्।।५५९

मुक्तानुभूतिः

पुरुषं तमहं जाने महान्तं सर्वदेहगम्। स्वयंज्योतिषमात्मानं मायायाः परतः स्थितम्।।५६०
तमेव पुरुषं सर्वो विदित्वा स्वगुरोर्मुखात्। मृत्युमत्येति संसारं सर्वदुःखौघकारणम्।।५६१
आत्मविज्ञानतो नान्यः पन्था मुक्तिपुरं प्रति। गमनाय ततस्तेन कर्तव्यं तद्यतीश्वराः।।५६२

।५५६।। 'गूढ'- पदार्थमाह—सर्वेति। स्पष्टम्।।५५७।। 'परिवेष्टितृ'-पदार्थमाह—विश्वस्येति। जीवत्वम् आप्तं प्राप्तं स्वरूपं येषां तेषां जीवानां जडवर्गस्य च यो वेष्टकः तान् वेष्टयित्वा तदन्तरवस्थाता तन्तूनां यथा लूताख्यकीटो वेष्टकस्तथेत्यर्थः।।५५८।। तमेवेति। ये शिवतमां गुरुमूर्तिं प्राप्य तम् ईश्वरं जनन्ति ते मरणादिरहिता भवन्ति इति।।५५९।।

मन्त्रदर्शिन ऋषेः आत्माऽपरोक्षानुभवं मोक्षस्य ज्ञानैकलभ्यत्वं च अभिनयतोऽष्टमस्यार्थं दर्शयति—पुरुषमिति त्रिभिः। तं वर्णितरूपं मायायाः तमोरूपायाः परम्।।५६०।। तमेवेति। सर्वोऽधिकारी तं ज्ञात्वैव संसाररूपं मृत्युमत्येति अतिक्रम्य गच्छतीति।।५६१।। आत्मेति। यत आत्मज्ञानाद् भिन्नो मोक्षगमनाय मार्गो नास्ति ततः तद् आत्मज्ञानं कर्तव्यं पुरुषेण श्रवणादिद्वारा सम्पाद्यमित्यर्थः।।५६२।।

जाता है।)।।५५६।। जैसे सभी लकड़ियों में भीतर वह्नि मौजूद है (पर जब तक ज्वालाकार न ले तब तक दीखती नहीं) वैसे सभी भूतों में ब्रह्म सदा छिपा है लेकिन (ब्रह्माकारवृत्ति के बिना) प्रकाशमान नहीं होता।।५५७।। जैसे मकड़ी अपने द्वारा रचे जाल को घेरे रखने वाली होती है ऐसे जीवता ही जिनका प्राप्त स्वरूप है उन जीवों को एवं सारे विश्व को जो हर ओर से घेरे रखने वाला है उस ईश्वर को ही जानकर वे विद्वान् मरण आदि संसारधर्मों से रहित हो जाते हैं जो सर्वाधिक कल्याणकारी गुरु-शरीर का नैकट्य पा लेते हैं।।५५८-९।। ('ईश्वर को ही' अर्थात् ईश्वर से अन्य जीव-जगत् का बाध कर अद्वैत चैतन्य को।)

अष्टममंत्र में ऋषि बताते हैं कि अविद्या से परे स्वयंप्रकाश सर्वाधिक परिपूर्ण इस ब्रह्म को मैं जानता हूँ। इसे ही जानकर (साधक) आवरणशक्ति को लाँघता है। संसार-समुद्र से तरने का और कोई उपाय नहीं है। 'अतिमृत्यु' जो ब्रह्म उसे 'एति' जाता या जानता है ऐसी उपनिषद्योगी की व्याख्या है क्योंकि 'विदित्वा' से ज्ञेय ब्रह्म का ज्ञान ही हुआ है जिससे अविद्या हटी, जो बचा हुआ ब्रह्म है वही 'अतिमृत्यु' है जिसके निर्वृत्तिक स्वरूपज्ञान को 'एति' से कह रहे हैं। पुराण में समझाते हैं :

सभी शरीरों में प्रविष्ट-सा लगने वाला व्यापक स्वप्रकाश प्रत्यक् जो माया से परे स्थित है उस पूर्ण तत्त्व को मैं जानता हूँ।।५६०।। सभी अधिकारी अपने गुरु के मुँह से उसी पुरुष को जानकर समस्त दुःखसमूह के कारणभूत संसाररूप मृत्यु को लाँघकर जाते हैं।।५६१।। हे यतीश्वरो ! क्योंकि अद्वैतात्मानुभव से अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं जो मुक्ति श्रीनगर तक पहुँचाता हो इसलिये मुमुक्षु को चाहिये कि शमादियुक्त हो श्रवणादि द्वारा ज्ञान सम्पन्न कर ले।।५६२।।

नवे मंत्र में उस आत्मा का रूप बताया जिसे जानने से मोक्ष होता है—जिससे उत्कृष्ट, अपकृष्ट, बड़ा या छोटा कुछ नहीं है जो पेड़ की तरह स्वगत भेद वाला नहीं है, स्वतः निश्चल है, सभी भेदों से रहित हुआ अपने प्रकाशस्वरूप से ही रहता है उस एक आत्मपुरुष से यह विश्व भरा हुआ है। नारायणाचार्य 'दिवि' से स्वर्ग समझते हैं जब कि विज्ञानभगवान् अखण्डाकारवृत्ति समझते हैं। हमारे गुरु जी 'स्तब्ध' का अभिप्राय बताते हैं कि 'ईश्वर ही जीवरूप से अपनी माया के विस्तार को देखकर किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है' अतः स्तब्ध है। पुराण में इससे ईश्वर की अद्वितीयता को विशद किया है :

---

१. 'वेदाऽहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।'३.८।।

यस्मादभ्यधिकं किञ्चिद् नान्यदस्ति महात्मनः। ज्यायस्तद्वदणीयश्च पुरुषाद् विश्वरूपिणः।।५६३

शतशाखो यथा वृक्षः सन्निरुध्यावतिष्ठते। एवं स्वयंप्रकाशेऽस्मिन् स्वरूपे समवस्थितः।
एकस्तेनेदमखिलं पूर्णं पुरुषरूपिणा।।५६४

वायुशून्ये यथा देशे निबिडो बहुपर्णवान्। स्तब्धो वृक्षो भवेदेकस्तद्वदेकः पुमानयम्।।५६५

ज्ञेयं ब्रह्म

यद्यप्येष भवेद्विश्वं कार्यमेतच्चराचरम्। हिरण्यगर्भश्च तथा तथाप्येष मुमुक्षुणा।।५६६

न ज्ञेयः किन्तु तस्माद्यद् उत्तरं परतः स्थितम्। रूपं तदेव विज्ञेयं न कार्यं ब्रह्म कर्हिचित्।।५६७

ईशस्याऽद्वितीयतां विशदी कुर्वतो[1] नवमस्यार्थं निरूपयति—यस्मादिति। यस्माद् अधिकं ज्यायः प्रशस्तम् अणीयः सूक्ष्मं च नास्ति विश्वात्मत्वात्।।५६३।। शतेति। यथा बहुशाखो वृक्षो भूयांसमवकाशं संनिरुध्य व्याप्य तिष्ठेत् तथाऽयमपि विश्वं व्याप्य दिवि स्वप्रकाशस्वरूपेऽवस्थितः।।५६४।। वृक्षदृष्टान्तमेव स्फुटयति—वाय्विति। निबिडो घनशाखः, स्तब्धोऽनम्रः, एक आलम्बनाय लतादिवत् परानपेक्षः।।५६५।।

मुमुक्षुणा निर्गुणमेव आत्मतत्त्वं ज्ञेयमिति बोधयतो[2] दशमस्यार्थमाह—यद्यपीति पञ्चभिः। यद्यप्येष आत्मा चराचरविश्वशरीरकविराड्रूपः, सूक्ष्मसमष्ट्युपाधिकहिरण्यगर्भरूपश्च भवति तथापि एतत्कार्योपाधिकं रूपम् उपासनामात्रोपयोग्येव, न ज्ञेयं किन्तु तस्मात् कार्योपाधिकात् परं यत् तत्त्वं तदेव ज्ञेयम्—आवरणभञ्जकधी-वृत्तिगोचरी कार्यम्। इति द्वयोरर्थः।।५६६-७।। तत्र हेतुमाह—कार्य इति। यस्मात् कार्ये ब्रह्मणि हिरण्यगर्भादौ

विश्वरूप इस महात्मा पुरुष से किसी भी तरह अधिक, प्रशस्त (बेहतर), सूक्ष्म और कुछ नहीं है।।५६३।। जैसे सैकड़ों शाखाओं वाला वृक्ष सब ओर की जगह घेरे रहता है ऐसे ही इस स्वप्रभ स्वरूप में यह अकेला ही पूर्णतः मौजूद है। 'यह' यों विषयरूप से समझा जा सकने वाला सब उस पूर्णात्मा से भरा है।।५६४।। जहाँ हवा न चल रही हो वहाँ घनी शाखाओं वाला तथा पत्तों से लदा बिना किसी अन्य सहारे वाला वृक्ष निश्चल रहता है, उसी तरह यह अद्वितीय पुरुष निश्चल है।।५६५।।

दसवा मंत्र कहता है—हिरण्यगर्भ से अत्यधिक परे जो परिपूर्ण, रूपादिरहित निरविद्य तत्त्व है उसे जो अधिकारी जानते हैं वे अमर होते हैं जब कि उससे बेख़बर अहंकारी दुःख में ही डूबे रहते हैं। 'ततः' से मूर्त, जगत्, हिरण्यगर्भ क्रमशः नारायण, भाष्य, शंकरानंदीय में लिये हैं एवं उपनिषद्योगी ने हेत्वर्थक माना है—'क्योंकि ब्रह्ममात्र के ज्ञान से ही कैवल्य होता है इसलिये'। 'उत्तरतर' पर विज्ञानभगवान् ने चिन्तन किया है। पुराण में निर्गुण आत्मा ही मुमुक्षुद्वारा ज्ञातव्य है इस तात्पर्य से समझाते हैं :

यद्यपि यह आत्मा ही चराचर कार्यात्मक विश्व अर्थात् विराट् रूप से उपलब्ध है तथा सूक्ष्म समष्टि उपाधि वाले हिरण्यगर्भरूप से भी इसकी संकल्पना संभव है तथापि क्योंकि ये रूप केवल उपासनायोग्य हैं, अविद्यानिवर्तक नहीं, इसलिये मुमुक्षु को स्थूल-सूक्ष्म कार्यों की उपाधि वाले रूप को समझने में नहीं उलझना चाहिये वरन् इससे परे जो तत्त्व स्थित है वही अनावृत करना चाहिये।।५६६-७।। सूक्ष्म व स्थूल उपाधि वाले हिरण्यगर्भ और विराट् कार्य ब्रह्म कहलाते हैं जिनमें शब्दप्रपंच, अर्थप्रपंच व क्रियाप्रपंच—ये तीन ही उपलब्ध होते हैं और ये तीनों आमय अर्थात्

---

१. 'यस्मात्परं नाऽपरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाऽणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।।'३.९।।

२. 'ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्। य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवाऽपि यन्ति।।'३.१०।।

कार्ये ब्रह्मणि यस्मात् स्याद् रूपं नाम च कर्म च। सामयं तत एवैतद् नाशकारणवत्त्वतः।।५६८
हिरण्यगर्भतो यत् स्याद् उत्तरं परतः स्थितम्। एतन्मुमुक्षुभिर्ज्ञेयं स्यादरूपमनामयम्।।५६९
ये जानन्तीदमात्मस्थं ते भवन्त्यमृताः सदा। अन्ये संसारमासाद्य दुःखमेवाभियान्ति च।
य एततं स्वात्मसंस्थानं रूपं जानन्ति न क्वचित्।।५७०

ब्रह्म पूर्णम्

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतहृदि स्थितः। सर्वव्यापी च भगवान् आत्मा यस्माच्छरीरिणाम्।।
आनन्दात्मस्वरूपः संस्तस्मात् सर्वगतः शिवः।।५७१
स्वयंज्योतिःस्वरूपेऽस्मिन्नानन्दात्मनि निर्द्वये। भवेदमङ्गलं केन तस्य हेतुश्च नास्ति यत्।।५७२

नाम शब्दप्रपञ्चो रूपम् अर्थप्रपञ्चः कर्म क्रियाप्रपञ्च एतत् त्रयमेव दृश्यते, तच्च त्रयं सामयम् आमयेन आर्त्या युक्तम्; कुतः ? विनाशस्य बाधस्य कारणं प्रयोजकं यन्मिथ्यात्वं तद्वत्त्वात्; तथा च श्रुत्यन्तरम् 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ. ३.४.२) इति। अतः[1] चिदात्मनः। एतेन तुल्ययुक्त्याऽव्याकृतेऽपि मिथ्यात्वं सूचितमिति।।५६८।। हिरण्येति। हिरण्यगर्भाद् उत्तरम् अव्याकृतं, ततः परं शुद्धं यत् तदेव ज्ञेयमिति।।५६९।। तद्विज्ञानस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यां मोक्षहेतुतामाह—ये जानन्तीति। स्वात्मसंस्थानं 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितम्' (छां. ७.२४.१), सर्वान्तरं वा।।५७०।।

अथेश्वरस्य सर्वान्तरतान्यथानुपपत्त्या पूर्णतां विशदयतामेकादशादीनामर्थः[2] प्रदर्श्यते—सर्वाननेत्यादिना। यतः सर्वाणि आननादीनि यस्य स तथा। सर्वहृदि स्थितः, सर्वस्यात्मा च भवति ततः शिवः सर्वगतः पूर्णः।।५७१।। शिवेति नामैव तस्य संसारधर्माभावमाहेति दर्शयति—स्वयमिति। अमङ्गलं शोकादि यतः तस्य शोकस्य हेतुः अविद्या नास्ति इति।।५७२।।[3] द्वादशार्थमाह—महतोऽपीति। महत आकाशादेः सकाशाद् महान्। नव द्वाराणि

आर्ति से युक्त हैं क्योंकि ये मिथ्या होने से बाधयोग्य हैं। इस प्रकार कार्यब्रह्म आर्ति के (दुःख के) क्षेत्र में ही है।।५६८।। हिरण्यगर्भ से परे है अव्याकृत, कारणोपाधिक और वह भी कार्यापेक्ष होने से सामय ही है अतः, उससे भी परे जो शुद्ध है, जो नाम-रूप-कर्म से अपरामृष्ट है उसे ही जानना मुमुक्षुओं के लिये उचित है।।५६९।। जो उसे आत्मरूप से स्थित जानते हैं वे हमेशा अमर होते हैं। जो उसे नहीं जानते वे संसार में रहकर दुःख ही पाते हैं। अपनी ही महिमा में उपलब्ध सर्वान्तर के जानकार कभी दुःखी नहीं होते।।५७०।।

ग्यारहवें से तेरहवें मंत्र तक परमात्मरूप बताकर उसके ज्ञान से कल्याण कहा है—

क्योंकि सभी मुँह, सिर, गले इत्यादि उसी के हैं और सभी प्राणियों की बुद्धिगुहा में वही रहता है तथा जड-चेतन सभी को व्याप्त किये है एवं व्यापन भी उससे अलग है नहीं इसलिये समग्र ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य-धर्म-यश-श्री वाला सर्वत्र उपस्थित आत्मदेव स्वप्रकाशानंदरूप होने से मंगल है। (११)। यह सर्वाधिक मंगल, समर्थ, प्रसिद्ध, परिपूर्ण आत्मा ही उस अंतःकरण को प्रवृत्त करता है जिससे अविद्यामलरहित स्वप्रकाशानंदरूप विद्वत्प्रत्यक्ष शांति मिलती है। यह सर्वनियामक, स्वप्रभ, अविनाशी है। (१२)। जन्मधारियों के हृदयकमल में हमेशा घुसा बुद्धिसाक्षी आत्मपुरुष (अपनी उपाधिभूत बुद्धि के आश्रय हृदय के मापके अनुसार) अंगूठे जितना है। मनःशासक हृदयनामक बुद्धि द्वारा वह सारे शरीर में भी फैल जाता है। उपाधि से अलग किये इस स्वयम्प्रकाश को जो जानते हैं वे अमर होते हैं। (१३)। तेरहवें का उत्तरार्ध आगे भी दो जगह (४.१७, २०) आयेगा और कठ में (६.९) भी आया है। कठभाष्य में हृदयस्थ बुद्धि जो

१. उदाहृतश्रुतिगता'ऽतः' पदार्थमाह—चिदात्मन इति।
२. 'सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः। सर्वव्यापी च भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः।।'३.११।।
३. 'महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः। सुनिर्मलामिमां शान्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः।।'३.१२।।

महतोऽपि महानेष आनन्दात्मा प्रभुस्तथा। पुर एकादशद्वारे सर्वेषां समवस्थितः।।५७३

बुद्धेः प्रवर्तको देवः शान्तिमात्मस्वरूपिणीम्। सुनिर्मलां सदा स्वात्मज्योतिषा योऽवगच्छति।।५७४

ईशानो भूतभव्यस्य ज्योतिषां ज्योतिरेव च। अव्ययः पुरुषः साक्षी क्षेत्रज्ञवपुरास्थितः।।५७५

हृदि ब्रह्म

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो हृदयेङ्गुष्ठमात्रके। स्थितः स्वरूपतो योऽयमतिमात्रनभःसमः।।५७६

बुद्धेरन्तःस्थितो देव आत्मा सर्वशरीरिणाम्। सदा हृदय एवाऽयं लभ्यते सर्वगोऽपि च।।५७७

मनसा बुद्धिवृत्तीनामीश्वरेणोपलभ्यते। हृदयस्थेन देवोऽयमेतावत्त्वं प्रकल्प्य च।
ये जानन्त्येतमात्मानममृतास्ते भवन्ति हि।।५७८

प्रसिद्धनि मूर्द्ध च्छिद्रं नाभिच्छिद्रं च सङ्कलय्य एकादशद्वारं शरीरं तदन्तःस्थितः।।५७३।। बुद्धेरिति। बुद्धेः 'सत्त्व'-पदोक्तायाः प्रेरको यो देवः स्वरूपभूतां शान्तिम् आनन्दस्वरूपभूतेन प्रकाशेन जानातीति।।५७४।।[1] त्रयोदशस्यार्थं दर्शयति—ईशान इति चतुर्भिः। भूतभव्यस्य अतीतानागतस्य प्रभुः क्षेत्रज्ञरूपः।।५७५।। अङ्गुष्ठेति। सर्वेषां शरीरिणां स्वस्वाङ्गुष्ठपरिमितं हृदयच्छिद्रं तत्रोपलभ्यत्वात् पुरुषः परमात्माऽपि अङ्गुष्ठमात्र इत्युक्तः। न तावता तस्य पूर्णत्वक्षतिः यतोऽतिमात्रं मात्रां परिच्छेदमतिक्रान्तं यद् नभः तत्तुल्यः; तथा च श्रुत्यन्तरं 'यावान्वा अयमाकाशः तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश' इति (छा. ८.१.३); अयं बाह्यः, एष आत्मरूपः इत्यर्थः।।५७६।। हृद्युपलभ्यत्वादेव तस्य हृदयस्थत्वव्यवहार इति स्फुटयति—बुद्धेरिति। बुद्धेरन्तः स्थितः साक्षित्वेन इति शेषः।।५७७।। तस्योपलम्भे श्रवणादिसंस्कृतं मन एव साधनमित्याह—मनसेति। अस्यात्मन एव एतावत्त्वं हृदयावच्छिन्नत्वं प्रकल्प्य हृदयस्थेन हृदि एकाग्रतामापन्नेन सर्वधीवृत्तीनाम् ईश्वरेण नियमनसमर्थेन मनसाऽयमुपलभ्यते य एवम् एनम् आत्मानं जानन्ति तेऽमृता भवन्ति इति सम्बन्धः।।५७८।।

मन की नियंत्रक है उससे किये मननरूप सम्यग्दर्शन द्वारा अभिप्रकाशित होने पर आत्मा जाना जा सकता है—यह अर्थ किया है। श्वेताश्वतरभाष्य में 'मनीषा' की जगह 'मन्वीशः' पाठ है, ज्ञानेश अर्थ है। उपनिषद्ब्रह्मयोगी और विज्ञानभगवान् ने 'हृदा' से 'नेति'-लब्ध बाधात्मक हरण समझा है। पुराण में पूर्ण ब्रह्म के प्रतिपादक रूप से इन को स्पष्ट करते हैं

क्योंकि सब शरीरधारियों का आत्मा सर्वत्र व्यापक है, सभी प्राणियों के हृदय में स्थित है, सब मुँह-सिर-गले उसीके हैं इसलिये वह प्रत्यग्रूप आनंद ही पूर्ण भगवान् शिव है।।५७१।। इस स्वप्रभ अद्वैत सुखघन आत्मा में शोकादि अमंगल क्यों हो जबकि अमंगलहेतु अविद्या है ही नहीं!।।५७२।। यह आनंदरूप सर्वसमर्थ महान् समझे जाने वाले आकाशादि से भी महान् है फिर भी सभी के ग्यारह दरवाज़ों वाले शरीररूप पुर में उपलब्ध है। (मुखस्थ सात, मूर्धा में, नाभि और दोनों मलद्वार—ये ग्यारह छिद्र शरीर में हैं।)।।५७३।। सबकी बुद्धि को प्रवृत्त करने वाला देव वही है। निजस्वरूप सुनिर्मल शांति को वह हमेशा अपने से अभिन्न ज्ञान द्वारा प्रकाशमान रखता है। (सनातन निरपेक्षता यहाँ सुनिर्मलता समझनी चाहिये।)।।५७४।। अतीत-अनागत का वह प्रभु है, प्रकाशकों का अन्तिम प्रकाश है, क्षेत्रज्ञरूप से स्थित वह साक्षात् द्रष्टा ही व्ययहीन पूर्ण चेतन है।।५७५।। परिच्छेदों की सीमा पार किये जो यह आकाश इस की तरह स्वरूपतः पूर्ण रहते हुए ही यह अंगूठे जितने हृदय में उपलब्ध होकर 'अंगूठा-भर पुरुष' कह दिया जाता है।सभी देहधारियों का आत्मदेव बुद्धिसाक्षिरूप से स्थित है अतः सर्वव्यापक होने पर भी हमेशा हृदय में ही उपलब्ध होता है। (ब्र. सू. १.३.२५ में इस बात का विचार है कि आत्मा अंगूठे-भर का कैसे कहा गया और किसका अंगूठा समझा

१. 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।।' ३.१३।। अङ्गुष्ठमात्रः परमेश्वरः 'शब्दादेव प्रमितः' (ब्र. सू. १.३.२४)।

ब्रह्म सर्वात्म

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। सर्वप्राणिस्वरूपत्वाद् उपपन्नमिदं सदा।।५७९
स भूमिं सर्वतो वृत्वाऽप्यधिकत्वेन तिष्ठति। दशाङ्गुलं यथा वृत्त्वा काष्ठं वह्निशिखा बहिः।।५८०
ततो ब्रह्माण्डपिण्डस्य बहिरन्तरयं स्थितः। नभोवत् पुरुषः सर्वव्यापी ज्ञानसुखात्मकः।।५८१

[1]चतुर्दशार्थमाह—सहस्रेति। तस्य सहस्रमूर्द्धत्वादिकं सर्वात्मत्वादेव उपपन्नमिति।।५७९।। स उपाधिमतिक्रम्य बहिरपि निर्गच्छति उपाधिना निरुद्ध्य अन्तरवस्थापयितुमशक्यत्वाद् इति दर्शयति—स भूमिमिति। स परमात्मा भूमिं समष्टिव्यष्टिरूपां सर्वतः अन्तरतो बाह्यतश्च व्याप्य अधिकत्वेन तिष्ठति यथा काष्ठं व्याप्य दशाङ्गुलपरिमितं देशं वह्निव्याप्याऽग्निज्वाला तिष्ठतीति। अत्र आत्मनो बहिर्व्याप्तेः वृत्त्वा इत्यनेनैव लब्धत्वाद् दशाङ्गुलावच्छिन्ने हृदये आकाशस्थाने पृथिव्यनाक्रान्ते परमात्मनः स्थितिविवक्षायामपि पृथिव्यपेक्षया दशाङ्गुलाधिका स्थितिः सम्भवति इत्याशयेन न चतुर्थाध्यायगतव्याख्यया (श्लो. २५६) विरोध इति ध्येयम्। अथ वा 'उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (छां. ८.१.३) इति दहरविद्यागतश्रुत्यनुसारेण मनःकल्पितत्वेन पृथिव्या हृदयान्तरणुदेशे स्थितताया अपेक्षया सर्वहृदयव्यापिनः परमात्मनः स्थितिः 'दशाङ्गुलमधिका' इति उक्तम्। वस्तुतस्तु भूमिं विराजं तदावरणभूतं हिरण्यगर्भं सकारणं हृदयस्थत्वेन दशाङ्गुलपदोक्तं व्याप्य ततोऽधिकं स्वे महिम्नि तिष्ठतीत्यर्थः।।५८०।।फलितमाह—तत इति। स्पष्टम्।।५८१।।

जाये ? शास्त्र मनुष्य को उपदेश देने के लिये है अतः मनुष्य अपने हाथ के अंगूठे जितना उसे समझे क्योंकि उतने आयाम वाले हृदय में स्थित बुद्धि में वह चिद्रूप प्रतिबिंबित कर प्रकट रहता है—यह वहाँ निर्णय है।)।५७६-७।। आत्मा अंगूठे-भर का है यह कल्पना कर सभी मनोवृत्तियों के नियमन में समर्थ मन को हृदय में एकाग्र कर लेने पर मनसे यह देव उपलब्ध हो जाता है। इस प्रक्रिया से जो आत्मा को जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं।।५७८।।

चौदहवें-पंद्रहवें मंत्र अद्वैतोपपत्ति के लिये सर्वरूपता का वर्णन करते हैं—'अनंत मस्तकों, चक्षुओं, चरणों वाला परिपूर्ण चेतन सारे ब्रह्माण्ड को सब ओर से घेरे है और दस अंगुल ऊँचा है।।१४।। उपनिषद्योगी दस की गिनती में तात्पर्य न मानकर निरवधिक महत्त्व को ही विवक्षित समझते हैं। भाष्य में नाभि से दस अंगुल ऊँचे हृदय में वह अधिष्ठित है यह अर्थ कहा है। विज्ञानभगवान् विविध तरह से दसकी गिनती उपपन्न करते हैं। हमारे गुरु जी मस्तकशब्द से स्थूल शरीर, चक्षु से ज्ञानेन्द्रियाँ और चरणों से कर्मेन्द्रियाँ उपलक्षित बताते हैं। अतीत ही नहीं नियामक भी है यह अगला मंत्र कहता है 'विविध ज्ञानों का विषय जो कुछ भी हो चुका है, होगा वह सब पुरुष ही है। वही मोक्ष का और इस सबका मालिक भी है क्योंकि 'अन्न से (भक्षक देह) अधिक बढ़ता है' इत्यादि सभी नियम इसी के बनाये हैं।।'१५।। नारायणाचार्य 'अन्नेन' की जगह 'अन्येन' पढ़कर अर्थ करते हैं 'जो अमरता अन्यों से बढ़कर ऊँची है उसका प्रदाता है'। भाष्यानुसार 'जो कुछ अन्न से बढ़ता है उस सबका मालिक है' यह संबंध है। ईशान (या मालिक) से विज्ञानभगवान् महावाक्यजन्य वृत्ति पर आरूढ चेतन समझते हैं जो मोक्ष देने में समर्थ है। उपनिषद्योगी विलक्षण अर्थ करते हैं कि जो कुछ दृश्य है वह अन्न है अर्थात् बाधलक्षण भक्षण का विषय है; ऐसी अन्नभूत, बाध्यस्वभाव माया द्वारा परमेश्वर वस्तुस्वभाव को लाँघकर व्यवहार कर लेता है क्योंकि जो दृश्य असज्जडदुःख हैं उन्हें सच्चित्प्रिय दिखा देता है और स्वयं भासरूप होकर भी आवृत हो जाता है ! हमारे गुरु जी 'अतिरोहति' को नञ्समास मानकर अन्न अर्थात् नाम-रूप से भी वह छिपता नहीं यह अर्थ करते हैं। पुराण में इन मंत्रों को समझाते हैं :

क्योंकि परमात्मा सभी प्राणधारियों के रूप में स्थित है इसलिये संगत है कि पूर्णात्मा के मस्तक, आँखें, पैर आदि हज़ारों (असंख्य) हों।।५७९।। जैसे आग लकड़ी को सब ओर से घेर लेती है और उसकी ज्वाला लकड़ी से

१. 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्त्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्।।' ३.१४।।

सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत्। अपि मोक्षस्य चेशानो ह्यमृतत्वस्वरूपिणः।।
किमुतान्यस्य सवदिः त्रिवर्गस्यास्य सर्वतः।।५८२

अन्नरूपेण चैषोऽत्र पृथिव्यामतिरोहति। जङ्गमानां यतः सृष्टिः जायते भक्षणात् सदा।।५८३

यतस्तेन पुरुषेण व्याप्यं विश्वं ततो भिन्नसत्ताकं न भवति अतः सर्वपुरुषार्थानां स एव दाता। अत एव अन्नरूपेण लोकसमृद्धिहेतुत्वं तस्य प्रसिद्धम् इत्यर्थपरतया[1] पञ्चदशमन्त्रं व्याचष्टे—सर्वमिति द्वाभ्याम्। ईशानो दानसमर्थः त्रिवर्गस्य धर्मार्थकामात्मकस्य[2]। कीदृशस्य ? सवदिः सर्वत्वं हिरण्यगर्भभावात्मकमुपासनाफलं तत्प्रभृतेरित्यर्थः। स्वगदिः इति पाठे स्पष्टत्वेऽपि च्छन्दोहानिः पञ्चमस्य गुरुत्वापत्तेः इति।।५८२।। अन्नेति। अतिरोहति प्रादुर्भवति।।५८३।।

दस अंगुल ऊँची निकलती है वैसे परमात्मा भूमि को सब ओर से घेर कर भी उससे अधिक ही रहता है। (चमत्कार यह है कि उपाधि में ही नहीं उससे बाहर भी उपलब्ध होना रूप आत्मा की विशेषता वह्नि में प्रत्यक्ष है। भूमि से व्यष्टि देह एवं समष्टि पृथ्वीतत्त्व दोनों समझने चाहिये। 'सब ओर से घेरने' का मतलब भीतर-बाहर से घेरना है अर्थात् उपादान-निमित्त दोनों बनना है। चौथे अध्याय में पुराणकार पुरुषसूक्त की सोलहों ऋचाओं को समझा आये हैं। व्याख्यारीति में किंचिद् विलक्षणता मंत्रों की सारगर्भितता व्यक्त करती है, मुख्य अभिप्राय से विरुद्ध कोई मंत्रार्थ नहीं होता। सत्प्रसवकार छांदोग्य के आधार पर हृदय में ही पृथ्वी का समावेश मानकर उससे व्यापक समग्र हृदय में उपस्थिति यहाँ मूल में विवक्षित बताते हैं। वे यह भी रहस्य कहते हैं कि 'भूमि' से विराट् समझना चाहिये और 'दशांगुल' से विराट् से व्यापक हिरण्यगर्भ और कारण समझने चाहिये एवं इनसे अधिक जो आत्मा की स्वभूत महिमा उसमें स्थिति अभिप्रेत है। सर्वथाऽपि असीम व्यापकता ही अर्थ है।)।।५८०।। इस प्रकार आकाश की तरह ज्ञान-आनंदरूप सर्वत्र व्यापक अपरोक्ष पूर्ण चैतन्य ही ब्रह्माण्ड के भीतर-बाहर विद्यमान है।।५८१।। जो कुछ भूत भावी और संप्रति है यह सब पुरुष ही है। अमरतास्वरूप वाले मोक्ष का भी यह पुरुष ही प्रदाता है तो अन्य तीनों पुरुषार्थों का सब तरह से फलदाता यही है इसमें क्या कहना ! हिरण्यगर्भ को प्राप्य जो सर्वात्मकता वह जिस उपासना से मिलती है उस एवं अन्य भी सब उपासनाओं का भी फल देने वाला यही परमेश्वर है।।५८२।। जंगम प्राणियों की सृष्टि हमेशा जिसे खाने से ही होती है उस अन्नरूप से भी पृथ्वी पर यह परमेश्वर ही प्रादुर्भूत होता है।।५८३।।

आगे तीन मंत्र चेतन का अभेद व्यक्त करते हैं—'ईश्वर के हाथ, पैर, सिर, आँखें, मुँह, कान हर ओर हैं। लोक में सभी को वह ढाँके रखता है।।'१६।। यहाँ प्रत्यक्ता बता रहे हैं। हमारे गुरु जी 'श्रुतिमत्' से सर्ववेदप्रतिपाद्य है—यह समझते हैं और 'सर्वमावृत्त्य' का अर्थ 'अपना व्यापक रूप ढाँक कर' बताते हैं। कृपालु प्रशास्ता का वर्णन है—'परमात्मा यद्यपि इंद्रिय अविद्या आदि से रहित है तथापि सब इन्द्रियाँ, उनके गुण अर्थात् वृत्तियाँ, उनसे होने वाले आभास अर्थात् विषयस्फुरण और उनका विषय—ये सभी उसी पर तादात्म्य वाले प्रतीत होते हैं। चराचर का वही समर्थ नियंता, रक्षक और कुछ अपेक्षा रखे बिना हितकारी है'।।१७।। भाष्य में 'सर्वेंद्रियगुणाभास' का अर्थ है कि अन्तः-बहिः-करणों की वृत्तियों वाला आभासता है, जबकि उपनिषद्ब्रह्मयोगी की व्याख्या है 'इन्द्रियगुण शब्दादि जिसके ज्ञान से आभासमात्र रह जाते हैं !' जीवतया प्रविष्टरूप का उल्लेख करते हैं—'नौ द्वार वाले पुर (या शरीर) में देहसंबंध व बुद्धि-उपाधि वाला हुआ बहिर्मुखी हो चलता रहता है। वस्तुतः वह चराचर जड-चेतन सबको वश में रखने वाला ईश्वर है।।'१८।। 'सर्वस्य वशी' से पुराण में 'सब उपाधियों के पराधीन' अर्थ करेंगे। 'नौ' से किन्हें लें इस पर गुरु जी ने कई पक्ष एकत्र किये हैं। पुराण में इन मंत्रों को समझाते हैं :

१. 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।।' ३.१५।।
२. ब्र. सू. ३.२.३८ अत्र मानम्।

यस्मात् सर्वात्मको देवः पुमान् ब्रह्मस्वरूपधृक्। सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।।५८४
एतादृक् तत एवाऽस्य स्वरूपं ब्रह्म ईरितम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।५८५
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। सर्वस्य प्रभु चेशानं सर्वस्य शरणं सुहृत्।।५८६
इदं सर्वात्मकं रूपं सर्वभूतोपकारकम्। हंसरूपेण सततं देह आस्ते यतीश्वराः।।५८७
द्वाराणि वदने सप्त द्वे अधस्ताच्च संस्थिते। देहस्य तेन मुनिभिर्नवद्वारं प्रकीर्तितम्।।५८८
पूर्यते धातुभिर्नित्यम् अन्नपानानुगामिभिः। तत एव पुरं चैतत् शरीरं परिकीर्तितम्।।५८९
हिनस्त्यविद्यामखिलाम् आत्मनो ब्रह्मतागतौ। तत एव शरीरस्थो हंस एष प्रकीर्तितः।।५९०
नवद्वारे पुरे स्थित्वा हंसो बहिरुपागतः। चेष्टां विषयलाभार्थं कुरुते माययावृतः।।५९१
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्थ चरस्य च। संसारचक्रं सम्प्राप्य भवत्यात्मवशोऽप्ययम्।।५९२

एवं प्रपञ्चस्य भेदस्तस्मिन्नास्ति इत्युक्तम्। अथ चिद्रेदवारकयोः षोडशसप्तदशयोः[1] अर्थमाह—यस्मादिति। यस्माद् अयं पुरुषः सर्वात्मकः तत एवास्य स्वरूपं सर्वतःपाणिपादत्वादि-सुहृत्त्वान्तविशेषणैः उपलक्षितं यद् ब्रह्म तदात्मकमुक्तमिति त्रयाणां सम्बन्धः। सर्वेन्द्रियैर्वर्जितमपि सर्वेषाम् इन्द्रियगुणानाम् इन्द्रियविषयाणां प्रकाशकं, प्रभु स्वामि, ईशानं नियन्तृ, शरणं रक्षकं, सुहृद् उपकारकम्।।५८४-६।।

स एव परमात्मा सर्वदेहेषु जीवरूपेण प्रविष्ट इति बोधयतोऽष्टादशस्यार्थमाह[2]—इदमिति नवभिः। इदं सर्वात्मकं परमात्मनो रूपं यदुक्तं तदेव हंसरूपेण देहस्थितम् इति।।५८७।।नवद्वारपदार्थमाह—द्वाराणीति।।५८८।। देहे पुरपदसमन्वयं दर्शयति—पूर्यत इति। अनुगामि कार्यम्।।५८९।। हंसपदव्युत्पत्तिं स्मारयति—हिनस्तीति। गतिः बोधः।।५९०।। चेष्टावाचक-लेला[3] धातो रूपस्यार्थमाह—नवेति।।५९१।। वशः पराधीनत्वं तद्वान्—इत्याकारं वशिपदार्थमाह—वशीति द्वाभ्याम्। अयम् आत्मा[4] अवशः स्वतन्त्रोऽपि अविद्यया उपाधिपारतन्त्र्याद् वशीति उक्त

व्यापक स्वरूप धारण किया पूर्ण स्वप्रभ क्योंकि सर्वरूप है इसीलिये इसका स्वरूप ऐसा ब्रह्म बताया गया है जिसके हाथ-पैर सब ओर हैं, आँखें-सिर-मुँह सब ओर हैं, कान सब ओर हैं, संसार में सबको स्वयं से आच्छादित किये रहता है, सब इंद्रियों से रहित होने पर भी सभी इंद्रियविषयों का प्रकाशक है, मालिक, नियामक, रक्षक और अहेतु उपकारक है।।५८४-६।। हे यतीशो ! सब प्राणियों का उपकार करने वाला यह सर्वात्मा हमेशा हंसरूप से शरीर में रहता है। (श्लो. ३५९ आदि में हंस का उल्लेख आ चुका है।)।।५८७।। शरीर को मुनि लोग नौ दरवाज़ों वाला कहते हैं क्योंकि मुँह पर सात और दो नीचे यों नौ छिद्र मानवदेह में उपलब्ध हैं। इसे पुर भी कहते हैं क्योंकि अन्न-पेय के कार्यभूत कफादि धातुओं से यह हमेशा पूरा किया जाता है, भरा जाता है।।५८८-९।। आत्मा की ब्रह्मरूपता समझ लेने पर अखिल अविद्या का हिंसक होने से देहस्थित यह आत्मा 'हंस' कहलाता है।।५९०।। नौ द्वार वाले पुर में रहकर हंस बाहर निकलकर विषय पाने के लिये यत्न करता है क्योंकि इसकी नित्य तृप्ति माया से ढकी है।।५९१।। यद्यपि यह स्वयं के ही अधीन है तथापि संसार-चक्र में फँसकर चराचर सारे लोक के अधीन हो गया है (अविद्या से खुद

---

१. 'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्त्य तिष्ठति।।३.१६।। सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं सुहृत्।।'३.१७।।
२. 'नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः। वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च।।'३.१८।।
३. कण्ड्वादौ (५) 'लेला दीप्तौ' इत्येके पठन्ति इति माधवः।
४. 'भवत्यात्माऽवशोऽप्ययम्' इति पाठः सम्भाव्यत एषाम्।

कामुकत्वाद्यथा जन्तुरिन्द्रियाणां वशं गतः। नारीणां वशमायातो वशीत्येव प्रकीर्तितः। ।५६३
अथवा यस्य हस्ते स्याद् वशीकरणकारणम्। मन्त्रौषधादिकं स स्यात् स्वतन्त्रोऽत्र वशी जनः ।५६४
तथास्यापि च चैतन्यं वशीकरणकारणम्। स्थावरस्य चरस्यापि विद्यतेऽतो वशी स्मृतः। ।५६५

करणानपेक्षं ब्रह्म

अपाणिः सन्नयं सर्वमादत्ते पुरुषोत्तमः। वेगवान् मनसोऽप्येष पादहीनोऽपि सर्वदा। ।५६६
नेत्रहीनोऽपि सर्वाणि रूपाण्येष प्रपश्यति। अकर्णोऽपि शृणोत्येष शब्दान् विश्वस्थितानपि। ।५६७
ज्ञानकर्मेन्द्रियगणो यस्माद् देहस्य नात्मनः। तस्मात्तेन विहीनोऽयमात्मा श्रुतिषु कीर्त्यते। ।५६८

इत्यर्थः। ।५६२। । तत्र दृष्टान्त उच्यते—कामुकत्वाद्[1] इति। ।५६३। । अथवा वशो वशीकरणसाधनं तद्वान् वशीत्युक्त इत्याह—अथ वेति। मन्त्रादिरूपं वशीकरणसाधनं यस्य हस्ते भवति स जनो वशी इति प्रसिद्धः। ।५६४। । तथात्मन्यपि जडवशीकरणसाधनं चैतन्यरूपमस्तीति स वशीत्युक्त इत्याह—तथेति। ।५६५। ।

ईश्वरस्य ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिश्च करणानपेक्षा स च स्वयम्प्रकाश इति विशदयतः[2] 'अपाणी' त्यादेर्मन्त्रस्यार्थमाह—अपाणिः सन्निति सप्तभिः। अयं देवः पाणीन्द्रियहीनोऽपि ग्रहणं करोति, पादहीनोऽपि च मनसः अधिकेन वेगेन धावति। ।५६६। । एवं नेत्रादिहीनोऽपि दर्शनादिकं करोतीत्याह—नेत्रेति। ।५६७। । ननु तस्य सर्वोपादानत्वेन सर्ववत इन्द्रियाभावः कथमुच्यत इति चेद् ? नित्यसिद्धविद्यया सञ्जाताभिमानाभावादित्याह—ज्ञानेति। इन्द्रियाणि तद्गोलकाश्च देहस्य सूक्ष्मस्य स्थूलस्य च घटकतया वर्तन्ते, अतः तत्सम्बन्धो देहाध्यासवत एव, न नित्यमुक्तस्य इत्यत एव आत्मा तेन देहेन हीनः 'अकायम् अव्रणम्' (ईश. ८) इत्यादिश्रुतिषूक्त

को उपाधिपरतंत्र मानता है) ! जैसे जंतु कामुक होने से इंद्रियों के बेबस होकर नारियों के वश में आ जाता है वैसे (साविद्य होकर उपाध्यनुकारी होने से यह) वशी कहा गया है। ।५६२-३। । या जिसके पास वशीकरण करने वाले मंत्र-दवा आदि हों उसे लोक में वशी कहते हैं, भले ही वह स्वयं स्वतंत्र होता है। आत्मा के पास भी चराचर के वशीकरण का साधन 'चैतन्य' है अतः यह वशी कहलाता है ! (चैतन्य अर्थात् ज्ञान, उसीसे सिद्ध होते हैं और विविध उपयोगों में लाये जाते हैं अतः जड-चेतन संसार का उससे वशीकरण माना जा सकता है।)। ।५६४-५। ।

उन्नीसवा मंत्र बताता है कि आत्मा हाथ-पैरों से रहित किंतु पकड़ने वाला और तेज़ गति वाला है ! देखता है पर उसकी आँखें नहीं हैं ! बिना कानों के वह सुन लेता है ! वह ज्ञेय को जानता है लेकिन उसे जानने वाला कोई नहीं। ब्रह्मज्ञ उसे ही पहले होने वाला परिपूर्ण महान् बताते हैं। यों करणनिरपेक्ष ज्ञान-क्रियाशक्ति वाले का वर्णन है ऐसा पुराण में स्पष्ट करते हैं :

यह उत्तम पुरुष हाथों वाला हुए बिना सबका ग्रहण करता है और पैरों से रहित रहकर ही हमेशा मनसे भी ज़्यादा वेग वाला है। ।५६६। । आँखों वाला नहीं पर यह सभी रूप देखता है और कर्णशून्य होकर भी दुनिया में स्थित सब शब्द सुनता है। ।५६७। । क्योंकि ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ (सूक्ष्म-) शरीर की ही घटक हैं न कि आत्मा की अतः उनका सम्बंध देहाध्यास वाले से ही रहता है, शुद्ध आत्मा उनसे रहित ही है ऐसा वेद में अनेक जगह कहा है। ।५६८। । ज्ञानेंद्रियों के एवं कर्मेन्द्रियों के जो विषय-सम्बन्धरूप व्यापार हैं और उन व्यापारों के फल हैं—ज्ञानेन्द्रियव्यापार का फल विषय का प्राकट्य और कर्मेन्द्रियव्यापार का फल प्राप्ति आदि—वे आत्मपुरुष की अचिन्त्य महिमा से ही संभव होते

१. श्लोके यथा-पदानुरोधादन्त्यपादे 'वशीत्येवम्' इत्यनुस्वारो द्रष्टव्यः।
२. 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्याऽस्ति वेत्ता तमाहुरग्र्य पुरुषं महान्तम्। ।' ३.१९। ।

ज्ञानकर्मेन्द्रियाणां ये व्यापाराः सफला हि ते। भवन्त्यनिन्द्रियात् पुंसः तस्मादात्मा करोति तान्। ।५९९

किं बहूक्तेन पुंसोऽत्र व्यापारकरणं प्रति। बाह्यैर्वाभ्यन्तरैर्वापि करणैरवगम्यते। ।६००

तत्तत् सर्वमयं तेन ह्यात्मा सर्वगतः पुमान्। अस्य कोऽपि न वेत्तास्ति जडो वाऽप्यजडोऽपि वा ।६०१

आनन्दात्मा स्वयंज्योतिरयं स्यात् पुरुषोत्तमः। अग्रे स्थितमिमं प्राहुर्जगतो ब्रह्मवादिनः। ।६०२

गुरुप्रसादादात्मदर्शनम्

अणोरणीयानात्माऽयं महीयान् महतोऽपि च। अस्य प्राणिशरीरस्य मध्ये तिष्ठति सर्वदा। ।६०३

इत्यर्थः। ।५९८। । एवंभूतोऽपि स स्वोपाधिमायाशक्तिवशाद् इन्द्रियैर्विनाऽपि तद्व्यापारान् करोतीत्याह– ज्ञानकर्मेन्द्रियाणामिति। व्यापारो विषययोगः, फलं विषयाविर्भावः[1], भवन्ति जायन्ते, तस्माद् अचिन्त्यशक्तिविशेषात्, तान् इन्द्रियव्यापारान् अयमेव करोति इत्युच्यत इति। ।५९९। । अयमितरनिरपेक्ष इन्द्रियव्यापारान् करोतीति किमु वाच्यं यतः सर्वविषयरूपेण अप्ययमेव विवर्तत इत्याह–किं बहूक्तेनेति। इन्द्रियव्यापारजननविषयकेण बहुप्रशंसनेन किम्! यतो यद्यत् करणगम्यं वस्तुजातं तत्तत्सर्वमयम् एव देवो घटादिरूपेण मृदिव वर्तते, तेन सर्वोपादानत्वेनायं सर्वगतः सर्वपरिच्छेदहीनः सर्वतः पूर्वं सिद्धत्वाद् अविषयस्वभावः, अत एव श्रुतौ 'अग्र'-पदेनोक्त इति त्रयाणामर्थः। ।६००-२। ।

अयमात्मा सूक्ष्मत्वमहत्त्वयोः पर्यवसानभूमिः सर्वेषां हृद्गुहायां सन्निहितोऽपि गुरुकृपैकलभ्य इति दर्शयतो[2] विंशस्यार्थमाह–अणोरिति पञ्चभिः। मध्ये हृद्गुहायाम्। ।६०३। । सङ्कल्पेति। तं देवं विषयभोगसङ्कल्परहितं

हैं अतः कहा जाता है कि उसने इन्हें किया। ।५९९। । इन्द्रियों के व्यापार वह कर लेता है इस बारे में ज़्यादा प्रशंसा पुरुष की क्या करें! बाह्य-आन्तर करणों से जो कोई भी वस्तु विषय की जाती है वह सभी यह आत्मदेव ही है क्योंकि यही सबका उपादान है। अत एव यह सब सीमाओं से वर्जित है। इसे जाने ऐसा कोई जड-चेतन नहीं है। यह स्वप्रभ आनंदरूप पुरुषोत्तम सबसे पूर्व सिद्ध है अतः ब्रह्मवादी इसे जगत् से पहले स्थित बताते हैं। ।६००-२। ।

बीसवें मंत्र में दुर्लभता बताकर इक्कीसवें में स्वानुभव से दृढ कर उपनिषत् में अध्याय-समाप्ति है–'अल्प से अल्पतर व प्रौढ से प्रौढतर आत्मा उन सबकी बुद्धिरूप गुफा में निक्षिप्त है किनकी जननधर्मता प्रत्यक्षसिद्ध है। उस असंकल्प गुणाधिक नियंता को ईश्वरकृपा व मनोनैर्मल्य से निरविध ही देखता है। ।'२०। । इसमें 'धातुः प्रसादात्' पर विविध आचार्यों के विचार हैं–नारायण इससे आत्मकृपा एवं गुरुकृपा समझते हैं, भाष्य में वातादि शारीरिक धातुओं की अनुकूलता की उपयोगिता कही गयी है, विज्ञानभगवान् इंद्रियों की शांति का ग्रहण करते हैं और हमारे गुरु जी अंतःकरण की स्थिर-स्वच्छता एवं वेदकृपा का उल्लेख करते हैं। निर्विशेष तत्त्व का अपरोक्ष भले ही अतिकठिन है पर असंभव नहीं यह श्वेताश्वतर महर्षि स्वानुभव दिखाकर कहते हैं–'जो जराहीन, हमेशा नवीन, सभी के अस्मत्प्रत्यय का साक्षी, और व्यापक होने से सर्वत्र स्थित है उसे मैं जानता हूँ। मूर्ख जोर-शोर से कहते हैं कि उसमें उत्पत्ति-विनाश होते हैं जबकि जिन्हें सचाई मालूम है वे ब्रह्मवादी उसे नित्य ही बताते हैं। ।'२१। । 'जन्मनिरोधं प्रवदंति' को यों पूर्वपक्ष मानकर तो शंकरानंद जी ने संगत किया है, नारायणाचार्य 'न प्रवदन्ति' यों नञ्सहित वाक्य मानने के पक्षधर हैं, भाष्यकार जन्म का निरोध अर्थात् अभाव अर्थ करते हैं जबकि उपनिषद्योगी और विज्ञानभगवान् 'जगत् के जन्म और निरोध अर्थात् संहार परमात्मा के ही कर्म हैं' यह व्याख्या करते हैं तथा हमारे गुरु जी मानते हैं कि ब्रह्मवादियों का जन्म-निरोध अर्थात् जन्मनाश परमेश्वर करते हैं यह अर्थ है। पुराण में इन मंत्रों की व्याख्या है :

---

१. अविद्यानिवृत्तिः ज्ञातता वा ज्ञानेन्द्रियस्थले। कर्मेन्द्रियस्थले तु प्राप्त्यादि।

२. 'अणोरणीयान्महतो महीयान् आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः। तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादाद् महिमानमीशम्। ।'३. २०। ।

सङ्कल्परहितं देवं महत्त्वैकस्वरूपिणम्। गुरोः प्रसादतो वीतशोकः पश्यति तं प्रभुम्।।६०४

गुरू रुद्रो महेशानो धाता शिवतमातनुः। तेन संसारतप्तोऽयं देवेन परिबोधितः।।६०५

न त्वं कर्ता च भोक्ता च दुःखित्वं ते कथं भवेत्। ब्रह्म वेदान्तकथितं त्वमस्यत्र न संशयः।।६०६

त्वत्तोऽन्यत् सकलं विश्वं त्वय्येव परिकल्पितम्। स्वप्नाभं नश्वरं तेन वीतशोकः प्रजायते।।६०७

विद्वदनुभवः

वीतशोकः पुमान् यद्वदात्मानं परिपश्यति। वेदाहमेतमजरं सर्वात्मानं पुरातनम्।।६०८

विभुत्वात् सर्वगं देवं सर्वभेदविवर्जितम्। जन्म नाशं च यस्यैते लौकिकाः प्रवदन्ति हि।।
नित्यं च यं वदन्त्येते सर्वदा ब्रह्मवादिनः।।६०९

भूयो वर्णनप्रतिज्ञा

अध्यात्ममेवमुदितं मया चैवं यतीश्वराः। अन्यत्राप्येतमधुना वक्ष्ये वो बुद्धिवृद्धये।।६१०

गुरोः प्रसादतः पश्यन् वीतशोको भवतीत्यर्थः।।६०४।। गुरुप्रसादस्य च स्वरूपमभिनयति—गुरुरिति। शिवतमतनुरूपेण धाता पोषको यो रुद्रः स एव गुरुः उक्तः, 'योजयति परे तत्त्वे दीक्षयाऽऽचार्यमूर्तिस्थः' इत्यागमात्। अयम् अधिकारी तेन देवेन इत्थं परिबोधितो भवतीति।।६०५।। 'इत्थं' कथम्? इत्याकांक्षां पूरयति—न त्वमिति पादसप्तकेन।।६०६।। तेन उक्तोपदेशजज्ञानेन।।६०७।।

उक्तात्मज्ञानेऽसम्भावना न कर्तव्या यतो मम तथा विज्ञानं सिद्धमिति विदुषोऽनुभवमभिनयत्[1] एक विंशस्यार्थमाह—वीतशोक इति द्वाभ्याम्। वीतशोकत्वं प्राप्नुवन् यथा आत्मानं पश्येत् तथा अहं श्वेताश्वतरनामा वेद जानामि। कीदृशम्? अजरत्वाद्युपलक्षितम्, यस्य आत्मनो जन्मादिकं लौकिका अज्ञाः जडतादात्म्यदर्शिनो वदन्ति। तत्त्वविदस्तु नित्यम् एव यत्स्वरूपं वदन्ति इति द्वयोरर्थः।।६०८-९।।

तृतीय-चतुर्थाध्यायव्याख्ययोः समाप्त्यारम्भौ सूचयति—अध्यात्ममिति। एवम् अधिदैवं प्रतिपाद्य अध्यात्मम् आन्तरत्वेन वर्तमानमात्मरूपम् उदितम् उक्तम्। एवम् एव अन्यत्र चतुर्थाध्यायमन्त्रेषु प्रतिपादितं तत्त्वं वक्ष्ये हे मुनयः! इत्यर्थः।।६१०।।

यह आत्मा अणु से ज़्यादा छोटा और जो कुछ भी महान् उपलब्ध हो सकता है उससे ज़्यादा महान् है। प्रत्यक्षसिद्ध जीवदेह में हृदयगुहा में यह हमेशा रहता है।।६०३।। किसी भी प्रकार के संकल्प से—भोगेच्छा से, परिच्छिन्न ज्ञान से—रहित यह देव भूमा (छां. ७.२४) है। गुरुकृपा से जो इस प्रभु को देख लेता है वही अशोक हो जाता है।।६०४।। सर्वाधिक कल्याणकारी शरीर वाला पोषक महेश्वर रुद्र ही गुरु है। संसारमात्र को ताप जानकर इससे पूर्णतः विरक्त अधिकारी को गुरुरूप धारण किये वे महादेव यों समझाते हैं 'तू कर्ता-भोक्ता नहीं है अतः वास्तव में तेरा दुःख संभव नहीं। उपनिषदों में बताया ब्रह्म ही तू है इसमें कोई संदेह नहीं। तुझसे अन्य लगने वाला सारा नाशवान् और सपने जैसा जगत् तुझमें ही पूरी तरह कल्पित है।' इस उपदेश से साधक निःशोक हो जाता है।।६०५-७।। निःशोक मुक्त आत्मा को जैसा जानता है वैसा उस जराहीन सर्वरूप अनादि तत्त्व को मैं (श्वेताश्वतर) जानता हूँ।।६०८।। वह देव विभु (व्यापक) होने से सभी जगह पहुँचा हुआ कहा जाता है। स्वगत आदि कैसा भी भेद उसमें है नहीं। जड में तादात्म्याध्यास वाले अज्ञानी उस आत्मा के जन्म-मृत्यु बताते हैं पर ये ब्रह्मवादी तत्त्वदर्शी उसे हमेशा नित्य कहते हैं।।६०९।।

---

१. 'वेदाऽहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्। जन्म-निरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्।।' इति तृतीयोऽध्यायः।।

ईश्वरचिन्तनम्

एकवर्णस्वरूपेण परापरविभागवान्। प्रणवादिस्वरूपो यो बहून् वर्णान् करोति हि।।

प्रयोजनवशेनैव देवः शक्त्या स्वमायया।।६११

आदौ विश्वं समग्रं च संहारे पुनरेव तत्। शान्त आत्मनि निनदि सर्वमेकी करोति च।।६१२

स योजयतु नः सर्वान् सर्वदा शुभया धिया। अहं ब्रह्मेति जानीमो वयं यस्याः प्रसादतः।।६१३

तत्र प्रथममन्त्रचतुष्टयं बुद्धिशुद्ध्याधायकं यद् ईश्वरस्य सगुणरूपचिन्तनं तत्परमिति[1] दर्शयंस्तदर्थमाह—एकवर्णेति त्रयोदशभिः। यो देवः परापरविभागवान् 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे परं चाऽपरं चेति' (बृ. २.३.१)[2] श्रुत्यन्तरानुसारेण सगुणनिर्गुणात्मकरूपद्वयवान् प्रणवादिस्वरूपः शब्दार्थयोः तादात्म्यमिति न्यायेन स्ववाचकप्रणवरूपः; 'अकारो वै सर्वा वाक्' (ऐ. आत्मषट्कात् प्राक् ३.६.१) इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धस्य विष्णुवाचकस्य अकारस्य आदिपदेन ग्रहणाद् अकाररूपो वा सन्; स्ववाचकवर्णरूपेण बहून् वर्णान् शब्दांस्तदुपलक्षितान् अर्थांश्च मायया सृष्ट्यादौ करोति जीवानां भोगादिप्रयोजनसिद्धये। पुनः संहारकाले तत् सर्वं स्वात्मनि शान्ते विक्षेपशून्ये, अत एव निनदि नादेन सूक्ष्मशब्देनापि रहिते एकी करोति विलापयति, सः अस्मान् शुद्धया बुद्ध्या युक्तान् करोतु, यस्या बुद्धेः शुभाया नैर्मल्यम् अहं ब्रह्मेति बोधहेतुः। इति त्रयाणामर्थः। प्रणवात्सर्ववर्णोत्पत्तिप्रक्रिया तु प्रपञ्चसाराद्यागमग्रन्थेभ्यो बोध्या।।६११-३।।

हे यतिशिरोमणियो ! यों मैंने (अधिदैव रूपका प्रतिपादन कर) आन्तर हो वर्तमान आत्मा का रूप आपको बताया। आपकी बुद्धि इस विषय में और प्रविष्ट हो इस उद्देश्य से अब मैं इस बारे में और भी कुछ बताता हूँ। (अर्थात् श्वेताश्वतरोपनिषत् के तृतीयाध्याय के वर्णन की समाप्ति हो गयी, अब चतुर्थाध्याय का वर्णन करेंगे।)।।६१०।।

ईश्वर के सगुणरूप का चिंतन साधक की बुद्धि को संसार से विमुखकर प्रत्यगात्मा की ओर उन्मुख करता है। उस रूपको उपनिषद् में चौथे अध्याय के प्रारंभ में बताया है—'जीवों के भोगादि प्रयोजनों से जो एक प्रणवादिस्वरूप वाला बहुत तरह की शक्ति से पहले अनेक शब्द-अर्थ बनाता है, वही अंत में सबको अपने शान्तस्वरूप में विलीन कर लेता है; वह हमें शुद्ध बुद्धि वाला बनाये।'१।। शंकरानंद जी ने दीपिका में 'वर्ण' के पाँच विकल्प कर मंत्र को पाँच तरह समझाया है। अन्याचार्य भी उन अर्थों का यथारुचि आदान करते हैं। उसकी सदा सुलभता द्वितीय मंत्र कहता है 'वही ब्रह्म तेज, सूर्य, पवन, सोम, दीप्तिमान् जगत्कारण, जल और विधाता है।'२।। नारायणाचार्य यहाँ ब्रह्मपद से वेद समझते हैं, भाष्य शुक्र की व्याख्या शुद्ध करता है एवं विज्ञानभगवान् जल से तदभिमानिदेवता और अग्नि से वाक्समष्टि का ग्रहण करते हैं। इसी भाव को तीसरे में प्रकट करते हैं 'तुम आनंदात्मा ही स्त्री-पुरुष-कुमार-कुमारी (आदि) शब्दों व बुद्धियों के विषय बने हुए हो। वृद्ध, दण्डे के सहारे चलने वाले, उत्पन्न होने वाले, जन्मोत्तरवर्ति-वर्तमानता वाले, नाना अवस्थायें पाने वाले तुम्हीं हो।'३।। नारायणाचार्य दण्ड का भाव बताते हैं 'तुम दमन से दुष्टों को छलते हो' अर्थात् दुष्टों को संयत करने के लिये छलप्रयोग करते हुए भी स्वयं नियंत्रित ही रहते हो। हमारे गुरु जी 'उत' शब्द से नपुंसकों का भी उल्लेख मानते हैं। चौथे में पक्षी-रूपक है 'तुम घास-सी हरियाली युक्त नीले रंग के पक्षी हो जिसकी आँखें लाल हैं। देखते-देखते नष्ट होने वाला जगत् तुम्हारे गर्भ में है। ऋतुएँ (काल) और समुद्र (जल, कर्म) तुम्हारे दोनों पंख हैं। तुम्हारा कोई कारण नहीं है। तुम परिच्छेदों से रहित हो। कर्मफलभूत सभी लोक तुम्हीं से पैदा हुए हैं।'४।। नारायणमत में पतंग का अर्थ है लाल रंग, लोहिताक्ष है अग्नि और तडिद्गर्भ है मेघ। अर्थात् पक्षीरूपक उन्हें अमान्य है। भाष्य में भी पतंग से भ्रमर समझा गया है, हरे सुग्गे आदि निकृष्ट प्राणी भी तुम ही हो—ऐसी व्याख्या की गयी है। हमारे गुरु जी हरित से घोड़ा आदि ग्राम्य पशु और लोहिताक्ष से सिंहादि आरण्यपशु समझते हैं तथा तडिद्गर्भ से बाह्य ऊर्जा एवं कुण्डलिनी शक्ति का उल्लेख मानते हैं। पुराण में इन मंत्रों को समझाते हैं :

---

१. 'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति। विचैति शान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु।'४.१।। अस्यार्थपंचकं दीपिकायाम्।

२. '.....रूपे मूर्तं चैवाऽमूर्तं च' इति बृहदारण्यके। प्रश्ने (५.२) तु प्रणवमधिकृत्य 'परं चापरं च ब्रह्म' इति श्रूयते।

विज्ञेयं शुभया बुद्ध्या ब्रह्म यद् यतिपुङ्गवाः। तदेवाग्निस्तदादित्यः तद्वायुस्तच्च चन्द्रमाः।।६१४
तदेव दीप्तं तद्वेदास्तदापस्तत्प्रजापतिः। विराट् हिरण्यगर्भो वा मरीच्यादिरथाऽपि वा।।६१५
तदेव स्त्री पुमांस्तच्च कुमारस्तत् कुमारिका। जातं तदेव वृद्धं सत् शनैर्दण्डेन गच्छति।।६१६
तत् सर्वं त्वम्पदार्थोऽयं तत्पदार्थात् पृथङ्न यः। ज्ञानं तदेव भवति बहुरूपं यतीश्वराः।।६१७
कारणं कल्पयन्त्येतत् पक्षित्वेन महाधियः। यथैव शक्यते ज्ञातुं स्तोतुमल्पैश्च देहिभिः।।६१८

अयमेवेश्वरः सर्वेषु अधिदैवशरीरेषु एकोऽवस्थितः इति योजयतो[1] द्वितीयस्यार्थः प्रदर्श्यते—विज्ञेयमिति द्वाभ्याम्। अहं ब्रह्म इत्याकारया बुद्ध्या यद् विज्ञेयं ब्रह्म तदेव अग्न्यादिरूपम् इति सम्बन्धः। दीप्तं सत्त्वगुणाधिक्येन देदीप्यमानम् अव्याकृतं तारामण्डलं वा, वेदा यजुराद्यभिमानिदेवाः, आपः अप्प्रधानानि सूक्ष्मभूतानि, प्रजापतिपदेन विराट् हिरण्यगर्भो मरीचिदक्षादयो वा ग्राह्याः। इति द्वयोरर्थः।।६१४-५।।

स एवेश्वरः त्वम्पदार्थोपाधिभूतव्यष्टिशरीरेष्वपि अवस्थित इति दर्शयतः[2] तृतीयस्यार्थमाह—तदेव स्त्रीति द्वाभ्याम्। तदेव ब्रह्म स्त्रीत्वपुंस्त्वशालियुवशरीरावच्छिन्नं, तथा कुमारादिबालशरीरावच्छिन्नं, तथा दण्डालम्बनकचलनोपलक्षितवृद्धशरीरावच्छिन्नं; किं परिगणनेन ! यावत् जातं जन्मवच्छरीरं तदवच्छिन्नं तदेव। फलितमाह—तत्सर्वमिति। उक्तस्त्र्यादिशरीरावच्छिन्नो योऽयं त्वम्पदार्थः स तत्पदार्थाद् न भिन्न इत्यर्थः। तथाऽऽश्रयस्य विषयस्य स्वस्य च प्रकाशकत्वेन विश्वतोमुख-पदाभिधानयोग्यं बुद्धिवृत्त्युपाधिभिः नानारूपं च यद् ज्ञानं तदपि तदेव। इति द्वयोरर्थः।।६१६-७।।

बृहदारण्यकपञ्चमाध्याये भुज्युप्रश्न 'इन्द्रः पक्षी भूत्वा' इति श्रुतम्, तदनुसारेण ईश्वरस्य पक्षिरूपतापरत्वं दर्शयंश्चतुर्थस्य[3] अर्थं वर्णयति—कारणमिति षड्भिः। अत्र—विराड्रूपापन्नम्—इति शेषो बोध्यः, अतो न[4] पञ्चमाध्यायविरोधः। तथा च कारणोपाधिकमीश्वरं विराड्भावापन्नं वक्ष्यमाणविधया पक्षित्वेन कल्पयन्ति अल्पानां मन्दमतीनाम् उपासनादिसौकर्याय इत्यर्थः। तदुक्तम्—'निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात् कर्तुमनीश्वराः। ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः।। वशी कृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्। तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपा-

निर्गुण व सगुण यों निरपेक्ष व सापेक्ष विभाजन वाला देव अपनी मायाशक्ति द्वारा एक अक्षर के रूप में ॐ आदि स्वरूप वाला है और जीवों के भोगादि प्रयोजनों की सिद्धि के लिये ही सृष्टि के प्रारंभ में बहुत वर्ण—अर्थात् अर्थों समेत शब्द—उत्पन्न करता है। संहार के समय वही देव उस सारे विश्व को, सभी व्यक्तियों को एवं सभी सामान्यों को अपने विक्षेपहीन व शब्दहीन स्वरूप में विलीन कर लेता है। वही देव हम सबको हमेशा शुद्ध बुद्धि से युक्त करे जिस बुद्धिशुद्धि से हम जान पायें कि "मैं ब्रह्म हूँ"।।६११-३।।

हे यतिप्रवरो ! शुद्ध बुद्धि से जिस ब्रह्म का अनुभव होता है वही अग्नि, आदित्य, वायु, चंद्र, अधिक सत्त्वगुण वाला अव्याकृत, यजुरादि वेदों के अभिमानी तत्तद् देवता, सूक्ष्म महाभूत, विराट्-हिरण्यगर्भ-मरीचि आदि प्रजापति—सभी है।।६१४-५।। जीवोपाधि व्यष्टिदेहों में भी वही है : वही देव स्त्री-पुरुष अर्थात् जवान शरीरों वाला है, कुमार-कुमारी अर्थात् बाल शरीरों वाला है, बूढा होकर दण्डे के सहारे धीरे-धीरे चलने वाला भी वही है। गिनती कहाँ तक करें ! जो कोई शरीर पैदा होता है उससे वही देव अवच्छिन्न हो जाता है। उक्त सारा जो त्वम्पदार्थ (जीव) वह तत्पदार्थ (ईश्वर) से भिन्न नहीं है। विभिन्न बुद्धिवृत्तियों से अनंत रूपों वाला ज्ञान भी वही है।।६१४-७।।

१. 'तदेवाऽग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदाऽऽपस्तत्प्रजापतिः।।'४.२।।
२. 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः।।'४.३।।
३. 'नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः। अनादिमत् त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा।।'४.४।
४. बृहदारण्यकप्रसंगादित्यर्थः।

कारणात्मा भवेत् पक्षी नीलो दूर्वादलप्रभः। लोहिते तस्य विज्ञेये चक्षुषी पतगात्मनः।।६१९
तडित्समानमखिलं दृष्टनष्टस्वभावकम्। अस्य गर्भे स्थितं यद्वज्जनन्या जठरे शिशुः।।६२०
ऋतुरूपस्तु कालोऽयमपां राशिश्च सागरः। अनेकभेदसम्भिन्नः पक्षौ तस्य महात्मनः।।६२१
आदिशून्यस्तत्पदार्थः त्वमित्यपि च कीर्तितः। इन्द्रः सर्वगतो भूत्वा विद्यतेऽन्तर्बहिस्तथा।।
पारिक्षितानां ब्रह्माण्डाद् बहिर्नेता महेश्वरः।।६२२
यतो जातानि सर्वाणि महाभूतानि पञ्च च। येभ्यो जातानि सर्वाणि ब्रह्माण्डे भुवनानि च।।६२३

धिकल्पनम्।।' (कल्प. १.१.२०) इति।।६१८।। कारणात्मेति। कारणात्मा ईश्वरो विराड्रूपो दूर्वादलश्यामपक्षिरूपेण ध्येयः तस्य अक्षिणी तु रक्तवर्णे ध्येये इत्यर्थः।।६१९।। तडिदिति। क्षणभङ्गुरत्वलक्षणं दृष्टनष्टत्वेन तडिता विद्युता तुल्यं कार्यजातं तस्य गर्भे भवतीति अतः तडिद्धर्मपदेनोक्त इत्यर्थः।।६२०।। ऋत्विति। वसन्तादिऋतुरूपः कालः समुद्रश्च इत्येतौ प्रत्येकं नानाविधौ तस्य पक्षिणः पक्षत्वेन ध्येयौ इत्यर्थः।।६२१।। मन्त्रतृतीयपादेन तत्पदार्थम् ईश्वरं त्वम्पदेन निर्दिश्य विभुपदवाच्येन्द्ररूपेण वर्तमानोऽसीत्युच्यत इत्याह—आदीति। पारिक्षिताः पञ्चमाध्याये भुज्युप्रश्ने व्याख्याताः। य आदिशून्यः तत्पदार्थः इन्द्ररूपो भूत्वा ब्रह्माण्डस्य अन्तर्बहिः वर्तमानः पारिक्षितानां बहिर्नेता उक्तः। सोऽत्र मन्त्रे त्वम्पदेन निर्दिष्ट इति सम्बन्धः।।६२२।। यत इति। यत इन्द्राद् ब्रह्माण्डान्तर्वर्तीनि भुवनानि तदुपादानभूतानि स्थूलभूतानि च जातानि इत्यर्थः।।६२३।।

बृहदारण्यक (२.५.१८) में परमात्मा को पक्षी के रूप में बताया था, उसका अनुसंधान कर कहते हैं : उदार-धी विद्वान् विराट् रूप को प्राप्त इस कारण की पक्षी रूप में कल्पना करते हैं ताकि अल्प बुद्धिसामर्थ्य वाले साधक भी उसका ज्ञान और स्तवन कर पायें।।६१८।। (सीधे ही निर्विशेष समझ नहीं आ पाता अतः पहले सविशेष पर चित्त स्थिर कर लेना चाहिये क्योंकि वही परमेश्वर जब प्रसन्न हो जाता है तब अपना निरुपाधिक स्वरूप भी अनावृत कर देता है।) कारणरूप ईश्वर का—विराट् का—पक्षी रूप में ध्यान करना चाहिये। हरी घास जैसे श्याम वर्ण वाला और लाल आँखों वाला पक्षी यहाँ ध्येयाकार है।।६१९।। जैसे बिजली-चमकना देखते-देखते ही समाप्त हो जाता है ऐसे यह सारा कार्यप्रपंच क्षणभंगुर है। माँ के गर्भ में शिशु की तरह उस ईशपक्षी के गर्भ में यह सारा संसार है।।६२०।। उस महात्मा पक्षी के दोनों पंखों के रूप में ध्येय हैं वसंतादि ऋतुरूप काल और सागर नामक जलराशि। काल व समुद्र दोनों के सभी अवांतर भेदों का काल व सागर में अंतर्भाव समझना चाहिये।।६२१।। यों मंत्रार्ध में रूपकात्मक वर्णन कर उत्तरार्ध से ईश्वर की व्यापकता बतायी है : जो कारणरहित तत्पदार्थ इन्द्र रूप धर कर ब्रह्माण्ड के अंदर-बाहर व्यापक है, जो महेश्वर पारिक्षितों को ब्रह्माण्ड से बाहर पहुँचाता है उसे ही मंत्र में 'तुम' शब्द से भी कहा है (कि 'तुम विभु हो'। पारिक्षित अश्वमेधयाजियों को कहते हैं यह प्रसंग बृहदारण्यक व्याख्या में आ चुका है।)।६२२।। जिनसे सारे ब्रह्माण्ड और (चौदहों) भुवन पैदा हुए वे सारे पाँचों महाभूत उसी ईश्वर के कार्य हैं।।६२३।।

ईश्वरस्तुति से बुद्धि शुद्ध कर साधक को महावाक्य समझने के लिये विचार करना चाहिये इस अभिप्राय से उपनिषत् के पाँचवें मंत्र में कहा—'अविद्योपाधि से स्वयं को एकमेक समझने वाला जीव अपनी उपाधि का मानो सानुराग सेवन करता है, उसके विकारों से सुखी दुःखी होता रहता है और उसकी जडता से स्वयं को अज्ञ माने रहता है। वह अकेली अविद्या लाल-सफेद-काली है और अपने ही जैसे एवं बहुत विशेषों वाले तेज-जल-पृथ्वी की उत्पादिका है। कभी बद्ध न होने वाला ईश्वर इस माया को (हमेशा ही) छोड़े रहता है क्योंकि ईश्वर में हमेशा विद्यमान ज्ञानाग्नि से यह दग्ध (बाधित) रहती है।।५।। 'एकाम्' श्रुति से दीपिका में शंकरानंदजी ने अविद्या की एकता संक्षेप में बखूब उपपादित की है। 'अन्य अज' से नारायण विरक्त अधिकारी को ग्रहण करते हैं क्योंकि ईश्वर अजाका न भोग और न त्याग करता है। विज्ञानभगवान् 'भुक्तभोगाम्' का अभिप्राय मानते हैं कि माया ही भोक्त्री भी है। इस मंत्र को सांख्यमतानुसार

महावाक्योपयोगिविचारः

एवं सङ्कल्प्य ते हेतुं पक्षिरूपं महाधियः। पुनरत्रत्रिधाभावं कृत्वैवं कल्पयन्ति च।
तत्त्वंपदार्थौ तद्भेदहेतुर्माया च दुःखदा।।६२४

अजा माया यतो नास्या जन्म स्यात् कारणात्मना। कार्यात्मना त्रिरूपा सा तेजोबन्नस्वरूपिणी।।६२५

लोहिता वह्निरूपेण श्वेता नीरात्मनाऽपि च। भूमिरूपा तथा कृष्णा त्रिरूपेति प्रकीर्तिता।।६२६

त्रिरूपेयं त्रिरूपं तद् विश्वं स्वसदृशं मुहुः। जनयत्यपरा यद्वच्छागी वर्णत्रयात्मिका।।
सा वर्करान् स्वसरूपान् जनयेत् सुबहूनपि।।६२७

तामेकः कामुकश्छागः प्रीतियुक्तस्तु सेवते। अपरः सुरतं कृत्वा भुक्तभोगां जहाति ताम्।।६२८

एवमस्यामजावेतौ बन्धमोक्षमुपागतौ। त्वंतत्पदार्थौ पुरुषः सस्पृहो निःस्पृहोऽपि च।।६२९

एवं मन्त्रचतुष्टयाराधितेश्वरानुग्रहाद् विमलधिया महावाक्योपयोगिविचारः कर्तव्यः इति सङ्गत्या 'अजाम्'[1] इत्यादेर्मन्त्रस्य अर्थमाह—एवम् इति अष्टभिः। हेतुं जगत्कारणम् ईश्वरम् एवम् उक्तविधया पक्षिरूपं सङ्कल्प्य ध्यात्वा पुनरत्र शबलस्वरूपे पदार्थद्वयं तद्भेदिका माया च इत्येवं त्रिधाभावं कल्पयन्ति इति।।६२४।। तत्र पदार्थयोः भेदिका मायाऽनादित्वेन 'अजा' इत्युक्ता। तथा तेजोबन्नलक्षणकार्यरूपेण च्छान्दोग्यप्रसिद्ध-रूपकत्रयेण तु त्रिरूपेत्युक्तेत्याह—अजेति।।६२५।। छान्दोग्यप्रसिद्धं तेजःप्रभृतीनां रूपत्रयमभिनयति—लोहितेति।।६२६।। त्रिरूपेयमिति। इयं माया उक्तविधया लोहितादिभिः त्रिरूपा सती त्रिरूपत्वेन सदृशं विश्वं जनयति। तथा च छान्दोग्यश्रुतिः 'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' (छां. ६. ४.१) इति। यद्वदपरा लौकिकी अजा छागी त्रिवर्णा स्वसमानरूपान् वर्करान् छागान् जनयेत्। 'वर्करः परिवारे स्यात् छागे युवपशावपि' इति विश्वः।।६२७।। तामिति। तां छागीं यथा कश्चित् छागः कामुकः सेवेत, कश्चित्तु निष्कामः त्यजेदिति।।६२८।। एवमिति। एवं लौकिकाजावद् वर्तमानायाम् अस्याम् मायायां सत्यां सस्पृहनिःस्पृहपुरुषरूपौ त्वंतत्पदार्थौ अजरूपौ बन्धमोक्षभागिनावुक्तौ इति।।६२९।। एतदेव स्फुटयति—स्पृहायुक्त

न समझा जाये इसके लिये सूत्रभाष्यादि में प्रभूत विचार द्रष्टव्य है। अजा शब्द 'जिसका जन्म नहीं' उस अविद्या का बोधक है। भाषा में अजा बकरी भी कही जाती है। इस दृष्टि से इसे रूपक भी माना गया है। पुराणकार आठ श्लोकों से इसे समझाते हैं :

समझाने में दत्तचित्त आचार्य जगत्कारण ईश्वर का पूर्वोक्त पक्षी रूप में ध्यान बताकर और स्पष्टीकरण के लिये शबल स्वरूप को तीन तरह बँटा समझाते हैं—तत्पदार्थ (ईश्वर), त्वम्पदार्थ (जीव) और उनके भेद में हेतु दुःखप्रद माया।।६२४।। माया 'अजा' है क्योंकि कारणरूप इस अविद्या का जन्म नहीं होता। अपने कार्यों के रूप में यह तीन रंगों वाली है क्योंकि तेज-जल-पृथ्वी—ये इसके सरूप कार्य हैं।।६२५।। वह्निरूप से यह लाल है, जल रूप से सफेद है और भूमिरूप से काली है। इसलिये अजा तीन रंगों वाली कही गयी है।।६२६।। जैसे लौकिक तिरंगी बकरी अपने जैसे बहुतेरे बकरे पैदा कर देती है वैसे तीन रूपों वाली यह माया अपने समान तीन रूपों वाला यह विश्व पैदा करती रहती है।।६२७।। लौकिक बकरी पर प्रेम वाला कोई बकरा उसका उपभोग करता है जबकि अन्य बकरा सुरत के बाद उस भोगी हुई को छोड़ देता है। इसी प्रकार इस माया के रहते ये दोनों बंधन और मोक्ष पाते हैं : त्वम्पदार्थरूप कामुक जीव बंध प्राप्त करता है एवं निष्काम जीव मोक्ष पाता है। मुक्त हुआ वह क्योंकि तत्पदार्थ ईश्वर से अभिन्न

१. 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।' ४.५।। अयं मंत्रो ब्र. सू. १.४.२.८-१० विषयवाक्यम्।

स्पृहायुक्तः पुमानेनां प्रकृतिं विश्वरूपिणीम्। न जहाति यथा छागीं छागः सुरतकामुकः।।६३०

निःस्पृहः प्रजहात्येनां सुरतेन यथा परः। छागो निःस्पृहतां प्राप्य च्छागीं त्यजति लौकिकः।।६३१

एवं च कल्पयन्त्येते बुद्धिसाकल्यहेतुतः। अविद्या कार्यसहिता पादपत्वेन कीर्तिता।।
भिन्ना तस्यां पदार्थौ तु सुपर्णौ परिकीर्तितौ।।६३२

पक्षिणौ द्वाविमौ नित्यं युक्तौ भेदविवर्जितौ। सखायावेकमेवैनं वृक्षमाश्रित्य संश्रितौ।।६३३

इति। स्पष्टम्।।६३०।। निःस्पृह इति। सुरतेन निःस्पृहतां प्राप्य इति सम्बन्धः।।६३१।।

'षष्ठमन्त्रोऽप्येवमेव सोपाधिकं पदार्थद्वयं प्रतिपादयतीति दर्शयंस्तदक्षरार्थमाह—एवं चेति त्रिभिः। एते महाधियः बुद्धेः साकल्यादत्युत्कर्षाद् एवम् अपि कल्पयन्ति रूपकं वर्णयन्ति। 'एवं' कथम् ? सकार्याऽविद्या' वृक्षरूपा बोध्या। तत्र वर्तमानपक्षिरूपौ तु जीवेश्वरौ बोध्यावित्यर्थः।।६३२।। पक्षिणाविति। तौ पक्षिणौ वस्तुतो भेदराहित्याद् नित्ययुक्तौ सखायौ समानरूपौ एनं सकार्याविद्यारूपं वृक्षम् आश्रितौ।।६३३।।

ही होता है इसलिये उसे तत्पदार्थ कहा जा सकता है। जैसे सुरतेच्छुक बकरा बकरी को नहीं छोड़ता ऐसे सकाम जीव नाना रूपों वाली इस प्रकृति को नहीं छोड़ता। जैसे अन्य लौकिक बकरा सुख से निःस्पृह हो बकरी को छोड़ देता है ऐसे निष्काम साधक इस माया को छोड़ देता है।।६२९-३१।। (दीपिका में 'अन्य अज' ईश्वर कहा है, यहाँ भी तत्पदार्थ कहा है अतः तात्पर्य है कि अपनी ईश्वररूपता के अनुसन्धान से ही मायात्याग संभव है।)

उपाधि के अनुरोध से भेद वाले तत्-त्वम् पदार्थों को छठे मंत्र में पक्षीरूप से बताया है—'सुंदर पंखों वाले दो (पक्षी) हैं। जीव के पंख हैं धर्म और अधर्म जबकि ईश्वर के पंख हैं अविद्या और अविद्यासम्बंध। ये दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं, एक-दूसरे से प्रसिद्ध हैं, परस्पर उपकार्य-उपकारक हैं, रक्षक-रक्षित हैं। दोनों ही अविद्यारूप समान वृक्ष पर चिपटे हैं। इनमें एक अर्थात् जीव धर्माधर्म का रागोत्पादक फल खाता रहता है, स्वयं को सुखी-दुःखी मानता है। निरभिमानी दूसरा, ईश्वर, भोगता नहीं, केवल प्रकाशमान रहता है।'६।। विज्ञानभगवान् बिम्बप्रतिबिंब-भाव से परस्पर सम्बंध ('सयुजौ') समझाते हैं। हमारे गुरु जी ईश्वर के पंख फलदातृता और अनुग्राहकता मानते हैं तथा पक्षियों के परस्पर आलिंगन को संमति देते हैं जिसे बिम्बप्रतिबिम्बन्याय से संगत बताते हैं। 'पिप्पल' का वे कठोक्त अश्वत्थ से सम्बंध जोड़ते हैं। मंत्रार्थ का पुराणकार वर्णन करते हैं :

साधकों की बुद्धि में कोई कमी न रह जाये, वे तत्त्व सही-सही समझ लें इसके लिये कृपालु आचार्य यों भी कल्पना करते हैं—कार्यों समेत अविद्या पेड़ रूप से कही गयी है। अविद्या आत्मा से, अपने कार्यों से तथा अपने गुणादि से भी भिन्न है और विभिन्न प्रकारों से उपलब्ध होने से भी भिन्न है। उस पेड़ पर जो सुंदर पंखों वाले दो पक्षी कहे गये हैं वे तत्-त्वम् दोनों पदार्थ हैं। इनमें वास्तव में परस्पर भेद है ही नहीं फिर भी लगते दो हैं पर हमेशा जुड़े रहते हैं (अर्थात् जब भी प्रमाता व साक्षी उपलब्ध होते हैं परस्पर सम्बद्ध ही होते हैं)। ये दोनों समान रूप वाले हैं और इस एक ही अविद्यावृक्ष के सहारे स्थित हैं।।६३२-३।।

---

१. 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।'४.६।। ब्र. सू. १.२.१२ तमेऽस्य विचारो मुण्डकगतस्य। 'इयदामननाद्' ३.३.३४ इत्यत्र च अस्य 'ऋतं पिबन्ता' वित्यादिना विधैक्यं स्थापितम्। 'भेदश्रुतेरनुवादकत्वविचारे'ऽद्वैतसिद्धिप्रकरणे विचारितेयं श्रुतिः।

२. मूले भिन्नेत्यविद्याविशेषणं, स्वसमानसत्ताकभेदवतीत्यर्थः। तत्त्वंपदार्थभेदस्तु व्यावहारिकत्वात्पदार्थौ द्वावपि 'भेदवर्जितौ' इत्युक्ताविति विभावनीयम्।

तयोः कर्मप्रसूनोत्थं सुखदुःखात्मकं फलम्। एकः स्वाद्वत्ति पतगो बुद्धिमायावशङ्गतः।।
अन्यः प्रकाशयत्येव न तदश्नाति कर्हिचित्।।६३४

अजौ वा पक्षिणौ वाऽपि भोक्त्रभोक्तृविभागतः। उक्तौ तौ त्वंपदार्थस्य भोक्तृताविनिवृत्तये।।६३५

प्रतीता भोक्तृता जीवे स्वात्माऽज्ञानाद् नृणामिह। न सा विधीयते यस्माज्ज्ञाता पूर्वमियं स्वयम्।।६३६

तत्पदार्थस्य भोक्तृत्वे ज्ञानं शास्त्रं विना न हि। शास्त्रान्तरात्तु तस्याऽपि प्राप्तैवाऽभोक्तृता सदा।।६३७

ततो ब्रह्माऽहमस्मीति शाब्दं ब्रूते ह्यनर्थकम्। भोक्त्रभोक्तृपदार्थौ तौ स्यातां केनैकरूपिणौ।।
इति शङ्काव्युदासार्थम् इदं रूपकमीरितम्।।६३८

तयोरिति। तयोः मध्ये एकः पतगः पक्षी बुद्धिविशिष्टजीवरूपः तस्य वृक्षस्य कर्मरूपपुष्पजन्यं सुखाद्यात्मकं फलं स्वादु मन्यमानः अत्ति भुंक्ते। अपरस्तु पश्यत्येव इत्यर्थः।।६३४।।

अनयोः मन्त्रयोः जीवे या भोक्तृतोक्ता, सा न विधेया, किन्तु बुद्ध्युपाधिकभ्रमसिद्धत्वाद् अनूद्यैव। तदनुवादोऽपि जीवस्य शुद्धचैतन्यात्मकब्रह्मताबोधनाय। अत एव पैंगीब्राह्मणे एतन्मन्त्रव्याख्याने सत्त्वपदोक्तायां बुद्धौ भोक्तृत्वं प्रक्षिप्तम्। इति तात्पर्यार्थमाह—अजाविति सप्तभिः। अनयोर्मन्त्रयोः अजरूपौ पक्षिरूपौ च तत्त्वं-पदार्थौ भोक्तृत्वाऽभोक्तृत्वाभ्यां विलक्षणौ यद् उक्तौ तदुक्तेः तात्पर्यं त्वम्पदार्थस्य भोक्तृतानिवृत्तावेवेत्यर्थः।।६३५।। तत्र हेतुतया 'अप्राप्ते शास्त्रमर्थवद्' इति न्यायविरोधेन प्रसिद्धाया भोक्तृताया अज्ञातज्ञापनलक्षणविधानाऽयोग्यत्वमाह—प्रतीतेति। जीवे स्वात्माऽज्ञानप्रयुक्ता भोक्तृता यतः प्रतीता प्रसिद्धाऽतो न शास्त्रेण विधानयोग्या, शास्त्रश्रवणात्पूर्वमेव ज्ञातत्वाद् इत्यर्थः।।६३६।। नन्विदं वाक्यं तत्पदार्थेश्वरस्यैव भोक्तृतावारकमस्तु इति चेद्? न। 'प्रसक्तं हि प्रतिषिद्ध्यत' इति न्यायविरोधाद् इत्याह—तत्पदार्थस्येति। ईश्वरस्य भोक्तृत्वं किं लौकिकैः प्रत्यक्षादिप्रमाणैः सिद्धम्? किं वा श्रुत्यन्तरेण? नाद्यः। तस्य अलौकिकत्वेन लौकिकप्रमाणाऽयोग्यत्वात्। नान्त्यः। ईश्वरे भोक्तृत्वप्रतिपादिकायाः श्रुतेः अनुपलम्भात्, प्रत्युत भोक्तृत्वाभावप्रतिपादिकाया 'न तदश्नाति किञ्चन' इत्यादिश्रुतेः अक्षरप्रकरणे आरण्यकपञ्चमाध्याये उपलम्भाद् इति भावः।।६३७।। फलितमाह—तत इति। ततः तत्पदार्थे भोक्तृत्वस्य अप्रसङ्गेन निषेधायोग्यत्वाद् इदं गतमन्त्रद्वयदर्शितं रूपकम् इति अस्याः शङ्काया वारणार्थमेवोक्तम्। 'इति अस्याः' कस्याः? ननु ब्रह्माऽहम् इति अर्थकं शाब्दं शब्दसमूहः अनर्थकं बाधितमर्थं ब्रूते; यतो भोक्तुः जीवस्य त्वम्पदार्थस्य, अभोक्तुः ईश्वरस्य तत्पदार्थस्य च एकरूपत्वं न सम्भवतीति।।६३८।।

उन दोनों पक्षियों में जो एक अपनी बुद्धिरूप पत्नी के वशीभूत है वह कर्मरूप पुष्प से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःखरूप फल को स्वादिष्ट मानकर उस फल को भोगता रहता है जबकि दूसरा पक्षी केवल प्रकाशता है, उस फल को कभी नहीं खाता।।६३४।।

इस प्रसंग में जीव भोक्ता है यह बताने में तात्पर्य नहीं क्योंकि यह बात तो बिना शास्त्र पढ़े यों ही सब जान रहे हैं वरन् इसे औपाधिक बताकर जीव शुद्धचैतन्य ही है इसमें तात्पर्य है। इस मन्त्र की स्वयं वेद ने पैंगी ब्राह्मण में व्याख्या की है। वहाँ बताया है कि भोक्तापन बुद्धि में है। यद्यपि पैंगी के अनुसार 'दूसरा पक्षी' ईश्वर नहीं वरन् बुद्धि और क्षेत्रज्ञ (जीव) ही दो पक्षी हैं तथापि बुद्धि से विविक्त हुआ जीव वस्तुगत्या ईश्वर होने से दूसरे पक्षी को ईश्वर और बुद्धितादात्म्यापन्न होने से बुद्धि को (जीव को) पीपल खाने वाला पक्षी कहा है अतः कोई अंतर नहीं। पैंगी को मन में रख इस संदर्भ पर पुराणकार विचार करते हैं :

आरोपिता यथा चाऽत्र च्छागताऽपि सुपर्णता। तत्पदार्थेऽत्र निःशेषधर्मशून्ये प्रतीयते।।६३६
आरोपितैव न त्वेषा वस्तुतोऽस्ति कथञ्चन। त्वम्पदार्थेऽपि च तथा भोक्तृताऽत्र प्रतीयते।।६४०
अतो रूपकरूपेण भोक्तृत्वमिह कीर्तितम्। जीवस्य बुद्धिसंसर्गाद् न स्वरूपात् कथञ्चन।।६४१

कथमस्याः शङ्काया अनेन रूपकेण निराकरणम् इति चेद् ? दृष्टान्तविधयेत्याह—आरोपिता यथेति। यथा चाऽत्र रूपकद्वये तत्पदार्थे शुद्धेऽजत्वं पक्षित्वं च शब्दबलात् प्रतीयमानमारोपितम् एव, तथा त्वम्पदार्थे भोक्तृत्वं बुद्धिसम्बन्धात् प्रतीयमानम् आरोपितमेव, न सत्यम्। इति द्वयोरर्थः।।६३६-४०।।

एतदभिप्रायस्फुटी करणायैव पैङ्गिब्राह्मणे[1] बुद्धौ भोक्तृत्वं दर्शितम् इत्याशयेन निगमयति—अत इति। स्वरूपं शुद्धं रूपमादाय भोक्तृत्वं नोक्तमिति।।६४१।।

भोक्ता और अभोक्ता रूप से अलग-अलग जो दो अज (मंत्र ५) या दो पक्षी (मं. ६) बताये उसका अभिप्राय यह समझाना है कि त्वंपदार्थ जीव में भोक्तापन सच्चा नहीं है।।६३५।। स्वात्मा को सही-सही न जानने से लोग जीव को भोगने वाला (भोक्ता) समझते ही हैं अतः खुद ही सबको पता होने से शास्त्र इसे प्रतिपादित नहीं करता कि 'जीव भोक्ता है' !।।६३६।। तत्पदार्थ ईश्वर भोगता है यह बात शास्त्र के बिना तो जानी नहीं जा सकती क्योंकि ईश्वर लौकिक वस्तु है नहीं जो लौकिक प्रमाणों का विषय हो जाये और शास्त्र अन्य प्रकरण में स्पष्ट कहता है कि वह भोक्ता है नहीं अतः यहाँ उसे भी भोक्ता कहना नहीं बनता।।६३७।। इसलिये पूर्वोक्त मंत्रद्वय में रूपक का अभिप्राय इस शंका को मिटाना है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' बताने वाले वाक्य निरर्थक हैं क्योंकि भोक्ता और अभोक्ता पदार्थ एकस्वरूप वाले हो कैसे सकते हैं!'।।६३८।।

इस शंका के यहाँ निराकरण का ढंग यह है : जैसे दोनों रूपकों में सभी धर्मों से रहित तत्पदार्थ ईश्वर में शब्दानुरोध से बकरापन और पक्षीपन आरोप से प्रतीत होता है वैसे ही त्वम्पदार्थ जीव में भोक्तापन वस्तुतः किसी तरह नहीं है, बुद्धिसम्बंध से ही आरोपित हुआ प्रतीत होता है। (श्रुति में एकत्र 'अज' शब्द का प्रयोग किया जो केवल बकरे को नहीं कहता अतः उससे बकरा ही याद आये ज़रूरी नहीं और दूसरे मंत्र में भी पक्षी वाचक कोई पद रखा नहीं; केवल वर्णन ऐसा किया है कि ये दोनों बिम्ब मन में आते हैं और तत्काल भी मालूम रहता है कि यहाँ सचमुच बकरों या चिड़ियों की बात नहीं है। इससे श्रुति संकेत करती है कि जैसे ये भाव अवास्तविक हैं वैसे भोक्तृता भी।)।।६३९-४०।। इसलिये यहाँ बुद्धिसम्बंधवश जीव का भोक्तापन रूपक के ढंग से कहा है, न कि शुद्ध आत्मा को भोक्ता बताने के अभिप्राय से।।६४१।।

जैसे जानकारी न होने से कोई जहरीला फल खा लेता है ऐसे जीव संसारफल भोगने में तत्पर हो असमर्थता प्राप्त कर शोकमग्न हो जाता है। इस फल का उपभोग छोड़ जब ईश्वरदर्शन पा लेता है तब ईशस्वरूप हो मुक्त हो जाता है। यह सातवें मंत्र में श्रुति कहती है—'(साक्षी व प्रमाता के लिये) साधारण शरीर में जीव कर्तृताऽध्यास से अपनी आनंदरूपता छिपा चुका है अतः 'मैं सुखु-दुःखी' भासने से शोकाकुल, चिन्ताग्रस्त है। जब आनंदात्मप्रकाश से पुष्ट, अविद्या-तत्कार्य-तत्सम्बंध से अलग तथा जीवसमेत इनके नियन्ता का साक्षात्कार कर लेता है तब सकारण शोक से रहित हुआ ईश्वर का स्वप्रभ आनंदाविर्भाव पा जाता है।'७।। नारायण 'मुह्यमान' से रागवान् होना तथा 'जुष्टम्' से सेवा द्वारा प्रसन्न अर्थ समझते हैं। भाष्य में 'जगत् इस परमेश्वर की ही महिमा है ऐसा देखता है' यों महिमा का सम्बंध जोड़ अर्थ कहा है। विज्ञानभगवान् जुष्ट का अर्थ 'हिरण्यगर्भादि द्वारा सेवित' एवं 'अन्यम्' का 'जीवसे अन्य

---

१. 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति इति सत्त्वम्; अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति इति, अनश्नन्नन्योऽभिपश्यतिज्ञः; तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ'। 'तदेतत् सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यति। अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञः। तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ।'—इति सूत्रभाष्ये १.२.१२ दर्शितं ब्राह्मणम्।

एकस्मिन्नेव वृक्षे स सुपर्णः फलभोगभाक्। देहबुद्ध्यादिसम्बन्धाद् मग्नो दुःखोदधाविह।।
अनीश्वरत्वमापन्नः शोचत्यात्मविमोहतः।।६४२

आनन्दात्मानमद्वैतं स्वयंज्योतिषमीश्वरम्। देहादिभ्यः परं बुद्ध्या यदैष गुरुलब्धया।।६४३

पश्यति स्वं हृदाकाशं वीतशोकस्तथा पुमान्। महत्त्वमस्य संयाति तादात्म्यात् स भवेत् ततः।।६४४

ज्ञानमहत्त्वम्

यन्महत्त्वमयं गच्छेत् तदक्षरमुदीरितम्। ऋगादिकस्तु यत्राऽयं वेदराशिः प्रतिष्ठितः।।
विश्वेदेवाश्च यत्रैते वह्न्याद्या निवसन्ति च।।६४५

एषा जीवस्य संसारवृक्षफलभोक्तृता आविद्यकी विषवृक्षफलभोक्तृतेव असामर्थ्याधानद्वारा शोकहेतुः, तस्याः परित्यागेन तत्पदार्थस्वरूपदर्शनं तु तद्भावहेतुः इत्यावेदकस्य[1] सप्तमस्यार्थमाह—एकस्मिन्नेव इति त्रिभिः। एकस्मिन् पदार्थद्वयात्मकसुपर्णद्वयस्य साधारणे वृक्षे सकार्याऽविद्यारूपे स जीवरूपः सुपर्णः फलभोगी सन्, अनीश्वरत्वम् असामर्थ्यं प्राप्य शोचति। तत्र सर्वत्र हेतुः स्वरूपाऽज्ञानरूपो विमोह इत्यर्थः।।६४२।। आनन्दात्मानमिति। यदा तु निरतिशयप्रेमास्पदत्वादिना उपलक्षितानन्दरूपं सर्वान्तरम् आत्मानं हृदयाकाशरूपं गुरुप्रसादलब्धया बुद्ध्या पश्यति तदा वीतशोकः सन्, अस्य तत्पदार्थस्य महिमानमेवैति। श्रुतौ ह्रस्वत्वं छान्दसमिति। महत्त्वप्राप्तिमेव स्फुटयति—तादात्म्याद् इति। तादात्म्यं तत्पदार्थस्वरूपं प्राप्य ततः पूर्णः सर्वात्मा भवेत्, 'स आत्मानमेव अवेद् 'अहं ब्रह्मास्मि' इति तस्मात् तत् सर्वमभवद्' (बृ. १.४.१०) इति श्रुत्यन्तराद्। इति द्वयोरर्थः।।६४३-४।।

तत्पदार्थस्वरूपं, तदविज्ञाने विज्ञाने च दोषं गुणं च दर्शयतोऽष्टमस्यार्थमाह[3]—यन्महत्त्वमिति षड्भिः। अयं गुरुणाऽनुगृहीतो विद्वान् यस्य तत्पदार्थस्य महत्त्वं गच्छति तस्य स्वरूपम् अक्षरात्मकं पञ्चमाध्याये गार्गीं प्रति याज्ञवल्क्येन वर्णितम्—यत्र अक्षरस्वरूपेऽधिष्ठाने ऋक्प्रभृतयो वेदाः, तत्प्रतिपादिता देवादयश्च निवसन्ति तत्सत्तामानादिभिः सत्तादिकं लभन्त इत्यर्थः।।६४५।। आधिक्येनेति। आधिक्यं सर्वसत्तादिप्रदत्वलक्षणं

है यों भ्रम से गृहीत' यह अर्थ करते हैं। तीन श्लोकों में पुराण इसका तात्पर्य बताता है :

तत्पदार्थ व त्वंपदार्थ रूप दोनों पक्षी सकार्य अविद्यारूप एक ही वृक्ष पर रहते हैं। आत्मस्वरूप का जिसे अज्ञान है वह जीवरूप पक्षी कर्मफल के भोग को अपना समझता है। शरीर मन आदि में तादात्म्याध्यास से वह संसार में दुःखसागर में डूब रहा है। सामर्थ्यहीन हुआ जीव शोकग्रस्त होता है।।६४२।। गुरुप्रसाद से प्राप्त तत्त्वबुद्धि से जब यह देहादिसे परे, आनंदस्वरूप, नाम-रूपात्मक द्वैत से रहित, स्वप्रकाश, हृदयाकाश में स्फुट, आत्मरूप ईश्वर को देख लेता है तब जीव शोकरहित हो जाता है और ईश्वर की महिमा पा लेता है अर्थात् उससे अभिन्न हो पूर्ण, व्यापक हो जाता है।।६४३-४।।

उपनिषत् आगे ईश्वरस्वरूप और उसके ज्ञानका महत्त्व बताती है। 'जिस परब्रह्मरूप आकाश में ऋचाएँ (छन्दोबद्ध वर्ण) और भूतों समेत सारे देवता पूर्णतः अधिष्ठित हैं उस अधिष्ठान को जो अधिकारी नहीं जानता उसे शब्द-ब्रह्ममात्र से क्या लाभ ! जो अधिकारी पूर्वोक्त ढंग से उस ब्रह्म को जानते हैं वे आनंदात्मरूप से व्यापी हो रहते हैं जैसे हम (श्वेताश्वतर ऋषि)।।'८।। नारायण 'ऋचोऽक्षरे' से 'ऋचाओं द्वारा प्रतिपाद्य अक्षर तत्त्व' और 'किमृचा' से 'अध्यापनमात्र

१. 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।।'४.७।।
२. 'इति'=एति इत्यर्थः।
३. 'ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते।।' ४.८।।

आधिक्येन न यो वेद तद् व्यर्थं तस्य जीवनम्। आधिक्येन च यो वेद सफलं तस्य जीवनम्। ।६४६
किं करिष्यत्यनात्मज्ञो वेदैः साङ्गैर्ऋगादिभिः। अधीतैर्गर्दभो यद्वद् भारैस्तैश्चन्दनैरपि। ।६४७
य इत्थमात्मनस्तत्त्वम् उक्तरीत्या विजानते। समासते हि ते सर्वे महाराजसमाः सुखम्। ।
इमे भवादृशाः सर्वे मादृशाश्च यतीश्वराः। ।६४८
ऋगाद्यध्ययनस्याऽपि फलमेतावदीरितम्। यदात्मनोऽत्र विज्ञानं नाधिक्यं हि यतीश्वराः। ।६४९

सर्वान्तरत्वं, तेन रूपेण तद् अक्षरं यो न जानाति स वृथा जीवति, यश्च जानाति स धन्यः। ।६४६ । । यथा चन्दनमयो भारः गर्दभस्य नोपकाराय तथा पराग्दर्शिनः शास्त्राध्ययनमित्याह—किं करिष्यतीति। ।६४७ । । ये तु तज्जानन्ति ते हे मुनयो ! भवादृशाः सुखं तिष्ठन्ति इत्याह—य इत्थमिति। समासते सम्यक् तिष्ठन्ति। ।६४८ । । ऋगादीति। स्पष्टम्। ।६४९ । ।

का क्या लाभ' अर्थ समझते हैं। हमारे गुरु जी 'इमे' से जीवन्मुक्त और 'समासते' से 'विदेहमुक्त हो जाते हैं' ऐसा अभिप्राय मानते हैं। 'इसी शब्दार्थाऽधिष्ठान से महामायावी यह सारा प्रपञ्च उत्पन्न करता है—ऋचाएँ, यज्ञ, उपासनाएँ, तप, अतीत, भावी, जो कुछ भी वेद बताते हैं। उसी ईश्वर में ईश्वरभिन्न जीव तादात्म्यापन्न है पर जानता नहीं। ।'९ । । नारायणादि 'यज्ञ व क्रतु' को मीमांसक-परिभाषानुसार यज्ञविशेष रूप से समझाते हैं, और 'अस्मान्' का अर्थ 'अध्येताओं को' करते हैं। भाष्य में 'तस्मिंश्चान्यः' आदि की व्याख्या है 'उस प्रपंच में माया से ही अन्य की तरह हुआ कैद है'। दसवें मंत्र में सांख्यविलक्षण प्रकृति स्पष्ट की है 'जगत् का परिणामी उपादान माया समझनी चाहिये। अग्नि आदि के भी नियन्ता को मायावी समझना चाहिये। विविध ज्ञानों का विषयभूत जड-चेतन जगत् मायावी के अवयव बने हुओं से विशेषतः प्राप्त है। ।'१० । । शंकरानंद जी के अनुसार तो मायावी के अवयव ही सारे संसार के पदार्थ हैं। नारायणाचार्य अवयवों का अर्थ जीव करते हैं। जगत् में अनुगत सत्तादि को उपनिषद्योगी अवयव मानते हैं। भाष्य में बताया है कि जैसे कल्पित सर्पादि को रज्जु का अवयव कह सकते हैं वैसे परमात्मा में कल्पित अवयव संगत हैं। ज्ञान की सार्थकता ग्यारहवें में कही है 'जो है एक पर उन सबको अधिष्ठित कर रहता है जो कारण समझे जाते हैं, जिसमें यह सारा जगत् स्थित है और विनष्ट भी होता है, उस नियन्ता, भक्तों को अभीष्ट देने वाले, स्वप्रभ, स्तुत्य का साक्षात्कार कर साधक उस आनन्दरूप शांति की अतिशय प्राप्ति करता है जो विद्वानों को प्रत्यक्ष है। ।'११ । । 'योनिं योनिं' का नारायणीय अभिप्राय है कि सभी को ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति ईश्वर से ही प्राप्त होती है। भाष्यकार मूल एवं अवान्तर प्रकृतियों को क्रमशः योनिपदों से लेते हैं। अवांतर प्रकृति अर्थात् 'प्रकृतिविकृति' कहलाने वाले आकाशादि। उपनिषद्योगी 'योनिं योनिम्' की व्याख्या करते हैं 'हर अन्तर्यामी रूप से अधिष्ठित करता है।' विज्ञानभगवान् 'अयोनिं योनिम्' यों छेद कर अनादि प्रकृति समझते हैं। इन मंत्रों को पुराण में सुस्पष्ट करते हैं :

गुरु का कृपापात्र साधक जिस ईश्वर का महत्त्व प्राप्त करता है उसे ही अन्यत्र अक्षर बताया गया है। ऋगादि वेदसमूह, और वह्नि आदि सारे देवता उसी अक्षर में निवास करते हैं अर्थात् उसीके सत्ता-भान आदि से सत्तादि वाले बनते हैं। ।६४५ । ।

सभी को सत्ता आदि देना रूप सर्वान्तरता जो नहीं जानता उसका जीवन व्यर्थ है। जो ईश्वर की इस महत्ता को जानता है उसका जीवन सफल है। ।६४६ । । चाहे चन्दन हो पर गधे को सिर्फ बोझ ही महसूस होता है। जो आत्मा को नहीं जानता वह अंगों सहित ऋगादि वेद पढ़कर भी उनसे क्या लाभ ले पाता है ! उसके लिये तो वेदाक्षर एक बोझ ही है। (अतएव जिन आस्तिकों ने आत्मज्ञान को मोक्षोपाय नहीं माना वे वेदों के अध्ययन विचार आदि से दूर-दूरतर होते गये और आगम-पुराणादि की मीमांसा में सीमित हो अपने दार्शनिक पदार्थ भी उन्हीं के अनुसार स्थापित करने लगे। शैव-शाक्त तांत्रिकों तथा रामानुज माध्व आदि वैष्णवों के ग्रंथों में यह प्रत्यक्ष है। जैसे गधा चंदन से आकृष्ट नहीं

आत्मज्ञाने सर्वज्ञतोपपत्तिः

आत्मन्यविदिते सर्वं ज्ञातुं नैवाऽत्र शक्यते। तस्मिन् हिं विदिते सर्वं ज्ञातमेव यतीश्वराः।।६५०
अज्ञाते कारणे नैव ज्ञायते कार्यमल्पकम्। विज्ञाते कारणे शक्यं ज्ञातुं कार्यं तथाऽखिलम्।।६५१
आत्माऽत्र कारणं ज्ञेयो वेदादीनां यतीश्वराः। माययैव यथा कश्चिद् मायावी कारणं त्विह।।६५२

मायाबलम्

छन्दांसि विविधान्येव गायत्र्यादीनि वेदराट्। वेदानपि तथा यज्ञानग्निष्टोमादिकान् बहून्।।६५३
सङ्कल्पानपि नानार्थान् व्रतान्यपि बहूनि च। तपआदीनि सर्वाणि भूतं भव्यं भवच्च यत्।।६५४
वेदा वदन्ति तत् सर्वमस्मादात्मस्वरूपतः। सृजते माययैवैष मायावी स महेश्वरः।।६५५

ननु कथमात्मज्ञानेन कृतकृत्यता, ज्ञेयानां बहूनां जगत्यवशेषाद् ? इत्याशङ्कावारणाय; आत्मनो विश्वकारणताप्रतिपादकस्य[1] नवमस्यार्थमाह—आत्मनीति दशभिः। स्पष्टम्।।६५०।। तत्रोपपत्तिमाह—अज्ञान इति। कारणं हि सर्वकार्याणां वास्तवं स्वरूपमिति तज्ज्ञाने सर्वकार्याणां स्वरूपं विज्ञातमेव। विशेषतो विकाराणां ज्ञानं तु काकदन्तनिर्णयवद् विफलम् इति भावः।।६५१।। यथा मायावी नानारूपाणां कारणमिह लोके प्रसिद्धः तथाऽऽत्मा वेदादीनां मायया कारणत्वेन शास्त्रप्रसिद्ध इत्याह—आत्मेति। तुशब्दः छन्दःपूरणार्थः।।६५२।। आत्मनः सर्वस्रष्टृत्वमेव विशदयति—छन्दांसीति त्रिभिः। एष महेश्वरो वेदराट् वेदानां स्रष्टृत्व-सम्प्रदायप्रवर्तकत्व-पालकत्वादिभिः प्रभुः छन्दःपदोक्तानि गायत्र्यादीनि वेदान् वा छन्दःपदोक्तांस्तथा यज्ञान्, तथा क्रतुपदोक्तान् नानाविषयकसङ्कल्पान्, तथा व्रतादीनि भवदन्तानि यज्जगत्स्वरूपं वेदा बहुधा प्रतिपादयन्ति तत् सर्वं जगद् 'अस्माद्' इति श्रुतिपदोक्ताद्

होता, भले ही बोझे रूप में उसे ढो ले, ऐसे ही ये आस्तिक सन्ध्या, ब्रह्मयज्ञ में मंत्रोच्चारण भले ही कर लें पर वेद के तात्पर्यावधारणादि विचार से दूर ही रहते हैं।)।।६४७।। उक्त ढंग से जो आत्मा की वास्तविकता को निश्चित जानते हैं वे सब महाराजा की तरह आनंद से निश्चिन्त रहते हैं जैसे आप-हम (श्वेताश्वतर) यति लोग।।६४८।। हे उत्तम संन्यासिजों ! ऋगादि के अध्ययन का भी फल इतना ही बताया है कि अधिकारिशरीर में रहते हुए ही आत्मयाथात्म्य का अनुभव हो जाये। इसकी अपेक्षा कोई अधिकता अध्ययनफल में संभव नहीं। (विदाध्ययन वेदार्थज्ञान द्वारा फलवान् माना जाता है और भगवान् ने कहा है 'सारे वेदों से मैं ही ज्ञेय हूँ' अतः बिना भगवत्तत्त्व के अपरोक्ष के वेदाध्ययन सफल हो नहीं सकता। यद्यपि 'तुष्यतु दुर्जनन्याय' से कर्मकाण्ड को पृथक् विभाग मान लेते हैं तथापि वह मुख्य मत नहीं है क्योंकि यदि चेतोविशुद्धि में विनियुक्त न किया तो कर्म जन्मचक्र में ही धकेल कर दुःखहेतु बनेगा और दुःखहेतु का विधान वेद करे यह संभव नहीं। अतः आत्मज्ञान अध्ययन-साफल्य की न्यूनतम आवश्यकता है और क्योंकि आत्मा जान लेने पर कोई ज्ञेय, कार्य आदि रह नहीं जाता इसलिये इससे अधिक भी कोई फल अध्ययन का नहीं है। पशु पुत्र स्वर्ग आदि तो प्रेरणार्थ अर्थवाद हैं।)।।६४९।।

हे यतीश्वरो ! आत्मविज्ञान के बिना संसार में सभी कुछ जाना जा सके यह संभव नहीं। उसी को जानने पर सभी कुछ जाना गया हो जाता है।।६५०।। कारण की जानकारी के बिना स्वल्प भी कार्य पूर्णतः नहीं जाना जाता जबकि कारण जान लेने पर निखिल कार्य जाना जा सकता है। (सांसारिक वस्तुओं का यदि पूर्ण ज्ञान चाहिये तो इनके कारण की जानकारी आवश्यक है अतः जगत्कारण परमात्मा को जानने का प्रयास करना ज़रूरी है। कार्यों का वास्तविक स्वरूप कारण ही होता है अतः कारण जान लेने पर कार्य जाने जा चुके यह मानना उचित है। कारणज्ञान के बिना तत्तत् कार्यों का अन्वेषण तो परमपुरुषार्थ की दृष्टि से निरर्थक ही है।)।।६५१।। जैसे लोक में कोई मायावी (जादूगर)

---

१. 'छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति। अस्माद् मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः।।' ८.९।।

मानं न याति या सत्त्वे कार्यं च कुरुते पुनः। मायेति कथिता सेयं दुर्घटा वेदवादिभिः।।६५६
तयैव सृजते विश्वं पालयत्यत्ति चेश्वरः। यथा शयानः पुरुषः स्वप्नजातमनेकधा।।६५७
अनेन सृष्ट एतस्मिन् घोरे संसारचक्रके। माययैव निरुद्धोऽयम् अस्मादन्यत्वमागतः।।६५८
तथा कामादिभिः पाशैः बद्धो दीनदशां गतः। कर्मकारागृहे सोऽयमहो ! मायाबलं वलम्।।६५९
मायान्तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनन्तु महेश्वरम्। प्रकर्षेण यथा सर्वं कार्यं बहुविधं त्विदम्।।
क्रियते प्रकृतिः सेयं कथ्यते वेदवादिभिः।।६६०
पुरुषो निर्गुणोऽसङ्गो बहुधा क्रियते कथम्। कार्याकारेण सर्वाभिः विक्रियाभिर्विवर्जितः।।६६१

आत्मस्वरूपतोऽभिन्ननिमित्तोपादानात् सृजति माययैव। इति त्रयाणां सम्बन्धः।।६५३-५।। या स्वसत्तासाधकं मानं न याति, निर्मिमीते च कार्यजातं सा माया इत्याकारां मायापदव्युत्पत्तिं स्मारयति—मानमिति।।६५६।। तयैवेति। तया मायया एव स्वप्नप्रपञ्चवद् विश्वं सृजति।।६५७।। अस्मिन्नीशसृष्टे जगति त्वंपदवाच्यः चिदाभासः कामाद्यैर्निरुद्धः इत्याकारं चतुर्थपादार्थमाह—अनेनेति द्वाभ्याम्। अयं चिदाभासः। अन्यत्वं भेददर्शनम्। अहो ! अत्यद्भुतं मायाबलं, यतो वलं संवरणकरं; 'वल संवरणे' (भ्वा. आ. से.) इति स्मरणात्।।६५८-९।।

मायायाः सामर्थ्यातिशयप्रतिपादकस्य[1] दशमस्य अर्थमाह—मायान्त्विति सप्तभिः। करणव्युत्पत्त्या प्रकृतिपदार्थमाह—प्रकर्षेणेत्यादिना।।६६०।। तस्याः प्रकर्षम् अघटितघटनापटीयस्त्वेन दर्शयति—पुरुष इति द्वाभ्याम्। वस्तुतो विक्रियारहितस्य नानापदार्थाकारताम्, अद्वितीयस्य नानात्वं च असम्भाव्यं यतो माया करोति अतः प्रकृतिः इत्युक्ता। इति द्वयोरर्थः।।६६१-२।। असदर्थकरणम्, एकस्य नानाकरणं च इत्येतत्स्वभावद्वयं मायाया

माया से नाना दृश्यों का कारण बन जाता है वैसे वेदादि सारे संसार का कारण प्रकृत आत्मा ही समझना चाहिये।।६५२।। वेदों को कल्पादि में प्रकट करने वाला, उनका संप्रदाय चलाने वाला और उन्हें बनाये रखने वाला होने से ईश्वर वेदराट् है। गायत्री आदि नाना छन्द, ऋगादि वेद, अग्निष्टोमादि बहुतेरे यज्ञ अनेक विषयों के बारे में संकल्प, सभी व्रत, सब तपस्या आदि, भूत-भावी-वर्तमान, जो कुछ भी वेदों में उल्लिखित है वह सब इस आत्मस्वरूप से ही माया द्वारा वह महामायी महेश्वर उत्पन्न कर लेता है। (अर्थात् आत्मा को ही उपादान बनाकर वह स्वयं ही निमित्त बनकर सारे कार्य पैदा करता है)।।६५३-५।।

जिसकी विद्यमानता प्रामाणिक न हो पर व्यवहार संपन्न कर ले उस दुर्घट वस्तु को वैदिक आचार्य 'माया' कहते हैं।।६५६।। उसी माया से ईश्वर विश्व की सृष्टि करता है, इसे पालता है और समाप्त करता है जैसे सोया पुरुष अनेक तरह के सपने बनाता-चलाता-बिगाड़ता है।।६५७।। ईश्वर द्वारा उत्पादित इस दुःखद चक्रात्मक संसार में माया द्वारा ही यह चिदाभासरूप जीव बँधा है एवं उस ईश्वर से अलगाव, भेददर्शन प्राप्त किये है।।६५८।। जैसे जीव मायावश विविध भेदों से ग्रस्त है वैसे ही माया से कामना आदि के फँदों में फँसा कर्मात्मक जेल में दीन दशा पाये है। माया की सत्य ढाँकने की सामर्थ्य आश्चर्यकारी है ।।।६५९।।

प्रकृति अर्थात् जगत्का परिणामी उपादान माया को ही समझना चाहिये एवं उस माया को सत्ता-स्फूर्ति देने वाला जो उसका मालिक है उसे ही महेश्वर समझना चाहिये। वेदविचारक उसे ही प्रकृति कहते हैं जिसके द्वारा बहुत तरह का यह सारा कार्य खास ढंग से किया जाता है। (वास्तव में हुए बिना हुआ-सा उपलब्ध होना ही खास ढंग है।)।।६६०।। आत्मा वास्तव में गुण, सम्बंध और सब परिवर्तनों से रहित है, उसे कार्यों के आकार में नाना प्रकार

१. 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। अस्याऽवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।।'४.१०।।

वस्तुतः क्रियते चाऽयं तया नानाविधः पुमान्। अनानाऽपि ततो माया प्रकृतिः सोच्यते बुधैः ।६६२
असदेवाऽत्र सकलं वस्तुजातं प्रदर्शयेत्। या सा मायेति कथिता पुरुषैर्लौकिकैरपि ।६६३
तथा नानाविधो यः स्यादनानाऽपि स्वयं पुमान्। मायीति कथितः सोऽयमत्राऽप्येतद्‌द्वयं तथा ।६६४
मायावी पुरुषो योऽयं मायया बहुधा भवेत्। असङ्गो निर्गुणोऽनन्त एक एव महेश्वरः ।६६५
अस्यावयवभूतैस्तु महाभूतादिभिः सदा। इन्द्रियैश्च जगत् सर्वं व्याप्तमेतच्चराचरम् ।६६६।।

शान्तिलाभः

एनं सर्वगतं देवं चतुर्विधशरीरकम्। एकं सर्वस्य जगतः सृष्टिस्थित्यन्तकारिणम् ।६६७
विलोक्यात्मतया सर्वः शान्तिं मोक्षाभिधां व्रजेत्। ईशानं वरदं त्वीड्यं देवैः सर्वैः सवासवैः ।६६८

लोकेऽपि दृष्टमित्याह—असदेवेति द्वाभ्याम्। वस्तुजातं सूत्रेण आकाशारोहणादिरूपम्।।६६३।। तथेति। स्वयं पुमान् ऐन्द्रजालिकः अनाना एकोऽपि यया नानाविधः प्रदर्श्यते तया मायया विशिष्टो मायावी स इन्द्रजालेश्वरः प्रसिद्धः, तथा अत्र आत्मनि एतद् मायास्वभावद्वयं बोध्यमित्यर्थः।।६६४।। 'तथा' इत्युक्तमेव स्फुटयति—मायावीति द्वाभ्याम्। अयं मायावी ईश्वरो मायया बहुधा भवति स्वतः पृथगवस्थातुमशक्तत्वेन स्वावयवभूतैर्महाभूतादिभिः जगद् व्याप्नोति च। इति द्वयोरर्थः।।६६५-६।।

'एकादशस्य अर्थमाह—एनमिति द्वाभ्याम्। एनं देवं यदाऽयमधिकारी सर्वो यत्र कुत्रचित् शरीरे स्थितो विलोकयति तदा मोक्षरूपां परां शान्तिं व्रजति। कीदृशं देवम् ? सर्वयोनिशरीरोपाधिषु एकं स्थितं, जगतः सृष्ट्यादिकरम् ईशानं वरदं देवैः ईड्यं च। इति द्वयोः सम्बन्धः।।६६७-८।।

का कैसे किया जा सकता है ? वह है अद्वितीय किंतु नाना प्रकार का बना दिया जाता है इसलिये उसे ऐसा बनाने वाली माया को विद्वान् प्रकृति कहते हैं।।६६१-२।। सांसारिक लोग भी उसे माया कहते हैं जो लोक में सभी असत्य वस्तुएँ (सत्य जैसी) दिखा देती है (जैसे जादूगर की सामर्थ्य)।।६६३।। पुरुष खुद अभिन्न रहकर भी नाना प्रकार का प्रतीत हो जाये तो उसे लोक में मायावी कहते हैं। माया के ये दोनों स्वभाव आत्मा में भी उपलब्ध हैं : जो यह मायी पूर्ण चेतन ईश्वर है वह वास्तव में असंग, निर्गुण, अनंत, एक ही रहता हुआ माया द्वारा नाना प्रकार का हो जाता है। इसी के मानो अवयव हैं महाभूत और इंद्रियाँ जिनसे सारा चराचर यह जगत् व्याप्त है। (अतः असत्य वस्तुओं का प्रदर्शन और एक को अनेक-सा दिखाना—ये दोनों मायाप्रभाव आत्मा में होने से आत्मा ही मायी या मायावी कहलाता है और उसकी वह अचिन्त्य शक्ति माया कही जाती है।)।।६६४-६।।

यह स्वप्रकाश चित्तत्त्व सर्वव्यापक है, सभी योनियों के शरीरों में एक-सा उपस्थित है, जगत् के जन्म-स्थिति-भंग का हेतु है, ईशान कहलाता है, श्रेष्ठ कल्याण का प्रदाता है, इंद्र समेत सब देवताओं द्वारा प्रशंसित है। सभी अधिकारी इसे प्रत्यग्रूप से जानकर मोक्षनामक शान्ति पा लेते हैं।।६६७-८।।

उपनिषत् में बारहवाँ मंत्र वही है जो उपनिषत्के तीसरे अध्याय में चौथा था। तेरहवे में कहा है 'जो अध्यात्म-अधिदैव इंद्रियों को अधिष्ठित कर इनका पालक है, कर्मफलात्मक लोक जिसमें अधिष्ठित हैं, इन प्रत्यक्ष मनुष्यादि व गाय आदि पर जो शासन करता है, उस भेदशून्य स्वप्रभ की ही हम अग्निहोत्रादि से परिचर्या करते हैं।।'१३।। 'कस्मै' का अर्थ नारायण 'ब्रह्मा के लिये', भाष्य 'आनंदरूप के लिये' और शंकरानंद जी एकार का लोप मानकर 'एक के लिये' करते हैं। 'द्विपदः चतुष्पदः' से हमारे गुरु जी केवल अर्थ-काम पुरुषार्थों के साधक और चारों पुरुषार्थों के साधक अभिप्रेत मानते हैं क्योंकि वे कहते हैं कि ऐसा न मानने पर दो-चार से अतिरिक्त सपद-अपद आदि प्राणी छूट जायेंगे। पुराणकार दोनों मंत्रों का संक्षिप्त अर्थ बताते हैं :

१. 'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यास्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्। तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति।।' ४.११।।

परिचर्या

देवानां जनकः पूर्वमुक्तो बुद्धिप्रदो मया। देवानामधिपो यश्च यस्मिन् लोका अधिश्रिताः।।
भूराद्या निखिला यद्वत् प्रोच्यन्ते मनुजादयः।।६६९
ईष्टे यो द्विपदां तद्वत् सर्वेषां च चतुष्पदाम्। प्राणिनां निखिलानां च स्थिराणामपि सर्वदा।।६७०
एकस्मै सर्वपतये तस्मै ज्योतिःस्वरूपिणे। परिचर्यामिमां कुर्मो हविषाऽप्यन्धसाऽपि च।।६७१
आत्मज्ञानस्य जननात् प्राग् बहिर्यतिसत्तमाः। निजवर्णाश्रमप्रोक्तां वेदवादरतैर्द्विजैः।।६७२
सञ्जाते ब्रह्मविज्ञाने वयमेव यतोऽत्र सः। तत्रापि तस्य चेयं स्यादस्मद्देहस्य धारणम्।।६७३

'द्वादशस्यार्थः पूर्वं दर्शितप्राय इति प्रथमार्धेन सूचयंस्त्रयोदशस्यार्थमाह'—देवानामिति पञ्चभिः। यो देवो देवानां हिरण्यगर्भादीनां जनकः तेभ्योऽधिकारिभ्यश्च बुद्धिप्रद इत्यादिविशेषणैर्विशिष्टतया पूर्वमुक्तः। यस्मिन् च आधारे भूराद्या लोकाः श्रिताः स्थिताः, यथा मनुजादिशरीराणि पृथिव्याद्याश्रितानि प्रोच्यन्ते तद्वत्। यश्च द्विपदादिशरीरशालिनां प्राणिनाम् ईशो नियन्ता च। तमेकं देवं प्रीणयितुम् इमां परिचर्यां हविःपदोक्तेन देवदेयद्रव्येण, अन्धसा भोज्यान्नेन च साध्यां वयम् अधिकारिणः कुर्मः। इति त्रयाणामर्थः। श्रुतौ त्वेकपदस्य एकारलोपश्छान्दसः।।६६९-७१।। तत्र तत्त्वज्ञानात् पूर्वं शास्त्रोक्तविधिना देवप्रदेयान्नरूपेण हविषा परिचर्यां कुर्म इत्याह—आत्मेति। आत्मज्ञानोत्पत्तेः पूर्वं बहिः बाह्यां वेदज्ञैः द्विजैः वर्णाश्रमाधिकारम् अनुसृत्य यथोपदिष्टा तथा तां कुर्म इति सम्बन्धः।।६७२।। तदुत्तरन्तु अन्धसाऽन्नेन यच्छरीरधारणम् इयमेव तस्य पूजा, तस्य देवस्य अस्माकं विदुषामात्मनि प्रविष्टत्वाद् इत्याह—संजात इति। ज्ञाने जाते सति यतः स देवो वयमेव अस्माकं स्वरूपमेव सम्पन्नः अतः तत्र विद्यावस्थायाम् अपि तस्य देवस्य इयम् एव परिचर्या यद् देहधारणमिति।।६७३।।

जिसके बारे में मैंने (श्वेताश्वतर ने) पहले कहा था कि वह देवताओं का उत्पादक है, देवादि जो विवेकादि संपन्न हो जाते हैं उन्हें वस्तुविषयक निश्चय कराता है, देवताओं को सत्तादि देकर उन पर शासन रखता है, जैसे मनुष्यादि भूमि आदि पर आश्रित कहे जाते हैं ऐसे भूः आदि सारे लोक जिस पर अधिष्ठित हैं, दो-चार पैरों वाले और स्थिर-चर सभी प्राणियों पर जो नियंत्रण रखता है उस एक सर्वपति ज्ञानस्वरूप देव की प्रसन्नता के लिये हम हवि और अन्धस् से साध्य यह सेवा करते हैं।.(देव को अर्पित किया जाने वाला पदार्थ हवि और भोज्य अन्न अन्धस् कहलाता है। कर्मेन्द्रियों के और ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों से अर्चना करते हैं यह भाव है। अथवा त्याग और ग्रहण दोनों ईश्वरार्पणबुद्धि से करते हैं यह तात्पर्य है।)।।६६९-७१।। हे संन्यासधर्म पालने में सावधानो! आत्मज्ञान उत्पन्न होने से पूर्व हम वह बाह्य सेवा करते हैं जो हमारे वर्ण-आश्रम के अनुसार वैदिक ब्राह्मण विहित बताते हैं। ब्रह्मानुभव हो जाने पर क्योंकि शरीर में हम-रूप से वही है अतः उस अवस्था में भी उसी की यह सेवा है कि हम अपने शरीर का धारण करते हैं। (अन्नादि से जो हम विद्वद्दशा में देहधारण करते हैं वह भी महादेव की सेवा है क्योंकि देह में वही मौजूद है। अज्ञदशा में भी है वही पर क्योंकि हम इस तथ्य को जानते नहीं इसलिये बाह्य सेवा कर्तव्य है। फिर भी जब-जब याद आये तब अपने ज्ञान-कर्म से 'मनःसाक्षी की सेवा कर रहे हैं' ऐसा महसूस करते हुए अपने रागादि आग्रह छोड़ शास्त्रनियंत्रित आचार में संलग्न होना साधक का भी कर्तव्य है। 'आत्मार्पणदृशा सपर्यापर्यायः' आदि से ऐसा बताया ही गया है।)।।६७२-३।।

१. 'यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाऽधिको रुद्रो महर्षिः। हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु।'४.१२।। अयं ३.४ तया पूर्वमागतः। भाष्यादौ चातुर्थिके 'जनयामास पूर्वम्' इत्यस्य स्थाने 'पश्यत जायमानम्' इति पठ्यते। शंकरानंददीपिकायान्तु पूर्ववदेवेहापि पाठः।

२. 'यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः। य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम।'४.१३।।

व्यापकस्य प्रतीचो बोधः

सूक्ष्मं हि कथितं यत्तु गम्यतेऽत्र धियैव हि। ततोऽप्यत्यन्तसूक्ष्मो यो रेतसा युवतिं गतः।।६७४

आर्तवं ¹स्वमनुप्राप्य नारीवीर्यं तु गर्भगम्। एकरात्रेण कललं रेतः स्यात् फेनसन्निभम्।।६७५

तस्य मध्ये जगत्स्रष्टा नानारूपो व्यवस्थितः। नानाविधशरीराणां विभेदाद् भेदवर्जितः।।
एक एव जगत् सर्वं परिवेष्ट्यावतिष्ठते।।६७६

आनन्दात्मानमद्वैतं यस्तं परममङ्गलम्। जानीते स तु मोक्षस्थो दुःखं नैति कदाचन।।६७७

स एव स्थितिकालेऽस्मिन् प्राप्ते विश्वस्य गोपकः। विश्वाधिपः शरीरेषु हृदि गूढोऽवतिष्ठते।।
यथा काष्ठेषु भगवान् वह्निः सर्वेषु संस्थितः।।६७८

सर्वदा यत्र तिष्ठन्ति योगयुक्ता महाधियः। अतीन्द्रियदृशो विप्रा देवताश्च सहस्रशः।।६७९

²चतुर्दशस्य अर्थं दर्शयति—सूक्ष्मं हीति चतुर्भिः। यद् लोके इन्द्रियैरग्राह्यं, केवलं बुद्ध्यैव गृह्यते तत् सूक्ष्मम् इति उच्यते। अयमात्मा तु ततः सूक्ष्माद् अपि अतिसूक्ष्मो दुर्लक्ष्यप्रभावो यो रेतोद्वारा युवतिशरीरं गतः सन्नानाविधशरीरेन्द्रजालं निर्मिमीत इत्यर्थः।।६७४।। आर्तवमिति। नारीवीर्यं नार्या वीर्यस्थानीयम् आर्तवं रजः सम्प्राप्य रेतः कर्तृ कललं फेनतुल्यावस्थारूपं भवति।।६७५।। तस्येति। तस्य कललस्य उपाधिभूतस्य मध्ये विविधकार्यानुकूल्यलक्षणेन विशेषेण स्थित्वा सर्वं कार्यजातं स्वान्तर्गतं परिवेष्ट्य अभिव्याप्य जगत्स्रष्टा ईश्वरः अवतिष्ठते। कीदृशः ? नानाविधशरीरभेदाद् नानारूपोऽपि स्वतो भेदवर्जितः, अत एव एक इत्यर्थः। एतत् कललोदाहरणं वटादिबीजानामपि कुर्वदवस्थोपलक्षणमिति बोध्यम्।।६७६।। आनन्दात्मानमिति। तम् ईश्वरम् आत्मानम्, अद्वैतत्वाद् आनन्दरूपं, स्मरणमात्रेण सर्वसंसारभयापहत्वात् परममङ्गलरूपं च यो जानीते स मुक्तः सन् दुःखं न पश्यतीति।।६७७।। ³पञ्चदशस्यार्थमाह—स एवेति त्रिभिः। यः पूर्वमन्त्रे बीजाद्यान्तरत्वेन जगत्स्रष्टोक्तः स एव स्थितिकाले सर्वस्यान्तः गूढः सन् पालकः, अत एव विश्वस्य अधिपः अन्तर्यामीत्युक्तः। गूढत्वे दृष्टान्त उच्यते—यथेति।।६७८।। सर्वदेति। यत्र उक्ते गोप्तुः स्वरूपे तत्परतया योगिनः सांख्याश्च अन्तर्मुखा विप्राः तथा देवताश्च हिरण्यगर्भाद्याः तिष्ठन्ति।।६७९।। उक्तेनैवेति। उक्तेन सर्वोपादानत्वसर्वान्तरत्वादिना प्रकारेण विशेषेण

अगले मंत्र उस सूक्ष्म तत्त्व के ज्ञान से मोक्ष बताते हैं—'आरम्भिक अवस्था वाले गर्भ में सूक्ष्म से सूक्ष्म हुआ वही स्थित है जो विश्व का स्रष्टा है; वही उपादान-उपादेय-निमित्त आदि अनेक रूप धारण किये है और अकेले ही सब को घेरे है। उस शिव को जानकर साधक अत्यन्त शान्ति पाता है।'१४।। नारायण 'कलिल' से तम समझते हैं जबकि भाष्य में अविद्या और उसका कार्य लिया गया है और हमारे गुरु जी द्रष्टा-दृश्य के संयोग को इस पद से उक्त मानते हैं। 'पूर्वोक्त परमेश्वर ही स्थितिकाल में लोकों का रक्षक है क्योंकि विश्व को अधिष्ठित कर उसका पालक है। वही सब भूतों की बुद्धियों का साक्षी है। ब्रह्मर्षि और देवता भी उसके दर्शनार्थ योगाभ्यास करते हैं। साधक उसे यों जानकर मृत्यु के कामादि पाशों का छेदन करता है।'१५।। नारायण 'ब्रह्मर्षय' का अर्थ ब्रह्मा तथा ऋषिगण करते हैं। उपनिषद्योगी 'युक्ता' का अर्थ बताते हैं ' एकता को प्राप्त' एवं पाश से अज्ञान की वृत्तियों का ग्रहण करते हैं। हमारे गुरु जी 'यस्मिन्' से समझते हैं 'जिसकी कृपा होने पर' योगाभ्यास संभव होता है। 'घी पर मलाई की तरह अतिसूक्ष्म,

१. 'सम्नुप्राप्य' इति टीकाऽभिप्रेतो युक्तश्च पाठः स्यात्।
२. 'सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्। विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शान्तिमत्यन्तमेति।'४.१४।।
३. 'स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः। यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति।।'
४.१५।।

उक्तेनैव प्रकारेण ज्ञात्वा तं परमेश्वरम्। मृत्युपाशांस्तु कामादींश्छिनत्त्येष न संशयः।।६८०

पाशमोक्षः

दध्नस्तु निर्गतं यद्वत् सर्पिस्तस्मात् परं पुनः। द्रवरूपाद् घनीभावो दधिमण्डोपमः परः।।६८१

यद्वत् तद्वद् हि जगतो मायैषा परतः स्थिता। मायायाः परतो देवो जगतो व्यापको हि यः।।६८२

गूढः सर्वेषु भूतेषु ज्ञात्वा तं शिवमद्वयम्। पाशाः सर्वे प्रहीयन्ते कामक्रोधादिनिर्मिताः।।६८३

यः तं जानाति स मृत्युना प्रमादलक्षणेन कृतान् कामादिरूपपाशान् ज्ञानासिना निश्चितं छिनत्ति।।६८०।।

'षोडशस्यार्थमाह—दध्न इति त्रिभिः। यद्वद् दध्नो निर्गतं घृतं दध्यपेक्षया परम् उत्कृष्टं तस्माद् घृताच्च द्रवावस्थाशालिनः सकाशात् तस्य घृतस्य घनीभावः पिण्डावस्थारूपः परः स्वादीयस्त्वात्। कीदृशो घृतस्य घनीभावः? दधिमण्डसमः। दधिमण्डो नाम वस्त्रेण निःसारितजलकं दधीत्यर्थः।।६८१।। यद्वदिति। प्रथमपदं पूर्वान्वयि। तद्वज्जगतः स्थूलसूक्ष्मरूपाद् दधिस्थानीयाद् उत्कृष्टं घृतस्थानीयं मायाशबलं सत्यकामत्वादिगुणं ब्रह्म, ततोऽपि उत्कृष्टं शुद्धमानन्दघनं यद् व्यापकं सर्वान्तरगूढं तं शिवं तुरीयं यदा जानाति तदा सर्वे पाशाः क्षीयन्ते। इति द्वयोरर्थः।।६८२-३।।

सारभूत, सब भूतों में छिपे, अकेले ही विश्व को व्याप्त करने वाले शिव देव को जानकर साधक सब पाशों से छूट जाते हैं।।'१६।। मंत्र में दो बार 'ज्ञात्वा' शब्द आया है जिससे हमारे गुरुजी क्रमशः अदृढ और दृढ ज्ञान का उल्लेख मानते हैं। 'जो व्यापक आत्मा सर्वोत्पादक है, वही स्वप्रभ हमारी बुद्धियों का द्रष्टा है, लोगों के हृदय में सदा स्थित है। उसे समझने वाले अमर हो जाते हैं।।'१७।। इन मंत्रों पर पुराण चर्चा करता है :

जिसे इंद्रियाँ ग्रहण न कर पायें, केवल बुद्धि से समझा जाये वह लोक में सूक्ष्म कहलाता है। लोकप्रसिद्ध सूक्ष्म वस्तुओं से भी अधिक सूक्ष्म यह आत्मा है जो शुक्रद्वारा स्त्रीशरीर में जाकर नानाविध शरीररूप इन्द्रजाल का निर्माण कर लेता है ! पुरुष के वीर्य की जगह नारी का रज है। शुक्र जब गर्भ में रज से मिल जाता है तब एक रात जितना समय बीतने पर फेन जैसा हो जाता है जिसे शास्त्र कलल कहते हैं। उस कलल में भी जगत्कर्ता उपस्थित है ! वही उसे विकसित कर अंग-प्रत्यंगों से युक्त करता है। परमेश्वर अनंत विविध रूपों वाला है तो कललोपाधि वाला क्यों नहीं होगा ! अलग-अलग ढंग के शरीरों से विभिन्न तरहों का होने पर भी निरुपाधिक रूप से वह किसी भेद वाला नहीं है। वह अकेला ही सारे जगत् को व्याप्त किये है।।६७४-६।। वह आत्मा अद्वैत होने से आनंदरूप है। उसका स्मरण हो जाये तो संसार के सारे भय निवृत्त हो जाते हैं अतः वही परम मंगल है। जो अधिकारी उस ईश्वरात्मा को जान लेता है वह मोक्षावस्थ होकर कभी दुःख नहीं पाता।।६७७।।

जिसे कललादि सब बीजों के अंदर अवस्थित बताया वही यह स्थितिकाल आने पर सभी में छिपा रहकर सबका पालन करता है अतः विश्व का अधिपति या अंतर्यामी कहलाता है। जैसे सभी लकड़ियों में अग्निदेव छिपे हैं ऐसे वस्तुमात्र में महादेव निहित हैं।।६७८।। हज़ारों की तादाद में योगी, ज्ञानी, ऋषि, ब्राह्मण, देवता आदि उसी आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित रहते हैं। जो उसे बताये ढंग से सर्वोपादान, सर्वान्तर आदि समझ लेता है वह कामादि मृत्युपाशों का छेदन कर लेता है इसमें संदेह नहीं। (मृत्यु अर्थात् प्रमाद—जैसा सनत्सुजातीय में कहा है। उसीसे काम-क्रोध आदि वृत्तियाँ बनती हैं क्योंकि दृश्यमिथ्यात्व और आत्माऽसंगत्व की ओर ध्यान न देने पर ही ये भाव उठते हैं। जैसे फँदे में फँसा प्राणी यथेष्ट नहीं जा-आ सकता वैसे कामादि के वशीभूत हो हम उन्हीं से नियंत्रित रह जाते हैं अतः वे पाश हैं।)।।६७९-८०।।

---

१. 'घृतात्परं मण्डमिवाऽतिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्। विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।।'४.१६।।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो यो मया परिकीर्तितः। महात्मा विश्वकर्मैष स्वयंज्योतिर्महेश्वरः।।६८४

प्रज्ञाहेतुः

माया विश्वस्य जनिका आत्मरूपा यदा तु सा। प्रलीयते तमश्चैतद् न दिवा न निशाऽपि च।।६८५
न सन्नैवाप्यसच्चैतत् शिव एवाक्षरस्तथा। केवलो भासते स्वस्य भासा द्वैतविवर्जितः।।६८६
तदक्षरं परं ब्रह्म गायत्र्या प्रतिपादितम्। सवितुर्वरणीयं तज्जनकस्य महात्मनः।।६८७

'सप्तदशस्यार्थः प्रदर्श्यते—अङ्गुष्ठेति। यो महेश्वरः अङ्गुष्ठमात्रत्वेन हृदयाद्युपाधिवशाद् उक्तो, बुद्धेर्मनसश्च साक्षित्वप्रेरकत्वाभ्यां सिद्धः, स्वयंप्रकाशश्च, स विश्वकर्मा विश्वानि सर्वाणि कर्माणि यस्य तथाविधः, अत एव महात्मा पूर्णो ज्ञेयः इत्यर्थः।।६८४।।

विद्योपलक्षितमात्मरूपं प्रतिपादयतोऽष्टादशस्य[१] अर्थं निरूपयति—मायेति। यदा विश्वकारणभूता आत्मरूपा आत्मसत्तया लब्धसत्ताका च माया तद्रूपं तमः, एतद् लौकिकं च तमः प्रलीयते तदा दिनं निशा स्थूलं सूक्ष्मं च एते पदार्था न शिष्यन्ते, किन्तु केवलः शिव एव स्वयंज्योतिः भासते। इति द्वयोरर्थः।।६८५-६।। तदक्षरमिति। तत् शुद्धमात्मरूपम् अक्षरम् इत्युक्तं तदेव च सवितृपदेनोक्तस्य जगत्कारणस्य सूर्यमण्डलान्तस्थस्य वरणीयम् आराध्यं रूपं गायत्र्योक्तम् इत्यर्थः।।६८७।। तदेव चाराधितं सद् बुद्धिप्रदमित्याह— प्रज्ञेति। तस्माद्

मन्थन द्वारा दही से निकला घी दही से उत्कृष्ट होता है और पिघले घी से उत्कृष्ट होता है उसका घनीभूत पिण्डरूप जो लगभग वैसा होता है जैसे पूरी तरह पानी निकाल देने पर दही। जैसे यह दृष्टांत है वैसे स्थूल-सूक्ष्म रूपों वाला यह जगत् दही की जगह है, इससे उत्कृष्ट है सत्यकाम आदि गुणों वाला मायाशबल ब्रह्म जो (छाछ युक्त) घी की जगह है। उससे भी उत्कृष्ठ शुद्ध आनंदघन है (जो उस घी की जगह है जिसमें छाछ ज़ल चुकी है अतः पूर्वोक्त दानेदार दशावाला है)। वह ब्रह्म जगत् की अपेक्षा भी व्यापक है तथा सब भूतों में आन्तररूप से स्थित है। उस द्वैतहीन शिवनामक तुरीय चैतन्य का अप्रतिबद्ध साक्षात्कार करने से काम-क्रोधादि से निर्मित सभी पाश पूरी तरह क्षीण हो जाते हैं।।६८१-३।। जिसे मैंने अंगूठेभर का बताया था, बुद्धि के साक्षी एवं मन के प्रेरक रूप से जिसे सहज ही संभावित कर सकते हैं, वह स्वप्रभ महेश्वर पूर्ण तत्त्व है क्योंकि समूचा विश्व उसी का कर्म है।।६८४।।

मुक्तोपसृप्य स्वरूप अगले मन्त्रों से प्रकट होता है—'जब अज्ञान भी बाधित होकर आत्ममात्ररूप रह जाता है, दिन-रात नहीं रहते, 'है'-'नहीं है' लगने वाला कुछ नहीं रहता, तब अकेला शिव रहता है जो तत्पद का लक्ष्यार्थ है, व्यापी है, सर्वोत्पादक का प्रसिद्ध प्रार्थनीय स्वरूप है। पहले भी जो नवीन थी वह आत्मविद्या भी उसी आनन्दात्मा से निःसृत हुई है।।'१८।। विज्ञानभगवान् यहाँ प्रलयावस्थ परमात्मा का वर्णन करते हैं। 'जिसकी प्रसिद्धि सर्वाधिक है एवं जो निरुपम है उसका ग्रहण ऊपर, तिरछे, बीच में आदि कहीं नहीं होता।।'१९।। हमारे गुरु जी 'तिर्यक्' से 'नीचे' समझकर पुराणोक्त लिङ्गोद्भव प्रसंग का इस मंत्र से सम्बन्ध जोड़ते हैं एव 'प्रतिमा' से मूर्ति क्यों न समझी जाये इसकी यहाँ ऊहापोह करते हैं। 'क्योंकि कोई इसे इन्द्रियों से विषय नहीं करता इसलिये इसका इन्द्रियगोचर कोई रूप नहीं है। अतिस्वच्छ मन की वृत्ति से ही इसका अनावरणकर लोग अमर होते हैं।।'२०।। इन मंत्रों की पौराणिक व्याख्या है :

आत्मा से ही सत्ता पायी हुई माया विश्व की कारण है, वही तम कहलाती है। जब वह विद्यावृत्ति से सन्तप्त हो प्रलीन हो जाती है तब दिन-रात अर्थात् काल और सत्-असत् अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म पदार्थ—ये सब कुछ नहीं रह जाते अकेला अद्वय अक्षर शिव ही रहता है जो स्वभूत चित्प्रकाश से भासमान है। जगत्कारण महात्मा सविता का आराध्य रूप वही अक्षर परब्रह्म है जो प्रसिद्ध गायत्रीमंत्र का प्रतिपाद्य है।।६८५-७।।

१. 'एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां...' शिष्टं ३.१३ वत् ।।४.१७।।
२. 'यदा तमस्तद् न दिवा न रात्रिर्न सन्न चाऽसच्छिव एक केवलः। तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी।।' ४.१८।।

प्रज्ञा च निर्गता तस्माद् अस्माकं बुद्धिरूपिणी। पुराणी भगवान् सैष ययाऽस्माभिर्विलोकितः।।
पुराणः सर्वजगतः कर्ताऽर्थस्तत्पदस्य यः।।६८८

बुद्धिरेषा समुत्पन्नाऽप्युपदेशात् पुरा गुरोः। नैनमूर्ध्वं न सर्वासु दिक्षु मध्येऽपि नैव च।
पर्यग्रहीदिदानीं च गृह्णीते सर्वतोऽपि च।।६८९

न तस्य प्रतिमा लोक उपमार्थेऽत्र विद्यते। महद्यश इदं नाम यस्यास्तेऽत्र महात्मनः।।६९०

विलोक्यते न केनाऽपि रूपमस्याऽत्र चक्षुषा। नैव तद्ग्रहणे योग्यमानन्दात्मस्वरूपतः।।६९१

हृदयस्थेन मनसा मनोवृत्तिं नियम्य हि। विलोकयेत् प्रसादेन रुद्रस्याऽस्य महात्मनः।।६९२

एव हेतोः इयं प्रज्ञा पुराणी अनादिसम्प्रदायागता अस्माकं जाता यया स एष देवः पुराणो जगत्कारणत्वोपलक्षिततत्पदार्थरूपः साक्षात्कृत इत्यर्थः।।६८८।।

ऊनविंशतितमस्य[1] अर्थमाह—बुद्धिरिति द्वाभ्याम्। गुरोरुपदेशात् पूर्वम् अस्माकं बुद्धिः तदाकारतया समुत्पन्नाऽपि ऊर्ध्वादिदिक्षु कोणेषु च भ्रान्ताऽपि च एनम् आत्मानं नाऽग्रहीद्, इदानीं गुरोरुपदेशादनन्तरं तु तमात्मानं सर्वत्र गृह्णातीत्यर्थः।।६८९।। कीदृशं तदात्मरूपमिति न प्रष्टव्यं, तदुपमानाभावेन तदुत्तरस्य अवचनीयत्वाद् इत्याह—न तस्येति। प्रतिमा उपमानम्। तस्य निरतिशयप्रेमास्पदत्वबोधकं महद्यश इत्याकारकं नाम इति।।६९०।।

आत्मनोऽविषयतां बोधयतो[2] विंशस्यार्थमाह—विलोक्यत इति द्वाभ्याम्। अस्य आत्मनः स्वरूपं चक्षुरादिभिः करणैः न आलोक्यते यतः तत् सदृक्पदोक्ताय ग्रहणाय योग्यं न भवति, अद्वयलक्षणानन्दरूपत्वाद् इत्यर्थः।।६९१।। हृदयस्थेनेति। हृदयस्थं मनः कृत्वा तद्वृत्तीः निरुध्य चेश्वरानुगृहीतः कश्चिदेव तं विलोकयेत्। इति।।६९२।।

वह परमेश्वर ही इसमें कारण है कि अनादि सम्प्रदाय से चली आ रही वह प्रज्ञा हमारी बुद्धि में वृत्त्याकार से उपारूढ हुई है जिससे हम उस देव का दर्शन कर पाये जो भगवान् है, पुराण है, सारे जगत् का रचयिता है, तत्पद के वाच्यार्थ द्वारा समझा जाने लायक है।।६८८।।

श्रीगुरु के उपदेश से पहले भी यह बुद्धि तो (तत्तद्विषयाकार में) उत्पन्न होती थी पर ऊपर, सारी दिशाओं में, कोणों में, कहीं इस आत्मतत्त्व को नहीं समझ पाती थी जबकि उपदेश पाने के बाद अब यह सभी तरह उस महादेव को ही ग्रहण करती है।।६८९।। शास्त्रों में जिसका 'महद्यश' यह नाम बताया गया है उसके योग्य उपमा के लिये कोई उपमान लोक में नहीं है (अतः 'सब तरफ कैसा दीखता है ?' यह मत पूछो। उस दर्शन जैसा कोई अन्य दर्शन हो तो उसके द्वारा समझा सकते हैं पर वैसा कोई लौकिक अनुभव है नहीं। ज्ञानपूर्व नाम-रूप में ही हमारी दृष्टि उलझी रहती है, ज्ञानोत्तर सच्चिदानंद ही उसमें भासता है यह भाव है।)।।६९०।।

साधकसमाज में कोई भी ऐसा नहीं है जो चक्षुरादि इंद्रियों से इस आत्मा के स्वरूप को विषय करे क्योंकि उसका स्वरूप इस योग्य है ही नहीं कि इन्द्रियगोचर हो, कारण कि वह आनंदरूप प्रत्यक् ही है।।६९१।। मन को हृदय में एकाग्र कर, मनोवृत्तियाँ समाहित कर वही साधक उसका दर्शन पाता है जिस पर इस महात्मा रुद्र की कृपा हो।।६९२।।

---

१. 'नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्। न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।।'४.१९।।

२. 'न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।' उत्तरार्धपाठः ३.१३ गतो हृदेत्यादिरेव दीपिकायाम्। भाष्योपनिषद्योगीयादौ 'हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति' इत्युत्तरार्द्धपाठः।।४.२०।।

प्रसादाय प्रार्थना

एवं सम्प्रार्थ्य तं देवम् एकाग्रहृदये स्थितम्। जन्मादिविक्रियाशून्यो भगवान् पाशमोचकः।।६६३

अग्निमध्ये यथा जन्तुः मरणेन विवर्जितः। प्राप्नोति दुःसहं दुःखम् अहमेवं वपुःस्थितः।।६६४

त्रिविधैर्दुस्सहैर्दुःखैः पीडितोऽस्मि निरन्तरम्। तवाधीनः पशुर्नित्यम् अनीशः पुण्यपापयोः।।६६५

दशां दीनतमां प्राप्तो मत्तो नान्योस्ति कश्चन। कृपालुश्च तथा त्वं तु नियन्ता पुण्यपापयोः।।६६६

ईश्वरप्रसादहेतुप्रार्थनाऽभिनयपरम् अन्त्यं मन्त्रद्वयम्[1]। तत्र प्रथमस्यार्थमाह—एवमिति त्रयोदशभिः। स च साक्षात्कारहेतुः प्रसादः तं देवं हृदये स्थितं सन्निहितम् एवं सम्प्रार्थ्य लभ्यत इति सम्बन्धः। 'एवं' कथम्? इत्याकांक्षायामाह—जन्मादीत्यादि। हे भगवन्! भवान् जन्मादिविक्रियाशून्यत्वाद् अस्माकं जीवानां पाशमोचनशक्तो भवतीत्यर्थः।।६६३।। अहं तु इत्थं पाशबद्धो मयार्तोस्मीत्याह—अग्नीत्यादिना। यथा जीवन्नेव अग्निमध्यगतो जन्तुः दुःखी भवेत् तथाऽहं शरीरे दुःखाग्निमये स्थितो दुःखितोऽस्मि इति। अत एव पशुवद् अस्वातन्त्र्यात् तव पशुपतेः अधीनः अस्मि। इति द्वयोरर्थः।।६६४-५।। दशामिति। मत्समो दीनो नास्ति, त्वत्समश्च उद्धरणक्षमः कृपालुः नास्ति इति योग्यः सम्बन्धो विधिना कृत इति भावः।।६६६।। ईशं शपथेन बध्नाति-यदीति। यदि च वेदानां प्रामाण्यम् असङ्कुचद्वृत्ति, यदि च शङ्करः सुखप्रतानकत्वेन शङ्करनामा देवः प्राणमोक्षाऽऽततः प्राणे जीवना-

चतुर्थाध्याय के अंतिम दो मंत्र ईश्वरकृपा के लिये प्रार्थनात्मक हैं—'क्योंकि परमात्मकृपा के बिना मोक्षौपयिक आत्मबोध नहीं होता इसलिये संसारभय से आकुल कोई साधक यों प्रार्थना करता है 'हे अज! आप सभी भावविकारों से रहित हैं। मैं आपकी शरण आया हूँ। हे रुद्र! आप से अधिष्ठित श्रोत्ररूप विषयोपलब्धिद्वार, जो हृदय के दक्षिण छिद्र में स्थित है (छां. ३.१३.२), उससे मुझे वेदान्तश्रवण में प्रवृत्त कर सदा मेरी रक्षा कीजिये।'२१।। भाष्य में दक्षिण का अर्थ उत्साहजनक और ध्यान द्वारा आह्लादकारी किया है। नारायणाचार्य दक्षिण से उपदेशकुशल समझते हैं और 'कश्चित्' का अभिप्राय बताते हैं कि मुझे ही पता नहीं मैं कौन हूँ! उपनिषद्योगी कैवल्य दिलाने में समर्थ को दक्षिण बताते हैं। 'रुद्र! हमारी छोटी औलादों की, खासकर ज्येष्ठ पुत्र की, हमारी आयु की, गायों-घोड़ों आदि की हिंसा मत कीजिये। बुद्धि उत्साह आदि युक्त हमारे वीरों को मत मारिये। हम हमेशा हवियों से आपके लिये होम करते हैं।'२२।। नारायणाचार्य 'भामितः' का अभिप्राय बताते हैं कि जो हम पर क्रुद्ध हो उसे भी आप मारें नहीं वरन् आपकी कृपा से वह क्रोधरहित हो जाये। उपनिषद्ब्रह्मयोगी 'तोके' से शिष्यवर्ग, 'गोषु' से सम्यग्ज्ञानसाधन वाग्विभूतियाँ, 'अश्वेषु' से इंद्रियाँ, 'वीरान्' से स्नातकों की रक्षा की प्रार्थना करते हैं। तनय से भाष्य में पौत्र और विज्ञानभगवान् ने प्रशिष्य लिये हैं। हमारे गुरुजी 'भामितः' का तात्पर्य कहते हैं कि शिव पर ज्ञान की परिच्छिन्नता का आरोप ही दोष है जिससे उनका हम पर क्रोध संभव है, उसके निवारणार्थ प्रार्थना है। मंत्रद्वय की पौराणिक व्याख्या है:

एकाग्र चित्त के प्रकाशकरूप से स्थित उस महादेव की यों प्रार्थना करना साक्षात्कारहेतुभूत कृपा का प्रयोजक बनता है—हे भगवन्! आप जन्म और उससे आरंभ होने वाले परिवर्तनों से अस्पृष्ट हैं अतः हम जीवों के पाश आप ही खोल सकते हैं।।६६३।।

जैसे कोई जन्तु आग में फँस जाये पर मरे नहीं तो असह्य दुःख पाता है वैसे शरीर में स्थित मैं लगातार तीन तरह के असह्य दुःखों से पीडित हूँ। जैसे पशु अपने मालिक के अधीन होता है ऐसे मैं आपके अधीन हूँ। मैं हमेशा पुण्य-पाप के नियंत्रण में रहकर परेशान हूँ।।६६४-५।। मुझसे अन्य कोई नहीं जो ऐसी सर्वाधिक दीन दशा में हो और आपसे अधिक कोई कृपालु भी है नहीं! पुण्य-पाप के आप ही शासक भी हैं।।६६६।। यदि वेदों की प्रामाणिकता

१. 'अजात इत्येवं कश्चिद् भीरुः प्रपद्यते। रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्।।४.२१।। मानस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मानोऽश्वेषु रीरिषः। वीरान् मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे।'४.२२।। इति चतुर्थोऽध्यायः।

यदि वेदाः प्रमाणानि यदि तिष्ठति शङ्करः। प्राणमोक्षाऽऽततः प्रोक्तं दुःखमेतद् विनाशय। ।६९७
आर्तत्राणकरो यस्माद् वेदवाक्याद् मया श्रुतः। भवानतः प्रपन्नोऽस्मि भवन्तं दीनवत्सलम्। ।६९८
अहं कश्चिन्न जानामि स्वात्मानमपि शङ्कर। दुःखमेकं विजानामि मातृहीनः शिशुः सुधीः। ।६९९
अरण्ये निर्जने सर्पव्याघ्रादिपरिवारिते। परित्यक्तो यथा तद्वत् परं भयमुपागतः। ।७००
क्षुत्पिपासे पिशाच्यौ द्वे बाधेते मामहर्निशम्। यौवनं वनमाविष्टं सर्पः कन्दर्पनामकः।
दशत्यतिविषो नित्यं प्रतीकारविवर्जितः। ।७०१
इमे शब्दादयस्तद्वद् वृकाः सर्वत्र संस्थिताः। वधूकाकैश्च सहिता हन्तुमायान्त्यनेकशः। ।७०२

वस्थायां मोक्षे च आततः पूर्ण इति प्रसिद्धम्; तत्र प्राणे तत्सान्निध्यं 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्याद्' इति (तै. २.७.१) श्रुतिर्दर्शयति। मोक्षे तत्सान्निध्ये तु 'यदाऽतम' इत्यादिकाष्टादशमन्त्रपूर्वार्धादीनि शतशो वाक्यानि। तेन सत्येन हे भगवन्! मे दुःखं नाशय इत्यर्थः। प्राणमोक्षाद् इति पञ्चम्यन्तपाठे— प्राणमोक्षाद् मरणात् पूर्वमिति शेषः। ततः तेन सत्येन जीवत एव मे दुःखं नाशयेत्यर्थः। ।६९७।। आर्तेति। यतो भवत आर्तानां दुःखितानां त्राणकरत्वं वेदवाक्यसमुदायादवगतम् अतः त्वां प्रपन्नोऽस्मि इत्यर्थः। ।६९८।। ननु त्वं स्वयमेव आत्मानं विचार्य निर्दुःखो भव, किं मदनुग्रहेण? इत्याशङ्कां वारयन्नाह—अहमिति। अहं कश्चित् कुत्राऽपि गुणिगणनायामगण्योऽस्मि यतः स्वात्मानमपि न जानामि। तत् किं जडोऽसि? इति शङ्कां वारयति—दुःखमित्यादिना। यथा शिशुः बालः सुधीः अतिमुग्धावस्थामतिक्रान्तः सोपद्रवे निर्जनारण्ये प्रक्षिप्तो भीतः सन् दुःखमेव जानाति तथाऽहमपि दुःखमात्रज्ञानोपक्षीणचैतन्यः। इति द्वयोरर्थः। ।६९९-७००।।

स्वप्रक्षेपस्थानस्य संसारस्य सोपद्रवाऽरण्यसाम्यमेव स्फुटयति—क्षुत्पिपासे इति त्रिभिः। अत्र संसारारण्ये क्षुत्-तृड्रूपे पिशाच्यौ दुःखयतः। यौवनरूपं महारण्यं प्रविष्टं च मां कन्दर्परूपः सर्पो दशति दंशविषेण मोहयति। ।७०१।। इम इति। यत्र यौवनारण्ये शब्दादिविषयरूपा वृकाः, नारीरूपाः काकाश्च मम धर्मविवेकादिमयं शरीरं हन्तुमायान्ति। ।७०२।। क्रोधेति। अत्रारण्ये क्रोधरूपः सिंहो हृदयं गर्जितेन तापयति तथा

अनौपचारिक, मुख्य है, यदि जीवन और मोक्ष में पूर्ण (स्वतंत्र) शङ्कर मौजूद हैं तो मैं मरूँ उससे पूर्व ही जिसका मैंने वर्णन किया वह दुःख मिटा दीजिये। ।६९७।। वेदवचनों से मुझे सुनने को मिला कि आप दुःखियों की रक्षा करते हैं इसीलिये दीनों पर वात्सल्य वाले आपकी शरण आया हूँ। ।६९८।। हे शंकर! मैं नाचीज़ हूँ, मुझे खुद नहीं पता मैं हूँ कौन! जिसे थोड़ी समझ आ चुकी हो ऐसा बच्चा साँप बाघ आदि से घिरे जंगल में अकेला छोड़ दिया जाये, वह अपनी माँ को भी आस-पास न पाये तो उसे केवल अत्यंत दुःख और डर का ही भान रहता है, अन्य कुछ नहीं भासता; ऐसे ही मुझे सिर्फ़ दुःख का ही अनुभव हो रहा है, और कुछ सूझ नहीं रहा। ।६९९-७००।।

संसार नामक जंगल में भूख-प्यास ये दो चुड़ैलें मुझे दिन-रात दुःखी करती रहती हैं। उस जंगल का सबसे बीहड़ हिस्सा है जवानी जहाँ कामदेव नामक साँप सदा डँसता है और उसका जहर उतारने का कोई उपाय भी है नहीं। ।७०१।। ये शब्दादि विषय रूप भेड़िये उस जंगल में सब तरफ मौजूद हैं। नारी रूप कौओं सहित वे विषय-भेड़िये मुझ पर प्रहार करने अनेक समूहों में आते रहते हैं जिससे धर्म विवेक आदि रूप मेरा देह क्षत-विक्षत हो गया है। ।७०२।। क्रोधनाम सिंह की दहाड़ से मेरा हृदय काँपता है। अनेक रूपों वाले तरक्षु के आकार में लोभ ही आया है जिसे देखते ही मेरे नेत्र जलने लगते हैं। (डाकिनी का वाहनभूत एक जानवर 'तरक्षु' नाम से प्रसिद्ध है जो आँखें जला डालता है। इसीसे लोग लोभी को देखते ही मुँह मोड़ लेते हैं! सामान्यतः तरक्षु लकड़बग्घा कहा जाता है।) अहंकार नामक महान् पर्वत मेरा प्रकाश रोके है (जैसे विन्ध्याचल ने नभःस्थित आदित्य का प्रकाश रोक दिया था)। ।७०३।। हे भगवन्!

क्रोधसिंहस्य नादेन हृदयं परिदूयते। मम लोभोऽपि चित्रोऽयं तरक्षुर्नेत्रदाहकः।।
रुणद्ध्यपि प्रकाशं च ममाऽहंनामको गिरिः।।७०३

एवमादिसहस्राणि दुःखानि मयि सन्ति भोः। यानि श्रोतुं न च भवान् शक्तोऽतिकरुणावृतः।।७०४

रुद्र ! यत्ते मुखं सौम्यमघोरं दक्षिणेऽस्ति हि। दक्षं शिवतमं तत्तु गुरुरूपं महेश्वर !
पाहि तेनाद्य मां नित्यं वीतशोकं कुरु प्रभो।।७०५

यावन्नो जायते नैतद् ब्रह्मानन्दः शुचापहः। तावत्त्वं भगवान् मृत्युर्मा हिंसीर्नोऽत्र किञ्चन।।
कुपितो यद्वदेतेषां निहंसीशाऽखिलं प्रियम्।।७०६

रोगादिकं च मा भूयाद् अपत्येषु सुतेषु च। विशेषतोऽत्र नो देव ! गवाश्वादिषु वा सदा।।७०७

वीरान् भ्रातॄन् सुतानग्नीन् राज्ञो वा मत्प्रियानपि। अस्मत्तः पूर्वमेवैतान् मा हिंसीर्नः स्वयं
प्रियान्।।७०८

लोभः तरक्षुः डाकिनीवाहनत्वेन प्रसिद्धो मृगविशेषः चित्रो नानारूपो दर्शनेन नेत्रतापको वर्तते, अत एव लुब्धं दृष्ट्वा दातारो दृष्टिं परिवर्तयन्ति इति प्रसिद्धम्। तथाऽहङ्काररूपो गिरिः मदात्मरूपादित्यस्य प्रकाशं छादयति विन्ध्याचलवद् इत्यर्थः।।७०३।। एवमादीति। एवमादीनि सहस्राणि असंख्यातानि रूपाणि येषां तादृशानि मम दुःखानि सन्ति यानि श्रोतुं भवान् करुणावेगाकुलितत्वाद् न समर्थ इत्यर्थः।।७०४।। रुद्रेति। हे रुद्र ! रुत्पदोक्तदुःखस्य परिहारकत्वाद् रुद्रसंज्ञ ! यत् तव मुखानां—तत्पुरुषाघोरसद्योजातवामदेवेशानाख्यानां—पूर्वादिदिक्षु[1] मध्ये च क्रमेण स्थितानां मध्ये दक्षिणं मुखम् अघोराख्यं दक्षम् उपदेशे कुशलं च प्रसिद्धं तेन मां रक्षेत्यर्थः।।७०५।।

'मा न' इत्यादेरन्त्यस्यार्थमाह—यावन्न इति पञ्चभिः। यावद् नः अस्माकम् अधिकारिणाम् इदम् उक्तलक्षणं ब्रह्मज्ञानं न जायते तावद् अस्माकं प्रियं सुतादिरूपं मृत्युरूपः सन् मा हिंसीः यथेतरेषां पापिनां प्रियं हंसि तथेत्यर्थः।।७०६।। रोगादिकमिति। तथाऽस्माकम् अपत्येषु, विशेषतो मन्त्रोपात्तेषु पुत्रेषु गवादिषु च रोगादिकं चित्तक्षोभकं माऽस्तु।।७०७।। वीरानिति। तथा वीरपदार्थान् पुत्रभ्रात्रग्निरूपांस्तथा 'भामि'-पदोक्तान् उपकारकान् राजादीन् अस्मत्तः प्रथमं मा हिंसीः। तत्र अग्नेर्वीरपदार्थत्वं 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निम् उद्वासयते'[2] इति श्रुतिसिद्धम्। न इत्यादि पदत्रयम् उत्तरान्वयि।।७०८।। परन्त्वेतत् प्रार्थनं त्वयि करुणावरुणालये स्वभावादस्माकं

इस तरह के हज़ारों दुःख मुझ पर आ पड़े हैं जिन सब का वर्णन आप सुन भी नहीं सकते क्योंकि आप करुणा के वेग से स्वयं आकुल हो जायेंगे।।७०४।। दुःखपरिहारक हे रुद्र ! जो आपका अघोर-नामक शान्त-प्रसन्न मुख दक्षिण की ओर है वह ज्ञान प्रदान करने में सर्वाधिक सक्षम है, कल्याण करने में सबसे त्वरित है, उसीमें आपका गुरुरूप प्रकट होता है (अतएव कहा है 'गुरवे सर्वलोकानां दक्षिणामूर्तये नमः')। हे महेश्वर ! हे प्रभो ! आज मेरी उस मुख से (गुरुरूप से उपदेश देकर) रक्षा कीजिये, मुझे हमेशा के लिये निःशोक कर दीजिये।।७०५।।

हे ईश ! यह शोकहारी ब्रह्मानंद जब तक हमें प्राप्त नहीं हो जाता—इसे देने वाला तत्त्वज्ञान हमें नहीं हो जाता—तब तक मृत्यु रूप में स्थित आप कुपित हो हमारे प्रियजनों की यहाँ हिंसा मत कीजिये जैसे इन पापियों के अखिल प्रिय की आप हिंसा कर देते हैं।।७०६।। हे देव ! हमारी औलाद को, खासकर हमारे पुत्रों को, गाय-घोड़े आदि को जीवनकाल में कभी कोई रोग आदि न हों।।७०७।। हमारे वीरों को—अर्थात् भाइयों, पुत्रों व अग्नियों को—तथा हमारे प्रिय राजा

१. पूर्वदक्षिणादिक्रमेणैवैभिर्नामान्युक्तानि।
२. सूत्रभाष्ये ३.४.१८ तमे श्रुतिरियमुद्धृता।

न हिनस्ति भवान् यस्माच्चित्रमायुर्ददाति च। ततोऽस्मद्विषये नैवं सम्प्रार्थ्यमिह विद्यते।।७०९
धनधान्यादिसम्पन्ना वयं ते परिचारकाः। यथा सुखेन ते कुर्मः परिचर्यां तथा कुरु।।७१०
एवं सम्प्रार्थितस्तेषां यो ददाति यतीश्वराः। भोगं मोक्षं च वो देवस्तं भूयः कथयाम्यहम्।।७११

तत्पदार्थोक्तिः

क्षराऽक्षरे इह प्रोक्ते विद्याऽविद्ये मनीषिभिः। द्वे इमे ब्रह्मसम्बद्धे निगूढे वेदपादपे।।
उभयोरेतयोरीष्टे कर्मज्ञानाख्ययोः शिवः।।७१२
अविद्या पठ्यते वेदे कर्ममार्गो विनश्वरः। ब्रह्मज्ञानार्थमेषोऽपि कृतो ब्रह्मपरो भवेत्।।७१३
ब्रह्मज्ञानं सदा ब्रह्मपरं तद्विषयं यतः। अमृतं मोक्षहेतुत्वाद् विद्या स्याच्च यथार्थतः।।७१४

त्राणपरेऽनुवादभूतमित्याह—न हिनस्तीति। यतो भवान् अस्माकं प्रियं स्वयं न हिनस्ति न हन्ति, प्रत्युत आयुर्ददाति, ततः प्रार्थना पुनरुक्तिप्रायत्वाद् अनुवादभूतेत्यर्थः।।७०९।। धनेति। यथा वा साधनसम्पन्नाः 'सदमित्'-पदोक्ते सर्वकाले वयं परिचर्याम् आराधनां कुर्मः तथा कुरु।।७१०।।

चतुर्थपञ्चमाध्यायव्याख्ययोः समाप्त्यारम्भौ सूचयन्नाह—एवमिति। यो देव इत्थं स्तुतो भोगमोक्षप्रदः तं पुनः पञ्चमाध्यायमन्त्रानुसारेण वो युष्मभ्यं वच्मि, 'शतशोऽपि पथ्यं वक्तव्यम्' इति न्यायादित्यर्थः।।७११।।

अत्र प्रथमे षण्मन्त्राः, ते तत्पदार्थप्रतिपादकाः। तेषु आद्यस्य[1] कर्मज्ञानमार्गयोः सम्प्रदायप्रवर्तकत्वमीश्वरस्य दर्शयतोऽर्थमाह—क्षराऽक्षरे इति पञ्चभिः। अनित्याभ्युदयफलकत्वेन क्षरपदोक्ता कर्मरूपाऽविद्या, मोक्षहेतुर्विद्या तु अक्षरपदोक्ता; द्वे अपि इमे ब्रह्मणा सम्बद्धे यतः कर्मविद्याऽपि चित्तशुद्धिद्वारा ब्रह्मप्राप्तिहेतुः इति भावः। पुनः कीदृशे ? वेदवृक्षे पत्राच्छादितफलवद् गूढतया स्थिते। अनयोः ईशः प्रवर्तकः फलदश्च शिव एवेत्यर्थः।।७१२।। प्रथमं क्षरपदोक्तकर्मविद्यारूपाऽविद्यायाः परम्परया मोक्षहेतुत्वमाह—अविद्येति। एष कर्ममार्गः।।७१३।। ब्रह्मज्ञानस्य यथार्थत्वेन विद्यापदोक्तस्य ब्रह्मप्रापकत्वेन अक्षरत्वम् अमृतत्वं च प्रसिद्धमेवेत्याह—ब्रह्मज्ञानमिति। यतः तद्विषयं ब्रह्माकारम्।।७१४।। उभयोरुक्तरूपविद्याऽविद्ययोरनन्तत्वं स्फुटयति—कर्मेति। यतः कर्म च विद्या च एते स्वं स्वं

आदि उपकारकों को हमसे पूर्व मत नष्ट कीजियेगा (अर्थात् हमें इनकी मौत या अग्नियों की हानि न देखनी पड़े)। हम जो आपको प्रिय हैं उन्हें तो आप स्वयं ही नहीं मारते बल्कि विविध भोगसंपन्न आयु स्वयमेव प्रदान करते हैं इसलिये अपने लिये कुछ माँगने लायक संसार में है ही नहीं।।७०८-९।। हम आपके सेवक सुखपूर्वक आपकी सेवा करते रह सकें इसके लिये उचित धन-धान्य आदि से हमें सम्पन्न बनाये रखिये।।७१०।।

यों (श्लो. ६९३-७१०) प्रार्थना की जाने पर जो महादेव उन प्रार्थनाकर्ताओं को भोग-मोक्ष प्रदान करते हैं उन स्वप्रभ के बारे में मैं आपको पुनः कुछ बताता हूँ। (अर्थात् उपनिषत् के पंचमाध्याय का विषय सुनाता हूँ)।।७११।।

उपनिषत्पञ्चमाध्याय के आरंभिक छह मंत्र प्रधानतः ईश्वर—तत्पद के अर्थ—का प्रतिपादन करते हैं। 'हे सोम्य! वास्तविक अनंत परमात्मा ही सबसे परे है ! उसमें ये दो 'अक्षर' हैं—शब्दब्रह्म और कारणाविद्या। प्रथम में तत्त्व ज्ञान और द्वितीय में तत्त्व का अज्ञान छिपा है। विनाशी कार्यों वाला अज्ञान को समझना चाहिये जो कारणभूत अविद्यारूप से ही स्थित है। अमृतरूप मोक्ष देने वाला तत्त्वज्ञान है। यह शब्दब्रह्म अर्थात् वेद में स्थित है। इन दोनों का शासक तो इनका अधिष्ठान है जो इनसे परे है।'[1]।। नारायणाचार्य 'ब्रह्मपुर' पाठ मानकर उसका अर्थ शरीर करते हैं जिसमें जीव-ब्रह्म इन दो अक्षरों का अवस्थान कहते हैं। वृत्त्यात्मक विद्या-अविद्या देहगत हैं ही। 'जो इकलौता रहते हुए भी

१. 'द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे। क्षरन्त्वविद्यां ह्यमृतं तु विद्यां विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः।'५.१।।

कर्मविद्ये सदाऽनन्ते नाऽदत्वा स्वफलं नृणाम्। विनश्यतो यतस्तेन कीर्तिते मुनिपुङ्गवैः।।७१५
विद्याऽविद्ये इमे स्यातां शिवस्यैव प्रसादतः। मनुजानां सदा सौम्याः ! नान्यथा कर्हिचित्
क्वचित्।।७१६

फलम् अदत्वा न नश्यतः, किन्त्ववश्यं फलं ददाते एव, तेन हेतुना अनन्ते इत्युक्ते इत्यर्थः।।७१५।। तयोरीशत्वं शिवस्य स्फुटयति—विद्याऽविद्ये इति। हे सौम्या यतयः ! शिवस्य जीवेभ्यः संसारिभ्योऽन्यस्य विलक्षणस्य प्रसादात् तयोः सिद्धिः।।७१६।।

सब कारणों का अधिष्ठाता बनता है, सभी कार्यरूप व कारणरूप वस्तुओं के आकार में स्थित होता है, वही प्रथमकार्य एवं विचित्र वर्णों वाले अतीन्द्रिय द्रष्टा हिरण्यगर्भ को जगद्व्याकरण से पूर्व ज्ञानों से पुष्ट करता है तथा जो कुछ भी उत्पन्न होता है उस पर नज़र रखता है।।'२।। नारायणमत में विविध योनियों में भटकता जीव ही गर्भ में पूर्वादि जन्मों का अनुसंधाता होने से ऋषि है पर प्रसूत (पैदा) होते ही सब भूल जाने से कपिल है ! (हतप्रभ व्यक्ति पीला पड़ जाता है अतः पीला या कपिल हतप्रभता या विस्मृति का बोधक है।) उपनिषद्योगी 'अयोनिं योनिं' छेद कर समष्टिमूलाविद्या और व्यष्टितूलाऽविद्या का उल्लेख मानते हैं। भाष्य में 'ज्ञानैः' से धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य इस चतुष्टय का ग्रहण है। 'प्रत्येक प्राणी के लिये व्यवस्थित संसाररूप महान् इन्द्रजाल को नाना तरह से फैलाते हुए आत्मरूप स्वप्रकाश व्यापक चैतन्य ईश्वर प्रसिद्ध व्यवहारक्षेत्र में उपस्थित है। संसार का उपसंहार और पुनरुत्पादन वही करता है। प्रजापतियों का भी वही जनक है। सबको अधिष्ठित कर वह सबका पालनकर्ता है।।'३।। नारायण का 'संहरति' की जगह 'संभवति' पाठ है अतः तदनुसार जीव के नाना योनियों के जन्म का कथन है। उपनिषद्योगी अंतःकरण-प्राण-इंन्द्रियों को 'जाल' कहते हैं क्योंकि ये जीव को फँसाते हैं। सुषुप्ति और उससे बाहर आना ही उपसंहार व पुनरुत्पत्ति है। 'जैसे आश्चर्यकर गति वाला सूर्य ऊपर-नीचे-चारों तरफ सब दिशाएँ प्रकाशित करते हुए स्वयं चमकता है ऐसे वह एक वरणीय स्वप्रभ भगवान् सब कारणों को अधिष्ठित करता है।।'४।। नारायण ने 'गायों में साँड़' को दृष्टांत माना है। प्रकाशित कर व चमकने से उपनिषद्योगी समझते हैं स्वातिरिक्त सब को 'नेति-नेति' से भासित कर स्वयमेव प्रकाशमान रहना। 'जो जगत्कारण सब स्वभावों को परिपक्व करता है, उत्पन्न सभी पदार्थों के उचित परिणाम कराता है, अकेला ही नाना ज्ञानों के विषयभूत इस अविद्या-तत्कार्य को अधिष्ठित करता है और सभी गुणों को उचित उपयोग में लगाता है।।५।। वह सर्वकारण वेद के रहस्यभाग अर्थात् उपनिषदों में प्रतिपादित है। उस व्यापक कारण को हिरण्यगर्भ जानता है। पूर्व में भी जिन देवता, ऋषि आदि अधिकारियों ने उस स्वप्रभ आनंद को जाना वे ब्रह्मस्वभाव वाले होकर अमर हो गये।।'६।। नारायण 'पाच्य' की जगह 'प्राच्य' पढ़कर पूर्वोत्पन्न धर्मादि को अभिहित मानते हैं। भाष्य 'पाच्य' से पाकयोग्य पृथ्व्यादि का ग्रहण करता है। हमारे गुरुजी 'गुह्य' से तन्त्रों को समझना चाहते हैं पर विकल्पतः हृदय गुफा भी अर्थ करते हैं तथा उपनिषत् से गुरुपरंपरा व बुद्धि अर्थों का समर्थन करते हैं। 'ब्रह्मयोनि' का वे शास्त्रयोनि-अधिकरणानुसार द्विविध अर्थ करते हैं। इन छह मंत्रों को उन्नीस श्लोकों में पुराणकार समझाते हैं :

मनीषियों ने बताया है कि वेदवृक्ष पर ये दो छिपे हैं—क्षर अर्थात् कर्मरूप अविद्या और अक्षर अर्थात् मोक्षहेतु विद्या (तत्त्वज्ञान)। कर्म भी मनःशोधन द्वारा परमात्मलाभ में हेतु है और विद्या तो परमात्मा से सीधे ही संबंध वाली है। इन दोनों को प्रवृत्त करने वाला और इनका फल प्रदान करने वाला शिव है।।७१२।। अविद्या नश्वरफलक कर्मरूप मार्ग है जो वेद से बोधित है। परमात्मज्ञान के लिये इसका भी विनियोग किया जाये तो यह परंपरया ब्रह्मप्रापक हो जाता है।।७१३।। ब्रह्मज्ञान तो हमेशा ब्रह्म में तत्पर है क्योंकि जो ब्रह्म का आकार वही ब्रह्मज्ञान का आकार होता है। मोक्ष का साक्षात् कारण होने से ब्रह्मज्ञान अमृत तथा विद्या शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ वही है। (देखें अध्याय ४ श्लो. १९८-९९)।।७१४।।

क्योंकि कर्म और विद्या अपने-अपने फल दिये बिना नष्ट नहीं होते, अवश्य फल देते हैं इसलिये मुनि इन्हें अनंत कहते हैं। (विद्या भी अविद्यानिवृत्ति कर स्वयं नष्ट जो जाती है यह प्रसिद्ध सिद्धांत है।)।।७१५।। हे सौम्य यतियो! शिवकृपा से ही मनुष्यों को इन विद्या और अविद्या (कर्म) की सिद्धि होती है। उनकी कृपा छोड़ और कोई उपाय नहीं

चतुर्विधानां भूतानां यो बीजान्यधितिष्ठति। यश्च सर्वाणि भूतानि बीजानि च महेश्वरः।।७१७
विचित्रवर्णं कपिलमृषिं सर्वार्थदर्शकम्। हिरण्यगर्भं प्रथमं जातं विश्वस्य कारणम्।।७१८
ईश्वरः स भवेद् नित्यं यस्तं ज्ञानैर्बिभर्त्यपि। दत्वा तु चतुरो वेदाननेकार्थसमन्वितान्।।
जायमानं च तं स्वस्माद् यः पश्यति स ईश्वरः।।७१९
चतुर्विधानां भूतानामेकैकं बहुधाऽत्र यः। जालवत् कुरुते नानायोनिभेदैरनेकशः।।७२०
भूयश्च सकलं स्वस्मिन् क्षेत्रे स संहरत्ययम्। नानाविधं ततस्तद्वत् सृष्ट्वा देवो महेश्वरः।।
सर्वाधिपत्यं स्वस्यायं महात्मा कुरुते तथा।।७२१

[1]द्वितीयस्यार्थमाह—चतुर्विधानामिति त्रिभिः। यः सर्वेषां जरायुजादीनां भूतानां बीजानि कललादिरूपाणि अधिष्ठाय स्थितः, यश्च सर्वभूतरूपेण योनिपदोक्ततद्बीजरूपेण च विवर्तते।।७१७।। विचित्रेति। विचित्रवर्णत्वेन कपिलपदोक्तं सर्वार्थदर्शकत्वेन ऋषिपदोक्तं च हिरण्यगर्भं वेददानद्वारा ज्ञानैः नानाविषयैः बिभर्ति तं च हिरण्यगर्भं जायमानं सृष्टिसमर्थं पश्यति आलोचयति स ईश्वरः तत्पदार्थो बोध्यः। इति द्वयोरर्थः।।७१८-९।।

[2]तृतीयस्यार्थं निरूपयति—चतुर्विधानामिति। जरायुजाण्डजस्वेदेजोद्भिज्जरूपं योनिचतुष्टयं प्रत्येकं बहुधा एकविंशतिलक्षविधं कुर्वन् अनेकशः अवान्तरभेदैः योगेन साधर्म्येण जालसमं यः करोति इत्यर्थः।।७२०।। भूयश्चेति। भूयः प्रलयकाले सकलं सृष्टं स्वकीये क्षेत्रे मायारूपे संहरति ततः पुनः सृष्टिकाले नानाविधं पूर्ववत् सृष्ट्वा व्यत्ययेन द्वितीयाबहुवचनस्थानीयप्रथमाबहुवचनान्तपतिपदोक्तान् दिक्पालादींश्च सृष्ट्वा स्वस्य सर्वाधिपत्यं प्रकटयति सोऽयम् ईश्वर इत्यर्थः।।७२१।।

जिससे कभी कहीं इन दोनों में से एक की सिद्धि हो जाये।('सिद्धि' अर्थात् श्रद्धापूर्वक इनमें प्रवृत्ति तथा इनसे फललाभ।)।।७१६।।

महेश्वर ही सब भूतों व सब बीजों के रूप में स्थित है। जरायुजादि चारों प्रकार के प्राणियों के बीजों को भी वही अधिष्ठित कर रहता है।।७१७।। विचित्र रंगों वाला होने से कपिल और सभी अर्थों का दर्शक होने से ऋषि कहलाने वाला हिरण्यगर्भ स्वयं पहले पैदा होकर बाकी सारे संसार का कारण बनता है। ईश्वर से ही वह हिरण्यगर्भ पैदा होता है। अपने से पैदा होते उस हिरण्यगर्भ को ईश्वर इस योग्य समझते हैं कि वह विश्वोत्पत्त्यादिहेतु बने अतः उसे अनेक अर्थों से गर्भित चारों वेद प्रदान कर देते हैं। (हिरण्यगर्भ को जीव समझें तो ईश्वरानुग्रह से उन्हें पूर्वकल्प में अधीत वेद का स्मरण हो जाता है यह अर्थ है। यदि हिरण्यगर्भ ईश्वरावस्था है तो सूक्ष्मोपाधि ग्रहण करने के बाद वेदोपाधि ग्रहण की जाती है यह अर्थ है। वेदराशि भौतिक नहीं है यह संक्षेपशारीरक टीका में मधुसूदन स्वामी ने (२.९) स्पष्ट किया है। अतः सूक्ष्म व स्थूल उपाधियों की अपेक्षा यह अलग ही उपाधि है जिसका ग्रहण हिरण्यगर्भदशा में आने के बाद विराट्दशा में आने से पूर्व किया जाता है।)।।७१८-९।।

ईश्वर ही यह जाल जैसा प्रपंच बनाता है जिसमें चार प्रकार के प्राणियों में प्रत्येक प्रकार के बहुतेरे भेद हैं तथा प्रत्येक भेद में अनेक-अनेक विभिन्न योनियाँ हैं।।७२०।। फिर प्रलयकाल आने पर इस सबको वह अपने मायारूप क्षेत्र में विलीन कर देता है। पूर्ववत् सृष्टि-संकल्प होने पर वही महेश्वर देव उसी माया से यह नानाविध जगज्जाल फैला देता है। इस तरह वह महान् आत्मा प्रकट करता है कि वही सबका अधिष्ठाता और पालनकर्ता है।।७२१।।

---

१. 'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः। ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्।।'५. २।।अत्रोक्तकपिलाख्यया सांख्यवादो न श्रद्धेयो भवतीति सूत्रेषु २.१.१ स्थापितम्। तत्रैव भाष्ये सांख्याचार्याद् 'अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणाद्' कपिलपदं नैकत्रैव शक्तमिति सूचितम्।

२. 'एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन् यस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः। भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा।।'५.३।।

प्रकाशयन् दिशः सर्वास्तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा। अनड्वानिव यात्येष रविर्विश्वधुरंवहः।।
भ्राजते तेजसा स्वेन लोकानुग्रहकारकः।।७२२
एवमुक्तप्रकारेण देव एको महेश्वरः। नानाविधाननेकांस्तु स्वभावांश्चाधितिष्ठति।।७२३
भगवान् वरणीयोऽयं पाकं नयति सर्वतः। स्त्रीपुंसादिस्वभावांस्तान् प्रजोत्पत्त्यादिहेतुकान्।।७२४
विश्वयोनिस्तथैवैतान् पूर्वांश्च परिणामयेत्। यतो भवति बालोऽयं युवा वृद्धश्च सोऽपि हि।।७२५
किं बहूक्तेन तस्यात्र ह्यधिष्ठातृत्वमस्य हि। प्रति सर्वाणि भूतानि गुणैश्च सहितान्यपि।।७२६
विश्वस्य सन्ति यस्यात्र गर्भे तदधितिष्ठति। अधिष्ठाय च सर्वाणि व्यापारेष्वपि योजयेत्।।७२७

[1]चतुर्थ-पञ्चमयोरर्थमाह—प्रकाशयन्निति षड्भिः। यश्च अनड्वान् वृषभ इव विश्वभारं वहन् रविरूपो भूत्वा सर्वा दिशः प्रकाशयन् याति भ्रमति, स्वेन तेजसा राजते च लोकानुग्रहाय।।७२२।। एवमिति। एवं तथा 'चतुर्विधानां भूतानामेकैकम्' (७२०) इति श्लोकोक्तप्रकारेण नानाविधाननेकान् योनिस्वभावान् अधिष्ठाय तिष्ठति।।७२३।। भगवानिति। तथा अयं भगवान् ऐश्वर्यादिसम्पन्नः वरणीय आराध्यः स्त्रीपुरुषादिस्वभावान् पूर्वसंस्कारानुरोधिचित्तवृत्तिविशेषरूपान् सन्तत्यादिप्रयोजकान् अधितिष्ठति, पाकं फलाभिमुखं नयति च।।७२४।। [2]विश्वेति। तथाऽयं विश्वस्य कारणभूतो भगवान् एतान् नानायोनिदेहान् पूर्वान् पूर्वावस्थाशालिनः परिणामयेद् उत्तरावस्थां नयेद्, यतः ईश्वरप्रयुक्तपरिणामिस्वभावाद् अयं देहो बालादिवृद्धान्तरूपो भवतीत्यर्थः।।७२५।। तस्य सर्वाधिष्ठातृत्वे कैमुत्यन्यायं दर्शयति—किं बहूक्तेनेति। तस्याऽधिष्ठातृत्वं प्रति अभिलक्ष्य बहुना विशेषत उक्तेन किम्। यतः यस्य अस्य विश्वस्य जगतो गर्भे उक्तानि स्वभावलक्षणगुणसहितानि भूतानि सन्ति वर्तन्ते तद् विश्वमेव स ईशः अधितिष्ठति अधिष्ठाय च सर्वाणि विश्वान्तर्गतानि भूतानि स्वस्वव्यापरेषु योजयतीति द्वयोः सम्बन्धः।।७२६-७।।

बोझ ढोने वाले साँड़ की तरह विश्व का भार सहने वाला परमेश्वर ही इस प्रत्यक्ष सूर्य रूप से चारों ओर, ऊपर, नीचे सभी दिशाएँ प्रकाशित करते हुए भ्रमण करता है। लोकों पर अनुग्रह करने वाला वही अपने तेज से चमकता है और समस्त व्यवहारों का नियंत्रण करता है। (पशु-वृक्षादि सभी चेतनों के व्यवहार भगवान् सूर्य पर निर्भर हैं यह सर्वसंमत प्रत्यक्ष तथ्य है।)।।७२२।।

वह एक महेश्वर देव ही पूर्वोक्त ढंग से विविध अनेक बीजस्वभावों को अधिष्ठित किये है। (जो कोई भी बीज, कारण है उसका अभिमानी ईश्वर होता है तभी बीज से कार्योत्पत्ति होती है क्योंकि श्रुति ने सारे भूतों की उत्पत्ति उसी सत्य-ज्ञान-अनंत से मानी है।)।।७२३।। पूर्व संस्कारों के अनुसार बनने वाली खास तरह की चित्तवृत्तियाँ पुरुषस्वभाव या स्त्रीस्वभाव कहलाती हैं जिन स्वभावों से ही प्रेरित हो प्रजोत्पादन होता है। उन स्वभावों का भी अधिष्ठाता वही ऐश्वर्यादिसंपन्न आराधनीय शिव है जो सब ओर होने वाले परिपाकों को संभव करता है। (किंच वे स्वभाव स्वानुरूप फल के अभिमुख हों इसके लिये भी ईश्वर ही हेतु है।)।।७२४।।

जगत्कारण यही भगवान् नाना योनियों वाले सभी देहों को पिछली अवस्था से अगली अवस्था में लाता है जिससे वे देह भी बाल, जवान और बूढ़े होते रहते हैं।।७२५।। वह अधिष्ठाता है इस बारे में अलग-अलग ढंग से ज़्यादा क्या कहें ! इस जगत् के गर्भ में स्वभाव-लक्षण-गुणों समेत सारे भूत उपस्थित हैं और वह ईश्वर इस सारे जगत् का ही अधिष्ठाता है (तो इसके गर्भगत भूतों का व उनके स्वभावादिका अधिष्ठाता है इसमें क्या कहना ?)। जगत् को अधिष्ठित कर इसके अंतर्गत जितने भूत हैं उन सबको अपने-अपने कार्यों में लगाने वाला भी वही महेश्वर है।।७२६-७।।

१. 'सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वान्। एवं स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः।।' ५.४।।

२. 'यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः। सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः।।' ५.५।।

एक एव पुमान् ब्रह्म नित्यं सर्वस्य कारणम्। जानाम्यहं हि तद् ब्रह्म वेदगुह्यं सनातनम्।
नानाज्ञानेषु सङ्गूढं स्वयंज्योतिःस्वरूपकम्।।७२८
जानाति भगवान् ब्रह्मा यश्च लोकस्य कारणम्। रुद्रप्रसादतश्चान्ये जानन्ति च महाधियः।।
वेदकारणमीशानं सर्वज्ञं च स्वयंप्रभम्।।७२९
देवाश्च मुनयो येऽन्ये ब्रह्माऽहमिति देहिनः। तद्विदुस्तन्मया भूत्वा तेऽमृतत्वं हि भेजिरे।।७३०

'षष्ठस्यार्थमाह–एक एवेति त्रिभिः। स उक्तलक्षणः पुमान् सर्वस्य कारणत्वाद् अभिन्ननिमित्तोपादानत्वाद् ब्रह्म अद्वितीयो भवति; तद् ब्रह्म अहं श्वेताश्वतरनामा वेद्मि। कीदृशम्? वेदगुह्यम् उपनिषद्भागेन प्रदर्शितम्। पुनः कीदृशम्? लौकिकघटादिज्ञानेष्वपि स्वयंप्रकाशचिद्रूपेण स्थितम्। गूढं मूढैरलक्षितम्।।७२८।। जानातीति। तद् जगत्कारणं तत्त्वं रुद्रानुग्रहाद् ब्रह्मा हिरण्यगर्भः, अन्ये च सुधियो जानन्ति। कीदृशम्? वेदकारणतया स्फुटीकृतसर्वज्ञताकम्।।७२९।। देवा इति। देवादयः अन्ये च देहिनः ये ये तद् तत्त्वं विदुः जानन्ति स्म ते तेऽमृतत्वं गताः।।७३०।।

सबका कारण एक ही नित्य पूर्ण चैतन्य है ब्रह्म और उसे मैं (श्वेताश्वतर) जानता हूँ। वह सदा सद्रूप ब्रह्म वेदों के उपनिषद्भाग में प्रदर्शित है। लौकिक सभी ज्ञानों में स्वप्रकाश चिद्रूप से वही स्थित है पर साधारण दृष्टि उसे पहचानती नहीं तो मानो छिपा है। (घटज्ञान-पटज्ञान-कटज्ञान-मठज्ञान आदि में अनुस्यूत 'ज्ञान' तो महादेव रूप ही है जैसे घटाकाश-मठाकाशादि में अनुस्यूत आकाश महाकाशरूप ही होता है।)।।७२८।। लोकहेतु, वेदहेतु, सर्वज्ञ उस ईशान स्वप्रभ को रुद्रकृपा से भगवान् ब्रह्मा तथा अन्य विशाल बुद्धि वाले अधिकारी जानते हैं।।७२९।।

देव, मुनि आदि जो कोई भी देहधारी 'मैं ब्रह्म हूँ' यों उस जगत्कारण को जानते हैं वे तद्रूप होकर अमरता पा जाते हैं। (श्लोक में 'भेजिरे' में भूतकालता विवक्षित नहीं यह सूचित करने के लिये ही वर्तमानकालिक 'विदुः' का प्रयोग साथ ही कर दिया है। यहाँ तक प्रथम छह मंत्रों का व्याख्यान हुआ।)।।७३०।।

सातवें से बारहवें मंत्र तक त्वंपदार्थ, जीवरूप का वर्णन है–' 'मैं' रूप से प्रसिद्ध जीव नाडीरूपों से संबद्ध रहता है व सुखादि का और कर्मों का सम्पादक बनता है। खुद ही किये कर्मों के फलों का वह 'समीप से' भोग करता है! वह सर्वरूप होता रहता है (ज्ञानवृत्ति से ज्ञेयाकार हो जाता है), तीन गुणों वाला है, उत्तरायणादि तीन मार्गों पर भटकता है, प्राणों का अधिष्ठाता एवं रक्षक है तथा स्वकीय कर्मों के अनुसार संसरण करता रहता है।।'७।। नारायण 'गुणान्वय' से इन्द्रियसंबंध और 'फलकर्म' से फलयुक्त कर्म समझते हैं। 'विश्वरूपः' से वे जाग्रदभिमानी का उल्लेख मानते हैं। हमारे गुरु जी, 'त्रिगुण' में अविद्या-काम-कर्म को गुण-शब्द से समझते हैं। 'जो अंगूठे भर का, सूर्य-समान तेजस्वी रूप वाला, संकल्पों व अहंकारों से युक्त है वही बुद्धि के कामादि गुणों से और आत्मा के सच्चिदादि गुणों से युक्त है, आरे की नोक जैसा वह जीव शास्त्रादि में ज्ञात है।।'८।। भाष्य में 'आत्मगुण' से शरीरगुण जरादि लिये हैं जबकि हमारे गुरु जी ने दया, शांति आदि आपस्तंबोक्त गुण ग्रहण किये हैं। विज्ञानभगवान् रवितुल्यता मानते हैं ज्ञाततया या अज्ञाततया सब का प्रकाशक होना। 'केश की नोक के शतांश के भी शतांश जितना हिस्सा जीव का माप समझना चाहिये। अविद्या हटने पर वही अनंत होने में समर्थ है।।'९।। यद्यपि तात्पर्य सूक्ष्मता में ही है तथापि इस अभूतोपमा को हमारे गुरु जी यों व्यक्त करते हैं–बाल की नोक को सौ भागों में बाँटें, उनमें से एक भाग लेकर उसके फिर सौ हिस्से करें, उनमें से एक लेकर उसके सौ टुकड़े करें, और यों सौ बार करें तब जो हिस्सा हाथ लगे (!) उतना सूक्ष्म जीव है। 'यह (जीवात्मा) स्त्री-पुरुष-नपुंसक नहीं है। जिस-जिस विनाशी कलेवर को यह स्वीकारता है उसीसे यह छिप जाता है।।'१०।। भाष्य में 'अयते' की जगह 'रक्ष्यते' पाठ है, 'अध्यासपूर्वक अभिमान करता है' यह अर्थ है। हमारे गुरु जी ने 'युज्यते' पाठ माना है जो उपनिषद्ब्रह्मयोगी के अनुसार है। 'संकल्प और विषयोपलब्धि का आत्माग्नि में प्रक्षेप होने से एवं अन्न-जल खाने पीने से जीव नाना प्रकार से बढ़ता और पैदा होता है (अर्थात् उक्त क्रियाओं से शरीर

---

१. 'तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्म योनिम्। ये पूर्वं देवा ऋषयश्च तं विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः।।'५.६।।

त्वमर्थनिरूपणम्

कामक्रोधादिकान्नित्यं तथा सत्त्वादिकानपि। योऽन्वेति पुरुषो नीरं यद्वदौष्ण्यादिकान् गुणान्। ।७३१
तादात्म्यं च गुणैः प्राप्य कर्माणि कुरुते भुवि। फलानामपि तेनैव भोक्ता भवति चेश्वरः। ।७३२
कर्ता च तद्वदेवैष फलस्यैको महेश्वरः। विश्वरूपः सत्त्वरजस्तमोगुणसमन्वितः। ।७३३
उत्तमं मध्यमं मार्गमधमं च समाव्रजन्। प्राणाधिपः कृतैस्तेन कर्मभिर्याति सर्वतः। ।७३४

अथ सप्तमादयो द्वादशान्ता मन्त्राः त्वंपदार्थतया आत्मानं प्रतिपादयन्ति इति सूचयंस्तेषां क्रमेणार्थमाह—कामेत्यादिना देहानां ग्रहण इत्यतः (७४७) पूर्वग्रन्थेन। यः पुरुषो जीवतामापन्नः सन् कामादिरूपान् सत्त्वरजस्तमइत्याकारान् गुणान् उपाधिगान् अन्वेति भजते यथा जलं स्वसंयोगिवह्निपुष्पादीनां धर्मान् औष्ण्य-गन्धादीन् भजति तथेत्यर्थः। ।७३१। । तादात्म्यमिति। गुणैः त्रिगुणात्मकैः उपाधिभिः तादात्म्याऽध्यासं प्राप्य रागादिदृष्टद्वारा कर्माणि करोति, अदृष्टद्वारा च कर्मणां फलानि कृत्वा तेन उपाधितादात्म्याध्यासेनैव कर्मफलानां भोक्ता भवति। कीदृशः ? वस्तुत एको महेश्वरः। पुनः कीदृशः ? नानारूपैः सत्त्वादिगुणैः तादात्म्याध्यासाद् विश्वरूपः नानारूपः। इति द्वयोरर्थः। फलस्य इत्येकत्वं जातौ। ।७३२-३। । उत्तममिति। तथाऽयमात्मा प्राणाधिपः प्राणतादात्म्यापन्नः संस्तेन प्राणेन क्रियाशक्तिरूपेण कृतैः कर्मभिः देवयानपितृयाणक्षुद्रजन्तुभावरूपम् उत्तमादिमार्गत्रयं गच्छन् सर्वतो याति भ्रमति। ।७३४। ।

के परिवर्तनों को अपना मानता है) । देहधारी स्वप्नादि अवस्थाओं में यथाकर्म शब्दादि प्राप्त करता है। ।'११। । नारायणाचार्य संकल्प, स्पर्श (त्वग्व्यापार), दृष्टि (नेत्रव्यापार), होम, ग्रास (भोजन), अंबुवृष्टि (मेघवृष्टि)—इन सबसे धर्मोपचय और ब्राह्मणादि योनियों में जन्म बताया जा रहा है मानकर पंचाग्निहोत्रविद्या का संकेत देखते हैं। भाष्य में 'होमैः' की जगह 'मोहैः' पाठ है अतः वे कहते हैं कि संकल्पादि क्रम से कर्म निष्पन्न होता है। ग्रास-अंबुवृष्टि भाष्य में दृष्टांत माना है—जैसे अनियत खाने-पीने से देहवृद्धि होती है ऐसे कर्मानुसार देवादिस्थानों में, योनियों में, स्त्र्यादि शरीर मिलते हैं। उपनिषद्योगी संकल्पादि सभी से पुण्य-पाप होते हैं ऐसी व्याख्या करते हैं। अंबुवृष्टि का अर्थ अतिदान है। विज्ञानभगवान् वृष्टि से छेदन समझते हैं, किसी के अर्थ या अनर्थ का छेदन करने से पाप या पुण्य होता है यों बताते हैं। 'अपने अंतःकरण के ज्ञान-इच्छादि गुणों द्वारा देही स्थूल-सूक्ष्म अनंत रूप स्वीकारता है। प्राण-मन के गुणों द्वारा जीव शब्दादि की प्राप्ति का हेतु बनता ही है। ।'१२। । नारायण स्वगुण से सत्त्वादि, क्रियागुण से धर्मादि और आत्मगुण से वासना-उपासनादि समझते हैं। हमारे गुरु जी स्थूल-सूक्ष्म से शरीरद्वय का ग्रहण कर 'चेतन हूँ' आदि बोध को स्वगुण, 'खाता-पीता हूँ' आदि को क्रियागुण तथा 'गोरा हूँ' आदि को आत्मगुण (देहगुण) मानते हैं। सत्रह श्लोकों में इन मंत्रों का अभिप्राय बताते हैं :

जैसे जल गर्मी आदि गुण ग्रहण कर लेता है वैसे ही पुरुष काम-क्रोधादि और सत्त्वादि गुणों को हमेशा ग्रहण कर लेता है। ('गर्म पानी' यह भ्रम है, वह्निकणों की निकटता से जल में गर्मी प्रतीत होती है जैसे जपानैकट्य से स्फटिक में रक्तिमा। पुरुष भी इसी तरह अविद्यादि उपाधि के गुण अध्यास से ग्रहण कर लेता है।)। ।७३१। । त्रिगुणात्मक उपाधियों से तादात्म्याध्यासग्रस्त होकर रागादि दृष्ट हेतुओं से पुरुष व्यवहार भूमि में नाना कर्म करता है और उन कर्मों से जन्य अदृष्टरूप हेतु से फलों का निर्माण कर उपाधितादात्म्यपूर्वक ही कर्मफलों का भोक्ता बन जाता है। उपाधिपरामर्श छोड़ दें तो यह उस एक महेश्वर से अलग कुछ नहीं है जिसका पूर्व में वर्णन किया। विविध रूपों वाले सत्त्वादि गुणों में तादात्म्याध्यास से यह पुरुष नाना रूपों वाला बनता रहता है। ।७३२-३। । यही आत्मा प्राणों से तादात्म्य पाकर उस क्रियाशक्तिरूप प्राण द्वारा किये कर्मों से उत्तम-मध्यम-अधम मार्गों पर हरदम भटकता है। उत्तम मार्ग है देवयान, मध्यम है पितृयाण और अधम है छोटे जंतुओं के जन्म। ।७३४। ।

१. 'गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता। स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः। । ५.७। ।

हृदयेन समो भूत्वा सर्वमानातिगः पुमान्। अङ्गुष्ठमात्रो रविवत् स्वयंज्योतिः प्रकाशते।।७३५
अहं-सङ्कल्पसंयुक्तो गुणैर्बुद्धिकृतैः सदा। आत्मना रचितैस्तद्वत् स्वप्नदृष्टसमैरपि।।७३६
बुद्धेरल्पप्रमाणत्वात् तत्रस्थः पुरुषो महान्। आराग्रमात्रो भवति बुद्ध्या दृष्टो मनीषिभिः।।
निकृष्टो जीवतां गत्वा सर्वोत्कृष्टः परः पुमान्।।७३७
बुद्धौ स्थितस्य जीवस्य सूक्ष्मता येह विद्यते। तस्यां मानमिदं प्रोक्तं विद्वद्भिः सूक्ष्मदर्शिभिः।।७३८
केशान्तः शतधा भिन्नः पुनश्च शतधा कृतः। स यावांस्तावता तुल्यो जीवो ज्ञेयो मनीषिभिः।७३९
ब्रह्मविज्ञान उत्पन्ने बुद्ध्युपाधिपरिक्षयात्। स एवानन्तरूपः स्याज्जीवो ब्रह्मात्मरूपतः।।७४०

[1]अष्टमार्थमाह—हृदयेनेति त्रिभिः। तथाऽयं पुमान् सर्वपरिच्छेदातिगतोऽपि हृदयदेशधर्माध्यासाद् अङ्गुष्ठपरिमाणो भवति तथा अहमाऽहङ्कारेण, सङ्कल्पेन मनोधर्मेण च सहितः, तथा बुद्धेः गुणैः धर्मैः वृत्तिरूपैः परिणामैः; कीदृशैः? आत्मनाऽप्यविद्याशबलेन विवर्तोपादानतया रचितैः अत एव स्वप्नदृष्टसमैः साक्षिणमन्तरा भानानर्हैः युक्तः तद्भासकतयाऽऽलोचितः सन् रविवत् स्वयंज्योतिष्ट्वेन आविर्भवति। इति द्वयोरर्थः। एतेन बुद्धिगुणात्मगुणपदयोः सामानाधिकरण्यं सूचितम्।।७३५-६।। तुरीयपादार्थमाह—बुद्धेरिति। तथाऽयं पुमान् बुद्धेः अल्पं परिमाणमादाय तत्र बुद्धौ स्थितः प्रतिबिम्बितः सन्, आरा चर्मप्रभेदिनी, तदग्रतुल्यपरिमाणो भवति। एवं जीवतां गत्वा बुद्ध्याऽवरो निकृष्टः अपि सन् मनीषिभिः विवेकिभिः नास्ति वरो यस्माद् इति व्युत्पत्त्याऽवरपदोक्तेन सर्वोत्कृष्टत्वेन दृष्ट इत्यर्थः।।७३७।।

[2]नवमार्थं दर्शयति—बुद्धाविति त्रिभिः। तस्यां सूक्ष्मतायाम् उपलक्ष्यायां सत्यां सूक्ष्मताया उपलक्षणार्थम्।।७३८।। केशान्त इति। केशस्य अन्तोऽग्रभागः, स केशभागो यावान् यत्परिमाणः।।७३९।। यदा त्वयमात्मानं ब्रह्मत्वेन

यह पुरुष वास्तव में अपरिच्छिन्न है लेकिन हृदय-देश के अल्पत्वधर्म का स्वयं में अध्यास कर यह अंगूठेभर का हो जाता है। अहंकार का धर्म है अहम्, मनका धर्म है संकल्प, बुद्धि के धर्म उसकी वृत्तियाँ हैं। जैसे सपने में रची चीज़ें होती हैं वैसे आत्मा ने ही अविद्याशबल हो (अहङ्कारादि धर्मियों सहित) इन धर्मों को रचा है। जैसे सपना देखने वाले के बिना सपने का भान संभव नहीं वैसे साक्षी के बिना उक्त धर्मों का भान भी संभव नहीं। अतः इन धर्मों के प्रकाशक रूप से विचार करने पर सूर्य की तरह स्वप्रकाश वह आत्मतत्त्व समझ आ जाता है। (अंतःकरणवृत्तियों के साक्षी रूप से त्वंपदार्थ स्वप्रकाश है यह निर्धारित हो जाता है। मंत्र की दीपिका-योजना से पुराणयोजना में कुछ अंतर है। बुद्धिगुण की ही श्रुति ने आत्मगुण से व्याख्या की है ऐसा मानकर पुराण में चले हैं।)।।७३५-६।।

बुद्धि (अंतःकरण जिसमें प्रधान है ऐसा लिंगशरीर) छोटे परिमाण वाली है। उसमें प्रतिबिम्बित, उससे तादात्म्यापन्न होने पर वह विभु पूर्ण चेतन भी आरे की नोक जितना हो जाता है। यों जीवरूपता प्राप्त कर जो निकृष्ट हो गया उसे ही विवेकी शास्त्रदत्त बुद्धि से समझ लेते हैं कि वही सर्वोत्कृष्ट परम पूर्ण चित्तत्त्व है! (श्रुति में 'अवर' शब्द है जिसका एक अर्थ है छोटा या निकृष्ट और दूसरा अर्थ है जिससे श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं। पुराणकार ने दोनों अर्थ एकत्र कर लिये।)।।७३७।।

बुद्धि में अवस्थित जीव की जो यहाँ सूक्ष्मता है उसमें सूक्ष्मदर्शी विद्वानों ने यह परिमाण बताया है:।।७३८।। केश की नोक के सौ टुकड़े कर उनमें किसी एक अंश के पुनः सौ हिस्से करें तो जितना छोटा अंश संपन्न होगा उसके बराबर जीव है ऐसा विचारकों को जानना चाहिये।।७३९।। व्यापक आत्मा का अनुभव होने पर बुद्धिरूप उपाधि का बाध हो जाने से वही अणिष्ठ जीव क्योंकि ब्रह्मस्वरूप होता है इसलिये तब उसका रूप अनंत हो जाता है।।७४०।।

१. 'अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाऽहङ्कारसमन्वितो यः। बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः।।'५.८।।
२. 'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य तु। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।।'५.९।।

आत्मा न स्त्री पुमान्नापि नैव चाऽयं नपुंसकः। यद्यच्छरीरमादत्ते तत्तत् स्याद् नटवत् पुमान्।।७४१

बाह्यैर्विषयजैर्भोगैरान्तरैश्च सुखेच्छया। अन्नपानादिसम्प्राप्त्या वृद्धिमेति च जायते।।७४२

पुण्याऽपुण्याभिधं कर्म निमित्तमिह तद्भवेत्। जन्मवृद्ध्यादिके कार्ये सर्वदैव यतीश्वराः।।७४३

कर्मानुसारतश्चात्मा सुखदुःखसमाप्तये। अनुक्रमेण संसारे याति देहाननेकशः।।७४४

नपुंसकस्य वा देवः स्त्रियो वा पुरुषस्य वा। भूमिस्वर्गादिके स्थाने याति नानाजनौ पुमान्।।७४५

जानाति तदाऽनन्तो भवतीत्याह—ब्रह्मेति।।७४०।। [1]दशमस्यार्थमाह—आत्मेति। आत्मा स्वतः स्त्रीत्वादिहीनोऽपि तत्तद्देहतादात्म्याध्यासरूपाऽविद्ययैव स्त्रीत्वादिभागी भवति।।७४१।। [2]एकादशार्थ उच्यते—बाह्यैरिति चतुर्भिः। तथाऽयमात्माऽविद्यया स्वरूपानन्दं विस्मृत्य उपाधिरूपमात्मानं मन्यमानः सुखेच्छया कृतैः दर्शनस्पर्शनादिजन्यैः बाह्यैः, सङ्कल्पादिजन्यैः आन्तरैश्च भोगैः होमपदोक्तैः 'शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति' इति भगवद्गीतोक्तैः (गी. ४.२६), तथाऽन्नप्राप्त्या, तथाऽम्बुवृष्टिपदोक्तया पानप्राप्त्या च वृद्धिमेति देहादिषु वृद्धिं प्राप्नुवत्सु आत्मनो वृद्धिं मन्यते, जायते च तत्तद्वासनावासितो जन्मानि लभते चेत्यर्थः।।७४२।। एषु जन्मादिषु कर्माऽपि निमित्तमित्याह—पुण्येति। स्पष्टम्।।७४३।। देहविशेषलाभे तत्तल्लोकलाभे च कर्म निमित्तम् इत्याह—कर्मानुसारत इति। समाप्तिः सम्यक् प्राप्तिः, तदर्थम्; नपुंसकादिसंज्ञाश्रयान् देहान् तत्र तत्र स्थाने लोके क्रमेण प्रयाति। एवं नानाजनौ नानाविधजन्मसु याति भ्रमति। इति द्वयोः सम्बन्धः।।७४४-५।। [3]द्वादशार्थ उच्यते—

स्वतः आत्मा स्त्री पुरुष या नपुंसक नहीं है। जिस-जिस शरीर को यह तादात्म्याध्यास से ग्रहण करता है उसके अनुसार स्त्री आदि बन जाता है। उदाहरणार्थ नट जब जिस पात्र का खेल खेलता है तब स्वयं को तदनुसार स्त्रीआदि ही प्रकट करता है। (आचार्य भगवान् शंकर ने 'मूलकारणमेव...नटवत् सर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते' (ब्र. सू. २.१.१८) से यह उदाहरण प्रकट किया है।)।।७४१।।

हे यतीश्वरो ! यही आत्मा अविद्या से स्वरूपानंद भूलकर स्वयं को उपाधि से अनतिरिक्त समझ लेता है और तब सुख पाने की इच्छा से दर्शन स्पर्शन आदि विषयों से बाह्य भोग करता है या संकल्पादि से होने वाले आंतरिक भोग करता है, ये भोग ही मानो होम हैं क्योंकि इनके द्वारा इन्द्रियाग्नि में विषयों की आहुति पड़ती है। इन भोगों से एवं अन्न-पान की प्राप्ति से देहादि जब वृद्धि प्राप्त करते हैं तब यह पुरुष मानता है 'मैं ही बढ़ रहा हूँ'। इन भोगादि की वासनाओं के अनुसार यह पुनरपि जन्म धारण करता है।।७४२।। जन्म, बढ़ोतरी आदि कार्यों में निमित्त होता है पुण्य-पापरूप कर्म, यह तो प्रसिद्ध ही है।।७४३।।

आत्मा संसार में क्रमशः अनेक शरीर पाता है ताकि अपने किये कर्मों के अनुसार सुख-दुःख पा ले। विभिन्न जन्मों में स्वप्रभ पूर्ण चेतन भूमि, स्वर्गादि लोकों में नपुंसक, स्त्री या पुरुष शरीर पाते हुए भटकता है।।७४४-५।।

बुद्धि के गुणों के संसर्ग वाला (बुद्धि द्वारा गुणों को अपना ही समझने वाला) परम पुरुष छोटे-बड़े बहुतेरे शरीर वैसे हीं पाता रहता है जैसे नट।।७४६।। यद्यपि आत्मा सभी सम्बन्धों से रहित है तथापि निकृष्टता के प्रयोजकभूत अज्ञान को खुद में कल्पित कर ग्यारहों इंद्रियों से अभेदाध्यास कर लेता है जिससे विविध देहों के ग्रहण में वह स्वयं ही हेतु बनता रहता है।।७४७।।

---

१. 'नैव स्त्री न पुमानेष नैव चाऽयं नपुंसकः। यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स चाद्यते।।'५.१०।।
२. 'संकल्पनस्पर्शनदृष्टिहोमैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म। कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते।।'५.११।।
३. 'स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति। क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः।।'५.१२।।

स्थूलानपि च सूक्ष्मान् स बहून् देहान् प्रयात्यपि। बौद्धैर्गुणैः समाविष्टो नटवत् पुरुषः परः।।७४६

निकृष्टत्वं समाप्यैव जीवो भवति कारणम्। एकादशेन्द्रियैः सार्धं तादात्म्यं समुपागतः।।
देहानां ग्रहणे हेतुः सर्वसङ्गविवर्जितः।।७४७

वाक्यार्थः

अनाद्यनन्त एवाऽयं सूक्ष्मो यः कललस्थितः। उक्तो मया पुरा तस्य नास्ति नाशो जनिस्तथा।।
अस्य विज्ञानतः पाशच्छेदः पूर्वं मयेरितः।।७४८

प्राणः प्रतर्दनायोक्तो यः पुरेन्द्रेण स त्वयम्। अहं ब्रह्मेति बोधेन ग्राह्यो भावाभिधेन हि।।७४९

स्थूलानिति द्वाभ्याम्। अयमात्मा यद् नटवत् स्थूलान् गजादिदेहान् सूक्ष्मान् पुत्तिकादिदेहान् प्रयाति, तत्र 'स्व'-पदोक्तायाः बुद्धेः गुणानां समावेशः संसर्गोऽपि हेतुः इत्यर्थः।।७४६।। न केवलम् उक्ता एव संसरणहेतवः किन्तु निकृष्टत्वप्रयोजकं स्वरूपाज्ञानमपि अन्यद् मुख्यं निदानं बोध्यम् इत्याकारम् उत्तरार्धार्थमाह—निकृष्टत्वमिति। निकृष्टत्वं कार्पण्यलक्षणनिकृष्टत्वप्रयोजकं कारणम् अज्ञानं समाप्य स्वस्मिन् कल्पयित्वा एकादशेन्द्रियैः ज्ञानकर्मेन्द्रियमनोरूपैः क्रियागुणात्मगुणपदाभ्यामुक्तैः तादात्म्यं प्राप्तः सन् वस्तुतः सर्वसङ्गविवर्जितः अपि आत्मा तेषां देहानां ग्रहणे हेतुः भवति इत्यर्थः।।७४७।। एवं त्वंपदवाच्यार्थ उक्तः।

अथ तस्य लक्ष्यार्थं तत्पदार्थाभेदेन दर्शयति[1] त्रयोदशो मन्त्रः। तदर्थ उक्तप्राय इत्याह—अनाद्यनन्त इति। यतो जन्मनाशौ न स्तः ततः अनाद्यनन्तो यः कललादिसर्वबीजस्थितः पुरुषः उक्तः तद्रूप एवाऽयं तत्पदार्थः। तद्विज्ञानफलं सर्वपाशच्छेदरूपमपि पूर्वम् उक्तमित्यर्थः।।७४८।। ऐक्यपरस्य[2] चतुर्दशस्यार्थमाह—प्राण इति। य इन्द्रेण प्रतर्दनाय प्राणत्वेन उक्तः स आत्मा भावपदोक्तेन अहं ब्रह्मेत्याकारकबोधेन लभ्यत इत्यर्थः। मन्त्रप्रथमार्धेन—अनु प्राणः, ईडिन ईड्येन इन्द्रेण, आख्या निरूपणं यस्य इत्याकाराऽनीडाख्यपदव्युत्पत्तिः सूचिता।।७४९।।

अंतिम दो मंत्र लक्ष्यैक्य प्रकट करते हैं—तेरहवा मंत्र पूर्व में (श्लो. ४.१४) भी आ चुका है। इसका अभिप्राय है कि जन्म-मरण-रहित परमात्मा का ज्ञान मोक्षप्रद है। यहाँ 'कलिल' पद से नारायण ने माया, उपनिषद्योगी ने संसार और हमारे गुरु जी ने 'अव्यवस्था' समझी है। अव्यवस्था के बीच विश्वरूप व्यवस्था का निर्माता परमात्मा विश्व को नियमों में परिवेष्टित रखता है ऐसी उनकी व्याख्या है। 'प्राण का प्राण कहलाने वाला आत्मा शब्दजन्य बुद्धिवृत्ति से ग्राह्य है। भाव अर्थात् अविद्या का अभाव करने वाला शिव वही है। वही स्वप्रकाश प्राणादि कलाओं का उत्पादक है। जो उसे जानते हैं वे कारण समेत शरीर त्याग देते हैं।।'१४।। नारायण भावग्राह्य से भक्तिग्राह्य समझते हैं, अनीड से निरालम्ब और भावाभाव से सृष्टि-प्रलय समझते हैं। उपनिषद्योगी नीड और आख्या दोनों का निषेध मानते हैं और कला अर्थात् माया द्वारा सर्ग अर्थात् सृष्टि करने वाला बताते हैं। चौसठ कलाओं का उत्स भी वे परमेश्वर को मानते ही हैं। हमारे गुरु जी भाव से घटादि, अभाव से कामनादि समझते हैं तथा तनुत्याग का अर्थ करते हैं परिच्छिन्नता का त्याग या प्रवृत्ति का त्याग। इस प्रकार वे यहाँ संन्यास का उल्लेख मानते हैं। छह श्लोकों में पुराण इन्हें समझाता है :

जिसे मैंने कलिल आदि सब बीजों के रूप में स्थित बताया था वह यही आदि-अन्त से रहित पुरुष है जिसके जन्म-नाश नहीं होते। इसके अप्रतिबद्ध साक्षात्कार से पाशमोचन होता है यह मैं पहले ही बता चुका हूँ।।७४८।। प्राचीनकाल में (या आत्मपुराण के द्वितीयाध्याय में) इंद्र ने प्रतर्दन को प्राण-उपाधि के सहारे जिसका उपदेश दिया था वह यही है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस बोध का नाम भाव है जिससे इस संवित् का ग्रहण होता है।।७४९।।

१. 'अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्। विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।।'५.१३।।

२. 'भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्। कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्।।'५.१४।। इति पञ्चमाध्यायः।।

प्राणं श्रद्धां च भूतानि महान्ति दशकं तथा। इन्द्रियाणि मनश्चैव तद्वदन्नं शरीरिणाम्।।७५०
वीर्यं तपश्च मन्त्राश्च कर्म लोकान् सनामकान्। कला एताः ससर्जादौ सर्वदेहस्थितो हि यः।।७५१
यस्मात् कलाकरस्तस्माद् भावाभावकरः शिवः। आनन्दात्मा स्वयंज्योतिर्मङ्गलानां हि मङ्गलम्।।७५२
य एनं परमात्मानं ज्ञातवन्तो मुनीश्वराः। देहं सकारणं तेऽत्र त्यक्तवन्तो यतीश्वराः।।७५३
एष एवं मया देवः कारणं परिकीर्तितः। परपक्षव्युदासेन पुनरेवं वदामि वः।।७५४

तथाऽयमेवात्मा प्रश्नोपनिषत्प्रसिद्धानां[१] कलानां स्रष्टेत्याह—प्राणमिति द्वाभ्याम्। प्राण आत्मन उत्क्रमणादिसाधनम्; श्रद्धा चिकीर्षारूपा; पञ्चमहाभूतानि—एवं सप्त। इन्द्रियाणां दशकम्, एकं मनो नवमम्। अन्नं दशमम्। ततो वीर्यं सामर्थ्यम्। ततस्तपः। ततो मन्त्राः स्मर्यमाणास्त्रयोदशाः। ततः कर्म यागादिरूपम्। ततो लोकाः फलानि। ततस्तेषां लोकानां नाम षोडशम्। एताः कला उत्तरोत्तरं प्रति कारणभूताः ससर्ज। इति द्वयोरर्थः।।७५०-१।। यस्मादिति। उक्तकलाहेतुत्वादेव यावद्दृश्यस्य भावाभावयोः उदयास्तमययोः हेतुर्भवति ततश्च अद्वितीयत्वाद् आनन्दादिरूप इत्यर्थः।।७५२।। एवं ज्ञानफलमाह—य एनमिति। सकारणं देहं शरीरत्रयरूपं बन्धमिति यावत्।।७५३।।

पञ्चमषष्ठाध्यायव्याख्ययोः समाप्त्यारम्भौ सूचयति—एष एवमिति। एष देव एवम् आगमधिया पञ्चमाध्याय उक्तः। अथ पुनः षष्ठे परपक्षनिरासयुक्तिपूर्वकम् एवं वक्ष्यमाणविधया वच्मि।।७५४।।

सभी देहों में स्थित इसी देव ने प्रारंभ में ये कलाएँ उत्पन्न की जिनमें पिछली कला अगली कला में हेतु बनती है : १) प्राण—यह आत्मा के उत्क्रमण आदि का साधन है। २) श्रद्धा—करने की इच्छा। ३-७) महाभूत—पाँचों महाभूत। ८) दसों इन्द्रियाँ। ९) मन। १०) देहधारियों के लिये जो अन्न है। ११) वीर्य अर्थात् सामर्थ्य। १२) तप। १३) मन्त्र—ये पूर्वभवीय ही पुनः स्मरण हो जाते हैं तथा कर्मानुष्ठान आदि के लिये स्मरण करने आवश्यक हैं। १४) कर्म—योग, दान आदि। १५) लोक—कर्मफल। १६) नाम। —ये सोलह कलाएँ हैं (इनका प्रश्नोपनिषद् में उल्लेख है अतः उसके विवरण में पुराणकार इनकी चर्चा करेंगे।)।।७५०-१।। क्योंकि शिव कलाओं का रचयिता है इसलिये समस्त दृश्यभूत भाव-अभाव के उदय-अस्त का वही हेतु है। वह आनंदरूप स्वप्रभ ही उन सबको मंगल बनाता है जो लोक में मंगल माने जाते हैं।।७५२।। हे यतीशो ! जिन मुनीश्वरों ने इस परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया उन्होंने जीवित रहते हुए ही देहत्रयरूप बंधन छोड़ दिया। (स्थूल सूक्ष्म का बंधन तो सुषुप्ति में सभी का छूटता है अतः कारण का बंधन छूटना ही विशेष है। फिर भी हमें तो देहद्वय भी प्रतीत होने पर बंधक बना लेते हैं इसलिये उन्हें भी यहाँ गिन लिया कि उन मुनीश्वरों को वे प्रतीत होकर भी बंधक नहीं बना सकते।)।।७५३।।

इस प्रकार शास्त्रप्रधान शैली से मैंने कारण देव का (उपनिषत्पंचमाध्यायानुसार) वर्णन किया। अब उसीको (उपनिषत्-षष्ठाध्यायानुसार) इस तरह बताता हूँ कि उस अद्वैततत्त्व को न स्वीकारने वालों के पक्षों का निराकरण भी होता चले।।७५४।।

छठे अध्याय में उपनिषत् पुनः जगद्धेतुपरीक्षण द्वारा तत्त्वनिर्धारण करते हुए कहती है 'पूर्णतः मोहग्रस्त कुछ सूक्ष्मदर्शी हर पदार्थ की अपनी विशिष्ट शक्तिरूप स्वभाव को जगत्कारण कहते हैं जबकि उसी तरह युक्त्याभास आदि से अन्य लोग काल को। वास्तविकता तो है कि स्वप्रभ देव की 'मैं अज्ञ हूँ' यों प्रत्यक्ष महिमा अनुभवसिद्ध है जिससे यह ब्रह्मप्रवर्तित संसारचक्र चलाया जा रहा है।'१।। नारायणाचार्य ब्रह्मचक्र का अर्थ वादिसमूह करते हैं। इस मंत्र को आठ श्लोकों से स्पष्ट करते हैं :

---

१. 'प्राणः श्रद्धा खादिभूतपञ्चकं चेन्द्रियं मनः। अन्नं वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोकाश्च नाम च।।' इत्यनुभूतिप्रकाशे संग्रहः।

मननम्

कालस्वभावमुख्यान् यान् हेतून् केचिद् वदन्ति ये। कवयस्ते परं नैते वेदार्थपरिनिष्ठिताः।।७५५
वेदार्थे निर्णयं कर्तुं न शक्ताः कर्हिचिद् द्विजाः। मोमुह्यमाना जल्पन्ति जात्यन्धसदृशं बहु।।७५६
न तेषां वचनं क्वापि ग्राह्यं वेदार्थकोविदैः। मानहीनं विहीनं च युक्त्या तद्वद् यतीश्वराः।।७५७
कालादिकारणे नास्ति वेदवाक्यं यतीश्वराः। प्रत्यक्षं जगतो यत् स्यात् कारणं तन्न विद्यते।।
अनुमानं ततो नास्ति मूलहीनत्वहेतुतः।।७५८
कालादीनि च कल्प्यानि जडान्येतानि कारणम्। चेतनेन विना नैव भवन्त्यत्र तु कर्हिचित्।।७५९

तत्र 'स्वभावम्' इत्यादेः[1] प्रथमस्यार्थमाह—कालेत्यष्टभिः। केचित् कवयः कालादिरूपान् जगद्धेतून् वदन्ति परं तु त एते कालादिकारणवादिनो वेदार्थे परिनिष्ठिता निष्णाता न भवन्ति।।७५५।। वेदार्थ इति। यतस्ते वेदार्थेऽतिगम्भीरे निर्णेतुमशक्ताः अत एव मोमुह्यमाना व्यामोहं गताः सन्तो यत्किञ्चिद् बहु जल्पन्ति।।७५६।। तत्त्वविद्भिस्तेषां वचनं न ग्राह्यं, मानयुक्तिभ्यां हीनत्वाद् इत्याह—न तेषामिति।।७५७।। तत्र मानहीनतां स्फुटयति—कालादीति। कालादयो जगत्कारणम् इत्यत्रार्थे वेदवाक्यरूपं प्रत्यक्षं तावद् न एव अस्ति। लौकिकप्रत्यक्षम् अपि तत्र नास्ति, जगत्कारणस्य इन्द्रियाऽयोग्यत्वात्। एवं प्रत्यक्षरूपमूलाभावे अनुमानं—स्मृतिरूपं, तर्करूपं वा—न प्रवर्तेत; निर्मूलस्य कुत्रापि अप्रामाण्याद् इत्यर्थः।।७५८।। युक्तिहीनतां स्फुटयति—कालादीनि चेति। कालादीनि हि जडानि एव कारणतया कल्प्यानि, जडानां स्वातन्त्र्येण हेतुत्वं तु बाधितमित्यर्थः।।७५९।। जडमिति। किं च

कुछ कवि काल स्वभाव आदि को जगत् का हेतु कहते हैं पर वे वेद के अर्थ में निष्णात विद्वान् नहीं हैं।।७५५।। वे भले ही द्विज हैं पर वेद के तात्पर्य का निर्णय करने में कभी समर्थ नहीं होते अतः भ्रम में पड़े हुए बहुत कुछ (भेदपक्षपाती) बोलते हैं जैसे कोई जन्मान्ध रूप के बारे में मनघड़ंत बातें बनावे।।७५६।। हे यतीश्वरो ! वेदों के प्रतिपाद्य के जानकारों को प्रमाण व युक्ति से रहित उन लोगों की बात कभी स्वीकारयोग्य नहीं लगती।।७५७।। ब्रह्मातिरिक्त को कारण मानने वालों की बात अप्रामाणिक इसलिये है कि कालादि जगत्कारण है इसमें न तो कोई वेदवाक्य प्रमाण है और न कोई ऐसा प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थ है जो जगत् का कारण हो। प्रत्यक्ष न होने पर उस बारे में अनुमान प्रवृत्त होता नहीं क्योंकि अनुमान किसी प्रत्यक्ष मूल पर ही आधारित होता है। (प्रत्यक्ष से श्रुति लें तो अनुमान से स्मृति समझनी चाहिये। श्रुतिविरुद्ध स्मृति अप्रमाण होती है। प्रत्यक्ष से ऐन्द्रिय ज्ञान लें तो अनुमान से व्याप्तिमूलक हेतुबोधित अबाधित ज्ञान समझना चाहिये। वेदान्तसिद्धांत प्रत्यक्ष और शब्द को ही स्वतंत्र प्रमाण मानता है। अतींद्रियादि अर्थ केवल अनुमानपरंपरा पर आधारित हों तो अमान्य होते हैं। यह तार्किकों से भेद है, वे तो केवल आनुमानिक वस्तुएँ भी स्वीकार लेते हैं।)।।७५८।। उन कवियों की कल्पना युक्तियुक्त भी नहीं है। जिन कालादि की वे कारणरूप से संभावना करते हैं वे जड ही हैं। बिना चेतन अधिष्ठाता के जड वस्तु स्वतंत्रतापूर्वक कारण बन जाये यह व्यवहार में कभी नहीं देखा। एवं च उनकी मान्यता बाधित है।।७५९।। इतना ही नहीं, जो कुछ भी जड होता है वह सब कार्य ही देखा जाता है और कालादि को वे मानते जड ही हैं। इसलिये उनका पुनः कोई कारण मानना ही पड़ेगा और उसे चेतन ही मानना होगा। तब सीधे ही चेतन को जगत्कारण क्यों न मानें जो शास्त्रसमर्थित बात है ! अतः उन कवियों का मत संगत नहीं है। (शास्त्रीय कुछ पदार्थ जड किंतु अनादि माने गये हैं तब सब जड कार्य कैसे कहे ?—यह वे कवि लोग नहीं पूछ सकते क्योंकि वे शास्त्र को ही मानते नहीं ! किं च अनादि वस्तुओं का भी अधिष्ठानकारण तो मान्य ही है, तदतिरिक्त सहायक हेतु का ही उनके प्रति निषेध है अर्थात् जैसे आकाशादि के लिये ब्रह्म और माया कारण हैं ऐसे माया के प्रति ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ और कारण नहीं है। अतः अत्यन्त अकारणक कोई जड स्वीकार नहीं कि कोई दोष हो।)।।७६०।। इस विषय

---

१. 'स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथाऽन्ये परिमुह्यमानाः। देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्।।'६.१।।

जडं सर्वं भवेत् कार्यं कालादि च जडं तथा। ततः कारणता तेषां युक्तिहीना यतीश्वराः।।७६०

नाश्चर्यमिदमत्रैषां मूढानां भाषणं मुहुः। स्वयंज्योतिःस्वरूपस्य महिमाऽत्राऽयमद्भुतः।।
संसारचक्रमखिलं भ्राम्यते यस्य मायया।।७६१

वायुना भ्राम्यते यद्वत्तूलं नभसि सर्वतः। तद्वद् बुद्धिमतां बुद्धीर्भ्रामयत्येष देहिनाम्।।७६२

जडत्वस्य कार्यत्वव्याप्यतया दर्शनात् कालादीनामपि किञ्चित् कारणान्तरं कल्प्यं स्यात्। तथा च 'तद्धेतोरेव हेतुत्वमस्तु, किन्तेन' इति न्यायेन मूलकारणस्यैव हेतुत्वमुचितं, न कालादीनाम्। इति तन्मतं युक्तिहीनमित्यर्थः।। न च तैः जडत्वस्य श्रुतिसिद्धमायायां व्यभिचारः शंक्यः; तैः श्रुत्यर्थाननुसरणाद् इति भावः।।७६०।। ननु वेदरूपादित्ये भास्वति कथं तेषामेवं व्यामोह इति चेद् ? न। ईशमायाचरितस्य अपर्यनुयोज्यत्वाद् इत्याह—नाश्चर्यमिति। इदं बहुभाषणम् अत्र कारणत्वे तेषां वादिनां यद् दृश्यते तद् नाश्चर्यम्, यत् स्वयंप्रकाशस्य देवस्य मायाविनोऽद्भुतमायालक्षणो महिमा।।७६१।। ईशेन मायया जगद्भ्रामणं सदृष्टान्तं दर्शयति—वायुनेति। स्पष्टम्।।७६२।।

में इन मूर्खों का यों बहुत बातें करना कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि जिसकी माया से सारा संसारचक्र घुमाया जा रहा है उस स्वप्रकाश की यह अद्भुत महिमा लोकप्रसिद्ध है : जैसे हवा रुई के रेशे को आकाश में सब ओर घुमाती है वैसे बुद्धिमान् देहधारियों की बुद्धि को परमेश्वर अपनी माया से चक्कर में डाले रहता है।।७६१-२।।

उपनिषत्-द्वितीयमंत्र है 'बोधरूप ब्रह्म उसका भी नाशक है जो काल सर्वनाशक माना जाता है। अविद्यागुणों से अध्यास सम्बन्ध वाला वही सर्वज्ञ है। उसीसे यह सब हमेशा घिरा है। उसीसे अधिष्ठित हुआ कर्म पूर्वरूप छोड़े बिना अवयविरूप धारण कर लेता है और पृथ्व्यादि पाँच भूतरूप प्रसिद्ध विवर्त उपस्थित हो जाता है। वही सर्ववित्ता चिन्तन के योग्य है।'२।। उपनिषद्योगी 'गुणी' से अपहतपाप्मतादि गुण ग्रहण करते हैं। भाष्य में 'कर्म' से कार्यवर्ग समझा गया है। 'परमात्मा में ये सभी कल्पित हैं—'एक' अविद्या; 'दो' धर्माऽधर्म; 'तीन' लाल-सफेद-काला ये रूप; 'आठ' महाभूत, मन-बुद्धि-अहंकार; अंतःकरण के कामादि गुण; सृष्टि के समय सृष्टि ही हो प्रलयादि नहीं इत्यादि नियम; जगदुत्पत्ति से पूर्व भी उपर्युक्त सब कारण रूप से उसमें कल्पित रहते हैं। कार्यों समेत अविद्या का सच्चा तत्त्व वही आनंद रूप है (जिसमें ये सब कल्पित हैं)। पहले कर्म करके फिर विशेषतः निवृत्ति करके उससे भली भाँति एकता पाकर उस ऐश्वररूप का चिंतन करना चाहिये।'३।। नारायणाचार्य यहाँ एक दो आदि का अर्थ करते हैं—एक दो आदि जन्मों के बाद तत्तद् अधिकारी को मोक्ष मिलेगा। काल को भी वे मोक्षहेतुओं में गिनते हैं और आत्मगुणों से भी धर्म ज्ञानादि समझते हैं जो सूक्ष्मतत्त्व के प्रकाश में उपयोगी हैं। भाष्यकार कर्म से कार्य समझकर कहते हैं कि पृथ्व्यादि पैदा कर, फिर प्रत्यवेक्षण कर तब उनसे संबंध स्थापित कर एक-दो आदि प्रकारों से परमात्मा अवस्थित हो जाता है। उपनिषद्योगी साधकदृष्टि से अर्थ करते हैं कि भगवदाराधन की दृष्टि से कर्म करके, कर्म और फलों का संन्यास करके, त्वंपदलक्ष्य का तत्पदलक्ष्य से सम्यक् ऐक्य प्राप्त कर ज्ञान से मुक्त होता है। ऐक्य प्राप्ति के उपाय हैं: 'एक' गुरु के पास पहुँचना; 'दो' गुरु व ईश्वर की भक्ति; 'तीन' श्रवण-मनन-निदिध्यासन; 'आठ' यमनियमादि; समय; चरमजन्म में दयादि आत्मगुण तथा सूक्ष्म अर्थात् पुण्यसंस्कार। हमारे गुरु जी योग का अर्थ वियोग कर 'एक' आदि का तदनुसार अर्थ बताते हैं। 'आठ' में वे विवेक, वैराग्य और शमादिषट्क की गणना करते हैं। सांख्य दृष्टि से भी इन संख्याओं के उन्होंने संख्येय विस्तार से बताये हैं। वे पदार्थ पुराण में तो अध्यायारंभ में चक्रवर्णन में ही आ चुके हैं। इन मंत्रों का पाँच श्लोकों में अर्थ बता देते हैं :

मुमुक्षुचिन्त्यम्

येनावृतमिदं सर्वं सर्वदा ज्ञानरूपिणा। कालकालो गुणैर्युक्तः सर्ववित् कर्मणां प्रभुः।।७६३

पञ्चभूतस्वरूपेण विवर्तं योऽधिगच्छति। चिन्तनीयः स सर्वात्मा सर्वदा मुक्तिकामिना।।७६४

ईश्वरः शुद्धमनसा कृत्वा यज्ञादिकाः क्रियाः। व्यापारेभ्यः पुनः कृत्वा निवृत्तिं मनसा सह।।
इन्द्रियाणां विजानीयादविद्यादेः परं स्थितम्।।७६५

अविद्ययैकयाऽयुक्तं पुण्यपापद्वयेन वा। त्रिभिः सत्त्वादिभिर्वापि महाभूतैः सकारणैः।।७६६

बुद्ध्याऽहमाष्टभिर्वाऽपि संसारे वाऽपरैरपि। कालेन च तथा बुद्धिगुणैः सूक्ष्मतमैरपि।।७६७

[1]द्वितीयार्थम् आह—येनेति द्वाभ्याम्। येन ईश्वरेण ज्ञानरूपेण इदं सर्वं विश्वम् आवृतं वेष्टितं, यश्च कालस्याऽपि कालः स्वस्मिन्नुपसंहारकः, गुणैः सत्यकामत्वादिभिः युक्तः, सर्ववित् सर्वज्ञः, कर्मणां प्रभुः फलदः, आकाशादिभूतपञ्चकरूपेण विवर्तम् अतात्त्विकान्यथाभावं गन्ता च स ईश्वरः सर्वदा मुमुक्षुणा चिन्त्यः। इति द्वयोरर्थः। श्रुतौ 'चिन्त्यम्' इत्यत्र लिङ्गव्यत्ययस्तु च्छान्दसः।।७६३-४।।

[2]तृतीयार्थमाह—ईश्वर इति त्रिभिः। ईश्वरपदं पूर्वान्वितत्वेन दर्शितम्। मुमुक्षुः प्रथमं शुद्धेन फलाभिसन्धिरहितेन मनसा कृतैर्यागादिभिः चित्तशुद्धिं सम्पाद्य, ततः समनसामिन्द्रियाणां स्वस्वव्यापारेभ्यो: निवृत्तिं च सम्पाद्य, वक्ष्यमाणाऽविद्यादितत्त्वेभ्यः परं वस्तुतः कालत्रयेऽपि असम्बद्धम् आत्मतत्त्वं जानीयादित्यर्थः। एतेन आत्मतत्त्वस्य तत्त्वान्तरेण अयोगं समेति जानाति इत्याकारकः तुरीयपादार्थः सूचितः।।७६५।। उक्तं स्फुटयंस्तत्त्वान्तराणि एकादिरूपेण दर्शयति—अविद्ययेति। अयुक्तम् इति च्छेदः। अविद्यारूपेण एकेन तत्त्वेन अयुक्तं सदाऽसम्बद्धम्। एवं पुण्यपापाभ्यां, सत्त्वादिगुणरूपैस्त्रिभिः, पञ्चमहाभूतानि, तत्कारणमव्यक्तं, बुद्धिः, अहंकारश्च एतैः भगवद्गीतोक्तैः (१३.५) अष्टभिः। अथवा अपरैः ग्रहातिग्रहादिरूपैः अष्टभिः तत्त्वैः 'षडष्टक'-पदव्याख्याने दर्शितैः अयुक्तम्। तथा कालेन तदवच्छेदकेन, 'आत्म'-पदोक्तबुद्धिधर्मैश्च अयुक्तम्। इति द्वयोरर्थः।।७६६-७।।

मोक्ष चाहने वाला हमेशा उस सर्वरूप ईश्वर का चिन्तन करे जिस ज्ञानरूप वाले द्वारा यह सारा विश्व हमेशा घिरा है, जो काल को भी स्वयं में उपसंहृत कर लेता है, सत्यकामता आदि गुणों वाला है, सर्वज्ञ है, कर्मफलदाता है, आकाशादि पाँचों भूतों के आकार में विवर्त को प्राप्त करता है।।७६३-४।। 'विवर्त' अर्थात् अवास्तविक परिवर्तन।

मुमुक्षु को चाहिये कि फलेच्छा छोड़कर यागादि विहित कर्म कर चित्त शुद्ध बना ले, फिर मन सहित इंद्रियों को नियंत्रित करे ताकि वे अपने-अपने व्यापारों में लगे रहकर बहिर्मुखता न लायें। तब अविद्या आदि से परे स्थित आत्मतत्त्व समझना चाहिये। (इससे पुराणकार ने मंत्र में 'आत्मतत्त्व का अन्य तत्त्वों से असंबंध समझता है' ऐसा अर्थ सूचित किया है।)।।७६५।। जिनसे परे आत्मा को समझना है वे हैं—'एक' अविद्या; 'दो' पुण्य-पाप; 'तीन' सत्त्व-रज-तम; 'आठ' महाभूत, उनका कारण अव्यक्त, बुद्धि और अहंकार अथवा ग्रह-अतिग्रह आदि आठ समझने चाहिये (देखें श्लो. ३०३ आदि); काल जो उक्त सभी अनात्मतत्त्वों का अवच्छेदक अर्थात् इन्हें सीमित करने वाला है; और बुद्धि के अत्यंत सूक्ष्म गुण। इन सबसे आत्मतत्त्व सर्वथा असंबद्ध अतः इनसे परे है।।७६६-७।।

---

१. 'येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालः गुणी सर्वविद्यः। तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्याप्य तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम्।।' ६.२।।

२. 'तत् कर्म कृत्वा विनिवृत्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्। एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः।।' ६.३।।

कृत्वा कर्माणि सर्वाणि गुणैश्च विविधैः सह। भावांश्च विविधांस्तद्वद् यो योजयति नित्यशः ।।७६८

व्यापारेषु निजेष्वेकः सुखदुःखप्रसिद्धये। तेषामात्मकृतानां स्यादभावे कर्मणां क्षयः ।।७६९

कर्मक्षये परं ब्रह्म याति तेभ्यः सदा परः। आत्मरूपं ततः स्वात्मज्ञानादेष महेश्वरः ।।७७०

सर्वस्याऽस्य पुरा देवः स्थितोऽविद्याश्रयः पुमान्। अविद्यायाश्च संयोगे चेतनत्वेन कारणम् ।।७७१

पुनः विवेकिनो मोक्षप्रकारमेव विशदयतः[1] चतुर्थस्यार्थमाह—कृत्वेति त्रिभिः। य एष महेश्वर आत्मा नाना कर्माणि त्रैगुण्याभिमानेन कृत्वा बाह्याभ्यन्तरान् भावान् तत्तद्व्यापारेषु योजयति, स एव यदा तेषां बाह्याभ्यन्तरभावानां स्वस्वरूपेऽभावमालोचयति तदा कर्मणां क्षयः ज्ञानाग्निना दाहो भवति। ततः तेभ्यो भावेभ्यः परः विविक्तः सन् स्वात्मरूपं ब्रह्मज्ञानबलाद् याति। इति त्रयाणां सम्बन्धः।।७६८-७०।। ईशस्य जगत्कारणत्वादिनाऽद्वयत्वादिकं दर्शयतः[2] पञ्चमस्यार्थ उच्यते—सर्वस्येति त्रिभिः। यः पुमान् अस्य कार्यजातस्य पुरा पूर्वकाले मायाशबलरूपेण कारणतया स्थितः, तथा अविद्यायाः सकार्याया यः चेतनत्वेन संयोगः चिदाभास-सम्बन्धेन चेतनायमानतेति यावत् तत्र च कारणम् भवति।।७७१।। कालेति। यश्च महात्मभिः कालत्रयानवच्छिन्नो

चौथा मंत्र दीपिका में ईश्वरपरक और पुराण में जीवपरक समझाया है। दीपिका में उसका अर्थ है 'जो गुणयुक्त कार्य और अविद्यादि अकार्य (अनादि) भावों को उत्पन्न कर उन्हें तत्तद् उपयोग के लिये नियत करता है क्योंकि अविद्यादि न हों तो पुण्यादि व्यर्थ होगा और कर्म व्यर्थ हुआ तो वेद तात्त्विकता से प्रच्युत हो अप्रमाण हो जायेगा। अथवा—अविद्यादि के अभाव से कर्मनाश और उससे परमात्मा की प्राप्ति होती है क्योंकि जीव वस्तुतः अविद्यादि से अन्य ही है।।'४।। नारायणाचार्य तो साधकदृष्ट्या ही समझाते हैं: 'विहित कर्म करके इन्द्रियादि विषयों को अपने-अपने कारणों में जो विलापित करता है उन सभी कार्यों का अभाव हो जाने पर उसके लिये हुए कर्म स्वभावतः निवृत्त हो जाते हैं। कर्मक्षय होने पर वह विषयों से सर्वथा असंग हुआ आत्मस्वरूप पा लेता है। अथवा—विहित कर्म करे, अभिलाषा को आत्मा में विनियुक्त करे, काम न रहने पर पूर्वकृत कर्म तो भोगादि से नष्ट हो जाते हैं।' विज्ञानभगवान् 'प्रारब्ध समाप्त होने पर विदेह मोक्ष पाता है' यह मंत्रान्त्यवाक्य का अर्थ बताते हैं। भाष्य में 'यत्करोषि' आदि गीता से इस मंत्र का संबंध जोड़कर समझाया है। हमारे गुरुजी 'भाव' अर्थात् प्रेम को परमात्मा में लगाने का निर्देश समझते हैं और 'तत्त्वतः' अर्थात् वेद से 'याति' अर्थात् जानता है ऐसी व्याख्या करते हैं। पुराण में तीन श्लोकों से इसे समझाते हैं :

यह महेश्वररूप आत्मा ही त्रिगुणों में अभिमान वाला होकर सारे कर्म करता है तथा नाना प्रकार के बाह्य-आंतरिक भावों को (विषयों को; मन-इंद्रियों को) उनके व्यापारों में हमेशा लगाता है ताकि सुख-दुःख रूप भोग प्राप्त होता रहे। वही आत्मा जब समझ लेता है कि सभी भावों का आत्मस्वरूप में कोई अस्तित्व है ही नहीं तब उस ज्ञानाग्नि से कर्म जल जाते हैं। हमेशा ही जो उन भावों से परे है वह आत्मा कर्मों का बाध होने पर स्वात्मा के ज्ञान से स्वात्मरूप परम ब्रह्म को पा जाता है।।७६८-७०।।

पंचमादि में ईश्वरवर्णन है—'अविद्यासम्बन्ध की निमित्तभूत अविद्या का आश्रय-विषय होने से निर्वाहक वही निष्कारण, कलारहित, त्रिकाल से अतीत तत्त्व है जिसे ब्रह्मवेत्ता देखते हैं। नाना रूपों वाले, संसाराकार में उपलब्ध, स्तुत्य, स्वप्रभ, मनःसाक्षी की उपासना कर हम उसे जानते हैं।।'५।। नारायणमत में 'संयोगनिमित्तहेतु' का अर्थ है संघातकारणों का भी कारण और 'भवभूत' का अर्थ है 'भवनामक रुद्ररूपता को प्राप्त'। भाष्य में—जिससे सब होता है वह भव और अवितथ होने से वही भूत है ऐसा समझाया है। उपनिषद्योगी आदि से अधिष्ठान समझते हैं। जीव-ईश्वर

१. 'आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः। तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः।।' ६.४।।

२. 'आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः। तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्।।'६.५।।

कालत्रयादतीतश्च प्राणाद्याभिर्विवर्जितः। कलाभिः सकलाभिः स दृष्टः पूर्वैर्महात्मभिः।।७७२
तं विश्वरूपं सर्वात्मभूतमीड्यं सुरासुरैः। स्वचित्तेषु स्थितं देवमुपास्यादौ स्वमागताः।।७७३
संसारकालाऽविद्यानामन्यो यः परतः स्थितः। विश्वं प्रजायते यस्माद् धर्मदः पापहा पुमान्।।७७४
ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरितम्।।७७५
उत्पत्तिः प्रलयश्चैव भूतानामागतिर्गतिः। विद्या चैवाप्यविद्या च षट्कं चेदं भगः स्मृतः।।७७६
तस्येशः कर्मणां स्वामी मरणादिविवर्जितः। प्राणिनां हृदयावासः स्वयंज्योतिः सदाऽद्वयः।।७७७
विश्वस्य स्थानकं तद्वत् प्रकाशस्य प्रकीर्तितः। यस्तं विज्ञाय पुरुषः कृतकृत्यः प्रजायते।।७७८

वर्णिताभिः प्राणादिषोडशकलाभिः हीनत्वलक्षणेन शुद्धरूपेण साक्षात्कृतः।।७७२।। तं देवमादावुपास्य ज्ञानोदयद्वारा बहवः स्वं ब्रह्मात्मरूपं गता इत्याह—तं विश्वरूपमिति। स्पष्टम्।।७७३।।

'षष्ठार्थं दर्शयति—संसारेति पञ्चभिः। यः संसारवृक्षात् कालाद् अविद्यायाश्च परतः स्थितः यतस्तद्भिन्नः, यश्च विश्वोपादानं, स्मरणेन धर्मदः पापहा च।।७७४।। ऐश्वर्यस्येति। यश्च ऐश्वर्यादिषट्करूपस्य, उत्पत्त्यादिषट्करूपस्य वा भगपदार्थस्य ईशः कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं शक्तः, मरणादिहीनः, सर्वेषामन्तस्थश्च। इति त्रयाणां सम्बन्धः। तत्र आगतिः परलोकादवरोहः। अविद्या विपर्ययः।।७७५-७।।[१] विश्वस्येति। यः च विश्वस्य वा भगपदार्थस्य ईशः कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं च शक्तः, सर्वस्य प्रकाशस्य एकः स्थानमाश्रयः तं देवं विज्ञाय कृतकृत्यो भवति इत्यर्थः।।७७८।।

के सम्यक् योग के जो पूर्वोक्त गुरुप्राप्ति आदि निमित्त कहे थे उनका हेतु ईश्वर है ऐसी व्याख्या करते हैं। 'परमात्मा इन सबसे असम्बद्ध है, परे है—संसारवृक्ष, काल, अविद्याशब्दित आकृति। यह सारा प्रपंच उस परमात्मा से ही निकला है। वह भक्तों को सुखहेतुभूत धर्म प्राप्त कराता है और पाप नष्ट करता है। वही ऐश्वर्य का मालिक है। सबके प्रकाशक अधिष्ठान उस अमृत को आत्मा में वर्तमान जानकर (हमारी तरह अन्य भी मुक्त हुए)।'६।। नारायण ने वृक्ष से शरीर, काल से क्रिया और आकृति से जाति समझकर इनसे उपलक्षित किंतु इनसे अन्य आत्मा है ऐसा बताया है। भगेशसे वे भाग्य का अधिपति समझते हैं। 'हम उसे जानते हैं जो हिरण्यगर्भादि से भी उत्कृष्ट और महान् उनका नियंता है, देवताओं से खासकर उत्कृष्ट और उनका भी आराध्य है, प्रजापतियों का भी मालिक है, सबसे उत्तम है, अविद्या से परे है, स्वप्रकाश, लोकशासक, अत्यंत स्तोतव्य है।'७।। विज्ञानभगवान् ईश्वरों व देवों के ईश्वरत्व और देवत्व का उसे हेतु मानते हैं। हमारे गुरुजी देवताओं से इंद्रियाँ और 'भुवनेश' से 'भावनाओं का ईश' समझते हैं। इन तीन मंत्रों की पौराणिक व्याख्या है :

इस सारे कार्यवर्ग की उत्पत्ति से पूर्व स्वप्रकाश ही इसकी कारणभूत अविद्या का आश्रय हो स्थित रहा है एवं वही इसमें कारण है कि अविद्या का चेतनता से सम्बन्ध होता है, वह चिदाभास से अन्वित हो चेतन जैसा व्यवहार करने लगती है।।७७१।।

प्राचीन महात्माओं ने उसीका दर्शन पाया था जो किसी भी काल से सीमित नहीं है, पूर्वोक्त प्राणादि सभी कलाओं से रहित है अत्यंत शुद्ध है।।७७२।। देव-दानवों द्वारा प्रशंसित सर्वरूप, सबके आत्मा, (सभी के) अपने चित्त में स्थित उस देव की प्रारंभ में उपासना कर बहुतेरे साधक अपने व्यापक चिद्रूप को पा गये हैं।।७७३।।

१. 'स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्। धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वाऽऽत्मस्थममृतं विश्वधाम।।'६.६।।
२. विष्णु पु. ६.५.७

तमीश्वराणां परमं महेशानं तथैव च। देवतानां परं दैवं पतीनां परमं पतिम्। ।७७९
जानीमो यतयः सर्वे वयमीड्यं सुरासुरैः। भुवनानां नियन्तारं स्वयंज्योतिषमद्वयम्। ।७८०
ईशा ब्रह्मादयः प्रोक्ता देवता वासवादयः। पतयश्च मरीच्याद्या भुवनानि चतुर्दश। ।७८१
नियन्तैषां परो यस्मादात्मा नान्यो यतीश्वराः। अत एनं विजानीमो वयं वेदप्रमाणतः। ।७८२

[1]सप्तमार्थमाह—तमीश्वराणामिति चतुर्भिः। तं देवम् ईश्वराणाम् अपि परमं महेशानम् ईश्वरं, पतीनां प्रजापतीनाम्। स्पष्टमन्यद् द्वयोः। ।७७९-८०।। षष्ठ्यन्तेश्वरादिपदैरुक्तानभिनयति—ईशा इति। प्रजानां पतयो मरीचिप्रभृतयः। ।७८१।। नियन्तेति। एषाम् ईश्वरादीनां नियन्ता परमात्मैव भवति। तं च प्रमाणान्तराऽविषयमपि वेदवाक्यमेव तात्पर्येण बोधयतीत्यर्थः। ।७८२।।

संसार, काल और अविद्या से अलग, इनसे निरपेक्ष जो पूर्ण संवित् है उसीसे विश्व की उत्पत्ति होती है, याद किया जाये तो वही धर्म प्रदान करता है व पाप नष्ट करता है। ।७७४।। सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छह का सामान्य नाम भग है। भूतों की सृष्टि, प्रलय, प्राणियों का गमन-आगमन, विद्या और अविद्या—ये छह भी भग कहे जाते हैं। सभी तरह के भगों को करने, न करने, अन्य प्रकार का करने में समर्थ, कर्मों का ज्ञाता व फलदाता, मरणपर्यन्त किसी भी विकार से रहित, प्राणियों के हृदय में आवास वाला, स्वप्रकाश, हमेशा द्वैतहीन, सभी प्रकाशों का मूल आश्रय जो देव है उसका अनुभव कर साधक कृतकृत्य हो जाता है। ।७७५-८।।

हम सब यति उसे जानते हैं जो ईश्वरों का अर्थात् ब्रह्मा आदि का भी निरंकुश शासक है, देवताओं का अर्थात् इन्द्रादि का अंतिम नियन्ता है, मरीचि आदि प्रजापतियों का स्वतंत्र पालनकर्त्ता है, चौदहों लोकों पर निर्बाध नियंत्रण रखता है, स्वप्रभ है, सभी भेदों से रहित है, जिससे परे और कोई आत्मा नहीं है। क्योंकि यह ऐसा अलौकिक है इसलिये वेदरूप प्रमाण से ही हम इसके बारे में प्रमा प्राप्त कर पाते हैं। ।७७९-८२।।

आठवें आदि मंत्र उसी परमात्मा का वर्णन करते हैं—'अविद्या व उसके कार्य सभी विक्षेपों से परमात्मा का कोई सम्बंध नहीं है। आत्मा के न बराबर न उससे अधिक कुछ है। यही सर्वहेतु है। इसकी अविद्यारूप सामर्थ्य अनेक रूपों वाली और सर्वोत्कृष्ट सुनी जाती है। विषयप्रकाशात्मक ज्ञान, उत्साहरूप बल, व्यापाररूप क्रिया, संस्कार, संबंध आदि नाना प्रकार उसकी उसी शक्ति के हैं। ।'८।। भाष्य में कार्य-करण से स्थूल-सूक्ष्म शरीरों का परमात्मा में निषेध किया है एवं ज्ञानक्रिया से सर्वविषयक ज्ञान की प्रवृत्ति और बलक्रिया से वश में रखकर नियमन करना समझा है। विज्ञानभगवान् बल से अनंत सत्ता का उल्लेख बताते हैं। 'उस सर्वशक्ति आत्मा का संसार में कोई पालक व नियंता नहीं है। उसका कोई शरीर नहीं है। चक्षुरादि कारणों के अधिपति अग्नि आदि का भी वही कारण, अधिष्ठाता और पालक है। न आत्मा का कोई उत्पादक है और न उसे अधिष्ठित कर उसका पालनकर्त्ता कोई है। ।'९।। नारायणाचार्य लिंग से उसका अव्यभिचारी धर्म नहीं अतः वह आनुमानिक न होकर औपनिषद है यह बोधित मानते हैं। उपनिषद्योगी 'करणाधिप और अधिप' यों समास कर वही जीव भी है ऐसा समझाते हैं। हमारे गुरुजी यहाँ शिवलिंग रूप से प्रसिद्ध मूर्तिविशेष की चर्चा करते हैं। 'जो एक प्रसिद्ध आत्मदेव लीलारूप से ही अविद्याकार्यों द्वारा मानो वैसे ही (खुद को) भली भाँति ढाँक लेता है जैसे जाले द्वारा मकड़ी (या रेशम का कीड़ा), वह हममें अविनाशी सर्वाधिक ब्रह्म भर दे। ।'१०।। 'स्वप्रकाश अद्वितीय ही सब प्राणियों में मैं-मेरा अभिमान से छिपा है। सर्वत्र व्यापक होने पर भी वह सभी को 'मैं'-रूप से उपलब्ध है। सब प्राणियों को अधिष्ठित कर रहने वाला वही कर्मनियंता, साक्षी, गुणहीन व सिर्फ बोद्धा है। ।'११।। नारायण 'चेता' से चयनकर्ता अर्थात् संहन्ता समझते हैं। हमारे गुरु जी यहाँ 'एक' आदि पदों से तत्तद् वादों के निरास को प्रकट करते हैं। 'बहुभेदभिन्न सब जडों को वश में रखने वाला भेदरहित ही सर्वबीजभूत अखंड अज्ञान को कामना अदृष्ट आदि बहुत प्रकार का बनाता है। जो जितेंद्रिय अधिकारी श्रवणादि के अनुसार उसे अपने हृदय में वर्तमान समझ लेते हैं उनके लिये शाश्वत सुख का आविर्भाव हो जाता है, अन्यों के लिये नहीं। ।'१२।। उपनिषद्योगी 'एकं बहुधा करोति' में शबल का ग्रहण कर 'आत्मानं स्वयमकुरुत' का संकेत समझते हैं। इन पाँच मंत्रों को पुराण में समझाते हैं :

१. 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्। ।'६.७।।

तस्य देवस्य विश्वाख्यं कार्यं देहात्मकं न हि। करणं[1] च न नेत्रादि किञ्चिदस्ति महात्मनः।।७८३

समानस्तेन लोकेऽस्मिन् विद्यते कोऽपि नैव हि। कुतोऽधिको भवेत्तस्माद् यतो नास्ति समोऽपि च।।७८४

मायाख्याऽस्य परा शक्तिः श्रूयते विविधैव सा। स्वाभाविकी भवेज्ज्ञानक्रियाभ्यां या सहस्रधा।।७८५

बलवीर्यादिभेदेन क्रियाशक्तिर्विभिद्यते। प्रमाणसंशयाद्यैस्तु ज्ञानशक्तिस्तथैव च।।७८६

पुत्रादेश्च यथा दृष्टः पतिः पित्रादिको नृभिः। ईशिता च तथैवाऽयं राजादिः सर्ववर्णिनाम्।।७८७

यथैव गमको दृष्टो धूमो वह्नेः सदा नृभिः। न तथाऽस्य पतिः कश्चिदीशिता चाऽत्र विद्यते।।
वस्तुतो नैव लिङ्गं च निर्गुणस्य महात्मनः।।७८८

स कारणं समग्रस्य विश्वस्य परमेश्वरः। करणेशाश्च सूर्याद्यास्तेषामेष नियामकः।।
न चास्य जनकः कश्चिद् विद्यते वा नियामकः।।७८९

कथं वेदस्तं बोधयति ? इत्याकांक्षायाम्, [2]अष्टमनवमयोरर्थमाह—तस्येति अष्टभिः। तस्य देवस्य स्थूलप्रपञ्चात्मकदेहरूपं कार्यं न अस्ति, तथा चक्षुरादिघटितं कारणं सूक्ष्मदेहाख्यम् अपि नास्ति।।७८३।। समान इति। स्पष्टम्।।७८४।। मायाख्येति। तस्य मायाख्या शक्तिः प्रसिद्धा या प्रथमं ज्ञानशक्तिक्रियाशक्तिरूपाभ्यां द्विविधा[3]। तत्र क्रियाशक्तिः बलादिरूपैः, ज्ञानशक्तिश्च प्रमाणादिरूपैः सहस्रधा भिन्ना। इति द्वयोरर्थः।।७८५-६।। पुत्रादेरिति। यथा पुत्रस्य पिता पतिः स्वामी प्रसिद्धः, राजा तु ईशो नियन्तेति, तथाऽस्यात्मनः पतिः ईशो लिङ्गं चैतत् त्रयमपि न अस्ति। तद्धि सगुणस्य परिच्छिन्नस्य स्यात्। आत्मा तु निर्गुणाऽद्वितीयत्वेन पूर्णश्च भवति। इति द्वयोरर्थः।।७८७-८।। स कारणमिति। स परमेश्वरः सर्वस्य कारणं, करणाधिपानां च चक्षुरादिदेवानां नियन्ता च भवति। तस्य तु जनकः कः अपि न अस्ति इत्यर्थः।।७८९।।

स्थूल प्रपंच कहलाने वाला देहरूप कार्य और चक्षु आदि अंगों वाला सूक्ष्मदेहरूप कारण—यह सब कुछ भी उस महात्मा देव का नहीं है।।७८३।। इस लोक में उसके समान कोई भी नहीं है। जब समान अर्थात् बराबरी का ही नहीं है तब उससे अधिक कोई क्योंकर होगा!।।७८४।। उसकी मायानामक जो श्रेष्ठ स्वाभाविक सामर्थ्य प्रसिद्ध है वह पहले तो ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति रूप से दो तरह की है। आगे क्रियाशक्ति बल, वीर्य आदि भेदों से हज़ारों तरह की है और ज्ञानशक्ति भी प्रमाण, संशय आदि भेदों से हज़ारों तरह की है। (बल से बाह्य और वीर्य से आंतरिक शक्ति समझनी चाहिये। प्रमाण अर्थात् यथार्थ बोध। संशय अर्थात् अनिश्चयात्मक ज्ञान।)।।७८५-६।। लोगों ने देखा है कि पुत्र आदि के अभिभावक पिता आदि होते हैं, सभी वर्ण वाली प्रजा का नियमनकर्त्ता राजा आदि होता है, वह्नि आदि का नियमतः बोधक धूमादि होता है। इस निर्गुण महान् आत्मा का वास्तव में कोई उस तरह अभिभावक, नियमनकर्त्ता और चिह्नरूप से बोधक नहीं है। (सगुण व परिच्छिन्न, सीमित के ही उक्त तीनों संभव हैं, परिपूर्ण वस्तु के नहीं।)।।७८७-८।। वह परमेश्वर संपूर्ण विश्व का कारण है। सूर्यादि इंद्रियाधिष्ठाताओं पर यह शासन करता है। इस परमात्मा का उत्पादक व नियामक कोई नहीं।।७८९।।

---

१. कारणमित्यपाठीट्टीकाकृत्।
२. 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।' ६.८।। 'न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्। स कारणं करणाधिपाधिपो न चाऽस्य कश्चिज्जनिता न चाऽधिपः।।'६.९।।
३. 'विविधा' इत्यत्रैषामयं पाठः सम्भवी।

तन्तुनाभसमो देवो मायाजैस्तन्तुभिः सदा। महाभूतादिभिः सर्वानस्मानावृत्य तिष्ठति।।७९०

एक एव स्वयंज्योतिरस्माकं ब्रह्म सोऽद्वयम्। प्रकाशयतु चित्तस्थम् आत्मनो निर्गुणं परम्।।७९१

एकः पुमान् स्वयंज्योतिः सर्वभूतगुहाशयः। सर्वव्यापी यथाकाशो ह्यन्तरात्मा तथैव च।।७९२

सर्वस्य काष्ठसङ्घस्य वह्निर्व्यापी यथैव च। कर्मणां पुण्यपापानामध्यक्षः फलदायकः।।७९३

स्वयं सर्वेषु भूतेषु यतो वसति सर्वगः। द्रष्टा सर्वत्र बुद्धीनां साक्षी चैतन्यरूपतः।।७९४

वस्तुतः केवलो नात्र साक्षित्वमपि विद्यते। गुणो वा निर्गुणस्तस्मात् पुरुषः सङ्गवर्जितः।।७९५

एको वशी निष्क्रियाणां जडानां बहुधा हि यः। कुरुते स्वप्रवेशेन भूतानां बीजमात्मजम्।।७९६

तदनुग्रहादेव तद्विज्ञानमित्येतत्प्रार्थनापरस्य[1]दशमस्यार्थम् आह—तन्त्विति। यो देवो लूतावद् मायायास्तन्तुस्थानीयैः भूतादिकार्यैः जीवान् वेष्टयित्वा स्थितः सः अद्वयब्रह्मरूपः अस्माकम् अधिकारिणां चित्तस्थं निर्गुणं रूपं प्रकाशयतु। इति द्वयोरर्थः।।७९०-१।।

[2]एकादशार्थमाह—एक इति चतुर्भिः। यथाऽऽकाशो व्यापी तथाऽऽत्माऽपि। यथा काष्ठेषु अग्निर्गूढः तथा सर्वस्यान्तरात्मा गूढः कर्मणां फलदायकत्वलक्षणाऽध्यक्षतावान्। इति द्वयोरर्थः।।७९२-३।। स्वयमिति। स देवः सर्वभूतशरीरेषु आत्मरूपेण वसति। कीदृशः ? सर्वधीवृत्तीनां द्रष्टृत्वलक्षणसाक्षित्ववान्, यतः चिदेकरूपः।।७९४।। वस्तुत इति। स देवो वस्तुतः केवलरूपो यतोऽस्य साक्षित्वं गुणो वा न विद्यते, अत एव निर्गुण इत्युक्त इत्यर्थः।।७९५।। [3]द्वादशार्थमाह—एक इति त्रिभिः। यो देव एकः अखण्डचिद्रूपः, अनेकेषां जडानां स्वतो निष्क्रियाणां प्रवृत्त्यशक्तानां वशी स्वातन्त्र्येण प्रवर्तयिता, यश्च बहुधा स्थितानां भूतानां व्यष्टीनां बीजभूतम् आत्मजं हिरण्यगर्भरूपं स्वयम् उपाधिषु अनुप्रविश्य करोति।।७९६।। एक एवेति। यश्च एक एव विश्वोपादानम्। तम् अन्तःस्थं ये पश्यन्ति

अद्वितीय स्वयं प्रकाश वह देव हम सबको मायाकार्य महाभूत आदि द्वारा वैसे ही हमेशा घेरे रहता है जैसे मकड़ी जाल द्वारा (नाना कीटों को)। उससे प्रार्थना है कि वह हमारे चित्त में स्थित अपने श्रेष्ठ निर्गुण अद्वैत व्यापक रूप को निरावृत कर दे।।७९०-१।। परमात्मविज्ञान परमात्मा के अनुग्रह से ही संभव है अतः मुमुक्षु हमेशा ऐसी प्रार्थना करे यह उचित है।

अद्वितीय स्वप्रकाश पूर्ण चेतन ही आकाश की तरह सर्वव्यापक है। जैसे सारे ईन्धनसमूह में आग व्याप्त होती है ऐसे वही अंतरात्मा सब प्राणियों की बुद्धिगुफा में व्याप्त है (अर्थात् आग जैसा छिपा है)। पुण्य-पाप रूप सभी कर्मों की उसे साक्षात् जानकारी रहती है और वही उनका फल प्रदान करता है।।७९२-३।। सर्वगत होने पर भी क्योंकि वह सभी प्राणियों में ख़ुद (ख़ास तरह से भी) रहता है इसलिये चिद्रूप से वह सब बुद्धियों व उनकी वृत्तियों का द्रष्टा अर्थात् साक्षी है। (सर्वव्यापी होने से प्राणिशरीरों में रहते हुए ही चित्त में चिद्रूप से भी व्यक्त होता है, यही खास तरह है। पंचदशी आदि में इसका खुलासा है।)।।७९४।। परमार्थ भूमि में तो आत्मा सर्वथा केवल है, न उसमें साक्षिता है न अन्य कोई गुण। अतः अपने पूर्ण स्वरूप से वह गुण व संबंध से रहित है। (साक्ष्य-सापेक्ष अतः मिथ्या होने से साक्षिता आत्मस्वरूप नहीं।)।।७९५।।

१. 'यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः समावृणोति। स नो दधातु ब्रह्माऽव्ययम्।।'६.१०।।
२. 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।।'६.११।।
३. 'एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।।' ६.१२।।

एक एव सदा देवो विश्वोत्पत्तिविधायकः। आत्मचित्तस्थितं तं ये ब्रह्मचर्यादिसाधनाः।।७६७
धीराः पश्यन्ति विद्वांसः तेषां शान्तिर्भवेद् ध्रुवा। दुःखानां मोक्षसम्प्राप्त्या नेतरेषां कदाचन।।७६८
नित्यानामपि यो नित्यः चेतनानां च चेतनः। यत्सुखं प्राप्यते ह्येतैः शान्तिरूपं मनीषिभिः।।७६९

तेषाम् एव मोक्षेण दुःखानां शान्तिः भवति। इति द्वयोरर्थः।।७६७-८।।

[1]त्रयोदशार्थमाह—नित्यानामिति एकविंशतिश्लोकैः। य आत्मा लोके नित्यत्वेन प्रसिद्धानामाकाशादीनां नित्यः, चेतनत्वेन प्रसिद्धानां नानाप्रमातॄणां चेतनः, यदीयां नित्यतां चेतनतां च आदायैव अन्ये भावा नित्याः चेतनाश्चाख्यायन्ते—इति यावत्। 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ. ३.४.२) इति, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ. ३.७.२३) इति च श्रुत्यन्तरात्। तथा यस्य स्वरूपभूतं सुखं शान्तिरूपम् एतैः ब्रह्मचर्यादिसम्पन्नैः प्राप्यत इत्युक्तम्, सोऽयमात्मा यदा ब्रह्मज्ञानाद् अविद्यानिवृत्त्या भासते तदा सर्वे अविद्याजाः पाशाः छिद्यन्त इत्येकविंशेन (श्लो. ८१९) अभिसम्बन्धः।।७६९।।

स्वतः प्रवृत्ति में अशक्त समस्त निष्क्रिय जडों को स्वतंत्रता से प्रवृत्त करने वाला वही अखण्ड चिद्रूप देव है। बहुत तरह से स्थित जो व्यष्टि भूत (प्राणी) हैं उनका बीज है ईश्वर का आत्मज हिरण्यगर्भ। ईश्वर स्वयम् उपाधियों में अनुगत होकर हिरण्यगर्भरूपता संपन्न करता है। (अर्थात् हिरण्यगर्भ तत्त्वान्तर नहीं है, उपाधिगत ईश्वर के उपहितरूपों की समष्टि ही है। इतने से ही वह ईश्वरजन्य है।)।।७६६।। सारे संसार की उत्पत्ति का विधान करने वाला वही एक सनातन देव है। ब्रह्मचर्यादि साधनों से संपन्न जो धैर्यवान् विद्वान् अपने चित्त में स्थित उस देव को देख लेते हैं उन्हें दुःखों से छुटकारा मिलकर अटल शांति प्राप्त हो जाती है। जो उसके दर्शन से वंचित हैं उन्हें कभी वह शांति नहीं मिलती।।७६७-८।।

तेरहवा मंत्र भाष्यादि की अपेक्षा दीपिकाओं में कुछ लंबा है। उसका अर्थ है 'नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन, अनेकों में एक जो भोग प्रदान करता है उसे आत्मरूप से स्थित देखने वाले धीरों को ही शाश्वत शांति मिलती है अन्यों को नहीं। मन-वाणी से अतीत उस आत्मा को विद्वान् यों मानते हैं—वह अविषय, उत्कृष्ट, आनंद है। उसे कैसे जानें ! क्योंकि ब्रह्मज्ञान से भी क्या सचमुच ब्रह्म प्रकट होता है या उससे विपरीत ही कुछ भास जाता है ! वह जगज्जन्मादिहेतु आत्मज्ञान और योग से (अष्टांगयोग या कर्मादियोग से) अतिशय साक्षात्कार के लायक है। देव को जानकर (साधक) सब पाशों से छूट जाता है।'१३।। उपनिषद्योगी आत्मा को नित्यादिकों की नित्यतादि का हेतु बताते हैं, सांख्य से वेदांतशास्त्र और योग से श्रवणादि समझते हैं। इस मंत्र को इक्कीस श्लोकों से समझायेंगे :

इस परमात्मा की ही नित्यता व चेतनता ग्रहण कर लोक में आकाशादि नित्य और सभी प्रमाता चेतन कहलाते हैं। (जैसे चीनी का मिठास ग्रहण कर सब मिठाइयाँ मीठी हो जाती हैं ऐसे लोकप्रसिद्ध नित्य व चेतन स्वतः नित्य या चेतन नहीं वरन् नित्य व चेतन आत्मा को ही अपनी सामर्थ्यानुसार अपने में समेटते हैं जिससे वे नित्य या चेतन लगते हैं जैसे अखंड आकाश को घेरने वाले घट-कमण्डलु आदि भी जगह वाले लगते हैं। इस संदर्भ में सर्वज्ञात्म-महामुनि का सूक्ष्म अनुसंधान उपलब्ध है।) ब्रह्मचर्यादि साधनों से संपन्न मनीषियों को जो शांतिरूप सुख मिलता है वह यही आत्मा है।।७६९।।

इस ब्रह्म की प्राप्ति के लिये मोक्षेच्छुक को हमेशा ऐसा विचार करना चाहिये—'वेदवादी तो परम तत्त्व को वाणी व मन का अविषय मानते हैं (अतः) उसे मैं जानूँ कैसे ? क्या वह सुखरूप ब्रह्म मेरे लिये भासमान है या नहीं ? क्या

१. 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।। तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्। कथं नु तद् विजानीयां किमु भाति विभाति वा।। तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।।'६.१३।। भाष्याद्यपेक्षयाऽत्र दीपिकयोरधिकः पाठः।

सांख्यम्

अनिर्देश्यं परं तत्तु मन्यन्ते वेदवादिनः। कथं नु तद् विजानीयां मुमुक्षुरिति सर्वदा।।८००

चिन्तयेदस्य सम्प्राप्त्यै किमु भाति न भाति वा। विपरीतमिदं वाऽपि भाति ब्रह्म सुखं मम।।८०१

यदा विवेकसम्पन्नो मुमुक्षुर्गुरुदेशितः। आनन्दात्मा त्वमेवैष ब्रह्माऽसीह न संशयः।
तदैवं चिन्तयेच्चित्ते निजे नित्यमतन्द्रितः।।८०२

आनन्दात्मा प्रकाशात् स्याद् भिन्नोऽभिन्नोऽथ वा पुमान्। यदा भिन्नस्तदा केन प्रकाशं याति सर्वदा।।८०३

अथ तल्लाभसाधनतया निर्दिष्टौ सांख्ययोगौ निरूपयंस्तत्र विचारात्मकं सांख्यमभिनयति—अनिर्देश्यमिति अष्टादशभिः। मुमुक्षुः इति इत्थम् अस्य ब्रह्मणः प्राप्त्यै चिन्तयेत्। 'इति' कथम् ? तद् ब्रह्म अनिर्देश्यं वाङ्मनसाऽगोचरं वेदज्ञा वदन्ति। तत् तत्त्वं कथं जानीयाम् ! तावदेवम् अहं विचारयामि—किं ब्रह्म सुखं मम भाति, न वा ? भानस्वभावम् अभानस्वभावम्, विपरीतं वा भाति। वस्तुतो भानरूपत्वेऽपि केनचन निमित्तेन विषयत्वादिना भासमानं वा ? इति द्वयोरर्थः।।८००-१।। अयं विचारो गुरूपदेशानन्तरमेव कार्यः, श्रवणोत्तरमेव असम्भावनानिवृत्तये मननविधानाद् इत्याशयेनाह—यदेति। मुमुक्षुर्यदा 'त्वम् आनन्दात्मकब्रह्माऽसि' इत्येवं गुरुणा देशित उपदिष्टो भवेत् तदैवं चिन्तयेद् इत्यन्वयः।।८०२।। तत्र 'भाति, न भाति' इत्युक्तयोः पक्षयोः अन्यतरमवधारयितुम् आत्मनः स्वरूपभूतस्य आनन्दस्य प्रकाशाद् भेदः, अभेदो वा—इति विचार्यम् इत्याह—आनन्दात्मेति। आनन्दरूप आत्मा 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानाद्' (तै. ३.६) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धः प्रकाशात् चिद्वस्तुनः सकाशाद् भिन्नोऽभिन्नो वा ? तत्र प्रथमपक्षो न सम्भवतीत्याह—यदेति। आनन्दात्मनः चिद्भिन्नत्वे किं द्वयोः नित्यत्वम्, अन्यतरस्य वा ? आद्ये, द्वयोः पूर्णयोः निर्विकारयोश्च कालाकाशयोरिव संयोगः समवायो वा न सम्भवति। तादात्म्यं तु अन्यतरस्य कल्पितत्व एव युक्तम्; तत्र आत्मनः कल्पितत्वं न युक्तं, कृतनाशादिप्रसङ्गात्; नाऽपि चैतन्यस्य, ततः पूर्वम् आत्मनोऽसिद्धिप्रसङ्गात्। नाऽपि चैतन्यस्य गुणत्वादिना आत्मनि सम्बन्धः, निर्गुणात्वादिश्रुतिविरोधात्, प्रथमाऽध्यायोक्तयुक्तिकलापाच्च।—इत्याशयेन इदमुच्यते—आनन्दात्मा यदा प्रकाशाद् भिन्नः तदा केन प्रकाशं भानं गच्छेद्? इति।।८०३।।

ऐसा है कि वास्तव में भानरूप होने पर भी कारण-विशेष से वह विषयाकार में भासता है ?'।।८००-१।। बिना प्रमाद किये हमेशा यह विचार अपने मन में तब करना चाहिये जब विवेकी मुमुक्षु को गुरु यह उपदेश दे चुकें कि 'यह सर्वप्रियतम आत्मरूप तुम ही व्यापक चित्तत्त्व हो इसमें संदेह नहीं।' (अर्थात् गुरु के निर्देशन में ही आत्मविचार करे अन्यथा तर्कमात्र भटका देगा। किंच शास्त्र भी श्रवण के बाद मनन का उल्लेख कर इनमें क्रम सूचित करता है अतः गुरु से शास्त्र समझने के बाद स्वानुभव से उसके सत्यापन का बौद्धिक प्रयास करना चाहिये।)।।८०२।।

आत्मा भानात्मक है या नहीं पहले इसका निर्णय करना चाहिये। इसके लिये यह सोचे कि आत्मा का स्वरूप जो आनंद वह ज्ञान से भिन्न है या अभिन्न ? यदि आनंदरूप आत्मा ज्ञान से भिन्न हो तो भी क्या दोनों नित्य हैं या नहीं ? यदि दोनों नित्य हों तो पूर्ण और निर्विकार होंगे अतः उनका संयोग या समवाय वैसे ही संभव नहीं जैसे काल और आकाश का। दोनों का तादात्म्य तो तभी हो जब दोनों में से एक कल्पित हो। इनमें आनंदरूप आत्मा तो कल्पित हो नहीं सकता अन्यथा किये कर्म फल दिये बिना ही नष्ट हो जायेंगे तथा न किये कर्मों का फल भोगना पड़ जायेगा जो दोनों ही असंगत बातें हैं। और ज्ञान भी कल्पित मान नहीं सकते क्योंकि तब ज्ञान से पूर्व आत्मा ही सिद्ध नहीं होगा। ज्ञान को आत्मा का गुण मानना भी उचित नहीं क्योंकि श्रुति स्पष्ट ही आत्मा को गुणरहित बताती है। इस प्रकार आनंदरूप आत्मा को ज्ञान से भिन्न और दोनों को नित्य मानना संभव नहीं क्योंकि तब यह सर्वानुभव

आनन्दश्च प्रकाशश्च भिन्नौ स्यातां यदा तदा। इतरेतरसम्बद्धौ स्यातां तौ केन हेतुना।।८०४
अजातश्चैव जातश्च सम्बद्धो नैव सर्वदा। ततो द्वयोर्जनिर्वा स्यादजनिर्वा सदैव हि।
अप्रकाशोऽथ वा क्वाऽपि स्यात् सुखस्यात्मरूपिणः।।८०५
आत्मा नैवाऽत्र कस्याऽपि जन्तोर्दुःखस्वरूपतः। प्रतीयते परप्रेमसंश्रयो हृदयस्थितः।।
तेन नित्यप्रकाशेन सम्बद्धं सुखमात्मनः।।८०६
आत्मनस्तद्विभिन्नं चेदात्मा प्रियतमो न हि। भवेत् सुखार्थता यस्मादात्मनोऽत्र प्रसज्जते।।
सुखरूपस्ततः स्वात्मा सर्वेषामिह देहिनाम्।।८०७
आत्मनो न जनिर्युक्ता कारणाभावहेतुतः। आत्माऽभिन्नस्य तेनाऽस्य सुखस्यापि जनिर्न हि।।८०८

एतदाशयमेव स्फुटयति—आनन्द इत्यादिना। स्पष्टम्।।८०४।। यदाऽऽनन्दात्मप्रकाशयोर्मध्येऽन्यतरस्यैव जन्यत्वं नित्यत्वं वा स्यात् तदा तयोः सम्बन्धो न स्यात्, 'योग्यं योग्येन सम्बद्ध्यत' इति न्यायविरोधात्। तथा च सम्बन्धयोग्यतार्थं द्वयोरेव जन्यत्वम् अजन्यत्वं वा स्वीकार्यमित्याह—अजात इति। यदि तु तयोः असम्बन्ध एवाङ्गी क्रियते तदाऽऽनन्दात्मनः प्रकाशाभावः सदा स्वीकार्यः स्याद् इति तृतीयदलार्थः।।८०५।। तत्र आनन्दात्मनः प्रकाशाभावो न स्वीकर्तुं शक्यः प्रकाशं विना निरतिशयप्रेमानुपपत्तेः इत्याह—आत्मेति। आत्मा हि कस्यापि जन्तोः दुःखरूपेण द्वेषयोग्यो न प्रतीयते प्रत्युत परप्रेमविषय एव भवति। तेन ज्ञायते—आत्मनः स्वरूपभूतं सुखं नित्यं प्रकाशसम्बद्धमित्यर्थः।।८०६।।

स च प्रकाशेन सुखस्य सम्बन्ध ऐक्यरूप एवेति दर्शयितुं सुखप्रकाशयोः नित्यता प्रदर्शनीया। तदर्थं सुखस्य आत्मरूपतया नित्यत्वं प्रतिपादयति—आत्मन इति द्वाभ्याम्। तत् सुखं यदि आत्मनः सकाशाद् भिन्नं स्यात् तदा आत्मा प्रियतमो न स्यात्, किन्तु स्रक्चन्दनादिवत् सुखार्थत्वेन प्रिय इत्येव स्यात्। दृश्यते तु 'मा न भूवं, भूयासम्' इत्याकारको निरतिशयः प्रेमात्मन्येव। तेन आत्मसुखयोरैक्यमेवेत्यर्थः।।८०७।। एवं सुखस्यात्मरूपत्व आत्मनो जन्माऽयोग्यत्वाद् अनात्मन आत्मानं प्रति हेतुत्वस्य व्याहतत्वाच्च सुखं नित्यमित्याह—आत्मन इति। स्पष्टम्।।८०८।।

संगत नहीं होगा कि आत्मा सदा भासमान रहता है।।८०३।। भिन्न होने पर आनंदरूप आत्मा और ज्ञान का सम्बंध क्योंकर हो पायेगा।।८०४।।

आनंदात्मा तथा ज्ञान में से एक को नित्य व दूसरे को अनित्य मान नहीं सकते क्योंकि तब इनका कभी संबंध संभव नहीं होगा क्योंकि नियम है कि योग्यों का ही परस्पर संबंध होता है। इसलिए दोनों को ही नित्य या अनित्य स्वीकारना अनिवार्य है। अगर आनंदात्मा व ज्ञान को परस्पर असंबद्ध ही मानें तो आनंदरूप आत्मा का कभी भान नहीं होता ऐसी असंभव मान्यता स्वीकारनी होगी।।८०५।। व्यवहारभूमि में किसी भी जंतु को आत्मा दुःखरूप प्रतीत नहीं होता, क्योंकि आत्मा से किसी को द्वेष नहीं होता, बल्कि हृदयस्थित आत्मा हमेशा निरतिशय प्रेम का ही विषय बना रहता है। इससे पता चलता है कि आत्मा का स्वरूपभूत सुख हमेशा ज्ञान से संबद्ध है।।८०६।। वह सुख अगर आत्मा से अलग हो तो आत्मा सर्वाधिक प्रिय न हो वरन् सुख के प्रयोजन से प्रिय हो जैसे चंदन आदि, लेकिन वस्तुस्थिति है कि निरतिशय प्रेम आत्मा से ही होता है (और सुख ही आत्मा के प्रयोजन से प्रिय होता है)। इससे निश्चित है कि सब देहधारियों का आत्मा सुखरूप है।।८०७।। आत्मा का जन्म युक्तियुक्त नहीं क्योंकि उसका उत्पादक होने योग्य कुछ है नहीं (आत्मा का कारण आत्मा से भिन्न ही मानना पड़ेगा और अनात्मा आत्मा का उत्पादक होगा नहीं क्योंकि अप्रकाश से प्रकाश की उत्पत्ति होती नहीं)। आत्मा से अभिन्न सुख भी अत एव जन्म वाला नहीं हो सकता।।८०८।।

सुखस्य जन्मनो भावे प्रकाशस्य कुतो जनिः। प्रकाशस्य जनौ नैव नित्यमानन्दरूपता।
आत्मनस्तु प्रतीयेत सदा सम्बन्धवर्जनात्।।८०९
किं नु तत् कारणं नाम सुखरूपे निजात्मनि। जनयेन्नित्यविज्ञानं सुखबोधात्मकं हि यत्।।८१०
मनस्तु करणं चेत् स्यात् कर्ता तस्य भवेद्धि कः। एकदैव कथं कर्तृहेतुतां स्वात्मनो व्रजेत्।।८११
अपि दृश्यं मनश्चैतद् दृश्यते मन्मनस्त्विति। कथं विनात्मविज्ञानं भवेदेतदमानसम्।।८१२
ततः सुखप्रकाशात्मा सर्वदैव व्यवस्थितः। तदात्मनः सुखं किं म इदानीं भाति वा न वा।।८१३

एवं सुखस्य नित्यत्वे तेन सम्बन्धयोग्यस्य प्रकाशस्याऽपि नित्यत्वम् अभ्युपेयमित्याह—सुखस्येति। प्रकाशस्य जन्माङ्गीकारे हि नित्येन सुखेन सम्बन्धायोगाद् आत्मा सदा आनन्दरूपो न प्रतीयेत, तथा च परं प्रेम न स्यात्, तच्च अनुभवविरुद्धमित्याह—प्रकाशस्येत्यादिना।।८०९।। किं चात्मरूपनित्यसुखस्य भानम् आगन्तुककारणाधीनं न वाच्यं 'नित्यानित्यसंयोगविरोध'न्यायादित्याह—किं न्विति। नु इति वितर्के। यत् सुखस्य बोधसंज्ञम् अत एव नित्यं निरतिशयप्रेमनिर्वाहाय नित्यमपेक्षितं च विज्ञानं जनयेत् तादृशं कारणं किं भवेत्! न किञ्चिदपीत्यर्थः।।८१०।। अस्तु मनस्तथा? इति शंकां निरस्यति—मनस्त्विति। यदा मन आत्मभाने करणं स्वीक्रियते तदा करणस्य प्रयोजकत्वेन अपेक्षितः कर्ता कः स्यात्? न च आत्मा कर्ता भवितुमर्हति, तस्य कर्मत्वेन अवस्थितस्य कर्तृत्वविरोधाद् इति भावः। ननु मन एव कर्तृतामपि भजतु? इति शङ्कां वारयति—एकदैवेति। कर्तृ चेद् मनो भवेत् तदा स्वात्मनः कर्तृस्वरूपस्य उपकारकतालक्षणां हेतुतां करणतां कथं व्रजेत्! कर्तृत्वाङ्गीकारे करणत्वं न स्याद् इति यावत्, न हि युगपदेकस्य उपकार्यत्वम् उपकारकत्वं च सम्भवतीति भावः[1]।।८११।। किं च मनसोऽपि दृश्यत्वानुभवाद् मनः स्वसाधके ज्ञाने न करणी भवितुमलम् अतः तद् आत्मरूपमेवेत्याह—अपि दृश्यमिति। अपि च एतन्मन इति इत्थं दृश्यतेऽनुभूयते। 'इति' कथम्? मदीयं मन इति। एतद् मनसो दृश्यत्वं कथम् उपपद्येत यदि अमानसं मनसा जनयितुम् अशक्यम् आत्मस्वरूपभूतं विज्ञानं न स्यादित्यर्थः।।८१२।। फलितमाह—तत इति। सुखप्रकाशात्मपदार्थानाम् ऐक्यं सिद्धं ततः च आत्मसुखं भाति न वा इति संशय इदानीं किं सम्भवति? अपि तु नैव सम्भवतीत्यर्थः।।८१३।।

सुख जब जन्मरहित है तब ज्ञान भी सजन्मा कैसे होगा? ज्ञान का जन्म हो तो नित्य सुख से उसका सम्बंध न हो सकने से आत्मा की आनंदरूपता का कभी भान नहीं होगा जो कि अनुभव से बाधित है।।८०९।। आत्मा से असीम प्रेम हमेशा रहता है अतः यह मानना होगा कि आत्मा की सुखरूपता का बोध हमेशा है। इस प्रकार आनंदरूप निज आत्मा के बारे में जो सुख का बोध कहलाने वाला तथा उक्त युक्ति से हमेशा रहने वाला विज्ञान है उसे उत्पन्न करे ऐसा कारण क्या हो सकता है! (कोई नहीं हो सकता।)।।८१०।।

यदि कहो (जैसा न्यायी कहना चाहते हैं) कि आत्मा के भान में मन करण है तो उस करण को प्रयुक्त करने वाला कर्ता कौन होगा? (आत्मा तो तब कर्म बन गया अतः कर्ता हो नहीं सकता।) मन ही कर्ता भी हो यह भी संभव नहीं। कर्तृस्वरूप के प्रति उपकारकता ही करणता होती है अर्थात् करण से कर्ता का उपकार होता है। कोई इकट्ठे ही (एक ही क्रिया में) कर्ता और करण दोनों कैसे हो सकता है! (तात्पर्य है कि आत्मा का ज्ञान यदि मन से माना जाये तो वह ज्ञान होगा किसे? आत्मा तो उसका विषय हो जायेगा अतः आत्मा को वह ज्ञान होगा नहीं और मन करण या साधन होगा अतः उसे भी होगा नहीं! आत्मा को अपना ही ज्ञान हो यह भी कहना ठीक नहीं क्योंकि अनित्य ज्ञान धात्वर्थ होने से क्रिया है और क्रिया का कर्ता व कर्म एक ही वस्तु कहीं देखने में नहीं आती। अतः आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान मानना अनिवार्य है।)।।८११।। इतना ही नहीं, यह मन भी ज्ञेय है, 'मेरा मन' इत्यादि अनुभव सार्वजनिक है। यदि मन के बिना ही होने वाला आत्मरूप विज्ञान न हो तो उक्त अनुभव कैसे संगत होगा? (मनको

१. एतेन तर्किणामात्ममनःसंयोगजन्यज्ञानवादिनामपास्तं मतम्।

विरुद्धं किंनिमित्तेन भाति तत्सुखमात्मनः। भिन्नं तथा मया ज्ञेयं जातं विषयसेवनात्।।८१४

यद् यादृशं न तत् तादृग् यदि वस्तु प्रतीयते। विपरीतं तदा ज्ञानं तस्य नूनमवस्थितम्।।८१५

विपर्ययस्य जनकं न हि सत्यमुदीरितम्। असत्यं जनकं चेति तत्तन्मायेति कीर्तितम्।।८१६

इति चिन्तयतस्तस्य मायातः पृथगेव तत्। स्वयंज्योतिः सुखं नित्यम् अनिर्देश्यं प्रकाशते।।८१७

योगः

कर्मणा यज्ञदानादिरूपेणात्मा स्वयंप्रभः। जगतः कारणं ब्रह्मज्ञानोत्पत्तौ प्रतीयते।।८१८

ब्रह्मज्ञानात् स्वयंज्योतिर्यदाऽयमवभासते। अविद्यानाशतस्तज्जाः पाशा नाशं प्रयान्ति च।।८१९

अथ विपरीतभानपक्षं निरसितुं वैपरीत्यमभिनयंस्तद्धेतुं विचारयति—विरुद्धमिति। तद् आत्मरूपं विरुद्धं विपरीतरूपं केन निमित्तेन भाति ? ननु का विरुद्धता ? इत्यत आह—आत्मन इत्यादि। आत्मनः सकाशाद् भिन्नत्वं, ज्ञानविषयत्वं, विषयसेवनजन्यत्वं च यत् सुखे भासते, एतत् त्रयं विरुद्धमित्यर्थः।।८१४।। न चेदं भिन्नत्वादिज्ञानं प्रमेति वाच्यम्, विषयस्वभावाऽननुसरणाद् इत्याह—यद्यादृशमिति। यद् वस्तु यादृशं भवति तादृशं यत्र ज्ञाने न प्रतीयते तद् ज्ञानं विपर्ययरूपमेव प्रसिद्धमित्यर्थः।।८१५।। विपर्ययस्तु अनृतत्वात् स्वसजातीयमनृतं कारणमपेक्षते, तच्च अनृतत्वे सति कारणत्वं मायाया एव प्रसिद्धमित्याह—विपर्ययस्येति। सा माया तु सत्यदृष्टेः मत्तः पलायितेति भावः।।८१६।। इदृग्विचाररूपं सांख्यम् आत्मसाक्षात्कारहेतुरिति उपसंहरति—इति चिन्तयत इति।।८१७।।

योगरूपम् आत्मलाभोपायमाह—कर्मणेति। यागादिरूपं बाह्यम् उपासनरूपमान्तरं च यत् कर्म तद् योगसंज्ञं चित्तशुद्धितत्त्वज्ञानद्वाराऽऽत्मलाभसाधनमित्यर्थः।।८१८।। ब्रह्मेति। व्याख्यातम्।।८१९।।

सिद्ध करने वाले ज्ञान के प्रति मन करण नहीं हो सकता अतः मनःकरणक से अतिरिक्त ज्ञान मानना अनिवार्य है यह भाव है।)।।८१२।। इस प्रकार निश्चित है कि सुखरूप व ज्ञानरूप आत्मा हमेशा है। क्या अब यह संशय संभव है कि मुझे आत्मा के सुखका भान होता है या नहीं ? (अर्थात विचारने पर यह संशय ही असंभव हो जाता है। श्लो. ८०१ में यह विचार प्रारंभ किया था।)।।८१३।।

(आत्मभान की सांशयिकता हटा दी। दूसरी संभावना थी कि क्या ब्रह्मसुख का विपरीत भान हो रहा है ? इसका परीक्षण करने के लिये विपरीतता स्फुट करते हैं—) क्या कारण है कि वह आत्मरूप सुख विपरीत प्रतीत होता है ? 'मुझसे भिन्न है, ज्ञेय है, विषयभोग से पैदा हुआ है'—यही विपरीतता है।।८१४।। जो वस्तु जैसी है यदि वैसी न प्रतीत हो तो उसका विपरीत ज्ञान हो रहा है यही प्रसिद्ध है।।८१५।। विपर्यय अर्थात् विपरीत ज्ञान का जनक सत्य नहीं हो सकता। असत्य और जनक हो ऐसी तो एक ही चीज़ बतायी जाती है—माया ! (अतः आत्मसुख विपर्ययगोचर अज्ञान से ही है यह भाव है। आत्मभेद, ज्ञेयता व विषयजन्यता सुख में वास्तविक नहीं।)।।८१६।।

उक्त दिशा में चिंतन करता रहता है तो अधिकारी के लिये वह स्वप्रकाश नित्य अविषय सुख प्रकाशमान हो जाता है जो माया से परे ही है।।८१७।।

यज्ञ दान आदिरूप कर्म से चित्तशुद्धि होकर जब ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है तब स्वप्रभ आत्मा अनावृत हो जाता है। (उपनिषद् में 'योग' शब्द से कर्मरूप बहिरंग साधनों का उल्लेख है यह तात्पर्य है।)।।८१८।। जब ब्रह्मज्ञान से यह स्वयंज्योति निरावृत हो जाता है तभी अविद्या का नाश हो जाता है और अविद्याजन्य पाश भी नष्ट हो जाते हैं।।८१९।।

आत्मतत्त्वम्

ब्रह्मज्ञानात् स्वयंज्योतिः यद् भात्यत्राधिकारिणः। न हि ज्ञानं कदाचित्तु भाति सूर्यादिभिस्त्विदम्।
किन्तु तेनैव सूर्याद्याः प्रतीयन्ते सदैव ते।।८२०

ज्ञानस्यापि च यो ज्ञानं ज्ञानेनाऽपि न भाति च। स कथं तैजसैरेतैः प्रतिभायात् स्वयंप्रभः।।८२१

एक एव पुमानेष सर्वभूतहृदि स्थितः। अविद्याघातको हंसो मध्येऽपि च जगत्त्रये।।
अग्निरूपः स एवाऽयम् अस्ति नीरादिसंस्थितः।।८२२

[1]चतुर्दशस्यार्थमाह—ब्रह्मज्ञानात् स्वयमिति द्वाभ्याम्। यत् स्वयंज्योतिः ज्ञानम् आत्मरूपम् अधिकारिणः तत्त्वज्ञानाद् उपलभ्यते तदिदं ज्ञानं सूर्यचन्द्रादिभिः न प्रकाश्यं, प्रत्युत सूर्यादयस्तेन भास्यन्त इत्यर्थः।।८२०।। किं च बाह्यानां सूर्यादीनां भासकं चित्प्रतिबिम्बशालिवृत्तिरूपं ज्ञानं तदपि येन आत्मज्योतिषाऽविषयस्वभावेन भास्यते तस्य आत्मज्योतिषो बाह्यप्रकाशैर्भानाऽयोग्यत्वं किमु वाच्यम्! इत्याह—ज्ञानस्येति। य आत्मा ज्ञानस्य चित्संवलितवृत्तिरूपस्य ज्ञानं भासकः स तैः जडतेजोमयैः एतैः सूर्यमण्डलादिभिः कथं प्रकाश्यत? इति।।८२१।। [2]पञ्चदशार्थं वर्णयति—एक एवेति त्रिभिः। एक एव पुरुषः सर्वव्यष्टीनां त्रिलोक्यात्मकसमष्टेश्च अन्तःस्थः, अविद्यां घ्नन् हंस इत्युक्तः, तस्य सर्वरूपतामाह—अग्नीति। नीरं समुद्रादिजलम् आदिपदेन जाठरं जलं तद्गतवाडवाग्न्यादिरूपः। अथवा नीरम् 'आप' इत्युक्तानि सूक्ष्मभूतानि तद्रूपे, आदौ कारणे स्थितो योऽग्निः विराट् तद्रूपइत्यर्थः।।८२२।।

चौदहवाँ मंत्र है 'आत्मस्वरूप को विषय कर सूर्य, चंद्र, तारे, ये बिजलियाँ प्रकाश नहीं करतीं तो यह आग क्योंकर करेगी! इनका अविषय वह भासता है उसीके पीछे ये सब भी भासते हैं। ये सब उसी के प्रकाश से प्रकाशमान हैं।'१४।। 'कर्मफलभूत इस लोक में आत्मज्ञान से भेद का हन्ता सर्वभेदरहित ज्ञानरूप वही है। वही तेजोरूप है जो अपने सब कार्यों में कारण रूप से भली भाँति बैठा है। उसे जानकर ही मृत्यु से अतीत जा सकते हैं। मोक्ष का और कोई हेतु नहीं।'१५।। भाष्य में सलिल का एक अर्थ शरीर व दूसरा जल-सा स्वच्छ मन किया है। उपनिषद्योगी कहते हैं कि 'अग्नि' अर्थात् ब्रह्मज्ञान जब 'सलिलं' अर्थात् अंतःकरण में प्रविष्ट हो तभी अविद्याहनन संभव है। हमारे गुरु जी अग्नि व सलिल अर्थात् जल को यथाश्रुत मानकर उनकी महत्ता का प्रतिपादन भी करते हैं।। 'वही सबका कर्त्ता है, सर्वज्ञ है, हिरण्यगर्भ का भी हेतु है, बोधस्वभाव है, नाशक का नाशक है, सब गुणों का आश्रय है, सर्ववित् है, वेदांतों में प्रसिद्ध है, माया-जीव का मालिक है, गुणनियंता है, 'मैं-मैरा' रूप संसार से छूटने की सनातनता का एवं संसार-बंधन का हेतु है।'१६।। उपनिषद्योगी सर्वविद्य से सब विद्याओं का हेतु समझते हैं और प्रधान एवं क्षेत्रज्ञ एवं पति—यों अथवा प्रधान को क्षेत्ररूप से जानने वाला—यों समास खोलते हैं। प्रधान ईश्वर का क्षेत्र है उसका पति निर्विशेष है। 'ईश्वर ही प्रधान-क्षेत्रज्ञ रूप है। वह प्रसिद्ध चेतन ही मरणरहित है, स्वमहिमस्थित है, बोधरूप है, अपरिच्छिन्न है, इस कर्मफलरूप लोक का रक्षक है और इस जगत् का हमेशा शासक है। शासन का और कोई हेतु नहीं है।'१७।। नारायण ने तन्मय का अर्थ संसारप्राय किया है जबकि उपनिषद्योगी ज्ञाततया मोक्षहेतुरूप व अज्ञाततया बंधहेतुरूप है ऐसा अर्थ करते हैं। इन मंत्रों को पुराणकार समझाते हैं:

अधिकारियों को चरम जन्म में ब्रह्मज्ञान से जो स्वयंज्योति उपलब्ध होता है वह ज्ञान सूर्यादि द्वारा कभी प्रकाश्य नहीं है बल्कि वे सूर्यादि हमेशा ही उसी स्वयंज्योति से प्रकाशित होते हैं।।८२०।। जो आत्मा वृत्तिरूप ज्ञानों का भी भासक है वह जब उन वृत्तिज्ञानों से भी प्रकाशित नहीं किया जा सकता तब इन तेजोविकाररूप जड प्रकाशों से वह स्वप्रभ प्रकाशित हो यह कैसे संभव है? (सूर्यादि वृत्तिज्ञान से प्रकाशित, वे वृत्तिज्ञान आत्मा से प्रकाशित अतः सूर्यादि उसके प्रकाशक हों यह मुमकिन नहीं। किंच वृत्तिज्ञान भी सूर्यादि से प्रकाशित नहीं होते तो स्वरूपज्ञान क्योंकर होगा।)।।८२१।।

१. 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।' ६.१४।। कठोपनिषदि ५.१५ अप्ययं मन्त्रः।

२. 'एको हंसो भुवनस्याऽस्य मध्ये स एवाऽग्निः सलिले सन्निविष्टः। तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय।।' ६.१५।।

तमेवात्मस्वरूपेण ज्ञात्वा देही समाव्रजेत्। मृत्युमत्येत्य संसारमीशश्चाप्येष जायते।।८२३

नान्यो हेतुर्जगत्यस्मिन्नीश्वरत्वाय विद्यते। ब्रह्मज्ञानादतस्तत्तु करणीयं यतीश्वराः।।८२४

ईशः

विज्ञेयो यः पुमान् सोऽयं सर्वज्ञो विश्वकृत्तथा। अनुत्पन्नः सदा कालकालः सर्वगुणैर्युतः।।८२५

विशेषेणाऽपि निखिलं जानातीदं चराचरम्। क्षेत्रज्ञस्याऽस्य जीवस्य मायायाश्च पतिस्तथा।।८२६

गुणानामपि सर्वेषां सुखदुःखादिकारणम्। नियन्ता संसृतेर्बन्धस्थितिमोक्षैककारणम्।।८२७

स आत्मा विश्वरूपः सन् हेतुर्बन्धस्थितौ भवेत्। मरणादिविहीनश्च बन्धमोक्षैककारणम्।।८२८

ईश आत्मनि संस्थाय ज्ञानरूपोऽत्र सर्वगः। स्थितिकाले सदा देवो भुवनस्याऽस्य गोपकः।।८२९

य ईष्टे जगतो नित्यं यस्मादन्यो न चेश्वरः। कश्चिदस्ति स एवात्मा तस्मादन्यो न विद्यते।।८३०

तमेवेति। तमेव ज्ञात्वा संसाररूपं मृत्युमत्येत्य उल्लङ्घ्य अमृतं गच्छेद् एष विद्वान् सर्वज्ञत्वादिविशेषरूपेण ईशभावं गच्छतीत्यर्थः।।८२३।। नान्य इति। ब्रह्मज्ञानादन्य ईशभावलाभाय हेतुर्न अस्ति इति अतः तद् ब्रह्मज्ञानं करणीयं श्रवणादिद्वारा सम्पाद्यम् इत्यर्थः।।८२४।।

'ईशरूपावेदकयोः षोडशसप्तदशयोः अर्थ उच्यते—विज्ञेय इति षड्भिः। योऽयं मोक्षसाधनविज्ञानविषयत्वेन उक्तः पुमान् सर्वज्ञतादिधर्मशाली। तत्र सर्वज्ञत्वं सामान्येन सर्ववित्त्वम्। अनुत्पन्नत्वं कारणहीनत्वम्।।८२५।। विशेषेणेति। श्रुतौ 'ज्ञ'-पदेन तस्य विशेषतः सर्ववित्त्वमुक्तम्। तथा जीवस्य मायायाः तद्गुणानां च पतिः प्रभुः सुखादिरूपकर्मफलदः, तथा बन्धादिकारणत्वेन संसारस्य नियन्ता व्यवस्थाहेतुः पालकश्च। इति द्वयोरर्थः।।८२६-७।। स आत्मेति। सप्रपञ्चरूपेण दृष्टो बन्धहेतुः, मरणादिहीनत्वेन दृष्टस्तु मोक्षहेतुः। तथा ज्ञानरूपे आत्मनि स्वरूपे स्थित्वा ईशः सर्वगः च, तथा स्थितिकाले गोपकः च। इति द्वयोरर्थः।।८२८-९।। य ईष्ट इति। यः च ऐश्वर्यस्य परमकाष्ठाभूतः कश्चिद् विशेषतो वर्णयितुमशक्यः स एव आत्मत्वेन विज्ञेय इत्यर्थः।।८३०।।

सब प्राणियों के हृदयों में व त्रिलोकी रूप समष्टि में यह एक ही पुरुष स्थित है। वही अविद्या का हनन करने से हंस कहलाता है। यह वही अग्निरूप है जो जल आदि में मौजूद है। (जल से समुद्रादि बाह्य तथा 'आदि' से शरीर में होने वाला जल समझना चाहिये। समुद्र में वडवाग्नि एवं शरीर में जठराग्नि प्रसिद्ध ही है। अथवा श्लोक के 'नीर'-शब्द से सूक्ष्म महाभूत समझने चाहिये। 'आदि' से उनका कारण समझना चाहिये। इनमें स्थित अग्नि विराट्-रूप है।)।।८२२।। उस हंस को ही आत्मरूप जानकर देहधारी संसाररूप मृत्यु लाँघकर अमृत पा जाता है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप का जानकार ईश्वर से भी पृथक् नहीं रह जाता।।८२३।। इस जगत् में ब्रह्मज्ञान से अन्य कोई उपाय नहीं जिससे ईश्वरता पायी जा सके अतः श्रवणादि द्वारा ब्रह्मज्ञान सम्पन्न करना चाहिये।।८२४।।

मोक्ष के साधनभूत विज्ञान से विज्ञेय जो उक्त पुरुष है वह यही है जो सब जानने वाला, सब करने वाला, कारणहीन, सनातन, काल का भी परिच्छेदक और सब गुणों से सम्बद्ध है।।८२५।। केवल सामान्यतः ही नहीं वह इस निखिल चर-अचर को विशेषतः भी जानता है (अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति से और उसकी समस्त विशेषताओं से परिचित रहता है)। इस जीवरूप क्षेत्रज्ञ का एवं माया का और उसके गुणों का मालिक वही है। सभी को सुख-दुःखरूप कर्मफल वही देता है। बंधावस्था और मोक्ष का इकलौता कारण होने से वही संसार का नियंता है अर्थात् इसकी व्यवस्था का

१. 'स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः। प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः।।'१६।। स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्याऽस्य गोप्ता। य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय'।।'६.१७।।

प्रार्थना

अहं पूर्वमिमं देवमित्थं सम्प्रार्थ्य सर्वदा। प्राप्तवानात्मविज्ञानं नियतोऽत्र यतीश्वराः।।८३१

ब्रह्माणं जगतो योनिं य उत्पादितवान् पुरा। यश्च वेदानदादस्मै तं देवं स्वात्मनि स्थितम्।।
आत्मज्ञानैकसंवेद्यं मुमुक्षुः शरणं गतः।।८३२

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं सुखमात्मस्वरूपकम्। सर्वदोषविनिर्मुक्तं कारणेन विवर्जितम्।।८३३

'अष्टादशादिमन्त्रद्वयस्य एकवाक्यतयाऽर्थं दर्शयति—अहमिति पञ्चभिः। हे यतयः ! अहमित्थं नियतो नियमैः शौचादिभिर्युतः संस्तं देवं सम्प्रार्थ्य ज्ञानं प्राप्तवान् अस्मीति।।८३१।। 'इत्थं' कथम् ? इत्याकांक्षायामाह—ब्रह्माणमित्यादि। यो ब्रह्माणं हिरण्यगर्भम् उत्पाद्य तस्मै सह वेदैः ज्ञानं दत्तवान्, तं देवम् आत्माकारवृत्तिलभ्यम् अहं मोक्षकामः शरणं गतः अस्मीति सम्बन्धः।।८३२।। तस्य देवस्य स्वरूपलक्षणमाह—निष्कलम् इत्यादिना। कीदृशं तम् ? निष्कलं निरवयवम्। स्फुटमन्यत्।।८३३।। अमृतत्वस्येति। मोक्षरूपस्य अमृतत्वस्य स्वरूपेण

हेतु और पालनकर्ता है।।८२६-७।। विश्वरूप समझा जाता वह आत्मा बंधावस्था का हेतु है और मरणादिविहीन समझा जाने पर बंधन से छूटने का ही कारण है।।८२८।। यहाँ सर्वत्र फैला ज्ञानरूप ईश्वर देव अपने स्वरूप में ही रहकर स्थितिकाल में इस भुवन का (संसार का) हमेशा रक्षक है।।८२९।। जो इस जगत् पर हमेशा शासन करता है, जिससे अन्य कोई ईश्वर नहीं, जो ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है, जिसका विशेषतः वर्णन संभव नहीं, वही आत्मा है, उससे अन्य नहीं।।८३०।।

अगले मंत्रों में शरणागति का वर्णन है—'जो ब्रह्मा को विविध सामर्थ्यों से संपन्न पैदा करता है और उसे ऋगादि वेद समर्पित करता है उस स्वबुद्धिसाक्षी स्वप्रकाश रक्षक की मैं मुमुक्षु शरण लेता हूँ।।'१८।। वह कला, क्रिया, परिणाम, अविद्यादि दोष व कारण—इनसे रहित है। जैसे उद्दीप्त आग ईंधन जला ही डालती है ऐसे वह अविनाशी मोक्ष की प्राप्ति का निश्चित उपाय और मोक्ष का विधारक है।।'१९।। नारायण 'आत्मबुद्धिप्रकाश' के दो अर्थ करते हैं—उपदेशगम्य और देह का व बुद्धि का प्रकाशक। भाष्य में 'प्रकाश' की जगह 'प्रसाद' पाठ है अतः वे अर्थ बताते हैं कि वह बुद्धि-शोधक है। 'प्रकाश'-पाठ मानकर वे अर्थ करते हैं कि आत्मरूप बुद्धि ही इसका प्रकाश है। उन्नीसवें के 'अनलम्' से हमारे गुरुजी परिच्छिन्न बुद्धि का अविषय समझते हैं। 'जब मनुज अमूर्त नभ को चमड़े जैसा लपेट लेंगे तब स्वप्रभ को 'यह मैं हूँ' यों जाने बिना त्रिविध दुःख का नाश हो जायेगा!।।'२०।। नारायण दो और विकल्प करते हैं—हाथ उठाकर बैठे बिना विचरण करते रहें तो दुःख का अंत भले ही हो, आनंद नहीं मिलेगा। अथवा आकाशरूप परिधान से अर्थात् सर्वसंन्यास से दुःखांत हो जाता है। इसमें 'त्यागेनैके' आदि श्रुति प्रसिद्ध प्रमाण है। क्योंकि जब तक मुखतः निषेध न करें तब तक एक हेतु का उल्लेख मान्य सामग्री का निवारक नहीं होता इसलिये संन्यास के उल्लेख से ज्ञानप्राप्ति पर्यन्त सामग्री तो समझी ही जायेगी। इन मंत्रों को पुराण में समझाते हैं :

हे यतियो ! समुचित आचार आदि नियमों में रहते हुए मैंने पहले (ब्रह्मचर्य काल में) इस देव से हमेशा यों प्रार्थना की तब इस अद्वैत के बारे में आत्मरूप से अनुभव प्राप्त किया।।८३१।। (प्रार्थना यों कीः) जिसने सृष्टि के आरंभ में जगत्कारण हिरण्यगर्भ को पैदा किया और उसे वेदार्थज्ञान सहित वेदराशि प्रदान की वह देव आत्माकारवृत्ति के साक्षिरूप से स्थित है और सिर्फ अपने स्वरूपभूत ज्ञान से ही अनुभूयमान है। मोक्ष की ही कामना रखकर मैं उसकी शरण लेता हूँ।।८३२।। वह निरवयव, क्रियाहीन, एकरूप ज्ञान वाला, आनन्द, प्रत्यक्, सब (स्वाभाविक व आगंतुक) दोषों से रहित और बिना कारण के अर्थात् अनादि है।।८३३।। जैसे सेतु (आधुनिक 'एनिकट' या बन्धा) जल को

१. 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' ।।१८।। निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवाऽनलम्।।'६.१९।।

अमृतत्वस्य मोक्षस्य सेतुवद् धारकं परम्। दग्धेन्धनो यथा वह्निः स्वरूपेणावतिष्ठते।।८३४
तथा स्वस्य स्वरूपेण वर्तमानं महेश्वरम्। मायामयसमुत्थानकार्यजातविवर्जितम्।।८३५
एवं सम्प्रार्थ्यमानः सन् मह्यं स भगवान् शिवः। मोक्षस्य कारणं ज्ञानं दत्तवान् करुणाकरः।।८३६
येन ज्ञानेन तं देवमात्मस्थं परमेश्वरम्। दृष्टवान् यमविज्ञाय मुक्तिर्नैव भवेदिह।।८३७
यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति।।८३८
आकाशवेष्टनं यद्वत् कर्तुमत्र न शक्यते। आत्माऽविज्ञानतस्तद्वद् मोक्षः प्राप्तुं न शक्यते।।८३९

उपनिषदर्थोपसंहारः

एष एव ततो देवः स्वयंज्योतिरितीरितः। आनन्दात्मैव यतयो ज्ञातव्योऽत्र मुमुक्षुणा।।८४०
अयमेव जगद्योनिर्मायावी मायया प्रभुः। भवतां च ममाप्येष स्थिरजङ्गमदेहिनाम्।।
आत्मा सर्वगतो नित्यः सर्वभेदविवर्जितः।।८४१

मर्यादां कुर्वन्तं—यत्स्वरूपमेव अमृतत्वमिति यावत्; तथा दग्धेन्धनाऽग्निवद् उपाधिविनिर्मुक्तरूपेण अवस्थितम्। इति द्वयोरर्थः।।८३४-५।।

[1]विंशार्थमवतारयति—एवमिति द्वाभ्याम्। एवं प्रार्थितो देवः मह्यं तादृशं ज्ञानं दत्तवान् येन अहं तं देवम् आत्मत्वेन दृष्टवान् अस्मि यद्विज्ञानं विना मोक्षो नैव भवति। इति द्वयोरर्थः।।८३६-७।। विंशार्थमाह—यदेति दशभिः। आकाशस्य चर्मवद् वेष्टनं यः कुर्यात् स देवमविज्ञाय अपि मुच्येत इत्यर्थः।।८३८।। अस्याशयं स्फुटयति—आकाशेति। स्फुटम्।।८३९।।

शिवपदप्रदर्शिताम् आत्मनः तुरीयताममिनयन् सर्वग्रन्थप्रमेयम् उपसंहरति—एष एवेति अष्टभिः। एष देवः स्वयंप्रकाशानन्दरूपो ज्ञेयो मुमुक्षुणा इति।।८४०।। यतः स एव मायया सर्वोपादानं सर्वेश्वरः सर्वात्मा चेत्याह—अयमेवेति। प्रभुः ईश्वरः भवतां मम अन्येषां चात्मा चेति।।८४१।। तस्य सर्वाधिष्ठानत्वं दर्शयति—असिमन्नेवेति

मर्यादा में रखता है ऐसे वही देव अमरतारूप मोक्ष का पारमार्थिक धारणकर्त्ता है क्योंकि मोक्ष उसीका स्वरूप है। ईंधन जला चुकने पर जैसे आग उपाधि-विनिर्मुक्त रूप से ही रह जाती है वैसे वह महेश्वर मायिक जन्मादि वाले कार्यवर्ग से रहित हो (माया-तत्कार्य का बाधनामक दहन करके) केवल अपने निरुपाधिक स्वरूप से वर्तमान रहता है। (वास्तव में सदा ही उपाधिनिरपेक्ष रहता है और व्यावहारिक दृष्टि से मोक्ष होने पर वैसा रहता है।)।।८३४-५।।

इस तरह मैंने प्रार्थना की तो करुणाकर शिव भगवान् ने मुझे वह ज्ञान प्रदान किया जो मोक्ष का कारण है। उसी ज्ञान से मैंने आत्मरूप से स्थित उसी परमेश्वर देव का दर्शन पाया जिसके अनुभव के बिना संसार में मोक्ष हो ही नहीं सकता।।८३६-७।। मानव जब आसमान को चमड़े की तरह लपेट लेंगे तब देव को जाने बिना दुःख का अन्त भी हो जायेगा ! अर्थात् दृष्टांत में जैसे आसमान लपेटा नहीं जा सकता वैसे आत्मा का विज्ञान हुए बिना मोक्ष पाया नहीं जा सकता।।८३८-९।। हे यतियो ! इसलिये स्वयंज्योति नामक आनंदरूप यह महादेव ही साधकावस्था में मोक्षेच्छुक द्वारा विज्ञेय है।।८४०।। यही मायावी रहते जगत्कारण है। आपका, मेरा, सभी चराचर प्राणियों का यह माया द्वारा ही शासक है और सबका अंतरात्मा भी है। यह सर्वव्यापक, सनातन और अद्वैत रूप है। (विष्णवादि आक्षेप्ता माया नाम से चिढ़कर अनर्गल शंकाएँ उठाने की कोशिश करते हैं जबकि ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति है जिसके बारे में हम

---

१. 'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्याऽन्तो भविष्यति।।'६.२०।।

अस्मिन्नेव च कालाद्या हेतवः परिकल्पिताः। यथा विशुद्ध आकाशे मेघा नानाविधा अपि।।८४२
अस्मिन् सर्वमिदं विश्वं माययाऽपि समन्वितम्। प्रतीयते यथाऽऽकाशे गन्धर्वनगरं वृथा।।८४३
एक एव यथा स्वप्ने शयानो बहुभेदवान्। एवमात्माऽत्र संसारे बहुभेदो मृषैव च।।८४४
करणोपरमाद् यद्वत् सुषुप्तौ नैव किञ्चन। द्वैतजालं विजानाति संसारेऽपि स्थितः पुमान्।।८४५
अविद्योपरमात् तद्वद् इदं दुःखमनेकधा। न पश्यति पुमान् मुक्तावानन्दात्मा स्वयम्प्रभः।।८४६
यथा जागरणज्ञानात् स्वप्नः सर्वः प्रलीयते। तथाऽऽनन्दात्मविज्ञानात् प्रपञ्चोऽपि विलीयते।।८४७

ज्ञानदुर्लभता

इदं कारणविज्ञानं दुर्लभं यतिपुङ्गवाः। मनुजैर्देवता यद्वद्बहुशः परितोषिताः।।
न वदन्ति प्रयच्छन्ति वरान् नानाविधानपि।।८४८

द्वाभ्याम्। स्पष्टम्।।८४२।। कालादिकारणानि वादिभिर्यथा तत्र कल्पितानि तथाऽव्याकृतादिकं विश्वमपि अध्यारोपप्रदर्शिकाभिः श्रुतिभिः तत्र कल्पितमित्याह—अस्मिन् सर्वमिति।।८४३।। तत्र जीवभेदकल्पनां दृष्टान्तेन स्फुटयति—एक एवेति।।८४४।। ज्ञानलभ्यमोक्षकाले तस्य शुद्धतां दृष्टान्तेनाह—करणोपरमादिति। करणानाम् इन्द्रियाणाम् उपरमरूपायां सुषुप्तौ संसारान्तर्गतायामपि विज्ञेयोपरममात्रेण अपि यथा द्वैतं न जानाति तथा अविद्योपरमोपलक्षिते मोक्षेऽपि। इति द्वयोः सम्बन्धः।।८४५-६।। तत्त्वज्ञानेन प्रपञ्चोपरमं दृष्टान्तेन विशदयति—यथेति।।८४७।।

अस्य ज्ञानस्य दौर्लभ्यं वर्णयन्नुत्तराऽध्ययजिज्ञासामुत्थापयति—इदमिति त्रिभिः। हे यतयः! इदं ज्ञानं दुर्लभम् इति यद्वद् यथा भवद्भिः बुध्यते तथा वच्मीति शेषः। देवता अपि मुनजैः तोषिताः सत्यः इदं ज्ञानं न वदन्ति किन्तु वरान् एव तस्मै मनुजाय उपन्यस्यन्ति। यः तु वरैः न तुष्यति तं प्रति एवं सत्यपाशबद्धा वदन्ति।

कुछ जानते नहीं—यह वे भी मानते हैं। विचारणीयांश 'माया' नाम नहीं वरन् यह है कि ईश्वर क्या अपनी शक्ति और उसके कार्यों से तथा हम जीवों से परिच्छिन्न है ? यदि है तो वह परमेश्वर नहीं, अतः वैष्णवादि भी उसे साफ-साफ परिच्छिन्न कहने से डरते हैं और यदि परिच्छिन्न नहीं तो माया-तत्कार्य-जीव वास्तविक हो नहीं सकते। इतना ही भाष्यकारीय उपदेश है।)।।८४१।। निर्मल आकाश में नाना प्रकार के बादलों की तरह इसी महादेव में काल आदि अध्यस्त हैं जो व्यवहार में कार्यों के प्रति हेतु माने जाते हैं। जैसे आकाश में व्यर्थ ही गंधर्वनगर प्रतीत हो जाता है ऐसे माया सहित सारा विश्व इसमें प्रतीत हो रहा है जबकि जैसी प्रतीति है वैसा नामरूपात्मक कोई अर्थ वस्तुतः है नहीं। (शास्त्र भी जो प्रपंचवर्णन करता है वह अध्यारोपात्मक ही है। भ्रान्त प्रतीति की ऐसी व्याख्या जिससे उसकी भ्रमरूपता व्यक्त हो जाये 'अध्यारोप' कहलाती है।)।।८४२-३।। अकेला व्यक्ति सोते हुए सपने में बहुतेरे भेदों वाला जैसे हो जाता है वैसे इस संसार में आत्मा मिथ्या ही बहुत भेदों वाला है।।८४४।। संसरणदशा में रहता हुआ भी जीव इन्द्रियों के व्यापारत्याग से सुषुप्ति में चला जाता है तो किसी द्वैतजाल का अनुभव नहीं करता। इसी प्रकार आनंदरूप स्वयंप्रकाश पुरुष अविद्या का बाध हो जाने पर अनेक प्रकार के इस दुःख का अनुभव नहीं करता।।८४५-६।। जाग्रदवस्था के ज्ञान से जैसे सारा सपना बाधित हो जाता है ऐसे आनंदात्मा के विज्ञान से प्रपंच भी विलीन हो जाता है। (स्वप्नबाधक को विशिष्ट ज्ञान नहीं कहा जा सकता। 'मैं जग गया' यह अनुभव होते ही स्वप्न का बाध होता है। यह अनुभव कभी छत देखकर तो कभी घड़ी देखकर हो जाता है ! जाग्रदवस्था और अपना विशकलित बोध होकर 'जगा हुआ मैं' बोध होता हो ऐसा सार्वजनिक अनुभव नहीं है अतः इसकी कल्पना निराधार है। इसी तरह आनंदात्मा का अनुभव है जिसके होते ही संसारानुभव बाधित हो जाता है। शास्त्र व विद्वदनुभव के अनुरोध से सोपाधिक भ्रम के सहारे मोक्ष होने पर दृश्यानुवृत्ति उपपाद्य है अतः पंचदशीकार ने स्पष्ट किया है कि अप्रतीति अनावश्यक है, मिथ्यात्वनिश्चय आवश्यक है।)।।८४७।।

सन्तोषं यो न तैर्गच्छेत् पुमान् अत्यन्तबुद्धिमान्। तस्मै वदन्ति कृच्छ्रेण सत्यपाशवशङ्गताः।।८४९

यमो यथा पुराऽवादीत् सन्तुष्टो नचिकेतसे। स्वयमेव भवन्तोऽपि जानन्त्येतद् यतीश्वराः!।८५०

भवतां तु मया यत्तु कथितं ब्रह्मवेदनम्। दुर्लभं तदिदं किन्तु मम बुद्धिरियं स्थिता।।८५१

अहमप्यात्मविज्ञानमर्थिभ्यश्चेद् वदामि न। अर्थिभ्यः कोऽपरो ब्रूयाद् मत्तो यो ब्रह्मविद् भवेत्।८५२

अहं सर्वोपकाराय प्रवृत्तोऽस्मि सदा यतः। ततः कथं निजं ज्ञानं वञ्चयामि यतीन् प्रति।।
एते मेऽतिथयस्तद्वद् ब्रह्मज्ञानाधिकारिणः।।८५३

इत्यादि बहुधा चित्ते चिन्तयित्वोक्तवानहम्। आत्मज्ञानमिदं गुह्यं भवद्भ्योऽत्र यतीश्वराः।।८५४

इति द्वयोः सम्बन्धः।।८४८-९।। तत्रोदाहरणभूतं यमनचिकेतसोर्वृत्तमित्याह—यम इति। यथा सत्यपाशबद्धो यमो वरैः असन्तुष्टाय नचिकेतसे ब्रह्मविद्याम् अवादीत् तथा वृत्तं भवन्तः तपःप्रभावात् स्वयं जानन्त्येव इति।।८५०।।

तर्हि भवता कथं समायामिदमुक्तम्? इति शङ्कां वारयति—भवतान्त्विति चतुर्भिः। दुर्लभम् अपि इदं ज्ञानं यद् मया भवतां पुरत उक्तं तत्र हेतुः इयम् एवंविधा मम बुद्धिः इत्यर्थः।।८५१।। 'एवंविधा' कीदृशी? इत्याकांक्षां पूरयति—अहमपीति द्वाभ्याम्। यद्यपि अहमपि एतेभ्यः अर्थिभ्यो न वक्ष्यामि तर्हि मत्तः परः को वक्ष्यति—तस्य च मत्तुल्यं ब्रह्मवित्त्वं सन्दिग्धमित्यर्थः।।८५२।। अहमिति। अहं दध्यङ्ङाथर्वणवत् सर्वोपकाराय प्रवृत्तः सन्नेतान् अधिकारिणः प्रति कथं स्वज्ञानं वञ्चयामि अपलपामीत्यर्थः।।८५३।। इत्यादीति। आदिपदेन 'इदं यः[1] परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति। भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।। न च तस्माद् मनुष्येषु कश्चिद् मे प्रियकृत्तमः। भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।।' (१८.६८-९) इति भगवदुक्तिप्रदर्शितस्य पात्रोपदेशे भगवत्प्रसादस्य ग्रहः। स्पष्टमन्यत्।।८५४।।

(अगला अध्याय सुनने की इच्छा शिष्य को हो इस तात्पर्य से पुराणकार आत्मविद्या की दुर्लभता श्वेताश्वतर ऋषि के मुख से प्रकट करते हैं:) हे श्रेष्ठ यतियो! कारण के बारे में आप लोगों ने जो ज्ञान प्राप्त किया वह विज्ञान प्राप्त होना बहुत कठिन है। मनुष्यों द्वारा बहुत तरह से संतुष्ट किये देवता भी इस रहस्य को प्रकट नहीं करते, नाना प्रकार के वर देकर भी मनुष्यों को टालते हैं। जो अत्यंत बुद्धिमान् पुरुषार्थी उन वरों से संतुष्ट न हो उसी को बड़ी मुश्किल से वे उपदेश देते हैं वह भी तब जब सत्य के पाश में बँध जायें। इसमें प्रसिद्ध दृष्टांत यमराज है। नचिकेता जब वर आदि से संतुष्ट नहीं हुआ तब उसकी उत्तमाधिकारिता से संतुष्ट होने पर ही यम ने उसे आत्मोपदेश प्रदान किया। यह प्राचीन वाकिया आप लोग खुद भी जानते ही हैं।।८४८-५०।।

आप लोगों को जो ब्रह्मज्ञान मैंने सुनाया वह यद्यपि दुर्लभ है तथापि उसे सुनाने के पीछे मेरी यह सोच रही कि विद्यार्थियों को यदि मैं भी ब्रह्मज्ञान नहीं सुनाऊँगा तो मुझसे अन्य और कौन ब्रह्मज्ञ होगा जो इसका उपदेश देगा!।।८५१-२।। (अर्थात् अन्य विद्वान् भी उपदेश से विरत रहेंगे व मेरा उदाहरण मानेंगे जिससे ज्ञानपरंपरा की हानि होगी।

किन्तु अधिकारानुरूप ही उपदेश देना चाहिये यह स्पष्ट करते हैं—) क्योंकि मैं हमेशा सबके उपकार के लिये कोशिश करता रहता हूँ इसलिये यतियों से मैं अपना ज्ञान कैसे छिपा सकता हूँ! ये मेरे अतिथि हैं और ब्रह्मज्ञान पाने की योग्यता वाले भी हैं।।८५३।।—इस प्रकार अपने मन में बहुत तरह सोच-विचारकर आपको यह गुह्य आत्मज्ञान मैंने सुनाया है।।८५४।।

---

१. 'य इमम्' इति प्रसिद्धगीतापाठः।

ऐतिह्यसमाप्तिः

एतावदुक्त्वा भगवान् स श्वेताश्वतरो मुनिः। वाक्यादुपरतिं प्राप्त आस्ते पूर्ववदीश्वरः।।८५५

तपःप्रभावतस्तद्वद् ईश्वरस्य प्रसादतः। श्वेताश्वतरनामाऽयं वेदवेदाङ्गपारगः।।८५६

आत्मविज्ञानसम्पन्नो ह्यतिथिभ्यो निजाश्रमे। अत्याश्रमिभ्यो न्यासिभ्य उक्तवानात्मबोधनम्।।८५७

लोके स्यात् परमो हंस आश्रमी ह्यधिको हि सः। आश्रमिभ्यश्च सर्वेभ्यः तस्मादत्याश्रमी त्वयम्।।८५८

एतदाश्रममापन्ना यतयोऽधीयिरे ततः। इदं पवित्रं ब्रह्मात्मविज्ञानं मोक्षकारणम्।।
मोक्षार्थिभिः सदा सद्भिर्मुनिसङ्घैर्निषेवितम्।।८५९

एवमुक्त्वा श्वेताश्वतरो मौनं कृतवानित्याह—एतावदिति।।८५५।। 'एकविंशस्यार्थमाह—तप इति चतुर्भिः। तपःप्रभावेण देवानुग्रहेण च आत्मविज्ञानं लब्ध्वा निजाश्रमागतेभ्यः अत्याश्रमिपदोक्तेभ्यः संन्यासिभ्य इदं ज्ञानम् उक्तवान्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।८५६-७।। अत्याश्रमिपदस्य संन्यासिषु समन्वयं दर्शयति—लोक इति। परमहंसो ह्याश्रमी भवति इतराश्रमिभ्यः अतिशयितश्च भवति, 'न्यास एव अत्यरेचयद्' (महाना. २१.२) इति श्रुतेः। अतः संन्यासी अत्याश्रमी इत्युक्तः।।८५८।। एतदाश्रममिति। एवं संन्यासाश्रमं प्राप्ता ऋषयः ततः श्वेताश्वतराद् इदं ज्ञानं पवित्रत्वादिशालि अधीयिरे अध्ययनेने लब्धवन्त इत्यर्थः।।८५९।।

इतना (श्लो. २२ से ८५४ तक) कहकर वे भगवान् श्वेताश्वतर मुनि और कुछ कहने से उपरत होकर यतियों के प्रश्न से पूर्व जैसे ईश्वरभाव में थे पुनः वैसे हो गये।।८५५।।

इक्कीसवें मन्त्र में बताया है 'स्वधर्मानुष्ठान और चांद्रायणादि व्रतों के प्रभाव से, चेतोविशुद्धि व आत्मानुग्रह से एवं वेदानुवचनादि से, सांगवेदवेत्ता श्वेताश्वतर साधनचतुष्टय पाकर आत्मसाक्षात्कार वाले हो गये। उन्होंने दयापूर्वक संन्यासियों को संसार सागर तरने का उत्कृष्ट एवं अविद्यादाहक होने से पवित्र उपाय बताया जो स्वप्रकाश आत्मा को भली भाँति निरावृत करता है और ऋषिसमूह द्वारा सेवित है।'२१।। सदा अत्यधिक अंतर्मुख इंद्रियों वाले होने से वे ऋषि श्वेताश्वतर कहलाये यह दीपिका में बताया है जबकि हमारे गुरुजी सफेद खच्चरों पर सामान ढोने के कारण श्वेताश्वतर नाम से प्रसिद्ध हुए यह संभावना करते हैं। उपनिषद्योगी तप से तैत्तिरीयप्रसिद्ध विचार तथा हमारे गुरुजी हित-मित अशन समझते हैं। अत्याश्रम पद-अर्थ पर भी गुरु जी ने विचार किया है। 'वेदों के अवसानों में उत्कृष्ट गोपनीय और अर्थवाद द्वारा प्रकृष्ट उपादेय रूप से बताया गया यह विज्ञान उसे नहीं बताना चाहिये जिसका मन अच्छी तरह शांत न हो गया हो और जो पुत्र या शिष्य न हो।'२२।। 'पुरा कल्प' पर हमारे गुरु जी ने काफी अनुसंधान किया और 'दातव्य' से शक्तिपात अभिप्रेत बताया है। इन मंत्रों का पुराण में विस्तार करते हैं :

वेद-वेदांगों में पारंगत इन श्वेताश्वतर नामक मुनि ने तपस्या के प्रभाव से और ईश्वर की कृपा से आत्मविज्ञान संपन्न (प्राप्त) किया था। अपने आश्रम पर आये अत्याश्रमी संन्यासी अतिथियों को उन्होंने आत्मबोध का उपदेश दिया था।।८५६-७।। परमहंस संन्यास आश्रम वाला अन्य सभी आश्रमों वालों से श्रेष्ठ होता है यह लोक में प्रसिद्ध ही है अतः इसीको अत्याश्रमी कहते हैं।।८५८।। इस आश्रम में दीक्षित यतियों ने श्वेताश्वतर मुनि से मोक्षहेतु, पवित्र ब्रह्म-आत्माद्वैतविद्या का अध्ययन किया था। मुनिसमूह व मुमुक्षु सज्जन हमेशा इसी विद्या में परायण रहते हैं।।८५९।। उपनिषदों में इस विद्या को अत्यंत गोपनीय ढंग से बताया है। यहाँ उसे 'पुराकल्प' रूप ग्रंथ से व्यक्त किया है। प्राचीनों के जन्मादि जहाँ नाना प्रकार से कहे जाते हैं वह ग्रंथभाग 'पुराकल्प' कहलाता है। ऐसे ग्रंथभाग द्वारा (श्वेताश्वतरोपनिषद्

---

१. 'तपःप्रभावाद् देवप्रसादाच्च ब्रह्मविच्छ्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्। अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्।'६.२१।।

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पप्रणोदितम्। पूर्वेषां कथ्यते यत्र सृष्ट्यादिकमनेकधा।
स पुरा कल्प इत्युक्तस्तेनैतत् परिकीर्तितम्।।८६०

अधिकारी

शान्तिदान्त्यादिहीनाय विषयासक्तचेतसे। अर्थिनेऽपि न दातव्यं गुरुणाऽपि कृपालुना।।
अपुत्रायाप्यशिष्याय वक्तव्यं नाऽधिकारिणे।।८६१

उक्ते सत्यपि तत्सारो वक्तव्यः सर्वथा न हि। गुरुभक्त्या विहीनाय सर्वदाऽप्यधिकारिणे।।८६२

देववद् यो गुरुं पश्येदप्रमत्तोऽधिकारभाक्। स एव ब्रह्मविज्ञानं फलवत् प्राप्नुयाद् नरः।।८६३

गुरुं यो मानवैरन्यैः समं पश्यति मोहतः। न तस्याऽस्मिन् भवेल्लोके सुखं नैव परत्र वा।।८६४

कर्मणा मनसा वाचा गुरुं यो नावमन्यते। स याति भरकान् घोरान् महारौरवसंज्ञितान्।।८६५

एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नैव मन्यते। स मूढो नरकं याति यावदाभूतसम्प्लवम्।।८६६

'द्वाविंशस्यार्थम् आह—वेदान्त इति। इदं ज्ञानं वेदान्तेषु गुह्यं गोप्यतयोक्तम्। अत्र तु पुराकल्परूपेण ग्रन्थेनोक्तम्। यत्र वेदभागे पूर्वेषां प्राचीनानां सृष्ट्यादिरूपो व्यवहार उच्यते स पुराकल्प इत्युच्यते, यथाऽत्रैव ब्रह्मवादिनां विचाराय समागम उक्त इति।।८६०।। शान्तीति। इदं ज्ञानं कृपालुनाऽपि शान्त्यादिगुणहीनाय अर्थिनेऽपि न देयम्। शान्त्यादिलक्षणाधिकारसम्पन्नायापि पुत्रशिष्यभिन्नाय न देयमित्यर्थः।।८६१।।

अन्त्यमन्त्रतात्पर्यार्थं प्रपंचयति—उक्त इत्यादिना। गुरुभक्त्या विहीनाय अधिकारिणे तु यथाकथंचिद् उक्त्वाऽपि सारं तात्पर्यार्थं न वदेदित्यर्थः।।८६२।। कीदृशाय तर्हि वक्तव्यम् ? इत्यत आह—देववदिति। अधिकारं साधनचतुष्टयसम्पन्नत्वं भजन् देववद् गुरुसेवायाम् अप्रमत्तः च यो भवेत् तस्मै वदेदित्यर्थः।।८६३।।

गुरुवैमुख्येऽनर्थप्रदर्शकानि पुराणागमादिवाक्यानि अर्थतः पाठतश्च अनुक्रामति—गुरुमित्यादिना। मोहः प्रमादः।।८६४।। कर्मणेति। यो ना मनुष्यो गुरुमवमन्यते स रुरुभिः वृश्चिकसहस्रसमविषैः जन्तुभिः व्याप्ते नरके पततीत्यर्थः।।८६५।। एकाक्षरेति। एकाक्षरप्रदातारम् अपीति शेषः। भूतसंप्लवः प्रलयः तत्पर्यन्तम्।।८६६।।

द्वारा) यह विद्या सांगोपांग बतायी गयी है। (पूर्वमीमांसा ६.७.२६ में बहुकर्तृक विधि को पुराकल्प बताया है अर्थात् 'प्राचीन काल में बहुतेरे ऐसा कर गये हैं' यों कहा जाये तो पुराकल्प कहा जाता है। प्रकृत में बताया था कि जगत्कारण का विचारपूर्वक निर्धारण करने के लिये बहुत-से ब्रह्मवादी एकत्र हुए थे व जिज्ञासादिपूर्वक उन्होंने यत्न किया। इससे सभी मुमुक्षुओं को ऐसा करने का निर्देश है यह भाव है।)।।८६०।।

गुरु चाहे जितना कृपालु हो और लेने वाला चाहे जितनी सोत्कण्ठ प्रार्थना करे पर शम-दम से रहित व्यक्ति को इसका उपदेश नहीं दिया जाना चाहिये। शमादियुक्त भी पुत्र या शिष्य न हो तो उपदेश के अयोग्य होता है।।८६१।। अन्य अधिकारिगुण होने पर भी जो गुरुभक्ति से रहित है उसे इस विद्या का थोड़ा-बहुत उपदेश भले ही देवे लेकिन तात्पर्यविषयीभूत अर्थ पूरी तरह नहीं बताना चाहिये।।८६२।। जो नर अधिकारी अप्रमादी हो, गुरु को देवता की तरह समझे वही सफल ब्रह्मविद्या पा सकता है।।८६३।। जो प्रमाद से गुरु को अन्य मानवों जैसा समझता है उसे इस लोक या परलोक में सुख नहीं मिलता।।८६४।। जो नर कर्म, मन या वाणी से गुरु का अपमान करता है वह महारौरव नामक घोर नरक को जाता है। (रुरु अर्थात् बिच्छू से हज़ार गुणा जहरीले जन्तु, उनसे व्याप्त नरक रौरव है।)।।८६५।। एक अक्षर का भी शिक्षणरूप प्रदान करने वाले गुरु को जो संमानित नहीं करता वह मूर्ख प्रलयपर्यन्त नरक में पड़ा

१. 'वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पप्रचोदितम्। नाऽप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वै।'६.२२।।

कृतघ्नानां हि ये लोका ये लोका ब्रह्मघातिनाम्। मृत्वा तानभिसंयाति गुरुद्रोहपरो नरः।।८६७
स महापातकी ज्ञेयस्तथोपपातकीत्यपि। गत्वा कल्पसहस्रान्ते विष्ठायां जायते कृमिः।।८६८
अत्र सर्वासु विद्यासु कारणं गुरुरीरितः। यथा शिवस्तथैवायं पूजनीयः प्रयत्नतः।।८६९
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे शिवो न हि। शिवादप्यधिकं तस्माद् गुरुं यत्नेन पूजयेत्।।८७०
अहंमानादिदोषेण स्वगुरुं योऽवमन्यते। प्रायश्चित्तं न तस्याऽस्ति लोकेऽस्मिन् पापकारिणः।।८७१
ब्रह्महत्यादिपापानां दृष्टा शास्त्रेण निष्कृतिः। गुरुद्रोहस्य नैव स्यात् क्वापि शास्त्रे प्रदृश्यते।।८७२
ब्रह्मघ्नादधिको ज्ञेयः कृतघ्नो मनुजो भुवि। गुरुद्रोही ततोऽपि स्यादधिकोऽयं नराधमः।।८७३
गुरुर्माता पिता वाऽपि गुरुर्दैवमुदाहृतम्। गुरुर्बन्धुः सखा तद्वद् न गुरोरपरः सुहृत्।।८७४
गन्तव्यो गुरुरेवाऽत्र स्वात्मज्ञानेन देहिना। ततो गुरोरवज्ञानाद् आत्मनः कुरुते त्विमाम्।।८७५
आत्मन्यस्मिन्नवज्ञाते विश्वावज्ञा कृता भवेत्। अवज्ञा वध उद्दिष्टः शस्त्रशून्योऽतिदारुणः।।८७६

कृतघ्नानामिति। स्पष्टम्।।८६७।। स महेति। स गुरुद्रोही महापातकानि ब्रह्महत्यासुरापानादीनि, उपपातकानि[1] गोवधादीनि स्मृतिप्रसिद्धानि। गत्वा नरकमिति शेषः।।८६८।। अत्रेति। अत्र शास्त्रे।।८६९।। शिव इति। रुष्टे रुष्टं गते।।८७०।। अहमिति। स्पष्टम्।।८७१।। ब्रह्मेति। निष्कृतिः प्रायश्चित्तम्, गुरुद्रोहस्य तु सा न सम्भवति, शास्त्रे न दृष्टा चेत्यर्थः।।८७२।। ब्रह्मघ्नादिति। कृतघ्नवृत्तं भारते गौतमोपाख्याने द्रष्टव्यम्। ततोऽप्यधिको गुरुध्रुक्।।८७३।। अस्य कृतघ्नादाधिक्यं स्पष्टयितुं गुरोः सर्वोपकारिरूपतामाह—गुरुरिति। सखा मित्रं सुहृद् उपकारकः।।८७४।।

गुरुद्रोहस्य सर्वपापाधिक्ये उपपत्तिमाह—गन्तव्य इति। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इति श्रुतेः देहिना ज्ञानेन लभ्यं यद् ब्रह्म तद्रूपो गुरुर्भवति। तदवज्ञायां ब्रह्मणोऽभिन्नस्य आत्मनः अवज्ञा भवति। आत्मनोऽवज्ञायान्तु आत्ममयस्य सकलप्रपञ्चस्य अवज्ञा वधरूपा भवति। इति द्वयोरर्थः।।८७५-६।। अवज्ञारूपवधस्य शस्त्र-

रहता है।।८६६।। कृतघ्न और ब्रह्महत्यारे जिन लोकों में जाते हैं, गुरु के प्रति द्रोह में तत्पर नर भी उन्हीं नरक लोकों में जाते हैं।।८६७।। गुरुद्रोही को महापापी व उपपातक करने वाला समझना चाहिये। वह हज़ार कल्पों तक नरक में रहकर टट्टी का कीड़ा बनता है।।८६८।। शास्त्र में माना है कि सभी विद्याओं में गुरु ही कारण है। शिव की तरह गुरु यत्नपूर्वक पूजायोग्य है।।८६९।। शिव रूठ जाये तो गुरु रक्षा करते हैं, गुरु रूठ जाये तो शिव भी रक्षा नहीं करते। अतः शिव से भी ज़्यादा यत्नपूर्वक गुरु की पूजा करनी चाहिये।।८७०।। अहंकारादि दोष से जो गुरु का उचित संमान नहीं करता उस पापकारी के लिये इस लोक में कोई प्रायश्चित्त नहीं।।८७१।। शास्त्र में ब्रह्महत्यादि महापापों का भी प्रायश्चित्त बताया है पर गुरुद्रोह का कोई प्रायश्चित्त न संभव है, न शास्त्र में कहीं सुना गया है।।८७२।। संसार में ब्रह्महत्यारे से ज्यादा निकृष्ट कृतघ्न मनुष्य होता है। गुरुद्रोही उससे भी अधिक अधम नर होता है।।८७३।। गुरु ही माता, पिता, देव, बंधु, मित्र, उपकारक है। गुरु से अन्य कोई ऐसा नहीं जो इकट्ठे ही यह सब हो।।८७४।।

स्वात्मज्ञान द्वारा देहधारी जिस ब्रह्म को पाता है वह गुरु ही है, क्योंकि ब्रह्मनिष्ठ गुरु ब्रह्मरूप ही होता है। इसलिये गुरु की अवज्ञा से व्यक्ति ब्रह्म की ही अवज्ञा करता है। इस आत्मा की अवज्ञा होने पर समूचे संसार की अवज्ञा हो जाती है। अवज्ञा को शस्त्ररहित किन्तु अतिदुःखद वध बताया गया है। शस्त्र से हत पुरुष क्षण भर दुःख पाता

१. मनुस्मृतौ ११.५९-६६ वर्णितानि।

हतः शस्त्रात् क्षणं दुःखं प्रप्नुयाद् वा न वा पुमान्। अवज्ञया हतो दुःखं यावज्जीवं स गच्छति।।
विश्वदुःखकृतः केन शुभं पुंसो भविष्यति।।८७७
तस्मात् सर्वात्मना कार्यं कर्मणा मनसा गिरा। गुरोः प्रियतमं सर्वं स्वात्मना क्षेममिच्छता।।८७८
सावधानो यथा जन्तुर्देवपूजापरो भवेत्। गुरुपूजारतस्तद्वत् सावधानः सदा पुमान्।।८७६
उक्तमस्य प्रकुर्वीत शुभं वाऽशुभमेव वा। मनसा हर्षयुक्तेन निजदेहमरक्षयन्।।८८०
कर्णाभ्यां शृणुयात् तद्वत् तस्य कीर्तिं च सर्वदा। दोषवक्तुर्यथाशक्ति कुर्यात् परिभवं सदा।।८८१
अशक्ये सति कुर्यात् स एवं बुद्धिमतां वरः। यत्रात्मनो गुरोर्निन्दा क्रियते पापमोहितैः।
तत्र कर्णौ पिधायैव स्थेयं शक्या गतिर्न चेत्।।८८२
किं बहूक्तेन संक्षेपाद् गुरुभक्त्या वदाम्यहम्। करणीयमिदं स्वात्मसुखकामेन सर्वदा।।८८३
अभीष्टदेववद् नित्यं गुरुभक्तिमहर्निशम्। कुर्वतो जायते चायं पुरुषार्थोऽधिकारिणः।।८८४
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।८८५
एते वेदोदिताः सर्वे पुरुषार्थाश्चतुर्विधाः। गुरुभक्तस्य हस्तस्था भवन्त्यत्र न संशयः।।८८६

धादुत्कर्षमाह—हत इति। शस्त्राद् हेतोः यो हतः तस्य क्षणं दुःखप्राप्तिः सन्दिग्धा। अवज्ञया तु स्मृतिद्वारा मरणान्तं दुःखं जन्यते। एवं विश्वं दुःखयतः शुभं दुर्लभमित्यर्थः।।८७७।। फलितमाह—तस्मादित्यादिना। स्पष्टं द्वयम्।।८७८-६।। उक्तमिति। अस्य गुरोः वचनं स्वशरीररक्षाचिन्तां विहाय कर्तव्यमित्यर्थः।।८८०।। कर्णाभ्यामिति। तस्य गुरोः कीर्तिं शृणुयात्, तन्निन्दकस्य तु परिभवम् अपमानं यथाशक्ति कुर्याद् इति।।८८१।। अशक्य इति। निन्दकस्य परिभवेऽशक्ये तु स्वयं ततो गन्तव्यम्, तदशक्तौ कर्णौ पिधाय निरुद्ध्य स्थेयमित्यर्थः।।८८२।।

किं बहूक्तेनेति। बहुनोक्तेन किम् ! संक्षेपाद् ब्रवीमि—इदं गुरुभजनं गुरुभक्त्या एव सुखकामेन कार्यमित्यर्थः।।८८३।। मोक्षरूपः पुरुषार्थस्त्वनेनैव लभ्य इत्याह—अभीष्टेति। अयं मोक्षरूपः।।८८४।।

उक्तार्थे मूलभूतं प्रमाणमेष[1] मन्त्र इत्याह—यस्येति। एते श्रुत्युक्ता अर्थाः पदार्थाः पुरुषार्था वा।।८८५।। अर्थपदस्य पुरुषार्थपरत्वमादाय मन्त्रार्थमाह—एत इति। हस्तस्था वश्याः।।८८६।। गुरुभक्तिप्रवणत्व उपपत्तिमप्याह—

है और कदाचित् क्षण भर भी दुःख नहीं पाता ! जबकि अवज्ञा से हत व्यक्ति जीवन भर मरणतुल्य दुःख पाता रहता है। विश्व की अवज्ञा से विश्व को सदा दुःख देने वाले पुरुष का शुभ क्योंकर हो सकता है !।।८७५-७।। अतः जो अपना कल्याण चाहे उसके लिये उचित है कि कर्म, मन, वाणी से, हर तरह वह सब काम करे जो गुरु को सर्वाधिक प्रिय हो।।८७८।। जैसे जंतु देवपूजा में सावधान होता है ऐसे गुरुपूजा में हमेशा सावधान रहना चाहिये।।८७६।। गुरु ने जो विधान किया वह शुभ लगे या अशुभ, शिष्य वह कार्य प्रसन्न मन से करे, अपनी देहरक्षा की भी चिंता न करे।।८८०।। कानों से हमेशा गुरु की कीर्ति ही सुने। जो गुरु के दोष बोले उसका शिष्य को हमेशा भरसक अपमान करना चाहिये।।८८१।।

यदि शिष्य उस गुरुनिंदक का अपमान न कर सके तो उसकी सन्निधि से चला जाये। यदि वह भी न कर सके तो जहाँ पापमोहितों द्वारा गुरु की निंदा की जा रही हो वहाँ दोनों कान बंद करके रहे।।८८२।। बहुत कहने से क्या लाभ ! जो स्वात्मरूप सुख चाहे, मोक्ष चाहे उसे गुरु के प्रति प्रेम से गुरु की सेवा करनी चाहिये—यही संक्षेप में मेरा तात्पर्य है।।८८३।। इष्टदेव की तरह हमेशा दिन-रात गुरुभक्ति करने वाले अधिकारी को ही मोक्षरूप परम पुरुषार्थ प्राप्त होता है।।८८४।।

---

१. 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।'६.२३।। इति षष्ठाध्यायः। सम्पूर्णोपनिषत्।

ब्रह्मचर्यादिके यद्वद् अप्रमत्तोऽत्र साधने। वर्तते गुरुभक्तौ च वर्तितव्यं तथैव हि।।८८७

तद्भ्रंशेऽपि च सन्तुष्टे गुरौ नास्ति भयं ततः। प्रायश्चित्ताद्युपायेन यत एष विशोधयेत्।।८८८

गुरुभक्तेस्तु विद्वेषे गुरौ विमुखतां गते। प्रायश्चित्तादिकं नैव तत्र किञ्चन विद्यते।।८८९

गुरौ विमुखतां याते विमुखाः सर्वदेवताः। भवन्ति क्रियमाणं च पुण्यं पापं हि जायते।।८९०

तस्मात् सर्वात्मना सर्वैः चतुर्विधफलार्थिभिः। देववद् नित्यमेवाऽयमर्चनीयोऽप्रमादिभिः।।८९१

शान्त्यादिगुणसम्पन्नैः किमन्याश्रमवासिभिः। तत एव भवन्तोऽपि गुरून् यान्तु मुनीश्वराः।।८९२

इत्यभिप्रायवान् मौनी स श्वेताश्वतरोऽभवत्। ज्ञात्वा ते यतयस्तस्य चित्तमुक्तं च धीमतः।
अभिनन्द्य यथान्यायं सर्वे स्वान् स्वान् गुरून् ययुः।।८९३

इति ते कथितं ज्ञानं यत् श्वेताश्वतरोऽवदत्। कारणानां विचारेण मायाशक्तेश्च दर्शनात्।।८९४

ब्रह्मेति। यथा ब्रह्मचर्येश्वरप्रणिधानादिषु सावधानो वर्तते तथाऽधिकारिणा गुरुभक्तौ अपि सावधानेन भवितव्यमित्यर्थः।।८८७।। तद्भ्रंश इति। तेभ्यो ब्रह्मचर्यादिभ्यो भ्रंशे भ्रंशेऽपि सति प्रसन्नो गुरुः प्रायश्चित्ताद्यैः विशोधयिष्यति।।८८८।। गुरुभक्तेस्त्विति। यदा पुमान् गुरुभक्तेः विद्वेषवान् भवति तदा न किञ्चित् त्राणं यतो देवता अपि विमुखी भवन्ति, क्रियमाणं पुण्यम् अपि च पापात्मना परिणमते। इति द्वयोरर्थः।।८८९-९०।। तस्मादिति। चतुर्विधं धर्मार्थकाममोक्षरूपं फलमिच्छद्भिः तथा शान्त्यादिसम्पन्नैः ज्ञाततत्त्वैः जीवन्मुक्तैः परमहंसैरपि गुरुरर्चनीयः। 'यावदायुस्त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः'(तत्त्वोपदेशः श्लो. ८६) इत्युक्तेः। अन्याश्रमवासिभिः स पूज्य इति किमु वाच्यमिति। ततो भवद्भिः ज्ञाततत्त्वैरपि गुरवः पूजार्थं गन्तव्याः। इति द्वयोरर्थः।।८९१-२।।

इत्यभिप्रायवानिति। उक्ताशयेन श्वेताश्वतरो मौनी जातः। तस्य चित्तम् अभिप्रायं ज्ञात्वा तदुपदिष्टम् अभिनन्द्य प्रशस्य सर्वे मुनयः स्वस्वगुरुदेशान् गता इति।।८९३।। उपसंहरति—इति त इति द्वाभ्याम्। कारणविचारपूर्वकं

यही बात श्वेताश्वतर का समाप्तिमंत्र कहता है—जैसी निरतिशय भक्ति देव में होती है वैसी जिसकी गुरु के प्रति हो उसी अधिकारी महात्मा को श्रुत्युक्त पदार्थ प्रकाशते हैं।।८८५।। (इस श्लोक में मंत्र ही पढ़ दिया है। हमारे गुरु जी 'परा भक्ति' से निदिध्यासन और विकल्पतः गीतोक्त (१८.६८) परा भक्ति का ग्रहण करते हैं एवं प्रकाशने से प्रमाणादिसंशयों की निवृत्ति समझते हैं।) वेदों में बताये सभी तरह के ये चारों पुरुषार्थ गुरुभक्त को अतिसुलभ हैं इसमें संशय नहीं।।८८६।। जैसे ब्रह्मचर्यादि साधनों में प्रमादरहित होना ज़रूरी है वैसे गुरुसेवा में भी सावधान रहना चाहिये।।८८७।। गुरु संतुष्ट रहे तो ब्रह्मचर्यादि से भ्रंश होने पर भी डर नहीं क्योंकि प्रायश्चित्त आदि उपाय से वे भ्रंशदोष सुधार सकते हैं।।८८८।। गुरुसेवा से विद्वेष हो जाने पर जब गुरु विमुख हो जायें तब उस दोष से छूटने का कोई प्रायश्चित्त भी नहीं है।।८८९।। गुरु मुँह मोड़ ले तो सभी देवता भी मुँह मोड़ लेते हैं और किया हुआ पुण्य भी पाप ही हो जाता है।।८९०।।

अतः धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चाहने वाले सभी को बिना असावधान हुए हमेशा हर तरह से गुरु की अर्चना वैसे ही करनी चाहिये जैसे देव की करते हैं।।८९१।। शमादि गुणों वाले यतियों को भी गुरु सेवा ज़रूर करनी चाहिये तो अन्य आश्रम वालों के लिये यह कर्तव्य है इसमें कहना क्या ! इसलिये आप मुनीश्वर लोग भी गुरुओं की शरण जाइये।।८९२।।

इस अभिप्राय से श्वेताश्वतर चुप हो गये थे। उन यतियों ने उनका भाव समझ लिया। उन विद्वान् के उपदेश की प्रशंसा कर उचित ढंग से सब अपने-अपने गुरुओं के पास चले गये।।८९३।।

मुनीनां ब्रह्मविज्ञानसम्पन्नानां महात्मनाम्। इतः परं किमन्यत् त्वं श्रोतुमर्हसि सुव्रत।।८९५

।। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादशिष्येण
श्रीशङ्करानन्दभगवता विरचिते उपनिषद्रत्न आत्मपुराणे
श्वेताश्वतरोपनिषत्सारार्थप्रकाशे श्वेताश्वतरसंन्यासिसंवादो
नाम अष्टमोऽध्यायः समाप्तः।।८।।

मायाशक्तिदर्शने निष्पन्नं मुनीनां प्राचां ज्ञानं यत् श्वेताश्वतर उक्तवांस्तत् ते कथितम्, अन्यत् च किं श्रोतुम् इच्छसीति।।८९४-५।।

यमष्टाङ्गेन योगेन प्रणवाष्टमदर्शितम्। भजन्ते यमिनोऽष्टाभिर्नामभिः सोऽस्तु शङ्करः।।

अस्यार्थः—प्रणवस्याऽवयवेषु अकारोकारमकारार्धमात्रानादबिन्दुशान्तिशान्त्यतीताख्येषु विश्वादितुरीयान्तानाम् अध्यात्मानां चतुर्णाम् ओतानुज्ञात्रऽनुज्ञाविकल्पाख्यानाम् अधिदैवसाक्षिरूपाणां चतुर्णां च क्रमेण वाचकेषु मध्येऽष्टमेन दर्शितमविकल्परूपं यं यतयो योगेन भजन्ते सोऽस्माकं तदशक्तानां भवशर्वाद्यष्टनामभिरेव शन्तनोतु इति।

।। इति श्रीदत्तकुलतिलककृष्णचन्द्रात्मजदिलारामसूरितनुज-रामकृष्णस्य
श्रीविश्वेश्वराश्रमपूज्यपादानुगृहीतस्य कृतौ आत्मपुराणटीकायां
सत्प्रसवाख्यायाम् अष्टमोऽध्यायः समाप्तः।।८।।

जगत् के कारणरूप से प्रसिद्ध वस्तुओं का विचार कर मायाशक्ति के दर्शन से निष्पन्न जो प्राचीन ब्रह्मवित् महात्मा मुनियों का ज्ञान श्वेताश्वतर ऋषि ने ब्रह्मवादियों को सुनाया वह मैंने (ग्रंथवक्ता गुरु ने) तुझे (ग्रंथश्रोता शिष्य को) सुना दिया। हे सुव्रत ! इसके बाद तुम और क्या सुनना चाहते हो।।८९४-५।।

।। आठवाँ अध्याय पूरा हुआ।।

ॐ

काठकोपनिषत्सारार्थप्रकाशे

यमनचिकेतःसंवादः

नवमोऽध्यायः

एवं माया पृथक् दृष्टा यैरमीषां विचारणाम्। श्रुत्वा शिष्यो गुरुं भूयः पर्यपृच्छदिदं वचः।।१

शिष्यप्रश्नः

गुरो ! त्वया ममानेकमुनिदृष्टं स्ववेदनम्। विचित्राख्यानसंयुक्तम् उक्तं तन्मोक्षसाधनम्।।२

ऐतरेयो मुनिस्तद्वद् मुनिः कौषीतकिस्तथा। आदित्यो भगवांस्तद्वद् यच्छ्वेताश्वतरो मुनिः।।

वेद तत्सकलं त्वत्तः श्रुतमाख्यानसंयुतम्।।३

नवमे नवमेघाभः श्रीवत्साङ्कितमध्यमः। पीताम्बरधरो देवो वृणीतां कठगामिमाम्।।

अस्यार्थः—'कठः स्वरे ऋचां भेदे' इति विश्वाद् माधवः कठं स्वरं वंशीरवं प्रति गतां गोपीं यथा नवमे नवशोभावति वने वृतवांस्तथेमां मन्मतिं नवमे नवद्वारशोभिते देहे तद्वंशीरवनिभां कठश्रुतिं गतां वृणीताम् अङ्गी कुर्याद् इत्यर्थः। शिवपक्षे-अनवः पुराणः शारदो घनः तदाभः श्रीवत्साङ्कितस्य विष्णोर्मध्ये मा कान्तिर्यस्य स तथा। एवं हि पुराणे उपाख्यायते—सात्त्विकत्वाच्छुक्लवर्णो विष्णुः तमसा कृष्णवर्णस्य शम्भोर्ध्यानात् श्यामतां गतः शम्भुश्च तद्ध्यानात् शुक्लतामिति। वरधरो वरप्रद इमां मतिं पीतां कार्तिके कुरण्टकपुष्पवद् अर्पितामङ्गी करोत्विति। 'पीताकुरण्टको झिण्टी' त्यमरः। कठं तदीयस्वरनिभाम् इमां श्रुतिं गतामित्यर्थः। ग्रन्थप्रमेयनिर्गुणपक्षे तु—नवमेघवद् आवरकेऽज्ञानेऽपि आभा चिदाभासलक्षणा यस्य; श्रीवत्सेन जीवेन अङ्कितं मध्यमं यस्य, यन्मध्ये जीवः कल्पित इति यावत्। पीतं स्वस्मिन् विलापितम् अम्बरं धरा च येन स तथा। देवो द्योतनात्मकः परमात्मा कठगामिनीं कठाध्यायिनां मां प्रमाख्यां वृत्तिम् आविष्कारेण भजेत नवमाध्याय इत्यर्थः। जीवस्य श्रीवत्सरूपत्वं तु 'कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योतिर्बिभर्त्यजः। तत्प्रभां व्यापिनीं साक्षाच्छ्रीवत्सम् उरसा विभुः' इति प्रसिद्धं श्रीमद्भागवत इति।।

अथ शिष्यप्रश्नमवतारयति—एवमिति। यैः मुनिभिः मायास्वरूपं पृथक् शुद्धात्मरूपाद् दृष्टं तेषां विचारणां परस्परविचारनिष्पन्नमर्थं श्रुत्वा इदं पृष्टवानिति।।१। मेधावितासूचकोक्तानुवादपूर्वकं शिष्यप्रश्नमभिनयति-गुरो! इत्येकादशभिः। स्वकीयं ज्ञानं भवता मह्यम् उक्तम् इति।२।। ऐतरेय इति। ऐतरेयादिसंज्ञो मुनिवर्गो यद् वेद तत्

काठक उपनिषत् के सारार्थ का प्रकाशक

'यम-नचिकेतासंवाद' नामक

नौवाँ अध्याय

ब्रह्मवादियों ने शुद्धात्मा से विविक्त मायारूप का निर्धारण कर आपसी विचारपूर्वक जो तत्त्वनिश्चय प्राप्त किया वह आठवें अध्याय में सुनकर शिष्य ने अपने गुरु से पुनः निवेदन किया—।।१।। हे गुरुदेव ! विचित्र आख्यानों से रोचक बनाकर आपने अपना जो आत्मानुभव मुझे बताया, जो अनेक मुनियों को अपरोक्ष हुआ है, वह अवश्य संसार-बंध से छूटने का तरीका है।।२।। ऐतरेय मुनि, कौषीतकि मुनि, भगवान् आदित्य और श्वेताश्वतर मुनि जो जानते

मया गुरो विचित्रार्थास्तत्र चित्राः कथा मताः। प्रजानाम् ऋषिभिः सार्धं संवादो ब्रह्मबोधकः।।
वामदेवस्य मुक्तस्य निजानुभवकीर्तनम्।।४
प्रतर्दनस्य काश्यस्य दैवोदासेर्महात्मनः। विजयः शक्रसंवादरूपो ब्रह्मात्मबोधनः।।५
बालाकेश्चैव दृप्तस्य संवादोऽजातशत्रुणा। वंशः काण्डत्रयस्याऽपि भिन्नाभिन्नस्वरूपतः।।६।।
अश्विभ्यामपि संवाद ऋषेः सर्वार्थदर्शिनः। दध्यङ्ङाथर्वणस्यापि व्यसनं शक्रसम्भवम्।।
ब्रह्मविद्याकृते तद्वद् अश्विभ्यामपि यत्कृतम्।।७।।
याज्ञवल्क्यस्य संवादो नानादेश्यैर्द्विजोत्तमैः। शाकल्यस्य तथैवाऽत्र मरणं द्वेषकारिणः।।
याज्ञवल्क्येन मुनिना ब्रह्मविद्योपदेशनम्।।८।।
वारद्वयं क्षितीशाय जनकाय महात्मने। मैत्रेय्यै च स्वजायायै प्रव्रज्यां हि यियासुना।।९
अत्याश्रमिभ्यो विज्ञानं यच्छ्वेताश्वतरो मुनिः। उक्तवांस्तच्च तत्रैतच्छ्रुतम् इत्थं मया गुरो।।१०
सम्प्रार्थितास्च देवा न ब्रह्मविद्यां कदाचन। प्रयच्छन्ति वरान् किन्तु ततोऽन्यानपि दुर्लभान्।।११
सत्यपाशवशं प्राप्ताः कथञ्चित् तां वदन्ति च। यथा यमः पुराऽवादीद् अर्थिने नचिकेतसे।।१२
तदिदं श्रोतुमिच्छामि महत्कौतूहलं गुरो। कथं यमो ब्रह्मविद्याम् उक्तवान् नचिकेतसे।।
कीदृशाय च का साऽपि ब्रह्मविद्या गुरो वद।।१३

श्रुतम् इति।।३।। क्रमेण कथा अनुवदति—मयेति षड्भिः। प्रथमद्वितीयार्थौ द्वाभ्यां क्रमेणोक्तौ।।४-५।। तृतीयचतुर्थार्थोऽनूद्यते—बालाकेरिति द्वाभ्याम्। यत् कृतं शिरोव्यत्ययरूपम्।।६-७।। पञ्चमार्थं वदति—याज्ञवल्क्यस्येति।।८।। षष्ठसप्तमयोस्तदाह—याज्ञवल्क्येनेति। यियासुना गन्तुमिच्छुना।।९।। अत्याश्रमिभ्य इति। तत्र अतीतग्रन्थ एतद् एतावदर्थजातं मया श्रुतम्।।१०।। यच्च तत्र भवता 'सम्प्रार्थिताश्च'[1] इत्यादिना यमनचिकेतसोः संवाद उपक्षिप्तः तद्वतां विद्यां सप्रकारां वदेत्याह—सम्प्रार्थिताश्चेति त्रिभिः। सा विद्या का रहे वह सब मैंने आपसे सुन लिया। साथ ही अनेक इतिहासों की भी जानकारी पायी।।३।। हे गुरो ! नाना तरह की कहानियों पर और अभिप्रायों पर मैंने श्रवणानंतर मनन भी किया। प्रजाओं का ऋषिओं के साथ जो परमात्मबोधक संवाद हुआ और मुक्त ऋषि वामदेव ने जो अपना अनुभव बताया वह मैंने प्रथमाध्याय से समझा।।४।। काशिराज दिवोदासपुत्र महात्मा प्रतर्दन की स्वर्ग पर विजय और इन्द्र से संवाद द्वारा प्राप्त ब्रह्म की आत्मरूपता का प्रबोधन द्वितीयाध्याय से पता चला।।५।।

दर्पयुक्त बालकि का अजातशत्रु से संवाद तीसरे अध्याय में सुना। चौथे अध्याय में बृहदारण्यक के तीनों काण्डों के विद्यावंशों का आपने भेदपक्ष और अभेदपक्ष मानकर संग्रह सुनाया तथा समस्त अर्थों के जानकार दधीचि ऋषि का अश्विनीकुमारों से संवाद बताया। ऋषि को शक्रनिमित्तक जो आपत्ति सहनी पड़ी और ब्रह्मविद्या पाने के लिये अश्विनीकुमारों ने गुरु का जो हाल किया वह भी वहीं सुना।।६-७।। विभिन्न देशों से आये उत्तम ब्राह्मणों से याज्ञवल्क्य का संवाद, द्वेषी शाकल्य की अकाल मृत्यु और महामुनि याज्ञवल्क्य द्वारा ब्रह्मविद्या का उपदेश—यह सब पाँचवे अध्याय से पता चला।।८।। महात्मा राजा जनक को दो बार जो याज्ञवल्क्य ने आत्मोपदेश दिया वह छठे अध्याय में आपने बताया। संन्यास ग्रहण करने को उद्यत उन्हीं मुनि ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को जो ज्ञान प्रदान किया वह सातवें अध्याय में मैंने सुना।।९।। श्वेताश्वतर मुनि ने संन्यासियों को जो विज्ञान सुनाया वह आठवें अध्याय से मैंने समझा। यों अब तक इस पुराण में विविध ढंगों से आत्मतत्त्व का उपनिषदुक्तविधया निर्धारण करता रहा हूँ।।१०।।

---

१. द्रष्टव्यः ८.८४८।

इत्युक्ते गुरुराहैतद् आख्यानं वेदकीर्तितम्। प्रहृष्टो हृष्टमनसे स्वशिष्याय प्रियाय सः।।१४

गुरुः कठार्थवर्णनेनोत्तरयति

आसीदुद्दालको नाम्ना विप्रो वेदविदां वरः। अरुणस्य सुतो लोके कमनीयतमः सदा।।
अन्नदानेन नितरां कीर्तिं प्राप्तो द्विजोत्तमः।।१५

कदाचित् कुत्रचिद् यागे सर्वस्वं दातुमुद्यतः। पुत्रस्वं प्रविधायैव शुभा गाः स्नेहसंयुतः।
पुत्रेऽतिबालके विप्रो धर्मज्ञानां पुरः स्थितः।।१६

गोवित्तमेव बहुलमस्यासीद् ब्राह्मणस्य हि। वृद्धा गास्तु स्वयं तत्र जगृहे पुत्रलोभतः।।
स्वभागेन च ताः सोऽपि ब्राह्मणेभ्यो ददौ तदा।।१७

कीदृशी।।११-१३।। इत्युक्त इति। वेदकीर्तितं कठशाखागतम्।।१४।।

तत्र प्रथमकण्डिकाद्वयार्थम्[1] उपबृंहयति—आसीदिति दशभिः। अरुणाख्यस्य पुत्रः कमनीयोऽर्थिभिः स्पृहणीयो यतो वाजपदोक्ताऽन्नदानेन कीर्तिं प्राप्त इति।।१५।। कदाचिदिति। कुत्रचिद् विश्वजिदाख्ये यागे शुभा गावस्ताः 'पुत्रस्य स्वं धनम्' इति प्रविधाय कल्पयित्वा; यतोऽतिबाले पुत्रे स्नेहवानिति। धर्मज्ञमुख्यः 'वृद्धौ च मातापितरौ भार्या साध्वी सुतः शिशुः। अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीद्।।' इति (मुन. अ. ११ श्लो. १०-११) वाक्यानुसरणात्।।१६।। गोवित्तमिति। गोरूपं वित्तम्। स्वभागेन स्वकीयभागाभिप्रायेण। ताः गाः।।१७।। पातुमिति। एता वृद्धा गावो हि जलपानादिकमपि सम्यक् कर्तुमशक्ता इत्यभिव्यंक्तुमेव 'पीतोदका' इत्यतीतार्थप्रत्ययप्रयोगः श्रुतौ कृत इति भावः। गर्भधारणम् इन्द्रियपदोक्तम्।।१८-६।।

पूर्वाध्याय के अंत में आत्माद्वैतविद्या की दुर्लभता बताते हुए आपने कहा था कि प्रार्थना करने पर भी देवता ब्रह्मविद्या कभी प्रदान नहीं करते बल्कि उससे भिन्न अनेक दुष्प्राप वरों से प्रलोभित करते हैं। यदि सत्य के पाश में फँस जायें तो ही किसी तरह वह विद्या सुनाते हैं जैसे प्राचीन काल में विद्याप्रार्थी नचिकेता को महाराजा यम ने सुनाई थी। हे गुरो! यह अत्यधिक आश्चर्य की घटना मैं विस्तार से सुनना चाहता हूँ। यम ने नचिकेता को ब्रह्मविद्या कैसे सुनाई? नचिकेता किस प्रकार का अधिकारी था? उस विद्या का स्वरूप क्या था? यदि आपकी कृपा हो तो मुझे वह कथा सुनाइये।।११-३।।

यों पूछे जाने पर प्रसन्न उन गुरु ने अपने हर्षयुक्त प्रिय शिष्य को वेद की कठनामक शाखा में आया यह आख्यान सुनाया:।।१४।।

प्राचीन काल में महर्षि अरुण के पुत्र उद्दालक नामक ब्राह्मण वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ गिने जाते थे। उन उत्तम द्विज को अन्नदान से अत्यधिक कीर्ति मिली थी अतः लोक में अन्नादि चाहने वाले सज्जन उनके प्रति हमेशा स्पृहयालु रहते थे।।१५।। किसी समय किसी याग में वे अपना सर्वस्व दान करने लगे। वे वेदज्ञ धर्मवेत्ताओं में प्रधान थे। उनका एक बहुत छोटा व प्रिय बालक था। (नन्हे-मुन्ने बच्चे के भरण-पोषण के लिये अनिवार्य हो तो सौ अकार्य भी कर लेने चाहिये यह धर्मशास्त्रों का मत है।) उनके पास जो अच्छी गायें थीं वे उन्होंने 'यह पुत्र का धन है' यों निश्चित कर देय गायों से पृथक् कर दीं।।१६।। उन ब्राह्मण के पास गोधन ही अधिक था। 'पुत्र अच्छी गायें पा जाये' इस लालच से उन्होंने अपने हिस्से के रूप में बुड्ढी गायें ही ग्रहण कीं और उस यज्ञ में ब्राह्मणों को वे वृद्ध गायें ही दानरूप में देने लगे।।१७।। पानी पीने और दाना खाने में भी असमर्थ वे गायें दूध क्या दे सकती थीं।।१८।। वे गर्भ

१. 'ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ। तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस।।१।। तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश सोऽमन्यत।।२।।'

पातुं पानीयमप्येता अत्तुं च यवसं तथा। न शक्ताः केन दुग्धस्य दाने शक्तास्तु धेनवः।।१८

आशा तासु कथं नाम भवेद् गर्भस्य धारणे। एतादृशीस्तु गा दातुं प्रवृत्तोऽयं कदाचन।।१६

तस्यासीत् तनयः कश्चिद् नचिकेता इति श्रुतः। स्वभावादास्तिको नित्यं कुमारः पञ्चहायनः।।

इदं विचारयामास पितुरङ्कस्थितस्तदा।।२०

नचिकेतसश्चिन्ता

यद् येन दीयते यस्मै यादृशाय च यादृशम्। तत् तेन लभ्यते तस्मात् तादृशेन च तादृशम्।।२१

एता गावोऽधुना दत्ताः पित्रा क्लेशैकहेतुकाः। विप्राणां तत एवाऽयं पिता क्लेशं गमिष्यति।।२२

असुखा नाम ये लोकाः सर्वदैव भयप्रदाः। दुःखदो ब्राह्मणानां यस्तान् स याति न संशयः।।२३

ता ददद् दुःखदो मेऽत्र पिता याः स्युर्निरर्थकाः। गास्तस्मादमुमेतस्माद् वारयामि कुदानतः।।२४

अनेन स्थापिता गावो मदर्थं याः सुशोभनाः। तासामेष करोत्वत्र दानमस्य मया हि किम्।।२५

तस्येति। तस्य उद्दालकस्य स्वभावादास्तिकः सांसिद्धिकधर्मश्रद्धावान्।।२०।। तद्विचारमभिनयति—यद् येनेत्यादिना। स्पष्टम्।।२१।। एता इति। एता जरत्यो गावो विप्राणां न सुखदाः प्रत्युत दुःखदाः सन्ति। तत एतादृशीनां दानाद् मे पिता दुःखं यास्यतीति।।२२।। अयमर्थो मन्त्रेणोक्त इति दर्शयंस्तदर्थमाह—असुखा इति द्वाभ्याम्। यो ब्राह्मणानां दुःखदः सः असुखसंज्ञान् भयप्रदान् लोकान् याति इति।।२३।। ता ददिति। या निरर्थका निष्फला गावः ता गा विप्रेभ्यो ददत् समर्पयन् मे पिता विप्राणां दुःखदः सन्नुक्तं फलं गच्छेद् अतः तं वारयामि इति।।२४।।

¹तृतीयकण्डिकार्थमुपबृंहयति—अनेनेति नवभिः। अनेन पित्रा अत्र यागे या गावो मदर्थं स्थापिताः ता एव कुतो न ददाति? अस्य पितुः मच्चिन्तया किम् प्रयोजनमिति?।।२५।। यतो वित्तस्य परलोकोपकार एव प्रधानं

धारण करेंगी इसकी आशा ही कहाँ हो सकती थी। ऐसी गायों का वे दान करने लगे।।१६।।

उनका पंचवर्षीय बालक था नचिकेता। उसे स्वभाव से ही हमेशा आस्तिक मनोवृत्ति प्राप्त थी। अपने पिता की गोद में बैठे यह सब देखते हुए उसने यों विचार किया—।।२०।। जो वस्तु दान दी जाती है वही (कालान्तर में) प्राप्त होती है। दाता ही स्वयं उसे पा लेता है। जिस प्रकार के जिस व्यक्ति को जिस ढंग से दान देते हैं उसी प्रकार के उसी व्यक्ति से उसी ढंग से पुनः ग्रहण भी करना पड़ता है।।२१।। पिता ने अभी ये गायें दी हैं, ये विप्रों को केवल क्लेश ही देंगी। ऐसी गायों के दान से पिता (कालांतर में) क्लेश ही पायेंगे।।२२।। जो ब्राह्मणों को दुःख देता है वह निःसंशय उन लोकों को जाता है जहाँ सुख कभी नहीं और भय हमेशा है।।२३।। जो निष्फल हैं ऐसी गायें विप्रों को देने से मेरे पिता वस्तुतः ब्राह्मणों को दुःख ही दे रहे हैं। अतः इस कुत्सित दान से मैं इन्हें रोकने की कोशिश करता हूँ।।२४।। इन्होंने जो अच्छी गायें मेरे लिये रख ली हैं उनका ये दान करें, मेरी चिन्ता क्यों करते हैं?।।२५।। जो पुत्र, पत्नी आदि सम्पत्ति है वह 'वित्त' तभी समझी जा सकती है जब परलोक के संदर्भ में उपकारक हो; ऐसा न होने पर तो पुत्रादि लोहे की बेड़ियाँ ही हैं।।२६।। धर्म की मर्यादाओं के अनुसार क्योंकि मैं इनका पुत्र हूँ इसलिये अपने उत्पादक इन महात्मा का मैं वित्त ही हूँ इसमें संदेह नहीं।।२७।। जिस पुत्र के जानते हुए उसका पिता दुःखसागर जैसे अँधेरे

१. 'पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः। अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्।।'३।। (कण्डिकासंख्या भाष्याद्यनुसारिसंस्करणोक्ता। 'स हो वाचे' त्यादि वाक्यं तृतीयकण्डिकायां टीकाकृत् पपाठ।)

पुत्रदारादिकं वित्तं परलोकोपकारि यत्। तदेव वित्तं विज्ञेयम् अपरं लोहशृङ्खला।।२६
अहं चास्य सुतो यस्मात् तस्माद् वित्तं न संशयः। अस्यैव धर्मतः स्वस्य जनकस्य महात्मनः।।२७
अन्धं तमः पिता यस्य दुःखोदधिसमं व्रजेत्। सुतस्य जानतः पुत्रः पितुरुच्चार एव सः।।२८
ततोऽहमात्मनो दाने प्रेरयिष्याम्यमुं मयि। स्नेहयुक्तं ततश्चित्तम् अयं मे ज्ञास्यति स्वयम्।।२९
अथ चैवं वचः श्रुत्वा प्रश्नमेष करिष्यति। ततोऽहं विशदं तस्मै वक्ष्ये पित्रेऽत्र पृच्छते।।३०
इति सञ्चिन्त्य तनयः पितरं प्राह धर्मवित्।

पितृपुत्रसंवादः

'तात कस्मै द्विजेन्द्राय मां भवान् सम्प्रदास्यति'। द्वित्रिवारमिदं वाक्यम् उक्तवान् पितरं प्रति।।३१
पिताऽपि पण्डितंमन्यं विज्ञाय तनयं ततः। कोपसंरक्तनयन इदं वचनमब्रवीत्।।३२
'त्वामहं पण्डितंमन्यं पितृस्नेहावमानकम्। दास्यामि मृत्यवे सर्वलोकसंहारहेतवे'।।३३

नचिकेतोविचारः

एवमुक्ते स पुत्रोऽपि चिन्तामेतामुपागतः। अयं दुःखकरं स्वस्य कस्मादेतद् वचोऽब्रवीत्।।
पिता मम यथा कश्चित्तामसः पामरः परः।।३४
पुत्रस्य मरणाद् दुःखं ब्रह्महत्याफलं विदुः। कुत एतत् स्वयं स्वस्य कृतवान् बुद्धिमानयम्।।३५

फलमित्याह—पुत्रेति। यत् पुत्रादिरूपं वित्तं तत् सर्वं परलोकोपकारि सद् एव वित्तत्वेन वाच्यम् अपरं केवलं बन्धकत्वात् शृङ्खलाममिति।।२६।। अहमिति। अहम् अपि अस्य पुत्रत्वेन वित्तं भवामि धर्मतः धर्ममर्यादामालोच्येति।।२७।। यस्य च पुत्रस्य पश्यतः पितुः परलोकहानिनिमित्तं स्यात् स पुत्रः पुरीषसम इत्याह—अन्धमिति।।२८।। तत इति। ततः स्वस्य वित्ततामालोच्य एतं मयि स्नेहयुक्तम् अहमात्मनो दाने प्रेरयामि, एतावता अयं मदभिप्रायं मदर्थस्थापितगोदानीयतारूपं ज्ञास्यति। अथ वा प्रक्ष्यति, ततः स्वाभिप्रायं वक्ष्यामि। इति द्वयोरर्थः।।२९-३०।।

[1]इति सञ्चिन्त्येति। तनयो नचिकेताः पितरं प्रति 'इति' उक्तवान्। 'इति' किम्? 'हे तात! मह्यं कस्मै द्विजाय दास्यसी'ति। न केवलमेकवारं तेनेदमुक्तं, किन्तु द्वितीयवारं तृतीयवारं चेत्यर्थः।।३१।। एवं तं प्रगल्भं वदन्तं पिता प्राहेत्याह—पिताऽपीति।।३२।। पितृवाक्यमभिनयति—त्वामिति। स्पष्टम्।।३३।।

[2]चतुर्थार्थं प्रपञ्चयति—एवमुक्त इति। ततः स नचिकेता एवं चिन्तयामास। 'एवं' कथम्? एष पिता स्वस्य दुःखप्रयोजकं वचनं किमर्थम् उक्तवान्।।३४।। पुत्रस्येति। एतद् दुःखम्।।३५।। मम त्विदं प्रतिकूलं न भवति,

तामस लोक में गिरे वह पुत्र क्या, पिता की विष्ठा ही है।।२८।। इसलिये मुझ पर स्नेह रखने वाले इन्हें मैं प्रेरित करता हूँ कि ये मेरा ही दान कर दें। इससे ये मेरे मन की बात खुद समझ जायेंगे या ऐसी बात सुनकर पूछेंगे तब मैं अपना अभिप्राय खोलकर बता दूँगा।।२९-३०।।

यों विचार कर धर्मज्ञ पुत्र ने पिता से कहा 'हे पितः! किस उत्तम ब्राह्मण के प्रति आप मेरा दान करेंगे?' यह वाक्य उसने दो-तीन बार दुहराया।।३१।। पिता भी समझ गये कि पुत्र खुद को पण्डित मानकर ऐसा कह रहा है अतः गुस्से से लाल आँखें कर बोले 'पिता के स्नेह का अपमान करने वाले व स्वयं को विद्वान् मानने वाले तुझे मैं मृत्यु को दूँगा जो सभी लोकों के संहार का कारण है।' ।।३२-३।।

१. 'स होवाच पितरं 'तत! कस्मै मां दास्यसि' इति। द्वितीयं तृतीयम्। तं होवाच 'मृत्यवे त्वा ददामी'ति।।४।।'
२. 'बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः। किंस्विद् यमस्य कर्तव्यं यन्मयाऽद्य करिष्यति।।'५।।

मम नातः परं श्रेयो यन्मां तस्मै पिता स्वयम्। दत्तवान् मृत्यवे यो मां स्वयमेव ग्रहीष्यति।।३६
अस्य दुःखं परं नित्यं पितुरत्र भविष्यति। यतोऽहं प्रथमो नित्यं बहूनामस्मि मध्यमः।।३७
तनयानां प्रियश्चैव सर्वदाऽस्मि महात्मनः। मां विना न क्षणं त्वेष पिता मेऽत्रावतिष्ठते।।३८
किं स्विद् यमस्य संयाते गृहे मयि करिष्यति। कार्यं मया विना नूनं मत्त एष भविष्यति।।३६
इतो मयि गते नूनं दुःखमस्य भविष्यति। कर्तव्यं च मया किंस्विद् यमस्याऽद्य भविष्यति।।४०
ममाऽस्य च वियोगोऽयम् उभयोरप्रयोजकः। यमस्य च ततः कष्टं कृतवान् मे पिताऽधुना।।४१
इदानीमेव वदनं परिम्लानं पितुर्मम। अश्रूणि च बहून्येष मां विलोक्य विमुञ्चति।।४२
आलिङ्गयति मां गाढं स्नेहपूर्णान्तरात्मना। अनुतापं परं प्राप्तः तिष्ठत्येषोऽतिदुःखितः।।४३

अवश्यंभाविन्यर्थे पितृवाक्यपरिपालनजन्यधर्मस्य प्रत्युत लाभाद् इत्याह—ममेति। श्रेयो धर्मानुकूलम् अतः परं न अस्ति—यः स्वयं ग्रहीष्यति तस्मै पित्रा दानमिति।।३६।।'परन्तु एतस्य दुःखमनुसन्धाय मम चित्तं विषीदति' इत्याह—अस्येत्यादिना। अत्र मद्वियोगे। पुत्रस्य शिष्यस्य वा तिस्रो वृत्तयः—(१)'उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात्, (२) प्रोक्तकारी तु मध्यमः। (३) अधमोऽश्रद्धया कुर्यात् प्रत्याख्याता च तद्वचः।।'—इति प्रसिद्धाः। तत्राधमां वृत्तिम् अहं न कदाचिद् भजामि। किन्तु एतस्य बहूनां शिष्याणां पुत्राणां वा उत्तमां मध्यमां वा वृत्तिमेव भजामि। अतः प्रियः असह्यवियोगश्च अस्मि। इति द्वयोरर्थः।।३७-८।। किञ्च मद्गमनेन यमस्य कश्चिद् उपकारो नास्ति इत्याह—किं स्विद् इति। स्विद् वितर्के। कार्यम् उपकारम्। मत्तो विभ्रान्तः।।३६।। इत इति। स्पष्टम्।।४०।। ममेति। अप्रयोजकः अनुपकारकः यमस्य च अप्रयोजक इति सम्बन्धः।।४१।। अस्य इदानीमेव परितापस्तु लक्षणैरनुभाव्यत इत्याह—इदानीमेवेति द्वाभ्याम्। स्पष्टं द्वयम्।।४२-३।।

इस तरह कहे जाने पर वह पुत्र भी इस विचार में पड़ गया—मेरे इन पिता ने स्वयं को ही दुःख देने वाली ऐसी बात क्यों कही जैसी कोई तामसिक वृत्ति का निकृष्ट व्यक्ति बोलता है?।।३४।। पुत्र के मरने से होने वाला दुःख ब्रह्महत्या का फल बताया गया है। पिता बुद्धिमान् हैं, इन्होंने स्वयं अपने ही लिये यह दुःख क्यों खड़ा कर लिया?।।३५।। मेरे लिये तो इससे अधिक धर्मानुकूल परिस्थिति नहीं है जिसमें पिता ने स्वयं मुझे उसके लिये प्रदान किया है जो मुझे—कभी-न-कभी—स्वयं ही ग्रहण करेगा। (अर्थात् मरना तो अवश्यंभावी है, पिता की आज्ञा मानने से प्राप्त पुण्य मुझे अधिक मिल जायेगा।)।।३६।। परन्तु इन पिता को इस बारे में हमेशा दुःख बना रहेगा क्योंकि इनके बहुतेरे शिष्यों व पुत्रों में मैं सदा उत्तम या मध्यम ही रहता हूँ। (पुत्र या शिष्य की तीन श्रेणियाँ हैं : १) पिता या गुरु का विचार समझ कर तदनुसार चेष्टा करे वह उत्तम। २) वे जो आज्ञा दें उसे सम्पन्न करे वह मध्यम। ३) उनके कहे को बिना श्रद्धा से करे या करने से मना कर दे वह अधम। नचिकेता सोच रहा है कि अधम श्रेणि में तो वह कभी नहीं रहता।)।।३७।। अपने पुत्रों में इन्हें मुझसे हमेशा ज्यादा प्रेम रहता है, मेरे बिना मेरे पिता क्षण भर भी रहते नहीं हैं।।३८।। इतना ही नहीं, यह भी सोचने की बात है कि यम के घर मैं पहुँचा तो उससे ये क्या कार्य सिद्ध करेंगे? बल्कि मेरे बिना ये अवश्य विक्षिप्त (पागल) हो जायेंगे।।३६।। यहाँ से मेरे जाते ही इन्हें असह्य दुःख होगा। आज यम के लिये मुझे क्या करना होगा (यह रहस्य ही है)।।४०।। यह वियोग मेरे लिये, इन मेरे पिता के लिये या यमराज के लिये, किसी के लिये भी कोई उपकार करने वाला नहीं। अतः मेरे पिता ने अभी जो किया वह केवल कष्ट ही है।।४१।। अभी ही मेरे पिता का मुख मलिन हो गया, चेहरा उतर गया, और मुझे देख कर बहुत आँसू बहा रहे हैं।।४२।। स्नेह भरे मन से मेरा गाढ आलिंगन कर रहे हैं। इन्हें बेहद पश्चात्ताप हो रहा है, ये अत्यंत दुःखी हैं।।४३।। इसलिये इनसे ऐसा कुछ कहता

तत एवं वदाम्यद्य मयि स्नेहं यथा त्यजेत्। अन्यथाऽनृतवाक्येन नरकोऽस्य भविष्यति।।
इति सञ्चिन्त्य पितरम् इदं वाक्यमभाषत।।४४

स पितरमाह

अनुपश्य यथा पूर्वे पूर्वजास्तव सुव्रत। अनृतं नोक्तवन्तस्ते मरणेऽपि महाधियः।।
आत्मानमवलोक्याथ तान् सर्वांश्च स्वपूर्वजान्।।४५

प्रतिपश्य परांस्तद्वत् तादृशान् सत्यवादिनः। त्रैवर्णिकान् महाभागान् दध्यङ्ङाथर्वणादिकान्।।४६।।

कर्णस्त्वचं शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः। ददौ दधीचिरस्थीनि, प्रतिश्रुत्य वचः पुरा।।४७

दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यां ब्रह्मविद्यां प्रतिश्रुताम्। त्यक्त्वा निजं शिरोऽप्याह ब्राह्मणो वेदवित्तमः।।४८

इन्द्रः प्रतर्दनायाह ब्रह्मविद्यां स्वशत्रवे। प्रतिज्ञाय ददौ कामवरं जनकभूभुजे।।
याज्ञवल्क्योऽपि मेधावी ब्राह्मणो वेदवित्तमः।।४९

'पञ्चमार्थं प्रपञ्चयति—तत इति। तत एतादृशीं दशामस्याऽऽलोच्य अनृताद् एनं परित्रातुं मया किञ्चिद् वाच्यम्—एवं विचार्य नचिकेता इदम् उक्तवानित्यर्थः।।४४।।

'इदं' किम् ? इत्याकांक्षायामाह—अनुपश्येत्यादि। अनुपश्य इत्यस्य कोऽर्थः ? हे तात ! त्वमात्मानम् अभाषितपूर्वाऽनृतम् आलोच्य, पूर्वान् पितृपितामहादीन् अनुक्तानृतकान् पश्येति। तथा प्रतिपश्य इत्यस्य कोऽर्थः? तान् सर्वान् आलोच्य स्ववंश्यतुल्यान् परानुश्च त्रैवर्णिकान् सत्यवादिनः पश्य। इति द्वयोरर्थः।।४५-६।। परानुदाहरति—कर्ण इत्यादिना। कर्णो विप्ररूपायेन्द्राय त्वचं ददौ, शिबिः च शरणागतकपोतत्राणार्थं स्वमांसं, जीमूतवाहनः च शरणागतार्थं राक्षसाय तनुं ददौ सिंहाय (महा.अम्व.४१-६) मयूरध्वजवत्, दधीचिः च देवेभ्यो वज्रार्थम् अस्थीनि याचमानेभ्यः तानि ददौ—इति इतिहासादौ प्रसिद्धमित्यर्थः।।४७।। तथाऽत्राप्यतीतग्रन्थे प्रोक्तानि सत्यसंरक्षणाय महात्मनां चरितानि अनुसन्धेयानि इति यद् 'दध्यङ्ङाथर्वणादिकान्' (श्लोक.४६) इत्युक्तं तत् स्फुटयति—दध्यङ्ङिति द्वाभ्याम्। स्पष्टम्।।४८-९।। तथा कैकेय्यै दत्तवरयोः पूर्त्यर्थम् आत्मत्वेन निरति-

हूँ जिससे ये मुझ पर स्नेह छोड़ें। यदि इन्होंने ऐसा न किया तो झूठ बोलने के फलस्वरूप इन्हें नरक मिलेगा। — यह विचार कर नचिकेता ने पिता से कहा :।।४४।।

हे सुव्रत ! विचार कीजिये कि आपके बुद्धिमान् पूर्वजों ने मरने पर भी झूठ नहीं बोला ! स्वयं आपने भी अभी तक कभी झूठ नहीं बोला है। स्वंय को व अपने सारे पूर्वजों को याद कीजिये ।।४५।। दध्यङ्ङाथर्वण आदि अन्य भी वैसे ही निष्ठावान् सत्यवादी त्रैवर्णिक महानुभावों के चरित्रों पर दृष्टि डालिये।।४६।। कर्ण ने ब्राह्मणवेष में आये इंद्र को अपनी त्वचा प्रदान कर दी। (त्वचा की तरह जन्म से ही साथ होने से कवच को त्वचा कह दिया है। यह कथा प्रसिद्ध ही है।) शिबि ने शरणागत कबूतर की रक्षार्थ अपना मांस दे दिया था। (वनपर्व अ.१९७ में यह कथा है।) शरणागत के हित के लिये जीमूतवाहन ने अपना जीवन ही दे दिया। (राक्षस को शरणागत के बदले अपना ही शरीर प्रदान कर दिया। यह कथासरित्सागर तरंग २३ में प्रसंग आया है। 'नागानन्द' नाटक में हर्ष ने भी यह वर्णन किया है।) दधीचि ने इंद्र को वज्र-निर्माण के लिये अपनी हड्डियाँ दे दी थीं क्योंकि पहले उन्होंने वचन दे दिया था।।४७।। वेदज्ञश्रेष्ठ ब्राह्मण दध्यङ्ङाथर्वण ने प्रतिज्ञा पालन करते हुए अपना सिर कटा कर भी अश्विनीकुमारों को ब्रह्मविद्या सुनायी थी।।४८।। इन्द्र ने अपने शत्रु प्रतर्दन को ब्रह्मविद्या दी थी क्योंकि यथेष्ट वर प्रदान करेन की प्रतिज्ञा कर

१. 'अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे। सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः।।'६।।

तथा दशरथो राजा प्राणेभ्योऽपि प्रियं सुतम्। अरण्ये प्रेषयामास सिंहव्याघ्रादिसेविते। ।५०
एवमन्येऽपि बहवः कृतवन्तोऽतिदुष्करम्। सत्यपाशवशं प्राप्ता बहुलाद्याश्च जन्तवः। ।५१
अपि सस्यं यथा तद्वद् दिवसे दिवसे जनः। पच्यते कालसूर्येण तद्वदेव प्रजायते। ।५२
ततोऽहं स्वयमेवाऽत्र मरिष्यामि न संशयः। त्वं च तद्वज्जनाः सर्वे मृत्युपाशवशङ्गताः। ।५३
ततस्त्वं वचनं सत्यं कुरु दत्वा यमाय माम्। एवं तव ममाऽप्यत्र श्रेयस्तात भविष्यति। ।५४

पित्रनुमत्या यमं गतः

एवमुक्तोऽतिदुःखेन पिता पुत्रं यमाय सः। प्राहिणोद् दीनवचनः सत्यपाशवशं गतः। ।५५
स तु गत्वा महाभागो नचिकेता यमालयम्। पितृभक्त्या तथैवात्मतपसा शुद्धचेतसा। ।५६

यमालयवृत्तम्

यमे ग्रामान्तरं यात उपवासत्रयं गृहे। चकार तस्य तेनात्मपरिग्रहणकारणात्। ।५७

शयप्रेमास्पदं श्रीरामचन्द्रमपि वने विसर्जयतो दशरथस्य राज्ञो वृत्तमनुसन्धेयमित्याह—तथेति। ।५०।। एवमति। 'बहुलाः कृत्तिका गाव' इत्यमरः; तथा च—यथा गावः शरणागतत्राणात्मकस्वप्रतिज्ञानिर्वाहार्थं यतमाना यथा गावो गोपायन्ति इति श्रुतौ लोके च प्रसिद्धाः, तत्प्रभृतयः अन्ये च बहवः सत्यपराः सन्तीत्यर्थः। ।५१।। अनित्येन क्षणभंगुरेण जीवितेन नित्यस्य साधनमेव कौशलमिति दर्शयन्नाह—अपि सस्यमिति। किं च सस्यं वृक्षादिफलमिव जनः शरीरजातं कालरूपसूर्येण पच्यते विनाशोन्मुखी क्रियते तथा तद्वदेव एष जनः पुनः पुनर्जायत इत्यर्थः। ।५२।। फलितमाह—तत इति द्वाभ्याम्। एवं सत्यपालने श्रेयः शुभम्। ।५३-४।। एवमुक्त इति। प्राहिणोत् प्रेषितवान्। ।५५।।

'षष्ठसप्तमयोः यमं प्रति यमपरिवारवाक्याऽभिनयपरयोः अर्थमवतारयति—स त्विति। स नचिकेताः पितृभक्त्यादिप्रभावात् सशरीरो यमालयं गत्वा यमं ग्रामान्तरगतं श्रुत्वा दिनत्रयं उपवासं कृतवान् 'मां पितृदत्तं यमो गृह्णीयाद्' इत्येतदर्थम्। इति द्वयोरर्थः। ।५६-७।। अन्यथेति। अन्यथा उपवासात्मकहठाकरणे यमकर्तृक

चुका था। वेद के जानकारों में अव्वल मेधावी ब्राह्मण याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को संपूर्ण आत्मविद्या दी क्योंकि पहले उसे जो मर्जी सो पूछने का वर दे चुके थे। ।४९।। ऐसे ही कैकेयी को दिये वरों की पूर्ति के लिये राजा दशरथ ने प्राणों से भी ज़्यादा प्रिय पुत्र रामचंद्र को शेर बाघ आदि जहाँ बसते हैं ऐसे जंगल में भेज दिया था। ।५०।। इसी प्रकार और भी बहुत से जन्तुओं ने सत्यप्रतिज्ञता रखने के लिये अनेक दुष्कर कार्य किये हैं। शरणागत की रक्षा के लिये गायें भी गायों को (अपने झुण्ड में) छिपा लेती हैं। ।५१।। अनित्य क्षणिक जीवन से नित्य धर्म संपन्न करना ही बुद्धिमानी है। जैसे वृक्षादि के फल वैसे शरीर प्रतिदिन कालरूप सूर्य से विनाश की ओर उन्मुख किया जाता है और वैसे ही बार-बार पैदा हो जाता है। (जैसे फल तैयार होता और नष्ट होता है, फिर नया फल पैदा होता है ऐसे शरीर पैदा होकर नष्ट होता है फिर नया शरीर पैदा होता है। वृक्ष की जगह जीवात्मा है।) ।५२।। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैं स्वयं भी मरूँगा ही, आप भी मरेंगे और ऐसे ही अन्य लोग मरेंगे क्योंकि सभी मृत्यु के पाश के पराधीन होते हैं। ।५३।। इसलिये मुझे यम को देकर आप अपनी बात सत्य कीजिये। हे पितः! सत्य पालने से ही आपका और मेरा शुभ होगा। ।५४।।

यों कहे जाने पर पिता ने अत्यंत दुःखी मन से गद्गदवाणी से अनुमति देकर पुत्र को यम के लिये भेजा क्योंकि सत्य के पाश में बँधे थे। ।५५।।

---

१. 'वैश्वानरः प्रविशति अतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्। तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्। ।७।। आशाप्रतीक्षे संङ्गतं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्। एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्याऽनश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे।' ।८।।

अन्यथा स्वपितुर्वाक्यम् असत्यं तद् भविष्यति। दातव्यस्यात्मनस्तेन यमेन न परिग्रहे।।५८

यमोऽपि परिवारेण कृत्वा सङ्केतमात्मनः। दिनत्रयं गृहे नाऽऽगात् तस्य चित्तपरीक्षकः।।५९

एनमागतमाज्ञाय सर्वे ते यमकिङ्कराः। गृहे स्थितमिदं वाक्यम् उक्तवन्तोऽतिधार्मिकाः।।६०

अस्मिन् यमपुरे घोरे किमर्थं विप्रबालक। आगतोऽसीति तैरुक्ते सर्वमेतदुवाच सः।।६१

पूर्वमेव च ते सर्वे ज्ञाततत्त्वा यमाश्रिताः। ज्ञात्वा बालस्य वचनात् पुनरूचुरिदं वचः।।६२

वत्स! नाऽऽयुःक्षयात् पूर्वं यमो गृह्णाति कञ्चन। अदत्तं वाऽपि दत्तं वा चतुर्विधशरीरिणाम्।।६३

धर्मराजश्च नाऽत्राऽस्ति प्राणिनां यो नियामकः। ततस्त्वं स्वगृहं शीघ्रं गच्छ स्वं पितरं प्रति।।६४

इत्यादि बहुधोक्तस्तैर्न चचाल यदा तदा। तृतीये दिवसेऽतीते यम आगान्निजं गृहम्।।
आगतं धर्मराजं तं किङ्करा इदमूचिरे।।६५

यम! वैश्वानरो विप्रकुमारस्ते गृहेऽतिथिः। तस्य शान्त्यर्थमुदकं झटित्याहर मानद।।६६

आत्मनो नचिकेतसः परिग्रहोऽङ्गीकारो न स्यात् तथा च पितुर्वाक्यमसत्यं स्यात्, तन्माभूद् इत्याशयेन तथा कृतमिति पूर्वेण सम्बन्धः।।५८।। यमोऽपीति। यमोऽपि परिवारेण अनुजीविवर्गेण सह तस्य नचिकेतसः चित्तधैर्यं परीक्षितुं सङ्केतं 'स भवद्भिर्यथाकथञ्चिद् विसर्ज्य' इत्याकारं कृत्वा त्रिदिनं नागाद् इति।।५९।। एनमिति। एनं नचिकेतसम्।।६०।। अस्मिन्निति। हे विप्रात्मज! त्वम् इह किमर्थम् आगतः? इति एवं तैः यमपुरुषैः पृष्टे सति स एतद् आगमननिमित्तं सर्वम् उवाच इति।।६१।। पूर्वमेवेति। धर्मराजसान्निध्याज्ज्ञाततत्त्वा अपि यमपुरुषाः तद्वाक्यात् पुनर्ज्ञात्वा इदम् आहुः। 'इदं' किम्? हे वत्स! यमः आयुःक्षयात् पूर्वं चतुर्विधशरीरिणां मध्ये कञ्चन अपि अदत्तं दत्तं वा न गृह्णाति। किं च यमस्य इह असन्निधानात् त्वया गृहं प्रत्येव गन्तव्यम्। इति त्रयाणामर्थः।।६२-४।। इत्यादीति। न चचाल धैर्याद् इति शेषः। स्फुटमन्यत्।।६५।।

एवमवतारितयोस्तयोः अर्थमाह — यमेति। हे यम! राजन् ते गृहे विप्रकुमाररूपः अतिथिः अग्निरूप आगतो वर्तते, तस्य शान्तये झटिति शीघ्रम् उदकं पाद्यादिजलम् आहर प्रापयेत्यर्थः।।६६।। एतत्स्फुटयति —

नचिकेता अपने चित्त की शुद्धि के, तप के और पितृभक्ति के बल पर (सशरीर ही) यमराज के घर पहुँचा।।५६।। उस समय यम किसी अन्य गाँव गये हुए थे। 'पिता द्वारा दिये मुझे यम ग्रहण करें, अन्यथा, यदि दानीय वस्तुरूप मुझे यम ने नहीं ग्रहण किया तो मेरे पिता का वह वाक्य असत्य हो जायेगा' इस अभिप्राय से नचिकेता यमगृह में तीन रात तक उपवास करते हुए ही रहा।।५७-८।। वस्तुतस्तु नचिकेता के चित्त की परीक्षा करते हुए ही यम ने अपने अनुचरों को समझा दिया था कि वे उसे किसी तरह विदा करने की कोशिश करें। इसीलिये वे तीन दिन अपने घर नहीं लौटे।।५९।। नचिकेता को आया जानकर यमगृह में उसे बैठाकर यमराज के अतिधार्मिक परिचरों ने उससे पूछा 'हे विप्रबाल! इस भीषण यमपुर में क्यों आये हो?' उसने पूर्वोक्त सारी घटना सुनाकर अपने आगमन का निमित्त बता दिया।।६०-६१।। यम के आश्रित वे सब सेवक पहले ही सारी बात जानते थे, पुनः बालक के वाक्यों से उसी बात को समझकर बोले 'बेटा! चारों तरह के शरीरधारियों में से किसी को भी — चाहे वह किसी के द्वारा प्रदत्त हो या न हो — यमराज तब तक ग्रहण नहीं करते जब तक उसकी आयु समाप्त न हो जाये। किंच प्राणियों पर नियमन रखने वाले धर्मराज अभी यहाँ हैं भी नहीं। इसलिये तुम जल्दी ही अपने घर अपने पिता के पास लौट जाओ।' इस प्रकार और भी उन्होंने बहुत समझाया लेकिन नचिकेता टस से मस नहीं हुआ। तब तीसरा दिन बीतने पर यम अपने घर लौटे। उन्हें उनके सेवकों ने निवेदित किया।।६२-५।।

ज्वलतोऽत्र यथा वह्नेः भवेच्छान्तिर्जलैः सदा। अर्घ्यपाद्यादिभिस्तद्वद् अतिथेः शान्तिरीरिता।।६७

शान्तिशून्यो यथा वह्निः उदकैः सपरिच्छदान्। गृहान् दहति तद्वत् स्यादतिथिः सर्वदाहकः।।
अपूजितो नरेणाऽयम् अर्घ्यपाद्यादिभिर्जलैः।।६८

सम्भावितसुखस्याऽऽशा प्रतीक्षा निश्चितस्य च। सुखस्य सङ्गतं तद्वद् विविधं सुखहेतुकम्।।६९

स्वाभीष्टेन जनेनात्र सूनृता या समीरिता। वाणी सुखकरी लोके वेदे चार्थप्रकाशिनी।।७०

अग्निष्टोमादिको याग इष्टमित्युच्यते बुधैः। कूपारामतटाकादि पूर्तमुक्तं मनीषिभिः।।७१

औरसास्तनयास्तद्वत् सर्वलक्षणसंयुताः। गवाद्याः पशवस्तद्वद् बहुमूल्या अनेकशः।।७२

एतत् सर्वं दहत्येव पुरुषस्याऽल्पचेतसः। यस्याऽनश्नन् वसेदत्र ब्राह्मणस्त्वतिथिर्गृहे।।७३

ज्वलत इति द्वाभ्याम्। यथा वह्नेः शान्तिः जलेन तथा पाद्यादिदानेन अतिथेः इति।।६७।। शान्तीति। यथा शान्तिम् अनीतोऽग्निर्गृहं दहेत् तथाऽनर्चितः अतिथिः सर्वं दहेदित्यर्थः।।६८।। सर्वपदार्थं दर्शयति — सम्भावितेति चतुर्भिः। सम्भावितस्य अनिश्चितप्राप्तिकस्य सुखस्येच्छा आशा इत्युच्यते[1]। निश्चितस्य सुखस्येच्छा प्रतीक्षा इत्युच्यते। स्वाभीष्टेन जनेन सह समागमः सङ्गतम् इत्युच्यते। तथा लोके वेदे च अर्थप्रकाशिका सुखकरी वाणी सूनृता इत्युच्यते। इति द्वयोरर्थः।।६९-७०।।इष्टापूर्तशब्दयोरर्थौ दर्शयति—अग्नीति।तटाकादि इत्यादिपदेन प्रपादानादिपरिग्रहः।।७१।। पुत्रपशुपदयोरर्थावुच्येते—औरसा इति । गवाद्याः च सल्लक्षणाः पशव इति। एतद् आशादिरूपं सर्वमतिथिर्दहति यस्य मन्दस्य गृहे सोऽतिथिः ब्राह्मणः अनश्नन् वसेद् इति सम्बन्धः। तस्मात् सोऽवश्यमर्च्य इति भावः।।७२-३।।

'हे यम ! योग्यों को संमान देने वाले ! आपके घर अतिथि बनकर ब्राह्मण बालक आया है जो वैश्वानर अग्नि का स्वरूप ही (शास्त्रों में बताया जाता) है। उसे संतोष देने के लिये शीघ्र ही पाद्य आदि समर्पित कीजिये।।६६।। जैसे जलती आग हमेशा जल से ठण्डी होती है ऐसे अतिथि को अर्घ्य, पाद्य आदि से शान्ति-संतोष मिलता है।।६७।। जल से ठण्डी न की हुई आग जैसे छप्पर समेत घर जला डालती है ऐसे अर्घ्य, पाद्य, आदि जल से गृहस्थ द्वारा अपूजित अतिथि सब अभीष्ट जला डालता है।।६८।। जिसकी प्राप्ति निश्चित न हो किंतु संभावित हो उसकी इच्छा को 'आशा' कहते हैं। निश्चित प्राप्ति वाले सुख की इच्छा को 'प्रतीक्षा' कहते हैं। अपने इष्ट-मित्रों से मुलाकात 'संगत' कहलाती है जो विविध सुख देती है। लौकिक और वैदिक अर्थों का प्रकाशन करने वाली सुखकर वाणी 'सूनृत' कही जाती है।।६९-७०।। विद्वान् 'इष्ट' शब्द से अग्निष्टोम आदि यागों को कहते हैं। मनीषिओं ने कुआँ, बगीचा, तालाब, प्याऊ आदि बनाने का नाम 'पूर्त' रखा है।।७१।। सभी तरह से सुलक्षण औरस पुत्र 'तनय' कहे जाते हैं। (अपने ही वीर्य से अपनी ही पत्नी में उसी के रज से उत्पादित वैध संतान औरस कहलाती है।) बहुत मूल्यवान् अनेकों गाय आदि पशु हों तभी व्यक्ति पशुओं से संपन्न कहा जाता है।।७२।। उस गृहस्थ की आशा से लेकर पशुसंपत्ति तक वर्णित इस सब को वह ब्राह्मण अतिथि जला डालता है जो बिना भोजन किये उस तुच्छबुद्धि के घर रहता है। (जिसके घर ब्राह्मण अतिथि खाये बिना रहे और गृहपति उसे संतुष्ट कर उसे भोजन न करा सके उस गृहस्थ को पाप लगता है जिससे उसकी आशादि की हानि होती है।)।।७३।।'

उन अपने परिचारकों द्वारा यों कहे गये यम भयभीत हो उस अतिथि नचिकेता से बोले— 'हे ब्राह्मण ! आप

---
१. 'अनिर्ज्ञातप्राप्येष्टार्थप्रार्थनाऽऽशा, निर्ज्ञातप्राप्याऽर्थप्रतीक्षणं प्रतीक्षा,...सङ्गतं सत्संयोगजं फलम्' इति भाष्यम्।

यमोक्तिः

एवमुक्तो यमस्तैः स्वैः किङ्करैरुक्तवानथ। अतिथिं भीतचेताः संस्तं तदा नचिकेतसम्।।७४

तिस्रो रात्रीर्गृहे यन्मे ह्यवात्सीस्त्वं प्रियोऽतिथिः। अनश्नंस्तत एव त्वं वरांस्त्रीन् वरयाऽधुना।।७५

स्वस्ति तेऽस्तु प्रियं कर्तुं यदि ब्रह्मन् समुद्यतः। नमस्तेऽतिथये तस्मादस्तु मे चास्त्वनामयम्।।७६

वरवरणम्

एवमुक्तो यमेनैव नचिकेता वरांस्त्विमान्। वव्रे त्रीन् बुद्धिसम्पन्नो धर्मराजं प्रतीदृशान्।।
पितृप्रसादमग्नेश्च ज्ञानं चैवात्मनस्तथा।।७७

पितृप्रसादमेवं स वव्रे बुद्धिमतां वरः। दुःखशून्यो यथाऽहं वै त्वत्प्रसादाद् दिवि स्थितः।।७८

सुमना विगतक्रोधस्तथा मां प्रति गौतमः। यमलोकात् पुनः प्राप्तं नाऽविश्वासमुपागतः।।
यथापूर्वं वदेदेष वरो मे प्रथमः स्मृतः।।७९

अष्टमार्थमाह — एवमिति त्रिभिः। इत्थं तैः पार्षदैः उक्तो यमः तम् अतिथिं प्रत्येवम् उक्तवान् इति।।७४।। 'एवं' कथम् ? इत्याकांक्षां पूरयति—तिस्र इति द्वाभ्याम्। हे ब्रह्मन् ! यतः त्वं मद्गृहेऽनश्नंस्तिस्रो रात्रीरवात्सीः उषितवानसि ततः तद्दोषशान्त्यर्थं वरत्रयं वरयेति।।७५।। स्वस्तीति। हे ब्रह्मन् ! यदि त्वं क्षमया मत्प्रियं कर्तुं समुद्यतः असि तस्मात् तेऽपि स्वस्त्यस्तु नमश्चास्तु, त्वत्प्रसादाद् मम सपरिवारस्य अनामयं दुःखाभावः चास्तु इत्यन्वयः।।७६।। उत्तरग्रन्थमवतारयति — एवमुक्त इति। इति उक्तो नचिकेताः पितृप्रसादा-ऽग्निज्ञाना-ऽऽत्मज्ञानरूपांस्त्रीन् वरान् वृतवानित्यर्थः।।७७।।

नवमार्थं दर्शयति — पितृप्रसादमिति षड्भिः। तत्र पितृप्रसादमित्थं वृतवान्।'इत्थं' कथम् ? हे धर्मराज! यथा दिवि स्वर्गरूपे भवल्लोके स्थितोऽहं दुःखशून्यत्वादिमांस्तथा मत्पिता दुःखशून्यत्व-सौमनस्य-निष्क्रोधत्व-विश्वस्तत्वैः युक्तः सन् माम् इतो गतं पूर्ववत् सम्भाषेत। इति द्वयोरर्थः।।७८-९।।

अतिथि को प्रणाम है। आप प्रिय अतिथि बनकर तीन रात मेरे घर खाये बिना रहे हैं अतः अब तीन वर चुन लीजिये। आपका कल्याण हो। यदि आप क्षमापूर्वक मेरा प्रिय करना चाहते हों तो सपरिवार मुझे (इस निमित्त कोई) दुःख न हो (कि आप भोजन किये बिना यहाँ रहे)।' ।७४-६।। (कर्मकांड भाग में नाचिकेतोपाख्यान में वर्णन है कि आरुणि की बात सुनकर यमालय जाने को उद्यत नचिकेता से अशरीरी वाणी ने कहा कि 'जब मृत्यु प्रवास पर गये हों तब उनके घर जाना और तीन रात बिना कुछ खाये रहना। मृत्यु लौटने पर यदि पूछे 'पहली रात क्या खाया ?' तो कहना 'तेरी प्रजाओं को।' 'दूसरी रात ?' 'तेरे पशुओं को।' 'तीसरी ?' 'तेरे सत्कर्मों को।' इसी से मृत्यु तीन वरों से उसे संतुष्ट करने को प्रवृत्त उपनिषत् में बताये गये हैं। पुराणदृष्ट्या तो यम नचिकेता की परीक्षा ही कर रहे हैं (श्लोक ५७) अतः पहले सेवकों से विदा कराने की कोशिश की व अब प्रलोभनों से उसे आत्मविमुख करने का प्रयास कर रहे हैं। श्लोक ७४ में 'भीतचेताः' से भी यही भय कहा है कि नचिकेता इन लोगों के समझाने-बुझाने से घर नहीं लौटा वरन् उपवासपूर्वक मेरी इन्तज़ार कर रहा है तो अवश्य दृढमति है और मुझसे आत्मविद्या ले ही जायेगा।)

स्वयं यमराज द्वारा यों कहे जाने पर बुद्धिसंपन्न नचिकेता ने धर्मराज से ये तीन वर माँगे— पिता की प्रसन्नता, अग्निविद्या और आत्मज्ञान। (ब्रह्मसूत्र १.४.६ में यह निर्णीत है कि तीन ही वरों का यम-नचिकेता में आदान-प्रदान हुआ।)।।७७।।

---

१. 'तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः। नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व।।'९।।
२. 'शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद् वीतमन्युर्गौतमो माऽभि मृत्यो। त्वत्प्रसृष्टं माऽभिवदेत् प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे।।'१०।।

पितुर्मे सुमहद् दुःखं वर्तते मामपश्यतः। मनसश्च तथा तापो महान् वाक्यसमीरणे।।
मृत्यवे त्वा ददामीति सुक्रोधाविष्टचेतसः।।८०
पण्डितंमन्यतां तद्वद् मम ज्ञात्वा महात्मनः। क्रोधश्च सुमहांश्चित्ते वर्तते वह्निना समः।।८१
यमं प्राप्य तथा केऽपि मर्त्यलोकं न यान्ति च। तेनैव वपुषा तस्माद् अविश्वासश्च सम्भवेत्।।८२
इतो मयि गते तत्र धर्मराज ! वरप्रद! मा भूयादखिलं त्वेतत् सम्भाव्यं त्वत्प्रसादतः।।८३
एवमुक्तो धर्मराजो नचिकेतसमब्रवीत्। सर्वमेतत् त्वया प्रार्थ्यं पितुस्तेऽद्य भविष्यति।।८४
यथापूर्वं स विश्वासी मर्त्यलोकं गते त्वयि। मया सम्प्रेरिते तेऽपि तावत् सर्वं भविष्यति।।८५

ननु तत्र मुनिवर्ये दुःखशून्यत्वादिप्रतिद्वन्द्विदुःखादिकं कथं सम्भाव्यते ? इति शङ्कां वारयितुं दुःखादिनिमित्तानि दर्शयति — पितुरिति। मददर्शनेन दुःखं, मां प्रति क्रोधावेशेन क्रूरवाक्यसमीरणोपलक्षितं दौर्मनस्यं च सम्भाव्यत इत्यर्थः।।८०।। पण्डितमिति । तथा मयि पण्डितंमन्यतां मत्वा क्रोधश्च सम्भाव्यते।।८१।। यममिति। तथा यमं गतानां तेनैव देहेन पुनरागमनस्य प्रायेण अदर्शनाद् अविश्वासश्च इतो गते मयि सम्भाव्यते।।८२।। इत इति। एतद् दुःखादिकं सम्भाव्यं वस्तुतो मत्पितरि असम्भवदपि व्यवहारदृष्ट्या सम्भावनायोग्यं त्वत्प्रसादत इतो मयि गते मा अस्तित्यर्थः।।८३।।

'दशमार्थमाह— एवमुक्त इति चतुर्भिः। स्पष्टम्।।८४।। यथेति। मया प्रेरिते त्वयि इतो गते सति स त्वत्पिता यथापूर्वं विश्वासी भविष्यति। तथा तवापि सर्वं दुःखशून्यत्वादिकं भविष्यति इति।।८५।। त्वत्कृतेनेति। तथा

बुद्धिमानों में श्रेष्ठ नचिकेता ने पिता की प्रसंनता यों माँगी — 'हे धर्मराज! आपकी कृपा से जैसे मैं इस द्युलोक (यमलोक) में दुःखरहित स्थित हूँ ऐसे ही मेरे पिता श्री गौतम (पृथ्वी पर) शांत मन वाले बने रहें। मेरे प्रति उनका क्रोध निवृत्त हो जाये। यमलोक से लौटे मुझ पर अविश्वास न करें। जैसे पहले करते थे वैसे मुझसे वार्ता करें।— यह मैं पहला वर माँगता हूँ।' (अविश्वास अर्थात् 'नचिकेता ही लौटा है या कोई भूत-प्रेत या किसी योगी ने परकायप्रवेश कर लिया है या कोई देवता मेरी परीक्षार्थ आया है' आदि विकल्पों में मत उलझें। नचिकेता की बुद्धिमानी यहाँ इसलिये कही कि पिता की खुशी के साथ अपने लौटने का वर भी उसने इकट्ठे ही माँग लिया। यद्यपि कह चुके हैं कि पिता की बात सत्य हो इसके लिये वह चाहता था कि यम उसे ग्रहण करें तथापि आयु की पूर्णता के बिना यम हमेशा के लिये उसे नहीं रख सकते यह भी उसे जानकारी थी ही अतः लौटने का स्वतंत्र वर नहीं माँगा। वस्तुतस्तु द्वितीय वर में अग्निविद्या माँगकर उसने अपनी अभिलाषा द्योतित की है कि वह चित्तशुद्धि के लिये कर्म करना चाहता है अतः अभी पूर्णतः गुरु को समर्पित होने में अक्षम है।)।।७८-९।।

शंका हो सकती है कि 'पिता दुःखी क्यों होंगे ? तुम पर क्रुद्ध क्यों होंगे ? लौटने पर पूर्ववत् बात क्यों नहीं करेंगे ? यह सब संभावित कैसे है कि तुम वर द्वारा यह निवृत्त करना चाहते हो ?' इसका समाधान नचिकेता स्वयं करता है — 'मुझे न देखकर मेरे पिता को अत्यधिक दुःख हो रहा है। मन में तेज गुस्से का आवेश हो जाने से जो उन्होंने यह वाक्य कहा 'तुझे मृत्यु को देता हूँ' उसका उनके मन में महान् सन्ताप है। इसी तरह यह समझकर कि मैं (नचिकेता) स्वयं को पण्डित मान रहा हूँ उन महात्मा के चित्त में आग-सा महान् क्रोध है। यम को प्राप्त कर उसी शरीर से मर्त्यलोक कोई नहीं लौटता अतः यहाँ से मेरे लौटने पर उन्हें अविश्वास हो यह भी संभव है। हे वरप्रद ! हे धर्मराज ! आपकी कृपा से ये सब संभावित अनिष्ट न हों यह प्रार्थना है।'८०-३।।

१. 'यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः। सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान् मृत्युमुखात् प्रमुक्तम्।।'११।।

त्वत्कृतेनैव दुःखं न गमिष्यति कदाचन। वीतमन्युश्च भविता सुखं स्थास्यति सर्वदा।।
निद्राऽऽहारादिकं तद्वत् सुखचित्तो गमिष्यति।।८६

उद्दालकः पिता ते स आरुणिः सर्वशास्त्रवित्। दृष्ट्वा मृत्युमुखाद् मुक्तं भवन्तं पुनरागतम्।।८७

पितृप्रसादमासाद्य वरं यममुखात् पुनः। नचिकेता धर्मराजम् इदं वव्रे वरान्तरम्।।८८

स्वर्गे लोके भयं किञ्चिद् मनुजानां न विद्यते। मृत्योस्त्वत्तो जरातो वा व्याधितः शत्रुतोऽपि वा।।८९

क्षुधातो वा पिपासातः शोकतो मोहतोऽपि वा। मोदते च सदा जन्तुः सुखी भूत्वेति हि श्रुतम्।।९०

स तु स्वर्गो नृभिर्गम्यः चितेनैवाऽग्निना सदा। स्वर्ग्यमग्निं भवान् स्वर्गे स्मरत्येव न संशयः।।
श्रद्दधानाय मह्यं त्वं तमग्निं वक्तुमर्हसि।।९१

मोक्षं च स्वर्गलोकस्था भजन्ति ब्रह्मविद्यया। आभूतसम्प्लवं स्थानं ब्रह्मज्ञानं विनाऽपि च।।
अयं वरो द्वितीयो मे दातव्यो भवताऽनघ।।९२

त्वत्कृतेन त्वदाचरितेन दुःखं दौर्मनस्यं न भविष्यति। स चोद्दालकोऽरुणस्याऽपत्यं वीतमन्युः स्वस्थश्च सन्निद्रादिकं करिष्यति त्वामागतं दृष्ट्वा। इति द्वयोः सम्बन्धः। उद्दालकपदेश्रुतौ स्वार्थिक इञिति[1] बोध्यम्।।८६-७।।

द्वितीयवराभिनयपरयोः[2] एकादशद्वादशयोरर्थमाह—पितृप्रसादमिति पञ्चभिः। वरान्तरं द्वितीयं वरम्।।८८।। 'इदं' किम् ? इत्याकाङ्क्षायामाह— स्वर्ग इति। स्वर्गपदेनात्र स्वर्लोकमारभ्य ब्रह्मलोकावसान ऊर्ध्वलोकसमुदायो विवक्षितः। तत्र स्वर्गे लोके गतानां मनुजानाम् अधिकारिणां भयं मृत्युरूपाद् भवतो जरादिभ्यश्च न विद्यते। तत्र गतो जन्तुः सुखेन मोदते हृष्यत्येवेति मया श्रुतं वेदविद्भ्य इति शेषः। इति द्वयोः सम्बन्धः।।८९-९०।। स त्विति। स च स्वर्गश्चितेन चयनसाध्येन अग्निना निश्चितं लभ्यते — इति च श्रुतम्। तं च स्वर्ग्यं स्वर्गसाधनभूतम् अग्निं स्वर्गे वर्तमानो भवान् अभिजानात्येव। तं मह्यं व्याचक्ष्वेत्यर्थः।।९१।। अयमग्निरमृतत्वहेतुः श्रुत इत्याह— मोक्षमिति। यतोऽनेनाऽग्निना स्वर्गं गता ब्रह्मविद्याद्वारा मोक्षरूपं मुख्यममृतं, भूतसम्प्लवाख्यप्रलयपर्यन्तस्थितिरूपं गौणममृतत्वं वा यान्तीत्यर्थः।।९२।।

इस प्रकार निवेदन सुनकर धर्मराज नचिकेता से बोले 'तुमने जो माँगा वह सब आज ही तुम्हारे पिता को प्राप्त हो जायेगा। मेरे द्वारा भेजे गये तुम जब मनुष्य लोक पहुँचोगे तब वे पूर्ववत् तुम पर विश्वास करेंगे। तुम भी हर तरह निर्दुःख रहोगे।।८४-५।। तुमने जो कुछ किया है उससे उन्हें दुःख नहीं वरन् हमेशा सुख रहेगा और उनका क्रोध निवृत्त हो जायेगा। प्रसन्नचित्त हो वे निद्रा, भोजन आदि करेंगे।।८६।। तुम्हारे वे पिता आरुणि उद्दालक सब शास्त्रों के जानकार हैं। मौत के मुँह से बचकर तुम्हें लौटा देखकर वे सारी बात सही-सही समझ जायेंगे और जैसा तुम चाहते हो वैसा व्यवहार करेंगे'।।८७।।

यममुख से पितृप्रसन्नता का वर पाकर नचिकेता ने धर्मराज से यह दूसरा वर माँगा —।।८८।। 'अधिकारी मनुजों को पृथ्वी की अपेक्षा सभी ऊर्ध्वलोकों में आप मृत्यु से, बुढ़ापे से, रोग से, शत्रु से, भूख से, प्यास से, शोक से या मोह से कोई भय नहीं रहता और जन्तु सुखी होकर हमेशा प्रसन्न रहता है — ऐसा सुना

१. 'उद्दालक एवौद्दालकिः, अरुणस्याऽपत्यमारुणिः, द्व्यामुष्यायणो वा' इति भाष्यम्। 'द्वयोः पित्रोः पूर्वभाषादिना सम्बन्धि... न जारज इत्यर्थः' इति तद्व्याख्यातारः।
२. 'स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति। उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।।१२।। स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्। स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण।।'१३।।

एवमुक्तो यमो राजा नचिकेतसमब्रवीत्। स्वर्ग्यमग्निमहं जानन् ब्रवीमि नचिकेतसे।।
तुभ्यं प्रकर्षतस्तत्[1] त्वं सावधानमनाः शृणु।।६३
अनन्तलोकसम्प्राप्तौ स्थितावपि च कारणम्। एतमग्निं सदा बुद्धौ धीमतां समवस्थितम्।
विद्धि स्वरूपतः सन्तं काष्ठेष्विव जगत्त्रये।।६४
एवमुक्त्वा यमो राजा लोकादिं सर्वकारणम्। विराडात्मकमग्निं तं तस्मै शिष्याय सोऽवदत्।।६५
यद्रूपा इष्टकास्तद्वद् यावन्त्यो वा यथाऽपि वा। चीयन्ते सकलं तद्वद् द्रव्यमन्त्रक्रियादिकम्।।६६
प्रत्यवादीत् स चाऽप्येतद् अधीतं यत्तु मृत्युतः। विश्वाससहितः शिष्यो धर्मराजस्य शासनात्।।६७

[2]त्रयोदशादित्रयाणामर्थमाह — एवमुक्त इति द्वादशभिः। एवमुक्तो यम आह — हे नचिकेतः ! तुभ्यमहं स्वर्ग्यमग्निं प्रकर्षेण इतिकर्तव्यताख्याङ्गादिकलापवैशिष्ट्यरूपेण सह ब्रवीमि, तं शृणु।।६३।। अनन्तेति। अनन्तस्य स्वर्गलोकस्य लाभे क्षेमे च कारणभूतम् एतमग्निं वक्ष्यमाणविराड्रूपत्वात् काष्ठेषु अग्निवत् त्रिषु लोकेषु स्थितमपि धीमतां बुद्धौ एव गुहाभूतायां स्थितं गोप्यत्वाद्, वस्तुतः साक्षिरूपत्वाद् वा जानीहीत्यर्थः।।६४।।

एवमिति। एवम् उक्त्वा धर्मराजः तस्मै शिष्याय तमग्निं विराड्रूपत्वेन सर्वकारणत्वाद् लोकादिं लोकानामाद्यम् अवदत्। तथा चयनयागे तस्याऽग्नेः स्वरूपघटिका इष्टका यावत्यो यत्संख्याका यादृशरूपाश्च भवन्ति, यथा च येन प्रकारेण चीयन्ते न्यस्यन्ते, यच्चान्यत् तदुपयुक्तं द्रव्यादिकम्, तत् सर्वम् अवदद्। इति द्वयोरर्थः।।६५-६।। प्रत्यवादीदिति। स च नचिकेताः तत्सर्वं मृत्युतो यमाद् अधीतं तदाज्ञया प्रत्यवादीत् प्रत्युच्चारितवान् विश्वाससहितो भयप्रयुक्तगद्गदत्वादिहीनः।।६७।।

जाता है।।८९-९०।। नर वह स्वर्ग चयन से साध्य अग्नि द्वारा ही निश्चित रूप से पा सकते हैं। (विशिष्ट ढंग से कुण्ड बना कर आधान की हुई अग्नि की परिचर्या ही स्वर्गप्रद है। विशिष्ट ढंग को चयन कहा है।) स्वर्ग में स्थित आप उस स्वर्गप्रद अग्नि (के चयनादि अंगों को व अंगावबद्ध उपासना) को जानते ही हैं इसमें संशय नहीं। मुझ श्रद्धालु को आप वह अग्नि बताने की कृपा करें।।९१।। स्वर्गलोक में स्थित योग्य अधिकारी ब्रह्मज्ञान से मोक्ष पा जाते हैं। यदि ब्रह्मज्ञान से वंचित रह जायें तो भी प्रलयपर्यन्त (स्वर्ग में) स्थितिरूप गौण मोक्ष पाते ही हैं। हे निष्पाप ! मुझे द्वितीय वर रूप से इसी अग्नि का ज्ञान प्रदान कीजिए ।।'९२।।

जब यमराज से यों निवेदन किया तब उन्होंने नचिकेता से कहा 'हे नचिकेतः ! स्वर्गफलक अग्नि की मुझे जानकारी है और तुम्हें इतिकर्तव्यता, अंगसमूह आदि विशेषणों सहित उसका उपदेश देता हूँ, तुम मन एकाग्रकर सुनो।।६३।। यह अग्नि अनंत स्वर्ग की प्राप्ति और उसकी रक्षा के प्रति कारण है। यह अग्नि आगे बताये जाने वाले विराट् का स्वरूप है अतः काठ में आग की तरह तीनों लोकों में स्थित है। फिर भी गोपनीय होने से बुद्धिमानों की बुद्धिगुफा में ही यह अग्नि भली भाँति मौजूद है, वास्तव में उनके साक्षी से यह अतिरिक्त नहीं है।' ६४।।

यों भूमिका बाँधकर राजा यमने उस शिष्य को विराट्-रूप होने से सबका कारण अतः लोकों की आदिभूत वह अग्नि समझाई।।६५।। उस अग्नि के चयन में जिस शक्ल की व जितनी ईंटें जिस तरह चिनी जाती हैं और उस कर्म में उपयोगी वस्तुएँ, मन्त्र, क्रियादि — ये भी सब उन्होंने बताये।।६६।। (यह प्रसंग कर्मकाण्ड का है अतः उपनिषत् ने 'जितनी, जैसी' आदि कहकर छोड़ दिया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में विस्तार उपलब्ध है।)

---

१. तमिति टीकापाठः।

२. 'प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्। अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम्।।१४।। लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा। स चापि तत्प्रत्यवदद् यथोक्तमथाऽस्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः।।१५।। तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः। तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण।।'१६।। नचिकेतसो वरसंख्याविषये ब्र.सू.१.४.६ द्रष्टव्यम्।

शिष्यस्य तस्य संलोक्य मृत्युः प्रज्ञामलौकिकीम्। यथोक्तोच्चारणादग्नेः सन्तुष्ट इदमब्रवीत्।।९८
वरत्रयाद् वरोऽन्योऽयं मया तुभ्यं प्रदीयते। तवैवाऽयं मयोक्तोऽग्निर्नामधारी भविष्यति।।९९
नाचिकेतममुं वह्निं कथयिष्यन्ति सद्धियः। यावद्वेदाश्च सूर्यश्च तथा भूतादिकं जगत्।।
तावदग्निरयं ब्रह्मंस्तव नाम्ना भविष्यति।।१००
अन्यं चैव वरं तुभ्यं ददामि नचिकेतसे। अग्नेरुच्चारणात्तुष्टः स्वशिष्याय महात्मने।।१०१
जाम्बूनदमणिप्रोत-सूत्रसङ्घविराजिताम्। अमूल्यनवरत्नौघमण्डितां सूर्यसन्निभाम्।।१०२
स्थूलामलकसम्मानमुक्ताकोटिविलम्बिनीम्। मालामिमां मया दत्तां स्ववक्षसि विधारय।।
चित्रवर्णां यथा मेघो विद्युतं शब्दसंयुताम्।।१०३
इत्युक्त्वा तामदाद् मालां तस्मै स नचिकेतसे। धर्मराजोऽतिसन्तुष्टो ह्यग्नेरत्रानुभाषणात्।।१०४
नाचिकेतममुं योऽग्निं त्रिश्चित्वोक्तविधानतः। यागांस्त्रीन् कुरुते मातृपित्राचार्यैः सुशिक्षितः।।१०५

शिष्यस्येति। अग्नेः चित्याग्निग्रन्थस्य प्रत्युच्चारणादनुवादात् तुष्टो यम इदम् आह—'इदं' किम् ? हे नचिकेतः! अयम् अधिको वरो दीयते यद्! अयमग्निः त्वत्सम्बन्धवाचकेन 'नाचिकेते'ति नाम्ना प्रसिद्धो भविष्यति। इति द्वयोरर्थः।।९८-९।। एतदेव स्फुटयति — नाचिकेतमिति। सद्धियः सुबुद्धयः।।१००।। अन्यं च वरं सृङ्कापदोक्तमालारूपं ददामीत्याह—अन्यमिति त्रिभिः। स्पष्टम्।।१०१।। मालां वर्णयति—जाम्बूनदेति। उत्तमकनकमया मणयो मण्याकाराः कणाः प्रोता यत्र तादृशैः सूत्रयष्टिभिर्विराजिताम्, नवभिर्वज्रादिभी रत्नैः सूर्यवद् दीप्ताम्, स्थूलामलकतुल्यानां मुक्तानां कोटिभिः असङ्ख्यव्यक्तिभिः अग्रभागैर्वा परस्परं भिलितैर्दीर्घाम् इमां सशब्दां मालां विद्युतं मेघ इव धारय। इति द्वयोरर्थः।।१०२-३।। इत्युक्त्वेति। अग्नेः अग्निग्रन्थस्य अत्र गुरोः सन्निधौ अनुभाषणाद् अनुवादात्तुष्टः।।१०४।।

'त्रिणाचिकेत' इत्यादेः षोडशस्यार्थमाह — नाचिकेतमिति त्रिभिः। इमम् अग्निं मद्वराद् नाचिकेतसंज्ञं त्रिः त्रिवारं चित्वा चयनेन[1] सम्पाद्य त्रीन् यागान् अग्निष्टोमादिकान्[3] यो मात्रा आपञ्चमवर्षात्, ततः पित्रा, तत

धर्मराज के पूछने पर उनके शिष्य ने मृत्यु से अग्निप्रसंग में जो अध्ययन किया था वह सब आत्मविश्वास सहित सुना दिया।।९७।। जैसा यमने अग्नि विज्ञान कहा था वैसा का वैसा नचिकेता ने सुना दिया तो शिष्य की असाधारण प्रज्ञा देख कर सन्तुष्ट हुए मृत्यु ने कहा 'हे नचिकेतः! तीन वरों से अतिरिक्त मैं तुम्हें यह वर दे रहा हूँ कि अभी जिस अग्निकर्म का मैंने उपदेश दिया यह तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होगा, सुबुद्धि वाले वैदिक इसे नाचिकेत अग्नि कहा करेंगे। हे ब्रह्मन्! जब तक वेद, सूर्य, महाभूतादि व जगत् रहेगा तब तक यह अग्नि तुम्हारे ही नाम से प्रचलित होगी।।९८-१००।। अग्निविद्या को तुमने सही-सही सुना दिया इसलिये अपने महात्मा शिष्य नचिकेता से संतुष्ट हुआ मैं तुम्हें एक वर और देता हूँ: नाना रंगों वाली यह मेरे द्वारा दी माला तुम अपने गले में पहना करो। इस माला में स्वर्णमय मणियों की अनेक लड़ियाँ हैं। अमूल्य नव रत्नों के समूह से जड़ी यह सूर्य-सी चमकती है। बड़े आँवले जितने मोती इसमें ऐसे पिरोये हैं कि यह अधिक लम्बी दिखती है। थोड़ा भी हिलने पर यह मधुर ध्वनि करती है। जैसे मेघ बिजली धारण कर शोभित होते हैं ऐसे तुम इस माला को धारण कर शोभा पाओ।।'१०१-३।। यह कहकर धर्मराज ने नचिकेता को वह दिव्य माला प्रदान की क्योंकि गुरु की संनिधि में तत्काल अग्निग्रंथ यथावत् सुना देने से वे नचिकेता से पूर्ण संतुष्ट थे।।१०४।।

---

१. 'त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू। ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति।।'१७।।
२. 'तद्विज्ञानः तदध्ययनः तदनुष्ठानवान् वा' इति भाष्यम्।
३. 'त्रिकर्मकृद् इज्याऽध्ययनदानानां कर्त्ता' इति भाष्यम्।

जन्ममृत्यू तरेत् सोऽत्र ब्रह्मविज्ञानजन्मना। विनाऽपि ब्रह्मविज्ञानसाकल्यं वा भवेऽत्र हि।।१०६

स्वर्गे वासोऽथ वा मोक्षो ब्राह्मणस्य हि कस्यचित्। स्वर्गादस्य परिभ्रंशो धर्मिष्ठस्य महात्मनः।।
न भवेत् पुण्यं यावद् वै तावत्कालं वसेद् ध्रुवम्।।१०७

ब्रह्मणः सूत्रतो जातमग्निं सर्वज्ञरूपिणम्। विराजं दीप्तवपुषं स्तुत्यं सर्वैः सुरासुरैः।।
ज्ञात्वा कर्मादिकं कृत्वा स्वर्गं मोक्षं च वा व्रजेत्।।१०८

यत एवं ततो येन त्रिश्चितोऽग्निर्भवेदयम्। एतत्त्रयं सुविज्ञाय रूपसङ्ख्याप्रकारतः।
इष्टका अग्निरूपं स स्वर्गे लोकेऽत्र मोदते।।१०६

आचार्येण च[1] सुशिक्षितः शिक्षाद्वारा सम्बद्धः सन् कुरुते स ब्रह्मविज्ञानजन्मना विनाऽपि ब्रह्मलोकाप्तिद्वारा जन्ममृत्यू तरेत्; अथ वा अत्र भवे जन्मनि ब्रह्मविज्ञानस्य साकल्यं सम्पत्तिं जन्मादितरणसाधनभूतां लभेत। इति द्वयोरर्थः।।१०५-६।। स्वर्ग इति। अथ वा तस्य स्वर्गवासरूपं मोक्षरूपं वा जन्ममृत्युतरणं भवति परन्तु स मोक्षः कस्यचिद् एव भवति, दुर्लभत्वात्। स्वर्गस्य जन्ममृत्युतरणरूपतासूचितमात्यन्तिकत्वमिदमेव; 'इदं' किम् ? धर्मिष्ठस्य स्वर्गाद् यत् परिभ्रंशो न भवेत् पुण्यपर्यन्तं वासश्च स्यादित्यर्थः।।१०७।। ब्रह्मण इति। हिरण्यगर्भरूपाद् ब्रह्मणो जातं विराडात्मकम् एतम् अग्निं देदीप्यमानं सर्वैः स्तुतं च यो ज्ञात्वा बाह्यं कर्म यागादिरूपम् आदिपदग्राह्यमुपासनं च करोति स भावनातारतम्यानुसारेण स्वर्गरूपां मोक्षरूपां वा शान्तिं व्रजतीत्यर्थः।।१०८।।

सकलकर्मफलोपसंहारपरस्य[2] सप्तदशस्यार्थमाह — यत एवमिति। यत एवम् ईदृक्प्रभावः अयमग्निः तत इदं सिद्धम्; 'इदं' किम् ? येन रूपसंख्याप्रकारैः त्रिविधा या इष्टकाः चित्याग्नेः स्वरूपभूताः तदात्मकम् एतत् त्रयं विज्ञाय अयं नाचिकेतोऽग्निः त्रिवारं चितः स स्वर्गं मोक्षं वा क्रमेण प्राप्य मोदत इत्यर्थः।।१०६।।

उन्होंने यह भी घोषणा की : 'पाँच वर्ष पर्यंत माता से, फिर पिता से और आचार्य से जिसने अच्छी शिक्षा पायी है ऐसा अधिकारी शास्त्रोक्त ढंग से इस नाचिकेत अग्नि का तीन बार चयन कर अग्निष्टोम आदि तीन यागों का अनुष्ठान करे तो इस जन्म में ब्रह्मानुभव उत्पन्न न होने पर भी ब्रह्मलोक पाकर जन्म-मृत्यु से परे चला जायेगा। या इसी जन्म में उसे ब्रह्मविज्ञान की सम्पूर्णता प्राप्त हो जायेगी।।१०५-६।। अथवा उसे स्वर्ग में वास मिल जायेगा। कोई ब्राह्मण तो इसके आधार पर मोक्ष भी पा सकता है। इस ढंग से स्वर्ग गये धार्मिक महात्मा का स्वर्ग से असमय निष्कासन नहीं होगा, जब तक उसका कुछ भी पुण्य बचेगा तब तक वह स्वर्ग में बना ही रहेगा।।१०७।। सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ से उत्पन्न यह सर्वज्ञरूप अग्नि विराट्-आत्मक है। यह देदीप्यमान अग्नि सब देव-दानवों द्वारा प्रशंसित है। इसे समझ-बूझकर जो यागादि बाह्य कर्म और यथाविधि उपासना करता है वह अपनी भावना के कमो-बेश के अनुसार स्वर्गरूप या मोक्षरूप शांति प्राप्त करता है।।१०८।। क्योंकि यह अग्नि इतनी प्रभावशाली है इसलिये चयनीय अग्नि की स्वरूपभूत ईटों के रूप, उनकी संख्या और उनके चयनादि का प्रकार अच्छी तरह जानकर जो इस नाचिकेताऽग्नि का तीन बार चयन कर लेता है वह स्वर्ग में आनंद पाता है, यदि पूर्ण चित्तशुद्धि से आत्मबोध पा जाये तो जीवनावस्था में ही आनंद पा जाता है।।'१०६।।

---

१. 'वेद-स्मृति-शिष्टैर्वा, प्रत्यक्षानुमानागमैर्वा' इति भाष्यम्।
२. 'त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद् विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम्। स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।।'१८।।

फलेन सहितं देवमग्निमुक्त्वा यमः पुनः। इदं वचनमाहैतत् स्वशिष्यं नचिकेतसम्।।११०

अङ्गुल्या निर्दिशन्नग्निम् एष तेऽग्निर्मयेरितः। नचिकेतस्त्वया पृष्टः स्वर्गो यो दुर्लभो नृणाम्।
द्वितीयोऽयं वरो जातस्तृतीयं वरयाधुना।।१११

आत्मज्ञानवरणम्

एवमुक्ते पुनः प्राह तृतीयवरलिप्सया। नचिकेता धर्मराजं सत्यपाशवशं गतम्।।११२

धर्मराज ! जनः सर्वश्चतुर्विधशरीरभाक्। म्रियते सर्वथैवान्ते कालादेव न संशयः।।११३

मृत्युर्जन्मभृतां यस्माद् देहेन सह जायते। अद्य वाऽब्दशतान्ते वा ततः सर्वो मृतिं व्रजेत्।।११४

जातानां मरणं नित्यं ब्रह्मादीनां समन्ततः। आवश्यकं धर्मराज ! श्रुतमेतन्मया पुरा।।११५

विद्यमानेऽपि देहेऽस्मिन्न सत्तामात्मनः सदा। केचिद् वदन्ति धीमन्त एवं युक्तिपरायणाः।।११६

आत्मा नाम न देहादिसङ्घातादपरोऽस्ति हि। स तेभ्यस्तु पृथक्त्वेन यस्मान्नैवोपलभ्यते।।११७

[1]'अष्टादशस्यार्थमाह—फलेनेति। एवं सफलमग्निरूपदेवविज्ञानम् उक्त्वा पुनर्यमः ऊर्ध्वलोकात्मकम् अग्निं निर्दिशन् सन्निदमाह—हे नचिकेतः ! यः तुभ्यं मयाऽग्निः उक्तः स एष दृश्यते स्वर्गरूपेण। एवं द्वितीयवरपूर्त्तौ सत्यां तृतीयं वरय। इति द्वयोरर्थः।।११०-१।।

[2]'येयं प्रेत' इत्यादेरूनविंशस्य अर्थमुपबृंहयति — एवमुक्ते पुनरिति त्रिंशता। स्पष्टम्।।११२।। धर्मराजेति। हे धर्मराज सर्वस्य देहिनो मरणं प्रारब्धान्तकालावच्छिन्नत्वाद् भवति, 'मृत्युर्जन्मवताम्' इत्यादि पुराणवचनैः मृत्योर्जन्मव्यापकतायाः प्रसिद्धेः। इति द्वयोः सम्बन्धः।।११३-४।। 'अतोऽन्यदार्तम्'(बृ.३.४.२) 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' (गी.२.२७) इत्यादि श्रुतिस्मृतिवचनानि चोक्तव्याप्तिं दर्शयन्तीति सूचयन्नाह — जातानामिति। ब्रह्मा हिरण्यगर्भः तत्प्रभृतीनां जन्मभाजां मरणं ध्रुवमिति मया श्रुतम् इति।।११५।। तत्र जन्मव्यापके मरण आत्मसत्तायां संशये कैमुत्यं दर्शयितुं जीवनदशायां तत्संशयं चार्वाकादियुक्तिभिर्दर्शयति—विद्यमानेऽपीति विंशत्या। केचिद् धीमन्तः तार्किकाः देहे सत्यपि आत्मनः न सत्तां सत्ताऽभावम् इत्थं वदन्तीत्यर्थः।।११६।।

'इत्थं' कथम् ? इत्याकाङ्क्षायामाह — आत्मेत्यादि। आत्मा इत्यास्तिकानां प्रसिद्धो यो भावः स सङ्घाताद् भिन्नो नास्ति, देहादिभ्यः पृथगनुपलभ्यमानत्वादित्यर्थः।।११७।। यदि तु सङ्घातात् पृथक् स इष्यते तदा वक्तव्यम्

फलसहित अग्निदेव की विद्या सुनाकर फिर यम ने अपने शिष्य नचिकेता से 'अग्नि' की अर्थात् स्वर्ग की ओर अंगुली से इशारा करते हुए यह बात कही — 'हे नचिकेतः! जिसे तुमने पूछा और मैंने सुनाया वह अग्नि यह स्वर्ग है जो लोगों को दुर्लभ है। (साधन ही फलरूप में परिणत होता है अतः स्वर्ग अग्नि है। पंचाग्नि विद्या में द्यु अग्नि प्रसिद्ध है।) तुम्हारा दूसरा वर पूरा हुआ। अब तीसरा वर माँगो।।'११०-११।।

यमराज द्वारा अनुमति पाकर तीसरे वर की चाहना से नचिकेता ने सत्य के बंधन में बँधे धर्मराज से पुनः निवेदन किया — 'हे धर्मराज ! चारों तरह के शरीरधारी सभी लोग अपने प्रारब्ध की समाप्ति के काल के निमित्त से किसी-न-किसी तरह अवश्य मर जाते हैं इसमें संशय नहीं।।११२-३।। जन्मधारियों की मृत्यु क्योंकि देह के साथ पैदा (निर्णीत) होती है इसलिये आज हो या सौ वर्ष बाद, मौत सबकी आती है।।११४।। ब्रह्मा आदि सभी जंतु जो पैदा हुए हैं उनका मरण ध्रुव आवश्यकता है ऐसा मैंने पहले सुन रखा है।।११५।।

१. 'एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण। एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व।।'१६।।
२. 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः।।'२०।।

आत्मा देहादिसङ्घातात् पृथक्त्वे स तु कीदृशः। स्पर्शादिमान् यथाऽन्यो वा प्रापितः
सर्वदेहिनाम्।।११८
स्पर्शेन लभ्यमानश्चेद् वायुरेव भविष्यति। आत्मा प्राण इति प्राप्तो ह्यनिष्टं तच्च वादिनाम्।।११९
अपि प्राणो वायुरूपो भवेदात्मा यदा तदा। तेजआदि कुतो नात्मा भवेदेतद् वदन्त्विह।।१२०
प्राणेन न विना यद्वज्जीवनं तद्वदेव हि। तेजआदि विनाऽप्यत्र न दृष्टं जीवनं क्वचित्।।
अनुष्णो वाऽपि नीरक्तो ह्यनोजा वा न जीवति।।१२१
अग्नेरौष्ण्यं वपुष्यस्मिन् रक्तं नीरात् प्रजायते। पृथिवीतस्तथौजोऽपि वायोः प्राणश्च देहिनाम्।।१२२
अपायोऽत्र चतुर्णां हि सम एव प्रदृश्यते। मरणे पक्षपातोऽयं व्यर्थः प्राणे तु वादिनाम्।।
औष्ण्यादीनामचैतन्यं यदि प्राणेऽपि तत् समम्।।१२३
अवस्थाने चतुर्णां हि ज्ञानमुत्पद्यते यदा। तदा प्राणस्य विज्ञानम् इति केन विनिर्णयः।।१२४

—किं स आत्मा स्पर्शादिगुणकः ? तद्रहितो वा ? इत्याह — आत्मा देहादीति। प्रापितः प्रसञ्जितः अभ्युपगत इति यावत्। चार्वाकैः वाय्वादिभूतचतुष्टयस्यैवाऽङ्गीकारात् स्पर्शस्य आदौ निर्देश इति बोध्यम्।।११८।। तत्रात्मनः स्पर्शवत्त्वेन त्वग्ग्राह्यत्वस्वीकारे वायुतत्त्वात्मकप्राणरूपत्वापत्तिः स्यात्, सा च नित्यात्मवादिनाम् अनिष्टा, प्राणाऽनित्यतायाः स्पष्टत्वाद् इत्याह — स्पर्शेनेति। तद् आत्मनः प्राणरूपत्वम्।।११९।। अत्र पक्षे विनिगमनाविरहमपि दर्शयति — अपीति। यदि प्राणरूपो वायुः आत्मा भवति तदा तेजःप्रभृति भूतत्रयम् आत्मा न भवतीत्यत्र किञ्चिद् विनिगमकं वाच्यमित्यर्थः।।१२०।। ननु जीवनाऽभावप्रयोजकाऽभावप्रतियोगित्वम् एव प्राणस्य आत्मत्व-साधकमिति चेत् ? सममेतत् तेजःप्रभृतिष्वपि, यत उष्णत्वाद्यभावेऽपि जीवनं न दृश्यत इत्याह — प्राणेनेति। ओजो नाम रेतसः सारभूतोऽष्टमो धातुः इत्युक्तं प्रथमाध्याये, तद्रहितोऽनोजाः।।१२१।। औष्ण्यादीनां तेजोमयत्वादिकं दर्शयति — अग्नेरिति। स्पष्टम्।।१२२।। मरणकाले तेषां सर्वेषामेव असत्त्वं सममित्याह — अपाय इति। चतुर्णां प्राणौष्ण्यरक्तौजसाम् अपायो वियोगो मरणे समो दृश्यते, जाड्यं च सर्वेषां समम्। अतः प्राण एवात्मेति पक्षपरिग्रहोऽयुक्त इत्यर्थः।।१२३।। न च ज्ञानप्रयोजकत्वं प्राणे विशेष इति वाच्यम्, ज्ञानकाले चतुर्णां सान्निध्यस्य अविशेषेण तेष्वेकस्यैव ज्ञानप्रयोजकत्वमिति वक्तुमशक्यत्वाद् इत्याह — अवस्थान इति। यदा उक्तानां चतुर्णामवस्थाने सन्निधौ समे सति ज्ञानम् उत्पद्यमानं दृष्टं तदा इदं ज्ञानं प्राणस्य एव धर्म इति वक्तुमयुक्त-

तर्कतत्पर कुछ चतुर लोग (स्थूल) देह रहते समय भी आत्मा की सदा असत्ता ही है — ऐसा बोलते हैं।।११६।। उनका कहना है कि आस्तिक जिसे आत्मा कहते-समझते हैं वह देहादि-संघात से अन्य कुछ नहीं है क्योंकि उनसे अलग वह उपलब्ध होता ही नहीं।।११७।।

आत्मा देहादिसंघात से पृथक् है तो बताना चाहिये कि है कैसा ? सब देहधारियों के आत्मा को स्पर्शादि गुण वाला मानते हो या उन गुणों से रहित ?।।११८।। उक्त गुणों वाला हो तो यदि स्पर्शेन्द्रिय से उसकी उपलब्धि होती है तो वह वायु ही होगा। इसका मतलब हुआ कि आत्मा प्राण है। किंतु आत्मा को नित्य मानने वालों को यह स्वीकृत नहीं।।११९।। आत्मा यदि प्राण-वायुरूप है तो तेज आदि आत्मा क्यों नहीं ? बताइये। (अर्थात् वायुरूप भूत ही आत्मा है, अन्य भूत नहीं इसमें नियामक या अनुकूल तर्क क्या?)।।१२०।। जैसे प्राण के बिना जीवन नहीं होता ऐसे तेज आदि के बिना भी जीवन कहीं नहीं देखा जाता। गर्मीरहित, खूनरहित या ओजरहित व्यक्ति जीवित नहीं रहता।।१२१।। प्राणियों के इस शरीर में अग्नि से उष्णता, जल से खून, पृथ्वी से ओज और वायु से प्राण पैदा होते हैं।।१२२।। मरने पर प्राण-ऊष्मा-रक्त-ओज चारों का वियोग एक जैसा होता है। प्राण पर तो वादियों का यह पक्षपात (कि वह आत्मा है) व्यर्थ है। गर्मी आदि यदि जड हैं तो वह प्राण में भी समान है।।१२३।। चारों के रहते ही ज्ञान उत्पन्न होता है

अतः प्राणात्मवादोऽयं मोहमात्रविनिर्मितः। बालिशैर्वादिभिर्युक्तिहीनैरात्मविमोहकः।।१२५

अपि प्राणो निराधारः कुतो देशान्तरं व्रजेत्। व्रजन् वा विलयं केन न व्रजेद् बाह्यवायुवत्।
न बाह्या वायवो नाशं न यान्तीति व्यवस्थितिः।।१२६

अपि वायुस्वरूपोऽयं सच्छिद्रेऽस्मिन् शरीरके। केन बद्धो वपुर्हित्वा येन नायं बहिर्व्रजेत्।।१२७

कर्मणा बन्धनं देहे कर्मणैव विनाशनम्। यदि प्राणस्य तत् कर्म नित्यं वाऽनित्यमेव वा।।१२८

नित्येन कर्मणा देहे बन्धनं वा विनाशनम्। यदि तस्य तदेवात्मा कुतस्ते न भविष्यति।।१२९

अनित्ये तस्य नाशेन देहाद् यद्वद् बहिर्व्रजेत्। नाशं केन तु तन्नाशाद् एष नैव प्रयास्यति।।१३०

तस्मात् प्राणस्य येषां स्याद् आत्मत्वं तन्मतेऽपि हि। भूतानामात्मतैव स्यात् प्रच्छन्ना
शब्दभेदतः।।१३१

मित्यर्थः।।१२४।। अत इति। आत्मनो वक्तुर्विमोहं कायति शब्दयति प्रकाशयतीति यावत्, स तथा।।१२५।।

प्राणस्य आत्मत्वाऽयोगे हेतुतयाऽनुपपत्त्यन्तरं दर्शयति—अपि प्राण इत्यादिना। किं च प्राणरूप आत्मा देशान्तरं परलोकं गच्छन् निराधारः सन् कथं व्रजेत्, मार्ग एव बाह्यवायुवत् कथं न लीयेत ? इति वक्तव्यमित्यर्थः। न च बाह्यवायूनां लये दृष्टान्तता कथम् ? इति वाच्यम्; यतो बाह्यवायवो नाशं न यान्तीति व्यवस्थितिः निश्चयो लोकस्य न अस्ति, प्रत्युत विलय एव लोकप्रसिद्ध इति।।१२६।। किं च वायुरूपस्य आत्मनो बद्धवद्देहे स्थितिरेवाऽनुपपन्नेत्याह—अपि वाय्विति। स्पष्टम्।।१२७।।

यदि च प्राणस्य देहस्थितेर्विनाशस्य च प्रयोजकं कर्मेष्यते तदा तस्य कर्मणो नित्यत्वम् अनित्यत्वं वा इति वाच्यम् इत्याह — कर्मणेति।।१२८।। आद्ये, कर्मण एव आत्मत्वापत्तिरित्याह— नित्येनेति। तस्य प्राणस्य देहे बन्धनं विनाशनं च यदि कर्माधीनं तदा तत् कर्म एवात्मा अस्तु इति।।१२९।। अन्त्य आह —अनित्य इति। अनित्ये कर्मणि सति तस्य कर्मणो नाशाद् एष प्राणरूप आत्मा नश्यति इत्येव कुतो न कल्प्यस इत्यर्थः। तथा च वादिनामनिष्टापत्तिरितिभावः।।१३०।। फलितमाह — तस्मादिति। यतः परलोकगमनाद्युपपत्तिरत्र वादे नास्ति ततो भूतचतुष्टयं संहितमात्मेति वदन्तं चार्वाकमनुसरतैव केनचिद् भाषाभेदमात्रेण प्रच्छन्नः पृथगिव भासमानोऽयं वादः प्रवर्तितो, न त्वास्तिकेनेत्यर्थः।।१३१।।

अतः ज्ञान प्राण का ही धर्म है यह निर्णय कैसे किया जाये?।।१२४।। इसलिये यह प्राणात्मवाद अल्पमति युक्तिरहित वादियों द्वारा केवल अविवेक से बनाया गया है और यह अपने प्रतिपादक के विशेष मोह को ही प्रकट करता है।।१२५।।

किंच प्राण बिना आधार के देहांतररूप या लोकांतररूप अन्य स्थान पर कैसे जायेगा ? यदि चला भी जाये तो रास्ते में ही विलीन क्यों नहीं हो जायेगा जैसे बाहरी हवा हो जाती है ? बाहरी (शरीर से बाहर बहने वाली) हवाएँ नष्ट नहीं होतीं ऐसी तो कोई व्यवस्था है नहीं।।१२६।। यह भी विचारणीय है कि वायुरूप यह आत्मा छिद्रयुक्त इस शरीर में बँधा किससे है कि यह शरीर छोड़कर बाहर नहीं निकल जाता ?।।१२७।।

यदि प्राण का शरीर में बँधना कर्म से है और कर्म से ही उसका शरीर में (मरणानंतर) अदर्शन होता है तो सोचना चाहिये कि वह कर्म नित्य है या अनित्य ?।।१२८।। यदि देह में प्राण के बंधन और अदर्शन का निमित्तभूत कर्म नित्य है तो तुम्हारे अनुसार वही आत्मा क्यों नहीं होगा ? (आत्मा नित्य है यह मानते हो तो कर्म को आत्मा क्यों नहीं स्वीकारते ?)।।१२९।। कर्म यदि अनित्य है तो जैसे उसकी (कर्म की) समाप्ति से प्राण शरीर से बाहर निकलते हैं वैसे कर्मसमाप्ति पर प्राणरूप आत्मा नष्ट ही क्यों नहीं हो जाता ?।।१३०।। इसलिये जो प्राण को आत्मा मानते हैं उनके मत में अन्य शब्दों में छिपाकर महाभूतों की ही आत्मरूपता बतायी जाती है।(प्राण का परलोकगमन आदि पूर्वोक्त रीति से चार्वाक तार्किक अनुपपन्न मानकर कह रहा है कि भूतात्मवाद से अलग लगने पर भी प्राणात्मवाद है भूतात्मवाद ही अतः आस्तिकमत यह नहीं हो सकता।)।।१३१।।

स्पर्शवांस्तत एवात्मा न भवेद् देहतः पृथक्। अदर्शनाच्च सततं न रूपरसगन्धवान्।।१३२

चतुर्भ्योऽपि च भूतेभ्यः शब्दवान् न पृथक् क्वचित्। पृथक्त्वसम्भवे वन्ध्यापुत्रोऽत्र कलभाषणः।।१३३

अपि चेच्छब्दवानेष गृह्यते केन तद्वद। न हि शब्दवतां श्रोत्रादस्ति लोके ग्रहः क्वचित्।।१३४

मनसा ग्रहणं नैव क्वचित् स्याद्धि व्यवस्थितम्। यद्यत् कल्पयते यस्मात् तत्तत्तेनाऽत्र पश्यति।।१३५

अत एव च नैवाऽयं स्पर्शाद्यात्मा कदाचन। स्पर्शादयो गुणा यस्माद् द्रव्यमात्मा च वादिनाम्।। गुणरूपं कथं द्रव्यं मते तेषां भविष्यति।।१३६

एवं स्पर्शवत्त्वं यथात्मनो नोपपद्यते तथा रूपादिमत्त्वमपि सदा नास्ति अनुपलब्धेः इत्याह—स्पर्शवानिति।।१३२।। न च शब्दवत्त्वमप्यात्मनः स्वीकर्तुं शक्यं, भूतचतुष्टयस्यैव शब्दवत्त्वेन उपलब्धेः। यदि तु भूतचतुष्टयभिन्नस्य अपि शब्दवत्त्वमिष्यते तदा वन्ध्यापुत्रोऽपि शब्दवत्त्वेन अभ्युपगम्येतेत्याह—चतुर्भ्य इति। कलभाषणो मधुरस्वरः स्यादिति शेषः।।१३३।।

किं चात्मनः शब्दवत्त्वाङ्गीकारे तस्य श्रोत्रेण ग्रहणं न वाच्यं, श्रोत्रस्य शब्दवद् द्रव्यग्रहणाऽक्षमत्वस्य वादिभिरेव स्वीकृतत्वाद् इत्याह—अपि चेदिति। ।।१३४।। अस्तु तर्हि मनस्तत्र करणम्—इति शङ्कां वारयति—मनसेति। शब्दवतो ग्रहणं केवलमनसा भवति इत्येतल्लोके व्यवस्थितं निश्चितं न अस्ति यतो यद् यद् एव मनोरथादिकं मनः कर्तृ कल्पयति रचयति तत्तद् एव तेन मनसा पश्यन् जनः प्रसिद्धो, न तु शब्दादिकमपि मनसा पश्यन्नित्यर्थः।।१३५।।

अत एवेति। अतः अनित्यत्वादिप्रसङ्गाद् अयमात्मा स्पर्शादिगुणरूपोऽपि न सम्भवति इत्यर्थः। गुणरूपत्वे चकारसूचितं दोषान्तरं दर्शयति—स्पर्शादय इत्यादिना। स्पर्शादयो गुणा भवन्ति आत्मा च द्रव्यं भवति इति वदतां तेषां मते द्रव्यं गुणरूपं कथं भविष्यति इति सम्बन्धः।।१३६।। अत एव न रूपादीति। अत उक्तदोषाद् एव

वाय्वात्मक न होने से देहातिरिक्त आत्मा स्पर्शवान् नहीं है। उसे देखना-चखना-सूँघना कभी न होने से वह रूप-रस-गंध वाला भी नहीं है।।१३२।। चार भूतों से अन्य शब्दवान् कोई भावभूत तत्त्व नहीं है। यदि चार भूतों से पृथक् कोई शब्दवान् हो तो वन्ध्यापुत्र भी मधुर स्वर में बातें करने वाला लोक में हो जाये। (अर्थात् शब्दाधिकरण यदि चार भूतों से अन्य मानोगे तो वन्ध्यापुत्र अर्थात् असत् को ही वैसा क्यों नहीं मानते? चार भूत ही शब्दगुण वाले भी हैं यह भाव है, इनसे अन्य आकाश को भावभूत तत्त्व स्वीकारना आस्तिकों का व्यर्थ आग्रह है।)।।१३३।।

किंच आत्मा यदि शब्दवान् है तो बताओ इसका ग्रहण किससे होता है ? शब्दवान् का श्रोत्र से ग्रहण लोक में कहीं नहीं होता। (श्रोत्रेंद्रिय शब्द को ग्रहण करती है न कि शब्दाधिकरण या शब्दगुणक द्रव्य को ऐसा चार्वाक आदि तार्किकों का अभिमान है। 'सितार सुन रहा हूँ, तबला सुन रहा हूँ' आदि को वे श्रोत्र से होता प्रत्यक्ष नहीं मानते।)।।१३४।। शब्दवान् का ग्रहण केवल मन से हो जाये यह भी लोक में निश्चित नहीं किया जा सकता क्योंकि मन जो मनोरथादि कल्पित करता है वही मन द्वारा व्यक्ति देख पाता है। (शब्दवान् का मनोरथ होने पर मन से उसका ग्रहण हो भी जाये पर इससे यह नियम नहीं निकलता कि शब्दवान् का ग्रहण मन से होता है।)।।१३५।।

अनित्यतादि दोष प्राप्त होने के कारण ही आत्मा स्पर्शादिरूप हो यह कभी नहीं हो सकता। स्पर्शादि हैं गुण जबकि वादी लोग आत्मा को द्रव्य मानते हैं। द्रव्य गुणरूप कैसे हो सकता है ? (न्यायी आदि द्रव्य गुणादि को सर्वथा पृथक्-पृथक् पदार्थ मानते हैं जो आपस में एक-दूसरे के स्वरूप वाले कभी नहीं होते। उनके मतानुसार आत्मा द्रव्य है अतः स्पर्शादि गुण को आत्मा नहीं कह सकते यह अभिप्राय है।)।।१३६।। इसीलिये रूपादि गुणों से भिन्न भी आत्मा

अत एव न रूपादिव्यतिरिक्तो भवेदिह। ग्राहकत्वेन नेत्रादेरसत्त्वाद् ग्रहणं प्रति।।१३७

इत्यादिवचनैस्तेषां मोमुह्यन्तेऽत्र धीधनाः। जीवत्यपि मृते प्रायः सर्वे संशेरते यम!।।१३८

वेदवाक्यबलेनैव केचिदस्तीति तं विदुः। अपरे युक्तिबलतो नास्तीत्येवं प्रपेदिरे।।१३९

एतस्मिन् संशये मह्यं ब्रूहि त्वं निर्णयं प्रभो। अनुशिष्टस्त्वया विद्याम् अत्राऽहं निर्णयं सदा।।१४०

ततोऽन्यतरदत्र त्वं सविशेषं वदाऽधुना। अयं तृतीयो भवता देयो मे वर ईश्वर!।।१४१

श्रद्धापरीक्षा

एवमुक्ते यमः प्राह तं तदा नचिकेतसम्। नैतत् प्राक्षीरिति श्रीमान् वारयन् हस्तसंज्ञया।।
हेतुं चाप्यवदत् तत्र तत्कृतप्रश्नवारणे।।१४२

रूपादिगुणभिन्नत्वम् अपि आत्मनो न भवति इत्यर्थः। कोऽसावुक्तदोषः ? इत्याकाङ्क्षायामाह—ग्राहकत्वेनेति। यदाऽसौ वाय्वादिद्रव्यरूपेण गुणभिन्नो वाय्वादिभिन्नो वा भवेद्, उभयथाऽपि तद्ग्रहणम् अभिलक्ष्य करणविचारे क्रियमाणे नेत्रादिकं ग्राहकरूपेण न तिष्ठति तेषां रूपादिष्वेव शूरत्वादित्यर्थः।।१३७।। इत्यादीति। इत्यादिभिः तेषां कुतार्किकाणां वचनैः धीमन्तोऽपि जीवनदशायामपि च सङ्घातव्यतिरिक्तात्मसत्तायां व्यामोहं गच्छन्तीति।।१३८।।

यथा तार्किकास्तस्य नास्तित्वं वदन्ति तथा तस्याऽस्तित्वं वेदानुसारिणो वदन्ति इत्याह — वेदेति। तं सङ्घातव्यतिरिक्तात्मानम्।।१३९।। एतस्मिन्निति। एतस्मिन् अस्तित्वनास्तित्वकोटिके संशये सति भवान् निर्णययोग्यमर्थं ब्रवीतु यथा अहं त्वया शिक्षितः सन् विद्यां जानीयाम् इति।।१४०।। तत इति। अत्र अनयोः पक्षयोर्मध्येऽन्यतरपक्षोपपादकं सविशेषं वाक्यं वद इति।।१४१।।

नचिकेतसः श्रद्धापरीक्षणाय यमवाक्याभिनयंपरस्य 'विंशस्यार्थमाह — एवमुक्त इति पञ्चभिः। एतच्छ्रुत्वा यमस्तं नचिकेतसं हस्तद्वयभ्रामणलक्षणया चेष्टया वारयन् सन् एतद् मा प्राक्षीरिति उक्तवान्। तत्र हेतुम् अपि अवदद्

नहीं हो सकता क्योंकि उसके ग्रहण के लिये ग्राहक रूप से नेत्रादि उपलब्ध नहीं हैं। (नेत्रादि रूपादि के ही ग्रहणकर्त्ता हैं अतः रूपादिभिन्न को वे ग्रहण कर नहीं सकते।)।।१३७।।

हे यम! चार्वाक तार्किकों के ऐसे वचनों से संसार में बुद्धिमान् लोग भी घने मोह में पड़ जाते हैं। जीवित काल में ही देहातिरिक्त आत्मा है या नहीं इसमें उन्हें संशय हो जाता है। मरने के बाद आत्मा है इस पर तो प्रायः सभी संशयालु हैं।।१३८।।

वेदों का अनुसरण करने वाले कुछ लोग वेदवाक्यों के आधार पर संघातभिन्न आत्मा है यह प्रतिज्ञा करते हैं जबकि नास्तिक युक्तियों के आधार पर वह नहीं है ऐसा समझते हैं।।१३९।। हे प्रभो ! देहादि से अतिरिक्त आत्मा है या नहीं इस संशय से ग्रस्त मुझे आप इस बारे में निर्णय बताइये ताकि आपके उपदेशानुसार मैं इस बारे में निश्चय प्राप्त कर लूँ।।१४०।। 'है' - 'नहीं है' इनमें से किसी एक पक्ष के बारे में आप सोपपत्ति निश्चित सिद्धांत बताइये। हे ईश्वर ! यही आपके द्वारा मुझे देय तीसरा वर है।।'१४१।।

नचिकेता के यों पूछने पर उससे यम ने अपने दोनों हाथ हिलाकर मना करते हुए कहा 'हे श्रीमान् ! यह प्रश्न मत पूछो।' इस सवाल की मनाही में उन्होंने हेतु भी समझाया।।१४२।। 'इस संदर्भ में पूछना इसलिये अनुचित है कि आत्मतत्त्व का विज्ञान अतिकठिन है। शमादिशील प्राचीन देवता भी इसे समझना चाहते रहे हैं। संदेहपूर्वक प्रयास

१. 'देवैरत्राऽपि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः। अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्।।'२१।।

दुर्विज्ञेयमिदं यस्माद् देवैश्च विचिकित्सितम्। सन्दिह्य च पुरा देवाः केचिदद्याप्यनिश्चिताः।।१४३

अस्तिता नास्तिता धर्मः सूक्ष्म एष निजात्मनः। यतस्ततो न जानन्ति देवा अपि महाधियः।।१४४

वरमन्यं तृतीयं त्वं नचिकेतो वृणीष्व भोः। मोपरोत्सीर्महाभागं मा त्वं सत्यवशङ्गतम्।।१४५

मुञ्च मां सत्यवचनाद् बद्धं तव वशं गतम्। माऽतिप्रश्नमिमं ब्रह्मन् दुर्विज्ञेयं मयि क्षिप।।१४६

एवमुक्ते यमं प्राह नचिकेता इदं वचः। देवाः संशेरते यत्र दुर्विज्ञेयं च यत्त्वया।

पूर्वैरप्युदितं त्वं च वक्ता यस्याऽतिदुर्लभः।।१४७

तच्वेदहं न भवतो जानीयां कः परो मम। त्वादृगस्य भवेद्वक्ता पुमान् लोकत्रयेऽपि च।।१४८

ततो यदि मयि प्रीतिर्यदि सत्यं वचस्तव। एतमेव वरं मह्यं लोकपाल प्रयच्छ भोः।।१४९

अनेन सदृशो नान्यो वरः कश्चन विद्यते। यतस्ततः कथं मेऽन्यं त्वं वरं दातुमुद्यतः।।१५०

इति।।१४२।। दुर्विज्ञेयमिति। इदम् आत्मतत्त्वं दुःखेन ज्ञेयं भवति यतः पूर्वेऽपि देवाः शमादिशालिनोऽत्राऽऽत्मनि सन्दिह्य निश्चयं न गता इत्यर्थः।।१४३।। तत्र हेतुमाह — अस्तितेति। यत आत्मनः अस्तितारूपः नास्तितारूपो वा धर्मः सूक्ष्मो दुर्लक्ष्यः।।१४४।। वरमन्यमिति। हे नचिकेतः! त्वम् इतोऽन्यरूपं तृतीयं वरं वरय। मोपरोत्सीः अत्रार्थे ममोपरोधं दाक्षिण्येन प्रेरणरूपं प्रति मां न नयेत्यर्थः।।१४५।। मुञ्चेति। मां सत्यपाशमुक्तं कुरु दुर्ज्ञेयार्थगोचरम् अतिप्रश्नं मयि मा क्षिप उपन्यसितुं नार्हसीत्यर्थः।।१४६।।

'एकविंशस्यार्थमाह — एवमिति चतुर्भिः। एवं यमेन उक्ते सति तं प्रति नचिकेता इदम् उवाच। 'इदं' किम्? हे धर्मराज ! यत्र आत्मतत्त्वे देवानां संशयो, यस्य च दुर्ज्ञेयत्वं भवता पूर्वैः च प्रोक्तं, यस्य च दुर्लभो वक्ता भवान् लब्धः, तच्वेदहं भवतो न जानीयां तदाऽन्यं कं वक्तारमन्विच्छेयम्। इति द्वयोरर्थः।।१४७-८।। फलितमाह — तत इति द्वाभ्याम्। स्पष्टं द्वयम्।।१४९-५०।।

करके भी कुछ देवता आज भी इस बारे में निश्चय पर नहीं पहुँच पाये।।१४३।। होना या न होना रूप आत्मा की विशेषता क्योंकि दुर्लक्ष्य है इसीलिये विशाल जानकारी वाले देवता भी इसे सही-सही नहीं जान पाते।।१४४।। हे नचिकेता! तुम कोई और वर माँग लो। सत्य के वशीभूत मुझ महाशय को तुम यही वर देने को मजबूर मत करो।।१४५।। हे ब्राह्मणदेव ! 'तीन वर देता हूँ' इस सत्य प्रतिज्ञा से बँधा मैं तुम्हारे वश में हूँ। अन्य वर माँग कर मुझे उस बन्धन से छुड़ाओ। जिसका उत्तर समझना बहुत मुश्किल है ऐसा अतिप्रश्न मुझसे मत करो।' (प्रश्नयोग्य वस्तुओं से अतीत के बारे में प्रश्न उठाया जाये तो अतिप्रश्न कहलाता है। यहाँ तो दुर्बोधता द्वारा ज्ञानार्थ यत्नातिशय की आवश्यकता में तात्पर्य है पर यह भी सूचित है कि प्रत्यग्विषयक होने से स्वयमेव आलोचना द्वारा, विवेक द्वारा इसका निश्चय संभव है, प्रश्न पूछकर अन्य से सुना उत्तर इसका निर्णायक हो नहीं सकता क्योंकि गाय-भैंस की तरह सींग पकड़कर इसे संमुख नहीं दिखाया जा सकता। प्रश्नों की जरूरत अनात्मनिरासार्थ ही है।)।१४६।।

यम द्वारा इस तरह आत्मविषयक प्रश्न पूछने से मना करने पर नचिकेता ने ये वचन कहे : 'हे धर्मराज ! जिस बारे में देवता भी संशयग्रस्त हैं, प्राचीनों ने और आपने भी जिसे समझना मुश्किल बताया है, जिसके बारे में बताने वाला मिलना कठिन होता है, वह विषय यदि मैं आपसे नहीं जान पाया तो तीनों लोकों में आप जैसा परम आप्त और कौन उपदेशक मुझे मिलेगा जिससे मुझे इसका ज्ञान हो ? हे लोकपाल ! अगर मुझ पर आपकी कृपा हो, यदि आप

१. 'देवैरत्राऽपि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ। वक्ता चाऽस्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्।।'२२।।

एवमुक्तो यमो राजा परितुष्टोऽब्रवीदिदम्। अष्टमानपि तेभ्योऽन्यान् वरान् कृत्वाऽष्ट मानयन् ।।१५१

शतायुषो गुणैर्युक्तान् पुत्रपौत्राननेकशः। रूपयौवनसम्पन्नान् बहुमूल्यान् बहून् पशून ।।१५२

गवादिकांस्तथा नागान् प्रत्यक्षानिव पर्वतान्। काञ्चनं काञ्चनगिरेः समानं स्वर्गतः स्थितम् ।।१५३

सवितुर्यादृशास्तादृगश्वाश्चाऽऽकाशगामिनः। सार्वभौमं तथा राज्यं भूमेः कण्टकवर्जितम् ।।
आयुः स्वस्याऽपि तद्वच्च यावदिष्टं तवाऽत्र भोः ।।१५४

एतत् सर्वं पुरोक्तं यत् तुल्यं तद्यदि मन्यसे। पुरोक्तेन वरेणाऽत्र तद् वृणीष्व यथेच्छया ।।१५५

'द्वाविंशादित्रिकस्याऽर्थं वर्णयति — एवमिति द्वाविंशतिश्लोकैः। एवंविधं नचिकेतसो वाक्यं श्रुत्वा धर्मराज इदं वक्ष्यमाणं वचनम् अब्रवीत्। किं कुर्वन् ? नचिकेतसो वैराग्यपरीक्षणाय अष्टमान् अष्टसंख्यया मिताः परिच्छिन्नास्ते तथा तान् इति व्युत्पत्या अष्टसंख्याकवाचकेन परिखावत् डप्रत्ययसाधुना अष्टमपदेनोक्तान् अष्ट वरान्, तथा तेभ्यः प्रथमाष्टभ्यः अन्यानपि अष्टवरान् कृत्वा उपन्यस्य मानयन् प्रशंसन् प्रलोभयन्निति यावत्। तथा हि — द्वाविंशे पुत्राः पौत्राः पशवो हस्तिनो हिरण्यम् अश्वा मण्डलाधिपत्यं चिरजीवनम् — इत्यष्टौ वरा उक्ताः। त्रयोविंशचतुर्विंशयोः च — वित्तं, स्थिरं जीविका, चक्रवर्तित्वं, दिव्यमानुषकामभोगित्वं, सत्यकामत्वं, दिव्यस्त्रियः, तासां दास्यः, तासां तूर्यपदोक्तनाट्यकौशलं चेत्याकारा अष्टौ वरा उक्ताः—इति।।१५१।।

तत्र प्रथमवराष्टकमभिनयति — शतायुष इति त्रिभिः। शतायुषः शतवर्षजीविनः पुत्रान् पौत्रांश्च रूपादिसम्पन्नान् वृणीष्व इति सम्बन्धः। तथा गवादिकान् पशून् तथा नागान् हस्तिनः, तथा स्वर्गे स्थितं काञ्चनं च इति द्वयोरर्थः।।१५२-३।। सवितुरिति। सूर्याश्वसमान् अश्वांस्तथा सर्वत्र भूमौ गुणैः प्रसिद्धं भूमेः मण्डलस्य राज्यं, यथेष्टम् आयुश्च इति।।१५४।। एतदिति। एतत् पुरोदितं यदि तृतीयवरेण समं मन्यसे तदा वृणीष्व इति।।१५५।।

अपना वचन सच्चा रखना चाहते हों तो मुझे यही वर प्रदान करें।।१४७-९।। क्योंकि इसके समान कोई और वर (श्रेष्ठ) है ही नहीं इसलिये आप मुझे अन्य वर देने को तैयार कैसे हो गये ?' (अर्थात् वर क्योंकि आत्मा से अन्य कोई है नहीं — जैसा प्रतर्दनसंवाद में सिद्ध कर चुके हैं — इसलिये अन्य वर आप दे ही नहीं सकते यह भाव है।)।।१५०।।

नचिकेता के यों कहने पर यमराज को संतोष हुआ और नचिकेता को प्रशंसित करते हुए उसे सोलह वर चुनने का मौका दिया (अर्थात् बाइसवें मंत्र में आठ और तेइसवें में आठ — यों सोलह पदार्थ यम ने नचिकेता के सामने उपन्यस्त किये कि इन्हें ग्रहण कर लो, आत्मजिज्ञासा छोड़ दो। विप्रबाल की वैराग्यपरीक्षा द्वारा श्रुति स्पष्ट कर रही है कि आत्मजिज्ञासु ऐहिक-आमुष्मिक फलों से सर्वथा विमुख रहे तभी ज्ञान प्राप्त कर सकता है।)।।१५१।। यमराज बोले 'सद्गुणसंपन्न अनेकों सौ-सौ सालों की उम्र वाले बेटे-पोते चुन लो, वररूप से माँग लो, जो सभी अति सुंदर हों व बुढ़ौती में भी जवानी जैसा स्वास्थ्य पायें। गायें आदि बहुतेरे पशु चुन लो। बड़े-बड़े हाथी चुन लो जो यों दीखें मानो पहाड़ ही सामने आ गये हैं! स्वर्गस्थित स्वर्णपर्वत के बराबर सोना चुन लो।।१५२-३।। सूर्य के घोड़ों जैसे घोड़े चुन लो जो आकाश में भी दौड़ लें। सारी पृथ्वी का निष्कण्टक सार्वभौम राज्य ले लो। जितनी इच्छा उतनी आयु ले लो।।१५४।। तुम्हारे तृतीय वर के बराबर यदि इन सबको समझते हो तो स्वेच्छानुसार ये सभी माँग लो। (अर्थात् यद्यपि मैं एक-

१. 'शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्। भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि।।२३।। एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च। महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि।।२४।। ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व। इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः। आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेता मरणं मानु प्राक्षीः।।'२५।।

वित्तं बहुविधं तद्वद् आत्मनश्चिरजीविकाम्। महाभूमावाधिपत्यं नचिकेतस्त्वमाप्नुहि।।१५६
पुत्रपौत्रादयः कामास्ते च ते मत्प्रसादतः। भवन्त्वव्याहताः सर्वे नचिकेतः! सदैव हि।।१५७
ये यत्र दुर्लभाः कामाः सन्ति लोकत्रयेऽपि हि। प्रार्थयस्व महाभाग! स्वेच्छया त्वं हि तानपि।।१५८
इमा रामाः सदा पुंसां मनोनयननन्दनाः। स्वर्गिणां बहुभिर्यज्ञैः प्राप्ता नयनगोचरम्।।१५९
पीनोन्नतकुचद्वन्द्वतिरस्कारसुधाकराः। नितम्बबिम्बसंलग्नकाञ्चीक्वणितभूमयः।।१६०
मुखपङ्कजसौगन्ध्यमारुतावासितान्तराः। अवृन्तचम्पकोद्दामस्पर्शभर्त्सकमार्दवाः।।१६१
उद्दामहावभावौघ-रसोल्लासविलासकाः। कलकण्ठरवत्रस्तभृङ्गीसङ्गीतसुस्वराः।।१६२
स्निग्धमुग्धस्मितानेकचित्रार्थपदभाषिकाः। स्वदेहविमलस्वच्छकान्तिभर्त्सितभास्कराः।।१६३
सर्वलक्षणसम्पन्नाः प्रथमोद्गतयौवनाः। स्वदेहेन स्मरस्याऽपि सततं स्मरदायिकाः।।१६४

द्वितीयं वराष्टकमभिनयति — वित्तमिति द्वादशभिः। महाभूमौ सर्वस्यां भूमौ, आप्नुहि लभस्व।।१५६।। पुत्रेति। पुत्रादयो लौकिकाः कामाः काम्यमानपदार्थाः ते दिव्याश्च ये कामाः ते सर्वेऽव्याहता व्याघातरहिताः सन्तु तवेति।।१५७।। ये यत्रेति! ये दुर्लभाः कामास्तानपि इच्छया सङ्कल्पमात्रेण निष्पद्यमानान् प्रार्थयस्व वरयेत्यर्थः।।१५८।। इमा इति। या इमा रामाः स्वर्गस्त्रियः पश्यसि ताभिरात्मानं परिचारयेति दशमेन (श्लोक. १६८) अभिसम्बन्धः। स्फुटमन्यत्।।१५९।। तासां दौर्लभ्यसूचकानि विशेषणानि आह—पीनोन्नतेत्यादि। पीनोन्नतेन कुचद्वन्द्वेन तिरस्कारो यस्य तथाभूतः सुधाकरश्चन्द्रो याभिस्तास्तथा। अयं भावः—चन्द्रः चक्रवाकद्वन्द्वस्य दुःखद इति प्रसिद्धम्। तत्प्रतीकाराय चक्रवाकद्वन्द्वं यत्कुचद्वन्द्वभावं गत्वा तं चन्द्र-मण्डलाकारत्वशोभातिशयादिभिः तिरस्करोतीव — इति। अथवा तादृशकुचाच्छादकाश्च ताः सुधाया अधरवृत्तेः आकराः, नितम्बमण्डललग्नकाञ्चीशब्दवत्यश्च।।१६०।। मुखेति। मुखपङ्कजस्य सौगन्ध्यशालिना मारुतेन वासितम् अन्तरं गृहमध्यं याभिस्तास्तथा। वृन्तरहितचम्पकमयं यद् उत्कृष्टं दाम माला तत्स्पर्शस्य भर्त्सकं मार्दवं मृदुत्वं यासां तास्तथा।।१६१।। उद्दामेति। उत्कृष्टैः हावैः शृङ्गारचेष्टाभिः भावैः मानसविकारैः च रसोल्लासकरा विलासा यासां तास्तथा। कलकण्ठानां कोकिलानां रवाश्च त्रस्तानां भृङ्गीणां सङ्गीतं च तत्तुल्यः शोभनः स्वरो यासांतास्तथेति।।१६२।। स्निग्धेति। स्निग्धं मुग्धं च यत् स्मितं तेन अनेकेषां चित्रार्थानां पदानां भाषिकाः। देहकान्त्या रवेर्जेत्र्यः, मदनस्यापि मादकाश्च। इति द्वयोरर्थः।।१६३-४।।

एक वर बोलता गया तथापि मैं ये सब भी देने को तैयार हूँ।।१५५।। ऐसे ही बहुत तरह का धन ग्रहण कर लो। स्वयं के लिये चिर जीवन चुन लो। सारी भूमि पर आधिपत्य तुम्हारा हो जाये यह माँग लो। (पूर्व में पृथ्वी पर राज्य कहा था। यहाँ कह रहे हैं कि जहाँ भी भूमितत्त्व है वहाँ तक राज्य ले लो।) ।।१५६।। मेरी कृपा से लौकिक व दिव्य काम्य पदार्थ बिना रोक-टोक के हमेशा के लिए तुम्हारे हो जायें।।१५७।। हे महाभाग! तीनों लोकों में जो कोई भी दुर्लभ भोग्य हो वह संकल्पमात्र से तुम्हें मिल जाया करे—ऐसी सामर्थ्य माँग लो।।१५८।। ये स्वर्ग की स्त्रियाँ हैं, इनसे अपनी सेवा कराओ। पुरुषों के मनों और नेत्रों को ये हमेशा आनंद देती हैं। बहुतेरे यज्ञों द्वारा ये स्वर्गस्थितों को दृष्टिगोचर होती हैं।।१५९।। स्थूल व कसे स्तनद्वयों से ये चंद्रमा का भी तिरस्कार करती हैं। (अर्थात् चंद्रलभ्य आह्लाद से अधिक सुख इनके स्तन देखने से होता है।) इनके नितंबों पर (कमर में) बाँधी करधनी के मणियों की ध्वनि से भूमि पर मधुर ध्वनि बनी रहती है।।१६०।। इनके मुखरूप कमलों से सुरभित वायु कमरों को सुवासित कर देती है। इनकी कोमलता उस माला से अधिक है जो चंपा के उन फूलों से बनी है जिनकी दण्डियाँ तोड़ दी गयी हैं।।१६१।। उत्कृष्ट

विचित्रवसनास्ताराऽनर्घ्याभरणमण्डिताः।
(प्राणिनां पुण्यपुञ्जेन निर्मिताः सुखमूर्तयः। शश्वत् परिवृता एतैरथ नागाश्वपत्तिभिः।।)[1]
दासीनां च शतेनाऽपि स्वात्मरूपसमेन हि। तूर्यैर्नानाविधैस्तद्वत् सर्वदा परिवारिताः।।१६५
आसां कटाक्षमोक्षोऽपि मोक्षादप्यक्षयं सुखम्। प्रयच्छति कथं स्पर्शः परमानन्ददो न हि।।१६६
आलिंग्यन्त इमा नित्यं निःशङ्कं स्वर्गवासिभिः। मदाज्ञावशगैर्नैता मनुष्ये कर्हिचिद् द्विज !।।१६७
मद्दत्ताभिः स्वमात्मानं सततं परिचारय। नचिकेतस्त्वमत्रैतद् मरणं पृच्छ मा क्वचित्।।१६८
मृते सति गतः स्वर्गं यदि वा भस्मतां पुमान्। भवतः कोऽत्र लाभः स्यात् काकदन्तपरीक्षणे।।१६९
इदं सुखं तवैव स्याद् अधुना फलमत्र भोः। विचारो मरणे नाऽयं फलं कस्यापि तद्भवेत्।।१७०
चेष्टेत सफलं धीमान् निष्फलं न कदाचन। सफलेऽपि फलं स्वस्य यत्र तच्चेष्टनं वरम्।।१७१
एवमादिवरान् प्राह यमस्तं नचिकेतसम्। लोभयन् स्वात्मविज्ञानप्रश्नस्योपरमाय हि।।१७२

विचित्रेति। ताराणि भास्वराणी अनर्घ्याणि च यानि आभरणानि तैः मण्डिताः। तथा दासीनां कायशतेन स्वसमानवेषेण श्रौतरथपदोक्तेन युताः तथा तूर्यैः वाद्यैर्युताः। 'रथः स्याच्चरणे काये' — इति विश्वः।।१६५।। आसामिति। स्पष्टम्।।१६६।। आलिङ्ग्यन्त इति। या एता मदनुगृहीतैः स्वर्गस्थैः एव आलिङ्ग्यन्ते मनुष्यलोके न सन्ति चेति।।१६७।। मद्दत्ताभिरिति। हे नचिकेतः! त्वम् एताभिः मद्दत्ताभिः आत्मनः परिचर्यां कारय, मरणविषयकं प्रश्नं मा कुर्वित्यर्थः।।१६८।।

तत्प्रश्नस्य वैयर्थ्यं स्फुटयति — मृत इति। मरणानन्तरं जीवः स्वर्गादिकं गच्छतु वा, अभावं गच्छतु वा, तच्चिन्तायां काकदन्तसदसद्भावचिन्तासमायां किं फलमिति।।१६९।। इदमिति। इदं वर्णितविषयजन्यं सुखम् अधुना साक्षात् फलं त्वया सम्पादनयोग्यम्, मरणविषयकविचारस्तु स्वयं कस्यचित् फलं न भवति। अथ वा न तत् फलं भवेद् गच्छेदित्यर्थः। 'भू प्राप्तौ' चौरादिको विभाषितणिच्।।१७०।। यत् कर्म स्वकीयेष्टसाधनं तदेवानुष्ठेयम् इत्याह — चेष्टेतेति। चेष्टनम् अनुष्ठानम्।।१७१।। एवमादीति। स्पष्टम्।।१७२।।

श्रृंगारिक चेष्टाओं द्वारा और मानस विकारों द्वारा रस का उद्रेक करने वाले इनके विलास हैं। प्रियध्वनि कोकिलों के रव के और छिड़े हुए भौरों के संगीत के समान इन स्त्रियों का स्वर है।।१६२।। स्नेहिल व मोहग्रस्त मुस्कान सहित अनेक विचित्र अर्थों वाले शब्द ये बोलती हैं। अपने शरीर की मलहीन साफ चमक से ये सूर्य को भी हरा देती हैं।।१६३।। सभी अच्छे लक्षणों से ये युक्त हैं, इनकी नयी जवानी है। अपने शरीर से ये हमेशा कामदेव में भी कामना उत्तेजित कर देती हैं ।।१६४।।

इनके कपड़े विभिन्न रंगों के हैं। चमकदार बेशकीमती अलंकारों से ये सज्जित हैं। इन्हीं जैसी सौ दासियाँ इनकी सेवा में रहती हैं और यथावसर नाना प्रकार के वाद्य बजाती हैं। (प्राणियों के पुंजीभूत पुण्यों से निर्मित ये सुख की ही मूर्तियाँ हैं। इन रथ-हाथी-घोड़े-पदातियों से ये हमेशा घिरी हैं।)।।१६५।। इनका कटाक्ष छोड़ना मोक्ष से भी ज़्यादा सुख देता है तो इन्हें छूना परम आनंद नहीं कैसे देगा ! ('कटाक्ष छोड़ना' अर्थात् ये कटाक्ष से देख लें तो या इन्हें कटाक्ष से देखा जाये तो !)।।१६६।। हे द्विज ! मेरी आज्ञा में रहने वाले स्वर्गवासी निःशंक हो प्रतिदिन इनका आलिंगन करते हैं। मनुष्यलोक में ये कभी नहीं प्राप्त होतीं।।१६७।। हे नचिकेतः ! मेरे द्वारा प्रदत्त इन स्त्रियों से तुम लगातार अपनी सेवा कराओ पर मौत और उसके बाद आत्मा रहता है या नहीं—इस बारे में कभी सवाल मत करो।।१६८।। मरने के बाद जीव स्वर्ग जाये या सिर्फ राख रह जाये ! कउवे के दाँतों की परीक्षा जैसे इस सवाल से तुम्हें क्या

१. श्लोकोऽयं क्वाचित्को, न टीकानुसारी।

नचिकेतसो दार्ढ्यम्

नचिकेतास्तु तच्छ्रुत्वा धर्मराजसमीरितम्। वचनं तदिदं वाक्यं प्रत्यभाषत धर्मवित्।।१७३

इमा रामास्त्वया प्रोक्ता रूपलावण्यसंयुताः। पुण्यपुञ्जसमारब्धा निःशेषसुखहेतवः।।१७४

एता उत्पत्तितः पूर्वं विनाशाच्च तथोत्तरम्। स्वस्य कान्तस्य वा स्वर्गे धर्मराज ! सुखं न किम्।।
कृतवत्यः करिष्यन्ति मध्ये केन सुखाय ताः।।१७५

अपि स्वर्गस्थिता वध्वः त्वया या वर्णिताः सुखम्। ग्राम्यधर्मेण ताः पुंसः कुर्युश्चेदधिकाः कथम्।।
अन्याभ्यो मनुजस्त्रीभ्यो धर्मराज ! विचारतः।।१७६

पूतिगन्धधरा नार्यः सुगन्धा यदि वा यम ! कामुकानां सुखं कुर्युः आसां भेदः कथं भवेत्।।१७७

'श्वोभावा'[1] इत्यादिनचिकेतसो वाक्यमवतारयति — नचिकेता इति। स्पष्टम्।।१७३।। तत्र 'श्वोभावा' इति पदेन श्व उत्तरदिने भविष्यन्ति न वेति व्युत्पत्त्या यमोपन्यस्तपदार्थानाम् अनित्यत्ववाचकेन सूचितं यत् तेषां सुखसाधनस्य भ्रममात्रसिद्धत्वं, तत् प्रपञ्चयति — इमा रामा इति त्रयस्त्रिंशता श्लोकैः। हे धर्मराज ! या इमा रामा भवता सुखहेतुत्वेन उक्ताः ता एताः किम् उत्पत्तितः पूर्वं स्वस्य परस्य वा सुखं कृतवत्यः? विनाशोत्तरं वा किं सुखं करिष्यन्ति ? अपि तु न कृतवत्यो, न करिष्यन्तीत्येव वाच्यम्। तथा च मध्ये यदेताः सुखवद् आचरन्ति तत्र हेतुः एतासां स्वभावो न भवति, किन्तु व्यामोह एव। इति द्वयोरर्थः।।१७४-५।। कामजव्यामोहेन सुखायमानत्वस्य इतरनारीष्वपि तुल्यत्वाद् एतासामाधिक्यं विचारेण न दृश्यत इत्याह — अपीति। यास्त्वया वर्णिताः स्वर्गवध्वः ता अपि यदि ग्राम्यधर्मद्वारैव पुंसां सुखं कुर्युः तदा मनुजस्त्रीभ्यः कथमधिका इति सम्बन्धः।।१७६।। एतदेव स्फुटयति — पूतीति। स्पष्टम्।।१७७।।

लाभ ?।।१६९।। अरे! अभी जिसका वर्णन किया वह सुख तुम्हे तत्काल यहीं मिलने वाला फल है जबकि मरण-सम्बंधी यह विचार न स्वयं किसी का फल है और न किसी फल का हेतु है।।१७०।। बुद्धिमान् सफल चेष्टा ही करता है, निष्फल नहीं। सफलों में भी स्वयं को जिसमें फल मिले वही चेष्टा अच्छी होती है।।'१७१।।

स्वात्मज्ञान के प्रश्न से विमुख हो जाये इस प्रयोजन से यम ने उस नचिकेता को इस प्रकार के वरों से प्रलोभित करने के वचन कहे।।१७२।।

धर्मज्ञ नचिकेता ने धर्मराज का वह प्रवचन सुनकर जवाब में यह वाक्य कहा —।।१७३।। 'हे धर्मराज ! रूप-लावण्य वाली इन महिलाओं के बारे में आपने कहा कि ये पुंजीभूत पुण्य से निर्मित अतः समस्त सुख की हेतु हैं। किंतु पैदा होने से पूर्व और मरने के बाद क्या ये खुद को या अपने प्रेमियों को स्वर्ग में भी कुछ सुख देती हैं ? जब जन्म से पूर्व ये सुख नहीं दे पायीं, मरने के बाद नहीं देंगी तो मध्य में ये सुखहेतु क्यों कर हो सकती हैं? (आदि-अंत में न होने वाला मध्य में भी नहीं होता यह (मा.का.२.६) स्थिर सिद्धांत है। अतः इनकी सुखप्रदता इनका स्वभाव नहीं वरन् व्यामोह ही है। सभी विषयों के बारे में यह न्याय समझ लेना चाहिये। मूलमंत्र में 'श्वोभाव' शब्द से 'कल रहेंगे या नहीं' यों संदेह-गोचर जागतिक पदार्थ कहे हैं। यों अनित्यता द्वारा सब भोग्यों का सुखदत्व मिथ्या है यह समझकर वैराग्य प्राप्त करना चाहिये यह भाव है।)।।१७४-५।। किंच धर्मराज ! आप द्वारा वर्णित जो स्वर्गस्थ वधुएँ ये यदि पुरुष को मैथुनरूप ग्राम्यधर्म द्वारा ही प्रसन्न करेंगी तो अन्य मानवी स्त्रियों से इन्हें अधिक कैसे कह सकते हैं? विचार करना चाहिये।।१७६।। हे यम! कामुकों को सुख चाहे सड़ँध वाली नारियाँ दें या खुशबू वाली, सुखलाभ की दृष्टि से दोनों में अंतर कैसे कर सकते हैं ? (सुखमात्रा में तारतम्य भी कहना नहीं बनता क्योंकि कामुक को अपनी प्रेयसी की जैसी भी गंध हो भली लगती हैं।)।।१७७।।

१. 'श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।।'२६।।

शुनी यथा शुनः कुर्यात् सुखं नारी नरस्य वा। देवाङ्गना तथैवैषा देवस्य सुखदा यदि।
भेदो जातिकृतो जातः फले कोऽपि न विद्यते।।१७८
सुगन्धा च सुरूपा च सुस्पर्शा सुरसा तथा। सुशब्दा चारुसर्वाङ्गी सुश्रोणी पृथुलस्तनी।।१७९
देवाङ्गना शुनो नैषा ग्राम्यधर्मसुखप्रदा। शुनी देवस्य तद्वच्च वैषम्यं किंकृतं यम!।।१८०
शुन्या दोषान् यथा देवो गुणान् हित्वाऽत्र पश्यति। तथा श्वाऽपि च देवानां वध्वा न परितुष्यति।
शुन्या गुणानमूनेष श्वा नित्यं परिपश्यति।।१८१
सुदीर्घवदना मृद्वी तीक्ष्णदंष्ट्राऽरुणानना। रक्तोत्पलसमा जिह्वा मांसासृक्चारुगन्धिनी।।१८२
दीर्घनेत्रा सुघोणा च नित्यमुत्तब्धकर्णिका। सदा शीघ्रगतिस्तद्वन्मांसला च कृशोदरी।।१८३
उत्तब्धपुच्छा सङ्कीर्णयोनिच्छिद्राऽतिशोभना। उगुङ्कारैश्च भङ्कारैः मन्मनःकर्णनन्दनैः।।१८४

यदि चैतासां स्वभावेन सुखरूपत्वं स्यात् तदा सर्वा स्त्रीव्यक्तिः सर्वं प्रत्यविशेषेण सुखहेतुः स्यात्, तथा च न दृश्यते; कामव्यामोहेन प्रयुक्तं सुखत्वं तु सर्वत्र दृश्यते — इत्येवं व्याप्तिमेव विशदयति —शुनीत्यादि। यदा तत्तज्जातीयायाः तत्तज्जातीयं प्रत्येव सुखत्वं दृष्टं तदा तत्तज्जातिकृतो भेदो व्यामोहस्यैव सिद्धो, न तु सुखभानरूपस्य फलस्यापि स इत्यर्थः।।१७८।। तथा हि — सुगन्धत्वादिभिः देवाङ्गनां रमणीयत्वेन पश्यतो देवस्यैव तस्यां व्यामोहो, न तु तथाऽपश्यतः शुनः। एवं शुना तथात्वेन दृष्टायां शुन्यां देवस्य न व्यामोह इत्याह — सुगन्धा चेति द्वाभ्याम्। वैषम्यं स्वाभाविकोत्कर्षरूपं किंकृतं केन सम्पादितं, न केनापीत्यर्थः।।१७९-८०।। न च शुन्या दोषधीविषयत्वेनाऽपकर्षः, देवाङ्गनाया अपि श्वनिष्ठदोषधीविषयत्वस्य समानत्वादित्याह — शुन्या इति। न परितुष्यति किन्तु देवाङ्गनाया दोषानेव पश्यति यत एष श्वा शुन्या एव गुणान् पश्यतीति सम्बन्धः।।१८१।। शुना दृष्टान् शुन्या गुणान् अभिनयति — सुदीर्घेति चतुर्भिः। एवं हि श्वा मन्यते —'एवं' कथम् ? एषा शुनी सुदीर्घवदनत्वादिविशिष्टा मां सेवत इति चतुर्णां सम्बन्धः। यस्या अस्या जिह्वा रक्तोत्पलसमा, मांसाऽसृग्भ्यां

(इन नारियों की सुखरूपता स्वाभाविक हो तो सब मादाएँ सब को एक-सा सुख दिया करें, पर ऐसा होता नहीं और कामनाप्रयुक्त व्यामोह से सुख तो सर्वत्र मिल जाता है इस तात्पर्य से कहता है —) कुतिया जैसे कुत्ते को सुख देती है ऐसे नारी-नर को और ये देवस्त्रियाँ देवताओं को। अतः योनिगत भेद है, फलभूत सुख में नहीं। (अर्थात् स्वसमानजातीय नर-मादा परस्पर सुख पाते हैं किंतु सुखभानरूप फल तो सर्वत्र एक-सा है।)।।१७८।।

गंध-रूप-स्पर्श-रस-शब्दों से जिसे आप सुष्ठु बता रहे हैं, जिसके सभी अंग सुंदर हैं, नितंब और स्तन सुघड़ हैं ऐसी स्वर्गस्त्री कुत्ते को ग्राम्यधर्म का सुख नहीं दे सकती और इसी तरह कुतिया देवता को सुख नहीं दे सकती। इनमें से किसी में स्वाभाविक उत्कर्ष है यह कैसे समझा जाये ? (इनमें स्वाभाविक उत्कर्ष नहीं केवल कामवृत्ति के अनुसार सुखदता है।)।।१७९-८०।। जैसे देवता कुतिया के गुण छोड़कर उसके दोष ही देखता है वैसे कुत्ता देवस्त्रियों से संतुष्ट नहीं होता और हमेशा कुतिया के इन गुणों को देखता है : कुत्ता समझता है 'यह कुतिया अच्छे लंबे मुँह वाली है। कोमल है, तीखे दाँतों वाली और लाल मुँह वाली है। इसकी जीभ लाल कमल जैसी है। मांस-रुधिर के सेवन से इसकी प्रिय लगने वाली सुगंध है। इसकी आँखें लंबी और नाक सुंदर है। इसके कान हमेशा खड़े रहते हैं। सदा तेज दौड़ती है, पुष्ट मांस वाली, पतले पेट वाली है। यह पूँछ उठाये रहती है, इसका योनि-छिद्र सँकरा है। यह अतिशोभन है। 'उगू-भमू' आदि यों भौंकती है कि मेरे मन और कानों को आनंद मिलता है। यह हमेशा मेरे आगे-पीछे घूमती रहती है। मेरे मन और नयनों को आनंद देने वाली यह हमेशा मेरा उपभोग करती है।'।।१८१-५।। हे धर्मराज ! उस कुतिया को देख कर जैसी प्रसन्नता कुत्ते को होती है वैसी शची को देख कर इंद्र को भी शायद ही होती हो !।।१८६।।

गमनैः पृष्ठतो दिक्षु पुरतश्च निरन्तरम्। सेवते मां सदैवैषा मनोनयननन्दिनी।।१८५
तां दृष्ट्वा यादृशी प्रीतिः धर्मराज ! शुनोऽस्ति ह। दृष्ट्वा शचीं च शक्रस्य विद्यते तादृशी न वा।।१८६
एवं पुत्रादयो भावाः सर्वेषामपि देहिनाम्। समाश्च नरदेवानां विषमाश्च परान् प्रति।।१८७
यज्जातीयो हि यो जीवः तज्जातीयं हि तत्प्रियम्। अन्नपानाङ्गनाद्यत्र तदेव बहु मन्यते।।१८८
शुनः परिकरे यद्वज्जुगुप्सा योषिदादिषु। भवतां ग्राम्यधर्मादौ यम ! स्वर्गनिवासिनाम्।।१८९
तथा शुनोऽपि सर्वत्र स्वजातेरपरत्र हि। जुगुप्सा यत एवाऽयं शुनीं हित्वाऽवगच्छति।।१९०
ततो न कोऽपि संसारे देहः सम्यगिहाऽस्ति भोः। किन्तु कामज्वरात् पित्तं जातं सर्वशरीरिणाम्।।१९१
सजातीयेषु सम्यक्त्वबुद्धिमेतत् प्रयच्छति। भ्रमं परं गतस्याऽत्र स्त्रियो वा पुरुषस्य वा।।१९२

चारुगन्धिनी च भवतीति योजना। उगुम् इति भम् इति तच्छब्दानुकरणम्। स्फुटमन्यत्।।१८२-५।। तामिति। तां शुनीं दृष्ट्वा यादृशी शुनः प्रीतिः तादृशी शक्रस्य शचीदर्शने भवेद् न वा । इति संशय इत्यर्थः।।१८६।।

उक्तन्यायमन्यत्राऽतिदिशति—एवमिति। समा व्यामोहजसुखसाधनत्वेन तुल्याः, परान् भिन्नजातीयान् प्रति तु विषमा विपरीता इत्यर्थः।।१८७।। अदृष्टसंस्कारादिकृतः तज्जात्यध्यास एव प्रियत्वव्यवस्थाहेतुरित्याह—यज्जातीय इति। अत्र तत्तज्जातिषु तदेव तज्जात्यनुकूलमेव बहु सुखरूपं मन्यते।।१८८।। एतदेव विशदयति—शुन इति द्वाभ्याम्। परिकरो भोगसाधनम्। तथा च शुनः परिकरभूतेषु योषिदादिभावेषु यथा भवतां देवानां जुगुप्सा ग्लानिः तथा शुनोऽपि स्वजातेः अन्यत्र जुगुप्सा यत एष श्वा शुनीं हित्वा दोषानेव अवगच्छति। इति द्वयोः सम्बन्धः।।१८९-९०।।

फलितमाह — तत इति। सम्यक् स्वभावेन सुखरूपो नार्यादिदेहो न भवति किन्तु पित्तेन शङ्खे पीतबुद्धिर्यथा जायते तथा कामज्वरजातव्यामोहरूपपित्तेन विभ्रमं गतस्य जन्तोः सजातीयस्त्र्यादिशरीरे सुखबुद्धिर्भवति। इति द्वयोरर्थः।।१९१-२।। नार्याः स्वभावेन सुखत्वाऽभावमेव विशदयति—क्व सुखमिति। प्रथमः सुखम् इति निर्देशो

इस प्रकार पुत्रादि पदार्थ सभी देहधारियों के लिये समान होते है। नर हों या देव, सभी के लिये अपने पुत्रादि व्यामोह-प्रयुक्त सुख के साधन समान रूप से बन जाते हैं जबकि भिन्न योनि वालों को परायी योनि वालों के पुत्रादि सुखहेतु नहीं प्रतीत होते।।१८७।। जो जीव जिस योनि में होता है उसी के अनुरूप पदार्थ उसे प्रिय लगते हैं। भोजन, पेय, स्त्री आदि जो उसकी योनि के अनुसार होते हैं उन्हीं को वह अत्यधिक सुखोपाय मानता है। (अर्थात् अदृष्ट, संस्कार आदि से जो यह अध्यास है कि 'मैं इस योनि का हूँ' वही प्रियता का व्यवस्थापक हो जाता है)।।१८८।। हे यम! कुत्ते की उपभोग्य कुतिया आदि वस्तुओं से ग्राम्यधर्म आदि व्यवहार करने में जैसे आप स्वर्गनिवासियों को घृणा होती है वैसे कुत्ते को भी अपनी जाति से अन्यत्र सभी जगह घृणा होती है क्योंकि वह कुतिया को छोड़ अन्य सभी में दोष देखता है।।१८९-९०।।

इसलिये इस संसार में कोई भी शरीर स्वभावतः सुखरूप नहीं है किंतु कामना नामक ज्वर से सभी शरीरियों में व्यामोह नामक पित्त उद्रिक्त हो जाता है जिससे अपनी योनि के अनुकूल पदार्थों के बारे में 'यह सम्यक्, सुख-साधन है' ऐसा निश्चय हो जाता है। नर हो या नारी, अत्यधिक भ्रम में पड़े को संसार में सुखसाधनता प्रतीत हो जाती है।।१९१-२।। स्त्री या पुरुष किसी प्राणी के देह में सुख कहाँ है ? नारी अगर सुखरूप हो तो खुद को सुखी क्यों नहीं कर पाती? अगर अपने से भिन्न देह के लिये सुखद होती हो तो दूसरी नारी को हमेशा सुखी क्यों नहीं करती ?।।१९३-४।। यदि पुरुष के प्रति सुखप्रद मानो तो विवस्त्र स्त्री की छाती पर सोते नर बच्चे को वह क्यों सुख

१. तद्बीजं तु तस्य शब्दादिना स्त्र्यन्तरपरिज्ञानादन्यत्र कामोद्रेकसम्भावना।

क्व सुखं प्राणिनां देहे स्त्रियो वा पुरुषस्य वा। नारी यदि सुखं कस्मात् स्वस्यैषा न सुखं भवेत् ।।१६३
अपरस्याः कुतो न स्याद् वध्वा एषा सदा सुखम्। देहान्तरस्य सततं भवेद्धि सुखदा यदि।।१६४
पुंसश्चेत् कुत एवैषा कुमारस्य भवेन्न हि। विवस्त्राया उरो मध्ये शयानस्यापि तादृशः।।१६५
यूनश्चेत् कुत एवैषा पुत्रादेस्तादृशी न हि। अपि यूनोऽतिसम्भोगे निवृत्ते समनन्तरम्।।१६६
तत्क्षणात् पुनरप्यस्मिन्नजाते मदनज्वरे। कुत एषा सुखं तस्य पूर्ववन्न करोति हि।।१६७
एवं व्याध्यादिदोषेऽपि संजते नैव कामुकम्। सुखयेद् युवतिस्तेन सुखं नैव कदाचन।।१६८
पुरुषोऽपि सुखं नायं भवेत् क्वापि वधूरिव। स्वस्य वाऽप्यथ का वध्वाः पुत्र्यादौ हि समत्वतः।।१६९
ततः कामज्वरस्याऽयं महिमा कोऽपि देहिनाम्। येन देहाः सुखाय स्युरसुखा अपि सर्वदा।।२००
उन्मत्तबीजसेवातो यथा हेममयं जगत्। अहैममपि सम्भ्रान्तो विलोकयति मानवः।।२०१
एवं कामज्वराज्जन्तुः स्त्रीपुंसवपुरास्थितः। सजातीयेषु सुखतां वैपरीत्येन मन्यते।।२०२
जरा यथा विरूपत्वहेतुः स्याद् विदुषामपि। यौवनं तद्वदेव स्यात् कामज्वरकरं सदा।।२०३

भावप्रधानः — नारी यदि सुखरूपा तदाऽऽत्मानं प्रत्यपि सुखत्वेन भायात् ! यदि तु देहान्तरस्य सुखदा स्यात् तदाऽपरां वधूं सपत्न्यादिरूपां प्रत्यपि तथा स्याद् । इति द्वयोरर्थः।।१६३-४।। पुंस इति। पुमांसं प्रति सा तथेति न वाच्यम्, यतो बालो नग्नाया हृदि क्रीडंस्तादृक् पुंपदवाच्यो न[1] भवति, सा च तं प्रति युववत् सुखदा न दृश्यत इति।।१६५।। एवं युवत्वावच्छिन्नं प्रत्यपि न तस्याः सुखदत्वनियमो, यूनः पुत्रादिरूपत्वे मदनज्वरापायशालित्वे वा तथात्वाऽदर्शनाद् इत्याह—यूनश्चेति द्वाभ्याम्। अस्मिन् यूनि।।१६६-७।। एवं रुग्णाऽपि सा न सुखदेत्याह—एवं व्याध्यादीति।।।१६८।। एवं पुमानपि न स्वभावेन सुखद इत्याह — पुरुषोऽपीति। पुत्र्यादौ कन्याप्रभृतिषु समत्वतः कामसुखदत्वरूपविशेषाऽभावात्।।१६९।।

ततश्च कामदोषजत्वाद् देहेषु सुखबुद्धिर्भ्रमरूपैवेत्याह — तत इति। सुखाय सुखत्वेन भानाय क्षमा इति शेषः।।२००।। यथा धत्तूरबीजभक्षिणां पीतं जगद् भासते तथा कामिनां स्त्र्यादिदेहाः सुखा इत्याह — उन्मत्तेति द्वाभ्याम्। वैपरीत्येन युक्तामिति शेषः।।२०१-२।। कामज्वरस्य निदानं तु यौवनमेवेति सदृष्टान्तमाह — जरेति। यथा विरूपताहेतुः जरा तथा कामज्वरहेतुः यौवनम् इति।।२०३।।

नहीं दे पाती ?।।१६५।। अगर कहो जवान पुरुष को सुख देती है तो पुत्र आदि को क्यों नहीं देती ? किं च जवान भी पति आदि जब पर्याप्त संभोग कर निवृत्त होता है उसके बाद तत्काल वह उसे भी सुख नहीं दे पाती जब तक उस पति आदि को पुनः कामना का बुखार न चढ़े। ऐसा क्यों कि वह हमेशा उसे एक-सा सुख देने में अक्षम है ?।।१६६-७।। ऐसे ही कामुक भी व्याधि आदि से पीडित दशा में हो तो युवति उसे सुखी नहीं कर पाती। इसलिये स्त्री को सुख मानना कभी संभव नहीं।।१६८।। स्त्री की तरह पुरुष भी कभी सुखरूप नहीं है। न वह अपने को कभी सुखी कर पाता है न सभी स्त्रियों को क्योंकि पुत्री आदि के सामने वह हमेशा निष्काम रहता है, उन्हें कामसुख नहीं दे पाता।।१६९।।

इसलिये कामनामक बुखार की ही यह अचिन्त्य महिमा है कि देहधारियों के हमेशा सुखहीन शरीर भी उन्हें सुखरूप से प्रतीत होते हैं।।२००।। जैसे धतूरे के बीज खाने से दुनिया स्वर्णिम लगने लगती है क्योंकि व्यक्ति पूरी

१. नेति पदमत्र मा भूत्, पुंसः सुखदेति पक्षस्य विचार्यमाणत्वादस्य पुंस्त्वाऽभावेऽत्रोपन्यासानुपयोगात्।

कामज्वरवशं प्राप्तो धर्मराज ! ततो भवान्। प्रशंसति वधूरेता अपि दुःखकरीः सदा। ।२०४

किं बहूक्तेन ता ह्येता अनित्या इति निश्चितम्। प्रियं हि सुखहेतुः स्याद् अनित्यं सर्वदा नृणाम्। ।२०५

यद् यस्याऽतिप्रियं वस्तु तस्य दुःखस्य कारणम्। सुखं कृत्वा व्रजेद् यावत् तावच्छतगुणं पुनः।
वियुक्तं कुरुते दुःखं कष्टं प्रियतमं ततः। ।२०६

इमाः प्रियतमा रामाः पुत्रपौत्रादयोऽपि च। आयुर्भूमिर्महाराज्यं हस्त्यश्वकनकादयः। ।२०७

अद्य नासन् पुनः श्वस्ते भवितारः परेऽहनि। न भविष्यन्ति तेनाऽमी यम !
कष्टतमाः स्मृताः। ।२०८

अपि सत्ता यदा तेषां रामादीनां तदाऽपि न। सुखं किमपि कुर्वन्ति दुःखं कुर्वन्ति किन्तु ते। ।२०९

रामाः सम्भोगतः पुंसो वीर्यं जीवनहेतुकम्। हरन्ति यन्त्रतो यद्वद् वह्निः पुष्परसं त्विह। ।२१०

भवता तु यदेतासां प्रशंसनं कृतं तदुक्तभ्रमसिद्धार्थाऽनुवादरूपमेव, न विधिरूपमित्याह — कामज्वरेति। ।२०४। । तासां दुःखकरत्वं त्वनित्यत्वमेव प्रख्यापयति इत्याह—किं बहूक्तेनेति। यतः सुखहेतुरूपं प्रियमनित्यम् इति प्रसिद्धम्। ।२०५। । अनित्यस्य वियोगे संयोगादधिकदुःखहेतुत्वं सर्वे जानन्तीत्याह—यद् यस्येति। अतिप्रियं वस्तु कर्तृ यावत् सुखं रागोदयद्वारा दुःखबीजभूतं कृत्वा व्रजेत् ततः शतगुणं दुःखं वियुक्तं सत् कुरुत इति सम्बन्धः। ।२०६। । सांसारिकभावानां वियोगशीलतामेव स्फुटयति—इमा इति। य एते रामाप्रभृतयो भावाः प्रियतमत्वेन भवतोपन्यस्ताः ते सर्वेऽद्य यावद् नासन् — अजाताः, भवद्वरात् श्व उत्तरदिने भवितारो लब्धजन्मानोऽपि ततः परदिने न भविष्यन्ति इत्येवम् आगमापायित्वेन अनित्यत्वाद् दुःखमया एव। इति द्वयोरर्थः। ।२०७-८। ।

'मर्त्यस्य' इत्यादेः 'तेज' इत्यन्तभागस्याऽर्थमाह — अपि सत्तेति पञ्चभिः। किं च यदैतेषां रामाप्रभृतिभावानां सत्ता लोकदृष्ट्यनुसारेण स्थिरत्वमभ्युपगम्यते तदाऽपि एषां दुःखदत्वमेवाऽऽलोच्यते यतस्तेषु रामाः पुरुषस्य रेतोलक्षणं चिरस्थितिहेतुभूतं सारं हरन्ति यथा सारोद्धरण-सनलिकयन्त्रारूढकुसुमानां सारांशम्

तरह भ्रमग्रस्त हो जाता है, जबकि निश्चित है कि दुनिया स्वर्णिम है नहीं, ऐसे ही स्त्री हो या पुरुष सभी जन्तु कामनामक ज्वर से पीडित होने पर अपनी योनि के विपरीतलिंगी शरीर को सुख समझने लगते हैं (जबकि विचार से निश्चित है कि शरीर सुख है नहीं)। ।२०१-२। । जैसे बुढ़ापा विद्वानों की भी कुरूपता में कारण बन जाता है ऐसे जवानी हमेशा कामना-ज्वर के प्रति कारण है। ।२०३। । हे धर्मराज ! इसलिये यह कहना गलत न होगा कि हमेशा दुःखदायी होने पर भी इन स्त्रियों की आप प्रशंसा इसी से कर रहे हैं कि आप कामज्वर के वश में आ गये हैं। ।२०४। । ज़्यादा कहने से क्या लाभ ! जिनकी आपने प्रशंसा की वे ये स्त्रियाँ अनित्य हैं यह निश्चित है क्योंकि लोगों को जो सुखहेतु प्रिय होता है वह हमेशा अनित्य होता है यह प्रसिद्ध है। (विषयमात्र अनित्य हैं अतः सुखहेतु भी।)। ।२०५। । जिसकी जो वस्तु अतिप्रिय होती है वह उसके दुःख का कारण बनती है। अतिप्रिय वस्तु जितना सुख देकर जाती है उससे सौ गुणा दुःख वही प्रियतम वस्तु वियोग होने पर देती है। किं च जो सुख वह देती है वह भी दुःखगर्भित है क्योंकि वह राग का उदय कराता है, विषयसुख भोगने से विषय में राग होता है। अतः लौकिक प्रियतम कष्ट ही है। ।२०६। । आपने जो अत्यधिक प्रिय पदार्थ बताये — स्त्रियाँ, पुत्र-पौत्रादि, आयु, भूमि, महाराजता, हाथी, घोड़े स्वर्ण आदि — ये सब आज तक मेरे पास हैं नहीं, आपकी कृपा से कल मेरे हो भी गये तो परसों फिर नहीं रहेंगे, अर्थात् आगमापायी हैं। अतः हे यम ! ये विषय ही सर्वाधिक कष्टरूप हैं। ।२०७-८। ।

गतसारं यथा पुष्पं भुक्तभोगस्तथा पुमान्। तेजसा रहितः सर्वैरिन्द्रियैरल्पजीवनः।।२११

एवं पुत्रादयो भावा मनःश्रोत्ररसापहाः। धनिनः पुत्रिणो दृष्टं दुःखं मेऽत्र पितुर्मया।
मनोदुःखाच्च जीर्येत तेज इन्द्रियगं महत्।।२१२

तस्मादिमे च रामाद्या अनित्या दुःखहेतवः। तवाऽपि संमता धर्मराज ! किन्नु मम त्वमी।।२१३

अपि यद् ब्रह्मणः प्रोक्तं परमायुर्महात्मनः। द्विपरार्द्धावसानं तद् अत्यल्पमिह कीर्त्यते।।२१४

अग्निर्हरति तद्वद्। इति द्वयोरर्थः।।२०९-१०।। ततः किम् ? अत आह — गतेति। यथा उद्धृतसारं पुष्पम् अल्पकालेन क्षीयते तथा तेजसा रेतसा हीनः पुमान् सर्वेन्द्रियैः सह अल्पजीवनो भवति, तदीयानि इन्द्रियाणि आयुश्च क्षीयत इति यावत्। ऊर्ध्वरेतसस्तु सह इन्द्रियैश्चिरजीविनः प्रसिद्धा इत्युक्तं प्रथमेऽध्याये[1]।।२११।। एवमिति। एवम् अन्येऽपि पुत्रादिभावा मनसः श्रोत्रादीनां च रसस्य सारस्य सत्त्वाख्यस्य धर्मज्ञानादिवृद्धिहेतोः अपहारकाः। तत्रोदाहरणं च मत्पितैव यतस्तस्य मच्चिन्तया जरद्गवीदानप्रवृत्त्या धर्महानिः मद्वियोगेन मनःक्षोभश्च अभूत्। मनःक्षोभे हि सर्वेन्द्रियाणां तेजो बलं जीर्यत इति प्रसिद्धमिति।।२१२।।

फलितमाह — तस्मादिति। हे धर्मराज ! तस्माद् उक्तन्यायाद् इमे भावा अनित्या दुःखदाश्च सिद्धाः। एवमपि यदि अमी तव आधिकारिकस्य संमता लोकपालाधिकारपरिपालनाय सम्यक् त्वयाऽङ्गी कृताः तथापि, नु इति वितर्के, मम जिज्ञासोः संमताः किं किमर्थं भवेयुरित्यर्थः।।२१३।।

उत्तरार्द्धार्थमाह — अपि यदित्यादिना। यद् ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य आयुः तद् अपि अल्पं द्विपरार्द्धपरिच्छिन्नत्वात्, तदन्तर्गतानामितरायुषाम् अल्पत्वं किमु वाच्यम् ! इत्यर्थः।।२१४।। उक्तं स्फुटयति — मनुष्याणामिति अष्टभिः।

किं च जब इन स्त्री आदि की विद्यमानता होती है तब भी ये कोई सुख नहीं देतीं वरन् दुःख ही प्रदान करती हैं। पुरुष का जीवन दीर्घ समय तक ओजस्वी रहे इसमें उसका संचित वीर्य कारण बनता है और संभोग द्वारा स्त्रियाँ उसीका अपहरण कर लेती हैं जैसे यंत्रविशेष से आग फूलों का रस सोख लेती है। (अर्क निकालने की प्रक्रिया की ओर निर्देश है।)।।२०९-१०।। जिसका सार निकाला जा चुका है ऐसे पुष्प की तरह जिसे (स्त्रीद्वारा) भोगा जा चुका है ऐसा पुरुष सभी इंद्रियों की तेजस्विता से रहित हो जाता है और कम समय ही जी पाता है।।२११।। (शुक्ररक्षा तेजस्वी इंद्रियों सहित दीर्घ जीवन का हेतु बनती है ऐसा पुराणकार पहले भी कह आये हैं तथा आयुर्वेदादि में भी प्रसिद्ध है।)

स्त्रियों की तरह पुत्र आदि पदार्थ भी मन व श्रोत्रादि इंद्रियों के रसों का अपहरण कर लेते हैं। मैंने अभी ही अपने धनी सपुत्र पिता का दुःख देखा है। (मेरी चिंता से ही वे बूढ़ी गायें दान कर धर्म की हानि कर रहे थे और अब मेरे वियोग से क्षुब्ध हैं। अतः धन व पुत्र दुःखप्रद ही हुए।) यह सर्वविदित ही है कि इंद्रियों का तेज चाहे जितना अधिक हो पर मनोगत दुःख से वह क्षीण हो जाता है। (विषय मानस दुःख अवश्य देते हैं एवं उससे इंद्रियों का तेज समाप्त होता है जो पुनः दुःखप्रद है।)।।२१२।।

इसलिये हे धर्मराज ! मुझे तो विचारपूर्वक यह समझ आता है कि ये स्त्री आदि पदार्थ अनित्य अतः आपके के लिये भी दुःखहेतु ही हैं फिर मेरे लिये क्यों नहीं होंगे ! (अथवा अनित्य होने से दुःखहेतु भी ये पदार्थ आप भले ही सम्यक् मान लें क्योंकि अपने पद की गरिमा के अनुसार आपको ठाठ-बाट रखना पड़ता है, पर मुझ जिज्ञासु के लिये ये क्योंकर सम्यक् माने जा सकते हैं ?)।।२१३।।

(जो आपने दीर्घ जीवन चुनने को कहा, उस संदर्भ में सुनिये—) महात्मा ब्रह्मा की जो द्विपरार्द्ध तक होने वाली पूर्ण आयु है वह भी संसार में अति अल्प कही जाती है।।२१५।। मनुष्यों का जो साल कहा जाता है वह देवताओं

१. श्लोक. ४५२-७।।

मनुष्याणां हि यः प्रोक्तो वत्सरः स दिवौकसाम्। अहश्चैव तथा रात्रिः अयने दक्षिणोत्तरे।।२१५

देवतानामहोरात्रैः षष्ट्या सह शतैस्त्रिभिः। संवत्सरोऽयमुदितो देवानां स्वर्गवासिनाम्।।२१६

दिव्यैर्द्वादशसाहस्रैः वत्सरैस्तच्चतुर्युगम्। कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्चेति च कीर्तितम्।।२१७

चतुर्युगसहस्रं स्याद् ब्रह्मणो दिवसः सदा। रात्रिश्च तावती यस्यां नाशं लोकत्रयी व्रजेत्।।२१८

ब्रह्मणो वत्सरस्त्वेतैः सह षष्टिशतैस्त्रिभिः। अहोरात्रैः शतं सोऽपि वत्सराणां हि जीवति।।२१९

पञ्चाशद्वर्षमात्रं स्यात् परार्द्धमेकमेव तत्। ब्रह्मणस्तद्गतं तस्य द्वितीयमिह विद्यते।।२२०

अयमर्द्धवयाः श्रीमान् ब्रह्मा लोकपितामहः। मरणे यस्य कोऽप्यत्र जीविष्यति न देहभाक्।।२२१

मरणत्रासतः सोऽपि नित्यं मीलितलोचनः। आस्तेऽत्र सर्वदा किञ्चिच्चिन्तयन् जगदीश्वरः।।
ततः कथं भवान् मह्यं परमायुः प्रयच्छति।।२२२

ततस्तवैव लोकेश संसारे क्षणभङ्गुरे। असारे दुःखजलधौ फेनबुद्बुदसन्निभे।।२२३

वाहाः सन्तु महाभाग ! गजवाजिरथादयः। नृत्यगीतैश्च संयुक्ता इमा रामाश्च सर्वदा।।
पुत्रादयश्च सकला यान् मे दातुं त्वमुद्यतः।।२२४

मनुष्याणां वत्सरो देवानामहोरात्रम्, तत्रोत्तरायणं दिनं दक्षिणायनं तु रात्रिरित्यर्थः।।२१५।। देवतानामिति। देवानां षष्ट्यधिकशतत्रयसंख्यैः अहोरात्रैः वत्सरो भवति, एतादृशैः वत्सरैः द्वादशसहस्रसंख्यैः कृतादिसंज्ञं युगचतुष्टयं भवति। इति द्वयोरर्थः।।२१६-७।। चतुर्युगसहस्रमिति। तावती दिनसमा, यस्यां ब्रह्मरात्रौ।।२१८।। ब्रह्मणो वत्सर इति। एतैः एतादृशैः षष्ट्यधिकशतत्रयसंख्यैः अहोरात्रैः ब्रह्मणो वत्सरः, तच्छतं च तस्य परमायुरित्यर्थः।।२१९।। पञ्चाशदिति। ब्राह्मपञ्चाशद्वर्षपरिमितः कालः परार्द्धम् इत्युच्यते — परस्य हिरण्यगर्भस्य आयुषोऽर्द्धम् इति व्युत्पत्तेः। तत् परार्द्धमेकं गतम् अतीतमेव द्वितीयं तु विद्यत इत्यर्थः।।२२०।। अयमिति। अयं श्रीमान् ब्रह्माऽर्द्धवयाः अर्द्धं वयोऽतीतं यस्य स तथा वर्तते यस्यान्ते महाप्रलयो भावीत्यर्थः।।२२१।। मरणत्रासस्तु ब्रह्मणोऽपि लक्ष्यते यतः स किंचिद् आत्मतत्त्वं ध्यायन्नेव वर्ततेऽतः तदंशभूतैर्भवद्भिः परमायुःप्रदानमशक्यम् इत्याह — मरणत्रासत इति। अत्र ब्रह्मलोके, आस्ते तिष्ठति।।२२२।। तत इति। यत उक्तविधया दुःखदत्वं सिद्धं ततो हे लोकपाल ! क्षणभङ्गुरत्वादिशालिनि संसारे वर्तमाना वाहनादयः पदार्थाः त्वय्येव तिष्ठन्तु। इति द्वयोः सम्बन्धः।।२२३-४।।

का अहोरात्र है; मानवों का उत्तरायण देवताओं का दिन और दक्षिणायन रात है।।२१४।। देवताओं के तीन सौ साठ अहोरात्रों से स्वर्गवासी देवों का एक साल होता है।।२१६ ।। देवताओं के बारह हज़ार सालों की एक चतुर्युगी होती है जिसमें कृत-त्रेता-द्वापर-कलि युग आते हैं।।२१७।। एक हज़ार चतुर्युगी लंबा ब्रह्मा का दिन और इतनी ही लंबी रात होती है जिस रात में त्रिलोकी नष्ट होती है।।२१८।। ब्रह्मा के तीन सौ साठ अहोरात्रों में उसका एक वर्ष बीतता है और अपने मान से सौ वर्ष वह भी जीवित रहता है।।२१९।। ब्रह्मा के पचास वर्षों के सीमित काल को परार्द्ध कहते हैं। उसका एक परार्द्ध तो बीत गया, अब दूसरा चल रहा है।।२२०।। सभी लोकों के पितामह श्रीमान् ब्रह्मा की आधी आयु तो बीत ही गयी। इनकी मृत्यु पर संसार में कोई भी देहधारी जीवित नहीं रहेगा।।२२१।। जगदीश्वर ब्रह्मा जी भी मरने के डर से हमेशा आँखें मीच कर कुछ सोचते हुए ब्रह्मलोक में बैठे रहते हैं (शायद आत्मतत्त्व का ही ध्यान करते हों) ! (जब आपसे भी अत्युच्च पद पर आसीन ब्रह्मा भी अपने लिये पूर्ण आयु नहीं ले पाये) तब आप मुझे पूर्ण आयु कैसे दे सकते हैं ? ।।२२२।।

अपि वित्तेन को नाम तर्पयेद् मानवं भुवि। लोकपाल ! त्रिलोकीं चेत् प्राप्नोत्येष कथंचन। ।२२५
सत्यलोकं पुनः सोऽयमिच्छत्येष न संशयः। ब्रह्मलोके तु सम्प्राप्ते पुनरिच्छति किञ्चन। ।२२६
न जातु पुरुषो वित्तैः तृप्तिं गच्छति कुत्रचित्। वह्निः काष्ठैर्जलैस्तद्वत् सागरः पुरुषैरपि। ।२२७
ललना नैव संयाति तृप्तिं वित्तैः पुमानपि। तद्वद् बुद्धिमता वित्तैस्तर्पणीयो नरो न हि। ।२२८
अपि वित्तं धर्मराज ! वयं लप्स्यामहे स्वयम्। दृष्टवन्तो मांसनेत्रैः त्वां महादुःखघातकम्। ।२२९
मेघश्याममुदाराङ्गं पीतकौशेयवाससम्। लाक्षारससमस्वच्छविशालनयनोत्पलम्। ।२३०
कम्बुग्रीवं महोरस्कम् आजानुभुजमद्भुतम्। आदित्यनयनं देवमादित्यसमवर्चसम्। ।२३१
महामहिषसंस्थानं पुरुषं दण्डधारिणम्। आशीविषसमं दृष्ट्या चित्ते प्राणिकृपायुतम्। ।२३२

'न वित्तेन'[1] इत्यादेरर्थः प्रपञ्च्यते — अपि वित्तेनेति द्वादशभिः। हे लोकपाल ! मर्त्यस्य तृष्णा वित्तेन भोग्यपदार्थजातेन न शाम्यति यतः त्रिलोकीराज्यप्राप्तावपि ब्रह्मलोकमिच्छति, तदाऽऽप्तावपि पतनाऽभावम् अमृतत्वादिकं चेच्छत्येव। इति द्वयोरर्थः। ।२२५-६। । उक्तं दृष्टान्तैः स्फुटयति — न जात्विति द्वाभ्याम्। यथा वह्नि-सागर-ललना यथाक्रमं काष्ठ-जल-पुरुषैः न तृप्यन्ति तथा वित्तैः पुरुषोऽपीति। ।२२७-८। ।

यावदपेक्षितद्रव्यलाभस्तु अस्माकं भवद्दर्शनप्रभावादेव सिद्धोऽतो न वरणीय इत्याह — अपि वित्तमिति पञ्चभिः। यतः त्वां दृष्टवन्तः अतोऽनायासेन वित्तं प्राप्स्याम एवेति। ।२२९। । धर्मराजरूपं वर्णयति — मेघेत्यादिना। उदाराङ्गं दीर्घतनुं पीताम्बरं रक्तनेत्रं चेति। ।२३०। । कम्बुग्रीवमिति। आदित्यनयनं तेजस्विनेत्रम्। ।२३१। । महेति। दृष्ट्या दर्शनेन क्रुद्धसर्पवद् भयप्रदम्, चित्ते दयालुम्। ।२३२। । सदयत्वे हेतुभूतानि विशेषणान्याह—

हे लोकपाल ! हे महाभाग ! फेन और बुलबुले सा असार और क्षणभंगुर यह संसाररूप दुःखसागर है। आप मुझे इस संसार में जो पदार्थ देने को तैयार हुए हैं — गज, घोड़े, रथ आदि वाहन; हमेशा नृत्य-गीत करने वाली ये स्त्रियाँ, पुत्रादि समस्त चीजें — वे आपकी ही बनी रहें। ।२२३-४। । (संसार में रहते ये पदार्थ और अधिक दुःख ही देंगे अतः मुझे ये नहीं लेने, आपको ही ये मुबारक हों, मुझे तो संसार से निकलने का उपाय बताओ।)

हे लोकपालक ! संसार में मानव को वित्त से कौन तृप्त कर सकता है (जो आप मुझे कर लेंगे) ! मनुष्य किसी तरह यदि त्रिलोकी पा जाये तो फिर सत्य लोक चाहने लगता है इसमें संशय नहीं। ब्रह्मलोक भी मिल जाये तो भी यह और कुछ चाहने लगेगा (उस लोक से हटना न पड़े — यही इच्छा करेगा अथवा अमरता की इच्छा करेगा)। ।२२५-६। । ऐसा कहीं नहीं होता कि पुरुष नानाविध धनों से तृप्ति पा जाये। जैसे लकड़ियों से आग, जल से सागर और पुरुषों से स्त्री तृप्त नहीं होती ऐसे जीव धन से कभी तृप्त नहीं होता अतः बुद्धिमान् को धन से मनुष्य को तृप्त करने की कोशिश नहीं करनी चाहिये। ।२२७-८। ।

किंच हे धर्मराज ! महान् दुःखों के समापक आपश्री का दर्शन जब हमने अपने मांसमय नेत्रों से प्राप्त कर लिया तो आपके दर्शन के प्रभाव से धन हमें खुद ही मिल जायेगा, उसके लिये वर क्या माँगना । । २२९। । आपका मेघ-सा श्याम रंग है, लंबा देह है, पीला रेशमी वस्त्र पहने हैं, पिघली लाख जैसे लाल व चमकदार आपके दीर्घ नयनकमल हैं, लंबी पतली गर्दन है, चौड़ी छाती है, घुटनों तक लम्बी भुजाए हैं जिनमें अनुपम पुष्टता है, आपकी दृष्टि में सूर्य-सा तेज है और वैसी ही आपकी स्वप्रभ आभा है। आप महान् भैंसे पर सवारी करते हैं, पुरुषाकार हैं, दण्ड धारण किये रहते हैं, देखने में क्रुद्ध साँप जैसे पर आपके चित्त में प्राणियों के प्रति कृपा भरी है। आपका काम है वेदोक्त महामार्ग

१. 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा। जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव।' २७।।

वेदोदितमहामार्गरक्षाकरणकर्मकम्। आत्मविज्ञानसम्पन्नं भगवन्तमनामयम्।।
समं सर्वेषु भूतेष शत्रुमित्रविवर्जितम्।।२३३
सर्वेषां हि भवान् मृत्युश्चरस्थिरशरीरिणाम्। गुरुभूतस्ततो मृत्युः केनाऽस्माकं भविष्यति।।२३४
लोकपालो भवान् यावद् दक्षिणस्यां दिशि स्थितः। जीविष्यामो वयं तावद् धर्मराज !
न संशयः।।२३५
अतो वरः स्वयं सिद्धः चिरकालं हि जीवनम्। भवतः करुणापाङ्गमोक्षवज्रशरीरिणाम्।।२३६
ततो वरः स एवाऽत्र वरणीयो मृतौ हि यः। संशयच्छेदकृद्ब्रूयाद् धर्मराज ! परो न हि।।२३७
जरामरणशून्यानां भवतां स्वर्गवासिनाम्। दैवयोगेन सांनिध्यं प्राप्तोऽत्र यदि कश्चन।।२३८
जरामरणवान् भूमावधस्ताद् भवतां स्थितः। मादृशः पुरुषो जानन्नात्मानं च परांस्तथा।।२३९

वेदोदितेति।।२३३।। चिरजीवनमप्यस्माकं भवदीयशिष्यत्वमात्रेण लब्धत्वाद् न वरेणार्थनीयमित्याह—सर्वेषामिति। भवान् एव हि सर्वेषां मृत्युरूपो भवति अस्माकं गुरुः च। गुरोश्च शिष्यानुग्रहशीलत्वं प्रसिद्धम्। अतो नाऽस्माकं मृत्युभयमित्यर्थः।।२३४।। अतो यावद्भवतोऽयं लोकपालत्वलक्षणोऽधिकारः तावज्जीवनेऽस्माकं न कश्चित् प्रतिबन्धक इत्याह—लोकेति। ।।२३५।। अत इति। भवत्कृपाकटाक्षपातेन वज्रसमं शरीरं येषां ते तथा तेषाम्।।२३६।।

अतो भवता स एव बोधो वरत्वेन देयो यो न उक्तस्य मरणविषयकसंशयस्यच्छेदनं कुर्यादित्याह—ततो वर इति।।२३७।।

किं च भवादृशां महात्मनां सन्निधिं प्राप्तस्य मर्त्यस्य चित्ते समोगचिरजीवनतृष्णा व्याहता — इत्यावेदकस्य 'अजीर्यताम्'[1] इत्यादेरर्थं दर्शयति — जरेति चतुर्भिः। यो जरादिमान् भवतां स्वर्गवासिनाम् अधोभवे श्रौतकुपदोक्ते भूमिलोके वसनशीलो मादृशो मर्त्यो भवतां देवानां सन्निधिं प्राप्तः सन्नात्मानात्मतत्त्वविवेकवान्

की रक्षा करना। आपको आत्मानुभव प्राप्त है। ऐश्वर्यादि भगों से आप संपन्न हैं। आपको कोई कष्ट नहीं होता। आप सभी भूतों पर समदृष्टि रखते हैं, शत्रु-मित्र के प्रति भेदभाव से रहित रहते हैं। चराचर शरीरधारी सभी के आप मृत्युरूप हैं पर मेरे आप गुरु हैं अतः मेरे लिये आप मृत्युरूप क्यों होंगे ? (गुरु स्वभावतः ही शिष्य पर अनुग्रह करते हैं।। अतः मुझे मौत का डर नहीं जो दीर्घ जीवन के लिये वर माँगना पड़े।)।।२३०-४।। हे धर्मराज ! जब तक आप लोकपाल रूप से दक्षिण दिशा में स्थित हैं तब तक मैं जीवित रहूँगा इसमें संशय नहीं।।२३५।। आपका कृपाकटाक्ष पड़ जाने से वज्रतुल्य हुए शरीर वाले हम जैसों का चिरकाल तक जीवित रहना तो स्वतः सिद्ध वर है (माँगने की जरूरत नहीं) ।।२३६।। हे धर्मराज ! इसलिये चुनने लायक वर वही है जो मौत — और मौत के बाद आत्मा के होने न होने — संबंधी संशय समाप्त करे, अन्य कोई वर माँगने योग्य नहीं।।२३७।।

(आप सरीखे महात्माओं की संनिधि पाकर मनुष्य के चित्त में भोगों सहित चिर जीवन की तृष्णा रह जाये यह संभव नहीं। इस अभिप्राय से कहता है —) आप लोगों की अपेक्षा नीचे भूमि पर रहने वाले मुझ जैसे जरामरणयुक्त पुरुष को दैवयोग से जरामरण रहित आप स्वर्गवासियों का सान्निध्य प्राप्त होता है। मुझ जैसा व्यक्ति अपने-पराये को समझता है अर्थात् आत्मा-अनात्मा का विवेक रखता है। वह यह भी जानता है कि स्त्री आदि हमेशा दुःखकारी हैं भले ही दीखने में और उपभोग से सुखद प्रतीत हो जायें। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह सब समझने वाला कौन

१. 'अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्। अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदान् अतिदीर्घे जीविते को रमेत।।'२८।।

दर्शनेन तथा रत्या रामाद्याः सुखदा हि ये। अभिध्यायन्निमानत्र सर्वदा दुःखकारिणः।।
रमेत जीविते को नु बहुकालेऽपि बुद्धिमान्।।।२४०
ततो जानामि देवानामानन्दं स्वर्गिणामपि। मनुजानां च धर्मज्ञ ! न मे प्रीतिः समीरिते।।२४१
यत्र संशेरते देवा जरामरणवर्जिताः। परलोकगतौ मृत्यो ! महत्यां निर्णयं विना।
तमेव ब्रूहि भगवन् मह्यं चेद् वरदो भवान्।।२४२
यमेन लोभ्यमानोऽपि नचिकेता मुहुर्मुहुः। वरमन्यं वृणीते न स्वात्मज्ञानात् कथंचन।।२४३
एवं सर्वेषु भूतेषु गूढस्तिष्ठति सर्वदा। सृष्ट्वा जगत् प्रविष्टश्च तमेकं परिपृच्छति।।२४४
एवं निश्चलचित्तं तं ज्ञात्वा स नचिकेतसम्। यमोऽभीष्टतमं तस्य वरं दातुमिदं जगौ।।२४५।।

अधिकारिनिर्णयः

अन्यन्मोक्षाभिधं श्रेयः प्रेयोऽन्यत् सुखशब्दितम्। सांसारिकं द्विधा तत् स्यादिह लोके परत्र वा।।२४६

यदि भवेत् स इमान् रामाप्रभृतीन् भावान् वस्तुतो दुःखकारकान् मूढानां नानारूपदर्शनद्वारा 'रति'-पदोक्तोपभोगद्वारा च सुखदान् अभिध्यायन् रमणीयत्वेन मन्यमानः संश्चिरजीविते कः सज्जेत ! इति त्रयाणां सम्बन्धः।।२३८-४०।।

फलितमाह—तत इति। यतोऽहं मनुजानन्दमारभ्य ब्रह्मलोकानन्दपर्यन्तजन्यानन्दानाम् उक्तविधया दुःखमयत्वमेव जानामि अतस्त्वया समीरिते वरत्वेनोपन्यस्ते विषयजाते मे प्रीतिः सक्तिः न अस्तीत्यर्थः।।२४१।।

[1]वल्ल्यन्तकण्डिकार्थमाह—यत्रेति। यत्र परलोकगतौ महत्यां दुर्ज्ञेयायां निर्णयं विना देवा अपि सन्दिग्धाः तन्निर्णयरूपमेव वरं देहि इत्यर्थः।।२४२।। यमेनेति। एवं यमेन लोभ्यमानोऽपि नचिकेताः स्वात्मज्ञानादन्यं न वृणीते स्म किन्तु सृष्ट्वा तत्र गूढतया स्थितम् आत्मानमेव विषयी कुर्वतः प्रश्नस्य समाधानमेव वृतवान्। इति द्वयोरर्थः।।२४३-४।।

द्वितीयवल्लीव्याख्यामुपक्रमते—एवं निश्चलचित्तमिति। निश्चलं विषयकामनयाऽक्षोभ्यं चित्तं यस्य तादृशं तं ज्ञात्वा तदिष्टं वरं दातुं तं प्रशंसन्निदमाहेति।।२४५।।

तत्र प्रथमास्त्रयोदश ऋचोऽभ्युदयनिःश्रेयसविभागादिप्रदर्शनद्वाराऽधिकारिनिर्णयार्थाः।[2] तासामाद्ययोरर्थं

होगा जो आपका सम्पर्क पाकर बहुत समय तक रहने वाले जीवन को रमणीय माने ?।।२३८-४०।। मैं मनुष्यों का और स्वर्गीय देवों का आनंद जानता हूँ — कि विषयसुख जहाँ कहीं भी हो दुःखमय ही है — अतः आपने जो विषय सुनाये उनमें मेरी प्रीति नहीं है।।२४१।।

हे मृत्युदेव ! जरामरणरहित देवता भी जिस अत्यंत दुर्बोध परलोकगति के बारे में निर्णय समझे बिना संशयग्रस्त रहते हैं वही बताइये। हे भगवन् । यदि आप मुझे वर देवें तो वही दें।।२४२।।

यमराज द्वारा बार-बार लुभाये जाने पर भी नचिकेता स्वात्मा के ज्ञान से अन्य वर माँगने को किसी तरह तैयार नहीं हुआ।।२४३।। जो सब भूतों में हमेशा छिपा बैठा है, जगत् बनाकर इसमें घुसा है, उस एक के बारे में ही वह हर तरह से पूछता रहा।।२४४

यमराज ने जब इस तरह परीक्षा कर समझ लिया कि नचिकेता का चित्त विषयकामना से क्षुब्ध होने में अक्षम है, केवल आत्मलाभ के लिये ही उत्कण्ठित है, तब उसका सर्वाभीष्ट वर प्रदान करने के लिये उसकी प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा—।।२४५।।

१. 'यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्। योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्माद् नचिकेता वृणीते।।'२९।।

२. 'अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः। तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते।। २.१।। श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।। २.२।।

श्रेयसः प्रेयसश्चाऽपि द्वयोर्मध्येऽत्र सर्वदा। आददानः पुमान् श्रेयः स्वार्थान्नैव प्रहीयते।।२४७
प्रेयः समाददानस्तु संसारं याति मानवः। अनेकदुःखनिकरं मोहितोऽयं सुखाशया।।२४८
यथा जलगतो मत्स्यो मोहितो बडिशाशया। अनवाप्य सुखं किञ्चिद् दुःखं मरणमाव्रजेत्।।२४९
एवं स्वर्गं च भोगं च समिच्छन् पुरुषः सदा। अनवाप्य सुखं भूरिदुःखमेवाऽधिगच्छति।।२५०
वधं बन्धादिकं यद्वत् कुराज्येऽपि न निर्धनः। प्राप्नोति तद्वदेवाऽयं विरागी दुःखमण्वपि।।
नैवाप्नोति सदा मोक्षी नचिकेतो भवादृशः।।२५१

प्रपंचयति—अन्यदिति त्रिंशता श्लोकैः। मोक्षरूपं फलम् अतिप्रशस्तत्वात् श्रेयःपदोक्तम्, अन्यत् स्वरूप-साधनप्रमाणाऽधिकारिभिर्विलक्षणतया स्थितम्। तथा सांसारिकसुखरूपम् अभ्युदयाख्यं फलम् अतिमूढानां प्रेमास्पदत्वात् प्रेयःपदोक्तम् अन्यत् स्वरूपादिभिर्विलक्षणमित्यर्थः। तथा हि—आद्यस्य स्वरूपं नित्यसिद्धात्मरूपं, साधनं विद्या, प्रमाणं वेदान्ताः, अधिकारी साधनचतुष्टयवान्। अन्त्यस्य स्वरूपं जन्यसुखं, साधनं कर्म, प्रमाणं पूर्वकाण्डादि, अधिकारी सकाम इति।।२४६।। श्रेयस इति। श्रेयःप्रेयोरूपयोः द्वयोः फलयोः मध्ये श्रेय एव यः पुमान् आददानः सम्पाद्यतयाऽङ्गी कुर्वाणो भवति स स्वकीयाद् अर्थात् प्रयोजनाद् न परिच्युतो भवति। इतरः प्रेयोग्राही तु संसारे भ्रमन् पुरुषार्थं न लभते। इति द्वयोरर्थः।।२४७-८।। प्रेयोऽर्थी प्रत्युत दुःखमेव लभत इति सदृष्टान्तमाह—यथेति द्वाभ्याम्। निगदव्याख्यातं द्वयम्।।२४९-५०।। श्रेयोऽर्थी प्रारब्धवशेन संसारे वर्तमानोऽपि न दुःखं लभते इत्येतद् दृष्टान्तेन स्फुटयति—वधमिति। यथा निर्धनः कुराजकदेशे वर्तमानोऽपि वधादिदुःखं न प्राप्नोति तथा विरक्तो मोक्षाधिकारी संसारस्थोऽपि अणु स्वल्पमपि दुःखं नैतीत्यर्थः।।२५१।। अत इति। अतः

मोक्षनामक श्रेय अलग पदार्थ है, सुख कहलाने वाला प्रेय अलग है। प्रेय संसारसम्बन्धि है। इस जन्म में और परजन्मों में होने वाले सुखों के भेद से प्रेय दो तरह का है। (यहाँ अभ्युदय अर्थात् सांसारिक उन्नति और निःश्रेयस अर्थात् संसार से अतीतता — इन्हें पृथक् कर दिखाया जा रहा है ताकि मोक्षोपाय ज्ञान के अधिकारी का निर्धारण सरल हो। अत्यंत प्रशंसित होने से कल्याणात्मक मोक्ष 'श्रेयस्'- शब्द का अर्थ है जबकि मूर्खों को अत्यधिक प्रिय होने से संसारसुख 'प्रेयस्' कहलाता है। शब्दतः ये क्रमशः 'अधिक प्रशस्त' और 'अधिक प्रिय' के बोधक हैं। इन दोनों में महान अंतर है :

		श्रेय	प्रेय
१.	स्वरूप	नित्यसिद्ध आत्मा	जन्य सुख
२.	साधन	आत्मज्ञान	कर्म
३.	प्रमाण	वेदान्त (उपनिषदें)	पूर्वकाण्ड तथा लौकिक शास्त्र
४.	अधिकारी	साधनचतुष्टयसंपन्न	कामुक

इस प्रकार मोक्षोपाय संसार की प्रगति में सहायक हो सकता है ऐसे भ्रम का निरास हो जाता है। संसार में उन्नति से मोक्षमार्ग में सहायता की संभावना भी नहीं। इस प्रबोधन का प्रयोजन अधिकारी को सावधान करना है कि समझ-बूझकर मार्ग चुने।)।।२४६।। श्रेय-प्रेय रूप दोनों फलों में से जो पुरुष श्रेय को ही सम्पादनीय रूप से स्वीकारता है वह अपने प्रयोजन से च्युत नहीं होता जबकि जो मानव प्रेय को ही सम्पाद्य समझता है वह सुख की आशा से मोह में पड़ा रहकर अनेक दुःखों के पुंज इस संसार में भटकता रह जाता है।।२४७-८।। जल की मछली बडिश की आशा से मोहित हो कर कुछ भी सुख न पाकर दुःख और बहुधा मरण ही पाती है। इसी तरह स्वर्ग और भोग चाहने वाला

अतो भिन्नार्थकारित्वात् श्रेयः प्रेयोऽपि सर्वदा। विभिन्नं पुरुषं स्वस्य
बध्नीतोऽत्राधिकारिणम्।।२५२
त्वादृशाः श्रेयसा नित्यं सम्बद्धा ह्यधिकारिणः। अन्ये च प्रेयसा नित्यं सम्बद्ध्यन्तेऽल्पमेधसः।।२५३
वेदाध्ययनमात्रेण श्रेयः प्रेयश्च सर्वदा। सम्बद्ध्येते मनुष्येण वेदार्थकुशलेन हि।।२५४
बुद्धिमान् प्रेयसो यत्स्यादधिकं श्रेय ईरितम्। प्रार्थयेत तदेवान्यो मन्दः प्रेयोऽत्र याचते।।२५५
अप्राप्तं पुत्रपश्वादि प्राप्तुमिच्छंस्तथा स्थितम्। अभिरक्षयितुं नैतद् दैवाधीनं प्रपश्यति।।२५६
बुद्धिमान् सर्वमेवैतद् दैवाधीनमवस्थितम्। एतयोश्च विवेकं च त्वादृशोऽत्राऽवगच्छति।।
अयमेवं विवेकेन विचारयति सर्वदा।।२५७

विवेकिनो विचारः

सुखं मे स्यात् तथा दुःखं मा भूदण्वपि सर्वदा। जन्तुरिच्छति सर्वोऽपि न चैतदधिगच्छति।।२५८

प्रदर्शिताद् विभिन्नौ यावदर्थौ दुःखाऽभावदुःखरूपौ तयोः प्रयोजकत्वाद् हेतोः श्रेयःप्रेयसी विभिन्नं परस्परविलक्षणम् अधिकारिणं पुरुषं बध्नीतः स्वेन सम्बद्धं कुरुत इत्यर्थः।।२५२।।

अधिकारभेदमेव दर्शयति — त्वादृशा इति। भवद्विधाः सविवेका अधिकारिणः श्रेयसा सम्बद्धाः, मन्दधियस्तु प्रेयसेति।।२५३।। उभयोः सम्बन्धप्रसक्तिस्तु शास्त्राध्ययनकाले भवतीत्याह — वेदाध्ययनेति। यदाऽयं वेदं तन्मूलकं पुराणादिकं वाऽधीते तदर्थकुशलश्च भवति तदा श्रेयःप्रेयसी उभे अपि अनेन सम्बद्ध्येते सम्बन्धयोग्ये भवतः। तत्र प्रशस्तमतिः श्रेयोऽभ्यर्थयेत्, प्रेयोऽपेक्षयाऽधिकत्वात्। मन्दधीस्तु प्रेय इच्छति। इति द्वयोरर्थः।।२५४-५।। प्रेयोऽर्थिनो मन्दत्वं स्फुटयति—अप्राप्तमिति। यत एष प्रेयोऽर्थी अप्राप्तं पुत्रादि प्राप्तुं, तथा स्थितं प्राप्तं पुत्रादि रक्षयितुं च इच्छन् भवति, तत् पुत्रादिप्राप्त्यादिकं दैवाधीनं न जानाति इति।।२५६।। बुद्धिमानिति। त्वादृशो बुद्धिमांस्तु योगक्षेमयोः दैवाधीनत्वं विज्ञाय विवेकपरो भवति। स च विवेक एवं वक्ष्यमाणविधया श्रेयःप्रेयसोः विवेकेन स्वरूपादिभेदेन विचाररूप इत्यर्थः।।२५७।।

तत्र प्रेयसः स्वरूपादिगोचरं विचारमभिनयति — सुखं म इत्यादिना 'अमूढोऽहम्' इत्यतः (श्लोक २७२) पूर्वग्रन्थेन। सर्वो जन्तुः आत्यन्तिकं सुखं दुःखाभावं च कामयन्नपि तत् सुखादिकं न लभत इति प्रसिद्धम्, तद्विपरीतं जीव सुख कभी न पाकर हमेशा अत्यधिक दुःख ही पाता है।।२४९-५०।। कुराज्य में भी रहने वाले निर्धन को वध, बंधन आदि दुःख नहीं मिलते (धनिकों को ही मारा, लूटा, अपहृत आदि किया जाता और कुराजा द्वारा प्रताडित किया जाता है)। ऐसे ही सदा मोक्ष चाहने वाला विरक्त — हे नचिकेता ! तुम जैसा अधिकारी —संसार में रहते हुए भी थोड़ा भी दुःख नहीं पाता।।२५१।। इस प्रकार श्रेय व प्रेय हमेशा विभिन्न प्रयोजनों के साधक हैं अतः विभिन्न अधिकारी पुरुषों को ही अपने से जोड़ते हैं। (दुःख चाहने वाले को प्रेय और दुःख से छूटना चाहने वाले को श्रेय आकृष्ट करता है। 'दुःख' में विषयसुख समाहित हैं।)।।२५२।। हे नचिकेतः ! तुम जैसे विवेकवान् अधिकारी हमेशा श्रेय से सम्बद्ध होते हैं तथा अन्य तुच्छबुद्धि (उपाधिप्रधान सोच वाले) लोग सदा प्रेय से ही सम्बद्ध होते हैं। (संबद्ध अर्थात् तदनुसार आचरण करना।)।।२५३।। वेदार्थ समझने में सक्षम व्यक्ति द्वारा वेद का अध्ययन करने से ही श्रेय व प्रेय उससे संबद्ध होने योग्य बन जाते हैं, वह मनुष्य दोनों में से किसी को चुन सकता है। बुद्धिमान् उसी श्रेय की आकांक्षा रखता है जिसे प्रेय से बेहतर बताया जाता है जबकि उस मौके पर मंदबुद्धि प्रेय की माँग करता है।।२५४-५।। मंदमति चाहता है कि जो पुत्र-पशु आदि अप्राप्त हैं वे मिल जायें और जो उपलब्ध हैं वे पूर्णतः सुरक्षित रहें। वह इन विषयों को प्रारब्धानुसारी नहीं समझ पाता।।२५६।। बुद्धिमान् की समझ में यह बात आ जाती है कि यह सब प्रारब्ध के अधीन ही है। तुम जैसा बुद्धिमान् ही संसार में श्रेय-प्रेय को पृथक् कर समझ पाता है और विवेकपूर्वक हमेशा यों विचार करता है।।२५७।।

ततः कस्याऽत्र दोषोऽयं पुरुषस्योद्यमे सति। सुखं न जायते दुःखं जायते चानभीप्सितम्।।२५९
करणादेः प्रचारेण दृश्यन्ते सर्वदोद्यताः। ततः सुखकरं नूनं दुःखमस्मै करोति तत्।।२६०
प्रतिग्रहप्रजारक्षाकृष्याद्या हेतवो यतः। अर्थं सम्पादयन्तीष्टम् इहलोके सुखप्रदम्।।२६१
अर्थतोऽन्नं ततो दारान् भोगान् नानाविधानपि। तेभ्यस्तृप्तिं प्रजां तुष्टिं मनसोऽपि यशस्तथा।
स्वर्गादिकं च पुंसः स्यात् सर्वदा नियतं यतः।।२६२
एवमर्थेन जायेत दत्तमिष्टं सपूर्त्तकम्। ततः स्वर्गं प्रयात्येष तत्र भोगान् यथा भुवि।
प्राप्नोति विविधान् दिव्यान् अनेकसुखहेतुकान्।।२६३
एवं स्थितेषु तत् सर्वं सुखबीजं सुदारुणम्। दुःखवृक्षमयं जातम् इह लोके परत्र वा।।२६४

च लभत इति। इत्थं सुखाद्यर्थोद्यमेऽपि विपरीतफललाभप्रयोजकदोषः कस्य धर्मः? किं पुरुषस्य, किं वा कर्मणः? इति द्वयोरर्थः।।२५८-९।। करणादेरिति। तत्र नाद्यः; पुरुषदोषो हि वैगुण्येन कर्मानुष्ठानरूपो वाच्यः, स च न दृश्यते, यतः करणस्य फलसाधनतया प्रापितस्य यागादेः आदिपदग्राह्यस्य तदुपकारिव्यापारादेश्च प्रचारेण सम्यगनुष्ठानेन उद्यताः समीक्ष्यन्ते जनाः। अतः परिशेषात् सुखसाधनत्वाभिमतं यत् काम्यकर्मादिकं तदेव दुःखहेतुरिति निश्चीयत इत्यर्थः।।२६०।।

तत्र संसारे सुखहेतुतयाऽभिमतान् भावान् दर्शयति — प्रतिग्रहेति। प्रतिग्रहादयो ब्राह्मणादीनाम् अर्थसंग्रहहेतवः प्रसिद्धाः। स चाऽर्थः कामसुखसाधनमित्यर्थः।।२६१।। अर्थस्य सुखकरत्वं विशदयति — अर्थत इति। अर्थेन हि अन्नं, दारा, भोगसाधनानि गृहादीनि च लभ्यन्ते, तेभ्यः अन्नादिभ्यस्तु तृप्तिः, सन्ततिः, मनस्तुष्टिश्च लभ्यते; अन्नादिविभागादिना यशः स्वर्गश्च लभ्यत इति।।२६२।। अर्थात् स्वर्गलाभे दानयागपूर्तादिकं व्यापारतया प्रसिद्धमित्याह — एवमर्थेनेति। पूर्तं वाप्यारामादिकृतिः। तत्फले स्वर्गे च नानाभोगाः प्रसिद्धाः। हेतुपदे कः स्वार्थे।।२६३।।

वर्णितानां सुखकराणां दुःखकरत्वं प्रपंचयति—एवमित्यादिना। एवं घटीयन्त्रवद् उक्तपदार्थेषु स्थितेषु सत्सु सर्वं सुखसाधनं दुःखरूपवृक्षाकारेण परिणामि सिद्धमित्यर्थः।।२६४।। 'अर्थानामर्जने दुःखम्' (पंचदशी ७.१३६)

यह प्रसिद्ध है कि सभी जंतु चाहते हैं, 'मुझे हमेशा सुख मिले, थोड़ा भी दुःख कमी न हो,' किन्तु किसीको यह लक्ष्य उपलब्ध नहीं होता बल्कि इससे उल्टा ही होता है ! ।२५८।। इसलिये विचार करना चाहिये कि इसमें यह दोष किसका है कि पुरुष के उद्यम करने पर भी सुख होता नहीं व अनिष्ट दुःख पैदा हो जाता है ?।२५९।।

यह दोष कर्त्ता पुरुष का हो नहीं सकता क्योंकि वह तभी कहा जा सकता है जब पुरुष साधन का सही संपादन न करे जबकि देखा यह जाता है कि सुखोपाय और उसके सहायकों के सही अनुष्ठान के लिये लोग हमेशा उद्यत (प्रयत्नशील) रहते हैं। इसलिये यही समझ आता है कि जिसे सुखकर माना जाता है वही साधनकलाप पुरुष को दुःख प्रदान करता है।।२६०।।

प्रतिग्रह, प्रजापालन, खेती आदि हेतु अभीष्ट धन उपलब्ध कराते हैं जो इह लोक में सुख देने वाला प्रसिद्ध है। (प्रतिग्रह अर्थात् दान लेना।)।।२६१।। धन से अन्न, पत्नी, नाना प्रकार के घर-वाहन आदि भोग्य पदार्थ मिलते हैं जिनसे क्षुधानिवृत्ति, सन्तान, मनःसंतोष तथा दानादि करें तो यश मिलता है और शास्त्रीय प्रक्रियाओं से देवाराधनादि भी करें तो स्वर्गादि उच्च लोक मिल जाते हैं। धन से यही सब मिल सकता है यह हमेशा की निश्चित बात है।।२६२।। धन से दान, इष्ट, पूर्त आदि वैध कर्म हो सकते हैं (दान अर्थात् यज्ञांग से अतिरिक्त ब्राह्मणों को अन्न, वस्त्र, भूमि, स्वर्ण आदि भेंट करना। इष्ट अर्थात् यागादि देवाराधना। पूर्त अर्थात् बावड़ी, कुआ, तालाब, देवमंदिर, अन्नक्षेत्र, प्याऊ, बगीचा आदि सार्वजनिक उपयोगार्थ बनाना, मरम्मत आदि कराना, संचालित करना।) उन कर्मों के फलस्वरूप कर्ता स्वर्ग जाता है किंतु वहाँ भी उसे विविध सुखों के हेतुभूत नाना प्रकार के दिव्य भोग ही मिलते हैं जैसे भूमि पर उपलब्ध हैं !।।२६३।। स्त्री आदि उक्त पदार्थ इस प्रकार इहलोक-परलोक में सुखसाधन रूप से स्थित हैं किंतु यह सभी जो सुखप्रद माना जाता है वह दुःख के ही आकार में परिणत हो जाता है जैसे मीठे फल का बीज मानकर बोया

अर्थादीनां च सम्प्राप्तौ दुःखं स्याद् मरणान्तिकम्। प्राप्तानां च वियोगोत्थं भयं दुःसहमेव च।।२६५
अन्यत्र गमनाशङ्का स्वप्रियस्येह वस्तुनः। दहत्यविरतं चित्तं चेतनस्य जडस्य वा।
अप्रियस्य तथैवैषा नित्यमागमनं प्रति।।२६६
प्रियस्य गमनं तद्वद् अप्रियस्य समागमः। उभौ हृदयगौ वह्नी दहतो दिवि वा भुवि।।२६७
आत्मनो मरणत्रासात् तथैव सुखसंक्षयात्। पित्रादेः स्वामिनश्चाऽपि नित्यं लोकद्वयस्थितेः।।२६८
दिवि वा भुवि वा यत् स्याच्छरीरं तस्य संक्षये। कर्मान्तरेण किं नाम वपुः स्यादिति तद्भयम्।।२६९
आध्यादयश्च वर्तन्ते दिवि वा भुवि वा सदा। सशरीरस्य सर्वस्य किंस्वित् तेन सुखं त्विह।।२७०
विषमिश्रं यथैवान्नं मूढस्य सुखदं भवेत्। एवं प्रेय इदं सर्वं मूढस्य सुखदं स्मृतम्।।२७१
अमूढोऽहं ततोऽनेन मम किंस्वित् सुखं भवेत्। उदर्के दुःखदं प्रेयः श्वमैथुनसमं कथम्।।
धीमताऽत्र मया ग्राह्यम् इह वाऽपि परत्र वा।।२७२
अशरीरं ततो यत् स्यात् सर्वदुःखविवर्जितम्। सुखं तदेव भवताद् मम नान्यत् कदाचन।।२७३

इत्यादिवाक्यानि तथात्वमेव दर्शयन्तीत्याह—अर्थादीनामिति। आदिपदेन भोगसाधनान्तरग्रहः। सम्प्राप्तिः अर्जनम्।।२६५।। अन्यत्रेति। जडस्य अन्यत्र गमनाशङ्काऽपि दहति इति। अप्रियाऽऽगमनं प्रति च या एषा शङ्का साऽपि तथेति।।२६६।। प्रियाऽप्रियगमनाऽऽगमनयोः वह्निवद् हृदयदाहकत्वं प्रसिद्धमित्याह—प्रियस्येति।।२६७।। आत्मन इति। तथा लोकद्वये—इह लोके परलोके वा स्थितिर्यस्य तादृशस्य आत्मनः आत्मीयशरीरस्य स्वामिशरीरस्य वा मरणत्रासाद् यः सुखस्य संक्षयोऽभिभवः ततो दुःखं प्रसिद्धमिति शेषः।।२६८।। तथा 'भाविशरीरं किं भविष्यति?' इति चिन्तया भयदुःखं प्रसिद्धमित्याह—दिवीति।।२६९।। तथाऽऽध्यात्मिकादिदुःखानि प्रसिद्धानीत्याह—आध्यादय इति। तेन उक्तदुःखसद्भावेन इह संसारे स्विद् इति वितर्के किं सुखम् इति तुरीयपादार्थः।।२७०।। मूढानां दुःखसाधने सुखसाधनबुद्धौ दृष्टान्तमाह—विषेति।।२७१।।

अथ श्रेयोगोचरं विचारं दर्शयति —अमूढोऽहमिति। अनेन प्रेयसा मम अमूढस्य किंचित्[1] सुखं भवेत्! यतः तत् प्रेयः शुना मैथुनवद् उदर्के दुःखम्। अतो मया धीमता तत् प्रेयो लोकद्वयगं न ग्राह्यमिति।।२७२।। किंतु मम श्रेयःसंज्ञं नित्यसुखमेव सम्पाद्यमित्याह — अशरीरमिति। भवताद् आविरस्तु।।२७३।। तत्प्राप्तयेऽहं महात्मनः

विषैला बीज विषवृक्ष के रूप में ही विकसित होना लाज़मी है।।२६४।। धन-संपत्ति मिले इसकी प्रक्रिया में मरणांत दुःख होता है और प्राप्त धन के वियोग से होने वाला भय भी असह्य कष्ट है।।२६५।। अपना प्रिय कोई चेतन हो या जड वस्तु, उसके अन्यत्र चले जाने की शंका लगातार जलाती रहती है। ऐसे ही अप्रिय के आगमन की शंका भी चित्त को सालती ही रहती है।।२६६।।

द्युलोक चले जायें या भूलोक में रहें, हृदय में स्थित ये दो आगें जलती ही हैं—'प्रिय कहीं हाथ से निकल न जाये', 'कोई अप्रिय घटना हो न जाये'।।२६७।। इह-पर लोकों में रहने वाला शरीर अपना हो या पिता आदि किसी मालिक का, उसके मरण के त्रास में एवं सुख के क्षय से प्रतिदिन दुःख होता है यह सर्वानुभवसिद्ध है।।२६८।। द्युलोक का हो या भूलोक का, वर्तमान शरीर नष्ट होने पर अन्य कर्मों से कौन-सा शरीर मिलेगा — यों भावी शरीर के प्रति आशंका सबके दुःख का हेतु है। (जन्मांतर न मानने वाले स्वर्गादि के स्वरूपादि के प्रति सशंक रहते हैं। स्वर्गादि भी न मानने वाले नष्ट होने से नैराश्य द्वारा ग्रस्त रहते हैं।)।।२६९।। चाहे जिस लोक में जायें, शरीरधारी सभी किसी-न-किसी आधि-व्याधि से पीडित रहते ही हैं अतः शरीर से सुख क्या हो सकता है!।।२७०।। जैसे जहर मिला भोजन मूर्ख को ही सुख दे सकता है ऐसे यह सारा प्रेय—वैषयिक सुख—मूर्ख को ही सुखप्रद लगता है, सुखरूप से पुनःपुनः उसे याद आता रहता है।।२७१।।

मैं विवेकी पूर्णतः मोहग्रस्त तो हूँ नहीं अतः इन विषयों से मुझे क्या सुख मिल सकता है! जैसे कुतिया से

1. किं स्विदिति पठनीयम्।

एतत् पृच्छाम्यहं वृद्धान् वेदवेदाङ्गपारगान्। अशरीरं सुखं किञ्चिद् विद्यते वा न वा क्वचित् ।२७४
यद्वदिष्यन्ति ते तत्तच्छ्रेयो ज्ञात्वा विचक्षणः। विवेकेन वृणीतेऽत्र श्रेयः स त्वादृशो जनः।।२७५

नचिकेतसोऽधिकारिता

स त्वं विवेकिनामग्रेसरः शिष्यो ममाऽसि भोः। मया दत्तान्यतस्त्वित्थं त्यक्तवानसि वान्तवत्।।२७६
प्रियरूपानिमान् कामान् नित्यं प्रियकरानपि। अभिध्यायंस्तदेकांस्तांस्तेषां दुःखोदधिप्रदान्।।२७७
नचिकेत ! इमां हैमीं शृङ्खलां वित्तरूपिणीम्। हस्तपादस्थितां त्यक्त्वा गतोऽसि विगतज्वरः।।२७८
यया निबद्धा बहवो बुद्धिमन्तोऽपि मानवाः। संसारजलधौ मग्ना निःसरन्ति न कर्हिचित्।।२७९
अतिदूराविमौ मार्गौ संसारस्थितिभेदिनौ। कर्मज्ञानात्मकौ प्रेयःश्रेयःपुरमुपागतौ।।२८०

प्रति पृच्छामीत्याह—एतदिति।।२७४।। यद् वदिष्यन्तीति। ते वृद्धा यद् वदिष्यन्ति प्रतिपादयिष्यन्ति तद् एव वस्तु तद् मज्जिज्ञासितं श्रेयो भविष्यति—इत्येवं ज्ञात्वा विचार्य विचक्षणः श्रेयो वृणीते। स तथा श्रेयोवरिता त्वादृशः कश्चिदेवेत्यर्थः।।२७५।।

तृतीयाया[1] अर्थः प्रदर्श्यते—स त्वमिति चतुर्भिः। स श्रेयोग्राही मम शिष्यस्त्वं विवेकिनां मुख्यः असि यतो मया उपन्यस्तान् काम्यपदार्थान् वान्तवत् त्यक्तवानसि; किं कुर्वन् ? तान् कामान् तदेकान् तद् दुःखम् एकं प्रधानं येषु ते तथा तान्,'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च' इत्यमरः। अत एव तेषां मूढानां दुःखोदधिप्रदान् अभिध्यायन् जानन् सन्निति द्वयोरर्थः।।२७६-७।। नचिकेत ! इति। वित्तं भोगसाधनं तदुपादानरूपां स्वर्णमयीं शृङ्खलां हस्तपादयोः सत्प्रवृत्तिरोधिकां विवेकबलेन विमथ्य निर्गतत्वाद् विगतज्वरः असीत्यर्थः।।२७८।। ययेति। कीदृशी शृङ्खला ? यया बद्धा बहवः संसारे मग्ना इत्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम् — 'स्रकि गतौ' (भ्वा.आ.से.) इत्यनुशासनात् स्रङ्क्यते गम्यते संसारोऽनयेति व्युत्पत्तिं, बाहुलकात् सम्प्रसारणं चाऽभिप्रेत्य ग्रन्थकृता भोगसाधनासक्तिः सृङ्कापदार्थ- तयोक्ता। भाष्यकारैश्च[2] सैव कर्मगतित्वेनोक्ता। पूर्वं तु सृङ्क्यते कान्तिरनयेति विवक्षया माला व्याख्यातेति।।२७९।।

[3]चतुर्थ्यर्थमाह—अतिदूराविति द्वाभ्याम्। इमौ मार्गौ परस्परम् अतिदूरौ भवतो ययोरेकः कर्मरूपो, द्वितीयस्तत्त्वज्ञानरूपः। अतिदूरत्वे हेतुगर्भं विशेषणद्वयं संसारक्रमेण यौ स्थितिभेदौ—स्थितिः संरक्षणं, भेदो किया मैथुन स्वयं घृणित है और बाद में याद भी आये तो घृणा उत्पन्न करता है ऐसे सारा ही प्रेय स्वरूपतः और भविष्य में (फलावस्था में) दुःखप्रद ही है। मैं समझदार ऐहिक या पारलौकिक प्रेय कैसे ग्रहण कर सकता हूँ ?।।२७२।। अतः जो सब दुःखों से रहित अशरीर सुख है वही मेरे लिये प्रकाशमान होवे, और कुछ कभी न मिले।।२७३।। त्रैविद्यवृद्धों से मैं यह पूछूँगा कि कोई शरीरनिरपेक्ष सुख कहीं होता है या नहीं। वे जो बतायेंगे वही मेरा जिज्ञास्य श्रेय होगा। — यों विचार कर तुम जैसा विलक्षण प्रतिभा वाला व्यक्ति श्रेय-प्रेय में से विवेकपूर्वक श्रेय का चयन करता है।।२७४-५।।

मेरे शिष्य तुम विवेकियों में अग्रगण्य हो क्योंकि मैंने तुम्हें जो भोग दिये उन्हें तुमने वैसे ही ग्रहण नहीं किया जैसे किसी के वमन को कोई दूर से भी छूना नहीं चाहता।।२७६।। ये काम्य पदार्थ न केवल रूप से प्रिय लगते हैं वरन् प्रियानुभव पैदा करते भी हैं पर तुमने विवेक से इस रहस्य को समझा कि इनमें प्रधान तो दुःख ही है अतः मूढों को ये दुःखसागर में ही डुबाते हैं। (प्रिय होने से क्षणिक सुख भले ही दें, आगे-पीछे तो अत्यधिक दुःख ही देते रहते हैं।)।।२७७।। हे नचिकेतः ! भोगसाधन धन ग्रहण करना स्वर्णमयी बेड़ी है जो हाथ-पैरों से सत्प्रवृत्ति का प्रतिरोध करती है। विवेकबल से तू इससे बच गया अतः तुझे कोई पीडा नहीं हो सकती। (तुझे कामना है ही नहीं तो कामना की अपूर्ति रूप पीडा हो कैसे सकती है !)।।२७८।। इस बेड़ी में बहुतेरे बुद्धिमान् मानव भी बँध चुके हैं और संसारसमुद्र में ऐसे डूबे कि कभी निकलते ही नहीं।।२७९।।

---

१. 'स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः। नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः।।'२.३।।
२. 'सृङ्कां सृतिं कुत्सितां मूढजनप्रवृत्ताम्' इति लिखद्भिः।
३. 'दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। विद्याऽभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त।।'२.४।।

मन्ये ज्ञानार्थिनं त्वत्र भवन्तं नचिकेतसम्। यतस्त्वां बहवः कामा न चक्रुर्द्धैर्यतश्च्युतम्। ।२८१

कर्ममार्गः

प्रेयांसः कर्मिणः कामा अविद्यायास्तु मध्यगाः। अज्ञाश्च पण्डितंमन्याः सर्वदाऽऽत्मप्रशंसनम्। ।२८२
कुर्वन्तो दुर्धियोऽत्यन्तं संसारे कुत्सितां गतिम्। व्रजन्तो मोहसम्पन्ना दुःखं ते यान्त्यविद्यया। ।२८३
गुरूपदेशरहिता मोक्षमार्गाविचक्षणाः। अन्धा इव स्वयं त्वन्यैरन्धैर्नीता दिशो दश। ।२८४
एते नानाविधास्तत्र दृष्टाऽदृष्टसुखार्थिनः। संसारेऽस्मिन् महामोहप्रदे नित्यं पतिष्णवः। ।२८५
वेदवादरतः कश्चिदेको राशिर्व्यवस्थितः। अपरो वेदवादेन रहितोऽध्यक्षमानभाक्। ।२८६

विदारणं च—तत्प्रयोजकौ। अत एव श्रेयोरूपं प्रेयोरूपं च नगरं प्रति क्रमेण प्रविष्टावित्यर्थः। ।२८०।। तयोर्मार्गयोर्मध्ये ज्ञानरूपमार्गपरं भवन्तं जाने, कामैरविहतधैर्यकत्वाद् इत्याह—मन्य इति। ।२८१।।

द्वितीयः कर्ममार्गस्तु द्विविधः—शास्त्रेण विहितो, निषिद्धश्च। तत्राद्यं सकामतयाऽनुतिष्ठतां निन्दकः पञ्चमो[1] मन्त्र इति सूचयंस्तदर्थमाह—प्रेयांस इति दशभिः। कर्मिणः कर्मसक्तस्य प्रेयांसः अतिप्रियाः कामाः काम्यपदार्थाः तथा तत्कामयितारः अज्ञाश्च; एते सर्वेऽविद्याभूमावेव वर्तन्ते, यद् भ्रमे भासते तद् मिथ्येति न्यायात्। कीदृशा अज्ञाः ? सर्वदा आत्मनः आत्मत्वेनाऽभिमतस्य देहादिसङ्घतस्य प्रशंसां कुर्वन्तः, यतो दुर्धियः अपि पण्डितमानिनः। तेऽज्ञाः संसारे कुत्सितां गर्भवासादिमयीं गतिं प्राप्नुवन्तः सन्तः दुःखिता भवन्ति। तद्दुःखनिदानं तु तेषामविद्यैव। इति द्वयोरर्थः। ।२८२-३।। गुरूपदेशेति। एतेऽज्ञाः परमार्थविद्गुरूपदेशराहित्येन मोक्षमार्गे कुशलताहीना अज्ञान् गुरुत्वेनाऽऽश्रयन्तः 'अन्धस्येवाऽन्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे' इति न्यायविषयतां नातिवर्तन्त इत्यर्थः। ।२८४।।

एतइति। एतेऽज्ञाः संसारे पतनशीला नानाविधा द्विविधाः; तत्र केचिददृष्टद्वारा सुखार्थिनः, केचिद् दृष्टद्वारैव तथेत्यर्थः। ।२८५।। वेदेति। तत्राद्यानां राशिर्गणो वेदवादे सार्थवादकर्मवाक्यरूपे सक्तः। इतरेषां दृष्टसुखार्थिनां राशिस्तु आगमविमुखः प्रत्यक्षप्रमाणमात्रशरणत्वादित्यर्थः। ।२८६।। तत्राद्यराशिम् अभिलक्ष्याह—गुरुणेति।

श्रेय और प्रेय—ये दोनों रास्ते एक दूसरे से बहुत फासले पर हैं। प्रेयोमार्ग संसार के संरक्षण क़ा उपाय है जबकि श्रेयोमार्ग संसार को विदीर्ण करने का, काट डालने का। प्रेय कर्मात्मक तो श्रेय ज्ञानात्मक है। प्रेयोमार्ग उस नगर तक ले जाता है जहाँ अधिक प्रियता है और श्रेयोमार्ग की गंतव्य पुरी परम कल्याणरूप मोक्ष है। ।२८०।। क्योंकि बहुत-से भोग्यों ने तुम्हें धैर्य से डिगाया नहीं इसलिये मुझे मानना पड़ रहा है कि तुम सिर्फ ज्ञान के प्रार्थी हो। ।२८१।।

कर्म की साधनता में आसक्तों को अतिप्रिय भोग्य और उन्हें चाहने वाले अज्ञानी — ये सब अविद्या की भूमिका पर ही हैं। खुद को पण्डित समझने वाले ये अज्ञानी हमेशा उसी देहादि संघात की प्रशंसा करते रहते हैं जिसे ये आत्मा समझते हैं। दुष्ट बुद्धि वाले ये लोग संसार में गर्भवासादिरूप अत्यंत घृणित गति पाते हुए अविद्या से अत्यंत मोह में पड़े दुःख पाते हैं। ।२८२-३।। इन्हें परमार्थ के जानकार गुरु का सदुपदेश तो मिलता नहीं अतः मोक्षमार्ग पर चलने की कुशलता इनमें आती नहीं। ये जिन्हें गुरु समझते हैं वे स्वयं वास्तविकता से अनभिज्ञ हैं अतः ये अज्ञानी दसों दिशाओं में भटकते हैं मानो अन्धों द्वारा ले जाये जाते अंधे !। ।२८४।।

महामोह प्रदान करने वाले इस संसार में हमेशा गिरने के स्वभाव वाले ये अज्ञानी नाना प्रकार के होते हैं। इनमें कुछ केवल दृष्ट सुख (ऐहिक सुख) के प्रार्थी होते हैं और कुछ अदृष्ट सुख (पारलौकिक सुख) चाहने वाले होते हैं। ।२८५।।

---

१. 'अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।।'२.५।।

गुरुणा यादृशो दृष्टः पन्थाः शिष्येण तादृशः। पण्डितंमन्यतां प्राप्ता गुरुशिष्यपरम्परा।।२८७
घोरां भवाटवीमेतामुपरिष्टादधोगतिम्। अधोगतेस्तु सम्प्राप्त उपरिष्टादयं जनः।।२८८
तर्जनं ताडनं निन्दा मठादिपरिलुण्ठनम्। अधस्ताद् वेदमार्गेण रहितः काममोहितः।।२८९
आनन्दात्मा स्वयंज्योतिः प्रतिभाति न कस्यचित्। सर्वेषां हृदये नित्यं वसन्नाकाशसन्निभः।।२९०
दूरं गत्वा यथा पक्षी निपतेल्लुब्धकस्य हि। जाले कश्चिदयं यद्वत् पुमानत्यन्तबालिशः।।
कालेन कियता स्वर्गी ममायाति वशं पुमान्।।२९१

यादृशः पन्थाः सेवितो गुरुणा पित्रा चाचार्यादिरूपेण तादृश एव शिष्येण अक्षिणी निमील्य सेव्य इत्यध्यवसायवती गुरुशिष्यधारा पण्डितमानिनां कर्मिणां दृश्यत इति शेषः।।२८७।। तस्यां परम्परायां वर्तमानो जनस्तु घोरां भवाटवीं गच्छन्नूर्ध्वाधोलोकपरिभ्रमणं प्राप्नोतीत्याह—घोरामिति। प्रथमपादान्ते गच्छन्निति शेषः। अयम् आद्यराशिवर्ती।।२८८।।

इतरं राशिमभिलक्ष्याह—तर्जनमिति। अर्द्धान्ते—कुर्वन्—इति शेषः। 'मठश्छात्रादिनिलयः'। वेदविमुख ऐहिककाममात्रसक्तः तर्जनादिपापं प्राधान्येन कुर्वन्नधस्ताद् नरकक्षुद्रजन्तुभावादिष्वेव वर्तत इत्यर्थः।।२८९।।

राशिद्वयवर्तिनां सर्वेषामात्मतत्त्वविस्मरणं साधारणधर्म इत्याह—आनन्दात्मेति।।२९०।।तत्राद्यानामेतावान् विशेषो यत्ते पुण्यफलभोगान्ते मम यमस्य यातनाप्रदस्य वशं यान्तीति सदृष्टान्तमाह — दूरमिति। यथा जालाद् दूरम् आकाशे भ्रमन्नपि पक्षी ततोऽवतरन् जाले पतेत् तथा स्वर्गी कियता पुण्यफलभोगावसानोपलक्षितेन कालेन ततः पतन् मम वशं यातीति। तथा च स्वर्गिणं प्रकृत्य श्रुत्यन्तरं 'कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्यन्त' इति (छां. ५.१०.७); स्वर्गभोगान्ते कुत्सितकर्मफलोदये कुत्सितां योनिं नरकद्वारा गच्छन्तीति तदर्थः।।२९१।।

अदृष्ट सुख की कामना वालों का समूह वेद संबंधी बातों में संलग्न रहता है जबकि दृष्टमात्र से संतुष्ट अज्ञों का समूह वेद की बात से दूर रहकर सिर्फ प्रत्यक्ष प्रमाण का ही अनुसरण करता है।।२८६।। पंडितमानी कर्मियों की गुरुशिष्य धारा इस आग्रह वाली होती है कि पिता, आचार्य आदि गुरु ने जैसे रास्ते का सेवन किया वैसे का ही शिष्य पुत्रादि को भी आँखें मीच कर सेवन कर लेना चाहिये। (रास्ते चाहे शास्त्रीय अग्निहोत्रादि के हों या लौकिक समाजवाद आदि के, जहाँ भी प्रत्यक्ष फल न होने पर भी मानने को बाध्य किया जाये, अपने विचार को स्थान न मिले वे सभी समझ लेने चाहिये। प्रत्यक्ष फल वाले मार्ग तो वैदिकों के मार्ग के साथ नहीं समझे जा सकते।) ।।२८७।। इस परंपरा में वर्तमान जन्तु ऊँची गति से अधोगति तक और अधोगति से ऊँची गति तक — यों इस भयंकर भवारण्य में भटकता रहता है।।२८८।।

वेदमार्ग से विमुख, सिर्फ ऐहिक कामना से मोहित लोग डाँटना, मारना, निंदा, छात्रावास आदि को लूटना आदि पाप ही प्रधानतः करते हुए नरक आदि अधोगति ही पाते हैं।।२८९।।

सभी के हृदय में हमेशा रहता आकाश-सा निर्मल आनंदरूप स्वप्रकाश आत्मा किसी भी प्रेयोमार्गी को समझ नहीं आता। (अदृष्ट प्रेय के कामुक भी वेद भले ही पढ़ें पर उससे स्वर्गादि पाने की ही कोशिश में रहते हैं, उसमें कहे आत्मप्रसंगों पर गौर ही नहीं करते, विचार का तो सवाल ही नहीं।)।२९०।। जाल से दूर आसमान में उड़ता पक्षी भी नीचे उतरने पर बहेलिये के जाल में फँस जाता है, इसी तरह अदृष्ट प्रेय से आकृष्ट जीव भी अत्यंत मूर्ख है क्योंकि जीव चाहे स्वर्ग पर जाये पर कुछ काल बाद मेरे वश में आता ही है।।२९१।। (प्रेयोमार्गी शास्त्र का स्वर्गलाभार्थ उपयोग करने पर भी प्रियता की प्रधानता वाले होने से आचरण कुत्सित ही रखते हैं और सत्कर्म भी केवल काम्य ही करते हैं। ऐसों का स्वर्गभोग समाप्त होने पर नरक द्वारा इन्हें नीच योनि मिलती है ऐसा अन्यत्र कहा है। श्रेयोमार्गी का

अपरो नित्यमेवैष मद्वशे वर्तते जनः। प्रमाद्यन् घनमोहेन नित्यपापरतो हि यः।।२६२
अयं लोकोऽत्र सत्यः स्याद् देहो यो वर्ततेऽधुना। मृते सति पुनस्तस्य देहः केन भविष्यति।।२६३
देहः करोति कर्माणि फलमात्माऽधिगच्छति। इदं कथं विरुद्धं स्याद् आत्मनोऽस्तित्ववादिनः।।२६४
कृतनाशः कथं नाम मते नाऽस्य भवेद् ध्रुवः। अकृताऽभ्यागमश्चाऽपि धार्मिकस्य महात्मनः।।२६५
यो देहः कृतवान् धर्मं भस्मतां स गतोऽस्ति हि। तस्य नैव फलं किंचित् पुण्याऽपुण्यसमुद्भवम्।।
यश्चाऽयं कृतवान्नात्मा भुंक्तेऽसौ कर्मणः फलम्।।२६६
आत्मनः कर्तृता चेत् स्याद् नित्यता त्वक्रियत्वतः। कथं स्यात् केन देहस्य न भवेत् सा च नित्यता।।२६७

द्वितीयराशिगतानां केवलपापिनां गतिं विशदयतः 'षष्ठस्याऽर्थमुपबृंहयति—अपर इति एकविंशत्या श्लोकैः। योऽपरो राशिः घनेन गाढेन मोहेन तमसा प्रमाद्यन् अनवधानं प्राप्नुवन् नित्यं पापरतः स नित्यं मम यमस्य यातनाप्रदस्य वशे वर्तते।।२६२।। तद्राशिगतानां लक्षणभूतं पापप्रवृत्तिप्रतानकं कुतर्कमभिनयति—अयं लोक इति नवभिः। अयं प्रत्यक्षसिद्धः अत्र लोके यो देहो वर्तते तस्मिन् मृते सति तस्य देहरूपात्मनः परलोके देहान्तरं भविष्यतीत्यत्र को हेतुः ? न हि देहान्तरारम्भकं किञ्चिद् दृश्यत इत्यर्थः।।२६३।। कर्म तत्र हेतुरिति चेद् ? न; अन्येन कृतस्य अन्येनोपभोगाऽनुपपत्तेरित्याह—देह इति। यो देहादतिरिक्तस्य आत्मनः अस्तित्वं मन्यते तन्मत 'इदं' विरुद्धं कथम् उपपद्येत ? 'इदं' किम् ? देहः कर्माणि करोति तत्फलं तु तदन्य आत्मा भुंक्त इति।।२६४।। तथा च परलोकार्थं धर्मकर्तुः कृतनाशादिदोषप्रसङ्ग इत्याह—कृतेति। महात्मन इत्युपहासः।।२६५।। उक्तदोषद्वयमेव स्फुटयति — यो देह इति। यो देहो धर्मं कृतवान् स पुण्यफलं न भुंक्ते, यश्चाऽयं भवदभ्युपगत आत्मा धर्मं न कृतवान् स तत्फलं भुंक्त इति।।२६६।। आत्मन इति। यद्युक्तदोषपरिहाराय आत्मनः कर्मकर्तृतेष्यते, तदा निष्क्रियत्वहेतुका आत्मनो नित्यता कथं सिद्ध्येत् ? यदि तु सक्रियस्य अपि आत्मनो नित्यताऽङ्गी क्रियते, तदा देहस्याऽपि साऽस्तु

आचार भी परिशुद्ध होता है, नैतिकता पर कायम होता है, अतः सद्यो मोक्ष न मिलने पर भी सद्गति की ओर ही विकास करता है, कुत्सित गति नहीं पाता।)

जो दूसरा समुदाय है वह गहरे मोहांधकार से आवृत है अतः कभी सावधान हुए बिना हमेशा पाप में रत रहता है। वह समुदाय सदा मुझ यातनाप्रद यम के वश में रहता है। (शास्त्रानुसर्त्ता प्रेयोमार्गी कुछ समय तो स्वर्ग में सुस्ता लेता है जहाँ मैं यातना देने नहीं जाता पर शास्त्रविमुख प्रेयोमार्गी को वह सुविधा भी अनुपलब्ध है।)।।२६२।। उस समुदाय को कुतर्कमूलक ऐसी बातें जँचती हैं — यह प्रत्यक्षसिद्ध लोक ही परमार्थ है। यहाँ अभी जो स्थूल देह वर्तमान है इसके मर जाने पर इसे (जीव को) पुनः कोई देह किस कारण मिलेगा ! अर्थात् नहीं मिलेगा।।२६३।। देहातिरिक्त आत्मा की विद्यमानता मानने वालों के मत में यह विरुद्ध बात कैसे संगत होगी कि कर्म करता तो शरीर है और फल आत्मा को मिलता है !।।२६४।। इस धार्मिक महात्मा के मत में ये दो दोष कैसे नहीं प्राप्त होंगे कि किया कर्म (बिना फल दिये) नष्ट हो जाता है और न किया कर्म फलप्रद बनकर उपस्थित हो जाता है ?।।२६५।। जिस देह ने धर्म किया वह तो भस्मसात् हो जाता है अतः पुण्य-पाप से होने वाला कोई फल उसे मिलता नहीं जबकि धार्मिकसंमत जिस आत्मा ने कुछ किया नहीं वह कर्म का फल भोगता है ! — यों धार्मिक मत में असंगति है।।२६६।। आत्मा को अगर कर्ता माना जाये तो वह नित्य कैसे रहेगा क्योंकि नित्यता तो अक्रिय होने से ही सिद्ध होती है। और यदि सक्रिय भी नित्य हो सकता है तो देह ही क्यों नित्य नहीं हो जाता ? ।।२६७।। सभी सक्रिय पदार्थ स्पर्शवान् देखे

१. 'न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।।'२.६।।

क्रियावान् स्पर्शवान् दृष्टः स्पर्शवांश्चेत् कुतो भवेत्। विभिन्नो देहतस्तस्माद् नास्ति देहात् पृथग्घि सः।। अत एव परो लोको नाऽस्ति कश्चिद् मृते सति।।२९८
अपि चेद् मरणं प्राप्तः पुमान् लोकान्तरं व्रजेत्। प्रियान् दारान् सुतान् कस्माद् द्रष्टुं नायाति कर्हिचित्।।२९९
देहाद् यमभटैर्बद्ध्वा यद्ययं नीयते पुमान्। आक्रोशं कुरुते कस्माद् न बहिर्देहतः स्थितः।। यथा राजभटैर्गेहाद् नीयमानो बलात् पुमान्।।३००।।
आक्रोशमपि कुत्राऽपि मृतः किञ्चित् करोति न । शुभाऽशुभं च तेनाऽऽत्मा न देहात् पृथगास्थितः।।३०१
आत्मनः परलोकेऽस्य सत्त्वे वेदवचोऽस्ति यत्। ब्राह्मणानां हि तज्ज्ञेयं परवित्तापहारिणाम्।।३०२
दत्ते सति मृतस्य स्याद् यदि तृप्तिर्द्विजन्मनाम्। भूमौ किमन्यदानेनाऽन्यस्यैषा न हि जायते।।३०३
इत्यादि बहुधा मूढः कुरुते जल्पनं तथा । कामाल्लोभात् तथा क्रोधादपि स्नेहादिना द्विज ।।।३०४
मन्यमानस्य तस्यैवं परलोकदृशिं विना। जन्मान्तरं न भात्यस्य बालिशस्य दुरात्मनः।।३०५

इत्यर्थः।।२९७।। किं च सक्रियत्वस्य स्पर्शवत्त्वव्याप्यतादर्शनात् सक्रियत्वाङ्गी कारे स्पर्शवत्त्वमपि उपलभ्येत; तथा च देहादात्मनो भेदकथा न युक्तेत्याह—क्रियावानिति। देहाद् भिन्नः कुत इति सम्बन्धः। स आत्मा। अतो देहभेदाऽसम्भवात्।।२९८।। किं च यद्यात्मा परलोकं गच्छेत् तदा दारादीन् द्रष्टुं कदाचिदागच्छन्नुपलभ्येत, न च तथा दृश्यत इत्याह—अपि चेदिति।।२९९।। तथा परलोकं नीयमान उच्चैः शब्दं कुर्वन् दृश्येतेति सदृष्टान्तमाह—देहादिति। स्पष्टम्।।३००।। न च तथा दृश्यत इत्याह—आक्रोशमिति। यत आक्रोशं तथा शुभाऽशुभम् उपकारमनुपकारं वा मृतः कुर्वन् न दृश्यते ततो देहात् पृथक्त्वेन आत्मनः स्थितिरयुक्तेत्यर्थः।।३०१।। तस्माद् अस्यात्मनः परलोके सत्त्वप्रतिपादकं वेदवाक्यं यदुपलभ्यते तद् ब्राह्मणैः लुब्धैः प्रक्षिप्तमित्याह—आत्मन इति।।३०२।। यदि विप्रेभ्यो दानेन मृतस्य तृप्तिः तर्हि पान्थादेरपि लोके स्याद् ! इत्याह — दत्त इति। एषा तृप्तिः।।३०३।। एवंविधान् कुतर्कान् कामादिवशो बहुशः सदसि जल्पतीत्याह — इत्यादीति।।३०४।। तस्य नास्तिकस्य देहान्तरं भविष्यतीति शङ्कापि नोदेतीत्याह — मन्यमानस्येति। न भाति न चिन्ताविषयो भवति।।३०५।।

गये हैं। आत्मा स्पर्शवान् हो तो देह से अन्य कैसे होगा ! अतः देह से पृथक् आत्मा नहीं है। अतएव मरने पर कोई परलोक भी नहीं मिलता।।२९८।। और भी, अगर मरा पुरुष लोकांतर जाये तो प्रिय पत्नी पुत्रादि से मिलने कभी आ क्यों नहीं जाता ?।।२९९।। यमसैनिक यदि पुरुष को बाँधकर देह से निकाल कर ले जाते हैं तो देह से बाहर निकल कर यह हल्ला क्यों नहीं मचाता जैसे राजपुरुषों द्वारा बलात् ले जाया जाता पुरुष मचाता है ?।। ३००।। कहीं कोई मरा व्यक्ति अच्छा-बुरा कैसा भी आक्रोश (रोना-चिल्लाना) करता है नहीं अतः देह से पृथक् आत्मा है ही नहीं।।३०१।। आत्मा है, यह पाये ऐसा परलोक है—इत्यादि वेदवचन तो ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त उपाय है जिससे अन्यों के धन का अपहरण कर लें ! ।। ३०२।। ब्राह्मणों को दान देने से यदि मरे व्यक्ति की तृप्ति होती है तो भूतल पर ही एक को दान देने से अन्य को तृप्ति क्यों नहीं मिल जाती ?।।३०३।।

हे ब्राह्मण नचिकेतः ! काम, लोभ, क्रोध, स्नेह आदि हेतुओं से इस तरह की अनर्गल बातें मूढ व्यक्ति बनाता रहता है। ।।३०४।। उक्त मान्यताओं का अनुसरण करते उसकी परलोक की ओर दृष्टि ही नहीं जाती, इस तुच्छबुद्धि दुरात्मा को यह भान ही नहीं होता कि वर्तमान से अन्य भी कोई जन्म हुआ करता है !।। ३०५।। यों असत्य बातें

एवं वदन् हि पापात्मा दुर्जनो नित्यमेव हि। मारं मारं च सततं वशं मे याति दीनधीः। ।३०६

यथा वनगतः कश्चिद् मर्कटः कपिचेष्टया। धन्विनो हेलनं कुर्यात् शाखामारुह्य शाखिनः। ।३०७

क्षणमात्रमयं यावद् बाणं प्राणहरं गुणात्। न मुञ्चति विमुक्ते तु फलमेति स्वकर्मणः। ।३०८

तथाऽयं पापपुरुषो वेददेवादिनिन्दकः। प्राङ्मृतेर्मरणादूर्ध्वं कल्पान्तं नरकं वसेत्। ।३०६

दानादेरमुना येयं कृतापाया विडम्बना। भावानामत्र सामर्थ्यविज्ञानाभावजा हि सा। ।३१०।।

वासरे यदि दीपोऽयं तमःस्तोमं न नाशयेत्। रात्रावपि तथैवाऽयम् अस्तु किं गृहमध्यतः। ।३११

अदत्ते मूर्छितोऽयं स्याद् दत्ते सत्यत्र जीवितः। विप्रेभ्यो मरणे नैषा भविष्यति कुतो मतिः। ।३१२

तादृशस्तु पुनर्मद्वशं यातीत्याह — एवमिति। मारं मारं मृत्वा मृत्वा मे यमस्य मृत्युरूपस्य यातनाप्रदस्य च वशं याति। ।३०६।। मम धर्मरूपस्य निन्दारूपं तदीयवाक्चापल्यं तावदेव दृश्यते यावद् मयोपेक्ष्यते। मया वेक्षितस्तु कर्मफलमनुभवतीति दर्शयितुं दृष्टान्तमाह — यथेति द्वाभ्याम्। धन्विनो धनुर्धरस्य हेलनम् अवज्ञां क्षणमात्रं तावदेव मर्कटः शाखारूढः कुरुते यावत् स धन्वी गुणात् ज्यातो बाणं न मुञ्चति, बाणमोक्षे तु मर्कटः स्वकर्मणः फलम् अनुभवति। इति द्वयोरर्थः। ।३०७-८।। दार्ष्टान्तिके योजयति — तथेति। तथाऽयं पापो मरणात् प्रागेव वेदादिनिन्दायां प्रगल्भो दृश्यते, तदुत्तरं तु नरके फलं भुंक्त इति। ।३०६।। दानादेरिति। अमुना पापपुरुषेण दानादेः विडम्बना 'दत्ते सति' (श्लोक ३०३) इत्याद्युपहासरूपा या कृता, तस्याः प्रयोजकः पदार्थानां सामर्थ्यविज्ञानाभाव एवेत्यर्थः। ।३१०।।

दृष्टानुसारिण एव सर्वे भावा इति न नियमो दीपे व्यभिचारादित्याह — वासर इति। वासरे तमःस्तोमाऽनाशकत्वेन दृष्टोऽपि दीपः तथैव न तिष्ठति किन्तु रात्रौ गृहमध्ये तमो नाशयत्येवेत्यर्थः। ।३११।। किं च अरे मूढ ! दृष्टानुसारेणाऽपि सम्भवं तं सत्तर्कं कुतो न करोषि येन ते भव्यं स्याद् इत्याह — अदत्त इति। अयं जनो मूर्छितो रोगेण मूर्छां प्राप्तो विप्रेभ्योऽदत्ते सति मूर्छित एव स्यात् तिष्ठेत्, दत्ते ग्रहादिदाने कृते तु जीवितो निवृत्तमूर्च्छः अत्र प्रत्यक्षव्यवहारे स्याद् — एषा एवंविधा मतिः तर्करूपा भविष्यति भाविनि मरणेऽपि तव कुतो न भवति ? और्ध्वदेहिकादिदाने मरणमूर्छात उत्थानम् अन्यथा प्रेतत्वेन तथाभावस्थितिरिति न्यायस्य

बोलता रहने वाला वह दुष्ट पापी हतबुद्धि बार-बार मर कर हमेशा मेरे वश में आता है। ।३०६।। जंगल में कोई बंदर अपनी जाति के अनुरूप उछल-कूद मचाता पेड़ों की डाल पर चढ़कर किसी धनुर्धर की अवज्ञा उतनी ही देर कर पाता है जब तक वह अपने धनुष की डोर से उसके प्राण लेने वाला बाण नहीं छोड़ता, बाण छूटते ही बंदर अपने किये का फल पा जाता है। ऐसे ही यह प्रेय-परायण पापी जीव मरने से पहले तक ही वेद देवता आदि की निंदा कर पाता है, मरने के बाद तो कल्पसमाप्ति तक नरक में ही बसता है। ।३०७-६।।

पाप से आवृत विचार वाले ऐसे व्यक्ति ने जो उक्त तरह से दान आदि का उपहास किया — कि ब्राह्मण को देने से पितर तृप्त हों तो यहीं देवदत्त को खिलाकर यज्ञदत्त की भूख मिट जाया करे इत्यादि—उसका हेतु है कि सांसारिक पदार्थों की भी सामर्थ्य का उसे सही अनुभव नहीं है। उस उपहास का परिहार सरलता से थोड़ा भी विवेक रखें तो हो जाता है। ।३१०।। सभी चीजों के बारे में एक-आध अनुभव के आधार पर पूरी जानकारी नहीं हो जाती : दिन में यह दीपक अगर घना अँधेरा नहीं मिटाता तो क्या रात को भी घर में इसे रखने पर यह अँधेरा नहीं मिटायेगा ! ।३११।। प्रेय-इच्छुक मूर्ख को ऐसी बुद्धि क्यों नहीं आती कि जैसे रोगी आदि को दवा आदि न दें तो वह बेहोश पड़ा रहता है जबकि दवा आदि देने पर जग जाता है यह अनुभव में आता है ऐसे ही मृत्यु के संदर्भ में ब्राह्मणों को यथाविधि दान न देने पर मृत जीव प्रेतादि ही बना रहेगा जबकि दे देने से अच्छी योनि पा जायेगा। (हर दवा हर रोगी

ततः प्रमाणतो यत् स्याद् यादृशं तद्धि तादृशम्। अङ्गी कार्यं सदैवाऽत्र स्वात्मनः क्षेममिच्छता। ।३१३

शास्त्रं श्रोतव्यम्

कृतनाशादिदोषेण स्वात्मनोऽसत्त्ववर्जनम्। यद्यप्यनेकवचसा न घटेत कदाचन। ।३१४

तत आत्मा स्वयंज्योतिर्विक्रियालेशवर्जितः। जीवतां प्राप्य कर्ता स भोक्ता च भवति प्रभुः। ।३१५

वेदवाक्यस्य विज्ञेयः श्रवणेन सदा हृदि। अगण्यपुण्यपाकेन केनचिद्धि महात्मना। ।३१६

साम्यादित्यर्थः। ।३१२। । 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेद्' इति न्यायेन आगमप्रमेयेऽसम्भावना न कार्येत्याह — तत इति। ततः अचिन्त्यत्वाद् दानादिस्वरूपं प्रमाणतः शब्दाख्याद् यादृशं सिद्ध्यति तादृशम् एव अङ्गी कार्यं हितकामेनेत्यर्थः। ।३१३। ।

एवमात्मस्वरूपमपि आगमेनैव अवधार्यमिति दर्शयन् [1]सप्तममवतारयति — कृतेति त्रिभिः। यद्यपि कृतनाशाद्यापादनरूपतर्केण आत्मनोऽसत्ताया वारणं न घटेत नोपपद्येत, तत्र हेतुः अनेकवचसेति; 'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' इति भगवद्गीतोक्तविधया (२.४१) अनेकेन नानामतजन्येन वचसा वादिवाक्यसमूहेनेत्यर्थः; यतो 'देहः करोति कर्माणि' (श्लोक.२६४) इत्यादिना कृतनाशादिदूषणमतिरिक्तात्मसत्त्वाऽभावसाधकतयैवोपन्यस्तम् अतः तर्के न विश्वास इति भावः। ।३१४। । तथापि उपक्रमादिलिङ्गैः तात्पर्यावधारणरूपश्रवणसंस्कृतवेदवाक्येन तदवधारणं भवति इत्याह — तत इति। ततः तर्काऽयोग्यत्वाद् आत्मा वेदवाक्यस्य श्रवणेन एव करणेन केनचिद् महात्मनाऽधिकारिणा विज्ञेयो भवति। कीदृश आत्मा ? स्वप्रकाशो वस्तुतो निर्विकारोऽपि अविद्यया जीवत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वानि प्राप्तोऽपि सुविद्यया सर्वात्मभावरूपप्रभुत्वयोग्यः। इति द्वयोरर्थः। ।३१५-६। ।

को हमेशा उतने ही समय में मूर्छा से उठाती हो ऐसा तो है नहीं, वही दवा कभी कारगर होती, कभी बेकार और कभी नुकसान भी कर जाती है, जानलेवा भी हो जाती है। यह लोकसिद्ध होने पर भी जिस चिकित्सा-पद्धति को जो मानते हैं वे उससे उपचार कराने में उत्साह से प्रवृत्त होते ही हैं और उनके रोग मिटते भी हैं, आराम मिलता है। इसी तरह धर्म में प्रवृत्ति समझी जाये यह कठिन नहीं किंतु तात्कालिक स्वार्थसिद्धि के आवेश में प्रेयोलोलुप को यह तर्क सूझता व जँचता नहीं।)। ।३१२। । इसलिये जो अपना कल्याण चाहे उसे संसार में वह बात हमेशा वैसी ही स्वीकारनी चाहिये जो प्रमाण से जैसी निश्चित हो। (धर्म क्योंकि शास्त्रगम्य है इसलिये इसे शास्त्र से ही निश्चित कर सकते हैं। प्रत्यक्षादि का यह जब गोचर नहीं तो उनसे इसका परीक्षण भी क्योंकर होगा ? जैसे कोई कहे कि 'सूँघने से प्रेम पता चले तब मानें' तो बात व्यर्थ है ऐसे ही प्रत्यक्षादि से धर्म की जानकारी चाहने की बात है। जन्म से ही रुग्ण नेत्र वाला यदि सही रूपज्ञान से वंचित है तो स्वस्थ नेत्र वाला भी रूप के बारे में भ्रान्त हो यह कैसे स्वीकारा जाये ? ऐसे ही जिन्हें ग़लत पुस्तकों या व्यक्तियों पर श्रद्धा है उन्हें धर्म की भी ग़लत जानकारी है पर जिन्हें वेद पर श्रद्धा प्राप्त है उन्हें उससे धर्मप्रमा ही होती है। यों धार्मिक पक्षीय तर्क चार्वाक के तर्काभास की काट कर सकता है।)। ।३१३। ।

यद्यपि 'किया कर्म बिना फल दिये नष्ट हो जाता है' आदि पूर्वोक्त (श्लोक.२६४) दोषों के कारण आत्मा की असत्ता का निषेध भी तर्कमात्र से समर्थित नहीं हो पाता क्योंकि शुष्क तर्क (प्रमाण पर अनाधारित तर्क) नाना मतों के अनुसारी वचनों का ही पुलिंदा होता है तथापि आत्मतत्त्व को तर्कविषयता के अयोग्य जानकर किसी महात्मा का सान्निध्य पाकर वेदवाक्य के श्रवण से अपने हृदय में निर्णीत करना चाहिये। जिसके अगणनीय पुण्य फलोन्मुख हैं अतः जिसकी बुद्धि तुच्छ आग्रहों से छूटकर सत्यान्वेषी है वही जब उपक्रम आदि के विचार से वेद के आत्मबोधक

---

१. 'श्रवणायाऽपि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः। आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः। ।'२.७। ।

श्रवणायाऽपि बहुभिर्बहुपाशविमोहितैः। न लभ्यते पुमानेष कथं साक्षाद्धि लभ्यते।।३१७
सुप्तौ मृतौ नराः केचिज्जानन्त्येतं हृदि स्थितम्। नैव यद्वद्धि पुरुषा बालिशाः कार्यगौरवम्।।३१८
अस्याऽऽत्मनोऽत्र वक्ता स्यादाश्चर्यः पुरुषोत्तमः। अवाङ्मनसगम्यं यद् ब्रूते तं वचसा स्वयम्।।३१९
लब्धाऽस्य कुशलो ज्ञेयो यः साक्षात् कुरुते परम्। अशेषगुणशून्यं को लभेत कुशलं विना।।३२०
कुशलेनात्मविज्ञानसम्पन्नेन महात्मना। वेदवाक्येन शिष्टः सन्न तु शिष्टश्च युक्तिभिः।।
विजानाति पुमान्नान्य आश्चर्य इति कीर्तितः।।३२१

तच्छ्रवणादिदौर्लभ्यप्रतिपादकस्य सप्तमस्याऽर्थमाह—श्रवणायापीति अष्टभिः। पाशैः अविद्यादिक्लेशैर्दुष्कृताऽभिव्यक्तैः मोहितैः कैश्चित् तच्छ्रवणमपि दुर्लभमित्यर्थः।।३१७।। सुप्ताविति। केचित् तु सुप्त्यादिकाले यः सर्वैः जन्तुभिः सद्रूपो गम्यते साक्षिरूपेण हृदि सन्निहितः स इत्येवं वेदान्तैः प्रतिपादितं श्रुत्वाऽपि क्लेशप्रतिबद्धा न निश्चिन्वन्ति यथा लोके बालिशाः प्रमत्ता आप्तैरुपदिष्टस्याऽपि कार्यस्य गौरवं तत्परतयाऽनुष्ठेयत्वरूपं न जानन्ति इति। व्यतिरेके वा दृष्टान्तः—यथा लौकिककार्यगौरवं जानन्ति तथा तन्निर्णयगौरवं न जानन्तीत्यर्थः।।३१८।। तथाऽस्याऽऽत्मनो यथावत् तात्पर्यवृत्त्या प्रतिपादयिताऽपि दुर्लभ इत्याह—अस्याऽऽत्मन इति। यतो वागाद्यगोचरमपि प्रतिपादयति अतः आश्चर्यो विस्मयाधायको दुर्लभ इति यावत्।।३१९।। तादृशगुरूपदेशादात्मनः साक्षात्कर्त्ताऽपि तद्वद् दुर्लभ इत्याह—लब्धेति द्वाभ्याम्। लब्धा ज्ञाता।।३२०।। कुशलेनेति। युक्तिभिः शुष्कतर्कैः य अनुशिष्टो न भवति, किन्तु वेदवाक्येन एवाऽनुशिष्टः, तादृशः कश्चिदेव जानाति अतो लब्धाऽऽश्चर्य इत्युक्त इत्यर्थः।।३२१।। वक्तृतेति। यस्माद् अस्य आत्मस्वरूपस्य वक्तृत्वं प्रतिपादनं, ज्ञातृत्वं ज्ञानं

स्थलों का अनुसंधान करता है तब उसे समझ आता है कि आत्मा दृश्य विषय नहीं वरन् हृदय में, बुद्धि में प्रत्यगात्मरूप से नित्य प्रकाशमान तथ्य है। आत्मा को जानने के लिये कोई साधन नहीं चाहिये क्योंकि ऐसा कोई देश-काल-व्यक्ति नहीं जो आत्मभान से रहित हो। आत्मा में कोई भी परिवर्तन होता ही नहीं। यद्यपि वह ईश्वर से अनतिरिक्त है तथापि अविद्या से जीवरूपता पाकर वही कर्त्ता-भोक्ता बना बैठा है। सद्विद्या मिलते ही सर्वात्मभाव प्रकट हो सकता है।।३१४-६।।

यह पूर्ण चैतन्य उन्हें सुनने को भी नहीं मिलता जो बहुत से पाशों से मोहग्रस्त हैं। (अविद्यादि योगदर्शन (२.३) में प्रसिद्ध पाश हैं। मल, माया, कर्म और तत्त्व तिरोधान — ये शैवशास्त्रप्रसिद्ध पाश हैं। घृणा, शंका, भय, लज्जा आदि भी आठ लौकिक पाश हैं। अन्य भी परवश करने वाले बहुत से पाश समझे जा सकते हैं।) जब बहुत-सों को सुनने को ही नहीं मिलता तब इसकी साक्षात् उपलब्धि सरलता से कैसे हो सकती है !।।३१७।। कुछ लोग वेदान्तों में प्रतिपादित आत्मा के बारे में सुन तो लेते हैं कि हृदय में साक्षिरूप से सन्निहित यही वह सद्रूप है जिसे सुषुप्ति में या मृत्यु होने पर लोग प्राप्त करते हैं; किंतु सुनकर भी क्लेशों से प्रतिरुद्ध होकर वे इसका निश्चय नहीं करते जैसे लोक में प्रमादी लोग शिष्ट जनों से सुनकर भी कर्त्तव्य की गरिमा नहीं समझते। (शिष्ट समझाते हैं कि कर्त्तव्यपरायण होना चाहिये फिर भी प्रमादी कर्त्तव्यविमुख ही बने रहते हैं। किं च प्रेय-इच्छुक जैसे दृष्टफलक कार्यों को महत्त्व देते हैं वैसे आत्मस्वरूप के निर्धारण को नहीं, बल्कि साधकों को भी यही प्रेरणा देते हैं कि 'दृष्ट उपयोग की व्यवस्था आदि में तत्पर रहना चाहिये, आत्मनिर्णयार्थ ही प्रयत्नशील नहीं रहना चाहिये अन्यथा सामाजिक धारा से बहिर्भूत होकर दुःख पाओगे' आदि।)।।३१८।। श्रोता ही नहीं, इस आत्मा के बारे में समझाने वाला भी संसार में एक आश्चर्य है ! क्योंकि मन-वाणी से अतीत आत्मा को खुद शब्दों द्वारा प्रतिपादित कर देता है इसलिये वह वक्ता पुरुषोत्तम ही होता है।।३१९।। जो इस परम तत्त्व को अपरोक्ष प्राप्त कर लेता है उसे कुशल ही समझना चाहिये। कुशल से अन्य कौन होगा जो सभी गुणों से रहित आत्मा की उपलब्धि कर ले ? ।।३२०।। जो पुरुषार्थी शुष्कतर्कों से बुद्धिविलास का शौकीन नहीं वह आत्मज्ञान में निष्ठावान् एवं परप्रबोधन में प्रवीण गुरु द्वारा वेदों के वाक्यों के अनुसार आत्मविषय में प्रशिक्षित होने पर ही अद्वैत आत्मतत्त्व का अपरोक्ष कर पाता है, जो ऐसा भाग्यशाली नहीं उसे कभी आत्मसाक्षात्कार होता

वक्तृता ज्ञातृता चाऽस्य यस्मादाश्चर्यवद् भवेत्। वक्ता ज्ञाता च तेनोभावाश्चर्य इति कीर्तितौ।।३२२

अतिसूक्ष्मेण बोधेन यस्मादात्मात्र लभ्यते। कुशलस्तेन लब्धा स्याद् आत्मनो ब्रह्मरूपिणः।।३२३

आनन्दात्मस्वरूपस्य लब्धा यः कुशलः पुमान्। तेनोपदिष्ट आत्माऽयं ज्ञायते नान्यथा क्वचित्।।३२४

गुरोरावश्यकता

स्वात्मज्ञानविहीनेन ह्यपरेण नरेण तु। उक्ते नैव चिरं ज्ञातुं शक्य आत्मा कथञ्चन।।
बहुधा चिन्त्यमानोऽपि तर्कैर्नानाविधैरपि।।३२५

महारण्ये यथा कश्चिद् अज्ञात्वा सम्यगेव हि। मार्गं स्वसदृशेनैव कथितं तेन नश्यति।।३२६

चैतद् द्वयम् आश्चर्यं ततः तद्वन्तौ पुरुषौ अपि आश्चर्यत्वेनोक्तावित्यर्थः।।३२२।। अतिसूक्ष्मेणेति। अतिसूक्ष्मः संसर्गाऽनवगाही, निर्विकल्पक[1] इति यावत्, तादृशेन बोधेन चरमवृत्तिरूपेण यत आत्मनो लाभ आवरणभङ्गो भवति, स च बोधः सूक्ष्मविवेकलभ्यः, अतः तादृशबोधवान् कुशल इत्युक्त इत्यर्थः।।३२३।।

तादृशेन कुशलेन गुरुणाऽनुशिष्ट एवाऽधिकारी जानात्यात्मतत्त्वं, न परोक्षविदा शिक्षित इत्याह— आनन्दात्मेति। तेन कुशलेन उपदिष्ट उपदेशे कृते सति।।३२४।।

[2]अष्टमार्थमाह—स्वात्मेति सप्तभिः। स्वात्मसाक्षात्कारहीनतालक्षणाऽपकृष्टताशालिना चिरमुक्त उपदेशे कृते सति स्वयम् आत्मा न ज्ञातुं शक्यः। तथा अपरेण कुशलानुशिष्टव्यतिरिक्तेन नरेण बहुधा तर्कैश्चिन्त्यमानोऽपि च न ज्ञातुं शक्य इति सम्बन्धः।।३२५।। एतद् दृष्टान्तेन स्फुटयति— महारण्य इति द्वाभ्याम्। यथा मार्गानभिज्ञः स्वसदृशेन मार्गानभिज्ञेन कथितम् उपदिष्टं मार्गं भजंस्तेन मार्गेण नश्यति विषीदति।।२२६।। एवमिति। तथा नहीं, इसलिये आत्मलाभ पाने वाले को आश्चर्य कहा जाता है।।३२१।। क्योंकि आत्मवस्तु का प्रतिपादन और अनुभव आश्चर्य हैं इसलिये इसके वक्ता व ज्ञाता को भी आश्चर्य समझा जाता है। (आश्चर्य वह होता है जो असाधारण हो अर्थात् असंभव न हो पर बहुलता से उपलब्ध भी न हो सके, सामान्य प्रतिभा एवं प्रयत्न से उसका संपादन संभव न हो। आत्मप्रवचन भी असंभव नहीं पर आश्चर्य है, उसका ज्ञान भी संभव मगर क्वाचित्क है।)।।३२२।। ब्रह्मरूप आत्मा का आवरण उस चरमवृत्ति से हटता है जो किसी भी संबंध को विषय नहीं करती, निर्विकल्पक होती है अर्थात् अखण्ड होती है। ऐसी वृत्ति अत्यंत सूक्ष्म विवेक से ही प्राप्य है। अतः ऐसी जानकारी वाला 'कुशल' कहा जाता है।।३२३।।

जिस 'कुशल' पुरुष ने व्यापक प्रत्यग्रूप प्राप्त कर लिया वही आत्मा का उपदेश दे तो इसकी सही जानकारी होती है, अन्य किसी तरह कभी नहीं होती।।३२४।। जिसे स्वयं आत्मप्रमा अप्राप्त है वह दीर्घकाल तक बोलता रहे और जो कुशलता के अयोग्य है वह चिरकाल तक सुनता रहे, अनेक प्रकार के तर्कों से आत्मचिन्तन किया जाता रहे, तो भी किसी तरह आत्मा का ज्ञान हो नहीं सकता।।३२५।।

जैसे कोई व्यक्ति पूरी तरह रास्ता बिना जाने घने जंगल में जाकर भटक जाये और अपने जैसे ही किसी ग़ैर जानकार द्वारा बताये रास्ते पर चल पड़े तो और अधिक आपत्ति में पड़ जाता है ऐसे ही संसार-जंगल में स्थित पुरुष अगर अकुशल से उपदेश ग्रहण करता है तो मोक्षमार्गरूप इस अद्वैतज्ञान को न पाकर अन्य ही मार्ग पर पड़कर संसार में और भटक जाता है। (अद्वैत की ग़लत समझ से इह-परलोक बिगड़ जाते हैं।)।।३२६-७।। इसलिये मुमुक्षु को पहले

---

१. विशिष्टाकारभिन्न इत्यर्थः। 'संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नाऽत्र सम्मत' इत्याचार्योक्तेः। वस्तुतस्तु 'विकल्पो विनिवर्तेत' इति परमाचार्योक्तेः (गौ.का.१.१८) दृश्यमात्रस्य विकल्पत्वेन तदगोचरधिय एव निर्विकल्पकता।

२. 'न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः। अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्।।'२.८।।

एवं भवाटवी स्थाता पुमानकुशलेन चेत्। उपदिष्टो न वैत्येतद् मार्गमन्यं समेति च।।३२७
अतोऽत्र कुशलः पूर्वमन्वेष्यः स्वात्मनो हि यः। वक्ता भवति तेनायं जानात्येव पुमान् सदा।।३२८
वक्ता यः कुशलः स स्यादनन्यः सर्वतोऽपि च। ब्रह्म सर्वमिदं यस्मादहमस्मीति वेत्त्ययम्।।३२९
अनन्योक्ते निजे तत्त्वे स्वस्मादन्या गतिर्न हि। तस्मात् कुशलवक्तोऽपि भवेत् सर्वमिदं जगत्।।३३०
सूक्ष्मादपि यतः सूक्ष्मः एष आत्मा शरीरिणाम्। अत एव न तर्केण शक्यो ज्ञातुं कथञ्चन।।३३१

तर्कोपयोगः

आत्मन्यत्र भवेद्यैषा मतिः कुशलशासनात्। नैनामपनयेत् तर्काद् आत्मनो नरकप्रदात्।।३३२
नास्तिकेन हि यस्तर्कः कथितः स्वात्मसिद्धये। श्रुत्युक्ततर्कैस्तं छित्वा स्थापयेद् ब्रह्मसात्मताम्।।
तेनोत्पन्नाऽपि यात्येषा पुरा कुशलतर्कतः।।३३३

संसारारण्यगतोऽकुशलेन शिक्षितश्चेत् स्यात् तदा एतद् आत्मज्ञानं मोक्षमार्गभूतं नैति किन्तु अन्यं विपर्ययरूपं संसारमार्गमेव सम्यगेतीति।।३२७।। तस्माद् मुमुक्षुणा कुशलो गुरुरन्वेष्य इत्याह — अत इति। तेन गुरुणाऽनुशिष्ट इति शेषः।।३२८।। श्रुतौ गुरोर्विशेषणम् अनन्यत्वम् उक्तं, तदर्थमाह — वक्तेति। यः कुशलो वक्ता स सर्वस्माद् अनन्यः अभिन्नो भवति यस्मात् सर्वात्मकं ब्रह्माऽहमस्मीति वेत्ति इति, 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुं.३.२.९) इति श्रुतेः।।३२९।। अनन्योक्त इति। तादृशेन अनन्येन गुरुणोपदिष्टे सति तत्त्वे तद्विज्ञानस्य गतिः फलं स्वस्माद् उपदेष्टुः स्वरूपाद् अद्वितीयब्रह्मलक्षणाद् अन्या न भवति। तस्मात् तादृशगुरूपदिष्टः सर्वात्मको भवेत्। परन्तु स कोऽपि विरलः 'मनुष्याणां सहस्रेषु' (गी.७.३) इत्यादिस्मृतेरित्यर्थः।।३३०।। अयमात्मा केवलतर्केण तु ज्ञातुमशक्यः, अतिसूक्ष्मत्वादित्याह—सूक्ष्मादिति। सूक्ष्मो दुर्लक्ष्यः।।३३१।।

[1]नवमार्थमाह—आत्मन्यत्रेति विंशत्या। या इयं कुशलाचार्योपदेशजाऽऽत्माकारा मतिः जाता तां कुतर्कालम्बनाद् नाऽपनयेद् न दूरी कुर्यादित्यर्थः।।३३२।। प्रत्युत कुतर्कमेव श्रुत्यनुकूलतर्कैर्बाधित्वा ब्रह्मात्मनिष्ठां द्रढयेदित्याह—नास्तिकेनेति। नास्तिकेन श्रुत्यर्थाऽनङ्गी कर्त्रा यस्तर्क उक्तः तम् आत्मनिर्णयार्थं श्रुत्या ये तर्का उक्तास्तैः छित्वाऽपहत्य ब्रह्मणा तत्पदार्थेन सात्मतां समानरूपतां त्वंपदार्थस्य स्थापयेद् दृढी कुर्यादित्यर्थः। तेन कुतर्केण तु उत्पन्नाऽपि एषा विद्या याति प्रतिबन्धकृतं वैफल्यम् इति शेषः, यदि कुशलः श्रुत्यनुसारी तर्को

कुशल गुरु ढूँढना चाहिये जो निज आत्मा के बारे में उपदेश दे, उसीसे साधक आत्मज्ञान पा सकता है।।३२८।। आत्मा के बारे में कुशल वक्ता सभी से अभिन्न होता है क्योंकि वह उस ब्रह्म को 'मैं' जानता है जो यह सब कुछ है।।३२९।। सबसे अभिन्न हो चुके गुरु द्वारा तत्त्व-प्रवचन से होने वाली अवगति भी उस उपदेशक के परमार्थस्वरूप से पृथक् नहीं होती है और प्राप्तज्ञान शिष्य भी सर्वात्मक होता है। किंतु इस सारे जगत् के अधिष्ठान तत्त्व से अभिन्न हुए कुशल विरले ही होते हैं।।३३०।। शरीरियों का यह आत्मा क्योंकि सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है इसलिये वह शुष्क तर्क से किसी तरह सही नहीं जाना जा सकता।।३३१।।

कुशल गुरु के अनुशासन में रहकर प्राप्त उपदेश से आत्मसम्बन्धी जो वैदिक निश्चय होवे उसे शुष्क तर्क से न हटाये क्योंकि कुतर्क नरक पहुँचाता है।।३३२।। स्वात्मा की सिद्धि में श्रुति में बताये तर्कों से नास्तिक के तर्क काटकर त्वमर्थ के तदर्थ से अभेद में ही मति दृढ करनी चाहिये। कुशल अर्थात् श्रुत्यनुसारी तर्क बुद्धि में आने से पूर्व तो उत्पन्न हुआ भी ब्रह्मज्ञान कुतर्क से प्रतिबद्ध हो विफल बना रहता है (अतः यदि कुशल तर्क न मिले तो कुतर्क

१. 'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ। यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा।।'२.९।।

अन्यो हि बहुधा तर्कः प्रतिपक्षोऽस्त्यनेकधा। मतेरस्या महाभाग ! पापिभिः परिकल्पितः।।३३४
आत्माऽयं सर्वभूतानां स्यादेकोऽनेक एव वा। एकत्वे त्वमहं चान्य इति भेदः कथं भवेत्।।३३५
देहभेदादयं भेदः स्यात्तस्येत्यभिधीयते। एकस्य युगपद् देहभेदः केन भविष्यति।।३३६
योगिनामिव नैवास्य सिद्धिः काऽपि समागता। संसारे येन चैकोऽपि बहुधा युगपद् व्रजेत्।।३३७
अपि चेदेक एवाऽयं सर्वदेहव्यवस्थितः। सर्वत्रैव कुतो नाऽस्य मद्देह इति धीर्भवेत्।।३३८
विनोपायमयं याति कस्मादत्र सुखादि न। सर्वदेहगतं साक्षात् स्वदेहगतवत् पुमान्।।३३९
अप्ययं पुरुषो ज्ञानी जडो वाऽपि घटादिवत्। जडत्वे पुरुषेण स्यादमुना किं प्रयोजनम्।।३४०

नावतरेदित्यर्थः।।३३३।। स चात्मविद्याप्रतिपक्षभूतस्तर्को वादिभिर्बहुधा कल्पित इत्याह—अन्यो हीति। अन्यः श्रुत्यननुसारी मतेः आत्मविद्यायाः प्रतिपक्ष उत्पत्तौ फले च प्रतिबन्धकः। अत्रेदं बोध्यम्—फले प्रतिबन्धो विद्यायाः परोक्षदशायामेव—इति।।३३४।।

तं कुतर्कमभिनयति—आत्माऽयमिति नवभिः। अयमात्मा सर्वदेहेषु एकोऽनेको वा ? आद्ये, त्वमहम्—इत्याद्याकारको भेदोपलम्भः कथम् ? अन्त्ये, अद्वैतहानिरिति।।३३५।। देहेति। यदि तु नानादेहोपाधिको भेद उच्यते, तदाऽपीदं पृच्छयते—एकस्य आत्मनो नानादेहप्रसङ्ग एव कथम् ? —इति। न ह्यनेन तदुपपादिका काचिद् योगसिद्धिर्लब्धेति द्वयोरर्थः।।३३६-७।। यदि तु योगिवदयं सर्वदेहेष्वेकत्वेनाऽवस्थितः स्यात् तदा सर्वदेहेषु ममत्वं कुर्याद् इत्याह—अपि चेदिति।।३३८।। किञ्च—विनोपायमिति। सर्वदेहेषु यद्ययमेकः स्यात् तदा स्वदेहगतं सुखादिकमिव सर्वदेहगतं सुखादिकं कुतो न जानीयात् ? ननु नानायोनिभ्रमणेन सर्वदेहवृत्तं जानात्येव? इति शङ्कावारणाय विनोपायम् इत्युक्तम्, उपायो योनिभ्रमणादिः।।३३९।। किं चाऽयमात्मा जडः, चेतनो वा ? आद्ये, स किमर्थं स्वीकार्यः, जडस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरनुपयोगादित्याह— अप्ययमिति।।३४०।। किं च जडत्वे तदर्थं

उस ज्ञान को ही विदा करने में सक्षम है जिससे यह उचित है कि अपनी विचारसरणि में कुतर्क को प्रवेश ही न दिया जाये)।।३३३।। हे महाभाग ! पापियों ने इस अखण्ड ज्ञान के विरोधी रूप से श्रुतिविरुद्ध तर्क कल्पित कर रखा है जो अनेक प्रकार का होकर पहले तो ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होने देता और कथंचित् ज्ञान हो जाये तो पुनः बहुत तरह से उपस्थित होकर यह तर्क उसे प्रतिबद्ध रख विफल बनाने के प्रयास में रहता है।।३३४।।

उनके कुतर्क कुछ इस प्रकार के होते हैं : सभी प्राणियों का यह आत्मा एक ही है या पृथक्-पृथक् हैं अर्थात् अनेक आत्मा हैं? यदि सब शरीरों में आत्मा एक है तो 'तुम', 'मैं', 'हमसे अन्य वह' आदि भेद कैसे होगा?।।३३५।। यदि आस्तिक कहे कि 'तुम', 'मैं' आदि भेदव्यवहार शरीरों के भेद से संभव है, यह आत्मभेद की ज़रूरत ही नहीं रखता तो उस आस्तिक को यह भी बताना होगा कि एक ही आत्मा को इकट्ठे ही अनंत शरीर मिल कैसे गये ? योगियों की तरह इस आत्मा ने कोई सिद्धि तो पायी नहीं है जिससे यह एक रहते हुए भी इकट्ठे ही संसार में नाना प्रकार का हो जाये।।३३६-७।। (कर्मवश विभिन्न शरीर पाने की बात भी असंगत है क्योंकि आत्मा कर्म तो तभी करे जब पहले उसे शरीर मिले !) इतना ही नहीं, सब शरीरों में यदि यह एक ही आत्मा स्थित है तो सभी शरीरों के बारे में इसे ऐसा क्यों नहीं लगता कि 'यह मेरा शरीर है' ?।।३३८।। बिना किसी उपाय के यह सब शरीरों के सुखादि एक ही बार में साक्षात् क्यों नहीं भोग लेता जैसे अपने शरीर के सुखादि भोगता है? ।।३३९।। किं च आत्मा माना जाने वाला यह पदार्थ ज्ञानवान् है या जड? अगर ज्ञानवान् नहीं तो इस आत्मा से प्रयोजन क्या सिद्ध होता है जो इसे मानना ज़रूरी लगता है ?।।३४०।। आत्मा जड हो तो उसके लिये शरीरादि जड वस्तुएँ हो नहीं सकेंगी क्योंकि एक जड अन्य

न जडार्थं जडं दृष्टं घटार्थं च समं यथा। पुमर्थं तत एवाऽयं देहोऽपि न भविष्यति।।३४१

पुमर्थं ज्ञानसम्बन्धाद् विना तेनाऽथ वा भवेत्। यदा ज्ञानेन सम्बन्धः तदा ज्ञानं च किं हि तत्।।३४२

अनित्यं वाऽपि नित्यं वा पक्षयोरुभयोरपि। प्रकाश्यतेऽत्र किं ज्ञानं स्वेन वाऽथ परेण वा।।३४३

इत्यादीन् श्रुतिमार्गेण विरुद्धान् क्रकचोपमान्। तर्कान् बहुविधान् मूढाः कल्पयन्ति स्वबुद्धितः।।३४४

एतैस्तर्कैरनुत्पन्ना श्रुत्या विश्वाससंशयात्। विनश्यति मतिर्नूनम् अथ वाऽपि विपर्ययात्।।३४५

तत एषा मतिः साध्वी धेनुवत्तर्कसिंहतः। सदा रक्ष्या महाभाग ! स्वात्मनः क्षेममिच्छता।।३४६

नास्तिकेभ्यः परेभ्यश्च सर्वदात्मव्यवस्थितिः। प्रोक्तैषा जायते प्रेष्या सर्वेषामिह देहिनाम्।।३४७

आत्मविज्ञानसम्पन्नः कुशलश्चेद् वदेदिह। तदा सुखेन विज्ञात आत्मन्येषा प्रजायते।।३४८

शरीरारम्भो न स्याद्, न हि जडस्य घटस्य भोगाय जडत्वेन तत्समं पदार्थान्तरं दृष्टमित्याह—न जडार्थमिति।।३४१।। पुमर्थ इति। किं च देहादिरूपः पदार्थः पुमर्थः पुरुषोपकारी भवन् ज्ञानरूपसम्बन्धाद् भवति, किं वा तेन ज्ञानरूप-सम्बन्धेन विनैव भवति ? नान्त्यः, असम्बद्धस्य ज्ञानातिरिक्तसम्बन्धशालिनश्च पुमर्थताया अदर्शनात्। आद्ये, ज्ञानस्य स्वरूपं नित्यं किं वाऽनित्यम् ? नित्यत्वे सर्वदा भोगाऽविशेषापत्तिः। अन्त्येऽपि तज्ज्ञानं केन प्रकाश्यं — किं स्वेन, किं वा परेण ? आद्ये, कर्मकर्तृविरोधः। अन्त्ये त्वनवस्थेति द्वयोरर्थः।।३४२-३।।

इत्यादीनिति।क्रकचः काष्ठदारणसाधनं, तत्तुल्यान्।।३४४।।कथमेते तर्का अनिष्टे पर्यवस्यन्तीत्याकांक्षायामाह —एतैरिति। अस्याः पूर्वमेषां तर्काणां प्रसक्तौ एषा मतिः अनुत्पन्नैव भवति। उत्पत्त्यनन्तरं तर्कप्रसक्तौ तु विनश्यति तिरोहिता भवति। कुतः ? श्रुत्यविश्वासेन प्रयुक्तो यः संशयो विपर्ययो वा तस्मादित्यर्थः।।३४५।। तस्मात् सिंहाद् गौरिव कुतर्कादेषा रक्ष्येत्याह—तत इति।।३४६।।

'प्रोक्ते' त्यादिद्वितीयपादस्याऽर्थमाह—नास्तिकेभ्य इति। यद्यपि एषाऽऽत्मव्यवस्थितिः आत्मस्वरूपाकारा मतिः नास्तिकेभ्यः परेभ्य आस्तिकेभ्यः च गुरुभ्यो हेतुभ्यः प्रोक्ता तैरुपदिष्टा सती जायते यत एषा सर्वेषां देहिनां प्रेष्या किङ्करवदधीना भवति—सर्वे हि देहिनो यादृशं तादृशमात्मस्वरूपं जानन्ति वदन्ति चेति, तथापि आत्मविज्ञान-सम्पन्नः श्रुत्यनुगृहीततर्ककुशलः च गुरुर्यद्येतां वदेत् तदा सुखेन भूमानन्दाख्येन फलति। एषा प्रजायते क्व सति? आत्मनि विशेषेण समस्ताऽध्यासाऽपोहरूपेण ज्ञाते सति। इति द्वयोरर्थः।।३४७-८।।

जड का शेष नहीं देखा जाता जैसे घट के लिये — अर्थात् घट के भोग्य रूप से उसका शेष अन्य घटादि नहीं हुआ करता।।३४१।। देहादिरूप पदार्थ आत्मा के उपकारी क्या ज्ञान रूप सम्बंध से होते हैं या उसके बिना ? उसके बिना हों यह तो संभव नहीं क्योंकि ऐसा कहीं देखने में नहीं आता कि ज्ञान रूप संबंध के बिना जड में उपकारकता, शेषता हो। इसलिये कहना होगा कि ज्ञान से संबंध रहते वे उपकारक बनते हैं। तब बताना चाहिये कि वह ज्ञान है अनित्य या नित्य ? और वह खुद से प्रकाशित होता है (ज्ञानरूपता पाता है) या अन्य किसी से ?।।३४२-३।।

इस प्रकार के नानाविध तर्क अपनी बुद्धि से मूर्ख लोग कल्पित करते रहते हैं। जैसे आरी सब लकड़ियाँ काटती है — लकड़ी की कीमत से उसे कोई मतलब नहीं — ऐसे ये तर्क हर स्थापना के निषेध के लिये उद्यत रहते हैं, स्थापना की सत्यता से इन्हें कोई मतलब नहीं। ये हैं सब कुतर्क क्योंकि वेदप्रतिपादित साधनपद्धति पर चलने से रोकने के उद्देश्य से प्रवृत्त हैं।।३४४।। अद्वैतबुद्धि पाने से पूर्व ही यदि ये कुतर्क मन में जगह बना लें तो वेदश्रद्धा ही संदेहास्पद होकर अद्वैतज्ञान ही पैदा नहीं होता और कथंचित् इनसे बचे रहकर ज्ञान प्राप्त हो जाये उसके बाद इन कुतर्कों का आक्रमण हो तो अद्वैतविपरीत संभावनाएँ जँचाकर ये उस ज्ञान को विफल बना देते हैं।।३४५।।

प्राप्तवान् यां भवानत्र स्वयमेवाऽतिभाग्यवान्। आश्चर्यं त्वं हि यद् धैर्यं प्राप्तोऽस्यवितथं यतः।।
मया प्रलोभ्यमानोऽपि गतो न विषयं प्रति।।३४९

त्वादृङ् न नचिकेतः ! स्यात् प्रष्टा जन्मनि जन्मनि। शिष्या यतो जगत्यस्मिन् सुलभा न भवादृशाः।।३५०

नानाविषयसम्प्राप्तौ सत्यां हि गुरुणाऽपि च। लोभ्यमानोऽपि [1]धैर्यान्न च्युतः स पुरुषोत्तमः।।३५१

नचिकेतःप्रशंसा

इदं धैर्यं हि कस्याऽपि नासीन्नास्ति न भाव्यपि। त्वयि यद् वर्तते तात ! शिष्ये मम कुमारके।
ममाऽपि नेदृशं धैर्यं वर्तते यादृशं तव।।३५२

यतो जानाम्यहं नित्यमानन्दात्मनिधिं हृदि। निहितं स्वामरत्वं च साधिपत्यं सदेहकम्।।३५३

अनित्यं च तथाऽप्यत्र त्वद्वद् बुद्धिर्न मेऽस्ति हि। नासीत् पूर्वं च तातैवं मतिस्ते वर्तते यथा।।३५४

प्राप्तवानिति। किंविधा सा सफलाऽऽत्मव्यवस्थितिरिति चेत् ? शृणु—यां यादृशीमात्मनिष्ठाम् अतिभाग्यवशाद् भवान् प्राप्तो भवति। तत्प्राप्तिलक्षणमाह—आश्चर्यमित्यादिना। हि यतः त्वमाश्चर्यं विस्मयावहं धैर्यं प्राप्तो यतो मया प्रलोभितोऽपि विषयाभिमुखं न गत इति।।३४९।। त्वादृशाः प्रष्टारः शिष्याः सुदुर्लभाः पुरुषोत्तमत्वादित्याह—त्वादृगिति द्वाभ्याम्। निगदव्याख्यातं द्वयम्।।३५०-१।।

मत्तोऽपि तव धैर्यमधिकमिति द्योतनपरस्य [2]दशमस्यार्थम् आह—इदमिति सप्तभिः। स्पष्टम्।।३५२।। तत्र हेतुतया यमः स्वस्यैश्वर्यादिसक्तिमाह — यत इति। यतोऽहं हृदि गुहायां निहितं ब्रह्मानन्दरूपं निधिं जानामि, तथा स्वकीयं देवत्वं साधिकारं सदेहं च अनित्यं जानामि, तथाऽपि त्वद्वदत्र देवत्वादौ हेयत्वबुद्धिर्मम नास्ति, न वा पूर्वमासीत् हे तात! यथा तव सा वर्तते। इति द्वयोरर्थः।।३५३-४।। पूर्वं नासीदित्यत्र हेतुतया ऐश्वर्यकाम-

अतः कल्याण चाहने वाले को स्वात्मा की इस अखण्ड सम्यक् बुद्धि को कुतर्क से हमेशा बचा कर रखना चाहिये जैसे धेनु को सिंह से बचाया जाता है।।३४६।।

आत्मसम्बन्धी ज्ञान के बारे में नास्तिक-आस्तिक सभी लोग हमेशा कुछ-न-कुछ कहते हैं मानो यह ज्ञान सब देहधारियों का किंकर हो ! किन्तु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ कुशल गुरु इसे समझाये तभी समस्त अध्यासों के अपोह से हुआ इसका अनुभव व्यापक आनंदरूप से फलता है।।३४७-८।। हे नचिकेतः! तुम अत्यन्त भाग्यवान् हो कि तुम्हें खुद ही यह आत्मनिष्ठा प्राप्त हो गयी है। (आत्मनिष्ठा अर्थात् आत्मजिज्ञासा) तुम एक आश्चर्य हो क्योंकि तुम्हें सच्चा धैर्य मिला है जिससे मेरे द्वारा प्रलोभित किये जाने पर भी तुम विषयों की ओर किंचित् भी आकृष्ट नहीं हुए।।३४९।। जन्म-जन्मान्तर में भी तुम जैसा प्रश्नकर्त्ता दुर्लभ है। इस संसार में तुम-सा शिष्य आराम से नहीं मिला करता।।३५०।। विभिन्न विषय मिलने पर भी, गुरुजनों द्वारा प्रलोभित किये जाने पर भी जो आत्मज्ञान ही पाने को कोशिश से डिगता नहीं वही श्रेष्ठ पुरुष है।।३५१।।

प्रिय ! मेरे छोटे-से तुझ शिष्य में जो धैर्य है वह किसी में न था, न है, न होगा। तुझ जैसा धैर्य मुझमें भी नहीं है !।।३५२।।

मुझे मालूम है कि हृदय में निहित आनंदात्मा रूप निधि नित्य है जबकि मेरा देवत्व, मेरा शासन और शरीर भी अनित्य है। फिर भी इस देवत्वादि विभूति के प्रति 'यह हेय है' ऐसा निश्चय मुझ में इतना स्थिर न है न पहले

१. धैर्यं धीरता, धीरो बुद्धिमान्, बुद्धिरात्मज्ञानं, तद्वत्त्वं चात्र तदर्थित्वं, आत्मज्ञानार्थितेति यावत्, ततोऽप्रच्युत उत्तमः पुमान्।
२. 'जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्। ततो मया नचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्।।'२.१०।।

अध्रुवैर्न हि यज्ञाद्यैर्ध्रुवं मोक्षं प्रयात्ययम्। यत एवमविज्ञाय नाचिकेतश्चितो मया।।३५५
अग्निर्द्रव्यैरनित्यैस्तदमरत्वं समाप्तवान्।आभूतसम्प्लवस्थानं नित्यं नैवाविनाशि यत्।।३५६
एतदर्थं पुरा यज्ञान् कृतवान् भूरिदक्षिणान्। अहं हि महतः क्लेशाद् इमां भूमिं समाप्तवान्।।३५७
काम्यमानस्य सर्वस्य स्वप्रियस्येह वस्तुनः। यत्र प्राप्तिरनायासात् सुतृप्तिर्भोजनादिव।।
अनायासात्त्वया लब्धं तत् सर्वं त्यक्तवान् भवान्।।३५८
आप्तकामं जगत्स्थानं महान्तं स्तुतिसंश्रयम्। वेदैः सर्वैश्च सततमुरुगेयमनेकधा।।३५९
सङ्कल्पस्य प्रतिष्ठानं नानाविषयभेदिनः। अनन्तं देशकालादिसर्वभेदविवर्जितम्।।३६०
अभयस्य परं पारं यतो नास्त्यभयं परम्। दृष्ट्वा यथा तथा देवं त्यक्तवान् विषयानिमान्।।
नाऽहं त्वं तु यथाऽत्याक्षीरात्मनो दर्शनाय हि।।३६१

नयाऽग्निचयनादिकर्मानुष्ठानं दर्शयति—अध्रुवैरित्यादिना। यतो मया एवमविज्ञाय अनित्यैर्द्रव्यैः पशिवष्टकादिभिः नाचिकेताख्यः अग्निश्चितः। 'एवं' कथम् ? अध्रुवैः अनित्यैः यज्ञादिकर्मभिः परमार्थनित्यं मोक्षरूपम् अयम् अधिकारी न प्राप्नोति—इति। यद्यहमेतद् अवेदिषं तदा कर्म नाऽकरिष्यम् इति भावः। तत् तस्माद् अग्निचयनाख्यकर्मणो हेतोरहम् आपेक्षिकनित्यताशालि अमरत्वादिकं प्राप्तवानस्मि, न तु मुख्यं नित्यम्। इति द्वयोरर्थः।।३५५-६।। न केवलमग्निचयनमेवैतदैश्वर्यार्थं कृतवानस्मि किन्त्वग्निष्टोमादियज्ञानपीत्याह —एतदर्थमिति। इमां भूमिं धर्मराजाधिकाररूपाम्।।३५७।। कीदृशीयम्? यत्र सर्वस्य सांसारिकभोग्यजातस्य अनायासेन पृथग्यत्नाऽनपेक्षा प्राप्तिः भवति, यथा भोजने कृते तृप्तिरनायासेन भवतीत्याह—काम्यमानस्येति। त्वन्तु एतत् सर्वम् ऐश्वर्यमुपस्थितमपि त्यक्तवान् असि इत्यहो ते धैर्यम् ! इत्याह—अनायासादिति।।३५८।।

[1]उक्तार्थपरत्वेन एकादशमपि योजयति—आप्तकाममिति त्रिभिः। आप्तकामत्वादिविशेषणकं देवं यथा तथा यथावद् दृष्ट्वाऽपि अहं तथा विषयान् न त्यक्तवान् अस्मि यथा भवान् आत्मदर्शनाय त्यक्तवान् इति तृतीयेन सम्बन्धः। आप्ता अन्तर्भूताः कामा लौकिकानन्दा यत्र स तथा तं, जगदाधारं, पूर्णं, स्तुत्यं, सर्वैर्वेदैः उरुत्वेन पूर्णत्वेन अनेकधा सृष्ट्याद्युपन्यासैः गेयम् इत्यर्थः।।३५९।। सङ्कल्पस्येति। सङ्कल्पस्य क्रतुपदोक्तस्य प्रतिष्ठामाश्रयं प्रवर्तकमन्तर्यामिणमिति यावत्। कीदृशस्य सङ्कल्पस्य ? नानाविषयैर्भेदवतः। पुनः कीदृशम् ? देशादिप्रयुक्तभेदराहित्याद् अनन्तम् इत्यर्थः।।३६०।। अभयस्येति। भयराहित्यस्य परं पारं काष्ठाभूतं दृष्ट्वा इत्यादि व्याख्यातमिति।।३६१।।

था जितना तुझ में है।।३५३-४।। यह जीव अनित्य यज्ञादि कर्मों से नित्य मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता—यों न जानकर ही मैंने अनित्य द्रव्यों द्वारा नाचिकेत अग्नि का चयन किया जिससे यह देवत्व प्राप्त हुआ है। महाभूतों के विनाश पर्यन्त रहने से इसे नित्य कहते भले ही हैं पर वास्तविक अविनाशी यह नहीं है। इसी के लिये पहले मैंने अत्यधिक दक्षिणाओं वाले यज्ञ किये थे। धर्मराज का पद मैंने महान् क्लेश से प्राप्त किया है। अपने को प्रिय जिसकी मैं कामना करूँ वे सभी वस्तुएँ बिना किसी प्रयत्न के मुझे वैसे ही मिल जाती हैं जैसे छहों रसों से पूर्ण आकण्ठ किये भोजन से प्रसन्नता समेत तृप्ति अनायास हो जाती है। (आयास भोजनार्थ ही है, उसके बाद तृप्ति के लिये कोई आयास नहीं चाहिये। यमराज को भी कामना या संकल्प करने का ही आयास करना पड़ता है, उसके बाद वस्तु-उपलब्धि के लिये नहीं।) हे नचिकेत ! तुम्हारे धैर्य से मुझे अचम्भा हो रहा है (क्योंकि जिसे पाने के लिये मैंने यज्ञ-उपासना आदि साधन किये) उस सारे ऐश्वर्य को हाथ में आने पर भी तुमने बिना प्रयास के छोड़ दिया !।।३५५-८।।

१. 'कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्। स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।।' २.११।।

ज्ञानस्य साधनफले

यस्य ते दर्शनात् प्रीतिरानन्दात्मस्वरूपिणः। तं बुद्धिसाक्षिणं देवं दुर्दर्शमकृतात्मभिः।।३६२
वह्निर्यथाऽत्र काष्ठेषु तद्वद् गूढमवस्थितम्। सर्वभूतानि सृष्ट्वा तु प्रविष्टं तेषु सर्वतः।।
नभोवन्निहितं सर्वबुद्धौ हृदयगह्वरे।।३६३
पुराणं पुरुषं शश्वद् नवीनमपि सर्वदा। अहमस्मीति योगस्य सम्प्राप्त्या प्राप्यमीश्वरम्।।३६४
स्वप्रकाशं सदैवं तं मत्वा धीरोऽतिबुद्धिमान्। हर्षशोकौ सुदुस्त्यागौ विजहाति यथा भवान्।
धीरो धृत्या मया दत्तं त्यक्तवान् क्षणतोऽखिलम्।।३६५
एतत् सर्वात्मकं रूपं श्रुत्वा गुरुमुखात् पुमान्। सम्यगात्मतया तद्वत् स्वीकृत्य च समग्रतः।।३६६

यत्त्वमात्मानं पृच्छसि तल्लाभसाधनमपि एतदेव यत् प्रत्यक्प्रवणत्वं चित्तस्य, फलं तु हर्षशोकादित्याग इति प्रदर्शयतो [1]द्वादशस्यार्थमाह — यस्य त इति चतुर्भिः। यस्य आनन्दरूपस्य देवस्य दर्शनाद् एव तव प्रीतिः, न तु विषयदर्शनात्, तं बुद्धिसाक्षिणं देवं मत्वा हर्षशोकौ भवद्वज्जहाति इति चतुर्थेनाभिसम्बन्धः। कीदृशं तम् ? असंयतात्मभिः दुर्दर्शम्। काष्ठेषु वह्निवद् गूढतयाऽऽवृततया स्थितम्। सर्वं कार्यजातं सृष्ट्वा तत्र घटमठादौ नभोवत् प्रविष्टम्। बुद्धिगुहायां हृदयरूपे गह्वरे बहिर्मुखैर्दुष्प्रवेशे देशे वर्तमानायां निहितं स्थितम्। प्रासादे शेते, पर्यङ्के शेते —इति न्यायेन श्रुत्यविरोध इति द्वयोरर्थः।।३६२-३।। पुराणमिति। पुनः कीदृशम् ? पुराणम्। तदेव विवृणोति —सदा नवीनम् इति। पुनः कीदृशम् ? सत्यं ब्रह्म अहमस्मि इति-आकारकस्य योगस्य निदिध्यासनस्य सम्प्राप्त्या लाभेन प्राप्यं गम्यम्।।३६४।। स्वप्रकाशमिति। एवं शास्त्रोक्तविधिना। स्फुटमन्यत्।।३६५।।

[2]त्रयोदश्या अर्थ उच्यते — एतत् सर्वात्मकमिति पञ्चभिः। यः पुमान् एतत् सर्वात्मकं पूर्णम् आत्मनः

आत्मदेव ऐसा है जिसमें सारे लौकिक आनंदों का अन्तर्भाव है, सारे जगत् का आधार है, पूर्ण है, स्तुति करने लायक है, सारे वेद अनेक प्रकारों से उसकी पूर्णता का गान करते हैं, नाना विषयों से संबद्ध हमारे संकल्पों का संचालक अर्थात् अन्तर्यामी है, अनंत है, देश-कालादि से निरूपित भेदों से रहित है, अभय की चरम सीमा है, उससे अधिक अभय और कोई नहीं। वह देव जैसा है वैसा उसे सही-सही समझकर भी मैं उस प्रकार विषयों को नहीं छोड़ पाया जिस प्रकार आत्मदर्शन के प्रयोजन से तुमने छोड़ दिया।।३५९-६१।।

जिस आनंदरूप प्रत्यग्रूप देव के दर्शन से ही तुम्हें प्रेम है उस बुद्धिसाक्षी को समझकर साधक हर्ष व शोक से परे हो जाता है। जिनके शरीर-मन संयत नहीं वे उसका दर्शन नहीं पाते। ईंधन में आग जैसे वह सर्वत्र छिपा मौजूद है। सब भूतों को उत्पन्न कर वह उनमें हर तरह से घुस गया। सबकी हृदयगुफाओं में अवस्थित जो सभी की बुद्धियाँ उनके साक्षीरूप से अवस्थित वह आकाश की तरह व्यापक है। (बुद्धि का मुख्यालय हृदयदेश प्रसिद्ध है। आकाश 'कहीं' न होने पर भी 'सर्वत्र है' — यों व्यवहृत होता है तथा घटादि स्वयं आकाश में रहकर भी 'घट में आकाश है' ऐसी प्रतीति करा देते हैं अर्थात् आकाश मिथ्या ही परिच्छेदों वाला है यह लोकसिद्ध बात है। ऐसे ही आत्मा वास्तव में व्यापक और कल्पित परिच्छेदों वाला है)। वह पुरुष हमेशा पुराना होने पर भी सदा नया है ! 'मैं सत्य ब्रह्म हूँ' ऐसे निदिध्यासन की सिद्धि से प्राप्य है।।३६२-४।।

जो अत्यंत बुद्धिमान् धैर्यशाली साधक हमेशा ही उस स्वप्रकाश तत्त्व को मननपूर्वक आत्मसात् कर लेता है वह तुम्हारी तरह हर्ष-शोक से परे हो जाता है। हर्ष-शोक का त्याग ही सर्वाधिक कठिन है। तुम विलक्षण धीर हो क्योंकि मैंने तुम्हें अखिल संपत्ति भेंट की जिसे तुमने क्षणभर भी लगाये बिना छोड़ दिया।।३६५।।

---

१. 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।।'२.१२
२. 'एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य । स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये।।'२.१३।।

अत्र धर्मा विरुद्धा ये सन्ति तत्-त्वंपदार्थयोः। त्यक्त्वा तानखिलान् धर्मिमात्रचैतन्यरूपकम्। ।३६७

सूक्ष्ममात्मतया प्राप्तो यः सदा सोऽत्र मोदते। मोदनीयमिमं लब्ध्वा स्वानन्दात्मस्वरूपकम्। ।३६८

आनन्दसद्महृदयं प्राप्यते यद् गुरोर्मुखात्। विवृतद्वारकं तत् त्वां प्रत्यास्ते नचिकेतसम्। ।३६९

आनन्दसद्मनि भवान् प्रविष्ट इति मे मतिः। एतत्प्रवेशसंरोधकारणं विषयार्गलाः।
भग्ना यतस्ततः केन तव रोधो भविष्यति। ।३७०

तत्पदार्थस्य रूपं गुरुमुखात् श्रुत्वा तद्वत् तादृशमेव रूपं सम्यगात्मतया त्वंपदार्थतया गृहीत्वा अत्र अनयोस्तत्त्वंपदार्थयोः विरुद्धा ये ईश्वरत्वाऽनीश्वरत्वादयो धर्माः तानखिलांस्त्यक्त्वा, श्रुतौ प्रवृद्धेत्युक्तं विवेचनं नीत्वा च धर्मिमात्रं सूक्ष्मं चैतन्यं ब्रह्मात्मतोपयोगितया प्राप्तो भवति स सदा मोदते। किं कृत्वा ? मोदनीयं—कोपनीयं रञ्जनीयादिवत् कर्तरि अनीयर्—'एष ह्येवानन्दयाती' ति (तै.२.७.१) श्रुतेः सर्वानन्दप्रदम्; इमम् आत्मानं भूमानन्दरूपं लब्ध्वा। इति त्रयाणामर्थः। ।३६६-८। । आनन्देति। हे नचिकेतः ! यद् ब्रह्मानन्दरूपं सद्म गृहं हृदयं हृद्गुहायां स्थितम् उपदेशाल्लभ्यते, तत् त्वां मुख्याधिकारिणं नचिकेतसं प्रति विवृतद्वारकं विमुक्तप्रवेशमार्गकं वर्तत इत्यर्थः। ।३६९। । एतदेव स्फुटयति—आनन्दसद्मनीति। भवान् अत्र आनन्दरूपे सद्मनि प्रविष्ट इति जाने यत एतस्य यः प्रवेशः प्रवेशमार्गभूता प्रत्यक्प्रवणता चित्तस्य तस्याः संरोधे प्रतिबन्धे विषयाकारा वृत्तयोऽर्गलात्वेन स्थिताः तद्भङ्गस्त्वया विवेकबलेन कृतः अतस्तव प्रवेशप्रतिबन्धः केन कर्तुं शक्य इत्यर्थः। ।३७०। ।

साधक को चाहिये कि गुरु के उपदेश के अनुसार तत्पद के पूर्ण रूप का यथाशास्त्र निर्धारण कर इन दोनों पदार्थों में विरुद्ध लगने वाले धर्मों का विवेकपूर्वक त्याग करे तथा जिसके धर्मों का अपोह हो चुका उस अकेले सूक्ष्म धर्मी चित्तत्त्व को ही आत्मा समझे। ऐसा साधक ही सबको आनंद देने वाले प्रत्यक् आनंद व्यापक इस स्वरूप के अवगम से सदा आनंदमग्न रहता है। ।३६६-८। । हृदयगुफा में स्थित ब्रह्मानंदरूप जो घर उपदेश से मिलता है उसका दरवाज़ा तुझ नचिकेतारूप मुख्याधिकारी के लिये खुला हुआ है। ।३६९। । तुम इस आनंदरूप में घुस ही गये हो यह मुझे पता है। इसमें प्रवेश का मार्ग है प्रत्यगात्मा की ओर ही चित्त का बहाव। उसमें रुकावट करने वाली आगल हैं विषयों के प्रति आकर्षण। विवेक से तुमने वे आगलें तोड़ डाली हैं। अब उस घर में प्रवेश से तुम्हें कौन रोक सकता है ! ।३७०। ।

यम द्वारा यों कहने पर महायशस्वी यह नचिकेता समझ गया कि मरणानंतर निज आत्मा की विद्यमानता बनी रहती है। यद्यपि साफ़-साफ़ ऐसा कोई वाक्य यम ने नहीं कहा था तथापि उन्होंने जो बताया था वह तब तक संगत नहीं होता जब तक देहातिरिक्त जन्मान्तर-संबंधी आत्मा स्वीकारा न जाये अतः नचिकेता ने यह रहस्य समझ लिया। उक्त आत्मा के बिना संभव न होने वाली यमोक्त बातें थीं — १) अधिकारी आदि भेदों वाले श्रेयरूप व प्रेयरूप दोनों फल। श्रेय तो स्पष्ट ही देहभिन्न नित्य आत्मा की प्राप्तिरूप है तो उसके बिना संभव नहीं। प्रेय में भी स्वर्गादि अदृष्टद्वारक सुखरूप प्रेय देहभिन्न आत्मा के बिना संभव नहीं। यद्यपि ईसाई-मुसलमान देहघटित आत्मा मानकर स्वर्ग-नरक भी मानते हैं तथापि उन्हें देह सड़-गल जाने के कारण स्वर्गादि के लिये देहांतर तो मानना ही पड़ता है, इतने से सिद्ध है कि वर्तमान देह आत्मा नहीं। ऐहिक प्रेय भी विचार करें तो देहान्य आत्मा के बिना समझे नहीं जा सकते। हाथ, पैर, यकृत, हृदय आदि शरीरावयव कटवा कर, बदलवा कर मनुष्य जीना चाहता है। यदि ये हाथ आदि ही आत्मा हों तो यह कैसे संभव है ? शरीर को कष्ट देकर कमाते हैं, यह भी शरीरात्मता से संगत नहीं। भविष्य के लिये किये जाते सभी कर्मों से पता चलता है कि देह आत्मा नहीं । पत्नी-पुत्र आदि के लिये किये कर्म भी सूचित करते हैं शरीर ही आत्मा नहीं है। इस प्रकार श्रेय और प्रेय अर्थात् मोक्ष और काम — ये दोनों फलरूप पुरुषार्थ देहान्य आत्मा के बिना संगत नहीं। २) मृत्यु होने पर जीवात्मा का यमराज के अधीन होना। वस्तुतस्तु देहात्मता मानी जाये तो मृत्यु ही संगत

एवमुक्ते यमेनाऽयं नचिकेता महायशाः। मरणे स्वात्मनः सत्ताम् अर्थतोऽधिजगाम सः।।३७१
श्रेयः प्रेय इति प्राह भिन्नं स्ववशतां तथा । आत्मनो मरणे नृणां पापिनामपि तं प्रति।।३७२
तत् सर्वं स्वात्मनः सत्त्वे देहाद् भिन्नस्य सम्भवेत्। देहात्मता यदा नैषा तदैवमुपपद्यते।।३७३

धर्माद्यतीत आत्मा

इत्थं विचार्य मतिमान् स्वयं स्वी कृत्य चात्मनः। पप्रच्छातिविशेषं तं स्वाऽऽत्मनोऽत्र यमं प्रति।।३७४
धर्मराज महाप्राज्ञ गुरो सर्वज्ञ लोकप ! धर्माऽधर्मविनिर्मुक्तं कार्यकारणवर्जितम्।।३७५
कालत्रयेण निर्मुक्तं सुखदुःखविवर्जितम्। यत्त्वं पश्यसि तद् वस्तु मह्यं शिष्याय कीर्तय।।३७६

एवंविधैर्धर्मराजवचनैः अर्थाद् आत्मनोऽस्तित्वपक्षः स्थापित इत्याह — एवमुक्त इति त्रिभिः। अर्थतः श्रुतार्थापत्त्या।।३७१।। तामर्थापत्तिमभिनयति — श्रेय इति। यमः श्रेयःप्रेयोरूपं फलद्वयम् अधिकारादिभिः भिन्नं यत् प्राह, यच्च मरणकाले आत्मनो जीवस्य स्ववशतां स्वस्य यमस्य मृत्युरूपस्याऽधीनतां प्राह, यद् अपि पापिनां नृणां तं नरकं प्रति गतानां स्ववशतां 'पुनः पुनर्वशमापद्यते मे' (कठ.२.६) इति वाक्येन प्राह, तत् सर्वं देहाद् भिन्नस्य आत्मनः सत्त्व एव सम्भवेत्। यदा तु एषा प्राकृतजनानुभवसिद्धा देहस्यैवात्मता स्यात् तदा एतदुक्तं सर्वं नोपपद्यते। न हि देह आमुष्मिकफलभागी। इति द्वयोरर्थः।।३७२-३।।

'चतुर्दशार्थं दर्शयति — इत्थमिति त्रिभिः। मतिमान् नचिकेता इत्थं विचारेण आत्मनः सत्तां स्वयं स्वीकृत्य निश्चित्य आत्मनः योऽतिशयितो विशेषः शुद्धत्वनित्यमुक्तत्वादिकः तं धर्मराजं प्रति पृष्टवान् इति।।३७४।। प्रश्नमभिनयति — धर्मेति द्वाभ्याम्। हे लोकप लोकपाल ! यद् वस्तु धर्माधर्माभ्यां सकारकाभ्यां सफलाभ्यां च भिन्नं, कार्यकारणाभ्यां च कृतादिपदोक्ताभ्यां भिन्नं, कालत्रयावच्छिन्नभिन्नं च, अत एव सुखादिवर्जितं त्वं जानासि, तन्मह्यम् उपदिशेत्यर्थः। श्रुतौ 'अन्यत्र' इत्यस्य अन्यदित्यर्थकत्वात्।।३७५-६।।

नहीं क्योंकि शरीर तो सामने दीखता ही रहता है! दृश्यमान स्थूल देह से अन्य कुछ-न-कुछ स्वीकारे बिना जीवन-मरण की व्याख्या संभव नहीं। यम ने मृत प्राणी को अपने अधीन बताया, यह भी तभी होगा जब मर कर प्राणी रहे अतः इससे भी देहान्य आत्मा निश्चित है। ३) नरक गये पापियों का बारंबार यम के वशीभूत होना। मरणोत्तर फलभोग देहभिन्न आत्मा को सिद्ध करता है क्योंकि मरण शरीर से संबंधविच्छेदरूप ही समझ आता है अगर तदनंतर सुख-दुःख भोगे जाते हैं। किं च इससे लोकांतर-संबंधी व देहान्तर-सम्बंधी आत्मा है यह निश्चित होता है। शास्त्रसंस्कार से रहित लोग देह को ही आत्मा समझते हैं पर वैसा हो तो यमोक्त तीनों बातें असंगत होंगी अतः नचिकेता समझ गया कि देहान्य स्थायी आत्मा है ही।।३७१-३।।

बुद्धिमान् नचिकेता ने उक्त विचार से स्वयं ही निश्चय कर लिया कि आत्मा की सत्ता है ही। फिर उसने आत्मा की महत्त्वपूर्ण खासियतों के बारे में जिज्ञासा की, 'हे धर्मराज ! हे लोकों के पालनकर्ता ! हे उदारधी ! हे गुरु ! हे सर्वज्ञ ! आपके शिष्य मुझ नचिकेता को आप उस वास्तविक सत्य का उपदेश दीजिये जो कारकों व फलों समेत पुण्य-पाप से अन्य है; जिसका कार्यकारणभाव से कैसा भी संबंध नहीं है, जो काल की सीमाओं से परे और सुख-दुःख से रहित है तथा जिसे आप साक्षात् जान रहे हैं।'३७४-६।।

यों पूछे जाने पर यमराज ने नचिकेता को सब विशेषताओं से रहित आनंदरूप अद्वैत प्रत्यगात्मा बताना आरंभ किया। शुद्ध आत्मा सहसा समझना कठिन होने से उसमें बुद्धि के प्रवेश की सुविधा के लिये उन्होंने आत्मा को प्रणव से—ॐ से—अभिन्न कर बताया। आत्मा है तो प्रणवद्वारा बोध्य किंतु हमेशा ही आत्मा का नाम रहने वाला जो प्रणव उसे ही आत्मा के रूप में यम ने बताया ताकि बुद्धि वहाँ स्थिर हो।।३७७-८।।

१. 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राऽधर्मादन्यत्राऽस्मात्कृताऽकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद।'२.१४।।

एवमुक्ते यमो राजा नचिकेतसमब्रवीत्। सर्वधर्मविनिर्मुक्तमानन्दात्मानमद्वयम्॥३७७
प्रणवेनात्मरूपेण स्वाभिधानेन सर्वदा। अभिन्नमभिधेयं तं बुद्धिसौकर्यहेतवे॥३७८
पदनीयं परं ब्रह्म सर्वे वेदा वदन्ति यत्। तपांस्यपि च सर्वाणि कृच्छ्रादीनि सहस्रशः॥३७९
तपोभिः शुद्धहृदये यस्मादेष परं व्रजेत्। वेदवत् तत एवैतत् तपांस्यपि वदन्ति च॥३८०
नारीणां स्मरणं तासां कीर्तनं ताभिरेव वा। आभिस्तथैव काचिच्च क्रीडा द्यूतादिरूपिणी॥३८१
प्रेक्षणं च तथैवासां कामासक्तेन चक्षुषा। गुह्यानां भाषणं तद्वद् ग्राम्यधर्मोपकारिणाम्॥३८२

'पञ्चदशयादित्रयस्य तात्पर्यार्थमाह — एवमिति द्वाभ्याम्। एवं पृष्टो यमः शुद्धमात्मानं बोधयन् प्रथमं बुद्धेः तत्र प्रवेशसौकर्याय प्रणवेन ब्रह्मणोऽभिधानेन नाम्नाऽभिन्नतया तम् आत्मानं प्रणवाभिधेयम् अब्रवीद्। इति द्वयोः सम्बन्धः॥३७७-८॥

तत्र पञ्चदश्या अर्थमाह — पदनीयमिति नवभिः। यत् परं ब्रह्म पदनीयं पदाङ्कैर्गवादिवच्चिदाभासलिङ्गैर्बुधैर्गम्यं, यच्च वेदा उपनिषद्रूपा वदन्ति, कृच्छ्रादीनि तपांसि च यद् वदन्ति तत् प्रणवरूपं जानीहीति नवमेनाऽभिसम्बन्धः॥३७९॥

ननु वेदास्तद्वदन्तीति युक्तं, तपांसि तद्वदन्तीति कथमुपपद्येत? इत्याशङ्कां समाधत्ते — तपोभिरिति। यस्मादेषः अधिकारी तपोभिः शुद्ध एव हृदये परं ब्रह्म अवगच्छति ततः तपांसि तं वदन्ति इत्युक्तमिति सम्बन्धः। अयं भावः — वेदैस्तत्प्रतिपादनं नाम तदावरणभंजकवृत्त्युत्पादनं, तादृशवृत्त्यनुकूलत्वं तपसामपि चित्तमलापहरणद्वारेति तेऽपि 'वदन्ति' इव — इति॥३८०॥

ब्रह्मचर्यस्वरूपं दर्शयितुं तत्प्रतियोग्यष्टविधं मैथुनं निरूपयति — नारीणामिति पञ्चभिः। नारीणां स्मरणं प्रथमम्। तासां कीर्तनं, ताभिः सह वा कीर्तनं द्वितीयम्। नारीभिः सह द्यूतादिक्रीडा तृतीयमिति॥३८१॥ प्रेक्षणमिति। सकामेन मनसा प्रेरितेन चक्षुषा यद् आलोकनं तत् प्रेक्षणम् इत्युक्तं चतुर्थं, गुह्याङ्गादीनां ग्राम्यधर्मपरिपोषाय भाषणं पञ्चममिति॥३८२॥ षष्ठं सङ्कल्पमभिनयति — इयमिति। इयं सुभ्रूः मम ग्राम्यधर्मोपयोगिनी अस्तु इत्याकारकं

उन्होंने कहा 'गीली मिट्टी पर गाय आदि के खुरों के निशानों से जैसे गाय आदि खोज ली जाती है ऐसे बुद्धिमान् साधक चिदाभासरूप चिह्नों से जिस आत्मा को खोज लेते हैं, उपनिषत्प्रधान सारे वेद तत्परता से जिसका प्रतिपादन करते हैं, हज़ारों की तादाद में किये जाते कृच्छ्र आदि सभी तप भी जिसे बताते हैं उस ब्रह्म को तुम प्रणवरूप समझो।॥३७९॥ क्योंकि यह साधक तपस्याओं से शोधित हृदय में ही परब्रह्म को अवगत करता है इसलिये वेद की तरह तप भी इसे 'कहते' हैं। (मंत्र में 'तप ब्रह्म को कहते हैं' यों तप को कहने वाला बताया जबकि कृच्छ्रादि तप वाग्व्यापाररूप या प्रमाणरूप 'कहने वाले' प्रसिद्ध हैं नहीं। अतः तात्पर्य समझाया कि आत्मावरण के भंजन में समर्थ वृत्ति को उत्पन्न करने से ही वेद के लिये यह प्रयोग होता है कि 'वेद आत्मा को कहते हैं'; ऐसे ही वह वृत्ति बन सके इसके लिये ज़रूरी शोधन तपस्या करती है अतः वृत्ति के उत्पादन में उसका भी योगदान है ही; एवं च वृत्त्युत्पादन में योगदान को ही इस प्रसंग में 'कहना' शब्द से व्यवहृत किया जा रहा है।॥३८०॥

इस अद्वितीय प्रपंचोपशम शिव के दर्शन की चाहना से ही साधक ब्रह्मचर्य का अभ्यास करते हैं। मैथुन का वर्जन ब्रह्मचर्य है। मैथुन आठ प्रकार का होता है ऐसा मनीषी बताते हैं : १) नारियों को भोग्य रूप से याद करना।

---

१. 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥' २.१५

इयं मे भवतात् सुभ्रूर्ग्राम्यधर्मोपकारिणी। इति यच्चिन्तनं स स्यात् सङ्कल्पः कामुकस्य हि।।३८३
अनया सह सम्भोगं करिष्यामीति निश्चयः। कथितोऽध्यवसायोऽयं सुरतं तत्र कारणम्।।३८४
ग्राम्यधर्मेण गमनं ललनायाः सुखप्रदम्। क्रियानिर्वृतिरित्युक्ता सर्वदाऽत्र मनीषिभिः।।३८५
स्मरणं कीर्तनं क्रीडा प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। सङ्कल्पं निश्चयं चैव क्रियानिर्वृतिमष्टमीम्।
वर्जयेद् वर्जनं तत् तु ब्रह्मचर्यमुदाहृतम्।।३८६

ॐ

यदिच्छन्तो महात्मानो ब्रह्मचर्यं चरन्त्यपि। तत्ते संग्रहतो वक्ष्ये 'ओम्' इत्येवावधारय।।३८७
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।
फलं भवति नैवात्र संशयः कोऽपि विद्यते।।३८८

चिन्तनं सङ्कल्प इत्युक्तम्।।३८३।। सप्तममध्यवसायमभिनयति—अनयेति। तत्र उक्तरूपाध्यवसाये सुरतं कारणं फलं वासस्याऽध्ययनवदिति तुरीयपादार्थः।।३८४।। अष्टम्याः क्रियानिर्वृतेः 'क्रियाया निर्वृतिः' सुखमिति व्युत्पत्त्यनुसारेणाकारमाह—ग्राम्येति।।३८५।।उक्तमष्टविधं व्यापारं मुमुक्षुर्वर्जयेत्, तद्वर्जनमेव तु ब्रह्मचर्यमित्युक्तमित्याह —स्मरणमिति।।३८६।।

यदिच्छन्त इति। उक्ताकारं ब्रह्मचर्यं यदवाप्तीच्छया कुर्वन्ति तद् ब्रह्म प्रणवाऽभिधेयत्वात् प्रणवप्रतीकत्वाद् वा प्रणवतादात्म्यापन्नं विद्धीत्यर्थः। अन्यत्र अन्यदृष्ट्यालम्बनत्वं प्रतीकत्वम्।।३८७।।

[1]षोडशीसप्तदश्योः प्रणवस्य प्रतीकतामालम्बनतां च क्रमेण प्रशंसन्त्योरर्थमाह—एतद्ध्येवेति द्वाभ्याम्। एतत् प्रणवरूपम् अक्षरं ब्रह्म कार्यब्रह्मात्मकं हिरण्यगर्भदृष्ट्या ध्येयमिति यावत्। तथा परं ब्रह्म अपि एतत्, परब्रह्मत्वेनापि ध्येयमिति यावत्। तस्मादस्य अक्षरस्य ब्रह्मत्वेन उपासकः कार्यब्रह्मभाव-परब्रह्मभावरूपफलयोः मध्ये यदिच्छति तद् एव आप्नोति इत्यर्थः।।३८८।। प्रणवोच्चारणे प्रतीयमानं तन्मात्राचतुष्टयवाच्यस्थूलसूक्ष्म-

२) उक्त रूप से उनके बारे में कथन एवं उक्त अभिप्राय की उनसे बात-चीत करना। ३) नारियों से जुआ आदि किसी प्रकार का खेल खेलना। (कथन, क्रीडा आदि यदि भोगतात्पर्य से नहीं भी हो तब भी वह ब्रह्मचर्यविरोधी ही है क्योंकि स्त्री-पुरुष का संपर्क अधिक होने पर भोगोन्मुखता की संभावना हमेशा रहती है।) ४) कामनायुक्त आँखों से स्त्रियों को देखना। ५) ग्राम्य धर्म में उपयोगी अर्थात् कामोद्दीपक, ऐसे अंगों के, क्रियाओं के बारे में (नारी से या अन्य पुरुष से भी) बात करना जो शिष्ट समाज में करने के अयोग्य हो। ६) कामुक का यह संकल्प अर्थात् सोचना कि 'यह सुंदरी मेरे ग्राम्यधर्म में उपयोगी होवे'। ७) यह निश्चय कि 'मैं इससे सुरतफलक संभोग करूँगा'। ८) धातुसेचनरूप क्रिया संपन्न करना अर्थात् ललना से सुखद ग्राम्यधर्मानुष्ठान करना । — इन आठों व्यापारों का त्याग ब्रह्मचर्य है। मुमुक्षु महात्मा जो ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं वह भी आत्मा की ही इच्छा से। उस आत्मा को संक्षेप में बताता हूँ: वह ॐ है यह निश्चय कर। (ॐ से बोध्य तो आत्मा है ही आत्मा का ॐ प्रतीक भी है अतः आत्मा को ॐ कहा है।)।।३८१-७।।

कार्यब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ की दृष्टि से ॐ का ध्यान करना चाहिये। सामर्थ्य हो तो परब्रह्म की दृष्टि से भी इसका ध्यान किया जा सकता है। इसलिये ॐ-रूप अक्षर का उपासक जिस दृष्टि से उपासना करता है उसी पर या अपर ब्रह्म को पा जाता है। ॐ की उपासना अवश्य सफल है इसमें कोई संशय नहीं।।३८८।। प्रणव बेहतरीन

---

१. 'एतद्ध्येवाऽक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।१६।। एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।'२.१७।।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।।३८९

आत्मस्वरूपम्

अयमोंं ब्रह्मणो भावः सर्वदैव विभावयेत्। न जायते न म्रियते स्वयं ज्योतिः स्वरूपकम्।।३९०
नायमात्मा कुतश्चित् स्यात् कारणाभावहेतुतः। अस्मादपि न कोऽपि स्याद् द्वितीयाभावहेतुतः।।३९१
अजस्ततोऽयमात्मा स्याद् नित्यो जन्मविवर्जितः। यतो नित्यस्ततः शश्वद् वर्ततेऽत्र जगत्त्रये।।३९२
शाश्वतस्तत एवाऽयं पुराप्यस्ति महेश्वरः। पुराणो नव एवात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।।३९३
हन्यमाने शरीरेऽस्मिन् हन्यते नैव कस्यचित्। हन्यमाने घटे यद्वद् नभो नैवाऽत्र हन्यते।।३९४

कारणतुरीयाऽवस्थावच्छिन्नं शुद्धं चिन्मात्रमेवाऽस्मीति चिन्तनरूपामालम्बनोपासनां प्रशंसति—एतदालम्बनमिति। एतत् प्रणवरूपम् आलम्बनं श्रेष्ठं श्रेष्ठस्य कार्यब्रह्मणो ध्यानोपकारकं, तथा परं परब्रह्मणो ध्यानोपकारकम्। एवं प्रणवमालम्ब्य द्विविधब्रह्मध्यानेन ब्रह्मलोकप्राप्तिद्वारा मुच्यत इत्यर्थः।।३८९।।

एवं द्विविधप्रणवोपासनया शुद्धान्तःकरणं प्रति आत्मतत्त्वबोधिकानामष्टादशयादीनामृचाम्[1] अर्थप्रदर्शनमुपक्रमते—अयमोमित्यादिना। ओंब्रह्मणः प्रणवप्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणो भावः स्वभावः अयं भवति, तं सदा मुमुक्षुश्चिन्तयेत्। 'अयं' कः ? इत्याकांक्षां पूरयति—न जायत इत्यादिना। अयमात्मा स्वयंज्योतिष्ट्वेन सर्वभासकतया विपश्चित्पदोक्तो जननमरणाभ्यां तदुपलक्षितविकारान्तरैश्च हीन इत्यर्थः।।३९०।। तत्र हेतुतया कारणाभावं द्वैताभावं चाह—नायमिति। अयमात्मा कुतश्चिन्न जायते तत्कारणतायोग्यस्य कस्याप्यसम्भवात्। नाप्यस्मात् किञ्चिदवस्थान्तरादिकं जायते द्वितीयस्यैवाभावादित्यर्थः।।३९१।। अत एवाऽयमजो नित्यश्चोक्त इत्याह—अज इति। नित्यत्वाच्च सदा वर्तमानत्ववाचकेन शाश्वतपदेनोक्त इत्याह—यत इति। शाश्वतत्वाच्च पुराण इत्युक्तः पुराऽपि नव इति व्युत्पत्तिसमन्वयादित्याह—तत एवेत्यादिना। ततः शाश्वतत्वात् पुराऽपि नव एव इत्यतः पुराणो भवति। इति द्वयोरर्थः।।३९२-३।। यत ईदृश आत्मनः स्वभावोऽत उपाधिनाशे तन्नाशशङ्का न कार्येत्याह—हन्यमान इति। स्पष्टम्।।३९४।।

सहारा है कार्यब्रह्म पर एकाग्र होने के लिये और परब्रह्म पर चित्त स्थिर करने का भी यही उत्तम संबल है। इसके सहारे उपासना कर साधक ब्रह्मलोक जाकर मुक्त हो जाता है। (अन्य प्रतीकोपासनाएँ ब्रह्मलोक नहीं पहुँचा सकतीं (ब्र. सू. ४.३.१५) किंतु प्रणव को ब्रह्मप्रतीक मानकर की उपासना ब्रह्मलोक प्राप्त कराती है यह ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरण में (१.३.४. सू. १३) निर्धारित है। ॐ के सहारे उपासना का मतलब है दीर्घ ॐ का उच्चारण करते हुए यह चिंतन करना कि मैं वह शुद्ध चिन्मात्र ही हूँ जो प्रणव की चारों मात्राओं के वाच्यों द्वारा अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म-कारण-तुरीयावस्थाओं द्वारा सीमिति प्रतीत होता हूँ)।।३८९।।

मुमुक्षु को इस विचार की आवृत्ति करनी चाहिये कि ॐ से प्रतिपाद्य ब्रह्म का ऐसा स्वभाव है कि यह स्वप्रकाश अर्थात् सब का चरम भासक है और जन्म-मृत्यु आदि सभी विकारों से रहित है।।३९०।।

यह आत्मा किसी से नहीं पैदा होता क्योंकि इस लायक कोई है नहीं जो इसे पैदा करे। इस आत्मा से भी इसकी कोई अवस्थाएँ पैदा नहीं होतीं क्योंकि इससे अतिरिक्त कुछ—धर्म और धर्मी—है ही नहीं।।३९१।। इसलिये यह आत्मा अज, जन्मरहित है, नित्य है। नित्य होने से यह त्रिलोकी में हमेशा व्याप्त है।।३९२।। यह महेश्वर शाश्वत अर्थात् सनातन होने से पहले भी है ही, अतः सब देहधारियों का यह आत्मा इकट्ठे ही पुराना और नया है। (परोक्ष या कम-से-कम अनद्यतन भूत काल से संबद्ध को पुराना और सद्यः भूतकाल से संबद्ध को नया कहते हैं। आत्मा सभी कालों से संबद्ध है क्योंकि काल उसी में कल्पित है।)।।३९३।। घट फोड़ा जाने पर भी घट में स्थित आकाश फूटता नहीं है ऐसे ही इस शरीर के मारे जाने पर भी किसी का आत्मा मरता नहीं।।३९४।।

१. 'न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।'२.१८।।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते। ।३९५
कार्यकारणयोर्नाशे वध उक्तो मनीषिभिः। अकार्यकारणः केन निहन्ति च कथं हतः। ।३९६
देहेन्द्रियगणैः शून्यमात्मानं नभसा समम्। हन्मीति मन्यते मूढो यश्चासौ हन्यतेऽपि च। ।३९७
ज्ञानवन्तावपि न तौ जानीतस्तत्त्वमेतयोः। विपरीतमिदं ज्ञानमवध्ये वधदर्शनात्। ।३९८
सतो न विद्यते नाशो वस्तुनोऽत्र कदाचन। सन्नात्मा सर्वदा केन वधमर्हति देहवत्। ।३९९
अणोरपि न नाशोऽस्ति केषांचिदपि वादिनाम्। मते केनात्मनः स स्यादपि तस्मादणीयसः। ।४००
महतश्च न नाशोऽस्ति कालादेर्वादिनां मते। केनात्मनो भवेदेष महतोऽत्र महीयसः। ।४०१

यः स्वात्मानं क्रियाकारकं मन्यते स भ्रान्त इति प्रदर्शयन्त्या ऊनविंशतिपूरण्या[1] अर्थमाह—हन्तेति पञ्चभिः। यदि हन्ता हननक्रियाकर्तृसङ्घातावच्छिन्न आत्मानं हन्तुं क्षमं हननक्रियाकर्तारमिति यावत्, मन्यते; यो वा हतं हननक्रियाकर्मभूतं मन्यते; तावुभौ अज्ञौ, आत्मनोऽकारकस्वभावत्वादित्यर्थः। ।३९५। । एतत् स्फुटयति—कार्येति। लोके कार्यं स्थूलं, कारणं सूक्ष्ममिन्द्रियादिकम्, एतयोरेव नाशदर्शनेन कार्यकारणान्यतरत्वं नाशव्यापकं दृष्टम्। वस्तुतस्तद्रहितात्मनः कथं नाशः स्याद् ? इत्यर्थः। ।३९६। । देहेन्द्रियेति। देहादिरूपकार्यादिहीन मात्मानं यः कारकं मन्यते स मूढ इत्यर्थः। ।३९७। । ज्ञानेति। तौ हन्तृत्वेन हतत्वेन चात्मानं मन्यमानौ शास्त्रज्ञानवन्तावपि एतयोः हन्तृहतयोः तत्त्वं मिथ्यात्वरूपं न जानीतः। अनयोर्मिथ्यात्वं च विपर्ययकाल एव भानादित्यर्थः। ।३९८। । 'नाभावो विद्यते सत' (गी. २.१६) इति न्यायेन आत्मनोऽवध्यत्वं दर्शयति—सत इति। देहः स्वतः सत्ताहीनो यथा नाशयोग्यस्तथाऽयं सद्रूप आत्मा कथं स्याद् ? इत्यर्थः। ।३९९। ।

आत्मनो नाशाऽयोग्यतायां हेतुप्रपञ्चकत्वेन विंश्या[2] अर्थमाह—अणोरिति सप्तभिः। केचिद्वादिनो नैयायिकादयः अणोः सूक्ष्मस्य मनःप्रभृतेः नाशं नाङ्गी कुर्वन्ति। आत्मा तु तस्माद् अणोः अपि अणीयान् भवति, तद्विवर्तोपादानत्वाद्, अतः स कथं नाशयोग्यः ? इत्यर्थः। ।४००। । एवं महत्त्वेन अनाशयोग्यतयाऽभिमतस्य कालादेरप्यधिष्ठानतयाऽतिमहत आत्मनः कथं नाशयोग्यत्वम् ? इत्याह—महतश्चेति। ।४०१। । साक्षितया

हनन आदि क्रियाओं का कर्त्ता जो संघात उससे सीमित हुआ आत्मा यदि स्वयं को उन क्रियाओं का कर्ता मानता है या (अन्य संघातों द्वारा की क्रियाओं का) स्वयं को कर्म (विषय) मानता है तो अज्ञानी ही है क्योंकि आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि वह कर्ता-कर्म आदि कोई कारक नहीं बन सकता। ।३९५। । स्थूल-सूक्ष्म शरीरों का नाश होने पर मनीषी कहते हैं कि 'वध हुआ'। आत्मा के शरीर हैं नहीं अतः कैसे तो वह मार सकता है और कैसे मारा जा सकता है। ।३९६। । देह-इंद्रिय आदि समूहों से रहित, आकाशतुल्य आत्मा को 'मैं मार रहा हूँ' या 'वह मारा जाता है' ऐसा मानने वाला मोहग्रस्त अविवेकी ही है। ।३९७। ।

आत्मा को हननादि का कर्ता या कर्म मानने वाले भले ही शास्त्रज्ञ हों पर कर्तृत्व व कर्मत्व की वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ हैं क्योंकि जो हननादि से संबंध के अयोग्य है उसे उससे संबद्ध देखना यह उल्टा ज्ञान है। (भ्रम रहते ही आत्मा में कर्तृत्वादि प्रतीत होते हैं अतः वे मिथ्या हैं क्योंकि नियम है कि केवल भ्रम में परिस्फुरित होने वाला अध्यस्त होता है। कर्तृता आदि को सत्य समझना इसीलिये ग़लत ज्ञान है। उपनिषत् में मृत्यु-संबंधी कर्तृतादि का कथन उपलक्षणार्थ है।)। ।३९८। । वैदिक सिद्धांत में निश्चत है कि सद्वस्तु का कभी नाश नहीं होता। आत्मा हमेशा सद्रूप है तो शरीर की तरह इसका वध हो कैसे सकता है ?। ।३९९। ।

वैशेषिक आदि कुछ विचारक मन आदि सूक्ष्म—अणु परिमाण वाली—वस्तुओं का भी नाश नहीं है ऐसा मानते हैं तो उससे भी सूक्ष्म आत्मा का नाश क्योंकर होगा!। ।४००। । बहुतेरे वादी स्वीकारते हैं कि आकाश आदि महान्

---

१. 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते। ।'२.१९

२. 'अणोरणीयान्महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः। ।'२.२०। ।

आत्मनो न स्वभावेन विनाशो वसनादिवत्। ततः कारणतो नाशो वर्णनीयो मनीषिभिः।।४०२
कारणानि च सर्वाणि विनाशं प्रति यान्ति वै। देहेन्द्रियगणं प्राप्य नाऽपि बुद्धिं व्रजन्ति हि।।४०३
बुद्धेरप्यान्तरः स्वात्मा बुद्ध्यावेष स्थितो यतः। जन्तोः सर्वस्य केनाऽयं कारणैर्नाशमेष्यति।।४०४
गुरुप्रसादतः स्वच्छचित्तोऽत्र विजितेन्द्रियः। दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।।४०५
आत्मनो महिमानं तं महत्त्वाणुत्वसंश्रयम्। आनन्दात्मस्वरूपेण भेदगन्धविवर्जितम्।
पश्यत्यात्मतया येन न हन्ति न च हन्यते।।४०६

बुद्धिगुहानिहितत्वाच्च स न नाशयोग्य इत्याह—आत्मन इति त्रिभिः। वस्त्रादिकं स्वभावेन परिणामित्वलक्षणेन यथा नाशयोग्यं तथाऽऽत्मा यतो न भवति अतः स्वरूपाद् बहिर्भूतं किंचित् तस्य नाशे निमित्तं वाच्यम् आत्मनाशवादिनेत्यर्थः।।४०२।। स्वरूपाद् बहिर्भूतानां नाशनिमित्तानां प्रवृत्तिस्तु देहेन्द्रियगणमभिव्याप्यैव दृष्टा, न तु साक्षाद् बुद्धिमभिव्याप्यापि। बुद्धेः साक्षिणमात्मानं प्रति न किंचिद् नाशकारणं गन्तुं समर्थमित्याह—कारणानीति द्वाभ्याम्। नाशकारणानि सर्वाणि कुठारौषधादीनि देहेन्द्रियगणं प्राप्य विनाश्य स्वयं विनाशं यान्ति क्षीणबलानि भवन्ति; न हि शरीरेन्द्रियहीने नाशकारणानि प्रवर्तमानानि केनचिद् दृष्टानीति भावः।।४०३।। तथा च बुद्धेरप्यान्तरस्य नाशः कथं स्याद् ? इत्याह—बुद्धेरपीति। स्पष्टम्।।४०४।। यश्चैवंविधमात्मनस्तत्त्वं जानाति तस्य हन्तृत्वादिव्यवहारो निवर्तत इत्याकारमुत्तरार्धार्थमाह—गुरुप्रसादत इति। अत्र श्रुतौ धातुपदेन सचित्तेन्द्रियाणां विवक्षितत्वात् तन्नैर्मल्यं स्वच्छेत्यादिविशेषणद्वयेनोक्तम्। गुरुप्रसादत इति त्वर्थापत्तिलब्धानुवाद इति भाष्याऽविरोधः। उत्तरार्धेन वीतशोकत्वं क्रतुपदोक्तसङ्कल्पहीनत्वं चोक्तम्। एतादृशोऽधिकारी यदा आत्मनो महिमानं शास्त्रप्रसिद्धम् आत्मतया ऐक्येन पश्यति तदा कर्तृत्वादिरहितो भवति। कीदृशं महिमानम् ? महत्त्वस्याऽणुत्वस्य च संश्रयं पर्यवसानभूमिम्, अद्वितीयत्वेन आनन्दरूपं च। इति द्वयोरर्थः।।४०५-६।।

पदार्थों का नाश नहीं होता। आत्मा तो महान् वस्तुओं से भी अधिक महत्तर है, उसका नाश कैसे होगा ?।।४०१।। जैसे कपड़े आदि का स्वभाव है परिणत होना अतः वे क्रमशः नष्ट होते हैं यह स्वाभाविक माना जाता है। आत्मा परिणामशील न होने से उसका नाश स्वभावतः तो हो नहीं सकता। अतः जो मनीषी आत्मा का नाश मानता है उसे आत्मनाश के प्रति किसी कारण का वर्णन करना पड़ेगा। विनाश के प्रति कारण बनने वाले कुल्हाड़ी, जहर आदि सभी पदार्थ देह-इंद्रिय आदि समूह तक ही पहुँचकर, उन्हें विनष्ट कर स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं, उनकी सामर्थ्य समाप्त हो जाती है; वे कारण तो बुद्धि तक भी नहीं पहुँच पाते तो बुद्धि से भी प्रत्यग् जो बुद्धि में साक्षिरूप से स्थित यह सभी जन्तुओं का आत्मा, वह कारणों से नाश प्राप्त करे यह कैसे हो सकता है !।।४०२-४।। (कारण बुद्धि तक नहीं पहुँचते से अभिप्राय है कि स्थूल देह से ही उनका संपर्क रहता है, सूक्ष्म से नहीं। यद्यपि इंद्रियाँ भी बुद्धि की तरह जन्मांतरगामी अतः कुल्हाड़ी आदि से नाश के अयोग्य हैं तथापि उनके गोलक स्फुट हैं और गोलक नष्ट होने पर प्रायः इंद्रिय कार्यकारी नहीं रह जाती इसलिये इन्द्रियों पर कुठार आदि का असर कथंचित् मान कर उन्हें देह के साथ गिन लिया। बुद्धि का गोलक उतना स्फुट नहीं और अन्य सब समझ-बूझ नष्ट होने पर भी बुद्धि की अहंकारात्मिका वृत्ति उपलब्ध होती मिलती है अतः उसे पृथक् कर दिया।)

निर्मल मन वाला, इंद्रियों पर नियंत्रण वाला, जिसका मन दुःखों से उद्विग्न नहीं होता (अविवेकग्रस्त, स्तब्ध नहीं होता) तथा सुखों की ओर आकृष्ट नहीं होता वही गुरु की कृपा से आत्मा की उस महिमा का दर्शन पाता है जो महत्ता और सूक्ष्मता की पर्यवसानभूमि है (चरम रूप है), आनंदरूप एवं अद्वितीय है। क्योंकि यह दर्शन उसे "मैं" रूप से होता है इसलिये इस दर्शन के कारण वह हननादि क्रियाओं का कर्ता-कर्म आदि बनने में असमर्थ हो जाता है।।४०५-६।।

दूरं याति समासीन आत्माऽयं सर्वदेहिनाम्। यतः सर्वगतो नित्यं विक्रियालेशवर्जितः।।
ततः शयान एवात्र शरीरे याति सर्वतः।।४०७
बुद्ध्यादीनां हि संयोगाद् विद्यादिमदमेति च। जलं यथैव धातूनां संयोगात् तादृशं भवेत्।।
अमदश्च स्वभावाद्य आनन्दात्मा स्वयंप्रभः।।४०८
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति। मत्तो यो हि विभिन्नः स्यात् सो नात्माऽत्र घटादिवत्।।
ममात्मानं कथं तादृग् ज्ञातुमर्हति मूढधीः।।४०९
'अशरीरं शरीरेषु त्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।।'४१०
शोकोऽज्ञानसमुत्थोऽयम् अज्ञानं स्वात्मबोधनात्। विनष्टं केन शोकः स्याद् अहेतुः पुनरस्य सः।।४११

अयमात्मा कल्पितोपाधिभेदैस्तथा तथा भासमानोऽपि वस्तुतः पूर्णः शुद्धोऽविषयस्वभावश्चेति प्रकटयन्त्या एकविंशतितम्या[1] अर्थमाह—दूरमिति त्रिभिः। लौकिको जनस्तिष्ठन् शयानो वा दूरं गन्तुं न शक्तः, परिच्छिन्नत्वाद् इति प्रसिद्धम्। अयमात्मा तु तद्विलक्षणत्वात् समासीनो जाग्रदवस्थां पश्यन्नपि तथा शयानः स्वप्नसुषुप्ती पश्यन्नपि दूरं सर्वत्र गतः पूर्णस्वभावत्वादित्यर्थः।।४०७।। तथा बुद्ध्यादिसङ्घाततादात्म्याध्यासाद् विद्याधनादिप्रयुक्तं मदं तदुपलक्षितं धर्मान्तरं च प्राप्नुवन् भासमानोऽपि वस्तुतः शुद्ध इत्याह—बुद्ध्यादीनामिति। धातवो गैरिकादयः, तत्सङ्गाज्जलमिव बुद्ध्यादिसङ्गाद् मदादिमानपि स्वभावादानन्दलक्षणाद् अमदो मदादिरहितो भवतीत्यर्थः।।४०८।। तस्याऽविषयत्वमाह—कस्तमिति। तदेवं मदामदं मदवन्तममदवन्तं च मदन्यो मम तत्त्वविदः स्वरूपाद् अखण्डचिद्धातुलक्षणाद् भिन्नो जडभावः को ज्ञातुं क्षम इत्यर्थः। 'मदन्य' इत्याद्येव स्फुटयति—मत्त इति। मत्तो मम स्वरूपाद् भिन्नं हि जडं तादृक् तत्तु नात्मप्रकाशार्हं यतो मूढा मोहव्याप्ता धीर्भवति तेन तथात्वात्; तस्मात्स्वयम्प्रकाश आत्मेत्यर्थः।।४०९।।

आत्मविज्ञानफलप्रदर्शिकां द्वाविंशतितमीं पठति—अशरीरमिति। वस्तुतः शरीरत्रयरहितम् अनित्येषु सर्वशरीरेषु अन्तः स्थितं पूर्णं चात्मानं यदा जानाति तदा शोकमतिक्रामतीत्यर्थः।।४१०।। शोकातिक्रम उपपत्तिमाह—शोक इति। शोकः कर्तृत्वादिरूपो बन्धः सोऽज्ञानकार्यं भवति, तदज्ञानं तु तत्त्वज्ञानेन नष्टम्, अतो निष्कारणः शोकः कथं स्याद् इत्यर्थः।।४११।।

विविध कल्पित उपाधियों के तादात्म्यसे ससीम प्रतीत होता हुआ भी आत्मा परमार्थतः असीम, अनौपाधिक और ऐसे स्वभाव का है कि इसे अपने से भिन्न कर सही तरह नहीं जाना जा सकता। लौकिक व्यक्ति यदि बैठा या सोया है तो यह नहीं हो सकता कि साथ-ही-साथ वह चलकर दूर भी पहुँच जाये क्योंकि वह सीमित है। यह आत्मा ऐसे लौकिक नियमों से बँधा नहीं क्योंकि व्यापक है और इसमें वास्तव में कभी कोई परिवर्तन होता नहीं। सब देह-धारियों के आत्मा के बारे में इकट्ठे ही यह कह सकते हैं कि यह बैठा है, दूर जा रहा है ! (दूर-से-दूर भी यह है हमेशा मौजूद ही, रास्ते में भी उपस्थित है, अतः जाने का फल जो वहाँ पहुँचना, वह तो इसमें सदा उपलब्ध है इसलिये 'जा रहा है' लेकिन क्रिया कुछ नहीं कर रहा इसलिये 'बैठा है'।) ऐसे ही इसी (किसी भी) शरीर में सोते हुए—स्वप्न, सुषुप्ति का अनुभव करते हुए—भी सर्वत्र जाता है—यह भी कथन घट जाता है।।४०७।। बुद्धि आदि संघात से तादात्म्या-ध्यासरूप सम्बंध होने से विद्या, धन, बल आदि निमित्तक मद, गर्व आदि यह आत्मा वैसे ही प्राप्त करता है जैसे गेरु आदि मिलने पर पानी लाल आदि हो जाता है। वास्तव में तो स्वानंदरूप यह स्वप्रकाश स्वभावतः मद आदि से रहित ही रहता है।।४०८।।

१. 'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः। कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।।'२.२१।।

वरणाल्लाभः

अयमात्मा विभुत्वेन महान् यः परिकीर्तितः। नाध्यापनैर्नाऽध्ययनैरादेयो न बहुश्रुतात्।।
नानाशास्त्रोत्थविज्ञानाद् न लभ्यो जन्मकोटिभिः।।४१२

एष यं प्रति देवेशो दर्शयेद्धि निजं वपुः। गुर्वादिरूपमापन्नः तेन लभ्योऽधिकारिणा।।४१३

यत एनं प्रति स्वात्मा तादात्म्येनात्मनो वपुः। आनन्दात्मस्वरूपं यत् तत्साक्षात्कृतवान् प्रभुः।।४१४

नाविरतो दुश्चरिताद् नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।४१५

पुण्यात्मा क्रोधरहितो जन्तौ जन्तौ क्षणे क्षणे। आत्मनश्चिन्तया युक्तो रागद्वेषविवर्जितः।।
अहं ब्रह्मेति विज्ञानाद् आत्मानमवलोकयेत्।।४१६

त्रयोविंशतितम्या[1] अर्थमाह—अयमात्मेति। एष वर्णित आत्मा अध्ययनादिभिरुपायैः नादेयो न लभ्य इत्यर्थः।।४१२।। एष इति। किन्तु एष आत्मा गुरुदेवादिरूपः सन् यम् अधिकारिणं प्रति स्वरूपप्रदर्शनरूपं वरणं नयेत् तेनैव लभ्य इति।।४१३।। यत इति। कीदृशं गुरुदेवादिकर्तृकं वरणम् ? यतः यस्य वरणस्य प्रभावाद् अयमात्मा प्रभुः एनम् अधिकारिणं प्रति स्वीयमानन्दात्मकं वपुः स्वरूपं तादात्म्येन अभेदेन साक्षात्कृतवान् अपरोक्षतां नीतवान् भवतीत्यर्थः।।४१४।।

आत्मापरोक्षाधिकारिणं दर्शयन्तीं चतुर्विंशतितमीं[2] पठति—नाविरत इति। दुश्चरितं पापं तस्मादनिवृत्तः, शमहीनः, समाधिहीनः, अशान्तमानसः समाधिफलाद् ऐश्वर्यरूपादनिवृत्तमनाश्च पुरुषः एनम् आत्मानं प्रज्ञान-पदोक्तसाक्षात्कारविषयं न करोतीत्यर्थः।।४१५।। व्यतिरेकमुखेनोक्तमन्वयमुखेनाह—पुण्यात्मेति। जन्तौ जन्तौ सर्वोपाधिषु आत्मनः अखण्डात्मतत्त्वस्य।।४१६।।

मदवान् लगने वाले पर वस्तुतः उस मदहीन स्वप्रभ को अखण्डचिद्रूप जो तत्त्ववेत्ता का स्वरूप उस मुझ प्रत्यक् से अन्य कौन जान सकता है ! मुझसे जो अलग होगा वह संसारान्तर्वर्ती अनात्मा ही होगा जैसे घटादि। अतः मुझसे भिन्न जो मोहग्रस्त बुद्धि वह मुझ आत्मा को कैसे जानेगी ? (आत्मा तो बुद्धि का साक्षी है पर बुद्धि कभी आत्मा को प्रकाशित नहीं कर सकती क्योंकि जड है। आत्मा स्वप्रकाश है ही। बुद्धि को मोहग्रस्त इसलिये कहा कि मोह अर्थात् अज्ञान का ही वह कार्य होने से उससे व्याप्त है। किं च विवेक बुद्धिरूप होने से मोह भी बुद्धिगत होना संगत है।)।।४०९।।

अनित्य सब शरीरों में भ्रमतः विद्यमान किंतु वस्तुतः स्थूलादि सर्वविध शरीरों से रहित, व्यापक, पूर्ण आत्मा को जानकर बुद्धिमान् शोक नहीं करता।।४१०।। 'कर्ता हूँ' आदि अभिमान ही शोक है जो आत्मस्वरूप की ग़ैरजानकारी से होता है। स्वात्मतत्त्व के बोध से वह ग़ैरजानकारी पूरी तरह समाप्त हो गयी तो पुनः इस आत्मा को वह अभिमानरूप शोक होगा कैसे ! कारण के बिना कार्य कैसे होगा ।।४११।।

जो आत्मा व्यापक होने से महान् कहा गया है यह वेद पढ़ाना, वेद पढ़ना, बहुतेरे शास्त्र सुनना, अलग-अलग शास्त्रों से होने वाले विशिष्ट ज्ञान इत्यादि उपायों से प्राप्त नहीं होता। करोड़ों जन्मों तक भी ऐसे उपाय अपनाये जायें तो भी अद्वितीय आत्मा का अप्रतिबद्ध साक्षात्कार नहीं हो सकता। यह आत्मा स्वयं गुरु आदि रूप धर कर जिस अधिकारी के लिये अपना स्वरूप निरावृत कर देता है उसीको इस ईश्वर से अभिन्न स्वप्रकाश तत्त्व की प्राप्ति होती है। इस निरावरण के प्रभाव से ही यह सर्वसमर्थ आत्मा अपना जो आनंदात्मक शरीर है उसे अधिकारी के लिये अभिन्न रूप से अपरोक्ष बना देता है।।४१२-४।।

---

१. 'नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।।'२.२३

२. 'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।'२.२४।।

ब्रह्मक्षत्रादिकं विश्वमन्नं यस्य महात्मनः। मृत्युः सर्वहरस्तद्वत् शाकसूपादिवत् स्थितः।।
अन्यः क इत्थमात्मानं जानीयाद् यत्र स स्थितः।।४१७

स एव चेद् भवेदात्मा तस्य तादात्म्यबोधतः। जानीते स कथंचित्तं न परोऽत्र कथंचन।।४१८

विज्ञानोपायः

अयमात्माऽवगन्तव्य उपायेनाऽमुना सदा। तत्त्वंपदार्थौ वपुषि परिकल्प्यौ द्विधा सदा।।४१९

एकः कर्मफलं भुंक्ते भोजयत्यपरोऽपि तम्। पूर्वकर्मविपाकेन जातेऽस्मिन् हि शरीरके।।४२०

द्वितीयवल्ल्यन्त्यकण्डिकार्थमाह[1]—ब्रह्मेति द्वाभ्याम्। यस्य महात्मनो देवस्य तमःप्रधानमायाशबलस्य ब्रह्मक्षत्रोपलक्षितं सर्वं जगद् ओदनस्थानीयं भवति, सर्वसंहारको मृत्युः तु शाकसूपस्थानीयः, स देवो यत्र शुद्धे स्थितः तम् आत्मानम् इत्थं यथा मया यमेन ज्ञातस्तथा अन्यः को ज्ञातुं शक्नुयाद् इत्यर्थः।।४१७।। तज्ज्ञानस्य दुःशकत्वमेव स्फुटयति—स एवेति। तस्य अधिकारिणः स एव शबलाधिष्ठानभूतः शुद्धात्मैव आत्मा आत्मतया पदार्थशोधनदशायां ज्ञातः स्यात् स एव तं वाक्यार्थतया ज्ञातुं शक्तो न परः शुद्धशरीरत्रयात्मदृष्टिरित्यर्थः।।४१८।।

तृतीयवल्ल्यां प्रथमायाः[2] अर्थमाह—अयमात्मेति चतुर्भिः। आत्मनो विज्ञानप्रकारः अयं बोध्यः। 'अयं' कः? इत्यपेक्षायामाह—तत्त्वमित्यादि। तत्त्वंपदार्थौ देहे द्विधा वक्ष्यमाणद्वैविध्यशालिव्यापारवत्तया स्थितौ चिन्तनीयौ।।४१९।। तद्व्यापारद्वयं पिबत्पदेन भोक्तरि मुख्यतया भोजयितरि तूपचारेण वर्तमानेनोक्तं दर्शयति—एक इति। ययोः पदार्थयोर्मध्ये एकः त्वंपदार्थो देहेऽपूर्ववशाज्जाते सत्यवश्यभोक्तव्यत्वेन ऋतपदनिर्दिष्टं कर्मफलं भुंक्ते; अपरः तत्पदार्थस्त्वन्तर्यामित्वाद् भोजयति इति।।४२०।। उभाविति। कीदृशौ तौ ? बुद्धिरूप उत्कृष्टे स्थाने सह स्थितौ,

जो पापाचरण से निवृत्त नहीं हो चुका, मनोनियंत्रण से हीन है, जिसने समाधि का अभ्यास कर नहीं रखा है एवं समाधिफलरूप ऐश्वर्यादि से विरक्त नहीं है वह इस आत्मा को अपरोक्ष साक्षात्कार द्वारा पा नहीं सकता। (साक्षात्कार ही नहीं पा सकता तो आत्मा को क्या पायेगा !)।।४१५।। जो पुण्य के आचरण के शील वाला है, क्रोध पर नियंत्रण पा चुका है, हर क्षण यह विचार रखता है कि अखण्ड आत्मतत्त्व ही सब उपाधियों में प्रतीयमान है, विषय जिस पर आकर्षण या विकर्षण रूप प्रभाव नहीं डाल पाते, वह 'मैं व्यापक संवित् हूँ' इस अनुभव से आत्मदर्शन प्राप्त कर लेता है।।४१६।। ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि सारा विश्व जिस व्यापक चेतन के लिये भात (चावल) की जगह है, सभी का संहार करने वाली मृत्यु साग-दाल की जगह है, वह व्यापक चेतन अर्थात् ईश्वर भी जिस शुद्ध में स्थित है उसे जैसे मैंने (यमराज ने) जाना वैसे और कौन जान सकता है ? जिस विवेकी ने तत्त्वं पदार्थों के शोधन के अवसर पर उस ईश्वर के अधिष्ठानभूत शुद्ध को ही आत्मरूप से समझ लिया है वही वाक्य के अर्थभूत उसी अखण्ड तत्त्व को समझ सकता है, जिसने पदार्थशोधन पूर्ण नहीं किया वह किसी तरह वाक्यार्थ नहीं जान सकता।।४१७-८।। (यम का कहना है कि मुझ जैसा साधक ही आत्मबोध पाता है। किं च जो आत्मज्ञान पाता है वह मुझसे अन्य नहीं होता क्योंकि आत्मा एक ही है। पदार्थबोधशून्य को वाक्यार्थ का सही ज्ञान नहीं होता इसीलिये कहा 'किसी तरह नहीं जान सकता', ग़लत तरह तो जानता है पर ग़लत ज्ञान अज्ञान होता है न कि ज्ञान, यह भाव है।)

पूर्वोक्त व्यापक चित्तत्त्व को हमेशा इस उपाय से समझना चाहिये : तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ का चिंतन यों करना चाहिये कि वे दो तरह के व्यापारों वाले हुए शरीर में स्थित हैं। पूर्व के कर्मों के फलरूप से उत्पन्न इस कुत्सित शरीर में त्वंपदार्थ (जीव) कर्म का फल भोगता है और तत्पदार्थ (ईश्वर) उसे भुगवाता है क्योंकि अन्तर्यामी है।।४१९-२०।।

---

१. 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः।।'२.२५।।
२. 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।।'३.१।।

उभावपि च बुद्धिस्थावुत्कृष्टस्थानकप्रियौ। विलक्षणस्वभावौ च भोक्तृताऽभोक्तृतादिगौ। ।४२१
वेदवादरतैः प्रोक्तौ नित्यं पञ्चाऽग्निधारिभिः। त्रिवेलं नाचिकेताग्निर्यैश्चितोऽत्र महात्मभिः। ।४२२
प्रायस्ते ब्रह्मविज्ञानरहिता भेदमेव हि। वदन्ति जीवपरयोर्यावद्गुरुसमागमः। ।४२३
नाचिकेतममुं चित्वा पूर्वं शुद्धधियो हि ते। प्रणवेनात्मनः पश्चात् कृत्वोपासनमैक्यतः। ।४२४
तत्पदार्थश्च यः सेतुरीजानानां महात्मनाम्। संसारसागरस्याऽस्य परं पारं तितीर्षताम्।।
अभयं ब्रह्म यान्त्येतत् सदा कल्पनयाऽनया। ।४२५
भोक्तारं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च। बुद्धिं तु सारथिं तद्वन्मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयांश्चैव विषयानश्वभूमिकाः। ।४२६

भोक्तृत्वाऽभोक्तृत्वसर्वज्ञत्वाऽसर्वज्ञत्वादिविरुद्धधर्मशालिनौ चेत्यर्थः। ।४२१।। तयोः स्वरूपं तु दक्षिणाग्निगार्हपत्याऽऽहवनीयसभ्याऽऽवसथ्यसंज्ञानां पञ्चाग्नीनामुपासनेन, नाचिकेताग्नेः त्रिवारं चयनेन वा शुद्धान्तःकरणाः प्रतिपादयन्तीत्याह—वेदेति। त्रिवेलं— त्रिवारम्। ।४२२।।

ननु पञ्चाग्निवित्प्रभृतीनां ब्रह्मविज्ञानं न दृश्यते ? इति शङ्कां वारयन्त्यां द्वितीयाया[1] अर्थमाह—प्राय इति त्रिभिः। यद्यपि ते पञ्चाग्न्यादयः प्रायो ब्रह्मविज्ञानहीना जीवपरयोर्भेदमेव वदन्तो दृश्यन्ते तथापि तेषां तथाविधं वदनं तावदेव यावत् सद्गुरुणा समागमो—न जात—इति शेषः। तथा च ते सत्सङ्गं विना कामहता एव दृश्यन्त इति भावः। ।४२३।। लब्धसद्गुरुसमागमास्तु ते ब्रह्मभावमिदानीमपि यान्तीत्याह—नाचिकेतमिति। ते कर्मिणः सद्गुरुसङ्गतास्तु नाचिकेताख्याग्निचयनेन प्रणवोपासनानुष्ठानेन च शुद्धधियः सन्तः सदा इदानीमपि अभयं ब्रह्म यान्ति अनया वक्ष्यमाणकल्पनया। कीदृशं ब्रह्म ? तत्पदार्थरूपेण ईजानानां यागादिकारिणां संसारस्य परं पारं तितीर्षतां गन्तुमिच्छतां सेतुभूतमनुग्रहेण पारप्रापकमिति द्वयोरर्थः। ।४२४-५।।

'अनया' इत्युक्तां कल्पनां दर्शयंस्तृतीया-चतुर्थ्योरर्थमाह[2]—भोक्तारमिति द्वाभ्याम्। तत्र कर्मफलभोक्तृतयोक्तमात्मानं त्वंपदार्थं रथिनं रथेन संसारमोक्षयोर्गन्तारं जानीहि। तं रथं तु शरीरात्मकं जानीहि, यस्य रथस्य बुद्धिः सारथिस्थानीया, मनो रश्मिस्थानीयम्, इन्द्रियाणि अश्वस्थानीयानि, शब्दादयो विषयास्तु अश्वप्रचरणदेशस्थानीया इत्यर्थः। ।४२६।। यद्यपि बुद्धेर्विविक्तस्य शुद्धात्मनो भोक्तृत्वं गन्तृत्वं वा न सम्भवति तथापि इन्द्रियमनो-

वे दोनों बुद्धि में स्थित हैं, उन्हें उत्तम स्थान प्रिय है, उनके धर्म परस्पर विरुद्ध हैं जैसे भोक्तापन-अभोक्तापन, सर्वज्ञता-असर्वज्ञता आदि। ।४२१।। इन दोनों का प्रतिपादन उन महात्माओं द्वारा किया जाता है जो वेदों के तत्त्वार्थनिर्णय में सदा संलग्न रहते हैं, पाँच अग्नियाँ धारण करते हैं और तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन कर चुकते हैं। (पाँच अग्नियों का धारण अर्थात् प्रसिद्ध पंचाग्नि-उपासना अथवा अग्निहोत्री द्वारा विभिन्न कुण्डों में की जाने वाली अग्निसेवा।)। ।४२२।।

कर्मरत आस्तिक प्रायः व्यापक आत्मा के अनुभव वाले नहीं होते अतः जब तक उनकी सद्गुरु से मुलाकात नहीं होती तब तक वे जीव-ईश्वर का वास्तविक भेद है यही कहते हैं। ।४२३।। जब वे गुरु के निर्देशानुसार पहले इस नाचिकेताग्नि का चयन कर अपनी बुद्धि शुद्ध कर लेते हैं, फिर प्रणव (ॐ) के सहारे ईश्वर से अभिन्न रूप से आत्मा की उपासना कर लेते हैं, तब वे आगे बतायी जाने वाली कल्पना के अनुसार उस ब्रह्म को प्राप्त करते हैं जो वे वस्तुतः

१. 'यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्। अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि। ।३.२।।'
२. 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। ।३।। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः। ।'३.४।।

बुद्धेर्यद्यपि भिन्नः सन् भोक्ता नान्यः परात्मनः। तथापीन्द्रियबुद्ध्यादियोगादात्मैव कल्पितः।।
भोक्ता तद्योगनिर्मुक्तो गम्य एष परेश्वरः।।४२७
यान्त्येते परमात्मानं भोक्तृतां परिहाय हि। इन्द्रियाश्वान् विनिर्जित्य बुद्धिसारथिसंश्रयात्।।४२८
वैराग्यकवचं प्राप्तो यस्य स्याद् बुद्धिसारथिः। दृढधैर्येण मनसा प्रग्रहेणेन्द्रियाभिधान्।
वाजिनः स्ववशे कृत्वा परं याति न चाऽपरः।।४२९
रागबुद्धिस्तु योऽत्र स्याद् मनसा धैर्यवर्जितः। तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।।४३०
विरक्तो यस्तु लोकेऽस्मिन् मनसा धैर्यसंयुतः। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।।४३१

बुद्धिसम्बन्धरूपेण कल्पितश्चिदाभासाख्य आत्मा भोक्ता गन्ता च इत्युक्तः, शुद्धात्मा तु गन्तव्यत्वेनोक्त इत्याह—बुद्धेरिति। भिन्नो विविक्तः सन्नात्मा परमात्मनोऽन्यो भोक्ता च न भवति, तथापि इन्द्रियादियोगाद् भोक्ता कल्पितः। स एव च इन्द्रियादियोगहीनो गन्तव्यतयोक्त इत्यर्थः।।४२७।। उक्तकल्पनायाः फलमाह—यान्त्येत इति। एते शुद्धधियोऽधिकारिणो भोक्तृतारूपं पूर्वदेशं विहाय परमात्मभावरूपमुत्तरं देशं यान्ति। किं कृत्वा ? बुद्धिरूपसारथिना इन्द्रियरूपाश्वान् जित्वेति।।४२८।।

तत्र बुद्धिरूपसारथेः द्वौ गुणौ—गम्येतरदेशे रागहीनत्वं, विज्ञानाख्यं कौशलं च। तत्राद्यं गुणं प्रशंसन्त्योः पञ्चमीषष्ठ्योः[1] तात्पर्यार्थमाह—वैराग्येति। यस्य रथिनो बुद्धिरूपः सारथिः वैराग्यवान् भवति स रथी दृढेन बलवता मनोरूपप्रग्रहेण इन्द्रियात्मकवाजिनः सारथिद्वारा वशी कृत्य इष्टं परमात्मरूपं देशं याति।।४२९।। तयोरक्षरार्थमाह—रागेति द्वाभ्याम्। यो रथी रागशालित्वेनाऽपकृष्टं विज्ञानं बुद्धिर्यस्येति व्युत्पत्तिकेन विज्ञानवत्पदेन उक्तः स रागबुद्धिको धैर्यबलहीनमनस्कश्च तस्य इन्द्रियाश्वा अवश्या भवन्ति, यथा लोके दुष्टाश्वाः सारथेः इत्यर्थः।।४३०।। इतरस्य तु ते वश्या इत्याह—विरक्त इति। स्पष्टम्।।४३१।।

हमेशा ही हैं। जो महात्मा इस संसारसागर को पार कर परले किनारे पहुँचना चाहते हैं उनके लिये यह तत्पदार्थरूप अभय ब्रह्म सेतु जैसा है अर्थात् अनुग्रह द्वारा उन्हें पार पहुँचा देता है।।४२४-५।। (जिस कल्पना के अनुसार वे ब्रह्म पाते हैं वह इस प्रकार है—) कर्मफलों के भोक्ता अर्थात् त्वंपदार्थ को रथी समझो जो रथ से संसरण और मोक्ष पाता है। शरीर को रथ समझो। ऐसे ही बुद्धि को सारथि और मन को लगाम समझो। इन्द्रियों को घोड़े समझो तथा विषयों को वह स्थान समझो जहाँ वे घोड़े घूमते हैं।।४२६।।

यद्यपि जिसे भोक्ता बताया वह जब बुद्धि से अलग कर समझ लिया जाये तब वह परमात्मा से अन्य नहीं है तथापि इन्द्रिय-बुद्धि आदि के सम्बन्ध से आत्मा ही भोक्तारूप से कल्पित है और उस संबंध से छूटा यह वही परमेश्वर है जो मोक्षरूप से गन्तव्य है।।४२७।। शुद्धमति अधिकारी बुद्धिरूप सारथि द्वारा इन्द्रियरूप घोड़ों पर नियंत्रण कर भोक्तारूपता छोड़कर परमात्मरूपता प्राप्त कर लेते हैं।।४२८।। जिसके सारथि को (बुद्धि को) वैराग्यरूप कवच प्राप्त है वह स्थायी धैर्य वाले मन रूप लगाम से इंद्रियनामक घोड़ों को अपने नियंत्रण में कर परमात्मा को प्राप्त कर लेता है, जो वैराग्ययुक्त बुद्धि से रहित है वह परमात्मप्राप्ति नहीं कर सकता।।४२९।। व्यवहारभूमि में जिसकी बुद्धि रागयुक्त है और मन धैर्य से रहित है उसकी इंद्रियाँ वश में नहीं होती जैसे सदोष घोड़े सारथि के वश में नहीं होते।।४३०।। जो इस विषयभूमि में वैराग्यवान् होता है, धैर्ययुक्त मन वाला होता है उसीकी इंद्रियाँ वश में होती हैं जैसे सुलक्षण घोड़े सारथि के वश में रहते हैं।।४३१।। विवेकहीन बुद्धि वाला और ऐसे मन वाला जो अंतर्मुख नहीं है, हमेशा कलुषित होता है; वह परमपद नहीं पाता वरन् संसार में ही भटकता रहता है।।४३२।।

---

१. 'यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।।५।। यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।।'३.६।।

'यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः। न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति। ।४३२
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते। ।४३३
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः। सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।।'४३४
विरक्ता तत एवेयं बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी। मनश्च धैर्यसम्पन्नं नित्यं यत् सुखकामुकम्।।
पुंसो मोक्षाय कथितमन्यथा बन्धनाय च। ।४३५

परा गतिः

मोक्षः प्रत्यक्त्वमुदितं बहिष्ट्वं बन्धनं तथा। प्रत्यक्त्वं कारणे नित्यं बहिष्ट्वं कार्यसंश्रयम्। ।४३६
महाभूतात्मका एते शब्दाद्या विषयाः सदा। इन्द्रियाणां हि कथिताः कारणं सर्वदेहिनाम्। ।४३७

सप्तम्यष्टम्यौ तु बुद्धिसारथेः कौशलेन मनोरूपप्रग्रहान्तराकर्षणरूपेण प्रयुक्तं फलं व्यतिरेकेण अन्वयेन च दर्शयन्त्यौ पठति—यस्त्वविज्ञानेति। अपकृष्टं विवेकहीनं विज्ञानं यस्य स तथा; अमनस्कः अनन्तर्मुखमनाः, अत एव सदाऽशुचिः; तदीयस्नानादेः कुञ्जरस्नानसमत्वात्। एतादृशो विष्णुपदं नाप्नोति किन्तु संसारम् एवेत्यर्थः। ।४३२।। सविवेकधीस्तु तदाप्नोतीत्याह—यस्त्विति। मनःपदं निगृहीतमनःपरम्। यस्माद् यं प्राप्य भूयो न जायत इत्यर्थः। ।४३३।।

एवंविधसत्करणवता लभ्यं यत् तदेव परं पदमिति दर्शयन्तीं नवमीं पठति—विज्ञानेति। स बुद्धिसारथिको मनसा निगृहीतेन्द्रियश्च संसारसिन्धुमार्गात् पारं परं विष्णोः परमात्मनः पदं स्वरूपं यातीत्यर्थः। ।४३४।। फलितमाह—विरक्तेति। यतः सरागत्वे धैर्यराहित्ये चानर्थः प्रसिद्धः तत एव विरक्ता बुद्धिः सधैर्यं मनश्च एतद्द्वयं मोक्षसाधनं, विपरीतं बन्धसाधनं चेति। ।४३५।।

दशम्यादिद्वयमवतारयति—मोक्ष इति सप्तभिः। प्रत्यक्त्वम् आन्तरभावः तद्रूपो मोक्षो, बाह्यभावस्तु बन्धः। तत्र कार्यापेक्षया कारणे आन्तरे दृष्टिः मोक्ष इत्यर्थः। ।४३६।। तत्र परमकारणभाव एव मुख्यो मोक्ष इति दर्शयितुं कारणपरंपरामाह—महेत्यादिना। तत्र शब्दादयो विषयाः पञ्चभूतसारात्मकत्वात् पञ्चभूतरूपेण इन्द्रियाणां भौतिकत्वेन प्रसिद्धानां कारणतां यान्ति। ।४३७।। इन्द्रियाणीति। तानि इन्द्रियाणि तु मनोयोनीनि मनःकारणकानि

जो विवेकी (वैराग्यवान्), नियंत्रित मन वाला, सदा शुद्ध रहता है वह तो उस परमार्थपद को पा लेता है जिसे पाने के बाद फिर जन्म नहीं होता। (शुद्ध अर्थात् तत्त्वज्ञानयुक्त। ज्ञान को ही गीता में निरुपम पवित्र कहा है।)। ।४३३।। जो नर तो विवेकयुक्त बुद्धि को सारथि और धैर्यवान् मन को लगाम बनाता है वह संसारमार्ग के पार पहुँच जाता है जो परमात्मा का वास्तविक स्वरूप है। ।४३४।। क्योंकि प्रसिद्ध है कि राग और अधीरता होने पर अनर्थ होता है इसीलिये यह विज्ञानरूप बुद्धि और हमेशा सुखेच्छु मन तभी पुरुष के मोक्षरूप प्रयोजन को सिद्ध करते हैं जब ये क्रमशः वैराग्ययुक्त और धैर्यवान् होते हैं। ऐसे न हो पाने तक ये बंधन को ही कायम रखते हैं। ।४३५।।

जो कभी विषय नहीं हो सकता ऐसा स्फुरमाण व्यापक सत् मोक्ष कहा गया है। जो विषय बन सकता है वह सब बन्धन है। कारण में हमेशा प्रत्यक्ता और कार्य में बहिर्भाव होता है। (विषय न होकर स्फुरमाण को ही प्रत्यक् कहते हैं, विषय होने वाला प्रत्यक् से विपरीत अतः बाहरी कहलाता है। ग्रंथकार कह रहे हैं कि हर स्थल पर कार्य-कारणों में बहिः-अन्तरभाव होता है, कार्य बाह्य और कारण आंतर होता है अतः कारण पर दृष्टि एकाग्र होने पर व्यक्ति उस कार्य से छूट जाता है ! सोने पर दृष्टि रखे रहने से गहनों के बंधनों से छुटकारा मिल जाता है, गहनों के आग्रह निवृत्त हो जाते हैं। अन्यत्र भी बताया है 'जिस-जिस से निवृत्त होता है उस-उस से विमुक्त हो जाता है। सबसे निवृत्त होने

इन्द्रियाणि तथैतानि विषयग्रहणान्यपि। मनोयोनीनि सततं व्यापारयति तद्यतः।।४३८
सुखं मे भवतात् तद्वद् दुःखं मा भूदितीदृशम्। मनो निश्चयविज्ञानरूपां बुद्धिमपेक्षते।।४३९
बुद्धिर्हिरण्यगर्भस्य बुद्धिं सर्वस्य कारणम्। अपेक्षते महत्तत्त्वं साऽपि लिंगशरीरकम्।।४४०
अविद्याप्रभवं नित्यमव्यक्तं स्थूलदेहतः। विलक्षणं हि साविद्यं माया च पुरुषं परम्।।४४१
पुरुषं स्वात्मनो नैव कदाप्यन्यमपेक्षते। यतस्ततः परः प्राहुरेनां हेतुपरम्पराम्।।४४२

यतः तद् मन एव तानि व्यापारे प्रवर्तयति इति प्रसिद्धम्। तथा च समुद्रो लहरीणामिव मन इन्द्रियाणां कारणमिति भावः। कीदृशानीन्द्रियाणि ? विषयग्रहणानि भौतिकत्वेन सजातीयविषयाणां ग्राहकाणि विषयरूपाणीति यावत्। तथा च यथा भूतरूपेणार्था इन्द्रियेभ्यः परा उक्तास्तथेन्द्रियरूपापन्नेभ्यः अर्थेभ्यो मनः परमुच्यत इत्याशयः।।४३८।। तस्य च मनस इच्छारूपस्य निश्चयात्मिका बुद्धिः कारणमित्याह—सुखमिति। भवतात् जायेत। इतीदृशम् इत्याकारम्। अपेक्षत उत्पत्त्यै—इति शेषः।।४३९।। व्यष्टिबुद्धीनां कारणं तु महत्तत्त्वाख्या समष्टिरूपा हिरण्यगर्भबुद्धिरित्याह—बुद्धिरिति। बुद्धिः व्यष्टिरूपा तु हिरण्यगर्भबुद्धिं सर्वस्य स्थूलप्रपंचव्यवहारस्य निमित्तभूतां महत्तत्त्वाख्यामुत्पत्तयेऽपेक्षत इत्यर्थः। सा हिरण्यगर्भबुद्धिरपि अव्यक्तपदोक्तं सूक्ष्मशरीरं स्वोपादानमायाख्याऽविद्यासहितमपेक्षते। कीदृशम् ? समायं सूक्ष्मं स्थूलविलक्षणत्वाद् अव्यक्तपदेनोक्तम्। सा माया तु आश्रयविषयलाभाय चिद्रूपं परं पुरुषम् अपेक्षते। इति द्वयोरर्थः।।४४०-१।। पुरुष इति। स च पुरुषः स्वसिद्धयेऽन्यं यतो नापेक्षते ततः स मुख्यः परो भवति, तद्बोधनायैव तु एनाम् उक्तरूपां कारणपरम्परां प्राहुरिति।।४४२।।

से थोड़ा भी दुःख महसूस नहीं करता।' यद्यपि यह सापेक्ष मोक्ष ही है तथापि व्यवहारभूमि में त्यक्तकर्मा विरक्त को सन्तोष का अभ्यास करने के लिये अच्छा उपाय है कि कायपिक्षया कारण पर दृष्टि एकाग्र करे। मूल कारण ईश्वर होने से हर वस्तु जब कारण बनती है तब उसमें ईश्वरभाव ही प्रकट होता है, इस अभिप्राय से हर कारण को प्रत्यक् समझना चाहिये। वही पुनः अपने कारण की अपेक्षा बाह्य भी बना ही रहता है। मूल कारण की अपेक्षा सभी कुछ बाह्य है। मूल कारण अतः निरपेक्ष प्रत्यक् है, वह कभी बाह्य नहीं होता। अन्य सब कारण-कार्य दोनों होते हैं अतः प्रत्यक् व बाह्य दोनों बने रहते हैं। इसलिये मूल कारण सच्चिदानंद को समझ लेने से सारा ही बंधन समाप्त हो जाता है।)।।४३६।। महाभूतरूप ये शब्दादि विषय सब देहधारियों की इंद्रियों के हमेशा कारण ही कहे जाते हैं (क्योंकि वेदांतसिद्धांत इंद्रियों को भौतिक मानता है)।।४३७।। ऐसे ही ये विषयग्राहक इन्द्रियाँ भी ऐसी हैं जिनका कारण है मन क्योंकि वह इन्हें हमेशा व्यापार में लगाता है। (जैसे समुद्र लहरों का ऐसे मन इंद्रियों का कारण है। व्याख्येय श्रुति में इन्द्रियों से अर्थों (विषयों) को 'पर' (प्रत्यक्) कहा है क्योंकि महाभूतात्मक होने से वे इन्द्रियों के प्रति कारण हैं। मन को जो इंद्रियों से 'पर' कहा वह इसलिये कि मन इंद्रिय बने भूतों को प्रेरित करता है। अतः महाभूतात्मकता अर्थ-इंद्रिय-मन में समान होने पर भी कार्यकारणता का कथन संगत है।)।।४३८।। 'मुझे सुख हो, दुःख न हो' ऐसा मन अपनी उत्पत्ति के लिये निश्चयात्मक अनुभवरूप बुद्धि की अपेक्षा रखता है। (मन इच्छादिरूप है और इच्छा ज्ञानानुसार होती है यह अर्थ है।)।।४३९।।

व्यष्टि बुद्धि अपेक्षा रखती है हिरण्यगर्भ-बुद्धि की जो स्थूल प्रपंच के व्यवहार की निमित्त है एवं महत्तत्त्व कही जाती है। हिरण्यगर्भ की बुद्धि अपेक्षा रखती है सूक्ष्म शरीर और उसके कारण की अर्थात् अविद्या की। सूक्ष्मदेह को अव्यक्त भी कहते हैं और वह स्थूल देह से भिन्न धर्मों वाला है (क्योंकि स्थूल ऐंद्रिय है जबकि सूक्ष्म अतींद्रिय है)। सूक्ष्म की कारणभूत माया (अविद्या) भी अपने आश्रय-विषय रूप से चिद्रूप परम पुरुष की अपेक्षा रखती है।।४४०-१।। क्योंकि चिद्रूप पुरुष अपनी स्फूर्ति के लिये किसी की अपेक्षा कभी नहीं रखता इसलिये वही मुख्य परम है। उसीको समझाने के लिये यह कारणों की शृंखला बतायी है।।४४२।। इन्द्रियों से परे हैं अर्थ ('परे' अर्थात् उनके कारणभूत हैं)। अर्थों से भी परे मन है। मन से परे बुद्धि और उससे परे महानात्मा अर्थात् समष्टि बुद्धि है। उस महत्तत्त्व से अव्यक्त

‘इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।।४४३
महतः परमव्यक्तम् अव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः’।।४४४
इयमेव परा ज्ञेया नित्या दिक्कालरूपिणी। संवित् स्वयंप्रभा यस्या हेतोर्नास्ति परा गतिः।।४४५
इदमस्मात् परं चास्माद् इदमस्मात् परं तथा। पुरुषं नैव यात्येव सैषा हेतुपरम्परा।।४४६
पुरुषे कारणाभावाद् गतिरस्मान्न विद्यते। परा ततः पुमानुक्तः पण्डितैः परमा गतिः।।४४७
एष सर्वेषु भूतेषु गूढ आत्मा शरीरिणाम्। गुरूपदेशतः पूर्वं स्पष्टं नैव प्रतीयते।।
यथा सर्वेषु काष्ठेषु गूढोऽग्निर्मथनात् पुरा।।४४८
गुरूपदिष्टया सम्यक् तत्त्वमस्यादिजन्यया। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।।४४९

वर्णितकारणपरम्पराऽभिधायिकां दशम्यादिकामृग्द्वयीं पठति—इन्द्रियेभ्य इति। बुद्धेः व्यष्टिरूपायाः परः महान् समष्टिबुद्धिरूपः। कीदृश आत्मा ? कायपिक्षयाऽऽन्तरः। स्फुटमन्यत्।।४४३-४।। पुरुषस्य स्वरूपं दर्शयन् परत्वं विशदयति—इयमेवेति। इयं साक्षादपरोक्षा संवित् सर्वप्रमाणफलभूता[1] चित्। दिक्कालयोरपि कल्पनाऽधिष्ठानत्वाद् नित्या परा ज्ञेया, यस्याः संविदः परस्ताद् गतिर्नास्ति। कीदृश्याः संविदः ? हेतोः विश्वविवर्तोपादानभूतायाः।।४४५।। तस्याः परमकाष्ठात्वं स्फुटी करोति—इदमिति। इदमस्मात्परम् इदमस्मात्परम् इत्येवमाकारा एषा हेतूनां परम्परा धारा यतः पुरुषपर्यन्तैव[2] भवति ततः परमकाष्ठेति स उक्तः।।४४६।। परमगतित्वं स्फुटयति—पुरुष इति। पुरुषस्वरूपविषयककारणाभावाद्धेतोः अस्मात् पुरुषात् परा गतिर्न विद्यते पुरुष एव परमा गतिरित्युक्तः। तथा च व्यासः स्मरति—‘मुक्तानां परमा गतिः’ (विष्णुसहस्रनाम) इति।।४४७।।

अस्यात्मनोऽदर्शनदर्शनयोर्हेतू प्रदर्शयन्तीं द्वादशीं[3] व्याचष्टे—एष इति द्वाभ्याम्। एष आत्मा कार्यकारणाऽविद्याभ्यां गूढ आवृतः सर्वदेहान्तःस्थो गुरूपदेशात् पूर्वं दर्शनश्रवणादिलिङ्गैः किंचित् चिद्रूपेण ज्ञायमानोऽपि स्पष्टम् आनन्दादिरूपेण न भासते काष्ठगूढाग्निवदित्यर्थः।।४४८।। गुरूपदिष्टयेति। यदा तु गुरूपदिष्टमहावाक्यजन्यां प्राधान्येन अङ्गी कृतत्वाद् अग्र्यपदोक्तां दुर्लक्ष्यात्मगोचरत्वात् सूक्ष्मां ब्रह्मात्माकारवृत्तिं लभते कुशलमतिः तदाऽयमात्मा सम्यग्भासत इत्यर्थः।।४४९।।

परे है और अव्यक्त से परे पुरुष है। पुरुष से परे कुछ नहीं है। वही सीमा है, अन्तिम गन्तव्य है।।४४३-४।। सभी प्रमाणों की फलभूत साक्षात् अपरोक्ष चिति (ज्ञप्ति) को ही उक्त परम पुरुष समझना चाहिये। दिशा व समय की कल्पनाओं का अधिष्ठान होने से यह नित्य है। विश्व-विवर्त की उपादान इस संवित् (ज्ञप्ति) से परे कोई प्राप्तव्य नहीं है।।४४५।। ‘यह इससे परे, उससे भी यह परे’—इस तरह की क्रमिक कारणशृंखला क्योंकि पुरुष (पूर्ण चेतन) तक ही पहुँचती है, पुरुष को लाँघ उससे आगे नहीं जाती अर्थात् पुरुष का भी कोई कारण है यह आपादन नहीं करती, इसलिये पुरुष को ही चरम सीमा कहा है।।४४६।। पुरुष के स्वरूप में—उसकी सत्ता, स्फूर्ति, आनंदरूपता में—कोई कारण न होने से पुरुष से परे कोई गति (गन्तव्य, प्राप्तव्य, ज्ञातव्य) नहीं है अतः आत्मबुद्धि वालों ने पुरुष को परम गति कहा है।।४४७।।

जैसे हर काठ में छिपी आग रगड़ने से पूर्व स्पष्ट नहीं प्रतीत होती वैसे ही सद्गुरु से उपदेश मिलने से पहले शरीरधारियों का यह आत्मा कार्याविद्या एवं कारणाविद्या से छिपा रहता है, अपने व्यापक आदि रूप से स्पष्ट भासता नहीं।।४४८।। जिन्होंने अपना शील बना लिया है उस वास्तविकता को देखने का जो इन्द्रियों की गिरफ्त में आ नहीं सकती वे तो इस आत्मपुरुष को देख लेते हैं। सद्गुरु द्वारा भली भाँति समझाये ‘तत्त्वमसि’ आदि महावाक्य से जो सिर्फ उस पुरुष के बारे में निश्चय प्राप्त होता है उसीसे कुशलमति साधक पुरुषदर्शन कर लेते हैं।।४४९।।

---

१. ‘परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन सम्मता। संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः।।’ १५९ इति सम्बन्धवार्तिके व्यक्तम्।
२. ततः परस्य प्रश्ने मूर्धपातभयम् (बृ. ३.६) ! तत्रैव ३.८ तमेऽस्य विस्तृतपरिचयः।
३. ‘एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।।’३.१२।।

योगः

आत्मनो ज्ञानकामः सन्नेनं योगं समाचरेत्। वागादिमिन्द्रियगणं ज्ञानकर्मोभयात्मकम्।।
सुखार्थिनि मनस्यादौ नियच्छेद् दान्तिसंयुतः।।४५०
अश्वान् यथाऽतिदुर्दान्तान् बाह्यादाहृत्य भूस्थलात्। नियच्छेदश्वशालायामश्वानामभिरञ्जकः।।४५१
मनः स्तब्धं बलान्नित्यं प्रमादकरणोद्यतम्। महागजोपमं नित्यं बुद्ध्या चाङ्कुशरूपया।।
नियच्छेद् निश्चयात्मिक्या दृढवैराग्ययुक्तया।।४५२

आत्मज्ञानसाधनं योगमुपदिशन्त्यास्त्रयोदश्या[1] अर्थमुपबृंहयति—आत्मन इति चतुस्त्रिंशता श्लोकैः। आत्मसाक्षात्काराय अयं वक्ष्यमाणचतुरवस्थो योगो निरोधः कार्यः। तत्राद्यामवस्थामाह—वागादिमिति। इन्द्रियगणस्य सुखकामनया प्रेरके मनसि यन्नियमनं विलापनं दमसंज्ञं मनोमात्रव्यापारावशेषणमिति यावत्, सा प्रथमाऽवस्थाऽस्य योगस्येत्यर्थः। श्रुतौ मनसीति दीर्घश्छान्दसः।।४५०।। तत्र दृष्टान्त उच्यते—अश्वानिति। यथा अश्वानामभिरञ्जकः शिक्षकः बाह्याद् अरण्यादिरूपात् तत्प्रचरणदेशाद् आनीय अश्वान् मन्दुरायां बध्नीयात्; तत्र यथाऽश्वानां बाह्यव्यापारो निरुद्ध्यते शरीरसंचलनमात्रमवशिष्यते, तथा प्रकृते मनस इन्द्रियात्मना बहिर्व्यापारो निरुध्यते, आन्तरोऽवशिष्यत इति।।४५१।।

द्वितीयामवस्थामाह—मन इति। मनः तु इच्छात्मकं स्तब्धं सगर्वम् अत एव सदा बलात् प्रमादकरणे साहसे उद्यतं गजसमं तदङ्कुशस्थानीयया बुद्ध्या अङ्कुशदण्डस्थानीयवैराग्ययुतया नियच्छेद् निरुध्यात्, तद् निश्चयरूपायां बुद्धौ विलापयेदिति यावत्। कीदृशी सा बुद्धिः ? निश्चयात्मिकी—निश्चयलक्षण आत्मनि स्वरूपे भवा, अध्यात्मदित्वाट्ठञ्[2]।।४५२।।

आत्मा का ज्ञान चाहने वाला इस योग का अभ्यास करे : 'दम' नामक वृत्ति का आश्रयण कर वाणी आदि ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को पहले उस मन में विलीन करे जो सुखकामना से इन्द्रियों का प्रेरक बनता है। (इंद्रिय का मन में विलय अर्थात् सिर्फ मन की चेष्टा रहे, इंद्रिय की नहीं। यह पहला कदम है।)।।४५०।। घोड़ों का प्रशिक्षक जंगल आदि बाहर घूमने के स्थान से घोड़ों को लाकर घुड़साल में बाँधता है जहाँ उनका चलना-फिरना तो नहीं होता पर एक जगह खड़े रहकर शरीर को वे हिलाते-डुलाते रहते हैं। ऐसे ही इस प्रथम योगावस्था में मन की जो इंद्रियरूप से बाहरी हलचल है वह निरुद्ध हो जाती है, भीतरी चंचलता अभी बनी रहती है। ('इंद्रियरूप से' अर्थात् इंद्रिय से मिलकर। अथवा मन ही तत्तद्गोलकादि द्वारा तत्तत् ज्ञान या कर्म करने पर तत्तत् इंद्रिय कहलाता है। 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति' (बृ. १.५.३) आदि का अनुसंधान किया जा सकता है। अथवा मन इंद्रिय भी है और साधारण कारण भी; प्रथमावस्था में उसकी इंद्रियता प्रतिरुद्ध होती है, साधारणकारणरूपता नहीं—ऐसा समझना चाहिये।)।।४५१।।

योग की दूसरी अवस्था में मन को नियंत्रित करना है। इच्छाशील मन गर्वीला है अतः हमेशा बलपूर्वक उद्यत रहता है कि वह कोई-न-कोई प्रमाद करता रहे। बड़े हाथी की तरह के उस मन को हमेशा बुद्धिरूप अंकुश से नियंत्रित करना चाहिये। दृढ विरागता से उद्वेलित और आत्माकार ग्रहण की हुई बुद्धि में ही मन का विलापन करना चाहिये। (मनोव्यापार रोक कर बुद्धिप्रवाह चलाना चाहिये।)।।४५२।।

योग के तीसरे कदम में व्यष्टिरूप निश्चयात्मक बुद्धि का विलापन उस महत्तत्त्व में करना है जिससे हिरण्यगर्भ का निरूपण किया जाता है। तात्पर्य है कि विशेषों को विषय करने वाली बुद्धिवृत्तियाँ रोक कर '(मैं) हूँ'—इस

---

१. 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।'३.१३।।
२. 'अध्यात्मादेष्ठञिष्यते' इति 'अन्तःपूर्वपदाट्ठञ्' (४.३.६०) इत्यत्र वार्तिकम्। अध्यात्मादिराकृतिगणः। प्रकृतटीकायामतः ठगित्यत्र ठञिति पठितव्यम्।

बुद्धिं तां महतीशाख्ये ज्ञाने बुद्ध्यौघकारणे। नियच्छेत्तच्च विज्ञानमानन्दात्मनि केवले।।४५३

अत्राऽयं नियमे ज्ञेयः प्रकारः पण्डितैः सदा। कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति व्यापारं यं शुभाशुभम्।।
सुखार्थमेव तं सर्वं तथा ज्ञानेन्द्रियाण्यपि।।४५४

सुखं प्रयोजनं तत्र तज्ज्ञानं चाऽपि कारणम्। व्यवस्थितं तदुभयं मनोमात्रविजृम्भितम्।।४५५

सुखज्ञानात्मकस्याऽस्य मनसो निश्चयाज्जनिः। न निश्चयं विना यस्माद् विद्यते सुखकारणम्।।
स्मृत्यादि वा जनिं गच्छेत् सर्वेषामिह देहिनाम्।।४५६

तृतीयां चतुर्थीं चावस्थामाह—बुद्धिमिति। तां निश्चयरूपां व्यष्टिभूतां बुद्धिं महति महत्तत्त्वाख्य ईशाख्ये—ईशस्य हिरण्यगर्भस्य आख्या निरूपणं येन तथाभूते ज्ञाने, अस्मीत्याकारके सामान्यावगाहित्वाद् बुद्ध्यौघस्य विशेषावगाहिव्यष्टिबुद्धिजातस्य कारणे विलापयेत्; तत् सामान्याकार-समष्टिबुद्धिरूपं ज्ञानं तु परमात्मनि विलापयेदित्यर्थः।।४५६।।एवमागमविधयोक्तेऽर्थे सम्भावनायै अनुकूलां युक्तिं प्रपञ्चयति—अत्रेत्यादिना। नियमः प्रतिज्ञा—'नियमो यन्त्रणायां स्यात् प्रतिज्ञायां च संयमे' इति विश्वप्रकाशात्। प्रकारः सामान्यस्य भेदको विशेषः। तथा च अत्र उक्ते नियमे प्रतिज्ञासमे संक्षिप्तवाक्येऽयं वक्ष्यमाणः प्रकारो विशेषबोधकानुकूलयुक्तिरूपः पण्डितैः बोध्य इत्यर्थः।। तत्र इन्द्रियाणां मनसि नियमनाऽभिधानेऽयमभिप्रायः—इन्द्रियाणां द्विविधानां सुखकामनया प्रवृत्तिः इत्यविवादम्। तत्र यत् सुखरूपं प्रयोजनं तदिच्छेति यावत्; यच्च तदनुकूलं रमणीयत्वावगाहि स्मृतिरूपं ज्ञानं; तदुभयं मनोमात्रविलासत्वेन व्यवस्थितं प्रसिद्धम्। इति द्वयोरर्थः।।४५४-५।।

द्वितीयावस्थानुकूलां युक्तिमाह—सुखेति। सुखेच्छा-तदनुकूलज्ञानोभयात्मकस्य मनस उत्पत्तिः निश्चयाद् भवति यतः पूर्वानुभवरूपनिश्चयं संस्कारजनकं विना सुखकारणं लौकिकसुखाभिव्यञ्जिका इच्छा, तदनुकूलं स्मृत्यादिरूपं ज्ञानं वा जनिम् उत्पत्तिं न गच्छेद् इति प्रसिद्धमित्यर्थः।।४५६।। स च निश्चयो विशेषरूपः सामान्यरूपां हैरण्यगर्भीं बुद्धिमुत्पत्तयेऽपेक्षत इत्याह—स निश्चय इति स्पष्टम्।।४५७।। सामान्यरूपाया

सामान्यविषयक वृत्ति को ही कायम रखने का अभ्यास करना चाहिये। चौथे क़दम में इस सामान्याकार और बुद्धिसमष्टिरूप ज्ञान को व्यापक अद्वितीय आत्मा में विलीन करना चाहिये। (विशेषगोचर बुद्धियों की समष्टि, 'हूँ' यह सामान्य बुद्धि है क्योंकि यही तत्तद् विशेष की अपेक्षा से तत्तद् विशेषबुद्धि बनती है।)।।४५३।।

उक्त योगरूप नियम के बारे में विद्वानों को यह उपपत्ति हमेशा याद रखनी चाहिये : कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ जो भी शुभ या अशुभ चेष्टा करती हैं वह सब सुख के लिये ही करती हैं इसमें कोई विवाद नहीं हो सकता। यहाँ जो सुखरूप प्रयोजन अर्थात् इच्छा है और उस इच्छापूर्ति के लिये उपयोगी 'यह रमणीय है' ऐसा स्मृतिरूप ज्ञान है, ये दोनों (इच्छा व ज्ञान) मन के विलास ही हैं यह प्रसिद्ध है। इसीसे प्रथम योगावस्था में इन्द्रियों का मन में नियमन (विलय) कहा है।।४५४-५।। योग की द्वितीयावस्था में यह संगति है : सुखेच्छारूप एवं ज्ञानरूप मन की उत्पत्ति होती है निश्चय से क्योंकि लौकिक सुख को व्यक्त करने वाली इच्छा और उसे संभव करने वाला स्मृति आदि ज्ञान किसी भी देहधारी में तभी उत्पन्न होगा जब संस्कार हो और संस्कार तभी होगा जब पूर्व में अनुभवरूप निश्चय हो। (अनुभवपूर्वक ही स्मृति होती है और स्मृतविषयक ही इच्छा होती है। इच्छा केवल स्मृत ही नहीं स्मृतसमान या स्मृतजातीय को भी विषय कर सकती है, पर स्मृत के आधार पर ही प्रवृत्त होती है। उक्त संगति से मन को बुद्धि में विलीन करने के लिये कहा।)।।४५६।।

मन का कारण जो विशेषगोचर बुद्धिरूप निश्चय वह संभव नहीं हो सकता बिना उस सामान्यरूप बुद्धि के

स निश्चयो बुद्धिरूपो मनसः कारणं हि यः। हिरण्यगर्भजां बुद्धिं विना नैवाऽत्र सम्भवेत्।।४५७
तटाकादिषु नीराणि यथा न जलदं विना। धीमतां हि धियस्तद्वद् नेश्वरेच्छां विना क्वचित्।।४५८
इयमीश्वरसंस्थाना बुद्धिर्विश्वस्य कारणम्। जडाजडस्य कृत्स्नस्य यथा नः स्वप्नधीरिह।।४५९
शयानः पुरुषो यद्वद् बुद्धिमात्रविजृम्भणात्। महाभूतानि देहांश्च सृजतेऽत्र चतुर्विधान्।।
तेषु सर्वेषु सर्वत्र स्वयमेवावतिष्ठते।।४६०
एवं हिरण्यगर्भोऽपि भगवान् भूतभावनः। स्वात्मबुद्धिविलासेन सृजतीदं जडाजडम्।।४६१
सृष्ट्वा च विविधान् देहांश्चरस्थिरशरीरिणाम्। आस्ते तेषु च सर्वेषु निर्भेदो भिन्नवत् सदा।।४६२
अतस्तद्बुद्धिरेवैषा बुद्धिर्यैषाऽत्र योगिनः। कारणं सकलस्याऽस्य दुःखजालस्य संसृतौ।।४६३

हैरण्यगर्भबुद्धेर्विशेषधियां हेतुत्वे दृष्टान्तमाह—तटाकादिष्विति। यथा तटाकादिजलानां मेघजलं कारणं तथेश्वरस्य हिरण्यगर्भस्येच्छा कारणभूता बुद्धिर्व्यष्टिजीवधियां कारणमित्यर्थः।।४५८।। तस्याः कारणत्वमेव स्फुटयति—इयमिति। यथाऽस्माकं स्वप्नकालिकी धीः स्वप्नकालिकस्य जडाजडप्रपञ्चस्य हेतुः तथा इयम् ईश्वरे हिरण्यगर्भे स्थिता बुद्धिः विश्वस्य कारणमिति।।४५९।। स्वप्नदृष्टान्तं विशदयति—शयान इति। तेषु सृष्टेषु।।४६०।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति द्वाभ्याम्। निगदव्याख्यातं द्वयम्। निर्भेद इत्यत्र वस्तुत इति शेषः।।४६१-२।। फलितमाह—अत इति। अतो योगिनः योगकर्तुर्व्यष्टिजीवस्य एषा बुद्धिरत्र व्यवहारे दृश्यते सैषा तद्बुद्धिः तस्य हिरण्यगर्भस्य या बुद्धिस्तद्रूपैव, घटाकाशमठाकाशन्यायेन सामान्यविशेषयोरभेदात्। कीदृशी योगिनो व्यष्टिरूपा बुद्धिः ? सांसारिकसकलदुःखजालस्य कारणमित्यर्थः।।४६३।।

जो हिरण्यगर्भावस्था में पैदा होती है। जैसे तालाब आदि में जल तब तक नहीं हो सकता जब तक मेघों से उसे वह प्राप्त न हो ऐसे बुद्धिमानों को बुद्धि तब तक नहीं प्राप्त होती जब तक हिरण्यगर्भ उन्हें बुद्धि न प्रदान करे। (अर्थात् जैसे तालाब आदि के जल में कारण है मेघ का जल वैसे हिरण्यगर्भ की बुद्धि कारण है व्यष्टि जीवों की बुद्धियों के प्रति।)।।४५७-८।। जैसे हमारी स्वप्नकालिक बुद्धि सपने के प्रपंच की हेतु होती है वैसे यह हिरण्यगर्भ में स्थित बुद्धि जड-चेतन सारे विश्व की कारण है।।४५९।। सोता पुरुष स्वप्नावस्था में केवल बुद्धि के फैलाव से महाभूत, चारों तरह के शरीर आदि बना लेता है और उन उत्पादित वस्तुओं में खुद ही अवस्थित हो जाता है। इसी प्रकार भूतभावन भगवान् हिरण्यगर्भ भी अपनी बुद्धि के विलास से इस चर-अचर प्रपंच को उत्पन्न करते हैं। स्थावर-जंगम शरीरियों के विविध शरीर बनाकर वे भेदरहित हिरण्यगर्भ उन सब में यों विराजते हैं मानो अलग-अलग हों ! (प्रतिशरीर जीवभेद प्रतीत होता है जबकि एक ही हिरण्यगर्भ हमेशा वस्तुतः अभिन्न रहते हुए हर शरीर में एक साथ उपलब्ध हो रहा है जैसे सपने में हम अकेले होने पर भी स्वप्नदृष्ट अनेक शरीरों में अवस्थित हो जाते हैं।)।।४६०-२।। संसरणावस्था में इस सारे दुःखजाल का कारण है हमारी व्यष्टिबुद्धि। योगाभ्यासी व्यष्टिजीव की जो बुद्धि व्यवहारदशा में प्रसिद्ध है इसका स्वरूप है हिरण्यगर्भ की बुद्धि जैसे घटाकाश का स्वरूप होता है मठाकाश। यह इसलिये है क्योंकि विशेष का सामान्य से अभेद माना जाता है। अतः योग की तीसरी अवस्था में कहा व्यष्टिबुद्धि का समष्टिबुद्धि में लय संगत है।।४६३।।

हिरण्यगर्भ की उस बुद्धि का कारण है एक अकेला किन्तु अविद्यायुक्त परमात्मा जिसे महेश्वर, ईशान आदि कहते हैं। (क्योंकि साविद्य ब्रह्म अर्थात् ईश्वर उसका कारण है इसलिये हिरण्यगर्भबुद्धि का ईश्वर में विलय बताना

तस्याः कारणमीशानः परमात्मा महेश्वरः। साविद्यो ब्रह्मणो बुद्धेरेक एव निरञ्जनः।।४६४
अहं ब्रह्मेति विज्ञानादविद्याकञ्चुकक्षये। अधिदेवात्मनो बुद्धिरानन्दात्मनि केवले।।
विलीयते यतस्तत्र चिन्तनीया सदैव सा।।४६५
एवं चिन्तयतस्तस्य योगिनः शुद्धचेतसः। अहं ब्रह्मेति विज्ञानं भेदपर्वतभेदकम्।
अधिदैवाभिजातस्य जायते पुण्यपुञ्जतः।।४६६
जाते तस्मिन्नविद्यायाः क्षयो भवति सर्वथा। अविद्यायाः क्षये न स्याद् ब्रह्मधीः कारणं विना।।४६७
ब्रह्मणो बुद्धिनाशेऽथ न भवेद्योगिनोऽपि धीः। बुद्धेरभावे न भवेद् मनश्च तदभावतः।।४६८

तुरीययोगावस्थायामुपपत्तिमाह—तस्या इति द्वाभ्याम्। तस्या हिरण्यगर्भबुद्धेः अविद्याख्यमायोपाधिकब्रह्मोपादानकत्वात् तत्र लय उचित इति भावः।।४६४।। सर्वविशेषबुद्धिविशिष्टसमष्टिबुद्धेर्निरासे निमित्तं तु ब्रह्मास्मीति ज्ञानमेवेत्याह—अहमिति। कञ्चुकमूतत्वग्विशिष्टानामेव व्रीहीणां बीजत्वं न कञ्चुकहीनानाम्, तथाऽऽत्मनो बीजत्वप्रयोजकस्य अविद्यालक्षण कञ्चुकस्य महावाक्यजज्ञानेन क्षये सति अधिदेवात्मनो हिरण्यगर्भस्य बुद्धिः केवलात्मनि लीयते। अत आत्मनः तल्लयस्थानत्वात् सा समष्टिबुद्धिः तत्र आत्माऽधिकरणकत्वेन चिन्तनीया ध्यातव्येत्यर्थः।।४६५।।

तथा चिन्तनं हि निदिध्यासनत्वेन ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुरित्याह—एवमिति। एवं समष्टिबुद्धिः शबलात्मोपादानिकेत्याकारां चिन्तां कुर्वतः तस्य योगिनः पुण्यपरिपाकात् प्रतिबन्धहीनस्य भेदहरं ज्ञानं जायते। कीदृशस्य योगिनः ? अधिदैवाभिजातस्य व्यष्ट्यभिमानं त्यक्त्वा समष्टिरूपे बुधस्य कुशलस्य इत्यर्थः। 'अभिजातः स्मृतो न्याय्ये कुलीनप्राप्तरूपयोः' इति विश्वः। 'प्राप्तरूपो बुधे रम्ये' इति च। समष्टिदृष्टिरूपोपासनानामत एव ब्रह्मसाक्षात्काराङ्गत्वम् इति भावः।।४६६।।

एवंविधयोगस्य परमपुरुषार्थप्रापकत्वं दर्शयति—जाता इति त्रिभिः। तस्मिन् ब्रह्मविज्ञाने जाते सति अविद्याया अभावः, ततश्च ब्रह्मधीः अस्मीत्याकारा समष्टिबुद्धिः क्षीयते, कारणस्य अविद्यात्मकस्य अभावात्।।४६७।। ब्रह्मण इति। ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य या बुद्धिः समष्टिरूपा तस्या नाशे सति योगिनो बुद्धिः व्यष्टिरूपाऽपि नश्यति। ततश्च मन इच्छाद्यात्मकं न प्रवर्तते। मनःप्रवृत्त्यभावे त्विन्द्रियव्यापाराऽभावः। ततो दुःखाभावः। इति युक्तियुक्त है।)।।४६४।। सभी विशेष बुद्धियाँ जिसकी अवस्थाएँ हैं उस समष्टि बुद्धि का निरास हो इसमें निमित्त बनता है 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अनुभव। इस अनुभव से अविद्यारूप आवरण क्षीण हो जाने पर हिरण्यगर्भ की बुद्धि अद्वय आत्मा में विलीन हो जाती है। क्योंकि आत्मा ही उसके विलय के योग्य स्थान है इसलिये यही ध्यान करना चाहिये कि वह समष्टि बुद्धि आत्मा पर अधिष्ठित है।।४६५।।

यह चिंतन निदिध्यासन का तरीका है। 'समष्टि बुद्धि का उपादान समाय आत्मा है' यह विचार करने वाले शुद्धचेता योगी को 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अनुभव हो जाता है जो भेदरूप पहाड़ को फोड़ डालता है। पुण्यसमूह के परिपाकवश जिसने व्यष्टि में अभिमान छोड़कर समष्टि से तादात्म्य कर लिया है उसी योगी को यह फलरूप अनुभव होता है। (उपासनाक्रमानुसार व्याष्टिभाव छोड़कर समष्टिभाव में स्थित होने के बाद समष्टि का कारण से अभेद समझा जाता है। विवेकक्रम में इसका स्थान पदार्थशोधन लेता है। व्यष्टिअभिमान तो दोनों क्रमों में छोड़ना अनिवार्य है। तत्पदार्थ का भी शोधन करने से यहाँ समष्टिअभिमान नहीं चाहिये यह दोनों क्रमों में भेद है।)।।४६६।।

प्रदर्शित योग परम पुरुषार्थ दिला देता है : वह ब्रह्मानुभव उत्पन्न हो जाने पर अविद्या हर तरह से नष्ट हो जाती है। अविद्या हटने पर 'हूँ' ऐसी समष्टि बुद्धि नहीं हो पाती क्योंकि उसका कारण अविद्या हट चुकी है।।४६७।। उस समष्टि बुद्धि का नाश होने पर योगाभ्यासी की व्यष्टि रूप बुद्धि भी रह नहीं जाती। बुद्धि के बिना इच्छारूप मन

व्यापारा इन्द्रियाणां न भवेयुर्दुःखहेतवः। तदभावादयं दुःखं नाऽणुमात्रं च गच्छति।।४६९

किन्तु नित्यं स्वयंभातमानन्दात्मानमद्वयम्। अवाङ्मनसगम्यं तमाश्चर्यः कुशलो व्रजेत्।।४७०

अहो मायाबलं चित्रमेकस्मिन् भेदवर्जिते। न लीयते लीयते च स्वयमेका जगज्जनिः।।४७१

उत्पन्नं यस्य विज्ञानमहं ब्रह्मेति केवलम्। तं प्रत्यदर्शनं याति नाऽपरान् प्रति याति सा।।४७२

एकमेव यथा नेत्रं वामं पश्यति नेतरत्। स्थानभेदात्तथैवात्मा सर्वभेदविवर्जितः।।४७३

द्वयोरर्थः।।४६८-९।। ततश्च ब्रह्मभावेनाऽवतिष्ठत इत्याह—किन्त्विति। किन्तु तम् आत्मानं व्रजेत् यत्प्राप्त्या कुशलः चरमदेह आश्चर्य इति चोच्यते। इति।।४७०।।

ननु एवंविधयोगेन सर्वं प्रपञ्चं विलाप्य एकस्मिन् मुक्ते सति अयोगिनामितरेषां संसारोपलब्धिः कथम्? इति शङ्कां मायाया दुर्घटतास्वभावमादाय परिहरति—अहो! इति। मायाया बलं प्रभाव आश्चर्यं यद् एकाऽपि माया जगज्जनिः जगतो हेतुभूता एकस्मिन् काले लयाऽलयव्यवहारयोग्या भवतीति।।४७१।। यौगपद्येन लयालयौ योग्ययोगिनौ प्रति मायायाः स्फुटयति—उत्पन्नमिति। तदुक्तं पतञ्जलिना 'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वाद्' (२.२२) इति।।४७२।। ननु पातञ्जलानामात्मभेदाभ्युपगन्तॄणां मत उक्तव्यवस्थोपपत्तावपि सिद्धान्त एकात्मत्वे कथम् इयमुपपद्येतेति चेद्? न, उपाधिभूतान्तःकरणभेदेन दृष्टस्य व्यवहारस्य अपर्यनुयोज्यत्वाद् इति दर्शयितुं दृष्टान्तमाह—एकमिति। एकम् इत्यावर्तते। तथा च यथा गोलकद्वये एकम् अपि चक्षुरिन्द्रियम् एकं दक्षिणगोलकावच्छिन्नमेव सद् वामं सुन्दरं यथा भवति तथा पश्यति, नेतरद् वामगोलकावच्छिन्नम्, तथा एकोऽपि आत्मा योग्याख्यो योगिशरीरावच्छिन्न एतां सविलासां मायां न पश्यति, अयोगिशरीरावच्छिन्नस्तु तां पश्यति। इति स्थानपदोक्तोपाधिभेदाद् अस्मन्मतेऽपि उपपन्नमिति शेषः। या च—साकल्यतो माया न लीयते, मूढैरुपलभ्यमानत्वाद्;

नहीं होता, उसके बिना इंद्रियों के व्यापार नहीं होते जो दुःख ही देते हैं। उन व्यापारों के न होने से फिर साधक को किंचिद् भी दुःख नहीं होता। (एवं च दुःख, इंद्रिय व्यापार, मन (इच्छा), बुद्धि (विशेष ज्ञान), महत् (सामान्य-ज्ञान) और अज्ञान—इनमें अगले-अगले के हटने से पिछलों की संभावना मिटती जाती है यह समझना चाहिये। तार्किकों के 'दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञान' (न्या. सू. १.१.२) की जगह औपनिषदों का यह क्रम जानना चाहिये।)।।४६८-९।। वह साधक निर्दुःख ही नहीं होता वरन् सनातन स्वप्रकाश व्यापक प्रत्यक् अभिन्न तथा मन-वाणी से अतीत आनंद ब्रह्म को पा लेता है जिसकी प्राप्ति से मुक्तपुरुष 'कुशल' एवं 'आश्चर्य' कहा जाता है। (कठिन कार्य संपन्न करना कुशलता और नामुमकिन कार्य संपन्न करना आश्चर्य है।)।।४७०।।

उक्त योग से सारे प्रपंच का विलापन कर योगी के मुक्त होने पर अयोगियों को संसार कैसे उपलब्ध हो रहा है?—यह प्रश्न व्यर्थ है क्योंकि माया का प्रभाव आश्चर्यमय है! भेदरहित एक ही आत्मा में जगद्धेतुभूत स्वयं भी अकेली यह माया एक ही समय में लीन नहीं भी है और लीन है भी! (आत्मा और माया दोनों एक-एक ही हैं फिर भी बद्ध व मुक्त दोनों का व्यवहार संपन्न हो रहा है यह आश्चर्य है।)।।४७१।।

जिसे अनुभव हो गया कि 'मैं केवल ब्रह्म हूँ' उसे यह माया नहीं दीखती लेकिन जिन्हें उक्त अनुभव नहीं हुआ उन्हें दीखती रहती है।।४७२।। जैसे एक ही चक्षुरिंद्रिय एक गोलक में अच्छा देखती है और रुग्ण गोलक में सही ढंग से नहीं देख पाती ऐसे ही उपाधिभेद से आत्मा भी अज्ञ-विज्ञ हो जाता है। आत्मा सभी भेदों से रहित और एक ही है। योगिदेह से सीमित हुआ वह कार्यसमेत अविद्या का कोई अनुभव नहीं करता जबकि अयोगिदेह से सीमित हुआ वही कार्यसमेत अविद्या का अनुभव करता रहता है। क्योंकि माया का स्वभाव ही दुर्घट है इसलिये यह प्रश्न नहीं उठा सकते कि 'विवेकी की दृष्टि से विलीन होने पर भी मूढों को उपलब्ध होने से माया पूर्णतः निवृत्त नहीं होती'। पूर्णतः निवृत्त होने पर भी प्रतीत होते रखना—यही एक दुर्घटता हो ऐसा नहीं, अन्य भी बातें हैं जिन्हें तर्क से समर्थित नहीं

एक एव च योग्याख्यो नाऽविद्यां परिपश्यति। पश्यत्येतामयोग्याख्यः स्थानभेदान्न लीयते।।
माया साकल्यतश्चाऽपि सहते न निरूपणम्।।४७४
एक एव स्वयं ज्योतिरानन्दात्माऽगुणोऽद्वयः। मायाया आश्रयस्तद्वद्विषयश्च महेश्वरः।।
माययाऽपि च मायायाः सम्बन्धादिविवर्जितः[1]।।४७५
स्वयं च सदसत्त्वादिप्रकारैरपि वर्जिता। भावरूपा जडा हेतुः सदसद्वपुषस्तथा।।४७६
गामिनोऽपि च देहस्य हेतुशून्या च नश्यति। नष्टायामपि संसारो न नश्यति कदाचन।।४७७
इत्यादि दुर्घटत्वं स्याद् यस्मात् तस्मादियं सदा। मायाऽतिदुर्घटेत्येवं वदन्ति सकला जनाः।।४७८

विवेकिदृष्ट्या च निरूपणम् उपपत्तिं न सहते विलीयत इति यावद्—एषाऽनुपपत्तिः, सा मायाया दुर्घटस्वभावत्वेन समाधेयेति वक्ष्यमाणेन (श्लो. ४७८) सम्बन्धः। इति द्वयोरर्थः।।४७३-४।। मायाया दुर्घटत्वान्तराण्यपि दर्शयति—एक एव स्वयमिति त्रिभिः। एक एव प्रकाशरूप आत्माऽस्या मायाया आश्रयो विषयश्च भवतीत्यनुपपन्नं, लोके ज्ञानादीनामाश्रयविषयभेददर्शनात्। तथाऽद्वितीयोऽपि ईशितव्यसापेक्षो महेश्वरो भवति इत्यनुपपन्नम्। तथा मायासम्बन्धरहिते आत्मनि मायानिरूपितमाश्रयत्वादिकं मायया एव भवतीत्यनुपपन्नम् आत्माश्रया-दित्यर्थः।।४७५।। तथा सत्त्वाऽसत्त्वादिभिरनिर्वचनीयाऽपि भावरूपत्वेन प्रसिद्धा भवतीत्यनुपपन्नम्। तथा जडाऽपि स्थूलसूक्ष्मस्य जगतो हेतुः कर्त्रीत्यनुपपन्नम्। इत्याह—स्वयमिति। कर्तृत्वादिकं मायाप्रयुक्तत्वाद् मायाशिरसि एव निक्षिप्यते इति स्पष्टम् भाष्ये पैङ्गिरहस्यब्राह्मणवाक्यव्याख्यान इति भावः।।४७६।।गामिन इति। तथा मरणसुषुप्त्योः स्पष्टमनुपलभ्यमानाऽपि गामिन आगामिनो देहस्य बीजभूता वर्तत इत्यनुपपन्नम्। तथा हेतुशून्या अनादिरपि नश्यति इत्यनुपपन्नम्, अनादिभावस्य नाशाऽदर्शनात्। तथा विद्वदपेक्षया तन्नाशेऽपि इतरेषां संसारो न नश्यति इति।।४७७।। इत्यादीति। आदिपदेन अप्रामाणिक्या अपि बन्धमोक्षादिनानावैचित्र्यहेतुत्वग्रहः। यस्माद् एवंविधं दुर्घटत्वम् अविवादमतः तस्या दुर्घटत्वमादायैव सर्वाक्षेपान् परिहरन्ति सर्वे मायावादिन

किया जा सकता : एक ही स्वप्रकाश आनंदरूप निर्गुण अद्वैत शिव माया का आश्रय भी है और विषय भी—यह लोकदृष्टि से असंगत है क्योंकि लोक में ज्ञान-अज्ञान आदि के आश्राय-विषय पृथक्-पृथक् होते हैं। प्रशासित की अपेक्षा से प्रशासक हुआ करता है जबकि महेश्वर अद्वितीय रहते हुए प्रशास्ता है—यह भी असंगत है। आत्मा में माया के प्रति आश्रय-विषयता माया से ही होती है जबकि आत्मा माया के संबंध आदि से भी रहित है—यह महान् असंगति है। (जब आत्मा का माया से संबंध नहीं तब माया के निमित्त से उसमें आश्रयतादि कैसे ? किं च आश्रयादि सापेक्ष माया से ही यदि आश्रयादि संभव हैं तो आत्माश्रय नामक दोष स्फुट है। किंतु दुर्घटरूप होने से माया के संदर्भ में ये प्रश्न ही नहीं किये जा सकते।)।।४७३-५।।

खुद माया सत्त्व-असत्त्व आदि तरहों से निर्वचनीय बने बिना ही भावरूप शक्ति समझी जाती है—यही कैसे संगत है ! (सद्रूप और भावरूप में अंतर नहीं होना चाहिये लेकिन माया ने यह अंतर प्रसिद्ध करा लिया है कि वह सद्रूप तो नहीं पर भावरूप है ! आकाश-नीलिमा सत् तो नहीं मानी जाती पर भावरूप से ही प्रतीत होती है।) जड होकर भी माया स्थूल-सूक्ष्म जगत् की हेतु है यह भी तर्कविरुद्ध है (क्योंकि जड को कर्ता नहीं कह सकते। यद्यपि सामान्यतः ईश्वर को जगत्कर्ता कहते हैं तथापि कर्तृत्व माया में ही रहता है न कि आत्मा में और जड होने से माया में कर्तृत्व रह सकता नहीं।)।।४७६।। मरण और सुषुप्ति में स्पष्ट उपलब्ध न होने पर भी माया आगामी शरीर की बीज रूप है—यह तर्कगम्य कैसे ! यद्यपि अनादि भाव-पदार्थों का नाश लोकदृष्टि से माना नहीं जाता तथापि इस माया को अनादि भाव किंतु नश्वर स्वीकारा गया है, यह युक्तिविरुद्ध है। इतनी असंगतियों में यह भी एक है कि विद्वान्

१. सम्बन्धादीत्यादिनाश्रयत्वादि गृह्यते।

दुर्घटत्वमविद्याया भूषणं न तु दूषणम्। कामिनः कामिता यद्वत् क्रोधिनः क्रोधिता यथा।
भूषणं दुर्घटायाश्च दुर्घटत्वं तथैव च।।४७९
सुघटस्य भवेद् यर्हि दुर्घटत्वं तदैव तत्। गच्छेद् दूषणतां नैवमविद्या सुघटा यतः।।४८०
अहो धार्ष्ट्यमविद्याया यदियं स्वविवर्जिते। सर्वमानैर्विरुद्धा च तिष्ठत्येव न तिष्ठति।।४८१
तस्मादेतत्कृते दुःखे विरक्तः सततं पुमान्। महायत्नं प्रकुर्वीत सर्वदुःखप्रशान्तये।।४८२
हिरण्यगर्भगा बुद्धिः शान्त आत्मनि लीयते। यस्मिंस्तस्यात्मनो ज्ञाने यतध्वं पुरुषोत्तमाः।।४८३

इत्यर्थः।।४७८।। स्वभावभूतस्य दुर्घटत्वस्य भूषणतां सदृष्टान्तमाह—दुर्घटत्वमिति। यथा कामिनो गोपवधूटीदुकूलचोरस्य कामिता, क्रोधिनो रुद्रस्य क्रोधिता च भूषणम् एव तथा ध्यानेन सत्फलदत्वात्, तथा मायाया दुर्घटत्वम् अपीत्यर्थः।।४७९।। यत्र सुघटत्वमुपपन्नत्वलक्षणं स्वभावभूतं स्यात् तत्रैव क्वचिदंशे दृश्यमानं दुर्घटत्वं दूषणं, यथा सत्कविकृतिषु; माया तु स्वभावेन दुर्घटैवेत्याह—सुघटस्येति।।४८०।। अहो ! इति। धार्ष्ट्यं भूयो भूयोऽनादरेऽपि सम्मुखी भवनशीलत्वम्; तदविद्यायां यादृशं तादृशं नान्यत्र यत इयं सर्वप्रमाणैरावरणभञ्जनफलकैः शतशस्तिरस्क्रियमाणाऽपि स्वसंसर्गपराङ्मुखे चिदात्मनि तिष्ठत्येव इति तद्धार्ष्ट्यम् अद्भुतं च, वस्तुतोऽसत्त्वाद्, यत इयं तत्त्वविद्दृष्ट्या कालत्रयेऽपि न तिष्ठति इत्यर्थः।।४८१।।

फलितमाह—तस्मादिति। यस्मादियं माया तत्त्वज्ञानं विना न बिभेति दुःखयति च तस्माद् एतया कृते दुःखमये संसारे विरक्तेन सर्वदुःखापहारनिदानलाभाय यत्नः कार्य इत्यर्थः।।४८२।। किन्तत् सर्वदुःखापहारनिदानमिति चेत् ? समष्टिबुद्धिलयस्थानस्य आत्मनो ज्ञानमेवेत्याह—हिरण्येति। यत्र शान्त आत्मनि हैरण्यगर्भबुद्धिः लीयते तस्य ज्ञाने हे पुरुषोत्तमाः ! प्रयतध्वम् इति।।४८३।।

की अपेक्षा से माया का नाश होने पर भी अन्यों के लिये माया समेत सारा संसार बचा रह जाता है।।४७७।। ऐसे ही अन्य भी बहुतेरी दुर्घटताएँ माया के सन्दर्भ में हैं इसलिये सभी लोग हमेशा यही कहते हैं कि माया अत्यन्त दुर्घट है। (अर्थात् माया पर लगे किसी भी आक्षेप के परिहारार्थ प्रयास मूर्खता है क्योंकि माया है ही वह जो अनुपपन्न को प्रतीत कराती है ! दुर्घटशब्द से यही कहा कि जो घटना युक्तियुक्त नहीं उसे प्रतीत कराने वाली यह माया है।)।।४७८।। अविद्या के लिये दुर्घटता अलंकार है, न कि कोई दोष। जैसे कामुक की सकामता या क्रोधी की सक्रोधता उनके स्वरूप का निर्वाहक होने से उनका भूषण ही होती है, ऐसे ही दुर्घट माया के लिये दुर्घटता भूषण है। (यदि निष्काम हो जाये तो कामुक का स्वरूप ही नष्ट हो जायेगा; कामुक-समाज के वह लायक ही नहीं रहेगा; उस समाज में सकामता के आधिक्य से ही प्रशस्तता स्थापित होती है। क्रोधिसमाज में क्रोधाधिक्य का महत्त्व है। जब परमेश्वर भी काम-क्रोध आदि प्रकट करने वाली मूर्ति ग्रहण करते हैं—जैसे कृष्ण, दुर्वासा आदि—तब उनमें भी कामुकता आदि को दोष नहीं गुण ही माना जाता है। ऐसे ही 'माया अघटितघटनापटीयसी' होने से ही शोमान्वित है।)।।४७९।। जो स्वभाव से सुघट अर्थात् युक्तियुक्त है, उसमें यदि किसी अंश में दुर्घटता दीखे तो दोष होता है, पर अविद्या सुघट तो है नहीं कि उसमें दुर्घटता कोई दोष हो।।४८०।। सब प्रमाणों से विरुद्ध होते हुए यह उसी में रहती है जिसमें यह (माया) है नहीं—यह इसकी ढिठाई है। तत्त्वज्ञ की दृष्टि से तीनों कालों में जो है ही नहीं वही हमें सनातन-सी लग रही है यह अत्यन्त आश्चर्य है। (हिरण्यगर्भ से वामदेव, शुक आदि स्वगुरु पर्यन्त अनन्तों ब्रह्मनिष्ठों ने बार-बार इसका तिरस्कार किया फिर भी यह हमेशा सामने आती रहती है। कोई भी प्रमाण अज्ञान का साधक नहीं, क्योंकि प्रमाण तो अविद्या का निवर्तक हो जाता है ! फिर भी सभी को असंदिग्ध निश्चय है कि 'मैं अज्ञ हूँ' ! यह आश्चर्यजनक तथ्य है। प्रायः प्रामाणिक के बारे में सर्वसंमति स्थापित करना भी कठिन होता है और यह तो प्रमाणविरुद्ध होकर सर्वसंमत है !)।।४८१।।

हितोपदेशः

उत्तिष्ठत परित्यज्य जाड्यं मायाविनिर्मितम्। आत्मनो ब्रह्मरूपस्य यतो मोहः समागतः।।४८४
निद्रां त्यजत संयत्ता यतः पाटच्चरा इमे। कामादयोऽत्र सर्वस्वं हरन्ति भवतां सदा।।४८५
स्वप्नोऽयं भवतां भूरिभीतिदः समुपस्थितः। यतोऽहंममतावेशाद् दुःखमेतदुपस्थितम्।।४८६
गर्भस्थोऽहं तथा जातः कुमारोऽप्यथवा युवा। वृद्धोऽहं धनवांस्तद्वद् निर्धनोऽथ सुखी तथा।।४८७
दुःखी सदारो निर्दारश्चाऽपुत्रः पुत्रवानपि। देहेऽहन्तासमावेशाद् इत्याद्येषोऽधिगच्छति।।४८८
अहन्तातनयाऽप्येषा ममता भूरिदुःखदा। शत्रुर्ममाऽयं दुःसाध्यः सर्वदाऽप्यपकारकृत्।।४८९

तत्त्वविज्ञानोद्यमलक्षणं हितं मातृवदुपदिशन्त्याश्चतुर्दश्या[1] अर्थमुपबृंहयति—उत्तिष्ठतेति विंशतिश्लोकैः। हे अधिकारिणः! यूयं मायाप्रयुक्तं जाड्यं विवेकवैमुख्यं विहाय उत्तिष्ठत विवेकाभिमुखा भवत यतो जाड्याद् आत्मसम्बन्धी आत्मविषयक इति यावद्, मोहो विस्मृतिलक्षणः सम्यग् आगतः सन्ततो वर्तत इत्यर्थः।।४८४।। निद्रामिति। तथा निद्रां मूलाऽविद्यारूपां त्यजत, संयत्ताः सावधाना भवत यतः सुप्तानां भवतां सर्वस्वं धर्मज्ञानादिरूपं कामादिरूपाः पाटच्चराः चोरा हरन्ति।।४८५।। तस्यां निद्रायामेष विपर्ययसन्तानात्मकः स्वप्नः प्राप्तो यत्र अहन्ताममताभ्यां संसारदुःखं प्रतन्यत इत्याह—स्वप्नोऽयमिति।।४८६।। तत्राऽहन्ताघटितं विपर्ययम् अभिनयति—गर्भस्थ इति द्वाभ्याम्। अयं सत्यज्ञानानन्दलक्षणोऽपि अहन्ता-पिशाच्याविष्टो गर्भस्थत्वादिनाऽऽत्मानं मन्यते। इति द्वयोरर्थः।।४८७-८।। ममताघटितं तमाह—अहन्तेति। अहन्तायाः पुत्री ममताऽप्येषा एवमादिभेदैः सहस्रधा याति प्रसरति—इति तृतीयेनाऽभिसम्बन्धः। अयं मम शत्रुः दुःखेन साध्यो वशं नेयः सर्वदाऽपकारकरत्वात्। अयं मम सुहृद् उपकारकरत्वात्[2]।।४८९।। मित्रमिति। उपकारेण वशीकृतत्वं मित्रत्वम्।।४९०।। ममेति। इदं मम क्षेत्रं

क्योंकि यह माया युक्ति से समझी नहीं जा सकती और तत्त्वज्ञान छोड़कर और किसी से डरे बिना दुःख देती रहती है इसलिये पुरुषार्थी को चाहिये कि इस माया से रचे दुःखमय संसार से वैराग्यसंपन्न हो उस उपाय के लिये महान् प्रयत्न करे जिससे समस्त दुःख सकारण निवृत्त हो जाये।।४८२।। हे पुरुषोत्तमो! जिस शान्त आत्मा में हिरण्यगर्भ की बुद्धि लीन होती है उस आत्मा को जानने के लिये यत्न करो।।४८३।।

हे अधिकारियो! माया के कारण होने वाली विवेकविमुखता छोड़कर विवेक करो। उस विमुखता से ही ब्रह्मरूप आत्मा के बारे में नासमझ आज तक बनी रही है। (अनादि होने पर भी अविवेक रहने तक ही आवरण बचता है अतः आवरण—अज्ञान—की लगातार मौजूदगी में अविवेक का बड़ा योगदान है।)।।४८४।। क्योंकि आप लोगों के सोये रहने पर आपके धर्म-ज्ञानादि रूप सर्वस्व को कामना आदि चोर चुराते रहते हैं इसलिये मूलाऽविद्या रूप नींद छोड़कर सावधान हो जाइये। (तत्त्वाज्ञान निद्रा है। विवेक के बाद सप्रयास अखंडबोध पाकर इस निद्रा से जगना पड़ेगा। उसके बाद भी सावधानी चाहिये, ज्ञानदार्ढ्य के लिये यत्नशील रहना चाहिये। धर्मज्ञानादि को सर्वस्व कहा; धर्म से पुण्याभिव्यंग्य आनंद समझना चाहिये, 'आदि' से सत्ता समझनी चाहिये।)।।४८५।। आप लोगों को अत्यधिक भय देने वाला यह (संसार रूप) सपना आ रहा है। इसीमें अहन्ता-ममता के आवेश से यह दुःख उपलब्ध हो रहा है।।४८६।। शरीर में अहन्ता के आवेश से सत्यज्ञानानन्द रूप आत्मा यों समझता है—मैं गर्भस्थ (रहा) हूँ, पैदा हुआ, कुमार-जवान-बुड्ढा हूँ, धनी या निर्धन हूँ, सुखी-दुःखी हूँ, सपत्नीक या बिना पत्नी वाला हूँ, निपूता या सपूता हूँ आदि।।४८७-८।। अहन्ता की पुत्री यह ममता भी प्रभूत दुःख देती है। इस प्रकार के हज़ारों ढंगों से यह फैलती रहती है—यह मेरा शत्रु है, हमेशा मेरा अपकार करता है। इसे वश में लाना बहुत मुश्किल है।।४८९।। यह हमारा मित्र है क्योंकि नाना प्रकार से हमने

१. 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।'३.१४।। तत्र उत्तिष्ठत आत्मज्ञानाऽभिमुखा भवत, जाग्रत अज्ञाननिद्रायाः क्षयं कुरुत, वरान् आचार्यान् प्राप्य उपगम्य निबोधत आत्मानमवगच्छत—इति भाष्यार्थः।
२. मूले काचिदेतदर्था पङ्क्तिः स्यात्। शत्रुपदस्योपलक्षणार्थता वैवं विव्रियते।

मित्रमेष तथाऽस्माभिर्बहुधोपकृतो यतः। उदासीनोऽयमस्माकं कुरुते न प्रियाप्रियम्। ।४६०
मम क्षेत्रादिकं तद्वदसारं सारमेव वा। कामः क्रोधस्तथा लोभो भयं मोहोऽथ वा मम।
अस्ति नास्तीत्येवमादिमेदैर्याति सहस्रधा। ।४६१
मरणं च पुनर्देहग्रहणं पुनरेव तत्। गर्भवासादिकं भूयश्चक्रवत् परिवर्तते। ।४६२
एवमेषोऽतिदुःखानां कारणं स्वप्न आगतः। ततो जाग्रत विद्वांसो भयमेतदुपस्थितम्[1]। ।४६३
भवतां यदि निद्रेयं बहुस्वप्नप्रदर्शिका। स्वयमेव न यात्येतान् व्रजन्तु कुशलान् वरान्। ।४६४
विनिद्रास्ते महात्मानः सर्वभूतदयापराः। बोधयिष्यन्ति वः प्राप्तानुपायैर्विविधैरपि। ।४६५
नियमान् योगजनकान् योगजान् योगधीविदः। शिक्षयेयुः शनैस्तद्वद् भवतोऽप्युपदेशकाः। ।४६६

वस्त्रादिकं वा असारम् अस्थिरं, सारं स्थिरम्। मम कामोऽस्ति नास्ति वा इति सम्बन्धः। ।४६१। । उक्तयोरहन्ताममतयोः फलमाह—मरणमिति। आभ्यां पुनः पुनः मरणादिकं प्राप्नुवंश्चक्रवद् भ्रमतीत्यर्थः। ।४६२। । निगमयति—एवमिति। स्पष्टम्। ।४६३। । भवतामिति। यदि भवतामियं मूलाज्ञानरूपा निद्रा स्वयं वामदेवादिवद् न याति न दूरी भवति तदा वरपदोक्तान् कुशलान् प्रति उपदेशाय गच्छतेत्यर्थः। ।४६४। । ते च कुशलाः करुणया युष्मान् उपदेक्ष्यन्तीत्याह—विनिद्रा इति। ।४६५। । ते भवतां साक्षाद् विद्योपदेशेऽनधिकारमालोच्य चित्तशुद्धिहेतून् नानाविधसंयमानप्युपदेक्ष्यन्तीत्याह—नियमानिति। 'नियमो यन्त्रणायां स्यात् प्रतिज्ञायां च संयमे' इति विश्वः; 'त्रयमेकत्र संयम' इति योगसूत्रं (३.४) धारणाध्यानसमाधिरूपं त्रयमेकविषयकं संयमपदवाच्यमिति तदर्थः। तथा च ते महात्मानो योगविद्याविदो भवतः प्रति नियमान् संयमरूपान् अपि शिक्षयेयुः। कीदृशान् नियमान् ? योगजनकान् योगस्य आत्मसाक्षात्कारप्रयोजकसमाधेः आविर्भावहेतून्। पुनः कीदृशान् ? योगजान् योगाभ्यासादेव प्रदुर्भूतान्। तथा चोक्तं योगभाष्ये 'भूमेरस्या इयं भूमिरनन्तरा इत्यत्र योग एवोपाय' (यो. सू. ३.६) इति; संयमदेशो योगेनैव प्रदर्श्यत इति तदर्थः। ।४६६। ।

इसका उपकार किया है। यह हमारे प्रति तटस्थ है, हमारा प्रिय-अप्रिय कुछ नहीं करता। यह मेरा खेत आदि है। भूसा, खली आदि सारहीन है, ईख, तिल आदि सारवान् है। (या अपने स्थूल देह की अपेक्षा से दीर्घकालावस्थाई सारवान् और अल्पकालिक निःसार है।) मुझे कामना, गुस्सा, लालच, डर, अविवेक आदि हैं, या ये नहीं हैं।—यों अनंत तरह से ममता का विस्तार है। ।४६०-१। । इन अहन्ता-ममता के रहते मरना, फिर से शरीर लेना, फिर वही गर्भवास आदि पुनः पुनः चक्के की तरह चलता रहता है। ।४६२। । यों अति कष्टों का कारण यह सपना आप लोगों को आ रहा है। हे समझदारो ! क्योंकि यह भय मौजूद है इसलिये इस सपने से उठो। ।४६३। । आप लोगों की यह मूलाज्ञानरूप निद्रा अगर खुद ही नहीं दूर होती—जैसे वामदेव आदि की हुई थी—तो उपदेशकुशल ब्रह्मविद्वरिष्ठों के पास जाइये। ।४६४। । नींद से जग चुके वे महात्मा सब प्राणियों पर दया करने में लगे रहते हैं। उनके पास पहुँचे आप लोगों को वे नाना प्रकार के उपायों से समझायेंगे। ।४६५। । आपको उपदेश देने वाले वे योगविद्या के जानकार यदि समझेंगे कि आप में अभी विद्याग्रहण की सामर्थ्य नहीं है, तो चित्तशुद्धिरूप उस सामर्थ्य की प्राप्ति के लिये वे धीरे-धीरे आपको संयम सिखायेंगे जो संयम योग के अभ्यास से प्रकट होकर उस समाधि को संभव करता है जिससे आत्मा का साक्षात्कार सुलभ हो जाता है। (यद्यपि उत्तम साधक के लिये विवेकादि मार्ग ही मोक्ष के लिये पर्याप्त है, समाधि के अभ्यास की कमी उसके ज्ञान को कलंकित नहीं करती, यह भगवत्पूज्यपादों का स्पष्ट सिद्धान्त है, तथापि सामान्य साधक के लिये राजमार्ग यही है कि विवेकादिपूर्वक श्रवणादि के साथ योगाभ्यास से समाधि में साक्षिस्वरूप का अपरोक्ष भी करता

१. एतेन—यस्य न भयं, न तमुद्बोधयति श्रुतिरिति सूचितम्।

निबोधत महाभागा जाड्यनिद्रे विहाय हि। आनन्दात्मानमद्वैतं वरान् प्राप्य स्वयंप्रभम्।।
नचिकेता यथा मत्तः सम्प्राप्य विविधान् वरान्।।४६७

यद्यत्र भवतामात्मबोधो नैव भविष्यति। ततो विनष्टिर्महती भवतां देहदैष्यति।।४६८

अतिसूक्ष्मतमो मार्गो विषमश्चाधिकारिणः। ब्रह्मात्मबोधसंज्ञोऽयमप्रमत्ता भवन्त्वतः।।४६९

वरपदेनाभीष्टं देवतादितो लभ्यमुच्यत इति पक्षेऽपि वाक्यं धर्मराजमुखेन योजयति—निबोधतेति। यथा मां वरपाशेन बद्ध्वा नचिकेता आत्मानं बुद्धवांस्तथा अन्येऽपि हे अधिकारिणो ! यूयं गुरून् वरपाशैर्वशी कृत्य आत्मानं निबोधत इत्यर्थः।।४६७।। यद्यत्रेति। यदि अस्मिन्नधिकारिदेहे बोधो न भविष्यति तदा देहदा नानादेहप्रयोजिका विनष्टिः हानिः प्राप्स्यतीति।।४६८।। अतिसूक्ष्मेति। हे अधिकारिणः ! अयं ब्रह्मबोधरूपो मार्गः[1] सूक्ष्मतमो दुर्लक्ष्यतमो विषमः चलितुं दुःशकश्च भवति ततः सावधानैर्भवितव्यमित्यर्थः।।४६९।। तत्र विषमत्वे

रहे। सामान्य साधक विवेक पर इतना भरोसा नहीं कर पाता कि विपरीत प्रतीति से विचलित न हो; किं च प्रमाण-प्रमेय विषयक उसके संशयादि इतने कम होते हैं कि उन्हें मिटाने के लिये अत्यल्प श्रवण-मनन ही वह कर पाता है तथा बाकी सामर्थ्य और समय बहिर्मुखी प्रवृत्ति में लगा देता है; साथ ही उसकी शास्त्रश्रद्धा इतनी दृढ नहीं होती कि 'कर्ता-भोक्ता मैं' इस अनुभूति के रहते वह स्वयं को अकर्ता अभोक्ता स्वीकार ले। अतः समाधि का महान् उपयोग है। वहाँ विपरीत प्रतीति न रहने से स्वरूपावस्थान सुलभ है। समाधि और उसके लिये यत्न बहिर्मुखता से बचाते हैं। समाधि में निरुपाधि आत्मा का स्पष्ट साक्षात्कार हो जाने से 'मैं अकर्ता अभोक्ता' यह निःशंक हो जाता है। इसलिये योग को उपाय रूप से श्रुतियों में, गीता आदि स्मृतियों में तथा आचार्यों के उपदेशों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। 'उत्तम साधक के लिए अनिवार्य नहीं' सुनकर सामान्य साधक को इससे विमुख नहीं होना चाहिये। इतना ज़रूर है कि शास्त्रश्रवणादि से दूर रहकर केवल योगाभ्यास करने से तत्त्वज्ञान में उपकार नहीं होगा, शांति आदि ही मिलेगी, अतः शास्त्रश्रवण में यथाशक्ति लगकर बाकी समय समाधि में लगाये यही सामान्यतः साधना का तरीका समझना चाहिये। यदि योग असाध्य लगे तब दहरादि उपासनाओं में मन व्यापृत करना चाहिये और साथ ही कामना छोड़कर नित्यादि कर्म निष्पन्न करते रहना चाहिये। क्योंकि यह एक-एक कदम लेने का रास्ता है इसलिये गुरु 'धीरे-धीरे सिखायेंगे' और हमें भी प्रत्येक स्तर पर सिद्धि पाकर तब आगे बढ़ना चाहिये। केवल 'समझ' लेना सामान्य साधक के लिये पर्याप्त नहीं क्योंकि उतने से वह कर्तृ-भोक्तृत्व से बरी नहीं हो जाता, जीवन्मुक्त नहीं हो जाता कि प्रारब्धपूर्ति पर विदेह बन जाये।)।।४६६।।

हे महाशयो ! जैसे नचिकेता ने विविध वरदान पाकर मुझसे आत्मतत्त्व समझ लिया ऐसे आप लोग भी जडता व निद्रा छोड़कर, गुरुओं से वरदान पाकर स्वप्रकाश अद्वैत आनंद आत्मा को समझ लीजिए। (जडता अर्थात् अविवेक और निद्रा अर्थात् विषयाकर्षण। गुरुओं के आशीर्वादों से मन निर्मल होता है। किं च निरीह गुरु स्वल्प आयास कर निवृत्त न हो जायें वरन् हमारे ज्ञानपर्यंत हमें उद्बोधित करते रहें, मार्गदर्शन देते रहें इसके लिये उनसे वर ले लेना चाहिये जिससे बँधकर वे हमें प्रबुद्ध बना ही देंगे। अतः सेवा-शुश्रूषा से उन्हें सन्तुष्ट करना साधक का कर्तव्य है। गुरु ही नहीं ईश्वर से भी वर पाना चाहिये कि हमारा शरीरादि तथा अन्य उपयोगी सामग्री ऐसी बनी रहे कि हम ज्ञान में प्रतिष्ठित हो सकें। इस कार्य के लिये अन्य देवताओं को भी खुश रखना चाहिये। बृहदारण्यक में भाष्यकार ने (१.४.१०) कहा है 'तस्माद् मुमुक्षुः देवाराधनपरः, श्रद्धाभक्तिपरः, प्रणेयः, अप्रमादी स्याद् विद्याप्राप्तिं प्रति।' अन्यत्र 'शं नो मित्रः' आदि प्रार्थनाएँ विहित हैं ही।)।।४६७।।

१. 'एष पन्थाः' इत्यैतरेयके (१.६ आदौ) पुराणकृता व्याख्यातम्। 'एतज्ज्ञानम्' इति भगवदुक्तमार्गोऽप्यनुसन्धेयः।

क्षुरस्य यादृशी धारा त्रिशाणकशितस्य च। अनेकशतसंख्यस्य मार्गस्थस्य निरन्तरम्।।५००
पत्रेण रहितैर्यद्वत् पुरुषैः सा दुरत्यया। सिंहव्याघ्रादिसङ्कीर्णे दुर्गमेऽत्र महावने।।५०१
एवमेतद्धि विज्ञेयमात्मज्ञानं महात्मभिः। दुर्गमं मुक्तिपुर्या यद् राजमार्गसमं स्मृतम्।।५०२
वदन्ति कवयस्तद्वद् दृष्टवन्तः पुरा हि ये। एनं मार्गं महात्मानो मादृशाः कुशला अपि।।५०३
यस्मादात्माऽत्र जन्तूनाम् एक एव व्यवस्थितः। आनन्दात्मा स्वयंज्योतिः अवाङ्मनसगोचरः।।५०४
शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः। अस्मिन् न विद्यते यस्माद् दृश्यते तेन नेन्द्रियैः।।५०५
व्ययः शनैर्विनाशः स्याद् यथा स्पर्शवतामिह। स केनाऽत्र भवेद्यस्मात् कोऽपि भूतगुणो न हि।।५०६

दृष्टान्तमाह—क्षुरस्येति। क्षुरपदेन गोक्षुरकं ग्रन्थकृतो विवक्षितं, जातावेकवचनं च। धारा सन्ततिः। कीदृशस्य क्षुरस्य ? त्रिशाणकं कण्टकत्रयं तेन शितस्य तीक्ष्णस्य। तथा च गोक्षुराणां सन्ततिर्महावनमार्गगता यथा पत्रेण वाहनेन हीनैः दुरत्यया दुरतिक्रमा। इति द्वयोः सम्बन्धः। 'शाणो माषचतुष्टये कषणे चे'ति विश्वः। कषणः कण्टको हिंसकत्वात्। 'धारा सैन्याग्रिमस्कन्धसन्तत्योः' इति च। त्रिःशाण—इति पाठे वारत्रयं शाणसङ्घर्षेण तीक्ष्णस्य क्षुरस्य नापितास्त्रस्य धारा सन्ततिर्मार्गगा यदि स्याद् इत्यभूतोपमेयम् इति भाष्यानुसारेण बोध्यम्।।५००-१।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति। एवं मोक्षरूपपुरद्वारभूतम् आत्मज्ञानं गुरुपरमेश्वरानुग्रहरूपवाहनं विना दुर्गमं विघ्नकण्टकाक्रान्तत्वाद् इत्यर्थः।।५०२।। एतन्मार्गचलनप्रकारोऽपि एतन्मार्गपान्थेभ्यो बुधेभ्यो ज्ञेय इत्याह—वदन्तीति। तद्वत् पूर्वतरवद् ये पुरा एनं मार्गं दृष्टवन्तः ते कवयः तद्गतिप्रकारं वदन्ति मादृशा देवा अपि चेति।।५०३।।

अथ ज्ञानस्यातिसूक्ष्मतां सूचयन्नात्मनः सर्वदृश्यधर्मराहित्यप्रतिपादिकां पञ्चदशीं[1] व्याचष्टे—यस्मादिति षड्भिः। यस्माद् अयम् आत्मा अद्वयत्वानन्दरूपोऽवाङ्मनसगोचरो भवति तस्मात् कवयः कुशला एव तज्ज्ञानमार्गं वदन्ति इति पूर्वेण सम्बन्धः।।५०४।। तत्राऽवाङ्मनसगोचरत्वं विशदयितुं शब्दादिराहित्येन इन्द्रियाऽयोग्यतामाह—शब्द इति। यस्मात् शब्दादिर्गुणः अस्मिन् आत्मनि न विद्यते तस्माद् इन्द्रियाऽग्राह्योऽयमिति।।५०५।। अव्ययादिपदार्थमाह—व्यय इति। शनैः अवयवाऽपचयक्रमेण यो विनाशः स व्ययः इत्युच्यते, स च स्पर्शवतां वाय्वादीनामेव प्रसिद्ध इह आत्मनि तु कथं स्याद् यतः अत्र कोऽपि भूतगुणो न अस्ति इति सम्बन्धः।।५०६।।

अधिकारयोग्य शरीर रहते यदि आपको आत्मबोध नहीं हुआ तो आपकी महान् हानि होगी अनंत देहों में भटकायेगी।।४९८।। हे अधिकारियो ! 'ब्रह्मात्मज्ञान' नामक यह मार्ग अत्यधिक सूक्ष्मों में सर्वाधिक सूक्ष्म है, साथ ही इस पर चलना बहुत मुश्किल है अतः आप सावधान हो जाइये, प्रमाद छोडिए।।४९९।। शेर, बाघ आदि से घिरे, ऊबड़-खाबड़ जंगली रास्ते पर तीन काँटों वाले गोखरुओं के झुण्ड एक-के-बाद एक लगातार बिछे हों तो बिना वाहन के उन्हें पार करना पुरुषों के लिये संभव नहीं। इसी प्रकार मुक्तिश्रीनगर पहुँचाने वाले राजमार्ग-सा है आत्मज्ञान जो विघ्नकण्टकों से आकीर्ण होने के कारण महात्माओं द्वारा दुर्गम बताया गया है। गुरुकृपा एवं शिवकृपा वह वाहन है जिसके बिना इस मार्ग को तय नहीं किया जा सकता।।५००-२।। इस रास्ते पर चलने का ढंग भी मुझ जैसे ये कुशल क्रान्तदर्शी ही बताते हैं जिन्होंने पहले इस मार्ग को गन्तव्यपर्यन्त वैसे ही देखा है जैसे उनसे भी पूर्व वालों ने देखा था। (अर्थात् परंपरा-प्राप्त बोध वाले आचार्य ही इस साधनक्रम का सम्यक् उपदेश दे सकते हैं।)।।५०३।।

जन्तुओं का आत्मा एक ही है जो जन्तुओं में प्रवेश कर स्थित है। क्योंकि आनंदरूप स्वप्रकाश वह अद्वय आत्मा मन-वाणी का विषय नहीं इसलिये कुशल कवि ही उसका उपदेश कर पाते हैं।।५०४।। शब्द, स्पर्श, रूप, रस,

१. 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।'३.१५।।

अतोऽव्ययमिदं ब्रह्म नित्यं नाशविवर्जनात्। अन्तवद् यद् भवेद् वस्तु ह्यादिमत् तत् प्रसज्जते।।
यथा घटादिकं नायमन्तवान् पुरुषः परः।।५०७
हिरण्यगर्भबुद्ध्यादेरन्तवत्ता प्रकीर्तिता। तस्या अपि परं यत्स्यादव्यक्तं विक्रियायुतम्।।५०८
अविक्रियस्ततोऽप्येष परः पुरुष ईरितः। ध्रुवो न नाशमायाति निर्मायः परमेश्वरः।।५०९
अनन्तो यत एवाऽयं महद्वच्च न कर्हिचित्। जन्मवांस्तत एवाऽयं पुमान्नित्य उदीरितः।।५१०
एनं गुरुमुखाच्छ्रुत्वा तथा मत्वा स्वयुक्तिभिः। संसारमृत्युमुखतो मुच्यतेऽत्र पुमान् सदा।।५११
देशकालस्वरूपाणां भेदशून्यः पुमान् हि यः। तज्ज्ञानाद् मृत्युमुखतो मुच्यते यन्न तद् भवेत्।।५१२
आश्चर्यकरणं यस्मादस्य ग्रन्थस्य कीर्तनात्। श्रवणाच्च भवेद् ब्रह्मलोको गम्योऽर्चिरादिना।।५१३
श्रवणात् कीर्तनाद् यावद् मननाच्च तथा भवेत्। अनन्तफलसम्प्राप्तेरेतस्माद् वचनद्वयात्।।५१४

अत इति। यतश्च अव्ययम् अत एव नित्यं नाशाभावस्य नित्यपदप्रवृत्तिनिमित्तस्य सत्त्वात्। स च नाशाभावोऽनादित्वेन स्फुटी कृत इत्याह—अन्तवदिति। यद् वस्तु भावरूपम् आदिमद् भवेत् तदन्तवद् अपि प्रसज्जते भवति अयं पुरुषः तु अनादिः कथमन्तवान् स्याद् इति योजना।।५०७।। स आत्मा हिरण्यगर्भीयबुद्धेः महत्पदोक्ताया आद्यन्तवत्याः परो ध्रुवत्वाच्च कूटस्थत्वलक्षणात् परिणामिन्या प्रकृतेश्च पर इत्याह—हिरण्येति। तस्या हिरण्यगर्भबुद्धेः परं यद् अव्यक्तम् अव्याकृतं ततोऽपि अयम् अविक्रियत्वात् परो भवति इत्यतो ध्रुव इत्युक्तः—इति द्वयोरर्थः।।५०८-९।। फलितमाह—अनन्त इति। यतोऽनन्तो भवति यतश्च महद्वद् हिरण्यगर्भबुद्धिवत् जन्मवान् न भवति, ततो नित्य इति।।५१०।।

वर्णितात्मज्ञानफलमाह—एनमिति। स्वयुक्तिभिः श्रुत्यनुकूलतर्कैः मत्वा विचार्य।।५११।। अध्यायान्त्ययोस्तात्पर्यार्थमाह—देशेति। यः पुमान् देशकालवस्तुसम्बन्धिभिर्भेदैः शून्यः तस्य ज्ञानादमृतत्वं भवेद् एतद् न आश्चर्यं यतोऽस्य आत्मनः प्रतिपादको योऽयं ग्रन्थोऽस्य कीर्तनादितोऽपि अर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकलाभो भवति। इति द्वयोः सम्बन्धः।।५१२-३।।

एतद्ग्रन्थश्रवणादितो यदनन्तफललाभ उक्तः तत्र प्रमाणमेतद्वाक्यद्वयं बोध्यमित्याह—श्रवणादिति। यावद् इत्यवधारणे।।५१४।। किं तद् वचनद्वयम् ? इत्याकांक्षायां तत् पठति—नाचिकेतमिति। नाचिकेतं नचिकेतसा

गंध—पाँचों आत्मा में न होने से वह इंद्रियगोचर नहीं।।५०५।। धीरे-धीरे अवयव घटने से जो विनाश होता है उसे व्यय कहते हैं जैसे सस्पर्श वस्त्रादि का होता लोक में देखा जाता है। आत्मा में वह व्यय कैसे होगा जबकि महाभूतों का कोई गुण उसमें नहीं है ?।।५०६।। इसलिये यह ब्रह्म अव्यय है। नाशरहित होने से यह नित्य है। जो वस्तु अन्त वाली होती है वह आदि-वाली भी हुआ करती है जैसे घड़ा आदि। यह परम पुरुष अन्तवान् नहीं अतः आदिवाला भी नहीं हो सकता। (अथवा आदिवाली वस्तु सान्त होती है अतः यह अनादि ब्रह्म अनंत है—यह श्लोकार्थ है। अनादि सान्त कुछ भाव वादिसंमत होने पर भी अनध्यस्त न होने से अधिष्ठानरूप आदि वाले ही होते हैं यह सिद्धांतरहस्य है।)।।५०७।। हिरण्यगर्भ की बुद्धि आदि सान्त बतायी जाती है। उससे परे जो अव्यक्त है वह भी विकारी है। परम पुरुष अविक्रिय है अतः उस अव्यक्त से भी परे है। माया से परे जो परमेश्वर है वह ध्रुव है क्योंकि नाश को नहीं प्राप्त होता। (सदा स्फुरमाण चित्तत्त्व का कभी अदर्शन न होने से वह कूटस्थ है।)।।५०८-९।। क्योंकि यह अनंत है और महत्तत्त्व की तरह कभी जन्मवान् नहीं इसीलिये पूर्ण चेतन नित्य कहलाता है।।५१०।।

उक्त पुरुष ही संसारदशा में संसरणरूप मृत्यु के मुँह में फँसा है जहाँ से वह हमेशा के लिये छूट जाता है जब पूर्वप्रदर्शित आत्मा का गुरुवचनानुसार श्रवण और श्रुत्यनुकूल तर्कों से यथामति मनन कर लेता है।।५११।। जो पूर्ण चैतन्य देशभेद, कालभेद और वस्तुस्वरूप के भेद से रहित है उसके ज्ञान के फलस्वरूप मृत्यु के मुँह से बचा जाता है यह कोई आचर्यकारी बात नहीं है क्योंकि आत्मप्रतिपादक ग्रंथ के कीर्तन और श्रवण से भी अर्चिरादि मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त हो जाता है।।५१२-३।। श्रवण-कीर्तन-मनन से उक्त फल होता ही है क्योंकि अनंत फल मिलता है। इस बात

'नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्। उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते।।५१५
य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि। प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते।।'५१६

आत्माऽतीन्द्रियः

एवं संग्रहतो ब्रह्म प्रोच्य प्रणवनामकम्। विस्तरेण च तद् वक्तुमिदमाह यमो वचः।।५१७
नाऽयमिन्द्रियतो लभ्यो नचिकेतः! कदाचन। आनन्दात्मा मया यस्ते संग्रहात् प्रागुदीरितः।।५१८
इन्द्रियाणि परं यान्ति स्वात्मनः ससृजे विभुः। बहिर्मुखान्यतस्तानि हिंसितानीव भान्ति नः।।५१९
राजा यथाऽत्र सामन्तं बहिर्विषयदानतः। आन्तरस्याऽपहरणात् तं स हिंसितवानिव।।५२०

लब्धं, यमेन प्रोक्तम् इदं वल्लीत्रयरूपम्।।५१५।। य इममिति। ब्रह्मसंसदि ब्राह्मणसभायां, प्रयतः पवित्रः, तत् श्राद्धम्।।५१६।।

।। इति काठकप्रथमाऽध्यायव्याख्या।।

द्वितीयाध्यायार्थप्रदर्शनमवतारयति—एवमिति। एवं प्रणवप्रतीककं प्रणवालम्बनकं वा ब्रह्म संक्षेपेण वल्लीत्रितयात्मकप्रथमाध्याये प्रतिपाद्य तद् एव विस्तरेण प्रतिपादयितुम् इदं वल्लीत्रितयात्मकद्वितीयाध्यायरूपं वचो यमः प्राहेत्यर्थः।।५१७।। तत्र आत्मज्ञानप्रतिबन्धकमिन्द्रियाभिमानरूपं प्रदर्शयन्त्याः 'पराञ्चि' इत्याद्यायाः[1] चतुर्थवल्लीप्रथमायाः पूर्वार्द्धरूपाया ऋचोऽर्थमाह—नायमिति द्वादशभिः। हे नचिकेतः! यो मया वर्णित आत्मा स इन्द्रियैर्ग्राह्यो न भवतीति प्रतिज्ञा।।५१८।।

तत्र हेतुतयेन्द्रियाणां बहिर्मुखत्वेन सर्जनलक्षणहिंसनप्रयुक्तमशक्तत्वमाह—इन्द्रियाणीत्यादिना। विभुः स्वतन्त्र ईश्वर इन्द्रियाणि ख-पदोक्तानि आत्मनः सकाशात् परं भिन्नं प्रति यान्ति गमनपराणि यतः ससृजे सृष्टवान् अतस्तानि बहिर्मुखानि हिंसितानि मृतप्रायतां नीतानि वाऽस्माभिर्विवेकिभिः ज्ञायन्त इत्यर्थः।।५१९।। बहिर्मुखी करणेन हिंसनमिव भवतीत्यत्र लौकिकं दृष्टान्तमाह—राजेति। यथा राजा सामन्तं पुराध्यक्षं प्रति दूरस्थदेशाधिकार-दानेन आन्तरस्य स्वान्तरङ्गाधिकारस्य अपहरणेन च तं सामन्तं हिंसितवानिव भवतीत्यर्थः।।५२०।। दार्ष्टान्तिके

में ये दो वाक्य प्रमाण हैं—।।५१४।। 'नचिकेता सम्बन्धी उपाख्यान, जहाँ मृत्यु प्रवक्ता हैं, सनातन तत्त्व का प्रकाशक है। मेधावी इस उपाख्यान का कथन व श्रवण कर ब्रह्मलोक में महत्ता पाता है।'५१५।। 'जो पवित्र अधिकारी यह परम गोपनीय उपनिषद्-ग्रंथ ब्राह्मणसभा में या श्राद्ध के समय सुनायेगा, (उसके सुनाने के फलस्वरूप) वह श्राद्ध अनंतफलक हो जायेगा' (बिना श्राद्ध के ब्राह्मणसंसत् में सुनाने से सुनाने वाले को अनंत पुण्य मिलेगा।)।५१६।। (यहाँ तक कठोपनिषत् के प्रथमाध्याय का वर्णन हुआ।)

यमराज ने उक्त ढंग से संक्षेप में ओंकार के सहारे कहे-समझे जाने वाले व्यापक आत्मा का निरूपण कर उसे विस्तार से समझाने के लिये ये वचन कहे :।५१७।।

हे नचिकेता! जिस आनंदस्वरूप प्रत्यक्तत्त्व का मैंने तुझे अब तक संक्षिप्त परिचय दिया यह इंद्रियों से कभी ग्रहण नहीं किया जा सकता।।५१८।। स्वतंत्र ईश्वर ने क्योंकि इन्द्रियाँ ऐसे स्वभाव वाली बनायी हैं कि ये आत्मा की अपेक्षा अन्य को ही विषय करती हैं इसलिये वे बहिर्मुखी रहती हैं, हम विवेकियों के उपयोग की दृष्टि से मानो मरी जैसी ही हैं (क्योंकि हमारे उपयोगी आत्मदर्शन में अक्षम हैं)।।५१९।। लोक में देखा जाता है कि राजा अपने निकटवर्ती, अंतरंग मंत्री को जब किसी दूर के प्रांत का प्रशासक नियुक्त कर देता है तब यही माना जाता है कि राजा ने उस

१. 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।'४.१।।

आनन्दात्मानमन्तस्थमदत्वा विषयं तथा। शब्दादीन् दत्तवान् यस्मात् तस्माद्धिंसितवानिव।।५२१
विरोधिनो यथा राज्ञो बहिर्विषयवासिनः। सामन्तानुपहन्युस्ते छिद्रे छिद्रे समीपगान्।।५२२
इन्द्रियाणि तथैतानि बहिर्विषयगानि हि। आनन्दात्मविरोद्धारो हन्युः कामादयस्त्विह।।५२३
इन्द्रियैरत एवाऽयं शब्दादीन् परिपश्यति। नानन्दात्मानमन्तस्थं महाराजसमं सदा।।५२४

निरुद्धमनः साधनम्

इन्द्रियाणां बहिर्भावे मनोऽपि बहिरेति तत्। तेषामन्तरवस्थाने बहिर्नैति मनः क्वचित्।।५२५

योजयति—आनन्दात्मानमिति। परमेश्वरेण इन्द्रियेभ्य आनन्दात्मरूपो विषयो न दत्तः किन्तु बाह्याः शब्दादय एव विषयतया दत्ता अतः तानि इन्द्रियाणि हिंसितानीव इत्युक्तमित्यर्थः।।५२१।। स्वयं तानि न हतानि किन्तु परैर्हननयोग्यतां नीतानीत्याकारम् इवपदस्वारस्यं सदृष्टान्तमाह—विरोधिन इति द्वाभ्याम्। यथा राज्ञः सकाशाद् दूरविषये देशे वसतो वैरिणां समीपगतान् सामन्तान् राज्ञो विरोधिनो वैरिणः छिद्रं लब्ध्वा उपहन्युः तथा विषयगतानि इन्द्रियाणि रागद्वेषादयः अद्वैतात्मविरोधिभेदोपजीविन उपहन्युः। इति द्वयोरर्थः।।५२२-३।। फलितमाह—इन्द्रियैरिति। यथा दूरस्थसामन्तानां राजदर्शनं दुर्लभं तथा बहिर्मुखेन्द्रियाणाम् आन्तरात्मदर्शनम् इत्यर्थः।।५२४।।

नन्विन्द्रियाणामित्थंभावेऽपि मनसः का गतिरिति चेत्? शृणु। द्विविधं मनः—सकामं, निष्कामं च। तत्राद्यम् इन्द्रियकिङ्करत्वात् तत्समानगतिकम्। द्वितीयं तु इन्द्रियनिरोधाद् आत्मसाक्षात्कारसाधनम्। इति सूचयन्त्या द्वितीयाया उत्तरार्द्धरूपाया अर्थमाह—इन्द्रियाणामिति पञ्चभिः। तत् सकामं मनः इन्द्रियाणि अनुसरति, तेषाम् अन्तर्निरोधे तु मनो निष्कामं बहिर्न गच्छति।।५२५।। इन्द्रियाणामिति। इन्द्रियाणाम् अन्तर्नयनं निरोधरूपं

की हिंसा-सी की है। (जिसे कहते हैं 'उसके पर कतर दिये', क्योंकि राजा के निकटवर्ती मंत्री राजकीय अधिकारों का भी उपयोग कर लेते हैं जबकि दूरवर्ती मंत्री उनसे वंचित हो जाते हैं। आज भी केंद्रिय मंत्री को प्रदेश का मुख्यमंत्री भी बना दें तो सामान्यतः उसकी अवनति ही मानी जाती है।) ऐसे ही परमेश्वर ने इंद्रियों को विषयरूप से अन्तःस्थित आनंदात्मा न देकर बाहरी शब्द आदि ही दिये हैं अतः मानो उनकी हिंसा कर रखी है। (जैसे बछड़े को बैल बनाना उसकी हिंसा ही है ऐसे अन्तः बाह्य सबको विषय न करने देकर सिर्फ बाह्य के ही कुछ हिस्से को विषय करने देना—यह इंद्रियों की हिंसा ही है। क्योंकि सर्वथा निरुपयोगी नहीं बनाया इसलिये सर्वथा हिंसा नहीं वरन् 'हिंसा-सी' है।)।।५२०-१।। सीधे ही हिंसा न कर ऐसा बना देना कि अन्यों द्वारा उनकी हिंसा करना सरल हो जाये, हिंसा-तुल्य कहा जाता है। राजा से, केंद्र से दूर के प्रदेश में नियुक्त मंत्री को राजा के दुश्मन आसानी से नियंत्रित कर लेते हैं क्योंकि वह मंत्री उन दुश्मनों की सीमाओं के निकट होता है और उसकी हर ग़लती का वे फायदा उठा लेते हैं। इसी प्रक़ार बाह्य विषयों में विचरने वाली इन इंद्रियों का हनन कामना आदि कर लेते हैं जो भूमा आत्मा के विरोधी भेद के उपजीवी होने से आनंदरूप आत्मा के विरोधी हैं। अतः जैसे दूर प्रदेश के प्रशासक मंत्रियों को राजा के दर्शन दुर्लभ होते हैं ऐसे यह जीव इंद्रियों से शब्दादि को ही सब तरफ से देखता रहता है, भीतर स्थित आनंदरूप प्रत्यगात्मा को नहीं।।५२२-४।।

इंद्रियों से तो आत्मदर्शन की आशा ही नहीं, मन का इस शुभ कार्य में विनियोग अवश्य है। किंतु कामना-आकुल मन तो इंद्रियों का अनुचर होने से आत्मबोध का विरोधी ही है, निष्काम मन इंद्रियों को निरुद्ध कर स्वयं आत्मबोध में उपकारी बन जाता है। यह तथ्य पुराणकार व्यक्त करते हैं—इन्द्रियों का बहिर्गमन रहते सकाम मन भी बाहर ही जाता रहता है। इंद्रियाँ भीतर ही निरुद्ध रहें तो मन कभी बाहर नहीं जाता।।५२५।। इंद्रियाँ देह के भीतर ले जाने की अर्थात् उनके निरोध की बात भी लोग आराम से नहीं कर सकते तो निरोध की कठिनाई का क्या कहना! शमादियुक्त कोई बुद्धिमान् ही उन्हें अपने भीतर स्थापित करने में सफल होता है।।५२६।। इंद्रियाँ आत्मान्य विषयों में जाने से

इन्द्रियाणां स्वदेहान्तर्नयनं दुर्भणं नृणाम्। धीरः कश्चिद् नयेत् तानि स्वान्तः शान्त्यादिसंयुतः।।५२६
तेषामन्तरवस्थाने बहिर्गन्तुमशक्नुवन्। द्वाराभावाद् मनस्तिष्ठेद् देहस्यान्तरसंश्रयम्।।५२७
नवद्वारे यथा बद्धकपाटे मर्कटः स्थितः। गृहे विचेष्ट्य तत्रैव श्रान्तः सन्नवतिष्ठते।।५२८
अन्तर्नीतं मनस्तद्वच्छास्त्रसंस्कारसंस्कृतम्। मोक्षेच्छोः कुरुते स्वात्मसाक्षात्कारमसंशयम्।।५२९
अमीभिरिन्द्रियैर्नित्यं बहिर्विषयचारिभिः। आत्मनोऽन्यांस्तु शब्दादीनिह वाऽमुत्र वापि ये।।
विषयानभिगच्छन्ति विवेकज्ञानवर्जिताः।।५३०
विस्तीर्णस्याऽत्र ते मृत्योर्व्याधिवैर्यादिरूपिणः। देहे देहे वशं यान्ति विवशा दीनचेतसः।।
मत्स्या यथाऽत्र जालेन मृत्युं यान्ति विमोहिताः।।५३१
मृत्युपाशवशं प्राप्तान् स्थिरजङ्गमदेहिनः। ब्रह्मादीन् स्तम्बपर्यन्तान् निरीक्ष्याथ विवेकिनः।।५३२
ध्रुवं विज्ञाय मोक्षं तमध्रुवं कर्मणः फलम्। प्रार्थयन्ते कदाचिन्न त्वद्वद् गौतम ! पण्डिताः।।५३३

नृणां देहभिमानिनां दुर्भणं कथितुमपि अशक्यम्, तत्करणं दूरत इति भावः। कश्चिद् एव मनुष्याणां सहस्रेषु मध्ये शमादिमांस्तानि इन्द्रियाणि अन्तः स्थापयेदित्यर्थः।।५२६।। इन्द्रियनिरोधे च निर्द्वारं मनोऽन्तरेव शाम्यतीत्याह—तेषामिति। तेषाम् इन्द्रियाणाम्। असंश्रयं बाह्यालम्बनरहितम्।।५२७।। तत्र दृष्टान्त उच्यते—नवेति। स्पष्टम्।।५२८।। एवं निरुद्धं मनः श्रवणादिसंस्कृतमात्मतत्त्वाकारतां भजत इत्याह—अन्तर्नीतमिति। मोक्षेच्छोः मुमुक्षोः।।५२९।।

तथा चेन्द्रियसङ्गरूप आत्मदर्शनप्रतिबन्धो यैर्न दूरी कृतस्ते संसारे पतन्ति, विवेकिनस्तु तं प्रतिबन्धमपनीय मुच्यन्त इति प्रदर्शिकायास्तृतीयाया[1] अर्थमाह—अमीभिरिति चतुर्भिः। इह लोकेऽमुत्र परलोके वा ये सन्ति तान् शब्दादीन् विषयान् आत्मभिन्नान् ये विवेकहीना इन्द्रियैः अभिगच्छन्ति भजन्ते ते विस्तीर्णस्य प्रसृतस्य व्याध्यादिनानारूपस्य मृत्योः पुनः पुनः वशं यान्ति जालबद्धा मत्स्या बन्धकस्येव। इति द्वयोः सम्बन्धः।।५३०-१।।

विवेकिवृत्तमाह—मृत्युपाशेति द्वाभ्याम्। अथ विवेकिनः तु हिरण्यगर्भादीन् स्तम्बपर्यन्तान् देहिन उक्तदशान् निरीक्ष्य मोक्षम् एव नित्यं विज्ञाय अनित्यं कर्मफलं ब्रह्मलोकान्तं कदाचिन्न प्रार्थयन्ते नेच्छन्ति हे नचिकेतः ! त्वद्वत् पण्डितत्वात्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।५३२-३।।

निरुद्ध हो जाने पर द्वार के अभाव में मन बाह्य विषयों की ओर जा नहीं सकता। दृश्यों में भटकने के लिये अपेक्षित इंद्रिय रूप सहारे के बिना मन देह के भीतर ही स्थिर रहता है।।५२७।। भले ही कमरा नौ दरवाज़ों वाला हो पर उसके सब कपाट बंद हों तो कमरे में फँसा बंदर भीतर ही उछल-कूद कर थक जाने पर चुप-चाप बैठ जाता है। ऐसे ही इंद्रिय-निरोध से भीतर रुका मन कुछ गतिविधि कर भी ले तो शीघ्र ही विषयों से (विषयचिंतन से) निवृत्त हो जाता है। मुमुक्षु का ऐसा मन शास्त्र के संस्कारों से सुवासित हो तो स्वात्मा का अपरोक्ष कर ही लेता है इसमें संशय नहीं।।५२८-९।।

विवेकात्मक ज्ञानविहीन जो लोग बाह्य विषयों में ही विचरने वाली इन इंद्रियों से हमेशा ऐहिक-आमुष्मिक उन शब्दादि विषयों का ही सेवन (उपभोग) करते रहते हैं जो न केवल स्वयं अनात्मा हैं वरन् अपने संगी को भी आत्मनिष्ठ नहीं रहने देते, वे नष्टमति बेबस हुए पुनः पुनः शरीर ग्रहण कर व्याधि, वैरी आदि नाना रूपों में फैली मौत के वशीभूत उसी प्रकार होते हैं जैसे बडिश के मोह में पड़ी मछलियाँ जाल द्वारा मौत पा जाती हैं। न केवल ऐसी मछलियाँ वरन् ऐसे लोग भी संसार में बहुतायत में देखे जा सकते हैं।।५३०-१।।

---

१. 'पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते।'४.२।।

ज्ञेय आत्मा

दशेन्द्रियाणां व्यापारानधिगच्छति चेतसा। विषयग्राहकं चेतो येन ह्यत्राऽधिगच्छति। ।५३४
स्वभावाज्ज्योतिषा तत्तु धर्मादिभ्यः परं त्वया। पृष्टमात्मस्वरूपं यदेतदेव न चाऽपरम्। ।५३५
परिशिष्टं किमत्रास्ति तस्मादात्मस्वरूपिणः। कालत्रयान्तरे यत्तु यच्च कालत्रयात्मकम्।।
तत् सर्वमत्र चाध्यस्तं रज्जौ सर्पादिकं यथा। ।५३६
येन जागरणं तद्वत् स्वप्नं च परिपश्यति। चेतसः साक्षिणा सोऽयमात्मा ज्ञेयः सदा त्वया। ।५३७
विभुत्वाद्यः पुरात्मा ते महानेव मयेरितः। यस्यं विज्ञानतो धीरा न शोकं यान्ति कर्हिचित्। ।५३८
'य इमं मध्वदं वेद ह्यात्मानं जीवमन्तिकात्। ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते।।'५३९

उक्तप्रतिबन्धहीनैर्ज्ञेयमात्मानं नानालक्षणैः प्रदर्शयतां 'येने'त्यादिवाक्यानामर्थमाह—दशेन्द्रियाणा मित्यादिना। अयं प्रमाता दशानां ज्ञानकर्मेन्द्रियाणां व्यापारान् दर्शनादिरूपांश्चेतसा चित्ताख्यान्तःकरणेन अधिगच्छति अनुसन्दधाति इति प्रसिद्धम्। तत् चेतः चित्तं सविषयं येन स्वाभाविकेन ज्योतिषा साक्षिसंज्ञेन अत्र सङ्घातान्तःस्थितेन अधिगच्छति तत् साक्षिसंज्ञं ज्योतिः तु एतदेव। 'एतत्' किम् ? यत् त्वया धर्माधर्माद्यतीतत्वोपलक्षितम् आत्मरूपं पृष्टम्। इति द्वयोरर्थः। ।५३४-५।। तस्याऽद्वितीयतामाह—परिशिष्टमिति। अत्र प्रपञ्चे वर्तमानम् एतस्मात् साक्षिरूपिणः सर्वान्तरात् परिशिष्टं भिन्नसत्ताकं किमस्ति—न किञ्चिदपि, यतः कालत्रयावच्छिन्नं कालत्रयं च एतत् सर्वमत्र साक्षिणि अध्यस्तं कल्पितं भवति यथा रज्जौ सर्पदण्डजलधारादिकमित्यर्थः।।५३६।।

[1]चतुर्थ्यर्थमाह—येनेति। येन चेतसः साक्षिणा अवस्था जागरणादिकाः पश्यति स एव पूर्वोक्तो महान् आत्मा यस्य अद्वितीयत्वलक्षणं महत्त्वं जानन्तः शोकं कर्तृत्वादिरूपं तरन्तीति द्वयोरर्थः।।५३७-८।।

पञ्चमीं पठति[3]—य इममिति।।५३९।। अस्या अर्थमाह—अन्तिक इति द्वाभ्याम्। अयम् आत्मा पुमान् पुरुषो

हे गौतम (नचिकेता) ! उक्त अविवेकियों से विलक्षण विवेकी इस बात पर गंभीर विचार करते हैं कि घास के तिनके से हिरण्यगर्भ पर्यन्त चर-अचर सब देहधारी मृत्यु के पाश में बँधे हैं। (ऐसा क्यों ? शास्त्र-युक्ति अनुसार) वे समझ लेते हैं कि कर्मों का फल अनित्य ही होता है अतः नित्य सिर्फ कैवल्यरूप मोक्ष है (जो कर्मफल नहीं)। तुम सरीखे वे पण्डित कभी विषयों की प्रार्थना नहीं करते। (अर्थात् विवेक की सफलता वैराग्य से ही है, तदनंतर नित्य के प्रति आकर्षण एवं अनित्य से प्राप्त विकर्षण शमादि में प्रेरित कर तत्त्वनिष्ठा दिला देगा।)।५३२-३।।

दसों इन्द्रियों के दर्शनादि व्यापारों का अनुसंधान प्रमाता अंतःकरण से करता है यह प्रसिद्ध है। विषयग्राहक उस अंतःकरण का जिससे अधिगम (ग्रहण, अनुभव) करता है वह साक्षिनामक स्वाभाविक ज्ञान है। हे नचिकेता ! धर्मादि से परे जिस तत्त्व के बारे में तुमने पूछा था वह यही आत्मस्वरूप है, इससे अन्य नहीं।।५३४-५।। इस संसार में ऐसा क्या है जो उस आत्मस्वरूप से भिन्न स्वतंत्र सत्ता वाला हो ! कालत्रय और त्रिकालवर्ती जो है वह सभी इस आत्मा पर वैसे ही अध्यस्त है जैसे रस्सी पर सर्पादि।।५३६।।

तुम हमेशा उसे ही आत्मा समझो जिस मनःसाक्षी से (तुम एवं सभी लोग) जाग्रत् व स्वप्न का अनुभव करते हैं। उसीको मैंने पहले महान् कहा था क्योंकि वह विभु, व्यापक है। उस आत्मा के अद्वितीयत्व रूप महत्त्व के अपरोक्ष से बुद्धिमान् साधक कर्तृत्व आदि शोक से हमेशा के लिये छूट जाता है।।५३७-८।।

कर्मफलों का भोक्ता जो यह प्रत्यग्रूप जीवात्मा है इसे भूत-भावी का ईशान (शासक) जो समझ लेता है वह उस बारे में संशयहीन हो जाता है।।५३९।।

१. 'येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्। एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते। एतद्वैतत्।।'४.३।।
२. 'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।।'४.४।।
३. अन्ते 'एतद्वैतत्' इति मन्त्रेऽधिकम्।

अन्तिकेऽस्ति सदैवात्मा जीवरूपो धियः पुमान्। फलानां कर्मणां भोक्ता सर्वदा मधुरूपिणाम्।।५४०
यो विजानाति तत्राऽयं संशयं केन हेतुना। निन्दां वाऽपि च केनाऽयं कुरुते कस्यचित् स्वयम्।।
जानन्नात्मानमद्वैतं प्रपञ्चरहितं शिवम्।।५४१
हिरण्यगर्भो भगवान् जातो यस्माद् महात्मनः। यः पूर्वं तपसो जातः कृच्छ्रचान्द्रायणादिकात्।।
ब्रह्माण्डपिण्डजनकाद् अखिलादपि नीरतः।।५४२
ब्रह्मणो जनकं यत्तु चतुर्विधशरीरगम्। पश्यदास्तेऽखिलां बुद्धिं तदेतद् ब्रह्म विद्धि भो।
सर्वबुद्धीः प्रविश्यैवं नभोवत् सर्वतो गतम्।।५४३

धियः साक्षितया सर्वेषाम् अन्तिके समीपे भवति। कीदृशः ? कर्मफलानां सारघमधुसमानां भोक्ताऽत्ता तं भूतभव्योपलक्षितसर्वविश्वाधिपतित्वेन यो विजानाति स संशयं त्राणेच्छाप्रयोजकं निन्दां प्रतिकूलबुद्धिप्रयुक्तां किं कुर्वीत, अपि तु न कुर्वीत, अद्वितीयात्मवित्त्वात्। इति द्वयोरर्थः। अत्रेदं बोध्यम्—'गुपेर्निन्दायाम्' इति स्मरणात् (सू. ३.१.६ तमे वार्तिकम्) निन्दा जुगुप्सापदस्य मुख्योऽर्थः, संशयस्तु विचिकित्सापद इव व्युपसर्गप्रसादलभ्यो भाष्यकारीकानुसरण्योक्त[1] इति।।५४०-१।।

एवं त्वंपदार्थशोधनप्रधानं वाक्यद्वयं व्याख्यातम्। अथ[2] षष्ठ्यादिवाक्यचतुष्टयस्य तत्पदार्थशोधन-प्रधानस्य अर्थं दर्शयति—हिरण्यगर्भ इत्यादिना। यस्माद् हिरण्यगर्भो जातः। स कः ? यो नीरतः अप्प्रधानस्थूलभूत-समुदायाद् ब्रह्माण्डारम्भकात् पूर्वं जातः। कुतः ? तपसः पूर्वजन्मानुष्ठितकृच्छ्रादिसमुच्चितोपासनाबलादित्यर्थः।।५४२।। ब्रह्मण इति। ब्रह्मणः तस्य हिरण्यगर्भस्याऽपि जनकं यत् तत्त्वं सर्वशरीरेषु सर्वबुद्धिरूपां गुहां प्रविश्य अखिलपदार्थाकारां तां बुद्धिं साक्षितया पश्यत् सदा आस्ते; तद् एव त्वत्पृष्टं ब्रह्म इत्यर्थः। श्रुतौ तु विभक्ति-वचन-लिङ्गव्यत्ययश्छान्दसः।।५४३।।

जीवरूप यह आत्मपुरुष बुद्धिसाक्षी रूप से हमेशा सबके सर्वाधिक समीप है। कर्मों के मधुरूप फलों का यह हमेशा भोग करता है। (किस फूल का कौन-सा शहद है यह जैसे दुर्बोध है ऐसे किस कर्म का कौन-सा फल है यह दुर्बोध है; मक्खी अपने सुख के लिये शहद बनाती है पर उसीके कारण मक्खी मारी जाती है ! जीव भी सुखार्थ कर्म करता है पर उसी कारण संसार में बँधता जाता है। धुएँ के प्रयोग से मधु मिलता है, धूममार्ग से कर्मफल मिलता है। इत्यादि समानताओं से कर्मफल मधु कहा गया है।)।।५४०।। जो जीव को ईशान समझ लेता है वह स्वयं को निष्प्रपंच अद्वैत शिव जानते हुए इस बारे में संशय क्यों करेगा ? स्वयं वह किसी की निंदा भी क्यों करेगा ? (भेदबुद्धि रहते ही संशय व निंदा संभव हैं, उसके बिना नहीं।)।।५४१।। इस प्रकार त्वंपदार्थ अर्थात् जीव का विविक्त स्वरूप प्रकट किया।

अब तत्पदार्थ अर्थात् ईश्वर का विवेचन करते हैं : पूर्व जन्मों में अनुष्ठित कृच्छ्र चान्द्रायणादि सहित उपासना के फलस्वरूप ब्रह्माण्डरूप पिंड के उत्पादक जलप्रधान सारे महाभूतों से सर्वप्रथम पैदा होने वाले भगवान् हिरण्यगर्भ जिस महान् आत्मा से उत्पन्न हुए हैं, वही हिरण्यगर्भ का जनक चारों प्रकार के शरीरों में प्रविष्ट हुआ सब बुद्धियों का साक्षाद् द्रष्टा है, वही ब्रह्म है—इस बात को समझो। आकाश जैसे सर्वव्यापक रहते हुए ही वह सब बुद्धियों में प्रवेश कर यों—अपरोक्षरूप से—उपलब्ध हो रहा है। (महाभूतों में जल की प्रधानता इसलिये कि अनेक स्थलों पर शास्त्र ने पुण्यकर्म को जलरूप से बना रहने वाला कहा है और सृष्टि के प्रति कर्म आवश्यक हेतु है। मानवज्ञात चेतन प्राणिशरीर

१. 'न विजुगुप्सते न गोपायितुमिच्छति' इति काठके, 'विजुगुप्सां घृणाम्' इतीशोपनिषदि। बृहदारण्यके (४.४.१५) गोपायितुमिच्छति, निन्दति इति दर्शितमर्थद्वयम्। तत्रैवानन्दगिरीये जुगुप्साया निन्दात्वेन प्रसिद्धत्वमगादि।
२. 'यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत। एतद्वैतत्।'४.६।।

देवता तपसः पूर्वं या जाता प्राणरूपिणी। अदितिः सर्वतो जातमन्नमत्ति यतस्त्विदम्। ।५४४

सर्वदेवमयी तद्वत् सर्वभूतमयी तथा। जायते विविधाऽनन्तप्राणिभेदसमाश्रयात्।

तद्रूपमपि यत् तत्त्वं ब्रह्म जानीहि सुव्रत। ।५४५

अदितेर्जायते योऽयं विराडग्निस्वरूपधृत्। अरण्योर्निहितो नित्यमधरोत्तरसंज्ञयोः। ।५४६

सप्तम्या[1] अर्थ उच्यते—देवतेति। या देवता हिरण्यगर्भाख्या तपसः अतीतकल्पानुष्ठिताद् हेतोः पूर्वं विराडादितः प्रथमं जाता। कीदृशी ? प्राणरूपिणी अशनायाव्याप्तप्राणशरीरा; अत एव अदितिः इति तस्या नाम सर्वम् अन्नं स्थूलप्रपञ्चात्मकम् अत्ति भुंक्ते—इति व्युत्पत्तिसमन्वयाद् इत्यर्थः। ।५४४। । सर्वेति। पुनः कीदृशी सा देवता ? सर्वे देवा यस्या विभूतयः। 'कोऽसावेको देवः ? प्राणः' इति श्रुत्यन्तरात् (द्रष्टव्यं बृ. ३.९.९)। तथा या देवता विविधव्यष्टिप्राणिषु अनुगमात् सर्वभूतमयी सर्वप्राणितादात्म्यमापन्ना भवति सा देवताऽपि यस्य परमेश्वरस्य रूपं ध्येयाकारो भवति तद् एव त्वत्पृष्टं ब्रह्म इत्यर्थः। ।५४५। ।

तथा विराडपि यस्य रूपं तत् सर्वान्तरं ब्रह्म विद्धीति प्रदर्शयन्त्या अष्टम्या[2] अर्थमाह—अदितेरिति पञ्चभिः। अदितेः उक्तरूपायाः सकाशाज्जायमानो यो विराट्; कीदृशः ? अग्निरूपत्वेन वर्णितः अत एव अरण्योः उत्तराऽधरमथनकाष्ठयोः निहितो यज्ञे प्रादुर्भूतः। ।५४६। । न केवलं यज्ञ एव प्रादुर्भूतः किन्तु योगिनामन्तरपीति

जलके बिना अवस्थित नहीं हो सकते इससे भी जल प्रधान है। हिरण्यगर्भ प्रथम शरीरी प्रसिद्ध हैं। जीव उत्पन्न नहीं होता, देह उत्पन्न होता है पर उसमें तादात्म्यबुद्धि वाले के जन्म का व्यवहार हो जाता है। कारणोपाधि से सूक्ष्मोपाधि का जन्म होता है। महाकाश से घटाकाश के जन्म की तरह ईश्वर से हिरण्यगर्भ का जन्म समझना चाहिये। व्यष्टि-अभिमानी न होने से हिरण्यगर्भ ईश्वरकोटि के माने जाते हैं किंतु जन्योपाधिक होने से उन्हें मुख्य जीव भी समझा जाता है। प्रकृत में भूतों से और महान् आत्मा से जो उत्पत्ति कही उसका तात्पर्य है कि उपाधि तो भूतों से बनी और उसमें जो आत्मा परिच्छिन्न हुआ वह वही था जो उस उपाधि के जन्म से पूर्व भी कारणोपाधिक अर्थात् ईश्वर है। वह ईश्वर ही मनःसाक्षीरूप से सबको उपलब्ध है।)। ।५४२-३। ।

अतीत कल्प में अनुष्ठित तपस्यारूप हेतु से हिरण्यगर्भदेव इस कल्प में सर्वप्रथम उत्पन्न हुए। भूख से व्याप्त प्राण उनका शरीर है। पैदा हुए इस सारे अन्न को—स्थूल प्रपंच को—क्योंकि वे खा जाते हैं इसलिये इन्हें 'अदिति' कहते हैं। ।५४४। ।

हिरण्यगर्भ सर्वदेवमय हैं क्योंकि सभी देवता उन्हीं की विभूति—वैभव का विस्तार—हैं। सब व्यष्टि-प्राणियों में अनुगत अर्थात् सब प्राणियों से तादात्म्य वाला होने से उन्हें सर्वभूतमय भी समझना चाहिए। यों अनंत विभिन्न प्राणियों में तादात्म्येन आश्रित होने से उन्हें विविध भी समझा जाता है। हे सुव्रत नचिकेता ! ऐसे वे हिरण्यगर्भ भी जिसके सिर्फ रूप हैं, ध्येयभूत आकार हैं, उसे तुम ब्रह्म समझो। (अर्थात् हिरण्यगर्भ ईश्वर से अन्य कोई तत्त्व नहीं। ईश्वर को महाभूतसंबंधी गुणों के परिप्रेक्ष्य में समझा जाये तो वह हिरण्यगर्भ है; किंतु ये गुण भी सूक्ष्मभूतों के समझने चाहिए।)। ।५४५। ।

पूर्वोक्त अदिति (हिरण्यगर्भ) से विराट् का जन्म होता है। (स्थूल महाभूतों की समष्टि जिसकी उपाधि है वह विराट् है।) शास्त्र में उसे अग्निरूप धारण किये हुए बताया है। इसीलिये अधरारणि-उत्तरारणि कहलाने वाली अरणियों में उसे निहित मानते हैं जो यज्ञकाल में मंथन से प्रकट होकर उपलभ्यमान है। ।५४६। । स्नेहयुक्त गर्भिणियाँ जैसे गर्भ धारण करती हैं वैसे याज्ञिक लोग अरणियों द्वारा इस विराडग्निरूप महेश्वर को धारण करते हैं। (मंथनादि से प्रादुर्भाव

१. 'या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत एतद्वै तत्।'४.७। ।
२. 'अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः। दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः। एतद्वैतत्।'४.८। ।

गर्भं दधति गर्भिण्यो यद्वत् स्नेहसमन्विताः। अरणिभ्यां धृतस्तद्वदग्निरित्थं महेश्वरः।।५४७

लोकेषु सकलेष्वेष स्थितो निद्राविवर्जितैः। ईड्यो देवैर्मनुष्यैश्च स्वर्गमोक्षाऽभिकांक्षिभिः।।५४८

अयमप्यात्मनो रूपं सर्वदैवादितिर्यथा। स्वरूपतस्तु तद्रूपं न वक्तुमपि शक्यते।।५४९

अध्यात्ममधिदैवं वा सर्वभेदविवर्जितम्। तत एतैः प्रकारैस्त्वं विजानीहि महामते।।५५०

सदृष्टान्तमाह—गर्भमिति। यथा गर्भिण्यो गर्भं दधति धारयन्ति स्नेहप्रयुक्तपथ्याशनादिना तद्वद् अयं महेश्वरो विराडग्निरूपो याज्ञिकैः अरणिभ्यां धृतः; इत्थं तथैव निद्राविवर्जितैः योगिभिः अन्तर्धृतः। कीदृशः ? सर्वभूतेषु स्थितः, स्वर्गमोक्षकांक्षिभिः देवैर्मनुष्यैश्च प्रतिदिनम् ईड्यः। इति द्वयोः सम्बन्धः।।५४७-८।। अयमिति। अयम् उक्तरूपो विराड् अपि अदितिपदोक्तहिरण्यगर्भवत् परमात्मनो रूपत्वेन ध्येय इति शेषः। ननु साक्षादेव तदीयं ज्ञेयं रूपमुच्यताम् इति चेद् ? न, तस्य वागाद्यगोचरत्वादित्याह—स्वरूपतस्त्विति। तस्य ज्ञेयस्य रूपं स्वरूपतः स्वभावतो वक्तुम् अशक्यम्, अध्यात्माद्युपाधिप्रयुक्तसर्वभेदराहित्यात्। न हि जात्यादिविशेषरहितं शब्दः साक्षाद् वक्तुं क्षमते। तत एतैः सविशेषरूपैर्विराडादिभिः प्रकारैः अनन्तत्वादिरूपसादृश्यद्वारा तदुपलक्षणभूतैः त्वं तत्स्वरूपं जानीहि। इति द्वयोरर्थः।।५४९-५०।।

और हविर्दानादि से संरक्षण—दोनों ही श्रद्धापूर्वक करते हैं।)।।५४७।। सकल लोकों में स्थित इस अग्नि को जितनिद्र योगी अपने भीतर धारण करते हैं (इसका साक्षात्कार अपने चित्त में ही कर लेते हैं। पूर्वश्लोक में बहिर्यागों से धारण तथा यहाँ अन्तर्याग से धारण कहा है।) स्वर्ग एवं मोक्ष चाहने वाले देवता और मनुष्य इस विराडग्नि की प्रतिदिन स्तुति करते हैं।।५४८।। ऐसा यह विराट् भी परमात्मा का रूप ही है, ध्येयभूत आकार ही है, जैसे पूर्वदर्शित अदिति। जब तक विराट् है तब तक वह ईश्वर से स्वतंत्र कोई तत्त्व नहीं है। विराट् व हिरण्यगर्भ के माध्यम के बिना, परमात्मा का खुद-ब-खुद जो रूप है उसे शब्दों में कहा नहीं जा सकता। अध्यात्म-अधिदैव-अधिभूत आदि को दृष्टि में रख ही सब भेद अनुभव में आते हैं और परमात्मा इन सब भेदों से अत्यंत असम्बद्ध है। (और जाति-गुण-क्रिया-सम्बंध—इन विशेषों से रहित को शब्द सीधे ही कहता नहीं।) हे महामति नचिकेता ! इसलिये परमात्मा के स्वरूप को तुम इन प्रकारों से ही समझो। (विराट् व हिरण्यगर्भ विशेषयुक्त रूप हैं जो अपरिच्छिन्नता आदि समानता से परमात्मा के उपलक्षण होकर उन्हें अनावृत करने में अत्यंत सहायक हैं। उपलक्षण में सादृश्य अपेक्षित नहीं किंतु सादृश्य हो तो स्वरूपज्ञान से पूर्व ही उसके तुल्य ज्ञान हो जाने से स्वरूप की पहचान स्पष्टतर होती है। 'बस अड्डे जाकर काली टोपी वाले देवदत्त को ले आओ' कहें तो काली टोपी उपलक्षण है और इससे समझ भी आता है कि किसे लाना है, किंतु देवदत्त का चित्र दिखा कर कहें कि 'इस आदमी को ले आओ' तो अत्यधिक स्पष्ट समझ आता है यह अनुभवसिद्ध है। चित्र में दीखा रूप भी है उपलक्षण ही, क्योंकि समय से वह बदलता रहता है जबकि देवदत्त वही रहता है, लेकिन काली टोपी की अपेक्षा बेहतर उपलक्षण है। इसी तरह सारा ही नाम-रूपात्मक प्रपंच परमात्मा को उपलक्षित करता है लेकिन बाकी सबसे ज़्यादा विराट् और उससे ज़्यादा हिरण्यगर्भ क्योंकि ईश्वर के समान हैं इसलिये सर्वश्रेष्ठ उपलक्षण हैं। अतः इन्हीं उपाधियों की प्रधानता है। उपासना पर आश्रित हो निर्विशेष स्वीकारने वाले कुछ दार्शनिक संभवतः इसीलिये चित्तत्त्व की 'प्रत्यभिज्ञा' करते हैं कि हिरण्यगर्भरूप से हुई अभिज्ञा के अत्यंत अनुरूप वह ज्ञान होता है ! किंतु क्योंकि वास्तविक तत्त्व 'सकृद्विभात' है अतः प्रत्यभिज्ञा (पुनः हुए ज्ञान) की संभावना नहीं है, पहला ज्ञान ही अविद्या निवृत्त कर देता है। चित्र देखने के बाद व्यक्ति देखने पर जैसे प्रतीत होता है 'जाना-पहचाना आदमी है' जबकि देख उसे पहली ही बार रहे हैं, वैसे उन्हें 'प्रत्यभिज्ञा' लगती हो यह संभव है। सर्वथापि प्रकृत में नचिकेता को विराट् व हिरण्यगर्भ द्वारा ईश्वर का स्वरूप समझने में प्रेरित किया जा रहा है।)।।५४९-५०।।

यस्माद्रूपादुदेत्येष यत्र चास्तं निगच्छति। सूर्यचन्द्रादिकं तेजो यत्र देवाश्च सन्त्यमी।।५५१
रथचक्रे ह्यरा यद्वत् सर्वदैव समर्पिताः। समर्थोऽपि न कोऽप्येनमतिक्रम्य व्रजेत् परम्।
एतद् ब्रह्म महाभाग ! नचिकेतोऽवधारय।।५५२

महावाक्यम्

यदेवेह शरीरेषु मम तेऽपि परस्य वा। सर्वबुद्धिप्रचाराणां यः साक्षी भेदवर्जितः।।५५३
तदेवाऽमुत्र विज्ञेयमीशे सूत्रे विराज्यपि। यदमुत्र तदेवेह चैतन्यं भेदवर्जितम्।।५५४
यथा नभसि नैवाऽस्ति भेदः कोऽप्येकरूपिणि। चैतन्ये तद्वदेवाऽत्र भेदः कोऽपि न विद्यते।।५५५

[1]नवम्यर्थं दर्शयति—यस्मादिति द्वाभ्याम्। यस्मात् प्राणाख्याद् रूपाद् अधिदैवं वाय्वात्मकात् सूर्यादिकं तेज उदेति तत्रैव अस्तं च गच्छति; तथा च श्रुत्यन्तरं 'प्राणाद् वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति' (बृ. १.५.२३) इति; तथा सर्वे देवा वागादयोऽग्न्यादयश्च यत्र प्राणे रथचक्रनाभावरवत् समर्पिताः स्थिताः, 'सर्वं प्राणेऽर्पितम्' ( )[2] इति श्रुत्यन्तरात्; तथा यम् एनं प्राणं बलेन अतिक्रम्य कोऽपि गन्तुं न समर्थः; स एष वर्णितः प्राणोऽपि यस्य ब्रह्मणो ध्येयं रूपं तदेव ब्रह्म विद्धि। इति द्वयोरर्थः।।५५१-२।।

दशम्या[3] ऐक्यपरत्वाद् महावाक्यरूपाया अर्थं दर्शयति—यदेवेहेति। यत् चिद्वस्तु इह दृश्यमानेषु मदीयादिशरीरेषु सर्वबुद्धिसाक्षितया वर्तते तदेवामुत्र परोक्षेषु ईशादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तेषु अव्याकृताद्युपाधिषु वर्तते, निर्भेदत्वात्। यत् च अमुत्र ईशादिषु वर्तते तदेवेह दृश्यमानेषु वर्तते, निर्भेदत्वादेव। इति द्वयोरर्थः।।५५३-४।। निर्भेदत्वं दृष्टान्तेन स्फुटयति—यथेति। एकरूपिणि अखण्डे।।५५५।। उपाधिदर्शिनो

यह सूर्य-चन्द्रादि तेज जिस 'रूप' से उदय होता है और जहाँ अस्त होता है, ये देव भी जिसमें हमेशा वैसे ही स्थित हैं जैसे रथ के चक्के में ताड़ियाँ, जिसे लाँघ सकने में कोई समर्थ नहीं है, हे महाभाग ! नचिकेता ! इसे तुम पर ब्रह्म निर्धारित करो। (अध्यात्म में प्राण और अधिदैव में वायु वह 'रूप' है जिससे उदित हो उसीमें सूर्यादि तेज अस्त होते हैं। वागादि एवं अग्नि आदि व्यष्टि-समष्टि देवता उस प्राणशब्दित ईश्वर में ही स्थित हैं। वह प्राण बल में सर्वाधिक है, बल के संदर्भ में उसे कोई हरा नहीं सकता। यह प्राण भी ईश्वर का एक रूप ही है, ध्येय आकार ही है। यद्यपि यह प्राण हिरण्यगर्भात्मक होने से इसे पृथक् कहना ज़रूरी नहीं था तथापि नामप्राधान्येन हिरण्यगर्भ, रूप-प्राधान्येन विराट् और कर्मप्राधान्येन प्राण—यों उपास्य उपाधियों की यहाँ विवक्षा ग्रंथकार को अभिप्रेत प्रतीत होती है।)।।५५१-२।।

अब इस उपनिषत् का महावाक्य समझाते हैं : मेरे, तेरे, अन्यों के शरीरों में सब बुद्धिप्रवृत्तियों का अभिन्न साक्षी जो चिद्वस्तु वही परोक्ष समझे जाने वाले ईश-सूत्रात्मा-विराट् में भी मौजूद है यह समझ लेना चाहिए। जो भेदरहित ज्ञानस्वरूप उन ईश्वरादि में है वही यहाँ दृश्य हम लोगों में है। ('जो मुझ में वह ईश्वर में, जो ईश्वर में वह मुझ में' यों दोनों ओर से कहना आत्यंतिक अभेद के अभिप्राय से संगत है। ऐसे 'व्यतिहार' से एकता दृढ़ होती है यह भाष्यकार ने (ब्र. सू. ३.३.३७) सूचित किया है। यहाँ साक्षी को भेदवर्जित कह कर त्वंपदार्थ का शोधित रूप व्यक्त किया है। ईशादि त्रिक में उस चित्तत्त्व को बताकर तत्पदार्थ का शोधित रूप समझाया है। यत्-तत् के सामानाधिकरण्य से चेतन का अभेद स्फुट किया है। विज्ञेय ब्रह्म को भी इस अखण्ड तत्त्व से अभिन्न बताया ताकि उपास्य ब्रह्म से द्रष्टव्य ब्रह्म को अलग न समझ लिया जाये। इस प्रकार 'यदेवेह' आदि मंत्र महावाक्य है यह स्पष्ट हो गया।)।।५५३-४।। जैसे

१. 'यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्।।'४.६।।
२. 'प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्' (प्रश्न. २.६) 'प्राणे सर्वं समर्पितम्' (छां. ७.१५) इत्याद्यनुसन्धेयम्। कौषीतकी ३.८ च।
३. 'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।।'४.१०।।

निर्भेदं गगनं यद्वद् भिद्यतेऽत्र गृहादिना। ईशादिना तथैवैतच्चैतन्यमपि भिद्यते।।५५६
गन्धर्वनगरं यद्वदसदेव विभेदकृत्। कालत्रयेऽपि खस्यैवं विश्वमप्यात्मनो भवेत्।।५५७
अतो नानेव नैवाऽस्ति ब्रह्म नाना कुतः पुनः। संसारादपि संसारं घोरदुःखप्रदं पुमान्।
व्रजेद् विलोकयेद्यस्तु नानेव च कदाचन।।५५८
नानैवेति च यो मन्दः पश्येत् पापविमोहितः। नरकाद् नरकं सोऽयं याति दुःखप्रदं बहु।
एकधैव ततो ब्रह्म द्रष्टव्यं भेदवर्जितम्।।५५९
तस्याऽपि दर्शने यत्स्यात् कारणं तन्न किञ्चन। बाह्यं येन पराग्ग्राहीणीन्द्रियाणीति कीर्तितम्।।५६०
मनसैव ततो ब्रह्म ज्ञातव्यं ब्रह्मवादिना। सर्वभेदविनिर्मुक्तमानन्दात्मस्वरूपकम्।।५६१
न हि ब्रह्मणि नानात्वं विद्यते स्वयमेव तत्। एकरूपे कथं तत् स्यात् सर्वदा गगनोपमे।।५६२

भ्रान्ता एव तत्र भेदं पश्यन्तीत्याह—निर्भेदमिति। ईश अव्याकृतं तत्प्रभृत्युपाधिना।।५५६।। वस्तुतोऽसतामपि उपाधीनां भेदभ्रमहेतुत्वे दृष्टान्तमाह—गन्धर्वेति। यद्वत् कालत्रयेऽसदपि गन्धर्वनगरं खस्य विभेदकृत् तथा विश्वं जडजातम् आत्मन इत्यन्वयः।।५५७।। अत इति। अतः अखण्डत्वाद् अत्र ब्रह्मणि नानेव कल्पितं नानात्वम् अपि विद्वद्दृष्ट्या नास्ति एतद् ब्रह्म नाना परमार्थतो नानात्ववत् तु कुतः स्यादित्यर्थः। यः अत्र ब्रह्मणि कल्पितं नानात्वं पश्यति स नानायोनिभ्रमणलक्षणं संसारं यातीति।।५५८।। यस्तु सत्यमेवाऽत्र भेदं पश्यति स नरकमेव यातीत्याह—नानैवेति। फलितमाह—एकधैवेति। एकधा अखण्डत्वेन।।५५९।।

[1]एकादश्यर्थं दर्शयति—तस्याऽपीति षड्भिः। अपिः सम्भावनायाम्। तस्य आत्मनो दर्शने कारणं बाह्यं बहिर्मुखं किञ्चिदपि न सम्भाव्यते यत इन्द्रियाणि पराचो बाह्यस्यैवाऽर्थस्य ग्रहणशीलानि इति उक्तं प्रथमाध्याय इत्यर्थः।।५६०।। मनसैवेति। ततो बहिरिन्द्रियायोग्यत्वाद् ब्रह्मवादिना लब्धब्रह्मोपदेशेन अधिकारिणा मनसा निष्कामेनैव अद्वितीयब्रह्मावरणमपनेयमित्यर्थः।।५६१।। तस्य भेदराहित्यमेव स्फुटयति—न हीत्यादिना। गगनवद् एकरूपे ब्रह्मणि स्वाभाविकं नानात्वं न सम्भवति इत्यर्थः।।५६२।। परत इति। परत उपाधित आरोपितो यो भेदः

अखण्ड नभ में कोई भेद नहीं वैसे ही इस चैतन्य में कोई भेद नहीं है।।५५५।। भेदहीन गगन व्यवहारदशा में घर आदि से सभेद हो जाता है (घर के भीतर का आकाश, बाहर का आकाश यों भेदव्यवहार का विषय बन जाता है); इसी प्रकार यह चेतन भी ईश-आदि की उपाधियों के कारण भ्रान्तदर्शियों को भेद वाला दीखता है।।५५६।। ऐसा नहीं कि सच्ची चीज़ ही उपाधि बने ! तीनों कालों में असत् रहते हुए ही जैसे गंधर्वनगर आकाश में भेद कर देता है ऐसे विश्व भी आत्मा की भेदक उपाधि बन जाता है।।५५७।। अखण्ड होने से ब्रह्म कल्पित रूप से भी नाना (= सभेद) नहीं है तो सचमुच नाना क्योंकर होगा ! जो ब्रह्म को कल्पित नाना रूप से भी कभी देखता है वह पुरुष इस संसार से भी अधिक दुःखप्रद संसार में भटकता है।।५५८।। पापवश दृढ मोह से ग्रस्त जो मूर्ख समझता है कि भेद वास्तविक है वह अत्यधिक दुःखप्रद नरकों में लगातार भ्रमण करता रहता है। इसलिये अभिन्न ब्रह्म को अखण्ड ही समझना चाहिए।।५५९।।

कोई भी बहिर्मुखी साधन आत्मयाथात्म्य के बोध में कारण बने यह संभव नहीं, इसीलिये कह चुके हैं कि इन्द्रियों का शील ही ऐसा है कि वे बाह्य अर्थों को ही ग्रहण करती हैं।।५६०।। क्योंकि इंद्रियों से एवं बहिर्मुखी सब साधनों से आत्मावबोध नहीं हो सकता इसलिये जिसे ब्रह्मविषयक उपदेश प्राप्त हो चुका किंतु अप्रतिबद्ध साक्षात्कार नहीं हुआ

---

१. 'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।।'४.११।। अत्र प्रकरणे धर्मसामान्यनिषेधे तात्पर्यमिति लघुचंद्रिकायां (पृ. ७३६) व्यक्तम्।

परतो यत्र नानात्वं तदनानात्वमीरितम्। यथैव गगने तत् स्यान्निर्मितं हि घटादिना।।५६३

अपि भिन्नं न किञ्चित्तु सदस्ति ब्रह्मणः सदा। असता केन भेदः स्यात्तेन स्वात्मस्वरूपतः।।५६४

तस्माद् निर्द्वैतमेवैतद् द्रष्टव्यं मनसैव हि। शास्त्रसंस्कारसूक्तेन हृदिस्थेनात्मनः सदा।।
यतो नानात्वदृष्टौ स्याद् दोषः प्रागेव कीर्तितः।।५६५

अङ्गुष्ठमात्रः

अयमात्मा जीवरूपो मनुष्याणां हृदि स्थितः। अङ्गुष्ठमात्रं हृदयं तेषां प्रायः प्रकीर्तितम्।।
अङ्गुष्ठमात्रस्तेनाऽयं हृदयस्थो भवेत् सदा।।५६६

सोऽभेदरूप एव बोध्यः, औपाधिकभेदस्य उपाधिमात्रनिष्ठतायाः प्रसिद्धत्वात्, यथा घटमठादिप्रयुक्तो गगनभेदो न गगनं स्पृशति किन्तु घटादिष्वेव तिष्ठतीत्यर्थः।।५६३।। किं चोपाधयोऽपि वस्तुतो न ब्रह्मणः पृथक् सत्ताका इत्याह—अपि भिन्नमिति। किञ्चिद् अपि ब्रह्मणो भिन्नं विविक्तं सत् सत्ताशालि न भवति। तथा च असता नृशृंगसाम्यं गतेन तेन उपाधिना सर्वेषामात्मभूताद् ब्रह्मणः सकाशाद् भेदः कथं स्यादित्यर्थः।।५६४।। फलितमाह—तस्मादिति। तस्मात् शास्त्रसंस्कारवत्त्वेन सूक्तं सुष्ठूपदिष्टं तत्तथा तेन मनसैव निर्द्वैतम् आत्मरूपं द्रष्टव्यम्, भेददर्शने दोषस्योक्तत्वाद् इत्यर्थः।।५६५।।

[1]द्वादश्यर्थमाह—अयमिति द्वाभ्याम्। अयम् अद्वितीयत्वेन वर्णित आत्मा जीवरूपेण मनुष्याणां हृदि स्थितः तस्य च मनुष्यहृदयस्य प्रायेण अङ्गुष्ठपरिमितत्वात् सोऽपि तदवच्छेदेन अङ्गुष्ठमात्र इत्युक्त इत्यर्थः।।५६६।।

उस अधिकारी को चाहिये कि निष्काम मन द्वारा उस ब्रह्म का आवरण हटाये जो सभी भेदों से रहित प्रत्यक्स्वरूप आनंद है।।५६१।। हमेशा आकाश की तरह एकरूप ब्रह्म में स्वाभाविक नानात्व (=भेद) संभव नहीं।।५६२।। स्वाभाविक न होकर किसी उपाधि से आरोपित जहाँ भेद होता है वहाँ उसे अभेद ही कहा जाता है क्योंकि प्रसिद्ध है कि औपाधिक भेद केवल उपाधि में रहता है, जैसे आकाश में प्रतीत होता घटादिप्रयुक्त भेद वास्तव में अभेद है। (घटाकाश, मठाकाश आदि आकाशों में लगता भेद केवल घट-मठादि में है, आकाश में अभेद ही है; ऐसा ही विभिन्न उपाधियों वाले आत्माओं में लगता भेद उपाधियों का ही होता है, आत्मा अभिन्न ही बना रहता है।)।।५६३।। इतना ही नहीं, आत्मस्थल में तो उपाधियाँ भी ब्रह्म से पृथक किसी स्वतंत्र सत्ता वाली नहीं हैं कि उनका भी वास्तविक भेद संभव हो ! हमेशा का नियम है कि ब्रह्म से पृथक् हुआ कुछ भी ऐसा नहीं जो सत्ताशाली हो। ब्रह्म से पृथक् न हों तो उपाधियाँ भी विभिन्न न होने से भेदप्रयोजक बनेंगी नहीं और ब्रह्म से पृथक् हों तो उपाधियाँ असत् होंगी, मनुष्य के सींग की तरह अलीक होंगी। स्वयं असत् जो उपाधियाँ वे सबको उस ब्रह्म से भिन्न कैसे बनाएँगी जो सबका आत्मा है ?।।५६४।। इस प्रकार क्योंकि भेददृष्टि की हानिकारकता समझाई जा चुकी है इसलिये अपने हृदय में स्थित 'सुमन' द्वारा हमेशा यह अद्वैत आत्मा ही देखना चाहिये। मन को 'सु'-विशेषण से युक्त तब कहा जाता है जब वह शास्त्रोक्त आत्मतत्त्व की प्रभूत वासना से अलंकृत हो जाता है।।५६५।।

अद्वितीय कहा गया यह आत्मा जीवरूप हुआ मनुष्यों के हृदय में उपलब्ध है। मनुष्यों का हृदय लगभग उन्हीं के अंगूठे जितना बताया जाता है अतः हृदय में मौजूद यह आत्मा अंगूठे-भर का हो यह हमेशा संगत है। (घटाकाश घट जितना ही होता है, इसी तरह हृदय द्वारा सीमित किया आत्मा हृदय जितना ही होता है। हृदय अंगूठे जितना है अतः वह आत्मा भी उतना ही है। ब्रह्मसूत्र में बताया है कि वेद मनुष्यों को समझाने में प्रवृत्त है अतः उन्हीं के हृदय

१. 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत्।'४.१२।। अत्र ब्रह्मसूत्रं १.३.२४ द्रष्टव्यम् अङ्गुष्ठमात्रः क इत्यस्य निर्णयाय।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्येऽस्ति हृदयस्य हि। ईशानो भूतभव्यस्य यज्ज्ञानात् संशयादि न।।५६७
अङ्गुष्ठमात्र ईशानः स्वयंज्योतिर्हृदि स्थितः। कालत्रयेऽप्येकरूपो न विपर्येति कर्हिचित्।।५६८

भेददर्शनादनर्थः

नाऽस्य भेदोऽस्ति कुत्राऽपि चैतन्यैकस्वरूपिणः। यथा जलस्य सर्वत्र द्रवस्नेहस्वरूपिणः।।५६९
उच्चैर्निपतितं यद्वद् याति नीचैः पयः सदा। भेदवानपि चात्मैवं मन्तव्यो भेदमाव्रजेत्।।५७०
मेघान्निपतितं नीरं समे वा विषमे स्थले। पर्वतानपि सम्प्राप्य ततो निम्नां भुवं व्रजेत्।।५७१
एवं कर्मनिमित्तेन नाना योनीः समाव्रजन्। आत्माऽत्र ब्रह्मविज्ञानाद् एकतां याति सर्वथा।।५७२

अङ्गुष्ठमात्र इति। तं हृदयान्तःस्थम् अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं सर्वेशानरूपेण यो जानीयात् तस्य जुगुप्सापदोक्तं संशयादिकं न भवतीत्यर्थः।।५६७।।

त्रयोदश्यर्थमाह[1]—अङ्गुष्ठेति द्वाभ्याम्। अङ्गुष्ठमात्रः सर्वेशानः स्वयंज्योतिः निर्धूमाग्निवद् देदीप्यमानः अद्य-श्वः-पदोपलक्षितकालत्रयेऽपि एकरूपः तिष्ठति इत्यर्थः।।५६८।। नाऽस्येति। अस्य आत्मनः चिदेकरूपस्य कुत्राऽपि देशे काले वा भेदो नास्ति यथा सर्वत्र जलं द्रवादिरूपमेव, न भिन्नमित्यर्थः।।५६९।।

चतुर्दश्या[2] अर्थं दर्शयति—उच्चैरिति। यथा पयो जलं मेघेभ्य उच्चैः उच्चेषु पर्वतशिखरादिदेशेषु निपतितं सद् नीचैः याति विशीर्यत इति यावत्; एवं भेदवान् भेदेन दृष्ट आत्माऽपि बोध्यः। किन्तस्य भवतीति चेत् ? शृणु—भेदमाव्रजेद् इति। भेदं विदारणं नानायोनिभावं गच्छेद् इति भाष्यानुसारेणाऽर्थः।।५७०।। फलितार्थमाह—मेघादिति द्वाभ्याम्। यथा पर्वतीये समे विषमे वा ऊर्ध्वदेशे मेघान्निपतितं नीरं पर्वतान् पर्वतस्य मध्यादिभागान् प्राप्य ततोऽपि निम्नां भूमिं व्रजति, निम्ना भूमिस्तस्य विश्रामस्थानमिति यावत्।।५७१।। एवमिति। यथोक्तो दृष्टान्तः तथा भेददर्शनलक्षणोच्चनिपातप्रयुक्तं नानायोनिभ्रमणलक्षणं विशरणं व्रजन् सन्नात्मा ब्रह्मविज्ञानात्मिकां विश्राममभूमिं प्राप्य एकतां भूमानन्दरूपां विश्रान्तिं व्रजेदित्यर्थः।।५७२।।

को उन्हीं के अंगूठे जितना कहकर उन्हीं को अनुभूयमान जीवरूप आत्मा को अंगूठे-भर का कह दिया है। इसका मतलब यह नहीं कि अन्य प्राणियों में जीव नहीं या आधा-चौथाई जीव हो ! अन्य प्राणियों का प्रसंग ही यहाँ नहीं कि उनके जीवात्मा के बारे में कुछ भी कहा जा रहा हो। मनुष्य के भी जीव को अंगूठे जितना इसलिये नहीं कहा कि सारा शरीर सजीव न हो ! वरन् हृदय में विशेष उपलब्धि के अभिप्राय से, और वहाँ उपासना करने से आत्मा के विशेष दर्शन के अभिप्राय से हृदय में सीमित आत्मा का उल्लेख किया है।)।।५६६।। अंगूठे जितना (किंतु) पूर्ण चैतन्य हृदय के मध्य है, वही भूत-भावी का ईशान (प्रशासक) है और उसीके वास्तविक ज्ञान से आत्मगोचर संशय-मिथ्याज्ञान-अज्ञान मिट जाते हैं।।५६७।। यद्यपि हृदय में स्थित हुआ अंगूठे-भर का लगता है तथापि स्वयंप्रकाश आत्मा सर्वेश्वर ही है। वह हमेशा एकरूप ही है, कभी बदलता नहीं।।५६८।। सिर्फ चैतन्य जिसका स्वरूप है उस आत्मा का किसी भी देश-काल में भेद नहीं है जैसे जल हमेशा द्रवरूप व स्नेहरूप ही रहता है, इससे भिन्न रूप वाला नहीं होता। (जहाँ द्रवादि से भिन्न रूप वाला लगता है वहाँ वे भिन्न रूप औपाधिक ही माने जाते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक इसी विश्वास वाले हैं कि जिस पदार्थ का जो स्वरूप प्रयोगशाला में निर्णीत हो जाता है उसका हमेशा हर जगह वही स्वरूप रहता है, यदि उसके व्यवहार में विलक्षणता मिले तो उसका प्रयोजक उस पदार्थ से पृथक् ही कुछ होता है। ऐसे ही हृदय में अभिन्न निर्णीत आत्मा सदा सर्वत्र अभिन्न ही है, भेद उपाधिवश भ्रमसिद्ध है यह तात्पर्य है।)।।५६९।।

---

१. 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाऽधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाऽद्य स उ श्वः। एतद्वै तत्।।४.१३।।

२. 'यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति। एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति।'४.१४।।

यथा जलं स्थले शुद्धे शुद्धमेवावतिष्ठते। कलुषं गैरिकादीनां संयोगादपि तद् व्रजेत्।।५७३
एवमात्मा सदा शुद्धो विशुद्धे मनसि स्थितः। रागादिसहिते तद्वदशुद्धश्च भवेदयम्।।५७४
स्वभावः स्वच्छता यद्वदपां च सर्वदैव हि। आत्मनोऽपि तथैवैषा स्वच्छता परिकीर्तिता।।५७५

दुःखहेतुः

सुशीतलं यथा नीरं वह्नियोगात् प्रजायते। उष्णमात्मा सुखं तद्वद् दुःखी देहस्य योगतः।।५७६
नचिकेतस्ततो देहो द्विविधोऽपि सकारणः। दुःखस्य कारणं दृष्टो ब्रह्मविद्भिर्महात्मभिः।।५७७
बीजं यथा फलाय स्याद् नाङ्कुरेण विना क्वचित्। एवं देहं विना माया न दुःखाय कदाचन।।५७८

चतुर्थवल्ल्यन्त्यायाः[1] अर्थमाह—यथा जलमिति। यथा शुद्धे देशे पतितं जलं शुद्धमेव तिष्ठति, तस्य हि मालिन्यं गैरिकादिवद्देशसंसर्गकृतमेव, तथा स्वतः शुद्धस्यात्मनः शुद्धधियामन्तः सम्यग्भानं, मलिनधीभिस्तस्यान्यथादर्शनेऽपि तत्स्वरूपस्य न काऽपि क्षतिः। इति त्रयाणां भावः।।५७३-५।।

पञ्चमवल्ल्याद्यामृचमवतारयति—सुशीतलमिति षड्भिः। यथा स्वभावतः शीतलमपि नीरं वह्नियोगाद् उष्णं जायते तथा स्वभावतः सुखरूपोऽपि आत्मा देहयोगाद् दुःखी भवतीति।।५७६।। नचिकेत इति। हे नचिकेतः! ततो देहस्य दुःखेन अन्वयव्यतिरेकदर्शनात् कारणाज्ञानसहितं स्थूलसूक्ष्मरूपं शरीरद्वयं दुःखहेतुरित्यर्थः।।५७७।। तत्र कारणाज्ञानं न साक्षाद् दुःखहेतुः किन्तु विषवृक्षबीजम् अंकुरादिद्वारेव सूक्ष्मादिदेहद्वयद्वारेत्याह—बीजमिति।।५७८।। तत्रापि सूक्ष्मदेहः स्थूलदेहं विना न भोगद इत्याह—माययेति द्वाभ्याम्। तत्र यः सूक्ष्मो देहः स मायायाः कार्यं

ऊँचे शिखरों पर बरसा पानी जैसे हमेशा नीचे की ओर बह जाता है ऐसे ही समझ लेना चाहिये कि भेदरूप शिखर पर पड़ा आत्मा विभिन्न योनियों में गिरता चला जाता है।।५७०।। मेघों से बरसा पानी पहाड़ों के पठारी हिस्सों पर गिरे या चोटीले हिस्सों पर, वह सदा निचली भूमि की ओर बह जाता है। इसी प्रकार कर्म के निमित्त से आत्मा संसार में नाना योनियों में भटकते हुए जब ब्रह्मानुभूतिरूप विश्रामभूमि पर पहुँचता है तभी पूरी तरह एकता अर्थात् व्यापक आनंदरूप विश्राम पाता है।।५७१-२।।

शुद्ध स्थान पर बरसा पानी साफ ही रहता है, गेरु आदि का संयोग रहते वह मैला भी प्रतीत हो जाता है। इसी तरह अशुद्धिहीन मन में स्थित आत्मा शुद्ध ही रहता है क्योंकि स्वतः तो वह हमेशा शुद्ध ही है। राग-द्वेष आदि मल वाले मन में स्थित यह आत्मा अशुद्ध प्रतीत हो जाता है। जैसे स्वच्छता हमेशा ही जल का स्वभाव है ऐसे आत्मा की भी यह स्वच्छता स्वाभाविक व सनातन बतायी गयी है। (बुद्धि की अशुद्धि से आत्मा में रागादि कल्मष प्रतीत होते समय भी आत्मा तो शुद्ध ही है। बुद्धि से दोष हट जाने पर आत्मा भी शुद्ध ही भासने लगता है। काचादि नेत्रदोष रहते दो दीखता चाँद रहता एक ही है, दोष हट जाने पर वह एक ही दीखने लगता है, ऐसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये।)।।५७३-५।।

स्वभाव से शीतल जल आग के सम्बन्ध से जैसे गर्म हो जाता है वैसे सुखरूप आत्मा शरीरसम्बंध से दुःखी हो जाता है। (दार्शनिकों ने जल में शीतलता स्वाभाविक मानी है अतः 'गर्म जल' यह भ्रम माना जाता है जिसमें हेतु है अग्निरूप उपाधि जो जलकणों के मध्य उपस्थित हो जाती है। इसी तरह आत्मा को शरीर से तादात्म्य हो जाने से 'मैं दुःखी' यह भ्रम होता है।)।।५७६।। हे नचिकेता! क्योंकि दुःख सशरीरता रहते ही होता है, शरीर के बिना दुःख नहीं होता, इसलिये कारणशरीर सहित स्थूल-सूक्ष्म दोनों तरह के शरीर दुःख के हेतु हैं यह ब्रह्मवेत्ता महात्माओं को स्पष्ट पता है।।५७७।। जैसे अंकुर के बिना बीज कभी फल उत्पन्न नहीं कर सकता ऐसे स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के बिना माया

१. 'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम।।'४.१५।।

मायया जायते देहः सूक्ष्मो यो न विनश्यति। मायानाशं विना योऽयं सूत्रमित्युच्यते बुधैः।।
संसारपटनिर्माणे सर्वेषामिह देहिनाम्।।५७९
स्थूलं देहं समाश्रित्य स हि भोगं प्रयच्छति। आत्मनस्तत्र तादात्म्यं मन्यमानस्य सर्वदा।।५८०
स्थूले वपुषि तेनाऽयं विभाति विशदः पुमान्। गुरुशास्त्रोपदेशेन तस्माद् देहं वदामि तम्।।५८१
पूर्यते पुरुषेणैतद् धातुभिश्च तथैव हि। त्वगादिभिस्तथैवाऽन्नपानजातरसैर्मुहुः।।
पुरं शरीरं तेनैतत् पूर्णेशेन समन्वितम्।।५८२
द्वारवद्धि यथा लोके पुरं भवति सर्वतः। अधिष्ठितं च केनाऽपि भोगिना प्रभुणा गृहम्।।५८३
तद्वद् एकादशद्वारमिदं देहमुदाहृतम्। सप्तद्वाराणि तस्योर्ध्वमधस्ताद् द्वे च संस्थिते।।५८४

मायानाशम् अन्तराऽविनाशी च स्थूलदेहाश्रयेणैव आत्मनो भोगहेतुश्च। कीदृशस्य आत्मनः ? तत्र शरीरद्वये तादात्म्याध्यासं गतस्येति द्वयोरर्थः।।५७९-८०।। स्थूल इति। तेन स्थूलदेहस्य भोगलिङ्गद्वारात्मवैशद्यदेशत्वेन अत्र स्थूलदेहेऽयं पुरुषः शास्त्राचार्यप्रसादाद् अतिविशदोऽपि भवति, तस्मात् तदात्मवैशद्यात्मकं प्रयोजनमभिसन्धाय तं स्थूलं देहं वर्णयामीत्यर्थः।।५८१।।

अवतारितां[1] व्याचष्टे—पूर्यत इति विंशत्या। पुरुषपदं सूक्ष्मशरीरवाचकं मधुब्राह्मणादौ प्रसिद्धम्। धातवस्त्वगादयः सप्त प्रसिद्धाः, अन्नादिरसश्च। एतैः पूर्यमाणत्वलक्षणव्युत्पत्तिसमन्वयाद् एतत् स्थूलं शरीरं पुरम् इत्युच्यते। अथ वा यथा लौकिकं पुरम् ईशेन स्वामिना राजादिरूपेण समन्वितं तद्वत् पूर्णेन प्रभुणा समन्वितत्वाद् गौणमस्य पुरत्वमित्यर्थः।।५८२।। लौकिकपुरसाम्यमेव प्रपंचयति—द्वारवदिति। यथा गृहं प्रभुणा गृहस्वामिना अधिष्ठितं तथा केनचित् स्वामिनाऽधिष्ठितं च लौकिकं पुरं भवति।।५८३।। तत्र द्वारवत्त्वरूपं साम्यमस्य स्फुटमित्याह—तद्वदिति। सप्त श्रोत्रनेत्रनासिकायुगानि मुखं चेति। द्वे पायूपस्थरूपे। दशमी नाभिः। शिरो-

कभी दुःख नहीं दे सकती।।५७८।। माया से जो सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है वह तब तक नष्ट नहीं होता जब तक माया का नाश न हो जाये। अनुभवभूमि पर सब देहधारियों को उपलब्ध संसाररूप वस्त्र के निर्माण में यह सूक्ष्म शरीर ही विद्वानों द्वारा 'सूत्रात्मा' अर्थात् धागास्थानीय कहा जाता है। सूक्ष्म शरीर भोग तभी प्रदान करता है जब वह स्थूल शरीर में आश्रित हो और उसी आत्मा को भोग देता है जो स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में तादात्म्याध्यास वाला हो, उनसे स्वयं को एक-मेक समझता हो। यह सनातन नियम है कि शरीराध्यास रहते ही भोग हो सकता है।।५७९-८०।। भोग वह चिह्न है जिससे आत्मसत्ता स्फुट हो जाती है और भोग स्थूलदेह रहते ही होता है अतः आत्मा के विशद अवभास में स्थूल देह का महत्त्वपूर्ण योगदान है। किं च स्थूलदेह के सहारे ही शास्त्र का व आचार्य का प्रसाद पाकर आत्मा का अतिविशद—प्रमारूप—अवभास भी संभव है। ऐसा अतिविशद अवभास हो इस प्रयोजन से मैं स्थूल देह का वर्णन करता हूँ।।५८१।।

क्योंकि यह पुरुष (= सूक्ष्म देह) द्वारा पूरा किया अर्थात् भरा जाता है, त्वक् आदि सात धातुओं से पूर्ण है और खाद्य-पेयों से उत्पन्न रसों से बार-बार भरा जाता है इसलिए यह स्थूल शरीर पुर कहलाता है जो परिपूर्ण महेश्वर से समन्वित है। (वस्तुतः 'पूरा' तो शिव है लेकिन क्योंकि वह इसमें निवास करता है इसलिये शरीर को भी 'पूरा' (पुर) कह दिया जाता है।)।।५८२।। लोक में जो पुर अर्थात् नगर होते हैं उनमें हर ओर दरवाज़े होते हैं। जैसे घर के मालिक द्वारा घर अधिष्ठित होता है ऐसे ही लोकप्रसिद्ध पुर भी किसी भोगी प्रभु से अधिष्ठित होता है।।५८३।। ऐसे ही यह देह ग्यारह दरवाज़ों वाला पुर कहा गया है। इसके सात दरवाज़े ऊपर (मुखमण्डल में), दो नीचे, दसवाँ

१. 'पुरमेकादशद्वारमजस्याऽवक्रचेतसः। अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते। एतद्वै तत्।।'५.१।।

उदरे दशमं नाभिच्छिद्रमुक्तं मनीषिभिः। कपालत्रयसंधिस्थमुक्तमेकादशं सदा। ।५८५
सरस्वती गता यत्र नित्यं प्रच्छन्नचारिणी। ऊर्ध्वं यया व्रजन् योगी व्रजेदर्चिषमञ्जसा। ।५८६
जन्मशून्यः पुमानिन्द्रः स्वयंज्योतिः सदैव यः। वर्जितः कुटिलेनान्यचेतसा जडरूपिणा। ।५८७
अधितिष्ठति सर्वज्ञः करणैरपि वर्जितः। इदं पुरं सदा देवैर्वागाद्यैरप्यधिष्ठितम्। ।५८८
सम्पाद्य कर्मणा स्वेन सर्वकर्मविवर्जितः। आनन्दात्मा स्वरूपेण न शोचति कदाचन। ।५८९
शोको दुःखसमुत्थः स्याद् दुःखं सङ्गसमुद्भवम्। निःसङ्गः पुरुषः केन शोकं गच्छेदकारणम्। ।५९०
आनन्दात्मा स्वयंज्योतिर्विशोको यः पुरः स्थितः। धर्मादिरहितं रूपं स एवैतन्न संशयः। ।५९१

मुक्तो मुच्यते

एतद्विज्ञानतः सोऽयं विमुक्तः स्वात्मरूपतः। अज्ञानबन्धनाद् भूयो मुच्यतेऽत्र भवादृशः। ।५९२

मध्यद्वारं तु एकादशम्। इति द्वयोरर्थः। ।५८४-५। । सरस्वतीति। यत्र कपालत्रयसन्धिस्थ एकादशे द्वारे सरस्वती सुषुम्नारूपा वहति प्रच्छन्नचारिणी अयोगिभिर्दुर्लक्ष्या यया सुषुम्नारूपसरस्वत्या ऊर्ध्वं गच्छन् योगी अर्चिराद्युपलक्षितं देवयानं पन्थानमाक्रमतीत्यर्थः। ।५८६। । तदधिष्ठातारं दर्शयति—जन्मेति। जन्मादिविकारशून्य इन्द्रः परमेश्वरः स्वयंप्रकाशत्वाज्जडतया स्वतो भिन्नेन चेतसा मनसा वर्जितः, स्वभाने तदनपेक्ष इति यावत्। कीदृशेन कुटिलेन सत्तादिप्रदमात्मानं विहाय विषयाभिमुख्यरूपकौटिल्यशालिना। ।५८७। । स देवोऽस्य पुरस्य वागाद्यैर्नगरवासिसमैर्युतस्याऽधिष्ठातेत्याह—अधितिष्ठतीति। ।५८८। । स देवो वस्तुतः सर्वकर्मरहितत्वाद् आनन्दरूपत्वाच्च कल्पितेन कर्मणा उक्तं पुरं नाना क्लेशागारं संपाद्याऽपि शोकादिनिर्मुक्त इत्याह—सम्पाद्येति। स्पष्टम्। ।५८९। । वस्तुतः शोकादिराहित्य उपपत्तिं दर्शयति—शोक इति। स्पष्टम्। ।५९०। । य एवं वर्णितः पुरुषः स एव त्वत्पृष्टं धर्माद्यतीतं तत्त्वमित्याह—आनन्दात्मेति। ।५९१। ।

अयमधिकारी नित्यमुक्तात्मरूपेण नित्यमुक्तरूपोऽपि एतद्विज्ञानात् कल्पितमज्ञानरूपं बन्धं त्यजन् पुनर्मुक्तव्यवहारभाग् भवतीत्याह—एतदिति। ।५९२। । यथा भाग्यवान् लोके सुखं प्राप्य पुनः सुखी भवेत्तथा विद्वान्

पेट में जिसे मनीषी नाभि-छिद्र कहते हैं और ग्यारहवाँ सिर की तीनों कपाल-अस्थियों के जोड़ में स्थित बताया जाता है। ।५८४-५। । यह ग्यारहवाँ छिद्र वही है जिस दरवाज़े से सुषुम्नारूप सरस्वती हमेशा प्रवहित होती है। यह सरस्वती उन्हें मालूम नहीं पड़ती जो योगी नहीं हैं। इसी सरस्वती द्वारा प्रयाण कर योगी अर्चिरादि अर्थात् देवयानमार्ग से गमन करते हैं। ।५८६। । जन्मादि परिवर्तनों से रहित, सदा स्वप्रकाश पूर्ण परमेश्वर में वह चित्त कभी नहीं है जो उस परमेश्वर से भिन्न है, विषयाभिमुखतारूप कुटिलता वाला है एवं स्वयं की सत्ता-स्फूर्ति में परमेश्वर की अपेक्षा रखता है। ।५८७। । सर्वज्ञ परमात्मा कारणों से रहित रहते हुए भी हमेशा इस नगर का अधिष्ठाता बनता है जिसमें वाणी आदि देवता भी अधिष्ठित हैं। (वाणी आदि देवता, करणाधिष्ठाता, नगरवासियों की जगह और परमेश्वर राजा की जगह समझने चाहिये।)। ।५८८। । आनन्दरूप वह परमात्मा अपने स्वरूप से तो ऐसा है कि उसका किसी कर्म से कोई सम्पर्क नहीं इसलिये वस्तुतः वह कभी शोक नहीं करता फिर भी स्वयं द्वारा कल्पित कर्म से वह अनेक क्लेशों के आगार इस शरीर को संपन्न कर लेता है। ।५८९। । शोक का उदय होता है दुःख से और दुःख तभी होता है जब आसक्ति हो; पुरुष हमेशा आसक्तिरहित है अतः जब कारण ही नहीं तब उसे शोक हो कैसे सकता है ! । ।५९०। । धर्मादि से अतीत जो तत्त्व तुमने पूछा वह यही है जो आनन्दरूप, स्वप्रकाश, शोकरहित और शरीर में प्रत्यग्रूप से स्फुरमाण है। ।५९१। ।

अधिकारी रूप से उपस्थित वह आत्मा निरुपाधिरूप से हमेशा पूर्णतः मुक्त है किंतु कल्पित अज्ञान से अनुभूयमान बंधन में पड़ा तुझ जैसा कोई दुर्लभ ही होता है जो इस आत्मा के निरावृत अनुभव से पुनः मुक्ति पा जाता है। (श्रुति

सुखात् सुखं यथैवाऽयं लौकिकः पुरुषो व्रजेत्। विमुक्तस्तद्वदेवात्मा पुनरेव विमुच्यते।।५६३
बन्धनं हि भवेद् बन्धो मूर्त्तानां जडरूपिणाम्। घटादीनामयं दृष्टो गगने न कदाचन।।५६४
संयोगसमवायादि कल्पितं बन्धनं हि यत्। वादिभिर्न भवेत् सत् तत् कल्पितत्वेन हेतुना।।५६५
संयोगः समवायो वा प्रत्यक्षो नैव दृश्यते। विज्ञाय वस्तुनी यस्मात् तस्माद् नैषोऽत्र विद्यते।।५६६
नानुमानमतोऽत्राऽस्ति ग्रहे किञ्चन कर्हिचित्। शब्दस्तु नरशृङ्गादौ पक्षपातविवर्जितः।।५६७

मुक्त एव मुच्यत इत्याह—सुखादिति। स्पष्टम्।।५६३।। आत्मनो नित्यमुक्ततां स्फुटयितुं बन्धपदेन किं रज्ज्वादिना वेष्टनं विवक्ष्यते, किं वा संसर्गः ? इति विकल्प्य; तत्र नाद्यः, तस्य मूर्तत्वव्याप्यत्वाद् आत्मनो गगनवत् पूर्णत्वाद् इत्याह—बन्धनमिति। बन्धनात्मको बन्धो मूर्त्तानां परिच्छिन्नानां घटादीनाम् एव दृष्टो, न गगनादाविति।।५६४।। न द्वितीय इत्याह—संयोगेति। संयोगादिसम्बन्धरूपं बन्धनं यद् वादिभिः कल्पितं तत् सत् सत्यमेव न भवति, कल्पनामात्रत्वादेवेत्यर्थः।।५६५।।

संयोगादेः कल्पनामात्रत्वम् अप्रामाणिकत्वेन स्फुटयितुं, तत्र प्रत्यक्षं तावन्नास्तीत्याह—संयोग इति। वस्तुनी अनुयोगिप्रतियोगिरूपे विज्ञाय विशेषेण अवहितचित्ततारूपेण अवधार्य ताभ्यां पृथग्भूतः संयोगादिः न दृश्यते तस्माद् अनुपलम्भाद् एष संयोगादिः पदार्थः अत्र वस्तुस्वरूपे न अस्तीत्यर्थः। तथा हि दण्डी पुरुष इत्यत्र प्रतियोग्यनुयोगिनोः दण्डपुरुषयोः स्वरूपविवेके क्रियमाणे संयोगपदार्थः पृथङ् न दृश्यते। एवं समवायोऽपि।।५६६।।

नानुमानमिति। अतः प्रत्यक्षाऽयोग्यत्वाद् अत्र संयोगादिस्वरूपविषयके ग्रहणे साध्येऽनुमानम् अपि न प्रवर्तते। न हि प्रत्यक्षेण केनाऽपि रूपेणागृहीतेऽनुमानं प्रवर्तते। तथा च न्यायभाष्यम्—'नानुपलब्धे न्यायः प्रवर्तते' इति।

शब्दोऽपि द्विविधः—लौकिको वैदिकश्च। तत्र नाद्यः, तस्य प्रमाणान्तरानुग्रहेणैव अर्थसाधकत्व-दृष्टेरित्याह—शब्दस्त्विति। पक्षपातः प्रमाणान्तराऽनुग्रहः, तद्विवर्जितः शब्दो यदि प्रमाणं स्यात् तदा नरशृङ्गादौ अपि स्याद् इत्यर्थः।।५६७।। न द्वितीय इत्याह—न चेति। तयोः संयोगसमवाययोः। एवं प्रत्यक्षादित्रयाभावे तदुप-

ने बताया है कि 'विमुक्त का ही विमोक्ष होता है' अर्थात् आत्मा में कल्पित बंधन जब हटता है तब ऐसा व्यवहार होने लगता है कि आत्मा मुक्त हो गया जबकि कल्पना छोड़ दें और सचाई की बात करें तो आत्मा हमेशा मुक्तस्वरूप ही है)।।५६२।। लोक में भाग्यवान् व्यक्ति जैसे सुख पाकर पुनः और भी सुख पाता है वैसे आत्मा विमुक्त रहते हुए ही फिर से मुक्त हो जाता है। ('फिर से' का मतलब यह नहीं कि अविद्यानिवृत्ति-लक्षण मोक्ष पहले भी था ! वह मोक्ष तो एक ही बार हो सकता है क्योंकि अविद्या अनादि पदार्थ होने से उत्पन्न ही नहीं हो सकती तो पुनरुत्पन्न कैसे होगी ! अतः 'फिर से' कहा है स्वरूपभूत मोक्ष की अपेक्षा से।)।।५६३।। बँधने को ही बंधन कहते हैं तथा यह जडरूप वाले और परिच्छिन्न घटादि में ही देखा जाता है, गगन आदि अपरिच्छिन्नों में नहीं। गगन की तरह पूर्ण आत्मा का इसीलिये बँधना संभव नहीं जिससे वह नित्य ही मुक्त है।।५६४।। वादियों द्वारा कल्पित जो संयोग, समवाय आदि बंधन वे कल्पित होने के कारण सत्य ही नहीं कि आत्मा को उन अभिप्रायों से वस्तुतः बद्ध माना जा सके।।५६५।।

अनुयोगी व प्रतियोगी वस्तुओं को पूरे ध्यान से देखकर भी उनसे अलग संयोग या समवाय पदार्थ आँख-नाक आदि से प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं होता अतः आत्मवस्तु में माना जा सके ऐसा संयोगादिरूप बंधन प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध नहीं। (दण्ड-पुरुष से अन्य इनका 'संयोग' कहलाने वाला कोई पदार्थ आँख से नहीं दीखता—यह अर्थ है। आँख से रूपादिमान् वस्तु दीखती है। संयोग क्या लाल है या पीला ? लंबा या छोटा ? क्योंकि यों किसी रूप वाला नहीं इसलिये संयोग दीख सकता नहीं। फिर भी जो उसका व्यवहार होता है वह भ्रमसिद्ध ही है।)।।५६६।। प्रत्यक्ष के अयोग्य होने

न च वेदस्य वचनं तयोः सत्त्वेऽस्ति किञ्चन। प्रमाणान्तरमेतस्माद् दूरापास्तं कथं भवेत्।।५९८

गगनादौ ततो नैतौ विद्येते जडवस्तुनि। भविष्यतः कथं त्वेतावमूर्ते ज्ञानरूपिणि।।५९९

देहादिनाऽपि यः कश्चित् सम्बन्धो दुर्भणः स्थितः। आनन्दात्मनि सोऽप्यत्र विद्यते न च वस्तुतः।।६००

ततो बन्धनशून्यत्वाद् विमुक्तः सर्वदैव सः। विमुच्यते पुनर्मायानाशादात्मप्रबोधतः।।६०१

जीविनाम् उपमानादिप्रमाणान्तराणां सम्भावना दूरतो निरस्तेत्याह—प्रमाणान्तरमिति। एतस्योक्तस्य उपजीव्यप्रमाणत्रयस्य अभावात्।।५९८।। तथा चोक्तरीत्या संयोगादेः संभवो जडेष्वपि दृश्येषु न वक्तुं शक्यः तदा दृग्रूपात्मनि सर्वान्तरे तदसम्भवः किमु वाच्य इत्याह—गगनादाविति।।५९९।।

अस्तु तर्हि अनिर्वचनीयः सम्बन्ध इति चेत्? न, तस्यापि 'योग्यं योग्येन सम्बध्यते' इति न्यायेन अनिर्वचनीयदेहादिष्वेव सत्त्वाद् इत्याह—देहादिनाऽपीति। यः कश्चिद् दुर्भणः अनिर्वचनीयः संबन्धः सोऽपि देहादिनैव अनिर्वचनीयेन सह स्थितः, अत्र आनन्दरूपे ब्रह्मात्मनि वस्तुतो न विद्यते—इति योजना।।६००।। फलितमाह—तत इति। ततः सम्बन्धस्य दुर्निरूपत्वात् सदा बन्धनशून्यत्वेन मुक्तोऽपि आत्मा कल्पितबन्धात्मिकां मायाम् आत्मबोधेन निघ्नन् पुनर्मुच्यत इत्युक्तः।।६०१।।

के कारण इस बात को निर्धारित करने वाला कोई अनुमान भी कभी प्रवृत्त नहीं होता कि संयोग आदि के स्वरूप को विषय करने वाला कोई ग्रहण होता है। जिसका किसी भी तरह प्रत्यक्ष नहीं होता उसके बारे में अनुमान नहीं किया जा सकता।

शब्द दो तरह का होता है—लौकिक और वैदिक। इनमें लौकिक शब्द तभी अर्थ सिद्ध करता है जब उस पर किसी स्वतंत्र प्रमाण का अनुग्रह हो अर्थात् जिस शब्द से जो अर्थ सिद्ध होता है वह अर्थ उस शब्द पर निर्भर न करने वाले किसी अन्य प्रमाण से अवश्य सिद्ध होना चाहिए क्योंकि लौकिक शब्द का प्रवर्तक यदि प्रमा हो तभी लौकिक शब्द प्रमाण हो पाता है। यदि ऐसा न हो तो नरशृंग आदि अलीक पदार्थों में भी शब्द प्रमाण हुआ करे ! अर्थात् प्रमाणान्तरनिरपेक्ष लौकिक शब्द वस्तुसाधक हो तो असदर्थक शब्द से असत्पदार्थ सिद्ध मानने पड़ेंगे जो किसी को इष्ट नहीं। शब्द के बारे में यह नियम नहीं कि वह प्रमेय को ही विषय करता हो।।५९७।। वैदिक शब्द भी संयोग व समवाय का साधक नहीं क्योंकि उनकी वास्तविक विद्यमानता में तात्पर्य वाला कोई वैदिक वचन उपलब्ध नहीं। इस तरह प्रत्यक्षादि तीनों प्रमुख प्रमाण जब संयोग-समवाय को साधित नहीं करते तब इनके उपजीवी उपमानादि से उनकी सिद्धि कैसे होगी, वह संभावना तो दूर से ही निरस्त है।।५९८।। गगनादि जडवस्तु में भी जब संयोग आदि नहीं होते तो अमूर्त, व्यापक, ज्ञानरूप आत्मा में वे कैसे होंगे !।।५९९।।

संयोगादि बंधन नहीं हो सकते तो अनिर्वचनीय सम्बन्ध ही मान लिया जाये—यह भी कथन उचित नहीं। 'योग्य वस्तुएँ ही आपस में सम्बद्ध होती हैं' यह नियम है। आत्मा सत्य है अतः उसका सम्बंध मिथ्या हो यह नहीं हो सकता। अनिर्वचनीय शरीरादि का ही वैसा सम्बन्ध संभव है। जिसे सत्त्वेन-असत्त्वेन कहा-समझा नहीं जा सकता ऐसा जो कोई भी सम्बन्ध माना जाये वह भी उन शरीरादि के साथ ही होना योग्य है जो उसी प्रकार सत्त्वेन-असत्त्वेन कहे-समझे नहीं जा सकते। उपनिषत्प्रतिपाद्य आनंदरूप आत्मा में सचमुच वैसा सम्बन्ध नहीं हो सकता।।६००।।

इस प्रकार क्योंकि सम्बन्ध का निरूपण सम्भव नहीं इसलिये आत्मा हमेशा ही बंधन से रहित, पूर्णतः मुक्त है। फिर भी अपने सत्य स्वरूप के प्रामाणिक ज्ञान से माया का नाश हो जाने पर कह दिया जाता है कि 'वह पुनः मुक्त हो गया' क्योंकि माया ही वह कल्पित बंधन है जिससे आत्मा स्वयं को बँधा महसूस कर रहा है।।६०१।।

हंसः

आत्मप्रबोधतो यस्माद् हन्त्यविद्यामयं पुमान्। तस्माद्धंस इति प्रोक्तः पण्डितैर्वेदवादिभिः।।६०२
सूर्यरूपेण वा लोकत्रयीमटति सर्वदा। प्राणो बहिश्चरस्तेन हंस आत्मा निगद्यते।।६०३
शुचौ तिष्ठति सर्वात्मा हृदि वा गगनेऽपि वा। वसुभूतः सुवर्णेन सदृशो वै महेश्वरः।।
अन्तरिक्षे हृदयगे बाह्ये वैषोऽवतिष्ठते।।६०४
यज्ञकर्मणि देवोऽयं होतृरूपेण सर्वदा। वेद्यां तिष्ठति सर्वात्मा यजमानप्रमोदकः।।६०५
आत्माग्नौ सर्वमेवान्नं जुहोत्येव यतस्ततः। होतात्मा कथितो भोक्ता हृदि बिम्बेऽथ वा श्रितः।।
वेदिवद् मध्यतश्छिद्रे प्राणिजीवनहेतुके।।६०६
दुरोणे द्रोणकलशे गृहे वा गृहमेधिनाम्। तत्र सीदति सोमोऽयमतिथिर्यज्ञकर्मणि।।६०७

एवं निरावरणात्मनः प्रभावं वर्णयतो 'हंस' इत्यादेर्मन्त्रस्य[1] अर्थं षोडशभिर्निरूपयंस्तत्र हंसपदार्थसमन्वयं दर्शयति—आत्मेति द्वाभ्याम्। तत्राद्यं स्फुटम्।।६०२।। सूर्येति। अथ वा 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य' इति (प्र. १.८) श्रुत्यन्तराद् बहिश्चरप्राणात्मकसूर्यरूपेण त्रिलोकीभासकत्वात् सूर्यवाचकहंस-पदेनात्मोक्त इत्यर्थः।।६०३।।

'शुचिषद्'आदिपदत्रयार्थमाह—शुचाविति। शुचौ शुद्धे। यथा लोके सुवर्णं प्रियं तद्वत् प्रियत्वाद् अयं महेश्वर आत्मा धनवाचक-वसुपदेनोक्तः। तथा हृदयाकाशे आत्मरूपेण, बाह्याकाशे सूर्यादिरूपेण स्थितत्वाद् अन्तरिक्षवासी प्रोक्त इत्यर्थः।।६०४।।

तथाऽयमेवात्माऽधियज्ञं होतृसंज्ञकऋत्विग्रूपेण वेद्यां संस्कृतभूमौ तिष्ठतीत्याह—यज्ञेति।।६०५।। अथ वा प्राणाग्निहोत्रादिविधयाऽन्नभोक्तृत्वाद् अयमात्मा होतेत्युक्तः। वेदिसममध्यच्छिद्रवति हृदये सूर्यमण्डले वा स्थितत्वाच्च वेदिषदित्युक्तः। इत्याह—आत्माग्नाविति। आत्माग्नौ भोक्तृरूपाग्नौ यतः सर्वमन्नं जीवनहेतुभूतं जुहोति ततो भोक्ताऽऽत्मा होता इति कथितः हृदि बिम्बे वा मध्यतः मध्ये वेदिसमं यच्छिद्रं तत्र यतः श्रितः ततो वेदिषद् इत्युक्त इत्यर्थः।।६०६।। दुरोण इति। द्रोणपदं छान्दसदकारोत्तरोकारागमेन दुरोणेत्याकारकं सद् यज्ञे सोमरसाधारे कलशे मुख्यवृत्त्या वर्तते, तेन कलशेन अतिथिसम्मानकत्वलक्षणसाधर्म्येण सद्गृहिणां गृहेऽपि गौण्या वर्तते। तथा च सोमयागेऽतिथिवत् पूज्यत्वाद् वल्ल्यात्मकसोमरसरूपेण द्रोणकलशेऽयम् आत्मा सीदति तिष्ठति, तथा प्रसिद्धातिथिरूपेण गृहमेधिनां गृहे सीदति इत्यर्थः।।६०७।। प्रसिद्धातिथिं निरूपयति — अज्ञातेति। वाशब्देन

क्योंकि यह पुरुष निज स्वरूप के निरावरण से माया का हनन कर देता है इसलिये वेदवादी आत्मज्ञ इसे 'हंस' कहते हैं।।६०२।। अथ वा शरीर से बाहर संचरण करने वाला प्राण यह सूर्य है। सूर्यरूप से हमेशा त्रिलोकी में घूमता रहता है इसलिये आत्मा 'हंस' कहलाता है।।६०३।। सर्वात्मा होने पर भी यह विशेषरूप से शुद्ध हृदय या शुद्ध जगह में ही रहता है। आत्मरूप महेश्वर वैसे ही प्रिय है जैसे साधारणतः सुवर्ण प्रिय होता है, अतः वह वसुरूप (धनरूप) है। हृदयाकाश में आत्मरूप से और बाह्याकाश में सूर्यादिरूप से यही आत्मदेव अवस्थित है।।६०४।। यजमान को प्रसन्न करने वाला यह सर्वरूप आत्मदेव यज्ञरूप कर्म के दौरान 'होता' नामक ऋत्विक् के रूप में हमेशा 'वेदी'-नामक संस्कारयुक्त भूमि में मौजूद रहता है।।६०५।। आत्मा को 'होता' कहने में यह भी कारण है कि भोक्तारूप अग्नि में यह जीवनहेतुभूत सारे ही अन्न की आहुति देता रहता है। यज्ञस्थल पर वेदी की तरह हृदय-पिण्ड के मध्य जो प्राणियों के जीवन का हेतुभूत छिद्र है उसमें स्थित आत्मा 'वेदिषत्' (वेदी में स्थित) कहा जाता है।।६०६।।

१. 'हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद् होता वेदिषद् अतिथिर्दुरोणसत्। नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसद् अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्।।'५.२।।

अज्ञातकुलगोत्रो वा मध्याह्नादिसमागतः। अन्नाद्यर्थी मानवो यः सोऽतिथिः परिकीर्तितः।।६०८
नृषु नानाविधैरूपैरेष तिष्ठति देवराट्। नानेन्द्रियसमुत्थानैर्वीर्यैर्भोक्तात्मनाऽपि च।।६०९
वरं सम्यक् सुखं प्रोक्तं तत्र तिष्ठत्ययं पुमान्। आनन्दात्मा स्वयंज्योतिः स्वस्मिन्नेव स्वयम्प्रभे।।६१०
ऋतं कर्म समुद्दिष्टमवश्यं फलदायि यत्। तत्र तिष्ठत्ययं देवः फलरूपेण सर्वदा।।६११
आदित्यपुरुषस्यान्तर्बुद्धेर्वाऽपि व्यवस्थितम्। व्योम यत् तत्र संस्थान आनन्दात्मैव केवलः।।६१२
उदकेभ्यस्त्वयं जातो ब्रह्मणो वपुराश्रितः। गोभ्यश्चाऽपि तथैवाऽयं नीररूपोऽत्र रश्मितः।।६१३

ज्ञातकुलगोत्राणामाचार्यऋत्विगादीनां परिग्रहः। स्फुटमन्यत्।।६०८।। नृष्विति। तथाऽयमात्मा नृषु तिष्ठन् ज्ञायते। कैः ? नानेन्द्रियेषु समुत्थानं प्रादुर्भावो येषां तथाविधैः वीर्यैः शक्तिविशेषैः, तेषामन्तर्याम्यभिव्यंग्यत्वात्। तथा भोक्तृरूपेण च; तथा च स्मृतिः 'सुखं दुःखं भवो भावः' (गी. १०.४) इत्याद्या, 'क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि' (गी. १३.२) इति च।।६०९।। वरमिति। तथाऽयम् आत्मा वरपदोक्ते सम्यक्सुखे भूमाख्ये स्वरूपे तिष्ठति, 'स भूमा कस्मिन् प्रतिष्ठितः ? स्वे महिम्नि' (छा. ७.२४) इति श्रुत्यन्तरात्।।६१०।। ऋतमिति। तथाऽयमात्मा ऋतपदेन सत्यवाचिना अवश्यभाविफलकत्वसाधर्म्येण लक्षिते कर्मणि फलरूपेण तिष्ठतीत्यर्थः।।६११।। आदित्येति। तथाऽयमानन्दरूप आत्मा तत्र संस्थानः सम्यक् स्थितिमान्। 'तत्र' कुत्र ? यद् व्योम आकाशं सूर्यमण्डलान्तःस्थस्य पुरुषस्य सूक्ष्मसमष्टिरूपस्यान्तः, बुद्धेः सूक्ष्मव्यष्टिरूपाया वाऽन्तर्गुहासंज्ञकं व्यवस्थितम् इति।।६१२।। उदकेभ्य इति। तथाऽयम् आत्मा ब्रह्मपदोक्तहिरण्यगर्भरूपेण उदकेभ्यः अप्प्रधानेभ्यः सूक्ष्मभूतेभ्यो जातः। तथा गोपदोक्त-सूर्यकिरणेभ्यो मेघात्मना परिणतेभ्यो जलरूपेण जात इत्यर्थः।।६१३।। ऋतेति। तथाऽयमात्मा ऋतपदोक्तात्

'दुरोण' कहते हैं द्रोणकलश को जिसमें यज्ञ के समय सोमरस रखते हैं। घर आये अतिथि के सम्मान में उस अतिथि के आगे-आगे जलपूर्ण कलश उठा कर चलते हैं अतः कलश बुद्धिस्थ होने पर सद्गृहस्थों का घर भी स्मरण हो जाता है जहाँ कलश द्वारा अतिथियों का संमान होता रहता है। सोमयाग में वल्लीरूप सोम का रस अतिथि की तरह पूजनीय होता है। सोमरस और लौकिक अतिथि—दोनों रूप धारण तो आत्मा ही करता है और यज्ञकर्म के समय दुरोण कहे जाने वाले द्रोणकलश में अथवा गृहस्थों के घर यही सोमरूप या अतिथिरूप से उपस्थित होता है (अतः 'दुरोणसत्' नाम पाता है)।।६०७।। जिसके कुल व गोत्र का पता नहीं ऐसा अन्न आदि चाहने वाला जो मानव दोपहर आदि के समय आये उसे अतिथि कहते हैं। आचार्य, ऋत्विक् आदि भी भोजनादि के समय घर आयें तो अतिथि ही कहलाते हैं, भले ही उनके कुल आदि का ज्ञान है ! ('अतिथिदेवो भव' आदि निर्देश से अतिथि में देवबुद्धि करनी चाहिये। अतिथि बनकर भी परमात्मदेव ही आता है अतः उपनिषत् ने उसे अतिथि कहा है।)।।६०८।। नरों में भी यह देवराज विविधरूप धरे रहता है। नाना इन्द्रियों द्वारा प्रकट होने वाली विशिष्ट शक्तियों से नरों में स्थित आत्मा का पता चलता है क्योंकि वे शक्तियाँ अंतर्यामी से भी अभिव्यक्त होती हैं। किं च भोक्ता के रूप में आत्मा ही स्थित है यह सहज सुबोध है। (वर्तमान युग में कुछ अल्पमति ऐन्द्रिय सामर्थ्य को स्थूल महाभूतों में ही मानकर उनकी यान्त्रिक व्याख्या करना चाहते हैं और बौद्धिक सामर्थ्य को भी यन्त्रों की भाषा में ही समझने की कोशिश करते हैं लेकिन भोक्तृता अर्थात् भोग—यह अनुभव कि 'मैं भोग रहा हूँ, सुखी-दुःखी, संतुष्ट, खिन्न हूँ, प्रेम पा रहा हूँ, उपेक्षित हूँ' आदि—वे भी जड के पक्ष में नहीं गिन पाते अतः भोक्तारूप से आत्मा उन्हें भी मानना ज़रूरी है।)।।६०९।। 'वर' कहते हैं समीचीन सुख को। यह स्वप्रकाश आनन्दरूप पुरुष अपने ही भूमारूप उस स्वप्रकाश स्वरूप में रहता है।।६१०।। अवश्य फल देने वाले कर्म को ऋत कहते हैं, उन कर्मों में फलरूप से यह देव हमेशा रहता है। (अर्थात् कर्मों का फल परमात्मा ही है। कर्मानुष्ठान परमात्म-प्राप्ति के उद्देश्य से करना चाहिए। पशु-पुत्रादि गौणफलों में भी 'परमात्मा ही इन रूपों में आया है' यह दृष्टि करनी चाहिए।)।।६११।।

ऋतरूपादयं जातः सर्वदा कर्मणः फलात्। सुखदुःखफलानेकदेहेन्द्रियविभेदवान्।।६१४

अद्रेर्मेरोरयं जात उल्बतश्चतुराननः। अथ वा हिमवन्नाम्नो गिरिजारूप एव सः।।६१५

किं बहूक्तेन निखिलं चराचरमिदं जगत्। ऋतं कर्मफलं सर्वं ब्रह्मैवैकं न चाऽपरम्।।६१६

आत्मलिङ्गम्

आत्माऽयं सर्वजगतां हृदये सर्वदा स्थितः। ऊर्ध्वं प्राणं नयत्येषो ह्यपानं प्रत्यगस्यति।।६१७

फलारम्भोन्मुखात् कर्मणः सकाशात् सुखादिप्रदनानाविधदेहादिरूपेण जायते। तथा च योगसूत्रं 'सति मूले तद्विपाके जात्यायुर्भोगाः' (२.१३) मूले—अविद्यादिक्लेशरूपे, सति—अबाधिते, तस्य—कर्मणः फलानि जात्यादिरूपाणि भवन्ति इति तदर्थः।।६१४।। अद्रेरिति। तथाऽयमात्मा चतुराननवेधोरूपेण सुमेरुरूपपर्वताद् भूवलयात्मककमलकर्णिकाभूताज्जातः। कीदृशान्मेरोः ? उल्बतः चतुराननात्मक-गर्भप्रादुर्भावे जरायुस्थानीयात्, 'गर्भाशयो जरायुः स्यादुल्बं च' इत्यमरः। 'अद्रिजा'—इति टाबन्तमित्यभिप्रेत्य हिमाद्रेर्गिरिजारूपेणाऽयमुत्पन्न इत्याह—अथ वेति।।६१५।। किं बहूक्तेनेति। ऋतपदोक्तकर्मफलात्मकं यावद् जगत् तत् सर्वं बाधासामानाधिकरण्येन ब्रह्मैव इत्यर्थः।।६१६।।

अथाऽऽत्मनोऽधिगमे लिङ्गमुपदिशतः[1] तृतीयमन्त्रस्याऽर्थम् आह—आत्माऽयमिति। अयमात्मा सर्वेषां हृदयस्थः सन् प्राणाख्यं वायुम् ऊर्ध्वं नयति, अपानाख्यं तु प्रत्यग् अधः अस्यति क्षिपति। तथा च प्राणापानविधरणमात्मनो लिङ्गमिति।।६१७।। अङ्गुष्ठेति। तथाऽयमात्मा हृदयस्य मध्येऽङ्गुष्ठमात्रे आसीनः सन् वामनः

आदित्य-पुरुष के भीतर या बुद्धि के भीतर जो आकाश है, वहाँ केवल आनंदरूप आत्मा ही संस्थित है। (आदित्यपुरुष अर्थात् सूर्यबिम्ब में जो सूक्ष्मसमष्टिरूप उपाधि वाला है और बुद्धि अर्थात् व्यष्टि जो मनुष्यादि की बुद्धियाँ हैं वहाँ 'गुहा' नामक आकाश शास्त्रप्रसिद्ध है जिसमें चित्तत्त्व रहता है।)।।६१२।। यही पूर्ण चेतन ब्रह्मा अर्थात् हिरण्यगर्भ का शरीर धारण कर उन महाभूतों से पैदा होता है जिनमें प्रधान है जल। लोक में जलरूप से भी यही उन 'गो' अर्थात् सूर्यकिरणों से पैदा होता है जो मेघों के रूप में परिणत हो जाती हैं। (सूर्यकिरणें मेघ बनती हैं; धूम, जल आदि अन्य पदार्थ भी सम्मिलित होने पर ही मेघ का निर्माण होता है। यह वर्णन कई जगह मिलता है। जो जल को ही मेघ का प्रधान शरीर मानते हैं वे भी गर्मी से शिथिल अवयवों वाले जल को ही वैसा मानते हैं अतः गर्मीरूप से सूर्यरश्मियों की मेघरूप में स्थिति सर्वमान्य है।)।।६१३।। सुख-दुःखरूप भोगों के, फलों के, अनेक देहों के और इन्द्रियों के विविध भेदों वाला यह आत्मा ऋतरूप कर्मफल से हमेशा पैदा होता है। (कर्म जब फल देने को उद्यत होता है तब उसे ऋत कहते हैं, उसीसे सुखादि देने वाले नाना प्रकार के देहादि पैदा होते हैं। पैदा होने वाले वे रूप आत्मा ही ग्रहण करता है। जब तक अविद्या आदि क्लेशों का बाध नहीं होता तभी तक जन्मादि कर्मफल उपलब्ध होते हैं।)।।६१४।। जरायु जैसे मेरु-पर्वत से चतुर्मुख ब्रह्मा के रूप में यही पैदा हुआ है। हिमवान् नामक पर्वत से भगवती गिरिजा के रूप में भी उत्पन्न होने वाला यही आत्मदेव है।।६१५।। बहुत कहने से क्या ? 'ऋत' कहलाने वाला कर्मफलरूप यह सम्पूर्ण चर-अचर जगत् एक सर्वात्मक ब्रह्म ही है, और कुछ नहीं। (सबको जब ब्रह्म बताते हैं तब 'सब' का अर्थात् नामरूपात्मक भेद का बाध कर वास्तविकता ब्रह्म है यह तात्पर्य होता है।)।।६१६।।

समस्त जगत् का यह आत्मा हमेशा हृदय में स्थित रहता है और प्राण-वायु को ऊपर की ओर तथा अपान-वायु को नीचे की ओर चलाता है। अर्थात् प्राण-अपान को विधारण करना वह चिह्न है जिससे आत्मा का पता चलता है।।६१७।।

१. 'ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते।।'५.३।।

अङ्गुष्ठमात्र आसीनो वामनो हृदयस्य हि। मध्यतश्चाप्युपास्योऽयं वागाद्यैर्विश्वदैवतैः।।६१८
यदा शरीरतो याति बहिर्मरणकर्मणा। शरीरस्थस्तदा तस्मिन् देहे किं परिशिष्यते।।६१९
देहः काष्ठसमो यस्मादस्य निर्गमने भवेत्। तस्मान्न किञ्चिदप्यत्र चैतन्यमवशिष्यते।।६२०
यदेतद्देहसंस्थानं चैतन्यं भेदवर्जितम्। तदेतद् भवता पृष्टं धर्मादिरहितं हि यत्।।६२१
'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ।।'६२२
प्राणापानौ ततो नात्मरूपौ कस्याऽपि देहिनः। किन्तु यस्मिन्नुभावेतौ मूर्छादौ सम्प्रतिष्ठितौ।।
श्वासाद्यभावरूपायां स आत्मा सर्वदेहिनाम्।।६२३

मरणोत्तरमाला

धर्माधर्मादिनिर्मुक्त एष आत्मा मयेरितः। प्रिय ! हृष्टेन मनसा तुभ्यं हि नचिकेतसे।।६२४
प्रवक्ष्यामि त्वया पृष्टमिदानीं परमं वरम्। आत्माऽत्र मरणं प्राप्य यथा भवति तच्छृणु।।६२५

परिच्छिन्नपरिमाण इव भासमानः। यद्वा वामानां प्रशस्तफलानां नायकः, सर्वैर्देवैर्वागादिरूपैः उपास्य उपजीव्यः।।६१८।।

चतुर्थस्य मन्त्रस्य[1] देहादिस्थितिप्रयोजकत्वमात्मलिङ्गं दर्शयतोऽर्थमाह—यदेति। अयमात्मा शरीरस्थो मरणप्रयोजकेन कर्मणा विस्रंसनपदोक्तं शरीरतो बहिः गमनं करोति तदा एतद्देहस्थितिकारणं किं शिष्यते ?—न किञ्चिदपि; यतः काष्ठवद् दाहादियोग्यो देहोऽस्य आत्मनः निर्गमने भवति अतो ज्ञायते एतद्देहस्थितिहेतुभूतं चैतन्यं नावशिष्यते। इति द्वयोरर्थः।।६१९-२०।। यदेतदिति। यत् च एतद् देहस्थितिप्रयोजकं चैतन्यं तद् एव त्वत्पृष्टमद्वितीयं ब्रह्मेत्यर्थः।।६२१।।

ननु देहस्थितिप्रयोजकत्वं प्राणेऽतिप्रसक्तम् ? इत्याशंक्य; स्वधारणेऽप्यशक्तस्य परधारणकथा व्याहतेति दर्शयन् पञ्चमं पठति—न प्राणेनेति।।६२२।। एतत्तात्पर्यमाह—प्राणापानाविति। ततः परायत्तत्वात् प्राणापानौ आत्मरूपौ आत्मनो रूपं स्वपरस्थितिप्रयोजकत्वं धारयितुं योग्यौ न भवतः, किन्तु एतौ प्राणापानौ यत्र कारणे प्रतिष्ठितौ लीनौ भवतः; कदा ? श्वासाद्यलाभरूपायां श्वासाद्यदर्शनोपलक्षितायां मूर्च्छामरणादिपदवाच्यायाम् अवस्थायां; स एतत्कारणभूतं तत्त्वमेव सर्वेषाम् आत्मा इत्यर्थः।।६२३।।

[2]षष्ठ्यादिद्वयस्यार्थमाह—धर्माधर्मेत्येकादशभिः। एवं शुद्ध आत्मा तुभ्यम् उक्तः। अथ यत् त्वयाऽऽत्मनः परलोके सत्त्वं पृष्टम्; कीदृशम् ? परमं वरं त्रयाणां वराणां मध्येऽन्त्यवरत्वेन उपन्यस्तं, तद् इदं शृणु। इति द्वयोरर्थः।।६२४-५।। योनिमिति। मरण आत्मनोऽत्यन्तोच्छेदो न भवति किन्तु केचिज्जन्तवो जङ्गमशरीरलाभाय

यह आत्मा हृदय के मध्य अंगूठे जितने सूक्ष्म देह में रहते हुए वामन अर्थात् अत्यंत सीमित परिमाण वाले जैसा प्रतीत होता है। वाणी आदि सब देवता जिसका उपजीवन करते हैं वह यही आत्मा है जो प्रशस्त फल प्रदान करने वाला होने से वामन कहा जाता है।।६१८।। मृत्यु के हेतुभूत कर्म के फलीभूत होने पर शरीर में स्थित आत्मा जब शरीर से बाहर निकल जाता है तब देह में क्या रह जाता है ! देहस्थिति बनी रहे इसके लायक कुछ नहीं बचता। क्योंकि देह से आत्मा का निर्गमन होने पर देह काष्ठ जैसा हो जाता है इसलिए निश्चित है कि इसमें कुछ भी चेतनता बच नहीं जाती।।६१९-२०।। देह की स्थिति में हेतुभूत जो यह भेदरहित चेतन है वही धर्मादि से अतीत वह आत्मा है जिसके बारे में तुम्हें जिज्ञासा है।।६२१।। कोई मरणधर्मा प्राण-अपान से जीवित नहीं रहता। इन दोनों से अन्य जिसमें ये दोनों उपाश्रित हैं उसीसे सब जीवित रहते हैं।।६२२।। क्योंकि अन्य से पाई सामर्थ्य वाले हैं इसलिए वे इस योग्य नहीं कि स्वयं अपनी (= प्राण-अपान की) या अन्य की (= शरीर की) स्थिति में पर्याप्त हेतु हों अतः किसी भी देही का आत्मा प्राणापान को नहीं माना जा सकता। साँस चलना आदि जब सामान्यतः उपलब्ध नहीं होता उस मूर्छा आदि अवस्था में ये प्राण-अपान जिसमें विलीन होते हैं वह इनका कारणभूत तत्त्व ही सब देहधारियों का आत्मा है।।६२३।।

१. 'अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः। देहाद् विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते। एतद्वै तत्।।'५.४।।
२. 'हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्। यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम।।६।। योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।।'५.७।।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते जङ्गमत्वाय देहिनः। स्थावरत्वं परे यान्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।।६२६
पुण्याधिक्याद् भवन्त्येते जन्तवो जङ्गमात्मकाः। पापाधिकाश्च सततं भवन्ति स्थावरा अपि।६२७
जङ्गमेषु च पुण्यस्य तारतम्याद् भवन्त्यमी। ब्रह्मादयश्च कीटान्ताः सर्वदैव शरीरिणः।।६२८
पुण्यं स्वल्पांशतो येषां पापं पर्वतवत् स्थितम्। ते दुःखबहुला एते स्थावराः स्तब्धजीविनः।।६२९
पुण्यं वा पातकं चाऽपि करणीयतया पुरा। पित्रादिभ्यः स्ववृद्धेभ्यः श्रुतं जन्मान्तरे यथा।।६३०
तथा तत् समनुष्ठाय जातास्ते तादृशाः पुनः। कुर्वन्ति च तथैवैतच्छृण्वन्ति च पुनः पुनः।।
कुर्वन्ति च तथैवैतत् स्वदेहेन पुनः पुनः।।६३१

योनिं योन्युपलक्षितं जङ्गमबीजभावं प्राप्नुवन्ति, केचित्तु स्थावरभावाय स्थावरबीजभावं; तत्र च कर्म कायिकादि, श्रुतपदलक्षिता भावना च व्यवस्थापिकेत्यर्थः।।६२६।।

तत्र कर्मणो व्यवस्थापकतां स्फुटयति—पुण्याधिक्याद् इति त्रिभिः। पापापेक्षया पुण्याधिक्यं जङ्गमदेहप्रयोजकम्, पुण्यापेक्षया पापाधिक्यं तु स्थावरत्वस्य। तथा जङ्गमेषु अपि पुण्यतारतम्यं कीटमारभ्य हिरण्यगर्भान्तदेहेषु धर्मज्ञानादितारतम्यप्रयोजकम्। इति द्वयोरर्थः।।६२७-८।। येषां पुण्यमणुवत्, पापं पर्वतवत् ते स्थावरा भवन्तीत्याह—पुण्यमिति। स्तब्धं गमनादिस्वातन्त्र्यरहितं जीवितुं शीलं येषां ते तथा।।६२९।। श्रुतस्य कर्मानुष्ठान-द्वारा व्यवस्थापकतां स्फुटयति — पुण्यं वेति। वृद्धेभ्य आप्तत्वाभिमतेभ्यः पितृप्रभृतिभ्यः पुण्यं पातकं वा यद् कर्तव्यतया श्रुतं तदुत्थभावनया तद् एव पुण्यादिकम् अनुष्ठाय तदनुरूपं जन्म लभन्ते, पुनः च तादृशरुच्या तादृशं कर्म कुर्वन्ति। इति द्वयोरर्थः।।६३०-१।। एतदेव स्फुटयति—पापिनामिति। स्पष्टम्।६३२।। हिरण्यगर्भशरीरमपि

हे प्रिय नचिकेता! मैंने प्रसन्न मन से तुम्हें यह आत्मा बताया जो धर्म-अधर्म आदि से छूटा हुआ है। अब मैं वह बताऊँगा जिसकी जानकारी तुमने आखिरी वर के रूप में माँगी थी। यहाँ मृत्यु प्राप्त करने के बाद आत्मा जिस प्रकार रहता है वह अब सुनो।।६२४-५।। मृत्यु होने पर आत्मा समाप्त नहीं हो जाता! कुछ देहधारी मरकर उन बीजों से सम्बद्ध होते हैं जो जंगम शरीरों के रूप में विकसित होंगे जबकि अन्य जीव वैसे बीजों से सम्बद्ध होते हैं जो स्थावर शरीरों के—वृक्ष आदि के—रूप में विकसित होंगे। कौन कैसी योनि के अनुकूल बीज से संबद्ध होगा इसका निर्णय जीव के शारीरिक आदि कर्मों से और भावना से होता है।।६२६।। पापों की अपेक्षा अधिक पुण्य फलोन्मुख हों तो ये जीव जंगम शरीर प्राप्त करते हैं तथा अधिक पाप फलोन्मुख हों तो लगातार स्थावर भी बनते रहते हैं। पुण्य के कमो-बेश के अनुसार ये जन्तु जंगम देहों में ब्रह्मा से कीड़े तक के शरीर पाते हैं; न्यूनतम पुण्य से कीड़ा-देह और सर्वाधिक पुण्य से ब्रह्मा का, हिरण्यगर्भ का देह मिलता है जिसमें धर्म, ज्ञान आदि का पूर्ण विकास है।।६२७-८।। जिन जीवों का फलोन्मुख पुण्य बहुत कम होता है और पाप मानो पहाड़ जितना होता है वे इन स्थावर योनियों में जन्म लेते हैं जहाँ दुःख की बहुतायत है, चलने-फिरने की भी स्वतन्त्रता नहीं है।।६२९।। पूर्व जन्मों में जीवों ने उन पिता आदि से जिन्हें वे प्रामाणिक मानते रहे, कर्तव्यरूप से पुण्य के और न करने योग्य के रूप से पाप के बारे में सुन रखा है। उस जानकारी के संस्कारों से प्रेरित हो जीवों ने पुण्यानुष्ठान और कदाचित् पाप भी किये हैं जिनके फलस्वरूप वे आगे उसी प्रकार का जन्म पाते हैं जहाँ वे अपने किये कर्मों के फल भोग सकें एवं उनके संस्कारों के अनुसार वे और कर्मादि कर सकें। इसलिये उन्हें पहले जैसी रुचि होती है जिससे वे वैसी बातें ही सुनते हैं—सुनने की कोशिश करते और मानते हैं—जैसी पिछले जन्मों में सुनी थीं एवं वैसे ही कर्म करते हैं। यह चक्र बार-बार चलता रहता है। पाप-संस्कारों वाले को पाप करने के ढंग समझने में और पाप करने में प्रेम होता है जबकि महात्माओं को धर्म समझकर उसे करने में। इस प्रकार सुनना-करना-(भोगना) सुनना-करना—यह क्रम चलता रहता है। (यद्यपि संस्कारानुसार रुचि से ज्ञानलाभ कर कर्म किए जाते हैं जिससे पाप संस्कार वाला आगे भी पापमग्न होता रहे यही मुमकिन है तथापि जीव

पापिनां पातकस्यैव श्रवणे करणेऽपि च। प्रीतिरुत्पद्यते तद्वद् धर्मस्य च महात्मनाम्। ।६३२
वालाग्रशतभागेन पापं पूर्वशरीरिणि। पुण्यं पर्वतसङ्काशं विद्यते परमेश्वरे। ।६३३
ब्रह्मादिस्थावरान्तोऽयं पुण्यपापफलात्मकः। संसारः कर्मतो जातस्तच्च पूर्वशरीरतः। ।६३४
पूर्वं शरीरं नैवैतदसत्यात्मनि विद्यते। आत्माऽस्ति तत एवाऽयं शरीरान्तरभाक् पुमान्। ।६३५
अतः प्रश्नद्वयेऽप्येतदेकमेवात्मनो वपुः। पृष्टं तन्मिलितं कृत्वा गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।।
अस्ति तामभिधायैवं यम आहानया दिशा। ।६३६

पुण्यपापोभयारब्धमिति दर्शयितुं तत्र 'सोऽबिभेद्' (बृ. १.४.२) इति श्रुतिप्रसिद्धभयानुमितपापलेशारब्धत्वमाह— वालाग्रेति। वालाग्रशतभागेन तुल्यमिति शेषः। पूर्वशरीरिणि 'स वै शरीरी प्रथमः'[1] इति प्रसिद्धे। ।६३३।। वर्णितस्यात्मसत्तायां पर्यवसानमाह—ब्रह्मादीति। एवं सर्वसंसारस्य पुण्य-पापोभयारब्धत्वात् पुण्यपापयोश्च पूर्वशरीरारब्धत्वात् पूर्वशरीरस्य आत्मसत्ताव्याप्यत्वात् ततः संसारवर्णनेन आत्मनः सत्यत्वचेतनत्वादिकं सिद्धम्। इति द्वयोरर्थः। ।६३४-५।।

षष्ठ्या द्वितीयं पादं योजयन् पूर्वोत्तरसङ्गतिमाह—अत इति। अतः संसारवर्णनस्य अपि आत्मरूपे पर्यवसानाद् यम एवम् उक्तविधया आत्मनः अस्तित्वम् अभिधाय अनया दिशा वक्ष्यमाणप्रकारेण गुह्यम् उपनिषत्प्रमेयं सनातनं ब्रह्म आह। ननु अपृष्टं सनातनं ब्रह्म कथं यमेन उच्यते ? इति शङ्कावारणायोक्तं प्रश्नद्वयेऽपीत्यादि कृत्वेत्यन्तम्। अयमर्थः—वरत्रयं लब्ध्वा नचिकेता एकेन वरेण पितुः सौमनस्यम्, द्वितीयेन अग्निविद्यां च प्राप्य, तृतीयेन पूर्णां ब्रह्मविद्यामादित्सुः एकमेवात्मवस्तु प्रथमं संसारोपलक्षित-त्वंपदार्थरूपेण पृष्ट्वा धर्मा-धर्माद्यतीतत्वोपलक्षिततत्पदार्थरूपेण पृष्टवान्, पदार्थद्वयमेलनेन वाक्यार्थसिद्धेः अर्थप्राप्तत्वात्; अतः तदभिप्रायं विज्ञाय वाक्यार्थभूतब्रह्मात्माभिधानं यमस्य युक्तमिति। ।६३६।।

का स्वातंत्र्य अक्षुण्ण होने से वह हमेशा सत्संग आदि द्वारा संस्कारपरिवर्तन में सक्षम है। इस स्वातंत्र्य से ही शास्त्रसार्थक्य है, सारे ही शिक्षातन्त्र का स्वारस्य है। अतः हमेशा धर्मज्ञान एकत्र करने में यत्नशील रहना चाहिए ताकि वे ही संस्कार अभी और आगे भी प्रेरक बनें।)। ।६३०-२।। प्रथम शरीरी परमेश्वर हिरण्यगर्भ के देहनिर्माण में प्रयुक्त पाप तो बाल की नोक के सौवें भाग जितना है जबकि पुण्य है पहाड़ जितना। (उन्हें प्रारंभ में भय हुआ ऐसा शास्त्र में कहा है अतः थोड़ा पाप भी उन्होंने भोगा यह निश्चित है।)। ।६३३।।

ब्रह्मा के शरीर से स्थावर शरीरों तक यह सारा संसार पुण्य का व पाप का फल है। संसार कर्म से उत्पन्न हुआ है और कर्म पूर्व शरीरों में संपन्न किये गये थे। कालान्तर में जिनका फल भोगा जाये ऐसे कर्म करने लायक शरीर तब तक नहीं हो सकता जब तक आत्मा न हो। अतः निश्चित है कि शरीरान्तर पाने वाला पूर्ण आत्मा अवश्य है। (स्थूल शरीर एक से दूसरे जन्म में अनुगत नहीं रहता। कर्म-फल व्यवस्था स्थायी कर्त्ता-भोक्ता के बिना बनती नहीं। स्थूल देह वैसा स्थायी नहीं अतः इससे अन्य स्थायी आत्मा संसारी है यह निर्णय सहज है। उस आत्मा की और परीक्षा करें तो वही सर्वोपाधि-निर्मुक्त अतः असंसारी निर्धारित होता है यह बात अलग है। यहाँ तो संसरण का उल्लेख आत्मसिद्धि के लिये है।)। ।६३४-५।।

क्योंकि संसार का वर्णन भी आत्मस्वरूप के निश्चय के लिए उपयोगी है इसलिये यमराज ने उक्त ढंग से आत्मा की विद्यमानता समझाकर आगे बताये जाने वाले प्रकार से उस नित्य व्यापक आत्मा के बारे में समझाया जो केवल उपनिषदों द्वारा ही प्रमागोचर होता है। यमराज ने यह तत्त्व इसलिए बताया कि नचिकेता ने दोनों प्रश्नों में एक ही बात पूछी थी—आत्मा का स्वरूप। उसके दोनों प्रश्नों की एकवाक्यता कर यम ने उपदेश दिया। (नचिकेता ने १.२० में मरणोत्तरवर्ती आत्मा के बारे में और २.१४ में धर्मादि से अतीत आत्मा के बारे में प्रश्न किये। यद्यपि प्रश्न दो हैं तथापि

---

१. सूत्रादिभाष्ये बृहद्वार्तिके च पुराणस्मृतितयोद्धृतम्।

आत्मवस्तु

यो जागर्ति पुमानेषु स्वप्रकाशचिदात्मकः। कामं कामं बहुविधं पुत्रक्षेत्रादिरूपकम्।
निर्मिमाणः सदा स्वप्ने सर्वेषामिह देहिनाम्।।६३७।।
पौरुषं यदिदं रूपं हृद्यास्ते स्वप्नसंश्रयम्। तदेव दीप्तं तद् ब्रह्म मोक्षरूपं तदुच्यते।।६३८
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे भूराद्या बहुयोजनाः। चतुर्विधजनास्तद्वद् नानालोकसमाश्रयाः।।६३९
संसारपरपारार्थी तच्च नात्येति कश्चन। एतस्मादपरस्यात्र परस्याऽसत्त्वहेतुतः।।६४०
एक एवाऽयमात्मा स्यात् सर्वेषामिह देहिनाम्। स्थूलेष्वपि च सूक्ष्मेषु शरीरेषु स सर्वदा।।६४१

'अष्टममन्त्रार्थमाह—यो जागर्तीति चतुर्भिः। य एव स्वप्रकाशचिद्रूपः पुरुषः सर्वेषाम् आत्मा इन्द्रियेषु सुप्तेषु सत्सु जागर्ति, न निद्राति। किं कुर्वन् ? स्वप्न आवृत्तकामपदेनोक्तं बहुविधं पुत्रादिरूपं काम्यमानं वस्तुजातं निर्मिमाणः रचयन्।।६३७।। पौरुषमिति। यद् एतत् स्वप्नद्रष्टृतया वर्णितं पुरुषस्य स्वरूपं तदेव दीप्तं चिन्मात्ररूपतया शुद्धं तदेव च ब्रह्म अद्वितीयं मोक्षरूपं च उच्यते श्रुतिभिः।।६३८।। तस्य ब्रह्मत्वे हेतुतया सर्वाधारतामाह—तस्मिन्निति। लोकपदोक्ताः पृथिव्यादयः जनाश्च तदाश्रिताः।।६३९।। मोक्षरूपत्वे हेतुं परमगतित्वमाह—संसारेति। संसारस्य पारं जिगमिषुः कश्चिदपि तद् वर्णितात्मनः स्वरूपं नात्येति नातिक्रामति, किन्तु तदेव संसारपारभूतं गच्छति, तदतिरिक्तस्य परमगत्यात्मकमोक्षस्वरूपस्य अत्र संसारपारेऽसत्त्वाद् इत्यर्थः।।६४०।।

अथ 'शतकृत्वोऽपि पथ्यं वक्तव्यम्' इति न्यायेनोक्तात्मस्वरूपं विशदयताम् 'अग्निः'[2] इत्यादि-मन्त्राणामर्थमाह— एक एवेत्यादिना। अयं सर्वेषामात्मा सर्वशरीरेषु एक इत्यर्थः ।।६४१।। यथेति। यथा सर्वेषु

इनसे वह पूछ एक आत्मा को ही रहा है अतः इन्हें मिलाकर एक प्रश्न मानकर यम ने उत्तर दिया। नचिकेता का पहला प्रश्न संसारोपलक्षित को विषय करता है अतः उसके उत्तर में यम ने त्वम्पदार्थ समझा दिया। उसके दूसरे प्रश्न के उत्तर में धर्मादि से अतीत तत्पदार्थ का वर्णन कर दिया गया। दोनों पदार्थों के सामानाधिकरण्य-सम्बंध से (अभेदान्वय से) महावाक्य का अर्थ स्फुट हो जाता है। नचिकेता तीसरे वर द्वारा पूरी ब्रह्मविद्या पाना चाहता है यह जानकर यम ने वाक्यार्थरूप अखण्ड ब्रह्म का भी स्पष्ट वर्णन किया।)।।६३६।।

संसार में सभी देहधारियों का आत्मा स्वप्रकाश चिद्रूप पुरुष है जो इन्द्रियों के सो जाने पर भी जगा रहकर सपने में हमेशा नाना प्रकार के पुत्र, खेत आदि काम्य विषय बनाता रहता है। स्वप्न के द्रष्टा के रूप में वर्णित जो यह पूर्ण चेतन का रूप हृदय में उपलब्ध होता है वही चिन्मात्र होने से शुद्ध है, अद्वितीय है और श्रुतियों द्वारा वही मोक्षस्वरूप कहा जाता है। बहुत योजनों में फैले भूः आदि सारे लोक उस आत्मा में ही आधारित हैं। नाना भोगभूमियों में स्थित उद्भिज्जादि चारों प्रकार के जीव भी उसी आत्मतत्त्व पर आश्रित हैं। संसार के परले पार जाना चाहने वाला कोई भी जीव उस आत्मा के स्वरूप को लाँघ नहीं सकता क्योंकि इससे अन्य कोई है नहीं जो संसार से परे हो।।६३७-४०।। सब शरीरधारियों के स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में सदा रहने वाला यही एक आत्मा है।।६४१।। सभी स्थूल लकड़ियों में समूची लकड़ी घेरे हुए आग रहा करती है और आग क्योंकि तेजोरूप है इसलिये पार्थिव लकड़ी से वास्तव में सर्वथा अन्य ही प्रकार की होने पर भी लगती है मानो वैसी ही हो जैसी लकड़ी में निहित रहती है। इसी प्रकार देव-असुर-मनुष्य

१. 'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवाऽमृतमुच्यते।। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्।।'५.८।।
२. 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।'५.९।।

यथा स्थूलेषु काष्ठेषु वह्निः सर्वत्र संस्थितः। सदृशः काष्ठसङ्घैस्तैर्वस्तुतोऽन्यादृशोऽपि च।।६४२
एवं स्थूलेषु देहेषु देवासुरनरादिषु। तादृगात्मा भवेदेष वस्तुतोऽपि विलक्षणः।।६४३
वायुर्यथाऽत्र सूक्ष्मेषु सूक्ष्मरूपो व्यवस्थितः। तद्वत् प्रतीयतेऽतद्वद् वस्तुतः समवस्थितः।।६४४
तद्वत् सूक्ष्मेषु देहेषु तिष्ठत्यात्माऽत्र तादृशः। अतादृशः स्वरूपेण सदानन्दात्मरूपभृत्।।६४५
शरीरद्वयसंस्थोऽपि परमात्मा महेश्वरः। शरीरद्वयदोषेण लिप्यते न कदाचन।।६४६
सूर्यो यथाऽत्र सर्वेषां नेत्रेष्वास्ते निरन्तरम्। न लिप्यते च तत्रस्थैर्दोषैर्नैव गुणैरपि।।६४७
बाह्ये नभसि बिम्बात्मा यस्मादन्यः प्रगृह्यते। शास्त्रदृष्ट्या तथैवात्मा हार्दे नभसि गृह्यते।
देहद्वयात् पृथक्त्वेन तद्धर्मैर्नैव लिप्यते।।६४८
स्वतन्त्र एक एवाऽयमात्मा सर्वशरीरिणाम्। सूर्यवद् बहुधा भाति नेत्रभेदाद् वृथैव सः।।६४९

काष्ठेषु तिष्ठन् वह्निः तत्तत्काष्ठसमानरूपतापन्नो भवति, वस्तुतस्तु तेजोरूपेण तेभ्यः काष्ठेभ्योऽपि विलक्षण इत्यर्थः।।६४२।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति। एवं वस्तुतो देहविलक्षणः सोऽपि आत्मा तत्तद्देहेषु तादृक् तत्तद्देहसरूपो भवति।।६४३।।

'वायुः'[1] इत्यादेरर्थमाह—वायुरिति द्वाभ्याम्। अतद्वद् इतिच्छेदः। यथा सूक्ष्मसमष्टिरूपो वायुः सूक्ष्मेषु व्यष्टिभूतसूक्ष्मशरीरेषु तद्वत् तत्तादात्म्येन व्यवस्थितोऽपि वस्तुतः अतद्वत् व्यष्टिविलक्षणपूर्णत्वादिरूपैः व्यवस्थित इत्यर्थः।।६४४।। तद्वदिति। सूक्ष्मेषु बुद्ध्यादिषु तादृशः तत्तत्सरूप आत्मा तिष्ठति। कीदृशः ? वस्तुतोऽतादृशः सदानन्दात्मकत्वाद् इत्यर्थः।।६४५।।

'सूर्य'[2] इत्यादि विवृणोति—शरीरद्वयेति सप्तभिः। स्थूलसूक्ष्मोपाधिषु आत्मा तद्दोषैः न लिप्यते यथा लोकानां नेत्रेषु देवतात्वेन स्थितोऽपि आदित्यः तत्रस्थैः तत्तन्नेत्रगतैः दोषादिभिः न लिप्यते तद्वद्। इति द्वयोरर्थः।।६४६-७।। यथा च दृष्टान्ते सर्वचाक्षुषदोषवर्जितत्वम् अनुभवसिद्धं तद्वदत्रापीत्याह—बाह्य इति। यथा सूर्यो बाह्याकाशे स्थितः अन्यः सर्वदोषवद्भ्यो भिन्नोऽनुभूयते तथाऽऽत्माऽपि हार्दाकाशे साक्षिरूपो देहद्वयात् पृथक् तद्धर्माऽसङ्गी चानुभूयत इत्यर्थः।।६४८।। एकत्वेऽपीमं दृष्टान्तं योजयति—स्वतन्त्र इत्यादिना। अयमात्मा स्वतन्त्रः सत्तामानादौ परानपेक्ष एकः च सन्नपि यद्वद् बहुधा भाति तद्बहुधा भानं वृथा मिथ्यैव यथा तत्तद्देशवासिनामादित्यस्य स्वसन्निकृष्ट-योजनादिपरिमितदेशवर्तितया बहुधा भानं मिथ्या तद्वद् इत्यर्थः।।६४९।। यथा दृष्टान्ते कल्पितैः बहुधा भानैः

आदि स्थूल शरीरों से आत्मा वास्तव में पूर्णतः विपरीत स्वरूप वाला है फिर भी वह जिस-जिस शरीर में रहता है उसी के जैसा प्रतीत हो जाता है।।६४२-३।। किं च; सूक्ष्मसमष्टि जिसका स्वरूप है वह वायु व्यावहारिक व्यष्टि-सूक्ष्मशरीरों में उनसे अभिन्न हुआ रहने पर भी वास्तव में व्यष्टियें से विलक्षण पूर्णतादि स्वरूप वाला ही बना रहता है। इसी तरह सर्वानुभवसिद्ध सूक्ष्म शरीरों में रहते हुए आत्मा उन सूक्ष्मदेहों जैसा लगता है किंतु उसकी निजी वास्तविकता वैसी नहीं वरन् सत्य-आनंद-प्रत्यक्-रूप है। (भाष्यादि में अग्नि-वायु दृष्टान्तों की समान व्याख्या है, पुराणकार ने स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के लिये दृष्टांतभेद बताया है यह वैशिष्ट्य है।)।।६४४-५।।

महेश्वर परमात्मा स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में भली-भाँति रहते हुए भी दोनों शरीरों के दोषों से कभी सम्बद्ध नहीं होता जैसे लोक में सभी प्राणियों के नेत्रों में देवतारूप से सूर्य हमेशा रहता है पर नेत्रगत गुण-दोषों से कभी सम्बद्ध नहीं होता।।६४६-७।।

---

१. 'वायुर्यथैको...' इत्यादि नवममंत्रवत्।।५.१०।।
२. 'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।।'५.११।।

यथैव बहुधा भानैर्भानोर्नैव भिदा क्वचित्। आत्मनो बहुधा मानमेवं भेदे न कारणम्।।६५०
भानौ भेदं यथाऽसन्तं गृहीत्वा दुःखमाव्रजेत्। उपहासादिजनितं बहुधा बालिशः पुमान्।।६५१
आनन्दात्मनि तद्वद्योऽसन्तं भेदं स्वचेतसा। गृह्णीयात् स तु संसारदुःखमेतत् समाप्नुयात्।।६५२
अन्तरात्मा ततः सर्वभूतानामेक एव सः। स्वतन्त्रः स्वात्मनो रूपं बहुधा कुरुते स्वयम्।।
मायया जगदीशानो माययाऽपि विवर्जितः।।६५३
यस्तं स्वहृदये सन्तं गुरुशास्त्रोपदेशनात्। अनुपश्यन्ति ये धीरा ब्रह्मचर्यादिसाधनाः।।६५४
शाश्वतं मोक्षसंज्ञं स्यात् सुखं तेषां महात्मनाम्। अन्येषां दुःखमखिलं संसाराख्यं भवेत्सदा।।६५५

आदित्यस्वरूपमखण्डं न स्पृश्यते तथाऽत्राऽपीत्याह—यथैवेति। स्पष्टम्।।६५०।। यथा दृष्टान्ते भेददर्शनस्य उपहासादिप्रयुक्तदुःखं फलं तथाऽत्र आत्मनि भेददर्शनस्य संसारमयमित्याह—भानाविति। असन्तम् इतिच्छेदः। स्पष्टं द्वयम्।।६५१-२।।

'एक'[1] इत्यादेरर्थमाह—अन्तरात्मेति त्रिभिः। तत उक्तविधया सर्वभूतानामेक एव आत्मा स सिद्धः; 'स' कः? यः स्वतन्त्रः स्वकीयं रूपं मायया बहुधा करोति; तं स्वहृदये सन्तम् उपदेशानुसारेण पश्यन्ति तेषाम् एव नित्यं मोक्षाख्यं सुखं भवति, इतरे संसारदुःखभागिनः। इति त्रयाणां सम्बन्धः।।६५३-५।।

क्योंकि दोषादि वाली सब आँखों से भिन्न मंडलरूप से सूर्य आकाश में स्फुट अनुभूत होता है इसलिये वह नेत्रदोष आदि से अस्पृष्ट है यह आराम से समझ आ जाता है। इसी प्रकार शास्त्र-दत्त दृष्टि से स्पष्ट पता चलता है कि हृदयाकाश में रहने वाला साक्षिरूप आत्मा स्थूल-सूक्ष्म शरीरों से अलग है अतः निश्चय हो जाता है कि इन शरीरों की विशेषता से उसका कोई सत्य सम्बन्ध नहीं है।।६४८।। भूतल पर विभिन्न स्थानों पर उपस्थित लोग सूर्य को अपने आस-पास के दृष्टिगोचर क्षेत्र में सीमित मानते हैं; हर जगह के लोगों का ऐसा मानना मिथ्या ही है क्योंकि सूर्य उन क्षेत्रों में सीमित नहीं है। इसी प्रकार यह आत्मा स्वतंत्र है अर्थात् सत्ता-भान-प्रियता में किसी अन्य की कोई अपेक्षा नहीं रखता और अद्वितीय ही है फिर भी सब शरीरधारियों को बहुत तरह का लगता है जबकि वे तरहें और उनकी प्रतीतियाँ मिथ्या ही हैं। सूर्य विषयक बहुत प्रकार के अनुभवों से जैसे सूर्य में कभी भेद नहीं आ जाता ऐसे आत्मविषयक बहुत तरह का अनुभव इसमें हेतु नहीं माना जा सकता कि आत्मा में भेद है, आत्मा अनेक या अनेक प्रकार का है।।६४९-५०।। सूर्य में भेद है नहीं पर जो नासमझ सूर्य में भेद समझता है उसकी तरह-तरह खिल्ली उड़ाई जाने से वह दुःखी होता है। इसी प्रकार आनन्दस्वरूप व्यापक चेतन में भेद है तो नहीं पर जो अपने मनसे आत्मा में भेद समझता है वह संसाररूप इस दुःख में निमग्न हो जाता है। (अज्ञान मूल कारण होने पर भी मन ही वह विभेदक उपाधि है जिसके परिप्रेक्ष्य में आत्मा सद्वय उपलब्ध होता है। किं च साक्षिभास्य भेदमात्र दुःखद नहीं वरन् भेद का बौद्धिक निश्चय दुःखप्रद है यह रहस्य है।)।।६५१-२।।

उक्त प्रक्रिया से निर्धारित हुआ कि सभी भूतों का प्रत्यक्तम स्वरूप वह अद्वैत जगन्नाथ ही है जो माया से भी रहित रहते हुए, स्वतन्त्र रहकर माया से खुद अपने रूप को बहुत प्रकार का बना लेता है ! (वास्तव में निर्माय ही प्रातीतिक समायता वाला है और उस माया का प्रयोग करने में स्वतंत्र है क्योंकि माया उसी से सत्ता-स्फूर्ति पाने वाली उसकी शक्ति है।)।।६५३।। ब्रह्मचर्य आदि साधनों से सम्पन्न जो बुद्धिमान् साधक गुरु व शास्त्र के उपदेश से अपने हृदय में स्थित उस जगदीश्वर का अनुदर्शन कर लेते हैं उन महात्माओं को मोक्षनामक शाश्वत सुख हासिल हो जाता

१. 'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।'५.१२।।

नित्यानामपि नित्योऽयं कालादीनां महेश्वरः। इन्द्रियाणां हि सर्वेषां चेतनानां च चेतनः।।६५६

यमन्वीक्ष्य सुखं धीरा यान्ति पूर्वसमीरितम्। एक एव बहूनां यः कामान् मनसि संस्थितान्।।

ददाति सर्वजन्तूनां दुःखशान्तिकरः पुमान्।।६५७

तस्य रूपमिदं ब्रह्म सर्वप्राणिहृदि स्थितम्। अवाङ्मनसगम्यं यत् स्वयंज्योतिःस्वरूपधृक्।।६५८

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्। महात्मानोऽत्र विद्वांसः सदा स्वानुभवे रताः।।६५९

अपि वैषयिकं यत् स्यात् सुखं तदपि को वदेत्। मृष्टान्नभोजनादौ यज्जायतेऽत्र सुखं नृणाम्।।६६०

'नित्यानाम्'[1] इत्यर्थो वर्ण्यते—नित्यानामिति त्रिभिः। नित्यानां कालादीनाम् अपि यो नित्यः चिरं सत्ताप्रदानेन नित्यताप्रयोजकः, तथा चेतनानाम् इन्द्रियाणामिन्द्रियावच्छिन्नधीवृत्तीनां चेतनः स्वाभासदानेन चेतनत्वप्रयोजक इत्यर्थः।।६५६।। यमन्वीक्ष्येति। तथा यं साक्षात्कृत्य पूर्वं पूर्वमुक्तं शाश्वतं सुखं यान्ति, तथा य एक एव सर्वेषां कामितार्थप्रदः।।६५७।। तस्येति। तस्य ब्रह्मण एतदेव स्वरूपं यद् हृदये स्वप्रकाशं स्थितम् इत्यर्थः।।६५८।।

'तदेतद्'[2] इत्यादिवाक्यार्थमाह—तदेतदिति ऊनविंशत्या। तद् वर्णितमात्मनः स्वरूपभूतं परमं सुखमनिर्देश्यं वक्तुमशक्यमपि महात्मानः कोविदा एतदिति अपरोक्षत्वेन मन्यन्ते जानन्तीत्यर्थः।।६५९।। तस्यानन्दस्य अनिर्देश्यतायां कैमुत्यं दर्शयितुं लौकिकानन्दस्याऽपि[3] अनिर्देश्यताम् आह—अपि वैषयिकमिति। मृष्टं स्वादु।।६६०।।

है। जो ऐसे नहीं उन्हें हमेशा संसारनामक सारा दुःख ही मिलता रहता है। (बद्धावस्था में भी आत्मदर्शन है किंतु आत्मा का ग़लत दर्शन है। अधिकारी को उपनिषत् का गुरुमुख से श्रवण कर भी दर्शन आत्मा का ही होता है किंतु सही दर्शन होता है। आत्मदर्शन नित्य निरन्तर है लेकिन ग़लत के बाद सही दर्शन होता है इसलिये इसे अनुदर्शन कहा है। शास्त्रोपदेश सुनने के बाद होने से भी इसे अनुदर्शन कहना उचित है। पदार्थदर्शन के पश्चात् होने से भी वाक्यार्थदर्शन को अनुदर्शन कहते हैं।)।६५४-५।।

काल आदि नित्य पदार्थों की भी नित्यता का प्रयोजक उन्हें चिरकाल तक सत्ता प्रदान करने वाला और इन्द्रिय आदि चेतन पदार्थों की भी चेतनता का प्रयोजक उन्हें संवित् का आभास प्रदान करने वाला प्रकृत आत्मरूप महेश्वर ही है।।६५६।। जिसका अनुदर्शन कर बुद्धिमान् पूर्वोक्त शाश्वत सुख प्राप्त करते हैं और बहुतों के अर्थात् सभी के मन में बसी कामनाएँ जो अकेला ही पूरी कर देता है, अभीष्ट वस्तुएँ दे देता है, जो पूर्ण चेतन सब जन्तुओं के दुःखों का उपशम कर देता है, उसका स्वरूप यह व्यापक चिन्मात्र है जो सब प्राणियों की बुद्धि का साक्षी, मन-वाणी का अगोचर और स्वप्रकाश सत्स्वरूप परमार्थ तत्त्व है।।६५७-८।।

आत्मा के जिस स्वरूपभूत सर्वाधिक आनंद का वर्णन किया, जिसका सही-सही कथन संभव नहीं, उसे वे महात्मा अपरोक्ष रूप से अनुभव करते हैं जो समझदार साधक निरन्तर इसके प्रति जागरूक रहते हैं कि स्वात्मा-मात्र का स्फुरण बना रहे।।६५९।। जो विषयजन्य सुख होता है उसे भी शब्दों में कौन कह सकता है ! संसार में लोगों को स्वादिष्ट भोजन करने आदि से जो सुख मिलता है उस विशिष्ट सुख को शब्दों द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता।।६६०।। लौकिक जन उसे 'सुख' इतना ही कहेंगे, उसकी विशेषता का उल्लेख नहीं करते, करने की कोशिश करें भी तो करने

१. 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।।'५.१३।।

२. 'तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्। कथं नु तद् विजानीयां किमु भाति विभाति वा।।'५.१४।।

३. अपिना रसादिभेदानामप्यवाच्यत्वम्; तथा च भामती (पृ. १२५) 'सर्वमेव हि वाक्यं नेदन्तया वस्तुभेदं बोधयितुमर्हति। नहीक्षुक्षीरगुडादीनां मधुररसभेदः शक्य आख्यातुम्।।'

सुखमित्येव तद् ब्रूयुः लौकिका न विशेषतः। विशेषं कथयन्तोऽपि नैव वक्तुं क्षमाः क्वचित्। ।६६१
अध्यस्य कस्यचित्तस्य सादृश्यं ते वदन्ति तत्। ततः सुखमनिर्देश्यं सर्वमेव व्यवस्थितम्।
ततः स्वानुभवेनैव गम्यते नान्यथा हि तत्। ।६६२
ब्रह्मणोऽपि सुखं यत्तु सर्वानन्दशताधिकम्। यतोऽधिकं न किञ्चित् स्यात् सुखं वैषयिकं क्वचित्। ।६६३
आनन्दवारिधेस्तच्च बिन्दुमात्रमुदीरितम्। अतः कथं हि निर्देश्यं भवेत् तत्परमं सुखम्। ।६६४
गुरवः श्रुतिभिः सार्धमात्मा प्रियतमः सदा। इत्थं वदन्तो नैवैते शक्ताः साक्षाद् विभाषितुम्। ।६६५
गुरूपदिष्टं तेनाऽयं यदस्ति परमं सुखम्। कथं तु तद्विजानीयां साक्षादिति विचिन्तयेत्। ।६६६

यतस्तद्वर्णयन्तोऽपि सुखत्वादि-सामान्यरूपेणैव वर्णयन्ति इत्याह—सुखमिति। ।६६१।। अध्यस्येति। यतः ते वक्तारः तस्य भोजनादिसुखस्य स्वरूपे—इति शेषः। कस्यचित् सादृश्यमध्यस्य आरोप्यैव तद् भोजनादिसुखं वदन्तीति। फलितमाह—तत इति। ततो वक्तुमशक्यत्वात्। हि-शब्दः पादपूरणार्थः। ।६६२।।

किं च मानुषा मनुष्यगन्धर्वा देवगन्धर्वाः पितर आजानपदोक्तस्मार्तकर्मजदेवाः श्रौतकर्मजदेवा हविर्भुग्देवा इन्द्रो बृहस्पतिर्विराट् हिरण्यगर्भश्च—एतेषामानन्दाः शतगुणोत्तराः तित्तिरिश्रुतिप्रसिद्धाः तेषु अन्त्यो हिरण्यगर्भानन्दोऽपि यस्य ब्रह्मानन्दस्याऽब्धेः मात्रापदेन बिन्दुतयोक्तस्तस्य अनिर्देश्यत्वं किमुवाच्यमित्याह—ब्रह्मण इति द्वाभ्याम्। ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य सुखं सर्वो विराट् तदीयानन्दात् शताधिकं यतो हिरण्यगर्भसुखात् वैषयिकं सुखं किञ्चिद् अपि अधिकं न भवति तच्च हिरण्यगर्भसुखमपि। ।६६३-४।। अत एव गुरवः श्रुतयश्च तत्स्वरूपं प्रियतमत्वात्मकसामान्यरूपेणैव वदन्ति साक्षाद् भाषितुमक्षमत्वाद् इत्याह—गुरव इति। ।६६५।। गुरूपदिष्टमिति। यतस्तत्स्वरूपं केनाऽपि निर्देष्टुमशक्यं तेनाऽयम् अधिकारी तत्साक्षात्कारार्थी यद् गुरूपदिष्टं परमं सुखं तद् अहं कथं साक्षाद् विजानीयाम्—एवं कामयन् 'इति' वक्ष्यमाणविधया चिन्तयेद् विचारयेदित्यर्थः। ।६६६।।

में सक्षम नहीं होते। भोजनादिजन्य सुख के स्वरूप पर किसी सुख की समानता का आरोप कर ही वे भोजनादिजन्य विशिष्ट सुख का कथन करने का प्रयास करते हैं अतः उनका कथन सर्वांश में सत्य नहीं होता। इसलिये संसार में उपलब्ध सारा ही सुख शब्दादि द्वारा निर्देश के अयोग्य है। विषयतया व्यक्त न किया जा सकने से सुख निज के अनुभव से ही समझा जा सकता है, अन्य किसी उपाय से नहीं। ।६६१-२।।

सर्व अर्थात् विराट् के आनंद से सौ गुणे से भी अधिक है हिरण्यगर्भ का सुख जिससे ज्यादा कोई वैषयिक सुख कहीं नहीं होता। वह हिरण्यगर्भ सुख ब्रह्मरूप आनंदसमुद्र की सिर्फ एक बूँद बताया गया है ! अतः वह परम सुख शब्दों द्वारा निर्देश के योग्य कैसे होगा ? (तैत्तिरीय में समझाया है कि विशिष्ट योग्यता वाले सारी पृथ्वी के राजा का सुख मनुष्य सुख के माप की इकाई है ! ऐसी सौ इकाइयों का सुख मनुष्य-गन्धर्वों के सुख की इकाई है अर्थात् उक्त मनुष्यसुख से सौ गुणा ज्यादा सुख मनुष्य-गंधर्व नामक योनि वालों को उपलब्ध है। इसी तरह सौ-सौ गुणा ज्यादा सुख वाले हैं—देवगंधर्व, पितर, आजानदेव अर्थात् स्मार्त कर्मों से देवभाव पाये जीव, हविर्भोजी देव अर्थात् श्रौत कर्मों से देवता बने जीव, इन्द्र, बृहस्पति, विराट् और हिरण्यगर्भ। इस प्रकार सापेक्ष सुख की पराकाष्ठा हिरण्यगर्भ को उपलब्ध सुख है। वह भी जिसकी अपेक्षा बूँदभर ही है उस सुखसागर को समझना ही बुद्धि से परे है तो कहना असंभव हो इसमें क्या आश्चर्य !)। ।६६३-४।। गुरुजन और श्रुतियाँ उस सुख के बारे में इतना ही कहते हैं कि आत्मा हमेशा सर्वाधिक प्रिय है। स्वसंवेद्य प्रत्यक्प्रियता का ढंग छोड़ दें तो सीधे ही—गाय, घोड़े की तरह—उस सुख को परिभाषित न श्रुति व न गुरु लोग कर सकते हैं। ।६६५।। इस तरह क्योंकि उस व्यापक सुखस्वरूप का शब्दादि उपायों से निर्देश

परमं सुखमात्माख्यं किमु भाति विभाति वा। मम ब्रह्मात्मविज्ञानवतो नीरागचेतसः ।।६६७
आनन्दस्य स्वयं यस्मादन्यस्याऽपि च तादृशम्। ततो मे भाति सम्यक् तद् विरुद्धं भाति वाऽधुना ।।६६८

कारकाणीह यत्र स्युः शेषो वा क्रियया युतः। तत्र भेदो भवेन्नित्यं भेदवन्न सुखं परम् ।।६६९
भेदे सति हि जन्मादिग्रस्तमेव सुखं भवेत्। सुखत्वमपि नैवाऽस्ति तादृशे परतः कुतः ।।६७०
आदावन्ते च यद् दुःखं वर्तमाने कथं सुखम्। ततो दुःखे सुखाख्येयं बालैर्वैषयिके कृता ।।६७१

तद्विचारमभिनयति—परममिति नवभिः। तद् ब्रह्मणः स्वरूपभूतं सुखम् इदानीं किं मम भाति किं वा विभाति विपरीतं भाति ? कीदृशस्य मम ? तदावरणापहारकविज्ञानवत्त्वेन प्रसिद्धस्य रागाख्यप्रतिबन्धकहीनस्य चेत्यर्थः।।६६७।। ननु अनिर्देश्यत्वलक्षणेन तद्भानस्य सुज्ञेयत्वात् किमनेन विचारेणेति चेद् ? न, अनिर्देश्यत्वस्य लौकिकसुखेऽपि सत्त्वेन अतिप्रसक्तत्वाद् इत्याह—आनन्दस्येति। स्वयंपदं स्वरूपपरम्। तथा च अन्यस्य लौकिकस्य अपि आनन्दस्य स्वरूपं तादृशम् अनिर्देश्यं भवतीत्यर्थः। अत उक्तो विचारो युक्त इत्याह—तत इति। विरुद्धं विपरीतम्।।६६८।।

तदर्थं 'यो वै भूमा तत् सुखम्' (छां. ७.२३) इत्यादिश्रुत्यनुसारेण सुखलक्षणमाह—कारकाणीति। कारकाणि कर्मादीनि षट्; शेषः षष्ठ्यर्थः सम्बन्धः; क्रिया च; वाशब्दश्चार्थे तेन निपातार्थसंग्रहः[1]; एते सर्वे भेदं विहाय न तिष्ठन्ति एतदुपलक्षितभेदशालि यद्भवति तत् परं मुख्यं सुखं न भवति किन्तु निर्भेदमेव सुखमित्यर्थः।।६६९।। सभेदं वस्तु हि भयादिप्रयोजकत्वाद् दुःखमेव इत्याह—भेदे सतीति। भेदे सति यत् सुखं तत् जन्मादिविकारैर्ग्रस्तम् एव भवेत् तादृशे विकारिणि सुखत्वमेव बाधितं, सुतरां परसुखत्वम् ! इत्यर्थः।।६७०।। तादृशे सुखबुद्धिस्तु भ्रम एवेति सदृष्टान्तमाह—आदाविति। आदौ स्पृहादिप्रयोजकत्वाद् अन्ते वियोगाच्च यद् वस्तु दुःखरूपं तन्मध्ये सुखरूपं कथं भविष्यति, वियोगभयादिभिर्दुःखताया एवौचित्यात्, तादृशं च बाला एव सुखमिति मन्यन्ते यथा वातरोगिणो

नहीं किया जा सकता अतः जो अधिकारी उसका साक्षात्कार करना चाहे अर्थात् 'जिस असीम सुख का उपदेश गुरु ने दिया है उसे मैं साक्षात् कैसे जानूँ ?' यह कामना करता हो उसे आगे बताये जाने वाले तरीके से विचार करना चाहिए।।६६६।।

साधक यों चिंतन करे : मेरा चित्त रागरहित है और आत्मा के आवरण के निवर्तक विज्ञान से युक्त है। ऐसे चित्त वाले मुझे क्या अब वह सुख भास रहा है जो ब्रह्म का स्वरूप है ? या अब भी उसका विपरीत भान ही बना हुआ है ?।।६६७।। क्योंकि निर्विशेष आनंद की अपेक्षा अन्य अर्थात् सविशेष आनंद का स्वरूप भी वैसा ही अनिर्देश्य है इसलिये इसे विचारपूर्वक निर्धारित करना ज़रूरी है कि अब मुझे उसका सही भान है या विपरीत भान ही है।।६६८।। कारक, सम्बन्ध, क्रिया और निपातार्थ जहाँ हों वहाँ भेद अवश्य होता है और जो भेदयुक्त है वह मुख्य सुख नहीं होता। (अर्थात् कर्ता कर्म करण आदि बनने वाला ज़रूर भेदयुक्त होता है। ऐसे ही सम्बंध वाला और क्रिया वाला भी सभेद होता है। 'और' 'या' आदि शब्द निपात कहलाते हैं, इनका भी जो अर्थ होगा वह भेदयुक्त ही होगा। इस प्रकार सभी शब्दों के अर्थ भेदभूमि पर ही उपस्थित हैं और जो सभेद सद्वय, वस्तुपरिच्छिन्न हो वह परमपुरुषार्थरूप सुख नहीं हो सकता क्योंकि श्रुति ने स्पष्ट किया है कि वह उसीको परम सुख कहती है जो व्यापक है।)।।६६९।। भेद रहते जो सुख होगा वह जन्म आदि परिवर्तनों वाला ही होगा और ऐसे परिवर्तनशील की तो सुखरूपता भी सम्भव नहीं तो उसमें परमसुखरूपता क्योंकर होगी ! (भेदयुक्त वस्तु तो भय आदि का हेतु बनने से दुःख ही है न कि सुख।)।।६७०।। भेदयुक्त वस्तु को सुख मानना भ्रम ही है। जो पदार्थ प्राप्त होने से पूर्व दुःख है क्योंकि स्पृहा आदि का हेतु बनता है

१. 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' १.४.५६ इत्यधिकारे च-प्रादयो निपातपदार्थाः। निपाताश्च असंख्याः, तदुक्तम् 'इयन्त इति संख्यैषां निपातानां न विद्यते। प्रयोजनवशादेते निपतन्ति पदे पदे।।' शृंगारप्रकाशे निपातव्याख्यैवम्—'जात्यादि-प्रवृत्तिनिमित्तानुपग्राहित्वेन असत्त्वभूतार्थाऽभिधायिनः अलिङ्ग-संख्या-शक्तयः उच्चावचार्थेषु निपतन्तीति अव्ययविशेषा एव चादयो निपाताः' इति।

तेन मानं हि यस्य स्यात् कारकादेरभावतः। सुखं तदेव विज्ञेयं परमं च महात्मभिः। ।६७२
यदि तद्धि स्वयं भाति स्वभानं यत् सुखं परम्। ततो भात्येव विशदं सर्वदा परमं सुखम्। ।६७३
अन्यथाऽध्यासमात्रं मे सुखं भातीति वर्तते। कामुकानां यथाऽध्यासात् सुखं भात्यत्र कामिनी ।६७४
इत्थं चिन्तयतो नित्यं विरक्तस्य महात्मनः। अवाङ्मनसगम्यं तत् प्रतिभाति सुखं परम्। ।६७५
यस्य दर्शनतो दुःखरूपैषा शर्वरी नृणाम्। सुप्रभाता भवेन्नित्यमानन्दात्मदिवाकरात्। ।६७६

मुष्टिकादिप्रहारं सुखं मन्यन्ते तद्वद् इति। ।६७१।। फलितमाह—तेनेति। अभावोऽप्राप्तिः अनपेक्षेति यावत्। तथा च कारकादिद्वैतम् अनपेक्ष्य वर्तमानं यद्वस्तु तदेव परमं सुखम् इत्यर्थः। ।६७२।।

एवं लक्षिते सुखे भातीति कोटिरेव उपपन्ना स्वयंप्रकाशेन चैतन्येन सह तस्याऽभेदादित्याह—यदीति। यदि तत् परमं सुखं भाति स्वयम्प्रकाशचिद्रूपं यत् च स्वभानं स्वयंप्रकाशा चित् तद्रूपं परमं सुखम् इत्येवं व्यतिहारेण चित्सुखयोरभेदः सिद्धः। तदा तत् परमं सुखं सदा विशदं भाति इति एव युक्तमित्यर्थः। निरतिशयप्रेमास्पदत्वानुपपत्त्यादयोऽनुकूलतर्काश्चाऽत्र अनुसन्धेयाः। ।६७३।। तस्य सर्वदा भानेऽनुकूलां युक्तिमप्याह—अन्यथेति। मम सुखं भाति इत्यादिलौकिकबोधेषु यतः अन्यथाऽध्यास इतरस्य अन्यधर्मेण अवभासः तन्मात्रं वर्तते; आत्मधर्मभूतं सुखमन्तःकरणवृत्त्यादावारोप्यैव लोके सुखव्यवहार इति यावत्। यथा कामुकाः कामनोपशमेन अभिव्यक्तं स्वरूपसुखमेव अतिबीभत्से स्त्रीकाये कल्पयन्तीति प्रसिद्धम्। तथा च यदीदं वर्णितं सुखं सदा न भासेत तदा तद्धर्मसुखत्वस्य अन्यत्र आरोपो न स्याद् इति भावः। दुःखकालेऽपि किञ्चित् प्रेमास्पदमालम्ब्यैव जना जीवन्तीत्यपि ध्येयम्। ।६७४।। एवं विचारेण अपगतविरुद्धांशकं तत् सुखं योगिनः सम्यग् आविर्भवतीत्याह—इत्थमिति। ।६७५।।

तदा निःशेषदुःखनिवृत्तिं निरूपयति—यस्येति। यस्यां रात्रेरन्ते मङ्गलावहः सूर्योदयो भवति सा सुप्रभातेत्युच्यते; ल्यब्लोपे पञ्चमी। तथा च यस्य उक्तानन्दरूपब्रह्मणो दर्शनं तदाकारवृत्तिरूपमानन्दरूपो दिवाकरोऽभिव्यक्तो यत्र तथाभूतं प्राप्य इयं प्रसिद्धा दुःखरूपा शर्वरी सुप्रभाता भवेद् इत्यर्थः। ।६७६।। आनन्दात्मनो

और अन्त में भी दुःख है क्योंकि इष्टवियोग अवश्य दुःख देता है, वह मध्य में—सम्बंध वर्तमान रहते—सुखरूप कैसे होगा ? इसलिये विषयसापेक्ष होने से जो वास्तव में दुःख ही है उसका 'सुख' यह नाम मोहग्रस्त लोगों ने ही रखा है। ।६७१।। अतः महात्माओं का यही निर्णय है कि कारकादि द्वैत की अपेक्षा के बिना ही जिसका भान होता है उसे ही परम सुख समझना चाहिये। ।६७२।।

यदि वह परम सुख खुद-ब-खुद प्रकाशमान है और जो स्वप्रकाश चित् है वही परम सुख है, तो वह परम सुख हमेशा स्पष्ट भासता ही है यह संगत है। (अतः परम सुख ज्ञायमान अवश्य होता है यही सिद्धान्त-पक्ष है क्योंकि वह सुख स्वप्रभ चेतन से अभिन्न है। आत्मा ही सुख है इसमें युक्ति है कि ऐसा न होता तो आत्मा हमेशा निरतिशय प्रिय न होता।)। ।६७३।। जैसे संसार में कामुकों को भ्रमवश स्त्री सुख प्रतीत होती है ऐसे ही 'मुझे सुख प्रतीत होता है' आदि लौकिक अनुभवों में एक वस्तु अन्य वस्तु के धर्म वाली प्रतीत होती है। (अर्थात् आत्मसुख का मनोवृत्ति पर आरोप होने से ही सुख अपने से भिन्न लगता है। कामुक को जो लगता है कि स्त्री सुख है वह भी भ्रम ही है; आत्मरूप सुख का स्त्री पर आरोप होने से वैसा अनुभव हो जाता है। आत्मरूप होने से सुख सदा प्रकाशमान रहता है जिससे यह संभव हो जाता है कि उसका अन्यत्र आरोप हो। दुःखी दशा में भी लोग जीवित रहने की कोशिश करते हैं, यह भी तभी संभव है जब आत्मा की प्रियता तब भी बनी रहा करे।)। ।६७४।।—इस तरह हमेशा विचार करते रहने वाले विरक्त महात्मा को उस परम सुख का प्रतिभान होता है जो मन-वाणी का अविषय है। ।६७५।। तभी निःशेष दुःख निवृत्त होता है। लोगों को अनुभूयमान दुःखरूप यह रात उस परम सुख के दर्शन से ही सुप्रभात वाली बनती है अर्थात्

आनन्दात्मा स्वयंज्योतिः दुःखरात्रिविनाशकः। दिवाकरः सदा मायातमःस्तोमविनाशकः।।६७७

सूर्यादिभिः सदैवाऽयं तैजसैर्न प्रतीयते। किन्तु तेनैव सकलं सूर्याद्येतत् प्रतीयते।।६७८

स्वयंज्योतिर्यदैवाऽयमानन्दात्मा प्रतीयते। तदा पश्चाज्जगत्सर्वमनुभाति जडाजडम्।।६७९

यथा दीपस्य कलिकाभानादनुविभाति तत्। वर्त्तितैलादिकं तद्वदात्मभानादनन्तरम्।।६८०

बुद्ध्यादिकं जगत् सर्वमध्यात्मादिविभेदवत्। आत्मभासैव भात्येतत् स्वयं भानविवर्जितम्।।६८१

भानवश्च यथाऽऽदित्यभासा भातं घटादिकम्। चक्षुः प्रकाशयेत् सर्वं स्वयं तदपि तैजसम्।।६८२

दिवाकरत्वं साधर्म्यैः स्फुटयति—आनन्दात्मेति। मायारूपस्य तमःस्तोमस्य वृत्तिलक्षणपूर्वाचलारूढत्वेन नाशकः।।६७७।।

अत्रार्थे पञ्चमवल्ल्यन्त्याम् ऋचम्[1] अनुकूलयति—सूर्यादिभिरिति पञ्चभिः। अयम् आत्मा सूर्यादिभिः न भास्यः किन्तु तेनैव सूर्यादयो भास्या इत्यर्थः।।६७८।। यथाऽग्निं भान्तम् अनुसृत्य अयो भाति तथा सर्वं जगत् तमात्मानं भासमानमनुसृत्य भातीत्याह—स्वयमिति। प्रतीयते भासते।।६७९।। एतद् दृष्टान्तेन स्फुटयति—यथेति द्वाभ्याम्। यथा दीपशिखाभानतन्त्रं वर्त्त्यादिभानं तथा बुद्ध्यादिप्रपञ्चभानं चिदात्मभानतन्त्रम्, उभयत्र स्वयं भानशक्तेरभावात्। इति द्वयोरर्थः।।६८०-१।।

ननु प्रकाशानामादित्यादीनां प्रकाशान्तरापेक्षा बाधितेति शंकां कैमुत्यसूचकदृष्टान्तेन परिहरति—भानवश्चेति। भानवः प्रकाशत्वेन प्रसिद्धाः सूर्यादयश्च तमपेक्ष्य भान्तीति योजना। यथा तैजसमपि चक्षुः सूर्यानुग्रहेण घटादिकं प्रकाशयतीति प्रसिद्धम्; तथा च यदा तैजसमपि चक्षुः स्वव्यवहाराय तैजसमप्यादित्यादिकमपेक्षते तदा जडानां विजातीयचिल्लक्षणप्रकाशापेक्षोपपत्तिः किमु वाच्येति भावः।।६८२।।

आनंदात्मारूप सूर्य के उदय से यह दुःखरात्रि समाप्त हो सनातन आनंदरूप मंगल प्रभात हो जाता है।।६७६।। स्वप्रकाश आनंदरूप आत्मा ही वह सूर्य है जो अखण्डवृत्तिरूप उदयाचल पर आरूढ हो मायारूप घने अँधेरे का विनाशक है, दुःखरूप रात का समापक है।।६७७।।

यह परमसुखरूप आत्मा सूर्यादि तैजस वस्तुओं द्वारा भासित नहीं होता वरन् उसीसे सूर्यादि ये सब भासित होते हैं।।६७८।। जब यह स्वप्रकाश आनंदात्मा भासमान रहता है तभी इसके पीछे सारा जड-चेतन जगत् 'अनुभान' करता है। (परायी रोशनी से चमकना अनुभान शब्द का अर्थ है। तपा लोहा जैसे आग से चमकता है वैसे सारा जगत् आत्मा से ज्ञानरूप चमक प्राप्त करता है।)।।६७६।। जैसे बत्ती तेल आदि का भान दीपक की लौ के भान के पीछे होता है, लौ के भान पर निर्भर करता है, वैसे आत्मरूप भान के पीछे ही, उस पर निर्भर कर ही बुद्धि आदि सारे जगत् का भान होता है। अध्यात्म-अधिदैव आदि विविध भेदों वाला जगत् खुद भानरहित है, यह आत्मरूप भान से ही भासित होता है।।६८०-१।। प्रकाशरूप से प्रसिद्ध सूर्यादि भी आत्मा की अपेक्षा से ही प्रकाशमान होते हैं। यह नहीं कह सकते कि एक प्रकाश अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता; क्योंकि तैजस होने से प्रकाशरूप चक्षु भी घटादि वही सब प्रकाशित करती है जो आदित्यादि के प्रकाश से प्रकाशित हो। (सूर्यादि द्वारा प्रकाशित वस्तुओं को ही आँख देख पाती है। सूर्यदेव का अनुग्रह भी उसे चाहिए ही अतः रात्रि आदि में प्रयासपूर्वक कुछ दीखे तो भी सूयपिक्षा से ही दीखता है। इस प्रकार तैजस चक्षु अपने द्वारा साध्य व्यवहार संपन्न करने के लिये भी जब अन्य तेज की अपेक्षा रखती है तब जड वस्तुओं को अपने से भिन्न जाति वाले चेतन प्रकाश की ज़रूरत रहे इसमें कुछ असंगत नहीं।)।।६८२।।

---

१. 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।' ५.१५।।

संसारवृक्षः

पुरमेकादशद्वारं यदुक्तं ते मया पुरा। तदेवाश्वत्थरूपेण केचिदाहुर्द्विजोत्तमाः।।६८३

ऊर्ध्वं सर्वस्य जगतः कारणं ब्रह्म यत् पुरा। स्वयंज्योतिः सदा मोक्षरूपं वस्तु च कीर्त्यते।।
मूलं तदेव स्यादस्य सदाश्वत्थस्वरूपिणः।।६८४

श्वो न तिष्ठति यस्मात् स तस्माद् अ-श्वत्थ ईरितः। प्रतिक्षणविनाशित्वं भूतावासस्य दृश्यते।।
ततः कथं नु विश्वासः श्वोऽवस्थानेऽस्य सम्भवेत्।।६८५

अर्वागध इति प्राहुः कारणाऽपेक्षया द्विज। अधो निकृष्टता लोके कथ्यते सर्वजन्तुभिः।।६८६

संसारमूलत्वादिना ब्रह्मावधारणपरायाः षष्ठवल्ल्या आद्यां[1] कण्डिकां व्याकरोति—पुरमित्यष्टभिः। यत् शरीरं संसारमयं पूर्वम् एकादशद्वारपुरत्वेन वर्णितं तदेव अश्वत्थवृक्षत्वेन वर्णयन्ति वेदविद इत्यर्थः।।६८३।। ऊर्ध्वमिति। यद् ब्रह्म सर्वस्मात् जगत ऊर्ध्वम् उत्कृष्टं कारणत्वात् पूर्वोक्तपरमार्थस्वयम्प्रकाशानन्दात्ममोक्षरूपत्वाच्च, तदेवाऽस्य शरीरस्य अश्वत्थरूपवृक्षस्य मूलम् इति।।६८४।। तत्र अश्वत्थपदसमन्वयं दर्शयति—श्व इति। श्व उत्तरदिने यस्य भूतावासस्य पाञ्चभौतिकस्य क्षणस्थितावपि अविश्वासः तत्र दिनान्तरपर्यन्तमास्था कस्य स्याद् इत्यर्थः।।६८५।। अस्य अर्वाक्शाखतां विवृणोति—अर्वागिति द्वाभ्याम्। अर्वाक्-पदम् अध इति अर्थे प्रयुज्यते[2]

हे नचिकेता ! जिस संसाररूप शरीर को पहले मैंने ग्यारह दरवाज़ों वाले पुर के रूप में समझाया था उसे ही कुछ उत्तम वेदज्ञ अश्वत्थ वृक्ष के रूप में समझाते हैं।।६८३।। अश्वत्थ रूप वाले इस शरीर का मूल हमेशा वही ब्रह्म है जो सारे जगत् से पूर्व रहने वाला अतः जगत् का कारण होने से ऊर्ध्व अर्थात् उत्कृष्ट है, स्वप्रकाश है एवं सनातन मोक्षरूप वास्तविकता कहा जाता है।।६८४।। क्योंकि यह कल तक भी नहीं रहता इसलिये इसे अश्वत्थ कहते हैं। भूतों का आवास यह पांचभौतिक संसार हर क्षण नष्ट होता दीखता है अतः यह कल तक रहेगा ऐसा विश्वास संभव हो कैसे सकता है ! (संस्कृत में आगामी कल को श्वः कहते हैं अतः 'अ' नहीं, 'श्व' कल, 'त्थ' रहता है—इस तरह अश्वत्थ शब्द को समझाया है। अमरकोष-रामाश्रमी में बताया है कि श्वः अर्थात् चिर समय तक न रहने से पीपल को अश्वत्थ कहते हैं। पृषोदरादिन्याय से शब्दरचना मानी गयी है। 'न श्वोऽपि स्थाता' यह गीताभाष्यादि में बताया है। प्रकृत मंत्र पर भाष्यकार ने संसारवृक्ष का मार्मिक साहित्यिक वर्णन किया है। गीता में सभी व्याख्याताओं ने इस पर प्रभूत प्रकाश डाला है। यद्यपि 'हर क्षण नष्ट' होना बौद्धों की भाषा है तथापि शीघ्र नष्ट होने में तात्पर्य है अतः कोई विरोध नहीं। किं च प्रत्येक क्षण पूर्व के प्रथम क्षण की अपेक्षा तृतीय होता ही है अतः सामंजस्य समझ सकते हैं। यद्यपि भविष्य में रहने को अविश्वसनीय कह रहे हैं तथापि दृष्टिसृष्टि के अनुसंधान से समझ लेना चाहिए कि भूतकाल में था यह भी विश्वास के योग्य नहीं। अतएव वर्तमान में भी है ऐसा विश्वास नहीं कर सकते जैसे दीखने पर भी सर्पादि 'है' ऐसा निश्चय नहीं किया जाता।)।।६८५।।

संसारवृक्ष अर्वाक् शाखाओं वाला है। हे द्विज ! वैदिक लोग 'अर्वाक्' शब्द का प्रयोग करते हैं 'नीचा' इस अर्थ में। काल की दृष्टि से पश्चाद्भावी को और देश की दृष्टि से निम्न स्थानस्थ को अर्वाक् कहा जाता है। लोक में तो 'निकृष्ट' के लिये भी यह शब्द प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि अर्वाक् का अर्थ जो नीचापन उसके बोधक 'नीच' आदि शब्द से सभी लोग निकृष्टता का उल्लेख भी करते ही हैं। ब्रह्मरूप कारण की—मूल की—अपेक्षा कालगत, देशगत

---

१. 'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवाऽमृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्।।'६.१।।

२. अर्वाक् स्वरादिगणे (१. १. ३७) अधरार्थः पठ्यते। अधरकाले, अधरदेशे चास्य प्रयोगः। 'अर्वाग्बिलः' (बृ. २.२.३) आदावर्वाग्देशोऽस्यार्थः प्रसिद्धः।

शाखा नानाविधा देहाः सेन्द्रियाः कर्मसम्भवाः। अस्य स्थूलस्य देहस्य निकृष्टा ब्रह्मरूपतः।।६८७
अश्वत्थोऽप्येष सततं नित्यो बीजाङ्कुरादिना। प्रवाहरूपतो यद्वत् तरुरन्यो वटादिकः।।६८८
मूलं यदस्य तस्मिन् हि लोकाः सर्वे समास्थिताः। यदतिक्रम्य कोऽप्यत्र न गच्छेदिति कीर्तितम्।।
एतदेव त्वया पृष्टं धर्मादिपरिवर्जितम्।।६८९

प्रशास्ता

प्राणात्मनि जगद्धेतौ यस्मिन् विश्वं प्रतिष्ठितम्। व्यापारं स्वस्य कुरुते सर्वदा शङ्कया विना।।
तत एव च संजातं प्राणादात्मस्वरूपिणः।।६९०
स हि सर्वस्य कथितो मृत्युरूपो महेश्वरः। अयमेवमिह लोके भयमुद्यतवज्रवत्।।
एतदात्मतया विप्रा ये विदुस्तेऽमृताः स्थिताः।।६९१

वेदविदः। तथा च श्रुत्यन्तरे 'अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेन' (   ) इति। अधःपदं निकृष्टेऽपि लोके प्रयुज्यते। तथा च ब्रह्मात्मकमूलाद् निकृष्टा नानायोनिदेहाः सेन्द्रियाः सूक्ष्मदेहाश्च कर्मलक्षणस्कन्धप्रभवा अस्य दृश्यमानस्य स्थूलदेहात्मकाश्वत्थस्य शाखास्थानीयाः। इति द्वयोरर्थः।।६८६-७।।अस्य अश्वत्थ-पदसूचिताऽऽस्थाऽनर्हताकत्वेऽपि बीजाङ्कुरप्रवाहरूपेण नित्यत्वमुक्तमित्याह— अश्वत्थोऽपीति।।६८८।।अयं वृक्षो मूलस्य सर्वाधिष्ठानत्वादिविज्ञानेनैव निकृत्यत इति सूचयन्नाह—मूलमिति। अस्य वृक्षस्य यद् मूलं तदेव सर्वाधिष्ठानं स्वयम्प्रकाशात्मरूपत्वात् च केनाऽपि अतिक्रमणीयं न भवति इत्युक्तं हे नचिकेत ! एतदेव त्वत्पृष्टं तत्त्वमित्यर्थः।।६८९।।

नियन्तृत्वात्मब्रह्मलिङ्गप्रदर्शकद्वितीयार्थमाह[1]—प्राणात्मनीति त्रिभिः। यस्मिन् प्राणपदोक्ते आत्मनि विश्वकारणे प्रतिष्ठितं लब्धस्थितिकं सर्वं जगत् स्वस्वव्यापारे प्रवर्तते तत एव च प्राणाद् आत्मरूपात् जायते च।।६९०।। स हीति। स स्थित्याद्युपलक्षितो मायोपाधिरीश्वरः सर्वसंहारकत्वेन मृत्युरूपत्वात् कार्यात्माभिमानिनां

और स्वभावगत नीचता इस संसारवृक्ष की शाखाओं में है। संसार-अश्वत्थ के स्कन्ध हैं शुभाशुभ कर्म जिनसे उत्पन्न होने वाले इंद्रियों समेत नाना प्रकार के देह इस संसारवृक्ष की शाखाएँ हैं। ब्रह्म की अपेक्षा निकृष्ट इस समष्टि स्थूल शरीर अर्थात् विराट्-देह में उसके अवयवरूप हुए सारा व्यवहार करने वाले जो सूक्ष्मदेहविशिष्ट स्थूल शरीर हैं वे सब संसार-अश्वत्थ की मानो शाखाएँ हैं।।६८६-७।।

यद्यपि यह अश्वत्थ है, कल तक रहेगा इस आस्था के अयोग्य है तथापि लगातार बना रहने से इसे नित्य भी समझा जा सकता है। जैसे वट आदि अन्य वृक्ष बीज-अङ्कुर-पौधा-पेड़-फूल-फल-बीज आदि परिणामभेदों के प्रवाह रूप से हमेशा रहते हैं ऐसे संसारवृक्ष भी मोक्षपर्यन्त किसी-न-किसी अवस्था में उपस्थित रहता ही है।।६८८।। इस वृक्ष का जो मूल है उसीमें सभी लोक—समस्त दृश्य—अधिष्ठित हैं। क्योंकि वह स्वयम्प्रकाश आत्मा ही है इसलिये कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता यह बात श्रुति आदि में बहुशः व्यक्त है। धर्मादि से अतीत जिस तत्त्व की तुमने जिज्ञासा की, वही इस संसारवृक्ष का मूल है जिस सर्वाधिष्ठान के अप्रतिबद्ध अनुभव से ही इस वृक्ष का सर्वविध छेदन होता है।।६८९।।

जगत्कारण आत्मा प्राण-शब्द से भी कहा जाता है। सारा विश्व उसी में स्थिति पाकर बिना शंका हमेशा अपने-अपने व्यापारों में लगा रहता है। आत्मस्वरूप उस प्राण से ही विश्व पैदा भी होता है। जगत्स्थिति-आदि जिसके उपलक्षण हैं वह मायोपाधिक ईश्वर क्योंकि सबका संहारक है इसलिये उसे सबका मृत्युरूप कहा जाता है। इस लोक में जो कार्यात्मा में अभिमानी अर्थात् सभी जीव हैं उनके लिये यह वैसा ही भयहेतु है जैसे मानो प्रहार करने के लिये

१. 'यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।।'६.२।।

आत्मनो मरणं नात्मा कारयेत् कस्यचित् क्वचित्। तत एव मृतिं हित्वा निर्भयो भयदः स्थितः ।।६९२
सूर्याग्नी तपतो नित्यं निखिलं भुवनत्रयम्। इन्द्रो वर्षति वायुश्च वाति लोकसुखप्रदः ।।६९३
मृत्युश्च पञ्चमस्तेषामहं भीतः सदा ततः। धावन् प्राणान् शरीरेभ्यस्तस्मादत्यन्तभीतितः ।।६९४
कुतो परे भयं नैव गच्छेयुः प्राणिनः सदा। अस्माद्वामनतः प्राणात् प्राणापानान्तरस्थितात् ।।६९५

ज्ञानाद्भयनिवृत्तिः

आत्मविज्ञानतो यस्माद् भयमेतन्न जायते। इहैव तत एवाऽयं ज्ञातव्यो मृत्युभीरुणा ।।६९६
इह चेदात्मविज्ञानं न जातं पतनात् पुरा। ततः सर्वेषु लोकेषु सृज्यमानेषु सर्वदा ।।६९७
शुभाशुभेषु सततं शरीराण्यधिगच्छति। बहुमृत्युकराण्येष यतः स्यात् सततं भयम् ।।६९८

भयहेतुः उद्यतेन्द्रवज्रवत् तं ये आत्मत्वेन विदन्ति तेऽमृतत्वं भजन्त इत्यर्थः।।६९१।। आत्मभूतानाममृतत्व उपपत्तिमाह—आत्मन इति। यथाऽग्निरात्मानं दग्धुमशक्तस्तथा आत्मनाऽऽत्ममरणस्य कर्तुमशक्यत्वाद् आत्मस्वरूपममृतम् इत्यर्थः।।६९२।।

तस्य सर्वभयप्रदत्वे कैमुत्यं दर्शयन्त्याः तृतीयाया[1] अर्थमाह—सूर्याग्नीति त्रिभिः। तपतः प्रकाशादिमन्तं कुरुतः। वाति वहति।।६९३।। मृत्युश्चेति। तेषाम् एतद्वाक्योक्तानां मध्ये पञ्चमो यो मृत्युः तद्रूपो मृत्युः अहं यमो धावन् सन् प्राणान् हरामि। कीदृशः ? तस्माद् ईश्वराद् अत्यन्तभयरूपाद् भीतः।।६९४।। तथा च वामनत्वादिरूपेण वर्णितादस्मादीश्वरादन्येषां भयं किमु वाच्यम् इत्याह—कुत इति।।६९५।।

तद्भयनिवृत्तय इह देह एव तत्त्वज्ञानं सम्पाद्यमित्याकारं [2]चतुर्थ्यर्थमाह—आत्मविज्ञानेति त्रिभिः। यस्मादेतद् भयानुत्पत्तिप्रयोजकमात्मविज्ञानमेव तत इहैव ज्ञातव्यो मृत्योर्बिभ्यता। अत एवोक्तं 'मृत्योर्बिभेषि किं मूढ भीतं मुञ्चति किं यमः। अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि।।' इति।।६९६।। इह चेदिति। यदि तु इह देहे पतनात् पूर्वं ज्ञानं न लब्धं तदनेनेश्वरेण यथाकर्म सृज्यमानेषु नाना लोकेषु नाना देहान् मृत्युभयव्याप्तान् प्राप्नोति। इति द्वयोः सम्बन्धः।।६९७-८।।

उठा हुआ वज्र हो। जो विप्र इस महेश्वर को स्वात्मा समझ लेते हैं वे मरणरहित हो जाते हैं।।६९०-१।। जैसे अग्नि स्वयं को नहीं जला सकती वैसे कहीं किसी आत्मा का मरण आत्मा नहीं कराता। इसीलिये मृत्यु से छूटा हुआ वह भयहीन रहता है। उसे अपने से भिन्न समझने वालों को वही भय देता है। (जो उस आत्मा से एक है उसे मृत्युभय रह नहीं सकता क्योंकि आत्मा का स्वरूप ही अमृत है।)।।६९२।।

सूर्य व अग्नि सारे त्रिभुवन को हमेशा प्रकाशित करते हैं, इन्द्र वृष्टि करता है, लोगों को सुख देने वाला वायु भी बहता है, इनकी अपेक्षा पाँचवाँ मैं मृत्यु भी शरीरों से प्राणों का हरण करने के लिये दौड़ता रहता हूँ; हम सब अपने कार्यों में संलग्न रहते हैं क्योंकि अत्यंत भयरूप उस ईश्वर से हम सदा भयभीत रहते हैं।।६९३-४।।

जब हम अतिसमर्थ देवताओं का यह हाल है तब प्राण-अपान के मध्य स्थित इस वामन से अन्य प्राणी हमेशा भय क्यों नहीं प्राप्त करेंगे !।।६९५।।

यह भय तभी पैदा नहीं होता जब आत्मा का विज्ञान हो जाये। इसलिये मौत से डरने वाले को चाहिये कि मौजूदा शरीर में मौका रहते इस आत्मवस्तु का समूचा ज्ञान पा ले। (अन्यत्र भी समझाया है : अरे मूर्ख ! मृत्यु से क्यों डरते हो ? क्या डरे हुए को मौत छोड़ देती है ? वह तो उसे नहीं पकड़ती जो पैदा नहीं हुआ ! इसलिये प्रयास करो कि जन्म न हो।)।।६९६।। यदि यह (उपलब्ध) शरीर गिरने से पूर्व आत्मानुभव नहीं हुआ तब हमेशा उत्पन्न किये जाते अच्छे-बुरे लोकों में लगातार शरीर ग्रहण करने पड़ेंगे जो शरीर बार-बार मौत दिलायेंगे जिससे निरंतर डर बना रहेगा।।६९७-८।।

---

१. 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।।'६.३।।
२. 'इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः। ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते।।'६.४।।

यथा विशुद्ध आदर्शे विस्पष्टं दृश्यते मुखम्। अधिकारिशरीरेऽस्मिन् बुद्धावात्मा तथैव हि। ।६९९

स्वप्ने यथा न विशदं स्वस्य रूपं प्रतीयते। पितृलोके तथैवात्मा भोगासक्ता न गम्यते। ।७००

अप्सु यद्वच्चलास्वत्र वैपरीत्यात् प्रतीयते। मुखं गन्धर्वलोकेऽपि तथैवात्मा प्रतीयते। ।७०१

गन्धर्वलोक आत्माऽयं भोगासक्तेन चेतसा। प्रतीतोऽपि करोत्येष नाऽविद्याया विनाशनम्। ।७०२

ब्रह्मलोकेऽतिविशदमात्मा जन्तोः प्रतीयते। यद्यप्यत्र तथाप्येष दुष्प्रापः प्राणिभिः सदा। ।७०३

छायातपौ यथैवैतौ प्रतीयेते पृथक् पृथक्। ब्रह्मलोके तथैवात्मा जगद्भिन्नः प्रतीयते। ।७०४

अस्मिन्नेव ततो देहे स्वाधीने सुलभे सति। आत्मनोऽनुभवः साक्षात् सम्पाद्यः सुखमिच्छता। ।७०५

[1]पञ्चमीमुक्तार्थे योजयति—यथेति सप्तभिः। यथा शुद्धे दर्पणे स्पष्टं मुखं दृश्यते तथा साधनचतुष्टयसम्पन्नाधिकारिशरीरे विशुद्धतया प्रत्यक्प्रवणायां मतौ स्पष्टमात्मदर्शनमित्यर्थः। ।६९९। । तथा पितृलोकपदोक्ते पितृयाणगम्ये स्वर्गलोके[2] रम्यविषयप्रवणायां मतौ न स्पष्टमात्मदर्शनम् इति सदृष्टान्तमाह—स्वप्न इति। स्वस्य आत्मनः। ।७००। । अप्स्विति। यथा चञ्चले जले कम्पादिविपरीतधर्मयुक्तं मुखम् ईक्ष्यते तथा गन्धर्वलोके ध्वनिमयत्वादिविपरीतधर्मकमात्मरूपमीक्ष्यत इति। उपलक्षणमेतद् लोकान्तराणामिति। ।७०१। । एतत् स्फुटयति—गन्धर्वेति। भोगा भुज्यमाना विषयाः। उत्तरार्द्धे—शुद्धरूपेणाऽविज्ञानाद् इति शेषः। ।७०२। । यद्यपि हिरण्यगर्भलोके स्पष्टमात्मभानं तथाऽपि तस्य बह्वन्तरायकत्वेन दुष्करोपासनालभ्यतया दुष्प्रापत्वात् तत्प्रतीक्षयेह यत्नशैथिल्यं न कार्यमित्याह—ब्रह्मलोक इति। अत्र श्रुतिप्रसिद्धे। ।७०३। । ब्रह्मलोक उपाधिविविक्ततालक्षणशुद्धतयाऽऽत्मभाने दृष्टान्तमाह—छायेति। ।७०४। । फलितमाह—अस्मिन्नेवेति। स्वाधीने सुलभे चेति। ।७०५। ।

जैसे स्वच्छ दर्पण में मुख बिल्कुल साफ दीखता है उसी प्रकार साधनचतुष्टययुक्त इस शरीर के रहते प्रत्यक् की ओर एकाग्र हुई बुद्धि में आत्मा का स्पष्ट दर्शन होता है। ।६९९। । जैसे सपने में अपना रूप स्पष्ट नहीं प्रतीत होता—अपनी प्रतीति तो होती है पर ऊहापोहपूर्वक उसका विवेचन कर निर्णय तक नहीं पहुँच पाते—वैसे ही पितृयाण से प्राप्य स्वर्गलोक में रमणीय विषयों के भोग में संलग्न बुद्धि में आत्मा का सुस्पष्ट बोध नहीं होता। ।७००। । चंचल जल में मुख जैसा नहीं वैसा प्रतीत होता है; इसी तरह गंधर्वलोक में भी आत्मा का ग़लत ज्ञान होता है। गंधर्वलोक आदि में चित्त विषयोपभोग-परायण रहता है। ऐसे चित्त द्वारा अनुभव किया हुआ भी आत्मा अविद्या का विनाश नहीं करता। ।७०१-२। । (इसलिये मनुष्यादि अधिकारिशरीर रहते ही तत्त्वज्ञान पा लेना चाहिए।) जन्तु यदि ब्रह्मलोक पा जाये तो वहाँ उसे आत्मा का स्पष्टतम अनुभव होता है लेकिन दुष्कर उपासनादि से ही प्राप्य होने के कारण प्राणियों के लिये वहाँ पहुँचना बहुत कठिन है। (इसलिए 'वहाँ जाकर आत्मज्ञान कर लेंगे' इस भरोसे यहाँ अपने प्रयास में ढिलाई नहीं लानी चाहिए वरन् पूर्ण तत्परता से साधनसंलग्न रहना चाहिए।)। ।७०३। । जैसे ये छाया और सूर्यप्रकाश अलग-अलग प्रतीत होते हैं वैसे ब्रह्मलोक में आत्मा जगत्से भिन्न प्रतीत होता है। (यद्यपि निर्विशेष आत्मा के अखण्ड ज्ञान में तारतम्य संगत नहीं तथापि विवेक में और ज्ञान की दृढता में तथा स्पष्टता में तारतम्य युक्तियुक्त है। अविद्यानिवृत्ति के लिये अपेक्षित स्पष्टता तो मनुष्यादि शरीरों में भी होनी ज़रूरी है लेकिन ब्रह्मलोक में प्राप्य बोध में उससे कहीं ज़्यादा स्पष्टता

---

१. 'यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथाऽप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके।।' ६.५। ।

२. 'तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्' (१.३.८.२६-३३) इत्यादावमनुष्याणां स्वर्गादिवासिनामात्मबोधाधिकारः समर्थितः। स्वर्गादौ भोगासक्तेरात्मज्ञानदौर्लभ्योक्तिस्तु मनुष्यत्वे सति ज्ञानलाभाय यत्नाधिक्ये प्रेरणार्थमर्थवादः।

साङ्ख्यम्

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्। पृथगुत्पद्यमानानां व्यापारज्ञानरूपिणाम्।।७०६
जानात्यात्मा स विज्ञेयो बुद्धिस्थः सर्वदेहिनाम्। एनमात्मतया विद्वान् मत्वा धीरो न शोचति।।७०७
आत्मा यस्ते मया पूर्वं हेतुशून्यः प्रकीर्तितः। विषयैर्भेदशून्यानामिन्द्रियाणां द्वयात्मनाम्।।
कर्मज्ञानात्मकादस्मात् परतो व्यवहारतः।।७०८
इन्द्रियेभ्यः परं ज्ञेयं मनो बुद्धिस्ततः परा। सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमेव च।।
अव्यक्तात् पुरुषस्तद्वत् परः सर्वगतः सदा।।७०९

आत्मसाक्षात्कारे साधनं तु द्वयं—साङ्ख्यं योगश्च। तत्र साङ्ख्यं विवेकात्मकं प्रदर्शयन्त्योः [1]षष्ठीसप्तम्योरर्थमाह—इन्द्रियाणामिति षड्भिः। इन्द्रियाणां सवृत्तिकानां पृथक् पृथक् स्वस्वकारणेभ्यो जायमानानां पृथग्भावं स्वस्वरूपात् परस्परं च भेदं यत् चैतन्यं जानाति तदेव बुद्धेः साक्षिभूतमात्मतया ज्ञेयम्। य एवं बुद्धिसाक्षिणमेवात्मतया मन्यते, न दृश्यवर्गं स एव शोकं तरति, स एव च विद्वान् इति यावत्। इति द्वयोरर्थः।।७०६-७।।

तत्पदार्थशोधनपरतया सप्तमीं योजयति—आत्मेत्यादिना। य आत्मा हेतुशून्यः अजः पूर्वम् उक्तः स ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियभेदेन द्विविधानाम् इन्द्रियाणां सम्बन्धिनो व्यवहारात् प्रपञ्चात् कर्मज्ञानात्मकात् कर्मज्ञानोभयमयात् परतः स्थित इति शेषः। कीदृशानामिन्द्रियाणाम् ? विषयैर्भेदशून्यानां दृष्टिसृष्टिविधया मैत्रेयीब्राह्मणादावेकायनप्रक्रियोक्तया स्वस्वदृश्यविषयेभ्यः करणतया भेदाऽयोग्यानाम्; इदं विशेषणम् अद्वयत्वस्फुटीकरणाय उत्तरत्र विषयाणामनुपादानेन न्यूनतापरिहाराय चोक्तम् इति ध्येयम्।।७०८।। तत्र परम्परां श्रौतीं दर्शयति—इन्द्रियेभ्य इति। इन्द्रियेभ्यो विशेषभूतेभ्यो मनः सामान्यरूपं परं, ततः च सविकल्पाद् बुद्धिः सत्त्वपदोक्ता निर्विकल्परूपा परा, ततश्च महत्पदोक्ता समष्टिबुद्धिः परा, ततश्च अव्यक्तं सूक्ष्मलयस्थानम् अव्याकृतं परं, ततः परः पूर्णः पुरुष इत्यर्थः।।७०९।। कार्येति। कीदृशः पुरुषः ? स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चेन दृश्यतया द्रष्टुरनुमापकेन वर्जितः ज्ञानद्वारा

होती है यह तात्पर्य है। उस स्पष्टता से भी वृत्तिकाल में ही अंतर रहता है, अविद्यानिवृत्ति तो आत्मरूप होने से तारतम्यादि से रहित ही है।)।।७०४।। क्योंकि पुनः अधिकारि-शरीर मिलना दुर्लभ है और देवादिलोकों में चित्तविक्षेप अधिक होने से बोध दुर्लभ है इसलिये अभी उपलब्ध यह अधिकारिशरीर जब तक स्वाधीन है, जरा आदि से बेबस नहीं हुआ है, तभी तक आत्मा का साक्षात्कार संपन्न कर ले यही उसके लिए उचित है जो स्थायी सुख का प्रार्थी है।।७०५।।

क्रिया और ज्ञान को सस्वरूप बनाने वाली इन्द्रियाँ अपने-अपने विभिन्न कारणों से पैदा होती एवं आपस में भी विभिन्न बनी रहती हैं। ऐसी इंद्रियों का जो आपसी और आत्मा से भेद है एवं इंद्रियों के जन्म-नाश को जो चैतन्य जानता है उसे सभी देहधारियों की बुद्धि में स्थित समझना चाहिये। उसीको आत्मा समझता हुआ जो बुद्धिमान् दृश्यवर्ग (उपाधियों) को आत्मा नहीं मानता वह शोकसागर से तर जाता है।।७०६-७।। (इस प्रकार त्वंपदार्थ का शोधन हुआ।)

हे नचिकेता ! पहले जिस आत्मा के बारे में तुम्हें समझाया था कि वह निष्कारण अर्थात् अज है, वह इस कर्ममय व ज्ञानमय व्यवहार से परे है जो ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय भेद से दो तरह की उन इंद्रियों से संपन्न होता है जो अपने विषयों से भेद वाली नहीं हैं। (इंद्रियों को विषय से भेदरहित दृष्टिसृष्टि के न्याय से समझना चाहिये जिसे मैत्रेयी

१. 'इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्। पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति।।६।। इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्। सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्।। अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च। यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति।।'६.७।। भाष्यादिसंस्करणेषु अव्यक्तादित्यादिरष्टममन्त्रः परमत्र टीकाकारः सप्तमममुमन्यत।

कार्यकारणरूपेण लिङ्गेन च विवर्जितः। यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति।।७१०
अविद्यायाः सकार्याया नाशो मोक्ष इतीरितः। आनन्दात्मप्रमानं यदमृतत्वं तदीरितम्।।७११
मोक्षामृतत्वयोरस्माद् भेदाद् भेद उदीरितः। अभेदेऽपि च विद्वद्भिर्भेदं कञ्चिद् विगम्य च।।७१२

मोक्षामृतत्वयोः प्रयोजकश्चेत्यर्थः।।७१०।। एकस्मिन्नात्मनि सविलासाऽविद्याध्वंसत्वं भासमानानन्दरूपत्वं च वर्तेते, ते क्रमेण मोक्षाऽमृतपदयोः प्रवृत्तिनिमित्तभूते इत्याह—अविद्याया इति।।७११।। मोक्षेति। अस्माद् वर्णितात् प्रवृत्तिनिमित्तयोः भेदाद् विशेषाद्धेतोः मोक्षाऽमृतत्वयोः भेदः अपर्यायतारूप उक्तः। ननु कल्पिताभावस्य अधिष्ठानात्मकत्वाद् उक्तभेदोऽपि कथम् ? इत्याशङ्कां वारयति—अभेदेऽपीति। प्रतिपाद्यवस्तुन एकत्वेऽपि कञ्चित् कल्पितप्रतियोगिनिरूप्यं भेदं विगम्य कल्पयित्वेत्यर्थः।।७१२।।

ब्राह्मण में (अ. ७. श्लो. ४१३ से) तथा अन्यत्र बता चुके हैं। क्योंकि करणात्मक हैं इसलिये अपने-अपने विषयों से इंद्रियाँ वास्तविक भेद के अयोग्य हैं। अतः इंद्रियकथन से विषयकथन भी संपन्न हो जाता है।)।।७०८।। सबसे परे जो आत्मतत्त्व उसे क्रमशः समझ लेना चाहिये : इंद्रियों से परे मन है। (इंद्रियाँ विशेषस्थानीय हैं, मन सामान्यस्थानीय है; सारी ज्ञान-क्रियाओं में मन साधारण व इंद्रियाँ असाधारण कारण हैं अतः ज्ञान-क्रियाओं को संपन्न करने वाली सामर्थ्य ही विशेषापेक्षा से इंद्रिय और सामान्यापेक्षया मन कही जाती है यह भाव है।) मन से परे बुद्धि है। (मन सविकल्प-पदार्थ है और बुद्धि से यहाँ निर्विकल्प को कह रहे हैं। बिना किसी विशेषणादि के संबंध को समझते हुए अकेली वस्तु को समझना निर्विकल्पक ज्ञान कहा जाता है जिसे सविकल्पक ज्ञान का हेतु माना जाता है अतः कारण होने से बुद्धि मन से परे है।) सत्त्व अर्थात् व्यष्टि बुद्धि से महानात्मा अर्थात् समष्टि बुद्धि परे है। (सर्वत्र व्यष्टि से समष्टि परे ही होता है क्योंकि परिच्छिन्न से व्यापक को परे ही मानते हैं। कारण होने से भी समष्टि परे है।) महत् से परे अव्यक्त ही है। (समष्टि बुद्धि ही सूक्ष्म है, उसका जहाँ विलय होता है अर्थात् जो उसका उपादान है वह अव्याकृत, अज्ञान, प्रकृति ही महत्से परे है।) इसी तरह अव्यक्त से परे पूर्ण चेतन है जो सर्वदा व्यापक है। (अव्याकृत का अधिष्ठान होने से यही सर्वाधिक परे है। विषय से अव्याकृत तक समानसत्ताक परता है अतः सापेक्ष परत्व है जबकि पुरुष की परता विषमसत्ताक होने से निरपेक्ष है यह चमत्कार है। इसीलिये आचार्य बादरायण ने माना है (३.३ अधि. ७ सू. १४-१५) कि यहाँ गिनाये सब पदार्थों की परता बताने में प्रसंग का तात्पर्य नहीं वरन् पुरुष की परम-परता ही यहाँ अभिप्रेत है।)।।७०९।। वह पुरुष उस स्थूल-सूक्ष्म प्रपंच से असम्बद्ध है जो दृश्य बनकर द्रष्टा का अनुमान कराता है। (अर्थात् परम पुरुष प्रमाता नहीं वरन् उसका भी साक्षी है।) यह वह पुरुष है जिसे जानकर जंतु संसारबंधन से छूटकर अमर हो जाता है।।७१०।। कार्यों समेत अविद्या का बाध मोक्ष कहलाता है और जो भासमान आनंदस्वरूप है वह अमरता कही गयी है।।७११।। यद्यपि प्रतिपाद्य वस्तु में कोई भेद नहीं तथापि विद्वानों ने कल्पित विभिन्न प्रतियोगियों से निरूपित भेद का आरोप कर उक्त रूप से प्रवृत्तिनिमित्तों का अंतर ध्यान में रख मोक्ष और अमरता के भेद का व्यवहार किया है। (शब्द से कहे जाने वाले अर्थ की जो खासियत उसी शब्द से व्यक्त हो उसे प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं। 'कपिला' चाहे जिस जानवर को नहीं वरन् गाय को ही कहते हैं लेकिन गाय की जिस खासियत को मानकर 'कपिला' शब्द प्रयुक्त होता है उसे इस शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं। अविद्यानिवृत्ति और आनंद-स्फुरण परस्पर विभिन्न नहीं क्योंकि अविद्यानिवृत्ति आत्मरूप ही है, नियम है 'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः'। किन्तु आत्मा की अविद्यानिवृत्तिरूपता व्यक्त करने के लिये उसे 'मोक्ष' कहते हैं और आनंद-स्फुरणरूपता व्यक्त करने के लिये उसे ही अमृत कहते हैं। प्रवृत्तिनिमित्त का भेद भी कोई वस्तुगत भेद नहीं है कि परमार्थ हो वरन् कल्पित अविद्या और कल्पित परिच्छिन्न आनंद के भेद से इनके अभावरूप आत्मा में भेदव्यवहार हो जाता है।)।।७१२।। (श्लोक ७०३ से यहाँ तक सांख्य का, विचार का वर्णन किया। अब योग अर्थात् इंद्रियनिरोध का वर्णन करेंगे।)

योगः

दर्शने योग्यतां नैति रूपमस्यात्मनः सदा। न चक्षुषैनमात्मानं कोऽपि पश्यति कर्हिचित्।।७१३
यतो रूपादिहीनोऽयमिन्द्रियैर्नैव गम्यते। उक्तमेतत् पुरा तुभ्यं मयाऽत्र नचिकेतसे।।७१४
हृत्स्थयाऽत्र ततो बुद्ध्या नियन्त्र्या मनसोऽपि हि। सङ्कल्प्य कञ्च नाकारमवाङ्मनसगोचरे।।७१५
आनन्दात्मनि तेनाऽयं गमयेत् स्वात्मरूपतः। इत्थं जानन्ति ये नित्यममृतास्ते भवन्ति च।।७१६
'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। विचेष्टते न बुद्धिश्च तामाहुः परमां गतिम्।।'७१७
जीवतो विदुषो नास्याः सम्प्राप्त्याऽस्ति परा गतिः। मनोबुद्धीन्द्रियाणां स्याद् यदैकाग्र्यं निरन्तरम्।।७१८
एतेषां निश्चली भाव आनन्दात्मा स्वयम्प्रभः। प्रतिभाति यतो दुःखं नाणुमात्रं च गच्छति।।७१९
'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्। अप्रमत्तस्तदा भूयाद्[१] योगो हि प्रभवाप्ययौ।।'७२०

अथ साक्षात्काराय इन्द्रियनिरोधलक्षणं योगं विदधत्या अष्टम्या[२] अर्थमाह—दर्शन इति चतुर्भिः। अस्यात्मनो रूपं दर्शन इन्द्रियज्ञाने योग्यतां यतो न प्राप्नोति ततः चक्षुषा तदुपलक्षितेतरेन्द्रियैश्च एनं न कश्चित् पश्यति इत्यर्थः।।७१३।। योग्यताऽभावे हेतुतया रूपाद्यभावमाह—यत इति।।७१४।। ततो निरोधेनैव आत्मानमात्मतया जानीयाद् इत्याह—हृत्स्थयेति। अयम् अधिकारी तेन योगेन स्वात्मत्वेन आत्मानं गमयेत् साक्षात् कुर्यात्। कीदृशेन तेन ? हृत्स्थया हृद्येकाग्रतामापन्नया बुद्ध्या मनसः सविकल्पकस्य नियन्त्र्या वशीकर्त्र्या कञ्च कमपि आकारं दृश्यरूपम् आनन्दात्मनि न सङ्कल्प्य निष्पादितेन इति शेषेण योजना। इत्थम् इत्यादि स्फुटम्। इति द्वयोरर्थः।।७१५-६।। योगस्योत्कर्षबोधयन्तीं नवमीं पठति[३]—यदेति। ज्ञानानि ज्ञानेन्द्रियाणि, मनो बुद्धिश्च एतेषां नैश्चल्यरूपा परमा गतिरिति।।७१७।। परमतामुपपादयति—जीवत इति द्वाभ्याम्। यद् मनःप्रभृतीनां निरन्तरमैकाग्र्यमस्या अवस्थायाः सम्प्राप्तितुल्या परा उत्कृष्टा गतिर्न अस्ति. किन्त्वियमेव परा आनन्दात्मभानेन सकलदुःखप्रहाणाद्। इति द्वयोरर्थः।।७१८-९।।

दशमीं विवृणुते—तामिति त्रिभिः। तां वर्णितां बाह्यान्तःकरणानां धारणां स्थिरां विघ्नैरप्रकम्प्यां सकलदुःखवियोगरूपामपि विपरीतलक्षणया योगपदेनाहुः इत्यर्थः। अयं योगो यतः सृष्टिसंहारक्षमत्वलक्षणैश्वर्यलाभहेतुरतस्तदर्थम्

क्योंकि इस आत्मा का स्वरूप ऐन्द्रिय ज्ञान के योग्य कभी नहीं है इसलिये इसे कोई कभी चक्षुरादि इन्द्रियों से विषय नहीं करता।।७१३।। हे नचिकेता ! तुम्हारी जिज्ञासा का निवारण करते हुए मैंने तुम्हें पहले ही बता दिया है कि रूपादिरहित होने के कारण यह आत्मा इन्द्रियों का विषय नहीं बनता।।७१४।। इसलिये परमात्मा को आत्मरूप से समझने के लिये निरोध ही आवश्यक है। अधिकारी को स्वात्मरूप से आत्मा का साक्षात्कार योग द्वारा करना चाहिये। आनंदरूप आत्मा पर किसी भी दृश्यरूप का संकल्प, अध्यारोप किये बिना उस बुद्धि से आत्मसाक्षात्कार करना चाहिये जो सविकल्प-मन की नियामक है और हृदय में एकाग्र की जा चुकी है। जो हमेशा इस प्रकार जानते हैं वे ही अमृत होते हैं।।७१५-६।। मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और बुद्धि जब स्वरूपमात्र में अवस्थित रहते हैं, अपनी विविध चेष्टाएँ छोड़ देते हैं, तब वह दशा परम गति कही जाती है।।७१७।। जीवित विद्वान् को संप्राप्य इससे परे कोई गति नहीं कि मन-बुद्धि-इंद्रियों की निरंतर एकाग्रता हो। मन आदि की निश्चलता होने पर स्वप्रकाश आनंदस्वरूप आत्मा का प्रतिभान हो जाता है जिससे फिर अणु जितना भी दुःख अनुभव में नहीं आता।।७१८-९।।

१. भवतीति श्रुतिपाठः।
२. 'न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति।' ।६८।।
३. तृतीयपादे 'बुद्धिश्च न विचेष्टत' इति श्रुतिपाठः।

अहं ब्रह्मेति विज्ञानं योगो नेन्द्रियधारणाम्। विना भवति कामादिप्रमादाभास एव वा।।७२१

अप्रमत्तः पुमान् योगी जगदुत्पत्तिनाशने। समर्थो भवति श्रीमानीश्वरोऽत्र यथैव हि।।७२२

प्रत्यक्स्वरूपम्

योगमेकं विहायाऽयमानन्दात्मा महेश्वरः। नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।।७२३

आत्मरूपमिदं श्रद्धावित्तादेवोपलभ्यते। आनन्दात्मा स्वयंज्योतिरस्तीत्येतत् समीरणम्।
गुरुशास्त्रादिविश्वासात् तस्मिन् श्रद्धेयमीरिता।।७२४

अप्रमत्तो भवेद् इत्यर्थः।।७२०।। एतत् स्फुटयन्निन्द्रियप्रवृत्तेः प्रमादस्य च योगविरोधितामाह—अहमिति। ब्रह्मात्मैक्यावधारणरूपोऽयं योग इन्द्रियधारणां विना न भवति, तथा कामसङ्कल्पादिचित्तवृत्त्युदयलक्ष्यस्य प्रमादस्य आभासे—ईषद् उदयेऽपि सति न भवति इत्यर्थः।।७२१।। तस्य परमैश्वर्यहेतुतां सोपाधिकब्रह्मभावद्वारिकामाह—अप्रमत्त इति। यथा नित्यसिद्ध ईश्वरो जगदुत्पत्त्यादौ शक्तस्तथाऽयमपि भवति इत्यर्थः।।७२२।।

'नैव' इत्यादेरेकादश्या[1] अर्थमाह—योगमिति चतुर्भिः। अयम् आत्मा उक्तं योगं विना न लभ्यः, वागाद्यगोचरत्वादित्यर्थः।।७२३।। उत्तरार्द्धार्थं स्फुटयति—आत्मेत्यादिना। इदम् आत्मनो रूपं श्रद्धालक्षणाद् वित्ताद् धनादेव हेतोर्लभ्यम्। श्रद्धायाः स्वरूपं तु नास्तिकविकल्पान् परिहृत्य सदुपदेशविश्वासेन आनन्दात्मा-ऽस्तित्वाङ्गीकरणमित्यर्थः।।७२४।। इतश्चान्यहेतुरात्मसाक्षात्कारे नास्तीत्याह—कालेति द्वाभ्याम्। यत् सदसत्

बाह्य-आन्तर इंद्रियों की ऐसी धारणा को जो विघ्नों से कंपित नहीं हो सकती, 'योग' कहते हैं, यद्यपि वह धारणा सकल दुःखों का वियोगरूप है ! क्योंकि सृष्टि और संहार की क्षमतारूप ऐश्वर्य की प्राप्ति का हेतु है इसलिये इस योग के प्रयोजन से साधक को प्रमादहीन रहना चाहिये। क्योंकि प्रारंभ व समाप्ति योग के धर्म हैं इसलिये योग की समाप्ति से बचने के लिये सावधानी ज़रूरी है। ('योगो हि प्रभवाप्ययौ' से पुराणकार ने प्रभव एवं अप्यय की सामर्थ्य योग में मानकर उसके लाभार्थ यत्न का विधान बताया है। भाष्यकार समझाते हैं कि योग क्योंकि एक प्रक्रिया है इसलिये उसके प्रति असावधानी होने से वह समाप्त हो जायगा अतः सावधानी अपेक्षित है।)।।७२०।। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चयरूप योग इंद्रियनिरोध के बिना संभव नहीं। कामना, संकल्प आदि चित्तवृत्तियों के उदय से समझा जा सकने वाला प्रमाद यदि थोड़ा भी उद्भूत हो तब भी उक्त योग संभव नहीं। अर्थात् इन्द्रियप्रसक्ति और प्रमाद योग के विरोधी हैं।।७२१।। जैसे सनातन श्रीमान् ईश्वर जगत्की उत्पत्त्यादि में समर्थ है वैसे ही जगत्के उत्पादन और विनाश में वह सशक्त हो जाता है जो योगी पुरुष प्रमादहीन बना रहता है क्योंकि वह सोपाधिक ब्रह्म से अलग नहीं रह जाता। (ईश्वर जो कुछ भी करता है उस सबको मुक्त का किया समझा जाता है क्योंकि मुक्त उसी ब्रह्म से अभिन्न होता है जिससे ईश्वर अभिन्न है। ऐसा नहीं कि मुक्त अपनी देवदत्तादि व्यष्टि-उपाधि से आकाश आदि उत्पन्न या विनष्ट करने लगे ! या अन्य चमत्कार करे या कर सके। उपासना, योगाभ्यासादि से या तन्त्र-मंत्र से वह चमत्कार करे तो भी मुक्त होने के नाते वह कोई चमत्कार नहीं करता वरन् उपासकादि होने के नाते करता है। मुक्त की सेवादि से फलादिलाभ तो शास्त्रोक्त कार्यकारणानुसार ज्योतिष्टोमादिन्याय से ही संभव हो जाता है, उसमें मुक्त का कोई स्वतंत्र कर्तृत्व नहीं होता। क्योंकि ईश्वररूप से वही करता है इसलिये मुक्त के बारे में भी कई जगह बताया है कि वह सर्वसमर्थ हो जाता है। बादरायणाचार्य का तो निर्णय है (४.४.७) कि परमार्थतः मुक्त चिन्मात्र रहता है, व्यवहार की अपेक्षा से उसका ऐश्वर्यवान् रूप भी मना नहीं किया जा सकता। 'व्यवहार' अर्थात् बद्धदशा में हम लोग जो शुकादि या निजगुरु आदि से अभिज्ञा-अभिवदन आदि करते हैं।)।।७२२।।

---

१. 'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।।'६.११।।

कालत्रयात्मकं यत्तु यच्च कालत्रयात् परम्। सदसद् वस्तु तत् सर्वं धिया वाचाऽवगम्यते।।७२५
अवाङ्मनसगम्यं यत् सर्वतोऽपि विलक्षणम्। अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।।७२६

दर्शनक्रमः

सदसत्त्वविनिर्मुक्तो मध्येऽयं सदसत्त्वयोः। 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति।।'७२७
आनन्दात्मस्वरूपस्य स्वप्रियस्याऽस्तिता यतः। तत्त्वभावस्ततोऽस्तित्वमात्मनो नास्ति नास्तिता।।७२८

स्थूलसूक्ष्मं वस्तु कालत्रयावच्छिन्नत्वेन वागादिगोचरतया प्रसिद्धं, यत् च कालानवच्छिन्नलक्षणनित्यतया च लोके प्रसिद्धं, तत् सर्वम् अस्ति मायाशबललक्षणं यत्सत् तन्मयम्; यच्चालौकिकं शुद्धं तद् अस्ति सन्मात्रम् इति एवं ब्रुवत आस्तिकस्य मताद् अन्यत्र मते स्वीकृते सति तद् आत्मतत्त्वं कथम् उपलभ्यम् ? इति द्वयोरर्थः।।७२५-६।।

द्वादशीमुपादत्ते—सदसत्त्वेति। यद्यपि अयम् आत्मा सत्त्वाऽसत्त्वलक्षणधर्माभ्यां विमुक्तत्वात् सदसत्त्वयोः मध्ये भवति—सत्त्वलक्षणधर्मराहित्यात् सत्पदेनाऽभिधातुमशक्यः, सर्वव्यवहारनिर्वाहकत्वाच्च असत्पदप्रयोगाऽनर्ह इति यावत्—तथापि तद्दर्शनेऽयमेव क्रमः—प्रथमं विश्वकारणलक्षणसद्रूपेण द्रष्टव्यः, पश्चात् तत्त्वभावपदोक्तशुद्धरूपेण यत उभयोः अनयोः अस्तित्वतत्त्वभावयोः[1]।।७२७।। उक्तक्रमे हेतुं स्फुटयन् विशिष्टरूपेण या दृष्टा सत्ता सैव शुद्धरूपेण स्थिता सती तत्त्वभावपदेनोक्तेत्याह—आनन्देति। यत आनन्दरूपत्वेन निरतिशयप्रेमास्पदस्य आत्मन एवाऽस्तित्वं भवति, नास्तिता तु नैव अस्ति ततः केवलाऽस्तित्वमेव तत्त्वभाव इत्युक्तमित्यर्थः।।७२८।।

यह आनंदस्वरूप महेश्वर उक्त एक 'योग' को, अखण्डबोध को, छोड़कर वाणी, मन, चक्षु आदि अन्य किसी भी उपाय से प्राप्त नहीं किया जा सकता।।७२३।। आत्मा का यह व्यापक स्वरूप श्रद्धारूप धन से ही मिलता है। गुरु पर शास्त्र पर और अपने निश्चय पर विश्वास से नास्तिकों की उत्प्रेक्षाओं की असंगतता समझकर यह अंगीकार कर लेना कि 'आनंदरूप आत्मा स्वप्रकाश है'—यह उस सत्य पर श्रद्धा कही जा रही है। (अर्थात् श्रुति-मतिपूर्वक विज्ञान यहाँ श्रद्धापदार्थ है। साधनसंपत्ति में भी श्रद्धा आयी है पर उसका मतलब है कि संन्यासी अपने कमण्डलु आदि पर ममता न रखे, केवल आत्मवस्तु को ही सत्य समझे। वार्तिक में (४.४.१२६८) 'तत्साधनेष्वममताविधानार्थं वचः' ऐसा स्पष्ट किया है।)।।७२४।।

'जो स्थूल-सूक्ष्म वस्तुएँ त्रिकाल में सीमित होने के कारण शब्द व बुद्धि के विषयरूप से प्रसिद्ध हैं और लोक में जिन्हें काल से असीमित अतः नित्य माना जाता है वह सभी उस सत् का ही विलास है जो माया से चित्रित है; इतना ही नहीं, जो मन-वाणी का अविषय लोकातीत शुद्ध तत्त्व है वह भी केवल सद्वस्तु है।'—इस प्रकार निर्णय घोषित करने वाला जो आस्तिक है उसके सिद्धान्त से अन्य मत स्वीकारने पर वह आत्मतत्त्व उपलब्ध नहीं हो सकता।।७२५-६।।

यद्यपि यह आत्मा सत्त्व-असत्त्व धर्मों से रहित है अतः मानो सत्त्व-असत्त्व के बीच में रहता है अर्थात् सत्त्वरूप धर्म से रहित होने के कारण 'सत्' नहीं कहा जा सकता और सारे व्यवहार का निर्वाहक होने से 'असत्' नहीं कहा जा सकता, तथापि उसके दर्शन का यही क्रम है : पहले उसे विश्व का कारणरूप सत् समझना चाहिये। फिर उसे तत्त्वभाव अर्थात् शुद्ध समझना चाहिये। सत् और शुद्ध रूपों में जो पहले सद्रूप का साक्षात्कार कर चुकता है उसी को सर्वोपाधिरहित तत्त्वभाव का निरावृत दर्शन मिलता है।।७२७।। इसमें हेतु है कि जो सत्ता सोपाधिकरूप से

१. अत्र काचिद्भाति ग्रन्थत्रुटिः।। भाष्यं तु '...अस्तित्व-तत्त्वभावयोः, निर्धारणार्था षष्ठी, पूर्वम् अस्तीत्येवोपलब्धस्य आत्मनः. ......पश्चात् प्रत्यस्तमितसर्वोपाधिरूप आत्मनस्तत्त्वभावः...प्रसीदति अभिमुखी भवति' इति।

नास्तिताभासको नास्तीत्येवं वक्तुं न शक्यते। अस्तित्वाद् भाति निखिलं द्रष्टुस्तद्धि प्रसिद्ध्यति।।
कथं सत्त्वमयो गौणेन प्रसिद्ध्येत चात्मना।।७२९
यथा राजाऽत्र राजेति विज्ञातः सन् प्रसीदति। सुखदस्तद्वदात्माऽयं तत्त्वज्ञानात् प्रसीदति।।७३०
भृत्यादिरूपतो यद्वदतत्त्वज्ञानतो नृपः। विज्ञातो ज्ञातुरात्माऽयं न प्रसीदति कर्हिचित्।
प्रत्युत प्राप्तकोपः सन्ननर्थं सम्प्रयच्छति।।७३१
एवमात्माऽप्यतत्त्वेन विज्ञातोऽनर्थदो भवेत्। अस्तिता चेदात्मनो न विज्ञाताऽनर्थदा भवेत्।
तत्त्वभावेन तस्मात् स ज्ञातव्यः सुखमिच्छता।।७३२
अस्तितायाश्च नस्तत्त्वभाव उक्तो मनीषिभिः। तत्त्वभावेन तेनाऽयमात्मा दृष्टः प्रसीदति।।७३३

आत्मनोऽस्तितामेव स्फुटयति—नास्तितेति। आत्मनो नास्तित्वस्य अपि साधकत्वाद् नास्तित्वं वक्तुम् अशक्यं यतस्तद् दृश्यजातं द्रष्टुः प्रसादात् सिद्ध्यति, अत आत्मनोऽस्तित्वमादायैव भाति। एवं सर्वसत्ताप्रदत्वात् सत्त्वमयः सदेकरूप आत्मा गौणेनात्मना सद्रूपेण कथं सिद्ध्येत ? किन्तु स एव मुख्यसद्रूप इत्यर्थः।।७२९।। यो हि यद्रूपस्तद्रूपेणैव ज्ञातः स प्रसीदति इत्येतद् दृष्टान्तेन स्फुटयति—यथेति। यथा राजा राजत्वेन ज्ञातः प्रसीदति सुखदः च भवति तथाऽऽत्माऽपि केवलाऽस्तित्वरूपेणेत्यर्थः।।७३०।। भृत्यादीति। यथा च अतत्त्वज्ञानतो व्यामोहाद् भृत्यमन्त्र्यादिरूपेण विज्ञातो नृपो ज्ञातुरात्मा आत्मवत् प्रेमास्पदभूतोऽपि न प्रसीदति प्रत्युत कोपेन अनर्थं करोतीत्यर्थः।।७३१।। एवमिति। प्रथमदलं स्पष्टम्[1]। तत्त्वं त्वात्मनोऽस्तितैवेत्याह—अस्तितेति। फलितमाह—तत्त्वेति। तत्त्वभावः परमार्थभूतमस्तित्वम्।।७३२।। तत्र पूर्वोक्तः क्रमो न विस्मर्तव्य इत्याह—अस्तितताया इति। यतोऽस्तितादृष्टेरनन्तरं तत्त्वभावोपदेशो नः अस्मानधिकारिणः प्रति, तेन तथैवावधारणं कर्तव्यमित्यर्थः।।७३३।।

उपलब्ध है वह वस्तुतः शुद्ध है। आनंदरूप अतः निःसीम प्रिय आत्मा की अस्तिता ही है, नास्तिता नहीं ही है; इसलिये केवल अस्तिता को ही तत्त्वभाव कहते हैं। ('अस्तिता' अर्थात् है-पना; यह भी कोई जाति आदि रूप नहीं वरन् सन्मात्र ही है, आत्ममात्र ही है। 'नास्तिता' अर्थात् 'नहीं है-पना' वह विशेषता जो उन सबमें मिले जिन्हें 'नहीं है' कहा जाता है। आत्मा को कभी 'नहीं है' नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह न होना निःसाक्षिक हो जायेगा। यदि उसे प्रपंचादि से भिन्न कहते हैं तो भी आत्मसमानसत्ताक 'न होना' तो उसे नहीं ही कहा जाता, यह भाव है। प्रकृत में तो यही विवक्षित है कि शबलरूप से उपलब्धि समझकर विवेक से शुद्ध समझें यही क्रम है। इस में संक्षेपशारीरक का अनुसंधान उपकारक है।)।।७२८।। क्योंकि आत्मा 'नहीं है-पने' का भी प्रकाशक है इसलिये यह नहीं कह सकते कि आत्मा नहीं है। सारा ही दृश्य द्रष्टा की कृपा से ही सिद्ध होने के कारण आत्मा की अस्तिता ग्रहण कर ही भासमान होता है अतः सबको सत्ता प्रदान करने वाला होने से आत्मा मुख्य सद्रूप है; ऐसा नहीं कि जो गौणरूप से सत् हैं उन दृश्यों से आत्मा सद्रूप प्रतीत होता हो ! (सूर्यप्रकाशित दर्पणादि गौण प्रकाशों से जैसे सूर्य प्रकाशित नहीं हो सकता वरन् सूर्य ही मुख्य प्रकाश है वैसे ही आत्मा से लब्धसत्ताक दृश्य से आत्मा सत्तान्वित नहीं होता यह अर्थ है। यह न्याय ज्ञान, शेषिता, प्रियता आदि में भी स्वयं लागू कर लेना चाहिए।)।।७२९।। जैसे लोक में राजा को जब राजा समझा जाये तभी वह प्रसन्न होता है और सुख प्रदान करता है वैसे आत्मा को भी जब केवल अस्तिता समझ लेते हैं तभी वह पूर्णतः प्रशांत और निरर्गल आनंदप्रद होता है।।७३०।। यदि नरपति के बारे में अतात्त्विक ज्ञान हो अर्थात् उसे राजा के बजाय नौकर आदि समझा जाये तो वह कभी प्रसंन नहीं होता, भले ही वास्तव में वह उस नासमझ का भी आत्मा ही है, वरन् नाराज़ होकर उसका अनर्थ ही करता है। इसी प्रकार आत्मा भी जैसा वह नहीं वैसा समझा जाये तो वह अनर्थ-प्रद ही होता है। आत्मा की अस्तिता-रूपता का सही अनुभव न होने तक वह अनर्थ ही प्रदान करती है। इसलिये सुख चाहने वाले को चाहिए कि आत्मा के पारमार्थिक अस्तित्व का निरावरण करे।।७३१-२।। क्योंकि शास्त्रने हम अधिकारियों को पहले अस्तितादृष्टि का, फिर तत्त्वभाव का उपदेश दिया है इसलिये उसी क्रम से तत्त्वभाव का निश्चय करना चाहिये। आत्मा जब तत्त्वभावरूप से—सद्रूप—समझा जाता है तभी निरुपप्लव होता है।।७३३।।

१. अर्थं पुमर्थं न ददातीति एकत्रार्थः, अनर्थं बंधादिदुःखं ददातीत्यपरत्रेति भावः।

अमृतभवनम्

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।'७३४
तत्त्वभावेन दृष्टः सन्नात्मकामं हृदि स्थितम्। इहामुत्रसुखेनैकं[1] नाशयत्यात्मसौष्ठवात्।।७३५
रूपयौवनसम्पन्ना कामिनी स्वीयसौष्ठवात्। कामुकस्य यथैवान्यवधूरागं विनाशयेत्।।७३६
सद्यस्तप्तं यथैवैतत् सुगन्धं गोघृतं नृणाम्। हृदि श्रितं तैलकामं नाशयत्यात्मसौष्ठवात्।।७३७
आनन्दात्मा स्वयंज्योतिः प्रतीतस्तु तथैव सः। रागं विनाशयेत् सद्यो नृणां वैषयिके सुखे।।७३८
मर्त्यस्य मरणं नाम कामो वैषयिके सुखे। तस्मिन्नपगते जीवन्नमरः स प्रजायते।।७३९
देहनाशो न विद्वद्भिर्मरणं कीर्त्यते क्वचित्। किन्तु कामाभिधं दैन्यं मरणं सर्वदुःखदम्।।७४०
कामेष्वपगतेष्वस्मादमरत्वमयं पुमान्। जीवनं च कुतो नेयात् सर्वदुःखविवर्जितम्।।७४१
सर्वदुःखविनिर्मुक्त आनन्दात्मनि केवले। प्रतिभाति कथं नाऽयं जीवन् ब्रह्मात्मको न हि।।७४२

तत्त्वभावेन दर्शनात् किं भवति ? इत्याकांक्षायां त्रयोदशीं पठति—यदेति।।७३४।। अस्या अर्थं दर्शयति—तत्त्वेति एकादशभिः। अयमात्मा तत्त्वभावेन दृष्टः सन्नैहिकादिविषयसुखरागमनेकविधं स्वकीयसौन्दर्याद् नाशयेदिति।।७३५।। तत्र दृष्टान्तद्वयमाह—रूपेति। प्रथमदृष्टान्तः स्फुटः। यथा च नवनीतं यथारुचि भक्षितं तैलभक्षणे वांछां वारयेद् इति द्वितीयदृष्टान्तस्वरूपम्।।७३६-७।। दार्ष्टान्तिके योजयति—आनन्दात्मेति। प्रतीतो भातः। इतरत् स्पष्टम्।।७३८।। ततो मर्त्यत्वाऽपगमेन अमरत्वमाविर्भवति इति सोपपत्तिकमाह—मर्त्यस्येत्यादिना। मर्त्यपदप्रवृत्तिनिमित्तभूतं मरणम् इदमेव यद् विषयसुखे प्रसञ्जनं कामपदोक्तम्। तस्याऽपगमे त्वयं न मर्त्यः किन्तु अमर एवेत्यर्थः।।७३९।।

एतदेव स्फुटयति—देहेति। प्रसिद्धं मरणम् अपि देहान्तरकामनैव, निष्कामस्य उत्क्रान्त्यनुपपत्तेः इति भावः।।७४०।। कामेष्विति। सर्वकामव्यपगमे सत्यमरः सन् अयं पुमान् सर्वदुःखविवर्जितं जीवनं जीवति इत्येवं व्यवहारं कथं न प्राप्नुयाद् इत्यर्थः।।७४१।। तत्र हेतुतया ब्रह्मभावाप्तिमाह—सर्वेति। शुद्धात्मनि आनन्दरूपे प्रतिभाति भासमाने सति अयं ना पुरुषः कथं ब्रह्मरूपो न स्यात् ? किन्तु स्यादेवेत्यर्थः।।७४२।।

जब साधक के हृदय की सभी कामनाएँ पूर्णतः मिट जाती हैं तब मरणधर्मा अमृत हो जाता है, यहीं ब्रह्म हो जाता है।।७३४।। ऐहिक-आमुष्मिक सुख को विषय करती जो आत्मा की अनंत कामनाएँ हैं उन्हें तत्त्वभाव से देखा गया आत्मा अपने सौंदर्य से नष्ट कर देता है।।७३५।। रूप-यौवन से संपन्न कामिनी अपने सौंदर्य से कामुक पुरुष के उस राग को विनष्ट कर देती है जो उसे किसी अन्य स्त्री के प्रति हो। ताजा तपाया यह गाय का सुगंधित घी (खा लेने पर), अपनी स्वादिष्टता के कारण मन में होने वाली तेल खाने की इच्छा समाप्त कर देता है। इसी तरह वह स्वप्रभ आनंदरूप आत्मा निरावृत होने पर विषयापेक्ष सुखों के प्रति होने वाले राग को तुरंत विनष्ट कर देता है।।७३६-८।। मरणधर्मा का मरण यही है कि वह विषयसुखों की कामना करता है। उस कामना के निकल जाने पर वह जीवित रहते हुए भी अमर हो जाता है।।७३९।। विद्वान् लोग देहनाश को मरण कभी नहीं कहते किन्तु कामना-नामक दीनता ही वह मृत्यु है जो सारे दुःख देती है। (देहांतर की कामना ही उत्क्रमण भी कराती है, निष्काम का तो शरीर से उत्क्रमण भी संभव नहीं यह बृहदारण्यक में (४.४.६) स्पष्ट है।)।।७४०।। जब इस पुरुष में से सारी कामनाएँ निकल जाती हैं तब अमर हुआ यह पुरुष 'सभी दुःखों से रहित हो जी रहा है' ऐसे क्यों न कहा जायेगा। (अर्थात् उसे जीवित और अमर कहने में कोई असंगति नहीं। प्राणवियोग न होने से वह जीवित है, कामना न होने से अमर है।)।।७४१।।

---

१. 'सुखं नैकमिति टीकानुसारी भवेद् युक्तश्च पाठः।

ब्रह्मप्राप्तिरियं नाम जीवतो यद् विबोधनम्। आनन्दात्मस्वरूपस्य स्वात्मभेदविवर्जनात्।।७४३
आनन्दात्मानमेतं चेत् स्वप्रभं सर्वगं महत्। भावाभावविनिर्मुक्तं सर्वभेदविवर्जितम्।।
देहेऽस्मिन् प्राप्तवान् केन नाप्तं ब्रह्माऽद्वयं परम्।।७४४
ततः कामविनिर्मोके दुःखशून्योऽमृतः पुमान्। ब्रह्मानन्दात्मरूपं तद् देहेऽस्मिन्नवगच्छति।।७४५

ग्रन्थिप्रभेदः

अहं ब्रह्मेति विज्ञाने संशया ग्रन्थिसन्निभाः। विपर्ययाश्च जायन्ते प्रायः सर्वशरीरिणाम्।।
असत्यास्तत एवाऽहं ब्रह्मेति ज्ञानवान् भवेत्।।७४६
असद् ब्रह्माऽप्रतीतेश्च सच्चेत् किं न प्रतीयते। सर्वधर्मविनिर्मुक्तं कथं ब्रह्म भवामि तत्।।७४७
इत्यादिरूपिणो नृणां मुग्धानां संशया हृदि। विपर्ययाश्च जायन्ते पण्डितंमन्यसेविनाम्।।७४८
हृदयस्य यदैवैते ग्रन्थयः संशयादिकाः। छिद्यन्ते यस्य तेनैतत् प्राप्यं ब्रह्माऽमृतात्मना।।
एतावदेव विज्ञेयमप्येतद्धृदये निजे।।७४९

तत्र हेतुतया आत्मभूतस्य ब्रह्मणो ज्ञानैकलभ्यतामाह—ब्रह्मेति त्रिभिः। आनन्दात्मलक्षणस्य स्वरूपस्य यद् विबोधनं विज्ञानमेतद्रूपैव ब्रह्मप्राप्तिः श्रुतिप्रसिद्धा। यदि ब्रह्म आत्मभिन्नं स्यात्तदाऽद्वितीयत्वं जह्याद् इत्याद्युपपत्तिविरोधेन ब्रह्मात्मनोर्भेदः कथं स्यात्।।७४३।। एतदेव स्फुटयति— आनन्दात्मानमिति। यदि आनन्दादिलक्षणम् एतम् आत्मानं प्राप्तवान् ज्ञातवान् भवति तदा अद्वयं ब्रह्म न प्राप्तम् इति केन वक्तुं शक्यमित्यर्थः।।७४४।। फलितमाह—तत इति। विनिर्मोके बाधे।।७४५।।

चतुर्दशीं[1] व्याचष्टे—अहमिति। ब्रह्मात्मविज्ञाने सति सर्वे संशया विपर्ययाश्च असत्या बाधिता जायन्ते भवन्ति ततो ब्रह्मात्मज्ञानं सम्पाद्यम्। कीदृशाः संशयादयः ? हृदयपदोक्तमनोरूपजालस्य ग्रन्थिनिभाः।।७४६।।

संशयादीन् कुतर्करूपान् दर्शयति—असदिति। ब्रह्म नास्त्येव अनुपलभ्यमानत्वात्, सच्चेदुपलभ्येत। किं च मम कर्तृत्वादिमतो ब्रह्मभावो न सम्भवीत्यादिकुतर्करूपाः संशयादयः पण्डितंमन्यानामतत्त्वविदां सङ्गेन भवन्ति। इति द्वयोर्योजना।।७४७-८।। हृदयस्येति। यस्य आचार्याऽनुगृहीतस्य यस्मिन् क्षणे एते संशयादयो विघट्यन्ते तदैव तेन ब्रह्म अद्वयं प्राप्तं भवति। बोधार्कोदयस्य तमोनिवृत्तेश्च समानकालतायाः प्रसिद्धत्वात्। एतावदेव[2] च तत्त्वं शास्त्राचार्योपदेशेन विज्ञेयम् इत्यर्थः।।७४९।।

सारे दुःखों से छूटे आनंदरूप अद्वैत आत्मा का प्रतिबोध रहते यह पुरुष जीवित रहते हुए ही ब्रह्मरूप क्यों नहीं होगा!।।७४२।। जीवित रहते हुए आनंद-आत्मस्वरूप को स्वात्मा से अभिन्न अनुभव करना—इसीका नाम ब्रह्म की प्राप्ति है। (ब्रह्म आत्मा से भिन्न हो तो अद्वितीय न होकर परिच्छिन्न अतः अब्रह्म हो जायेगा।)।।७४३।। यदि इस स्वप्रकाश, सर्वगत, महान्, भाव-अभाव से अतीत, सारे भेदों से रहित आनंदरूप आत्मा को इस देह में रहते हुए ही पा लिया, जान लिया तो यह कैसे कह सकते हैं कि अद्वैत ब्रह्म प्राप्त नहीं हो गया है ! (उक्त स्वरूप वाले आत्मा का प्रामाणिक अप्रतिबद्ध अनुभव ही ब्रह्मप्राप्ति है।)।।७४४।। इसलिये कामनामात्र का बाध हो जाने पर पुरुष दुःखरहित अमर हो जाता है और इस शरीर में रहते हुए ही उस आत्मस्वरूप को निरावृत कर लेता है जो ब्रह्मानंद है।।७४५।।

'मैं ब्रह्म हूँ' यह विज्ञान होने पर वे संदेह और भ्रम बाधित हो जाते हैं जो प्रायः सब देहधारियों के मनरूप जाल की गाँठों की तरह हैं। इसलिये 'मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान वाला बनना उचित है।।७४६।।

---

१. 'यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्।।'६.१४।।
२. 'नाऽतः परमस्तीति' (प्रश्न. ६.७) प्रभृतिश्रुतेरेवमवधारणं युक्तम्।

अङ्गगतिः

हृदयस्याऽस्य नाड्यः स्युः शतमेकोत्तरं शतम्। तासामेका च मूर्द्धानं विभिद्यास्ते बहिः सदा।।
द्वारभूता यया गच्छेदनिशं वामनः सदा।।७५०
अन्यास्तु शतसङ्ख्याता बहिर्निर्गमने सदा। भवन्ति गच्छतो नित्यं त्वग्रूपेण समा वपुः।।७५१
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः सर्वदा मद्वशे पुमान्। निर्गतः शतसङ्ख्याभिरायात्येव न संशयः।।७५२

उपसंहारः

हृदये सन्निविष्टोऽयं पुरुषः सर्वदेहिनाम्। सूक्ष्मदेहधरो नित्यमविद्याकञ्चुकावृतः।।७५३

येन तूक्तविधयाऽऽत्मतत्त्वं न विज्ञातं तस्य द्वयी गतिरुक्ता—अग्निविद्यादिना ब्रह्मलोकप्राप्तिः, इतरलोकाप्तिर्वा। तदुपयोगिद्वारप्रदर्शिकायाः पञ्चदश्या[1] अर्थमाह—हृदयस्येति। हृदयकन्दाद् उद्भूता एकाधिकशतसङ्ख्याकाः प्रधाननाड्यः सन्ति, तासु एका सुषुम्नाख्या मूर्द्धानं विभिद्य सूर्यमण्डलद्वारा[2] ब्रह्मलोकपर्यन्तं सन्तता, अत एव ब्रह्मलोकद्वारभूता यया द्वारा वामन उपाधिपरिच्छिन्नो जीवः अनिशम् आपेक्षिकं नित्यं ब्रह्मलोकं गच्छेद् इत्यर्थः।।७५०।। अन्यास्तु लोकान्तरगमनद्वारभूता इत्याह—अन्या इति। अन्यास्तु वपुः शरीरान्तरं गच्छतो जीवस्य बहिः गमन उपयोगिन्यो भवन्ति। कीदृश्यः ? त्वग्रूपेण साम्याद् अस्पष्टरूपा इत्यर्थः।।७५१।। ताभिर्बहिर्गतोऽयं परिच्छेदाभिमानेन वामनो जीवो मम यमस्य वशं यात्येवेत्याह—अङ्गुष्ठेति।।७५२।।

अथ सर्वग्रन्थप्रतिपाद्यं प्रदर्शयन्त्याः षोडश्या[3] अर्थमाह—हृदय इति षड्भिः। अयम् अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः सूक्ष्मदेहाऽविद्याभ्यां बाह्यान्तरकञ्चुकभूताभ्यामावृतो हृदयदेशे सन्निहितो वर्तत इत्यर्थः।।७५३।। तमिति। तम्

वास्तव में मूर्ख पर स्वयं को पण्डित मानने वालों की संगति से मोहग्रस्त लोगों के मन में इस प्रकार के संशय और भ्रम पैदा होते हैं—'ब्रह्म है ही नहीं क्योंकि हमें उसकी प्रतीति नहीं होती। यदि वह वास्तविक हो तो प्रतीत क्यों न हो ? जो सब विशेषताओं से रहित है वह ब्रह्म मैं कैसे हो सकता हूँ ? मैं तो कर्ता-भोक्ता आदि विशेषताओं वाला हूँ।' इत्यादि।।७४७-८।। आचार्य के अनुग्रह से जिस जीव के हृदय की ये संशयादि गाँठें जिस क्षण खुल जाती हैं उसी क्षण अमृतरूप से वह इस ब्रह्म को पा लेता है क्योंकि ज्ञानोदय और अज्ञाननिवृत्ति एक ही समय होती हैं। अपने हृदय में अनुभव करने लायक तत्त्व इतना ही है।।७४९।।

(जिसने निर्विशेष आत्मा के ज्ञान से निष्कामता नहीं पायी वह यदि अग्निविद्या आदि सोपासन कर्म करता है तो ब्रह्मलोक जाता है अन्यथा और-और लोकों को जाता है जिस गति के उपयोगी कुछ द्वार हैं जिनका परिचय कराते हैं :) सर्वसुलभ इस हृदय से निकली प्रधान नाडियाँ एक सौ एक हैं। उनमें से एक है सुषुम्ना जो मूर्धा का भेदन कर सूर्यमंडल द्वारा ब्रह्मलोक तक लगातार जाती है अतः वह ब्रह्मलोक जाने का द्वार कही जाती है। वामन अर्थात् उपाधि से परिच्छिन्न जीव उसी नाडी द्वारा उस ब्रह्मलोक को जाता है जो संसारान्तर्वर्ती सर्वाधिक स्थायी लोक (भोगभूमि) है।।७५०।। ब्रह्मलोक से अन्यत्र शरीर ग्रहण करने के लिए जाते हुए जीव के इस शरीर से बाहर निकलने में उपयोगी बाकी सौ नाडियाँ हैं जो वैसे ही अस्पष्ट रूप वाली हैं जैसे त्वगिन्द्रिय। अंगूठे जितना पुरुष जब उन सौ नाडियों से निकलता है तब हमेशा मुझ यम के वश में आता ही है इसमें संशय नहीं।।७५१-२।।

अंगूठे जितना यह पुरुष सभी देहधारियों के हृदय में घुसा रहता है। अविद्यारूप भीतरी आवरण और सूक्ष्मशरीररूप बाहरी आवरण से यह हमेशा घिरा रहता है। (संक्षेपशारीरक ३.१३२ आदि में स्पष्ट है कि अविद्यारूप मूल उपाधि से परिच्छिन्न आत्मा ही सूक्ष्मादि उपाधियों वाला बनता है। सिद्धांतबिंदु में उपाधिक्रम और स्पष्ट है।)।।७५३।। दुःखसमूह

१. 'शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति।।'६.१६।।
२. 'रश्म्यनुसारी' त्यादौ (४.२. अधि. १०) अत्र विचारो दर्शनीयः।
३. 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति।।'६१७।।

तं सूक्ष्मदेहाद् दुःखौघकारणाच्चित्तनिग्रहात्। विवेकेन तृणं बाह्यं मनसा च त्वचो यथा।।
इषीकाख्यं हि मुञ्जाख्यात् कुरुते करतः शिशुः।।७५४

ब्रह्मचर्यादिसम्पन्नो धैर्ययुक्तो विवेकवान्। मनसैवैनमात्मानं कुर्यादस्माज्जडात् पृथक्।।७५५

पृथक्कृतो वामनोऽयं जडजातादशेषतः। अवामनो भवेत् सद्यो विश्वरूपधरः पुमान्।।७५६

अवामनो न मे पाशैर्बद्ध्यते कर्हिचित् क्वचित्। हृत्स्थितो वामनो यद्वन्नित्यं देहपरिक्षये।।७५७

अवामनः पुमान् योऽयं स्वप्रभो मृतिवर्जितः। स एवात्मेति विज्ञेयो नचिकेतः सदा त्वया।।७५८

इत्युक्त्वा भगवान् धर्मराजस्तूष्णीं बभूव सः। नचिकेताश्च सन्तुष्टः कृतकृत्योऽभवत्तदा।।७५९

मृत्युप्रोक्तामिमां विद्यामात्मनो लब्धवान् पुरा। कृत्स्नं योगविधिं तद्वन्नचिकेताः कुमारकः।।७६०

लब्ध्वा च देह एतस्मिन् जीवन् ब्रह्माऽद्वयं परम्। आनन्दात्मस्वरूपं तत् स्वप्रभं प्राप्तवानपि।।७६१

अविद्यालेशरहितो दुःखशोकविवर्जितः। मरणेन विनिर्मुक्तो मोक्षमेव गतो मुनिः।।७६२

एतं विवेकयुक्तेन मनसा एवाऽधिकारी सूक्ष्मदेहाद् बाह्यं कुर्यात्। कीदृशात् सूक्ष्मदेहात् ? दुःखदात्; चित्तमेव निग्रहः शृङ्खलास्थानीयं यत्र तथाभूतात्; यथा इषीकाख्यं मध्यतृणं मुञ्जात् त्वग्रूपाद् बाह्यतृणात् सावधानेन मनसा करेण च शिशुर्बाह्यं कुरुते तथा। इति द्वयोर्योजना।।७५४-५।। पृथक्कृत इति। एवमुपाधितः पृथक्कृतोऽयं वामनोऽवामनः पूर्णः सम्पद्यते—इति।।७५६।। स च पूर्ववद् मम मृत्युरूपस्य गोचरे न वर्तत इत्याह—अवामन इति।।७५७।। एवमवामनः पूर्णः पुरुष एव आत्मतया त्वया विज्ञेय इत्याह—अवामनः पुमानिति। स्वप्रभः शुक्रपदार्थः।।७५८।।

षोडशीं[1] विवृणोति—इत्युक्त्वेति पञ्चभिः। स्पष्टं द्वयम्।।७५९-६०।। लब्ध्वा चेति। आत्मविद्यां सयोगां लब्ध्वा च जीवन्नेव ब्रह्म प्राप्तवान्। कीदृशम् ? अद्वयत्वादानन्दरूपमात्मरूपं च, अत एव स्वप्रकाशम्।।७६१।। ततश्च विदेहमोक्षं गत इत्याह—अविद्येति। लेशः प्रारब्धफलकर्मभिः स्वनिर्वाहाय संरक्षितो विक्षेपशक्तिभागः।।७६२।।

के हेतुभूत सूक्ष्मदेह से उस आत्मतत्त्व को सविवेक मन द्वारा पृथक् कर समझना चाहिए। जैसे बच्चे मुंज कहलाने वाली (सरकण्डे की) बाहरी त्वचा से इषीका कहलाने वाले लंबे तिनके को एकाग्रता से धैर्यपूर्वक हाथ से निकाल लेते हैं वैसे ही विवेकी को चाहिये कि धैर्यवान् हो ब्रह्मचर्य आदि से संपन्न होवे और चित्त को निगृहीत कर मन द्वारा ही इस आत्मा को इस जड उपाधिप्रपंच से पृथक् कर ले। (यह पृथक्करण दृढ निश्चयरूप ही है जैसे गहने से स्वर्ण का पृथक्करण हो जाने पर गहना बने-बिगड़े तो भी कोई विचलन नहीं होता।)।।७५४-५।। समस्त जडवर्ग से अलग किया यह वामन तुरंत अवामन हो जाता है क्योंकि वस्तुतः यह पूर्ण ही है, विश्व के सारे रूपों को तो यह केवल अपने ऊपर धारण किये है जैसे नट नाना रूप धर लेता है।।७५६।। हृदयबद्ध वामन जैसे स्थूल देह नष्ट होने पर हमेशा मेरे पाशों से बँध जाता रहा वैसे अवामन मेरे पाशों से कभी कहीं बँधता नहीं।।७५७।। हे नचिकेता ! जो यह स्वप्रकाश अमर अवामन पूर्ण चेतन है उसे ही तुम्हें सदा आत्मा समझना चाहिये।।७५८।।

इतना कहकर वे भगवान् धर्मराज चुप हो गये। नचिकेता भी तब कृतकृत्य होने से संतुष्ट हो गया।।७५९।। ब्राह्मणकुमार नचिकेता ने सारी योगविधि और यमद्वारा उपदिष्ट इस आत्मविद्या को प्राप्त किया यह प्राचीन इतिहास है।।७६०।। साधनानुष्ठान-पूर्वक आत्मबोध पाकर अपने भौतिक देह में प्रारब्ध-समापन करते हुए ही अर्थात् जीवित रहते हुए ही उस परब्रह्म को भी पा गया जो अद्वय, आनंद, व्यापक, प्रत्यक्, चिद्रूप है। प्रारब्ध-समाप्ति पर वह अविद्यालेश

१. 'मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्। ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद् विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव।।' ६.१७।। 'षोडशीम्' इत्यत्र टीकोक्तसंख्यानुसारं 'सप्तदशीम्' इति लेखनीयम्, भाष्यादिसंस्करणेषु त्वष्टादशोऽयं मन्त्रः।

नचिकेता यथा यादृगात्मविज्ञानतोऽभवत्। अन्योऽपि च तथा तादृगात्मविज्ञानतो भवेत्। ।७६३
आख्यानमुक्तवानेतत् कठस्त्रैवर्णिकान् प्रति। अपौरुषेयवचसा यदिदं ते मयेरितम्। ।७६४

शान्तिमन्त्रार्थः

ब्रह्मविज्ञानमेतद्धि दुर्लभं सर्वदेहिभिः। एतद् यस्मात् पुरा प्राप्तं देवेभ्यो मानवैरिह।।
आश्चर्यात्मा ब्रह्मबोधवक्ता श्रोता च दुर्लभः। ।७६५
अत्र वक्तुस्तथा श्रोतुर्द्वयोरन्यतरस्य वा। विक्षेपो जायते प्रायो ब्रह्मविद्याप्रबोधने। ।७६६
देवैः कृतस्तदेतत्ते मया प्रागेव कीर्तितम्। शक्रेण सह संवादे दध्यङ्ङाथर्वणस्य हि। ।७६७

नचिकेता इति। यथा नचिकेताः स्वात्मज्ञानाद् यादृग् द्विविधं मोक्षं गतोऽभवत् तथाऽन्योऽपि आत्मवित् तादृक् स्यादित्यर्थः। ।७६३।।

उपसंहरति—आख्यानमिति। यद् आख्यानं कठः तपसा लब्धेन वेदवाक्येन अधिकारिणः प्रति उक्तवान्, तद् इदं तुभ्यमुक्तमिति। ।७६४।।

'सह ना' विति शान्तिमन्त्रस्य[1] तात्पर्यं दर्शयति—ब्रह्मेत्यादिना। एतद् ज्ञानं दुर्लभं देवानुग्रहेणैव पूर्वैर्लब्धत्वाद् अत एवास्य ब्रह्मबोधस्य वक्ता श्रोता च आश्चर्यरूपतया दुर्लभ इत्युक्तमित्यर्थः। ।७६५।। अत्रेति। अत्र विद्योपदेशे गुरुशिष्ययोः द्वयोः एकस्य वा विक्षेपः फलप्रतिरोधी विघ्नो दुष्कृतकुपितैः देवैः कृतः प्रायो दृश्यते। तदेतत् चतुर्थाध्याये दध्यङ्ङिन्द्रसंवाद उक्तमित्यर्थः। ।७६६-७।। कुशल इति। हेतुत्वं फलरूपेण। तथा च यस्य शिष्यस्य

से भी अस्पृष्ट हो गया, दुःख व शोक से सर्वथा रहित मोक्ष पा गया। जीवित रहते भी वह मुनि निर्मुक्त तो था ही, मृत्यु से वह विनिर्मुक्त (विदेह कैवल्य वाला) हो गया। (अपने निर्वाह के लिये प्रारब्धफलक कर्म अविद्या की विक्षेपशक्ति के जिस हिस्से को बचाये रखते हैं वह अविद्यालेश है। इसके स्वरूप पर अनेक ऊहाएँ उपलब्ध हैं। स्वयं आचार्य ने छांदोग्यभाष्य में (८.१.१) इसे 'अविद्या-विशेष' कहकर स्वीकारा है।)। ।७६१-२।।

आत्मानुभव पाने से नचिकेता जैसा मुक्त हुआ वैसा ही मुक्त अन्य भी अधिकारी हो जाता है जो निर्विशेष आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है। (आत्मरूप होने से मोक्ष एक तारतम्यरहित वस्तु है, कैवल्य नानारूप संभव नहीं।)। ।७६३।।

कठ नामक ऋषि ने तप से प्राप्त अपौरुषेय वेद के शब्दों द्वारा यह कथानकसहित उपदेश अधिकारियों को सुनाया था। उसी का मैंने तुम्हारे हित के लिये वर्णन किया। (अन्य सभी धार्मिक ग्रंथों से वेद की विशेषता अपौरुषेयतारूप है जिसका मतलब है कि वेद की आनुपूर्वी फेरबदल नहीं सहन करती। ईश्वर भी इसे परिवर्तित नहीं करता ! 'परमेश्वर का उपदेश' तो बहुतेरे ग्रंथ स्वयं को बताते हैं लेकिन सब स्वयं को नवीन कहते हैं, सनातन नहीं।)। ।७६४।।

अब इस उपनिषत् के शांतिमंत्र का अर्थ बताते हैं : यह ब्रह्मात्मानुभव सभी देहधारियों के लिये दुर्लभ है। प्राचीन काल में मानवों ने देवताओं की कृपा से ही इसे प्राप्त किया था। ब्रह्मज्ञान के वक्ता और श्रोता दुर्लभ आश्चर्य ही हैं। ।७६५।। ब्रह्मज्ञान के प्रबोधन के प्रसंग में प्रायः देखा जाता है कि वक्ता, श्रोता या दोनों को ही कोई ऐसा विक्षेप हो जाता है जिससे विद्या के दान-ग्रहण की प्रक्रिया विघ्न-हत हो जाती है। तुम्हें पहले भी बताया था कि 'हम से भी उच्च स्थिति पा जायेगा' इस अमर्ष से देवता मुमुक्षु-व्यवहार में विघ्न करते हैं। इन्द्र-दधीची संवाद में भी यह प्रकट हो गया था कि श्रोता को विक्षेप हो जाये तो वह विद्या ग्रहण नहीं करता। ।७६६-७।। जिस शिष्य का गुरु कुशल

१. 'सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।'

कुशलोऽत्र गुरुस्तस्य विक्षेपो देवजो न हि। शिष्यस्य जायते सोऽत्र कौशलाऽभावहेतुकः।।७६८

पूर्वपापसमायोगाद् विपरीताऽस्य धीर्भवेत्। विपरीतधिया सोऽयं गुरुद्वेषादिकं पुमान्।।
कुर्यात्तेनैव नरकान् गच्छेच्छिष्यो बहूनपि।।७६९

गुरुसेवाकृते ज्ञानं देवसेवाकृते फलम्। द्वयोः सेवैकतन्त्रेण ततो विघ्नैर्विवर्जितः।।
गुरोर्विद्यामवाप्नोति शिष्यः कुशलभावदाम्।।७७०

मोक्षं देवकृतं मन्ये स्वप्रकाशविधानकम्। कठ एवमुवाचादौ शिष्यान् विद्यार्थिनः प्रति।।७७१

गुरुः कुशलः सम्प्रदायवित् तस्य स विक्षेपो देवजो न जायते। कीदृशो विक्षेपः ? कौशलस्य 'कुशलोऽस्य लब्धा' (कठ. १.२.७) इति श्रुत्युक्तस्य अभावप्रयोजक इत्यर्थः।।७६८।। विक्षेपमभिनयति—पूर्वेति। अस्य शिष्यस्य।।७६९।। गुरुसेवेति। कृतपदं भावक्तान्तम्। तथा च गुरुसेवाकरणे सति ज्ञानलाभो भवति, देवसेवाकरणे तु ज्ञानस्य फलं तन्निष्ठारूपकौशलात्मकं भवति; अतो द्वयोः गुरुदेवयोः सेवारूपेण एकेन प्रधानेन तन्त्रेण साधनेन कुशलभावप्रयोजिकां विद्यां निर्विघ्नः शिष्यो लभत इत्यर्थः। 'तन्त्रं शास्त्रे करणे च' इति हैमः।।७७०।।

मोक्षमिति। स्वप्रकाशत्वं विधानं प्रकारो यस्य स तथा तं स्वप्रकाशात्मरूपमिति यावत्। एवं विधं मोक्षरूपं फलमुक्तविधया साकल्यप्रयोजकदेवानुग्रहाधीनं मन्येऽतो देवप्रीत्यै शान्तिमन्त्रः पठनीय इति भावः। इति एवं कठो नाम मुनिरधिकारिणः प्रति उक्तवानित्यर्थः। 'विधानं प्रकारे' इति हैमः।।७७१।।

वल्लीघटितत्वेन समानशान्तिमन्त्रकदम्बेन च तैत्तिरीयजिज्ञासामुत्थापयति—तित्तिरिश्चेति। तित्तिरिश्च एवम् उवाच इत्यनुषङ्गः। यः तित्तिरिः अनेकधा विद्यामुवाचेति।।७७२।।

होता है, उन पारंपरिक तौर-तरीकों से वाकिफ़ होता है जिनके उपयोग से अनादि काल से आज तक विद्यापरंपरा अक्षुण्ण है और सम्प्रदाय बनाये रखना चाहता है, उस शिष्य को विद्याग्रहण में देवतादि-प्रयुक्त वह विक्षेप नहीं होता जो विद्या का सफल लाभ न होने दे।।७६८।। पूर्वार्जित पाप फलोन्मुख होने से शिष्य को तत्त्वविषयक विपरीत निश्चय हो जाता है जिससे वह गुरु के प्रति द्वेष आदि कर बैठता है और फलस्वरूप बहुतेरे घोर नरक प्राप्त करता है।।७६९।। ज्ञानलाभ में गुरुसेवा प्रधान सहायक है और ज्ञाननिष्ठा पाने में सहायता देती है देवताओं की सेवा। गुरु व देवों की सेवा-रूप प्रधान साधन के संपादन से शिष्य गुरु से विद्या की निर्विघ्न प्राप्ति कर लेता है और वह विद्या निष्ठारूप कुशलता प्रदान करने वाली बनती है।।७७०।।

स्वयम्प्रकाश आत्मा ही जिसका स्वरूप है उसका लाभ मैं देवानुग्रह के अधीन मानता हूँ क्योंकि मोक्षप्रद आत्मनिष्ठा बिना देवानुग्रह के असंभव है। ऋषि कठ ने विद्या-प्रेप्सु शिष्यों को यह स्पष्ट करने के लिये ही विद्योपदेश से पूर्व 'सह नौ' आदि शांतिमंत्र से प्रार्थना करने की प्रेरणा दी थी। (मंत्रार्थ है : (महादेव) हमारी साथ-साथ रक्षा करें, हमें साथ-साथ पालें। हम साथ-साथ यत्न करें, हम आपस में द्वेष न करें।)।।७७१।। केवल कठ ही नहीं, उन महात्मा तित्तिरि ने भी अपने शिष्य-समूहों को इस प्रार्थना का उपदेश दिया था जिन्होंने अनेक कथाओं से युक्त ब्रह्मज्ञान अनेक प्रकार से समझाया था।।७७२।।

तित्तिरिश्च महात्मा यो ब्रह्मविद्यामनेकधा। उवाच शिष्यसङ्घेभ्यो नानाऽऽख्यानसमन्वितामू।।७७२

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादशिष्येण

शङ्करानन्दभगवता विरचित उपनिषद्रत्न आत्मपुराणे

काठकोपनिषत्सारार्थप्रकाशे यमनचिकेतःसंवादो

नाम नवमोऽध्यायः समाप्तः।।९।।

कारुण्यं करणं यस्य समीहितसमर्थने। यं भूमानं समवदद्यमो भीतोऽवनं स्वतः।।

श्रोतॄणामपि वक्तॄणां स देवः शरणं परम्।।१।।

इति श्रीदत्तकुलतिलककृष्णचन्द्रात्मजदिलारामसूरितनूज रामकृष्णस्य

श्रीविश्वेश्वराश्रमपूज्यपादानुगृहीतस्य कृतौ

आत्मपुराणटीकायां सत्प्रसवाख्यायां

नवमोऽध्यायः समाप्तः।।९।।

(उपनिषत्-साहित्य हृदयाकर्षक परिस्थितियों में जीवनके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाशित करने में कुशल है। सब विशेषों से रहित, मन-वाणी के अगोचर परमात्मतत्त्व को मार्मिक ढंग से उपस्थित करना वेदों की विशेषता है। गुरु-शिष्य, वादी-प्रतिवादी, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, वाचाल पंडितंमन्य-तत्त्वज्ञ राजा, परस्पर जयेच्छु राजा, आदि अनेक सन्दर्भों में ब्रह्मविज्ञान व्यक्त किया गया है। मासूम शिशु का साक्षात् यमराज से वार्तालापरूप यह कठ-प्रसंग अध्यात्म-साहित्य में दुर्लभ रीति का अनुसरण करता है यह सहृदयों का अनुभव है।)

।। नवाँ अध्याय समाप्त।।

ॐ

तैत्तिरीयसारार्थप्रकाशः

दशमोऽध्यायः

श्रुत्वैवमद्भुताख्यानं स शिष्यो नचिकेतसः। अपृच्छत् पुनरेवैनं स्वगुरुं ब्रह्मबोधकम्।।१

शिष्यप्रश्नः

भवता कथितं ब्रह्मज्ञानं नानाविधं गुरो ! ऐतरेयो महाप्राज्ञस्तथा कौषीतकिर्मुनिः।।२

याज्ञवल्क्यगुरुस्तद्वदादित्यो भगवानयम्। श्वेताश्वतरनामा च तथैव च कठो मुनिः।।३

एते जानन्ति यद्ब्रह्मात्मज्ञानं महाधियः। तत् त्वया कथितं सम्यङ् नानाख्यानसमन्वितम्।।४

प्रजानाम् ऋषिभिः सार्द्धं सम्वादो ब्रह्मवेदने। प्रतर्दनस्य शक्रेण विप्रस्याजातशत्रुणा।।५

सत्यानन्दगुहागूढं निभृताऽनिललक्षणम्। सेवे देवं विधेर्वन्द्यं दशमे शमितापरम्।।

अस्यार्थः—सत्ये पितुर्वचनरूपे; 'सकृदेव प्रपन्नाय तवाऽस्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामीति व्रतं मम।।' इत्यादि रामायणे स्ववचनरूपे वा आनन्दो यस्य स तथा तम्। गुहः सखा आगूढ आलिङ्गितो येन स तथा तम्। निभृतः सेवापर आनिलो हनुमान् लक्षणो लक्ष्मणश्च यस्य स तथा तम्। 'लक्ष्मणो लक्षणोऽपि च' इति द्विरूपकोशः। विधेर्ब्रह्मणो वन्द्यं; क्व सति ? दशमे — दानां रावणवदनानां शमे विदारणे कृते सति; 'दोऽशुद्धौ दश्च वदने' इति विश्वः। अत एव शमिनाम् ऋषीणां तापस्य असुरकृतदुःखस्य रं वह्निभूतं विध्वंसकमिति यावत्। यद्वा ऋषितापं राति आदत्ते हरतीति यावत् स तथा तम्। एवंविधं श्रीरामं सेव इति। शम्भुपक्षे —सत्याः पार्वत्या आनन्दकरं, गुहेन षडाननेन आगूढमालिङ्गितम्। निभृतानि वशीकृतानि अनिलानां पञ्चप्राणानां लक्षणानि स्वरूपाणि येन स तथा; योगिनमिति यावत् । दशमे दशमद्वारे वन्द्यम् उपासकैर्गुरुरूपेण ध्येयम् विधेः विहितत्वात्। शमितायाम् उपशमनिष्ठायां परं तत्परम् इत्यर्थः। निर्गुणपक्षे — सत्यानन्दरूपं देवं स्वप्रकाशं पञ्चकोशगुहागतम्। निभृतौ मर्यादया चलन्तावनिलौ प्राणापानौ उपलक्षणभूतौ यस्य, 'को ह्येवान्याद्' (तै.२.७.१) इत्यादिश्रुतेः। स तथा तम्। विधेर्वाक्यस्य वन्द्यं वाङ्मनसातीतत्वात्। शमितमपरं द्वैतं येन स तथा स्वाकारवृत्त्यभिव्यक्तमिति यावत्। तं परमात्मानं दशमाध्याये सेवेऽनुसन्दध इत्यर्थः।

अथ शिष्यस्य उक्तानुवादेन प्रश्नमभिनयति—श्रुत्वैवमिति त्रयोदशभिः ।तत्र चतुष्टयं निगदव्याख्यातम्।।१-४।। आख्यानानि प्रदर्शयति—प्रजानामिति चतुर्भिः। विप्रस्य बालाकेः।।५।। चतुर्थपञ्चमयोरुक्तं दर्शयति—अश्विनोरिति

तैत्तिरीय-उपनिषत् के सारार्थ का प्रकाशक

दसवाँ अध्याय

नचिकेता की आश्चर्यमयी कथा पूर्वोक्त ढंग से सुनकर उस पुराणश्रोता शिष्य ने ब्रह्मज्ञान प्रदान करने वाले अपने इस गुरु से पुनः प्रश्न किया : ।।१।।

हे गुरो ! आपने अनेक प्रकार का आत्मज्ञान सुनाया। महाप्राज्ञ ऐतरेय, मुनि कौषीतकि, याज्ञवल्क्य के गुरु ये भगवान् आदित्य, श्वेताश्वतर मुनि और मुनि कठ; महान् बुद्धिमान् ये आचार्य जिस रहस्यभूत आत्मविद्या के जानकार

अश्विनोर्गुह्यविज्ञानमृषिणा कीर्तितं च यत्। दध्यङ्ङाथर्वणस्याऽपि तत्र शक्रोपदेशनम्।।६
अश्विनोः शिष्यता तद्वत् तस्य ब्रह्मात्मवेदिनः। याज्ञवल्क्यस्य संवादो जल्पाख्यो मुनिपुङ्गवैः।।७
जनकेन च मैत्रेय्या शिष्याभ्यां वादशब्दितः। मुनीनामपि संवादः कारणे ब्रह्मरूपिणि।।८
इदानीं कथितस्तद्वद् मृत्त्योश्च नचिकेतसः। संवादस्तत्र कथितं विघ्नराशिप्रशान्तये।।९
पठनीयोऽत्र शिष्येण 'सह नौ' विति मन्त्रकः। एवं कठः पुरा प्राह तित्तिरिश्च मुनीश्वरः।।
ब्रह्मविद्यां वदन् धीमान् स्वशिष्यान् प्रति सप्तधा।।१०
मुनिभिः कथिता तत्र ब्रह्मविद्या मया श्रुता। तित्तिरिः कीदृशीं तां तु स्वशिष्येभ्यः समुक्तवान्।।११
श्रोतुमिच्छाम्यहं त्वत्तो गुरो मे कृपया वद। अत्र चित्रं समाख्यानमस्तीति मतिरस्ति मे।।१२
नानाख्यानसमायुक्तं स्वशिष्येभ्यः स उक्तवान्। इति पूर्वं त्वयाख्यातं तत्र कौतूहलं महत्।।
श्रोतुमिच्छामि तद् ब्रह्मन् यदि ते वर्तते कृपा।।१३

द्वाभ्याम्। तद्वद् इत्यन्तं चतुर्थ्यर्थ उक्तः। तस्य प्रसिद्धस्य याज्ञवल्क्यस्य जल्पो विजिगीषुवाक्यप्रबन्धः। इति द्वयोरर्थः।।६-७।। षष्ठाद्यध्यायत्रयार्थमाह — जनकेनेति। वादः तत्त्वनिर्णयार्थो वाक्यप्रबन्धः, तद्रूपः संवादः षष्ठसप्तमयोरुक्तो, ब्रह्मरूपकारणविषयकः त्वष्टम इत्यर्थः।।८।।

नवमोक्तं प्रश्नबीजं दर्शयति — इदानीमिति। इदानीं पूर्वाध्याये कथितो यः संवादस्तत्र इदं भवता कथितम्। 'इदं' किम् ? सह नावित्यादिको मन्त्रो विघ्नशान्तये शिष्येण पठनीयः, एवं कठ उक्तवान्। तथा तित्तिरिश्च शिष्येभ्यो ब्रह्मविद्यां वदन्नस्य मन्त्रस्य पठनीयतामाह। इति द्वयोः सम्बन्धः। सप्तधेत्युत्तरान्वयि।।९-१०।। मुनिभिरिति। तत्र अतीतग्रन्थे सप्तधा वर्तमानैः मुनिभिः ऐतरेयकौषीतक्यादित्यदध्यङ्ङाथर्वणयाज्ञवल्क्यश्वेताश्वतरकठसंज्ञैः शाखाप्रवर्तकैः उक्तां विद्यां श्रुत्वाऽपि तित्तिरिप्रोक्तां श्रोतुमिच्छामि इत्यर्थः।।११।। श्रोतुमिति। अत्र तित्तिरिप्रोक्ते मतिः संभावना। युक्तम् इत्यन्तं क्रियाविशेषणम्। स तित्तिरिः। स्फुटमन्यत्।।१२-३।।

हुए हैं उस आत्मविद्या का आपने अनेक आख्यानों से समन्वय कर भली भाँति कथन किया ।।२-४।। आपने यह सब बताया : ब्रह्मानुभव के बारे में प्रजा-ऋषि संवाद; इंद्र-प्रतर्दन का संवाद; ब्राह्मण बालाकि का राजा अजातशत्रु से संवाद; ऋषि ने अश्विनीकुमारों के गोपनीय कृत्य की जानकारी का जो प्रकाशन किया, दध्यङ् आथर्वण ने इन्द्र को जो आत्मसंबंधी उपदेश दिया और अश्विनीकुमारों का दधीचि की शिष्यता स्वीकारना; ब्रह्मात्मा के जानकार प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य का श्रेष्ठ मुनियों से वैसा संवाद जिसमें याज्ञवल्क्य विजय की इच्छा से वार्त्ता कर रहे थे; याज्ञवल्क्य का जनक और मैत्रेयी इन दो शिष्यों से वैसा संवाद जिसका प्रयोजन तत्त्व का निर्णय था; ब्रह्मरूप जगत्कारण के बारे में ब्रह्मवादी मुनियों का संवाद; मृत्यु और नचिकेताका संवाद। इस अंतिम संवाद के प्रवाह में आपने कहा कि कठ ने प्राचीन काल में विधान किया था कि आत्मविद्या के उदय में आने वाले विघ्नसमूह की निवृत्ति के लिये शिष्य को 'सह नौ' आदि मन्त्र का पाठ करना चाहिये और मुनीश्वर विद्वान् तित्तिरि ने अपने शिष्यों को ब्रह्मविद्या सुनाते हुए भी इस मंत्र का पाठ आवश्यक बताया था।।५-१०।। ऐतरेयादि मुनियों द्वारा सात तरह से कही ब्रह्मविद्या मैंने इस पुराण में सुनी। तित्तिरि ने अपने शिष्यों को कैसी ब्रह्मविद्या का समीचीन उपदेश दिया यह मैं आपसे सुनने को उत्सुक हूँ। हे गुरो ! आप कृपा कर मुझे सुनायें। मुझे निश्चय है कि इस संदर्भ में भी कोई अजीब कहानी है और तित्तिरि ऋषि ने अपने शिष्यों को जो कहा वह भी बहुत से आख्यानों से संवलित कर ही कहा होगा। पूर्वाध्याय में आपने ऐसा ही सूचित किया था इसलिये इस बारे में मुझे तीव्र जिज्ञासा है। हे ब्राह्मणदेव ! यदि आपकी मुझ पर कृपा हो तो मैं यह प्रसंग आपसे सुनना चाहता हूँ।।११-१३।।

सेतिहासमुत्तरम्

इति शिष्यवचः श्रुत्वा गुरुः स्नेहसमन्वितः। आरण्यके स्थितां ब्रह्मविद्यां तित्तिरिकीर्तिताम्।।
उक्तवानखिलां[1] कर्णमनस्तापापहारिणीम्।।१४
शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि विद्यां तित्तिरिकीर्तिताम्। याज्ञवल्क्येन निर्मुक्तां तित्तिरिर्यां समाप्तवान्।।१५
यदैनमुक्तवान् कोपाद् मुञ्च विद्यां मयेरिताम्। याज्ञवल्क्यगुरुः श्रीमान् वैशम्पायननामकः।।१६
अष्टाङ्गयोगवित् तस्य शिष्यो वाजसनेयकः। करणीकर्ममार्गेण विद्यां चच्छर्द सोऽपि ताम्।।१७
भूमौ यजूंषि तान्यासन् सूर्यवर्चांसि सर्वतः। मुक्तानि याज्ञवल्क्येन वैशम्पायनवाक्यतः।।१८
सर्वतः स्थितमालोक्य दीप्तं तं यजुषां गणम्। वान्तं शिष्येण सम्प्राह वैशम्पायननामकः।।
शिष्यानन्यानिदं वाक्यं विस्मयाविष्टचेतसः।।१९

एवं पृष्टस्य गुरोः प्रतिज्ञामवतारयति — इति शिष्येति। आरण्यके अरण्ये पठनीये ब्राह्मणभागे। कर्णेति। श्रोत्रमनसोरनुकूलाम्।।१४।। तत्प्रतिज्ञामभिनयति—शृण्विति।।१५।।

तित्तिरिपदस्य मुनिगणपरतां दर्शयितुम् इतिहासमाह — यदैनमिति दशभिः। एवं हि विष्णुपुराणादावुपाख्यायते —सुमेरौ ऋषीणां समाज आसीत्। तत्राऽनागमने ब्रह्महत्याप्रसक्तेः ऋषिभिरुपन्यस्तत्वाद् अथ तत्समाजाप्राप्ति-प्रयुक्तां हत्यामपाकर्तुं शिष्यानादिशन् वैशम्पायनो गुरुर्याज्ञवल्क्योक्तिम् 'अहमेव व्रतं करिष्यामि, किमेतैरक्षमैः' इत्याकारां श्रुत्वा चुकोप। इति वृत्तं यदा[2] शब्दार्थः। एनं याज्ञवल्क्यम् ।।१६।। अष्टाङ्गेति। करणीकर्म गजवत् पीतस्योद्धरणं, तद्रीत्या स याज्ञवल्क्योऽधीतमत्यजद् गुरूपदेशात्।।१७।। भूमाविति। तानि यजूंषि यजुःसंज्ञा मन्त्रा याज्ञवल्क्येन त्यक्ता अभिमानिदेवरूपेण सूर्यवद् भास्वरमूर्तयो भूमौ सर्वतो विकीर्णा अभवन्नित्यर्थः।।१८।।

सर्वत इति। एतद् दृष्ट्वा चकितान् शिष्यान् प्रति गुरुरित्थमाहेति।।१९।। 'इत्थं' कथम्?

शिष्य के ये वचन सुनकर स्नेहिल गुरु ने तित्तिरिप्रोक्त सारी ब्रह्मविद्या सुनी दी जो कानों के और मन के ताप मिटाती है और वेद के उस ब्राह्मणभाग में उपलब्ध है जिसका पाठ अरण्य में करना चाहिये।।१४।। उन्होंने कहा : सुनो बेटा, याज्ञवल्क्य द्वारा छोड़े जाने पर तित्तिरि ने जिसे ग्रहण किया, तित्तिरि द्वारा उपदिष्ट वही विद्या मैं बताऊँगा।।१५।। (ऋषिओं ने सुमेरु पर्वत पर एक सम्मेलन आयोजित किया था जिसमें अनुपस्थित रहने पर ब्रह्महत्या का दोष लगेगा यह उन्होंने निर्णय किया था। वैशंपायन किसी कारण वहाँ उपस्थित न हो सके। उन्हें ब्रह्महत्या का दोष उक्त निर्णयानुसार लगने पर उसके प्रायश्चित्त का अनुष्ठान करने के लिये उन्होंने अपने सभी शिष्यों से कहा। याज्ञवल्क्य भी उन्हीं के शिष्य थे। उन्होंने अपने सहपाठियों की कमज़ोरी का ख्याल कर खुद ही सारा प्रायश्चित्त कर देने के लिये अनुमति माँगी जिसे वैशंपायन ने अपनी हेठी समझकर याज्ञवल्क्य से अपने द्वारा दी सारी विद्या लौटाने के लिये कहा जिसे याज्ञवल्क्य ने उलटी के रूप में उगल दिया तो वैशंपायन के अन्य शिष्यों ने तीतर बनकर उस विद्या को चुग लिया जिससे वह शाखा तैत्तिरीय नाम से प्रसिद्ध हुई। इस कथा को पूर्व में याज्ञवल्क्य के प्रसंग में भी सुना चुके हैं अब इस शाखा की उपनिषत् के व्याख्यान में भी बता रहे हैं :)

याज्ञवल्क्य के गुरु का नाम श्रीमान् वैशम्पायन था। उन्होंने गुस्से से जब याज्ञवल्क्य से कहा 'मेरे द्वारा उपदिष्ट विद्या का परित्याग कर दो' तब उनके शिष्य अष्टांगयोग के जानकार उन वाजसनेयक याज्ञवल्क्य ने भी कुंजरक्रिया से उस विद्या का वमन कर दिया!।।१६-७।। वैशंपायन के निर्देश से याज्ञवल्क्य द्वारा वमित वे सूर्य जैसे चमकते यजुर्मन्त्र भूमि पर सब तरफ़ बिखर गये।।१८।। यजुर्मन्त्रों के उस उज्ज्वल समूह को शिष्यद्वारा वमन किये जाने पर

१. खिलभागान्तर्गतब्रह्मविद्याप्रसंगसमेताम्।
२. आत्मपुराणे ७.३२-६ प्रसंगो दर्शनीयः।

यथाशास्त्रमधीतानि यजूंषि मुनिसत्तमाः। याज्ञवल्क्येन मुनिना सूर्यवर्चांसि तान्यतः।।२०
गृह्णीध्वं सहसा विप्रास्त्वरितं ब्रह्मणः सभाम्। इत उत्प्लुत्य गच्छन्ति नैतान्यस्मद्धनानि भोः।।२१
वान्तानीति विचारं मा कुरुत ब्राह्मणोत्तमाः। शरीरान्तरतो वान्तं भक्ष्यं भवति देहिनाम्।।२२
ततस्तित्तिरिरूपाणि कृत्वा झटिति योगतः। दिवि भूमौ प्रसर्पन्ति गृह्णन्तु मुनिसत्तमाः।।२३
एवमुक्ते मुनिगणास्तेन तित्तिरिरूपिणः। यजूंषि जगृहुः शीघ्रं सूर्याभानि समन्ततः।।२४
यथा तित्तिरयो लोके पतङ्गान् सर्वतः स्थितान्। भक्षयन्ति क्षुधाक्रान्ता भूमौ वा नभसि स्थितान्।
एवं मुनिगणः सोऽयं तित्तिरिः परिकीर्त्तितः।।२५
वान्त्या च भक्षणेनाऽपि कृष्णान्यासन् यजूंष्यपि। ब्रह्मविद्या च तेष्वेषा कथिताऽऽरण्यके सदा।२६

विद्यासूत्रम्

ब्रह्मवित् परमाप्नोतीत्येतत् सूत्रमुदाहृतम्। अत्रैव सकला यस्माद् ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठिता।।२७

इत्याकांक्षायामाह— यथेति। भो विप्रा! एतानि यजूंषि यतो यथाशास्त्रमधीतानि अत एव भास्वराणि। तानीमानि यथा इतः पृथिव्या उत्प्लुत्य ब्रह्मसभां न गच्छेयुस्तथा यूयं गृह्णीध्वम्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।२०-१।। वान्तानीति। अत्र वान्तत्वमालोच्य विलम्बो न कार्यो, देहान्तरेण वान्तभक्षणे दोषाऽभावाद् इत्यर्थः।।२२।। तच्च देहान्तरं तित्तिरिपक्षिरूपं भवद्भिः कार्यं, प्रकृतोपयोगाद् इत्याह — तत इति। योगतो योगबलेन। प्रसर्पन्ति यजूंषीति शेषः।।२३।।

एवमिति। तेन गुरुणा एवमुक्ते सति।।२४।। यथेति। फलितमाह — एवं मुनिगण इति।।२५।। वान्त्येति। एवं वान्त्यादिदोषेण तानि यजूंषि कृष्णानि इति प्रसिद्धानि। तेषु आरण्यकभागे प्रोक्ता ब्रह्मविद्या एषा उच्यत इति।।२६।।

आनन्दवल्लीं[1] व्याख्यातुमुपक्रमते —ब्रह्मेति। तत्र 'आप्नोति' इत्यन्तवाक्यं सूत्रम्[2] इत्युक्तं सकलार्थस्य

सब ओर पड़ा देखकर अचम्भे में पड़े वैशंपायन ने याज्ञवल्क्य से अन्य अपने शिष्यों से कहाः 'हे श्रेष्ठ मुनियो ! मुनि याज्ञवल्क्य ने क्योंकि शास्त्रीय पद्धति से यजुर्मन्त्रों का अध्ययन किया था इसलिये ये वमित मंत्र आदित्य जैसे चमकदार हैं। हे विप्रो! आप तुरंत जल्दी से इन्हें ग्रहण कर लीजिए नहीं तो ये शीघ्र ही भूमि से उछलकर प्रजापति की सभा में पहुँच जायेंगे क्योंकि ये कोई हमारा धन नहीं हैं कि यहीं पड़े रहें! हे उत्तम ब्राह्मणो! 'ये वमन किये हुए हैं अतः इन्हें कैसे ग्रहण करें' — यह विचार आप मत करें। देही जब अन्य शरीर धारण कर लेता है तब वमन किया पदार्थ भी अभक्ष्य नहीं रह जाता। इसलिये झंट से योगबल द्वारा तीतरों के रूप बनाकर आप द्युलोक और भूमि पर बिखरते हुए इन यजुर्मन्त्रों को ग्रहण कर लीजिए।'।।१९-२३।।

गुरु द्वारा यों आज्ञा देने पर तीतररूप धरे मुनिसमूहों ने सूर्य-सी आभा वाले यजुर्मन्त्रों को शीघ्र ही सब ओर से ग्रहण कर लिया! लोक में जैसे भूखे होने पर तीतर भूमि या नभ में सब तरफ स्थित पतंगों को खा जाते हैं वैसे

---

१. तैत्तिरीयोपनिषदि प्रथमः शीक्षाध्यायः। तत्रादौ 'शं नो मित्र' आदिः शान्तिः, द्वितीयानुवाके ग्रंथपाठनियमः, तृतीय उपासना, चतुर्थे मेधादिसिद्ध्यर्था मन्त्राः, पञ्चम-षष्ठयोर्ब्रह्मोपासनम्, सप्तमे स्थूलोपाधिकब्रह्मोपासना, अष्टमे प्रणवाऽभिधेयशुद्धब्रह्मोपासना, नवमे नित्यकर्मणामुपासनेन समुच्चयविधिः, दशमे ब्रह्मयज्ञफलसिद्धये जप्यो मन्त्रः, एकादशे कर्मानुशासनम्, द्वादशे पुनः शान्त्या प्रपाठकसमाप्तिः। द्वितीयतृतीयप्रपाठकात्मा ग्रन्थो वारुण्युपनिषद्, वरुणस्य तत्सम्प्रदायप्रवर्तकत्वात्। द्वितीयप्रपाठको ब्रह्मवल्ली, तृतीयो भृगुवल्लीत्युच्यते। ब्रह्मवल्लीमेवानन्दवल्लीमाह टीकाकृत्, तत्रानंदमीमांसासत्त्वात्। भृगुवल्लीव्याख्या श्लो. ३०७-३८१ भविष्यति। तदनन्तरं याज्ञिक्युपनिषदपरनामिकाया महानारायणादिनाम्ना प्रथिताया निर्गुणविद्याप्राधान्येन व्याख्यानं पुराणे यत्स्यति।

२. 'ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम् इति'।

ब्रह्म यत् कथितं सूत्रे तदेव विषयो मतः। आत्माऽनात्मादिसन्देहा यतः सन्त्यत्र कोटिशः।।२८
तस्य विज्ञानमुदितं मध्ये यत् स्यात् प्रयोजनम्। परमं च परप्राप्तिरूपं दुःखौघघातकम्।।२६
तदर्थी त्वधिकार्येष य आप्नोति परं महत्। ब्रह्मविज्ञानतस्तस्य सम्बन्धोऽनेकधा स्मृतः।।३०
अर्थिना चाऽपि शास्त्रस्य बोध्यबोधकलक्षणः। अन्यत्र जन्यजनकत्वादिस्तद्वेदनादिषु।।३१

सूचनाद् इत्यर्थः।।२७।। सर्वार्थसूचकतां स्फुटयितुमनुबन्धचतुष्टयमनेन वाक्येन सूचितं तद् दर्शयति— ब्रह्मेति चतुर्भिः। अत्र सूत्रे ब्रह्मपदेन अस्य शास्त्रस्य विषय एतच्छास्त्रजप्रमानिवर्त्याज्ञानगोचर उक्तो यतः अनेन पदेन सामान्यतो बोधितेऽपि ब्रह्मणि आत्मत्वाऽनात्मत्वजडत्वचेतनत्वादिसंशयानाम् अनिराकरणेनोत्तरवाक्येषु जिज्ञासोत्थाप्यत इत्यर्थः।।२८।। तस्येति। तस्य ब्रह्मणो यद् विज्ञानं विदधातुनोक्तं तदाकारवृत्तिरूपं तद् मध्ये भवं गौणमिति यावद् एतादृशं प्रयोजनं, परमं मुख्यं प्रयोजनं तु सकलानर्थमूलाज्ञानध्वंसात्मक-परब्रह्मप्राप्तिरूपमुक्तमित्यर्थः।।२६।। तदर्थीति। तस्य उक्तद्विविधप्रयोजनस्य अर्थी प्राप्तिकामः अधिकारी त्वेष एव बोध्यः। 'एष' कः? यो ब्रह्मविज्ञानतो ब्रह्म प्राप्नोति इति फलसम्बन्धयोग्यतया निर्दिष्ट इति योजना। न हि मोक्ष-रूपफलश्रवणजा मुमुक्षा नित्यानित्यविवेकादिमन्तरा निष्पद्यते, इति साधनचतुष्टयसम्पन्नाधिकारिसिद्धिरिति भावः। तस्य शास्त्रस्य सम्बन्धः तु योग्यतावशाद् अनेकविधो बोध्य इत्यर्थः।।३०।।

सम्बन्धस्याऽनेकविधत्वं स्फुटी करोति— अर्थिनेति। अर्थिनाऽधिकारिणा सह शास्त्रस्य बोध्य-बोधकभावलक्षणः सम्बन्धः, अधिकारिणो बोध्यत्वाद् बोधं प्रति प्रापणीयत्वात्, शास्त्रस्य बोधकत्वात्। अन्यत्र अर्थिभिन्नेषु वेदनादिषु वेदनपदोदिततत्त्वज्ञाने ब्रह्मणि अज्ञाने च शास्त्रस्य क्रमेण जन्यजनकभावः, अभिव्यंग्य-

उन वैशंपायनशिष्यों ने यजुर्मंत्र ग्रहण कर लिये। इस प्रकार वह मुनिसमूह तित्तिरि नाम से प्रसिद्ध हो गया। वे यजुर्मंत्र भी वमन और भक्षण के दोष से कृष्ण या काले रूप वाले प्रसिद्ध हुए। उनके आरण्यक हिस्से में यह ब्रह्मविद्या हमेशा कही जाती है जिसे मैं समझाने जा रहा हूँ। (इस प्रकार यजुर्वेद का 'कृष्ण' यह नाम और उसकी शाखा का 'तैत्तिरीय' यह नाम जैसे याद बना रहे वैसे यहाँ स्पष्ट कर दिया है।)।।२४-६।।

'ब्रह्मवेत्ता परम को पा लेता है' — यह सूत्रवाक्य कहलाता है क्योंकि सारी ब्रह्मविद्या इसीमें संकलित है।।२७।। समस्त अर्थ का सूचक 'सूत्र' होता है। उक्त वाक्य सूत्र कैसे है — यह बताते हैं : इस सूत्र में जो ब्रह्म कहा है उसी को इस शास्त्र का विषय माना जाता है अर्थात् इसउपनिषत्‌शास्त्र से जन्य प्रमा से हटने वाले अज्ञान का वही गोचर है क्योंकि 'ब्रह्म'-शब्द से सामान्यतः कहे जाने पर भी ब्रह्म के बारे में 'वह आत्मा है या अनात्मा, जड है या चेतन' आदि करोड़ों संदेह बने रहते हैं जिनसे यह जिज्ञासा होती है कि आगे के प्रसंगों में क्या कहा गया है।।२८।। 'ब्रह्मवेत्ता' में 'वेत्ता'-शब्दांतर्गत विद्-धातु से जो ब्रह्म का ज्ञान कहा है वह 'बीच में होने वाला' अर्थात् गौण प्रयोजन है जबकि परम अर्थात् मुख्य प्रयोजन है परमात्मा की प्राप्ति जो दुःखसमूह का विघात करती है। (सारे अनर्थ का मूल जो अज्ञान उसका ध्वंस ही परमात्मा की प्राप्ति है। वह ध्वसं प्रमाणजन्य उस अप्रतिबद्ध वृत्ति से होता है जो वैसी ही हो जैसा ब्रह्म है।)।।२६।। उक्त प्रयोजन पाने की कामना वाला अर्थात् अधिकारी तो यही समझना चाहिए जो ब्रह्मानुभव से ब्रह्म को प्राप्त करेगा। उक्त परप्राप्तिरूप फल से संबद्ध होने की योग्यता अधिकारी में होनी जरूरी है। मोक्षरूप फल सुनकर मुक्त होने की इच्छा तब तक नहीं हो सकती जब तक नित्य-अनित्य का विवेक, वैराग्य, शमादि न हों, क्योंकि इनके बिना कैवल्य की उपादेयता समझ ही नहीं आती; इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि साधनचतुष्टय से संपन्न व्यक्ति इस शास्त्र का अधिकारी है। शास्त्र का संबंध तो नाना प्रकार का कहा गया है।।३०।।

सम्बंध चार तरह के हैं : १) अधिकारी से शास्त्र का 'बोध्य-बोधकभाव' संबंध है, अधिकारी बोध्य है अर्थात् उसे बोध की प्राप्ति करानी है और शास्त्र बोधक है। २) तत्त्वज्ञान से शास्त्र का 'जन्य-जनकभाव' सम्बंध है।

आसमाप्तेरिदं सूत्रमेकमेवात्मदर्शकम्। व्याख्येयमत्र विज्ञेयं तित्तिरेर्ब्रह्मवेदने।।३२

सूत्रव्याख्या

ब्रह्मेति कथ्यते वेदे आनन्दात्मा महेश्वरः। लक्ष्यस्तस्याऽत्र कथितं लक्षणं मन्त्रवाक्यतः।।
सत्यं ज्ञानमनन्तं च ब्रह्मणो लक्षणं त्विदम्।।३३

लक्षणत्रयमेतत् स्यादथ वैकमिहात्मनः। लोकदृष्ट्यनुसारेण कथ्यते वेदवादिभिः।।३४

लक्षणत्रयम्

सत्यं यथार्थमुदितं यथार्थं न जडं यतः। ज्ञानं च न परिच्छिन्नं वेदवादिमते क्वचित्।।३५
ततोऽनन्तमिति प्रोक्ते ज्ञानमित्येव लक्ष्यते। ज्ञानमित्युदिते तद्वत् सत्यमित्येव लक्ष्यते।।३६

व्यंजकभावः, निवर्त्यनिवर्तकभावः — एते सम्बन्धा बोध्या इत्यर्थः।।३१।। न केवलमिदं वाक्यमनुबन्धसूचकतयैव सूत्रमित्युक्तं किन्तूत्तरग्रन्थव्याख्येयतयापीत्याह — आसमाप्तेरिति। आत्मदर्शकम् आत्मदर्शनाय प्रवृत्तम् इदं वाक्यमेव आसमाप्तेः तित्तिरिप्रवक्तृके ब्रह्मवेदने ब्रह्मविद्याप्रकाशके ग्रन्थे व्याख्येयं भवति इत्यतः सूत्रमित्युक्तम् इति सम्बन्धः।।३२।।

उक्तवाक्यं संग्रहेण व्याकुर्वतः 'ऋक्संज्ञमन्त्रस्यार्थं प्रपञ्चयति— ब्रह्मेति पञ्चोनषष्टिश्लोकैः। ब्रह्मपदेन उक्तोऽद्वयत्वानन्दरूपः तत्पदार्थो लक्ष्यो भवति। तस्य लक्षणवाचकानि सत्यज्ञानानन्तपदानि मन्त्रप्रथमपादे बोध्यानीत्यर्थः।।३३।। एषां त्रयाणां पदानां प्रत्येकं ब्रह्मपदान्वितानां लक्षणत्रयपरत्वं शास्त्रदृष्ट्या वेदविद्भिरुक्तम्। लोकदृष्ट्यनुसारेण त्वेकलक्षणपरत्वमित्याह — लक्षणेति। एतद् एभिः पदैः प्रतिपादितम्।।३४।।

तत्र शास्त्रदृष्ट्या लक्षणत्रयपरत्वं प्रपंचयति— सत्यमिति पञ्चविंशतिश्लोकैः। सत्यपदं तावद् यथार्थस्याऽबाधितस्य वाचकम्। तच्चाऽबाधितं वस्तुतः चैतन्यमेव, जडस्य दृश्यजातस्य दृक्स्वरूपे कल्पितत्वात्। एवं सर्वाधिष्ठानभूतस्य चैतन्यस्य परिच्छिन्नताया दुर्वचत्वाद् अनन्तत्वमपि सिद्धमेवेत्यर्थः।।३५।। तथा चैकैकस्य अतिप्रसङ्गादिहीनार्थकत्वात् पदान्तरार्थोपस्थापनक्षमत्वाच्च परस्परनिरपेक्षं लक्षणत्रयमेव अत्रोक्तमित्याह — तत इति। ततः सत्यत्वादीनां ज्ञानत्वादिनियतत्वाद्। अनन्तपदमात्रप्रयोगेऽपि यज्ज्ञानरूपमनन्तं वस्तु तदेव प्रतीयते। एवं ज्ञानपदोक्तौ सत्यपदोक्तम् अनन्तं वस्त्वेव प्रतीयत इत्यर्थः।।३६।। सत्यपदेन अबाधितत्वमुखेन अनन्त-

३) ब्रह्म से शास्त्र का 'अभिव्यंग्य-अभिव्यंजकभाव' सम्बन्ध है और ४) अज्ञान से शास्त्र का 'निवर्त्त्य-निवर्तकभाव' सम्बन्ध है।।३१।। आत्मानुभव के लिये प्रवृत्त यह वाक्य ही इस ग्रंथ की समाप्ति तक समझाया जायेगा। तित्तिरि जिसके प्रवक्ता हैं वह ब्रह्मविद्या का प्रकाशक ग्रंथ इसी सूत्र की व्याख्यारूप है यह समझ लेना चाहिए।।३२।।

यहाँ वेद वाक्य में 'ब्रह्म' इस शब्द से आनंदस्वरूप महेश्वर लक्ष्य किये जाते हैं, उन्हीं का लक्षण यहाँ मंत्रात्मक वाक्य से कहा गया है। ब्रह्म का लक्षण यह है— सत्य, ज्ञान और अनन्त।।३३।। वेदार्थचिन्तक मानते हैं कि ये तीन लक्षण हैं अर्थात् 'सत्य ब्रह्म है', 'ज्ञान ब्रह्म है', 'अनंत ब्रह्म है' यों ब्रह्म के तीन लक्षण कहे गये हैं। फिर भी साधारण समझ वाले लोगों की दृष्टि से कहा जाता है कि यहाँ आत्मा का एक लक्षण बताया है।।३४।।

तीन लक्षण मानने पर युक्तिपूर्वक ब्रह्मस्वरूप कैसे समझा जा सकता है यह स्पष्ट करते हैं : सत्य कहते हैं उसे जो अबाधित हो। वास्तव में अबाधित तो चैतन्य ही है क्योंकि जड दृश्य होने से दृक्स्वरूप वाले चैतन्य पर कल्पित ही है। और वेदवादियों के मत में ज्ञान अर्थात् चैतन्य कभी परिच्छिन्न नहीं होता क्योंकि जो उसे परिच्छिन्न कर सके उस सबका वही अधिष्ठान है। इस प्रकार 'सत्य ब्रह्म है' लक्षण करने पर ज्ञान और अनन्त अर्थात् सिद्ध हो जाते हैं।

१. 'तदेषाऽभ्युक्ता —सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता— इति।।'

सत्यं कालत्रये यत्तु न पर्येति कदाचन। आनन्दात्मा च तादृक् स्यात् सर्वदैकस्वरूपभाक्। ।३७

सर्वमेव विपर्येति विनात्मानं विनेश्वरम्। आत्मा विनाशरहितो नाशकारणशून्यतः। ।३८

आत्मनोऽत्र विनाशः स्याज्ज्ञात एव न चाऽन्यथा। अज्ञातो विद्यते चेति व्याहतं स्यादिदं वचः। ।३९

अज्ञातस्याऽपि चेत् सत्ता स्यादसत्ता कुतो न वा। ज्ञातश्चेदात्मनैवाऽयं ज्ञातव्यो ज्ञातृता यतः। ।
आत्मन्येव च संसिद्धा लोकवादिमते सदा। ।४०

ज्ञानात्मकब्रह्मप्रतिपादनं स्फुटयति— सत्यं कालत्रय इति। यत् कालत्रयेऽपि न पर्येति नान्यथा भवति तदेव यथार्थं वस्तु सत्यपदेनोदितम्। तादृशत्वं तु आत्मन एव, चिद्रूपेण कूटस्थत्वाद् इत्यर्थः। ।३७। । आत्मभिन्नं तु विकारित्वाद् न सत्यपदेन अभिधानयोग्यमित्याह — सर्वमेवेति। विपर्येति अन्यथा भवति। आत्मा तु न विकारी, सर्वान्तरत्वेन एतद्विनाशे कस्याऽपि कारणीभावाऽनर्हत्वाद् इत्याह — आत्मेति। ।३८। । किं चात्मनाशस्य साधकाभावाच्च असत्त्वमित्याह —आत्मन इति। आत्मनो नाशः केनचिद् [1]अज्ञात एव वाच्यः, केनचिद् अविज्ञातस्य सत्ताभिधाने 'मम माता वन्ध्या' इतिवद् व्याघातदोषप्रसक्तेरित्यर्थः। ।३९। । किं च अज्ञातस्य असत्ताया अपि वक्तुं सुकरत्वात् सत्ताऽवधारणाऽसम्भव इत्याह — अज्ञातस्याऽपीति। तस्माज्ज्ञातत्वपक्षस्यैव अङ्गीकारेऽपि इदं विचार्यम् — किम् आत्मा तस्य ज्ञाता, अनात्मा वा? नान्त्यः, तस्य जडत्वात्, लोकप्रसिद्धिविरोधाच्चेत्यर्थः। ।४०। । आद्येऽपि किं विनष्ट आत्मा नाशं जानाति, अविनष्टो वा ? नाद्यः, अक्षमत्वाद् इत्याह—विनष्टेनेति। अयम् आत्मनो

सत्य, ज्ञान, अनंत—प्रत्येक ऐसा लक्षण है जो लक्ष्यभूत ब्रह्म का ही परिचय कराता है और इनमें से हर एक शब्द से ही वह सब समझ आ सकता है जो बाकी दोनों शब्दों से पता चलता है। इसलिये एक-दूसरे पर निर्भर न करने वाले ये तीन लक्षण हैं यह मानना विचारशीलों को रुचिकर होता है। सत्यता आदि विशेषताएँ ज्ञानतादि धर्मों से नियत हैं। अर्थात् सत्यता आदि वहीं रहेंगी जहाँ ज्ञानतादि हों, अतः 'अनन्त' कहने पर भी लक्ष्य वही वस्तु होती है जो न केवल अपरिच्छिन्न वरन् सत्य और ज्ञानरूप भी है। ऐसे ही 'ज्ञान' कहने पर लक्ष्य वही वस्तु होती है जो सत्य और अनंत भी है। ।३५-६। ।

जो तीनों कालों में अन्य प्रकर की न हो वही यथार्थ वस्तु सत्य-शब्द से कही जाती है। ऐसी वस्तु आनंदरूप आत्मा ही है क्योंकि वह हमेशा एकस्वरूप वाली है, चिद्रूप होने से कूटस्थ है। ।३७। । आत्मा से अतिरिक्त, ईश्वर से अतिरिक्त सभी कुछ बदलता रहता है। आत्मा ही निर्विकार है क्योंकि सर्वान्तर होने से इसके विकार का कोई कारण नहीं है। (श्लोक में विनाश-शब्द सभी परिवर्तनों का उपलक्षक है। विनाश समेत किसी विकार का कारण बनने वाला पदार्थ अपने से बहिर्भूत में ही विकार लाता है जैसे कुल्हाड़ी लकड़ी में विकार लाती है; अपने स्वरूप में कोई विकार नहीं ला सकता तो अपने अधिष्ठान में ला पाये इसकी सम्भावना ही कहाँ!)। ।३८। । आत्मा का विनाश हो तो ऐसा ही हो सकता है कि वह विनाश जाना जाये क्योंकि यह कहना तो परस्पर विरुद्ध होगा कि 'जाना नहीं जाता फिर भी है!' अज्ञात की भी यदि सत्ता मानी जाये तो उसकी असत्ता ही क्यों न मान ली जाये? अर्थात् अज्ञात की सत्ता अवश्य है इसमें कोई प्रमाण है नहीं — जब ज्ञान ही नहीं तब प्रमा कैसे होगी ? — अतः उसकी सत्ता का निश्चय संभव नहीं। इसलिये आत्मविनाश को ज्ञात ही मानना होगा। ज्ञात मानने पर वह आत्मा का ही ज्ञेय हो सकता है क्योंकि ज्ञातापन आत्मा में ही स्वीकृत है, लौकिक जन और विचारक आत्मभिन्न को ज्ञाता नहीं मानते। आत्मा का विनाश उस आत्मा द्वारा तो जाना नहीं जा सकता जो स्वयं विनष्ट हो गया अतः यही मानना होगा कि विनाश को उसी आत्मा ने जाना जिसका विनाश नहीं हुआ! आत्मा का नाश हुए बिना आत्मा का नाश है यह जाना जाये यह संभव नहीं। (यदि नष्ट नहीं हुआ तो ज्ञेयभूत आत्मनाश है कहाँ जो जाना जाये ! और आत्मनाश है तो उसका ज्ञाता

१. केनचिज्ज्ञात एवेति पठनीयम्।

विनष्टेनात्मना नाऽयं शक्यो ज्ञातुं कथंचन। विनाश आत्मनस्तेन ज्ञातवान् नाशवर्जितः।।
अनष्ट आत्मनि स्वस्य नाशोऽस्तीति न गम्यते।।४१
सत्तया रहितः सोऽयं गम्यते चेदसत् स्मृतः। आत्मा विनाशशून्योऽतः सर्वेषामिह देहिनाम्।
यस्मात् प्रियतमश्चाऽयं तेनानन्दस्वरूपधृक्।।४२
पुत्रादयोऽत्र ये भावा जन्तूनां सुखकारकाः। ससुखाः सर्व एवैते आत्माऽर्थं हि प्रियाः स्मृताः।।४३
सुखादपि परप्रेमसंश्रयोऽयं शरीरिणाम्। आत्माऽत्र परमानन्दरूपः सिद्ध्यति सर्वदा।
परमानन्दरूपोऽत आत्मा नाशविवर्जितः।।४४
आत्मैव ब्रह्मशब्दार्थ उक्तस्ते पूर्वमेव हि। बृहत्यत्योरिहैकार्थकथनेन मया द्विज।।
दध्यङ्ङाथर्वणस्योक्तौ शक्रं प्रति सुरेश्वरम्।।४५
आनन्दात्मैव तेनाऽयं लक्ष्यो ब्रह्माभिधः पुमान्। सदाऽविनाशिनः सत्यं लक्षणं तस्य तद् भवेत्।।४६

विनाशो विनष्टेन ज्ञातुं न शक्य इति योजना। अन्त्ये तु नाशसत्तैव बाधितेत्याह — तेनेत्यादिना। तेन नाशवर्जित आत्मा एनं ज्ञातवान् इत्यङ्गी कर्तव्यं, तच्च न सम्भवति, ज्ञेयस्यैवाऽसत्त्वाद् इत्यर्थः।।४१।। नन्वसन्नेवाऽभाव आत्मना ज्ञायत इति चेत्? शतं जीव! इत्याह — सत्तयेति। सोऽयम् आत्मनाशः सत्ताहीन एव गम्यते विकल्प्यत इत्यङ्गीकारे शशशृङ्गादिसाम्यस्य सिद्धत्वाद् इष्टापत्तिरित्यर्थः। अविनाशित्वादेव चात्मनः प्रियतमत्वं, ततश्च आनन्दरूपत्वं सिद्धमित्याह— आत्मेति। यस्मादात्मा विनाशरहितः अत एव प्रियतमः। तेन प्रियतमत्वेन आनन्दरूप इति योजना।।४२।।

विनाशिनां प्रियत्वमेव मुख्यं न भवति, आत्मोपकारोपाधिकत्वाद् इत्याह—पुत्रादय इति। ससुखाः सुखरूपोपकारेण सहिताः।।४३।। आत्मा तु तेभ्यः प्रियत्वाभिमतेभ्यः, सुखाच्च प्रियतरत्वाऽभिमतात् शेषितयोत्कृष्टत्वेन प्रियतमः परमानन्दरूपः सिद्ध इत्याह—सुखादपीति। फलितमाह—परमानन्देति।।४४।। नन्वात्मनः सत्यत्वादिसिद्धावपि ब्रह्मणः कथं तत्सिद्धिः? इति न शंक्यम्; ब्रह्मात्मपदयोरेकार्थताया बृंहत्यतति-धात्वोः समानार्थत्वेन चतुर्थाध्याये[1] प्रपञ्चितत्वाद् इत्याह—आत्मैवेति।।४५।। तथा चाऽत्राऽपि ब्रह्मनाम्नाऽऽत्मैव लक्ष्यत्वेन निर्दिष्टः तस्य चाऽविनाशशीलस्य उक्तरूपं सत्यत्वं लक्षणमुपपन्नमित्याह—आनन्दात्मैवेति। तेन ब्रह्मात्मपदयोरेकार्थत्वेन।।४६।।

आत्मा नष्ट ही हो चुका अतः नाश को जानेगा कौन? इसलिये आत्मनाश अस्वीकार है। नाशन्याय सब विकारों में समझना चाहिये क्योंकि विकार की सिद्धि अविकारी ज्ञाता से ही सिद्ध हो सकती है।)।।३९-४१।। यदि कहो कि आत्मनाश सत्तारहित है, केवल शब्दादि से संकल्पित होता है तो ठीक ही है क्योंकि आत्मनाश असत् है, खरगोश के सींग की तरह अलीक है यह वैदिक भी मानते हैं। अतः संसार में सभी देहधारियों का आत्मा अविनाशी है, इसीसे वह प्रियतम है और सर्वाधिक प्रिय होने से ही आनंदस्वरूप है।।४२।। नाशवान् वस्तुएँ स्वतः प्रिय नहीं होतीं वरन् आत्मा की उपकारक होने पर ही प्रिय हुआ करती हैं। जन्तुओं को सुख पहुँचाने वाले जो सांसारिक पुत्रादि पदार्थ हैं वे सभी आत्मा को सुख पहुँचाना रूप उपकार करते हैं, आत्मा के शेष बनते हैं तभी प्रिय समझे जाते हैं।।४३।। पदार्थ प्रिय माने जाते हैं, उनसे होने वाला सुख उन पदार्थों से अधिक प्रिय माना जाता है लेकिन वह सुख भी जिसके लिये चाहिये वह आत्मा ही सर्वाधिक एंव निष्कारण प्रिय है। क्योंकि संसार में शरीरधारियों को यह आत्मा सुख से भी ज्यादा, इतना ही नहीं निरपेक्षरूप से प्रिय लगता ही है इसलिये सिद्ध होता है कि आत्मा हमेशा निरतिशय आनंदस्वरूप है। अतः परमानंदात्मक चैतन्य नाशरहित है यह निर्धारण संगत है।।४४।।

१. श्लोक. ४०१ आदौ।

कल्पितभेदेन लक्षणता

लक्ष्यलक्षणयोर्भेदो बुद्ध्यैव परिकल्पितः। सर्वत्र वस्तुतो नाऽयं कुतो ब्रह्मणि निर्द्वये।।४७

पृथिव्या गन्धरूपाया गन्धवत्त्वं पृथङ् न हि। पृथक्त्वे धर्मधर्मित्वं नश्येदत्र गवाश्ववत्।।४८

पृथिवीत्वादिकं तेन सामान्यं बुद्धिकल्पितम्। विशेषेषु यतो नाऽस्य ग्रहणं विद्यते पृथक्।।४९

ननु ब्रह्मणः स्वरूपभूतानां सत्यादिपदार्थानां कथं भेदव्याप्यं लक्षणत्वमिति चेत्?[1] किं कल्पितभेदव्याप्यत्वं लक्षणत्वस्य, उत परमार्थभेदव्याप्यत्वम्? आद्ये, न विरोधः, शब्दप्रयोगाय कल्पितस्य भेदस्य इष्यमाणत्वात्। नान्त्यः, सत्यभेदस्य कुत्राऽपि अदृष्टेः इत्याशयेनाह — लक्ष्येति। सर्वत्र लौकिकोदाहरणेष्वपि लक्ष्यलक्षणयोर्भेदः कल्पित एव, न वस्तुतो भवति, स ब्रह्मणि अखण्डे कथं स्याद्! इत्यर्थः।।४७।। लौकिकोदाहरणे भेदस्य वास्तवत्वाऽभावं दर्शयति—पृथिव्या इति। यथा पृथिव्या गन्धगुणेन तादात्म्यशालिन्याः सकाशाद् गन्धवत्त्वरूपलक्षणं पृथक् वास्तवत्वलक्षणाऽऽत्यन्तिकत्ववता भेदेन युक्तं न भवति, आत्यन्तिकभेदे हि गवाश्वयोरिव धर्मधर्मिभावोऽपि न स्याद् इत्यर्थः। तथा च कल्पित एव तत्र भेद इति भावः।।४८।। एवं पृथिवीत्वजातिरूपं पृथिव्या लक्षणमपि न वस्तुतो भिन्नमित्याह — पृथिवीत्वादिकमिति। तेन धर्मधर्मिभावाऽसम्भवेन पृथिवीत्वादिकम् अपि बुद्ध्यैव भिन्नत्वेन कल्पितं, गोरश्ववत् विशेषेभ्यो व्यक्तिभ्यः पृथग् अत्यन्तभेदेन अगृह्यमाणत्वादित्यर्थः।।४९।।

उपनिषत् ने 'ब्रह्मवेत्ता' कहा अतः ब्रह्म का लक्षण सत्यादि बताना चाहिये, आत्मा सत्यादि है यह निश्चित करने से क्या लाभ? यह प्रश्न अयुक्त है क्योंकि ब्रह्म व आत्मा शब्दों का अर्थ एक ही है। हे शिष्य! तुम्हें पहले ही समझा चुके हैं कि आत्मा ही ब्रह्म शब्द का अर्थ है। 'बृह' और 'अत' धातुओं का अर्थ एक ही है यह हमने बताया था। देवराज इंद्र को दध्यङ्ङाथर्वण ने जो उपदेश दिया उसके व्याख्यान में यह प्रसंग आया था।४५।। क्योंकि ब्रह्म और आत्मा पदों का अर्थ एक ही है इसलिये ब्रह्मनामक आनन्दस्वरूप पूर्ण चैतन्य का ही यहाँ लक्षण कहा जा रहा है। कभी विनष्ट न हो सकने वाले उस चिद्धातु का लक्षण है सत्य।।४६।।

लक्षण प्रायः असाधारण धर्म होता है। सत्यादि तो ब्रह्म के स्वरूप हैं, न कि धर्म। लक्षण व लक्ष्य विभिन्न ही प्रसिद्ध हैं। अतः स्वरूपभूत सत्यादि को उसका लक्षण कैसे कहा? यद्यपि इसका सीधा उत्तर है कि धर्म ही लक्षण हो या लक्ष्य से भिन्न ही लक्षण हो ऐसा कोई नियम नहीं और नृसिंहाश्रम, मधुसूदन सरस्वती, सर्वज्ञात्ममहामुनि (१.५१४-२० सं.शा.), तत्त्वदीपनकार (पृ. १०२) आदि ने ऐसे ही समझाया है तथापि पुराणकार बताते हैं कि लक्ष्य-लक्षण में कल्पित भेद की आवश्यकता कही जाये तो सिद्धान्ती को कोई विरोध नहीं क्योंकि लक्षणबोधक और लक्ष्यबोधक विभिन्न शब्दों के प्रयोग के लिये लक्ष्य-लक्षण में कल्पित भेद माना जाता ही है लेकिन यदि उनमें सत्य भेद जरूरी कहा जाये तो ठीक नहीं क्योंकि वास्तविकता है कि लक्ष्य-लक्षण ही नहीं अन्यत्र भी कहीं सत्य भेद हुआ ही नहीं करता! यही श्लोक में कहते हैं : लोकदृष्ट सभी स्थलों पर लक्ष्य व लक्षण में भेद बुद्धि से ही आरोपित होता है, वस्तुतः नहीं होता। जब लोक में ही नहीं होता तब अखण्ड, भेदहीन व्यापक तत्त्व में भेद क्योंकर होगा? पृथ्वी का अपने गुण गंध से तादात्म्यरूप अभेद है अतः पृथ्वी का लक्षण कहलाने वाली गन्धवत्ता—गंधवान् होने का भाव, संक्षेप में कहें तो गंध—पृथ्वी से वस्तुतः भिन्न नहीं है। बल्कि वास्तविक भेद हो तो धर्म-धर्मिभाव ही नष्ट हो जायेगा जैसे परस्पर सच्चे भेद वाले गाय-घोड़े में धर्म-धर्मिभाव नहीं होता। अतः पृथ्वी और गंध में कल्पित भेद ही है जिससे लक्ष्य-लक्षणता संगत है। क्योंकि वास्तविक भेद वाले पदार्थ परस्पर धर्म-धर्मी नहीं होते इसलिये पृथ्वी आदि विशेषों

१. अत्रश्रीनृसिंहाश्रमिणस्तु'न चाऽसाधारणधर्मस्यैव लक्षणत्वात् कथं स स्वरूपलक्षणमिति वाच्यम्; पराभिमतविशेषादेः तदतिरिक्ताऽसाधारणधर्माऽभावात्! एवं घटत्वादेरपि नाऽसाधारणो धर्मोऽस्ति। तस्माद्—यद्विषयं सत् ज्ञानं यस्य तदितरभेदसंशयादि निवर्तयति तत्तस्य लक्षणम्' इति लक्षणलक्षणमाहुः वेदान्ततत्त्वविवेकस्य दीपने। पृ.५७८।

यथा घटः पटाद् भिन्न उदकाहरणक्षमः। गृह्यते पृथगेवाऽयं तथा तन्नैव गृह्यते।।५०
ततो ब्रह्मणि निर्भेदे कल्पयित्वा भिदामिमाम्। लक्ष्यलक्षणभावोऽयं कथितोऽत्र मनीषिभिः।।५१

पञ्च धर्माः

आत्मताऽऽनन्दता यद्वद् विधेते कल्पिते उभे। सत्यता ज्ञानता तद्वद् विधेतेऽनन्तताऽपि च।।५२
ब्रह्मत्ववद् इमे धर्मा आनन्दाद्या मनीषिभिः।[1] पञ्च प्रोक्ताः परे नित्ये निर्गुणे भेदवर्जिते।।५३
सत्यं ज्ञानमनन्तं च ब्रह्मात्माऽऽनन्द इत्यपि। नामषट्कमिदं मुख्यं कीर्तितं वेदवादिभिः।।
अवाङ्मनसगम्यस्य स्वरूपस्याऽत्र साक्षिणः।।५४

पृथग्ग्रहणे व्यतिरेकदृष्टान्तमाह — यथेति। यथा घटः पटात् पृथग् गृह्यते तथा तत् सामान्यं न गृह्यत इति।।५०।। तथा च कल्पितभेदेन प्रकृतेऽपि लक्ष्यत्वादिकमुपपन्नमित्याह — तत इति।।५१।।

ब्रह्मणः स्वरूपभूतानपि कल्पितभेदेन धर्मतया निर्दिष्टान् पदार्थान् दर्शयति— आत्मतेति। कल्पिते कल्पितभेदनिरूपिते।।५२।। ब्रह्मत्ववद् इति। यथा ब्रह्मत्वरूपो धर्मः कल्पितस्तथा पूर्वोक्ताः पञ्चाऽपीत्यर्थः।।५३।। सत्यमिति। तेन कल्पितभेदशाल्युक्तधर्मषट्कलक्षणप्रवृत्तिनिमित्तलाभेन सत्यादित्रयं ब्रह्मादित्रयं चेति षण् नामानि सर्वाधिष्ठानस्य साक्षिरूपस्य वागाद्यगोचरवस्तुनो वेदमुख्यतया स्वरूपबोधकतालक्षणप्राधान्येन प्रसिद्धानीत्यर्थः।।५४।

में पृथ्वीत्वादि सामान्य भी जो भिन्न रूप से समझे जाते हैं वह बुद्धि की कल्पना ही है क्योंकि विशेषों से अर्थात् व्यक्तियों से सामान्यों को उस प्रकार अलग नहीं देखा जाता जैसे गाय से घोड़े को! जैसे कपड़े से भिन्न घड़ा उपलब्ध होता है जो जल भरकर लाने आदि में सक्षम होता है, वैसे सामान्य कभी विशेष से पृथक् उपलब्ध होता नहीं। इसलिये निर्भेद ब्रह्म में इस मिथ्या भेद की कल्पना कर मनीषियों ने यह लक्ष्य-लक्षणभाव वेदांतशास्त्र में समझाया है।।४७-५१।।

(लक्षण का प्रयोजन है लक्ष्य का सही-सही ज्ञान कराना। यह प्रयोजन कल्पित भेद से ही सिद्ध हो जाता है, वास्तविक भेद की अपेक्षा नहीं रखता बल्कि वास्तविक भेद होने पर यह प्रयोजन ही सिद्ध नहीं हो पाता! इस संदर्भ में श्रीहर्षमिश्र के विचार अनुसंधेय हैं।)

ब्रह्म में जैसे आत्मता और आनंदता ये 'दो' धर्म रहते हैं जिनका परस्पर और ब्रह्म से कल्पित ही भेद है न कि वास्तविक, वैसे ही सत्यता, ज्ञानता और अनंतता भी ब्रह्म में रहने वाले धर्म हैं जो न परस्पर व न ब्रह्म से वस्तुतः भिन्न हैं। जैसे ब्रह्म में ब्रह्मता स्वीकारी जाती है उसी प्रकार मनीषियों ने नित्य निर्गुण अद्वय परब्रह्म में आनंदादि ये पाँच धर्म बताये हैं। जिसका स्वरूप वाणी और मन का विषय नहीं उस साक्षी के ये छह प्रधान नाम वेदविचारकों ने कहे हैं : सत्य, ज्ञान, अनन्त, ब्रह्म, आत्मा और आनंद। (पूर्वोक्त ढंग से सत्यत्व आदि 'धर्म' बनकर प्रवृत्तिनिमित्त उपलब्ध करा देते हैं जिनसे सत्य आदि शब्द पर्याय बने बिना एक ही अखण्ड वस्तु के बोधक बन जाते हैं। इन नामों की प्रधानता यही है कि ये स्वरूप के बोधक हैं, न कि तटस्थ धर्मों के। इनसे लक्ष्य होने वाला ब्रह्म सत्यादि है ही जबकि 'कारण' आदि शब्दों से कहा ब्रह्म वास्तव में कारण आदि है नहीं! सत्यादि पाँच का परिगणन इस अभिप्राय से है कि ब्रह्म के बारे में पाँच ही प्रधान भ्रम होते हैं जिन्हें सत्यादि पाँच शब्दों से मिटाया जाता है। ब्रह्म-शब्द लक्ष्य का समर्पक होने से संग्राह्य है। ब्रह्मपरिचय में सत्यादि पाँचों का उल्लेख करना चाहिये यह सांप्रदायिक स्वीकृति है।)।।५२-४।।

---

१. 'आनन्दादयः प्रधानस्य' (३.३.११) इत्यत्र कल्पद्रुमे—'सत्यज्ञानानन्दानन्तात्मत्वपदार्था इतरेतरं विशेषणविशेष्यभूता.... एकामानन्दव्यक्तिं लक्षयन्ति' इति पंच धर्मा उक्ताः। 'पञ्च पदार्था उपसंहर्तव्या' इति विवरणाचार्या अपि शारीरकन्यायसंग्रहे गणयामासुः। आनंदादेरवभासमानधर्मत्वं पञ्चपादिकायां (पृ.४१) व्यक्तम्।

अध्यस्तं यत्र सकलं नामरूपक्रियात्मकम्। कालातीतं च कालान्तःपतितं कालसंयुतम्।
सदसद् वस्तुजातं यदक्षैर्गम्यं तथेतरत्।।५५
गन्धर्वनगरं यद्वद् गगने परिकल्पितम्। तच्छून्येऽत्र तथैवैतच्छून्य एतत् प्रकल्पितम्।।५६
षट्पदानामभिन्नार्थे कृत्वैकं वाचकं पदम्। वाच्यं पदद्वयस्याऽर्थमानन्दात्मानमीश्वरम्।।
पदत्रयार्थं मुनयो लक्षणं कथयन्ति ते।।५७
आनन्दात्मा च लक्ष्यं स्याद् ब्रह्मशब्दाऽभिधो हि यः। सत्यं ज्ञानमनन्तं च भवेत् तल्लक्षणत्रयम्।।५८
एवं वेदान्तसिद्धान्तसारसर्वस्ववेदिनः। ब्राह्मणा ज्ञाततत्त्वार्था अर्थमाहुरलौकिकाः।।५९

तस्य स्वरूपपदोक्तां सर्वाधिष्ठानतां स्फुटयति— अध्यस्तमिति द्वाभ्याम्। यत्र परमार्थतत्त्वे नामाद्यात्मकं विश्वम् अध्यस्तम्। विश्वं विभजते— कालेति। कालातीतं नित्यतयाऽभिमतम्। कालान्तःपाति अतीताऽनागतकालयोर्मध्यवर्ति वर्तमानमिति यावत्। कालसंयुतम् अतीतादिरूपम्। सद् अक्षगम्यम्। इतरद् अतीन्द्रियं तु असद् इत्यर्थः।।५५।। गन्धर्वेति। तच्छून्ये गन्धर्वनगरहीने गगने। एतत्पदाभ्यां वर्णितविश्वग्रहः।।५६।।

उक्तेषु षट्सु नामसु अविशेषेण तत्त्वं बोधयत्सु कथं लक्षणवाक्यव्यवस्थेत्याकांक्षायां व्यवस्थां दर्शयति— षट्पदानामिति। अभिन्नार्थ इति भावप्रधानो निर्देशः। एषां पदानामभिन्नार्थत्वेऽपि एषां मध्ये एकं पदं वाचकं लक्ष्यप्रतिपादकं कृत्वा उपन्यस्य पदद्वयस्य 'आनन्दात्मा' इत्याकारस्यार्थं सर्वान्तरमद्वयं वस्तु वाच्यं लक्ष्यस्वरूपं च कृत्वा परिशिष्टपदत्रयमध्य एकैकं पदं लक्षणवाचकत्वेनाहुरित्यर्थः।।५७।।

एतदेव प्रकृते योजयित्वा दर्शयति— आनन्दात्मेति। यथा प्रकृतवाक्ये आनन्दात्मशब्दौ न प्रयुक्तौ तयोर्लक्ष्यस्वरूपान्तर्भावस्य विवक्षितत्वात्, ब्रह्मपदं तु आनन्दादिपदद्वयार्थरूपलक्ष्यवाचकतयोपन्यस्तम्, सत्यादिपदत्रयं तु प्रत्येकम् असाधारणधर्मवाचकत्वाद् विकल्पेन लक्षणवाचकमित्यर्थः।।५८।। शास्त्रदृष्टिजप्रत्येकलक्षणमुपसंहरति— एवमिति। उपनिषत्सिद्धान्तरूपं यत् सारं तस्य यत् सर्वस्वम् असाधारणं रूपं तद्विदः अलौकिकाः शास्त्रदृष्ट्यः।।५९।।

गन्धर्वनगर से रहित गगन में जैसे गंधर्वनगर का भ्रम हो जाता है उसी तरह संसारविहीन परमार्थतत्त्व पर यह सारा जगत् अध्यस्त है। नाम, रूप व क्रिया ही संसार के स्वरूप हैं। इनमें कुछ चीज़ें काल से अतीत अर्थात् नित्य मानी जाती हैं जबकि कुछ काल से सीमित समझी जाती हैं। स्वयं काल भी संसार के ही अंतर्गत है। ऐन्द्रिय और अतीन्द्रिय वस्तुएँ क्रमशः सत् और असत् कहलाती हैं। यों विभिन्न विभाजनों वाला यह जगत् सत्यादिलक्षण ब्रह्म पर ही आरोपित है।।५५-६।।

यद्यपि पूर्वोक्त छहों शब्द एक वस्तु के ही प्रमापक हैं तथापि इनमें एक शब्द को लक्ष्य का प्रतिपादक मानकर दो शब्दों के अर्थभूत आनंदात्मक ईश्वर को लक्ष्य का स्वरूप समझकर बाकी तीनों शब्दों को लक्षण का बोधक जानना चाहिये यह मुनिगण बताते हैं। (अर्थात् 'आनन्दरूप व आत्मरूप जो ब्रह्म उसके लक्षण हैं सत्य, ज्ञान, अनन्त' इस वाक्य में ब्रह्म शब्द तो उसे बता रहा है जिसका लक्षण करना है। ब्रह्मशब्द से जातिविशेष, प्रजापति आदि भी कहे जाते हैं अतः उन्हें नहीं वरन् सर्वान्तर अद्वय का लक्षण करना है यह 'आनंदरूप व आत्मरूप' से बताया। 'सत्य, ज्ञान, अनन्त' —ये उस ब्रह्म के लक्षण हैं।)।।५७।।

इस प्रकार जो ब्रह्मशब्द से कहा जाने वाला आनंदरूप आत्मरूप वस्तु है उसके तीन लक्षण हुए सत्य, ज्ञान और अनन्त।(यद्यपि तैत्तिरीय के विचारास्पद वाक्य में आनंद और आत्मा शब्द नहीं आये हैं तथापि ब्रह्मशब्द से बोध्य लक्ष्य के स्वरूप में ही आनंदरूपता व आत्मरूपता का अंतर्भाव अभिप्रेत है। तभी यह लक्षण संपूर्ण बनता है।)।।५८।। शास्त्रानुसारी विचारक तथा वास्तविकता के जानकार ब्राह्मण जो उपनिषदों के सिद्धान्तरूप सार के असाधारण स्वरूप का अनुभव कर चुके हैं वे उक्त लक्षणवाक्य का पूर्वदर्शित ढंग से व्याख्यान करते हैं।।५९।।

एकं लक्षणम्

लौकिकास्त्रितयं चैतत् प्राहुरेकं हि लक्षणम्। आनन्दात्मस्वरूपस्य ब्रह्मशब्दस्य सर्वदा।।६०
एकार्थविषयत्वेऽपि पदानां पुनरुक्तता। व्यावृत्तिभेदतो न स्याद् न च भेदोऽपि कश्चन।।६१
असज्जडं परिच्छिन्नं निरस्यति पदत्रयम्। ततो न गुणगुण्यादि भवेद् नीलोत्पलादिवत्।।६२

लौकिकदृष्ट्यनुसारिणमेकलक्षणपरत्वपक्षमुपपादयति[1]—लौकिका इत्यादिना। लौकिका लोकबुद्ध्यनुसारिण आचार्या एतत् सत्यज्ञानानन्तरूपं पदानां त्रयम् एकलक्षणघटकमाहुरित्यर्थः। लोके हि सत्यमित्युक्ते व्यवहाराबाधितमात्रं प्रतीयते, न तु ब्रह्मैव। एवं ज्ञानमित्युक्ते वृत्तिसंवलितमेव प्रतीयते। अनन्तपदेन च कालाद्यपरिच्छिन्नमेव। अतोऽतिप्रसक्तार्थकत्वेन प्रत्येकं लक्षणत्वाऽसम्भवाद् विशिष्टे शक्तानां पदानां शुद्धे लक्षणया वृत्तिमङ्गी कृत्य एकलक्षणपरत्वमुक्तमिति भावः।।६०।।

नन्वेषां पदानां समानार्थलक्षकत्व एकेनैवेष्टसिद्धेः पदान्तरवैयर्थ्यम् इति शङ्कां परिहरति—एकार्थेति। समानार्थपराणामप्येषां पदानां फलभूतव्यावृत्तीनां भेदात् पुनरुक्तत्वं न स्यादिति। तत्रैतावान् विशेषो वार्तिककृद्भिः उक्तः—सत्यज्ञानपदे सत्यत्वं ज्ञानत्वं च विधायार्थाद् इतरव्यावृत्तिं बोधयतः, अनन्तपदं तु साक्षादेव परिच्छिन्नतां वारयतीति। एवं सति धर्मधर्मिभावादिरूपो भेदो न प्रसज्जत इत्यर्थः।।६१।। एतदेव स्फुटयति— असज्जडमिति। यतः सत्यपदं ब्रह्मणि भ्रमप्रसक्तमसत्त्वं वारयति, ज्ञानपदं जडत्वम्, अनन्तपदं तु परिच्छिन्नत्वं वारयति, तत एवं व्यावृत्तिपरत्वाद् नीलमुत्पलमित्यादिवाक्यस्य यथा गुणगुणिभावसंसर्गपरत्वं विशिष्टपरत्वं वा भवति तथाऽस्य वाक्यस्य न बोध्यं, किन्तु अखण्डार्थपरत्वमेवेत्यर्थः।।६२।।

साधारण लोगों की बुद्धिसामर्थ्य को दृष्टि में रखकर प्रबोधन करने वाले आचार्य इस पदत्रयसमूह को, अर्थात् 'सत्य, ज्ञान, अनन्त' शब्दों को, एक ही लक्षण बताते हैं। ब्रह्म कहलाने वाले आनंदस्वरूप आत्मस्वरूप तत्त्व के लक्षण के घटक ये तीन शब्द हैं ऐसा उनका कहना है। (लोक में सत्य से व्यवहार में जो अबाधित रहे उसे ही कहते हैं, सिर्फ ब्रह्म को ही सत्य कहते हों ऐसी बात नहीं। ज्ञानशब्द भी वृत्ति से एकमेक हुए अनुभव को कहता है और अनंत से भी उसीको कहते हैं जो काल आदि से सीमित न हो, न कि अद्वय को। अतः एक-एक शब्द कहा जाये तो लक्षण अतिव्याप्त रहेगा, जहाँ नहीं रहना चाहिये वहाँ भी रहेगा, जिससे प्रत्येक शब्द लक्षण नहीं हो सकता। जब तीनों शब्द वाक्यभाव से मिलते हैं तब विशिष्ट अर्थों में रूढ सत्यादि शब्दों से लक्षणा द्वारा शुद्ध का अवबोध हो जाता है। इस प्रकार तीनों शब्द मिलकर एक लक्षण हैं। तात्पर्यतः तो तीन लक्षण मानें या तीनों मिलाकर एक लक्षण मानें, कोई अन्तर नहीं पड़ता लेकिन विचार की प्रचलित पद्धतियों के अनुसार दोनों पक्ष हैं अतः पुराण में दोनों तरह संग्रह कर स्पष्ट कर दिया है।)।।६०।।

यद्यपि सत्यादि शब्द एक ही अर्थ को विषय करते हैं तथापि इनमें पुनरुक्ति नहीं है क्योंकि इन शब्दों से जिन असत्यतादि का निषेध समझ आता है वे विभिन्न हैं। इसीलिये धर्मधर्मिता आदि कोई भेद भी प्राप्त नहीं होता। तीनों शब्द क्रमशः असत्, जड और परिच्छिन्न का निषेंध करते हैं। अतः जैसे 'नीला कमल' आदि में गुण-गुणिभाव आदि भेद रहता है वैसे 'सत्य, ज्ञान, अनंत' वाक्य से समझे ब्रह्म में नहीं वरन् अखण्ड अर्थ ही समझ आता है। (सर्वथा एक अर्थ बताने वाले शब्द पुनरुक्ति वाले होते हैं अतः उनका युगपत् एक वाक्य में प्रयोग नहीं होता। सत्यादि ब्रह्म को ही बताने से एकार्थक तो हैं लेकिन ब्रह्म में भ्रमवश समझी असत्यता, जडता व सद्वयता का निषेध करने से तीनों के स्वतंत्र प्रयोजन सिद्ध हो जाने से इन्हें पुनरुक्ति वाला नहीं माना जा सकता। सत्य और ज्ञान शब्द सत्यता और ज्ञानता का विधान कर अर्थतः बताते हैं कि ब्रह्म में असत्यता एवं जडता नहीं है जबकि अनन्त शब्द सीधे ही परिच्छिन्नता

---

१. पूर्वं श्लोक. ३४ उपक्षिप्तम्।

भावाद्वैतम्

असदादित्रयाभावा यद्यप्यात्मन्यवस्थिताः। तथाऽपि न विरोधः स्याद् भावाऽद्वैतत्ववादिनाम्।।६३

अभावाः सन्तु शतशो निर्भेदे ब्रह्मरूपिणि। अस्माकं किञ्चिदप्यत्र हीयते नाऽऽत्मवादिनाम्।।६४

अभावेषु यतो भेदः स्वयं कोऽपि न विद्यते। विनाश्यं भावरूपं तं विहाय प्रतियोगिनम्।।६५

ननु तथापि ब्रह्मनिष्ठव्यावृत्तीनां भेदादेव अद्वैतहानिः स्याद्? इति शङ्कां भावाऽद्वैतपक्षं नृसिंहाश्रमादिभिर्व्युत्पादितम् आलम्ब्य परिहरति— असदादीति। यद्यपि असज्जडपरिच्छिन्नैः निरूपिता अभावव्यावृत्तयः आत्मनि स्थिताः स्युः तथाऽपि ब्रह्मातिरिक्तो भावो नास्तीत्येवम् अद्वैतमुपपादयताम् अस्माकम् अद्वैतहानिरूपो विरोधो न प्राप्नोतीत्यर्थः।।६३।।

भावाद्वैतवादिभिर्येनाशयेन द्वैतविलयव्यापारेऽभावा उपेक्षितास्तं विवृणोति — अभावा इत्यादिना। असङ्ख्यातानामभावानामवशेषेऽपि आत्मनः स्वभावभूताम् अद्वितीयतां प्रतिपादयतां किञ्चिदपि प्रतिज्ञादिकं न हीयत इत्यर्थः।।६४।। तत्र हेतुतयाऽभावस्य तुच्छत्वेन अद्वैतविघाताक्षमत्वं दर्शयन्—किमभावः स्वरूपेण भिद्यमानोऽद्वैतं विहन्यात्, स्वप्रतियोगिद्वारा वा, स्वव्यवहारद्वारा वा? इति विकल्प्य, न प्रथमद्वितीयावित्याह — अभावेष्विति। प्रतियोगिनं विना स्वरूपेण अभावे भेदो न वक्तुं शक्यः। न च प्रतियोगिद्वाराऽपि भेदः, स हि तदा वक्तुं शक्यो यदाऽविद्यादशायां प्रतियोगिनो विनाश्यतया स्थिता आसन्। इदानीं तु 'नेह नानाऽस्ति' इति (बृ.४.४.१६) वाक्यनृसिंहेन कवलीकृतानां तेषां विनष्टत्वेन भेदकत्वं न सम्भवति इति भावः।।६५।।

का, सद्वयता का निषेध करता है। सत्यता व ज्ञानता धर्मरूप नहीं वरन् जैसे प्रतिबिंबों में 'सामान्य' बिम्बरूप व्यक्ति ही होता है वैसे लौकिक सत्यों में और ज्ञानों में प्रतीत होने वाला अखण्ड ब्रह्म ही है। 'नीला कमल' आदि वाक्य तो कमल के किसी गुणादि धर्म का उल्लेख करने से सभेद अर्थ व्यक्त करता है किन्तु प्रकृत लक्षणवाक्य उक्त निषेधों में तात्पर्य रखने से संसर्ग या विशेषणता को नहीं कहता वरन् अखण्ड अर्थ में ही पर्यवसित होता है। लक्षणवाक्यों की अखण्डार्थता पर पूर्वाचार्यों ने प्रभूत प्रकाश डाला है। याद रखने लायक तथ्य यह है कि जिस ब्रह्म को समझना है उसमें किसी तरह की सद्वयता नहीं है इसे भूले बिना उसे सत्यादि जानना है क्योंकि सद्वयता परिच्छिन्नता को प्रयुक्त कर विनाशिता में पर्यवसित होती है ऐसा श्रौत सिद्धांत है। गुण अपने गुणी से या धर्म अपने धर्मी से कुछ-न-कुछ भेद वाला होता है, वैसे सत्यता आदि धर्मों वाला ब्रह्म न समझ लिया जाये इसकी सावधानी रखनी पड़ेगी जिसका शास्त्रीय ढंग अखण्डार्थवाद है।) ।।६१-२।।

भले ही सत्यतादि धर्म न होने से अद्वयता रहे पर असत्-जड-दुःख की व्यावृत्तियाँ—उनके निषेध अर्थात् अभाव — तो परस्पर और ब्रह्म से भिन्न रहेंगी जिससे आत्यंतिक अद्वैत कैसे कहा जा सकेगा? इस शंका को 'भावाऽद्वैत' की दृष्टि से समाहित करने जा रहे हैं। 'भावाऽद्वैत' का मतलब है कि सद्वयतापादक कोई भाव वस्तु न होना ही अद्वैत है, किसी अभाव की अपेक्षा से सद्वयता कही जाये तो भी अद्वैत की क्षति नहीं मानी जायेगी। यद्यपि सरलता से यह दृष्टि समझ आ जाती है क्योंकि लोक में भी अभाव को सद्वयता का आपादक नहीं माना जाता तथापि आत्मा की सत्ता के समान सत्ता वाला अभाव भी अमान्य होने से भाष्यादिकार सिर्फ भाव से ही नहीं अभाव से भी द्वैतप्रसक्ति अस्वीकार करने को प्रधानता देते हैं। किंतु अधिष्ठान में अध्यस्त का अभाव भी नहीं है यह बुद्धिगत होना अतिकठिन होने से कुछ आचार्य भावाद्वैत का सहारा लेकर चलते हैं, उन्हीं का अनुकरण कर पुराणकार उक्त शंका का समाधान करते है : यद्यपि लक्षण वाक्य से असत्-जड-दुःख इन तीनों के अभाव आत्मा में मौजूद समझ आते हैं तथापि अद्वयता से कोई विरोध नहीं क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त कोई भाववस्तु नहीं है इतना ही अद्वैत के लिये पर्याप्त है। द्वैतहीन व्यापक चित्स्वरूप में चाहे सैकड़ों अभाव रहें, उनसे हमारी कोई हानि नहीं क्योंकि हम आत्मा की स्वाभाविक अद्वितीयता का

व्यवहारोऽत्र भिन्नः स्याद् विनाशः प्रतियोगिनः। अभावस्य स्वरूपं न भिद्यते कर्हिचित् क्वचित्।।६६
साक्षात्कृते सदाऽद्वैत आनन्दात्मनि केवले। व्यवहारश्च कोऽप्यत्र नैवास्ति वचनादिकः।।६७
एक एव ततोऽभावो द्वैतस्याऽत्रावतिष्ठते। अभावः सोऽपि नैव स्याद् वस्तुतत्त्वे विचारिते।।६८
अभावस्य तु केयं स्यात् सत्ताऽद्वैतविनाशिनी। घटादिष्विव नैतस्य सत्ता काचन विद्यते।।
तत्सत्त्वे केन भेदः स्याद् भावाभावस्वरूपयोः।।६९

न तृतीय इत्याह — व्यवहार इति। प्रतियोगिन इति पञ्चमी ल्यब्लोपे। तथा च प्रतियोगिनमपेक्ष्यैव भिन्नो भेदघटितो व्यवहारः अभिलापादिरूपो विनाशविषयकः अत्र व्यवहारभूमौ स्यात् सम्भवेद्, न स्वरूपत इत्यर्थः। अत्र तु प्रत्यग्दृष्ट्या परागर्थाकारता बुद्धेरपहृतेति भावः।।६६।। एतदेव विशदयति— साक्षादिति। अद्वितीयत्वानन्दरूपात्मनि विषये लब्धे बुद्धिः सर्वव्यवहारं त्यजतीत्यर्थः।।६७।। फलितमाह — एक एवेति। ततः प्रतियोगिभेदालोचनमन्तराऽभावे भेदाऽसम्भवात् सर्वद्वैताभाव एकरूपेण अवशिष्टः सोऽपि वस्तुनः तत्त्वेऽधिष्ठानरूपे विचारिते तु नैव पृथक्त्वेन तिष्ठेत्, कल्पिताऽभावस्य अधिष्ठानात्मकत्वाद्[1] इति भावः।।६८।।

किं च लोकदृष्ट्याऽप्यभावस्य न भिन्नत्वं, सत्ताराहित्येन प्रसिद्धत्वात्। यदि त्वभावेऽपि सत्ताऽभ्युपगम्यते तदाऽभावस्याऽपि भावत्वापत्त्या सद्रूपात्मनः सकाशात् सुतरामभेद इत्याह — अभावस्य त्विति। किंशब्द आक्षेपे।

प्रतिपादन करते हैं। (अर्थात् सापेक्ष सद्वितीयता से निरपेक्ष अद्वितीयता का विघटन नहीं हो सकता। संसार न होने की अपेक्षा से ब्रह्म को अद्वितीय कहा जाता हो ऐसी बात नहीं वरन् ब्रह्म वस्तु ही ऐसी है कि संसार की उपलब्धि रहे या न रहे वह अद्वितीय ही रहती है। यद्यपि यों भावप्रयुक्त द्वैत भी स्वरूपभूत अद्वैत का विरोधी नहीं तथापि भावभूत सद्वयतापादक रहते अद्वैत समझना ही कठिन होने से प्रारंभ में वैसा नहीं कहा जाता।)।।६३-४।।

अभाव क्योंकि है ही तुच्छ, अलीक, इसलिये अद्वैतविरोध नहीं कर पाता। आत्मा की अभिन्नता मिटाने के लिये अभाव को सभेद होना पड़ेगा। वह सभेदता उसमें स्वतः हो सकती है या अपने प्रतियोगियों के भेद के सहारे हो सकती है। अभावों में स्वयं तो कोई भेद होता नहीं। क्योंकि निर्धर्मक होने से उनमें व्यावर्तक धर्म संभव नहीं। भावात्मक प्रतियोगियों के भेद की दृष्टि से ही अभावों में भेद समझा जा सकता है। अविद्या रहते तो प्रतियोगी क्योंकि विनाश्यरूप से मौजूद होते हैं इसलिये उनके भेद से अभाव में भेद हो सकता है लेकिन 'यहाँ कुछ भी नाना नहीं है' आदि प्रमाण से जब प्रतियोगी विनष्ट ही हो गये— कारणरूप से भी नहीं रह गये— तब वे अभावों में भेद कैसे ला सकते हैं! जब अभाव में भेद ही नहीं तब वह आत्मा में भेद कैसे प्रयुक्त करेगा! इस प्रकार अभाव अद्वैतहानि में अपर्याप्त है।।६५।।

अभाव का कथनादि व्यवहार ही उसे सभेद बनाता हो जिस सभेदता से अभाव अद्वैत को सभेद करे — यह संभावना भी प्रकृत में नहीं। व्यवहारभूमि में विनाश अर्थात् अभाव को विषय करने वाला भेदघटित अभिज्ञा, अभिवदन आदि व्यवहार प्रतियोगी की अपेक्षा रखते हुए ही संभव है, न कि स्वरूपतः। किंतु प्रत्यगात्मा के अवलोकन से ज्ञान जब परागु-अर्थ का आकार ही लेता नहीं तब प्रतियोगी की अपेक्षारूप ज्ञान ही होगा नहीं तो तदपेक्ष व्यवहार कहाँ संभव है! और प्रतियोगिसापेक्षता छोड़कर अभाव स्वयं कभी कहीं सभेद होता नहीं।।६६।। हमेशा अद्वैतरूप अखण्ड आनंदरूप आत्मा का साक्षात्कार हो जाने पर कथन आदि कोई भी व्यवहार परमार्थ भूमि में संभव है नहीं।।६७।। इसलिये समग्र द्वैत का अभाव भी अद्वितीय ही रह सकता है तो वह आत्मा को सद्वितीय कैसे करेगा! आत्मवस्तु की अधिष्ठानरूपता का निष्कर्ष समझने पर तो वह अद्वितीय भी अभाव रह नहीं जाता क्योंकि कल्पित का अभाव सिर्फ अधिष्ठानरूप हो यही उचित है।।६८।।

१. 'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुन' इत्यभियुक्ताः।

स्वरूपभेदसत्तादिसर्वसत्ताविवर्जितः। यतोऽभावस्ततः केन सोऽस्तीति व्यपदिश्यते।
विकल्पमात्रं तेनाऽयमभावो नरशृङ्गवत्।।७०
वचनाद् व्यवहारः स्यादसतो यस्य वस्तुनः। विकल्पविषयः सोऽयमुच्यते न्यायवेदिभिः[1]।।७१
विकल्पादिरयं यत्र व्यवहारः क्षयं गतः। अवाङ्मनसगम्येऽस्मिंस्तत्राऽभावः कुतो भवेत्।।७२
द्वैताभावोऽपि तेन स्यादद्वैतस्य न घातकः। विचारे सति निर्द्वैतं भवेद् ब्रह्मानया दिशा।।७३

एतस्य (अ-)भावस्य सत्ता यतो न प्रसिद्धाऽतः साऽभावसत्ताऽद्वैतस्य विनाशिका कथं स्यात्! तस्य अभावस्य सत्त्वाङ्गीकारे तु भावाभावयोर्विशेषो न स्यादित्यर्थः।।६६।। तस्य सत्त्वाऽसम्भवमेव स्फुटयति — स्वरूपेति। यतो भेदो विशेषः, सत्तादयो धर्माश्च, एतैः सर्वसत्तारूपेण प्रसिद्धैर्वर्जितः अभावः ततः अस्तीति वक्तुं न योग्यः तेन विकल्पाख्यज्ञानमात्ररूप इत्यर्थः।।७०।। विकल्पलक्षणं 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' (योग सू. १.९) इत्याकारं स्मारयति — वचनादिति। सोऽयम् असत्पदार्थः।।७१।। अविषयात्मसाक्षात्कारे तु विकल्पोऽपि निवर्तत इत्याह — विकल्पादिरिति।।७२।। भावाद्वैतवादिनामाशयप्रदर्शनं निगमयति— द्वैताभाव इति। स्पष्टम्।।७३।।

लौकिक धरातल पर सोचें तो भी अभाव में भिन्नता नहीं हो सकती क्योंकि अभाव सत्तारहित माना जाता है। अभाव में सत्ता हो तो वह भी भाव ही हो जायेगा। और भाव हो तो सद्रूप आत्मा से अभिन्न ही होगा! जैसे घटादि में सत्ता होती है ऐसी अभाव की कोई सत्ता होती नहीं क्योंकि अभाव में सत्ता हो तो भाव-अभाव के स्वरूपों में भेद ही कैसे रहेगा? जब अभाव में सत्ता ही नहीं तब उसमें अद्वैतविरोधी सत्ता होने की संभावना ही कहाँ?।।६९। सस्वरूप की, सविशेष की और सत्त्वादि धर्मवान् की सत्ता ही प्रसिद्ध है। क्योंकि अभाव स्वरूप-विशेष-धर्मों से रहित है इसलिये उसे 'है' भी क्यों कहा जा सकेगा! इसलिये अभाव नरशृंग की तरह केवल 'विकल्प' ही है।।७०।। जिस असत् वस्तु का वचन से व्यवहार हो जाये उसे समझदार लोग विकल्प-विषय कहते हैं। (जैसे आदमी के सींग होते नहीं अतः असत् वस्तु हैं पर 'आदमी का सींग' इस वचन से उनका व्यवहार हो जाता है अतः उन्हें विकल्पविषय कहा जाता है। विकल्पात्मक वृत्ति से अन्य उसके किसी विषय की यहाँ बात नहीं, क्योंकि वैसा कुछ है ही नहीं, वरन् वह वृत्ति जिससे विशेषित प्रतीत होती है उसे विकल्पविषय कहा जाता है। भ्रम से इस वृत्ति में अंतर यह है कि भ्रम रहते विषय नहीं है यह बात पता नहीं रहती जबकि विकल्पवृत्ति के समय वह बात मालूम रहती है। सोपाधिक भ्रम में बाधज्ञान रहते भी विषयतया प्रतीति होती है जबकि विकल्प में विषयतया कभी प्रतीति नहीं होती। जिसकी असंभवता भासे ऐसी संकल्पना को विकल्प समझ सकते हैं, वह प्रतीतिरूप नहीं है। योगियों ने अत एव प्रमाण-भ्रम-स्मृति से अन्य ही विकल्पवृत्ति मानी है। यद्यपि प्राचीन कुछ दार्शनिक ऐसी वृत्ति नहीं स्वीकारते तथापि सर्वानुभव सिद्ध होने से प्रायः विचारक किसी-न-किसी तरह इसकी संगति बैठाते ही हैं। प्रकृत में अभाव को विकल्परूप सिद्ध किया जा रहा है। घटभाष्यादि के अनुसंधान से स्पष्ट होता है कि भाव से स्वतंत्र अभाव केवल विकल्पात्मक ही समझ आ सकता है। सत् परमात्मा से जन्य जगत् में नितांत असत् (अभाव) की अन्य कोई उपपत्ति भी नहीं। तर्की तो अर्धवैनाशिक होने से अभाव को काफी महत्त्व देते हैं और बौद्धों ने इसे बहुत महिमामण्डित किया है लेकिन वह सब युक्ति व अनुभव के विरुद्ध और सद्व्यवहार का घातक है यह स्मरण रखना चाहिये। यद्यपि अनुपलब्धि के प्रमेयरूप से अभाव को माना जाता है तथापि वह दुर्जनतोष-न्याय से ही संभव है क्योंकि न तो अभाव पंचभूतात्मक है और न काल आदि की तरह उसकी उत्पत्ति श्रुतियों में कही है कि वह संसारांतःपाती वस्तु हो सके।)।।७१।। प्रामाणिक, अपरोक्ष, मन-वाणी के अविषय आत्मा में यह विकल्प आदि व्यवहार निवृत्त हो जाता है, अखण्डवृत्ति से समस्त व्यवहार बाधित हो जाता है; उस आत्मा में अभाव कैसे रहेगा!।।७२।। इसलिये द्वैत का अभाव भी अद्वैत का विरोधी नहीं हो सकता। इस तरह विचार करने पर ब्रह्म निर्द्वैत निश्चित हो जाता है।।७३।।

१. भाट्टपातञ्जलादिभिः। गौतमीया नालीकं स्वीचिकीर्षन्ति, तन्मते त्वाहार्यज्ञानेऽस्य विकल्पप्रत्ययस्यान्तर्भाव इति केचित्।

अनन्तम्

देशकालपरिच्छिन्नं जायमानं घटादिकम्। देशकालौ स्वरूपेण भिन्नौ तौ हि परस्परम्।।७४

देशेनैव परिच्छिन्नाः केषाञ्चित् परमाणवः। मते सन्ति यथा वन्ध्यापुत्रोऽस्त्येव शिशोर्मते।।७५

कालेनैव परिच्छिन्नं केषाञ्चिन्महदस्ति च। रूपादेव परिच्छिन्नं केषाञ्चिन्नभआदिकम्।।

इति भ्रान्तप्रसिद्ध्याऽयं परिच्छेदस्त्रिधा स्थितः।।७६

अन्योऽपि लौकिकः कश्चित् परिच्छेदस्त्रिधैव हि। विद्यते वृक्षएतस्मिन्नुदाहरणमस्ति तत्।।७७

'अनया दिशा' इत्युक्तं स्फुटयन् द्वैताभावसाधने प्रधानस्य अनन्तपदस्य व्यावर्त्यं दर्शयति—देशेति षड्भिः। कार्यत्वेन प्रसिद्धं सर्वम् उभाभ्यां देशकालाभ्यां परिच्छिन्नं प्रसिद्धम्। देशकालौ तु स्वरूपेण वस्तुना परिच्छिन्नौ, अन्योन्याभावप्रतियोगित्वाद् इत्यर्थः।।७४।। नन्वेकेन वस्तुपरिच्छेदेनैव सकलव्यावर्त्यसंग्रहात् किमिति त्रिविधः परिच्छेदस्तत्र तत्र निरूप्यत इति चेद्? मन्दधियामनुग्रहायेत्याह — देशेनैवेति द्वाभ्याम्। केषाञ्चिद् अर्द्धवैनाशिकैः प्रतारितधियां मते परमाणवो नाम पदार्थाः देशेनैव परिच्छिन्नाः सन्ति; न कालेन, नित्यत्वाऽभ्युपगमात्; न वस्तुना, भेदस्य परिच्छेदरूपतायास्तैरबुद्ध्यमानत्वात्। नन्वप्रामाणिकानां परमाणूनां कथं सत्त्वम्? इति शङ्कां दृष्टान्तेन परिहरति — यथेति। स्पष्टम्।।७५।। कालेनैवेति। तथा केषाञ्चित् साङ्ख्यानां मते महद् महत्तत्त्वं विभुत्वेनाऽभिमतत्वात् सर्वविकारकारणत्वाच्च देशवस्तुभ्याम् अपरिच्छिन्नम् अपि प्रलये लयशालित्वात् कालपरिच्छिन्नमस्ति। नभ आकाशम्, आदिपदेन दिगादिग्रहः, तेषां नित्यत्वाद् विभुत्वाच्च देशकालपरिच्छेदाऽयोग्यत्वाद् भेदात्मकवस्तुपरिच्छेदशालित्वमेव कैश्चिदभ्युपगम्यते। इति एवंविधभ्रान्तानां प्रबोधाय तदनुसारेण परिच्छेदत्रयमुक्तमित्यर्थः। रूपादेव वस्तुनः।।७६।। तथा वस्तुपरिच्छेदात्मकभेदस्यैव स्वावयवसजातीय-विजातीयात्मकप्रतियोगित्रित्वप्रयुक्तं त्रैविध्यं दर्शयति— अन्योऽपीति। अन्यो भेदमात्रप्रपञ्चत्वेन पूर्वोक्तविलक्षणः परिच्छेदः त्रिविधो विद्यते यत्र वृक्षरूपम् उदाहरणम् तत् प्रसिद्धम् अस्ति इत्यर्थः।।७७।। वृक्षस्योदाहरणतां स्फुटयति —वृक्ष इति। यथा अयं वटाख्यो वृक्षः शाखादिभिः स्वरूपैर्भिद्यमानः स्वयं भिन्न इत्युच्यते। वटान्तरात् सजातीयाद्

जन्मवान् घड़ा आदि स्थान और समय से सीमित ही होते हैं। देश और काल वस्तुओं से परिच्छिन्न ही होते हैं, वे आपस में भिन्न हैं यह तो स्पष्ट ही है।।७४।। यद्यपि वस्तुकृत परिच्छेद, सीमा, का उल्लेख करने से ही जो आत्मा नहीं उस सबका ग्रहण हो जाता है तथापि अन्यान्य मान्यताओं वालों को समझाने के लिये स्थान व समय की सीमाओं को भी कह दिया जाता है। जैसे बच्चा मान लेता है कि 'वन्ध्यापुत्र है ही!' वैसे कुछ लोगों के मत में परमाणु सिर्फ स्थान से ही सीमित हैं ! (न्यायी तर्क से परमाणु नामक पदार्थ की कल्पना करते हैं जिसे वे स्थान-सीमा वाला तो मानते हैं पर कालसीमा वाला नहीं क्योंकि उसे नित्य कहते हैं। वस्तुकृत *सीमा* तो प्रायः दार्शनिकों की बुद्धि में ही नहीं आती! जैसे कालपरिप्रेक्ष्य में न होना काल-सीमा, देशपरिप्रेक्ष्य में न होना देश-सीमा मान्य हैं वैसे वस्तु के परिप्रेक्ष्य में न होना वस्तु-सीमा भी मानना अनिवार्य है। जिसका किसी काल में न होना प्रतीत हो उसे काल से सीमित मानते हैं। जो किसी-न-किसी स्थान पर नहीं है वह देश से सीमित होता है। ऐसे ही जब एक वस्तु दूसरी वस्तु नहीं है तब उसे वस्तु से सीमित समझना ही उचित है जैसे घड़ा क्योंकि कपड़ा नहीं है इसलिये घड़े को कपड़े से सीमित मानना चाहिये। लेकिन प्रायः वादी इस सीमा को पहचान नहीं पाते। आत्मा, ईश्वर आदि को व्यापक, असीम कहते हुए भी उसे वस्तु-सीमा वाला ही मानते हैं ! अनेक आत्मा स्वीकारते ही आत्मा परिच्छिन्न होगा ही, ईश्वर को जीव-जगत् से भिन्न कहते ही ईश्वर सीमित होगा ही। एवं च वादी क्योंकि इस परिच्छेद से अनभिज्ञ हैं इसलिये इसी का उल्लेख पर्याप्त होने पर भी आचार्यों ने तीनों तरह के परिच्छेदों की संभावना का निषेध किया है।)।।७५।।

वृक्षः स्वयं विभिन्नोऽयं शाखास्कन्धादिभेदतः। वटो वटान्तरात् तद्वदश्वत्थादेश्च सर्वदा।।७८
स्व-सजाति-विजात्युत्थः सोऽयमत्र त्रिधा स्थितः। देशकालस्वरूपोऽत्र त्रिधा पूर्वश्च कीर्तितः।।७९
सर्वोऽप्ययं परिच्छेदोऽनन्तशब्देन वार्यते। परिच्छिन्नपरिच्छेदद्वयाभावविवर्जितम्।।
आनन्दात्मस्वरूपं यत् तद् ब्रह्मेति समीरितम्।।८०

ज्ञानम्

सम्भावितं जडं तत् स्यात् तज्ज्ञानेन निवार्यते। ज्ञानवत्ता न जडतां विनिवारयितुं क्षमा।।
नरवत्ता यथा भूमेरनरत्वं न वारयेत्।।८१

भिन्नः। अश्वत्थादेः विजातीयाच्च भिन्न इत्यर्थः।।७८।। स्वसजातीति। सोऽयं परिच्छेदः स्वस्मात् सजातेः विजातेश्च प्रतियोगिन उत्थितो निरूपणं प्राप्तः अत्र वृक्षोदाहरणे स्थितः कीर्तितः। देशादित्रितयनिरूपितत्वेन त्रिविधस्तु पूर्वं कीर्तित इत्यर्थः।।७९।। अस्य परिच्छेदस्य ब्रह्मणि सम्भावनां कुतर्कपङ्कजाताम् अनन्तशब्दः क्षालयतीत्याह— सर्वोऽपीति। अनन्तशब्द-प्रसादात् शोधितं तत्त्वमभिनयति— परिच्छिन्नेति। परिच्छिन्नं च प्रत्येकं त्रिविधपरिच्छेदयोर्द्वयं च तदभावश्च एतैर्विवर्जितम्। अभावोऽपि यदि भिन्नत्वेन अवतिष्ठेत् पुनरनन्तशब्दः कुप्येद् इत्यतोऽभावोऽपि वार्यते। तत् पूर्णं स्वरूपं ब्रह्म इति वाक्यार्थः।।८०।।

ज्ञानपदकृत्यं दर्शयंस्तस्य अर्शआद्यजन्तत्वेन ज्ञानवत्परत्वभ्रमं वारयति — सम्भावितमिति। तद् वर्णितं ब्रह्म जडम् इति केनचित् सम्भावितं शङ्कितं स्याद् अतः तत् जडं ज्ञानपदेन वार्यत इत्यर्थः। एवं चिद्भिन्नत्वलक्षणजडतां वारयितुं प्रवृत्तं ज्ञानपदं यदि ज्ञानवत्परं स्यात् तदा नेष्टसिद्धिं लभेत, न हि नरवती भूमिरित्युक्तेर्भूमेर्नरभिन्नत्वं वार्यते। अतः शुद्धं ज्ञानपदं ज्ञानरूपतामेव आचष्ट इत्यर्थः।।८१।। 'यवता विनाऽनुपपत्तिः तत् सर्वं कल्प्यते'

इसी प्रकार सांख्यादि कुछ वादियों के मत में 'महत्' नामक तत्त्व सिर्फ़ काल से ही सीमित है। (उसे वे विभु मानते हैं अतः देश से सीमित नहीं मानते, सभी विकारों का, कार्यों का कारण स्वीकारने से वस्तुपरिच्छिन्न नहीं मानते लेकिन प्रलय में विलीन हो जाने से उसे कालकृत सीमा वाला ही स्वीकारते हैं।) कुछ लोग आकाश, दिक् आदि को नित्य, विभु मानने पर भी वस्तुकृत सीमा से सीमित ही अंगीकार करते हैं अर्थात् किसी-न-किसी से अलग मानते हैं। इस प्रकार भ्रमग्रस्तों में प्रसिद्ध प्रकारों से तीन प्रकार का परिच्छेद, सीमा, विद्यमान है।।७६।।

पूर्वोक्त तीन सीमाओं की अपेक्षा एक अन्य ढंग भी लोकप्रसिद्ध है जिसके अनुसार वस्तुकृत परिच्छेद अर्थात् भेद तीन प्रकार का होता है। इसमें वृक्ष ही प्रसिद्ध उदाहरण है। यह वट-वृक्ष शाखा, स्कन्ध आदि भेदों से स्वयं भी भिन्न है अर्थात् स्वगत भेद वाला है। अन्य वटों से भी यह भिन्न है अर्थात् सजातीय भेद वाला है। और पीपलादि से भिन्न है अर्थात् विजातीय भेद वाला है। इस प्रकार वृक्षरूप उदाहरण में वस्तुपरिच्छेद तीन तरह स्थित है — खुद अपने अवयवादि से, सजातीयों से और विजातीयों से। पूर्व में कहा तीन तरह का परिच्छेद था देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत।।७७-९।।

सभी प्रकार का यह परिच्छेद ब्रह्म में नहीं है यह 'अनन्त'-शब्द से बताया गया है। परिच्छिन्न, उक्त दोनों प्रकार के — देशादिकृत और स्वगतादि — परिच्छेद एवं इनका अभाव, इनसे रहित जो आनंदरूप प्रत्यगात्मा है वह वेदान्तों में ब्रह्म कहा गया है। (अभाव भी अगर भिन्न रूप से रहे तो 'अनंत' शब्द का प्रयोग असंगत हो जायेगा, अतः अभाव का भी इससे निषेध है।)।।८०।।

कोई यह शंका कर सकता था कि वर्णित ब्रह्म जड अर्थात् ज्ञान से भिन्न होगा; उसकी निवृत्ति लक्षण के 'ज्ञान' शब्द से हो गयी है। ज्ञानवान् होना जडता को नहीं दूर करता जैसे मनुष्यवान् होने से भूमि का मनुष्यभिन्न होना समाप्त

ज्ञानं च यद्यभातं स्याज्ज्ञातं वान्येन चेद् भवेत्। घटसूर्यादिवन्नैतदजडं स्यात् कथञ्चन।।
ततः स्वयं सदा भातं ज्ञानमेतदवस्थितम्।।८२

सत्यम्

रज्जुसर्पादिवत्तच्चाऽसत्यं मा भूत् स्वयंप्रभम्। इत्यसत्यत्वमत्रैतद् वार्यते सत्यशब्दतः।।८३
रज्जुसर्पादिकं बाध्यं परिच्छिन्नं जडं यतः। अपरिच्छिन्नमजडं बाध्यते केन हेतुना।।८४
असत्याऽज्ञानभेदानामभावेन पदत्रयम्। सत्यं ज्ञानमनन्तं च ततः स्याद् ब्रह्मलक्षणम्।।८५

गुहानिहितम्

सर्वत्राऽपि स्थितं ब्रह्म बुद्धावेवोपलभ्यते। गुहायां निहितं तेन बुद्धिस्थं वेद ईरितम्।।८६

इति न्यायेन भट्टानामिव ज्ञातताऽनुमेयतां वृत्तिज्ञानवत्परप्रकाश्यतां च ज्ञानपदमेव स्वार्थस्य वारयतीत्याह—ज्ञानं चेति। तज्ज्ञानपदोक्तं वस्तु यद्यभातम् अप्रकाशशीलं स्यात्, प्रकाशशीलत्वेऽपि परप्रकाश्यं स्यात् तदा घटादिवत् सूर्यादितैजसवच्च पुनः जडं स्यात् ततः तं दोषं वारयितुं स्वयंप्रकाशतैव अनेन पदेन बोध्यत इत्यर्थः।।८२।।

तत्र स्वरूपे व्यामोहजां मिथ्यात्वभ्रान्तिं सत्यपदं वारयतीत्याह— रज्जुसर्पादीति। तत् तत्त्वम् असत्यं मा भूद् इति आकारकासम्भावनया प्राप्तम् असत्यत्वं तत्पदेन वार्यत इत्यर्थः।।८३।। ननु भ्रमकालिकाऽबाधितत्वस्य रज्जुसर्पादावपि सत्त्वात् कथमनेन असत्त्वं वार्यत इति चेत्? ज्ञानानन्तपदयोः सामानाधिकरण्यबलाद् इत्याह — रज्जुसर्पादिकमिति। लोके हि बाध्यत्वेन तदेव प्रसिद्धं यत् प्रहारादिगोचरतां जडतां वा भजेत्। एतत् तत्त्वं तु स्वयंप्रकाशत्वाद् अगोचरं पूर्णं को बाधेतेत्यर्थः।।८४।। फलितमाह — असत्याऽज्ञानेति। भेदः परिच्छेदः। अभावो व्यावृत्तिः।।८५।।

एवं प्रथमं पादं व्याख्याय परिशिष्टपादत्रयार्थमाह— सर्वत्रेति। तद् ब्रह्म सर्वत्र पूर्णम् अपि यतो बुद्धावेव पञ्चकोशमयगुहाप्रधानायां साक्षितयोपलभ्यतेऽतस्तस्य गुहानिहितत्वमुक्तम्। तथा चोक्तं योगभाष्ये (४.२२) 'न पातालं न विवरं गिरीणां नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्। गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते।।' इति। बुद्धेर्वृत्तिमविशिष्टां चित्तादात्म्यापन्नाम्।।८६।। य एतदिति। य एतत् तत्त्वमवगच्छेत्

नहीं होता! (मनुष्यवान् होने पर भी भूमि मनुष्यभिन्न ही रहेगी ऐसे ही ज्ञानवान् भी ज्ञानभिन्न ही रहेगा। अतः 'ज्ञान' शब्द का 'ज्ञानवान्' अर्थ करना ग़लत है। इससे न्यायवादियों को संमत आत्मा जड ही रहता है यह स्पष्ट हो गया।)।।८१।।
ज्ञान का भी यदि भान न हो या अन्य किसीसे उसका भान हो तो वह किसी तरह जडभिन्न (चेतन) नहीं हो सकता जैसे घड़ा, सूर्य आदि। इसलिये निश्चित है कि यह ज्ञान हमेशा खुद ही भासमान है। (कुछ मीमांसक ज्ञातता के अनुमान से ज्ञान का प्रकाश मानते हैं तो अन्य तार्किक अनुव्यवसाय से व्यवसाय का प्रकाश! वह सब ज्ञान को घटादि के समान अज्ञान ही सिद्ध करता है अतः वैसा नहीं मानना चाहिए।)।।८२।।

वह स्वप्रकाश तत्त्व रज्जु पर आसेपित सर्प आदि की तरह असत्य न समझ लिया जाये इसलिये लक्षण में 'सत्य' शब्द से ब्रह्म में संभावित असत्यता का वारण किया गया है।।८३।। यद्यपि भ्रमात्मक प्रतीति के समय सर्पादि भी सत्य लगते हैं अतः सिर्फ 'सत्य' कहने से असत्यता का निषेध नहीं हो जाता तथापि जिसे ज्ञान व अनंत कहा उसी को सत्य कहने से उक्त निषेध समझ आ जाता है : रज्जु पर कल्पित सर्प आदि सापेक्ष सत्य — जो कभी सत्य प्रतीत होने पर भी बाध होने के लायक हैं— क्योंकि परिच्छिन्न (कालादि सीमाओं वाले) और जड (ज्ञानभिन्न) ही होते हैं इसलिये जो परिच्छिन्न नहीं और स्वप्रकाश होने से जड नहीं वह ब्रह्म किस कारण बाधित हो सकता है! अतः अनंत व ज्ञान के साथ सत्य कहने पर तात्कालिक सत्य का ग्रहण नहीं हो सकता वरन् उसका निषेध ही होता है एवं आत्यंतिक सत्य का समर्थन हो जाता है।।८४।।

य एतत् सर्वबुद्धीनां साक्षिरूपं सदा पुमान्। अहं ब्रह्मेति जानाति स व्याप्नोति चराचरम्।
ब्रह्मवद् ब्रह्मतादात्म्यं प्राप्य सर्वमवाप्नुयात्।।८७

सृष्टिर्युक्तिः

सत्यादिलक्षणो योऽयमानन्दात्मा समीरितः। निर्भेदो भेदराहित्यात् तत्र युक्तिरियं स्मृता।।८८

कारणान्न पृथक् कार्यं मृदो यद्वद् घटादिकम्। कारणं च तथा ब्रह्म नभआदेस्ततोऽद्वयम्।।८९

स ब्रह्मवत् सर्वं व्याप्नुयाद्, व्याप्य च सर्वम् इष्टजातं युगपत् प्राप्नुयात्, 'सह'-शब्दस्य श्रुतौ यौगपद्यार्थकत्वात्।।८७।।

'तस्माद्' इत्यादेः 'अन्नरसमय' इत्यन्तस्य[1] वाक्यस्यार्थं विंशत्या प्रपञ्चयंस्तत्र सृष्टिप्रदर्शनस्य 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्' इति न्यायेन अद्वयत्वबोधशेषतां दर्शयति— सत्यादीति द्वाभ्याम्। समीरितः सूत्रवाक्ये मन्त्रे चेति शेषः। स भेदाऽसम्भवाद् निर्भेदः अद्वयो भवति। तत्र भेदराहित्ये युक्तिः तु इयं सृष्टिवाक्यप्रदर्शिता स्मृता प्रसिद्धेत्यर्थः।।८८।। 'इयं' का? इत्यत आह —कारणादिति। कारणाद् भिन्नसत्ताकत्वाऽभावः कार्यस्य प्रसिद्धः। ततो ब्रह्मण एव विश्वकारणत्वे प्रतिपादितेऽद्वयत्वं स्फुटं भवतीत्यर्थः।।८९।। एतस्मादिति।

इस प्रकार 'सत्य, ज्ञान, अनंत' ये तीन शब्द असत्य, अज्ञान और परिच्छेद की व्यावृत्ति कर ब्रह्म के लक्षण बन जाते हैं।।८५।। पूर्णरूप से स्थित रहते हुए भी वह ब्रह्म बुद्धि में ही (साक्षिरूप से) उपलब्ध होता है जो बुद्धि गुफारूप पाँच कोशों में प्रधान है। इसलिये बुद्धि में स्थित ब्रह्म को गुहा में निहित, छिपा हुआ बताया है।।८६।। सब बुद्धियों के साक्षी-रूप इसे जो पुरुष 'मैं ब्रह्म हूँ' यों हमेशा जानता है वह चर-अचर को अपने में सिमेट लेता है जैसे ब्रह्म जगत् को सिमेटे हुए, घेरे हुए है। ब्रह्म से अत्यंत अभेद पाकर मुक्त के सारे अभीष्ट इकट्ठे ही सिद्ध हो जाते हैं।।८७।।

सत्यादि लक्षणों वाला जो यह आनंदस्वरूप भली भाँति समझाया गया वह अद्वय है क्योंकि उसकी अपेक्षा भिन्न कुछ होना संभव ही नहीं। इस बारे में यह युक्ति शास्त्रों में बतायी गयी है : जैसे घड़ा आदि मिट्टी से पृथक्—मिट्टी की सत्ता से स्वतन्त्र सत्ता वाला— नहीं होता वैसे कोई भी कार्य अपने कारण से पृथक् नहीं होता। ब्रह्म क्योंकि आकाशादि सारे प्रपंच का कारण है इसलिये उससे पृथक् कुछ न हो सकने से वह अद्वय है। (शास्त्र-शैली से परिचित चिंतक जानते हैं कि शास्त्र में जो वक्तव्य निष्फल प्रतीत होते हैं उनका प्रयोजन उन्हीं वक्तव्यों के आस-पास आये सफल वक्तव्यों से जुड़कर निर्धारित करना चाहिये क्योंकि सर्वथा निष्फल वक्तव्य शास्त्र में हुआ नहीं करता। उपनिषत् ने आत्मा से प्रपंच-सृष्टि कही पर इस जानकारी का कोई फल न बताया और न दृष्ट है। सृष्टि बताने के प्रसंगों के आस-पास नियमतः अद्वैत परमेश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन मिलता है। ईश में 'अपो दधाति'(४) के पास ही ' भूतानि आत्मनि, सर्वभूतेषु चात्मानम्, भूतान्यात्मैवाभूत्' (६, ७) कहा है। कठ में 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (२.२.९) के आस-पास 'एको वशी' (१२) 'तद्ब्रह्म तदेवामृतम्' (८) आदि बताया है। मुंडक में 'तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम्' (१.१.७) के पास ही 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' (६) 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (९) तथा 'अक्षराद् विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवाऽपि यन्ति' (२:१.१) के पास 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः' (२) आदि कहा है। प्रश्न में 'स प्राणमसृजत' (६.४) के पास ही 'अस्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते' (५) कहा है। माण्डूक्य में 'सर्वस्य प्रभवाप्ययौ' (६) के आस-पास 'सर्वं ह्येतद्ब्रह्म' (२) 'प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्' (७) कहा है। ऐतरेय में 'स इमाँल्लोकानसृजत' (१.१.२) के आस-पास 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत' (१) 'ब्रह्म ततमम्' (१.३.१३) कहा है। छान्दोग्य में 'तत्तेजोऽसृजत' (६.२.३) के आस-पास 'सदेव' (६.२.१) 'सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (६.८.४) 'ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्' (६.८.७) बताया है। बृहदारण्यक में 'नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' (१.४.७) के आस-पास 'नान्यदात्मनोऽपश्यत्'(१.४.१) 'तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा'(१.४.७); 'महतो भूतस्य निश्वसितम्' (२.४.१०) के आस-पास 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (१.४.५) 'यत्र वा

---

१. 'तस्माद्वा एतस्माद् आत्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः । वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।'

एतस्मादात्मनो जातं गगनं शब्दसंयुतम्। स्पर्शवांश्च ततो वायुः संजातो गगनात्मकात्।।९०
वायुरूपादिदं तेजो रूपवद्धि व्यजायत। तेजोरूपादिदं नीरं रसवत् समभूत् पुरा।।
जाता नीराद्रसवतो भूमिर्गन्धवती त्वियम्।।९१

एतस्माद् वर्णिताद् आत्मनः शब्दगुणक आकाश उत्पन्नः। गगनात्मकाद् गगनभावापन्नाच्च[1] अस्माद् वायुः स्पर्शगुणक उत्पन्नः। एवमग्रेऽपीति।।९०।। वायुरूपादिति। रूपवद् रूपगुणकम्।।९१।। उत्पन्ने कार्ये तत्र अस्य सर्वमात्मैवाभूत्' (२.४.१४) कहा है। सूत्रकार भी ब्रह्म के सन्दर्भ में ही जगज्जन्मादिहेतुता बताते हैं। गीता में 'यतः प्रवृत्तिः प्रसृता' (१५.४) के आस-पास 'आद्यं पुरुषम्' 'तद्धाम परमम्' (६) कहा है। इसी लिये आचार्य गौडपाद ने स्पष्ट किया (३.१५) है कि नाना प्रकार से बताया सृष्टिप्रसंग अद्वयबोध के लिये ही है। भगवत्पूज्यपाद का निर्णय है 'ब्रह्मप्रकरणे सर्वधर्मविशेषरहितब्रह्मदर्शनादेव फलसिद्धौ सत्यां यत् तत्र अफलं श्रूयते ब्रह्मणो जगदाकारपरिणामित्वादि तद् ब्रह्मदर्शनोपायत्वेनैव विनियुज्यते, फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम् इतिवत्, न तु स्वतन्त्रं फलाय कल्पते' (ब्र.सू.२.१. सू. १४)। इसी आधार पर तैत्तिरीय के सृष्टिप्रसंग को अद्वयपरक समझाया जा रहा है।)।।८८-९।।

सत्य, ज्ञान, अनन्त, बुद्धिरूप गुफा के परम आकाश में निहित इस ब्रह्मरूप आत्मा से शब्दरूप गुण से युक्त आकाश उत्पन्न हुआ। (आघात, कंपन आदि गति के बिना शब्द न उत्पन्न होता है व न श्रोता को सुनाई देता है और गति बिना आकाश के संभव नहीं अतः शब्द को आकाशगुण मानना ही उचित है और अनुभव भी शब्द का 'यहाँ शब्द है' आदि आकाश में ही होता है।) गगनरूप से विवर्तित परमात्मा से स्पर्शगुण वाला वायु उत्पन्न हुआ। (सारी सृष्टि ब्रह्म से है अतः 'आकाश से वायु', 'वायु से तेज' आदि कहने का यही मतलब है कि आकाश बने ब्रह्म से, वायु बने ब्रह्म से इत्यादि जैसे 'बाटी से चूरमा, चूरमे से लड्डू बना' कहने पर भी बाटी-चूरमा-लड्डू का कारण तो आटा ही रहता है।)।।९०।।वायुरूप वाले ब्रह्म से रूपगुण वाला यह तेज (अग्नि) व्यक्त हुआ। तेजरूप वाले आत्मा से रसगुणवाला यह जल पैदा हुआ। रस वाले जल से गंधगुण वाली यह पृथ्वी उत्पन्न हुई। महासृष्टि के समय इसी क्रम से पाँचों भूत ब्रह्म से उत्पन्न हुए। (अवांतर प्रलय में महाभूत नष्ट नहीं होते अतः अवांतर सृष्टि में वे उत्पन्न भी होते नहीं। वेद-पुराण आदि में अनेक जगह अवांतर लय व सृष्टि का वर्णन है। महाप्रलय व महासृष्टि सिर्फ ईश्वर करते हैं। अवांतर लय-सृष्टि भी करते वे ही हैं लेकिन सिर्फ ईश्वररूप से—अर्थात् केवल मायोपाधि से—नहीं वरन् तत्तद् दिव्य उपाधियाँ धरकर करते हैं। अतः कहीं कृष्ण से, विष्णु से, ब्रह्मा से, देवी से लय-सृष्टि सुनकर भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये : यदि वहाँ अवांतर लय-सृष्टि कही है अर्थात् महाभूतों का जन्म नहीं वरन् भौतिकों का जन्म ही कहा है तब उन उपाधियों वालों की लीला ही वर्णित है और अगर महासृष्टि कही है तब उन उपाधियों से उपलक्षित ईश्वर का ही कृत्य बताया गया है। नामरूप से विशेषित मूर्ति तो ईश्वर है नहीं कि कृष्ण या दुर्गा कह देने से कोई अंतर आये। जो वैष्णव, शाक्त आदि नाम-रूप से सीमित चेतन को ही चरम तत्त्व मानते हैं उनके लिये अवश्य शास्त्र के विविध प्रसंगों का समन्वय बैठाना असंभव है। सकल दृश्यों का रचयिता एवं दृश्याकार ग्रहण करने वाला ईश्वर है। ईसाई आदि नाम भले ही लें पर उन्हें ऐसा ईश्वर अस्वीकार है : न तो वे उसे जगत् का उपादान मानते हैं जिससे निश्चित है कि जगत् का उपादान ईश्वर ने नहीं बनाया क्योंकि बनाया हो तो 'किस उपादान से बनाया ?' यह प्रश्न यथावत् रह जायेगा। और वे ईश्वर को भौतिकादि गुणों से युक्त वर्णित करते हैं जिससे पता चलता है कि उन गुणों का—और गुणवान् भूतों का—वह रचयिता नहीं है। ऐसे ही वे महाप्रलय का कोई प्रसंग नहीं मानते। अतः महासृष्टिकर्ता, महाप्रलयकर्ता, पूर्वकृत

१. 'तेजोऽतस्तथा ह्याह' (२.३.४.१०) इत्यत्र न्यायो निरधारि। वायोर्जन्यता च 'एतेन मातरिश्वा व्याख्यात' इति तत्रैव (सूत्र ८) सूत्रिता। अत्र पादे नवभिरधिकरणैराकाशादिसृष्टिरेव विचारिता।

सर्वेष्वपि च कार्येषु वर्तते कारणं सदा। तेन ब्रह्माऽत्र गगने गगनं पवनेऽपि च।।६२
पवनोऽपि तथा वह्नौ वह्निर्नीरेष्वपि स्थितः। पृथिव्यामपि नीराणि तादात्म्येनाऽत्र संस्थितिः।।६३
एकद्वित्रिचतुःपञ्चगुणा उक्ताश्च खादयः। कारणानां गुणैः सार्द्धं पञ्च भूतानि ते स्मृताः।।६४
शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः। पृथिव्यां खादितादात्म्याद् गुणा एते तदास्थिताः।।६५
ज्ञानं नाम गुणो नाऽयमानन्दात्मस्वरूपिणः। यतस्ततो न खादौ स दृश्यते कर्हिचित् क्वचित्।।६६
आत्मनः सत्यरूपेण यद्यात्मा कारणं भवेत्। आनन्दादिकमप्यत्र दृश्येत च तथा सति।।६७

तादात्म्यसम्बन्धेन उपसर्जनतयाऽवस्थितिरूपं कारणस्याऽनुगममाह— सर्वेष्वपीति। **यतः सर्वत्र कार्ये कारणानुगमः प्रसिद्धस्तेन सद्रूपं गगने स्थितं, गगनादिकं चोत्तरत्रेति। अपरं तु अत्र कार्ये या कारणस्थितिः सा तादात्म्य-संबंधेन 'भेदसहिष्णुरभेद' इति लक्षितेन बोध्या। अत्र भेदस्तु कल्पितः। इति द्वयोरर्थः।।६२-३।।** एकेति। ते च खादयः पृथिव्यन्ताः पदार्थाः पञ्चभूतसंज्ञकाः एकादिगुणकाश्चोक्ताः, उत्तरेषां कारणगुणशालित्वाद् इत्यर्थः।।६४।। **गुणानाह—** शब्देति। एते **सर्वेऽपीति** शेषः। तत् तस्माद् आकाशादितादात्म्यरूपाद् हेतोः आ समन्तात् पृथिव्यां स्थिताः।।६५।। यदि ज्ञानमात्मनो गुणोऽभविष्यत् तदा भूतेषु दृष्टमभविष्यत्। परन्तु तत्स्वरूपमेवात्मनो, न गुणः, अतो न दृश्यत इत्याह —ज्ञानमिति। यतो ज्ञानं गुणो न भवति ततः खादौ न दृश्यते — इति योजना। इदमानन्दस्याऽप्युपलक्षणम्।।६६।। किं च परिणामिनः कारणस्य गुणाः कार्ये दृश्यन्ते — इति नियमः। **आत्मनस्तु विवर्तोपादानत्वाद् न तत्प्रसक्तिरित्याह—** आत्मन इति। आत्मनो यत् सत्यं रूपम् आनन्दादि,

जीवकर्मों का फलदाता — ऐसा ईश्वर उन्हें स्वीकार नहीं। वैष्णवादि भी शरीरी, लोकस्थ आदि का परम तत्त्व रूप से वर्णन कर स्पष्ट कर देते हैं कि वे भी औपनिषदों को स्वीकृत ईश्वर की चर्चा नहीं करते। अतः ऐसे अनीश्वरवादियों से ईश्वरविचार निरर्थक है और उनकी बात सुननी पड़े तो स्मरण रखना चाहिये कि वे ईश्वर से अन्य किसी देवी-देवता आदि की बात कर रहे हैं जिससे उपनिषदों में कहे ईश्वर के बारे में शंका का स्थान न आ सके।)।।६१।।

सभी कार्यों में कारण हमेशा बना रहता है। कार्याकार प्रमुख लगता है और उस आकार को ग्रहण किये उपस्थित कारण गौण लगता है पर कारण अपने सभी कार्यों में विद्यमान अवश्य रहता है। क्योंकि किसी-न-किसी कार्याकार से सर्वथा स्वतन्त्र कारण की उपलब्धि होती नहीं इसलिये कार्य-कारण का तादात्म्य सम्बन्ध है। इस प्रकार समझ आता है कि सद्ब्रह्म आकाश में है, आकाश वायु में है, वायु वह्नि में, वह्नि जल में और जल पृथ्वी में है। कार्य में कारण का रहना तादात्म्य-सम्बंध से है। 'कल्पित भेद को सहने वाला अभेद' — यह तादात्म्य का लक्षण वेदान्त सिद्धात में मान्य है।।६२-३।। क्योंकि कारण कार्य में अनुगत होता है इसलिये कारणगुण भी कार्यों में उपलब्ध होते हैं, अतः आकाशादि पाँच महाभूत एक-दो-तीन-चार-पाँच गुणों वाले बताये जाते हैं जिनमें उत्तरोत्तर भूत पूर्वपूर्व भूत के गुणों से युक्त रहता है।।६४।।

महाभूतों में कारणविलक्षण गुण हैं आकाश में शब्द, वायु में स्पर्श, तेज में रूप, जल में रस (स्वाद) और पृथ्वी में गंध। किंतु कारणगुण के अनुप्रवेश से वायु में शब्द-स्पर्श दो गुण हैं, तेज में शब्द-स्पर्श-रूप तीन गुण हैं, जल में शब्द-स्पर्श-रूप-रस चार गुण हैं और पृथ्वी में क्योंकि आकाशादि चारों पूर्व भूतों का तादात्म्य है इसलिये उसमें शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध पाँचों गुण पूरी तरह उपस्थित हैं।।६५।।

आनंदात्मक स्वरूप वाले जगत्कारण ब्रह्म का ज्ञान नामक कोई गुण नहीं इसीलिये आकाशादि में कहीं कभी ज्ञान नहीं उपलब्ध होता। ऐसे ही आनंद आदि भी ब्रह्म के गुण नहीं अतः संसार में नहीं मिलते। सत्-चित्-आनंद तो ब्रह्म का स्वरूप है, गुण नहीं।।६६।। आत्मा के दो रूप हैं—सत्य और मिथ्या। आनंदादि उसके सत्य रूप हैं। यदि

खादिके च जडे यस्मादानन्दादिर्न लभ्यते। परिणामं विना तस्मादात्मा स्यादस्य कारणम्।।९८
परिणामं विना यस्माज्जगतः कारणं पुमान्। माययैव च तेनाऽयं कारणं न च वस्तुतः।।९९
माययैव यथा रज्जुः सर्पादेः कारणं भवेत्। परिणामं विना तद्वत् पुमानप्यस्य कारणम्।।१००
आत्मनो व्यतिरिक्तानि खादीनि परिणामतः। कारणानि यतस्तेषां गुणाः कार्येषु सन्त्यमी।।१०१
अथवा कारणं सर्वपरिणामविवर्जितम्। ब्रह्म सर्वत्र विज्ञेयं कार्यं स्यादितरत् पुनः।।१०२
ततो ब्रह्म जगत्कर्तृ पूर्वकार्यसमन्वितम्। यदोत्तरं करोत्येतत् कार्यं तत्तर्हि तद् द्वयम्।।१०३
मिलित्वा संविभात्यत्र कार्ये कारणवत् सदा। ततः पूर्वगुणावेश उत्तरस्मिन् प्रजायते।।१०४

तेन यद्यात्मा कारणं भवेत्, तथा सति आनन्दादिकम् अत्र खादिषु दृश्येत एव। तदभावाद् आत्मनो विवर्तोपादानतैव ज्ञायते। इति द्वयोरर्थः।।९७-८।। विवर्तोपादानता तु मायाशबलाख्येन कल्पितेनैव रूपेण भवतीत्याह — परिणामं विनेति।।९९।। तत्र दृष्टान्तमाह — माययैवेति।।१००।। आकाशादीनां तु परिणामित्वात् तद्गुणानुगम उत्तरत्र युक्त इत्याह— आत्मन इति।।१०१।।

वस्तुतस्तु 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीर' इत्यादिश्रुतेः(महावाक्य.३) ब्रह्मण एव सर्वत्र कारणत्वम्, भूतानां कारणत्वव्यवहारस्तु मायावत् कारणावच्छेदकतया— इत्याह— अथ वेति त्रिभिः। अथ वा सर्वपरिणामैर्वर्जितं ब्रह्म एव सर्वत्र कारणम्, इतरद् आकाशादिकं तु कार्यम् इत्येव वाच्यं, न कारणत्वयोग्यम् अक्षमत्वाद् इत्यर्थः।।१०२।। कथं तर्हि खादिषु कारणत्वधीर्लोकस्य? इत्यत आह— तत इति। ततो ब्रह्मातिरिक्तस्य कारणत्वाऽनर्हत्वात् जगत्कर्तृ यदा पूर्वेण कार्येणाकाशादिना समन्वितमवच्छिन्नं सद् उत्तरं वाय्वादिकं कार्यं तत् प्रसिद्धं करोति, तर्हि तद् द्वयं ब्रह्म आकाशं चेत्युभयम् अत्र वायुरूपे कार्ये कारणवत् संविभाति, ततो ब्रह्मवद् आकाशस्यापि कारणाभिमानाद् वायौ शब्दं दृष्ट्वा 'कारणगुणोऽयमागत' इत्याकारक आवेशो भ्रम इति यावत्, स लोकस्य जायते। इति द्वयोरर्थः।।१०३-४।।

अपने सत्य रूप से आत्मा जगत्कारण होता तो संसार में आनंदादि भी उपलब्ध होते। किंतु आकाशादि जड प्रपंच में क्योंकि आनंदादि प्राप्त होते नहीं इसलिये स्पष्ट है कि आत्मा इस प्रपंच का कारण बिना परिणाम के ही हुआ है अर्थात् सत्यरूप से नहीं वरन् अपने मिथ्यारूप से वह कारण है। अज्ञात रूप ही उसका मिथ्या रूप है और उसी रूप से वह कारण बना है। अज्ञातरूप से कारण बनने को ही विवर्तोपादान होना कहते हैं जैसे रस्सी अज्ञात रूप से सर्प का कारण है अतः उसे सर्प का विवर्तोपादान कहते हैं।।९७-८।। क्योंकि परिणत, विकृत, हुए बिना— बदले बिना— ही पूर्ण चेतन जगत्का कारण है इसलिये वह माया से ही कारण है, वास्तव में नहीं। बदले बिना, माया से, अज्ञान से ही जैसे रस्सी सर्पादि का कारण बनती है वैसे पुरुष इस जगत्का कारण है।।९९-१००।। आत्मा से अन्य आकाशादि परिणत होने वाले, बदलने वाले कारण हैं क्योंकि उनके ये शब्दादि गुण वाय्वादि कार्यों में अनुगत हो जाते हैं।।१०१।।

वस्तुतः किसी भी बदलाव से रहित ब्रह्म को ही सब कार्यों के प्रति कारण समझना चाहिये, उससे अन्य आकाशादि तो कार्य ही हैं, वे कारण होने के काबिल नहीं। इसलिये जगत्कर्ता ब्रह्म जब पूर्वकृत आकाशादि कार्य से अवच्छिन्न होकर अगले वायु आदि प्रसिद्ध कार्य को उत्पन्न करता है तब वे दोनों अर्थात् ब्रह्म और आकाशादि मिलकर उस वायु आदि कार्य में कारण प्रतीत होते हैं। इससे आकाश भी कारण मान लिया जाता है जैसे ब्रह्म, और वायु में शब्द सुनकर लोगों को भ्रम हो जाता है कि यह कारण का गुण कार्य में आया हुआ है। (अभिप्राय है कि सारी सृष्टि का एक ही रचयिता है। घड़ा भी ईश्वर ही बनाता है कुम्हार का शरीर धारण कर और मिट्टी बना हुआ ईश्वर ही घड़ा बनता भी है। यह औपनिषद ब्रह्मलक्षण है कि वह सबका इकलौता कारण है। इस दृष्टि से उपासना और धर्म भी सहज हो जाते हैं।)।।१०२-४।।

एवं भूतेषु चरमं कार्यं पञ्चगुणा मही। जाता ब्रह्माण्डजननी स्थिरजङ्गमधारिणी।।१०५

अस्याः पृथिव्याः सञ्जाता ग्राम्यारण्याः सहस्रशः। ओषध्यो यवमाषाद्या अद्या या जङ्गमैः सदा।।१०६

ताभ्यो ह्यन्नस्वरूपाभ्यः स्थिताभ्यो रेतआत्मना। पञ्चम्यामाहुतौ गर्भः पुरुषोऽयं प्रजायते।। शिरःपाण्यादिमानुक्तः सुकृतं दैवतैरपि।।१०७

बीजतो योनितस्तद्वद् नित्यमन्नस्य भक्षणात्। पुरुषोऽन्नरसानां स्यात् कार्यं स्थूलवपुः सदा।।१०८

कोशप्रक्रिया

आत्मनोऽस्य त्रिधा देहः कथ्यते वेदवादिभिः। स्थूलः सूक्ष्मस्तथाऽज्ञानमत्र तेष्वपि पञ्चधा।। असेरिवाऽतिदुर्भेदान् कोशांस्तित्तिरयो द्विजाः।।१०९

प्रकृतसृष्टिक्रमं गृह्णाति—एवमिति। स्पष्टम्।।१०५।। अस्या इति। ग्राम्या ओषध्यो यवाद्याः, आरण्याः श्यामाकादयः अद्या भक्ष्याः।।१०६।। ताभ्य इति। ताभ्य ओषधिभ्योऽन्नरूपं गताभ्यः ततो रेतोभावं गताभ्यः च पञ्चम्यां स्वर्गाभ्रभूपुरुषयोषात्मकाग्निषु मध्ये पञ्चमाग्निगोचरायाम् आहुतौ गर्भरूपेण शिरःपाण्यादिमान् पुरुषो जायत इत्यर्थः। ननु पश्वादीनामपि अन्नजत्वे समाने पुरुषस्यैव निर्देशः कुतः? इति शङ्कां परिहरंस्तस्य प्राधान्यम् ऐतरेयव्याख्याने प्रथमाध्याय उक्तं स्मारयति—उक्त इति। गवाश्वादिदेहसृष्टौ अपरितुष्टैर्देवैः मनुष्यदेहः सर्वाधिकारसम्पन्नतया सुकृतम् इति पदप्रयोगेण प्रशस्त इत्युक्त इत्यर्थः।।१०७।। बीजत इति। सोऽयं पुरुषो न केवलं पितृमात्रंशद्वाराऽन्नविकारः किन्तु नित्यभक्षणेन उपचयाद् अपि अन्नरसमय इत्यर्थः।।१०८।।

एवं स्थूलदर्शिनं प्रति सर्वान्तरात्मतत्त्वं बोधयितुं प्रवृत्तां पञ्चकोशप्रक्रियामवतारयति — आत्मन इति। अस्यात्मनः स्थूलसूक्ष्मकारणाख्यं शरीरत्रयं प्रसिद्धं, तेषु त्रिषु शरीरेषु पञ्चधा कोशान् खड्गप्रावरणवद् असङ्गशस्त्रहीनैः दुर्भेदान् तित्तिरिशाखाध्यायिनः कल्पयन्तीत्यर्थः।।१०९।। त्रिषु शरीरेषु पञ्चकोशभावमभिनयति—

इस प्रकार पृथ्वी उत्पन्न हुई जो पाँच गुणों से युक्त है, महाभूतों में अंतिम कार्य है, ब्रह्माण्ड की उत्पादिका है एवं चराचर को धारण किये है।।१०५।। इस पृथ्वी से हज़ारों की तादाद में ग्रामीण ओषधियाँ जैसे जौ, उड़द आदि और जंगली ओषधियाँ जैसे मलीचा आदि पैदा हुए जो हमेशा जंगम प्राणियों द्वारा खाये जाते हैं।।१०६।। अन्नस्वरूप वाली वे ओषधियाँ पुरुष में रेतस् रूप से स्थित हो जाती हैं और उस रूप में स्थित उन्हीं से पाँचवी आहुति में गर्भ बना हुआ यह सिर-हाथ आदि वाला पुरुषदेह पैदा हो जाता है जिसे देवताओं ने भी 'अच्छा बनाया!' कहा था। ('पाँचवी आहुति' अर्थात् स्त्री; यह पंचाग्निविद्या में बता चुके हैं। यद्यपि अन्न से ही पशु आदि भी पैदा होते हैं तथापि धर्म व ज्ञान में समर्थ होने से मनुष्य की विशेषता है अतः उपनिषत् ने 'पुरुष' शब्द का प्रयोग किया। देवताओं ने इसे अच्छा कहा यह भी प्रथमाध्याय श्लोक १०४-७ में बता चुके हैं।)।।१०७।। स्थूलशरीररूप पुरुष बीज अर्थात् शुक्र की दृष्टि से, योनि अर्थात् शोणित की दृष्टि से तथा जीवित दशा में हमेशा खाने की दृष्टि से अन्नरस का कार्य है। (अन्न ही शुक्र-शोणित बनकर शरीराकार में विकसित होता है और अन्न से ही शरीर की स्थिति होती है।)।।१०८।।

वेदवादी लोग इस आत्मा के तीन तरह के शरीर कहते हैं— स्थूल, सूक्ष्म और कारण या अज्ञान। तैत्तिरीय शाखा के अध्येता द्विज उन तीनों शरीरों में पाँच तरह के कोशों की कल्पना करते हैं जो कोश आसक्त लोगों द्वारा वैसे ही काटे नहीं जा सकते जैसे तलवार का कोश (म्यान)। (यद्यपि शरीरत्रयप्रक्रिया व पंचकोशप्रक्रिया विभिन्न हैं तथापि पाँच कोश तीन शरीरों से पृथक् नहीं हैं अतः शरीरों में कोशों का अंतर्भाव है। अन्नमय व आनंदमय तो स्थूल व कारण शरीर हैं तथा बाकी तीन सूक्ष्म शरीर हैं।)।।१०९।।

स्थूलं शरीरमेकः स्यात् कोशस्तेषु त्रयोऽपरे। कोशाः सूक्ष्मं शरीरं स्यादज्ञानं पञ्चमोऽपि च।।११०
पक्षित्वमत्र कोशेषु पञ्चस्वपि महाधियः। कल्पयित्वाऽत्र पक्षादीन् कल्पयन्त्यपि ते द्विजाः।।
एवं हि बुद्धिसौकार्यकामा[1] शिष्यहितैषिणः।।१११
अस्य स्थूलस्य देहस्य शिर एव शिरः स्मृतम्। वामदक्षिणपक्षौ च हस्तौ तौ वामदक्षिणौ।।११२
उदरं चोदरं तस्य पक्षिणश्चात्मशब्दितम्। पादौ दीर्घाविमौ पुच्छसदृशौ पुच्छमीरितौ।।
तावेव च प्रतिष्ठाख्यावत्राऽयं प्रतितिष्ठति।।११३
प्रतिष्ठा पक्षिदेहानां समाप्तिर्नाऽपराऽस्ति हि। पक्षिणः प्रतितिष्ठन्ति न पुच्छे कर्हिचिद् यतः।।११४
यद्यप्यत्र तथाऽप्यत्र प्रतितिष्ठन्ति केचन। वानराद्याश्च पुच्छेषु प्रतिष्ठा तेन तद् भवेत्।।११५

स्थूलमिति। स्थूलशरीरं प्रथमोऽन्नमयाख्यः कोशः। सूक्ष्मं तु प्राणमयमनोमयविज्ञानमयाख्यकोशत्रयात्मकम्। पञ्चम आनन्दमयः कारणशरीरात्मक इत्यर्थः।।११०।।

तेषु शिष्यबुद्धिसौकर्याय पक्षितां कल्पयित्वा पक्षिणोऽवयवान् पक्षादीन् कल्पयन्तीत्याह—पक्षित्वमिति।।१११।। तत्रान्नमयनिरूपणपरस्य 'तस्य' इत्यादेः 'अन्नं तदुच्यत'[2] इत्यन्तस्याऽर्थमाह—अस्येति द्वादशभिः। अस्य अन्नमयस्य स्थूलदेहात्मकस्य पक्षिणः प्रसिद्धं शिर एव शिरो बोध्यं, वामभुजो वामः पक्षः दक्षिणो भुजो दक्षिणः पक्षः, उदरात्मको मध्यभाग एव पक्षिमध्यभागः, कीदृशः? श्रुतावात्मपदेनोक्तः। तथा च श्रुत्यन्तरम् 'मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मे'ति। पादद्वयं पुच्छवद् दीर्घत्वात् पुच्छत्वेन बोध्यम्; स्थित्याधारत्वात् प्रतिष्ठात्वेनाऽपि बोध्यम्। इति द्वयोरर्थः।।११२-३।। नन्वत्र प्रतिष्ठापदस्य स्थित्याधारतारूपोऽर्थः 'प्रतिष्ठा गौरवे स्थितौ' इति हैमकोशानुगुणोऽपि न युक्तः, प्रसिद्धपक्षिपुच्छस्य तदाधारताया अप्रसिद्धत्वात्, किन्तु 'प्रतिः पदसमाप्तिप्रतिधाने' त्याद्युपसर्गसूत्रानुसारात् पदपदोक्तदेहसमाप्तिरर्थो वाच्यः—इत्याशङ्क्य; वानरादिशरीराधारताया दृष्टत्वाद् विवक्षिताया ब्रह्मणः सर्वाधारताया अनुकूलत्वाच्च स्थित्यर्थ एव ग्राह्य इत्याह—प्रतिष्ठेति। यद्यपि प्रतिष्ठापदार्थतया पक्षिदेहसमाप्तिरेव वाच्या यतः पक्षिणः पुच्छे स्थितिं कुर्वन्तो न दृश्यन्ते, तथाऽपि वानरभल्लुकादीनां तथात्वदृष्टेः तेन स्थित्याधारत्वेन तत् पुच्छं प्रतिष्ठापदवाच्यं भवेद्। इति द्वयोरर्थः।।११४-५।।

स्थूल शरीर एक कोश है जिसे अन्नमय कहते हैं। कोशों में अन्य तीन कोश अर्थात् प्राणमय, मनोमय व विज्ञानमय कोश सूक्ष्मशरीर हैं। पाँचवा आनंदमय कोश अज्ञान अर्थात् कारणशरीर है।।११०।। वे शिष्यहितेच्छुक द्विज चाहते हैं कि आत्मा को समझने में सरलता हो इसलिये इन पाँचों कोशों में वे महाबुद्धिमान् आचार्य पक्षी के रूपक के अनुसार पक्ष आदि की (पंख आदि की) कल्पना इस प्रकार करते हैं :।।१११।। इस स्थूल देह का सिर ही अन्नमय कोश रूप पक्षी का सिर है, देह का बायाँ हाथ बायाँ पक्ष (पंख) और दायाँ हाथ दायाँ पक्ष है। शरीर का उदर (धड़) उस कोषात्मक पक्षी का उदर (धड़) है जिसे 'आत्मा' शब्द से कहा है। शरीर के ये लंबे पैर पूँछ की तरह होने से उस पक्षी की पूँछ कहे गये हैं। उन्हीं पैरों को प्रतिष्ठा भी कहा है क्योंकि उन्हीं पर यह प्रतिष्ठित रहता है।।११२-३।। यद्यपि 'प्रतिष्ठा' -शब्द से पक्षिदेहों की समाप्ति कहना उचित है, आधार कहना ठीक नहीं, क्योंकि पक्षी अपनी पूँछ पर कभी नहीं बैठते तथापि वानर आदि कुछ प्राणी पूँछों पर प्रतिष्ठित होते भी हैं इसलिये पूँछ को प्रतिष्ठा कहना संगत ही है। (प्रतिष्ठा

१. सौकर्यका° इत्यस्तु पाठः।
२. 'तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति। (इति प्रथमोऽनुवाकः)। अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीं श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्नं ब्रह्मोपासते। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात् सर्वौष-धमुच्यते। अन्नाद् भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यत इति।'

अन्नकार्ये शरीरेऽस्मिन् स्थूले श्लोकं वदन्त्यमुम्। अन्नादेव प्रजाः सर्वा जायन्ते पृथिवीस्थिताः।।
अन्नेनैव च जीवन्ति लयमन्ने व्रजन्ति च।।११६
स्थावराणां नीररूपादन्नादुत्पत्तिरीरिता। जीवनं च तथा नाशस्तेनैवाऽस्मिंश्च जायते।।११७
न केवलेन नीरेण तेषामपि हि जीवनम्। वर्तनं वा विनाशो वा किन्तु भूमियुतेन च।।११८
ओषध्यात्मकमन्नं तु जङ्गमानां हि कारणम्। उत्पत्तौ जीवने नाशे प्रसिद्धं सर्वदेहिनाम्।।११६
स्थावरा जङ्गमा देहाः सर्वे जीवविवर्जिताः। जीवस्य कस्यचित् केचिद् भवन्त्यन्नमसंशयम्।।१२०
पृथिव्याश्च तथाऽभिन्नाः सर्वे सर्वशरीरिणाम्। अन्नं ततो भवन्त्येते विनष्टाः सर्व एव हि।।१२१

अन्नकार्य इति। अस्मिन् ब्राह्मणे प्रतिपादिते स्थूलशरीरात्मके कोशेऽमुं श्लोकं मन्त्रं, जातावेकवचनं, वदन्ति पठन्ति। 'अमुं' कमु? इत्याकांक्षायां पठति— अन्नादेवेति। अन्नादेव रसबीजादिभावापन्नात् सर्वप्रजानामुत्पत्तिः स्थितिश्च प्रसिद्धा लयश्च पृथिव्यात्मके तत्रेत्यर्थः।।११६।। सर्वपदार्थं स्फुटयितुं स्थावराणां तावद् भूमिरससम्पृक्तनीररूपान्नाद् उत्पत्त्यादिकमाह— स्थावराणामिति द्वाभ्याम्। तेन उक्तान्नेनैव जीवनम्, अस्मिन्नन्न एव नाशश्च जायमानः प्रसिद्धः। तेषां स्थावराणाम्। इति द्वयोरर्थः।।११७-८।। जङ्गमानां तु उत्पत्त्यादिकमन्नहेतुकं प्रसिद्धमित्याह — ओषध्यात्मकम् इति।। स्पष्टम्।।११६।।

'अथैनदपियन्त्यन्ततः' इति पादस्य— अन्ने लीयन्ते— इत्यर्थो दर्शितः। अन्नरूपाः सत्यः प्रजा नश्यन्ति इत्याकारकमर्थान्तरं दर्शयति—स्थावरा इति द्वाभ्याम्। स्थावरादिदेहानां शाकादिभावेन यं कञ्चित् प्राणिनं प्रत्यन्नभावः प्रसिद्ध इत्यर्थः।।१२०।। किञ्च पृथिवी सर्वभूतानामन्नं भोगसाधनत्वात् तल्लीनानां सर्वेषामन्नत्वं विनाशदशायां सिद्धमित्याह— पृथिव्या इति। अभिन्ना इतिच्छेदः। पृथिव्याः सकाशाद् भेदहीनाः सन्त इति तदर्थः।

का मतलब आधार होता ज़रूर है पर चिड़िया का आधार उसके पैर ही दीखते हैं न कि पूँछ इसलिये शंका होती है कि पूँछ को प्रतिष्ठा कैसे कहा? समाधान है कि पूँछ को प्रतिष्ठा कहते समय पक्षी की जगह बंदर आदि जानवर दृष्टि में हैं और वे अपनी पूँछ पर बैठते दीखते भी हैं। ब्रह्म को सबका आधार बताना इस प्रसंग का प्रधान विषय है जैसा आनंदमयाधिकरण में निर्धारित है और उसके लिये प्रतिष्ठा का अर्थ आधार लिया जाये यह ज्यादा संगत है। तात्पर्य के अनुसार रूपक होता है न कि रूपक के अनुरोध से तात्पर्य बदला जाता है!)।।११४-५।।

अन्नकार्यभूत इस स्थूल शरीर के बारे में द्विजों ने ये श्लोक कहे हैं : पृथ्वी-स्थित सारी प्रजा अन्न से ही पैदा होती हैं, अन्न से ही जीवित रहती हैं और अन्न में ही विलीन हो जाती हैं।।११६।। स्थावरों की उत्पत्ति जलरूप अन्न से बतायी गयी है अर्थात् पानी से एकमेक हुए अन्न से पेड़-पौधे पैदा होते हैं। अन्नयुक्त जल से ही उनका जीवन चलता है और उसी जलरूप अन्न सें उनका नाश भी होता है। स्थावरों का जीना, रहना और नाश केवल जल से नहीं किंतु भूमियुक्त जल से होता है। (भूमि अर्थात् वे सभी पार्थिव पदार्थ जो लवण, खनिज आदि रूपों में पौधों के लिये अनिवार्य हैं।)।।११७-८।। सभी देहधारियों में यह बात प्रसिद्ध है कि जंगमों के, पशु-पक्षी-सरीसृप-मत्स्य आदि के उत्पत्ति जीवन और नाश में ओषधिरूप (पेड़-पौधे रूप) अन्न कारण है। (मांसभक्षी भी जिसे खाते हैं वह जानवर ओषधिभक्षी ही होता है, केवल मांसभक्षियों को खाकर कोई मांसभक्षी भी जीवित नहीं रहता।।)।।११६।।

(अंततः अन्न में विलीन होते हैं इतना ही नहीं, अन्यों के अन्न बनकर नष्ट भी हो जाते हैं—) स्थावर-जंगम सभी देह अवश्य ही अन्न बन जाते हैं। जीव तो नित्य है अतः अन्न बन नहीं सकता लेकिन किसी के लिये कोई, अन्य के लिये अन्य, इस प्रकार सभी शरीर अन्न तो बन ही जाते हैं।।१२०।। किं च सभी शरीर नष्ट होने पर पृथ्वी

अन्नं ततोऽत्र भूतानां ज्येष्ठमुक्तं मनीषिभिः। सर्वौषधं च येनाऽयं क्षुधारोगो विनश्यति।।१२२
अन्नं ब्रह्मेति ये नित्यं ब्राह्मणाद्या उपासते। प्राप्नुवन्ति च ते सर्वे ह्यन्नं स्वमनसेप्सितम्।।
अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते।।१२३
अत्र पुच्छं प्रतिष्ठा यदीर्यते पञ्चकोशके। प्रधानं तद्धि विज्ञेयं कारणं च कथञ्चन।
कोशे कोशे च कोशस्य प्रतिकोशं मनीषिभिः।।१२४
क्रिया नाम च रूपं च सूक्ष्मे देहे पृथक् त्रयम्। कृत्वा प्राणमनोबुद्धिरूपमेवं वदन्ति च।।१२५

स्फुटमन्यत्।।१२१।। द्वितीयमन्त्रार्थमाह— अन्नमिति। ततः सकलप्रजोत्पादादिहेतुत्वाद् अन्नं समष्ट्यात्मकं ज्येष्ठं प्रथमोत्पन्नम् उच्यते। क्षुधायाः सर्वरोगात्मिकाया अपहारकत्वात् सर्वौषधम् इति चोच्यत इत्यर्थः।।१२२।। अन्नं ब्रह्मेति। येऽधिकारिणः अन्ने समष्टिरूपे सकलभूतोत्पादादिहेतुत्वेन लक्षणेन ब्रह्मत्वं निश्चित्य तदेव ध्यायन्ति ते यथेष्टान्नलाभरूपं फलं भजन्त इत्यर्थः। अन्नपदव्युत्पत्तिस्तु व्यष्टिरूपेण अद्यते, समष्टिरूपेण अत्ति च भूतानि इति द्विविधा बोध्येत्यर्थः। शिष्टमन्त्रभागस्तु व्याख्यातप्रायत्वाद् न लिखित इति।।१२३।।

वक्ष्यमाणात्मतत्त्वनिर्णयाय पुच्छपदोक्तस्य तथोत्तरोत्तरकोशस्य प्राधान्यादिकं बोध्यमित्याह— अत्रेति। यद् अङ्गं पुच्छप्रतिष्ठापदाभ्याम् अत्र पञ्चकोशक उच्यते तद् अङ्गं कोशे कोशे प्रधानं कथञ्चित् कारणं च विज्ञेयम् इति सम्बन्धः। तथा प्रतिकोशम् आन्तरमान्तरं कोशं कोशस्य पूर्वपूर्वस्य कारणं विद्याद् इति शेषः।।१२४।। सूक्ष्मशरीरे कोशत्रयकल्पनायां निमित्तभेदं दर्शयति— क्रियेति। सूक्ष्मे देहे क्रियाप्रधानोंऽशः प्राणमयः कोश उक्तः। वक्ष्यमाण-विधया प्रमाणभूतनामप्रधानोंशो मनोमयः। रूपं प्रमेयं, तत्प्रधानस्तु विज्ञानमय इत्यर्थः।।१२५।।

से अभिन्न होते ही हैं और पृथ्वी सब प्राणियों का अन्न है क्योंकि भोगसाधन है; इस प्रकार सब शरीर पृथ्वीरूप से अन्न बन जाते हैं।।१२१।।

सकल प्रजाओं का उत्पादक, पोषक और लयाधार होने से समष्टि अन्न को प्राणियों से ज्येष्ठ अर्थात् पूर्वोत्पन्न कहा है। मनीषी इसे 'सर्वौषध' भी कहते हैं क्योंकि सभी को होने वाला भूखरूप रोग इससे मिट जाता है।।१२२।। जो ब्राह्मण आदि हमेशा अन्न में ब्रह्मदृष्टि करते हैं वे सब यथेष्ट अन्न प्राप्त कर लेते हैं। व्यष्टिरूप से खाया जाता है इसलिये और समष्टिरूपसे भूतों को खा जाता है इसलिये उसे 'अन्न' कहते हैं। (समष्टिरूप अन्न सब भूतों की उत्पत्ति आदि का हेतु है और सब के जन्मादिका हेतु होना ब्रह्म का लक्षण है इसलिये समष्टि अन्न की ब्रह्मरूप से उपासना संगत है। इस उपासक को विराड्भाव की प्राप्ति होने से वह सब अन्नों का भक्षक हो जाता है। शालग्राम में विष्णुदृष्टि की तरह अन्नरूप प्रतीक में जगज्जन्मादिहेतु ब्रह्म की दृष्टि करने से भी भक्ष्यादि चारों तरह का अन्न प्राप्त होता है यह भी सायणाचार्य ने कहा है। यद्यपि भाष्यकार को मुखतः अभिप्रेत नहीं तथापि वार्तिककार कोशों में सिर आदि की कल्पना उपासना के प्रयोजन से मानते हैं (तै.वा.ब्रह्म.१.श्लोक.२४५)। तदनुसार ध्यान यह किया जा सकता है कि ब्रह्म समझा हुआ अन्न देह के रूप में परिणत होकर सिर आदि हिस्सों वाला बना हुआ है, यह भी सायणभाष्य में सूचित है। कोशों में न सही, अन्न-ब्रह्म की उपासना तो यहाँ भाष्यकार भी स्वीकारते ही हैं। आगे भी प्राणब्रह्मोपासनादि कही जायेंगी। अन्यत्र विहित न होने से ज्ञान-प्रसंग में भी अवांतरप्रकरण मानकर विधि स्वीकार करना संगत है। अन्न-शब्द का निर्माण 'अद भक्षणे' (अ.प.से.) धातु से दो प्रकार के अर्थों के अनुसार हुआ है— खाया जाता है और खाता है।)।।१२३

पाँचों कोशों में जो अंग 'पूँछ' व 'प्रतिष्ठा' शब्दों से कहा है वह हर कोश में प्रधान समझना चाहिये और मनीषियों को किसी-न-किसी तरह यह भी समझना उचित है कि वह कारण है। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व कोश के प्रति उत्तर-उत्तर कोश को कारण समझना चाहिये।।१२४।।

अन्तः स्थूलस्य देहस्य प्राण एष व्यवस्थितः। स्थूलं शरीरं यादृक् स्यात् तादृग्भवति स स्वयम् ।।१२६

प्राणस्यान्तर्मनश्चैवं मनसोऽपि च धीस्तथा। धियोऽपि च तथाऽविद्या सदृशं सर्वमेव तत् ।।१२७

मूषा रसेन यद्वत् स्यात् पूर्णा ताम्रादिजेन हि। उत्तरोत्तरतस्तद्वत् पूर्वः पूर्वः प्रपूर्यते।
कोशः कोशेन सर्वत्र प्राणेनेदं वपुर्यथा ।।१२८

प्राणरूपे च कोशेऽस्मिन् शिरः प्राण उदीरितः। अपान उत्तरः पक्षो व्यानो दक्षिण एव च ।।१२९

आकाशेनः समानो य उदरं स तु कीर्तितः। पृथिवीन उदानोऽयं प्रतिष्ठा पुच्छमीरितः ।।१३०

उदाननिर्गमाद् याति प्राणः सर्वो बहिर्यतः। उदानस्तत एवाऽयं प्रतिष्ठा परिकीर्तितः ।।१३१

प्राणमयपरस्य वाक्यजातस्य[1] अर्थं प्रदर्शयति— अन्तरिति दशभिः। अस्य स्थूलशरीरात्मकान्नमयस्य पञ्चावयवकत्वेन वर्णितस्य अन्तः स्थितत्वात् प्राणः प्राणमयकोशोऽपि तादृक् पञ्चावयवको बोध्य इत्यर्थः ।।१२६।। प्राणस्येति। प्राणमयस्य अन्तर्गतो मनोमयः, तस्यान्तर्गतस्तु विज्ञानमयः, तस्याऽपि अन्तर्गत आनन्दमयोऽविद्यारूपः। एषां मध्य उत्तरोत्तरं यत् तत् पूर्वपूर्वेण सदृशमित्यर्थः ।।१२७।। पूर्वपूर्वसादृश्ये दृष्टान्तमाह — मूषेति। द्रुतं ताम्रं यत्र पात्रे प्रतिमाकारार्पके क्षिप्यते सा मूषा इत्युच्यते। सा मूषा यथा ताम्रादिद्रवेण मूषाकारग्राहिणा पूर्णा भवति तथा उत्तरोत्तरेण मनोमयादिना पूर्वपूर्वः कोशः प्रपूर्यते। तत्र उदाहरणम् — यथा प्राणमयेन इदं स्थूलं शरीरं पूर्णमिति ।।१२८।। अस्य प्राणमयस्य अवयवकल्पनामभिनयति— प्राणरूप इति। अत्र कोशे प्राणो मुखादिसञ्चारी वृत्तिविशेषः शिरस्त्वेन ध्येयः। अपानः अधःसञ्चारी, व्यानः प्राणापानयोः सन्धिरूपः, एतौ वामदक्षिणपक्षत्वेन ध्येयावित्यर्थः ।।१२९।। आकाशेन इति। आकाश इनः स्वामी देवतेति यस्य तादृशः समानो मध्यत्वेन ध्येयः। पृथिवीनः पृथिवी देवताक उदानः तु पुच्छत्वेन प्रतिष्ठात्वेन च ध्येय इत्यर्थः ।।१३०।। तस्य प्रतिष्ठात्वं स्फुटयति— उदानेति। यदि उत्क्रमणशील उदानो निर्गच्छेत् तदा सर्वः प्राणमयो बहिः गच्छेद् अतः

क्रिया, नाम और रूप इन तीनों को पृथक् कर सूक्ष्म शरीर में प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश कहे जाते हैं। (सूक्ष्म शरीर में क्रियाप्रधान अंश प्राणमय कोश है। सूक्ष्म शरीर में नामात्मना रहने वाला प्रमाणभूत अंश मनोमय कोश है। सूक्ष्म शरीर का वह अंश जिसमें रूप अर्थात् प्रमेय प्रधान है, विज्ञानमय कोश है।)।।१२५।।

स्थूल शरीर के अर्थात् अन्नमयकोश के अंदर यह प्राणमयकोश मौजूद है। जैसे स्थूल शरीर शिर-पक्षादि पाँच अवयवों वाला है वैसे प्राणमय भी है।।१२६।। प्राणमय के अंदर मनोमय, उसके अंदर विज्ञानमय और उसके अंदर अविद्यारूप आनंदमय कोश हैं। हर कोश पूर्वकोश जैसा ही है।।१२७।। मूर्ति आदि आकार बनाने के लिये पिघला ताँबा आदि जिस साँचे में भरते हैं उसे 'मूषा' कहते हैं। जैसे मूषा (साँचा) ताँबे आदि के रस से पूर्ण होती है वैसे अगले-अगले कोश से पिछला-पिछला कोश पूर्ण होता है जैसे यह अन्नमय कोश प्राणमय से पूर्ण है।।१२८।।

प्राणरूप इस कोश में मुखादि में संचरणशील वृत्तिरूप प्राण सिर कहा गया है, अधोद्वारों में संचारी अपान बायाँ पक्ष तथा प्राण-अपान की संधिरूप व्यान दायाँ पक्ष कहा है। आकाश जिसका देवता है वह समान उदर (धड़) बताया गया है और यह पृथ्वीदेवताक उदान पूँछ प्रतिष्ठा कहा गया है।।१२९-३०।। उत्क्रमणस्वभाव वाला उदान शरीर से निकल जाये तो सारा प्राणमय कोश बाहर चला जाता है इसीलिये यह उदान प्रतिष्ठा कहा गया है। पृथ्वी देवता ने गुरुता से उदान को रोके रखा है जिससे यह शरीर से निकल नहीं पाता।।१३१।। जैसे अन्नमयकोष को सर्वान्न

१. 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति'। (इति द्वितीयोनुवाकः)।

यथैवान्नमयः कोशः सर्वान्नं परिकीर्तितः। एवं प्राणमयोऽप्येष सर्वायुः परिकीर्त्यते।।१३२
अत्राप्युदाहरत्येतं श्लोकं प्राणमयं प्रति। प्राणन्ति प्राणिनः प्राणं प्राणन्तमनु सर्वदा।।
देवा मनुष्याः पशवो जीवन्तः सर्व एव हि।।१३३
प्राणो हि सर्वभूतानामायुर्यस्माद्धि जीवनम्। प्राणे सति हि सर्वेषां तस्मात् सर्वायुषं हि सः।।
वेदेषु पठ्यते वेदवादिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।।१३४
उपासतेऽत्र ये प्राणं ब्रह्मबुद्ध्या महाधियः। शतसंवत्सराद्यायुः सर्वमेव प्रयान्ति ते।।१३५
तस्य स्थूलस्य सर्वस्य य एष इह कीर्तितः। आत्मा प्राणमयो यस्माद् व्याप्यते तेन तद्वपुः।।१३६

पृथिवीदेवतया[1] गुरुत्वेन प्रतिबद्धो क्रमणशक्तिकः सन्नुदानः प्रतिष्ठापदप्रयोगमर्हत्येवेत्यर्थः।।१३१।। यथाऽन्नमयः समष्टिरूपेण ध्यातः सर्वान्नलाभहेतुरुक्तः तथाऽयं प्राणमयः समष्टितया दृष्टः सर्वायुर्लाभहेतुरित्याह — यथैवेति।।१३२।। अत्रापीति। अत्र-पदस्य व्याख्या—प्राणमयं प्रतीति। श्लोकपदोक्त मन्त्रं[2] पठति— प्राणन्तीत्यादि। समष्टिप्राणाभिमानिनं देवं प्राणन्तं प्राणव्यापारं कुर्वन्तम् अनुसृत्यैव सर्वे देवादयः प्राणिनः प्राणन्ति चेष्टन्त इत्यर्थः।।१३३।। प्राणो हीति। प्राणः सर्वेषाम् आयुरात्मकः यस्मात्प्राणे सति एव जीवनं प्रसिद्धम् अत एव प्राणस्य सर्वायुषम् इति नाम वेदे प्रसिद्धमित्यर्थः।।१३४।। अस्य ब्रह्मत्वेन उपासनात् पूर्णायुर्लाभः फलमित्याह— उपासत इति। आदिपदेन सहस्रसंवत्सरादिपुराणोक्तायुर्ग्रहः।।१३५।। तस्येति। य एष प्राणमयः कीर्तितः स सर्वस्य स्थूलप्रपञ्चात्मकस्य अन्नमयस्य आत्मा बोध्यो यतस्तेन प्राणमयेन तद्वपुः व्याप्तमित्यन्वयः। अन्नमयाद् आत्मबुद्धिमपकृष्य प्राणमये निदध्यादिति भावः।।१३६।।

कहा था क्योंकि उसकी उपासना से सर्वान्नों का लाभ होता है वैसे यह प्राणमय कोश सर्वायु कहा जाता है क्योंकि प्राणमय की समष्टिरूप से उपासना करने से सारी आयु मिलती है। ('सूत्रात्मारूप से सब भूतों का आत्मा और जीवनहेतु होने से सबका आयु जो प्राण वह मैं हूँ'—यों उपासना करें तो अपमृत्यु नहीं होती, सौ साल की आयु मिलती है)।।१३२।।

इस प्राणमय के बारे में भी ये श्लोक उद्धृत किये जाते हैं : समष्टि-प्राण का अभिमानी देव हमेशा प्राणन करता है, उसीके पीछे देव, मनुष्य, पशु—सभी जीवित प्राणी प्राणन करते हैं। अर्थात् समष्टि-प्राणधारी के प्राणव्यापार के आधार पर ही व्यष्टि-प्राणधारियों की चेष्टाएँ संभव होती हैं।।१३३।। प्राण ही सब जीवों का आयु है क्योंकि प्राण के चलते ही सबका जीवन रहता है। इसीलिये वेदवादी तत्त्वदर्शी वेदों में प्राण को 'सर्वायुष' नाम से याद करते हैं।।१३४।। जो अत्यधिक बुद्धिमान् साधक प्राण की ब्रह्मदृष्टि से— 'प्राण ब्रह्म है' यों — उपासना करते हैं, सौ साल आदि की संपूर्ण आयु उन्हें प्राप्त हो जाती है। (यद्यपि वेद मानव आयु मानव वत्सरों से सौ साल की बताता है तथापि पुराण आदि में हज़ारों सालों की आयु का भी वर्णन है अतः 'सौ साल आदि' कहा। सामान्यतः आयु जन्मकाल में निश्चित हो जाती है पर इस उपासना से पूर्णायु मिलती है, यदि प्रारब्धवश आयु कम थी तो इसके फलस्वरूप बढ़ जाती है।

१. भाष्ये 'पृथिवीति पृथिवी देवताऽऽध्यात्मिकस्य प्राणस्य धारयित्री' तथा वार्तिके 'पृथिवी देवता पुच्छं 'सैषे' ति (प्रश्न.३.८) श्रुतिदर्शनात्'; अतो वनमालाटीकायाम् 'न च प्राणवृत्त्यधिकाराविशेषात्पृथिवीशब्देनोदानग्रहणं न्याय्यमिति वाच्यम्; प्रतिष्ठात्वलिङ्ग-विरोधेन प्रकरणस्याऽनादरणीयत्वात्, न ह्युदानवृत्तेर्वृत्तिमन्तं प्राणमयं प्रति प्रतिष्ठात्वं सम्भवति' इति प्रपंचितम्। किन्तु सायणाचार्यः शंकरानन्दव्याख्यामनुसरन् ' पृथिवीशब्देन अवशिष्ट उदानवायुरुपलक्ष्यते। मुख्यार्थस्वीकारे हि प्राणमयकोशाधिकारो बाध्येत।... उदानवायुः प्राणादिवायूनां देहेऽवस्थानहेतुः...अतः प्रतिष्ठा' इति व्याचष्टे। सत्प्रसवकारस्तु पुराणभाष्ययोरविरोधाय उदानस्य स्वदेवतातादात्म्यमभिप्रेत्य व्याख्यातवान्।
२. 'प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात् सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति। ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात् सर्वायुषमुच्यत इति।'

यथैवान्नयमयादन्य आन्तरोऽन्नमये स्थितः। आत्मा प्राणमयस्तद्वत् तस्मिन्नास्ते मनोमयः।।१३७

यजुस्तस्य शिरो ज्ञेयं पक्ष ऋक् दक्षिणः स्मृतः। उत्तरश्च तथा साम ह्यादेशो ब्राह्मणात्मकः।।
अन्तरं च तथा पुच्छमथर्वाङ्गिरसः स्मृतः।।१३८

यद्यप्ययं शब्दराशिर्यजुरादिर्न मानसम्। तथाऽपि तादृशी वृत्तिर्यजुरादेर्मनोगता।।
वर्ततेऽनेन नामत्वं मनसो न विरुद्ध्यते।।१३९

अन्नमयवाक्यजातार्थमाह— यथैवेति। यथा प्राणमयः कोशः अन्नमयाद् भिन्नत्वेन, तत आन्तरत्वेन, तस्य आत्मत्वेन च सत्ताप्रदत्वलक्षणेन उक्तः तथा तस्मिन् प्राणमयेऽन्तःस्थो मनोमयो बोध्य इत्यर्थः।।१३७।। तस्य[1] पञ्चावयवानाह — यजुरिति। यजुर्वेदः शिरस्त्वेन ध्येयः। ऋक्सामे दक्षिणवामपक्षत्वेन। आदेशपदोक्तो ब्राह्मणभागस्तु अन्तरपदोक्तमध्यमभागत्वेन। अथर्ववेदस्तु शान्त्यादिप्रयोजनकत्वेन स्थितिहेतुत्वात् पुच्छमिति प्रतिष्ठेति च ध्येय इत्यर्थः।।१३८।। ननु शब्दात्मकानां यजुरादीनां कथं मनोमयावयवत्वम्?—इत्याशङ्कां परिहरति— यद्यपीति। यद्यपि यजुरादिः वेदः शब्दराशिरूप एव प्रसिद्धो, न मानसज्ञानरूपः तथाऽपि यजुरादेः स्वरूपघटिका प्रमाणत्वघटिका वा वृत्तिः मानस्येव तिष्ठति। तेन यजुरादिशब्दानां वृत्तिपरत्वाङ्गीकारेण मनोमयस्य नामाऽवयवकत्वम् उपपन्नमित्यर्थः। अयं भावः — न केवला वर्णा वेदः किन्तु स्थानप्रयत्नस्वराद्यनुसन्धानविशिष्टाः। तथा च यजुरादिस्वरूपं मनोवृत्तिघटितम्। एवं प्रमाजनकत्वमपि न स्वरूपेणैव वेदवाक्यानां किन्तु मानसवृत्तिरूपेणैव— इति।।१३९।।

अथवा यदि प्रारब्धप्राप्त आयु से कम उम्र में मरने का कोई निमित्त हो जाये तो इस उपासना के फल से वह निमित्त प्रतिबद्ध हो जाता है)।।१३५।। जो यह प्राणमयकोश बताया गया है उसे सारे स्थूल-प्रपंचरूप अन्नमय का आत्मा समझना चाहिये क्योंकि अन्नमय शरीर प्राणमयकोश से भरा हुआ है। (तात्पर्य है कि अन्नमय से मैं-बुद्धि हटाकर उसे प्राणमय में सीमित करना चाहिये। यद्यपि अभिमान वहाँ से भी हटाना ही है तथापि जैसे रोग मिटने पर दवाइयों का सहारा एकाएक नहीं छोड़ा जाता वरन् एक-एक कर दवायें घटाते हैं वैसे समग्र उपाधियों से अभिमान इकट्ठे ही नहीं हट सकता, एक-एक उपाधि से हटाते जाना चाहिये।)।।१३६।।

जैसे प्राणमय कोश को अन्नमय से भिन्न, अन्नमय से आंतर, और अन्नमय को सत्तान्वित करने वाला अतः उसका आत्मा बताया वैसे प्राणमय से भिन्न, उससे आंतर, उसका आत्मा मनोमय को समझना चाहिये।।१३७।। मनोमय कोश का सिर यजुर्वेद को समझना चाहिये, ऋग्वेद को दायाँ पक्ष और सामवेद को बायाँ पक्ष जानना चाहिये। वेदों का ब्राह्मणभाग मध्य (धड़) और अथर्ववेद पूँछ है क्योंकि शान्ति आदि कर्मों में प्रयुक्त होने से स्थिति का हेतु है।।१३८।। यद्यपि ये यजुरादि वेद शब्दसमूह-रूप से प्रसिद्ध हैं न कि मानसिक ज्ञानरूप से जिससे इन्हें मनोमय का अवयव समझना अटपटा लग सकता है, तथापि यजुरादि के स्वरूप की घटक और उनकी प्रमाणता की घटक वृत्ति मन में ही रहती है, उस वृत्ति के द्वारा शब्दराशि को मनोमय के हिस्सों के रूप में समझना संगत है। (सिर्फ़ अक्षर तो वेद हैं नहीं, स्थान-प्रयत्न-स्वर आदि के अनुसंधान से युक्त अक्षर ही वेद कहलाते हैं और वह अनुसंधान मनोवृत्तिरूप ही है। ऐसे ही वेद प्रमा भी तभी पैदा करते हैं जब अर्थज्ञ श्रोता के मन में वृत्तिरूप से उपस्थित हों, अन्यथा नित्य वेद हमेशा सबको तो धर्मादि की प्रमा उत्पन्न कराते नहीं रहते ! भाष्यकार ने इस प्रसंग में वेदों को मनोवृत्तिरूप सिद्ध किया है। सूत्रकार ने जगत् के जन्मादि का हेतु कहकर भी वेद का जनक ब्रह्म को अलग से कहना ज़रूरी समझा जिससे संकेत मिलता

१. 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।'(इति तृतीयोनुवाकः)।

मनसा वेदरूपेण ब्रह्मात्मा नैव गम्यते। तथा तेन न गम्योऽयमवाङ्मनसगोचरः।
अस्मिन्नर्थ इमं श्लोकं वदन्ति ब्रह्मवादिनः।।१४०

अनेन मनोमयेन प्रमाणात्मकेन अविषयोऽप्यात्मा आवरणभङ्गद्वारा प्रकाश्यत इत्यर्थपरत्वेन श्लोकाख्यमन्त्रमवतारयति— मनसेति। **यथा मनः कर्तृ वेदरूपेण आत्मानं ब्रह्मरूपं साक्षाद् विषयी कर्तुं न शक्नोति**

है कि वे वेद को भौतिक— भूतात्मक आकाश का शब्दात्मक गुणरूप— नहीं मानते। इस तथ्य को आचार्य मधुसूदन ने संक्षेपशारीरकटीका में (२.६) सूचित किया है कि आनुपूर्वी, स्वर आदि विशेषताओं वाले वाक्य वेद हैं जो भौतिक नहीं हैं। केवल अक्षरात्मक मानें तो सारा ही नामप्रपंच वेद की तरह नित्यादि होने लगेगा! अतः निश्चित क्रम में समझे जाते अक्षरों को ही वेद कह सकते हैं। क्योंकि यह *समझ* वेदात्मक अक्षरों का विशेषण है अर्थात् इस समझ के रहते ही अक्षर वेद कहलाते हैं, इसलिये वेद का घटक इस *समझ* को भी मानना पड़ेगा। आकाशगुणभूत शब्दात्मक अक्षरों को वेद कहें तो मानस जप आदि संभव नहीं होगा जबकि वेद में ही वैसा जप विहित है। इसलिये वैसे अक्षरों के बजाय उक्त विशेषणों वाले ज्ञानात्मक—मनोवृत्त्यात्मक—'अक्षरों' को वेद कहना संगत है। प्रश्न होगा कि मन भी भौतिक है, पाँचों भूतों के सत्त्वांशों के संमिश्रण से बना है, अतः उसकी वृत्तिरूप होने पर वेद भी भौतिक कैसे नहीं होंगे? और मनोवृत्ति तो शिक्षादि उपायों से जन्य है, उसे नित्य वेद कैसे माना जाये? उत्तर है कि वेद का स्वरूप है ईश्वरज्ञान; ईश्वर के ज्ञान का नाम वेद है; वह ज्ञान अविद्यावृत्तिरूप ही हो सकता है क्योंकि सविशेष बोध है, ईश्वर का स्वरूपभूत ज्ञान तो निर्विशेष ही है। अतः वेद नित्य है। मीमांसावार्तिककार ने भी यह तथ्य द्योतित किया है : 'शब्दब्रह्मेति यच्चेदं शास्त्रं वेदाख्यमुच्यते। तदप्यधिष्ठितं सर्वमेकेन परमात्मना।। तथर्ग्वेदादयो वेदाः प्रोक्ता येऽपि पृथक् पृथक्। भोग्यत्वेनात्मनां तेऽपि चैतन्यानुगताः सदा।।' (३.१.१३-४)।। चित्सुखीटीका नयनप्रसादिनी में (पृ.२७७) स्पष्ट किया है कि ईश्वर केवल निमित्त नहीं उपादान भी है अतः प्रलय में सारे जगत् के साथ वेदरूप शब्दराशि को भी अपने में विलीन करता है और महासृष्टि के समय उन-उन वासनाओं वाली माया से ईश्वर शब्दाकार में विवर्तित होता है एवं पूर्व सृष्टि के क्रम जैसे ही क्रम वाली शब्दराशि जो वेद उस रूप में भी विवर्तित हो जाता है। वेद का लय ईश्वर में होगा तो चिदंश में होना असंभव होने से उपाधिभूत मायांश में ही होगा अतः माया में ही वेदसंस्कार रहेंगे और उनसे वही व्यक्त वेद के आकार में परिणत हो जायेगी। इस प्रकार अविद्यावृत्तिरूप वेद है यह स्पष्ट है। अतः वह अभौतिक भी है। पंचपादिका में वेद की उत्पत्ति में रज्जुसर्प का दृष्टांत देकर (पृ.५६०) यह इंगित किया है कि भूत-भौतिक क्रम से नहीं वरन् सीधे ही ईश्वर से वेद पैदा होता है। किं च 'अतः प्रभवात्' (ब्र.सू.१.३.२८) में स्थापित है कि वेदशब्दों से जगत्सृष्टि होती है जिससे वेद को जगत् से पूर्व उपस्थित मानना अनिवार्य भी है, इसलिये भी वेद अभौतिक ही संभव है। अविद्या ही भूताकार में परिणत होकर मनआकार में परिणत होती है अतः घट में मिट्टी की तरह मन में अविद्या है ही जिससे अविद्यावृत्ति को मनोवृत्ति कहना भी संभव है। वस्तुतस्तु अध्ययनादि से जन्य मनोवृत्तिरूप वेद ही जीवों के उपयोग का है। वे वृत्तियाँ अविद्यावृत्तिरूप वेद के समान आकार वाली ही होने से वेद हैं। नित्य ज्ञानरूप वेद तो ईश्वर के ही उपयोग का है, वह उस वेद से सृष्टि कर ब्रह्मा आदि को उसका उपदेश देता है। ब्रह्मा आदि को उपदेश से मिला वेद मनोवृत्तिरूप होता है। क्रमविशिष्टवर्णात्मक वेद अविद्यावृत्तिरूप एवं स्वरूपतः वैसे ही नित्य है जैसे आकाशादि। जीवों द्वारा वह वेद ग्रहण किया जाता है जो जीवों के मनों में वृत्तिरूप से रहता है अतः मनोवृत्तिरूप से वह अनित्य है। उदाहरणार्थ महाभारत पाँच हज़ार वर्षों से उपस्थित है लेकिन हम जब उसे याद करते हैं तभी वह हमारे मन में वृत्तिरूप से उपस्थित होता है अतः हमारी मनोवृत्तिरूप से तो वह अभी ही पैदा होता है और जब हम उसे भूल जाते हैं तब हमारी मनोवृत्तिरूप से वह नष्ट भी हो जाता है। मरने पर तो प्रायः सभी विप्रों का मनोवृत्तिरूप वेद नष्ट होता ही है, कुछ जातिस्मरों की बात अलग है! विवरण में (पृ.५६१) अर्थावबोध में समर्थ वेद की अनिर्वचनीय स्थिति समर्थित है; वह वेद ईश्वरज्ञानरूप या अविद्यावृत्तिरूप है। उसे हम पढ़ते हैं तब वह मनोवृत्तिरूप हो जाता है। इस प्रकार अभौतिकता और मनोमय का अवयव होना दोनों संगत हैं यह अनुसंधान कर लेना चाहिये।)।।१३९।।

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचन।।'१४१
मनसा सहिता वाचो यजुराद्याः प्रकीर्तिताः। निवर्तन्तेऽत्र ताः सर्वा आनन्दात्मप्रवेदनात्।।१४२
यद्यप्येवं तथाप्यात्मा न बिभेति कदाचन। आनन्दमात्मनो विद्वान् मनसैव न चान्यथा।।१४३
तस्य प्राणमयस्यात्मा पूर्वस्योक्तो मनोमयः। य एष कथितस्तस्मिन् स विज्ञानमयोऽस्ति हि।।१४४
मनोमयो यथैवास्ते स तु प्राणमये स्वयम्। विज्ञानमयरूपस्य तस्याऽत्राऽस्तित्वमीरितम्।।१४५
शिरः श्रद्धा तथा पक्षो दक्षिणः शास्त्रजैव धीः। मानसी विहिते कर्मज्ञाने मनसि संस्थिते ।।१४६

तथा स्वरूपेण अपि, आत्मनोऽगोचरस्वभावत्वाद्, इति अस्मिन्नर्थे इमं श्लोकं पठन्तीत्यर्थः।।१४०।। तं पठति— यत इति।।१४१।। इदमुक्तार्थे योजयति— मनसेति द्वाभ्याम्। यद्यपि यजुराद्या वाचः तत्स्वरूपघटकं मनश्च एतेषां प्रमाणभूतानां स्वान्तर्गतमानन्दरूपमात्मानं प्रवेदयितुं प्रकाशयितुं न शक्तिः तथाऽप्यात्मा अधिकारी आत्मनो मनोमयस्य स्वरूपान्तर्गतम् आनन्दं मनसैव अन्तर्मुखेन आवरणभञ्जकेन विद्वान् जानन् सन् संसाराद् न बिभेति इत्यर्थः। तस्मात् प्राणमयाद् आत्मत्वदृष्टिमपकृष्य मनोमये परमानन्दलाभहेतौ तां कुर्यादिति भावः।।१४२-३।।

अस्मादपि नामात्मकप्रमाणलक्षणाद् मनोमयात् प्रमातृत्वेन सकलप्रमेयात्मकत्वेन चोत्कृष्टस्य विज्ञानमयस्य बोधकं वाक्यजातं[1] व्याकरोति—तस्य प्राणमयस्य इत्यष्टभिः। य एष मनोमयस्तस्य प्राणमयस्य आत्मत्वेन उक्तः तस्मिन् मनोमयेऽन्तः विज्ञानमयः स कर्तृप्रमात्रादिरूपप्रपञ्चात्मकः कथितोऽस्तीत्यन्वयः।।१४४।। एतदेव स्फुटयति— मनोमय इति। यथा मनोमयः प्राणमयस्य अन्तः तथाऽत्र मनोमये तस्य कर्तृत्वादिना प्रसिद्धस्य विज्ञानमयस्य अस्तित्वं स्थितिरुक्तेत्यर्थः।।१४५।। तदीयपञ्चावयवानाह— शिर इति। श्रद्धा आस्तिक्यरूपा सर्वकर्ममूलभूता शिरस्त्वेन विज्ञानमयस्य ध्येया। तथा विहिते 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इति विधिप्रयुक्ते कर्मज्ञाने कर्मविचारे मनसि वर्तमाने मानसी या शास्त्रजा मीमांसाशास्त्रजन्या धीः सा ऋतपदोक्ता दक्षिणपक्षत्वेन ध्येयेत्यर्थः।।१४६।। क्रियमाण इति। तथा

मन वेदरूप से ब्रह्मरूप आत्मा को विषय नहीं करता। इसी तरह अपने मनोरूप से भी वह ब्रह्मात्मा को विषय नहीं करता क्योंकि आत्मा है ही मन-वाणी से परे। इस बारे में ब्रह्मवादी यह श्लोक कहते हैं : 'मन-सहित वाणी जिसे पाये बिना लौट आती है, ब्रह्म के उस आनंद का जानकार कभी डरता नहीं।' ।१४०-१।। यद्यपि यजुरादि पूर्वोक्त वाणी और उसके स्वरूप का घटक मन—ये प्रमाण रूप हैं लेकिन अपनी अपेक्षा प्रत्यक् रहने वाले आत्मा के प्रवेदन में, प्रकाशन में अक्षम हैं, तथापि अधिकारी अंतर्मुख होने से आवरण को भग्न करने में समर्थ मन से ही मनोमय के भी स्वरूपभूत आत्मा के आनंद को जानते हुए संसार से कभी डरता नहीं। निडर होने का और कोई तरीका नहीं है। (तात्पर्य है कि प्राणमय से मैं-बुद्धि हटाकर मनोमय में उसे संकुचित करने का प्रयास करना चाहिये ताकि परमानंद मिल जाये।)।।१४२-३।।

प्राणमय का आत्मा जो यह मनोमय बताया उस मनोमय के अंदर विज्ञानमय कोश है। (कर्ता-प्रमाता आदि प्रपंच विज्ञानमय का स्वरूप है। मनोमय प्रमाणरूप था, विज्ञानमय प्रमातृरूप है। 'मैं' इस अनुभव का विषय, मन आदि में अभिमान करने वाला, सभी प्रमाणव्यवहारों का कर्ता विज्ञानमय है। इसी कोष को नैयायिक जीवात्मा मान बैठे हैं क्योंकि वे कर्त्ता-भोक्ता को ही जीव कहते हैं।)।।१४४।। जैसे मनोमय खुद प्राणमय के अंदर रहता है वैसे कर्ता आदि रूप से प्रसिद्ध विज्ञानमय की स्थिति मनोमय में बतायी गयी है।।१४५।। विज्ञानमय का सिर है श्रद्धा, आस्तिकता। सब शास्त्रीय कर्मों का मूल होने से श्रद्धा मुख्य है। 'स्वशाखा का अर्थबोध पर्यंत अध्ययन करना चाहिये' इस विधि से कर्मविचार में संलग्न मन में मीमांसाशास्त्र से जो मानसिक निश्चय होता है उसे 'ऋत' कहते हैं। विज्ञानमय

१. 'तस्यैष एव...पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।' (इति चतुर्थोनुवाकः)।

क्रियमाणे च तस्मिन् स्यात् सत्यशब्दोदितैव धीः। सोत्तरोऽपि भवेत् पक्षो योगः शास्त्रार्थनिश्चयः।।
उदरं स तु विज्ञेयो विज्ञानमयरूपिणः।।१४७

महः प्रथमजस्यैषा बुद्धिर्विज्ञानकारणम्। अस्य पुच्छं प्रतिष्ठैषा यदियं सर्वकारणम्।।१४८

अत्राऽपि मुनयः श्लोकं वदन्त्येतं महाधियः। बुद्धिर्यज्ञांस्तथाऽनेकं कर्मजातं च लौकिकम्।।
कुरुते पूर्वजां चैतां देवा ब्रह्मेत्युपासते।।१४९

'विज्ञानं ब्रह्म चेद् वेद तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुते।'१५०

मनोमयस्य पूर्वस्य तस्यात्मैष प्रकीर्तितः। विज्ञानमयरूपो यः पूर्णो येन मनोमयः।।१५१

विज्ञानमयतस्तस्मादानन्दमयशब्दितः। आन्तरो ह्यन्य एवाऽयमात्माऽव्याकृतरूपधृक्।।१५२

तस्मिन् विहिते कर्मणि अनुष्ठीयमाने या धीः श्रौतसत्यपदोक्ता सा वामपक्षत्वेन ध्येया। तथा योगपदोक्तोऽध्यात्मशास्त्रार्थनिश्चयः समाधानरूपो दक्षिणोत्तरपक्षाभ्यां चित्तशुद्धिद्वारोपकार्यत्वेन मध्यभागो विज्ञानमयात्मनो ध्येय इत्यर्थः।।१४७।। मह इति। तथा महःपदोक्ता प्रथमजस्य हिरण्यगर्भस्य बुद्धिः समष्टिरूपा सर्वकारणत्वात् पुच्छमिति प्रतिष्ठेति च ध्येया।।१४८।। अत्राऽपीति। अत्र विज्ञानमये एतम्[1] एतदर्थकम्। श्लोकार्थं लिखति— बुद्धिरिति। बुद्धिः विज्ञानाख्यैव सकलस्य यज्ञादिरूपस्य वैदिकस्य लौकिकस्य च कर्मजातस्य कारणं भवति। एतां बुद्धिं पूर्वजां समष्टिरूपां सर्वे देवा देवभाविनो ब्रह्मेत्युपासत इत्यर्थः।।१४९।। एतदुपासनफलप्रदर्शकं द्वितीयं श्लोकं पठति— विज्ञानमिति। य एतं विज्ञानमयं विज्ञाय इतरत्र आत्मबुद्धिं त्यजन्नेतन्निष्ठो भवति, स देहाभिमानप्रयुक्तं पापजातं विहाय सर्वमैश्वर्यं लभत इत्यर्थः।।१५०।। मनोमयस्येति। य एष विज्ञानमयरूपः कोशः कीर्तितः स तस्य वर्णितस्य मनोमयस्यात्मा बोध्यः, मूषाताम्ररसन्यायेन तत्पूरकत्वाद् इति।।१५१।।

आनन्दमयवाक्यार्थमाह[2]—विज्ञानमयत इत्यादिना। तस्माद् विज्ञानमयात् कर्त्रादिरूपाद् भोक्तृत्वेन उत्कृष्ट आनन्दमयशब्दित आत्माऽऽन्तरः च बोध्यः। कीदृशः? अव्याकृतमय इत्यर्थः।।१५२।। अस्यावयवानाह—अस्येति

का दाहिना पक्ष ऋत को समझना चाहिये।।१४६।। विहित कर्म का अनुष्ठान करते समय जो बुद्धिवृत्ति बनती है उसे श्रुति ने यहाँ सत्य कहा, वह बायाँ पक्ष है। अध्यात्मशास्त्र के अर्थ का निश्चय साधनसम्पत्ति गिनते हुए 'समाधान' कहा गया है। उसे विज्ञानमय का उदर (धड़) जानना चाहिये।।१४७।। प्रथम-शरीरी हिरण्यगर्भ की समष्टिरूप बुद्धि 'महः' कही जाती है । सभी की कारणभूत अतः विज्ञानमय की भी कारण वह बुद्धि विज्ञानमय की पूँछ प्रतिष्ठा है। (यद्यपि श्रद्धादि मनोवृत्तियाँ हैं तथापि विज्ञानमय को मन के स्वामीरूप से मानकर श्रद्धादि को उसके अवयव कहा है।)।।१४८।। महाबुद्धिमान् मुनि विज्ञानमय के बारे में भी यह श्लोक सुनाते हैं : यज्ञ एवं अनेक लौकिक कर्म बुद्धि करती है। जो साधक देवता बनने में अधिकृत हैं वे समष्टिरूप प्रथमोत्पन्न बुद्धि की ब्रह्मरूप से उपासना करते हैं।।१४९।। विज्ञानमय से अन्यत्र मैं-बुद्धि पूर्णतः छोड़कर जो विज्ञानमय में ब्रह्मदृष्टि करता है वह उन सब पापों से अस्पृष्ट हो जाता है जो देहाभिमान से प्रेरित हैं और सभी कामित पदार्थ पा लेता है।।१५०।। पूर्वोक्त उस मनोमय कोश का यह आत्मा कहा गया है जिसका रूप है विज्ञानमय। पिघले ताँबे से साँचे की तरह विज्ञानमय से मनोमय भरा हुआ है, पूरा है।।१५१।।

---

१. 'विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते।'
२. 'तस्यैष एव... विज्ञानमयाद...आनंदमयः...पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनंद आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।' (इति पंचमोनुवाकः)।

अस्याऽऽनन्दमयस्य स्याच्छिर इष्टार्थदर्शनम्। प्रियं लाभस्तथेष्टस्य मोदः पक्षोऽपि दक्षिणः।।
भोगस्तस्य प्रमोदः स्यादुत्तरः पक्ष एव सः।।१५३

सुखं सामान्यमेतेषु ह्यानन्दो यः प्रियादिषु। आत्मोदरं स विज्ञेयः पक्षिणोऽस्य महात्मनः।।१५४

आनन्दात्मस्वरूपं यद् ब्रह्म सर्वस्य कारणम्। यस्यावगमसम्प्राप्त्यै कोशपञ्चकमीरितम्।।
अस्य पुच्छं प्रतिष्ठा च तदेवोक्तं मनीषिभिः।।१५५

कोशोक्तिप्रयोजनम्

चित्तं बहिर्मुखं प्रायः सर्वेषामिह देहिनाम्। नित्यं बहिर्मुखान्येव ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि च।।
अतः सर्वोऽपि बाह्यार्थं जन्तुर्गच्छति नान्तरम्।।१५६

आनन्दात्मानमन्तस्थं सुखपाथोनिधिं निजम्। परित्यज्य बहिः सर्वः सुखार्थं परिधावति।।१५७

धावंश्च न कुतश्चिच्च सुखलेशं च गच्छति। जनः सर्वः परं तीव्रदुःखपाथोनिधौ पतेत्।।१५८

त्रिभिः। इष्टार्थदर्शनजं सुखं प्रियपदोक्तम् अस्यानन्दमयस्य शिरस्त्वेन ध्येयम्। तथा इष्टार्थलाभजन्यं सुखं मोदपदोक्तं दक्षिणपक्षत्वेन। तस्य इष्टस्य भोगजं सुखं प्रमोदपदोक्तमुत्तरपक्षत्वेनेत्यर्थः।।१५३।। सुखमिति। यत् सुखं प्रियादिषु विशेषेषु सामान्यरूपेण अनुगतम् आनन्दपदोदितं सुषुप्तौ प्रसिद्धं तद् अस्य मध्यभागत्वेन ध्येयमित्यर्थः।।१५४।। निर्विशेषानन्दरूपं प्रतिपाद्यत्वेन प्रधानं सर्वाधिष्ठानं ब्रह्मैव अस्य पुच्छादिरूपेण बोध्यमित्याह—आनन्दात्मेति। स्पष्टम्।।१५५।।

एते पञ्च कोशा ब्रह्मात्मावगमायैव श्रुत्या प्रोक्ता इतीममर्थं लौकिकन्यायैः एकविंशत्या श्लोकैः विशदयंस्तत्र 'लोकानुग्रहार्थं महतां प्रवृत्तिः' इति न्यायेन श्रुतिप्रवृत्तिम् आह— चित्तमिति षड्भिः। सर्वेषां जन्तूनां बाह्यविषयार्थं प्रवृत्तिः बहिर्मुखचित्तेन्द्रियाद्यभिमानप्रयुक्ता प्रसिद्धा। तत्र प्रवृत्तौ च नित्यप्राप्तस्वरूपानन्दाऽबोधो मूलतया, दुःखसिन्धुपातः फलतया च प्रसिद्धः। इति त्रयाणामर्थः।।१५६-८।। एवमिति। सर्वेषां

कर्ता आदिरूप उस विज्ञानमय से अन्य और उससे आंतर उसका आत्मा है आनंदमय जो अव्यक्त रूप धारण किये है। (आनंदमय भोक्ता-रूप है अतः विज्ञानमय से उत्कृष्ट भी है।)।।१५२।। अभीष्ट पदार्थ दीखने से हुआ सुख 'प्रिय' कहा गया है, वह आनंदमय का सिर है। इच्छित विषय की प्राप्ति का सुख 'मोद' है जो इसका दायाँ पक्ष है। उसके भोग का सुख 'प्रमोद' है, वह बायाँ पक्ष है। इन प्रिय आदि विशेषों में सामान्यरूप से अनुगत जो सुख है, जो सुषुप्ति में सबको उपलब्ध है, उसे यहाँ श्रुति ने आनंद कहा। इस 'महात्मा पक्षी का' — अर्थात् आनंदमयकोश का — उस आनंद को उदर (धड़) समझना चाहिये।।१५३-४।। जिसके साक्षात्कार के लाभार्थ पाँचों कोश कहे गये हैं, जो सारे संसार का कारण ब्रह्म है, आनंदरूप प्रत्यक् है, उसी को मनीषियों ने आनंदमय की पूँछ प्रतिष्ठा कहा है।(ब्रह्मसूत्रों में (१.१ अधि.६.सू.१२-१९) इस प्रसंग पर विस्तृत चर्चा है। आनंदमय जीव है और वह जिस पर प्रतिष्ठित है उस ब्रह्म की इस प्रकरण में प्रधानता है— यह सिद्धांत है। किं च 'आध्यानाय प्रयोजनाऽभावात्' (३.३.७.१४) न्याय से ब्रह्म ही यहाँ प्रतिपाद्य भी है, कोशादिका वर्णन इसी प्रयोजन से है कि ब्रह्म समझ आये।।)।।१५५।।

लोगों पर अनुग्रह कर श्रुति ने ब्रह्मतत्त्व बुद्धिगत हो सके इस उद्देश्य से पंचकोश-प्रक्रिया अपनायी है : संसार में प्रायः सभी देहधारियों का चित्त अनात्मप्रवण ही होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ-कर्मेन्द्रियाँ हमेशा अनात्मा की ओर ही प्रवृत्ति करती है। इसलिये सभी जन्तु अनात्म-विषयों को ही समझ पाते हैं, प्रत्यक्तत्त्व को नहीं।।१५६।। भीतर स्थित आनन्दरूप सुखसागर निज वस्तु है पर सब अज्ञ जीव उसे छोड़कर सुख पाने के लिये बाहर दौड़ते हैं! दौड़ते रहकर भी कहीं से भी सुख की हल्की-सी गंध भी किसी को नसीब नहीं होती बल्कि सभी लोग तीव्र दुःख रूप समुद्र में डूबने लगते हैं। यह सभी को अनुभव-सिद्ध है।।१५७-८।।

एवमेतत् समापन्नं दुस्तरं व्यसनं तदा। सर्वेषां प्राणिनां दृष्ट्वा श्रुतिर्मातिव वत्सला।।१५९
साक्षाद् बाह्यार्थलोभेन प्रवृत्तं न कथञ्चन। श्रुतिर्वारयितुं शक्ता दुःखितान् वीक्ष्य दुःखिता।१६०
उपायात्तत एवैतानित्थं वारयति द्विजान्। वारयिष्यन्ति ते पश्चादित्थमन्ये निवारिताः।।
इति सङ्कल्प्य जननी श्रुतिः कोशानिमान् जगौ।।१६१
रूपयौवनसम्पन्नः पुमानपि गुणोदधिः। ललना वाऽपि न स्वेन देहेन परितुष्यति।।१६२
देहमन्यं सुखप्रेप्सुर्जन्तुः सर्वोऽभिधावति। जीवन्तं वा मृतं वाऽपि पिशाचसदृशः सदा।।१६३
स्थूला देहाश्च सर्वेषामन्नकार्याणि सर्वदा। विज्ञानं च मनः प्राणाः सूक्ष्माणां कारणानि च।
अव्याकृतं तृतीयं स्याद्धेतुशून्यं वपुः सदा।।१६४
एतावानेव सकलः प्रपञ्चो नाऽपरोऽस्ति हि। लोकत्रयेऽपि देहेऽस्ति प्रत्येकं प्राणिनां च सः।।१६५

जन्तूनामुक्तविधया प्राप्तं व्यसनं परमपुरुषार्थाद् भ्रंशरूपं दुःखपातात्मकविपद्रूपं वा वीक्ष्य मातृवत् स्नेहाकुला श्रुतिः करुणार्द्रा साक्षाद् वारयितुम् अशक्ता च सती उपायात् निवृत्त्युपायमालोच्य ततो बाह्यप्रवृत्तेः सकाशाद् इत्थं द्विजान् वेदाध्ययनाधिकारिणस्तावद् वारयति। 'इत्थं' कथम्? इत्यत आह—कोशानिमान् जगाविति। ननु सर्वहिताय प्रवृत्तया श्रुत्या कथं द्विजा एवोपदिष्टाः? इत्यत आह— वारयिष्यन्तीत्यादि सङ्कल्प्येत्यन्तम्। ते द्विजा वारिता इतरानपि पुराणादिवाक्येन वारयिष्यन्ति इति सङ्कल्प्य द्विजा एवोपदिष्टाः। इति त्रयाणां सम्बन्धः।।१५९-१६१।।

ननु कथं पञ्चकोशोपदेशेन बाह्यप्रवृत्तिर्निरस्ता? इत्याशंक्य; 'अर्के चेन्मधु विन्देद्' इति न्यायमादर्शयति— रूपेति पञ्चभिः। लोके रूपादिसम्पन्ना अपि पुमांसः स्त्रियो वा परशरीरं जीवन्तं मृतं वा पिशाचवत् चित्तपरितोषाय भजन्तः प्रसिद्धाः। इति द्वयोरर्थः।।१६२-३।। स्थूला इति। तच्च परशरीरं त्रिविधं— स्थूलसूक्ष्मकारणभेदात्। तत्र प्रथममन्नकार्यमेव, द्वितीयं तु विज्ञानादित्रितयात्मकमेव, तृतीयमप्यनाद्यज्ञानरूपमेवेत्यर्थः।।१६४।। एतावानिति। न केवलं परशरीरमेव अन्नाद्यात्मकं किन्तु यावान् लोकत्रये प्रपञ्चः स सर्वोऽपि अन्नप्राणमनोबुद्धिकारणेभ्यो भिन्नो न भवति, तन्मयत्वात्। स च सर्वः प्रपञ्चः प्राणिनां प्रत्येकं स्वदेह एव वर्ततेऽतो बहिरर्थनीयं न किञ्चिद् इति भावः।।१६५।। आनन्दात्मेति। तत्र बहिर्गच्छन् बाल एवं श्रुत्या बोध्यते। 'एवं' कथम्? हे तात! यदि

इस प्रकार सब प्राणियों पर यह ऐसी आपत् पड़ी हुई है जिससे बचने का उपाय नहीं सूझता। सब न केवल परम-पुरुषार्थ से वंचित हैं वरन् दुःख से पीडित ही हैं। माता की तरह वात्सल्य वाली श्रुति यह परिस्थिति समझती तो है लेकिन बाह्य पदार्थों के लालच से प्रवृत्तिशील जीव को सीधे ही वह वैसा करने से रोक नहीं सकती। दुःखी जीवों को देख श्रुति—वेदाभिमानिनी देवता—दुःखी हो गयी, उसे करुणा आयी। जीवों को दुःख की ओर बढ़ने से रोकने के उपाय का विचार कर वह वेदाधिकारियों को बहिर्मुखी प्रवृत्ति से कोशप्रक्रिया द्वारा रोकती है। श्रुति जानती है कि स्वयं बहिर्मुखता से निवृत्त हो जाने पर द्विज लोग मनुष्यों को भी पुराण, गीता आदि के उपदेश द्वारा दुःखद बहिःप्रवणता से रोक लेंगे। यों प्राणिमात्र के कल्याणार्थ यह प्रक्रिया कारगर हो— यह संकल्प कर वेद माता ने इन कोशों का कथन किया।।१५९-६१।।

पाँच कोश सुनाने से बाह्य प्रवृत्ति कैसे रोकी जा सकती है? 'घर में ही शहद मिल जाये तो पहाड़ क्यों चढ़ा जा!' इस नीति से कोश सुनाना बहिर्मुखता रोकने में समर्थ है यह बताते हैं—रूप-यौवन से संपन्न, गुणों का सागर पुरुष हो या स्त्री, कोई अपने शरीर से संतुष्ट नहीं होता! सुखेच्छु सभी जन्तु अन्य शरीर की ओर ही भागते हैं मानो पिशाच हों! सुखकामना से जिसकी तरफ जाते हैं वह जीवित देह तो होता ही है, कभी मुर्दा भी होता है!।।१६२-३।।

आनन्दात्मस्वरूपाच्चेदन्यतोऽपि सुखं भवेत् । भवताद् भवतस्तत्त्वं स्वदेहेऽन्यत् प्रयाहि भोः ।।१६६

क्षुधितः कामुको वाऽपि परित्यज्य यथा निजम् । गृहं गच्छन्निवार्येत हस्तग्राहं कदाचन ।।१६७

जनन्या वत्स कस्मात् त्वं बहिर्यास्यसि दुःखितः । गृह एव तवाऽभीष्टमन्नं नानाविधं शुभम् ।।१६८

रूपयौवनसम्पन्ना दाराश्च मनसेप्सिताः । सम्पादयामि मा क्लेशं गमिष्यसि कदाचन ।।१६९

एवमुक्ते[1] यथा धीमान् कुत्र कुत्रेति चेरयन् । गृहस्यान्तः प्रयात्याशु बहिस्त्यक्त्वा गतिं पुमान् ।।१७०

एवं सुखार्थिनो जन्तोर्देहाद् बाह्यं प्रधावतः । अन्तर्मुखत्वसम्पत्त्यै देहः पक्षी पुरोदितः ।।१७१

तवाऽयमेवाऽऽग्रहो यद् 'मयाऽऽनन्दात्मस्वरूपं न स्प्रष्टव्यम्, आत्मनोऽन्यदेव वस्तु मम सुखाय' इति, तर्हि भवतः सुखं सुखदमात्मनः अन्यद् एव भवताद् अस्तु, तथाऽपि त्वं तद् आत्मान्यद् अन्नादिकं स्वदेह एव विद्यमानं प्रयाहि भज, किमर्थं बहिर्गच्छसीत्यर्थः ।।१६६ ।। एवमुपदेशे लौकिकमातृवृत्तं दृष्टान्तयति— क्षुधित इति चतुर्भिः । यथा क्षुधावशात् कामवशाद् वा स्वगृहं परित्यज्य बहिः गच्छन् सुत एवं जनन्या हस्तं गृहीत्वा निवार्यते । 'एवं' कथम्? हे वत्स! तव इष्टस्य सर्वस्य गृह एव मया सम्पाद्यमानत्वाद् बहिर्गमनं क्लेशदम् अयुक्तम् । इति त्रयाणामर्थः ।।१६७-९ ।। एवमुक्त इति । एवं जनन्या उक्तः पुमान् यदि धीमान् भवति 'बुद्धेः फलमनाग्रह' इति न्यायात्, तर्हि बहिर्गतिं त्यक्त्वा कुत्र कुत्र इति वदन्, अन्तः गत्वा सर्वमिष्टं लभत इत्यर्थः ।।१७० ।।

दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमित्यादिना । एवं देहाद् बाह्यं परशरीरादिकं प्रति सुखाय धावन्तं जन्तुमन्तर्मुखं कर्तुं प्रथममन्नमयकोशः श्रुत्योक्त इत्यर्थः ।।१७१ ।। अस्मिन्नेष इति । ततः श्रुत्युपदेशाद् अस्मिन् अन्नमय एव

वह परकीय देह तीन तरह का होता है—स्थूल, सूक्ष्म और कारण । सभी प्राणियों के स्थूल देह हमेशा अन्न-परिणामात्मक होते हैं। बुद्धि, मन, प्राण और कारण अर्थात् इंद्रियाँ — ये ही सब सूक्ष्म शरीरों के स्वरूप हैं। सबका तीसरा शरीर अव्याकृत अर्थात् अज्ञान ही है जिसका कभी कोई कारण नहीं है, वह अनादि है ।।१६४ ।। केवल पराया शरीर ही अन्नादि-रूप हो ऐसा नहीं वरन् त्रिलोकी-स्थित समस्त प्रपंच इतना ही है, इससे अतिरिक्त नहीं। और प्रत्येक प्राणी के अपने देह में वह सारा प्रपंच उपस्थित है अतः बाहर कुछ ऐसा नहीं जो प्रार्थनीय हो ।।१६५ ।।

बालक की तरह जो बाहर जाने की ही ज़िद्द करे उसे श्रुति समझाती है 'अरे बेटा! अगर तेरा यह आग्रह है कि 'आनंदरूप आत्मा से मुझे कोई सरोकार नहीं, अनात्मा-वस्तु से ही मुझे सुख लेना है' तो ठीक ही, आत्मभिन्न वस्तुएँ ही तुम्हारे लिये सुखप्रद होवें पर फिर भी तुम्हारे शरीर में ही विद्यमान उन अन्नादि पदार्थों का ही सेवन करो, बाहर क्यों जाते हो?' ।।१६६ ।। भूखा या कामुक बालक अपना घर छोड़कर कभी बाहर जाने लगता है तो माँ उसे हाथ पकड़ कर रोकती है। कहती है 'बेटा! दुःखी होकर तू बाहर क्यों जा रहा है? तुझे इच्छित विविध शुभ भोजन मैं घर पर ही तैयार कर देती हूँ।' या अगर कामनावश जा रहा हो तो कहती है 'तेरे मनको भाने वाली सुंदर युवती पत्नी मैं ढूँढ देती हूँ जिससे तुझे कभी दुःख नहीं होगा, बाहर मत जा।' ।।१६७-९ ।। बुद्धिमान् पुत्र को जब यों समझाया जाता है तब वह बाहर जाने का हठ छोड़कर तुरंत घर में ही प्रवेश कर अभिलषित भोजन, पत्नी आदि के लाभ के उपाय पूछने लगता है। भूखा हो तो पूछता है 'कहाँ है भोजन? घी-आटा कहाँ रखा है?' कामी पूछता है 'वैसी लड़की कहाँ है? उससे कब मुलाकात होगी?' ।।१७० ।।

जैसे घर से बाहर जाते पुत्र को माँ रोकती है ऐसे सुख चाहकर देह से बाहर दौड़ते हुए जन्तु को अन्तर्मुख बनाने के लिये पहले स्थूल शरीर को अन्नमयरूप पक्षी कहा गया है ।।१७१ ।। साधना के मार्ग पर चलने वाला बुद्धिमान्

१. टीकापाठस्तु—एवमुक्तो यथेति ।

अस्मिन्नेष समायाति झटित्येव पुमानिह। परित्यज्य ततो भिन्नं विषयं सुखकारकम्।।१७२

बाह्याद् व्यावृत्तचित्तः सन्नस्मिन् स्थूले स्थितः पुमान्। प्रयाति सहसा सूक्ष्ममुत्सुक सुखलिप्सया।।१७३

तत्राऽपि प्राणमायाति प्रथमं स ततो मनः। ततश्च बुद्धिमायाति कार्यं तत्र जहाति सः।।१७४

अव्यक्तं कारणं बुद्धेः ततो याति गुरूक्तितः। तत्र याति सुखस्याऽयं दर्शनं हि ततोऽपि च।
लाभं तस्माच्च भोगं स सामान्यं च ततो व्रजेत्।।१७५

सुखसामान्यसंस्थानः सर्वदुःखविवर्जितः। आनन्दात्मानमात्माऽयमात्मत्वेनाऽधिगच्छति।।१७६

सर्वस्थूलविषयजन्यं सुखं लभत इत्यर्थः।।१७२।। बाह्यादिति। एवं बाह्याद् निवृत्तः सन्नन्नमयेऽपि वास्तवं सुखमलब्ध्वा श्रुतिजनन्या वचनविश्वासेन तदन्तर्गच्छन् सूक्ष्मशरीरं कोशत्रयात्मकं यातीत्यर्थः।।१७३।। कोशक्रममाह—तत्रापीति। तत्र सूक्ष्मेऽपि प्राणमयं मनोमयं विज्ञानमयं च क्रमेण याति। तत्र विज्ञानमयेऽपि विरज्यमानः कार्यवर्गं जहातीत्यर्थः।।१७४।।

एवं स्थूलारुन्धतीन्यायमनुसरन् कारणात्मकमानन्दमयं यातीत्याह—अव्यक्तमिति। तत्र आनन्दमये सुखस्य स्वरूपं दर्शनजं, लाभजं, भोगजं च क्रमेण प्राप्य सामान्यम् आनन्दाख्यं रूपं यातीत्यर्थः।।१७५।। ततः श्रुतिजनन्या प्रापणीयतयेष्टं ब्रह्मानन्दं सर्वान्तरं पुच्छभूतं लभत इत्याह— सुखसामान्येति। संस्थानः सम्यक् स्थितिमान्।।१७६।।

पुरुष सुखप्रद समझे जाते देहभिन्न विषय छोड़कर झट से अन्नमय में ही समाहित हो जाता है। (पत्नी, पुत्र, क्षेत्र आदि गौणात्मा में तादात्म्य छोड़कर मिथ्यात्मा देह में ही तादात्म्य रखता है। किं च शरीर की नीरोगता, बलिष्ठता आदि सामर्थ्य बढ़ाकर सुख पाता है न कि बाहरी विषयों से, उपकरणों से, ओषधि आदि से। सर्दी-गर्मी में दैहिक सहिष्णुता की वृद्धि से भी सुख हो सकता है, ओढ़ने, बर्फ़ पास रखने आदि से भी सुख होता है। बहिर्मुखी तो ओढ़ने आदि में तत्पर रहता है, अन्नमय-आत्मदर्शी सहिष्णुता बढ़ाता है। ऐसे ही अन्य सुखों में समझना चाहिये। यद्यपि इसमें प्रतीत हो सकता है कि व्यक्ति स्वार्थी हो जायेगा तथापि प्रसंग साधक का होने से ग़लत स्वार्थिता संभव नहीं। 'ग़लत' अर्थात् अन्य को दुःख देने वाली, अन्य को हानिकारक; आत्मकल्याण को ही प्राथमिकता देना रूप स्वार्थिता तो 'मुमुक्षा' का ही व्यक्त रूप होने से इष्ट ही है। जैसे संसारी लोग आत्मा की उपेक्षा कर दृश्य प्रपंच की वृद्धि को ही महत्त्व देते हैं ऐसे आत्मवादी बाह्य संसार की उपेक्षा करे, आत्मनिष्ठा बढ़ाने को ही महत्त्व दे यही उचित है। पंचदशी में (२.१०१) इसे सुव्यक्त किया है।)।।१७२।। बाह्य विषयों से चित्त हटाकर इस स्थूल देह में ही स्थित पुरुष और अधिक सुख पाने के लिये उत्सुक होकर तुरंत सूक्ष्म शरीर में अपना अभिमान सीमित करता है। (क्योंकि श्रुतिवचन पर उसका विश्वास बढ़ चुकता है इसलिये बाह्य विषय छोड़ने की अपेक्षा स्थूल से भीतर जाने के प्रति उसमें उत्साह ज़्यादा होता है। विषयसुख विषयापेक्ष होने से भोक्त हमेशा स्वयं को परतंत्र पाता है। जब वह देह-सुख भोगता है तब उसे स्वातंत्र्य का संतोष अधिक मिलता है जिससे उसे वेदवाक्य का महत्त्व महसूस होने लगता है और वह अधिक अंतर्मुख होने को तैयार हो जाता है।)।।१७३।। स्थूल से सूक्ष्म में आते हुए पहले वह प्राणमय में आता है, फिर मनोमय में, तब विज्ञानमय में। जब विज्ञानमय से भी विरक्त हो जाता है— उतने ही सुख से तृप्त न होकर और व्यापक सुख चाहता है— तब सारे कार्य-वर्ग को वह हेय समझ कर उससे विवेक कर लेता है।।१७४।।

जैसे स्थूल तारे दिखाकर अरुन्धती तक नज़र ले जायी जाती है वैसे कोश चतुष्टय के क्रम से गुरु के उपदेशानुसार साधक उस अव्यक्त में प्रवेश करता है जो विज्ञानमय का भी कारण है, 'आनंदमय' नामक अंतिम कोश है। वहाँ इसे सुख का दर्शन, सुख की प्राप्ति फिर सुख का भोग होता है। तब वह इनमें अनुगत आनंद को प्राप्त कर लेता है। (कार्यवर्ग छोड़ते ही विषयसुख की अपेक्षा निर्विषय सुख से तृप्ति मिलती है और विविध सुखों में व्यापक सुखमात्र प्राप्त हो जाता

यदीदमात्मनो रूपं ब्रह्म नात्मतया पुमान्। अधिगच्छति जीवन् सन्नसत्तुल्यः प्रजायते।।
अत्राऽपि श्लोकमाहुस्ते मुनयो ब्रह्मवेदिनः।।१७७

असन्नेव भवेदात्मा नास्ति ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः।।१७८

ब्रह्मणो नास्तिताज्ञानान्नित्यं सञ्जातपातकः। बहिर्विषयलाभार्थं व्रजन् देहादहर्निशम्।।१७९

दुःखाद् दुःखान्तरं प्राप्य मरणं सोऽधिगच्छति। मृतश्च जायते दुःखी दुःखी च म्रियते पुनः।।१८०

एवं यमवशो दीनः संसारे परिवर्तते। असन्नेव शरीरेषु भूत्वा भूत्वा निरन्तरम्।।
अल्पायुश्चाप्यवज्ञातो जनैर्भवति नास्तिकः।।१८१

आस्तिको ब्रह्मणः सत्तां दृढां ज्ञात्वा गुरोर्मुखात्। सम्पादयति तज्ज्ञानं यतस्तिष्ठति सर्वदा।
आनन्दात्मस्वरूपेण मायादुःखविवर्जितः।।१८२

एवमनुग्रहेण श्रुत्या प्रदर्शितमप्यात्मानं यो न जानाति सोऽसच्छब्दप्रयोगार्हो भवतीत्यस्मिन्नर्थे पर्यवसन्न उत्तरो मन्त्र इत्याह—यदीदमिति। यदीदम् आत्मरूपं ब्रह्मत्वेन न अवगच्छति तर्हि असत्तुल्यः असता नृशृङ्गादिना असच्छब्दप्रयोगार्हत्वधर्मेण तुल्यो भवति इति अत्र अर्थे इममुत्तरं मन्त्रं पठन्तीत्यर्थः।।१७७।।

तं[1] दर्शयति—असन्नेवेति। यो ब्रह्म नास्तीति वेद तस्य आत्मा असन् भवति इति पूर्वदलार्थः।।१७८।। तत्र पूर्वदलार्थं स्फुटयन् सत्पदार्थानां 'सद् विद्यमाने सत्ये च प्रशस्तार्चितसाधुषु' इति कोशोक्तानां व्यतिरेकं नास्तिके दर्शयति—ब्रह्मण इति त्रिभिः। 'सत्यं यथार्थे वाङ्मनसी' इति योगभाष्योक्तः[2] ब्रह्मणो नास्तितां जानन्ननृतदूषितचित्तो भवति स्वदेहाद् बहिर्विषयलाभार्थं गमनेन असन्तुष्टतालक्षणामसाधुतां च स्वस्य दर्शयतीति भावः।।१७९।। दुःखादिति। तथा दुःखसन्तानं दैन्यं मरणं च पुनः पुनः प्राप्नुवन्नविद्यमान इव भवति, अल्पायुष्ट्वेन अप्रशस्तो धिक्कृतत्वेन अनर्चितश्च जायते। इति द्वयोरर्थः।।१८०-१।। मन्त्रोत्तरार्द्धार्थमाह—आस्तिक इति। आस्तिकः तु ब्रह्मणः सत्ताम् अवधार्य माययाऽज्ञानेन दुःखेन च हीनताप्रयोजकं ज्ञानं सम्पाद्य ब्रह्मरूपेण तिष्ठति इत्यर्थः।।१८२।।

है। क्योंकि अभी कार्यवर्ग बाधित नहीं हुआ इसलिये सुखमात्र सावरण ही मिलता है और प्रत्यग्रूप से वह स्फुरमाण नहीं होता।)।।१७५।। सुखसामान्य में भली भाँति स्थित एवं सब दुःखों से रहित यह आत्मा तब आनंदरूप मुख्य आत्मा को ही आत्मा समझ लेता है।।१७६।। यदि पुरुष आत्मा के वास्तविक स्वरूप इस ब्रह्म को ही 'मैं' नहीं समझ पाता तो ज़ीवित रहते हुए भी वह मानो असत् हो जाता है, उसके बारे में कहा जा सकता है कि वह है ही नहीं! तैत्तिरीयशाखाध्यायी ब्रह्मवेत्ता मुनि इस बारे में भी श्लोक सुनाते हैं :।।१७७।। 'यदि समझता है कि ब्रह्म नहीं है तो आत्मा असत् हो जाता है। यदि समझता है कि ब्रह्म है तो उस समझ के कारण विद्वान् उसे 'सन्त' मानते हैं, वह 'है' ऐसा स्वीकारते हैं। (कार्य में अक्षम व्यक्ति का होना भी न होने के बराबर हुआ करता है। अज्ञानी जीव यदि आत्मबोध नहीं पा सका तो उसका होना भी न होने जैसा ही है। जानकार का होना ही वस्तुतः होना कहा जा सकता है।)।। १७८।।

'ब्रह्म नहीं है' इस समझ से व्यक्ति हमेशा पातकी रहता है (क्योंकि यह झूठ उसके चित्त में घर किये रहता है और झूठ घोर पाप है)। बाह्य विषय पाने के लिये वह रात-दिन अपने शरीर से बाहर भागता है।(यों वह अपना असंतोष दिखाता है। असंतुष्ट रहना ही असाधुता है। साधु पुरुष, भला आदमी संतोषी होता है)।।१७९।। दुःख के

१. 'असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।' इति श्रुतौ पूर्वार्द्धपाठः। उत्तरार्धः पुराणे यथाश्रुति।

२. 'सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे—यथा दृष्टं, यथाऽनुमितं, यथा श्रुतं तथा वाङ् मनश्चेति।'(२.३०)। इहापि टीकायां 'वाङ्मनसे इति' इति पठितव्यम् 'अचतुर'(५.४.७७) इत्यादिनाऽजन्ततौचित्यात्।

ततः सन्तममुं प्राहुर्ब्राह्मणा वेदवादिनः। आस्तिकं नास्तिकश्चाऽयमसन्नेव प्रजायते।।१८३
तस्मान्नास्तिकता नैव करणीया सुखेप्सुना। गुरुशास्त्रादिकथितेऽतीन्द्रियार्थे कदाचन।।१८४
पूर्वं यस्तस्य विज्ञानमयस्यात्मा समीरितः। एष एवाऽयमानन्दमयोऽयं कथितोऽधुना।।१८५

सोपानवत् कोशक्रमः

शिरः पक्षौ तथैवात्मजठरं पुच्छमेव च। पञ्चाङ्गः कथितः कोश एकैको मुनिसत्तमैः।।१८६
पञ्चकोशेषु विज्ञेयः पञ्चविंशतिभूमिकाः। बहिर्मुखस्य चित्तस्य स्थिरी करणहेतवः।।१८७

तत इति। ततो ज्ञानफलसम्बन्धाद् अमुमास्तिकं सन्तम् आहुः, विद्यमानत्वादिशालित्वाद् इति भावः।।१८३।। **फलितमाह— तस्मादिति। स्पष्टम्।।१८४।।**

'तस्यैष'[1] इत्यादेर्वाक्यार्थमाह— पूर्वमिति। यो विज्ञानमयः पूर्वं समीरितः तस्यैष एवात्मा। एष कः? योऽयमानन्दमयः कथित इति योजना।।१८५।। आनन्दमयः कोश एव ब्रह्मत्वेन दर्शित इत्येकदेशिन आहुः; तन्निरस्यन्, सोपानारोहणसमां कोशावयवपरम्परां पुच्छभूते ब्रह्मणि समाप्तां दर्शयति— शिर इति अष्टभिः। आत्मजठरम् आत्मपदोक्तं जठरम्। शिरःप्रभृतिभिः पञ्चभिरङ्गैः युक्ताः पञ्चकोशा ये प्रोक्ताःतेषामङ्गानि सङ्कलय्य पञ्चविंशतिर्भवन्ति। तानि ब्रह्मजिज्ञासूनां चित्तालम्बनभूमित्वेन दर्शितानि। इति द्वयोरर्थः।।१८६-७।। तत्र क्रममाह— शिरस इति। प्रथमं शिरो ध्यात्वा दक्षिणं करं पक्षं ध्यायेत्, ततो वामं, ततो मध्यं, ततः पदद्वयं पुच्छमिति

बाद दुःख पाते हुए वह मर जाता है। मरकर फिर दुःखी ही पैदा होता है और पुनः दुःखी ही मर जाता है!।१८०।। यों यम के वशीभूत और असहाय हुआ वह संसार में भटकता रहता है। शरीरों में लगातार हो-होकर भी वह असत् ही रह जाता है, न हुए जैसा ही रहता है क्योंकि होकर जो सुखलाभ मिलना चाहिये था उससे वंचित ही रहता है।'ब्रह्म नहीं है' ऐसे निश्चय वाला अल्पायु ही होता है और सज्जन उस नास्तिक का तिरस्कार ही करते हैं। ('अल्पायु' इसलिये कि असंतोषी होने से वह अपनी आयु हमेश अपर्याप्त मानता है। किं च भोगपरायण होने से आधि-व्याधिग्रस्त होकर दीर्घ जीवन भी प्रायः नहीं पाता। आधुनिक मनोविज्ञान-अनुसंधाता भी पाते हैं कि दीर्घ स्वस्थ जीवन आस्तिकों में ही प्रधानतः उपलब्ध है। यद्यपि प्रायः आस्तिक 'ईश्वर है' इसी विश्वास में रुक जाते हैं, ब्रह्म को नहीं समझते, तथापि वे ईश्वर की ओर दृष्टि रख बाह्य विषयों को ही *सब कुछ* नहीं मानते, उनसे हटकर ईश्वर की ओर उन्मुख होते हैं। प्रसंग आत्मा का होने से यहाँ 'आस्तिक' से सिर्फ वैदिक या परलोकवादी ही नहीं वरन् 'आत्मा है' मानने वाला विवक्षित है।)।।१८१।।

आस्तिक तो गुरुमुख से ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता समझकर उस ब्रह्मनिष्ठा का संपादन करता है जिससे वह मायारूप दुःख से छूटकर हमेशा आनन्दात्मक ब्रह्मरूप से रहता है।।१८२।। वेदवादी ब्राह्मण ज्ञानफल के संबंध के कारण उस आस्तिक के बारे में कहते हैं कि वह 'है'। इससे विपरीत वह नास्तिक तो असत् ही हो जाता है।।१८३।। इसलिये जो सुख चाहे उसे गुरु-शास्त्रादि द्वारा कहे इन्द्रियातीत विषयों के बारे में 'नहीं है' ऐसा निश्चय कभी नहीं करना चाहिये।।१८४।।

पहले जो विज्ञानमय कोश बताया था उसका आत्मा यही आनंदमय है जिसे अंत में कहा।।१८५।।

(प्रायः लोग समझते हैं कि तैत्तिरीय में आनंदमय कोश को ही ब्रह्मरूप से बताया है पर पुराणकार समझाते हैं कि सीढ़ी चढ़ने की तरह कोशों के अवयवों की शृंखला है जो 'पूँछ' कहलाये ब्रह्म में समाप्त होती है—) श्रेष्ठ मुनियों ने हरेक कोश को पाँच अंगों वाला बताया है : सिर, दो पक्ष, 'आत्मा' शब्द से कहा धड़ और पूँछ। इस प्रकार पाँच कोशों में पच्चीस भूमिकायें (चित्तस्थैर्य के स्थान) समझ लेनी चाहिये जो बहिर्मुख मन को स्थिर करने में उपयोगी हैं।।१८६-७।। अन्नमयकोश में 'धारणा' करने वाला साधक पहले सिर में मन एकाग्र करे, फिर दायें हाथ में, फिर

१. 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।'

शिरसस्तु करं गच्छेद् दक्षिणं तत एव च। वामं ततोऽपि जठरं जठराच्च पदद्वयम्।।१८८
पदद्वयात् परं नास्ति कोशे तस्मिन् हि किञ्चन। ततः कोशान्तरं गच्छेत् पूर्ववच्छिरआदिकम्।।१८९
एवं कल्पनया योगी पञ्चविंशतिभूमिकाः। गच्छेदतः परं नैव गन्तव्यं विद्यतेऽत्र हि।।१९०।।
ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति यदुक्तं पादरूपतः। नित्यं तत्रैव तिष्ठन्ति चतुर्विंशतिभूमिकाः।।१९१
अस्यैव बोधनायैते कोशाः श्रुत्या समीरिताः। पञ्चाङ्गसहिताः पञ्च प्राणिनां वपुषि स्थिताः।।१९२
ब्रह्मणः पुच्छभूतस्य सर्वेषामाश्रयात्मनः। अज्ञाने न सुखं किञ्चिद् इह लोके परत्र वा।।१९३
अज्ञानादात्मनोऽसत्तां जानीतेऽसन् स्वयं ततः। उक्तरीत्या भवत्यत्र पुमान् लोकद्वयेऽपि च।।
ततो ब्रह्मात्मविज्ञानाद् भवेल्लोकद्वयं सदा।।१९४

मननम्

इदं विचार्य मुनिभिर्निश्चितं तद्यथा शृणु। एवं विचारयन्त्यत्र मुनयो ब्रह्मदर्शिनः।।
ब्रह्मवेदनतो ब्रह्मप्राप्तिं कर्तुं स्थिरामिमे।।१९५

यावत्।।१८८।। एवमेकं कोशं ध्यात्वा द्वितीयं कोशं गच्छेद् इत्याह—पदद्वयाद् इति।।१८९।। एवमिति। गच्छेद् ध्यायेत्। अतः पञ्चविंशतितम्याः।।१९०।। सर्वान्ते निर्देशात् सर्वाधिष्ठानत्वमपि दर्शितमित्याह—ब्रह्मेति। यथाऽन्नमयस्यान्ते कीर्तितं पादद्वयं तदाधारः तथा सर्वान्ते पुच्छप्रतिष्ठा-पदाभ्यामुक्तं यद् ब्रह्म तत्रैव तदाश्रिता एव अर्वाञ्चः चतुर्विंशतिभूमिकाः स्थिता बोध्या इत्यर्थः।।१९१।। एतदेवाऽत्र प्रतिपाद्यमज्ञातत्वाद्, 'अप्राप्ते शास्त्रमर्थवद्' इति न्यायाद् इत्याह—अस्यैवेति। अस्य ब्रह्मण एव। न ह्यानन्दमयः प्रियाद्यवयवकोऽप्रसिद्ध इति भावः।।१९२।। 'असन्नेवे'त्यादिमन्त्रानुसारेण तद्विज्ञानस्यैव फलवत्त्वाच्च तदेव प्रतिपाद्यमित्याह—ब्रह्मण इति द्वाभ्याम्। अस्य अज्ञाने सति न किञ्चित् सुखं यतः अज्ञानादात्मनोऽसत्तां जानान उक्तविधया असन् भवति ततो ब्रह्मविज्ञानाद् एव सर्वेष्टसिद्धिरिति द्वयोरर्थः।।१९३-४।।

एवं श्रवणविधयाऽऽत्मतत्त्वं दर्शितम्। अथ मननविधया तत्प्रदर्शक उत्तरग्रन्थ[1] इति दर्शयति— इदमिति। इदम् आत्मनः सत्यत्वादिकं विचार्य मननं कृत्वाऽपि निश्चितं तत् तदीयविचारस्वरूपं यथा उदाह्रियत इत्यर्थः।

बायें हाथ में, फिर धड़ में और अंत में दोनों पैरों में। अन्नमयकोश में दोनों पैरों से परे कुछ नहीं है यह समझते हुए अगले कोश में— प्राणमय में— प्रवेश कर उक्त क्रम से शिर आदि कहे प्राणादि में मन एकाग्र करे। योगी इस तरह शिर आदि का चिंतन करते हुए पच्चीस भूमिकाओं में ध्यान करे। पच्चीसवीं भूमिका (पुच्छ ब्रह्म) से परे कोई गंतव्य (ध्यातव्य) संसार में नहीं है।।१८८-९०।। सबसे अंत में कहा गया है अतः ब्रह्म ही सबका अधिष्ठान है। जैसे अन्नमय के अंत में बताये दोनों पैर अन्नमय का आधार हैं वैसे सब कोशों के अंत में पूँछ प्रतिष्ठा बताया जो ब्रह्म उसी पर पूर्वोक्त चौबीसों भूमिकायें सदा स्थित हैं यह निश्चय रखना चाहिये।।१९१।। क्योंकि यह अधिष्ठान ब्रह्म ही अज्ञात है और अज्ञात का ज्ञान कराने में ही शास्त्र की सार्थकता है इसलिये श्रुति ने इस ब्रह्म के ही बोधन के लिये प्राणियों के शरीरों में स्थित पाँच अंगों वाले पाँच कोश बताये हैं।।१९२।। सफल होने से भी ब्रह्मज्ञान ही शास्त्र का प्रतिपाद्य है : पूँछ बनना अर्थात् सबका आश्रय होना जिसका स्वभाव है उस ब्रह्म का अज्ञान रहते इस लोक या परलोक में कुछ भी सुख नहीं मिलता। अज्ञानवश जीव आत्मा की असत्ता मान बैठता है जिससे पूर्वोक्त ढंग से पुरुष इह-परलोक में स्वयं असत् हो जाता है। इसलिये ब्रह्मरूप आत्मा के सही अनुभव से ही इह-परलोक की सदा सिद्धि होती है, सभी इष्ट प्राप्त हो जाते हैं।।१९३-४।।

---

१. 'इत्थं ब्रह्मोपदेशरूपं श्रवणप्रकरणं परिसमाप्य बहिर्मुखाणामुपपादनरूपस्य मननप्रकरणस्य' इति सायणः।

ब्रह्माऽस्ति वादिनां येषां सत्यं ज्ञानमनन्तकम्। तेषां व्यर्थं भवेज्ज्ञानं तस्यानन्दात्मरूपिणः।।१६६

विदुषोऽविदुषो यस्मादेक आत्मा समः स्मृतः। स्मृत्वा विद्वान् यथा गच्छेत् तं तथैव कुतो न हि।।
अविद्वान् याति तद्वाच्यं कारणं विदुषो गतौ।।१६७

ततः सत्ता यदा ब्रह्मरूपस्य स्यात् तदा द्वयोः। विदुषोऽविदुषश्चाऽपि गतिस्तत्र सुनिश्चिता।।१६८

अविद्वांश्चेदिदं ब्रह्म न यात्यात्मस्वरूपकम्। असदेव तदा तत् स्याद् विद्वानपि कुतो व्रजेत्।।१६९

विचारप्रयोजनं प्रमेयाऽसम्भावनानिवृत्तिं दर्शयति—एवमिति। ब्रह्मविज्ञानस्य ब्रह्मप्राप्तिहेतुतां स्थिराम् असम्भावनाहीनां कर्तुं वक्ष्यमाणो विचार इत्यर्थः।।१६५।। तत्र 'अनुप्रश्न'-पदोक्तसंशयत्रयप्रदर्शकस्य 'उत' इत्यादिश्लोकस्य[1] अर्थं दर्शयति—ब्रह्मास्तीति पंचभिः। अत्र भाष्ये पूर्वमन्त्रे 'चेद्'-इति प्रयोगमूलकोऽस्तित्वनास्तित्वकोटिको ब्रह्मणि प्रथमः संशयो दर्शितः। अविद्वत्प्राप्यत्वाऽप्राप्यत्वकोटिको द्वितीयः। विद्वत्प्राप्यत्वाऽप्राप्यत्वकोटिकः तृतीयः। तत्र प्रथमसंशयस्य कोटिर्नास्तित्वरूपाऽत्र श्लोके पूर्वपक्षतयोच्यते; तथाहि—येषां वादिनाम् औपनिषदानां मते सत्यादिलक्षणं ब्रह्मास्ति तेषां ज्ञानं मतं व्यर्थं विषयशून्यं, तादृशब्रह्मणोऽनुपलब्धेः। यदि तत् स्यात् तर्हि पृथिव्यादिवद् उपलभ्येतेत्यर्थः।।१६६।।

द्वितीयसंशयस्य कोटिम् अविद्वत्प्राप्यतां पूर्वपक्षतयाह—विदुष इति द्वाभ्याम्। यस्माद् भवद्भिरभ्युपगत आत्मा ब्रह्मरूपो विदुषोऽविदुषः च समः पक्षपातरहितः तस्मात् स्मृत्वा प्रत्यभिज्ञाय तम् आत्मानं विद्वान् यथा याति तथैव अविद्वान् अपि कुतो न गच्छेत्? अतो विदुष एव ब्रह्मणि गतिरित्यत्र कारणं वाच्यम् इत्यर्थः। अविदुष आत्मस्मरणं न भवति इति तु न युक्तं, सर्वस्य आत्मप्रसिद्धेरिति भावः।।१६७।। एतदेव स्फुटयति— तत इति। यदाऽद्वितीयस्य ब्रह्मणः सर्वात्मतया सत्ता तदा तस्य समत्वादेव उभयोर्विद्वदविदुषोः तत्प्राप्तिः समा स्याद् इत्यर्थः।।१६८।। तृतीयसंशयकोटिं विद्वदप्राप्यतां पूर्वपक्षतयाह— अविद्वांश्चेदिति। यद्यपि[2] अविद्वांस्तद् ब्रह्म न याति तर्हि तद् ब्रह्म असदेव स्याद्, न ह्यात्माऽप्राप्तश्चेति युज्यते! तथा च विद्वान् अपि तद् ब्रह्म कथं प्राप्नुयात्? असत्कर्मकप्राप्त्ययोगाद्

यहाँ तक उपनिषत् ने श्रवण के ढंग से, आगम की प्रधानता रखकर, आत्मतत्त्व दिखाया। अब मनन के ढंग से, ऊहापोह या युक्ति प्रधान रखकर वही तत्त्व समझाया जायेगा। वार्तिक में बताया है कि 'असत् पर आश्रित को परम पुरुषार्थ नहीं मिलता वरन् ब्रह्मज्ञ को ही मिलता है' इस बात पर उठे आक्षेपों का समाधान कर निर्णय करने के लिये आगे का ग्रंथ है (तै.वा.ब्रह्म. श्लोक ६)।

हे शिष्य! आत्मा की सत्यता आदि पर विचार कर मुनियों ने जिस प्रकार उसे अवधारित किया, वह सुनो। असंभावना से रहित हुआ ब्रह्मविज्ञान ही ब्रह्मप्राप्ति कराता है अतः ब्रह्मवेत्ता मुनि ब्रह्मबोध से ब्रह्म की स्थिर प्राप्ति के लिये इस रहस्य के बारे में इस प्रकार विचार करते हैं:।।१६५।। (विचार का प्रयोजन प्रमेयविषयक असंभावना मिटाना है। सर्वज्ञमुनि इसी तथ्य के प्रकाशन से उपक्रम करते हैं 'पुरुषापराधविनिवृत्तिफलः सकलो विचार इति वेदविदः'(१. १६)। स्वयं भी इसी उद्देश्य से विचार करना चाहिये, केवल तत्तद् मत से शंका उठाना व उनका मतांतर से परिहार करना मोक्षप्रद नहीं है।)।।

ब्रह्म के संदर्भ में तीन शंकाएँ उठती हैं: १) जिन अद्वैतवादियों के सिद्धांत में सत्य-ज्ञान-अनंत ब्रह्म है उन्हें अभिमत जो उस आनंदस्वरूप आत्मा का ज्ञान है वह निरर्थक है, उस ज्ञान का कोई वैसा विषय नहीं जो सत्यादिरूप हो क्योंकि होता तो भूमि आदि की तरह मिलना चाहिये था।।१६६।।

---

१. 'अथातोऽनुप्रश्नाः। उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चन गच्छती ३। आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित् समश्नुता ३ उ।'

२. 'यदि' इत्येतावानेव पठनीयः।

न ह्येकमेव गगनं याति विद्वान् न चाऽपरः। सर्वज्ञस्य शिशोश्चाऽपि जीवतोर्मृतयोरपि।।
प्राप्त्यप्राप्ती समे यद्वद् गगने तद्वदात्मनि।।२००

इत्याक्षिप्य ततः प्राहुरुत्तरं ब्रह्मवेदिनः। यद्यप्येतत् समं ब्रह्म विदुषोऽविदुषोऽपि वा।।२०१

आत्मरूपं च सम्प्राप्तमुभाभ्यामपि वस्तुतः। आप्नोति न तथाऽप्येतदविद्वान् हि कदाचन।।२०२

प्राप्तिरत्र प्रकाशः स्याद् अविद्यायाः क्षये सति। अविद्यायाः क्षयो नित्यं विद्यया ब्रह्मजातया।।
अविद्वान् न तया शून्यः कथं ब्रह्म समाप्नुयात्।।२०३

यथा निधिं निधिज्ञः सन्ननिधिज्ञश्च तावुभौ। प्राप्तावपि च न प्राप्तः स्यादज्ञो बोधवर्जनात्।।२०४

इत्यर्थः।।१९९।। सत्त्वे हि कंचित् प्रति प्राप्तिः, कंचित् प्रत्यप्राप्तिः इति न संभवति इति गगनदृष्टान्तेन स्फुटयति—न ह्येकमिति। यथा सर्वज्ञं प्रति बालं प्रति च आकाशस्य प्राप्तिः समा तथा अस्याऽपि युक्तेत्यर्थः।।२००।।

एषां पूर्वपक्षाणाम् उत्तराणि यद्यपि 'सोऽकामयत' इत्यादिश्रुत्यनुसारेण वक्ष्यमाणानि तथाऽपि सुखबोधाय सूचीकटाहन्यायेन प्राप्त्यप्राप्तिव्यवस्थामादौ दर्शयति—इत्याक्षिप्येति षड्भिः। एवं पूर्वपक्षयित्वा मुनय इत्थं सिद्धान्तयन्ति। 'इत्थं' कथम्? यद्यपि ब्रह्म समं विज्ञाऽविज्ञौ प्रति, यद्यपि च उभाभ्यां विज्ञाविज्ञाभ्यां वस्तुतः प्राप्तम् आत्मत्वात्, तथापि अविज्ञः तन्न प्राप्नोति इत्येव युक्तमिति द्वयोः सम्बन्धः।।२०१-२।। तत्र हेतुतया ब्रह्मप्राप्तेरविद्याक्षयोपलक्षितप्रकाशरूपतामाह — प्राप्तिरिति। अविद्वांस्तु तयाऽविद्यया शून्यो न भवति, अविद्याक्षयप्रयोजकविद्याया अभावात् वस्तुयाथात्म्याऽवगाहिज्ञानस्यैव विद्यात्वात्; तथा च अविदुषस्तत्प्राप्तिर्न वक्तुं शक्येत्यर्थः।।२०३।। अज्ञानमात्रेणाऽप्राप्तौ 'तद्यथा हिरण्यनिधिम्' इत्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धं (छां.८.३.२) दृष्टान्तमाह— यथा निधिमिति। यथा सन् सुधीः, निधिर्भूमिखातद्रव्यं, तज्ज्ञः; अनिधिज्ञश्च; एतौ वस्तुतो निधिं प्राप्तावपि अज्ञोऽप्राप्त इत्येव उच्यत इत्यर्थः।।२०४।। दार्ष्टान्तिके योजयति— अविद्वानपीति। तथाऽज्ञो

२) क्योंकि आपको स्वीकृत ब्रह्मरूप आत्मा ज्ञानी-अज्ञानी के प्रति समान है इसलिये इस आत्मा का साक्षात्कार कर ज्ञानी जैसे जाता है वैसे ही अज्ञानी भी क्यों नहीं जाता? आत्मा सबको स्वयं ही प्रसिद्ध है अतः अज्ञानी उसे जानता ही नहीं यह तो कह नहीं सकते। ज्ञानी की ही विशेष गति में कारण बताना चाहिये। जब अद्वय ब्रह्म सर्वात्मा रूप से विद्यमान है और किसी के प्रति पक्षपात वाला नहीं है तब ज्ञानी-अज्ञानी दोनों को उसकी प्राप्ति एक जैसी होनी चाहिये।।१९७-८।। ३) अगर अज्ञानी उस आत्मस्वरूप ब्रह्म को नहीं प्राप्त करता तो वह ब्रह्म असत् ही होगा, क्योंकि आत्मा भी हो और अप्राप्त भी रहे यह दुर्घट है। क्योंकि असत् प्राप्तिक्रिया का कर्म बन ही नहीं सकता इसलिये ज्ञानी भी उसे पा नहीं सकता।।१९९।। ऐसा तो होता नहीं कि एक ही गगन को ज्ञानी तो पा ले, अन्य लोग न पा सकें! सर्वज्ञ हो या अबोध बालक उन्हें जीवित दशा में या मरने पर जैसे आकाश की प्राप्ति या अप्राप्ति एक जैसी होती है वैसे ही यदि आत्मा सत्पदार्थ है तो ज्ञानी-अज्ञानी दोनों को उसकी प्राप्ति या अप्राप्ति एक-सी होनी चाहिये।।२००।। इस प्रकार तीन प्रश्न हैं।

उक्त ढंग से पूर्वपक्ष का उपन्यास का ब्रह्मवेत्ता इस प्रकार उत्तर देते हैं : यद्यपि यह ब्रह्म ज्ञानी-अज्ञानी के प्रति एक-सा है और वास्तविक दृष्टि से दोनों को ही आत्मरूप से प्राप्त है तथापि अज्ञानी उसे कभी प्राप्त नहीं कर सकता यह बात उचित ही है।।२०१-२।। ब्रह्म के प्रसंग में 'प्राप्ति' का मतलब है अज्ञान नष्ट होने पर उस अविद्याक्षय से उपलक्षित ज्ञान। ब्रह्मरूप विषय के अनुरूप पैदा हुई विद्या से ही इस अविद्या का क्षय होता है। अज्ञानी अविद्या से रहित होता नहीं क्योंकि आत्मा की वास्तविकता की उसे जानकारी है नहीं, तो वह ब्रह्म को प्राप्त कैसे करेगा?।।२०३।। जो सुमति खजाना खोजना जानता है और जो नहीं जानता, वे दोनों उस स्थान पर पहुँचते तो हैं जिसके नीचे खजाना

अविद्वानपि तद्वत् स्याद् ब्रह्माप्नोति निरन्तरम्। तज्ज्ञानरहितत्वेन दुःखत्रितयपीडितः।।२०५
असत्त्वं परिहायैव ब्रह्मणः सत्यरूपतः। स्थितस्याऽपि न सम्प्राप्तिरेवं ह्यविदुषो भवेत्।।२०६

ब्रह्मसत्त्वे कामनादिहेतुपञ्चकम्

ब्रह्मणोऽसत्यता केन शक्या शङ्कितुमप्यहो। यत एतज्जगज्जातं महाभूतात्मकं महत्।।२०७
एवं हि जगतः सृष्टिमानन्दात्मा चकार यः। तस्याऽसत्त्वं हि को नाम प्रतिपत्तुमिहार्हति।।२०८
जगत्सिसृक्षुर्भगवान् भूतभौतिकरूपधृक्। अनादिवासनाचित्रं मायाकञ्चुकमाश्रितः।।२०९
एक एव स्थितः पूर्वमिदमीशो व्यचिन्तयत्। बहुरूपोऽहमत्र स्यां जन्म कृत्वाऽऽत्मनः स्वयम्।।२१०

वस्तुतः प्राप्तोऽपि ब्रह्म तथापि स्वाऽज्ञानदोषाद् अध्यात्मादितापपीडितः स्याद् इत्यर्थः।।२०५।। फलितमाह— असत्त्वमिति। सत्यस्वभावताबलेन असत्त्वं परिहायैव स्थितस्याऽपि ब्रह्मणो योऽयमविद्वांसं प्रति प्राप्त्यभावः स एवं वर्णित इति सम्बन्धः।।२०६।।

अथ कामनालोचनस्रष्टृत्वप्रवेष्टृत्वभोग्याकारपरिणामैः पञ्चभिः हेतुभिः ब्रह्मणः सत्तां साधयतः 'सोऽकामयत' इत्यादेः 'सत्यमभवद्'[1] इत्यन्तस्याऽर्थमाह—ब्रह्मणोऽसत्यतेति विंशतिश्लोकैः। सर्वजगद्धेतोः ब्रह्मणः असत्ता शङ्कितुमपि अशक्येति।।२०७।। एतदेव विशदयति—एवमिति। एवं वक्ष्यमाणविधया।।२०८।। (i) 'एवं' कथम्? इत्यत आह—जगदित्यादि। अनादिवासनाविचित्रमायाशबलो भगवान् ईश्वरः सृष्टेः पूर्वम् अद्वितीयतया स्थितः। अथ भूतभौतिकात्मकं जगत् स्रष्टुमिदं व्यचिन्तयत् कामितवान्। 'इदं' किम्? अहमात्मन एव जन्म कृत्वा बहुरूपो भवेयम्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।२०९-१०।।

गड़ा है लेकिन जो खोजना नहीं जानता उसे क्योंकि खजाने का पता नहीं चलता इसलिये यह कहना ठीक ही है कि वह खजाने पर नहीं पहुँचा।।२०४।। ब्रह्म के बारे में अज्ञानी भी ऐसा ही है। वास्तव में भले ही वह भी हमेशा ही ब्रह्म को प्राप्त है लेकिन क्योंकि उसे ब्रह्म का सही बोध नहीं है इसलिये ब्रह्मप्राप्ति का जो फल दुःखनिवृत्ति उससे वह वंचित रहता है, आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक दुःखों से पीडित रहता है।।२०५।। ब्रह्म सत्यस्वरूप है अतः उसकी असत्ता नहीं हो जाती! वह स्थित ही रहता है पर अज्ञानी को उसकी संप्राप्ति नहीं होती। इसी बात को इस ढंग से कहते हैं कि अज्ञानी उसे नहीं पा सकता।।२०६।।

(इस प्रकार पूर्वोक्त द्वितीय-तृतीय शंकाओं का समाधान हो गया। प्रथम शंका ब्रह्म की विद्यमानता के बारे में थी जिसके समाधान में श्रुति ने पाँच हेतु दिये हैं— ब्रह्म है क्योंकि वह सृष्टि की कामना करता है, सृष्टि के बारे में विचार करता है, सृष्टि करता है, प्रवेश करता है और भोग्य आकारों में परिणत होता है। इसे पुराण में समझाते हैं।)

अहो! आश्चर्य है! जिससे यह महाभूतात्मक महान् जगत् पैदा हुआ है वह ब्रह्म असत्य है यह शंका कौन कर सकता है!।।२०७।। जिस आनंदस्वरूप आत्मा ने आगे बताये जाने वाले ढंग से जगत् की सृष्टि की, वह नहीं है ऐसा कौन समझ सकता है!।।२०८।।

अनादि वासनाओं से शबलित मायारूप चोली ओढ़े भगवान् सृष्टि से पूर्व अकेले ही थे। भूत-भौतिक रूप धरने वाले जगत् की सृष्टि करने की इच्छा वाले ईश्वर ने यों कामना की 'मैं अब स्वयं अपना ही जन्म कर बहुत रूपों वाला हो जाऊँ।'।।२०९-१०।। इस कामना के साथ ही उन्होंने सामान्य रूप से समझ लिया कि क्या बनाना

१. 'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किंच। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्।'

इत्थं विचिन्त्य जगतो नामरूपक्रियात्मनः। जडाजडस्य बहुधा नामरूपक्रिया अपि।।
सिसृक्षुः पुनरप्यस्य पर्यालोचयदीश्वरः।।२११

यादृश्यो याश्च यस्यास्य नामरूपक्रियाः पुरा। तादृश्यस्ताश्च तस्यैताः कर्तुकामो जगत्प्रभुः।।२१२

एवं विचिन्त्य सर्वेषां नामरूपक्रियाः प्रभुः। असृजत् स यथापूर्वमिदं सर्वं जडाजडम्।।२१३

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं तद्वदन्तरिक्षं सभागणम्।।२१४

यदिदं किञ्च विश्वं स्याद् भूतभौतिकरूपभृत्। सर्वमेव जगन्नाथः सृष्टवान् पूर्ववत् प्रभुः।।२१५

सृष्ट्वा च सकलं विश्वं सह स्थावरजङ्गमैः। अनन्तरं प्रविष्टोऽयं तत्राऽहन्तात्मना प्रभुः।।२१६

सत्यं ज्ञानमनन्तं यो ब्रह्मानन्दात्मरूपकम्। सर्वस्मिन् सर्वदा सोऽयं वर्तमानोऽपि विश्वकृत्।।२१७

स्थावरे जङ्गमे देहे प्रविश्याऽहन्तया विभुः। एवं नानाविधो जात एक एव जनार्दनः।।२१८

(ii) कामनामुक्त्वा तपःपदोक्तनानाविशेषगोचरमालोचनं दर्शयति— इत्थमिति। इत्थं कामनाक्षिप्तां स्रष्टव्यसामान्यगोचरां चिन्तां कृत्वा जगतो नामादिरूपान्तरविशेषान् कर्तुं पुनः पर्यालोचयत्। कीदृश ईशः? पूर्वकल्पेऽस्य जगतो नामादिकं यादृशं यत्स्वरूपं यत्सम्बन्धि च तत्तथाविधमेव कर्तुकामः। इति द्वयोः सम्बन्धः।।२११-२।।

(iii) स्रष्टृत्वमाह—एवं विचिन्त्येति त्रिभिः। स्पष्टम्।।२१३।। तत्र मन्त्रसम्मतिमाह (महाना.५.७)—सूर्येति। भानां दीप्तीनां गणो यत्र तेन स्वर्गेण सहितम्।।२१४।। यदिदमिति। किञ्च विशेषरूपम्।।२१५।।

(iv) सृष्टोपाधिषु प्रतिबिम्बितत्वलक्षणं प्रवेष्टृत्वमाह—सृष्ट्वा चेति। अहन्तात्मनाऽहङ्कारावच्छिन्नरूपेण।।२१६।। एतत् प्रवेशान्तं कर्म तस्यैव ब्रह्मणो यस्य सत्यादीनि लक्षणानीत्याह— सत्यमिति। सर्वत्र सर्वदा वर्तमानोऽपि इत्यस्य अधिष्ठानतया पूर्वसिद्धोऽपीत्यर्थः।।२१७-८।।

है। नाम-रूप-क्रिया जिसका स्वरूप हैं उस जड-चेतन इस जगत् की बहुत प्रकार की नाम-रूप-क्रियायें भी वे उत्पन्न करना चाहते थे। पूर्वकल्प में इस जगत् की जैसी, जो और जिन संबंधों वाली नाम-रूप-क्रियायें थीं वैसी, वे और उन्हीं संबंधों वाली, उन्हें वे जगत्प्रभु पुनः रचना चाहते थे इसलिये उन्होंने नामादि विशेषों के बारे में पुनः विचार किया। ('घर बनाना है' यों सामान्यतः घर रूप स्रष्टव्य समझ आता ही है लेकिन कितने कमरे, किस आकार के, किस ओर, ईंट-पत्थर आदि किन पदार्थों से, कैसे कारीगरों से, किस क्रम से इत्यादि विशेषों को भी समझ लेना पड़ता है तभी व्यवस्थित कार्य किया जा सकता है। क्योंकि अनादि काल से ईश्वर जगत् बना ही रहे हैं और उनकी रचना सर्वोत्तम है इसलिये वे वैसा ही पुनः बनाते हैं जैसा पहले बनाया था!)।।२११-२।।

उक्त ढंग से विचार कर प्रभु ने सब जड-चेतनों को और सबकी नाम-रूप-क्रियाओं को वैसा ही उत्पन्न कर दिया जैसा पूर्व सृष्टि में किया था।।२१३।। सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक, पृथ्वी, प्रकाशपुंजों सहित अंतरिक्ष, भूत-भौतिक रूप धरे जो कुछ भी यह विश्व है उस सबको जगन्नाथ विधाता प्रभु ने वैसा ही उत्पन्न किया जैसा पहले, पिछली सृष्टि में, रचा था।।२१४-५।।

स्थावर-जंगम शरीरों समेत सकल विश्व की सृष्टि करने के बाद यह प्रभु उसमें अहन्तारूप से प्रवेश कर गया, शरीरों में उसने मैं-बुद्धि कर ली। जो विश्वरचयिता सत्य ज्ञान अनंत व्यापक आनंदरूप आत्मरूप हमेशा सभी में अधिष्ठानरूप से विद्यमान है वही विभु स्थावर-जंगम प्राणिशरीरों में 'मैं'-रूप से प्रवेश कर गया। इस प्रकार अद्वितीय जनार्दन ही नाना प्रकार का हो गया। (जीवरूप से प्रवेश ईश्वरकृत्य ही है यह आकरों में व्यक्त है।)।।२१६-८।।

पृथिव्यापस्तथा तेजश्चक्षुर्गम्यं सद् ईरितम्। वायुश्चैवान्तरिक्षं च परोक्षं त्यद् इतीरितम्।।२१९
भूतपञ्चककार्यं च तथैतद्भूतपञ्चकम्। नामरूपक्रियाभिः स्याद् निरुक्तं कीर्त्यते हि यत्।।२२०
अनिरुक्तं तु ताभिर्यन्नोच्यते मनुजादिभिः। साश्रयं तच्च किञ्चित् स्यात् किञ्चित्स्यात्तु निराश्रयम्।।२२१
जडं किञ्चिच्च तत्राऽपि भवेत् कुड्यघटादिकम्। अजडं चेन्द्रियादि स्याद् व्यवहारेऽत्र मानुषे।।२२२
अबाध्यं किञ्चिदेव स्याद्यथा भूमिघटादिकम्। किञ्चिच्च बाध्यमानं तद्रज्जुसर्पादिकं यथा।।२२३
सर्वमेतज्जगच्चित्रमस्ति नास्तीति च स्थितम्। सत्यादिलक्षणं ब्रह्म जातमेकमनेकधा।।२२४
एकमेव यथाऽऽकाशं गन्धर्वनगरात्मना। नाना भवति तद्वत् स्याद् ब्रह्म विश्वात्मना सदा।।२२५

जगत्सत्यता

यस्मात् सत्यमिदं ब्रह्म जातं विश्वात्मना पुरा। तस्मादनृतमप्येतद् विश्वं सत्यमितीरितम्।।२२६

(v) अथ सृष्टानां भोग्याकाराणां विशेषाभिधायकानि पदानि व्याचष्टे— पृथिव्याप इत्यादिना। पृथिव्यादिभूतत्रयं चक्षुरादिगोचरत्वात् सद् इत्युच्यते। वाय्वाकाशौ तु परोक्षत्वात्[1] त्यद् इति उक्तावित्यर्थः।।२१९।। भूतेति। तथा नामरूपादिभिर्निरूपयितुं शक्यं भूतभौतिकं निरुक्तम् इत्युक्तम्। तद्भिन्नं कपोतरूपादि अनिरुक्तम् इत्युक्तम्। तथा साधारतया प्रसिद्धं निलयनम् इत्युक्तं, निराश्रयतया प्रथितमाकाशादिकं तु अनिलयनम्। इति द्वयोरर्थः।।२२०-१।। जडमिति। किञ्चिद् वस्तु विज्ञानराहित्येन जडम् इति प्रसिद्धम्। तद्विलक्षणं इन्द्रियादिकम् अजडमिति।।२२२।। अबाध्यमिति। लोके किञ्चित् पृथिव्यादिकं बाधाभावेन सत्यमिति ख्यातं, तद्विलक्षणं रज्जुसर्पादिकम् अनृतमित्यर्थः।।२२३।। एवं विविधजगदात्मतां ब्रह्म प्राप्तं यथाऽऽकाशं गन्धर्वनगरात्मतामित्याह—सर्वमिति द्वाभ्याम्। स्पष्टम्।।२२४-५।।

'यदिदम्' [2]इत्यादेस्त्रयोदशाक्षरवाक्यस्यार्थमाह—यस्मादिति चतुर्भिः। यत् सत्यरूपं ब्रह्मैव विश्वात्मकं जातं तस्मादनृतमपि विश्वं याचितमण्डनन्यायेन ब्रह्मणः सत्तामादायैव सत्यं जातमिति वेदविद्भिरुक्तमित्यर्थः।।२२६।।

पृथ्वी, जल और तेज—जिन्हें चक्षु से देखा जा सकता हे वे 'सत्' कहे गये हैं। वायु और आकाश— जो परोक्ष हैं उन्हें 'त्यत्' कहा गया है।।२१९।। यह महाभूतपंचक और इसका जो कार्य नाम-रूप-क्रिया के परिप्रेक्ष्य में निरूपित किया जा सके उसे 'निरुक्त' कहा जाता है।।२२०।। मनुष्यादि जिनका नामादि से निरूपण नहीं कर पाते वह 'अनिरुक्त' है। कुछ चीज़ें आश्रय वाली प्रसिद्ध हैं, उन्हें 'निलयन' और जो आकाश आदि आश्रयरहित प्रसिद्ध हैं उन्हें 'अनिलयन' कहते हैं।।२२१।। उक्त ढंग के पदार्थों में भी दीवाल, घड़ा आदि कुछ वस्तुएँ विज्ञानरहित अतः जड होती हैं और इंद्रिय आदि कुछ पदार्थ विज्ञान वाले लगने से लोकप्रचलित मानवीय व्यवहार में अजड कहे जाते हैं।।२२२।। लोक में कुछ चीज़ें बाध के अयोग्य होती हैं जैसे भूमि, घड़ा आदि, उन्हें 'सत्य' कहते हैं और रज्जुसर्पादि जो लोक में बाधित हो जाते हैं वे 'अनृत' हैं।।२२३।। 'है' व 'नहीं है' रूप से स्थित यह सारा बहुत तरह का जगद्रूप चित्र वह सत्यादिस्वरूप ब्रह्म ही बन गया जो वास्तव में अद्वय है।।२२४।। जैसे एक ही आकाश गंधर्वनगर रूप से अनेक *हो* जाता है वैसे सदा एक रहता ब्रह्म विश्वरूप से *हो* गया है।।२२५।।

क्योंकि यह सत्यरूप ब्रह्म ही प्रारंभ में जगद्रूप से पैदा हो गया इसलिये यह जगत् अनृत होने पर भी वेदज्ञों द्वारा 'सत्य' कहा गया है। (मित्रादि दूसरे का गहना पहनकर दरिद्रादि भी जैसे सज जाते हैं वैसे ब्रह्म से सत्ता लेकर

१. 'सच्च त्यच्च प्रत्यक्षपरोक्षे' इति भाष्यम्। यद्यपि त्वगिन्द्रियं द्रव्यग्राहि वायुं स्पृशति आकाशश्च साक्षिणाऽपरोक्षमवगम्यते तथापि चाक्षुषप्रत्यक्षापेक्षया पारोक्ष्यवचनं संगमनीयम्। मूर्त्तामूर्त्तब्राह्मणे (बृ.२.३) भूतानामेवं विभागः प्रसिद्धः।

२. 'यदिदं किञ्च। तत्सत्यमित्याचक्षते।'

जायमानं जगत् सर्वं सत्यं केन भविष्यति। सत्यं कालत्रये यत् स्यादेकरूपं तदीरितम्।।२२७
आदावन्ते च यन्नास्ति मध्ये तत् केन हेतुना। भवेत् सत्तत एवैतदनृतं सचराचरम्।।२२८
अनृतं सकलं विश्वमात्मना सत्यरूपिणा। सत्यं स्यादग्नितो यद्वल्लोहपिण्डोऽग्नितामियात्।।२२९
अनृतं सत्यतां गच्छेदात्मना सत्यरूपिणा। इत्यत्र मुनयः श्लोकमेतमाहुर्विचक्षणाः।।२३०
असद्वा इदमग्रेऽभूत् ततो वै सदजायत। ब्रह्मात्मनः प्रपञ्चत्वमकरोत् सुकृतं ततः।।२३१
गन्धर्वनगरं यद्वद् गगने तद्वदात्मनि। विश्वं ततो जनेः पूर्वमसन्नामादिनाऽभवत्।।२३२
स्पष्टनामादिकं स्वात्मसत्यतायाः प्रसादतः। जातं सुकृतमित्युक्तं सत्यं सत्यात्मना यतः।।२३३

स्वतः सत्ता तु जगतो नास्ति, कूटस्थत्वरूपायास्तस्या जन्मादिविकारैः सह विरोधाद् इत्याह— जायमानमिति।।२२७।। 'नासतो विद्यते भाव' इति (गीता.२.१६) न्यायविरुद्धं[1] जगतो मध्य एव सत्त्वं, ततोऽनृतत्वमेव जगत इत्याह— आदाविति।।।२२८।। परसत्तया सत्तावत्त्वं दृष्टान्तेन स्फुटयति—अनृतमिति।।।२२९।।

अयमर्थो मन्त्रेणाप्युक्त इत्याह— अनृतं सत्यतामिति।।२३०।। तं श्लोकं[2] किञ्चिद् व्यत्यासेन पठति—असद्वा इति।।२३१।। अस्याक्षरार्थमाह— गन्धर्वेति द्वाभ्याम्। यथा गन्धर्वनगरं जनेः उत्पत्तेः पूर्वम् आकाशेऽसदभवत् तथा विश्वम् अपि आत्मनि जनेः पूर्वमसद् अभवत्। असत्त्वं निर्वक्ति— नामादीति। नाम रूपं च स्पष्टं नासीद् इति तदर्थः।।२३२।। स्पष्टेति। ततः सृष्टिकाले सदभूद् इत्यस्य कोऽर्थः? आत्मसत्तायाः प्रसादाद् आध्यासिकसम्बन्धात् स्पष्टनामरूपकमभूद् इति; यत इदं विश्वं सत्येनात्मनैव सत्यं, न स्वतः, ततः सुकृतम् इति ब्रह्मणो नाम सिद्धम् इत्यर्थः सुष्ठु आत्मसत्तया सत्तावद् विश्वं कृतवद् इति व्युत्पत्तिः; छान्दसत्वेन कर्तरि क्तप्रत्ययश्च[3] बोध्य इति भावः।।२३३।।

जगत् भी सत्य प्रतीत हो जाता है। 'सत्ता लेना' अर्थात् अन्योन्याध्यास से ब्रह्मरूप सत् को अपने (जगत् के) धर्मरूप से प्रदर्शित करना।)।।२२६।। सारा जगत् उत्पत्तिशील है, वह सत्य कैसे होगा! सत्य तो वह कहलाता है जो तीनों कालों में एक स्वरूप वाला रहे।।२२७।। जो आदि और अन्त में नहीं होता वह मध्य में किस कारण सत् होगा! इसीलिये यह चर-अचर समेत जगत् अनृत है। (गीता में निर्णय दिया है कि जैसे शक्कर खारी नहीं होती, नमक मीठा नहीं होता वैसे जो 'है' वह 'नहीं है' नहीं होता और जो 'नहीं है' वह 'है' नहीं होता। परमात्मा 'है' अतः यह कभी कहीं नहीं होता कि वह 'नहीं है' और वन्ध्यापुत्र 'नहीं है' अतः यह भी कभी कहीं नहीं होता कि वह 'है'। इसलिये घड़ा आदि जो कभी कहीं 'है' और कभी कहीं 'नहीं है' वह मिथ्या ही हो सकता है। नित्यानित्यविवेक का सत्यासत्यविवेक में इसी रीति से पर्यवसान पूर्वाचार्यों को विवक्षित है। जगत् और इसके अंदर होने वाले सकल पदार्थ अपनी उत्पत्ति से पूर्व और नाश के बाद 'नहीं हैं' अतः मध्य में इन्हें 'है' कह भले ही दिया जाये पर ये 'है' हो नहीं सकते।)।।२२८।। जैसे अग्निसंपर्क से लोहपिण्ड अग्नि *बन* जाता है वैसे सत्य स्वरूप वाले आत्मा पर तादात्म्येन अध्यस्त होने से सारा अनृत विश्व सत्य *हो* जाता है।।२२९।।

---

१. वैतथ्यप्रकरणे (श्लोक.६) चैतन्निपुणतरमुपापादि।
२. 'असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति।'
३. आदावेवैवं कृतवद् ब्रह्मेति 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि चे'ति (३.४.७१) कर्तर्यस्तु प्रत्ययः। आनंदगिरीये 'छान्दस्या प्रक्रियया.. कर्तरि व्याख्यात' इति। सायणस्तु 'सुशब्दोऽत्र स्वयंशब्दपर्यायः, कृतशब्दः कर्तृशब्दपर्यायः; 'सुकृतं' स्वयं कर्तृ ब्रह्म इत्येवं शास्त्रविद्भिरुच्यते। जीवास्तु न स्वयं कर्तारः किन्त्वन्तर्यामिप्रेरिताः कुर्वन्ति' इति व्याचष्टे।

केचिदेनमनालोच्य प्रक्रमं मन्दबुद्धयः। असद्वा इदमित्यादेः कारणाऽसत्त्वमास्थिताः।।२३४
'इदं'-शब्दसमादानात् कार्यस्यैवेति केचन। कार्यकारणयोः साम्यमिदंशब्दस्य केचन।।
स्वीकृत्य सर्वजगतः शून्यतां प्रतिजानते।।२३५
कारणस्य विचारे तदस्माभिर्ब्रह्मवादिभिः। निराकृतमभावौघखण्डनेऽनेकधा यतः।।२३६
सत्यादि लक्षणं प्रोच्य ब्रह्मणः कारणात्मनः। वेदः कथं नु तस्याऽयमसत्तां च स्वयं वदेत्।।२३७

केचित्तु अस्य प्रकरणस्य आत्मसत्तास्फुटीकरणाय प्रवृत्तिरूपं प्रक्रममनालोच्य अस्य मन्त्रस्य प्रथमपादेन कारणाऽसत्त्वमुक्तमित्याहुः इत्याह—केचिदिति। आस्थिताः स्वपक्षत्वेन गृहीतवन्तः। यथा बीजध्वंसादङ्कुरोत्पत्तिवादिनो बाह्याः।।२३४।। केचनार्द्धवैनाशिकास्तु इदं-पदस्य कार्यपरस्य असत्-पदेन सामानाधिकरण्यात् कार्यस्यैव असत्त्वमाहुः इत्याह—इदमिति। समादानं सामानाधिकरण्यम्। केचिच्च इदं-पदस्य कार्यकारणोभयपरत्वं मत्वा सर्वशून्यतामाहुरित्याह—कार्यकारणयोरिति। साम्यम् अपक्षपातित्वं स्वीकृत्येति।।२३५।। तेषां मन्दमतित्वं स्फुटयन्—किं युक्तिबलेन तैः कारणाऽसत्त्वादीनि स्थाप्यन्ते, श्रुतिबलेन वा? इति विकल्प्य; तत्र नाद्यः, 'कालः स्वभाव' इत्यादिश्रुतिव्याख्यानेऽष्टमाध्यायादौ तद्युक्तिकदम्बस्य निराकृतत्वाद् इत्याह—कारणस्येति। तत् तेषां युक्तिवृन्दं यतोऽभावानां प्रागभावादीनां खण्डनेन निराकृतमतस्ते मन्दमतय इति सम्बन्धः।।२३६।। न द्वितीयः, उपक्रमादिविरोधाद् इत्याह— सत्यादीति। ब्रह्मणः सत्तां कारणत्वोपन्यासमुखेन दर्शयितुं प्रवृत्तो वेदः कथं कारणाऽसत्तां व्याघातावहां वदेदित्यर्थः।।२३७।। अर्द्धवैनाशिकं प्रत्याह—इदमिति। यदि इदंशब्द उद्देश्य-

सत्य रूप वाले आत्मा से अनृत भी सत्य हो जाता है इस विषय पर मननशील विद्वान् यह श्लोक सुनाते हैं: ।।२३०।। यह पहले असत् ही था। उससे ही सत् पैदा हुआ। ब्रह्म ने अपनी प्रपंचरूपता बनायी इसलिये उसे सुकृत कहते हैं।।२३१।। जैसे गंधर्वनगर अपनी *उत्पत्ति* से पूर्व आकाश में असत् था वैसे विश्व भी अपने *जन्म* से पूर्व आत्मा में असत् था। 'असत्' अर्थात् जिसके नाम-रूप-कर्म स्पष्ट न हों। 'सृष्टिकाल में विश्व सत् हो गया' का मतलब है कि आत्मरूप सत्ता से अध्याससंबंधवश वह स्पष्ट नामादि वाला प्रतीत होने लगा। क्योंकि यह विश्व सद्रूप आत्मा के अध्यास-संबंध से ही सत्य है, स्वतः नहीं, इसलिये ब्रह्म का नाम 'सुकृत' हो गया है जिसका अर्थ है कि उसने अपनी सत्ता से विश्व को सत्तावान् बनाकर अच्छा किया है।।२३२-३।।

कुछ मंदमति आत्मसत्ता के स्पष्टीकरण के लिये यह प्रकरण प्रवृत्त हुआ है इस सन्दर्भ को समझे बिना यह मान बैठे हैं कि 'यह असत् ही था' आदि श्लोक असत् की कारणता समर्थित करता है! (बीजध्वंस से अंकुर पैदा होता है आदि अनर्गल कल्पनाओं से असत्कारणवाद में आग्रही होकर शास्त्रों में भी वैसा मत खोज निकालने वाले मंदबुद्धि हैं।)।।२३४।। बौद्ध कहते हैं कि कार्य-कारण दोनों असत् हैं। 'आधे बौद्ध' अर्थात् न्याय-वैशेषिकादि आरंभवादी कारण को सत् किंतु उत्पत्ति से पूर्व कार्य को असत् मानते हैं। वे इस श्लोक में सुनते हैं कि कार्यबोधक 'यह' शब्द से जिसे कहा उसे ही 'असत्' कहा इसलिये उत्पत्ति से पूर्व कार्य को ही असत् मानना इस वेदवाक्य में अभिप्रेत है। कुछ तार्किक 'यह' शब्द से कार्य-कारण दोनों का ग्रहण करते हैं, 'यह' शब्द कार्य या कारण के प्रति पक्षपात वाला तो है नहीं कि एक को ही कहे! अतः वे प्रतिज्ञा करते हैं कि कार्य-कारण सारा ही जगत् शून्य है, असत् है।।२३५।।

इस प्रकार की कल्पनायें ही उनके मतिमान्द्य को व्यक्त करती हैं। जिन तर्काभासों से वे अपने मत निष्पन्न करने की कोशिश कर सकते हैं उन तर्कों का हम ब्रह्मवादियों ने कारण-विचार के प्रसंग में (पुराण के आठवें अध्याय में) सभी तरह के अभावों का खण्डन कर निराकरण कर दिया है।।२३६।। संदर्भ न समझ पाना भी मति की मंदता ही है। कारणस्वरूप ब्रह्म का सत्यादि लक्षण बताकर यह वेद स्वयं उस ब्रह्म की असत्ता कैसे कह सकता है!।।२३७।।

इदं-शब्दोऽपि कार्यस्य यद्यसत्त्वं वदेदयम्। उत्पत्तेः पूर्वमधुना तत् सत्यं केन हेतुना।।
ब्रह्मणा चेदिदं नाम भवताद् न निवार्यते।।२३८
एतदर्थमयं श्लोकः कीर्त्यते वेदवादिभिः। असत्यमपि यत् सत् स्याद् ब्रह्मसत्ताप्रभावतः।।२३९
कार्यं कालत्रयेऽप्येतदसत्यं ब्रह्मसत्तया। अनादिमायया मोहाद् मध्ये सत्यं विभाति नः।।२४०

समपर्क उत्पत्तिपूर्वकालिकाऽसत्त्वरूपाय विधेयाय कार्यजातं नयेत्, तदा अधुना कार्ये सत्त्वं कुत आगच्छेद्? इत्यर्थः। तथा च 'असद् असद्' इत्यनुगता बुद्धिः स्याद्, मृत्कार्येषु मृद्बुद्धिवत्। मन्त्रद्वितीयपादश्च बाधितार्थः स्याद् इति भावः। ननु ब्रह्मसत्तयैव कार्यं सत्तावद् इष्यत इति चेद्? आयातं मार्गे! इत्याह— ब्रह्मणा चेदिति। इदं कार्यं ब्रह्मणा सद्रूपेण तादात्म्यं लब्ध्वा सत्यं भवतीति यदि उच्येत, तर्हि तथा भवताद् अस्तु इत्यर्थः।।२३८।। इष्टापत्तौ हेतुतया प्रकृतमन्त्रस्य उक्तार्थबोधनायैव प्रवृत्तिं दर्शयति— एतदर्थमिति। एतत्पदार्थमभिनयति— असत्यमिति।।२३९।।

ननु ब्रह्मसत्ता प्रपञ्चे केनाऽऽनीतेति चेत्? सकलप्रपञ्चनिर्वाहकेण अज्ञानेन इत्याह— कार्यमिति। कालत्रयेऽसदपि कार्यं यद् ब्रह्मसत्तया सत्यं नः अस्मान् प्रति भाति, तत्र प्रयोजकोऽनादिमायाकृतोमोह एव अध्यासनामेत्यर्थः।।२४०।। अथ ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सत्तया कार्यं सत् स्याद् इति तु न शङ्क्यम्; तस्य सत्ताया

'आधे बौद्ध' से पूछना चाहिये कि विचाराधीन 'यह' शब्द अगर उत्पत्ति से पूर्व कार्य की असत्ता बताता है तो अब— कार्यजन्म से कार्यनाश काल तक— वह कार्य सत्य किस कारण से हो जाता है? जन्म से पूर्व घटादि मिट्टी था इसलिये जन्म के बाद भी घटादि को जैसे मिट्टी समझा जा सकता है ऐसे पूर्व में यदि कार्य असत् था तो जन्म के बाद भी उसे असत् समझा जा सकना चाहिये, किंतु ऐसा कभी होता नहीं । किं च घट के प्रति तो कपालादि कारण हैं, घट की सत्यता के प्रति क्या कारण है? 'आधा बौद्ध' यदि यह कहे कि ब्रह्मसत्ता से ही कार्य सत्ता वाला होता है तब तो हमें भी स्वीकार ही है क्योंकि यही समझाने के लिये वेदवादियों ने पूर्वोक्त श्लोक सुनाया है। जो असत्य है वह भी ब्रह्मरूप सत्ता के प्रभाव से सत् *हो* जाता है— यह सिद्धांत मान्य ही है। ('आधा बौद्ध' एक सनातन 'सत्ता' मानता है जिससे संबंध स्थापित होने को ही वह कार्य का 'जन्म' कहता है अतः कार्य की सत्यता के प्रति वह सत्ता को कारण स्वीकारता है और उस सत्ता की सत्यता स्वाभाविक मानता है। पदार्थों का उससे संबंध बनता-बिगड़ता रहे पर वह सत्ता एक-सी बनी ही रहती है। इस प्रकार ज्ञानरूपता की बात छोड़ दें तो सत्ता-शब्द से वह ब्रह्म को ही कहता प्रतीत होता है। वैयाकरण भर्तृहरि आदि ने इस पर विचार किया है। आचार्य सुरेश्वर ने स्पष्ट किया है (बृ. वा.४.३.श्लोक १६८८) कि 'सत्' को ही 'सत्ता' शब्द से भी कहते हैं। 'असत्य भी सत् हो जाता है' का मतलब है किसी अपेक्षा से सद्रूप से व्यवहृत हो जाता है।)।।२३८-९।।

'आधा बौद्ध' यह नहीं बता सकता कि सत्ता की सत्यता भी घट में कैसे आ जाती है! काले देवदत्त का हाथ थामने से गोरा यज्ञदत्त तो काला नहीं हो जाता! अतः सत्तारूप नित्य वस्तु मानकर भी वह घट की सत्यता नहीं समझा पाता। वह पूछ सकता है कि ब्रह्मरूप सत्ता ही प्रपंच में कैसे आ जाती है ? उत्तर है : यह सभी कार्य तीनों कालों में असत्य रहकर भी अपनी वर्तमानता के काल में ब्रह्मसत्ता से हमें सत्य प्रतीत होता है इसमें हेतु है अनादि माया से किया हुआ अध्यासनामक मोह। (सिद्धांत में ब्रह्मसत्ता कार्य में 'आ' नहीं जाती वरन् भ्रम से प्रतीत होती है जैसे रस्सी की लंबाई साँप में 'आती' नहीं केवल प्रतीत होती है। कार्य अर्थात् दृश्यमात्र असत्य तो हमेशा है पर कभी अवर्तमान तो कभी वर्तमान है अर्थात् कभी उसका बर्ताव होता है, कभी नहीं होता। बर्ताव का समय ही वह 'बीच' का काल है जब कार्य सत्य प्रतीत होता है। अन्य समय प्रतीत न होने से ही लोगों को वह असत् समझ आता है। सिद्धांती कार्य को प्रायः मिथ्या कहता है, असत् नहीं किंतु क्योंकि वह उसे कभी सत् नहीं मानता इसलिये असत् भी कह देता है। अत एव सत् से अन्यता को मिथ्यात्व भी बताया गया है। वस्तुतस्तु असत् को ही प्रतीति की अपेक्षा से मिथ्या

नाऽब्रह्म सत्

ब्रह्मणो व्यतिरिक्तस्य कार्यकारणवस्तुनः। सर्वस्याऽपि न सत्ताऽस्ति कुतस्तेनाऽस्य सा भवेत् ।२४१
कार्यस्य कुरुते सत्तां ब्रह्मान्यद् यदि किञ्चन। आत्मनस्तत्करोत्वेतां प्रथमं ह्यसतः सदा।।२४२
अप्यसद् ब्रह्मणो भिन्नं नास्ति केन तु सद् भवेत्। ब्रह्मैव सकलं यस्माज्जगत् सदसदात्मकम्।।
असकृत् कथ्यते वेदवादिभिः सर्वपण्डितैः।।२४३
ब्रह्मणोऽत्र विभिन्नं यत् सदसद् वस्तु किञ्चन। यदा तदाऽनन्तताऽस्य न भवेद् गगनादिवत्।।२४४

एव दुर्वचत्वेन अन्यत्र सत्ताऽऽधानशक्तेः सुतरामसम्भवाद् इत्याह —ब्रह्मण इति। तेन ब्रह्मव्यतिरिक्तेन अस्य कार्यस्य सा सत्ता कुतः स्याद्? इति तुरीयपादार्थः।।२४१।। यथाऽन्धो मार्गं प्रदर्शयितुमुद्यत एवमुपालभ्यते 'भवतैव मार्गः कुतो न दृश्यते!' इति, तथा ब्रह्मभिन्नं परत्र सत्ताधानोद्यतं प्रति वक्तव्यं 'भवता स्वकीया सत्तैव कुतो न साधिता?' इत्येतदाह—कार्यस्येति। तद् ब्रह्मभिन्नं प्रथममात्मनः स्वस्य असतः सत्ताहीनस्य सत्तां करोतु इति।।२४२।।

किं च तिष्ठतु ब्रह्मभिन्नस्य सत्ता सत्ताधायकत्वं च, यतो ब्रह्मभेद एव कुत्रचिद् वक्तुमशक्यः, श्रौतस्य ब्रह्मत्वस्य व्याघातप्रसङ्गाद् इत्याह— अपीति। अपि च असद् असद्रूपेण प्रसिद्धमपि सूक्ष्मादि ब्रह्मभिन्नतां न सहते, कुतः सद् अपीति! ब्रह्मणः सर्वात्मतायाः प्रमाणराजेन वेदेन प्रतिज्ञाततत्वाद् इत्यर्थः।।२४३।। ब्रह्मणो भिन्नस्य अणुमात्रस्याऽपि स्वीकारेऽनिष्टप्रसङ्गं विशदयति—ब्रहाणोऽत्रेति पञ्चभिः। अनन्तता अन्योन्याभाव-प्रतियोगित्वलक्षणवस्तुपरिच्छेदहीनता न भवेद्; गगनादिवद् इति व्यतिरेके दृष्टान्तः।।२४४।। स्वरूपलक्षणभूताया कहते हैं यह रहस्य है।)।।२४०।। ब्रह्म से अतिरिक्त कार्यवस्तु हो या कारणवस्तु, किसी की भी स्वाभाविक सत्ता नहीं है। अतः ब्रह्मभिन्न किसी वस्तु से कार्यवर्ग सत्तावान् हो जाये इसकी संभावना नहीं।।२४१।। ब्रह्म से अन्य यदि कुछ ऐसा है जो कार्य की सत्ता कर देता है तो उसे पहले अपनी ही सत्ता कर लेनी चाहिये! अंधा दूसरे को रास्ता सुझाने लगे तो उससे यही कहेंगे कि 'पहले खुद तो रास्ता देख ले, फिर हमें बताना!' ऐसे ही जो स्वयं सदा असत् है वह कार्यों को सत्ता बाँटने लगे तो यही कहा जायेगा कि 'पहले खुद तो सत्ता वाला हो जा!' (ब्रह्मभिन्न जो सत्ताप्रद संभावित है वह क्या सत्तावान् है या नहीं? यदि है तो क्या सदा सत्तावान् है या कदाचित्? सदा है तो क्या उसकी सत्ता उसका स्वरूप है या उससे भिन्न? स्वरूप हो तो वह कार्यों को सत्ता बाँट नहीं सकता क्योंकि एक का स्वरूप अन्य को नहीं दिया जा सकता। यदि भिन्न है तो वह सत्ता स्वयं सत्तावान् है या नहीं इत्यादि प्रश्नशृंखला से आहत हो भिन्न-पक्ष खंडित हो जायेगा। किं च यदि सदा सत्तावान् है तो सत्ता को उससे भिन्न कैसे सिद्ध किया जायेगा? यदि वह सत्ताप्रद वस्तु सदा नहीं वरन् कदाचित् सत्तावान् है तो उसे वह सत्ता किससे मिलती है? जिससे वह सत्ता पाता है उसीसे घटादि भी क्यों नहीं पा लेंगे? इस रीति से विचार करें तो जिसे सत्ताप्रद मानना चाहते हैं वह ब्रह्म से अन्य नहीं रह जायेगा। ऐसे ही सत्ता का 'प्रदान' भी अध्यास से अतिरिक्त नहीं निकलता यह स्वयं समझ सकते हैं।)।।२४२।।

ब्रह्म से भिन्न पदार्थ कार्यों को सत्ता बाँटे इसकी संभावना ही कहाँ जब ब्रह्म से भेद ही कहीं सिद्ध नहीं होता! जो असत् समझी जाती हैं वे चीजें भी जब ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं तो सत् चीज़ें उससे भिन्न कैसे होंगी? वेदविचारक सभी तत्त्वज्ञ बारंबार कहते हैं कि सत्-असत् रूप सारा जगत् ब्रह्म ही है।('ब्रह्म' शब्द ही व्यापक का बोधक है। उससे भिन्न सत्-असत् कुछ भी हो तो ब्रह्म वस्तुपरिच्छेद से ग्रस्त हो ब्रह्म ही नहीं रह जायेगा, श्रुति का उसे ब्रह्म कहना ही ग़लत हो जायेगा। अतः ब्रह्म से अन्य कुछ नहीं है।)।।२४३। सत्, असत् कोई वस्तु यदि ब्रह्म से भिन्न हो तो ब्रह्म की अनंतता रह नहीं जायेगी। तब तो जैसे आकाश को अनंत कह देते हैं जबकि वह वस्तुपरिच्छिन्न ही है ऐसे ही ब्रह्म को कहने भर का अनंत मानना पड़ेगा (जो तब तक उचित नहीं जब तक ब्रह्म सांत प्रमित न हो और प्रमित वह अनंत हो रहा है क्योंकि पग-पग पर श्रुति उसकी सर्वविध सांतता का निषेध कर रही है। युक्ति से भी आत्मवस्तुसान्त

अभावेऽनन्ततायाः स्याद् ब्रह्माभावः सुनिश्चितः। प्रकाशोष्माद्यभावे स्यात्तेजोऽभावो यथा भुवि।।२४५

ब्रह्माऽभावाच्च वेदान्ता गच्छन्त्यत्राऽप्रमाणताम्। अप्रामाण्येन तेषां स्याद् वेदानामप्रमाणता।।२४६
अप्रामाण्ये च तेषां स्याद् वचसामप्रमाणता। अप्रामाण्येन वचसां नेत्रादेरप्रमाणता।।२४७
तदप्रमाणतायां च व्यर्था मानकथा भवेत्। तदभावे कथं नाम ब्रह्मणोऽन्यद् भवेदिह।।
सदसद्वा द्वयं चाऽपि मानाद् मेयं यतो भवेत्।।२४८
तस्मान्नैव विभिन्नं स्याद् असदप्यात्मरूपतः। कुतो भिन्नं भवेत् सत्तु सत्ता यस्यात्मसत्तया।।२४९
कार्यस्याऽपि न चाऽसत्ता कारणस्य कुतो हि सा। इदन्ता च कथं तत्र प्रत्यक्षं न हि कारणम्।।२५०
प्रत्यक्षता यदा तस्य तदाऽसत्ता भवेन्न हि। सदेकविषयं यस्मात् प्रत्यक्षं पण्डितैः स्मृतम्।।२५१

अनन्तताया अभावे तु ब्रह्मपदार्थाऽभावः स्यात्, प्रकाशाद्यभावे तेजोऽभाववद् इत्याह—अभाव इति।।२४५।। ततश्च प्रमेयाभावाद् वेदान्तानामप्रामाण्यं स्यात्, तथा सति तत्सजातीयस्य पूर्वकाण्डस्याऽपि तथात्वाऽऽपत्तिरित्याह—ब्रह्माभावाच्चेति।।२४६।। अपौरुषे वेदेऽप्येवंभावं गते लौकिकवाक्यानां प्रत्यक्षाणां शतशो दृष्टव्यभिचाराणां का प्रामाण्यं प्रति आशा? इत्याह— अप्रामाण्ये चेति। तेषां वेदानाम्।।२४७।। तदप्रमाणतायामिति। तेषां प्रमाणत्वेन प्रसिद्धानां विशेषाणामप्रामाण्ये सति 'निर्विशेषं सामान्यं न' इति न्यायात् प्रमाणसामान्यकथाऽपि उच्छिद्येत। ततो ब्रह्मभिन्नस्याऽपि सिद्धिः दुर्लभा स्याद् 'मानाधीना मेयसिद्धिः' इति न्यायाद् इत्यर्थः। द्वयं कार्यकारणरूपम्।।२४८।। फलितमाह—तस्माद् इति।।२४९।।

यत्तु इदंशब्दपरामृष्टस्य कार्यादेः शून्यताऽनेनोच्यत इति मन्दधीभिरुक्तं; तन्न सम्भवति, कालत्रयाभावरूपायाः शून्यतायाः[1] प्रत्यक्षेण वर्तमानमात्रगोचरेण ग्रहीतुमशक्यत्वाद्; इदंशब्देन प्रत्यक्षसन्निकृष्टवाचिना परामष्टुमयोग्यत्वाच्च

नहीं सिद्ध हो पाती)।।२४४।। क्योंकि अनंतता ब्रह्म का स्वभाव है इसलिये अनंतता न हो तो निश्चित है कि ब्रह्म भी नहीं होगा जैसे भूमि पर जहाँ प्रकाश, ऊष्मा आदि का अभाव होता है वहाँ अग्नि का अभाव निश्चित हो जाता है।।२४५।। ब्रह्म न हो तो वेदान्त (उपनिषदें) अप्रमाण हो जायेंगे और वेद के वे हिस्से प्रमाण न रहें तो समूचा वेद ही अप्रमाण हो जायेगा (क्योंकि लोक में जो महत्त्वपूर्ण बात ही झूठी बोलता है वह कम महत्त्व की बातें झूठी बोले इसमें क्या कहना! कम-से-कम विश्वसनीय तो वह नहीं ही रहता।)।२४६।। जब अपौरुषेय वेद ही प्रमाण नहीं रहा तब जिनकी यथार्थता सैकड़ों बार प्रत्यक्ष से ही बाधित होती रहती है उन लौकिक वाक्यों की अप्रमाणता तो होनी ही है। वचन अप्रमाण हैं तो नेत्रादि भी अप्रमाण होंगे क्योंकि इनकी यथार्थता भी सैकड़ों बार बाधित होती रहती है।।२४७।। जब प्रमाण माने जाने वाले हर एक प्रमाण की प्रमाणता नहीं रही तब प्रमाणसामान्य की चर्चा ही व्यर्थ है क्योंकि विशेषों के बिना सामान्य होता ही नहीं। क्योंकि प्रमाण से ही प्रमेय सिद्ध होता है इसलिये प्रमाणमात्र के अभाव में यह भी नहीं कह सकते कि ब्रह्म से अन्य कुछ है! कार्य या कारण को सत् या असत् सिद्ध तो प्रमाण से ही करना पड़ेगा, प्रमाण न रहने पर ब्रह्म से भिन्न सत् या असत् न कार्य होगा न कारण।।२४८।। इसलिये आत्मरूप से विभिन्न असत् भी नहीं हो सकता तो सत् उससे भिन्न कैसे होगा जिस सत् की सत्ता आत्मरूप सत्ता से ही है।।२४९।।

जो तो यह शंका थी कि 'यह'-शब्द से कहे कार्यादि को यह वाक्य शून्य बता रहा है, वह असंभव बात है। हमेशा अभाव का नाम शून्यता है। 'हमेशा' तो प्रत्यक्ष से पता नहीं चलता क्योंकि प्रत्यक्ष केवल वर्तमान को विषय करता है। 'यह' उसी को कहते हैं जो प्रत्यक्ष हो, पास हो, अतः हमेशा वाले को 'यह' कहना भी नहीं बनता। यह श्लोकों से स्फुट करते हैं : कार्य की भी जब असद्रूपता नहीं हो सकती तब कारण की कैसे होगी ? प्रत्यक्ष तो असत्ता

१. सर्वं मिथ्यैवेत्येव शून्यता नाम। मिथ्यात्वस्य निषेधधीगोचरत्वं रूपं स्वमते प्रसिद्धमिति शून्यताया कालत्रयाभावरूपतोक्ता। चतुष्कोटिविनिर्मुक्ततोच्यते परैः किन्तु सद्व्यावृत्ततयाऽसत्त्वमेवेति सिद्धान्तिनामाशयः।

अनागतमतीतं वा प्रत्यक्षं तत एव न। असत्त्वादन्यथा तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं न हि। ।२५२
ततो न कारणं नाऽपि कार्यं नैव द्वयं तथा। असदत्रोच्यते वेदे किन्तु मायाविनिर्मितम्। ।२५३
आत्मनः सत्तया यस्मात् सदसत्तत एव सः। सत्त्वरूपो न चाऽसत्त्वमस्याशङ्क्यं कदाचन।।
एतावदेव मन्त्रेऽस्मिन्नुच्यते नापरं क्वचित्। ।२५४

रसः

सुष्ठु यत् कृतवद् ब्रह्म ह्यानन्दात्मस्वसत्तया। रसः सारः स विज्ञेयः सुखसंवित्स्वरूपतः। ।२५५
लब्ध्वैनं रसमात्मानम् आनन्दात्मानमीश्वरम्। अहमस्मीति विज्ञानाद् आनन्दी भवति स्वयम्। ।२५६

इत्याह —कार्यस्याऽपीति त्रिभिः। यत् तत्र असत्तायां प्रत्यक्षं कारणं साधकं न भवति अतः कार्यकारणयोः असत्ता, असतोः इदन्ता इदंशब्दार्हता च न इति। ।२५०। । प्रत्यक्षतेति। तस्य कार्यादेः प्रत्यक्षत्वेऽसत्त्वं व्याहतं, प्रत्यक्षस्य सदर्थगोचरतायाः सर्वसम्मतत्वाद् इत्यर्थः। ।२५१। । अनागतमिति। तत इत्यस्यार्थः असत्त्वाद् इति। अतीताऽनागतयोः असत्त्वाद् एव प्रत्यक्षाऽगोचरत्वम्, अन्यथा असतोऽपि प्रत्यक्षगोचरत्वेन तस्य अतीतादेरपि प्रत्यक्षत्वं कथं न स्यादित्यर्थः। ।२५२। । 'मायां तु प्रकृतिं विद्याद्'(श्वेता.४.१०) इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च न कार्यकारणयोः शून्यतालक्षणमसत्त्वं किन्तु सूक्ष्मतारूपमेवेत्याह— तत इति। ततः शून्यत्वे प्रत्यक्षादिविरोधादेव कारणादिकम् असत् शून्यं नोच्यते किन्तु मायामयमित्यर्थः। ।२५३। । मन्त्रार्थमुपसंहरति— आत्मन इति। यस्मादसत् सर्वं मायामयम् आगमापायित्वेन मुख्यसत्ताऽनर्हमपि आत्मसत्तयैव सत् सम्पद्यते, तत आत्मैव परमार्थसत्य इत्येतद् अनेन मन्त्रेणोक्तमित्यर्थः। ।२५४। ।

एवं सत्यतां केवलां स्फुटी कृत्य अथ आनन्दत्वविशिष्टां तां प्रदर्शयतो 'यद्वै' इत्यादेः 'याती' त्यन्तस्य[1] ग्रन्थस्याऽर्थमाह— सुष्ठु यद् इति। यद् ब्रह्म आनन्दात्मिकया स्वसत्तया विश्वं सुष्ठु लब्धसत्ताकं कृतवत् तदेव विश्वस्य रसः सार इति यावत्, भासमानानन्दरूपत्वाद् इत्यर्थः। ।२५५। । अस्यात्मन आनन्दरूपेण सत्त्वे विद्वदनुभवो मानमित्याह—लब्ध्वैनमिति। एनमात्मानं ब्रह्म अस्मीति ज्ञानेन लब्ध्वा एव बाह्यसामग्रीहीना अपि विद्वांसः

को सिद्ध करता नहीं अतः न कार्य-कारण की असत्ता हो सकती है और न 'यह' शब्द असत् को विषय कर सकता है। जब कार्यादि की प्रत्यक्षता है तब असत्ता नहीं होगी क्योंकि पण्डित मानते हैं कि प्रत्यक्ष केवल सत् को ही विषय करता है। क्योंकि असत् हो जाते हैं इसलिये अतीत व अनागत प्रत्यक्ष नहीं होते। यदि असत् का भी प्रत्यक्ष हो सके तो अतीत आदि का प्रत्यक्ष क्यों नही होता! ।२५०-२। । इस प्रकार शून्यता में प्रत्यक्ष आदि का विरोध होने से विचारा-धीन उपनिषद्वाक्य में न कार्य को न कारण को और न दोनों को असत् कह रहे हैं किंतु जगत्प्रसिद्ध कारणादि को मायामय कह रहे हैं। ।२५३। । इस मंत्र में यही बताया है कि सभी असत् अर्थात् मायामय पदार्थ आगमापायी होने से मुख्य सत्ता के अयोग्य होने पर भी क्यों कि आत्मा की सत्ता से ही सत्तावान् बनते हैं इसलिये वह आत्मा ही परमार्थ सद्रूप है, उसकी असत्ता की शंका भी नहीं की जा सकती। इससे अतिरिक्त कोई प्रतिपाद्य इस वाक्य का नहीं है। ।२५४। ।

जिस ब्रह्म ने अपनी आनंदरूप सत्ता से विश्व को अच्छा बनाया वह ब्रह्म ही विश्व का रस अर्थात् सार है क्योंकि उसी का स्वरूप भासमान आनंद है। (औपनिषददर्शन की एक अत्यंत विलक्षण खासियत है कि यह सत् को ही आनंद मानता है। परिवर्तन में, क्रिया में, ज्ञान में आनंद तो बहुतेरे मान लेते हैं पर संभवतः सन्मात्र को आनंद केवल वेदान्ती मानता है। क्योंकि सत्, 'है' सर्वदा सर्वत्र सुलभ है इसलिये हमेशा सानंद रहने का यही सीधा उपाय है।)। ।२५५। ।

---

१. 'यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवाऽन्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।'

यद्येष रस आकाश आनन्दात्मा हृदि स्थितः। न भवेज्जीवने हेतुः क्रियायामपि वामनः।
प्राणापानादिभिः कुर्यान्न क्रिया जीवनप्रदाः।।२५७

हृदयाकाश आनन्द एष इत्यत्र संशयः। न कार्यो यत एतस्मात् पुरुषैर्लभ्यते सुखम्।।२५८

विषयाः सदृशा दीपैः सुखमात्मनि संश्रितम्। प्रकाशयन्ति सततं ततो जन्यं न तद्भवेत्।।२५९

अत आत्मैव सर्वेषामानन्दं सम्प्रयच्छति। अज्ञातो विषयाज्जातं ज्ञात आत्मा स्वमव्ययम्।।२६०

आनन्दिन आनन्दमग्ना दृश्यन्त इत्यर्थः।।२५६।। किं च संघातपरार्थत्वन्यायेन सर्वाः प्राणादिक्रियापदार्थाः[1] तस्यात्मनः शेषिण आनन्दत्वे कः सन्देह इत्याह—यद्येष इति। हृदयाकाशरूपो रसत्वेनाऽऽनन्दरूप आत्मा वामनः प्रशस्तफलप्रद उपाधिसम्बन्धेन परिच्छिन्नतया भासमानो वा जीवने क्रियायां तदनुकूलप्राणादिव्यापाररूपायां च हेतुः प्रयोजको न स्यात् तर्हि प्राणनादिकं न कश्चित् कुर्याद् इत्यर्थः।।२५७।। लौकिकानन्दानां प्रतिबिम्बस्थानीयानां बिम्बतया प्रयोजकत्वाच्च अस्यानन्दरूपत्वसिद्धिः इत्याह— हृदयाकाश इति। अस्य हृदयाकाशस्य आनन्दत्वे संशयो न कार्यः सर्वानन्दप्रयोजकत्वाद् इत्यर्थः।।२५८।। विषयास्तु लब्धाः कामनाशमनद्वारेण आत्मानन्दस्य तारतम्येन अभिव्यञ्जका एव, न जनका इति सदृष्टान्तमाह— विषया इति। ततो विषयेभ्यः तत् सुखं जन्यं न भवेद् इति तुरीयपादार्थः।।२५९।। अत इति। यतः सुखमात्मरूपमेव अत आत्मैवाऽज्ञातः सन् विषयानन्दप्रयोजकः, ज्ञातः तु पूर्णानन्दप्रद इत्यर्थः।।२६०।।

एवमस्तित्वमवधारितम्। अथ तस्य विद्वदेकलभ्यतां विद्वदभयहेतुत्वोपन्यासद्वारेण प्रतिपादयतो 'यदे' त्यादेः 'भवती' त्यन्तस्य[2] वाक्यस्यार्थमाह— विद्वानेवेति चतुर्भिः। तत उक्तात्मस्वरूपस्य विद्ययैवं स्फुटी भावाद्

इस रस को, आत्मा को, आनंदस्वरूप ईश्वर को '(यही) मैं हूँ' ऐसे अनुभव से प्राप्त कर विद्वान् स्वयं आनंदमग्न हो जाते हैं, बाह्य सामग्री के बिना ही वे आनंदी रहते हैं। विद्वानों का अनुभव भी आत्मा की आनंदरूपता सत्यापित करता है।।२५६।। हृदय में स्थित आनंदरूप रसभूत यह आकाशशब्दित आत्मा, जो श्रेष्ठ फल देने वाला होने से और उपाधिसंबंध से परिच्छिन्न प्रतीत होने से 'वामन' कहलाता है, यदि जीवन और जीवनानुकूल प्राणनादि क्रियाओं का प्रयोजक न हो तो कोई प्राणन-अपानन आदि जीवनयोनि क्रियायें करे ही नहीं। (जीने में सुख है तभी इसके लिये सारी चेष्टाएँ की जाती हैं। वह सुख खोज करें तो आत्मसत्ता से अन्य कुछ निकलेगा नहीं।)।।२५७।। यह हृदयाकाश नामक आत्मा आनंद है इसमें शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि जीवों को इसी से सुख मिलता है।।२५८।। विषय दीपकों की तरह हैं जो आत्मस्वरूप से स्थित सुख को प्रकाशित करते हैं। इसलिये सुख तो सनातन आत्मरूप है, वह कोई जन्य पदार्थ नहीं है।(यद्यपि आत्मा सुखरूप के साथ ज्ञानरूप भी है तथापि 'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः' (गीता.७.२०) न्याय से कामना उस ज्ञान को प्रतिबद्ध कर देती है। विषयप्राप्ति से कामना मिटते ही आत्मसुख प्रकाश जाता है। विद्यमान रूप ही दीप से प्रकाशित होता है ऐसे ही विद्यमान आत्मसुख ही विषयलाभजन्य कामनाशरूप उपाधि से प्रकाशने लगता है। दीपोदाहरण का यह मतलब नहीं कि सुखभान के लिये विषय अनिवार्य है। दृष्टांत इतने में ही है कि विद्यमान सुख के ही निरावरण में विनियुक्त होने से विषयों का उपयोग है।)।।२५९।। क्योंकि सुख आत्मा का स्वरूप ही है इसलिये अज्ञात हुआ आत्मा ही विषयापेक्ष आनंद का प्रयोजक है, सबको जो विषयों से आनंद मिलता है वह अज्ञात आत्मा ही देता है। ज्ञात आत्मा तो अव्यय पूर्ण अपना स्वरूपभूत आनंद प्रदान कर देता है।।२६०।। इस प्रकार जो यह शंका थी कि ब्रह्म है यह कैसे मानें, उसका समाधान विस्तार से कर दिया। दूसरी शंका थी कि केवल ज्ञानी उसे कैसे प्राप्त करता है ? इसका समाधान करते हैं :

क्योंकि विद्वान् मननपूर्वक यह निश्चय कर चुकता है कि आनंद आत्मस्वरूप ही है इसलिये आत्मस्वरूप आत्मविद्या

१. 'प्राणादिक्रियाः यदर्थाः'—इति युक्तं पठितुम्।

२. 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति।'

अभयलाभः

विद्वानेव ततो याति मत्वाऽऽनन्दात्मरूपकम्। जीवन् वाऽपि सुखं नित्यं परो विषयसम्भवम्। ।२६१

एष विद्वान् यदा स्वात्मबोधादभयरूपधृक्। प्रतिष्ठां तेन तादात्म्यं लभते गुरुवाक्यतः। ।२६२

एतस्मिन् हृदयाकाशे ह्यदृश्ये नयनादिभिः। अनात्मनाऽत्र तादात्म्यं गते सर्वात्मनीश्वरे। ।२६३

अनिरुक्ते वचनतः सर्वाश्रयविवर्जिते। अभयं ब्रह्म संयाति तदा स ब्रह्मवित्तमः। ।२६४

अज्ञस्य भयम्

यथा विद्वानविद्वांश्च न तथा याति कर्हिचित्। भेददर्शी यतः सोऽयं भेददृष्टिश्च दुःखदा। ।२६५

विदेहो जीवन् वा विद्वान् आत्मरूपं सुखं याति इत्येव युक्तम्, अविद्वांस्तु सुखं विषयसम्भवं मन्वानो विपरीतदर्शित्वाद् न तत्प्राप्तिकथामर्हतीत्यर्थः। ।२६१।। तदर्थं ब्रह्मानन्दलाभप्रयोजिकाया विद्यायाः परमं स्वरूपमभिनयति—एष इति त्रिभिः। एष विद्वान् कुशलोऽधिकारी यदा स्वात्मनः त्वम्पदार्थस्य सर्वान्तरलक्षणस्य बोधाद् अभययोग्यरूपः सन् गुरुप्रोक्तमहावाक्यजेन तेन बोधेन एतस्मिन् हृदयाकाशरूपे तत्पदार्थे प्रतिष्ठापदोक्तं तादात्म्यम् ऐक्यं लभते तदा स ब्रह्मवित्तमः सन्नभयं ब्रह्म आनन्दं याति। तस्य ब्रह्मवित्तमतां स्फुटी कर्तुं हृदयाकाशस्य विशेषणानि क्रमेण बाह्यप्रपञ्चस्य स्थूलसूक्ष्मकारणदेहानां च व्यावर्तकानि। तथा हि— अदृश्यत्वाद् बाह्यप्रपञ्चहीनत्वमुक्तम्। अनात्म्यपदार्थेन अनात्मना देहेन तादात्म्यं गते— इत्याकारेण भूतार्थक्तप्रयोगात् स्थूलविवेक उक्तः। निरुक्तत्वस्य सूक्ष्मधर्मस्य निलयनपदोक्ताधारत्वस्य अव्याकृतधर्मस्य च निषेधात् सूक्ष्मकारणयोः व्यावृत्तिरिति। इति त्रयाणामर्थः। ।२६२-४।।

अथ अविद्वदप्राप्यताकोटिं स्फुटयितुम् अज्ञान् प्रति ईश्वरस्य भयहेतुतां दर्शयतो 'यदा ही' त्यादेः 'पञ्चम' इत्यन्तस्य[1] अर्थं विवृणुते—यथेति दशभिः। यथा विद्वान् ब्रह्म याति तथा अविद्वान् गन्तुं न योग्यः, अनर्थहेतुभेददृष्टिशालित्वात्[2]। ।२६५।। भेददृष्टेरनर्थहेतुत्वे कैमुत्यमाह — विद्वानपीति त्रिभिः। यदा विद्वानपि

से स्फुट हो चुकने से उसे जीवित रहते ही सनातन सुख उपलब्ध हो जाता है जबकि अज्ञानी सुख को विषयजन्य मानकर विषयों की ओर दौड़ता रहकर दुःख ही पाता है, आनंद से वंचित रहता है। (राई मसाले के रूप में प्रायः सबके घरों में रहती है पर जो उसके औषधीय गुण जानता है वह उसका प्रयोग कर रोग मिटा लेता है और ग़ैरजानकार प्रयोग नहीं कर पाता। इसी तरह आत्मा तो सबके लिये समान है पर अज्ञानी उससे आनंदी नहीं हो पाता)। ।२६१।। कुशल अधिकारी जब त्वम्पदार्थ की सर्वान्तरता समझकर अभय पाने योग्य हो जाता है और गुरु द्वारा सुनाये महावाक्य से उत्पन्न ज्ञान से हृदयाकाश रूप तत्पदार्थ ईश्वर से 'प्रतिष्ठा'-नामक एकता पा लेता है तब वह श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञ हुआ अभयरूप ब्रह्म ही हो जाता है। जिस हृदयाकाश से वह एक होता है वह अपरोक्ष है, किंतु नयन आदि से दृश्य नहीं है अतः बाह्य प्रपंच से रहित है। संसारावस्था में अनात्मरूप देह से वह तादात्म्य किये हुए है, इससे एकमेक लगता है। तात्पर्य है कि वस्तुतः वह शरीर से विविक्त है। शब्दों से उस हृदयाकाश का निर्वचन नहीं होता। ऐंद्रिय न होने वाले सूक्ष्म पदार्थ शब्दों में परिभाषित हो जाते हैं। हृदयाकाश यों परिभाषित नहीं होता जिससे पता चलता है कि वह सूक्ष्म से भी अन्य ही है। वह सभी आश्रयों से, आधारों से रहित है। साधार होना कारण की विशेषता है अतः निराधार होने से वह कारण भी नहीं है यह स्पष्ट हुआ। स्थूल-सूक्ष्म-कारण से परे जो तत्पदलक्ष्य उससे अभिन्न हुआ त्वम्पदलक्ष्य पूर्णानंदरूप होता है। ।२६२-४।।

---

१. 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति। (इति सप्तमोनुवाकः) भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति।'

२. आत्मपुराणसप्तमाध्याये श्लोक.३१०-३३६ भेददर्शनस्य दुःखदताऽदर्शि।

विद्वानपि यदैवैष पण्डितंमन्यतां गतः। अल्पमप्यात्मनो भेदं कुरुते व्यावहारिकम्।।२६६
वस्तुतो नास्ति भेदोऽयम् आत्मनो ब्रह्मणा सह। व्यवहारदशायां तु कश्चिदस्तीति चेदृशम्।
तदा तस्याऽपि भीतिः स्याद् भेदपर्वतसंनिधेः।।२६७
किमु यो वेत्ति नात्मानं भेदपर्वतभेदिनम्। भेदपर्वतवासी सन् वर्तते सर्वदा पुमान्।।२६८
पण्डितंमन्यरूपस्य विदुषोऽविदुषोऽपि यत्। तत्त्वेव स्याद् भयं नित्यं विदुषोऽपि प्रमादिनः[1]।।२६९।
अप्रमत्तस्ततो नित्यं विद्वान् स गुरुणेरितम्। चिन्तयेत् कुशली भावात् परानन्दात्मरूपकम्।।
अन्यथा संसृतिं गच्छेद् बलवद्भेदवासनः।।२७०।।
आत्मनश्चिन्तनाद् भेदवासनानां क्षयो भवेत्। नान्यथाऽतस्तदेवैकं कुर्यान्नान्यत् कदाचन।।२७१

बहिर्मुखत्वात् पण्डितम्मन्यपदप्रयोगार्हः अल्पमपि व्यवहारकालमात्रवृत्तित्वेन अल्पमपि भेदं कुरुते तदा तस्य विदुषः अपि ईश्वराद् भयं स्याद्, भेदरूपस्य पातहेतोः पर्वतस्य सपक्षस्य नैकट्याद् इति सम्बन्धः। तत्र व्यावहारिकभेदाकारः प्रदर्श्यते—वस्तुत इत्यादिना।।२६६-७।। किमु इति। यः तु आत्मानं द्वैतपर्वतखण्डने वज्रभूतमजानानो भेदपर्वतानां मध्य एव वसति तस्य भयं किमु वाच्यमित्यर्थः।।२६८।। पण्डितंमन्येति। पण्डितंमन्यस्य विप्रलम्भकस्य विदुषो भ्रान्तैर्विद्वत्तया मतस्य तथा अज्ञस्य च यद् भयम् ईश्वरात् स्यात् तद् एव भयं विदुषोऽपि प्रमादिनो यथावद् विज्ञायाऽपि श्रुतार्थे निष्ठामकुर्वतः स्याद् इत्यर्थः।।२६९।। फलितमाह—अप्रमत्त इति। कुशली भावः श्रुत्यनुसारितर्कनिपुणता। अन्यथा मननाऽकरणे। तदुक्तं भागवते सप्तमे (७.६.१६) 'विद्वानपीत्थं दनुजाः कुटुम्बम्' इत्यादि।।२७०।। मननेन तु वासनालक्षणानां भेदभ्रमबीजानां दाहो भवति इत्याह— आत्मन इति।।२७१।।

जैसे तत्त्ववेत्ता ब्रह्म प्राप्त कर लेता है वैसे अज्ञानी उसे कभी नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि अज्ञानी का स्वभाव है भेद देखना और भेददृष्टि दुःखदायी होती ही है।।२६५।। जब ब्रह्मज्ञ भी बहिर्मुख होकर वास्तविकता से बेखबर हो जाता है और इस लायक रह जाता है कि उसके बारे में यह कहा जा सके कि वह केवल मानता ही है कि वह आत्मवेत्ता है, एवं आत्मा से थोड़ा भी, सिर्फ़ व्यवहारकाल में रहने वाला भेद करता है तब उस ब्रह्मज्ञ को भी ईश्वर से डरना पड़ता है क्योंकि वह ब्रह्मज्ञ उस पहाड़ के पास पहुँच चुका है जहाँ से भेदरूप पतन होता है। 'ब्रह्म से जीव का यह भेद वास्तव में है नहीं फिर भी व्यवहार की अवस्था में थोड़ा-सा, किसी तरह का भेद तो है ही'— इस तरह की दृष्टि विद्वान् को भी पतित कर देती है तो जो पुरुष भेदरूप पहाड़ फोड़ने में समर्थ आत्मा को बिना जाने हमेशा भेदरूप पर्वत पर रहता है वह भयग्रस्त होगा इसमें कहना ही क्या!।।२६६-८।। जो आत्मज्ञान पाये बिना खुद को आत्मज्ञानी मान बैठा है, जिसे भ्रांत लोग विद्वान् मानते हैं और अज्ञानी—इन तीनों को ईश्वर से जो भय रहता है वही भय उस आत्मवेत्ता को भी होता है जो आत्मा को यथावत् जानकर भी श्रवण से निश्चित अद्वैत अर्थ में निष्ठा नहीं करता।।२६९।। इसलिये विद्वान् को प्रमादरहित होना चाहिये। (गीता के अठारहवें अध्याय में ज्ञान की परानिष्ठा के साधन कहे हैं उनका अनुष्ठान न करना ही यहाँ प्रमाद है। 'विद्वान्' से यहाँ अदृढ ज्ञानी, प्रतिबद्ध ज्ञान वाला या परोक्ष ज्ञान वाला कहा जा रहा है न कि ब्रह्मनिष्ठ यह तो स्पष्ट है।) विद्वान् को चाहिये कि वेदानुसारी तर्क में निपुण होकर गुरुप्रोक्त परमानंद-स्वरूप का ही चिंतन करे।('आत्मेत्येवोपासीत' (बृ.१.४.७) 'प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः'(बृ.४.४.२१) आदि के भाष्य-वार्तिक आदि में यह स्पष्ट है। पुराण में छठे अध्याय में श्लोक.१५०४ आदि में इस पर चर्चा है। ज्ञानमात्र से 'तृप्त' होने वाला मोक्ष नहीं पा सकता।) यदि यों 'एकपर'(पंचदशी७.१०६) नहीं होता तो बलवाली भेदवासनाओं से युक्त रहकर संसार में ही भटकता रह जायेगा।।२७०।। आत्मा के वास्तविक अद्वय स्वरूप के शास्त्रानुसारी युक्त्यनुसंधानरूप चिन्तन से ही भेदसंस्कार मिटते हैं। अन्यथा अर्थात् भेद के प्रकारों में ग्रस्त रहने से भेदसंस्कार समाप्त नहीं होते। अतः सिर्फ़ आत्मचिन्तन

१. विषयोऽयं ग्रंथकृता गीताटीकायां बहुशः प्राकाशि।

आत्मज्ञानं विना ब्रह्म देवानां विदुषामपि। कुर्याद् भयं कथं नान्यजन्तूनां कुरुते तु तत्। ।२७२
अत्राऽप्युदाहरन्तीमं श्लोकं पूर्वे महाधियः। ब्रह्मणो भयतो वातो वाति सूर्य उदेति च।।
अवतीन्द्रो ज्वलत्यग्निर्धावन् मृत्युर्निहन्ति च। ।२७३
वाय्वाद्याः पुरुषाः पञ्च जगतोऽपि नियामकाः। यतो भीतास्ततः कोऽन्यः पुमान्नभयमाव्रजेत्। ।२७४

आनन्दमीमांसा

हृदयाकाशरूपोऽयमानन्दात्मा सुखप्रदः। भयदश्च सुखं तत्र कियदित्यत्र चिन्त्यते। ।२७५
अनन्तमिति तत्प्राहुर्विद्वांसः स्वात्मकोविदाः। सुखेऽस्मिन्नवतार्यैवमानन्दस्य परम्पराम्। ।२७६
यौवनेनाऽभिसम्पन्नो रूपशीलादिसंयुतः। पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। ।२७७
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश। सर्वाण्येतान्यधीयान ऊहापोहविशारदः। ।२७८

ईश्वरस्याऽविदुषां भयहेतुत्वे कैमुत्यान्तरमाह—आत्मज्ञानमिति त्रिभिः। उपासनासिद्धिरूपया विद्वत्तया प्रसिद्धानां देवानाम् अपि उक्तात्मनिष्ठामन्तरेण भयकरं यदा ब्रह्म तदाऽज्ञान् प्रति भयदत्वं तस्य किमु वाच्यमित्यर्थः। ।२७२।। अत्राऽपीति। स्पष्टम्। ।२७३।। अस्य तात्पर्यमाह—वाय्वाद्या इति। स्फुटम्। ।२७४।।

एवं सत्यत्वं मन्त्रोक्तं विवृतम्। अथ आनन्दतां निरतिशयां प्रदर्शयतः 'अथ' इत्यादेः 'स एक' इत्यन्तस्य[1] अर्थमाह—हृदयाकाशेत्येकविंशतिश्लोकैः। यः अयम् आत्मा गुहाप्रविष्टत्वादिरूपैर्वर्णितः तत्स्वरूपमभूत आनन्दः किंपरिमाणः? इति जिज्ञासायां वक्ष्यमाणशताधिक्यपरम्परया तस्य अनन्ततां तित्तिरयो वदन्ति। इति द्वयोः सम्बन्धः। ।२७५-६।। तत्र मनुष्यानन्दोत्कर्षमभिनयति—यौवनेति चतुर्भिः। यौवनाद्यैर्लोकस्पृहणीयैर्गुणैः सम्पन्नो भवेत्, तथा पुराणादीनि धर्मशास्त्रान्तानि चत्वारि, शिक्षादीनि षड् वेदाङ्गानि, चत्वारो वेदाश्च एतानि चतुर्दश ज्ञानधर्मयोः स्थानानि अभिव्यञ्जकानि अधीयानो यथावत् पाठनशक्तः, ऊहादिकुशलत्वाद्। इति द्वयोरर्थः। ।२७७-८।।

करते रहना चाहिये, और कुछ कभी नहीं करना चाहिये। ।२७१।। अत्युत्तम सिद्धि पाये हुए उपासक होने पर भी आत्मज्ञान-रहित देवताओं के लिये ब्रह्म भयस्थान हो जाता है तो वह अन्य जन्तुओं को भयभीत क्यों न करेगा! ।२७२।। इस विषय में भी प्राचीन महापंडित यह श्लोक उद्धृत करते हैं : 'ब्रह्म के डर से हवा बहती है, सूर्य उगता है, इन्द्र राज्य करता है, अग्नि जलती है और दौड़ती हुई मृत्यु हत्या करती है।' जगत् को नियमित रखने वाले वायु आदि पाँचों देवता भी जिससे डरते हैं उससे न डरे ऐसा कौन अन्य जीव होगा! (अध्याय ६ श्लोक ६६३ आदि में भी यह बताया था)। ।२७३-४।।

हृदयाकाश से निरूपित, सबको सुख और भय देने वाले इस आनन्दरूप आत्मा में *कितना* सुख है इस पर विचार करते हैं। निज स्वरूप के अनुभवी विद्वान् इस सुख के संदर्भ में आनंद की बढ़ती हुई कोटियाँ बताते हुए इसे अनन्त घोषित करते हैं। ।२७५-६।। आनंद की पहली कोटि, इस प्रसंग में गिनने लायक सबसे छोटी इकाई है मनुष्य को मिल सकने वाला सर्वाधिक सुख जिसे 'मानुष आनन्द' कहते हैं। उत्कृष्ट आनंद का उपभोग भी उत्कृष्ट व्यक्तिही कर सकता है जैसा कि कहा है 'सुअर आदि शरीरों द्वारा वह सुख नहीं भोगा जा सकता जो इंद्र के लायक है!' मानुषानंद के उपभोक्ता में भी वैशिष्ट्य चाहियेः भरी जवानी हो, सुन्दर रूप और प्रशंसनीय स्वभाव हो। विद्या और धर्म को अभिव्यक्त

---

१. 'अथ'-पदं नेह श्रुतौ दृश्यते। वाक्यं तु- 'सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात् साधुयुवाध्यायकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनंदः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य...आजानजानां देवानाम्...कर्मदेवानां देवानामानन्दः। ये कर्मणा देवानपि यन्ति। श्रोत्रियस्य...देवानाम्...इन्द्रस्य...बृहस्पतेः...प्रजापतेः....ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः।' इति। पुराणे षष्ठाध्याये (श्लोक ७६५-८१६) समानः प्रसंगो व्याख्यातः।

मात्रा पित्रा तथाऽऽचार्यैः शिक्षितो विनयान्वितः। वज्रसारसमानाङ्गो बलवान् बलभिद् यथा।२७९

तस्येयं पृथिवी सर्वा सप्तसागरमेखला। सर्वैर्वित्तैश्च सम्पूर्णा नाभिकाञ्चनपर्वता।।
स्वाधीना चेद् भवेत् सोऽयमानन्दो मानुषः परः।।२८०

शतं ये मानुषाः प्रोक्ता आनन्दा अधिका इह। एको मनुष्यगन्धर्वानन्दः स परिकीर्तितः।।२८१

अत्रानन्देषु सर्वेषु वक्ष्यमाणेष्वपीरिते। यस्मिन् यस्मिन् विरक्तो यस्ततस्तस्य सुखं भवेत्।।
श्रोत्रियस्य सदा शुद्धचेतसोऽत्राऽधिकारिणः।।२८२

ते ये मनुष्यगन्धर्वानन्दाः स्युः शतसंख्यया। देवगन्धर्वजः सोऽयमेक आनन्द ईरितः।।२८३।।

देवगन्धर्वजानन्दाः शतं ये परिकीर्तिताः। भवेत् स एक आनन्दः पितॄणां चिरवासिनाम्।।२८४

आ समन्तात् शिष्टः शिक्षित इत्याकारम् 'आशिष्ट' पदार्थमाह— मात्रेति। क्रमेणेति शेषः। द्रढिष्ठादिपदार्थमाह— वज्रेति। बलभिद् इन्द्रः।।२७९।। आध्यात्मिकगुणसम्पत्तिं लोकद्वयहितामुक्त्वा बाह्यामाह— तस्येयमिति। तस्य वर्णितस्य यदि सप्तमसमुद्रान्ता सुमेरुमध्यका सर्वा पृथ्वी वशे स्यात् तदा तस्य यश्चित्तप्रसादः स सर्वमानुषानन्दसमष्टिरूप एक आनन्द इत्यर्थः।।२८०।। शतं य इति। उक्तानन्दाः शतगुणिताः सन्तो मनुष्यगन्धर्वानन्द एको भवति। ये मनुष्ययोनिजाः कर्मोपासनाबलाद् गन्धर्वत्वं प्राप्तास्ते मनुष्यगन्धर्वा उच्यन्त इत्यर्थः।।२८१।। अत्रेति। अत्र वर्णितेषु वक्ष्यमाणेषु च आनन्देषु मध्ये यत्र यत्र यः श्रोत्रियः शुद्धमना विरक्तो भवेत् तस्य ततो मानुषाद्यानन्दात् शतगुणाधिकं सुखं ज्ञेयमित्यर्थः।।२८२।। ते य इति। शतं मनुष्यगन्धर्वानन्दा एकीभूता देवयोनिजगन्धर्वानन्द एको भवतीत्यर्थः। एवमग्रेऽपीति।।२८३।। देवगन्धर्वजानन्दा इति। चिरवासिनां चिरस्थायिलोककानाम्।।२८४।।

करने वाले चौदह शास्त्र हैं— चार वेद, छह वेदांग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र। इन सबका वह सांप्रदायिक ज्ञाता हो, इन्हें सही तरह पढ़ा सके और इन विषयों पर शङ्का-समाधान करने में सक्षम हो। बालकपन में माता द्वारा, व्यावहारिक बातों में पिता द्वारा और शास्त्रीय विषयों में आचार्यों द्वारा भली भाँति शिक्षित हो, और विनम्र हो। इन्द्र के आयुध वज्र जैसे दृढ शरीर वाला एवं देवराज-सा बलवान् हो। ऐसी योग्यता वाले सज्जन के अधीन यह सारी पृथ्वी हो जो सात सागरों से घिरी है और सुमेरु पर्वत जिसके मध्य में है; पृथ्वी भी सभी प्रकार के धनों से भरी-पूरी हो। उस व्यक्ति को जो आनन्द होता है वह मनुष्य को मिल सकने वाला सर्वाधिक विषयानंद है।।२७७-८०।। मानुष आनंद से सौ गुणे से अधिक जो आनंद होता है वह 'मनुष्यगंधर्वों' के आनंद की इकाई है।(पैदा मनुष्य होकर कर्म-उपासना के बल पर गंधर्व बने लोग मनुष्यगंधर्व कहलाते हैं। यद्यपि मानुषानंद से सौ गुणा ही यह आनंद कहा है और आगे भी सौ-सौ गुणा ही कहा गया है तथापि सौ रोशनियाँ मिलकर जितना प्रकाश देती हैं उतना यदि कोई एक रोशनी देवे तो उस एक को उन सौ से ज्यादा ही कहा जाता है, इस दृष्टि से बृहदारण्यकव्याख्या में पुराणकार ने 'सौ गुणे से अधिक' यों समझाया था। विश्वसाहित्य में आनंद का माप संभवतः सिर्फ वेद में मिलता है; सौ-सौ गुणा वृद्धि की संकल्पना का भी सर्वप्राचीन उल्लेख वेद में ही है।)।।२८१।। अभी तक कहे और आगे बताये जाने वाले सभी आनंदों के बारे में यह रहस्य जानना चाहिये कि शुद्ध मन वाला जो वेदज्ञ जिस-जिस आनंद को पाने का अधिकार रखते हुए उस-उस आनंद के प्रति विरक्त होगा उसे उससे सौ गुणा अधिक आनंद हमेशा उपलब्ध रहेगा।(जिस आनंद को पा सकते हैं उसके प्रति कामना न रहने पर उस आनंद की अपेक्षा अधिक आनंद होता है यह भाव है। अतः आनंदवर्धन के लिये दोनों बढ़ानी पड़ेंगी—योग्यता और विरक्ति। जिसके हम अधिकारी ही नहीं उसके प्रति निष्कामता से हमें सुखविशेष नहीं मिल सकता। यद्यपि यह न्याय सांसारिक क्षेत्र में भी लागू है तथापि यह विशिष्ट सुख श्रोत्रिय को, वेदज्ञ को ही होता है ऐसा इसलिये कहा कि विषयसुख से वैराग्य आत्मसुख के ज्ञाता को ही संभव है। अन्यों

पितॄणां चिरलोकानामानन्दा ये शतं स्मृताः। आजानजानां देवानामेकः स परिकीर्तितः।।२८५
देवयोनिप्रजातानामानन्दा ये शतं स्मृताः। स एकः कर्मदेवानां कर्मणा ये दिवं गताः।।२८६
आनन्दाः कर्मदेवानां शतं ये परिकीर्तिताः। वसुरुद्रादिदेवानामेक एव हि स स्मृतः।।२८७
वसुरुद्रादिदेवानामानन्दा ये शतं स्मृताः। इन्द्रस्यैकः स विज्ञेय आनन्दो जगदीशितुः।।२८८
आनन्दा यत्र शक्रस्य शतं स तु बृहस्पतेः। एक एव शतं तस्य य आनन्दो बृहस्पतेः।।
प्रजापतेर्विराजः स एक एव प्रकीर्तितः।।२८९
प्रजापतेः शतं ये स्युरानन्दा एक एव सः। भवेत् परम आनन्दो ब्रह्मणः सूत्ररूपिणः।।२९०
अस्मात् परो न कोऽपि स्यादानन्दो देहिनामिह। आनन्दात्मानमाकाशमेकं हित्वा स्वयं प्रभम्।२९१
आनन्दवारिधेस्तस्य परमानन्दरूपिणः। ब्रह्मानन्दः परोऽस्माकं बिन्दुमात्रं तु तस्य सः।।२९२
आनन्दस्तत एवाऽयमनन्तः परिकीर्तितः। आनन्दात्मस्वरूपस्य स्वयम्भातस्य सर्वदा।।२९३

पितॄणामिति। आजानो देवलोकस्तत्र स्मार्तकर्मानुष्ठानेन जाता देवा आजानजाः।।२८५।। देवयोनीति। कर्मदेवाः श्रौतकर्मणा देवभावं गताः।।२८६।। तेभ्योऽपि वसुरुद्रादीनाम् आधिकारिकदेवानामानन्दः शतगुणाधिक इत्याह— आनन्दा इति।।२८७।। वस्विति। वस्वादिदेवानन्दशतात्मक इन्द्रस्य आनन्द इत्यर्थः।।२८८।। आनन्दा यत्रेति। यत्र आनन्दे, इन्द्रानन्दशतमन्तर्भूतं तादृश आनन्दो देवगुरोर्बोध्यः। बृहस्पतेः आनन्दाः शतं यत्र लीनास्तादृश आनन्दः प्रजापतिपदोक्तस्य विराजो बोध्य इत्यर्थः।।२८९।। प्रजापतेरिति। विराडानन्दशतं यत्रान्तर्भूतं तादृश आनन्दो ब्रह्मपदोक्तस्य हिरण्यगर्भस्य ज्ञेय इत्यर्थः।।२९०।। अस्माद् इति। अस्माद् हिरण्यगर्भानन्दादधिक आनन्दो देहिनाम् उपाध्यभिमानिनां न अस्ति। किन्तु हिरण्यगर्भानन्दादपि विरक्तस्य श्रोत्रियस्य चित्ते भासमानो यः चिदाकाशरूप आनन्दः स ततोऽधिक इत्यर्थः।।२९१।। स कियान् इति चेद्? अनन्त इत्याह—आनन्देति द्वाभ्याम्। योऽयं ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य आनन्दः सोऽस्माकम् अपेक्षया परः अपि तस्य चिदाकाशानन्दस्य वारिधिस्थानीयस्य बिन्दुमात्रं भवतीत्यर्थः। तस्य स इति पदद्वयम् उत्तरान्वयि।।२९२।। आनन्द इति। तस्य स्वयं भातस्य अद्वयात्मरूपस्य स आनन्दः तत एवानन्त इति योजना।।२९३।।

में विषयवैतृष्ण्य कभी दिख सकता है पर वह है भुलावा ही क्योंकि अधिक सुख के बिना कम सुख छोड़ना चेतन के लिये स्थायीरूप से संभव नहीं।)।।२८२।। मनुष्यगंधर्वों के आनंद से सौ गुणा होता है देवगंधर्वों का आनंद। (जो जन्म से गंधर्व हैं वे देवगंधर्व कहे जाते हैं।)।।२८३।। देवगंधर्वों के आनंद से सौ गुणा आनंद चिरस्थायी लोक में रहने वाले पितरों को होता है। (निष्काम श्रोत्रिय को ये सभी आनंद अनायास मिलते जाते हैं यह साथ ही साथ समझते जाना चाहिये।)।।२८४।। उक्त पितरों के आनंद से सौ गुणा आनंद आजानज देवों को उपलब्ध होता है।(स्मृतिविहित कर्मों के अनुष्ठान के फलस्वरूप आजान अर्थात् देवलोक में पैदा हुए देवता आजानज देव कहे जाते हैं।)।।२८५।। आजानज देवों के आनंद से सौ गुणा आनंद कर्मदेवों को प्राप्त है।(श्रुतिविहित कर्मों के फलस्वरूप देवभाव पाये जीवों को कर्मदेव कहा जाता है।)।।२८६।। कर्मदेवों के आनंद से सौ गुणा आधिकारिक देवों का आनंद है जैसे वसुओं का, रुद्रों का तथा इसी कोटि के अन्य देवों का।।२८७।। वसुआदि के आनंदों से सौ गुणा जगदीश इंद्र का आनंद है।।२८८।। इंद्र से सौ गुणा बृहस्पति का और उससे सौ गुणा प्रजापति विराट् का आनंद है।।२८९।। प्रजापति के आनंद से सौ गुणा सूत्रात्मा ब्रह्मा का आनंद है।।२९०।। इस हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के आनंद से अधिक कोई आनंद किसी देहाभिमानी को प्राप्य नहीं है। किंतु हिरण्यगर्भ के आनंद से भी विरक्त वेदज्ञ के चित्त में भासमान जो भूमरूप ज्ञानात्मक आनंद

महावाक्यम्

अयमानन्द आकाशः पुरुषे यश्च वर्तते। आदित्ये यश्च सूत्राख्ये तयोर्भेदो न वर्तते।।२६४

अतो भेदो निजाऽज्ञानात् सर्वत्रैव प्रतीयते। अध्यात्ममधिदैवं वा ह्यधिभूतमथाऽपि वा।।२६५

कोशोपसंक्रमणम्

ज्ञाते तत्त्वेऽपि दिङ्मोहो यथा प्रत्यक्षजन्मनः। प्रागास्ते तत एवाऽयं वर्तते भेदविभ्रमः।
साक्षात्कारात् पुरा ब्रह्मविदुषामपि सर्वदा।।२६६

एवं जानन् पुमान् योऽत्र साक्षात्कारप्रसिद्धये। क्रमतोऽन्नादिकान् कोशान् गत्वा ब्रह्म स गच्छति।।२६७

तस्याऽद्वयात्मतां महावाक्येनाह—अयमिति। अयं चिदाकाशरूप आनन्दो यः **पुरुषे व्यष्ट्युपाधौ वर्तते स एव** आदित्ये **मूर्तामूर्तसमष्टिसारभूते** वर्ततेऽतः तयोः तत्-त्वंपदार्थयोः भेदो न इत्यर्थः।।२६४।। **फलितमाह**—अत इति। **स्पष्टम्।।२६५।।**

एवमित्यादिपञ्चकोशोपसंक्रमणान्तवाक्यार्थमाह[1]—ज्ञाते तत्त्वेऽपीति। **परोक्षतत्त्वे ज्ञाते साक्षात्कारात् पूर्वं मोहो भ्रमस्तिष्ठति, यथा दिग्भ्रम इति एवं भ्रममर्यादां जानन् सन् यः साक्षात्काराय यतते सोऽन्नमयादिपञ्चकोशानां समष्टिरूपाणां गमनम् उपसंक्रमणपदोक्तं तत्तन्मात्रनिष्ठारूपं क्रमेण कृत्वा चरमकोशपुच्छभूतं** ब्रह्म गच्छति **साक्षात्करोति। इति द्वयोरर्थः।।२६६-७।।**

है वह हिरण्यगर्भानंद से कहीं अधिक है। उस एक स्वप्रकाश आनंदस्वरूप भासमान व्यापक तत्त्व को छोड़कर कोई आनंद सूत्रात्मा के आनंद से ज़्यादा नहीं है।।२६१।। जो यह हिरण्यगर्भ का आनंद है वह हमारी अपेक्षा अत्यंत अधिक होने पर भी उस पूर्ण आनंद स्वरूप वाले आनंद सागर की एक बूँद जितना ही है! इसीलिये उस स्वप्रकाश अद्वय आनंदस्वभाव आत्मा का यह आनंद अनंत कहा गया है। (इस प्रकार स्पष्ट किया कि आत्मानंद 'कितना' है।)।।२६२-३।।

व्यष्टि उपाधि वाले पुरुष में जो यह चैतन्यात्मक आनंद है वही मूर्त-अमूर्त की समष्टि के सारभूत सूत्रनामक आदित्य में है। इससे सिद्ध है कि व्यष्टि त्वंपदार्थ व समष्टि तत्पदार्थ में भेद नहीं है। (तैत्तिरीय उपनिषत् का यही महावाक्य है।)।।२६४।। क्योंकि वास्तविकता अद्वैत है इसलिये अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत आदि जो भी भेद कहीं भी प्रतीत होता है वह निज स्वरूप के अज्ञान से ही होता है।।२६५।।

तत्त्व का ज्ञानमात्र हो जाने पर भी अप्रतिबद्ध साक्षात्कार से पूर्व यह भेद का विभ्रम बना रहता है जैसे दिक्तत्त्व का ज्ञान रहते भी दिशा का भ्रम हो जाता है। जिन्हें ब्रह्म का ज्ञानमात्र है उन्हें भी प्रतिबंधहीन अपरोक्ष से पहले तक हमेशा संसारभ्रम बना रहता है। जो पुरुषार्थी भ्रमनिवारण की यह मर्यादा जानते हुए प्रतिबंधरहित साक्षात्कार पाने के लिये पूर्वदर्शित क्रम से अन्नमय आदि कोशों में जाकर आखिरी कोश के आधार ब्रह्म का दृढ अपरोक्ष कर लेता है वह निर्भ्रम होता है।(कोशों में 'जाना' अर्थात् एक-एक कोश में अपना अभिमान सीमित कर फिर उससे अभिमान हटाकर उसकी अपेक्षा भीतरी कोश में उसे सीमित करते हुए अन्त में ब्रह्ममात्र को मैं समझना। इस 'उपसंक्रमण' पर भाष्यकार ने विस्तृत चर्चा की है। व्यष्टि कोशों में सिमटते जाने के साथ ही साथ कोशों के समष्टि रूपों में भी मैं-बुद्धि कर-कर के छोड़ते जाना ज़रूरी है तभी अद्वयबोध होगा, दोनों पदार्थों का शोधन होगा। केवल व्यष्टि कोशों में सिमटने से केवल त्वंपदार्थ का शोधन हो पायेगा अतः अभेदज्ञान नहीं होगा। अतः प्रथम उपसंक्रमण को वनमाला में 'समष्टिव्यष्ट्यात्मकमन्नलक्षणं ब्रह्माऽहमिति पश्यति' यों संग्रह किया है। इसी तरह आगे के कोशों में समझना चाहिये।

१. 'य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं मनो...विज्ञान... आनन्द...क्रामति। तदप्येष श्लोको भवति।'(इत्यष्टमोनुवाकः)।

मुक्तः

आनन्दात्मानमद्वैतं पुच्छं ब्रह्म विनिर्भयम्। प्राप्तस्य विदुषो भीतिः कुतश्चिन्नैव जायते।।
अस्मिन्नर्थ इमं श्लोकं पठन्ति ब्रह्मवादिनः।।२६८

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'[1]।।'२६६

शब्दे वाचः प्रवर्तन्ते शब्दार्थे च मनस्तथा। अशब्दार्थेऽप्यशब्देऽस्मिन् कथं गच्छेद् मनोऽपि वाक्।।३००

अस्मिन्नात्मतया ज्ञाते सर्वेषां भयरूपिणि। विदुषस्तु कुतो भीतिर्भेदशून्यस्य सम्भवेत्।।३०१

अहं ब्रह्मेति विज्ञानादानन्दात्मस्वरूपिणम्। एतं हि तपतो नैते नित्यं सुकृतदुष्कृते।।
अकृते च कृते चापि यथाऽन्यं भेददर्शिनम्।।३०२

कृतवान् पातकं कस्मात् पुण्यं चाऽहं कुतो न हि। इति यद्वत् सदा दीनं सर्वशक्तिविवर्जितम्।।३०३

एवं ब्रह्मप्राप्तः स निर्भयो भवति इत्यत्रार्थे इममुत्तरं श्लोकं मन्त्रं पठन्तीत्याह— आनन्दात्मानमिति।।२६८।। यत इति।।२६६।। अस्य मन्त्रस्याऽर्थमाह—शब्द इति द्वाभ्याम्। शब्दे नामप्रपञ्चे वाचः प्रवृत्तिः, तदर्थे रूपप्रपञ्चे तु मनसः। नामरूपाभ्यामतीते ब्रह्मणि मनो वाक् च कथं प्रवर्तेत इत्यर्थः।।३००।। अस्मिन्निति। अस्मिन् वाङ्मनसाऽगोचरे ब्रह्मणि अज्ञातदशायां सर्वेषां भयप्रदे आत्मतया ज्ञाते सति अद्वयस्य विदुषः कुतो भीतिः स्याद् इत्यर्थः।।३०१।। विदुषोऽद्वयत्वेन किञ्चिद् भयप्रदं न सम्भवति यथा कृताकृते दुष्कृतसुकृते इति दर्शयत 'एतम्' इत्यादेः[2] फलवाक्यस्य अर्थमाह— अहं ब्रह्मेति चतुर्भिः। यथा भेददर्शिनम् 'अहं पातकं कृतवान्, पुण्यं किं न कृतवान्' इति एवं दीनं प्रति कृतं पातकम् अकृतं पुण्यं चैते तापयतस्तथा एतं विद्वांसं विज्ञानाद् ब्रह्मात्मभूतं ते न तापयतः।

शरीरत्रयप्रक्रिया में भी यही ढंग अपनाया जाता है यह पंचीकरणप्रकरण आदि में स्फुट ही है। भाष्य में कह दिया है कि अविद्याविभ्रमनाश को ही संक्रमण कहते हैं अतः तत्तत् समष्टि-व्यष्टि में आत्मबुद्धि हटना ही संक्रमण जानना चाहिये।)।।२६६-७।।

आनंदस्वरूप, 'पूँछ' (सर्वाधार), सर्वथा भयरहित ब्रह्म को प्राप्त हुए विद्वान् को किसी भी कारण से भय होता ही नहीं। इस विषय में ब्रह्मवादी यह श्लोक पढ़ते हैं : 'जिसे पाये बिना मन सहित वाणी लौट आती है उस ब्रह्म के आनंद का जानकार किसी भी कारण से डरता नहीं।'।।२६८-६।। नाम-प्रपंच में वाणी प्रवृत्त होती है और अर्थ-प्रपंच में मन प्रवृत्त होता है। आत्मवस्तु न कोई शब्द है और न किसी शब्द का अर्थ अतः दोनों प्रपंचों से अतीत इस तत्त्व में मन-वाणी क्योंकर प्रवृत्त होंगे! (शब्द से किसी वास्तविक सम्बंध वाले को ही शब्द का अर्थ कहना संगत है। आत्मा का वास्तविक संबंध संभव नहीं क्योंकि उससे अन्य वास्तविक है ही नहीं । अतः उसे शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता।)।।३००।। अज्ञान रहते सबको डराने वाले, मन-वाणी से परे इस ब्रह्म को मैं रूप से जान लेने पर भेदरहित विद्वान् को किससे भय संभव होगा!।।३०१।। भेददर्शी पछताता है 'मैंने यह पाप क्यों कर लिया, वह पुण्य क्यों नहीं किया' अतः उस असमर्थ दीन को किये पाप व न किये पुण्य हमेशा संताप देते रहते हैं। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अनुभव से जो आनंदस्वरूप हो गया उसे उस तरह किये व न किये पाप या पुण्य कभी सन्ताप नहीं देते।।३०२-३।। आनंदरूप

१. 'मनोमये चोदाहृतो मन्त्रो मनसो ब्रह्मविज्ञानसाधनत्वात् तत्र ब्रह्मत्वमध्यारोप्य तत्स्तुत्यर्थं 'न बिभेति कदाचने' ति भयमात्रं प्रतिषिद्धम्। इह अद्वैतविषये 'न बिभेति कुतश्चने'ति भयनिमित्तमेव प्रतिषिध्यते।'—भाष्यम्।

२. 'एतं ह वाव न तपति। किमहं साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। स य एवंविद्वानेते आत्मानं स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत्।' (इति नवमोनुवाकः। ब्रह्मवल्ली समाप्ता)।

आनन्दात्मनि विज्ञाते पुण्यपापे उभे अपि। असावात्मतया जानन् कथं तापं ततो व्रजेत्। ।३०४
ततो विद्वानमुं लोकमानन्दात्मस्वरूपकम्। जानन्नात्मतया गच्छेज्जीवन् वाऽपि मृतोऽपि वा ।३०५
एवं विचारे सम्प्रोक्ता ब्रह्मविद्या मनीषिभिः। आनन्दात्मस्वरूपस्य प्राप्तिहेतुः सदा नृणाम्। ।३०६

अथ वारुणीविद्या

गुरूपदेशतो ब्रह्म ज्ञात्वा यश्च विचारयेत्। कोशपञ्चकमप्येतत् ततो नात्मतया व्रजेत्। ।३०७
अत्र चोदाहरन्तीममाख्यानं पितृपुत्रयोः। गुरूपदेशतः पश्चाद् मननायेति पण्डिताः। ।३०८
भृगुर्नामाऽभवत् कश्चिद् वरुणस्य सुतो महान्। वरुणं पितरं गत्वा पप्रच्छेदं कदाचन। ।३०९
भगवन् ब्रह्म जानीषे मह्यं तत्त्वं वद प्रभो। इत्युक्तो वरुणस्तस्मै प्रोवाचेदं महामतिः। ।३१०

इति द्वयोरर्थः। ।३०२-३। । तत्र हेतुतया पुण्यपापयोः विदुष आत्मनि लीनत्वमाह— आनन्दात्मनीति। सर्वात्मदर्शी पुण्यपापे अपि आत्मतया पश्यंस्ताभ्यां कथं तप्येत्, न ह्यग्निरात्मानं दहतीत्यर्थः। ।३०४। । ततो ज्ञानफलेऽभयप्राप्तिरूपे न सन्देह इत्याह— तत इति। स्पष्टम्। ।३०५। । आनन्दवल्लीव्याख्याम् उपसंहरति— एवमिति। स्पष्टम्। ।३०६। ।

भृगुवल्लीव्याख्यां प्रवर्तयति— गुरूपदेश इत्यादिना। यो गुरूपदिष्टं ब्रह्म तत्त्वं मननगोचरं करोति स पञ्चकोशान् आत्मतया न अवगच्छति किन्तु चरमकोशपुच्छभूतं ब्रह्मैव आत्मतयाऽवगच्छति साक्षात्करोति इति अत्र अर्थे भृगुवल्लीं पितृपुत्रयोः वरुणभृगुसंज्ञयोः वृत्तप्रकाशिकां तित्तिरयः पठन्ति। इति द्वयोरर्थः। मननाय मननाकारं स्फुटयितुम। ।३०७-८। । इतिहासमभिनयति[1]— भृगुरिति। महान् महाप्रभावः। जानीषे स्मरसि। इदं वक्ष्यमाणम्। स्फुटमन्यत्। ।३०९-१०। ।

आत्मा को समझ लेने पर वह पुण्य-पाप दोनों को आत्मरूप जान लेता है तो उनसे संतप्त कैसे होगा! ।३०४। । इसलिये आनंदरूप आत्मा जिसका स्वरूप है उस लोक को—ज्ञप्तिमात्र को— मैं-रूप से जानते हुए विद्वान् जीते हुए और मरकर भी अभय पाये ही रहता है। ।३०५। ।

विचार प्रवृत्त होने पर मनीषियों ने उक्त ढंग से ब्रह्मविद्या का सम्यक् प्रवचन किया। यह ब्रह्मविद्या ही लोगों को आनंदात्मस्वरूप की सदा प्राप्ति का हेतु है। ।३०६। । यहाँ तक आनंदवल्ली (ब्रह्मवल्ली) की व्याख्या हुई। अब भृगुवल्ली को पुराण में समझाएँगे।

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु द्वारा उपदिष्ट ब्रह्मतत्त्व को सही तरह समझकर जो अधिकारी उस पर एकाग्रतापूर्वक मनन करता है वह पाँच कोशों को आत्मा नहीं समझता किंतु अंतिम कोश के आधार ब्रह्म का ही आत्मरूप से साक्षात्कार करता है। इस विषय में पंडित लोग पिता-पुत्र का यह आख्यान उद्धृत करते हैं जिसमें गुरु के उपदेश के बाद कर्तव्य मनन का आकार स्फुट हो जाता है। ।३०७-८। ।

वरुण का कोई महान् पुत्र भृगु नाम वाला था। किसी समय अपने पिता वरुण के पास जाकर उसने पूछा 'हे भगवन्! आप ब्रह्मवेत्ता हैं। हे प्रभो! उस तत्त्व का आप मुझे उपदेश दीजिए।' महामति वरुण ने इस प्रार्थना पर उससे कहा—। ।९-१०। ।

'बेटा ! अध्यात्म अर्थात् व्यष्टि में और अधिभूत अर्थात् समाष्टि में, सारे संसार में भोग्य आदि पदार्थ इतने ही हैं, इनसे ज़्यादा नहीं : स्थूल शरीर, शरीर में कार्यरत पाँच विभिन्न प्राण, ज्ञान की व कर्म की कुल दस इंद्रियाँ, और चार प्रकार का अंतःकरण अर्थात् मन। त्रिलोकी में इससे अधिक कुछ है नहीं। (वरुण का अभिप्राय था कि यदि भृगु का चित्त निर्मल है तो उपलक्ष्य वस्तु स्वयं समझ लेगा अतः उसकी योग्यता परखने के लिये उन्होंने उपलक्षणों

१. 'भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति।'

शरीरं च तथा प्राणभेदाः पञ्च शरीरगाः। ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि स्युर्दशाऽत्र च चतुर्विधम्।।
मनोऽन्तःकरणं नाम विद्यते भुवनत्रये।।३११
अध्यात्ममधिदैवं वा ह्यधिभूतमथाऽपि वा। एतावदेव विश्वस्मिन्नधिकं नैव विद्यते।।३१२
एतेष्वन्यतमं वा त्वमेतेभ्यो वा विलक्षणम्। अवगच्छ स्वयं बुद्ध्या तनय! ब्रह्म लक्षणात्।।३१३
वक्ष्यामि लक्षणं तत्ते ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः। येन त्वं स्वयमेवैतद् ब्रह्म बुद्ध्याऽवगच्छसि।।३१४
यत उत्पद्यते विश्वं सकलं भूतभौतिकम्। यत्र तिष्ठति यत्रान्ते लीयते च तदेव तत्।।३१५
जगज्जनिस्थितिध्वंसान् एवं स ब्रह्मलक्षणम्। उक्त्वा पुनरुवाचेदं पुत्रं तं ब्रह्मवित्तमः।।३१६
ब्रह्मणो यत् स्वरूपाख्यं लक्षणं तत् त्वयाऽधुना। अधिगन्तुमशक्यत्वाद् मया ते कथितं न हि।।३१७

तत्र यद्ययं शुद्धधीस्तर्हि स्वयमेवोपलक्ष्यं ज्ञास्यति इत्याशयेन शिष्यबुद्धिपरीक्षणाय उपलक्षणान्येव प्रदर्शयन् वरुणः श्रुतावन्नादिपदोक्तान्[1] शरीरादीन् पदार्थांस्त्वम्पदार्थोपलक्षणभूतांस्तावदाह— शरीरमिति द्वाभ्याम्। शरीरं स्थूलं पञ्च प्राणास्तथा वागुपलक्षितानि दशेन्द्रियाणि मनःपदोक्तम् अन्तःकरणचतुष्टयं च एतावदेव वस्तुजातं व्यष्टिसमष्टिरूपं विश्वस्मिन् सर्वस्मिन् जगति भोग्यादिरूपेण वर्तत इति द्वयोरर्थः। तत् सर्वं कञ्चिद् भोक्त्रादिरूपं साक्षिणं विनाऽनुपपन्नमिति भावः।।३११-२।।

अथ तत्पदार्थस्य उपलक्षणतया जगज्जन्मादीनि दर्शयितुमाह—एतेष्विति। हे तनय ! लक्षणाद् वक्ष्यमाणाद् उक्तपदार्थरूपं तद्विलक्षणरूपं वा ब्रह्म तत्पदार्थं जानीहीत्यर्थः।।३१३।। लक्षणं वक्तुं प्रतिजानीते—वक्ष्यामीति। अव्यक्तं लोकेऽप्रसिद्धं जन्म प्रादुर्भावसाधनं यस्य तथाभूतस्य ब्रह्मणः प्रादुर्भावाय लक्षणं वच्मीत्यर्थः।।३१४।। 'यतो वा' इत्याद्युक्तं[2] लक्षणमभिनयति—यत इति। यत उपादानात् कार्यस्य समस्तस्य जन्म भवति, यत्र समस्तकार्यस्थितिः यत्र च तस्य लयः, तद् ब्रह्मेत्यर्थः।।३१५।।

अत्राऽपि पूर्ववत् शास्त्रदृष्ट्या लक्षणत्रयमिदं बोध्यम् अनतिप्रसङ्गात्। मन्दधियामनुरोधे तु एकलक्षणत्वम् इति सूचयन् केवलतटस्थलक्षणाभिधाने स्वाशयमुद्घाटयामासेत्याह— जगज्जनीति। जगन्निष्ठान् जन्मस्थितिभङ्गान् ब्रह्मलक्षणभूतान्[3] उक्त्वा पितेदमाहेति।।३१६।। 'इदं' किम्? अत आह—ब्रह्मण इति। ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणं त्वया ज्ञातुम् अशक्यत्वान्न उक्तमित्यर्थः।।३१७।। अधिगन्तुमशक्यत्वे हेतुतया सूक्ष्मधीग्राह्यत्वमाह—सूक्ष्मेति। भवांस्तु का ही प्रदर्शन किया। उन्होंने 'अन्न' आदि शब्दों से शरीर आदि पदार्थ कह दिये जो त्वंपदार्थ के उपलक्षण हैं। शरीरादि सारे भोग्य किसी भोक्ता साक्षी के बिना उपपन्न नहीं इस तरीके से भृगु आत्मा को समझ सकता है यह ऋषि का भाव था। फिर तत्पदार्थ ईश्वर के उपलक्षण रूप से जगज्जन्म आदि का उन्होंने उल्लेख किया—) लक्षण के अनुसार तुम खुद समझ लो कि ब्रह्म उक्त वस्तुओं में से ही कुछ है या इनसे विलक्षण है।।३११-३।। लोक में जिसके प्रादुर्भाव का कोई साधन प्रसिद्ध नहीं है उस ब्रह्म का मैं तुम्हें लक्षण बताता हूँ जिसके अनुसार तुम अपनी बुद्धि से खुद ही इस ब्रह्म को जान लोगे।।३१४।। सारा भूत-भौतिक विश्व जिससे पैदा होता है, जिसमें रहता है और अन्त में जहाँ लीन होता है वही तुम्हारे द्वारा जिज्ञासित ब्रह्म है।।'३१५।।

इस प्रकार जगत्के जन्म-स्थिति-नाश को श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञ वरुण ने ब्रह्म का लक्षण बताकर पुत्र से पुनः यह बात कही : 'ब्रह्म का जो स्वरूपनामक लक्षण है वह अभी तुम समझ नहीं सकते इसी से मैंने वह तुम्हें कहा ही नहीं। (यह भी याद रखना चाहिये कि 'जगज्जन्म-हेतु', 'जगत्स्थितिहेतु' , 'जगद्विलयहेतु' ये तीन स्वतंत्र लक्षण भी संगत हैं किंतु एक से ही समूची बात समझना कठिन होने से तीनों मिलाकर एक लक्षण मान लिया जाता है।)।।३१६-७।।

१. 'तस्मा एतत् प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति।'
२. 'तं होवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।'
३. संक्षेपशारीरके १.४६६ आदौ 'यतः'- पदे भूयान् विचारः।

सूक्ष्मबुद्ध्यैव तन्नित्यं गम्यते सूक्ष्मबुद्धिभिः। स्थूलबुद्धिर्भवानद्य ततस्ते स्थूलमीरितम्।।
तटस्थलक्षणं तस्य ब्रह्मणो यद् बहिः स्थितम्।।३१८

लक्षणविभागः

स्थूला मनोरमाः शुभ्राश्चित्रध्वजपताकिनः। अभ्रंलिहा इमा वत्स! प्रासादाः सोमशर्मणः।।
स्वरूपलक्षणं त्वेतत् प्रासादानां परं तथा।३१९

कीराः ससारिका यत्र चित्रशब्दाः समासते। इमे ते भवता ज्ञेयाः प्रासादाः सोमशर्मणः।।
तटस्थलक्षणं त्वेतत्प्रासादानामुदाहृतम्।।३२०

लक्षकाणामभावेऽपि लक्ष्यं यत्रावतिष्ठते। तटस्थलक्षणं तद्धि विज्ञेयं पण्डितैः सदा।।३२१

लक्षकाणामपाये हि लक्ष्यापायः प्रसज्जते। यत्र तत् कथितं नित्यं स्वरूपस्येह लक्षणम्।।३२२

स्वरूपलक्षणं यत्र तत्र भेदो धिया कृतः। लोके भवति चान्यत्र गवाश्वादेरिव स्वतः।।३२३

जगज्जडमिदं सर्वैः प्राणिभिः परिगृह्यते। जन्मादिमदतस्तत् स्यात् ताटस्थ्येनैव लक्षणम्।।३२४

सूक्ष्मधीः यतो न भवति अतः स्थूलं तटस्थलक्षणम् उक्तम्। लक्षणस्य तटस्थत्वं लक्ष्यस्वरूपाद् बहिः स्थितत्वमित्यर्थः।।३१८।। तटस्थलक्षणं स्फुटयितुं लोके स्वरूपलक्षणम् उदाहरति— स्थूला इति। यथा सोमशर्मस्वामिकप्रासादानां स्थूलत्वादिकं स्वरूपघटकत्वात् स्वरूपलक्षणत्वेन प्रसिद्धमित्यर्थः।।३१९।। तत्प्रासादानां तटस्थलक्षणमभिनयति—कीरा इति। कीराः शुकाः।।३२०।। तत्र[1] लक्ष्यापायाप्रयोजकापायकत्वं तटस्थलक्षणलक्षणमित्याह— लक्षकाणामिति। लक्षकाणां लक्षणतया निर्दिष्टानाम्।।३२१।। लक्ष्यापायप्रयोजकापायकत्वं तु स्वरूपलक्षणमित्याह— लक्षकाणामपाय इति।।३२२।। ननु स्वरूपभूतानां कथं लक्षणत्वम्, लक्षणत्वस्य भेदघटितत्वाद्? इति चेत्; कल्पितं भेदमादायेत्याह — स्वरूपेति। धिया वक्तुर्विवक्षया कृतो, न तु वास्तवः। एतेन वास्तवभेदशालित्वे सति लक्षणत्वं तटस्थलक्षणत्वम् इत्येव सिद्धमित्याह— अन्यत्रेति। अन्यत्र तटस्थे गवाश्वादिवद् भेदो वास्तव इत्यर्थः।।३२३।। दार्ष्टान्तिके योजयति — जगदिति। जगतो जडत्वपरिच्छिन्नत्वादिभिर्ब्रह्मभेदस्य प्रसिद्धत्वात् तद्धर्माणां जन्मादीनां तटस्थलक्षणत्वमेव युक्तमित्यर्थः।।३२४।।

सूक्ष्म बुद्धि वाले उत्तमाधिकारी सूक्ष्म बुद्धि से ही स्वरूपभूत लक्षण को समझ पाते हैं। तुम अभी स्थूल बुद्धि वाले हो अतः तुम्हें स्थूल लक्षण बताया। ऐसे स्थूल लक्षण को तटस्थ लक्षण कहते हैं अर्थात् लक्ष्यभूत ब्रह्म से बाहर रहते हुए भी यह ब्रह्म की सही पहचान है अतः तटस्थ भी है व लक्षण भी।।३१८।।

वत्स! लक्ष्य के स्वरूप में निविष्ट हो तो उसे स्वरूप लक्षण कहते हैं। उदाहरणार्थ किसी सोमशर्मा के मकानों का स्वरूपलक्षण यह है— 'विस्तृत, मनोरम(सुंदर), सफेद, विचित्र वर्णों की ध्वजाओं वा पताकाओं वाले, गगनचुम्बी ये मकान सोमशर्मा के हैं।' इससे भिन्न उनका तटस्थ लक्षण है 'विचित्र बातें करते हुए सारिकाओं सहित तोते जहाँ बैठे हैं उन्हें तुम सोमशर्मा के मकान समझ लो।'।।३१९-२०।। लक्षण न रहने पर भी जहाँ लक्ष्य बना रहे उसे पण्डितों को तटस्थ लक्षण समझना चाहिये (जैसे तोते उड़ने पर भी मकान यथावत् रहेंगे)।।३२१।। जहाँ लक्षण हटने से लक्ष्य भी बच नहीं पाता उसे स्वरूप लक्षण जानना चाहिये।।३२२।। जहाँ स्वरूप ही लक्षणरूप से कहा जाता है वहाँ लक्ष्य-लक्षण

१. स्वरूप-विशेषण-उपलक्षणभेदेन त्रैविध्यं संक्षेपशारीरकप्रथमे (५१४-२०) स्पष्टम्। तत्त्वदीपने (पृ.१०२) 'स्वरूपतया गमकं स्वरूपलक्षणम्। धर्मिसमकालं स्थित्वा धर्मतया गमकं विशेषणलक्षणम्। कदाचिद्भावमात्रेण लक्षकमुपलक्षकम्।' इति संग्रहः।

तपउपयोगः

तटस्थलक्षणे लक्ष्यं साक्षान्नैवावधार्यते। किन्तु सामान्यतः पश्चाद् मानान्तरसमागमात्। निश्चीयते विशेषोऽयं सर्वत्रैवाऽत्र वस्तुनि।।३२५
भवानपि ततो ब्रह्म स्वयमेव विचारतः। तटस्थलक्षणादुक्तम् अवगच्छतु धीधनः।।३२६
निधिर्यथा समीपस्थैरञ्जनेन विना न हि। गृह्यते तद्वदेवैतद् ब्रह्म ज्ञानं विना न च।।३२७
अञ्जने हि यथा न स्यादत्र यत् किञ्चिदौषधम्। ब्रह्मज्ञानेऽपि नैव स्यादुपायोऽन्योऽपि कोऽपि च।।३२८

तटस्थलक्षणोपन्यासेनैव विचारात्मकतपस आक्षेपं दर्शयति— तटस्थलक्षण इति। तटस्थलक्षणे प्रोक्ते सति लक्ष्यं लक्ष्याऽसाधारणं रूपं साक्षात् झटित्येव न निश्चीयते, किन्तु सामान्यरूपेण तदानीम् अवधार्यते, पश्चात् तु मानान्तरेण समागमो यस्य तथाभूतात् तर्कात्मकविचाराद् अयं लक्ष्यगतो विशेषो निश्चीयते। अयं न्यायः सर्वत्र प्रसिद्ध इत्यर्थः।।३२५।। भवानपीति। तत उक्तन्यायानुरोधात् हे भृगो! भवानपि विचारसहकृताद् उक्तलक्षणवाक्याद् ब्रह्म अवगच्छतु इत्यर्थः।।३२६।। ननु स्वतः प्रमाणभूतस्य वेदवाक्यस्य कथं विचारापेक्षा? इत्याशंक्य; फलजनने तदनपेक्षत्वेऽपि पुरुषापराधस्य असम्भावनादेर्निवृत्तये विचारोऽपेक्षितो[1] यथा चक्षुषो विषयप्रकाशनेऽञ्जनानपेक्षत्वेऽपि तत्प्रतिबन्धकमलापहाराय तदपेक्षेत्याह— निधिरिति। यथा समीपस्थो निधिः भूमिनिखातद्रव्यं सुलोचनैरपि अञ्जनेन विना न प्रेक्ष्यते तथा ब्रह्माऽपि ज्ञानं विचारं विना इत्यर्थः।।३२७।। स च विचारः श्रुत्यनुकूलतर्कात्मक एवात्र उपयुज्यते, नान्य इति सदृष्टान्तमाह— अञ्जने हीति। यथा सिद्धाञ्जनरूपेण परिणामशालि औषधं यत्किञ्चित् सर्वलोकसाधारणं न भवति, किन्तु विलक्षणमेव; तथा ब्रह्मज्ञानप्रयोजक उपाय उक्तलक्षणवाक्यविचारात्मक एव, नान्य इत्यर्थः।।३२८।।

में अंतर वास्तव में नहीं होता, केवल कहने-समझने वाले अपनी बुद्धि से भेद समझते हैं। इससे अतिरिक्त तटस्थ लक्षण स्थल में लक्ष्य-लक्षण में गाय-घोड़े की तरह वास्तविक भेद होता है। यही लोक में देखा गया है।(इसी दृष्टि से कह सकते हैं कि वास्तविक भेद वाला होते हुए जो लक्षण है वह तटस्थ लक्षण है। 'वास्तविक' अर्थात् लक्षण की सत्ता के समान सत्ता वाला; अतः लक्ष्य से न्यूनसत्ताक लक्षण भी तटस्थ लक्षण हो सकता है।)।।३२३।। सभी प्राणी जानते हैं कि यह जगत् जड है, जन्मादि वाला अनित्य है। इसलिये इसके जन्मादि धर्म ब्रह्म के तटस्थ लक्षण ही हो सकते हैं क्योंकि जगत् ब्रह्म से वस्तुतः भिन्न है यह बात आगोपवनिता प्रसिद्ध है।।३२४।।

तटस्थ लक्षण कहा जाने पर लक्ष्य का असाधारण स्वरूप सीधे ही निश्चित नहीं किया जाता किंतु उसके बारे में सामान्य ज्ञान ही होता है। बाद में अन्य प्रमाण से सहकृत विचार से लक्ष्य का विशेष स्वरूप निश्चित होता है। संसार में सभी वस्तुओं को समझने में यह क्रम प्रसिद्ध है।।३२५।। हे भृगो! तुम बुद्धिरूप धन से संपन्न हो अतः तटस्थ लक्षण द्वारा संकेतित ब्रह्म को विचारपूर्वक खुद ही समझो।।३२६।। समीप स्थित लोग भी विशिष्ट अंजन के बिना जैसे खजाना नहीं देख पाते वैसे विचार के बिना यह ब्रह्म भी ग्रहण नहीं किया जा सकता। (प्रमाण होने से वेद फलोत्पादन के लिये विचारसापेक्ष नहीं है किंतु असंभावना आदि पुरुषमति के दोष हटाने के लिये विचार चाहिये। वेद की 'अनपेक्षता' अर्थात् प्रमोत्पादन में स्वयं समर्थता और मीमांसा की उपयोगिता पर पूर्वोत्तर तन्त्रों में प्रभूत विचार है।)।।३२७।। ब्रह्मावबोध में उपयोगी विचार वही है जो वेदानुसारी है। जैसे लोक में खजाना देखने के लिये कारगर अंजन में चाहे जो दवा काम नहीं आती किंतु संप्रदायप्राप्त खास वस्तुएँ ही उपयोगी होती हैं, वैसे ही ब्रह्मज्ञान के लिए जो कोई भी विचार लाभप्रद नहीं वरन् उपनिषद्वाक्यों का संप्रदायानुसारी विचार ही सफल है।।३२८।। (एवं च तटस्थ लक्षण कहकर चुप हो जाने से वरुण ने सूचना दे दी कि भृगु को विचारात्मक तप करना चाहिये।)

१. 'युक्तिभिर्ज्ञाननिर्मली करणस्य च विधयाऽपेक्षितत्वात्' इति शारीरकन्यायसंग्रहे प्रकाशात्मपूज्यपादाः(३.४.५७)।

उपायः प्रथमो ज्ञेयो गुरुशास्त्रसमीरणात्। विज्ञाने ब्रह्मणो लोके नाशुद्धमनसां हि सः।।३२९
चित्तशुद्धिश्च नैवाऽस्य रागिणः सहसैव हि। इन्द्रियाणि सदेहानि रागे दृप्तानि कारणम्।।
दर्प आहारजस्तेषां क्षय आहारसंक्षयात्।।३३०
यथाऽयं न पतेद् देहो न च दर्पं समाव्रजेत्। तथा वर्णाश्रमप्रोक्तमाहारं पुरुषो ग्रसेत्।।३३१

एवं भाष्योक्तस्य विचारात्मकस्य तपःपदार्थस्य आक्षेपो दर्शितः। अथ रूढ्या तपःपदोक्तस्य शारीरादित्रिविधस्य तपसोऽप्याक्षेपं दर्शयति— उपाय इति पञ्चभिः। ब्रह्मज्ञाने योऽयम् उपायो लक्षणवाक्यज्ञानात्मकः स प्रथमो मुख्यः। अस्य हि चक्षुषोऽञ्जनमिव विचारः सहकारिमात्रम्। स च गुरुशास्त्रोपदेशाल्लब्धोऽपि अशुद्ध-धियां न किञ्चित् फलं जनयतीत्यर्थः।।३२९।। सा बुद्धेरशुद्धी रागाद् भवति, रागस्तु विषयाभिलाषात्मकः, स देहेन्द्रियाणां दर्पाद् भवति, 'दृप्तो धर्ममतिक्रामति' इति न्यायात्। स च दर्प आहाराद् विषयसंसर्गात्मकाद् भवति। तस्माद् आहारसंक्षयेण दर्पादिक्षयं कुर्याद् इत्याह—चित्तेति। दर्पो गर्वः। तेषां सदेहेन्द्रियाणाम्।।३३०।। तस्माद् विषयग्रहणं शरीरधारणमात्रोपयुक्ताद् अधिकं न कुर्याद्, इदमेव तप इत्याह— यथाऽयमिति।।३३१।। ततः किं

विचार ही नहीं अन्य तपस्या भी ज़रूरी होती है : लक्षणवाक्य को सही तरह समझना ब्रह्मज्ञान का मुख्य उपाय है। निधिदर्शन में आँख की जगह ब्रह्मदर्शन में है गुरु-शास्त्र के उपदेश से प्राप्त लक्षणज्ञान और अंजन की जगह है विचार जो सहकारी कारण बनता है। किंतु जिनका मन शुद्ध नहीं है उन्हें वह उपाय फल नहीं दे पाता। लोक में भी अतिसूक्ष्म विषय उन्हें नहीं समझ आ पाते जो तुच्छ राग-द्वेषों से ग्रस्त रहते हैं।।३२९।। विषयों में राग रखने वाले का चित्त एकाएक शुद्ध नहीं होता। जिनमें दर्प है ऐसे शरीर व इन्द्रियाँ राग के प्रति कारण होती हैं। शरीर-इन्द्रियों में दर्प आता है विषयसंसर्गरूप आहार से और विषयसंसर्ग क्षीण कर देने से ही वह दर्प समाप्त होता है। (विषयोपभोगजन्य हर्ष से दर्प और उससे धर्म का उल्लंघन करने का दुःसाहस होता है ऐसा आपस्तंबादि ने भी बताया है। आहारशुद्धि से चित्तशुद्धि छांदोग्य सप्तम में कही गयी है और वहाँ आहार का अर्थ है विषयज्ञान 'आह्रियत इत्याहारः शब्दादिविषयविज्ञानं भोक्तुर्भोगाय आह्रियते। तस्य विषयोपलब्धिलक्षणस्य विज्ञानस्य शुद्धिः आहारशुद्धिः, रागद्वेषमोहदोषैरसंसृष्टं विषयविज्ञानम् इत्यर्थः' (७.२६.२) ऐसा भाष्य है।)।।३३०।। जिस प्रकार शरीर मोक्षोपयोगी चेष्टाओं के लिये सक्षम रहे किंतु दर्प प्रवेश न कर पाये उस प्रकार पुरुष को उस *आहार* का उपभोग करना चाहिये जो वर्णाश्रम के लिये अनुज्ञात हो। (अर्थात् साधना के लिये अनिवार्य देहयात्रा के लिये आवश्यक अनिषिद्ध विषयों का उतना ही उपभोग साधक करे जिससे वैषयिक हर्ष न हो। गृहस्थ साधक अपने कर्तव्य निभाने के लिये *ज़रूरी* अर्जन आदि करे किंतु भोगविलास बढ़ा न ले अन्यथा वह रागरूप धर्मातिक्रमण करायेगा। संन्यासी तो अधिक सावधानी से रहे, अनिवार्य कौपीनादि में भी राग से बचे। विषयसुख से तो साधकमात्र दूर रहे। दाल-रोटी एवं हलवा-समोसा भूख मिटाने की दृष्टि से तो समानरूप से आवश्यक कहे जा सकते हैं लेकिन हलवा आदि क्योंकि भूख मिटाने से अतिरिक्त विशेष सुख प्रदान करेगा इसलिये हर्ष-दर्प-राग में परिणत हो जायेगा। सिद्ध तो दाल-हलवा दोनों को समान भाव से औषध की तरह खा कर हर्ष से बचा रहेगा पर साधक के लिये यह कठिन है। अतः आवश्यकता-पूर्ति मात्र के लिये विषय का उपयोग करे, उससे सुख न ले यह ज़रूरी है।)।।३३१।। जो मुमुक्षु इस तरह तपस्या करेगा उसके शरीरादि का दर्प नष्ट हो जायेगा। दर्प नष्ट हो जाने से चित्त में स्थित राग निवृत्त हो जायेगा।।३३२।। रागरहित, असूयादि मलों से रहित चित्त ही स्वस्थ कहलाता है। ऐसा चित्त ही सभी अर्थों का समीचीनतम दर्शन करा सकता है। गुरु के वाक्य से बताये तर्क से जब वैसा चित्त संशयादि चांचल्य छोड़ देता है तब वह ब्रह्म को निरावृत कर देता है। (तर्क का उपयोग मन की अद्वैत में स्थिति न बनने देने वाले प्रतिकूल विचारों को स्तब्ध करना है। 'मन्तव्यः' कहकर श्रुति ने इसका विधान किया है जिसकी व्याख्या में भी पुराण में इसे 'प्रत्यक्षस्थैर्यकारी' कहा था (७.२७३)। शास्त्र से समझने पर भी अद्वैत जँचता नहीं तो यथामति न जँचने में यौक्तिक हेतु खोजकर उनका युक्ति से निराकरण करते रहना मनन है जो साधनारूप से करना

भृगोस्तपः

एवं तपस्यतो नाशं दर्पो देहादिगो व्रजेत्। दर्पनाशाच्च चित्तस्थो रागोऽपि विलयं व्रजेत्।।३३२
नीरागं विमलं चित्तं स्वस्थं सर्वार्थदर्शकम्। निश्चलं गुरुवाक्योक्ततर्कतस्तत् प्रकाशयेत्।।३३३
ततस्त्वं तपसा शुद्धचित्तस्तर्कप्रसादतः। मदुक्तलक्षणं ब्रह्म जानीहि तनय! स्वयम्।।३३४
इदं मया न वक्तव्यं तपो ज्ञानस्य कारणम्। स्वयमेव भवान् यस्माद् जानीते तत् तपोधनः।।३३५
पितुर्मुखाद् भृगुः श्रुत्वा ब्रह्मणो लक्षणं हि तत्। उपायं तं स्वयं जानन् सूचितं जनकेन च।।
तपः स्वधर्मवर्तित्वं कृतवान् मुनिसत्तमः।।३३६

भवति? इत्यत आह— एवमिति। तपस्यतः तपः कुर्वतः।।३३२।। नीरागमिति। गुरुवाक्यविषयको य उक्तो 'मन्तव्य' इति विहितः तर्कः[1], तेन तद् ब्रह्म प्रकाशयेत् निरावरणं कुर्यात्।।३३३।। फलितमाह— तत इति। स्पष्टम्।।३३४।। प्रथमपर्यये तपसः सूचितत्वमेव विशदयति— इदमिति। तपो धनमिव प्रियं यस्य स तथा; तथा च तपसि प्रेम्णः सर्वाभीष्टसाधनताधीजन्यत्वाद् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तपसो ज्ञानकारणत्वस्य त्वया ज्ञातत्वाद् इदं तपसो ज्ञानकारणत्वं न वक्तव्यं न विधियोग्यम् इत्यर्थः।।३३५।।

'स तप'[2] इत्यादिग्रन्थार्थम् आह— पितुरित्यादिना। तं तपोरूपम् उपायम्। स्वधर्मो ब्राह्मणधर्मः शमादिः।

चाहिये। न जँचन को यों ही छोड़ देना मनन से मुँह चुराना है जो मन्तव्यविधि का उल्लंघन तो है ही, ज्ञान की संभावना से भी दूर करता है। जँचने पर तो युक्तिचिन्ता व्यर्थ है ही लेकिन बिना जँचे यदि युक्ति-अनुसंधान छोड़ दिया तो तत्त्वज्ञान होगा नहीं। कठोर तर्कप्रयोग से मन का यह गर्व मिटाना पड़ेगा कि सत्य का निष्कर्ष अकेली युक्ति से निकल सकता है। तभी श्रुतिप्रोक्त अद्वैत पर युक्त्याभास के प्रहारों से मन बाज आयेगा)।।३३३।।

हे पुत्र! इसलिये तुम तपस्या से संशोधित चित्त वाले होकर तर्कप्रयुक्त चित्तस्थैर्यपूर्वक उस ब्रह्म का स्वयं अनावरण करो जिसका लक्षण मैंने तुम्हें बताया है।।३३४।। मुझे यह कहना नहीं पड़ेगा कि तप ज्ञान में कारण पड़ता है! तुम तपस्वी हो, खुद ही यह तथ्य जानते हो।।'३३५।।

भृगु ने पिता के मुख से ब्रह्म का वह लक्षण समझ लिया। सुनकर समझी बात को निश्चयरूप से स्थिर करने के तपोरूप उपाय को वह स्वयं भी जानता था और पिता ने भी इशारे से उसे तप के लिये प्रेरित कर दिया था। उस श्रेष्ठ मुनि ने अपने धर्म का बर्ताव करना रूप तप किया। (आचार्य जी ने भी माना है 'स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा'। भृगु ब्राह्मण था। उसका धर्म था मन-इंद्रियों पर निग्रह करना, शारीरिकादि तप करना, शौच-पालन करना, क्षमा, कुटिलता न करना, शास्त्रानुसंधान, शास्त्रीय अर्थ को अनुभवारूढ करना, आस्तिकता। श्रीकृष्णचंद्र ने (१८.४२) ब्राह्मण के लिये ये ही स्वाभाविक कर्म कहे हैं। 'ब्रह्मकर्म' होने से ये ही ब्रह्मलाभ में उपयोगी कर्म हैं। यदि 'मुनिसत्तम' के आधार पर भृगु को उत्तमाश्रमी मानें तो शमादि से उपबृंहित ब्रह्मसंस्थता ही उसका धर्म था जिसका उसने पालन किया। वैसे मुनि का अभिप्राय मननकर्ता से होता है यह सहकार्यन्तरविधि-अधिकरण में (३.४.अधि.१४) विस्तार से समझाया है।

१. 'मननं तु वाक्यजन्यज्ञानस्य परोक्षनिश्चयभावसम्पादकस्तर्कः, निदिध्यासनम् अपरोक्षनिश्चयत्वसम्पादकस्तर्क' इति न्यायरत्नावलीकृतः। 'वस्तुवृत्तविषयं निरूपणं युक्तितो मननमित्युदीर्यते' (सं.शा.३.३४४) इत्यत्र मधुसूदनस्वामिनः 'भेदादिप्रपंचमिथ्याविषयदृश्यत्वाद्युपपत्तिरूपयुक्तिभिः तदद्वितीयत्वसंभावनाधीहेतुभूतमानसव्यापारो मननं, तच्च तदसम्भावनादिनिवर्तकम्' इति। तर्कपदार्थः पंचपादिका-विवरणयोः पृ.२८१-७ दर्शनीयः।
२. 'स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। (इति प्रथमोनुवाकः)। अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति इति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार।'

शुद्धे मनसि पित्रोक्तं पर्यालोच्य महामुनिः। अन्नं स्थूलमिदं देहमध्यात्मादिविभागवित्[1] ।।३३७
आत्मनः प्रथमं कोशं ब्रह्मलक्षणसंयुतम्। विज्ञाय दोषदृष्ट्याऽथ पुनः पितरमाव्रजत्।।३३८
देहेभ्यो जायते विश्वं देह एवाऽत्र जीवति। स्थितं देहेषु यात्यन्ते तानेवाऽत्र न संशयः।।३३९
यद्यप्येवं तथाप्येते स्वयं देहा विनश्वराः। परिच्छिन्नाश्च केन स्युर्ब्रह्म कारणवर्जितम्।।३४०
महाभूतात्मको योऽयं विराजोऽपि स्थवीयसः। सोऽपि देहः परिच्छिन्नो जातश्चैवान्यदेहवत्।।३४१
एवं दोषं विलोक्याथ प्रष्टुकामोऽन्नकारणम्। आगत्य च यथापूर्वं प्रश्नं स कृतवान् शृणु[2] ।।३४२

स्फुटमन्यत्।।३३६।।शुद्ध इति। मनःशुद्ध्यनन्तरं पितृप्रोक्तलक्षणानुसारेण अन्नपदोक्तं समष्टिव्यष्ट्यात्मकस्थूलदेहरूपं प्रथमं कोशं ब्रह्मत्वेन विज्ञाय तत्र दोषं दृष्ट्वा च पितुरन्तिकं गतः। इति द्वयोरर्थः। आदिपदेनाधिदैवस्य समष्टिरूपस्य ग्रहः।।३३७-८।। कथमन्ने ब्रह्मलक्षणसमन्वयः, तत्र दोषश्च को दृष्टः ? इत्याकाङ्क्षायां लक्षणसमन्वयं तावदाह— देहेभ्य इति। समष्टिव्यष्टिदेहेभ्य एव प्राणिनामुत्पत्त्यादिकं प्रसिद्धमित्यर्थः। तान् देहान् एव अन्तकाले याति। यथा मृतशरीरं श्वकृम्यग्निदेहान् अन्ततो विड्देहं यातीति।।३३९।। तत्र दोषमभिनयति— यद्यप्येवमिति द्वाभ्याम्। परिच्छिन्नत्वं विनाशित्वं च ब्रह्मत्वविरोधिदोष इति भावः।।३४०।। समष्टावपि अयं दोषः, तदुत्पत्त्यादेः श्रुतत्वेन परिच्छिन्नताया विनाशितायाश्च सिद्धत्वाद् इत्याह—महाभूतात्मक इति। स्थवीयसः अतिस्थूलस्य।।३४१।। एवमिति। अन्नस्य कारणं प्रष्टुकामः।।३४२।।

सायणाचार्य यहाँ तप शब्द से चारों आश्रमों के धर्म विवक्षित मानते हैं क्योंकि चारों के धर्मों के लिये तपशब्द का श्रुति-स्मृति में प्रयोग है। भाष्यकार तो बाह्य-अन्तःकरणों की समाहितता को यहाँ तप से अभिप्रेत बताते हैं। वार्तिककार अन्वय-व्यतिरेकादि चिंतन रूप तप को प्रकृत में अधिक उपयोगी कहते हैं। यह मुमुक्षु का धर्मरूप तप है। भृगु को मुमुक्षु समझें तो यह तप उसने किया। गीता में (१७.१४-६) बताये सात्त्विक त्रिविध तप भी यहाँ समझे जा सकते हैं।) ।।३३६।।

तप से मन शुद्ध हो जाने पर उस महामुनि ने पिता द्वारा कहे लक्षण की हर दृष्टि से समालोचना की, उसके हर पहलू पर चिंतन किया। उसे समझ आया कि अध्यात्म-अधिदैव विभाग वाला अर्थात् व्यष्टि-समष्टिरूप यह अन्नरूप स्थूल देह ब्रह्म के लक्षण वाला है। किंतु है यह आत्मा का पहला, बाहरी कोश ही अतः यह ब्रह्म हो नहीं सकता; इस बात को तुरंत समझकर वह पिता के पास लौट गया ताकि अपनी समझ की भूल दूर कर सके।।३३७-८।। भृगु को अन्नमय ब्रह्म लगा कैसे और फिर उस बात में दोष क्या दीखा? उसने विचार किया कि समष्टि-व्यष्टिरूप शरीरों से ही सारा विश्व, सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं; देहों में ही सब जीवित रहते हैं, स्थितिदशा में सारा विश्व समष्टि स्थूल में ही प्रतिष्ठा पाता है; अन्तकाल में उन शरीरों में ही चले जाते हैं, शवों को कुत्ते-कीड़े आदि खा लेते हैं या स्थूल अग्नि अपने में लीन कर लेती है तथा सारा ही अन्नरूप प्रपंच विराट् देह में लीन होता ही है। इस प्रकार ब्रह्म का लक्षण अन्नमय में घट जाता है इसमें संशय नहीं। इस विचार से तो भृगु ने इसे ब्रह्म माना।।३३९।। फिर उसने सोचा : यद्यपि उक्त ढंग से इसमें लक्षणसमन्वय है तथापि खुद ये शरीर तो विनाशशील हैं और सीमित हैं, ये ब्रह्म कैसे हो सकते हैं क्योंकि वह तो अज और व्यापक है? स्थूलाभिमानी विराट् का भी जो यह महाभूतरूप समष्टि शरीर है वह भी परिच्छिन्न ही है और अन्य शरीरों की तरह इसकी भी उत्पत्ति हुई है यह शास्त्र से सिद्ध है।।३४०-१।। इस विचार से उसने अन्न की ब्रह्मता में दोष समझा और अन्न के भी कारण का पता लगाने के लिये पूर्ववत् पिता के पास आकर प्रश्न किया।।३४२।।

१. 'विभागवत्' इति पिपठिषामि।
२. पुराणप्रवक्तुर्गुरोरुक्तिः।

वरुणस्तूत्तरं त्वेतदुक्तवान् ब्रह्मवित्तमः। त्वया दृष्ट उपायो यः सूचितश्च मया तथा।।
स एव ब्रह्मविज्ञाने मुख्यो नान्योऽस्ति कश्चन।।३४३
तपसा ब्रह्म तेन त्वं जगतो विद्धि कारणम्। तपो ब्रह्मेति तेनेत्थं वदन्ति ब्रह्मवादिनः।।३४४
एवमुक्ते यथापूर्वं तप्तवांस्तप आत्मवान्। विज्ञाय कारणं भूयः पितरं गतवान् भृगुः।।३४५
एवं त्रिवारं गतवान् पितरं दोषदर्शकः। पिताऽपि तपसेत्यादि त्रिवारमपि सोऽवदत्।।३४६
क्रिया नाम च रूपं च शक्तिरूपेण दृष्टवान्। कारणं क्रमतस्तत्र दोषानेतानलोकयत्।।३४७

वरुण इति। ततो वरुणः तस्मै भृगवे इदम् उत्तरम् आह। 'इदं' किम्? यः तपोरूप उपायः त्वया दृष्टः उपदेशमन्तरैव कर्तव्यत्वेन अवधारितो, मया सूचितश्च, स एव पुनः कर्तव्यः। तेन तपसो ब्रह्मज्ञानसाधनेषु मुख्यत्वेन जगत्कारणं ब्रह्म तपसा जानीहि। तेन मुख्यसाधनत्वेनैव हि तपसि ब्रह्मशब्दं प्रयुञ्जते। इति द्वयोरर्थः।।३४३-४।।
एवमिति। तप्तवान् अर्जितवान्।।३४५।।

एवं त्रिवारमिति। यथा द्विवारं गमनं प्रतिपादितमेवं त्रिवारं गमनमन्यद् बोध्यम्। तथा च पञ्चवारं गमनं पितरं प्रति भृगोः सिद्धम्। 'तपसा जानीहि' इत्याकारकः श्रुत्यर्थाभ्यां कृतः पितुरुपदेशोऽपि पञ्चधा बोध्य इति भावः।।३४६।।

द्वितीयतृतीयचतुर्थपर्ययेषु[1] कारणतया दृष्टान् पदार्थान् आह—क्रियेति। तत्र क्रियात्मकं प्राणमयं शक्तिरूपेण अदृष्टाख्येन अन्नस्य कारणं दृष्टवान्। तस्य कारणं नामात्मकं मनोमयम्, तस्य च विज्ञानमयं रूपात्मकम्। एवं दृष्ट्वा तेषु एतान् वक्ष्यमाणान् दोषान् अलोकयद् इत्यर्थः।।३४७।।

आत्मा-परमात्मा के अभेदबोध में नितान्त प्रतिष्ठित वरुण ने उसकी जिज्ञासा पर यह उत्तर दिया : 'जिस तप को तुमने उपाय समझा और मैंने भी सूचित किया था वही ब्रह्मसाक्षात्कार का प्रमुख साधन है, और कोई नहीं। जगत्कारण ब्रह्म को तुम तप से ही जान सकोगे। ब्रह्मविषयक विचारक इसी रहस्य को यों कहते हैं 'तप ब्रह्म है!'।।३४३-४।। (दृश्य वस्तु तो प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाणों से निर्धारित हो सकने से उसके बारे में दो व्यक्तियों का 'संवाद' संभव है जिससे उसे गुरुजन समझा देते हैं। दृग्वस्तु स्वप्रकाशमात्र है, प्रमाणविषय है नहीं अतः उसके बारे में सही मायने में 'संवाद' संभव नहीं, इसीसे गुरुजन उसकी ओर उन्मुख ही कर सकते हैं, गाय-भैंस की तरह सींग पकड़कर सामने लाकर उसके बारे में निश्चय नहीं करा सकते। प्रायः सभी उपनिषदों में आत्मोपदेश इसी तरह दिया जाता है और लगभग सर्वत्र व्याख्याताओं ने 'सुस्पष्ट' उपदेश के अभाव का प्रश्न उठाकर यही समाधान दिया है। अतः साधक को स्वयं ही आत्मानुसन्धान करना चाहिये, रोगी को नाक के रास्ते दिये जाने वाले आहार की तरह ब्रह्मोपदेश नहीं दिया जा सकता।)

पिता ने तप ही कर्तव्य उपाय बताया तो श्रद्धालु तपःसमर्थ भृगु ने पहले की तरह फिर तप किया। उससे जो जगत्कारण समझा उसमें भी दोष देखकर वह पुनः पिता के पास गया। पिता ने तप को ही उपाय बताया और भृगु ने फिर तप किया। यों दो बार ही नहीं, इसके बाद भी तीन बार भुगु तप से प्राप्त बोध में दोष देखकर पिता के पास गया पर पिता ने हर बार 'तप से ब्रह्म का पता लगाओ' यही उपदेश दिया। (कुल पाँच बार पिता के पास जाना और पिता का स्थायी निर्देश समझना चाहिये)।।३४५-६।।

दूसरी-तीसरी-चौथी बार उसे क्रमशः क्रिया, नाम और रूप शक्तिरूप से कारण समझ आये और उन्हें चरम कारण मानने में वक्ष्यमाण दोष भी नज़र आये। (क्रिया अर्थात् प्राण। दूसरी बार में भृगु ने समझा कि 'अदृष्ट' नामक

१. 'प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव...(इति तृतीयोनुवाकः)। मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव.... (इति चतुर्थोनुवाकः)। विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्...' (इति पंचमोनुवाकः)।

सप्राणादेव जगतो जातो देहश्चतुर्विधः। प्राणेनान्नादनात् तद्वत् तिष्ठत्येष न संशयः।।
प्राणनिर्गमनादन्ते विनाशं च स गच्छति।।३४८

यद्यप्येवं तथाप्येष जडः प्राणः कथं भवेत्। कारणं हि समा दृष्ट्वा जडता प्राणदेहयोः।।३४९

ततः प्राणस्य किञ्चित् स्यात् कारणं चेतनं सदा। चेतनं हि मनो लोके प्रसिद्धं तस्य कारणम्।।३५०

प्राणे यथा पुरा दोषं दृष्टवान् मुनिसत्तमः। मनस्यपि तथैवाऽयमिमं दोषं व्यलोकयत्।।३५१

इदं संशयरूपं स्याद् न मनः कारणं विना। अकारणो यतो लोके संशयो नैव जायते।।३५२

संशयस्य सदैवाऽयं निश्चयो बुद्धिनामकः। कारणं न विना बुद्धिं संशयो जायते क्वचित्।।३५३

तत्र प्राणे ब्रह्मलक्षणान्वयं तत्र दोषं चाऽभिनयति— सप्राणादिति द्वाभ्याम्। प्राणविशिष्टादेव शरीराद् भूतानां जन्मदर्शनात्, प्राणकृतेन अन्नभक्षणेनैव स्थितिदर्शनात्, प्राणनिर्गमने विलयदर्शनाच्च प्राणस्य ब्रह्मत्वमित्यर्थः।।३४८।। दोषमाह— यद्यपीति। तथापि प्राणः कथं जगतः कारणं स्यात्, जडत्वात्? तच्च जडत्वं प्राणस्य स्थूलदेहस्य च समं प्रसिद्धमित्यर्थः।।३४९।।

ततश्चेतनकारणान्वेषणायां 'मम मनो जानाति' इत्यादिलोकदृष्ट्या चेतनत्वेन प्रसिद्धं मनो जगत्कारणत्वेन भृगुर्निश्चितवान् इत्याह— तत इति।।३५०।। ततः पूर्ववद् दोषं चिन्तयन् मनसीमं वक्ष्यमाणं दोषमालोकयद् इत्याह—प्राण इति।।३५१।। संशयात्मकत्वेन कारणसापेक्षतैवाऽत्र दोष इत्याह— इदमिति। इदंमनः सविकल्पात्मक-संशयरूपं कारणानपेक्षं कथं स्याद् यतः संशयस्य धर्मिसामान्यज्ञानादिजन्यत्वं प्रसिद्धमित्यर्थः।।३५२।। तच्च धर्मिज्ञानादिकं निर्विकल्पकबुद्धिरूपमित्याह— संशयस्येति। बुद्धिस्वरूपभूतो निश्चयो धर्मिगोचरः संशयस्य कारणम् इति सम्बन्धः।।३५३।। एतदेव स्फुटयति— निश्चित्येति। यतः पुरा प्रथमं वस्तु धर्मिस्वरूपम् ऊर्ध्वत्वलक्षणसामान्य-

शक्तिरूप से प्राणमय ही अन्न का कारण है। व्यष्टि-समष्टि उभयत्र साक्षात् और परंपरा से क्रिया की कारणता प्रसिद्ध ही है। वेद भी देहजन्म आदि के प्रति प्राण को कारण कह देता है। तीसरी बार में प्राण का भी कारण नाम को अर्थात् मनोमय को समझा। शास्त्रीय कर्म वेदपूर्वक ही होते हैं। लौकिक क्रिया भी 'मिट्टी से घट बनाऊँ' आदि शब्दात्मक संकल्पपूर्वक ही प्रसिद्ध है। चौथी बार में मनोमय का कारण उसे विज्ञानमय समझ आया। श्रद्धा आदि से ही वेद का भी ग्रहण-अनुसरण आदि होता है। किं च कारणरूप मन कर्त्तारूप विज्ञान के अधीन है। संकल्प के प्रति भी निश्चय ही कारण होता है और नाम भी रूपानुसारी होता है। यों वह जगत्कारण रूप से एक-एक कोश निर्धारित करता गया। जिसे कारण समझता था उससे अन्य कुछ फिर कारण मानने योग्य नहीं रहता था। इसलिये अंत में जब ब्रह्म को कारण समझेगा तब संशयहेतु कोई बचेगा नहीं क्योंकि अन्य सभी की कारणता की परीक्षा हो चुकेगी। प्राणमयादि कोषत्रय की क्रिया-नाम-रूपात्मकता पूर्व में श्लो॰ १२५ में स्पष्ट की जा चुकी है।)।।३४७।।

क्रियारूप प्राणमय को कारण समझना सहज था। शरीरादि जगत् प्राणों से विशिष्ट रहे तभी चारों तरह के देह जन्म लेते हैं। ऐसे ही प्राण द्वारा अन्न खाया जाने से ही यह अन्नमय जगत् बना रहता है। अन्त में प्राण निकलने से ही स्थूल शरीर विनष्ट हो जाता है।।३४८।। यों जगत् के जन्मादि का कारण प्राण लगता है पर विचार करें तो यह बात संभव नहीं। यह जड प्राण जगत्कारण कैसे हो सकता है ! जैसी जडता देह की वैसी ही प्राण की है यह देखते ही पता चल जाता है। ('देखते ही' अर्थात् दृग्विषयरूप से ही प्राण भी प्रतीत होता है।)।।३४९।। इसलिये उसने सोचा कि प्राण का भी कोई कारण होना चाहिये जो सनातन चेतन हो। (सनातन अर्थात् अंतिम कारण; आगे उसका कोई कारण न हो। तभी कारणपरंपरा वहाँ समाप्त होगी।) लोक में मन चेतनरूप से प्रसिद्ध है क्योंकि 'मेरा मन जानता है' आदि लौकिक अनुभव है। अतः उसने प्राण का भी कारण मन को माना।।३५०।। किंतु जैसे पहले प्राण की कारणता

निश्चित्योर्ध्वं पुरा वस्तु संशयः स्यादनन्तरम्। ततो बुद्धिर्हि मनसः कारणं नाऽपरं क्वचित्। ।३५४
बुद्धावपि मनोहेताविमं दोषं व्यलोकयत्। कादाचित्केयमखिला ब्रह्म बुद्धिः कथं भवेत्।।
देहोपमा परिच्छिन्ना तस्मादेषा प्रजायते। ।३५५
बुद्धिः सुखं समुद्दिश्य जायते धीमतां सदा। कारणान्तरतो दुःखमुपेक्ष्यं चाऽधिगच्छति। ।३५६

धर्मवद् निश्चित्य, अनन्तरं स्थाणुत्वपुरुषत्वकोटिकः संशयः प्रसिद्धः ततो मनो विहाय तत्कारणं बुद्धिं ब्रह्मत्वेन भृगुर्विज्ञातवान् इत्यर्थः। ।३५४।।

बुद्धावपि कारणसापेक्षत्वरूपं दोषं दृष्टवानित्याह— बुद्धावपीति। अखिला सर्वप्रकारा बुद्धिः ब्रह्मत्वं नार्हति, कादाचित्कत्वात्। कादाचित्कत्वे हेतुः प्रजायत इत्युक्तं कार्यत्वम्। तत्र हेतुः देहवत् परिच्छिन्नत्वम् इति। ।३५५।। अस्या बुद्धेः कर्तृत्वरूपाया उदये भोक्तृत्वलक्षण आनन्द एव निमित्तं, शास्त्रे लोके च तथान्वयव्यतिरेकदर्शनात्। तथा हि—'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादौ स्वर्गकामादिमुद्दिश्य यागकर्तृत्वं विधीयते इति वदद्भिः उद्देश्यस्य विधेयं प्रति पूर्वसिद्धता मीमांसकैः संमतैव। फले हेतुतृतीयां विदधद्भिः[1] वैयाकरणैः, पुरुषार्थ एव हेतुरिति वदद्भिः सांख्यैश्च। तथा 'प्रयोजनमनुद्दिश्य'(श्लोक¯वा.सम्बन्धाक्षेप. ५५) इति न्यायः सर्वलौकिकपरीक्षकसंमतोऽत्र अनुकूलः। इत्याशयेन सुखस्य बुद्धिं प्रति कारणतां[2] श्रुत्युक्तां संभावयति— बुद्धिरिति चतुर्भिः। बुद्धेः प्रवृत्तिः सुखार्थैव दृष्टा यतो दुःखादौ द्वेष्ये उपेक्ष्ये च तत्प्रवृत्तिः कारणान्तरतो दोषपारवश्यरूपाद् एव भवति इत्यर्थः। लौकिकानि प्रमाणान्यपि अविद्याकामकर्मात्मकदोषपक्षपातीन्येव इति भावः। ।३५६।। एतत् स्फुटयति—इच्छयेति।

में उसे दोष प्रतीत हुआ था वैसे उस विचक्षण मननकर्ता को अंतिम कारण मन स्वीकारने में यह दोष दीखा : इस मन का रूप है संशय— अर्थात् सविकल्पक ज्ञान। यह बिना किसी कारण के नहीं हो सकता क्योंकि संसार में बिना कारण संशय नहीं हुआ करता। संशय का कारण हमेशा यह निश्चय ही देखा गया है। निश्चय को ही बुद्धि या विज्ञान कहते हैं। बुद्धिरूप कारण के बिना संशय कहीं पैदा नहीं होता। (धर्मिविषयक सामान्य निश्चय के बाद ही धर्म-विषयक संशय होता है : सामने 'कुछ' है यह जानकर की 'ठूँठ है या आदमी' आदि संशय होता है; यों ही आसमान में ठूँठ-आदमी का संशय नशे के बिना नहीं होता! अतः संशय में निश्चय कारण है। ऐसे ही सविकल्पक के प्रति निर्विकल्पक ज्ञान कारण है क्योंकि सविकल्पक में सम्बद्धरूप से भासने वाले सम्बन्धिरूप विकल्पों को बिना जाने उनका सम्बंध जानना संभव नहीं। इस पर न्यायियों ने भी विचार किया है।)।३५१-३।।

क्योंकि पहले सामान्य धर्म वाले धर्मि-पदार्थ का निश्चय कर बाद में विशेष धर्मों की कोटियों वाला संशय होता है इसलिये मन का कारण बुद्धि ही होनी चाहिये, और कुछ नहीं— यह भृगु ने समझा। (यद्यपि निर्विकल्पक ज्ञान में 'सामान्य धर्म वाला' इस तरह धर्मी प्रतीत नहीं होता तथापि यदि सामान्यतः यह न प्रतीत हो कि 'यह धर्मवान् होना चाहिये' तो आगे सविकल्पक रूप से ग्रहण ही नहीं होगा क्योंकि सविकल्पक तो अपेक्षा से ही होता है। जहाँ सामान्यतः धर्मधर्मिभाव संभावित न हो वहाँ उपस्थित धर्म-धर्मी भी विशेषण-विशेष्य भाव से ग्रहण नहीं किये जाते। अथवा श्लोक में 'ऊर्ध्वं' की ही व्याख्या 'पुरा' समझनी चाहिये।)।३५४।।

मन का हेतु समझी बुद्धि की ब्रह्मता में भी भृगु ने यह दोष देखा : सभी प्रकार की (समष्टि-व्यष्टि) यह बुद्धि किसी समय में होती है (अन्य समय में नहीं होती) अतः यह नित्य ब्रह्म कैसे हो सकती है? स्थूल शरीर की तरह यह ससीम (त्रिविध सीमाओं वाली) होने से यह खुद ही जन्म वाली है।।३५५।। (विज्ञानमय कर्त्ता है। कर्तृत्व का उदय भोक्तृत्वरूप आनंद के कारण होता है। शास्त्र में भी स्वर्गादि भोग के लिये ही यागादि के प्रति कर्ता बनने को कहा

१. 'हेतौ।' (२.३.२३) इत्यत्र कौमुदी 'फलमपीह हेतुः' इति भाष्यकैयटाद्यनुसारं लिलेख। 'पुरुषार्थहेतुकमिदम्' इत्यादि सांख्यकारिका(४२)।
२. 'आनन्दो ब्रह्मेति...विशन्तीति।'

इच्छया जायते बुद्धिरिच्छा च सुखगोचरे। उपेक्ष्ये निखिले चाऽत्र दुःखे वा दुःखसाधने।।
जानीयां प्राप्नुयां वाऽपि नैवमिच्छा प्रजायते।।३५७

ततः सुखे प्रवृत्तेयमिच्छा दुःखादिकं सदा। अनुपादेयरूपेण गोचरी कुरुते नृणाम्।।३५८

ततः सुखैकविषया इच्छा बुद्धेस्तु कारणम्। बुद्धिश्च तत एवेयं सुख एव प्रजायते।।
इच्छावच्चानुपादेये जाता तद्धेतुका न सा।।३५९

निष्कामानां समाहितानां बुद्ध्युत्थानाऽदर्शनाद् बुद्धिकारणत्वमिच्छायाः सिद्धम्। इच्छा तु सुख एव जायते। न हि 'उपेक्ष्यं द्वेष्यं वाऽहं जानीयाम् प्राप्नुयां वा' इत्याकारिकेच्छा स्वतो जायमाना दृष्टेत्यर्थः।।३५७।। ततो 'घटायोन्मीलितं चक्षुः पटं न हि न पश्यति' इति न्यायेन सुखार्थे प्रवृत्तेच्छा दुःखादिकमपि गोचरयति इत्याह— तत इति। यत् प्रसक्तं प्रयत्नेन परिहर्तुं न शक्यते तद् अनुपादेयम् इत्युच्यते। अनुपादेयस्य रूपम् अपरिहार्यत्वं, तेन दुःखादिकं गोचरयतीत्यर्थः।।३५८।। फलितमाह—ततः सुखैकेति। ततः उक्तव्याप्तेः, तत इच्छाप्रयुक्तत्वात् सुखमेव बुद्धेः फलरूपं निमित्तम्। अनुपादेयं दुःखादिकं त्विच्छाया इव बुद्धेरपि फलरूपनिमित्ततां नार्हति इत्यर्थः। तथा च प्रियाद्यवयवक आनन्दमयो विज्ञानमयस्य कारणत्वेन ब्रह्मतया निश्चित इति भावः।।३५९।।

आनन्दमयस्यापि ये प्रियमोदप्रमोदानंदाश्चत्वारोऽवयवाः तेऽपि ब्रह्मत्वयोग्या न भवन्ति, आगमापायित्वेन
गया है। 'भोग के लिये' अर्थात् भोग ही इसका प्रयोजनरूप कारण है। कर्तृत्वरूप प्रवृत्ति भोगरूप प्रयोजन के उद्देश्य से ही की जाती है। इस दृष्टिकोण से भृगु ने आगे विचार किया—) बुद्धिमानों की बुद्धि हमेशा सुख के उद्देश्य से ही होती है। दुःख के और उपेक्षा योग्य के बारे में बुद्धिप्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं वरन् किसी दोष की पराधीनता से ही होती है। (लौकिक प्रमाण क्योंकि अविद्या-कामना-कर्म रूप दोषों से नियंत्रित हैं इसीलिये दुःख और उपेक्ष्य का निश्चय, ज्ञान, चिकीर्षा हो जाते हैं।)।।३५६।। इच्छा से बुद्धि उत्पन्न होती है और इच्छा उसीकी होती है जो सुख समझा जाये। संसार में सभी उपेक्ष्यों के बारे में, दुःखों व दुःखोपायों के बारे में 'मैं इन्हें जानूँ अर्थात् भोगूँ या इन्हें पाऊँ' ऐसी इच्छा स्वतः नहीं होती। (किं च निष्काम व समाहितमना लोगों में बुद्धि का उत्थान भी नहीं होता अर्थात् उनमें अकर्तृत्व (नैष्कर्म्य) ही रहता है, कर्तृत्व नहीं। इससे भी बुद्धि के प्रति इच्छा कारण सिद्ध होती है।)।।३५७।। इसलिये निश्चित है कि लोगों की यह इच्छा सुख की ओर ही प्रवृत्त होती है, भले ही अनुपादेय रूप से दुःखादि को भी विषय कर ले। (प्रयत्न से भी न हटाया जा सके ऐसा प्राप्त पदार्थ (वस्तु, क्रिया, अनुभव) 'अनुपादेय' कहा जाता है अर्थात् अपरिहार्य को, अनिवार्य को अनुपादेय कहते हैं। दुःखादि की इच्छा इसी दृष्टि से होती है। जैसे गर्मी में धूप में कार्य करना दुःख है लेकिन सुख समझे जाते अन्न-पानादि के लिये अपरिहार्य है अतः यह इच्छा होती है 'मुझे कार्य मिले'। वास्तव में वहाँ इच्छा अन्नादि सुख की है किंतु कार्य किये बिना वह मिलता नहीं इसीसे कार्य की इच्छा हो जाती है। 'अनुपादेय' को पारिभाषिक नहीं समझना चाहिये, उपादेय अर्थात् ग्राह्य रूप से जिसे नहीं चाहते, अनिवार्य होने से ही चाहते हैं, वही अनुपादेयरूप से इच्छित है।)।।३५८।।

इसलिये भृगु को जँचा कि सिर्फ सुख को विषय करने वाली इच्छा ही बुद्धि के प्रति कारण होने से इच्छाजन्य बुद्धि का फलरूप कारण सुख ही है। इसीसे बुद्धि सुख के लिये ही होती है। अनुपादेय के बारे में बुद्धि उस अनुपादेय के प्रयोजन से नहीं होती वरन् इच्छा की तरह किसी सुख के प्रयोजन से ही अनुपादेय भी इच्छा के क्षेत्र में आ जाता है। इस प्रकार प्रिय आदि अवयवों वाला आनंदमय ही विज्ञानमय का कारण भृगु को समझ आया।।३५९।। किन्तु आनंदमय की भी उसने परीक्षा की तो उसे मालूम पड़ा कि उसके प्रिय-मोद-प्रमोद-आनंदरूप चार अवयव तो जन्मवान् सुख ही हैं अतः अन्य किसी कारण से ही उत्पन्न होते हैं। इनमें प्रियादि तीन तो अंतःकरण की वृत्तियाँ हैं और आनंदनामक सामान्य सुख सुषुप्ति में होने वाली अविद्यावृत्ति है। अंतःकरण भी अविद्यामय होने से सभी अविद्यावृत्तियाँ कह दी जाती

सुखं च जायमानं यत् प्रियमोदप्रमोदकम्। अविद्यावृत्तिरूपं तद् अन्यकारणजं भवेत्।।३६०
कारणेन विनानन्दो यो भवेद् ब्रह्मरूपभाक्। तारतम्यविहीनश्च बुद्धिहेतुर्हि स स्मृतः।।३६१
इति विचार्य मतिमान् भृगुर्ब्रह्मविदां वरः। आत्मरूपोऽयमानन्दो ब्रह्मेति प्रत्यपद्यत।।३६२
आनन्दादेव भूतानि जायन्ते निखिलान्यपि। स्त्रीपुंसयोश्च सम्भोगजाताज्जन्मविवर्जितात्।।३६३
आनन्देनैव जीवन्ति जातानि निखिलान्यपि। निद्राऽऽहारविहाराङ्गरागस्त्रीविषयादिना।।३६४
आनन्दे हृदयाकाशे प्राज्ञे तादात्म्यरूपतः। प्रयान्ति देहतस्तद्वत् सर्वतोऽभिविशन्ति च।।
निखिलान्यपि भूतानि स्थावराणि चराणि च।।३६५

कारणसापेक्षत्वाद् इत्याह—सुखं चेति। प्रियादित्रयम् अन्तःकरणवृत्तिरूपं सौषुप्ताविद्यावृत्तिरूपं त्वानन्दाख्यं सुखं, तत् सर्वं जायमानत्वात् कारणापेक्षमित्यर्थः।।३६०।। तस्मात् पुच्छभूतं भूमाख्यं सुखमेव प्रियादीनां प्रतिबिम्बानां बिम्बभूतं सर्वकारणम् इत्याह—कारणेनेति। बुद्धिहेतुः बुद्ध्यादिप्रपञ्चस्य अज्ञातरूपेण कारणम्, उद्देश्यलक्षणनिमित्तं वा।।३६१।। इति विचार्येति। एवं विचार्य पुच्छभूतमानन्दं ब्रह्मत्वेन निश्चितवान् इत्यर्थः।।३६२।।

तत्र लक्षणसमन्वयवाक्यस्यार्थमाह—आनन्दादेवेति त्रिभिः। सर्वाणि लौकिककारणानि आनन्दं प्राप्यैव कार्यजननक्षमाणि यथा गर्भहेतुभूतौ स्त्रीपुंसौ, अतो ज्ञायते सर्वत्रानुगत आनन्द एव जगत्कारणम्। स च नित्यः, विषयाणां तदभिव्यञ्जनमात्रे व्यापाराद् इत्यर्थः।।३६३।। स्थितिहेतुतामाह—आनन्देनेति। तथा सर्वाणि भूतानि आनन्देनैव जीवनं गच्छन्ति प्रसिद्धानि। कीदृशेनानन्देन ? निद्रा चाहारश्च विहारश्च अङ्गरागश्च चन्दनलेपादिरूपः स्त्री चेत्यादि विषया आदयोऽभिव्यञ्जका यस्य स तथा तेन इत्यर्थः। पूर्वन्यायोऽत्राऽपि ध्येयः।।३६४।। तत्र लयमाह—आनन्द इति। तथा सर्वाणि भूतानि सर्वतः स्थूलात् सूक्ष्माच्च देहतो विक्षेपमयाद् उद्विग्नानि प्रयान्ति प्रयाणं तदभिमानत्यागरूपं कुर्वन्ति सन्ति हृदयाकाशप्राज्ञपदाभ्यां प्रोक्तेऽत्र आनन्दे ब्रह्मणि तादात्म्यरूपसम्बन्धेन अभिविशन्ति तद्भावं यान्तीत्यर्थः।।३६५।।

हैं। आनंदमय कोष कारणशरीर से एक है इसलिये भी इसके अवयव अज्ञानमय समझना ही उचित है। क्योंकि जन्मवान् हैं इसलिये ये अवयव ब्रह्म नहीं हो सकते।।३६०।। बुद्धि अर्थात् विज्ञानमय का भी वास्तविक हेतु वही आनंद हो सकता है जो बिना किसी कारण के है, नित्य है, एकरस अर्थात् कमो-बेश से रहित है, व्यापक स्वरूप वाला है। प्रिय आदि जिसकी परछाईं-भर हैं वह बिंबरूप 'पूँछ' कहा गया भूमा आनंद ही सारे संसार का अंतिम कारण है।।३६१।। इस प्रकार ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ बुद्धिमान् भृगु ने विचारपूर्वक निश्चय कर लिया कि यह आत्मरूप आनंद ही ब्रह्म है।।३६२।। सारे भूत आनंद से ही पैदा होते हैं क्योंकि लोकदृष्ट सभी कारण आनंद पाकर ही कार्योत्पादन में सक्षम बनते हैं जैसे सम्भोगजन्य आनंद पाकर ही स्त्री-पुरुष गर्भ के हेतु बनते हैं। क्योंकि विषय तो दीपक की तरह आनंद के प्रकाशकमात्र हैं इसलिये सर्वकारण आनंद नित्य है, उसका कभी जन्म नहीं होता।।३६३।। उत्पन्न हुए निखिल भूत निद्रा-आहार-विहार-अंगराग-स्त्री-विषय आदि से प्रकट किये आनंद से ही जीवित रहते हैं।।३६४।। सारे ही चर-अचर भूत विक्षेपात्मक स्थूल-सूक्ष्म शरीरों से उद्विग्न होकर उन शरीरों में अभिमान छोड़ते हुए 'हृदयाकाश' और 'प्राज्ञ' कहलाने वाले आनंदस्वरूप ब्रह्म में तादात्म्यात्मक भेदाभेद-सम्बंध से प्रवेश करते हैं, उसमें लीन होते हैं। इस प्रकार जगत् के जन्म-स्थिति-लय का अंतिम कारण आनंद है—यह भृगु ने जान लिया। (हम कुछ भी करते हैं तो आनंद के लिये ही जिससे अन्यत्र भी समझ आता है कि सभी जगह आनंदहेतुक ही कार्योत्पादन है। यहाँ आनंदविशेष अर्थात् विषयविशेष से निरूपित आनंद से तात्पर्य नहीं वरन् जैसे भी हो, करते आनंद के लिये हैं यह अर्थ है। समष्टि से व्यष्टि का जन्म होता है और समष्टि व्यापक होने से आनंदरूप है। किं च आनंद कहते हैं निष्कारण प्रिय को जो प्रत्यङ्मात्र ही है। इस तरह आनंद से व्यापक प्रत्यगात्मा अभिप्रेत है। वह सुखरूप होने से प्रयोजनात्मक कारण, प्रत्यगात्मा होने से

निरविद्यानि चेदेनं व्रजेयुर्न पुनर्भवेत्। शरीरग्रहणं तेषां मुक्तवद् ब्रह्मसम्भवात्। ।३६६

सुप्ताविव मृतौ यस्माद् आनन्दं हृद्ये स्थितम्। व्रजन्ति सर्वभूतानि साविद्यान्येव सर्वदा।।
मृत्वा ततः पुनर्देहग्रहणं च प्रकुर्वते। ।३६७

जगज्जन्मस्थितिध्वंसा एवमानन्दतः सदा। यतो भवन्ति तेनाऽयमानन्दो ब्रह्मशब्दभाक्। ।३६८

एवं मननतः पूर्वं भृगुरात्मावबोधनम्। प्राप्तस्तस्मादिदं सर्वं करणीयं मुमुक्षुणा[1]। ।३६९

सैषा विद्या पुरा लब्धा भृगुणा वरुणेन च। प्रोक्ताऽस्ति परमे व्योम्नि ह्यानन्दस्वरूपिणि[2]। ।३७०

ननु ब्रह्मलीनानां कथं जन्मेति चेद् ? अविद्याख्यबीजावशेषाद् इत्याह—निरविद्यानीति द्वाभ्याम्। निवृत्ताविद्यानि सन्ति भूतानि यदि तत्र विशेयुः तर्हि मुक्तवत् जनिं नैव भजेयुः ब्रह्मत्वस्य संभवात् लाभाद् इत्यर्थः। ।३६६।। संसारिणस्तु सुप्ताविव अविद्याशेषा एव लीयन्तेऽतः पुनर्जन्म युक्तमित्याह—सुप्ताविवेति। ।३६७।। एवंविधजन्मादिकारणत्वेन आनन्दस्य ब्रह्मत्वं सिद्धमित्याह—जगज्जन्मेति। ।३६८।। फलितमाह—एवमिति। इदं मननम्। ।३६९।।

सैषेति। एषा प्रसिद्धा विद्या वरुणेन प्रोक्ता भृगुणा लब्धा च हृद्गुहागते परमचिद्रूप आकाश आनन्दात्मकेऽस्ति निमित्त कारण और समष्टि या व्यापक होने से उपादान कारण है यह स्वयं समझ लेना चाहिये।)। ।३६५।।

यदि देहद्वय से उद्विग्न हो आनंदरूप ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं तो उनका पुनः जन्म कैसे होता है ? यदि भूत अविद्यारहित होकर इस आनंद में विलीन हों तो वे पुनः शरीर ग्रहण नहीं करेंगे क्योंकि मुक्त पुरुष की तरह सभी को ब्रह्मरूपता मिल जायेगी। किन्तु मोक्षपर्यन्त सारे भूत मृत्यु या प्रलय होने पर अविद्यायुक्त रहते हुए ही हृदय में स्थित आनंद में वैसे ही लीन होते हैं जैसे प्रतिदिन सुषुप्ति में, इसीलिये मरकर फिर से शरीर स्वीकार लेते हैं। (सुषुप्ति में जीव-ईश्वर का भेद बना ही रहता है अतः वह मोक्षदशा नहीं, सिर्फ मोक्ष के लिये अच्छा उदाहरण है। तत्त्वविद्याविहीन समाधि भी अत एव मोक्ष नहीं है, भले ही उतने समय तक बंधनानुभव न हो। मरण के समय ब्रह्म में विलय अध्याय ६ श्लो. ८७४ आदि में कह आये हैं उसे याद रखना चाहिये। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि अविद्या रहते ब्रह्म में विलय पुनरुद्भव नहीं रोकता। भूतों को 'साविद्य-निरविद्य' कहने का मतलब उन्हें अविद्यावान् बताना नहीं है; वे अविद्या के सहित या रहित हैं इतना ही अर्थ है, अविद्या *उनमें* है ऐसा नहीं समझना चाहिये।)। ।३६६-७।। इस प्रकार क्योंकि जगत् के जन्म-स्थिति-ध्वंस हमेशा आनंद से ही होते हैं इसलिये आनंद को ही उपनिषदें ब्रह्म कहती हैं। ।३६८।।

प्राचीन काल में भृगु ने यों मननसे आत्मा का अवबोध पाया था इसलिये मुमुक्षु को यह सब मननादि तप करते रहना चाहिये। ।३६९।। पुरातन समय में यह विद्या वरुण ने सुनाई और भृगु ने प्राप्त की अतः 'भार्गवी वारुणी विद्या' कही जाती है। इस विद्या का पर्यवसान आनंदरूप पारमार्थिक चिन्मय व्यापक प्रत्यक् में होता है जो हृदयस्थ बुद्धि का साक्षी है। ('पर्यवसान' अर्थात् इस विद्या की प्राप्ति के बाद क्या रह जाता है।)। ।३७०।। अन्य भी जो अधिकारी भृगु की तरह इस तत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है वह यहीं उस सर्वात्मा में हमेशा स्थित रहता है, उसका संसरण नहीं होता। (अर्थात् वरुण का पुत्र या ऋषि होने से भृगु मुक्त हो गया हम नहीं हो सकते—ऐसी बात नहीं।

१. श्रुतावुपाख्यानानां विद्यास्तुत्यर्थत्वं तृतीयचतुर्थे चतुर्थे 'पारिप्लवार्थाधिकरणे' निरणायि ततः प्रकृतोपाख्यानं मननविधिस्तावकमिति पुराणकारमतम्। भाष्येऽपि 'आख्यायिका विद्यास्तुतये'। गुरुद्वारैव विद्या प्राप्तव्येति दर्शनायेयमाख्यायिकेति वार्तिककृतः।

२. 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। य एवं वेद प्रतितिष्ठति।' एतदनन्तरं दृष्टं फलमन्नवत्त्वादिकमुक्तम्। ततः चतुर्भिरनुवाकैर्बहून्युपासनानि विहितानि। दशममध्ये पुनः प्रकृतं परामृश्य 'स यश्चायम्' आदि महावाक्यमुक्त्वा कोशोपसंक्रमणं प्रदर्श्य 'इमाँल्लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्। एतत् साम गायन्नास्ते। हा३वु हा३वु हा३वु। अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो३ हमन्नादोऽ ३हमन्नादः।' इत्याद्युक्तम्।

सर्वसुलभं फलम्

अन्योऽपि भृगुवद् वेद यः पुमान् सोऽत्र सर्वदा। प्रतितिष्ठति सर्वात्मभूत आवृत्तिवर्जितः।।३७१

अन्नादिकोशविज्ञानाद् अन्नाद्याप्तिर्यथा फलम्। आनन्दज्ञानतस्तद्वद् आनन्दाप्तिः फलं भवेत्।।३७२

क्रमात् कोशानतिक्रम्य पञ्चाथानन्दबोधतः। गायन्नास्त इदं साम हावु हेत्यादिकं बहु।।३७३

मुक्तगानम्

अहो! अहो![1] इदं चित्रम् आश्चर्यमिह विद्यते। अन्नादश्च तथैवान्न एक एवाऽस्म्यहं यतः।।३७४

मृत्युरूपस्तथैवाऽहम् अन्नदानविवर्जितम्। अन्नादमद्मि मनुजं सर्वदा स्वोदरंभरिम्।।३७५

[2]मन्त्राणामपि कर्ताऽहं द्रष्टा वा सर्ववित्तमः। कर्मणां फलरूपेण जातश्चाऽहं सुखात्मकः।।३७६

पर्यवसन्नेत्यर्थः।।३७०।। व्याख्यात-वाक्यस्य तात्पर्यार्थमाह—अन्योऽपीति। यतोऽनया विद्ययैव सह सर्वात्मभाव-लक्षणफलस्य सम्बन्धो, न तु वरुणसुतत्वऋषित्वादिना, ततोऽन्यस्यापि एवं मननपरस्य तत् फलं भवत्येवेत्यर्थः।।३७१।। उपासनावाक्यार्थं सूचयन्नानन्दात्मविद उक्तं फलं युक्तमित्याह—अन्नादीति। अन्नमयादिकोशानां समाष्टिरूपाणाम् आत्मत्वेन विज्ञानात् सर्वान्नलाभादिफलं यथा श्रुत्युक्तं भवति, तथा आनन्दात्मविज्ञानात् तद्भावरूपमपि फलं युक्तमित्यर्थः।।३७२।।

अथोक्तविज्ञानफलस्य सर्वात्मभावस्य जीवन्मुक्तेन अनुभूयमानस्य अभिनयपरं सामवाक्यं व्याचष्टे—क्रमादिति अष्टभिः। वर्णितानां कोशानामतिक्रमणम् उपसंक्रमणपदोक्तं कृत्वा हावु-इत्यादिकं साम गायन् सन् जीवन्मुक्तस्तिष्ठति इत्यर्थः।।३७३।। अहो! इति। इदम् अत्याश्चर्यं यद् अहमेकः सर्वभोग्यभोक्तृरूपः सन् स्थित इत्यर्थः।।३७४।। अन्नाद इत्यस्यार्थान्तरं मृत्युरूपेण अन्नवद् भक्षक इत्याकारमाह—मृत्युरूप इति। अन्नं देवादिभ्योऽदत्वा भोक्तारं कृपणं मृत्युरूपोऽहमद्मि भक्षयामीत्यर्थः।।३७५।। मन्त्राणामिति। तथा मन्त्राणां श्लोकपदोक्तानाम् ईश्वररूपेण कर्ता, ऋषिरूपेण द्रष्टा स्मर्ता चास्मीत्यर्थः। तथा ऋतपदोक्तकर्मविद्याफलरूपेण नित्यानित्यसुखात्मकेन अहमेव स्थित इति।।३७६।। देवेभ्य इति। अहं हिरण्यगर्भादिसमष्टिरूपेण व्यष्टिभूतदेवेभ्यः प्रथमं जातः। तथाऽऽनन्दरूपस्य

मोक्ष ज्ञान से है। भृगु भी मुक्त इसीलिये हुआ कि ज्ञान पा सका था। हम भी अधिकारपूर्वक ज्ञान पा लें तो मोक्ष न चाहकर भी मिलेगा।)।।३७१।। अन्नमयादि कोशों के विज्ञान से अन्नादि की प्राप्तिरूप फल पूर्व वल्ली में बताया था। उसी तरह आनंद के ज्ञान से आनंदप्राप्ति फल ध्रुव है।।३७२।।

पाँचों कोशों का क्रमशः अतिक्रमण कर आनंदबोध से सराबोर हुआ जीवन्मुक्त 'हावु ह' आदि व्यापकताप्रकाशक इस साम को (गीत को) गाते हुए प्रसन्नता से रहता है।।३७३।। 'अहो! अहो! यहाँ यह विचित्र, आश्चर्य है क्योंकि मैं एक ही अन्नाद और अन्न हूँ! (भोक्ता और भोग्य मुझसे अलग कुछ नहीं है।)।।३७४।। जो मनुष्य हमेशा अपना ही पेट भरने में लगा रहता है, अन्नदान किये बिना स्वयं अन्न खाता है, मैं मृत्युरूप हो उसे ही खा जाता हूँ!।।३७५।। ईश्वररूप से मैं मंत्रों का भी कर्ता हूँ और ऋषिरूप से मन्त्रद्रष्टा भी हूँ। मैं सर्वाधिक सर्ववित् हूँ। कर्मों का फलरूप सुख मैं ही हूँ। (कर्मफलभूत सुख भी मैं हूँ क्योंकि सुख एक मैं ही हूँ)।।३७६।। व्यष्टिभूत देवताओं से भी पहले मैं सूत्रात्मा व विराड्रूप से पैदा हो चुका था। सारा संसार जिसमें समर्पित है उस आनंदामृत के मध्य नाभि की तरह मैं

१. 'अहो-शब्दस्य आश्चर्यवाचकस्य गानार्थे वर्णविकारे सति हावु-शब्दो निष्पद्यते' सायणः।

२. 'अहं श्लोककृदहं श्लोककृदहं श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता ३ स्य। पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य ना ३ भायि। यो मा ददाति स इदेव मा ३ ऽऽवाः। अहमन्नमदन्तमा ३ द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा ३ म्। सुवर्न ज्योतीः। य एवं वेद। इत्युपनिषत्।' (इति दशमोनुवाकः भृगुवल्ली च समाप्तिमगमत्।) भगवत्पूज्यपादा एतदन्तग्रन्थमेव व्याख्यातवन्तः। इतः परम् आरण्यके दशमप्रपाठकः 'महानारायणोपनिषद्' आदिनामभिः प्रसिद्धः। पुराणं तमपि व्याख्याति। सायणभाष्यं च तत्रापि वर्तते।

देवेभ्यश्चाऽपि पूर्वोऽहं जातः सूत्रं विराडपि। आनन्दस्यामृतस्याहं मध्ये नाभिरिव स्थितः।।
संसारचक्रं निखिलमपि यस्मिन् समर्पितम्। ।३७७
धर्मार्थकाममोक्षाख्यं मामन्नादिस्वरूपतः। यो ददाति पुमान् मां स आत्मानमपि चावति। ।३७८
अद्मि यत् कृपणं दीनमन्नदानविवर्जितम्। मृत्युः सन्निखिलं विश्वं नित्यं देहेन्द्रियक्षयात्। ।३७९
तिरस्करोमि पुरुषः स्वर्णवत् सूर्यसंस्थितः। आनन्दात्मा स्वयंज्योतिः सर्वधर्मविवर्जितः। ।३८०
एवं स्वानुभवं विद्वान् प्रकटी कुरुते सदा। लोकानुग्रहकामः सन् श्रुतिवद् दीनवत्सलः।।
एतदर्थस्य तस्यासौ साम्नो गानच्छलेन हि। ।३८१

महानारायणव्याख्यारम्भः

विदुषा गीयते यद्धि ब्रह्म तत्त्वं मयेरितम्। सावधानमना भूत्वा शृणु नारायणे स्थितम्। ।३८२

मोक्षस्य संसारस्य च मध्ये विधारकत्वेन स्थितोऽस्मि नाभिरिव; मदधीनौ संसारमोक्षौ जनानामिति यावत्। ।३७७।।

'यो मे' त्यादिखण्डार्थमाह—धर्मेति। श्रुतौ इत्-पदेन इत्थम् इत्यर्थकेन वर्णितः सर्वात्मभावः प्रदर्श्यते। तथा च—यतोऽहं धर्मादिसकलपुरुषार्थरूपोऽन्नादिपदार्थरूपो दातृरूपश्चाऽहं भवामि ततो यो माम् अन्नादिरूपमतिथ्यादिभ्यो ददाति स दाता यद् आत्मानं यमाद् रक्षति तद् माम् एव रक्षति, ममैव तस्य आत्मत्वाद् इत्यर्थः। अपिः अवधारणे। ।३७८।। तत्र हेतुतयाऽदातुर्मृत्युभक्ष्यत्वमाह—अद्मीति। यद् यतः कृपणं दीनम् उदरंभरिं प्रतिदिनमिन्द्रियादिक्षयहेतुकालरूपेण, अन्ते मृत्युरूपेण च अहम् अद्मि इत्यर्थः। ।३७९।। तिरस्करोमीति। तथा योऽयमादित्यमण्डलान्तस्थः स्वर्णवद् देदीप्यमानः पुरुषो निरतिशयज्ञानैश्वर्यादिमांस्तद्रूपेणाऽहमेव सर्वं तिरस्करोमि। सर्वत उत्कृष्टोऽस्मीति यावत्। ।३८०।। ईदृशानुभवप्रकाशने विदुषः श्रुतेरिव करुणैव, 'कथमिमे जना विद्यायां प्रवर्तेरन्' इत्याकारिका प्रयोजिकेत्याह—एवमिति। एतदर्थस्य इत्थं व्याख्यातस्य तस्य हावु-इत्यादेः। छलं व्याजः। ।३८१।।

अथ महानारायणीयव्याख्या

प्रतिबन्धसिन्धुतरणे तरणी नारायणे नमस्यैका।
श्रुतिसम्मतोऽयमर्थः प्रतिभूर्नारायणीयभावाय।।
चतुर्थी 'विकासयितुम्' इति तुमन्तलोपापेक्षयेति।

बृहन्नारायणोपनिषद् इति, नारायणीयम् इति च प्रसिद्धस्य तैत्तिरीयारण्यकभागस्य निर्गुणविद्याप्राधान्येन अर्थं दर्शयितुमुपक्रमते—विदुषेत्यादिना। यद् ब्रह्म व्याख्यातसाममिषेण विदुषा गीयते तदेव नारायणे नारायणप्रतिपादके ग्रंथे प्रतिपाद्यतया स्थितम्, मया वर्णितं शृणु इति गुरोः शिष्यं प्रति उक्तिः। ।३८२।।

स्थित हूँ। ।३७७।। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष मैं ही हूँ। अन्नादि रूप भी मैं हूँ। अन्नादिरूप मुझे जो व्यक्ति अतिथि आदि को अर्पित करता है वह अपनी रक्षा करता है, मेरी ही रक्षा करता है। (मैं ही उसका भी आत्मा हूँ अतः अपनी रक्षा कर मेरी ही रक्षा करता है।)। ।३७८।। अन्नदान न करने वाले कंजूस नष्टप्राय सारे विश्व को मैं कालरूप से प्रतिक्षण समाप्त करता हूँ क्योंकि उसके शरीर-इन्द्रियादि को क्षीण करता जाता हूँ और अंत में मृत्यु बनकर उसे समूचा ही खा जाता हूँ। ।३७९।। सूर्य में संस्थित स्वर्ण-सा देदीप्यमान निरतिशय ज्ञान-ऐश्वर्यादि वाला फिर भी सब धर्मों से रहित स्वयम्प्रकाश आनंदस्वरूप पूर्ण चेतन मैं सबसे उत्कृष्ट हूँ अतः अन्य सबका तिरस्कार कर देता हूँ। ।'३८०।।

इस तरह विद्वान् सदा अपना अनुभव प्रकट करता है क्योंकि श्रुतिमाता की तरह वह दीनों पर वात्सल्य रखता है और लोगों पर अनुग्रह करना चाहता है। सर्वव्यापकता जिसका अर्थ है ऐसे साम को (गीत को) गाने के बहाने विद्वान् ज्ञानप्राप्य फलावस्था को लोकबुद्धिगम्य बनाता है ताकि अन्य मुमुक्षु विद्या पाने में प्रवृत्त हों। ।३८१।।

ब्रह्मण्युपक्रमः

आनन्दात्मा स्वयंज्योतिरविद्यायाः परं पुमान्। संसारसागरेऽगाधे ह्यविद्याजलपूरिते। ।३८३
यस्मिंस्तिष्ठन्ति सततं भुवनानि चतुर्दश। अनेकभुवनस्याऽस्य मध्ये गगनसन्निभः। ।३८४
स्वर्गस्याऽपि तथैवाऽयम् उपरिष्टान्महेश्वरः। गगनादेश्च महतो महीयान् सर्वगो यतः। ।३८५
वर्तते यश्च शुक्लेन स्वप्रभेणात्मतेजसा। ज्योतींषि चक्षुरादीनि त्वधिदैवादिरूपतः। ।
स्थितानि प्राणिनां देवः प्रविष्टो गगनोपमः। ।३८६
सम्यगात्मतया सृष्टेरनुसृष्टिविधायकः। प्रजापतिरयं देवो विराट् सूत्रं तथेश्वरः। ।३८७
स्थावराणां चराणां च ह्यधिदैवादिभेदिनाम्। चरति प्राणिनां गर्भे सोऽन्तर्हृदयसद्मनि। ।३८८

तत्र प्रथमकण्डिकाऽर्थं[1] दर्शयति—आनन्दात्मेति सप्तदशभिः। अविद्याजलमये संसारसागरे तदन्तर्गतस्य अनेकजातीयस्य भुवनस्य च मध्ये परमः पुमानानन्दात्मा गगनवच्छुद्धः समनुगतो वर्तते। इति द्वयोरर्थः। ।३८३-४।। स न संसारेण अवच्छेत्तुं शक्योऽतिमहत्त्वादित्याह—स्वर्गस्यापीति। स्वर्गस्य उन्नतत्वेन प्रसिद्धस्य अपि उपरिष्टाद् अयम् ईश्वरो भवति, गगनाद्यपेक्षयामहत्त्वाद्, यतः अयं सर्वगो वर्तत इत्यर्थः। ।३८५।। वर्तत इति। प्रथमपदं पूर्वान्वयि। यश्च देवः शुक्लपदोक्तेन स्वप्रकाशेन चैतन्यज्योतिषा प्राणिनां चक्षुरादीनि करणानि अन्तर्यामितया प्रविष्टः। कीदृशानि चक्षुरादीनि ? ज्योतिःपदोक्तानि अधिदैवादित्यादिरूपेण च स्थितानीत्यर्थः। ।३८६।। सम्यगात्मतयेति। अयं स्थूलसूक्ष्मकारणोपाधिकत्वेन विराडादिसंज्ञः सम्यगात्मतया सर्वस्य मुख्यात्मत्वात् सृष्टिपरम्पराविधायकत्वेन प्रजापतिरित्युक्त इत्यर्थः। ।३८७।। अयं देवः सर्वस्य हृदयाकाशे गर्भपदोक्ते तिष्ठति इत्याह—स्थावराणामिति। ।३८८।।

यहाँ तक पुराणकार ने तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्म-भृगुवल्लियाँ समझाईं। शांकरभाष्य भृगुवल्ली तक ही है। इसके आगे का आरण्यक भाग महानारायणोपनिषत् कहलाता है। सायणभाष्य उस पर भी सुलभ है। तैत्तिरीय नाम से उस भाग को भी सभी प्राचीन आचार्य उद्धृत करते हैं। अब पुराण उस हिस्से की व्याख्या करेगा।

हे शिष्य ! विद्वान् जिस ब्रह्म का गीत गाता है उसे 'नारायण'-नामक ग्रंथभाग में जैसा प्रकट किया है वैसा मैं सुनाता हूँ, मन एकाग्र कर सुनो। ।३८२।।

जीव जहाँ सरकते हुए क्लेश पा रहा है वह संसार मानो अथाह समुद्र है जिसमें अविद्या ही खारा पानी है। चौदहों भुवन किं वा सारी ही भोगभूमियाँ इसी सागर में डूबी हुई हैं। जल भी जिस आकाश में रहता है वह आकाश उस जल को धारण करते हुए भी उससे निर्विकार ही बना रहता है; संसार-समुद्र भी जिस गगनोपम सर्वकारण तत्त्व में स्थित है वह संसार से सर्वथा अस्पृष्ट है ! जल 'में' आकाश है, तभी जल में मछली आदि की गतिविधि होती है व पत्थर आदि उसमें समाते हैं ऐसे ही संसार 'में' भी वह परमार्थ वस्तु है तभी हमें सर्वत्र सत्-चित्-सुख मिलते हैं। जल में आकाश का प्रतिफलन भी होता है; संसार में उस परम पुरुष का प्रतिफलन ही जीवरूप से उपलब्ध है। यों संसार के सहारे समझा जा सकने वाला वह पूर्ण वास्तव में आनंदस्वरूप स्वयंप्रकाश है, अविद्या से परे है। ।३८३-४।। क्योंकि यह महेश्वर सर्वव्यापक है इसलिये स्वर्ग से भी ऊँचा है, गगनादि व्यापक पदार्थों से भी महान् है। ।३८५।। अपने स्वतः भासमान तेजोरूप शुक्ल से वह आकाश-सा निर्विकार व्यापक देव प्राणियों के नेत्रादि कारणों में तथा कारणों के आधिदैविक आदित्यादि रूपों में प्रवेश कर विद्यमान रहता है। ।३८६।।

सबका मुख्य आत्मा और एक-के-बाद-एक सृष्टि करते रहने वाला वह प्रजापति देव स्थूल उपाधि स्वीकार कर विराट्, सूक्ष्म उपाधि स्वीकार कर सूत्रात्मा और कारण उपाधि स्वीकार कर ईश्वर बना हुआ है। ।३८७।। आधिदैविक आदि भेदों वाले चराचर प्राणियों के गर्भ अर्थात् हृदयस्थल में वह देव विचरण करता है। ।३८८।।

१. 'अम्भस्य पारे भुवनस्य मध्ये नाकस्य पृष्ठे महतो महीयान्। शुक्रेण ज्योतींषि समनुप्रविष्टः प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः।।'

यस्मिन् समवरुद्धं च जगदेतच्चराचरम्। उत्पत्तौ च स्थितौ तद्वत् प्रलये च महेश्वरे।।३८९
अधितिष्ठन्ति यस्मिंश्च विश्वेदेवाः सवासवाः। भूतं भव्यं भवच्चैतद् विश्वमाहुस्तदेव हि।।३९०
आनन्दात्मस्वरूपं यदिदं क्षरणवर्जितम्। आत्मन्याकाशरूपेऽस्ति स्वमहिम्नि च सर्वदा।।३९१
येनावृतं नभस्तद्वत् स्वर्गो भूमिश्च विस्तृता। आदित्यो येन सन्दीप्तः स्वप्रभेणात्मतेजसा।।
तपत्यविरतं सर्वलोकमण्डलमध्यगः।।३९२
संसारसागरे सूत्रभूतमन्तः सदैव हि। जगत्पटात्मना नित्यं वयन्ति कवयो जनाः।।३९३
तन्तुवाया यथा तद्वद् वर्णयन्ति महेश्वरम्। जगत्यैक्यं समापन्नमवाङ्मनसगोचरम्।।३९४

श्रुतौ[1] 'सं च विचैति' इत्यस्य—अधीनतया वर्तते—इत्यर्थं दर्शयन्नाह—यस्मिन्निति। सर्वं जगत् सदा यस्मिन् समवरुद्धं यदधीनमित्यर्थः।।३८९।। न केवलमैहलौकिकं जगदेव तदधीनं किन्तु परोक्षदेवादिरूपमपि इत्याह—अधितिष्ठन्तीति। अधीनोक्त्या प्रसक्तं भेदं वारयति—भूतमिति। तदेव उक्तात्मरूपमेव। समन्ताद् इत्यर्थकस्य श्रौतस्य 'आ' इति पदस्य व्याख्यानं विश्वम् इति।।३९०।। ननूक्तमात्मरूपं कुत्र स्थितम् इति चेद्? व्योमपदोक्ते स्वे महिम्नीत्याह—आनन्दात्मेति। यदिदं वर्णितं तच्चिदाकाशरूपे स्वमहिम्न्येव स्थितमित्यर्थः।।३९१।।

येनेति[2]। आवृतं वेष्टितमाकाशादिकं येन च आदित्यः अपि चैतन्यज्योतिषा प्रकाशितः तपति भातीत्यर्थः।।३९२।। संसारेति। यथा तन्तुवायाः सूत्रं पटभावाय वयन्ति सन्तानयन्ति तथा यम् एनं देवं संसारसमुद्रान्तर्गतं सकलपदार्थात्मकपटानां सूत्रभूतं कवय उशनोवाल्मीकिप्रभृतयो जगत्पटात्मना वयन्ति तस्य वानं नाम वागाद्यविषयस्याऽपि तादात्म्येन जगत्सत्ताप्रदस्य वर्णनम्। इति द्वयोरर्थः। अयं भावः—यथा पटवर्णने सूत्रस्यैव वर्णनं, पटस्य तदतिरिक्तत्वाऽभावात्; तथा कवयः पराधीनसत्ताकं जगद् वर्णयन्तः परमेश्वरमेव वर्णयन्ति। यथोक्तं वेदस्तुतौ 'अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्' इति (१०.८७.१६)। श्रुत्यन्तरं च 'य इमे वीणायां गायन्ति एतमेव ते गायन्ति' (छां. १.७.६) इति।।३९३-४।।

यह जड-चेतन जगत् अपनी उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय अवस्थाओं में उसी महेश्वर के अधीन हुआ नियमित रहता है।।३८९।। इंद्र समेत सारे देवता उसीके अधीन स्थित हैं। भूत-वर्तमान-भावी सारा विश्व वही है यह शास्त्रों का घोष है।।३९०।। जो यह अक्षर आनंदरूप आत्मा है वह हमेशा अपनी महिमा अर्थात् अपने व्यापक स्वरूप में ही प्रतिष्ठित है, अन्य कहीं नहीं।।३९१।।

आकाश, स्वर्ग, यह विस्तृत भूमि—सभी जिससे वेष्टित हैं, सभी भोगभूमियों के मंडल (घेरे) के मध्य स्थित आदित्य भी जिसकी शक्ति से धधकते हुए लगातार तपता रहता है वह स्वप्रकाश आत्मा ही है।।३९२।। जुलाहे कपड़े के रूप में धागों को ही बिनते हैं। ऐसे ही संसारसमुद्र के अंदर प्रतीयमान यह देव ही सकल पदार्थरूप कपड़ों का आकार लेने वाला धागा है। ऋषि-गण जगदात्मक कपड़े के रूप में उस आत्मदेव की ही बिनाई करते हैं अर्थात् वाणी के अविषय उस तत्त्व का यों वर्णन करते हैं कि वह जगत् से तादात्म्य रखकर जगत् को सत्ता देता है। कपड़े का वर्णन करें तो वर्णन धागों का ही होता है, मूल्यादि वास्तव में धागे का ही है, धागों से अतिरिक्त कपड़ा कुछ है ही नहीं। ऋषि भी जगत् को आत्मसत्ता के अधीन सत्ता वाला बताते हैं अतः परमात्मा का ही वर्णन करते हैं। आपाततः प्रतीत होता है वेदादि में संसार का वर्णन है किन्तु वास्तव में वह सारा वर्णन आत्मा का ही है। जहाँ अध्यारोप है वहाँ कारणरूप से आत्मा कहा है और जहाँ अपवाद है वहाँ कारणातीत रूप से। आत्मवर्णन छोड़कर वेदादि सच्छास्त्रों में अनात्मा का

१. 'यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वं यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। तदेव भूतं तदु भव्यमा इदं तदक्षरे परमे व्योमन्।।'
२. 'येनावृतं खं च दिवं महीं च येनादित्यस्तपति तेजसा भ्राजसा च। यमन्तः समुद्रे कवयो वयन्ति तदक्षरे परमे प्रजाः।।'

यस्मिन्नव्यक्तरूपेऽस्मिन्नुत्कृष्टे जगदीश्वरे। कालत्रयेऽवतिष्ठन्ते प्रजाः सर्वाश्चराचराः।।३९५
यस्माज्जातो जगद्योनिर्ब्रह्मा लोकपितामहः। अप्प्रधानैर्महाभूतैः ससर्ज निखिलाः प्रजाः।।
भूमौ ब्रह्माण्डरूपायां व्रीह्याद्योषधिरूपतः।।३९६
पुरुषांश्च पशूंस्तद्वद् यो विशत्यत्र सर्वदा। चराचराणि भूतानि तथा नानाविधात्मना।।३९७
अतः परं न किंचित् स्यात् सूक्ष्मं ब्रह्मात्मरूपतः। अणोरणीय एतत् स्यान्महीयो महतोऽपि च।।
परात्परमिदं ब्रह्म ह्येवमव्यक्तरूपकम्।।३९८
अनन्तं भेदशून्यत्वात् पुराणं विश्वरूपभृत्। परस्तात् तमसो मायातत्कार्याच्च सदैव यः।।३९९
व्यापारो मानसस्तत् स्याच्छास्त्रीयः कायिकोऽपि वा। ऋतसत्याभिधो योऽयं फलं यच्छति देहिनाम्।।४००

यस्मिन्नेतस्मिन्नीश्वरेऽव्यक्तत्वात् सर्वविशेषशून्यत्वरूपात् तथा सर्वोत्कृष्टत्वाद् अक्षरत्वेन श्रुत्यन्तरप्रसिद्धे सर्वाः प्रजाः सदा तिष्ठन्ति इत्याह—यस्मिन्निति।।३९५।।

यस्मादिति।[1] यस्माद् ईश्वराद् उत्पन्नो जगद्योनिः जगत्प्रसवाङ्कुरभूतो हिरण्यगर्भः तोयपदोक्तजल-प्रधानपञ्चभूतैः सर्वाः प्रजाः ससर्ज तत्र भूमिलोके पुरुषादिरूपाः प्रजाः ससर्ज। एवं सृष्ट्वा चराचरशरीरेषु नाना-विधरूपेण विज्ञानशक्तिप्रमुखेन प्रविशतीति द्वयोरर्थः।।३९६-७।। अत इति। अत ईश्वराद् अद्वितीयात्मलक्षणात् परं सूक्ष्मं दुर्लक्ष्यं किञ्चिन्न अस्ति। तत्र हेतुतयाऽणीयस्त्वादिकमाह—[2] अणोरित्यादिना।।३९८।। अनन्तमिति। यदेतद् ब्रह्म अद्वितीयत्वाद् अनन्तं विश्वकारणत्वात् पुराणं सविलासमायालक्षणात् तमसः परं च प्रसिद्धं वेदान्तेष्वित्यर्थः।।३९९।।

द्वितीयकण्डिकार्थमाह[3]—व्यापार इति दशभिः। योऽयं मानसः शास्त्रीयो व्यापारः स ऋतसंज्ञः, कायिकः तु सत्यसंज्ञः अवश्यभाविफलकत्वात्। स द्विविधो व्यापारः तत् स्यात्। 'तत्' किम् ? यत् कवीनां सूत्रवद्

कोई उल्लेख नहीं। वास्तविक कविजन वे ही हैं जो मन-वाणी से परे महेश्वर का ही वर्णन करते हैं, उसके वर्णन में जगत् का उल्लेख इसीलिये करते हैं कि वही जगत् से एकता प्रदर्शित कर रहा है।।३९३-४।। सारी चराचर प्रजाएँ तीनों कालों में इस जगदीश्वर में ही रहती हैं जो अव्यक्त रूप वाला होने से अर्थात् सब विशेषों से रहित होने के कारण एवं सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट होने से अक्षर कहा जाता है।।३९५।।

जगत्प्रसव का अंकुर, लोकों का पितामह हिरण्यगर्भ ब्रह्मा उस ईश्वर से ही उत्पन्न होकर जलप्रधान महाभूतों से निखिल प्रजाओं की सृष्टि करता है। ब्रह्माण्डरूप भूमि पर वह ओषधिरूप वाले जौ-चावल आदि को, पुरुष, पशु आदि सभी प्राणिनिकायों को उत्पन्न करता है और विज्ञानशक्ति जिनमें प्रमुख है ऐसे अनेक तरह के रूप से वह चराचर शरीरों में प्रवेश किये रहता है।।३९६-७।। अद्वितीय आत्मस्वरूप इस ईश्वर से परे कोई सूक्ष्म तत्त्व नहीं है। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा यही है। विविध हुआ प्रतीत होने वाला कोई रूप जिसका वास्तविक स्वरूप नहीं है वह ब्रह्म ही उस सबसे परे है जिस किसीको लोक में परम समझा जा सकता है।।३९८।। भेदरहित होने से अंतहीन, हमेशा ही नवीन, सब रूपों को आधार देने वाला, माया-मायिकरूप तम से हमेशा परे वही परमात्मा है।।३९९।।

१. 'यतः प्रसूता जगतः प्रसूती तोयेन जीवान् व्यचसर्ज भूम्याम्। यदोषधीभिः पुरुषान् पशूंश्च विवेश भूतानि चराचराणि।।'
२. 'अतः परं नान्यदणीयसं हि परात्परं यन्महतो महान्तम्। यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात्।।'
३. 'तदेवर्तं तदु सत्यमाहुः तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्। इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः।। तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रममृतं तद् ब्रह्म तदापः स प्रजापतिः।।'

कवीनां सूत्रभूतं च ब्रह्म यद्धि वयन्ति ते। इष्टं पूर्तं च तत् प्राहुर्बहुधा विश्वरूपकम्।।४०१

जातं च जायमानं च विश्वं यस्मिन् प्रतिष्ठितम्। नाभिः संसारचक्रस्य ब्रह्मविद्भिर्यदीरितम्।।४०२

अग्निस्तदेव तद्वायुः तत्सूर्यस्तच्च चन्द्रमाः। तदेव दीप्तममृतं तदापः स प्रजापतिः।।४०३

निमेषा जज्ञिरे तस्माद् ब्रह्मणः सर्वरूपिणः। स्वभानात् पुरुषात् सर्वे ह्याधिक्येन सहस्रधा।।४०४

कलाः काष्ठा मुहूर्ताश्च ह्यहोरात्राश्च सर्वशः। अर्धमासास्तथा मासा ऋतुभिः सह वत्सराः।।४०५

अपस्तथा त्रिलोकीं च सृष्ट्वा स दुदुहे पुमान्। नानाभोगस्वरूपं तत् पयो नः सुखरूपकम्।।४०६

वानीयत्वेनोक्तमित्यर्थः। तथा तदेव इष्टापूर्तरूपमाहुः। जगदभ्युदयबीजभूतं कर्माऽपि ब्रह्मणो विभूतिरिति यावदिति।।४००-१।। जातमिति। तथाऽतीतादिरूपजगतः प्रतिष्ठाऽऽश्रयत्वात् संसारचक्रनाभित्वेन यदुक्तं ब्रह्म तदेव अग्न्यादिरूपम् इति सम्बन्धः। तत्र दीप्तं स्वप्रकाशचिद्रूपम् अमृतं मोक्षः आपः सूक्ष्मभूतानि प्रजापतिर्विराड्। इति द्वयोरर्थः।।४०२-३।।

एतस्मादेव निमेषादिरूपकालावयवोत्पत्तिरित्याह[1]—निमेषा इति द्वाभ्याम्। स्वभानात् स्वप्रकाशतालक्षणविशिष्ट-द्योतनशालिनः। कलादिस्वरूपं कोशतः प्रसिद्धम्।।४०४-५।। अप इति। एवं सृष्ट्वा स देवः अपः पञ्च भूतानि तन्मयीं त्रिलोकीं च धेनुवद् अदुहत्, तद्दोहनलब्धं दुग्धं तु इदमेव यद् नानाविधभोगस्वरूपमित्यर्थः।।४०६।।

शास्त्रानुसारी मनःक्रिया का नाम ऋत और वैसी देहक्रिया का नाम सत्य है क्योंकि ये क्रियाएँ प्राणियों को फल अवश्य देती हैं। ये क्रियाएँ वह ब्रह्म ही हैं जो उस सूत्र का रूप लिये हैं जिसे कवि बिनते हैं। बहुत तरह से सब रूप धारण किया वह ब्रह्म ही इष्ट और पूर्त भी है। (इष्ट अर्थात् यज्ञादि और पूर्त अर्थात् लोकहित के कार्य। तात्पर्य है कि जगत् की उन्नति का बीज जो कर्म वह ब्रह्म की ही विभूति है।)।।४००-१।। उत्पन्न हो चुका और उत्पन्न होता हुआ विश्व उसी में प्रतिष्ठित है जिसे ब्रह्मवेत्ता संसारचक्र की नाभि कहते हैं। अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र, सूक्ष्म महाभूत, समष्टि स्थूल भूत, स्वप्रकाश चिद्रूप मोक्ष—यह सब वह परमात्मा ही है।।४०२-३।।

सर्वरूप स्वप्रकाश द्युति वाले ब्रह्म पुरुष से ही निमेष आदि हज़ारों तरह बढ़ते माप वाले कालावयव उत्पन्न हुए। काष्ठा (लगभग २ सेकेंड), कला (३० काष्ठा अर्थात् एक मिनट), मुहूर्त (४८ मिनट), अहोरात्र (लगभग २४ घंटे), आधे महीने, महीने, ऋतुएँ, संवत्सर आदि सभी तरह का समय इसी परमात्मा से उत्पन्न हुआ। (अन्यत्र स्पष्ट किया है : १८ निमेष = १ काष्ठा; ३० काष्ठा = १ कला; ३० कला = १ क्षण; १२ क्षण=१ मुहूर्त; ३० मुहूर्त = १ अहोरात्र। अतः ४ मिनट का एक क्षण, ८ सेकेण्ड की १ कला, ८/३० सेकेंड की १ काष्ठा और ८/५४० सेकेंड का १ निमेष हुआ। बृहदारण्यक में 'तद्यद्रेत आसीत्स संवत्सरोऽभवत्, न ह पुरा ततः संवत्सर आस' (१.२.४) से स्पष्ट किया है कि हिरण्यगर्भ के बाद और विराट् से पूर्व काल की सृष्टि है। वह पूर्णकाल की सृष्टि है। खण्डकाल अर्थात् उपाधि द्वारा सीमित काल विराट् के बाद पैदा होता है क्योंकि खण्ड-उपाधियाँ तभी उपलब्ध हैं। लाघवानुरोध से यद्यपि काल को मायात्मसंबन्धमात्र स्वीकार लेते हैं तथापि शास्त्र जैसे व्यवहारप्रसिद्ध आकाशादि का जन्म बताता है वैसे ही काल का भी अतः प्रतीतिसाक्षिक काल-पदार्थ मान्य ही है। हिरण्यगर्भ से अनन्तर उत्पन्न होने से ऐश्वरसृष्टि पर ही विशेष ध्यान देने वाले चिंतक काल को 'अप्रामाणिक' मानकर सृष्टिप्रक्रिया में उसे नहीं बताया है ऐसा कह देते हैं। द्रव्यादि पारिभाषिक पदार्थों के अनुसार वर्णन तो आकाशादि का भी वेदान्तियों को स्वीकार नहीं। व्यवहारसिद्ध एवं शास्त्रोक्त काल के जन्मादि तथा उसे एक सस्वरूप पदार्थ मानना उचित है। इसी तरह कुछ विद्वान् महाकाल में कोई प्रमाण

१. 'सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि। कला मुहूर्ताः काष्ठाश्चाऽहोरात्राश्च सर्वशः।। अर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरश्च कल्पताम्। स आपः प्रदुघे उभे इमे अन्तरिक्षमथो सुवः।।'

नैनमूर्ध्वं न तिर्यक्च न मध्येऽपि च कश्चन। पर्यग्रहीद् न तस्येष्टे कोऽपि तस्य महात्मनः।।४०७
महद् यशोऽत्र नाम स्याद् अदृश्यात्मस्वरूपिणः। चक्षुषा कोऽपि नात्मानं पश्यत्यत्र कदाचन।।
हीनो रूपादिभिर्यस्माद् इन्द्रियैश्च न गम्यते।।४०८
हृदयस्थेन बोधेन नियन्त्रा मनसोऽपि च। गम्यं ये विदुरात्मानं ते भवन्त्यमृता अपि।।४०९

आदित्ये ब्रह्म

अयमेव पुरा देवो जातोऽद्भ्यो ब्रह्मगोलके। पृथिवीरसतश्चाऽपि लोकेऽस्मिन् समवर्तत।।४१०

अस्याऽविषयस्वभावतामाह[1]—नैनमिति। द्वितीयस्य तस्यपदस्य उत्तरेणान्वयः। एनं देवं जगत ऊर्ध्वादिदेशेऽन्विच्छन् कोऽपि न गृहीतवान्। अत एवाऽस्य ईशो नियन्ताऽपि कोऽपि नास्तीत्यर्थः।।४०७।। महदिति। तस्यात्मत्वेन निरतिशयप्रेमास्पदत्वसूचकं नाम महद्यश इत्याकारमुक्तम्। तथाऽयं रूपादिहीनत्वाच्चक्षुराद्यगोचर इत्यर्थः।।४०८।। कथमस्योपलब्धिरिति चेद्? न, कल्पनया तदाकारबुद्धयेत्याह—हृदयस्थेनेति। हृदि एकात्मतां गतेन बोधेन बुद्धिरूपेण मनसः सविकल्पकस्य निरोधकेन गम्यम् इमं देवं ये जानन्ति ते मुक्ता भवन्ति इत्यर्थः।।४०९।।

अत्रोपनिषदि व्याख्यातमन्त्रानन्तरम् 'अद्भ्यः सम्भूत' इत्यादय उत्तरे मन्त्राः षट्, तथा 'हिरण्यगर्भ' इत्यादयोऽष्टौ च मन्त्राः पाठ्या[2] इत्युक्तम्। तत्र अद्भ्य[3] इत्यादीनामर्थमाह—अयमेवेति अष्टाविंशतिश्लोकैः। आदित्यमण्डलान्तर्वर्तित्वेन ब्रह्मस्वरूपमत्र प्रस्तूयते। तथा हि—यो देवोऽद्भ्योऽप्रधानसूक्ष्मभूतेभ्यः पृथिव्युपलक्षितस्थूलभूतानां यो रसः पूर्वानुष्ठितोपासनाप्रभावेण शोभनः परिणामः तस्माच्च, तथा विश्वं कर्म कार्यं यस्य तथाभूतात् परस्माद् ब्रह्मणः जगत्पटसूत्रभूतात् कालात्मकाद् यो देवो हिरण्यगर्भवैश्वानरादिसंज्ञः

नहीं ऐसा मानते हैं, वह भी नित्यादि पारिभाषिक काल के बारे में समझना चाहिये। अन्य समष्टि-व्यष्टियों की तरह समष्टिकालरूप महाकाल—जिसे श्रुति संवत्सर नाम से कहती है—को मान्यता देना बहुत-से शास्त्रीय, श्रौत-पौराणिकादि, सन्दर्भों के लिये उचित जान पड़ता है।)।।४०४-५।। इस प्रकार सृष्टि कर उस पुरुष देव ने पाँचों भूतों का एवं उनसे निर्मित त्रिलोकी का वैसे ही दोहन किया जैसे गाय दुही जाती है और नाना प्रकार का भोगात्मक सुखरूप दूध हमारे लिये उपलब्ध कराया।।४०६।।

कोई भी ऊपर, अगल-बगल, बीच कहीं से भी इस देव का ग्रहण नहीं कर पाता। उस महान् आत्मा का कोई नियन्ता संभव नहीं।।४०७।। प्रत्यग्रूप अविषय आत्मा का शास्त्रप्रसिद्ध नाम है 'महद् यश' (जिसकी कीर्ति सर्वाधिक है)। संसार में कोई कभी आत्मा को आँखों से देख नहीं सकता। रूपादि ऐंद्रिय विशेषताओं वाला नहीं इसलिये किसी इंद्रिय का वह विषय होता नहीं।।४०८।। मन को भी नियन्त्रित करने वाला जो हृदय में एकाग्र हुआ बोध है उसके द्वारा जो इस आत्मदेव को जानते हैं वे ही अमृत हो जाते हैं। (सविकल्पक मन को निर्विकल्पक बुद्धि में लीन कर बुद्धि को हृदय में एकाग्र करने से प्रत्यग्रूप भास जाता है।)।।४०९।।

आदित्यमण्डल (सूर्यबिम्ब) के अंदर वर्तमान ब्रह्म का स्वरूप उपासना एवं श्रेष्ठ उपाधि में समाहित होकर विचारपूर्वक तत्त्व समझने के लिये बताते हैं : सृष्टि के प्रारंभिक काल में यही देव ब्रह्माण्ड-गोल में प्रथम शरीरधारी

१. 'नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्। न तस्येशे कश्चन यस्य नाम महद्यशः।। न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति।'

२. 'अद्भ्यः सम्भूतो, हिरण्यगर्भ इत्यष्टौ'—इति प्रथमखण्डसमाप्तावुक्तम्। तस्यार्थ एव 'अत्रोपनिषदि' इत्यादिटीकावाक्येनोक्तम्। एते मन्त्रास्तैत्तिरीयसंहितायां पूर्वं पठिता इति नोपनिषदि कथिता उद्धरणरूपेणैव दर्शिताः।

३. 'अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे। तस्य त्वष्टा विदधद् रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे।।'

ब्रह्मणः सूत्रतो नित्यात् परस्माद् विश्वकर्मणः। अधिकः सर्वजगतः शारीरः प्रथमो हि यः।।४११

त्वष्टाऽत्र जगतो धाता तस्य रूपं विनिर्ममे। विश्वरूपं पुमानेति यं नित्यं स्वात्मबोधनात्।।४१२

स्वभावसिद्धं रूपं तदग्रे यत् पुरुषस्य हि। अभूदनन्तमगुणमस्मात् पुरुषजन्मनः।।४१३

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं सूर्यवर्चसम्। परस्तात् तमसो ज्योतिरानन्दात्मस्वयंप्रभम्।।४१४

जानन्नेवं तमात्मानम् अहं ब्रह्मेति निश्चितम्। अस्मिन् देहे मृतो भूत्वा ब्रह्म सन् ब्रह्म याति सः।
ब्रह्म प्राप्त्यै न मार्गोऽन्यो विद्यते ब्रह्मबोधनात्।।४१५

अयं प्रजापतिर्भूत्वा चरत्यन्तः शरीरिणाम्। गर्भे शिशुर्यथा मातुर्बहुधाऽत्र विजायते।।४१६

सर्वजगतो व्यष्टिरूपात् समष्टित्वेन अधिक उत्पन्नः अस्मिन् लोके व्यष्टिजनसमुदाये समवर्तत; कीदृशः ? प्रथमः शारीरः 'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माऽग्रे समवर्तत।।' (वायु. १.४.६६) इति स्मृतेः। तस्य प्रथमशारीरस्य रूपं विश्वरूपं सर्वप्रपञ्चमयम् अयमेव देवो नारायणाख्यस्त्वष्टा आदित्यमण्डलान्तस्थः सन् जगतो धारकः विनिर्ममे सत्ताभानादिविशिष्टं कृतवान् इत्यर्थः। अयं कः ? यम् एनं ब्रह्मविद्यया पुमान् अधिकारी लभते। इति त्रयाणां योजना।।४१०-१२।। आदित्यमण्डलान्तस्थो नारायण एव पुरुषस्य नानाविधौपाधिकविशेषान् गतस्याऽपि पारमार्थिकं स्वरूपमित्याह—स्वभावेति। अस्य पुरुषस्य प्रथमशारीरादिसंज्ञस्य तद् एव नारायणतत्त्वं स्वभावसिद्धम् आजानसिद्धं पारमार्थिकमिति यावत्, तादृशं रूपम्। तत् किम् ? यत् सृष्टेः पूर्वम् अनन्तत्वनिर्गुणत्वचिद्घनत्वादिभिर्लक्षितम् इत्यर्थः।।४१३।।

तस्मिन् रूपेऽसत्त्वशङ्कां मन्त्रद्रष्टा ऋषिः स्वानुभवविरोधेन निरस्यति—वेदाहमिति।[1] तादृशं नारायणरूपं मायालक्षणतमसः परं यज्ज्योतिरानन्दात्मकं स्वयंप्रकाशं च तल्लक्षणं ममाऽपरोक्षम् इत्यर्थः।।४१४।। अन्योऽपि यो मद्वदेनं पुरुषम् 'अहं ब्रह्म' इत्येवं वेद सोऽस्मिन् देहे सत्येव ब्रह्म सन् मृतः केवलं ब्रह्म याति यतोऽयं पुरुषो ज्ञानैकलभ्य इत्याह—जानन्नेवमिति। तम् आदित्यान्तःस्थम्।।४१५।।

अस्य ज्ञानविधां स्फुटयंस्तत्र त्वंपदार्थशोधनमाह[2]—अयमिति द्वाभ्याम्। अयम् आदित्यान्तःस्थः परः पुरुषः प्रजापतिरूपेण सर्वशरीरिणाम् अन्तः स्थित्वा नानाविधसृष्टिं कुर्वंश्चरति। कीदृशः ? अजायमान उपाधि-

के रूप में पैदा हुआ। जल जिनमें प्रधान है उन सूक्ष्म महाभूतों से इसका शरीर बना। पूर्व कल्प में अनुष्ठित उपासना के प्रभाव से हुआ शुभ परिणाम, जिसे पृथ्वी आदि स्थूल भूतों का रस भी कहते हैं, भी उसके शरीर में निमित्त बना। सारा संसार जिसका कार्य है, जगद्रूप वस्त्र का जो मानो धागा है, नित्य परम ब्रह्म है, वह तो इस प्रथम शरीरी का मूल कारण था ही। पैदा हुआ देव हिरण्यगर्भ, वैश्वानर आदि कहलाया। वह समष्ट्यात्मक होने से व्यष्टिरूप सारे जगत् से 'अधिक' अर्थात् श्रेष्ठ ही है। इस लोक में अर्थात् व्यष्टिरूप जनसमुदाय की अपेक्षा वही पहला शरीरधारी था। उसके सर्वप्रपंचात्मक रूप का निर्माण जगत् के विधारक त्वष्टा ने (आदित्यमंडल में स्थित नारायण ने) किया था जिस नित्य त्वष्टा को निज आत्मा समझने से अधिकारी पुरुष प्राप्त कर लेते हैं। 'निर्माण किया' अर्थात् सत्ता, भान आदि से अन्वित किया।।४१०-२।। इस आदिपुरुष की उत्पत्ति से पूर्व जो अनंत, अगुण, स्वाभाविक चिद्घन रूप था वही नारायणतत्त्व इस प्रथम शरीरी का पारमार्थिक स्वरूप है। (उपाधिप्रयुक्त विशेषों वाला होने पर भी चैतन्य परमार्थतः निर्विशेष रहता है।)।।४१३।।

मायारूप अँधेरे से परे जो स्वप्रभ आनंदरूप महान् पूर्ण ज्योति है इसे मैं (मन्त्रद्रष्टा ऋषि) अपरोक्ष जान रहा हूँ।।४१४।। आदित्य में स्थित परमात्मा को 'मैं ब्रह्म हूँ' यों निश्चित जानते हुए अधिकारी ब्रह्म हो जाता है। वह इस शरीर में रहे या मर जाये, बना हमेशा ब्रह्म ही रहता है। ब्रह्मज्ञान छोड़कर ब्रह्मप्राप्ति का कोई और रास्ता नहीं है।।४१५।।

---

१. 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वा अति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।'

२. 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः। अजायमानो बहुधा विजायते। तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्। मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः।।'

अजायमानस्तस्याऽस्य धीरा जानन्ति कारणम्। मरीचीनां हि सूर्यादिर्यदि वेच्छन्ति वेधसः।
आनन्दात्मस्वरूपं यत् कारणं तद् न चाऽपरम्।।४१७

वह्निवागादि देवाऽर्थं य आतपति सर्वदा। पुरोहितश्च देवानाम् अभूद्यश्च बृहस्पतिः।।४१८

देवेभ्यश्च पुरा जातो नमस्तस्मै महात्मने। तेजसे ब्रह्मणे शुद्धस्वप्रकाशस्वरूपिणे।।४१९

आनन्दात्मस्वरूपाय मह्यं कुर्वन्तु वर्णिनः। एवमेषामिदं ज्ञानं बहुधा यत् समीरितम्।।
भविष्यति सुराः पापप्रक्षयाच्छुद्धचेतसाम्।।४२०

जन्मसत्त्वेऽपि वस्तुतो जन्मरहितः। तस्याऽस्य प्रजापत्याख्यस्य मायाशबलरूपस्य कारणम् अधिष्ठानं शुद्धं रूपं धीराः कुशला लक्षयन्ति। कथम्? यदि वा यथा सूर्यादिः मरीचीनां कारणं सूर्यमण्डलादिकम् इच्छन्ति, न हि अकारणका मरीचयः संभवन्ति। तथा वेधसः प्रजापत्याख्यस्य कारणं शुद्धं सर्वान्तरं वस्तु एव अवगच्छन्ति। इति द्वयोरर्थः।।४१६-७।।

तत्पदार्थं शोधयंस्तदाराधनस्य चित्तशुद्धिहेतोर्विधामप्याह[1]—वह्नीत्यादिना। वह्नीत्यादयो देवाः समष्टिगताः प्रसिद्धाः। वाक्पाण्यादयस्त्वाध्यात्मिकाः। तेषां सर्वेषामुपकाराय य आदित्यमण्डलान्तःस्थ आ समन्तात् तपति विद्योतते, यस्य च विभूतिः देवपुरोहितो बृहस्पतिः इत्यर्थः।।४१८।। देवेभ्यश्चेति। यश्च विभूतिभूतेभ्यः सर्वदेवेभ्यः पूर्वं जगत्प्राणात्मकादित्यरूपेण प्रादुर्भूतस्तस्मै देवाय स्वप्रकाशचैतन्यज्योतिषा रोचमानाय ब्रह्मरूपाय नमः प्रह्वीभावोऽस्त्वित्यर्थः। श्रुतौ ब्रह्मशब्दाद् अपत्यार्थक इञ्प्रत्यय आदित्यमण्डलप्राधान्याभिप्रायेण इति बोध्यम्।।४१६।। तेन परमेश्वरेणाऽयं वरो देवेभ्यो दत्त इत्याह—आनन्दात्मेति। हे सुराः! आनन्दरूपं मामादित्यरूपं प्रीणयितुं वर्णिनः अधिकारिणः नमस्कारं कुर्वन्तु। एवं विज्ञाय नमस्कारेण क्षीणपापानां ज्ञानलाभो भविष्यति

आदित्य के मध्य मौजूद यह परम पुरुष प्रजापति बनकर शरीरधारियों के भीतर विचरता है। संसार में शिशु जैसे माता के गर्भ में बहुत तरह क्रियावान् होता है फिर जन्म लेता है वैसे जीवों के मन-प्राण रूप से चेष्टाएँ कर फिर जीवों के द्वारा नाना प्रकार की सृष्टि वह परम पुरुष करता रहता है। (समष्टि सूक्ष्म ही जीवों का व्यष्टि सूक्ष्म है और वही समष्टि स्थूल बनता है जो जीवों का व्यष्टिस्थूल है जिससे सारे नाम-रूप-कर्म किये जा रहे हैं।) यों पैदा होता लगने पर भी जन्म केवल उपाधियों का है, वह तो जन्मरहित ही बना रहता है। प्रजापति नामक मायावीरूप का कारण जो शुद्ध अधिष्ठान है उसे कुशलमति साधक ही लक्षित कर पाते हैं। जैसे सूर्यादि की किरणों का कारण सूर्यबिम्बादि ही है, बिना कारण तो किरणें निकल कर आती नहीं, वैसे प्रजापति का कारण वह शुद्ध सर्वान्तर आनंद है। उससे अतिरिक्त कोई उसका कारण नहीं है। (इस प्रकार त्वंपदार्थ के शोधन का ढंग समझाया : व्यष्टि को समष्टि में और उसे अधिष्ठान में विलीन कर जो विलयसाक्षी रहे वही त्वम्पद का सच्चा रूप है।)।।४१६-७।।

ईश्वराराधना मनोनिर्मलताकारी है यह बताते हुए तत्पद का भी शोधन समझाते हैं : वह्नि आदि आधिदैविक और वाक् आदि आध्यात्मिक देवताओं के उपकारार्थ आदित्यस्थित पुरुष सर्वदा हर तरह विद्योतन करता रहता है। देवपुरोहित बृहस्पति भी वही बना है। (अध्यात्म में प्राण को बृहस्पति कहा है। छां. १.२.११, बृ. १.३.२० आदि में यह बताया है।)।।४१८।। देवता उसीकी विभूति हैं। सभी देवताओं से पूर्व वह जगत्का प्राण बनकर प्रकट हुआ था। शुद्ध स्वप्रभ स्वरूप वाले उस तेजस्वी महात्मा ब्रह्म को नमस्कार है।।४१६।। उस परमेश्वर ने देवताओं को यह वर दिया—'हे देवताओ! अधिकारी लोग मुझ आनंदस्वरूप को प्रणाम करें जिससे उनका पाप क्षीण हो जायेगा तो शुद्धमना होने पर उन्हें यह ज्ञान प्रकाश जायेगा जिसे शास्त्रों में तरह-तरह से समझाया है।'।।४२०।। प्राचीन काल में अग्नि आदि

१. 'यो देवेभ्य आ तपति यो देवानां पुरोहितः। पूर्वं यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये।।'

दीप्तिमन्तं महात्मानं ब्रह्मपुत्रं नमस्यया। प्रकटं कृतवन्तस्ते देवा वह्निपुरोगमाः।।४२१
ब्रह्मानन्दात्मरूपं तद् नमसा प्रकटी कृतम्। पुरा कालेऽब्रुवन् देवास्तेन दत्तं वरं प्रति।।४२२
आनन्दात्मस्वरूपाय भवते जगदात्मने। यो नमस्यति तस्य त्वं प्रकटी भव सर्वदा।।४२३
इत्युक्ते तेन दत्तः स वरो ब्रह्मस्वरूपिणा। नमतस्तत एवात्मा प्रत्यक्षोऽत्र प्रजायते।।४२४
य एवं देवतागुह्यं नमस्कारं प्रति द्विजः। विद्यात्तस्य वशे देवा भवन्ति सकला अपि।।४२५
स्तुतिं चेमां प्रकुर्वीत स्वात्मज्ञानप्रसिद्धये। कुर्वाणोऽत्र नमस्कारं ब्रह्मणे परमेष्ठिने।।४२६
श्रीश्च लक्ष्मीश्च ते पत्न्यौ पार्श्वे रात्रिस्तथा दिवा। नक्षत्राणि च ते रूपं व्यात्तमश्विकुमारकौ।।४२७
इष्टं मे कुरु देवेश ह्यमुं सर्वं स्वयम्प्रभम्। आनन्दात्मानमात्मस्थं प्रकटी कुरु ते नमः।।४२८

इत्यर्थः।।४२०।। अयं वरः कदा दत्तः? इत्याकाङ्क्षायाम्; यदा देवैः प्रार्थितं तदेति दर्शयन् 'रुचम्'[1] इत्यादेरर्धस्याऽर्थमाह—दीप्तिमन्तमिति चतुर्भिः। पूर्वं देवा ब्रह्मपुत्रेण रोचमानेन चादित्येन तादात्म्यापन्नं भगवन्तं नमस्कारेण प्रादुर्भूतं कृतवन्तः, तं च प्रकटी कृतं देवम् इत्थम् अब्रुवन् प्रार्थितवन्तः तेन दत्तं वरं प्रति अभिलक्ष्य वरकामनयेति यावत्। इति द्वयोरर्थः।।४२१-२।। देवप्रार्थनामभिनयति—आनन्दात्मेति। जगदात्मने सकलजगदात्मकविग्रहाय नमस्यति नमस्करोति।।४२३।। इत्युक्त इति। इत्थं देवैः प्रार्थिते सति भगवता स उक्तरूपो वरो दत्तः ततो वरप्रभावाद् नमतो नतिं कुर्वतोऽधिकारिणो ब्रह्मात्मज्ञानं भवति इत्यर्थः।।४२४।। उत्तरार्द्धार्थमाह—य एवमिति। नमस्कारविषयकं देवतानां गुह्यं गोप्यं वरप्रदानात्मकं व्यवहारं यो जानाति तस्य विदुषो वशे सर्वे देवा भवन्ति इत्यर्थः।।४२५।।

पञ्चमार्थमाह[2]—स्तुतिमिति द्वाभ्याम्। नमस्कारं कुर्वन् सन्निमां स्तुतिं कुर्वीत। 'इमां' काम् ? अत आह—श्रीश्चेति। श्रीः ऐश्वर्याभिमानिनी देवता, लक्ष्मीः सौन्दर्याभिमानिनी देवता, एते द्वे तव पत्नीभूते वश्ये इति यावत्; दिनं रात्रिश्च एतौ कालौ सहाऽवच्छिन्नैः भावैः तव पार्श्वस्थानीयौ; नक्षत्राणि तारागणा दीप्तिलक्षणं तव रूपं धारयन्ति; तथा अश्विकुमारकौ—सादृश्ये कन्—अश्विकुमारवत् द्वन्द्वत्वेन वर्तमानौ द्यावापृथिव्यौ, ते व्यात्तं प्रसृतमुखस्थानीयौ। इति द्वयोरर्थः।।४२६-७।। वरप्रार्थनात्मकस्य षष्ठस्याऽर्थमाह—इष्टमिति। हे देवेश ! मदीयम् इष्टं कुर्वन्नमुं स्वयम्प्रकाशात्मरूपं लोकं प्रकटी कुरु, तुभ्यं नमः अस्त्वित्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्—नमस्कारस्य त्वम्पदार्थाऽर्पणरूपत्वे महावाक्यार्थलाभ इति।।४२८।।

देवताओं ने ब्रह्मतनय दीप्तिमान् महात्मा आदित्य को नमस्कार से प्रसन्नकर प्रकट किया और ब्रह्मानंदरूप उनसे प्रार्थना की, 'आनंदस्वरूप, आत्मस्वरूप, जगद्रूप विग्रह वाले आपको जो नमस्कार करे आप हमेशा उसके लिये प्रकट हो जाने की कृपा करें।' यों वर माँगा जाने पर ब्रह्मरूप उन आदित्यदेव ने पूर्वोक्त वर प्रदान किया था। इसलिये जो अधिकारी ईश्वर को प्रणाम करता है उसे तत्काल आत्मा प्रत्यक्ष हो जाता है।।४२१-४।। आदित्यपुरुष को प्रसन्नकर नमस्कार को सशक्त बनाना देवताओं की गुप्त उपलब्धि है। जो द्विज इस रहस्य का जानकार है, सकल देवता उसके वश में आ जाते हैं।।४२५।।

स्वात्मा का विज्ञान प्रस्फुट करने के लिये परमेष्ठी ब्रह्मा को नमस्कार करते हुए यह स्तुति करनी चाहिये :।।४२६।। ऐश्वर्य व सौंदर्य की अधिष्ठत्री श्री व लक्ष्मी आपकी पत्नियाँ हैं। अपने द्वारा सीमित किये सब पदार्थों समेत दिन और रात आपके पसवाड़े हैं। नक्षत्र-तारे आपके दीप्तिस्वरूप का धारण किये हैं। अश्विनिकुमारों की तरह जोड़े में रहने वाले द्यु-पृथ्वी लोक आपका खुला मुँह है।।४२७।।

१. 'रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्। यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन् वशे।।'
२. श्रीश्च (ह्रीश्च) ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनो व्यात्तम्। इष्टं मनिषाण अमुं मनिषाण सर्वं मनिषाण।।'

हिरण्यगर्भस्यान्तर्यामि

हिरण्यगर्भो भगवान् अग्रे यः समवर्तत। भूतस्य पतिरेकश्च जात आसीन्महेश्वरः।।४२९
त्रिलोकीं धृतवानादौ महास्तम्भो यथा गृहम्। तस्मै देवाय हविषा स्ववर्णाश्रमजेन हि।।
परिचर्यां वयं कुर्म एकस्मै ज्ञानहेतवे।।४३०
प्राणतो जगतो यश्च व्यापारमपि कुर्वतः। इन्द्रियैर्ज्ञानकर्माख्यैः राजाऽभूद् महिमान्वितः।।
इत्थमाश्चर्यरूपः सन् यश्चेष्टे द्विचतुष्पदाम्।।४३१
आत्मानं यश्च जन्तूनां ददाति स्वात्मबोधतः। बलं च वपुषि स्थित्वा यं च विश्व उपासते।।४३२
यस्य शिष्या इमे देवाः प्राप्ताश्च यत आशिषः। छायावद् यस्य वर्तेते मोक्षमृत्यू च किङ्करौ।।४३३

एवं वैश्वानरान्तर्यामित्वेन नारायणरूपं दर्शितम्। अथ हिरण्यगर्भान्तर्यामित्वेन तत्प्रतिपादकानां 'हिरण्यगर्भ' इत्यादीनामर्थमाह—हिरण्यगर्भ[1] इत्याद्येकविंशतिश्लोकैः। यो हिरण्यगर्भः पूर्वं प्रादुर्भूय सकलस्य भूतस्य कार्यवर्गस्य एको महेश्वर आसीत्, त्रिलोकीरूपं गृहं स्तम्भवद् धृतवांश्च तस्मै हिरण्यगर्भरूपाय एकस्मै देवाय तं प्रीणयितुं स्ववर्णाश्रमानुरूपेण हविषा परिचर्यां कुर्मः। इति द्वयोरर्थः। श्रुतौ 'कस्मै' इत्यतः पूर्वम् एकारलोप इति भावः।।४२९-३०।। अथ द्वितीयादिमन्त्राणां चतुर्थपादानवगतार्थत्वेन विहाय क्रमेणाऽर्थमाह—प्राणत[2] इत्यादिना। श्रुतौ मिषधातुः ('मिषु सेचने' भ्वादौ, 'मिष स्पर्धायाम्' तुदादौ) चलनार्थकः; इत्-पदम् इत्थम्-इत्यर्थकम्। तथा च—यो देवः प्राणतः प्राणान् धारयतो ज्ञानेन्द्रियादिभिः व्यापारं कुर्वतश्च जगतः चेतनवर्गस्य राजाऽधिपतिरासीत्; यश्च इत्थं सर्वकरणप्रेरकत्वेन अद्भुतरूपो, द्विपदां चतुष्पदां च ईश इत्यर्थः। यत्-पदानां-तमहं शरणं गतः (श्लो. ४४५) इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः।।४३१।।

तृतीयार्थमाह[3]—आत्मानमिति द्वाभ्याम्। यश्च तत्त्वज्ञानेन आत्मानं ददाति बलं च 'आत्मना विन्दते वीर्यम्' (केन. २.४) इति केनश्रुतेः, आत्मलाभेनैव बललाभ इति तदर्थः; तथा यं वपुषि स्थित्वा सर्वे देवादय आराधयन्तीत्यर्थः।।४३२।। प्रशिषं-पदस्य शिष्या इत्यर्थः। अथ वा आशिषम् इत्यर्थः, प्राप्ता इति शेषः। इत्याशयेनाह—यस्येति। स्पष्टम्।।४३३।।

हे देवेश ! मेरा इष्ट संपन्न कीजिए। आप-रूप से स्थित जो स्वप्रभ संपूर्ण प्रत्यग्रूप आनंद अभी मुझे प्रकट नहीं है उसे प्रकट कर दीजिए। आपको नमस्कार है। (याद रखना चाहिये कि पद्मपादाचार्य बता गयें हैं कि त्वंपदार्थ को समर्पित करना ही नमस्कार है। अतः महावाक्य का प्रयोजन प्रणाम से संपन्न हो जाता है।)।।४२८।। यहाँ तक आदित्य अर्थात् वैश्वानर के अंतर्यामीरूप से नारायण का स्वरूप बताया।

अब हिरण्यगर्भ के अंतर्यामी रूप से उसीका वर्णन करते हैं : भगवान् हिरण्यगर्भ सबसे पहले प्रादुर्भूत हुए और समस्त कार्यवर्ग के अकेले मालिक व महान् शासक हुए। मुख्य खम्भा जैसे घर का धारण करता है वैसे त्रिलोकी को उन्हींने धारण कर रखा है। ज्ञान के वे ही इकलौते हेतु हैं। अपने वर्ण व आश्रम के अनुरूप कर्मरूप हवि से हम उन अद्वितीय देव की सेवा करते हैं ताकि वे हमसे प्रसन्न रहें।।४२९-३०।। ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियों से व्यापार करने वाले प्राणधारी जगत् के वे ही महिमामण्डित राजा थे। सब करणों के प्रेरक होने से उनका रूप अद्भुत है। दो पैरों वाले, चार पैरों वाले आदि सबके वे शासक हैं।।४३१।। स्वात्मा के ज्ञान से सब जंतुओं को वे आत्मा प्रदान कर देते हैं और आत्मलाभ कराकर ज्ञानबल से पुष्ट करते हैं। शरीर में रहकर सभी देवता उन्हीं की उपासना करते हैं।।४३२।। ये देव उन्हींके शिष्य हैं, उनसे आशीर्वाद प्राप्त किये हैं। मोक्ष और मृत्यु उन्हीं के आज्ञावर्ती हैं, जैसे छाया अनायास अनुगमन करती है ऐसे मोक्ष-मृत्यु उन महेश्वर के अनुगंता हैं।।४३३।। जगद्विधारक उस विभु की विभूति हिमाचल आदि कहे

१. 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।'
२. 'यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै...।।'
३. 'य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै...।।'

हिमवत्प्रमुखा यस्य गिरयो महिमेरिताः। हिमवत्प्रभृतिभ्यो वा गरीयान् महिमा विभोः। ।४३४

पातालैः सहिता यस्य समुद्रा भूमिसंश्रयाः। महागिरितटाक्रीडातटाकास्ते शिशोरिव। ।
दिशश्च प्रदिशस्तद्वद् यस्य बाहुः प्रकीर्तितः। ।४३५

रक्षणेन च यस्येमे विधृते तिष्ठतः सदा। शोभिते यं सदात्मस्थमैक्षेतां ब्रह्मवित्तमे। ।
मनसा स्वात्मनो रूपं सर्वधर्मविवर्जितम्। ।४३६

आधिक्येन च यत्राऽयमुदितो भगवान् रविः। विविधं याति सततं दिवा रात्रौ च भीतवत्। ।४३७

उग्रा येन च भात्येषा क्षत्रधर्मरता सदा। द्यौरत्रेन्द्रादिरूपेण पृथिवी चातिनिश्चला।
दृढा जले स्थिता नित्यं न निमज्जति नौरिव। ।४३८

स्वर्गलोकस्तथाकाशो येन स्तम्भात्मना धृतः। ब्रह्मलोकश्च पतति नैवाश्रयविवर्जितः। ।४३९

चतुर्थार्थमाह[1]—हिमवदिति द्वाभ्याम्। हिमालयादयो गिरयो यस्य जगद्विधारकस्य महिमा विभूतिरूपाः। अथ वा गिरय इमे परिच्छिन्ना एव, यस्य देवस्य महि महिमा तु आ समन्ताद् व्याप्तः इति श्रुतियोजनाम् उत्तरार्द्धेन सूचयति। गरीयान् अत्यधिकः। ।४३४। । पातालैरिति। तथा यस्य शिशुवद् विहरतः पातालाः समुद्राश्च क्रीडापुष्करिणीस्थानीयाः। कीदृशाः समुद्राः ? महागिरयो हिमवदादयस्तत्टभूता येषां ते तथा। किं च दिशः कोणाश्च यस्य बाहुभूताः। ।४३५। ।

पञ्चमार्थमाह[2]—रक्षणेनेति। तथा श्रुतौ क्रन्दसी-पदोक्ते द्यावापृथिव्यौ यत्कर्तृकरक्षणेन विधृते धारिते स्थिते सत्यौ यं देवं निर्विशेषात्मरूपं मनसा ऐक्षेतां ध्यायतः, 'ध्यायति पृथिवी ध्यायति द्यौः' (छां. ७.६.१) इतिच्छन्दोगश्रुतेः। कीदृश्यौ ? शोभमाने ब्रह्मवित्तमत्वाद् इत्यर्थः। ।४३६। । आधिक्येनेति। तथा यत्र यमाश्रित्य आधिक्येनोदितः प्रसिद्धो रविः विविधं याति भ्रमति सदा यतो भीत इत्यर्थः। ।४३७। ।

षष्ठार्थमाह[3]—उग्रेति त्रिभिः। यद्विभूतिभिः इन्द्रादिभिः वीरैर्युक्तत्वाद् द्यौः स्वर्गलोक उग्रत्वेन प्रसिद्धा; तथा यदनुगृहीता पृथिवी दृढा बलवत्त्वेन प्रसिद्धा नानाभाराक्रान्ताया अपि उत्कृष्टनौवज्जलनिमज्जनविरहाद् इत्यर्थः। ।४३८। । स्वर्गेति। स्वर्गलोकः तदुपलक्षितोऽन्तरिक्षलोको नाकपदोक्तो ब्रह्मलोकश्च—एते येन स्तम्भभूतेन धृता इत्यर्थः। ।४३९। । योऽन्तरिक्ष इति। यो भगवान् अन्तरिक्षे विमानारूढनानाभोगिरूपेण देववधूनामप्सरसां

जाते हैं जबकि उसकी वास्तविक महिमा तो हिमालयादि से भी भारी ही है। ।४३४। । हिमालयादि बड़े-बड़े पहाड़ जिसके तट हैं वे भूमिस्थित पातालसमेत समुद्र उसके लिये मानो खेलने की पोखरी हैं जैसे किसी बच्चे के खेलने के लिये, तैरना आदि सीखने के लिये तरणताल हो। मुख्य व अवान्तर दिशाएँ उसकी भुजाएँ हैं। ।४३५। । वह सदा रक्षा करता है इसीलिये द्यु-पृथ्वीलोक संस्थित हुए मन से उसी निर्विशेष आत्मदेव का ध्यान करते रहते हैं अत एव श्रेष्ठ ब्रह्मोपासक होने से अत्यंत शुभ रूप वाले हैं। ।४३६। । भगवान् सूर्य उसीका आश्रय लेकर सर्वाधिक तेजस्वी हुए उगे हैं और उसी के मानो डर से वे दिन-रात लगातार नाना प्रकार की गति करते रहते हैं। ।४३७। । उसीकी विभूति हैं इन्द्रादि वीर जिनसे शोभित हुआ द्यु अर्थात् स्वर्गलोक 'उग्र' कहलाता है और वहाँ हमेशा क्षत्रियधर्म का पालन किया जाता है। अनंत बोझ से दबी व स्वयं ठोस पृथ्वी हमेशा अत्यंत स्थिर रहकर जल पर तैर रही है, डूबती नहीं मानो कोई नाव हो ! यह उसी महादेव के अनुग्रह का प्रताप है। ।४३८। । मानो खम्भा बनकर उसीने स्वर्ग व आकाश को धारण किया है, निराश्रय ब्रह्मलोक भी उसीके सहारे होने से गिर नहीं पड़ रहा है। ।४३९। ।

१. 'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः। यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै... ।।'
२. ' यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने। यत्राधिसूर उदितो विभाति कस्मै... ।।'
३. 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तम्भितं येन नाकः। यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै... ।।'

योऽन्तरिक्षे रजोजुष्टो भगवान् विषयोत्सुकः। नित्यं देववधूवक्त्रचन्द्रस्थनयनोत्पलः।।
मानहीनश्च सततं देवप्रासादरूपभाक्।।४४०

भूतपञ्चकगर्भिण्यो महत्यो लोकसंश्रयाः। आपोऽविद्यात्मिका देवं यमापुर्विश्वरूपिणम्।।
समुद्रमिव लौकिक्यो दक्षं कुशलरूपिणम्।।४४१

दधानाश्चात्मनो गर्भे जनयन्त्यः समन्ततः। लौकिकं वैदिकं तद्वद् अग्निं सर्वार्थसाधकम्।।४४२

अग्निवागादिदेवानाम् अद्भ्यः प्राणो व्यजायत। ताभिर्विना ततो नायं प्रायस्तिष्ठत्यहर्निशम्।।४४३

एक एव पुमान् यश्च महिम्ना ता व्यलोकयत्। स्वेन सर्वगतेनैव स्वप्रभेणाऽतितेजसा।।४४४

वक्त्रचन्द्रेषु अर्पितानि नयनोत्पलानि यस्य तादृशो भवति इत्यर्थः। अथ वा विमानपदस्य मानहीनत्वमर्थः। तत्र हेतुः—देवेत्यादि। देवानां समष्टिरूपाणां प्रासादभूतं मन्दिरभूतं वैश्वानरसंज्ञं रूपं भजति स तथेति तदर्थः।।४४०।।

सप्तमार्थमाह[1]—भूतेति त्रिभिः। यथा लौकिक्य आपो नद्यादिरूपाः समुद्रमापुः पतित्वेन वृतवत्यः तथा अविद्याऽव्याकृतं प्रकृतिरिति प्रसिद्धा तद्रूपा आपो यं देवं विश्वरूपं सर्वात्मानं पतित्वेन वृतवत्यः; कीदृश्यः ? महत्यः; तत्र हेतुः—पञ्चभूतगर्भकत्वेन सर्वलोकाधारत्वम्। तथा हि पञ्चमे गार्गिब्राह्मणव्याख्याने सर्वलोकाधारत्वम् अव्याकृतस्य आकाशपदोक्तस्योक्तमिति। पतित्वेन वरणे हेतुः—सर्वज्ञत्वलक्षणं दक्षत्वमिति। एतेन तस्य स्वतन्त्रत्वं सूचितम्।।४४१।। दधाना इति। पुनः कीदृश्यस्ता अविद्यात्मिका आपः ? अग्निं विराडात्मकं वैदिकं, वह्न्यादिरूपं लौकिकं च बीजरूपेण गर्भे दधाना धारयन्त्यो जनयन्त्यः चेत्यर्थः।।४४२।। अग्नीति। न केवलमग्निरेव ताभ्य उत्पन्नः किन्तु सर्वेषाम् आध्यात्मिकाधिदैविकदेवानां विधारकः, प्राणोऽपि। ततः तत्कार्यत्वादेव प्राणस्य अद्भिः विना व्याकुलत्वमपि उपपद्यत इत्यर्थः। तथा च श्रुत्यन्तरम् 'आपोमयः प्राण' इति (छां. ६.५.४)।।४४३।।

अष्टमार्थमाह[2]—एक एवेति। यो देवः ता उक्तलक्षणा अपः स्वयम्प्रकाशचैतन्यलक्षणातिशयिततेजसा व्यलोकयत्, न हीश्वरं विना नानासंस्कारसम्भृतस्य अव्याकृतस्य दर्शने कस्याऽपि शक्तिरिति भावः।।४४४।।

वही अंतरिक्ष में विमानों पर चढ़े भोगपरायणों का रूप लेकर अपने नयनकमल अप्सराओं के मुखचंद्रों पर अर्पित करता रहता है। समष्टि देवताओं की आधारभूमि अर्थात् वैश्वानर का रूप धारे वही सब मापों से परे है। (समष्टि भी जिसमें आधृत हैं वह मापा जा सके ऐसा असंभव है।)।४४०।।

पाँचों महाभूत अपने गर्भ में धारण करने वाली अतः सभी लोकों की आश्रय महान् नदी-सी हैं—अविद्या, अव्याकृत और प्रकृति जिन्होंने कुशल रूप वाले सर्वात्मा सर्वज्ञ देव का वरण कर रखा है जैसे लोकप्रसिद्ध नदियों ने समुद्र का वरण किया हुआ है।।४४१।। सभी प्रयोजन साधने वाली लौकिक आग और विराट्-रूप वैदिक अग्नि को वे अविद्यात्मक नदियाँ अपने गर्भ में बीजरूप से धारण कर उत्पन्न करती हैं।।४४२।। केवल उक्त अग्नि ही नहीं, अग्नि-वाक् आदि अधिदैविक-आध्यात्मिक सभी देवताओं का विधारक प्राण भी उन्हीं नदियों से पैदा हुआ है। यों जलकार्य होने से ही दिन हो या रात, प्राण पानी के बिना लगभग रह नहीं पाता, व्याकुल हो जाता है।।४४३।। (अविद्या-अव्याकृत-प्रकृति से कारण-सूक्ष्म-स्थूल आकारों वाला अज्ञान कहा गया है। वस्तुतस्तु श्रुति में अप्-पद का प्रयोग है जो शब्द नियमतः बहुवचनांत प्रयोग में आता है, तदनुसार अज्ञान के तीनों स्तर समझ सकते हैं। तात्पर्य तो अज्ञान से ही है। अज्ञान ने परमात्मा का वरण किया है लेकिन परमात्मा कुशल सर्वज्ञ है अतः अज्ञान को अपने पर विलास करने देने में उसका

---

१. 'आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्। ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै...।।'

२. 'यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्। यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै...।।'

सर्वात्मकश्च यो देवो देवानामधिदैवतम्। हिरण्यगर्भं तमहं मुमुक्षुः शरणं गतः।।४४५
कुर्वाणः सततं तस्मा एकस्मै हविरादिना। सपर्यां परमेशाय ब्रह्मणेऽव्यक्तजन्मने।।४४६
नमोऽस्तु तेजसे तस्मै यस्मै कस्मैचिदात्मने। एकस्मै क्वाऽपि संस्थाय सर्वगम्याय सर्वदा।।४४७
मह्यं मुमुक्षवे ब्रह्मज्ञानं यच्छतु कश्चन। सर्वात्मको विहीनश्च धर्मैः सर्वैश्चिरन्तनः।।४४८
एवं हि स्तुवतो नित्यं तथैनं च नमस्यतः। मुमुक्षोरात्मविज्ञानमिदमेव प्रयच्छति।।४४९

सर्वात्मक इति। अहं तं प्रीणयितुं सपर्यां कुर्वाणः तं देवं हिरण्यगर्भरूपं शरणं गतः अस्मि इति सम्बन्धः।।४४५-६।। श्रौतस्य चित्पदस्याऽर्थम् असादृश्येन वाङ्मनसाऽगोचरत्वरूपं दर्शयन्नमस्यामभिनयति—नमोऽस्त्विति। यस्मै कस्मैचिद् वक्तुमशक्याय।।४४७।। मह्यमिति। स्पष्टम्।।४४८।। उक्तस्तुतेः फलमाह—एवमिति। इदं वक्ष्यमाणरूपम्।।४४९।। एवं पाठ्यत्वेन उपन्यस्तमन्त्राणां वैश्वानरहिरण्यगर्भतादात्म्येन नारायणप्रतिपादकानाम् अर्थ उक्तः।

स्वातन्त्र्य है। किन्तु यह स्वातंत्र्य ऐसा नहीं समझना चाहिये जैसा कुछ शैव समझते हैं कि जीव-शिव का अभेद स्थापित हो जाने के बाद भी शिव की इच्छा से पुनः द्वैत उपस्थित हो सकता है ! वेदांत-संमत स्वातंत्र्य है कि अविद्या स्वतः सत्ता-स्फूर्ति वाली नहीं, चेतन से ही सत्ता-स्फूर्ति पाती है। अनादि और एक होने से तत्त्वज्ञान से नाश के बाद द्वैत सत्ता-स्फूर्ति पा नहीं सकता। स्वातंत्र्य को वेदांत में इच्छा के संदर्भ में नहीं समझना चाहिये क्योंकि इच्छा को क्षेत्रधर्म ही कहा है (गी. १३.६) जबकि चेतन को सद्रूप-ज्ञानरूप-आनंदरूप ही बताया है, इच्छारूप कहीं नहीं कहा। लोक में स्वतंत्रता 'जो चाहें कर सकें, जान सकें' के रूप में प्रचलित है अर्थात् चाहने से, इच्छा से निरूपित है, लेकिन औपनिषद दर्शन में जब आत्मा की स्वतंत्रता कही जाती है तब इच्छा से तात्पर्य नहीं होता वरन् अन्य-अनपेक्ष ज्ञानादि ही अभिप्रेत अर्थ होता है। ईश्वर तो सोपाधि होने से उसका स्वातंत्र्य उपाधिधर्मभूत इच्छा के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है लेकिन चिन्मात्र का स्वातंत्र्य वैसा नहीं है।)

उस अविद्यारूप जल को—उक्त नदियों को—देखने वाला भी वही अद्वितीय महादेव है। अपनी सर्वगत स्वप्रभ अतिशय तेजोरूप महिमा से अर्थात् चिद्रूप से वही अविद्या का साक्षी बना प्रतीत होता है।।४४४।। देवों को भी देवत्व प्रदान करने वाला जो हिरण्यगर्भरूप सर्वात्मक देव उसे प्रसन्न करने के लिये मैं मोक्षेच्छुक हवि आदि द्वारा उसी एक की सेवा (पूजा) करते हुए उस परमेश ब्रह्म की शरण लेता हूँ जिसका जन्म कभी व्यक्त नहीं है। (अर्थात् उसका जन्म होता ही नहीं। हिरण्यगर्भ का 'जन्म' भी वैसा नहीं जैसा हम लोगों का होता है ! शुक्र-शोणित मिलकर विकसित हुए शरीर का चर्मचक्षुओं से दीखने योग्य रूप में प्रकट होना लोक में जन्म कहा जाता है। हिरण्यगर्भ का ऐसा जन्म नहीं यह स्पष्ट है। केवल कारणदशा की अपेक्षा अन्य दशा वाली माया से उपहित होना ही वहाँ जन्म कह दिया जाता है।)।।४४५-६।। मन-वाणी से परे उस निरुपम एक तेज को हमेशा प्रणाम है। उसे 'जो-कोई' ही कह सकते हैं, शब्दों में परिभाषित नहीं कर सकते। वह सभी को विषय करता है। सभी जीव उसका सदा अपरोक्षानुभव कर रहे हैं। वह किसी आधार पर स्थित नहीं है, यदि 'कहीं' स्थित समझना ही हो तो स्वयं में स्थित है यही समझा जा सकता है।।४४७।। सब विशेषताओं से रहित वह कोई सर्वात्मक चिरन्तन मुझ मुमुक्षु को ब्रह्मज्ञान प्रदान करे।।४४८।।

जो मोक्ष चाहने वाला उक्त ढंग से इस परमेश्वर की स्तुति और प्रणाम करता है उसे वह वेदान्तप्रसिद्ध ब्रह्मानुभव प्रदान कर देता है। (यद्यपि अनुभव लड्डू की तरह दिया-लिया जाये ऐसी चीज़ नहीं तथापि 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' (गी. १०.१०) आदि के अनुसार ईश्वर जीवचित्त में ज्ञानाकार वृत्ति बना सकता है यही मानना संगत है। अतः स्तुति-नमस्कार आदि से उसे प्रसन्न करना चाहिये।)।।४४९।।

परं ब्रह्म

एष देवः स्वयंज्योतिः प्रदिशोऽपि दिशस्तथा। सर्वाः पूर्वं हि यो जातो जगतः सूत्ररूपभाक्। ।४५०
ब्रह्माण्डगोलकस्यापि गर्भ एष व्यवस्थितः। वधूनां च यथैवैष चतुर्विधशरीरभाक्।।
जातो जनिष्यमाणश्च स चैष परिजायते। ।४५१
अन्तर्मुखा यमात्मानमीक्षन्ते विश्वतो मुखम्। स एष प्रतिभात्यात्मा तस्यास्मिन् विश्वतोमुखः ।४५२
विश्वतश्चक्षुरादिर्यो विश्वतोवदनस्तथा। विश्वतःकरपादादिः सर्वभूतो यतः पुमान्। ।४५३
बाहुभ्यामिव पापाख्यपुण्याभ्यां भूतपञ्चकैः। सहिताभ्यामिदं विश्वं चतुर्विधशरीरभृत्। ।४५४

अथ साक्षात् तत्प्रतिपादकस्य 'एष ही' त्यादेः[1] 'अभिसम्बभूव' इत्यन्तस्य मन्त्रसमुदायस्यार्थमाह—एष देव इति एकविंशतिश्लोकैः। एष नारायणाभिधानो देवः स्वयंप्रकाशः सर्वदिगादिरूपः यतोऽयमेव हिरण्यगर्भरूपेण जगतः स्थूलात् पूर्वम् उत्पन्न इत्यर्थः। ।४५०।। ब्रह्माण्डेति। तथाऽयमेव ब्रह्माण्डगर्भगतः त्रैलोक्यशरीरो विराड्, व्यष्टिरूपाणि अतीतानागतवर्तमानशरीरकाणि भूतानि चाऽयमेवेत्यर्थः। ।४५१।। एवमद्वयत्वेनोक्तस्य प्रत्यक्त्वमाह—अन्तर्मुखा इति। विश्वतः सर्वतो मुखं सान्निध्यं यस्य तथाभूतं यं प्रत्यग्दृष्टयः पश्यन्ति स एष देव एव अस्मिन्नन्तर्मुखी भावलक्षणे समाधौ प्रतिभाति। यतः तस्य समाहितस्य द्रष्टुः आत्मा भवति, विश्वतोमुखत्वात्; अनात्मत्वे हि प्रत्यङ्मुखान् प्रति संमुखत्वाऽभावेन विश्वतोमुखत्वं न स्याद् इति भावः। ।४५२।।

आत्मत्वमेव स्फुटयति[2]—विश्वतश्चक्षुरादिरिति। विश्वानि सर्वाणि चक्षुरादीनि यस्य स तथा; एवमग्रेऽपि। सर्वभूतः सर्वस्यात्मा। ।४५३।। तत्र हेतुतया जगज्जन्मादिकारणत्वमाह—बाहुभ्यामिति द्वाभ्याम्। श्रुतौ सम्-उपसर्गेण

(व्याख्येय उपनिषत् में पाठ के लायक कुछ मंत्र सूचित हैं जिनमें वैश्वानर और हिरण्यगर्भ से एककर नारायण का प्रतिपादन है, उन मंत्रों का श्लो. ४१० से यहाँ तक व्याख्यान हुआ। आगे श्रुति ने सीधे ही नारायण का प्रतिपादन किया है। अब पुनः प्रकृत उपनिषत् के मंत्रों की व्याख्या करेंगे।)

यह स्वप्रकाश चिद्धातु ही सब दिशाओं व अवान्तर-दिशाओं के रूप में स्थित है। स्थूल जगत् से पूर्व सूत्रात्मा रूप से यही उत्पन्न हुआ था। (क्योंकि सूत्र ही यह बना था इसलिये पटस्थानीय दिशाएँ—और दिशाओं में स्थित सभी कुछ—यही है।)। ।४५०।। ब्रह्माण्ड-पिण्ड के गर्भ में यही व्यवस्थित है अर्थात् त्रिलोकी जिसका शरीर है उस विराट् के रूप में यह चित्तत्त्व ही उपस्थित है। स्त्रियों के गर्भ में जैसे बालक छिपा रहता है वैसे ब्रह्माण्ड में परमेश्वर है। चारों तरह के शरीर धरे, जो पैदा हो चुका, जो पैदा होगा और पैदा हो रहा है—सब यही परमात्मा है। ।४५१।। यह वही सर्वसन्निहित आत्मा है जिसका अन्तर्मुख साधक दर्शन करते हैं। अंतर्मुखता ही समाधि है जहाँ आत्मदेव का प्रतिभान होता है। परमेश्वर समाहित साधक का भी आत्मा ही है, तभी सर्वत्र संनिहित है। यदि उसका आत्मा न होता तो अंतर्मुख को न दीखता ! (अनात्मा तभी दीखेगा जब आत्मा की अपेक्षा बाहर दृष्टि जाये। अंतर्मुखता का मतलब है दृष्टि आत्मा की ओर है। आत्मा की ओर दृष्टि रहते जिसका दर्शन होता हो वह आत्मा ही हो सकता है, अनात्मा नहीं। अतः प्रत्यङ्मुख साधक को दीखता है यही पर्याप्त प्रमाण है कि वह प्रत्यगात्मा ही है।)। ।४५२।।

वह पूर्ण चिद्वस्तु ही क्योंकि सब कुछ बना है इसलिये संसार के सारे ही नेत्र, मुख, हाथ, पैर आदि सब उसी के हैं। (किं च सब जीवों के रूप में वही प्रविष्ट है इससे भी सब करणों का वह मालिक है। किंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि परमात्मा ऐंद्रियानुभवों से सुखी-दुःखी होता होगा ! वे सुख-दुःख तो मिथ्या-अभिमान से होते हैं और वह परमात्मा में है नहीं। 'प्रकाशादिवद् नैवं परः' (२.३.४६) सूत्र में इस विषय को सुस्पष्ट कर दिया है।)। ।४५३।। यह महादेव अकेले ही उच्च-नीच सभी लोकों को उत्पन्न करते हुए चारों प्रकार के (उद्भिज्जादि) शरीरों से युक्त इस

१. 'एष हि देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो हि जातः स उ गर्भेअन्तः। स विजायमानः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्मुखास्तिष्ठति विश्वतो मुखः।।'
२. 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोहस्त उत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां नमति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः।।'

सृष्टिस्थितिविनाशेन संयोजयति नित्यशः। देवोऽयं जनयन् द्यावा पृथिव्यावेक एव हि।।४५५

वेनानुभवः

वेनो नाम पुरा कश्चिद् गन्धर्वः शुद्धमानसः। उक्तस्तुतिनमस्याद्यैर्दृष्ट्वा ब्रह्म सनातनम्।।
प्रोवाचानुभवं स्वस्य लोकानुग्रहकारकः।।४५६

यस्मिन् जगदिदं नित्यमेकस्मिन्नवतिष्ठते। नानालोकादिसंयुक्तं तथा कालत्रयेऽपि हि।।
यत उत्पद्यते यत्र लीयते चाऽखिलं तथा।।४५७

ओतः प्रोतश्च लोकाख्यपटेऽसौ सूत्ररूपभाक्। जीवरूपश्च यो देवः स्थिरजङ्गमरूपिणाम्।।४५८

एतं सर्वशरीरेषु सन्तं बुद्धिषु संस्थितम्। आनन्दात्मानमद्वैतं मरणादिविवर्जितम्।।४५९

व्यवहितेन युक्तस्य नमधातोः संयोजनमर्थः। सम्पतत्रशब्देन पतनात्मकविनाशवाचकेन जन्मादिकमुपलक्षितम्। तथा च—पुण्यपापाभ्याम् अधीनत्वेन बाहुभूताभ्यां वियदादिपञ्चभूतव्यापृताभ्यां जरायुजादिचतुर्विधशरीरात्मकं विश्वं जन्मस्थितिभङ्गेन संयोजयति अयं देवः। किं कुर्वन् ? द्यावापृथिव्यौ ऊर्ध्वाधोलोकौ एकः असहाय एव जनयन् सन्। इति द्वयोरर्थः।।४५४-५।।

एतादृशं नारायणतत्त्वं पूर्वं वेनाख्येन गन्धर्वेण उक्तस्तुत्यादिभिः शुद्धचित्तेन विज्ञाय वामदेववल्लोकानुग्रहेण प्रकटीकृतम्[1] इत्याह—वेन इति। श्रुतौ वेन-गन्धर्वपदयोः प्रोपसर्गवचधात्वोश्च व्यवहितान्वय इति बोध्यम्।।४५६।। वेनानुभवमेव अभिनयति—यस्मिन्नित्यादिना। यस्मिन्नेकस्मिन्नानाविधैः लोकदेवादिविशेषैः युक्तं जगत् तिष्ठति, तथा यत उत्पद्यते, यत्र लीयते च, यश्च प्रपञ्चाख्यपटे सूत्रवद् ओतः प्रोतश्च, सर्वशरीरेषु जीवरूपेण अनुप्रविष्टश्च; तं देवं सर्वान्तरम् अद्वयाऽऽनन्दरूपं साक्षात्करोमीति शेषः। इति त्रयाणामर्थः।।४५७-९।।

विश्व का सृष्टि-स्थिति-विनाश हमेशा करता रहता है। इस कार्य में भुजा-तुल्य सहायक है महाभूतों सहित पाप-पुण्य। (विषमता आदि ईश्वर में इसीलिये नहीं कि हमारे पाप-पुण्यों के अनुसार ही वह उच्चावच सृष्टि आदि कर रहा है अतः पाप-पुण्य मानो उसकी भुजाएँ हैं।)।।४५४-५।।

प्राचीन काल में वेन नामका कोई गन्धर्व था। शुद्ध चित्त वाले वेन ने पूर्वोक्त स्तुति नमस्कार आदि उपायों से सनातन ब्रह्म का दर्शन किया। क्योंकि वह सभी लोगों पर अनुग्रह करना चाहता था इसलिये उसने अपना अनुभव शब्दों में भी व्यक्त किया। (मानुष-मानस कभी तो वैयक्तिक महत्त्व से निरपेक्ष रहकर 'बात' की अपनी कीमत आँकना चाहता है तो कभी 'बात' जिस 'आधार' पर टिकी है उसकी परीक्षा को उद्यत होता है तथा कदाचित् वक्ता से अभिभूत होने को उतावला रहता है। वैदिक से भिन्न बौद्धादि धर्म आधार-परीक्षा की बात ज्यादा करते हैं और ईसाई आदि धर्म व्यक्ति-श्रद्धामात्र पर टिकते हैं। उक्त तीनों आकांक्षाएँ तो सनातन धर्म ही पूरी करता है : वेद अपौरुषेय है अतः बात की अपनी कीमत है। मीमांसा, मनन द्वारा उसकी युक्ति से एकवाक्यता है। बड़े-बड़े ऋषि मुनियों के नाम से आये प्रसंग वक्ता के महत्त्व से वक्तव्य का वैशिष्ट्य प्रकट कर देते हैं। प्रकृत में भी इसी दृष्टि से वेन की अभिव्यक्ति ग्रथित की गयी है।)।।४५६।। वेन ने कहा : सर्वान्तर अद्वय आनंदरूप देव का मैं साक्षात्कार कर रहा हूँ। उसी अकेले में यह अनेक लोकादि वाला, प्रवाहरूप से नित्य जगत् हमेशा अवस्थित है। यह उत्पन्न भी उसी देव से हुआ और समूचा ही उसमें विलीन भी हो जाता है।।४५७।। वह देव उस सूत्र का रूप धारण किये है जिसमें यह संसार नामक कपड़ा ओत-प्रोत है। स्थावर-जंगम रूपों वाले शरीरों में जीवरूप से वही देव प्रविष्ट है। सब देहों में जो बुद्धियाँ उनके साक्षी रूप से स्थित यह अद्वैत आनंद आत्मा मरणादि विकारों से रहित है।।४५८-९।। अपने परमार्थ स्वरूप में स्थित

१. 'वेनस्तत्पश्यन् विश्वा भुवनानि विद्वान् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। यस्मिन्निदं सं च वि चैकं स ओतः प्रोतश्च विभु प्रजासु।।'

पदानि त्रीणि यस्य स्युरात्मनः परमेष्ठिनः। बुद्धिस्थानि मनुष्याणां सर्वदैव चतुष्पदः।।४६०

यस्तत् पादत्रयं वेद स्वप्रकाशं गतद्वयम्। सदनं तं सदैवास्य सवितुर्ब्रह्मरूपिणः।।४६१

स नो बन्धुस्तथैवैष जननी चात्मरूपवान्। विधाता च स एव स्यात् ततोऽन्यो नैव कश्चन।।४६२

यतः सर्वाणि धामानि तेजःस्थानानि सर्वतः। भुवनानि सदैवाऽयं ब्रह्मेत्येवावगच्छति।।४६३

यत्र वह्न्यादयो देवा मरणादिविवर्जितम्। प्राप्नुवन्ति सदा मोक्षमहं ब्रह्मेति बोधतः।।

तृतीयस्यात्मनीशाने विश्वमायाविवर्जिते।।४६४

स्थानानीह सतेजांसि प्रेरयन्तो जनेष्वपि। भक्तेषु वरदानाद्यैः सर्वदा भक्तवत्सलाः।।४६५

[1]पदानीति। 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छां. ३.१२.६) इति स्तुत्यन्तरात्[2] ब्रह्म चतुष्पात्। तत्र भूतानामेकपादत्वाऽभिधानं ब्रह्मणोऽनन्तत्वख्यापनाय, न तु परिमाणबोधनाय इति भाष्ये[3] स्पष्टम्। तथा चतुष्पदः पादचतुष्टयवतो ब्रह्मणः सर्वभूतलक्षणपादभिन्नाः त्रयः पादा बुद्धिगुहायां साक्षिलक्षणे स्वरूपे स्थिता इत्यर्थः।।४६०।। यस्तदिति। तत् साक्षिरूपं पादत्रयं सदानन्दरूपं सवितुः सूर्यमण्डलान्तःस्थस्य नारायणस्य ब्रह्मणः सम्बन्धि यः अधिकारी वेद साक्षात् करोति स[4] विद्वान् अस्माकं बन्ध्वादिरूपः। इति द्वयोः सम्बन्धः। तत्र एष इति पदस्य पितेत्यर्थः। विधाता ब्रह्मा।।४६१-२।। तत्र हेतुतया सर्वात्मभूतब्रह्मभावमाह—यत इति। यतोऽयं विद्वान् धामपदोक्तानि तेजःस्थानानि सूर्यचन्द्रादीनां भुवनानि यदात्मभूतं ब्रह्मैव इति एवं जानातीत्यर्थः।।४६३।।

एतद्ब्रह्मज्ञानाद् बहवो देवादयः सिद्धिं प्राप्ता इत्याह—यत्रेति चतुर्भिः। यत्र उक्तलक्षणे ब्रह्मणि जातो योऽयम् अहं ब्रह्मेति आकारको बोधः तेनाश्रिते सति बहवो देवा मोक्षं साक्षात् प्राप्नुवन्ति। कीदृशे ? यत्र ब्रह्मणि स्थूलसूक्ष्मकारणलक्षणोपाधीनां मध्ये तृतीयस्य अव्याकृतस्य ईशानेऽधिपतौ; अत एव स्वरूपेण शुद्धे, इत्यर्थः।।४६४।। न केवलं मोक्षमेव प्राप्ताः किन्तु ब्रह्मवद् भक्तेषु वरदानादिसामर्थ्यमपीत्याह—स्थानानीति। कीदृशास्ते देवाः ? सतेजांसि तेजोवन्ति स्थानानि भुवनानि भक्तजनेषु प्रेरयन्तः प्रयच्छन्तः, अनुग्रहाद् इत्यर्थः।।४६५।। तेषां सर्वलोकेषु

आत्मा मानों चार हिस्सों वाला है। एक हिस्से में तो सारा संसार है, तीन हिस्से हमेशा ही उस साक्षी स्वरूप में प्रतिष्ठित हैं जो सभी जीवों की बुद्धिगुफा में निवास करता है। (हिस्सों का कथन ब्रह्म की अनंतता के अभिप्राय से ही है : 'संसार उसका एक हिस्सा ही है' का मतलब है कि उसका प्रधान 'भाग' संसार से अतीत ही है। भाग-कल्पना समझने के लिये उपयोगी होने से की गयी है। सूत्रों में इस पर काफी चर्चा उपलब्ध है।)।।४६०।। वे तीनों 'हिस्से' स्वप्रकाश अद्वैत हैं। ब्रह्मरूप वाले इस सविता का नित्य अधिष्ठान वे 'हिस्से' ही हैं। जो अधिकारी उस साक्षिस्वरूप का अपरोक्ष कर लेता है वह सर्वरूप है; हमारा बंधु, पिता, माता, विधाता वही है, हमारा भी वही आत्मा है। उससे अन्य कोई है ही नहीं।।४६१-२।। वह सर्वात्मा इसलिये है कि वह सभी 'धामों' को अर्थात् तेजःपुंजों को और सब ओर फैले भुवनों को 'ये ब्रह्म ही हैं' ऐसा हमेशा जानता है। (तेजःपुजों से अध्यात्म-अधिदैव देवता समझने चाहिये या सूर्य-चंद्रादि समझने चाहिये।)।।४६३।। उक्त लक्षण वाले ब्रह्म के बारे में 'मैं ब्रह्म हूँ' इस बोध से वह्नि आदि देवता मरणादिरहित मोक्ष पा जाते हैं। सारी माया से सदा रहित वह ब्रह्म अव्याकृत का भी अधिपति है।।४६४।। उसके जानकार वे भक्तवत्सल

१. 'प्र तद्वोचे अमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो नाम निहितं गुहासु। त्रीणि पदा निहिता गुहासु यस्तद्वेद सवितुः पिता सत्।।'

२. श्रुत्यन्तरादिति सुवचम्।

३. 'न हि ब्रह्मानाश्रयणे केवलस्य च्छंदसो भूतादयः पादा उपपद्यन्ते।...अनया हि ऋचा स्वरसेन ब्रह्मैवाभिधीयते' इत्यादि ज्योतिश्चरणाधिकरणे (१.१.१०) २६ तमे सूत्रे।

४. 'स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामान्यध्यैरयन्त।।'

द्यावापृथिव्योः परितो यन्ति सद्य उपर्यधः। लोकानपि दिशस्तद्वत् स्वर्गाद्यान् गोलकान्तरे।।४६६
अवश्यंभाविनः कर्मकार्पासस्य फलात्मनः। तन्तुं सूत्रात्मरूपं तं विसृज्येह जगत्पटे।।४६७
तेन सूत्रात्मरूपेण तदपश्यं निजं वपुः। सूत्रात्मतां परित्यज्य तदभूद् ब्रह्म निर्गुणम्।।४६८

कामचारोऽपि भवतीत्याह[1]—द्यावेति। परित इत्यस्य विवरणम् उपर्यधो मध्यानीति। तथा च—आकाश-पृथिव्योः सर्वतो वर्तमानान् लोकान् यन्ति यथेच्छम् अटन्ति च ते देवा ब्रह्मविद इत्यर्थः।।४६६।।

सूत्रात्मदृष्टिस्तत्साक्षात्कारे द्वारम् इत्याह—अवश्यमिति द्वाभ्याम्। अवश्यंभाविफलकत्वेन ऋतपदोक्तयागादि-कर्म कार्पासवृक्षस्थानीयं, तज्जन्यम् अपूर्वं कार्पासफलस्थानीयम्, अपूर्वारब्धानि स्थूलसूक्ष्मभूतानि तन्तुस्थानीयानि, तच्छरीर ईश्वरोऽपि तन्तुस्थानीयः; तं जगद्रूपे पटे विसृज्य संसृज्य ग्रथित्वाऽनुगतं बुद्ध्वेति यावत्। श्रुतौ चृतधातोः ('चृती हिंसा ग्रन्थनयोः' तुदादौ) ग्रथनार्थस्य प्रयोगः।।४६७।। तेनेति। तेन ईश्वरेण सूत्रवदनुगततया दृष्टेन उपलक्षितं निजं वपुः अखण्डं तत्त्वम् अपश्यं साक्षात् कृतवानस्मीति अर्थः। तत्र हेतुतया सूत्रात्मस्वरूपस्य विचार्यमाणस्य नैर्गुण्येन अवस्थानमाह—सूत्रात्मतामिति। तत् प्रजास्रष्टृसूत्रात्मनः स्वरूपम्।।४६८।।

देवता हमेशा वर प्रदान आदि द्वारा भक्तजनों को संसार में तेजस्वी स्थान (दिव्य लोक) देते रहते हैं।।४६५।। वे ब्रह्मवित् देवता ब्रह्माण्ड गोल के मध्य द्यु-पृथ्वी लोकों में ऊपर-नीचे, सभी दिशाओं में, स्वर्गादि लोकों में इच्छानुसार तुरंत भ्रमण कर लेते हैं।।४६६।।

परमात्मसाक्षात्कार का दरवाजा है सूत्रात्मा का दर्शन : जिनका फल अवश्य होता है वे यागादि कर्म मानो कपास का पौधा हैं और उन कर्मों का अपूर्वरूप व्यापार उस पौधे का फल है। अपूर्व से बने स्थूल-सूक्ष्म महाभूत उस फल से प्राप्त रुई से बने धागे हैं। जैसे धागों से कपड़ा बिना जाता है ऐसे महाभूतों से यह जगत् रचा गया है। (महाभूत सूत्रात्मा का ही शरीर हैं। इस प्रकार जगत् में सूत्रात्मा को अनुगत समझते रहना चाहिये जैसे वस्त्र में धागों को अनुस्यूत समझा जाता है।) यों मैंने (वेन ने) अपना वह शरीर अर्थात् अखण्ड तत्त्व उस सूत्रात्मा से उपलक्षित कर देख लिया जिस सूत्रात्मा को जगत् में अनुगत समझ चुका था। सूत्रात्मा की ही सूत्रात्मता का परित्याग करते ही वह निर्गुण ब्रह्म हो गया ! (सूत्रात्मता अर्थात् जगत्सापेक्षता। तात्पर्य है कि पहले सारे जड-चेतन जगत् को ईश्वर का विलास समझ कर सारा द्वैत ईश्वररूप में समेट लेना चाहिये, फिर ईश्वर को उसकी उपाधि से पृथक् कर समझने पर 'अपेतोपाधि-कल्मष' परब्रह्म का आविर्भाव हो जायेगा। इस क्रम में उपासना का पूर्ण उपयोग हो जाता है। जो प्रथमतः ही उपरत नहीं वे मुमुक्षु इस क्रम से साधना करें इसी प्रयोजन से उपनिषदें निर्गुणविद्या के बीच-बीच में अनेक उपासनाएँ विहित करती हैं तथा सूत्रकार ने ज्ञेय ही नहीं ध्येय ब्रह्म की भी जिज्ञासा (मीमांसा) की है। गीता भी केवल सर्वकर्मसंन्यासी को नहीं वरन् कर्मवान् को भी साधन समझाती है। निर्गुणविद्यापूर्वक जीवन्मुक्ति के लिये संन्यास अनिवार्य होने पर भी उपासनामार्ग अन्यों के लिये खुला है। इसीलिये निर्गुणविद्याप्रसंग में (बृ. ३.५) ही 'मौन' की विधि (ब्र. सू. ३.४. ४७) मानी है। अन्यत्र भी 'अस्या ब्रह्मविद्याया अंगत्वेन संन्यासो विधित्सितः' (बृ. २.४.१) यों 'अस्याः' अर्थात् निर्गुणविद्या के लिये ही संन्यास अनिवार्य कहा है। सोपाधिक ब्रह्म की उपासना गृहस्थ के लिये भी संभव है 'सम्भवति च सोपाधिकायां ब्रह्मविद्यायां कर्मसाहित्यदर्शनम्' (ब्र. सू. ३.४.९)। छांदोग्य की समाप्ति में इस पर और चर्चा उपलब्ध है। इस दृष्टि से 'अथ'-शब्द के अर्थ में 'उपरत' से केवल संन्यासी का ग्रहण ज़रूरी नहीं; जिज्ञासाशब्द में आये ज्ञान के प्रमा और उपासना दोनों अर्थ कर प्रमा के अधिकारी के लिये संन्यास अर्थ करना चाहिये और उपासना के अधिकारी के लिये उपरत का अर्थ स्वधर्मानुष्ठान करना चाहिये जैसा 'तत्त्वबोध' नामक स्वल्पकाय प्रकरण में किया है 'उपरमः कः? स्वधर्मानुष्ठानमेव।' अथवा अनीश्वरोपासनादि से रुक जाना उपरति है। यह बात गीता के भी अनेक प्रसंगों से समझ आती है।)।।४६७-८।।

१. 'परीत्य द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः परि लोकान् परि दिशः परि सुवः। ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् प्रजासु।'

परीत्य लोकान् नाकाद्यान् भूतान्यपि तथैव सः। चतुर्विधानि पञ्चाऽपि प्रदिशोऽपि दिशस्तथा।।४६९
प्रजापतिः प्रथमजः फलं यः कर्मणामिह। आत्मनात्मानमालोच्य ह्यात्मैवाऽभूत् स्वयंप्रभः।।४७०
सदसस्पतिमित्यादिमन्त्रैर्नानाविधैरपि। प्रतिपाद्यो महेशो यो जडाजडवपुःस्थितः।।४७१

अघमर्षणमन्त्रार्थः

स्वयम्प्रकाशविज्ञानाद् आनन्दात्मस्वरूपिणः। ऋतं सत्यं तथा यस्मादुत्पन्ने कर्मणः फले।।४७२
मानसस्य तु पूर्वं स्याद् उत्तरं कायजस्य हि। ऋतं सत्यं च चन्द्रार्काविति केचन पण्डिताः।।४७३

न केवलं मयैवेत्थं विचारेण ब्रह्मात्मत्वं लब्धं किन्तु हिरण्यगर्भेणाऽपीत्याह[1]—परीत्येति द्वाभ्याम्। स्वर्गादीन् लोकान् जरायुजादीनि भूतानि पञ्च आकाशादीनि वा, पूर्वाद्या दिशः प्रदिशः च परीत्य अभिव्याप्य उत्कृष्टकर्मोपासनाबलेन तत्स्वामित्वं लब्ध्वेति यावत्; तयाप्यपरितुष्टः प्रजापतिः हिरण्यगर्भः शुभकर्मणां फलमयशरीरो यदाऽऽत्मानम् आलोचितवांस्तदैव स्वयम्प्रकाशं ब्रह्मानन्दं प्राप्तः। इति द्वयोरर्थः। तथा च प्रत्यग्विचार एव आत्मलाभहेतुः, न बाह्यैश्वर्यम् इति भावः।।४६९-७०।।

'सदसस्पतिमद्भुतम्' इत्यादिमन्त्राणाम् 'इमं मे गङ्गे' इत्यादिमन्त्रान्तानां[2] तात्पर्यार्थमाह—सदसस्पतिमिति। 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' (कठ. २.१५) इति श्रुतेः सदसस्पतिमित्यादिभिः मन्त्रैः अग्न्यादिसंज्ञजडाजडदेवशरीरोपहितो यः परमात्मा प्रतिपाद्यते तद्रूप एव विद्वान् भवति इति पूर्वेण सम्बन्धः।।४७१।।

अघमर्षणमन्त्रस्यार्थमाह[3]—स्वयमिति षड्भिः। स्वयम्प्रकाशविज्ञानरूपेण सर्वत इद्धाद् दीप्ताद् अद्वयत्वेन आनन्द रूपाद् यस्मात् परमात्मनः ऋत-सत्याख्ये कर्मफले जाते, तद्भावं मुक्तो गच्छतीति पूर्ववत् सम्बन्धः।।४७२।। ऋतसत्यपदयोरर्थमाह—मानसस्येति। मानसस्य सत्कर्मणः फलं पूर्वम् ऋतपदोक्तम्, कायजस्य शारीरस्य सत्कर्मणः फलन्तु उत्तरं सत्यपदोक्तमित्यर्थः। केचन ऋतसत्यपदवाच्यौ चन्द्रार्काविति आहुः; तत्र वक्ष्यमाणेन पुनरुक्तिरेव अस्वरसः।।४७३।। एवं सृष्टिकाले ऋतादिसंज्ञकर्मफलानामुदयाभिमुख्ये सति रात्रिपदोक्तोऽन्धकारः, समुद्रपदोक्तानि

मुझ वेन ने ही नहीं, हिरण्यगर्भ ने भी विचार से ब्रह्मरूपता पायी थी : पूर्व कल्प में अत्युत्कृष्ट कर्म व उपासना करने के फलस्वरूप इस कल्प में हिरण्यगर्भ स्वर्गादि लोकों का, चारों प्रकार के प्राणियों का, पाँचों भूतों का, पूर्वादि दिशाओं का, ईशानादि अवान्तर दिशाओं का स्वामी बन गया, इन सबको वह अभिव्याप्त किये है। कर्मों का सर्वोत्तम फल पाकर भी वह प्रथमोत्पन्न प्रजापति असंतुष्ट रहा ! अतः उसने स्वयं अपने बारे में विचार किया जिससे वह स्वयंप्रभ आत्मा ही हो गया। (इसलिये आत्मलाभ में बाह्य ऐश्वर्य हेतु नहीं वरन् प्रत्यक्तत्त्व का विचार ही हेतु है। प्रजापतिकथा अ. ४. श्लो. २१६ आदि में विस्तार से आ चुकी है।)।।४६९-७०।। 'सारे जगत्की अवसानभूमि 'सदस्' नामक अव्याकृत का पति आश्चर्यरूप है' इत्यादि नाना प्रकार के मन्त्रों द्वारा जड-चेतन शरीरों में स्थित जो महेश प्रतिपादित है उससे आत्मज्ञ अभिन्न हो जाता है।।४७१।। (श्लोक ४५६ से यहाँ तक वेन-वचन समझाये। अब अघमर्षणादि मंत्रों के अर्थ बतायेंगे।)

मुक्त पुरुष उसीका स्वरूप बनता है जिस स्वप्रभ चिन्मात्र भूमा प्रत्यक् से कर्मफलात्मक ऋत और सत्य उत्पन्न हुए हैं। मानसिक सत्कर्म का फल है ऋत और शारीरिक सत्कर्म का फल है सत्य। कुछ पंडित ऋत-सत्य से चंद्र व सूर्य का उल्लेख बताते हैं (किंतु मूल मंत्र में 'सूर्याचन्द्रमसौ' से उनका कथन है ही अतः ऋतादि से उन्हें समझना व्यर्थ है)।।४७२-३।। उसी आत्मा से रात्रि (अँधेरा) और विविध समुद्र अर्थात् जल आदि महाभूत उत्पन्न हुए। जो सदा भ्रमण

---

१. 'परीत्य लोकान् परीत्य भूतानि परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च। प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्याऽऽत्मनाऽऽत्मानमभिसम्बभूव।।'
२. 'सोपाधिकब्रह्मध्यान-जप-स्नानादिकर्माङ्गभूता मन्त्रा' एत इति सायणः।
३. 'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्रिरजायत ततः समुद्रो अर्णवः। समुद्रादर्णवादधि। संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो सुवः।।'

अजायत ततो रात्रिः समुद्रो विविधस्तथा। संवत्सरस्ततो जातः कालोऽयं भास्करात्मकः।
अहश्चैव तथा रात्रिं कुरुते यश्चरन् सदा। ।४७४

स्वतन्त्रः परमेशानो यो जीवघन ईर्यते। इदं सर्वं जगत् स्रष्टा सृजन्नपि विलक्षणम्।।
पूर्वसृष्टेर्न कुरुते कल्पे कल्पे जगत्प्रभुः। ।४७५

चतुर्विधानि भूतानि महाभूतानि पञ्च च। एकादशेन्द्रियाणीह पञ्च प्राणादयोऽपि च।।
एतैः सर्वैः समं देवो भगवान् भूतभावनः। ।४७६

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं तद्वदन्तरिक्षं सभागणम्। ।४७७

यः पृथिव्यां पुमानेष वरुणः पापनाशनः। पुरुषेणाऽमुना सोऽपि संसृष्टः पूर्ववत् प्रभुः। ।४७८

स्थितावीश्वरः

भूतानां मध्यसंस्थोऽयं विश्वकृद्भगवान् प्रभुः। गोप्ता भुवनजातस्य स्थितिकाले समागते। ।४७९

अप्रधानानि सूक्ष्मभूतानि चोत्पन्नानीत्याह—अजायतेति। तदनन्तरं **भ्रमणेन दिवारजन्योर्विधायको** योऽयम् **आदित्यः तद्रूपः संवत्सराख्यः** कालो जात इत्याह—संवत्सर इति। ।४७४।। स्वतन्त्र इति। स्वतन्त्रः **सर्वस्य व्यापारवतो जगतो वशे स्थापयिता परमेश्वरो जीवघनसंज्ञ-हिरण्यगर्भो भूत्वा विश्वं सृजन् पूर्वसृष्टेर्विलक्षणं न कुरुते इत्यर्थः**। ।४७५।। चतुर्विधानीति। भूतानि **प्राणिशरीराणि**, महाभूतानि तदुपादानानि **स्थूलभूतानि**; एतैः **भूतादिभिः सह सूर्यादिकं यथापूर्वं पूर्वकल्पीयसमानं धाता हिरण्यगर्भः** अकल्पयद्—इति **द्वयोर्योजना**। दिवं **स्वर्गाद् ऊर्ध्वलोकम्**। भागणो दीप्तीनां गणः, तत्सहितं **स्वर्गमित्यर्थः**। ।४७६-७।। **'यत् पृथिव्याम्' इत्यादेः 'अघमर्षण' इत्यन्तस्य[1] तात्पर्यार्थमाह**—यः पृथिव्यामिति। यः अयं वरुणो देवः **सकलजलमयशरीरः पापस्य रजःपदोक्तस्य नाशकत्वेन** पृथिव्यां **प्रसिद्धः** सोऽप्यमुना **सर्वात्मत्व-सर्वस्रष्टृत्वादिभिर्धर्मैः उपलक्षितेन** पुरुषेण **परमेश्वरेण** संसृष्टः **सम्बद्ध एव** पूर्ववत् **पूर्वोक्तहिरण्यगर्भवत्** प्रभुः **स्वव्यापारे शक्तः**। **तथा चोक्तं गीतासु 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्' इत्यादि (गी. १८.६१) इत्यर्थः**। ।४७८।।

'एष' इत्यादेः[2] 'सं शिशाधी' त्यन्तस्याऽर्थमाह—भूतानामिति। अयं **परमेश्वरः सर्वलोकानां मध्ये स्थितः**

करते हुए दिन-रात का विभाजन करता रहता है वह सूर्यरूप संवत्सर-नामक काल भी आत्मजन्य ही है। ।४७४।। जो 'जीवघन' कहलाता है वह भी जगत्प्रभु सर्वस्वतंत्र परमेश्वर ही है। (हिरण्यगर्भ को जीवघन (प्रश्न. ५.५) भी कहते हैं, ईश्वर ही सूक्ष्मोपाधिक हुआ हिरण्यगर्भ है।) वह विश्व-रचयिता इस सारे जगत् को पैदा करते हुए भी हर कल्प में एक-सा ही पैदा करता है, पूर्व में बनायी सृष्टि से विपरीत लक्षण वाली सृष्टि कभी नहीं बनाता। ('समाननामरूपत्वात्' (१. ३.३०) आदि ब्रह्मसूत्र में यह निर्णय किया है।)। ।४७५।। चारों तरह के प्राणी, पाँचों भूत, ग्यारहों इन्द्रियाँ, पाँचों प्राण, इन सब के साथ सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, भूलोक, तारों सहित अंतरिक्ष—इन सबको भूतभावन भगवान् विधाता पूर्वसृष्टि के सदृश ही बनाते हैं। ।४७६।। पृथ्वी पर लोगों के पाप नष्ट करने वालों में ये वरुणदेव सर्वप्रसिद्ध हैं। वे भी अपने कार्य में इसीलिये समर्थ हैं कि पूर्वोक्त हिरण्यगर्भ की तरह वे जगत्स्रष्टा परमेश्वर से सम्बद्ध हैं। (भट्टजगद्धर ने (स्तुतिकु. ३३.३७) यह तथ्य बखूब समझा है। बृहदारण्यक में स्पष्ट किया था कि सभी देवता एक ही महादेव की विभूति हैं। केनोपनिषत् में भी बताया है कि ब्रह्म की सामर्थ्य से ही देवता कार्यकारी हैं। भगवान् ने (गी. ७.२१-२) भी यह तथ्य व्यक्त किया है।)। ।४७७-८।।

१. 'यत्पृथिव्यां रजः स्वमान्तरिक्षे विरोदसी। इमांस्तदापो वरुणः पुनात्वघमर्षणः।।'

२. 'एष भूतस्य मध्ये भुवनस्य गोप्ता एष पुण्यकृता लोकानेष मृत्योर्हिरण्मयम्। द्यावापृथिव्योर्हिरण्मयं संश्रितं सुवः। स नः सुवः संशिशाधि।।'

एष पुण्यकृतां लोकान् प्रयच्छति सुखात्मकान्। एष मृत्त्योर्भयं नित्यमानन्दात्मा स्वयंप्रभः।।४८०
द्यावापृथिव्योश्च सदा स्थितयोस्तदुपर्यधः। स्वर्गस्याऽपि तथैवाऽयं भयं स्वात्मनि संश्रितम्।।४८१

'आर्द्रम्' आदिमंत्रार्थः

स च स्वर्गं तथा मोक्षं प्राणिनां संप्रयच्छति। योऽप्सु वह्नौ च भगवानास्तेऽन्यत्र च चिद्वपुः।।४८२
ब्रह्मरूपं तदेवाहमहमस्मात् पृथक् च न। ब्रह्मैव तत एवाऽहमहं ब्रह्मेति वा पुनः।।४८३
मज्ज्ञानाद् मुच्यते मायाक्लेशकर्माशयात् पुमान्। अहमात्माऽग्निरूपेऽस्मिन् जुहोम्यात्मानमेव हि।।४८४

सृष्टिकाले रक्षकः।।४७९।। एष पुण्यकृतामिति। अयमेव च सुकृतिनां सत्फलप्रापकः, पापिनां तद्गोचरकस्य मृत्योश्च भयं प्रयच्छति इत्यनुषङ्गः। कीदृशः ? विदुषां स्वयम्प्रकाशानन्दरूप इत्यर्थः। श्रुतौ हिरण्मयपदेन स्वयंप्रकाशत्वं, संशिशाधीतिपदेन भयप्रदत्वमुक्तमिति भावः।।४८०।। द्यावेति। तदुपर्यधः तस्य भुवनजातस्य उपरि अधश्च स्थितयोः द्यावा-पृथिव्योः तथा स्वर्गस्य स्वात्मनि अन्तः संश्रितं विधारणप्रयोजकत्वेन स्थितं भयं तदेष प्रयच्छतीति सम्बन्धः।।४८१।।

'आर्द्रम्' इत्यादेः 'स्वाहा' इत्यन्तस्य[1] अर्थमाह—स चेति। स एव देवः स्वर्गादिप्रदत्वेनोक्तो योऽप्सु आर्द्रपदोदितासु, वह्नौ ज्वलत्पदोदिते च तादात्म्येन स्थितः चिद्रूप इत्यर्थः।।४८२।। ब्रह्मेति। तत् चिज्ज्योतिर्ब्रह्मणोऽद्वयस्य स्वरूपभूतम् अहम्पदलक्ष्यं सर्वान्तरं वस्तु भवति यतोऽहम्पदार्थस्य अस्माद् ब्रह्मपदार्थात् पृथक्त्वं न सम्भवति। पृथक्त्वे हि उभयोः स्वरूपहान्यापत्तिः। ततो ब्रह्मैव इत्यादि-व्यतिहारः सिद्ध इत्यर्थः।।४८३।। मज्ज्ञानादिति। उक्तरूपेण मत्स्वरूपविज्ञानेन मूलाज्ञानपञ्चक्लेशकर्मवासनारूपाद् बन्धान्मुच्यते। तत्र हेतुतया संसार-भ्रमणयोग्यचिदाभासदाहमाह—अहमिति। आत्मैव चरमवृत्तिसमिदारूढोऽग्निः सविलासाऽज्ञानदाहकत्वात्, तद्रूपेऽस्मिन् ब्रह्मणि आत्मानं चिदाभासं प्रक्षिपामीत्यर्थः।।४८४।।

सब भूतों में स्थित यह जगद्धेतु भगवान् प्रभु स्थितिकाल आने पर भुवनसमूह का रक्षक बना रहता है।।४७९।। जिस स्वप्रकाश आनन्दात्मा को विद्वान् जानते हैं वही पुण्यकारियों को सुखभोग प्रदान करता है और पापियों को मृत्यु से भय देता है। (पुण्यात्मा तो मृत्यु से डरता नहीं क्योंकि मरकर सत्फल पाने के प्रति आश्वस्त है। जैसे अच्छा विद्यार्थी परीक्षा से डरता नहीं वरन् उसमें अपनी योग्यता व्यक्त होगी मानकर उत्साही रहता है वैसे यहाँ समझना चाहिये। ब्र. सू. ३.२.३८ में स्पष्ट किया कि कर्मफलप्रदाता ईश्वर ही है।)।।४८०।। सब भुवन, उनके ऊपर-नीचे स्थित द्यु-भूलोक, एवं स्वर्गलोक—इनमें जो भय है जिससे ये अपनी मर्यादाओं में रहते हैं, वह भय भी महेश्वर ही उन्हें देता है, उसी के डर से वे मर्यादित हैं।।४८१।।

जो चिन्मय भगवान् जल में, आग में तथा अन्यत्र है वही प्राणियों को स्वर्ग व मोक्ष प्रदान करता है।।४८२।। वही ब्रह्मस्वरूप 'मैं' का वास्तविक तत्त्व है, उससे अलग 'मैं' कुछ नहीं हूँ। अतः ब्रह्म ही 'मैं' हूँ, 'मैं' ही ब्रह्म हूँ। (यों दोनों तरह कहने से अत्यन्त अभेद सिद्ध हुआ।)।।४८३।। 'मैं' की वास्तविकता के ज्ञान से पुरुष अविद्या-क्लेश-कर्म-वासनाओं से छूट जाता है। 'मैं आत्मा हूँ' इस ज्ञानरूप आग में सोपाधिक 'मैं' की (चिदाभास की) आहुति देता हूँ। (अखण्ड वृत्ति से उपहित आत्मा ही वह आग है जो सकार्य अज्ञान को जला डालती है।)।।४८४।।

---

१. 'आर्द्रं ज्वलति ज्योतिरहमस्मि। ज्योतिर्ज्वलति ब्रह्माऽहमस्मि। योऽहमस्मि ब्रह्माहमस्मि। अहमस्मि ब्रह्माऽहमस्मि। अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा।।'

इत्यादिमन्त्रजानर्थान् विचार्य सततं पुमान्। कृत्वा कर्म जपित्वा च मन्त्रान् कांश्चिदिह स्थितान्।।४८५

यदाऽतिकीर्तिमान् लोके जायते पुण्यकर्मणा। तदा ब्रह्म परं गच्छेत् पुरुषः शुद्धमानसः।।४८६

पुण्यप्रशंसा

चम्पकादेस्तरोर्यद्वत् पुष्पितस्य दिशो दश। वायुर्वाति सुगन्धोऽयं प्राणिनां सुखकारकः।।४८७

पुण्यात्मनस्तथा कीर्तिः प्रधावति दिशो दश। आनन्दयति सततं धीमतोऽत्र बहुश्रुतान्।।४८८

'अकार्ये' त्यादिमन्त्रमारभ्य 'एतत्तप' इति मन्त्रपर्यन्तस्य ग्रन्थस्य[1] तात्पर्यं दर्शयति—इत्यादीति। इति-पदेन व्याख्यातपरिग्रहः, आदि-पदेन अकार्येत्यादीनां मन्त्राणां ग्रहः। तथा चैतेषु मन्त्रेषु केषाञ्चिद् अर्थान् विचार्य तैः ब्राह्मणोक्तं कर्म कृत्वा, कांश्चित् तु 'यश्छन्दसाम्'[2] इत्यादीन् केवलं जपित्वा यदा कीर्तिमान् प्रशंसायोग्यो भवति तदा ज्ञानाधिकारी भवति। इति द्वयोः सम्बन्धः।।४८५-६।।

'यथा वृक्षस्य' इत्यादिमन्त्रस्य[3] अर्थमाह—चम्पकादेरिति पञ्चभिः। यथा चम्पकादिवृक्षस्य पुष्पितस्य सुगन्धविशिष्टो वायुः जनान् मोदयति तथा पुण्यात्मनः कीर्तिः साधुजनान्। इति द्वयोरर्थः।।४८७-८।। पुण्यात्मनो

इस तरह के मंत्रों का अर्थ लगातार विचार कर, अपने लिये विहित कर्म कर और शास्त्र में कहे कुछ मंत्रों का जप कर जब पुण्य कर्म से अधिकारी संसार में अत्यधिक कीर्तिमान् हो जाता है तब वह शुद्धमानस पुरुष परब्रह्म का अवगम प्राप्त करता है।।४८५-६।। (इस प्रसंग में कुछ विचारणीय मंत्र हैं, कुछ कर्मविधायक हैं और कुछ प्रधानतः जपयोग्य हैं। यद्यपि अर्थ सभी मंत्रों का समझना पड़ता है तथापि कर्मविनियुक्त मन्त्रों का प्रधान प्रयोजन द्रव्यादि याद दिलाने से सिद्ध हो जाता है अतः उनके तात्पर्य का अवधारण करने के लिये विचार नहीं करना चाहिये। इसलिये कर्मों में अविनियुक्त मंत्रों का ही उपनिषदों में श्रवणरूप विचार किया जाता है। यह मीमांसासंमत प्रक्रिया है। कुछ संन्यासी आचार्य 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' आदि श्रुति के अनुसार सारे वेद का आत्मपरक व्याख्यान उचित ठहराते हैं। कर्मविनियुक्त 'नमस्ते रुद्र मन्यवे' आदि बहुत से सूक्त परमात्मप्रतिपादन करते हुए स्पष्ट ही सुनाई देते हैं। अतः उन मंत्रों का द्रव्यादिस्मारण ही प्रधान उपयोग मानना ठीक नहीं बल्कि प्रधानतः तो वे आत्मबोधनार्थ ही प्रवृत्त हैं किन्तु ज्ञान में अनधिकारी द्विज उनसे पशु-पुत्रादि भी पा सकते हैं अतः उन्हें कर्मों में भी विनियुक्त कर दिया गया है। वेद का मुख्य उपयोग आत्मज्ञान में ही है न कि ऐहिक-आमुष्मिक फल पाने में ऐसा गीता-टीका में पुराणकार ने मुखतः भी कहा है। कलम को कान खुजलाने के काम का कह देने से ऐसा तो नहीं कि वह लिखने के काम की न रह जाये ! यह ठीक है कि कुछ मंत्र केवल कर्म-स्वरूप के प्रकाशन में सार्थक हैं लेकिन कर्मोपयोगी होने मात्र से सभी मंत्र अपना निजी अर्थ छोड़ दें यह असंगत ही जान पड़ता है। अतः वेद के मंत्रों का जप आदि करते हुए भी यथासंभव उनके अर्थविचार से परमात्मबोध पाने का प्रयास कर्तव्य है।)

चम्पा आदि का वृक्ष जब फूलों से लदा हो तो उसकी सुगंध लिये हुए बहती वायु दसों दिशाएँ सुवासित कर प्राणियों को सुख पहुँचाती है। इसी प्रकार पुण्यात्मा का यश दसों दिशाओं में फैल जाता है और समझदार सज्जनों को निरंतर आनंद देता है।।४८७-८।। पुण्यात्मा उसे समझना चाहिये जिसे हमेशा पाप से ही भय लगता है; मृत्यु,

---

१. एते चाऽऽचमन-पाप-निवारण-स्नानोत्तरजप-अनिष्टपरिहारार्थजप-होमाद्युपयोगिनः।

२. 'यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपश्छन्दोभ्यश्छन्दांस्याविवेश। सतां शिक्यः प्रोवाचोपनिषदिन्द्रो ज्येष्ठ इन्द्राय ऋषिभ्यो नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यो भूर्भुवः सुवरोम्।।'

३. 'यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य दूराद् गन्धो वात्येवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाति यथाऽसिधारां कर्तेऽवहितामवक्रामेद्यद्युवे हुवे ह वा विह्वदिष्यामि कर्तं पतिष्यामीत्येवमनृतादात्मानं जुगुप्सेत्।।'

पुण्यात्मा स हि विज्ञेयः पाप्मनो यः सदा भयम्। प्राप्नोति मरणाद् नैव न च दारादिदुःखतः।।४८९

असिधाराः सुसंतीक्ष्णा गर्तस्योपरि संस्तृताः। अतिक्रमाद् यथा तासां यत्र शून्यपदाम्बुजात्।।
भयं भवति तादृक् स्याद् भयमस्य महात्मनः।।४९०

यद्भयं विदुषः प्रोक्तं यच्च तेनात्मरूपतः। गम्यते सोऽयमेव स्यादानन्दात्मा महेश्वरः।।४९१

तत्त्वोपदेशः

अणीयानप्यणोस्तद्वद् महीयान् महतोऽपि च। आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो बुद्धौ हृदयसद्मनि।।४९२

असङ्कल्पं तमात्मानं स्वस्थचित्तो गुरोः सदा। प्रसादाद् वीतशोकः सन् पश्यत्यात्मतया पुमान्।।४९३

सर्वस्य जगतो योऽयं महिमा सर्वदेश्वरः। ईश्वरादित एवेमे सप्तलोकशरीरगाः।।
जायन्ते प्राणिनां प्राणास्तथा सप्ताऽपि वह्नयः।।४९४

लक्षणमाह—पुण्यात्मेति। यः पापादेव भयं प्राप्नोति, न च मरणाद्, न वा दारादिवियोगात्; मरणादिप्रसङ्गेऽपि यः पापं नाचरतीति यावत्; स पुण्यात्मेत्युच्यत इत्यर्थः।।४८९।। विवेकिनः पापभयहेतुभूतं परमेश्वरभयमाह—असिधारा इति। यदि तीक्ष्णाः खड्गधारा गर्तस्योपरि प्रसारिताः स्युः, तासामतिक्रमाद् उल्लङ्घनात्; कीदृशात् ? वाहनरहितावम्बुजवत् कोमलौ पादौ यत्र तथाभूतात्; यादृशं भयं भवति, अस्य विदुषः तादृशं भयं महात्मनः परमेश्वराद् भवति, येन पापाद् बिभेति इत्यर्थः। श्रुतौ गुप्धातोः सन् इच्छायां, त्रातुमिच्छेदिति तदर्थः। ह्वेञ्धातुः क्रोशनार्थ इति च बोध्यम्।।४९०।। अस्य मन्त्रस्येश्वरस्वरूपे पर्यवसानप्रकारमभिनयति—यद्भयमिति। यत् तत्त्वं विदुषः पापनिवृत्तिप्रयोजकभयरूपमुक्तं तेन विदुषाऽऽत्मरूपतया लभ्यमानं च, तद्रूपोऽयमेव नारायणाख्य ईश्वरो भवतीत्यर्थः।।४९१।।

'अणोः'[1] इत्यादिमन्त्रस्याऽर्थमाह—अणीयानिति द्वाभ्याम्। अतिसूक्ष्मोऽतिमहांश्च आत्मा सर्वबुद्धिसाक्षितया स्थितोऽस्ति तमसङ्कल्पं निर्विकल्परूपं विद्याधायकत्वेन धातृपदोक्तस्य गुरोः अनुग्रहेण पश्यति। इति द्वयोः सम्बन्धः।।४९२-३।। तस्यात्मनोऽद्वयत्वस्फुटीकरणाय विश्वकारणत्वं प्रतिपादयतः 'सप्त प्राणा' इत्यादेः 'अन्तरात्मा' इत्यन्तस्य[2] अर्थमाह—सर्वस्येति सप्तभिः। महिमा इति 'यो वै भूमा' (छां. ७.२३) इत्यादिश्रुतौ भूमशब्द इव भवितृप्रधानो निर्देशः। तथा च सर्वदः सर्वप्रदो योऽयं सर्वस्य जगत ईश्वरः स महिमा महान् अद्वितीय इति यावत्, यत इतः अस्मादेव सप्तलोकवर्तिशरीरावच्छिन्नत्वेन सप्तसंख्याकाः प्राणा जाताः, तथाऽर्चिःपदोक्ताः सप्त वह्नयो जाता इत्यर्थः।।४९४।। सप्त वह्नीन् गणयति—भौम इति। भौमः काष्ठादिस्थितोऽग्निः प्रथमः। जाठरो

पत्नी आदि-प्रयुक्त दुःख से जिसे कभी डर नहीं लगता।।४८९।। किसी गड्ढे पर अतितेज धार वाली तलवारें ऊपर की ओर धार किये बिछी हों और कमल से कोमल पैरों वाले को नंगे पैर उन पर चलकर गड्ढा लाँघना हो तो उस व्यक्ति को जैसा भय होगा वैसा भय इस पुण्यात्मा महात्मा को पाप से लगता है जिसका फल ईश्वर अवश्य देता है।।४९०।। समझदार जिससे डरता है और तत्त्वज्ञान से जिसे आत्मरूप समझता है वह यही आनंदात्मा महेश्वर है।।४९१।।

अणु से भी अणुतर और महत् से भी महत्तर आत्मा इस जंतु के हृदयस्थान में स्थित बुद्धि में साक्षिरूप से छिपा है। प्रत्यक्तत्त्व में एकाग्र चित्त वाला पुरुष गुरु की कृपा से जब शोकरहित हो जाता है तब उस निर्विकल्पक आत्मा

१. 'अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः। तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्।।'
२. 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त जिह्वाः। सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशयान्निहिताः सप्त सप्त।। अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः। अतश्च विश्वा ओषधयो रसाश्च येनैष भूतास्तिष्ठत्यन्तरात्मा।।'

भौमोऽयं विविधस्त्वेको द्वितीयो जाठरस्तथा। सूर्यः सोमस्तथा विद्युद्वाडवश्चक्षुरत्र ते।।४६५

आदित्याद्याश्च समिधः पञ्चाग्नौ पञ्चकीर्तिताः। श्रौती स्मार्ती च सप्तैताः समिधोऽपि ततोऽभवन्।। भूराद्याः सप्त ये लोकास्तेऽप्यस्मादात्मनोऽभवन्।।४६६

काली चैव कराली च तृतीया स्याद् मनोजवा। सुलोहिता तथैवान्या धूम्रवर्णा च पञ्चमी। स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी सप्त जिह्वास्ततोऽभवन्।।४६७

लोका ये ब्रह्मणो जाताः सप्त सप्त मरुद्गणाः। चरन्ति तेषु सततं बाह्याः प्राणाः शरीरिणाम्।।४६८

अतः समुद्राः संजाताः सर्वेऽपि गिरयस्तथा। नद्यो नानाविधास्तद्वत् स्यन्दन्ते या दिशो दश।।४६६

अतो रसात् स्वयंभास ओषध्यो भूमिसंश्रयाः। जायन्ते येन देहेषु जीवत्स्वेषोऽवतिष्ठते[1]।।५००

द्वितीयः। सूर्यसोमविद्युद्वाडवाश्चत्वारः। इति षट्। चक्षुरिन्द्रियरूपः सप्तमः। इत्येवं ते वह्नयः सप्तेत्यर्थः।।४६५।। सप्त समिधः सप्त लोकाश्च ततो जाता इत्याह—आदित्याद्या इति। द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषिद्रूपाणां पञ्चानामग्नीनां क्रमेण आदित्यवायुसंवत्सरवागुपस्थरूपाः पञ्च समिधः छान्दोग्ये प्रसिद्धाः। श्रौती श्रौतेषु आहवनीयाद्यग्निषु निधीयमानकाष्ठरूपा षष्ठी। स्मार्ती स्मृतिप्रसिद्धाऽऽवसथ्याग्निसम्बन्धिनी सप्तमी। स्फुटमन्यत्।।४६६।। मुण्डकप्रसिद्धाग्नेः (१.२.४) सप्त जिह्वा अपि ततो जाता इत्याह—कालीति। काल्यादीनि विश्वरूप्यन्तानि अग्निजिह्वानां नामानीति।।४६७।। लोका इति। ये भूरादयो लोका ब्रह्मणो जाता उक्ताः तेषु विचरन्तः सप्त सप्त एकोनपञ्चाशत्सङ्ख्याका मरुतोऽपि ब्रह्मणो जाता इत्यनुषङ्गः। कीदृशा मरुतः ? सर्वेषां बाह्यप्राणरूपाः।।४६८।। अत इति। अत उक्तरूपाद् ईश्वराद् एव समुद्रादयो जाता इति।।४६६।। अतो रसादिति। तथाऽत एव ईश्वराद् अङ्कुरादिपरिणामहेतुरसरूपेणावस्थिता ओषध्यो यवव्रीह्यादयो जायन्ते। न केवलं रसरूप ईश्वर ओषध्युत्पत्तिहेतुः किन्तु जीवनस्यापीत्याह—येनेति। येन रसरूपेश्वरेण देहा 'जीवन्त'—इति व्यवह्रियन्ते तेषु एष जीवात्मा तिष्ठति चेत्यर्थः।।५००।।

को 'मैं' समझता है। (विषयिक उद्वेग से मन में बसी खिन्नता शोक है। विषयाकर्षण क्षीण होने पर विषय उद्वेग नहीं पैदा कर सकते। विषयों को जितना महत्त्व दें उतना ही वे हर्ष-शोक दे सकते हैं। जब उन्हें महत्त्व नहीं दिया जाता तब वे तात्कालिक सुख-दुःख भले ही दें, हर्ष-शोक नहीं उत्पन्न करते अर्थात् राग-द्वेष के प्रयोजक नहीं बनते। यह विषय- वैतृष्ण्य गुरुकृपा से ही प्राप्त होता है। वे ही संसार की हेयता स्पष्ट कर सकते हैं।)।।४६२-३।।

जो यह सारे जगत् का ईश्वर, सर्वप्रदाता है वह महान् है, अद्वितीय है क्योंकि इसी ईश्वर से प्राणियों के ये प्राण पैदा हुए हैं जो सातों लोकों के शरीरों में कार्यरत हैं। सातों आगें भी इसीसे उपजी हैं।।४६४।। सात आगें ये हैं—१) लकड़ी, कोयला आदि में रहने से नाना प्रकार की भौम (भूमि पर कार्यकारी) आग। २) जाठर अग्नि जो शरीर को गर्म रखती है। ३) सूर्य। ४) चंद्र। ५) मेघों में चमकने वाली बिजली। (अथवा सभी तरह की बिजली समझी जा सकती है। आग से यहाँ ऊर्जा विवक्षित ही है।) ६) वाडवाग्नि जो समुद्र में कार्यकारी होती है। ७) चक्षु इन्द्रिय।।४६५।। उसी ईश्वर से सात समिधाएँ पैदा हुई—१) आदित्य (जो पंचाग्निविद्या में द्यु-रूप अग्नि की समित् है)। २) वायु (पर्जन्य की समित्)। ३) संवत्सर (पृथ्वी की समित्)। ४) वाक् (पुरुष की समित्)। ५) उपस्थ (योषित् की समित्)। ६) श्रौत समिधा अर्थात् श्रौत कर्मों की आहवनीयादि अग्नियों में डाले जाने वाले काष्ठादि। ७) स्मार्त समिधा अर्थात् स्मृतिप्रोक्त

---

१. भगवानपि 'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा। पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।'१५.१३।। इत्यात्मनो रसरूपादोषधिपोषणं वर्णयामास।

ब्रह्मादयो हि यस्य स्युः पुरुषस्य विभूतयः। मुख्या हि यमजामन्त्रे हंसमन्त्रे च जानते।।५०१
घृतमित्यादिमन्त्रेषु यं कर्मण्यपि सङ्गतम्। वदन्ति कवयो नित्यमानन्दात्मानमीश्वरम्।।५०२
देवानां प्रथमो यश्च पुरस्तात् सर्वदेहिनाम्। वर्तमानो हृदि स्थित्वा धियः सर्वाः प्रपश्यति।।५०३
हिरण्यगर्भमुत्पाद्य भगवान् भूतभावनः। संयोजयतु नः सर्वान् आत्मनः शुभया धिया।।५०४

'ब्रह्मा देवानाम्'[1] इत्यादिमन्त्रत्रयस्याऽर्थं सूचयति—ब्रह्मादयो हीति। यस्य परमेश्वरस्य ब्रह्मा हिरण्यगर्भः तत्प्रभृतयो देवादीनां मध्ये मुख्या विभूतय इति सम्बन्धः। श्रुतौ 'पदवी'-पदेन पदं त्राणं मृतसंजीविनीविद्यारूपं वेति जानाति इति व्युत्पत्त्या शुक्र उक्तः। 'स्वधिति'-पदेन धनदानं, 'वन'-पदेन वशीकरणसाधनम् उक्तम्। 'रेभन्'-नितिपदस्य स्तूयमान इत्यर्थ इति भावः। निरुक्ते विभूतिपक्षं त्यक्त्वा प्रकारान्तरेणाऽस्य मन्त्रस्य व्याख्यानं तत एव अवगन्तव्यम्। तथा यम् ईश्वरम् 'अजाम्'-इत्यादिके मन्त्रेऽष्टमाध्याये (श्लो. ६२४ आदौ) व्याख्याते, 'हंस' इत्यादिके पूर्वाध्याये (श्लो. ६०२ आदौ) व्याख्याते प्रतिपादितं बुधा जानन्तीत्यर्थः।।५०१।। 'घृतम्' इत्यादीनां पञ्चमन्त्राणां तात्पर्यार्थमाह—घृतमित्यादीति। यं देवं घृतमित्यादिमन्त्रेषु प्रतिपादितं कर्मणि घृताद्यङ्गरूपेण यज्ञरूपेण च सम्बद्धं वदन्ति इति योजना। तत्र च 'त्वारी'-त्यादिर्मन्त्रो यज्ञपर इति बोध्यमिति।।५०२।।

'यो देवानाम्' इत्यादेः 'परमः स्वराड्' इत्यन्तस्य[2] मन्त्रग्रन्थस्य अनुक्रमेणार्थमाह—देवानां प्रथम इत्यादि द्व्यूनषष्टिश्लोकैः। तथा यो नारायणाख्यो देवानां प्रथम आदौ पूज्यः पुरस्तात् पूर्वं वर्तमानत्वात्, यश्च सर्वदेहिनां हृदि स्थित्वा सर्वाः चित्तवृत्तीः पश्यति, यश्च रुद्ररूपः सर्वऋषीणां गुरुः ब्रह्माणं हिरण्यगर्भं जायमानम् अनुग्रहदृष्ट्या सर्वज्ञं करोति सोऽस्मान् शुभया धिया युक्तान् करोतु। इति द्वयोरर्थः।।५०३-४।। एवमिति। एवम् इत्थं

नियमानुसार ग्रहण की आवसथ्य अग्नि में डाली जाने वाली लकड़ी आदि। सातों लोक भी इसी ईश्वर से उत्पन्न हुए—१) भू। २) भुवः। ३) स्वः। ४) महः। ५) जनः। ६) तपः। ७) सत्य।।४९६।। अग्नि की सात जीभें भी उसी ईश्वर से पैदा हुईं—१) काली। २) कराली। ३) मनोजवा। ४) सुलोहिता। ५) सुधूम्रवर्णा। ६) स्फुलिंगिनी। ७) विश्वरूपी (विश्वरुची)।।४९७।। ब्रह्म से उत्पन्न भूरादि लोकों में उनचास मरुत् संचरण करते हैं जो शरीरधारियों के बाहरी प्राण हैं। वे मरुत् भी ब्रह्मप्रजा ही हैं। (बाहरी प्राण अर्थात् शरीर के अवयव नहीं हैं लेकिन शरीर की प्राणशक्ति को कार्यकारी रखने के लिये इनका शरीर में आवागमन अनिवार्य है।)।।४९८।। सभी समुद्र, सभी पहाड़, दसों दिशाओं में बहने वाली नाना प्रकार की नदियाँ—सब इसी महेश्वर की उपज हैं।।४९९।। भूमि-स्थित व्रीहि आदि ओषधियाँ इसी स्वप्रभ रस से, आनंदात्मक ईश्वर से पैदा होती हैं। इसी रस से शरीर जीवित बने रहते हैं और उनमें जीवात्मा बैठा रहता है।।५००।।

ब्रह्मा आदि प्रमुख देवता भी उसी परम पुरुष के वैभव का ही विस्तार हैं। अजामंत्र (श्वे. ४.५) और हंसमंत्र (कठ. ५.२) में वही प्रतिपादित है ऐसा बुद्धिमान् समझते हैं।।५०१।। 'घी से सिंचन किया' आदि मंत्रों में भी प्रतिपादित वही देव है; वही घी आदि बनकर कर्मांग बनता है। कर्म भी वही ईश्वर है। आनंदात्मा नित्य ईश्वर ही सर्वरूप है ऐसा कवि कहते हैं।।५०२।।

देवताओं से भी पहले वर्तमान होने के कारण जो देवताओं के लिये भी प्रथम पूज्य है, जो सब देहधारियों के हृदय में रहकर सारी बुद्धिवृत्तियों का साक्षी बनता है, जो हिरण्यगर्भ को उत्पन्न कर अपनी अनुग्रह दृष्टि से ही उसे सर्वज्ञ बना देता है, वह भूतभावन भगवान् हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करे।।५०३-४।।

---

१. 'ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्। श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन्।।'
२. 'यो देवानां प्रथमं पुरस्ताद् विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः। हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो देवः शुभया स्मृत्या संयुनक्तु।।'

एवं सम्प्रार्थ्यमानोऽयं भगवानधिकारिभिः। आत्मानं दर्शयत्येनं तान् प्रति प्रतिवर्जितम्। ।५०५
यस्मात् परः परो नास्ति कश्चिज्ज्यायान् अणुश्च वा। निश्चलो वृक्षसदृशः स्वप्रकाशो दिवि
स्थितः।। एकस्तेनेदमखिलं पूर्णं पुरुषरूपिणा। ।५०६

दृश्यत्यागेनाऽमृताप्तिः

न कर्मणा न प्रजया न धनेन कदाचन। नारायणः पुमानेष लभ्यस्त्यागं विना नृभिः। ।५०७
पुरुषो मोक्षनामाऽयम् अमृतत्वं प्रकीर्तितः। त्यागेनैनं पुरा केचित् प्राप्ता आत्मस्वरूपतः।।
वर्णिनां हि सहस्रेषु भाग्यवन्तो नरोत्तमाः। ।५०८
स्वर्गादपि समुत्कृष्टमानन्दात्मानमीश्वरम्। स्वप्रकाशं समायान्ति यतयो गुरुवाक्यतः।।
न हि तं स्वात्मनो बुद्धौ तादात्म्याऽभेदवर्जिताः। ।५०९
वेदान्तजात्मविज्ञानसुनिश्चितपदार्थकाः। संन्यासयोगतः शुद्धचित्ताः शान्त्यादिसंयुताः।
यतयो यत्र जीवन्तः साक्षान्नैव विजानते। ।५१०

व्याख्यातमन्त्रेण अधिकारिभिः स्तूयमानः संस्तान् अधिकारिणः प्रति एनम् उत्तरश्लोकप्रतिपाद्यम्[1] आत्मानम् आत्मनः स्वरूपं दर्शयति। कीदृशं स्वरूपम् ? प्रतिवर्जितं तुल्यहीनम् इत्यर्थः। 'प्रतिः सादृश्ये' इत्युपसर्गसूत्रेषूक्तम्। ।५०५।। सादृश्यहीनं रूपमभिनयति—यस्मादिति। परो भिन्नः, परोऽधिकः, वृक्षः स्थाणुः तद्वद् निश्चलः, दिवि स्वप्रकाशस्वरूपे। स्फुटमन्यत्। ।५०६।।

तत्प्राप्तिहेतुश्च सर्वदृश्यत्याग एवेत्याह[2]—कर्मणेति। नृभिः अधिकारिभिः। ।५०७।। त्यागस्य नारायणलाभहेतुत्वसाधकौ अन्वयव्यतिरेकौ दर्शयति—पुरुष इति द्वाभ्याम्। अयं नारायणाख्यः पुरुषो मोक्षसंज्ञकाऽमृतत्वरूपो भवति, तम् एनं केचिद् भाग्यवन्तः त्यागेन एव आत्मरूपतः आत्मत्वेन प्राप्ता इति सम्बन्धः। ।५०८।। न केवलं पूर्व एव प्राप्ताः किन्तु इदानीमपि तं ज्ञानसमकालं यतयः प्राप्नुवन्तीत्याह—स्वर्गादिति। स्वर्गाद् नाकपदोक्तात् परम् उत्कृष्टं बुद्धिगुहायां स्थितम् आनन्द रूपम् ईश्वरं यतयः त्यागिनो गुरुवाक्यदर्शितं विशन्ति। ये तु देहादौ तादात्म्याभिमानेन अभेददृष्टिरहिताः, त्यागहीना इति यावत् ते न विशन्तीत्यर्थः। ।५०९।। ननु केषांचिद् यतीनामपीह ब्रह्मसाक्षात्कारो न भवतीति व्यभिचारेण त्यागस्य कथं हेतुत्वमिति चेद्? न, प्रतिबन्ध-विशेषेण विलम्बेऽपि ब्रह्मलोके तेषामवश्यं तल्लाभाद् इत्याह[3]—वेदान्तेति। वेदान्तवाक्येभ्यो जातेन आत्मविचारेण निश्चितौ तत्त्वम्पदार्थौ यैस्ते तथा संन्यासेन योगेन चित्तवृत्तिनिरोधेन च शुद्धधियः शमादिसम्पन्नत्वाद् एवं-

अधिकारियों द्वारा यों प्रार्थित यह भगवान् उन्हें इस निरुपम आत्मा का दर्शन करा देता है जिससे परे बड़ा या छोटा और कुछ नहीं है, जिससे श्रेष्ठ भी कुछ नहीं है, जो ठूँठ-सा निश्चल है, स्वप्रकाश स्वरूप में ही प्रतिष्ठित है, अद्वितीय है, जिस पूर्णस्वरूप से यह सारा संसार पूर्ण है। ।५०५-६।।

यह नारायण पुरुष कर्म, प्रजा और धन से कभी नहीं मिलता। समस्त दृश्यवर्ग का त्याग किये बिना कोई अधिकारी इसे पा नहीं सकता। ।५०७।। मोक्ष कहलाने वाली अमरता इस पुरुष का स्वरूप है। हज़ारों वर्णियों में जो कोई सौभाग्यशाली उत्तम नर थे उन्होंने त्याग के द्वारा इसे 'मैं'-रूप से प्राप्त किया। ।५०८।। प्राचीन समय में ही नहीं आज भी इसे पाया जा सकता है : सर्वत्यागी यति लोग गुरु के उपदेश से इस आनंदात्मा स्वप्रकाश ईश्वर को पाते हैं जो स्वर्ग से भी परम उत्कृष्ट है, अपनी ही बुद्धिरूप गुफा में साक्षिरूप से स्थित है। जो तो देहादि में तादात्म्य-अभिमान छोड़ते नहीं अतः अभेददृष्टि से वंचित हैं वे इस परमात्मस्वरूप में प्रवेश नहीं पाते। ।५०९।। (अगर किसी रुकावट

१. 'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।।'
२. 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः। परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति।।'
३. 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे।।'

ते मृत्वा ब्रह्मणो लोके गत्वा ब्रह्मसमाः सदा। आत्मविज्ञानसम्पन्नाः संस्थिताः परमामृते।।५११

ब्रह्मणो देहपातेऽथ ब्रह्मणा स्वात्मना सह। अमृताज्जीव आनन्दाद् आनन्दात्मानमात्मना।।
गत्वा मायादिनिर्मुक्ता मुच्यन्ते सर्व एव ते।।५१२

'दहम्' आदेरर्थः

अत्यल्पे हृदयाम्भोजे स्वाङ्गुष्ठेन समे सदा। विपापे परमे वेश्मभूते स्वात्मस्वरूपिणः।।५१३

पुर एकादशद्वारे विहिते विश्वकर्मणा। अणोरणीयांस्तस्यान्तर्वर्तते यः पुमान् परः।।५१४

आनन्दात्मा हृदाकाशः स्वप्रभो दुःखवर्जितः। साक्षात्कृत्यैव तं तत्र ब्रह्मलोके यथा भुवि।
यतयः परिमुच्यन्ते नान्यथा तेऽपि कर्हिचित्।।५१५

विधा ये यतयः प्रतिबन्धविशेषाद् इह जीवनावस्थायां यदि साक्षात्कारं न लभन्ते तथाऽपि ते ब्रह्मलोके गत्वा ब्रह्मणा हिरण्यगर्भेण साम्यं गताः सन्तः परमेऽमृते मोक्षसाधने ज्ञाने स्थिताः तत्परा भवन्तीति द्वयोरर्थः।।५१०-१।। ब्रह्मण इति। ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य परपदोक्तस्य देहान्तकाले ब्रह्मणा हिरण्यगर्भेण स्वात्मनाऽऽत्मतयोपासितेन सह ते सर्वे मुच्यन्ते[1]। तत्र हेतुतया महावाक्यार्थसाक्षात्कारं परामृतपदोक्तमभिनयति—अमृताद् इत्यादिना विशेषणेन। जीवस्वरूपेऽनुगतो य आनन्दः सर्वान्तिरतयाऽवस्थितः श्रुतौ अमृतपदोक्तः, तमादाय आनन्दरूपं तत्पदार्थम् आत्मना ऐक्येन गत्वा मायादिसकलबन्धहीना भवन्तीत्यर्थः।।५१२।।

एतच्छ्रुत्वाऽत्र जन्मनि साक्षात्कारार्थं यत्नशैथिल्यं न कार्यं यतः तत्र ब्रह्म गत्वाऽपि अयमेव साक्षात्कारोपाय इत्यर्थपरतया 'दहम्'[2] इत्यादिमन्त्रं योजयति—अत्यल्प इति चतुर्भिः। यदिदं शरीररूपम् एकादशद्वारं पुरं विश्वकर्मणा ईश्वरेण निर्मितं, तत्र यद्धृदयकमलम् अत्यल्पम् अङ्गुष्ठपरिमाणत्वात्, तदात्मरूपस्य ब्रह्मणो वेश्मभूतं, तस्मिन् हृदाकाशसंज्ञः अणोरणीयान् अतिसूक्ष्मः परमेश्वरो वर्तते। तं साक्षात्कृत्यैव यतीनां मोक्षः। इति त्रयाणां के कारण इस जन्म में तत्त्वनिष्ठा न पा सकें तो भी साधन-संलग्न यति ब्रह्मलोक जाकर वहाँ ब्रह्मनिष्ठा पा ही लेते हैं—) जिन यतियों ने वेदान्तवाक्यों के अनुसार आत्मा का विचार कर तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ का सही स्वरूप निर्णीत कर लिया, सब कर्मों के त्याग से और चित्तवृत्ति के निरोध से बुद्धि निर्दोष कर ली, शम आदि से संपन्न हैं, वे जीवित रहते हुए अगर किसी रुकावट के कारण आत्मसाक्षात्कार न प्राप्त कर पायें तो वे मरणोपरान्त ब्रह्मलोक जाकर ब्रह्मा के समान बनकर हमेशा उस परम अमृत में अर्थात् मोक्षसाधनभूत ज्ञान में तत्पर रहते हैं और आत्मसाक्षात्कार से परिपूर्ण हो जाते हैं।।५१०।। ब्रह्मा भी उन यतियों का स्वात्मा ही है। वे भी परोक्षतः इस बात को जानते हैं और निरंतर भेददृष्टि का तिरस्कार भी करते रहते हैं। ब्रह्मा की प्रारब्धसमाप्ति पर जब उसका शरीर गिरता है तब वे सब यति भी जीवस्वरूप में अनुगत आनंद को, जिसे श्रुति में 'अमृत' कहा है, ही ग्रहण कर व्यापक आत्मा (तत्पदार्थ) का उस ग्रहण किये आत्मा से (त्वंपदार्थ से) अभेद जानकर माया आदि सकल बंधनों से छूट जाते हैं।।५११-२।।

(ब्रह्मलोक में मोक्ष हो जायेगा इस भरोसे यहाँ प्रमादी, बहिर्मुखी नहीं हो जाना चाहिये क्योंकि वहाँ जाकर भी साक्षात्कार का उपाय तो यही रहेगा ! ब्रह्मलोक में भी जो भोगपरायण होगा उसकी पुनरावृत्ति ही होगी, उसे मोक्ष नहीं मिलेगा। इस अभिप्राय से मंत्रव्याख्या करते हैं :) संसार के रचयिता परमात्मा ने ग्यारह दरवाज़ों वाला यह पुर बनाया है—हमारा शरीर। हमारे हाथ के अंगूठे जितना छोटा एक हृदयरूप कमल इस शरीर में है। निष्पाप अतः श्रेष्ठ वह हृदय स्वात्मरूप वाले ब्रह्म का मानो निवास-स्थान है। उसमें अणु से भी अणुतर अतिसूक्ष्म परमेश्वर वर्तमान है। वह परम पुरुष आनन्दस्वरूप है, निर्दुःख स्वप्रकाश है। हृदय में उसका साक्षात्कार करके ही यतिगण पूर्णतः मोक्ष पाते हैं।

---

१. सूत्रेषु ३.४.५१, ४.४.२२ निरणायि विषयोऽयम्।

२. 'दहं विपापं वरवेश्मभूतं यत्पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम्। तत्राऽपि दहं गगनं विशोकं तस्मिन्यदन्तस्तदुपासितव्यम्।।'

अत्र वाऽपि च तत्राऽयं स ज्ञेयो यतयः सदा। अत्रैव च ततो ज्ञेयः स्वात्मनः क्षेममिच्छता।।५१६

'यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः। तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः।।'५१७

स्वस्मिन् रमयति स्वस्य जयशीलान् महात्मनः। ओङ्कारः स्वर एतस्माद् उच्यते वेदवादिभिः।।५१८

निश्चलं न भवेच्चित्तं यदात्मश्रवणे नृणाम्। ओङ्कारेण सदा तेषामात्मज्ञानं श्रुतिर्जगौ।।५१९

सम्बन्धः।।५१३-५।। फलितमाह—अत्र वापीति। अत्र अस्मिँल्लोके, तत्र ब्रह्मलोके वा आत्मज्ञानादेव मोक्ष इति यदा सिद्धं तर्हि हे यतयः! अत्रैव स आत्मा ज्ञेयः,[1] बह्वन्तरायकब्रह्मलोकाशया न शैथिल्यं युक्तमित्यर्थः।।५१६।।

आत्मसाक्षात्काराय प्रणवालम्बनं योगं विदधतं मन्त्रं पठति—यो वेदादाविति।।५१७।। अस्यार्थमाह—स्वस्मिन्निति त्रिभिः। स्वस्मिन्नात्मतत्त्वे जयपरान् रमयति क्रीडयति इति व्युत्पत्त्या 'स्वर'-पदेन प्रणव उक्त इत्यर्थः।।५१८।। यस्य महावाक्यश्रवणमात्रेण आत्मसाक्षात्कारो न भवति तस्य प्रणवालम्बनेन स भवति इत्यस्मिन्नर्थे श्रुतिजातं मानमित्याह—निश्चलमिति। श्रुतिः तत्समूहः।।५१९।। प्रणवालम्बनं ध्यानम्

जैसे भूमि पर उसके साक्षात्कार के सिवाय और कोई मोक्षोपाय नहीं वैसे ब्रह्मलोक में भी मुक्ति का उपाय तो उसका साक्षात्कार ही है। हे यतियो ! यहाँ हो या वहाँ (ब्रह्मलोक में), मोक्ष पाने के लिये उसे जानना तो पड़ेगा ही। अतः अपना कल्याण चाहने वाले को चाहिये कि यहीं उस ब्रह्म का साक्षात्कार कर ले।।५१३-६।।

वेदपाठ के आरंभ में जो ॐ स्वर बोला जाता है, जिसका अभिप्राय उपनिषदों में प्रतिपादित है, वह ध्यानप्रक्रिया से जगत्कारण में लीन हो जाता है, उसके बाद बचे नाद में जिसका ध्यान किया जाता है वह महेश्वर है। (ॐ में अ-उ-म् तीन हिस्से हैं। इनमें क्रमशः विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत का ध्यान करना चाहिये, फिर विराट्रूप से जिसका ध्यान किया उस अकार को उकार में लीन करे, हिरण्यगर्भरूप से ध्यान किये उकार को मूलप्रकृतिरूप से ध्याये मकार में लीन करे—यह ध्यानप्रक्रिया है। 'पंचीकरण' नामक प्रकरण और उसकी व्याख्याओं में इसका खुलासा उपलब्ध है।)।।५१७।। यहाँ ॐ को 'स्वर' कहा क्योंकि जो महात्मा स्वात्मतत्त्व पर विजय पाने के लिये तत्पर हैं उन्हें 'स्व' अर्थात् स्वात्मा में ही 'र' अर्थात् रमा देता है, वे इसके सहारे स्वात्मा में ही रमण करने लगते हैं। इसी रहस्य से वेदवेत्ता ॐ को स्वर कहते हैं।।५१८।। श्रुतियों ने बताया है कि लोगों का चित्त जब आत्मा के श्रवण में स्थायीरूप से एकाग्र नहीं होता तब उन्हें ओङ्कार के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये। (अर्थात् जिसका मन सर्वथा ही श्रवणपरायण न हो सके वह तो प्रणवप्रयोग करे ही, जो श्रवण करता भी है वह भी जब पाये कि मन श्रवण में स्थिर नहीं हो रहा तब प्रणव का प्रयोग करने लग जाये। पंचदशी के ध्यानदीपप्रकरण का भी इस प्रसंग में अनुसंधान लाभप्रद है। यद्यपि मर्यादानुसार अकेला प्रणव संन्यासी के लिये ही जपनीय है तथापि वर्णियों के लिये उसका निषेध न होने से साधक उसका ध्यानार्थ उपयोग कर सकता है। संन्यासी के लिये तो वही अकेला मंत्र है, अन्य कोई सिर्फ प्रणवजप में सीमित नहीं रह सकता क्योंकि गायत्री आदि का जप अन्यों का नित्य कर्म है, इसीसे संन्यासी का विशेष अधिकार है। वेदविहित प्रणव में अधिकारचिंता हो भी तो पुराणविहित, गीताविहित ॐ में सबका अधिकार है। ॐ को तो जैनों व सिक्खों तक ने मंत्ररूप से स्वीकारा है, उस ॐ में तो अधिकारविचार का प्रसंग नहीं। अथवा लौकिक भाषा में भी ॐ शब्द है, उसीका उच्चारण किया जा सकता है। विवेकपूर्वक विश्लेषण उक्त ढंग से ही करे तभी साधक प्रणव से आत्म-बोध पा सकता है। ध्वनि (शब्द) एक होने पर भी अधिकारानुसार परंपरा से प्राप्त होने पर उसमें अपूर्व शक्ति रहती है इसीसे लौकिक-स्मार्त-श्रौत प्रणवों में अंतर है, स्वरूप में भेद नहीं है।)।।५१९।। उच्चारण किया यह ओंकार जिस

---

१. काठकेऽपि 'इह चेदशकद्बोद्धुमि' त्यारभ्यैव 'यथाऽऽदर्शे' इत्याद्युक्तं तत्र ब्रह्मलोकस्य दुष्प्रापत्वाल्लोकान्तरे च विस्पष्टज्ञानाऽसम्भवात् 'आत्मदर्शनायेहैव यत्नः कर्त्तव्य इत्यभिप्रायः' इति भाष्ये स्पष्टम्। केनवाक्ये च 'मनुष्यजन्मनि सत्यवश्यमात्मा वेदितव्य इत्येतद् विधीयते' (२.५) इति।

उच्चारितोऽयमोङ्कारः कारणे यत्र लीयते। तस्मात् परं चिन्तयत आत्मज्ञानं विजायते।।५२०
अणोरणीयान् हृदये पुरुषो योऽत्र कीर्तितः। सहस्रमस्तकः सोऽयं महतोऽपि महान् यतः।।५२१
सर्वदेहेन्द्रियप्राणः सर्वेषां सुखदुःखदः। विश्वरूपः स्वयंज्योतिर्नारायण इतीरितः।।५२२

नारायणपदव्युत्पत्तयः

माया नारेति सम्प्रोक्ता तत्कार्यं नारजं तया। तत्राऽयं वर्तते यस्मात्तेन नारायणः स्मृतः।।५२३
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। आधारस्ता विराजो यत्तेन नारायणो हि सः।।५२४

अभिनयति—उच्चारित इति। अयं वेदस्य आद्यन्तयोः पाठ्यः प्रणव उच्चारितः सन् लयावस्थायां यत्र कारणे पराख्ये लीयते तस्मात्परं चिद्रूपं शुद्धं चिन्तयतो ध्यायतः स्वरूपसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः।।५२०।।

'सहस्रे'[1] त्यादिग्रन्थार्थमाह— अणोरित्यादिना। योऽयं सर्वहृदये सन्निहितः पुरुषः अणोरणीयान् इत्युक्तः स महतोऽपि महीयान् बोध्यः यतः सहस्रम् असङ्ख्यातानि मस्तकानि यस्य स तथाभूतः। तत्र हेतुः—सर्वेत्यादिः। सर्वे देहा इन्द्रियाणि प्राणाश्च यस्य स तथा; सर्वेषां कर्मिणां सुखस्य शंपदोक्तस्य, तदुपलक्षितदुःखस्य च प्रापकः; सर्वान्तर्यामी सर्वफलप्रदश्चेति यावत्। विश्वरूपः स्वयं ज्योतिष्ट्वेन देवपदोक्तो वक्ष्यमाणाभिः व्युत्पत्तिभिः नारायणपदोक्तश्च। इति द्वयोरर्थः।।५२१-२।।

नारायणपदस्य एकादश व्युत्पत्तीर्दर्शयंस्तत्र आद्यामाह—मायेति। नयति सन्निधिमात्रेण प्रवर्तयति इति नरश्चिदात्मा पुरुषः तस्य दृश्येन सम्बन्धिनी माया नारा उक्ता, अजादित्वाट्टाप्; तस्या मायायाः कार्यं सूक्ष्मप्रपञ्चरूपं तया उक्तव्युत्पत्त्या नारमित्युक्तम्। तत्र माया-तत्कार्यरूपयोः नारपदार्थयोः उपाधिभूतयोः यतः अयते प्रतिबिम्बतया वर्तते—नन्द्यादित्वाल्ल्युः (३.१.१३४)—स ईश्वररूपो हिरण्यगर्भरूपो वा नारायण इत्युक्त इत्यर्थः।।५२३।। विराड्भावपरां द्वितीयां व्युत्पत्तिमाह—आप इति। प्रथमं नरेण सृष्टा गर्भोदकसंज्ञा आपो नारा इति प्रोक्ताः, ता यतो विराड्रूपस्य भगवत आधारः अयनं[2] भवन्ति तेन वा स तथा।।५२४।। तृतीयामाह—अपामिति। प्रथमवा-पदं

'पर' नामक कारण में लीन हो जाता है उस कारण से परे जो शुद्ध चिद्रूप है उसका ध्यान करता रहे तो यति स्वरूप का साक्षात्कार पा लेता है।।५२०।। सभी के हृदय में सन्निहित जो यह अत्यंत सूक्ष्म पुरुष बताया गया है वह क्योंकि महत् से भी महान् है इसलिये उसके अगणित मस्तक हैं ! सभी देह-इंद्रियाँ-प्राण उसीके हैं, सभी को सुख-दुःखरूप कर्मफल वही प्रदान करता है। सर्वरूप वह स्वप्रभ 'नारायण' कहा जाता है।।५२१-२।।

नारायण-शब्द को ग्यारह तरह से समझा जा सकता है : (१) केवल अपनी संनिधि के प्रताप से सबको प्रवृत्त करने वाला चिदात्मा नर है, उसकी दृश्यभूत होने से माया 'नारा' है और उसका कार्य सूक्ष्म प्रपञ्च पूर्वोक्त व्युत्पत्ति से ही 'नार' कहलाता है। (उक्तव्युत्पत्ति अर्थात् नर-सम्बद्ध होने से 'तस्येदम्' (४.३.१२०) अर्थ में अणप्रत्यय।) माया और उसके कार्य—दोनों ही उपाधियाँ हैं जिनमें प्रतिबिम्बरूप से रहता है इसलिये (मायापेक्षया) ईश्वररूप को एवं (कार्यापेक्षया) हिरण्यगर्भरूप को नारायण कहते हैं।।५२३।।

(२) नर (परमेश्वर) द्वारा पहले-पहल उत्पादित जल 'नारा' कहा जाता है। वह जल क्योंकि विराट् का आधार बनता है इसलिये विराट्-रूप को नारायण कहते हैं। (जल से सभी महाभूत समझने चाहिये। स्थूल महाभूत ही विराट् का शरीर है।)।।५२४।।

१. 'सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं विश्वशंभुवम्। विश्वं नारायणं देवमक्षरं परमं प्रभुम्।।'
२. यथाह मनुः (१.१०) 'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः।।' तत्र 'अयनम् आश्रय' इति कुलूकः।

अपां वा यः समाधारः सूत्ररूपी महेश्वरः। भूमेराधारभूतानां ततो नारायणोऽथ वा।।५२५
स्थूलसूक्ष्मवपुर्योऽयं विराट् सूत्रं च वा नरः। महाभूतात्मकस्तस्य हेतुर्नारायणोऽथ वा।।५२६
नाराणां वाऽपि जीवानां स्थिरजङ्गमरूपिणाम्।तादात्म्याद् अयनं यस्मात् तेन नारायणोऽथ वा।।५२७
पुंसो निसर्गसिद्धाः स्युः कामक्रोधादयो ह्यराः। आरं तज्जं भवेद् दुःखं यत्र तज्जडमुच्यते।।५२८
आनन्दात्मा स्वयंज्योतिर्विपरीतो यतस्ततः। नारायण इति प्रोक्त एष वा वेदवादिभिः।।५२९
अराः संसारचक्रस्य क्लेशकर्मादिकाः स्मृताः। परिणामेन यस्तेषां माया साश्रय उच्यते।।५३०

पूर्वान्वयि दर्शितम्। भूमेः नौकासमाया आधारभूता या आपो नरसृष्टा एव तासां सूत्रभूतप्राणरूपेण विधारकत्वाद् वा स तथा। नाराणामयनं विधृतिर्येन इति व्युत्पत्तेरिति भावः।।५२५।। चतुर्थीमाह—स्थूलेति। अथ वा स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चमहाभूतशरीरको विराट् सूत्रात्मा वा नरपदेनोक्तः तस्य नरस्येदं नारमयनं स्थानं यस्मिन् कारणे स तथेत्यर्थः।।५२६।। पञ्चमीमाह—नराणामिति। अथ वा नरपदोक्तानां जीवानां प्रतिबिम्बभूतानां सम्बन्धि अयनं निरूपणं यस्माद् बिम्बभूताद् भवति स परमेश्वरः तेन निमित्तेन—नारमयनं यतः—इति व्युत्पत्त्या नारायण इत्युक्त इत्यर्थः।।५२७।। षष्ठीमाह—पुंस इति। 'अरोऽजिनेऽरं चक्राङ्गे' इति हैमः। तथा च पुंसो जीवस्य मृगाजिनवत् स्वभावसिद्धाः कामादयो दोषाः गौण्या अरपदेन उक्ताः। तेभ्यः कामादिभ्यो जातं दुःखं तु आरं तस्याश्रयभूतम् अज्ञानादिजडजातम् 'आरायणम्' इत्युक्तम्। न विद्यते आरायणं यस्मिन् स्वयंप्रकाशानन्दरूपे साक्षिणि—इति व्युत्पत्त्या शुद्धात्मा नारायण इत्युक्तः। इति द्वयोरर्थः।।५२८-९।। सप्तम्यष्टम्यावाह—अरा इति। अथ वा संसाररूपचक्रस्य पञ्चक्लेशकर्मविपाकवासनारूपा अराः तिर्यक्काष्ठरूपाः प्रसिद्धाः; पुंस्त्वं 'तद्यथा रथस्यारेषु निमिभिरर्पिता[1] नाभावरा अर्पिता' (कौ. ३.८) इति श्रुत्यनुसारात्। तेषाम् अरात्मकानां क्लेशादीनां यः परिणामेन आश्रयः परिणाम्युपादानम् इति यावत्, सा तद्रूपा माया आरमयनं परिणामेन स्थितिर्यत्राश्रये—इति व्युत्पत्त्या

(३) नौका जैसे तैरती भूमि का आधार जो जल उनका विधारक सूत्रात्मरूप महेश्वर नारायण है। (नर द्वारा उत्पादित होने से जल नार हैं और उनका अयन अर्थात् विधारण करने वाला नारायण है।)।।५२५।।

(४) स्थूल-प्रपंच जिसका शरीर है वह विराट् एवं सूक्ष्मप्रपंच जिसका शरीर है वह सूत्रात्मा 'नर' है, उसका भी कारण होने से ईश्वर नारायण है।।५२६।।

(५) स्थिर-चर जीव नर हैं। क्योंकि ब्रह्म उन जीवों का आत्मा है इसलिये उसीसे उनका अयन अर्थात् निरूपण होता है। इस दृष्टि से परमात्मा नारायण है। (ब्रह्म बिंब एवं जीव प्रतिबिम्ब हैं। बिम्ब से प्रतिबिम्ब निरूपित हैं, बिम्ब ही प्रतिबिम्बों का आत्मा है, बिम्ब पर प्रतिबिम्ब अध्यस्त हैं, बिम्ब से विलग लगने पर भी उससे स्वतंत्र उनकी कोई सत्ता नहीं है।)।।५२७।।

(६) जीवों में स्वभावतः होने वाले कामक्रोधादि अर हैं। (अर-शब्द मृगादि के चर्म को कहता है। जैसे उनके चर्म स्वाभाविक हैं ऐसे स्वाभाविक होने से कामादि गौणीवृत्ति से अर कहे जाते हैं।) उन कामनादि से होने वाला दुःख आर है और उस दुःख का आश्रय अज्ञानादि आरायण है। क्योंकि स्वप्रभ आनंदरूप आत्मा उससे विपरीत है, उसमें 'आरायण' (अज्ञानादि) का सनातन अभाव है, इसलिये वेदविचारक उसे नारायण कहते हैं।।५२८-९।।

(७) संसार को चक्का समझें तो उसमें लगे अरे (ताड़ियाँ) हैं क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासनाएँ। इन अरों के रूप में परिणत होने से इनका आश्रय अर्थात् उपादान कारण वह माया 'आरायण' है, अरसम्बंधी अतः आर है और आश्रय होने से अयन है। विकारों से पूर्णतः रहित कूटस्थ आत्मा उस परिणामि-उपादानरूप माया से भिन्न होने के कारण नारायण है।

१. 'नेमिरर्पित' इति श्रूयमाणः पाठः।

नारायणस्ततो भिन्नो विकारपरिवर्जितः। परमात्माऽत्र मायाया आश्रयो वाऽत्र कीर्त्यते।।५३१

नरसम्बन्धिनी नित्यमभीष्टा सर्वदेहिनाम्। श्रीरियं सकला नानारूपाऽत्यन्तमनोरमा।।५३२

सर्वदा सुखदा पुण्यकारिणां प्राणिनामिह। पापिनां दुःखदा तद्वद् अप्राप्त्या निर्गमेन च।।५३३

स्थिता यस्मात् परे पुंसि निश्चला तत एव सः। नारायण इति प्रोक्त एष वा ब्रह्मवादिभिः।।५३४

नरसम्बन्धिनी वेयं बुद्धिः सर्वशरीरिणाम्। नानार्थदर्शिका तस्या भासकः स्वस्य तेजसा।।५३५

सत्यज्ञानादिरूपोऽयम् आनन्दात्मा स्वयम्प्रभः। नारायणोऽथ वा यस्माद् अन्यत् किञ्चिन्न विद्यते।।५३६

तस्य अक्षरतादि

अयमेव स्वयंज्योतिरक्षरं परमं पदम्। विश्वतः परमो नित्यो विश्वरूपः सनातनः।।५३७

'आरायण' इत्युक्ता। ततः परिणामिनः कूटस्थत्वेन भिन्नः परमात्मा नारायण इत्युक्तः। अथ वा नार्या मायारूपाया इदं नारं, नारम् अयनम् अध्यासेन स्थितिर्यत्र—इति व्युत्पत्त्या मायाया आश्रयोऽधिष्ठानभूतः परमात्मा तथोक्तः। इति द्वयोरर्थः।।५३०-१।। लीलाविग्रहरूपां नवमीं व्युत्पत्तिमाह—नरेति त्रिभिः। प्रथमनरस्य पुरुषविग्रहस्य परमेश्वरस्य सम्बन्धिनी लक्ष्मीः 'नारी'-तिपदेनोक्ता; तस्या इदं नारं; नारम् अयनं स्थितिरूपं यत्र स तथा। श्रियोविशेषणानि स्फुटानि। तत्र सकला कलाभिः चतुःषष्टिकौशलैः सहिता। निर्गमः अपायः। इति त्रयाणामर्थः।।५३२-४।।प्रत्यगात्मत्वपरां दशमीमाह—नरसम्बन्धिनी वेयमिति। अथ वा नरस्य द्रष्टुः नानार्थदर्शनद्वारत्वेन सम्बन्धिनी बुद्धिः 'नारी'त्युक्ता। तदीयम् अयनं भानरूपं निर्वहणं यतश्चिद्रूपाद् भवति स नारायणः। एकादशीमाह—अथ वेत्यादिना। अथ वा यस्माद् भिन्नं किञ्चिन्न अस्ति स नारायणः; आराणां भिन्नसत्ताकानाम् अयनं प्रवर्तनं यत्र स आरायणः तद्भिन्नस्तथेति व्युत्पत्तिसमन्वयाद् इति भावः।।५३५-६।।

तत्र हेतुतयाऽक्षरत्वादिकमाह—अयमेवेति। अक्षरलक्षणं पञ्चमाध्याये (श्लो. ३६३-८६) गार्गीं प्रति याज्ञवल्क्येनोक्तं बोध्यम्। तथाऽयं सनातनः पुरुषो विश्वरूपो 'विश्वतः परः, 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छां.३.१२.६)

(८) जहाँ नार अयन है वह नारायण है : नारी अर्थात् माया, उससे सम्बद्ध को नार कहते हैं। अयन अर्थात् अध्यास से होने वाली स्थिति। इस प्रकार 'नार' अर्थात् माया की 'अयन' अर्थात् आध्यासिक स्थिति जिस आश्रयभूत परमात्मा में है वह नारायण है।।५३०-१।।

(९) आदि नर परमेश्वर से सम्बद्ध लक्ष्मी 'नारी' कहलाती है, उसका (अतः 'नार') अयन (स्थिति) जहाँ है वह नारायण है। यह लक्ष्मी सभी देहधारियों को हमेशा अभिलषित है। चौसठ कौशलों से युक्त अनेक रूपों वाली यह अत्यन्त मनोरम है। पुण्यकारी प्राणियों को यह संसार में सदा सुख देती है लेकिन पापियों को न मिलने से और हाथ से निकल जाने से यह लक्ष्मी दुःख ही देती है। यह चंचला होने पर भी परम पुरुष में निश्चल हुई वर्तमान है अतः ब्रह्मवादी उस आदिपुरुष को नारायण कहते हैं।।५३२-४।।

(१०) सब देहधारियों की यह बुद्धि द्रष्टा नर को नाना अर्थ दिखाने से उससे संबद्ध अतः नारी कहलाती है। सत्य-ज्ञानादि रूप यह स्वप्रकाश आनन्दात्मा अपने स्वरूपभूत तेज से उस नारी का प्रकाशक होने से उसका अयन है अर्थात् बुद्धि की ज्ञानरूपता का निर्वाहक है इसलिये नारायण है।

(११) क्योंकि उससे भिन्न कुछ नहीं है इसलिये नारायण है। ('आर' अर्थात् भिन्नसत्ता वालों का अयन अर्थात् प्रवर्तन जहाँ हो वह भेदभिन्न जगत् आरायण और उससे विपरीत नारायण।)।।५३५-६।।

१. 'विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम्। विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति।।'

अविद्यासहितान् क्लेशान् पापानि च महान्त्यपि। स्मृत्यादिना हरत्येष यतस्तेन हरिः स्मृतः।।५३८
पुरुषो विश्वमेवेदं तं विश्वमुपजीवति। पालयत्येष निखिलं विश्वं यस्मात् पतिस्ततः।।५३९
आप्नोति च यतः सर्वं स्वात्मनाऽऽत्मा च तेन सः। शिवः परमकल्याणो मङ्गलानां च मङ्गलम्।।
आनन्दात्मा यदानन्दलेशं ब्रह्मोपजीवति।।५४०
च्युतिर्विनाश इत्युक्तः कालाद् भावेषु यो भवेत्। अच्युतो मृत्युभयदः कालकालोऽयमीरितः।।५४१
ईश्वरो जगतो यस्माद् नियन्ता भगवानयम्। शाश्वतश्च यतो नाऽयमपगच्छति कर्हिचित्।।५४२
महद्भिश्च सदैवाऽयं ज्ञेयो ब्रह्मादिभिः पुमान्। सर्वेषामपि भूतानामेष एव परा गतिः।।५४३
ज्योतिषोरर्चिरादेश्च स्वात्मशब्दाभिधस्य च। परमात्मा परं ज्योतिर्ब्रह्म तत्त्वं परं तथा।।५४४

इति श्रुत्यन्तराद् इत्यर्थः।।५३७।। हरिपदार्थमाह—अविद्येति। आदिपदेन कीर्तनादिग्रहः।।५३८।। पुरुष इति। अयं पुरुषः सर्वात्मको यत इदं विश्वं तम् एव उपजीवति तत एव सत्तादिकं लभते।[1] तथाऽयं विश्वपालकत्वात् पतिः इत्युक्तः।।५३९।। आप्नोतीति। स्वात्मना सदादिरूपेण यतः सर्वं व्याप्नोति तेन निमित्तेन आत्मसंज्ञः। मङ्गलानामपि तथात्वप्रयोजकत्वाद् यतः परमकल्याणरूपः ततः शिव इत्युक्तः। यतश्च ब्रह्मा हिरण्यगर्भोऽपि अस्य आनन्दलेशमुपजीवति तत आनन्द इत्युक्तः।।५४०।। च्युतिरिति। कालप्रयुक्तो भावानां नाशः च्युतिः इत्युच्यते। सा च्युतिः अत्रेश्वरे नास्ति, मृत्युभयप्रदत्वेन कालकालत्वेन च प्रसिद्धत्वात्। तथा च व्याख्यातश्रुतिः 'मृत्युर्धावति पञ्चमः' (तै. २.८.१; आत्मपुराणे १०.२६५), 'ज्ञः कालकालः' (श्वे. ६.२) इति च। तेन अच्युत इत्युक्त इत्यर्थः।।५४१।। सर्वनियन्तृत्वाद् ईश्वरसंज्ञः, अन्यथाभावलक्षणाऽपगमाऽभावात् शाश्वतसंज्ञः चाऽयं बोध्य इत्याह—ईश्वर इति।।५४२।। 'महाज्ञेय-परायण'-पदयोरर्थं पूर्वोत्तरार्द्धाभ्यामाह—महद्भिरिति। महद्भिः उत्तमाधिकारिभिः।।५४३।।

[2]ज्योतिषोरिति। अर्चिः वह्निज्वाला तत्प्रभृति जडं ज्योतिः, स्वात्मशब्दवाच्यचिदाभासरूपं चेतनं ज्योतिः; अनयोः उभयोर्ज्योतिषोरपेक्षया अखण्डचिद्रूपत्वेन उत्कृष्टत्वात् परमात्मा परं ज्योतिः इत्युक्तः। अत एव ब्रह्म इति परं तत्त्वम् इति चोक्त इत्यर्थः।।५४४।।

यह नारायण ही स्वप्रभ, अक्षर, परमपद है। यह एकरस, सदा वर्तमान, विश्वात्मक और विश्व से परे है। (श्लो. ४६० में बता चुके हैं कि इसका एक भाग विश्वरूप है, तीन भाग विश्व से परे हैं।)।।५३७।। जो इसका स्मरण कीर्तन आदि करते हैं उनके अविद्यासमेत क्लेशों का एवं महापापों का भी यह हरण कर लेता है इसलिये हरि है।।५३८।। पुरुष ही यह विश्व है और विश्व उस पुरुष का ही उपजीवी है, उसीसे सत्तादि लेता है। निखिल विश्व का पालनकर्त्ता होने से यह विश्व का पति है।।५३९।। अपने सत्-आदि स्वरूप से सबको व्याप्त करता है अतः वही आत्मा है। मांगलिकों की भी मंगलता का प्रयोजक अतः निरपेक्ष कल्याणरूप होने से यही शिव है। हिरण्यगर्भ ब्रह्मा भी इसके आनंद के लेशमात्र का उपजीवन करता है अतः यही मुख्य आनंदस्वरूप है।।५४०।। भाववस्तुओं का कालनिमित्तक नाश च्युति कहा जाता है। ईश्वर क्योंकि मृत्यु को भी डरा देता है, काल का भी काल है, इसलिये उसकी च्युति न होने से वह अच्युत है।।५४१।। जगत्का नियामक होने से यही भगवान् ईश्वर है और अपरिवर्तनशील होने से शाश्वत है।।५४२।। ब्रह्मा आदि उत्तम अधिकारी इसे हमेशा जानते हैं अतः यह महाज्ञेय है और सब भूतों की चरम गति होने से परायण है।।५४३।। ज्वाला आदि जड ज्योतियाँ प्रसिद्ध हैं; स्वात्मा कहलाने वाले चिदाभास को भी विषयावभासक होने से ज्ञानज्योति माना जाता है। इन दोनों ज्योतियों से विलक्षण परमात्मा परम ज्योति, अखण्ड ज्योति है। वह चिद्रूप है,

१. 'पतिं विश्वस्याऽऽत्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतम्। नारायणं महाज्ञेयं विश्वात्मानं परायणम्।।'
२. 'नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः। नारायणः परो ज्योतिरात्मा नारायणः परः।। नारायणः परो ध्याता ध्यानं नारायणः परः। परादपि परश्चासु तस्माद्यस्तु परात्परः।।'

ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं सर्वं नारायणात्मकम्। यच्च किञ्चित् जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।।५४५
अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः। अनन्तो व्ययशून्यश्च स्वप्रभः सर्वदर्शनः।।५४६
अगाधजलधेरस्य संसारस्य जडात्मनः। मायायां कारणे तिष्ठन् मायादिपरिवर्जितः।।५४७

हृदयकमलम्

एष सर्वगतोऽप्यात्मा हार्दे पद्मेऽत्र लभ्यते। अणीयस्यात्मनो बुद्ध्या ततोऽणुः पूर्वमीरितः।।५४८
यथैवाष्टदलं पद्मं सुरक्तं मुकुली कृतम्। एवं हृदयपद्मं तल्लम्बते हृदयस्य के।।५४९
अतिरम्यं हि भूतानां पञ्चच्छिद्रमधोमुखम्। वितस्तिमात्रतो देशे नाभेरूर्ध्वमवस्थितम्।।५५०

तस्य सर्वात्मत्वमेव श्रुत्युक्तम्[1] अभिनयति—ध्यातेति द्वाभ्याम्। सर्वदर्शन-पदेन कविपदार्थ उक्तः। स्फुटम् अन्यत्।।५४५-६।।

संसाररूपसमुद्रस्याऽन्ते कारणरूपे स्थित इत्याकारं 'समुद्रेऽन्तम्' इत्यस्य[2] अर्थं दर्शयति—अगाधेति। संसारस्य कारणे मायारूपे नियन्तृतया तिष्ठन्नपि वस्तुतो मायादिहीन[3] इति सम्बन्धः।।५४७।।

हृदयकमलवर्णनस्य प्रकृतोपयोगमाह—एष इति। एष परमात्मा सर्वगतोऽपि हृदयकमलान्तर्गततयाऽतिसूक्ष्मया बुद्ध्या उपलक्ष्यत्वाद् अणुः इति पूर्वम् उक्तः, तत्स्फुटीभावाय हृदयकमलमुच्यत इति भावः।।५४८।। दहरादिविद्योपयोगिनं हृत्कमलस्वरूपं शाखान्तरगुणोपसंहारेण श्रुत्युक्तमभिनयति—यथैवेत्यष्टभिः। यथा लोकेऽष्टदलं रक्तवर्णं मुकुली कृतम् ईषद् विकसितं कमलं भवेत् तादृशं हृदयस्य के शिरसि लम्बमानम् इदमान्तरं कमलं बोध्यमित्यर्थः।।५४९।। अतिरम्यमिति। कीदृशं तत् ? रमणीयम्; पूर्वादिचतुर्दिक्षु मध्ये च वर्तमानानि पञ्च च्छिद्राणि यस्य तत्तथा; [4]वितस्तिः द्वादशाङ्गुलः, तत्परिमिते नाभेः ऊर्ध्वदेशे स्थितमिति।।५५०।। तेषु च्छिद्रेषु

विषयनिरपेक्ष है, नित्य एकरस है। इसीलिये ब्रह्म, परम तत्त्व आदि भी उसे कहते हैं।।५४४।। ध्यान-कर्त्ता, ध्यानक्रिया और ध्यानविषय—सभी नारायणस्वरूप हैं।।५४५।। जो कुछ भी प्रत्यक्ष-परोक्ष जगत् है उसे अन्दर-बाहर से व्याप्त कर नारायण स्थित है। वही अनंत, कमी से रहित, स्वप्रकाश और सर्वज्ञ है।।५४६।। जडरूप यह संसार मानो अगाध सागर है। इसका कारण जो माया उसके नियामक रूप से रहते हुए भी नारायण माया आदि से वास्तव में अस्पृष्ट है।।५४७।।

(श्लो. ५१३ से हृदय कमल का वर्णन आरंभ क्यों किया यह बताते हैं :) यह आत्मा सर्वव्यापक होने पर भी जीव को अपनी अत्यंत सूक्ष्म बुद्धि से स्वयं में प्राप्त हो जाता है। बुद्धि की सूक्ष्मता इसीसे पता लग जाती है कि यह छोटे-से हृदय कमल में समा जाती है। सूक्ष्म बुद्धि भी मानो परमात्मा को 'घेर' लेती है, वृत्ति से व्याप्त कर लेती है इसलिये परमात्मा उससे भी सूक्ष्म है, अणु है। (इस सूक्ष्मता को और हृदय में परमात्मोपलब्धि को बताने के लिये हृदयकमल का वर्णन आरंभ किया। बुद्धि की सूक्ष्मता यहाँ आयाम (माप) की दृष्टि से कही है। वास्तव में, हृदय में एकाग्र होने से बुद्धि की हृदय-अन्तर्गतता विवक्षित है न कि स्वतः सुषुप्त्यादि में वहाँ सिमट जाने से। बुद्धि सारी चंचलताएँ छोड़कर हृदय कमल में ही सचेत रहे तभी आत्मा उसमें सही-सही प्रकाशता है। अतः सूक्ष्मता से वह एकाग्रता समझनी चाहिये।)।।५४८।।

लौकिक कमल-सदृश आठ पंखड़ियों वाला, लाल, थोड़ा खिला हृदयकमल हृदयाकाश में लम्ब की तरह विद्यमान है।।५४९।। सब प्राणियों के लिये वह अतिरमणीय है। चारों दिशाओं में एक-एक और मध्य में एक—यों उसमें पाँच

---

१. 'यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।।'
२. 'अनन्तमव्ययं कविं समुद्रेऽन्तं विश्वशंभुवम्। पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्।।'
३. अयमेव भगवत ऐश्वरयोगः (गी. ९.४-५)।
४. 'अधो निष्ट्या वितस्त्यान्ते नाभ्यामुपरि तिष्ठति। हृदयं तद्विजानीयाद् विश्वस्यायतनं महत्।।' 'ज्वालामालाकुलं भाति' इति तृतीयपादपाठः क्वचिद्ग्रन्थेषु।

पूर्वं छिद्रं तु चक्षुः स्यात् पश्चिमं वागिहेरिता। श्रोत्रं च दक्षिणं छिद्रं मन उत्तरमीरितम्।।५५१
मध्यच्छिद्रं तथा घ्राणं जिह्वा मूलं तथाऽस्य च। गलं भूमिरिह प्रोक्ता ह्युरसोऽन्तरतस्तथा।।५५२
मनोयोगादिदं नित्यं मानसाख्यं प्रकीर्तितम्। गलतोऽप्यध एतत् स्याद् वितस्तिपरिमाणतः।।५५३
सोमाग्निरविनक्षत्रविद्युद्वत् तेजसा युतम्। भाति विश्वस्य कृत्स्नस्य ह्याश्रयो योगिनां सदा।।५५४
विश्वस्याऽऽयतनं यस्मात् तस्मादेतद् महत् स्मृतम्। अत्यल्पमपि विद्वद्भिर्योगिभिः स्वात्मदर्शिभिः।।५५५
नानाधातुशिलाप्रख्यैः अस्थिभिर्वपुषि स्थितैः। मांसादिधातुचित्राङ्गैः सर्वतः परिवेष्टितम्।।५५६
प्राकारेण यथा राज्ञः सरः प्रासादसंश्रयम्। तस्यान्तः सुषिरं सूक्ष्मं हृदि पद्मस्य वर्तते।।५५७
तत्रस्थया धिया योगादानन्दात्मोपलभ्यते। यस्मिन् प्रतिष्ठितं सर्वं रज्ज्वां सर्पादिकं यथा।।५५८

वास्तव्यानि चक्षुरादीनि ब्रह्मपुरुषत्वेन ध्येयानीत्याह—पूर्वमिति। तथाऽस्य कमलस्य मूलस्थानीया जिह्वा बोध्या। तथा उरसो वक्षसोऽन्तरदेशमारभ्य गलपर्यन्तो देशो भूमित्वेन ध्येयः। इति द्वयोरर्थः।।५५१-२।। मन इति। तथा इदं हृदयकमलं मनोनिवासत्वाद् 'मानसम्' इति प्रसिद्धम्, 'स मानसीन आत्मा जनानाम्' (चित्युप. ११.१.२) इत्यादिश्रुतिषु; मानसे भव इति तदर्थः। गलतः गलगतघण्टिकाप्रदेशाद् निर्गतत्वेन निष्ट्या-पदोक्ताद् अधो वितस्तिमात्रे देशे स्थितमित्यर्थः।।५५३।। 'ज्वाले'त्याद्यर्थमाह—सोमाग्नीति। सोमादिवद् अतितेजस्वि विश्वस्य आलम्बनभूतं चेदं कमलम् अन्तर्वर्त्याकाशद्वारेत्यर्थः, 'यावान् वाऽयमाकाश' (छां. ८.१.३) इत्यादिश्रुतेः।।५५४।। विश्वस्येति। यतो विश्वस्यायतनं ततोऽल्पम् अपि महद् इति योगिभिः उक्तम्।।५५५।।[1] नानेति। पुनः कीदृशम् ? नानारजतादिधातुमयशिलास्थानीयैः अस्थिभिः मांसादिपङ्कलिप्तैः वेष्टितमिति।।५५६।। प्राकारेणेति। यथा च प्राकारवेष्टितप्रासादान्तर्गतं राज्ञो विहारस्थानभूतं सरो भवेत्, तादृशं तस्य पद्मस्य हृदि मध्ये सुषिरं छिद्रं भवति। तदाकारया धिया आत्मसाक्षात्कारो भवति। इति द्वयोरर्थः।।५५७-८।।

छिद्र हैं तथा उसका मुख नीचे की ओर है अर्थात् उलटा लटका हुआ कमल है। नाभि से बित्ताभर ऊपर की ओर यह हृदयकमल स्थित है।।५५०।। उक्त छिद्रों में स्थित चक्षु आदि का ब्रह्म-पुरुष रूप से ध्यान करना चाहिये। पूर्वदिशा में स्थित छिद्र चक्षु है, पश्चिम वाला वाक् है, दक्षिण वाला श्रोत्र है, उत्तर वाला मन है, बीच का छिद्र घ्राण है, उस कमल का मूल जिह्वा है और स्तनों के बीच की जगह से गले तक की जगह भूमि है।।५५१-२।। (इस संदर्भ में छां. ३.१३ का परामर्श कर लेना चाहिये।) मन का निवासस्थान होने से हृदयकमल 'मानस' कहा जाता है। (जैसे नाभि से एक बित्ता ऊपर है ऐसे ही) गले में लटकती घण्टिका से यह कमल एक बित्ता नीचे है। (इस प्रकार धड़ के मध्य में यह स्थित है।)।।५५३।। चंद्र, अग्नि, सूर्य, नक्षत्र व बिजली की तरह के तेज से युक्त प्रतीत होता यह कमल सारे विश्व का और योगियों का सदा आश्रय है। (कमल के मध्य चेतन है जो सर्वाश्रय है अतः उसके द्वारा कमल भी सर्वाश्रय है। योगी कमल में ध्यान करते हैं अतः उनका आश्रय है।)।।५५४।। अल्प होने पर भी विश्व का आयतन, आधार होने से स्वात्मदर्शी विद्वान् योगी इसे महान् समझते हैं।।५५५।। शरीरस्थ हड्डियों से यह चारों ओर से घिरा है। उन हड्डियों के तत्तत् हिस्से मांस आदि धातुओं से लिप्त हैं। चाँदी, सोना आदि अलग-अलग धातुओं की शिलाओं की तरह वे हड्डियाँ प्रतीत होती हैं।।५५६।। जैसे किले से घिरे महल में राजा के विहार के लिये सरोवर होता है वैसे उस हृदय-पद्म के अंदर एक सूक्ष्म छेद है। उस छिद्र में एकाग्र की बुद्धि से जब समाधि में प्रवेश किया जाता है तब वह आनंदात्मा उपलब्ध होता है जिसमें सारा प्रपंच वैसे ही प्रतिष्ठित है जैसे रज्जु में सर्पादि।।५५७-८।।

१. 'सन्ततं शिलाभिस्तु लम्बत्याकोशसन्निभम्। तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मं तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम्।।'

मध्ये हृदयपद्मस्य महानग्निसमः पुमान्। आनन्दात्मा स्वयंज्योतिर्विश्वार्चिर्विश्वतोमुखः।।
बुद्ध्युपाधिं समाश्रित्य भुंक्ते विषयजं सुखम्।।५५९
अग्निः प्राणात्मकश्चास्त आहारं विभजन्निव। स्थूलमध्यमसूक्ष्मांशैः जठरे सर्वदेहिनाम्।।५६०
तिर्यगूर्ध्वमधश्चैव रश्मयस्तस्य सन्तताः। सन्तापयति देहं स आपादतलमस्तकम्।।
क्षुधादिरूपमापन्नो जाठराग्नेस्तु तेजसा।।५६१
सत्यज्ञानादिरूपेण यदाऽयं नोपलभ्यते। तदाऽमुना प्रकारेण चिन्तनीयो मनीषिभिः।।५६२
तस्य मध्ये दीपशिखा हार्दाम्भोजस्य तिष्ठति। अणीयसी तथैवोर्ध्वं ज्वलन्ती निश्चला सदा।।५६३
'नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा। नीवारशूकवत् तन्वी पीता भास्वत्यणूपमा।।'५६४
मध्ये तस्याः शिखायाः स परमात्मा व्यवस्थितः। ब्रह्माऽयं शिव एवाऽयं हरिरेष सनातनः।।
स एवेन्द्रोऽक्षरं तद्वत् परमं स स्वराट् प्रभुः।।५६५

तत्र हृत्कमले ध्येयस्य विशेषणान्याह[1]—मध्य इति। तस्य पद्मस्य मध्ये परमात्मा तिष्ठति। कीदृशः ? महान्, अद्वितीयानन्दः। पुनः कीदृशः ? अग्निसमः स्वयंप्रकाशत्वात्। विश्वार्चिः विश्वस्मिन् सर्वस्मिन्नर्चिषः चिदाभासरूपा यस्य स तथा। अत एव विश्वतोमुखः सर्वतः सन्निहितः, बुद्ध्युपाधिकजीवरूपेण सर्वविषयभोक्ता चेत्यर्थः।।५५९।। अग्निरिति। पुनः कीदृशः स परमात्मा ? प्राणात्मको यो जाठराग्निः तद्रूपेण आहारं भुक्तान्नादिकं स्थूल-मध्यम-सूक्ष्मांशैः छान्दोग्यप्रसिद्धैः विभजन् विभागं नयन् सन् सर्वेषां जठरे आस्ते स्थित इत्यर्थः।।५६०।। तिर्यगिति। तस्य परमात्मनो जाठराग्नेः जाठराग्निरूपस्य रश्मयः किरणाः तिर्यग् ऊर्ध्वम् अधश्च तेजसा सन्तता व्याप्ताः सन्ति। कीदृशा रश्मयः ? क्षुत्तृट्क्रोधादिरूपाः। ताभिः स जाठराग्निरूपः परमात्मा [2]देहमापादतलमस्तकं सन्तापयति इति सम्बन्धः।।५६१।।

एवं ध्यातोऽपि यदि सत्यादिरूपेण परमात्मा न प्रादुर्भवति तदाऽमुना वक्ष्यमाणेन प्रकारेण ध्येय इत्याह—सत्येति।।५६२।। 'अमुना' इत्युक्तमभिनयति—तस्येति त्रिभिः। तस्य हार्दाम्भोजस्य मध्ये अतिसूक्ष्मा ऊर्ध्वं देदीप्यमाना निश्चला च दीपशिखा ध्येयेत्यर्थः।।५६३।। [3]नीलेति। पुनः कीदृशी ? नीलमेघघटागतविद्युल्लेखावत् दीप्ता, श्यामाककिंशारुवत् तन्वी सूक्ष्मा पीतवर्णा अणूपमाऽपि भास्वती प्रभाशालिनीत्यर्थः।।५६४।। तस्या दीपशिखाया मध्ये परमात्मा सर्वात्मा ध्येय[4] इत्याह—मध्य इति। स्वराट् स्वेनैव राजमानः।।५६५।।

हृदयकमल के मध्य परमात्मा विराजमान है। वह पूर्ण चेतन महान् है, अग्नि-सा तेजस्वी है, आनंदस्वरूप है, स्वप्रभ है, जैसे आग की ज्वालाएँ सब ओर फैलती हैं वैसे इस चेतन से सारे चिदाभास फैले हैं, यह सर्वत्र संनिहित है, बुद्धिरूप उपाधि के सहारे यह वैषयिक सुखों का उपभोग करता है।।५५९।। पेट में प्रधानतः कार्यरत अग्नि प्राणस्वरूप है। खाये-पिये अन्न आदि आहार को स्थूल-मध्यम-सूक्ष्म हिस्सों में बाँटते हुए वह सभी के पेट में मौजूद है। उस अग्नि के रूप में वस्तुतः वही परमात्मा है जो हृत्कमल-मध्यवर्ती है।।५६०।। उदरस्थ अग्निरूप उस परमात्मा की किरणें तिरछी, ऊपर, नीचे सब तरफ फैली हैं। भूख आदि का रूप धारण किये वह परमात्मा उदरस्थ-अग्नि के तेज से शरीर को पैर के तले से माथे तक गरम रखता है। (भूख-प्यास प्राणधर्म हैं और उन्हीं से प्रेरित होकर अन्न-पान करने से जाठराग्नि जलती रहकर देह को ऊर्जा देती है।)।।५६१।।

१. 'तस्य मध्ये महानग्निर्विश्वार्चिर्विश्वतोमुखः। सोऽग्रभुग्विभजन्तिष्ठन्नाहारमजरः कविः।।'
२. 'सन्तापयति स्वं देहमापादतलमस्तकम्। तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता।।'
३. मंत्र एव श्लोकतयोद्धृतः।
४. 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः। स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।।'

आदित्यो वा एष इति प्रभृति प्राण ईश्वरः। नानारूपः स्वराडेष विराडेव च कीर्त्यते।।५६६

सत्यादिभ्यः संन्यासः श्रेष्ठः

सत्यं तपो दमः शान्तिर्दानं धर्मः प्रजातयः। आहिता अग्निहोत्रं च यज्ञा मानसमेव च।।
एकादशाऽत्र संस्तुत्य न्यासः श्रुत्या विधीयते।।५६७

सर्ववर्णाश्रमाणां स्यात् स्वधर्मः साधनं परम्। अर्थे कामे च मोक्षे च तेषामपि च साधने।।५६८

'आदित्यो वा' इत्यादेः 'उप ते नम' इत्यन्तस्य मन्त्रवृन्दस्य तात्पर्यार्थमाह—आदित्य इति। 'आदित्य' इत्यादिमन्त्रजातेन प्राणरूपो विराड्रूपश्च एष एव ईश्वरो नानारूपैर्वर्ण्यते यतोऽयं स्वराड् अद्वितीयो भवतीत्यर्थः।।५६६।।

'सत्यं परम्' इत्यादेः 'उपनिषद्' इत्यन्तस्य[1] अर्थं संक्षिप्याह—सत्यं तप इति। सत्यादीनि मानसपर्यन्तानि एकादश साधनानि सत्फलकत्वेन स्तुत्वा तेभ्यः सर्वेभ्यो हिरण्यगर्भवद् उत्कृष्टत्वोक्त्या संन्यासो विहितः, 'विधेयं हि स्तूयत' इति न्यायाद् इति वाक्यार्थः। तत्र प्रजातयः प्रजाः, आहिता आधानसंस्कृता अग्नयः, मानसं चित्तशुद्धिः। स्फुटमन्यत्।।५६७।।

संक्षेपेणोक्तस्य व्याख्यानं प्रजापतेः आरुणिपृष्टस्य वक्तुरुपन्यासपूर्वकं श्रुत्यैव[2] कृतम्। तद्विशदयति—सर्वेत्यादिना। अत्र ग्रन्थकृता धर्मस्य आदौ कीर्तनम् आर्थक्रमानुरोधात् कृतम्। दमशमौ दयारूपत्वेन एकी कृत्य धर्मात् पूर्वोपात्तानां तत्पादत्वेन विवक्षितत्वात् पादेभ्यो विशेषस्थानीयेभ्यः पूर्वं सामान्यात्मनो धर्मस्य उपन्यसनीयत्वाद् इति बोध्यम्। सर्वेषां पुरुषार्थचतुष्टयस्य तदुपकरणानां च परमसाधनत्वाद् धर्मः श्रेयस्कर इत्यर्थः।।५६८।। धर्मत इति। धर्मो दुष्करमपि साधयति। किं च धर्मः प्रजानां स्थितिहेतुः पालनकरी सत्त्वमयी

इस तरह ध्यान करने पर भी यदि परमात्मा सत्यादि रूप से उपलब्ध न हो तो मनीषी यों ध्यान करें :।।५६२।। उस हृदयकमल में बीच में ऊपर की ओर लौ वाली जलती हुई, निश्चल, अत्यंत सूक्ष्म दीपशिखा है।।५६३।। वह वैसी चमकदार है जैसे नीले मेघ में बिजली। सामक के दाने पर जो बाल जैसे होते हैं उनकी तरह वह दीपशिखा सूक्ष्म है। उसके रंग में पीलापन है। अणु-सी होने पर भी वह अत्यधिक प्रभाशाली है।।५६४।। उस दीपशिखा के बीच में वह परमात्मा संस्थित है। वही ब्रह्मा, शिव, सनातन हरि, इन्द्र है, वही सबसे परे स्वयं दीप्तिमान् अक्षर प्रभु है। ('दहरविद्याप्रकाशिका' में श्रीपरमशिवेन्द्र सरस्वती जी ने इस उपासना की सांगोपांग मीमांसा और ध्यानपद्धति प्रकाशित की है। यद्यपि ध्यानप्रक्रिया सम्प्रदायगम्य ही है तथापि सुस्पष्टता और स्मृति के लिये उक्त प्रकरण का अभ्यास ध्याता के लिये हितकर है।)।।५६५।। 'यह आदित्य ही' आदि मंत्रों से प्राणरूप एवं विराट्रूप यही ईश्वर नाना रूपों के वर्णन द्वारा बताया गया है क्योंकि वास्तव में यही अद्वितीय है।।५६६।।

सत्यादि साधनों की सत्फलप्रदरूप से स्तुति कर श्रुति ने उनसे उत्कृष्ट बताये संन्यास का विधान किया है। प्रशंसित साधन हैं—१) सत्य, २) तप, ३) दम, ४) शान्ति, ५) दान, ६) धर्म, ७) प्रजा (पुत्रादि), ८) 'आधान' नामक शास्त्रीय संस्कारपूर्वक स्वीकार की गयी अग्नि, ९) अग्निहोत्र, १०) यज्ञ और ११) मानस अर्थात् चित्तशुद्धि।।५६७।। (स्वयं इन साधनों को समझायेंगे।)

अर्थ, काम, मोक्ष और स्वयं धर्म को सिद्ध करने के लिये सभी वर्णाश्रम वालों के पास परम साधन स्वधर्म है। जो दुष्कर है—साधारणतः किया नहीं जा सकता—वह सब भी धर्म से यहीं संपन्न हो जाता है। धर्म सभी की स्थिति का हेतु अर्थात् पालनकर्ता बताया जाता है।।५६८-९।। फल-पुष्पादि से लदा बड़ा वृक्ष रास्ते पर स्थित हो तो जैसे

१. द्विषष्टितमानुवाकस्य।
२. त्रिषष्टितमानुवाके।

धर्मतः सर्वमेवाऽत्र दुष्करं च प्रसिद्धयति। धर्मः सर्वस्य जगतः स्थितिहेतुरुदाहृतः। ।५६९
धर्मिष्ठमुपसर्पन्ति प्रजाः सर्वा महातरुम्। सुसेव्यं फलपुष्पादिपूर्णं मार्गस्थितं यथा। ।
ज्ञानाज्ञानकृतं पापं सर्वं धर्माद् विनश्यति। ।५७०
सत्यं तपो दया दानं चतुष्पाद् धर्म ईरितः। सर्वैरपि सदा सेव्यो जन्मतो मरणावधि। ।५७१
सत्यं वाचनिको धर्मो यथादृष्टार्थवेदनम्। उक्तार्थतश्चाचलनमिदमुक्तं मनीषिभिः। ।५७२
सत्यवाक्याद् इमे सर्वे लौकिका वैदिका अपि। व्यवहाराः प्रवर्तन्ते कालान्तरफलेष्वपि। ।५७३
अजातशत्रुप्रमुखाः सत्यवाक्याद् दिवं गताः। न च्यवन्ते ततोऽद्यापि सत्यवादपरायणाः। ।५७४
सत्येन वाति वातोऽयं सूर्यः सत्येन रोचते। सत्येन विधृता भूमिः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्। ।५७५

भगवतो मूर्तिरुक्ता। अत एव धर्मपरं सर्व आश्रयन्ते पथिकाः सत्तरुमिव। तथाऽयं धर्मो ज्ञात्वाऽज्ञात्वा वा कृतानि पापानि हन्ति। इति द्वयोरर्थः। ।५६९-७०। । अस्य धर्मस्य सत्यादयः चत्वारः पादाः सदा सेव्या इत्याह—सत्यमिति। ।५७१। ।

तत्र सत्यलक्षणमाह—सत्यमिति। वाचनिको वागिन्द्रियेणाऽनुष्ठेयः सत्यरूपो धर्मः। तत्स्वरूपं तु यथादृष्टस्य भूतहितस्य कीर्तनं, प्रतिज्ञातार्थादचलनं चेत्यर्थः। ।५७२। । अस्य सत्यस्य सर्वव्यवहारनिर्वाहकत्वं प्रसिद्धमित्याह[1]—सत्येति। कालान्तरे फलं येषां तेषु कर्मसु लौकिका व्यवहाराः सत्यापनादयो, वैदिका आर्त्विज्यादयः प्रवर्तन्त इति प्रसिद्धम्। सत्यापनं 'साई' इति भाषायां ख्यातम्। ।५७३। । तथा युधिष्ठिरादीनां सशरीरस्वर्गगमनं तत्र चिरं स्थितिश्च सत्यबलेनैव प्रसिद्धेत्याह—अजातेति। ।५७४। । तथा सत्यधर्मानुष्ठानबलेन एव वाय्वादिदेवानां स्वस्वाधिकारनिर्वाहकत्वं प्रसिद्धमित्याह—सत्येनेति। ।५७५। ।

सभी पथिक उसके छाया, फल, शीतल सुगंधित बयार का सेवन करते ही हैं वैसे सारी प्रजा धर्मतत्पर सज्जन का आश्रयण करती है। जानकर व अनजान में हुए सभी पाप धर्म से विनष्ट हो जाते हैं। ('धर्म से' अर्थात् प्रायश्चित्तरूप धर्म से। अन्यथा पापफल पृथक् मिलता है व धर्मफल पृथक् मिलता है, एक से दूसरा कट नहीं जाता। कुछ पाप हैं जिनसे धर्म नष्ट होता है जैसे ब्राह्ममुहूर्त में सोना, अपने किये पुण्य का बखान करना आदि; ऐसे ही प्रायश्चित्त कर्मों से पाप नष्ट होता है। विशिष्ट पापों के निश्चित प्रायश्चित्त शास्त्र में विहित हैं। गंगास्नानादि सामान्य प्रायश्चित भी प्रसिद्ध हैं किन्तु उनसे बड़े पाप नहीं धुलते, साधारण पापों से ही छुटकारा मिलता है। ऐसे ही पाप से नष्ट होने वाला पुण्य भी साधारण सत्कर्मों से प्राप्त पुण्य ही है, विशिष्ट धर्मों से अर्जित पुण्य तो भोगना ही पड़ता है।)। ।५७०। । धर्म के चार पैर बताये गये हैं—सत्य, तप, दया, दान। जन्म से मरण पर्यन्त सभी को धर्म का सदा सेवन करना चाहिये। ।५७१। । अब प्रत्येक साधन समझाते हैं—

(१) वागिन्द्रिय से जिसका अनुष्ठान किया जाये वह है सत्य रूप धर्म। मनीषी उसके दो रूप बताते हैं—जैसा स्वयं को ज्ञान है वैसा श्रोता समझे इस अभिप्राय से प्राणिहितकारी बात कहना; और प्रतिज्ञा आदि रूप से जो बात कह दी उससे मुकरना नहीं। ।५७२। । कालान्तर में फल देने वाले कर्मों में जो लौकिक व्यवहार होते हैं—पट्टा, करारनामा इत्यादि—और वैदिक व्यवहार होते हैं—ऋत्विग्वरण आदि—वे सत्य बात से ही प्रवृत्त होते हैं। (अर्थात् एक-दूसरे की बात सच मानकर ही सब व्यवहार चलते हैं। यों सारे व्यवहार का निर्वाहक होने से यह अतिमहत्त्वपूर्ण है।)। ।५७३। । 'अजातशत्रु' विशेषण वाले युधिष्ठिर आदि सत्यपालन के फलस्वरूप ही स्वर्ग गये थे और आज तक वहाँ से हटे नहीं हैं। ।५७४। । यह सत्यधर्म के अनुष्ठान का ही प्रताप है कि यह वायु बहती है, सूर्य चमकता है, भूमि टिकी है। सभी सत्य में प्रतिष्ठित है। ।५७५। ।

---

१. 'सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति।'

शीतवातातपादीनां सहनं क्षुत्पिपासयोः। सङ्कल्पात् तद्धि विज्ञेयं तपोऽत्रान्नादिवर्जितम्। ।५७६
तपसा मुनयो देवाः स्वर्गमायन्निजेप्सितम्। सपत्नविजयं तद्वद् इह लोके च मानवाः। ।५७७
सर्वमेव जगन्नित्यं तपस्येव प्रतिष्ठितम्। तपसा यत एवाऽयं शापानुग्रहकृद्भवेत्।।
तपस्ततोऽतिदुर्धर्षं साधनं पण्डितैः स्मृतम्। ।५७८
दया दान्त्या च शान्त्या च न विनाऽत्र प्रजायते। यतो दमः शमश्चेति द्वयं साधनमीरितम्। ।५७९
बाह्येन्द्रियाणां विजयो दम उक्तो मनीषिभिः। वृषभस्य प्रमत्तस्य यथा बन्धनतो भवेत्। ।५८०
ब्रह्मचर्यरतास्तेन बाह्येन्द्रियविनिग्रहम्। कुर्वन्तः स्वर्गमायान्ति ब्रह्मलोकमथाऽपि वा।।
परित्यज्याऽखिलं पापं सफलं मरणात् परम्। ।५८१
शम उक्तोऽभिलाषोऽयमानन्दात्मस्वरूपिणः। हित्वा विषयजान् सर्वान् अभिलाषान् सदैव हि ।५८२

धर्मस्य द्वितीयपादं तपो वर्णयति—शीतेति। सङ्कल्पपूर्वकं यत् शीतादीनां क्षुधापिपासयोः वा सहनम् अन्नादिवर्जनं च, एतत् तपसः स्वरूपं व्यासप्रभृतिभिरुक्तमित्यर्थः। ।५७६।। तत्फलमाह[1]—तपसेति। आयन् प्राप्तवन्तः। ।५७७।। सर्वमेवेति। सर्वं जगत् कार्यभूतं कारणभूते तपसि स्थितम्। तथा हि विश्वामित्रो नूतनं जगत्सृष्टवान् इति त्रिशङ्कूपाख्याने रामायणे प्रसिद्धम्। 'स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत'[2] इति श्रुतिश्च। दुर्धर्षं तेजस्वि। ।५७८।।

तृतीयः पादो दयारूपो दमशमाभ्यां दयाया असाधारणकारणाभ्यां सूचित इत्याह—दयेति। यतो दान्त्या शान्त्या च विना दया न जायते ततो दयाप्रयोजकौ दमशमौ श्रेयःसाधनतयोक्तावित्यर्थः। ।५७९।। तत्र दमलक्षणमाह—बाह्येन्द्रियाणामिति। यथा प्रमत्तस्य वृषभस्य बन्धनेन विजयः तथेन्द्रियाणां विजयः स दम उच्यत इत्यर्थः। ।५८०।। अस्य फलमाह[3]—ब्रह्मचर्येति। तेन दमेन बाह्येन्द्रियनिग्रहं कुर्वन्तो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मलोकं स्वर्गं वा बहवो गता इत्यर्थः। ।५८१।। शमलक्षणमाह—शम इति। सर्वविषयाभिलाषान् हित्वा आनन्दरूपात्ममात्राभिलाषः शम इत्युक्त इत्यर्थः। ।५८२।। अयं शमः प्रत्याहारफलत्वेन योगिभिरुक्त इति दर्शयति—ययेति। यथा ज्वरा-

(२) संकल्पपूर्वक शीत-वात-सूर्य-भूख-प्यास आदि को सहना, अन्न आदि भोगों का उपभोग न करना—यह सब तप है। ।५७६।। मुनि व देवता तप से अभीष्ट स्वर्ग गये। इह लोक में मानव तप से शत्रुओं पर विजय पा लेते हैं ।५७७।। सारा जगत् हमेशा तप में ही प्रतिष्ठा पाता है। क्योंकि साधक तप से ही शाप-अनुग्रह में समर्थ हो जाता है इसलिये पण्डित इसे अतिदुर्धर्ष, तेजस्वी साधन मानते हैं। ।५७८।।

धर्म का तीसरा पाद दया है जो शम-दम के बिना उत्पन्न ही नहीं होती अतः यहाँ श्रुति ने सीधे ही दया का उल्लेख न कर दम-शम को ही गिना है। ।५७९।। ३) जैसे उत्पाती बैल को बाँधकर उस पर विजय पायी जाती है ऐसे बाह्य इंद्रियों पर विजय प्राप्त करना दम है यह मनीषी कहते हैं। ।५८०।। इस दम के सहारे ही ब्रह्मचर्य में संलग्न बहुतेरे साधक फलों समेत सारे पाप छोड़कर स्वर्ग और ब्रह्मलोक भी जा चुके हैं। (अर्थात् दम के प्रभाव से उनके पाप निष्फल हो गये और वे सद्गति पा गये।)। ।५८१।। ४) विषयों की सभी अभिलाषाएँ हमेशा के लिये छोड़कर आनंदात्मस्वरूप की ही सदा अभिलाषा करना शम कहा गया है। ।५८२।। जैसे व्याधि आदि दोष से विषय की इच्छा उत्पन्न नहीं होती

१. 'तपसा देवा देवतामग्र आयन्तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन् तपसा सपत्नान्प्रणुदामारातीस्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात् तपः परमं वदन्ति।।'

२. पश्यतु मुं. १.१.८, बृ. १.२.६, १.५.१।

३. 'दमेन दान्ताः किल्बिषमवधून्वन्ति दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन् दमो भूतानां दुराधर्षं दमे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद् दमः परमं वदन्ति।'

यथा व्याध्यादिदोषेण विषयेच्छा न जायते। एवं विषयदोषेण विषयेच्छाजनिर्न या।
स शमः कथ्यते पुंसो विषयेच्छाविवर्जनम्।।५८३
अरण्ये शमसम्पन्ना मुनयः स्वार्थसाधकाः। शान्त्या कुर्वन्ति भूतानां शिवं हिंसाविवर्जनम्।
स्वर्गं च मुनयो यान्ति कामक्रोधादिवर्जनात्।।५८४
कामक्रोधादिसम्पन्नः पुमान् शमविवर्जितः। ज्ञानकर्मेन्द्रियगणजयशून्यः प्रमादवान्।।५८५
कर्मणा मनसा वाचा कुरुते भूतहिंसनम्। हिंसको निर्दयः को नु पुमान् कुर्याद् दयामयम्।
ततः शमदमौ ज्ञेयौ परमं साधनं नृणाम्।।५८६
दानं वाचस्तथा बुद्धेर्वित्तस्य विविधस्य च। शरीरस्याऽपि कुत्राऽपि केचिदिच्छन्ति पण्डिताः।।५८७

दिरोगवशेन विषयेषु इच्छाया अभावः अनुत्थानं तथा विषयदोषदर्शनेन तेषु इच्छाया अजनिरनुत्पत्तिः, जाताया इच्छाया यद् आत्यन्तिकं विवर्जनं वा, तद्रूपः शम उक्तः। तथा चोक्तं योगभाष्ये (२.५५)—'चित्तैकाग्र्याद् अप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्य' इति। चित्तैकाग्र्यबलेन इन्द्रियाणां विषयेषु अप्रवृत्तिरूपा वश्यतैव प्रत्याहारफलमिति जैगीषव्यमुनेः सिद्धान्त इति तदर्थः।।५८३।। अस्य शमस्य फलं लोके वेदे[1] च प्रसिद्धमित्याह—अरण्य इति। अरण्येऽसहाया अपि मुनयोऽनेन शमेन स्वार्थम् अनुष्ठितेनापि भूतानां सन्निहितानां व्याघ्रादीनां शान्त्याधानेन शिवं हिंसानिवृत्तिरूपं कुर्वन्तः प्रसिद्धाः। तथा कामादिजयेन सद्गतिश्च तेषां शास्त्रेषूक्तेत्यर्थः।।५८४।। अनयोः शमदमयोः दयाप्रयोजकत्वं व्यतिरेकमुखेनाह—कामेति। शमराहित्येन कामादिमान्, दमराहित्येन इन्द्रियजयशून्यश्च यो भवति स शरीरादिभिर्हिंसां कुर्वाण एव प्रसिद्धः, तस्य हिंसकस्य निर्दयत्वमपि प्रसिद्धम् यतोऽयं हिंसको दयायाः सम्भावनाया अपि न विषयः। फलितम् आह—तत इत्यादिना। इति द्वयोरर्थः।।५८५-६।।

धर्मचतुर्थपादस्य दानस्य स्वरूपमाह—दानमिति। वाक् चतुर्दशविद्यारूपा। 'दास्यामि' इत्यादि प्रतिज्ञाय तत्प्रभृतीनां पात्रेऽर्पणं दानम् इत्युच्यते। तत्र शरीरदानं कुत्रचित् शरणागतत्राणादिविषय एवेत्याहुः।।५८७।। तत्फलं[2] यशःप्रभृति प्रसिद्धमित्याह—प्रशंसन्तीति। कर्णं त्वग्दानाद् बलिं त्रिलोकीदानाद् आदिपदेन शिबिप्रभृतीनां

वैसे विषयों में दोषों का दर्शन करने से विषयों की इच्छा पैदा ही न होना और कथंचित् इच्छा हो जाये तो उसका दोषदर्शनवश ही समापन हो जाना, भोग का प्रेरक न बन पाना, शम कहा जाता है।।५८३।। शम-नामक साधन से संपन्न मुनि अरण्य में भी (अन्य साधनों के बिना ही) पुरुषार्थ सिद्ध कर लेते हैं। सब प्राणियों का हिंसारहित कल्याण वे शम से ही साध लेते हैं। काम-क्रोध आदि से रहित रहकर शम-प्रताप से मुनिगण स्वर्ग चले जाते हैं।।५८४।।

(शम-दम दया के हेतु हैं :) शमहीन पुरुष में काम-क्रोधादि भरे रहते हैं, दमहीन व्यक्ति ज्ञान-कर्म की इंद्रियों के परवश और प्रमादी होता है, ऐसे लोग कर्म-मन-वाणी से प्राणियों की हिंसा करते रहते हैं। ऐसा निर्दय हिंसक कौन पुरुष होगा जो दया करे ! इसलिये—दया के लिये आवश्यक होने के कारण एवं अवश्य दया में प्रवृत्त करने के कारण—शम-दम को मनुष्यों के लिये परम साधन समझना चाहिये।।५८५-६।।

(५) धर्म का चौथा पैर दान है। 'दूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा कर पात्र को देना दान है। दिये जाने वाले पदार्थ हैं—वाक्, बुद्धि, नाना प्रकार का धन। कुछ पंडित किन्हीं परिस्थितियों में शरीर भी दान के योग्य मानते हैं। (वाक् अर्थात् चौदहों प्रकार की विद्या। अथवा मीठी बात यहाँ वाक् है; 'अन्य कुछ न दे सके तो घर आये व्यक्ति को आसन, पानी और मीठी बात अवश्य दे' आदि उक्तियाँ प्रचलित हैं। बुद्धि अर्थात् ज्ञान। ऐहिक-आमुष्मिक-पारमार्थिक लाभ करने वाला ज्ञान देने योग्य है। नाना प्रकार का धन जैसे स्वर्ण, रजत, पृथ्वी, अन्न, वस्त्र, पशु आदि। शरणागत को बचाने आदि

१. 'शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति शमेन नाकं मुनयोऽन्वविन्दन् शमो भूतानां दुराधर्षं शमे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माच्छमः परमं वदन्ति।'
२. 'दानं यज्ञानां वरूथं दक्षिणा लोके दातारं सर्वभूतान्युपजीवन्ति दानेनारातीरपानुदन्त दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति दाने सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद् दानं परमं वदन्ति।'

प्रशंसन्ति प्रजा नित्यं कर्णबल्यादिकान् इह। वदान्या दानतः स्वर्गं व्रजन्ति सततं नराः।।५८८
यज्ञाः सम्पूर्णतां यान्ति दानतो दक्षिणात्मनः। दातारं सर्वभूतानि श्रयन्ति पितरं यथा।।५८९
दानतो वैरिणोऽपि स्युर्मित्राण्येव न संशयः। दानेन हि निहन्त्येतान् उपायज्ञो नरो भुवि।।
दाने सर्वमिदं विश्वं प्रतितिष्ठति सर्वदा।।५९०
चतुष्पादेष धर्मः स्यात् सर्वेषामिह देहिनाम्। न वर्णमाश्रमं वाऽपि न वयो वाऽप्यपेक्षते।।५९१

गार्हस्थ्यापकर्षः

गृहस्थत्वं वयश्चाऽपि ह्यपेक्ष्यैव प्रजाजनिः। मनुजानां भवत्यत्र सर्वेषामपि देहिनाम्।।५९२
कः कुमारः पुमानत्र जायया वा विवर्जितः। उत्पादयेत् प्रजा धीमान् उत्सुकोऽपि प्रजापतिः।।५९३

ग्रहः। वदान्याः प्रदातारः।।५८८।। यज्ञा इति। दक्षिणा आत्मरूपं यस्य तथाभूतेन दानेनैव पूर्णता प्रसिद्धा। तथा दाता सर्वभूतैः पितृवद् आश्रयणीयो भवतीति।।५८९।। दानत इति। दानेन वैरिणोऽपि वशे भवन्ति। अत एव उपायज्ञः सामदामभेददण्डानां बलाबलविचारकः कुशल एतान् वैरिणो दानेन एव निहन्ति जयतीत्यर्थः।। तथा दानस्य सर्वजगत्स्थितिहेतुत्वं प्रसिद्धं, 'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु व' इति (३.११) भगवद्गीतादिषु।।५९०।। अयं सत्यादिपादचतुष्टयवान् धर्मः[1] सर्वसाधारणत्वाद् वर्णाश्रमावस्थादिसापेक्षत्वाभावेन अभ्यर्हितत्वाच्च आदौ (श्लो. ५६८) निर्दिष्ट इत्याह—चतुष्पादिति। 'पञ्चवर्षो ध्रुवः सिद्धः कपोतो दानतस्तथा। निदर्शनं तौ धर्मस्य नैरपेक्ष्यं परीक्षितुम्।।'५९१।।

प्रजातिपदोक्तस्य सप्तमस्य[2] अपकृष्टत्वद्योतकं सापेक्षत्वं दर्शयति—गृहस्थत्वमिति द्वाभ्याम्। प्रजाजनिः हि गृहस्थत्वं यौवनावस्थां च अपेक्ष्यैव मनुजादीनां भवति, तद्व्यतिरेके प्रजापतेरपि प्रजोत्पादनेऽशक्तत्वाद्[3]। इति

के लिये अपने शरीर का भी दान दिया जाता है। यहाँ वाक् आदि परिगणन के लिये नहीं वरन् निदर्शन के लिये हैं अर्थात् ऐसी और भी दातव्य चीज़ें हैं।)।।५८७।। कर्ण, राजा बलि आदि दानवीरों की प्रशंसा इस समय तक लोग करते हैं। दानशील हमेशा स्वर्ग जाते रहे हैं।।५८८।। दक्षिणारूप दान से ही यज्ञ पूरे होते हैं। सभी प्राणी दानपरायण का वैसे ही सहारा लेते हैं जैसे अपने पिता का।।५८९।। दान के प्रताप से दुश्मन भी दोस्त बन जाते हैं। उपायप्रयोग का जानकार अपने वैरियों पर दान से ही जीत हासिल कर लेता है। यह सारा संसार हमेशा दान पर ही टिका है।।५९०।।

संसार के सभी देहधारियों के लिये कर्तव्य यही सत्य-तप-दया-दानरूप चार चरणों वाला (६) धर्म है, इसके लिये वर्ण, आश्रम, उम्र, लिंग आदि किसी की अपेक्षा नहीं। (अतः आधुनिक काल में अधिकार-अनधिकार की चिंता छोड़ इन्हीं चरणों के अनुष्ठान में तत्पर हो जाना चाहिये। 'ईसाइयों के दस नियम ही हैं, सनातन धर्म में अनंत नियम हैं' आदि आलोचना करने वालों के लिये पुराणकारों ने यह संक्षेप उपस्थित कर दिया है। इन चार का ही निष्ठा से पालन करे तो मनुष्य निश्चित ही कल्याण पा जायेगा। वस्तुतः इनमें से एक पर भी जीवनभर डट जाये तो पर्याप्त है।)।।५९१।।

(७) सत्यादि साधनक्रम में सातवाँ है 'प्रजनन' अर्थात् पुत्रोत्पादन से पितृ-ऋण चुकाना। पूर्वोक्त चारों पाद प्रधानतः स्वयं पर निर्भर हैं जबकि प्रजनन कई पर निर्भर करता है अतः पूर्वोक्त से निकृष्ट है : मनुष्य और वस्तुतः संसार में सभी देहधारियों के लिये प्रजोत्पादन गार्हस्थ्य और यौवन पर निर्भर करता है। पाँच साल का लड़का या ऐसा पुरुष जिसे गर्भाधान करने योग्य स्त्री न मिले, चाहे जितना बुद्धिमान् और उत्सुक हो, चाहे स्वयं प्रजापति ब्रह्मा ही

१. 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति।'
२. 'प्रजननं वै प्रतिष्ठा लोके साधु प्रजायास्तन्तुं तन्वानः पितृणामनृणो भवति तदेव तस्या अनृणं तस्मात्प्रजननं परमं वदन्ति।'
३. 'उत्सुकोऽपि प्रजां प्रति' इतिमूले पिपठिषामि।

प्रजावान् कीर्तिमाप्नोति सुखं वैरिजयं तथा। पितॄणाम् अनृणो भूत्वा स्वर्गं याति मृतः पुनः।।५६४
संसारस्य सुखे तस्मात् प्रजाः कारणमीरिताः। मोक्षाख्ये प्रायशो विघ्नः कथितः पण्डितैरयम्।।५६५

रागिमतम्

प्रजानां मोक्षहेतुत्वं केचिदिच्छन्ति बालिशाः। उपपत्तिमिमां तत्र प्राहुः कामज्वरातुराः।।५६६
आरुरुक्षुर्यथा लोके प्रासादं सप्तभूमिकम्। निःश्रेणिकं समासाद्य शनैः प्रासादमस्तकम्।।
व्रजेत् सोपानपंक्तौ च पदं न्यस्य क्रमात् पुमान्।।५६७
एवं धर्मस्तथा चार्थः कामो मोक्षश्च कीर्तितः। चतुर्विधः पुमर्थोऽयमुपर्युपरि संस्थितः।।५६८
धर्मादर्थमवाप्नोति पुमाँल्लोकद्वयेऽपि हि। अर्थतश्च तथा कामं कामाद् मोक्षं च धीधनः।।५६९

द्वयोरर्थः।।५६२-३।। सन्ततेः फलं सांसारिकं सुखमेवेत्याह—प्रजावानिति द्वाभ्याम्। स्पष्टम्।।५६४।। संसारस्येति। तस्मात् कीर्त्यादिहेतुत्वदर्शनात् प्रजाः सन्ततयः संसारसम्बन्धिनि सुख एव कारणतयोक्ताः। मोक्षरूपे निष्कामतालभ्ये सुखे तु अयं प्रजारूपो विघ्न उक्तः, रागोत्पादकत्वात्। पृथुसदृशीं सन्ततिमभिप्रेत्याह प्रायश इत्यादि।।५६५।।

अत्र रागिणां मतं परिहारायानुवदति—प्रजानामिति त्रयस्त्रिंशता श्लोकैः। केचिद् बालिशा अतत्त्वविदः कामज्वरवेगेन प्रलपन्तः सन्ततेर्मोक्षहेतुताम् आहुः। तत्र मोक्षहेतुत्व इमां वक्ष्यमाणां युक्तिं चाहुरिति।।५६६।। तत्र विषयभोगेन कामं क्षपयित्वैव मोक्ष इति वक्तुं दृष्टान्त उच्यते—आरुरुक्षुरिति। यथोच्चप्रासादशिखरारोहणं सोपानद्वारैव, सोपानारोहणमपि दण्डाख्यतदवयवक्रमेणैव इत्यर्थः।।५६७।। एवं धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टयमध्ये उत्तरस्य प्राप्तिः पूर्वपूर्वप्राप्तिं विना न भवतीत्याहुः—एवमिति।।५६८।। क्रममेव स्फुटयति—धर्मादिति। अर्थं भोगसाधनजातम्।।५६९।। तत्र धर्मस्य फलमर्थ एवेत्युच्यते—दरिद्रमिति चतुर्भिः। अतः अर्थाभावस्य धर्माभाव-

क्यों न हो, प्रजा उत्पन्न नहीं कर सकता। (यहाँ विवक्षित प्रजा पितृ-ऋण चुकाने वाली होने से यथाविधि संस्कारानुसारी संतति ही है अतः यदि स्त्रीसंपर्कादि के बिना पुरुष के ही अवयव को कृत्रिम ढंग से विकसित कर मानवाकार बना भी लें तो वह प्रजनन रूप साधन का अनुष्ठान नहीं होगा क्योंकि उससे पितृऋण चुकेगा नहीं।)।।५६२-३।। प्रजावान् कीर्ति और सुख पाता है, वैरियों को जीत लेता है, पितरों से उऋण होकर मरने पर स्वर्ग प्राप्त करता है।।५६४।। इसलिये प्रजा सांसारिक सुख के प्रति ही कारण कही जाती है। पण्डित बताते हैं कि मोक्षनामक सुख पाने में तो प्रायः प्रजा विघ्न ही बनती है (क्योंकि राग आदि की वर्द्धक ही होती है)।।५६५।।

कुछ रागपरायणों की मान्यता तेंतीस श्लोकों में दिखाकर उसका परिहार करेंगे :

वास्तविकता से अनभिज्ञ और कामना रूप ज्वर के वेग से पीडित कुछ लोग प्रजा को मोक्षहेतु मानना चाहते हैं और इसमें यह युक्ति देते हैं—।।५६६।। संसार में प्रत्यक्ष है कि कोई यदि किसी सात मंज़िल के मकान पर ऊपर तक चढ़ना चाहता है तो सीढ़ी पर क्रमशः हर पैड़ी चढ़ कर ही आखिरी मंज़िल पर पहुँच सकता है। इसी प्रकार धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चारों तरह के पुरुषार्थ एक-से-ऊपर एक यों स्थित हैं कि पहले को पाये बिना अगला नहीं पा सकते।।५६७-८।। पुरुष धर्म से इह-परलोकों के अर्थ, भोगसाधन पाता है। अर्थ से कामना की पूर्ति होती है और बुद्धिमान् व्यक्ति कामरूप पुरुषार्थ से मोक्ष की सिद्धि कर लेता है!।।५६९।। धर्म का फल अर्थ है अत एव दुःख-संपन्न दरिद्र के लिये यही कहा जाता है कि उसका पाप फल रहा है और सुखसंपन्न धनवान् के बारे में लौकिक लोग भी कहते हैं कि उसका पुण्य फलीभूत हो रहा है।।६००।। व्यवहारभूमि में लोग धर्म दो तरह का बताते हैं—१) दृष्टफलक अर्थात् जिसका विधान उन फलों के लिये किया है जो इह लोक में मिल जाते हैं जैसे जलवृष्टि के लिये विहित कारीरीष्टि।

दरिद्रं दुःखसम्पन्नं पापिनं प्रवदन्त्यतः। श्रीमन्तं सुखसम्पन्नं पुण्यात्मानं च लौकिकाः।।६००
धर्मोऽत्र द्विविधः प्रोक्तो दृष्टाऽदृष्टफलो नृभिः। यदि दृष्टफलो नाऽयं कल्प्योऽदृष्टफलस्तथा।।६०१
पापिनामपि सोऽयं स्याज्जन्मान्तरकृतो यतः। दृश्यन्ते सुखिनः कार्यं न विना कारणं भवेत्।।६०२
पुण्यात्मनस्तथैवैतत् पापं जन्मान्तरस्थितम्। ऊहनीयं यतो दुःखं न विना तेन सम्भवेत्।।
सुखं धर्मात् ततो नित्यं जायते सर्वदेहिनाम्।।६०३
सुखं वैषयिकं नार्थं विना कस्याऽपि सम्भवेत्। धर्मात्माऽपि विना नारीं स्त्रीसुखं नाधिगच्छति।।६०४
न प्रजा न गृहस्थत्ववादं लोकेषु कर्हिचित्। अन्नं विना न तस्याऽपि क्षुधा शान्तिं प्रयाति हि।।६०५
अन्ननार्यादिकं सर्वं सुखदं विद्यते न हि। निर्धनस्य ततो नित्यमर्थः कामस्य कारणम्।।६०६
अर्थहीनं पतिं नारी त्यजेदपि पतिव्रता। पितरं प्राणतः स्निग्धमर्थहीनं सुता अपि।।६०७
निर्धनं सर्व एवैते श्वसन्तं पुरतः स्थितम्। अवजानन्ति मित्राद्या मानवा धनगर्विताः।।६०८

प्रयुक्तत्वात् लौकिका दरिद्रं पापिनं वदन्ति, श्रीमन्तं पुण्यात्मानम् इति।।६००।। ननु केषांचित् श्रीमतामिह जन्मनि पुण्यानुष्ठानं न दृश्यते, तत् कथं तेषां पुण्यात्मतया व्यवहार इति चेत् ? कार्यद्वारा कारणानुमानाद् इत्याह— धर्म इति। धर्मो द्विविधः—दृष्टफलकः, अदृष्टफलकश्च। तत्र आद्य ऐहिकफलमुद्दिश्य विहितः कारीर्यादिरूपः। द्वितीयो जन्मान्तरभाविफलकः। तत्र प्रथमाभावे द्वितीयः पापपरेष्वपि सुखदर्शनाद् अनुमेयः, यतस्ते पापिनः सुखिनो जाताः, न हि कार्यं विषयसुखं कारणं धर्मं विना सम्भवति। इति द्वयोरर्थः।।६०१-२।। पुण्यात्मन इति। ततो दुःखस्य पापफलत्वनिश्चयात् पुण्यात्मन इह जन्मनि पुण्यानुष्ठानपरस्याऽपि दुःखलिङ्गेन जन्मान्तरीयं पापम् अनुमेयमिति फलितमाह—सुखमिति। वैषयिकमिति शेषः।।६०३।।

अथार्थस्य विषयभोग एव फलमिति दर्शयति—सुखं वैषयिकमित्यादिना। प्रजाः सन्ततीः। गृहस्थत्ववादं गृहस्थत्वेन प्रसिद्धिम्। तस्याऽपि धर्मात्मनोऽपि। स्फुटमन्यत्।।६०४-५।। अन्ननार्यादिकमिति। अन्नप्रभृतिभोग-साधनं निर्धनस्य विद्यमानमपियतः सुखदं न भवति ततोऽर्थः कामसुखनिदानमित्यर्थः।।६०६।। निर्धनस्य विषयसुखाऽसम्भवमेव स्फुटयति—अर्थहीनमिति त्रिभिः। सुता अपि त्यजन्तीति।।६०७।। निर्धनमिति। एते बान्धवा मित्राद्या इतरे मानवाश्च अवजानन्ति नाद्रियन्ते।।६०८।। कुलमिति। शववत् शव इव।।६०९।।

२) अदृष्टफलक अर्थात् जिसका फल जन्मान्तर में ही होगा जैसे स्वर्गादि के लिये विहित ज्योतिष्टोमादि। जहाँ सुखादि फल दीखे और उसका कारणभूत पुण्य इस जन्म में किया जाता न दीखे वहाँ मानना पड़ता है कि पुराना (पूर्व जन्मों का) अदृष्टफलक कर्म फलीभूत हो रहा है। पापी भी सुखी देखे जाते हैं अतः उनका भी जन्मान्तर का पुण्य है जो फल रहा है यह मानना होगा क्योंकि कारण (पुण्य) के बिना कार्य (सुख) हो नहीं सकता।।६०१-२।। इसी प्रकार इस जन्म में पुण्य ही करने वाला दुःखी भी मिलता है जबकि दुःख पाप के बिना संभव है नहीं अतः समझ लेना चाहिये कि जन्मांतर में अर्जित उसका कोई पाप ही फल रहा है। सब देहधारियों को वैषयिक सुख धर्म से ही मिलता है।।६०३।।

अर्थ का फल विषयों का उपभोग ही है। अर्थ के बिना किसी को वैषयिक सुख मिलना संभव नहीं। धर्मात्मा भी नारी के बिना स्त्रीसुख नहीं पा सकता, न उसे संतति मिल सकती है व न गृहस्थरूप से प्रसिद्धि मिल सकती है। अन्न के बिना धार्मिक की भी भूख तो मिटती नहीं।।६०४-५।। निर्धन के पास अन्न नारी आदि सुखद विषय नहीं रहते। इस सबसे निर्धारित होता है कि अर्थ हमेशा काम का (कामनापूर्तिका) ही साधन है।।६०६।। पतिव्रता नारी भी धनादिरहित पति का परित्याग कर देती है, प्राणप्रिय पिता भी निर्धन हो तो पुत्र उसे छोड़ देते हैं।।६०७।। धन

कुलं शीलं तथा विद्या गुणा नानाविधा अपि। निर्धनस्य न कार्याय क्षमन्ते शववत् स्थिताः। ।६०९
धनी भोगान् समाप्नोति धनी स्वर्गं च गच्छति। विपुलां च तथा कीर्तिं गुणान् नानाविधानपि ।६१०
अर्थतस्तत एवाऽयं कामो भोगाभिधो नृणाम्। जायतेऽत्र विशेषेण नारीसम्भोगसम्भवः। ।६११
जातः पुमानकामोऽयं कोऽपि नास्ति जगत्त्रये। सुखेच्छा काम उद्दिष्टः कस्य साऽत्र न विद्यते ।६१२
वृद्धो बालो युवा वाऽपि पुमान् वाऽप्यथ वा पशुः। स्त्री वा नपुंसकं वाऽपि जङ्गमं स्थावरं[1] तथा ।६१३
सर्वैः प्रदृश्यते नित्यं कामुकं निखिलं जगत्। ततो विरक्तिः कस्य स्यात् सुखभोगं विनाऽत्र नु ।६१४
रागाभावो विरक्तिः स्याद् न रागस्य जनिं विना। उत्पन्नोऽत्र कथं रागस्तद्भोगमनवाप्य सः। ।
विनश्यति यथा लोके क्षुधा नान्नं विना क्वचित्। ।६१५
अपि रागोऽत्र संजातो विषयावाप्तिवर्जितः। जननीमिव संरुध्य शिशुश्चित्तं व्यवस्थितः। ।६१६
तस्मिन् सति न यात्येव चित्तेऽत्र विषयान्तरम्। मुमुक्षा कुत एवैषा दूरापास्ता भविष्यति। ।६१७

व्यतिरेकमुक्त्वाऽन्वयम् आह—धनीति। स्पष्टम्। ।६१०। । तत्राऽपि अर्थस्य वैशेषिकं फलं स्त्रीसुखमेव इत्यनुवदति—अर्थत इति। ततः अर्थाद् अयं कामो नारीसम्भोगात्मको जायत इति। ।६११। । किं च ब्रह्मचर्यादेव मोक्षाधिकारी कश्चिद् न सम्भवति, सर्वस्य जगतः कामव्याप्तत्वाद् इत्यनुवदति—जात इति त्रिभिः। अत्र संसारे सा विषयसुखेच्छा कस्य न अस्ति यतो वृद्धादिरूपस्य सर्वस्य जगतः कामुकत्वं सर्वानुभवसिद्धमिति। फलितमाह—तत इति। नु इति वितर्के। ।६१२-४। । वितर्कमेवाऽभिनयति—रागाभाव इति। रागस्याऽभावो ध्वंसः, तद्रूपा विरक्तिः किं रागोत्पत्तिं विना भवति, तदुत्पत्तौ वा ? नाद्यः, प्रतियोगिनो ध्वंसकारणत्वेन प्रतियोगिजनिं विना ध्वंसाऽसम्भवात्। नान्त्य इत्याह—उत्पन्न इत्यादिना। यथोत्पन्ना क्षुधा अन्नलाभेनैव शाम्यति तथा रागः अपि विषयभोगेनैवेत्यर्थः। तथा च ब्रह्मचारिणां विरक्त्यसम्भवाद् मोक्षोद्यमो न युक्त इति भावः। ।६१५। ।

ननु जातमपि विषयरागं विषयदोषदर्शनेन निरुद्ध्य विरक्तिर्मुमुक्षा च भविष्यति ? इत्याशंक्य; नैवं सम्भवतीत्याह—अपि राग इति। उदितो रागो यावद् विषयं न लभते तावद् गर्भो जनन्युदरमिव चित्तं निरुद्ध्य

से गर्वित मित्रादि मानव निर्धन व्यक्ति की अवज्ञा ही करते हैं मानों केवल साँस लेती कोई चीज़ सामने पड़ी हो। ।६०८। । जैसे मुर्दा किसी काम का नहीं ऐसे कुल, शील, विद्या, विविध गुण निर्धन के किसी काम नहीं आते। ।६०९। । धनी ही भोग, स्वर्ग, विपुल यश, नाना प्रकार के गुण आदि प्राप्त कर लेता है। ।६१०। । इसीलिये अर्थ से भोगनामक 'काम' रूप पुरुषार्थ लोगों को सिद्ध हो जाता है। विशेषरूप से नारीभोग से होने वाली कामनापूर्ति अर्थ से संभव है। ।६११। ।

क्योंकि सारा जगत् स्त्रीकामना से ग्रस्त है इसलिये ब्रह्मचर्य से ही कोई मोक्षाधिकारी बन भी नहीं सकता : त्रिलोकी में कोई पुरुष पैदा नहीं हुआ जो कामनाहीन हो। काम के मायने सुख की इच्छा, वह संसार में किसे नहीं होती ! । ।६१२। । बुड्ढा, बच्चा, जवान, नर, मादा, नपुंसक, पशु, स्थावर, जंगम—सारा ही जगत् कामुक है यही सभी को प्रत्यक्ष है। इसलिये यह हो कैसे सकता है कि संसार में सुख भोगे बिना किसी को वैराग्य हो जाये ? । ।६१३-४। । विरक्ति कहते हैं राग के अभाव को। राग उत्पन्न हुए बिना उसका ध्वंसरूप अभाव संभव नहीं। और उत्पन्न हुआ राग अपने विषय का भोग पाये बिना नष्ट कैसे हो सकता है ? जैसे भूख लग जाये तो भोजन के बिना कभी मिट नहीं सकती ऐसे भोग के बिना राग नहीं मिटता। (विरक्ति राग का प्रागभाव है नहीं क्योंकि पैदा सब रागयुक्त होते हैं।)। ।६१५। ।

---

१. स्थावरा हिमवत्प्रभृतयः। वनस्पतिपक्षे तेषां हिताहितप्राप्तिपरिहारानुकूल-प्रवृत्तिनिवृत्तिदर्शनात् स्वाभाविकत्वकल्पनाऽयोगाद् अस्मदादिवत्तन्मूलं काम एवेति शक्यतेऽनुमातुम्।

मदप्रभिन्नकरटः कुञ्जरः षष्टिहायनः। अरण्यान्या यथैवैष सूक्ष्ममार्गप्रचारकः।
निरुध्य द्वारतस्तिष्ठन् प्रवेशं न प्रयच्छति।।६१८

एवं विषयसम्भोगरागश्चित्तवने स्थितः। कथं रागान्तरस्याऽयं प्रवेशं दातुमर्हति।।६१९

अपि सीतासमाविद्धरागो योषिद्गणस्थितः। मन्दोदरीपतिः श्रीमान् रावणो लोकरावणः।।६२०

त्रैलोक्यैश्वर्यमतुलं बन्धुमण्डलमण्डितम्। चकमे न कथं नाम पुमानन्यः सुखान्तरम्।।६२१

नलसंलग्नहृदया दमयन्ती प्रसङ्गतः। शक्रादीनपि सम्प्राप्तान् न वव्रे पुरतः स्थितान्।।६२२

एवमन्येऽपि बहवो रागान्धधिषणा जनाः। न गमिष्यन्ति नो यान्ति न याता विषयान्तरम्।।६२३

अवतिष्ठते, तस्मिन्नेकविषयरागे चित्तगते सति गर्भान्तरमिव विषयान्तरं न प्रवेशाऽर्हम्। तथा च अलौकिके मोक्षे इच्छा सुतरां दुर्लभा। इति द्वयोरर्थः।।६१६-७।। अत्र दृष्टान्तमाह—मदेति। मदेन भिन्नः करटो गण्डस्थलं यस्य स तथा षष्टिहायनो युवा च गजो यथा अरण्यान्या महारण्यस्य सूक्ष्मेषु दुर्लभेषु मार्गेषु विचरणपरः तामरण्यानीं द्वारदेशे निरुध्य तिष्ठन् सन् प्रवेशं परस्य प्रतिबध्नातीत्यर्थः।।६१८।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति। एवं विषयविशेषरागरूपो गजः चित्तरूपे वने स्थितः, कथं मोक्षविषयकरागस्य अवकाशदः स्याद् ? इत्यर्थः।।६१९।।

उक्तेऽर्थे कैमुत्यं दर्शयन् लौकिकविषयरागस्य लौकिकविषयान्तररागं प्रत्यपि प्रतिबन्धकत्वं रावणादौ दृष्टमित्याह—अपि सीतेति चतुर्भिः। सीतायां समाबद्धः प्रयोजितो रागो येन स तथाभूतो रावणः त्रिलोकीवर्तिपदार्थान्तरं न कामितवान्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।६२०-१।। अत्र दमयन्त्यपि उदाहरणं यया स्वयंवरागता इन्द्रादयो नलं विहाय न वृता इत्याह—नलेति।।६२२।। एकविषयरागेण विषयान्तरविमुखाः शतशोऽतीतादिकालेषु प्रसिद्धा इत्याह—एवमन्येऽपीति। न गमिष्यन्ति न भजिष्यन्ति।।६२३।। यदि कश्चित् प्रथमं

जैसे जननी के गर्भ में जब तक एक बच्चा है तब तक दूसरा बच्चा उसमें घुस नहीं सकता ऐसे ही चित्त में राग उत्पन्न हो जाये तो जब तक विषयोपभोग न हो तब तक वह चित्त को घेरे रहता है, उस राग के रहते चित्त लौकिक विषयान्तर की ओर भी नहीं जा सकता तो अलौकिक कैवल्य की ओर कैसे आकृष्ट होगा ! मुमुक्षा तो उसके लिये बहुत ही दुर्लभ है।।६१६-७।। जिसका माथा मद से भीगा हो ऐसा जवान हाथी जो महावन के घने रास्तों में विचरता हो वह उस जंगल के मुहाने पर खड़ा हो जाये तो अन्य किसी को वन में प्रवेश नहीं करने देता। ऐसे ही चित्त एक जंगल है और विषयों के संभोग का राग उसमें घूमने वाला मदमस्त हाथी है। किसी खास विषय का राग जब चित्त में उद्भूत रहेगा तब मोक्षादि के प्रति राग को चित्त में घुसने कैसे देगा!।।६१८-६।।

सारे संसार को रुला देने में सशक्त लंकापति रावण मंदोदरी जैसी विश्वविख्यात सुंदरी का पति था और अन्य अनंत अंगनाओं से घिरा रहता था किन्तु जगन्माता भगवती सीता के प्रति कुविचार से आकृष्ट होने के कारण वह बन्धुजनों से सज्जित त्रिलोकी के अतुलनीय ऐश्वर्य की भी कामना छोड़ बैठा था !।।६२०-१।। इसी तरह दमयन्ती का दिल राजा नल से जुड़ गया था तो स्वयंवर के मौके पर पधारे इन्द्रादि सामने होने पर भी उसने उनका वरण नहीं किया।।६२२।। इसी प्रकार अन्य भी बहुत जने देखे जा सकते हैं जिनकी मति किसी एक विषय के राग से अंधी हो जाती है तो वे विषयान्तर का सेवन ही नहीं करते। ऐसे लोग भूतकाल में ही नहीं आज भी हैं और आगे भी होंगे।।६२३।। जब उद्भूत राग रहते लोगों में इतनी भी शक्ति नहीं रहती कि लौकिक सुखान्तरों का उपभोग कर लें तो अलौकिक मोक्ष में प्रवृत्त होने की शक्ति उनमें कैसे होगी ? (लौकिक सुख तो उपभुक्तजातीय है, उसका स्वाद तो पता है, फिर भी एकत्र उत्कट राग हो तो उपस्थित भी सुखान्तर भोगा नहीं जाता। मोक्ष अब तक के अनुभव से विलक्षण ही है, उसका स्वरूप अभी तक परोक्ष ही है, हमें उसके स्वाद का अंदाज़ भी नहीं तो राग रहते हम कैवल्य की ओर आकृष्ट

अत्राऽपि विद्यते नैव [1]शक्तिर्येषां सुखान्तरे। अलौकिके कथं मोक्षे शक्तिस्तेषां भविष्यति।।६२४
ततो मोक्षं पुमान् नैव गच्छेत् कामान् हृदि स्थितान्। अनवाप्याऽपि धीमान् यो मन्दधीः किं पुनर्जनः।।६२५
'अनधीत्य द्विजो वेदान् अनुत्पाद्य तथा सुतान्। अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः' ।६२६
एवं मनुरपि प्राह प्रथमो यः शरीरिणाम्। इदं रागस्य माहात्म्यं जानानः सर्ववित् पुमान्।।६२७
ततः सर्वोपभोगेन क्षीणे रागे च सर्वतः। विरक्तो मोक्षमार्गाय मनः कुर्वीत पण्डितः।।६२८

तत्परिहारः

इत्यादि बहुशो मन्दाः सर्वदा भोगलालसाः। जल्पन्ति तद्वचः कोऽत्र गृह्णीयात् पण्डितः पुमान्।।६२९
सुखे पुण्यस्य हेतुत्वं दुःखे पापस्य चेरितम्। एतत् तथेति को नाम नेतीदं भाषते पुमान्।।६३०

मोक्ष एव रागवान् स्यात् स संन्यासाधिकारी स्याद् इति चेद् ? न; न्यायविरोधेन असम्बन्धाद् इत्याह—अत्रापीति। येषामत्र लौकिके सुखान्तरे सुखविशेषे सक्तिः आसक्तिः न अस्ति तेषां प्रथममेव अलौकिके मोक्षसंज्ञे सुखे सा कथं स्याद् ?[2] इत्यर्थः। यो हि लौकिकं सुखं सम्यग्जानीयात् स स्वर्गसुखमिव मोक्षसुखमपि कामयेतेति सम्भवति, इच्छाया इष्टतावच्छेदकप्रकारकज्ञानजन्यत्वात्, नान्यथेति भावः।।६२४।। तस्माद् बुद्धिमानपि सर्वान् कामान् पूरयित्वैव मोक्षाय यतेतेत्याह—तत इति। धीमानपि हृदिस्थान् कामाननवाप्य अपूरयित्वा मोक्षं मोक्षाश्रमं संन्यासं[3] गच्छेद् इत्यर्थः।।६२५।। अत्र मनुवाक्यं (६.३७) पठति—अनधीत्येति। स्पष्टम्।।६२६।। एवमिति। यः 'स वै शरीरी प्रथमः' (वायुपु. १.४.६९) इत्यादिवाक्योक्तप्रजापतिरूपः[4] सर्वज्ञश्च प्रसिद्धः स मनुः इमं वर्णितं रागप्रभावं जानन् पूर्वं श्लोकं प्राह इत्यर्थः।।६२७।। फलितमाह—तत इति।।६२८।।

एतद् मन्दमतं परिहरति—इत्यादीत्यादिना 'त्रैवर्णिकानधीतांस्तान्' इत्यतः (श्लो. ६८३) पूर्वतनेन ग्रन्थेन। एवंविधं वाक्यजातं ये मन्दा वदन्ति ते पण्डितैरुपेक्ष्या एव; तद्वाक्ये संमतिकरणं विद्वत्सु न सम्भाव्यत इत्यर्थः।।६२९।। तत्र यत् तैः सुखदुःखे प्रति पुण्यपापयोः हेतुत्वमुक्तं तत्र 'न' इति न कुर्मः, किन्तु तदंशमङ्गी कुर्म इत्याह—सुख इति।।६३०।। यत्त्वर्थस्य सुखहेतुत्वमुक्तं तद् व्यभिचाराद् वैपरीत्याच्च अयुक्तमित्याह—

हो शमादि में कैसे संलग्न हो सकते हैं ! 'शक्ति नहीं रहती' की जगह टीकाकार 'आसक्ति नहीं रहती' पाठ मानते हैं अर्थात् मन विषयान्तर में लगता ही नहीं।)।६२४।।

इसलिये मन में मौजूद कामनाओं को भोग से मिटाये बिना बुद्धिमान् व्यक्ति भी मोक्षार्थ प्रवृत्त नहीं हो सकता तो मंदबुद्धि सामान्य व्यक्ति कैसे हो पायेगा !।।६२५।। सर्वज्ञ, स्वयं प्रजापतिरूप महाराजा मनु ने भी राग के इस माहात्म्य को जानते हुए यही कहा है कि 'वेदों को पढ़े बिना, पुत्रों को उत्पन्न किये बिना, यज्ञों का अनुष्ठान किये बिना जो द्विज मोक्ष चाहे—कर्मादि छोड़कर केवल मोक्षोपयोगी चेष्टा करे—वह अधोगति पाता है।।'६२६-७।। (श्लो. ५९९ से यहाँ तक रागियों का मत रखा। अब इसका खंडन करेंगे।)

हमेशा भोग की लालसा वाले मूर्ख 'पूर्वदर्शित वाग्जाल से यही समर्थित है कि समस्त विषयों के उपभोगसे उन सबके प्रति राग क्षीण हो जाने पर लब्धवैराग्य पण्डित मोक्ष-मार्ग पर चलने का मानस बनाये' इत्यादि उक्त प्रकार की बहुत-सी बातें बकते रहते हैं पर संसार में कौन पंडित पुरुष उनकी बात मानेगा !।।६२८-९।। सुखका कारण

१. सक्तिरिति टीकापाठः।
२. 'न हि ब्रह्मानन्दोऽननुभूतपूर्वोऽनुभूतभोग्यसुखाभिलाषं मन्दी कर्तुमुत्सहते येन तदुज्झित्वा ब्रह्मज्ञाने प्रवर्तेत।' इति पञ्चपादिकायामपि शंकितम् (पृ. ३६४)।
३. न—इति पदमत्राधिकं पठितव्यम्।
४. बृ. १.४.३ वाक्ये मनोः प्रजापतित्वं भाष्य उक्तम्।

अर्थस्य सुखहेतुत्वं यदुक्तं तद् वृथैव हि। अर्थहीनाश्च सुखिनो दृश्यन्ते बहवो यतः।।
अर्थिनो दुःखिनश्चैव लोके शतसहस्रशः।।६३१

अर्थं विनाऽपि भोगाप्तिर्मनुष्यादेर्मयेरिता। याज्ञवल्क्यस्य मैत्रेय्याः संवादे पूर्वमेव ते।।६३२

प्रसिद्धा विदुषां यस्माद् अर्था दुःखस्य हेतवः। तेभ्यः कथं सुखं नाम भवेत् पण्डितरूपिणाम्।।६३३

वध्वादयो दरिद्रस्य विमुखाः स्युरितीरितम्। यत् तत् क्वाचित्कमेतत् स्याद् यतः सर्वत्र नैव तत्।।६३४

सुखेच्छा सर्वभूतानामीरिता या तथैव सा। तावता कामुकं केन जगदेतद् भविष्यति।।६३५।।

कामुको विषयासक्तः पुमान् लोके समीरितः। न सुखेच्छुस्ततोऽन्यो यस्ततो यत्किंचिदीरितम्।।६३६

राग एकत्र संजातो निरुन्ध्याद् विषयान्तरे। रागमस्माकमेतच्च नानिष्टं मोक्षरागिणाम्।।६३७

अर्थस्येति।।६३१।। अर्थं विना भोगाप्त्युदाहरणं सप्तमाध्याये—'अपि वित्तविहीना ये भ्रमराः' (श्लो. २३१) इत्यादिना—प्रपञ्चितमित्याह—अर्थं विनेति।।६३२।। 'अर्थानामर्जने दुःखम्' इत्यादि जानतां सुधियां मतेऽर्था दुःखदा एव। ये तु पण्डितानां रूपमाकारं धारयन्ति तेषां सुखदा इत्यपि त एव जानन्त्वित्याह—प्रसिद्धा इति।।६३३।। यच्च दरिद्रं वध्वादयस्त्यजन्ति इत्युक्तं तदपि शिष्टवृत्ताऽपरिज्ञानविलसितमित्याह—वध्वादय इति।।६३४।। यच्च सुखेच्छाशालित्वेन सर्वजगतः कामुकत्वमुक्तं तदप्ययुक्तम्, कामुकत्वस्य जिह्वोपस्थपरेष्वेव लोके प्रसिद्धत्वाद् इत्याह—सुखेच्छेति। तथैव सर्वभूतसम्बन्धिन्येव सा सुखेच्छा। यत्किंचित् तुच्छम्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।६३५-६।।

राग इति। यच्चोक्तम् एकस्मिन् विषये जातो राग इतरविषयगोचरं रागं निरुन्ध्यात् प्रतिबध्नीयाद् इति; एतद् अस्माकं प्रतिकूलं न भवति, मोक्षविषयकरागेण इतररागप्रतिबन्धस्य[1] अस्मदिष्टत्वाद् इत्यर्थः।।६३७।।

पुण्य और दुःख का कारण पाप है इसे कौन मना करता है ? वह तो ठीक ही बात है।।६३०।। जो यह कहा कि अर्थ सुख का हेतु है वह बेकार की बात है क्योंकि बहुत-से अर्थरहित लोग सुखी देखे जाते हैं और संसार में अर्थसंपन्न हज़ारों लोग दुःखी देखे जाते हैं।।६३१।। पहले ही याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद में तुम्हें समझा चुका हूँ कि बिना धन के भी मनुष्यादि भोग पा लेते हैं।।६३२।। विद्वानों में तो यही प्रसिद्ध है कि धन दुःख का कारण है। जो पंडितों का रूप धरे बैठे हैं उन्हें धन से सुख कैसे होता है यह वे ही जानें।।६३३।। 'दरिद्र के पत्नी-पुत्रादि उससे विमुख हो जाते हैं' यह भी सर्वत्र नहीं, कहीं-कहीं ही होता है। (शिष्ट सुसंस्कृत घरों में ऐसा नहीं होता।)।।६३४।। सब प्राणियों को सुख की इच्छा होती है यह तो ठीक है पर इतने मात्र से सारा जगत् कामुक कैसे हो जायेगा ? संसार में कामुक वही पुरुष कहलाता है जो हर तरह विषयों से चिपका रहे; विषयों से ही आकृष्ट हो, उन्हें ही भोगे, सर्वस्व समझे, उन्हीं का स्मरणादि करे उन्हें ही पाने की कोशिश में लगा रहे, न हासिल होने पर छटपटाता रहे; इससे भिन्न जो केवल सामान्यतः सुख चाहता है उसे कोई कामुक नहीं कहता। अतः सुखेच्छा को कामुकता कहना ग़लत बात है।।६३५-६।।

एकविषयक राग विषयान्तर के प्रति राग का निरोधक है—यह बात हमारे प्रतिकूल नहीं। हमें भी मोक्ष के प्रति 'राग' है जिससे संसार की ओर हो सके ऐसा राग उत्पन्न ही नहीं हो पा रहा। (मोक्ष की इच्छा शुद्धचेता को ही होती है। पूर्व जन्मों के पुण्य फल कर बाल्यावस्था में भी वह शुद्धि दे सकते हैं ताकि सांसारिक राग के स्थान पर मोक्षेच्छा ही पहले हो जाये। अत एव ब्रह्मचर्य से पारिव्राज्य की विधि संगत है। किं च लौकिक विषयों में भी सूक्ष्म ज्ञान के लिये विषयलम्पटता से दूर रहना ज़रूरी हो जाता है क्योंकि विषयार्जन-रक्षण आदि इतना समय व सामर्थ्य वसूल लेता है कि उसके बाद कला, विज्ञान आदि के परिष्कार सोचने-समझने-करने की संभावना नहीं रह जाती अतः वैषयिक विकास भी भोगपरायण के भरोसे मुमकिन नहीं।)।।६३७।।

---

१. 'नापि स्वभावतो बाह्यविषयविरक्तचेतसो विषयेषु प्रवर्तयितुं (शास्त्रं) शक्तम्।' इति बृहदारण्यकभाष्ये २.१.२० पृ. १७१।

मनुवचनपरीक्षा

मनोरुक्तिः समुक्ता या मोक्षनिन्दापराऽमुना। न सा मोक्षस्य निन्दायां प्रवृत्तेति ह शोभनम्। ।६३८
मोक्षो मनोरनिष्टश्चेत् षष्ठाध्याये कथं हि सः। मोक्षधर्मं वदेत् प्राज्ञो मनुः सर्वार्थदर्शकः। ।६३६
आनन्तर्यं च तस्यैभ्यो नेष्टं युक्त्याऽवलोकिते। अनेकशतशाखानां भेदैर्नानाविधानिमान्।
ब्रह्मायुरपि विद्वान्नः कोऽधीयीत जगत्त्रये। ।६४०
पुत्राणां च बहुत्वं स्यात् त्रिषु वैकं परं ततः। अनन्तेषु द्वयं चैतत् शक्यं कर्तुं न मानवैः। ।६४१
एवं यज्ञेषु विज्ञेया बहुसङ्ख्या सदैव सा। अशक्यं विदधच्छास्त्रमशास्त्रं तत् प्रजायते। ।६४२

यच्च 'अनधीत्ये' त्यादिकं मनुवाक्यमुपन्यस्तं; तदपि 'न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्ततेऽपि तु विधेयं स्तोतुम्' इति न्यायेन अज्ञान् प्रति कर्मप्रशंसापरम् इत्येव युक्तमित्याह—मनोरिति। अमुना वादिना या मनोरुक्तिः समुक्ता उपन्यस्ता सा मोक्षनिन्दापरा न भवति इत्येव अङ्गी करणं शोभनं युक्तमित्यर्थः। ।६३८। । तदनुकूलं विपक्षबाधकं तर्कम् अभिनयति—मोक्ष इति। यदि मोक्षार्था प्रवृत्तिः मनोः अनिष्टाऽभविष्यत् तदा मनुस्मृतिषष्ठाध्याये मोक्षधर्मं स नाऽवदिष्यत्। न च तस्मिन् भ्रमादयो दोषाः सम्भावनीयाः, 'यद्वै किञ्चन मनुरवदत् तद्भेषजम्' (तै. सं: २.२.१०.२) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धसार्वज्ञ्यादिमाहात्म्यस्य तदयोगाद् इति भावार्थः। ।६३६। ।

सत्यं मोक्षो मनोरिष्टः, परन्तु एभ्यो वेदाध्ययनादिभ्योऽनन्तरत्वेनैव इति कल्पनाऽपि न युक्तेत्याह—आनन्तर्यमिति। युक्त्याऽनुसारेण मनुवाक्ये विचारिते सति तस्य मोक्षोद्यमस्य एभ्यो वेदाध्ययनादिभ्य आनन्तर्यमिष्टम् इति न सिद्ध्यतीत्यर्थः। तत्र हेतुतया बहुवेदाध्ययनादीनामशक्यत्वमाह—अनेकेत्यादिना। ब्रह्म बृहद् आयुः यस्य स तथाविधोऽपि कः[1] त्रिलोकीवासी नः अधिकारिणामन्यतमो नानाशाखाभिन्नान् बहून् वेदान् अध्येतुं शक्तो भवेदित्यर्थः। ।६४०। । तथा पुत्रेषु बहुत्वमपि अशक्यं कर्तुमित्याह—पुत्राणामिति। कपिञ्जलाधिकरणे (जै. मी. ११.१.८) त्रित्वरूपं बहुत्वं प्रथमोपस्थितपरित्यागाऽनर्हत्वादियुक्तिभिः सिद्धान्ततयोक्तम्; चतुष्ट्वादिभेदैः अनन्तेषु बहुत्वेषु अन्यतमरूपं तत् पूर्वपक्षतयोक्तं। तद्वदत्र पुत्राणां बहुत्वं त्रिषु पर्यवसन्नं स्याद् अथ वा ततः त्रित्वात् परं वर्तमानेषु चतुष्ट्वादिषु अनन्तेषु भेदेषु एकमन्यतमरूपं स्याद्। एतद् बहुत्वप्रकारद्वयमपि दृष्टाऽदृष्टसामग्र्यधीनत्वाद् मानवैः स्वातन्त्र्येण कर्तुम् अशक्यमित्यर्थः। ।६४१। । एवमिति। तथा 'यज्ञैः' (मनु. ६.३७) इति यज्ञगता बहुत्वसंख्याऽपि सा त्रित्वरूपा चतुष्ट्वादिरूपा वा एवं मानवैः स्वातन्त्र्येण कर्तुमशक्यैव सदा प्रसिद्धा। एतादृशाऽशक्यार्थविधाने शास्त्रस्य अननुष्ठापकत्वलक्षणा-ऽप्रामाण्यापत्तिरित्यर्थः। तदुक्तं 'प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा। पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते। ।' (   ) इत्यादि। ।६४२। ।

रागियों ने जो मनुवाक्य अपने पक्ष में उद्धृत किया था जिसके अनुसार प्रारंभ से ही मोक्षार्थ प्रवृत्ति निंदनीय मानी थी वह भी उस वाक्य का अभिप्राय गलत समझकर ही कुचेष्टा थी। वह वाक्य मोक्षार्थ प्रवृत्ति की निंदा नहीं करता यही सही है। ।६३८। । महाराजा मनु को मोक्षार्थ प्रवत्ति स्वीकार न होती तो अपनी स्मृति के छठे अध्याय में वे मोक्षधर्मों का विधान कैसे करते ? सर्वज्ञ विद्वान् मनु पूर्वापर-विरुद्ध बात तो कह नहीं सकते। ।६३६। । ऐसा भी नहीं कि वे वेदाध्ययनादि के बाद ही मोक्षार्थप्रवृत्ति को मान्यता दें क्योंकि वैसा स्वीकारना युक्तिसंगत नहीं (और युक्तिविरुद्ध मान्यता से अनर्थ मिलता है यह शबर-शंकर का कथन है)। अनेक सैकड़ों शाखाओं में बँटे वेद अनेक प्रकार के हैं। त्रिलोकी में हममें से ऐसा कोई विद्वान् नहीं जो ब्रह्मा जितनी आयु में भी उन्हें पूरा पढ़ सके। ।६४०। । ऐसे ही मनुवाक्य में आया है कि 'पुत्रों को उत्पन्न किये बिना मोक्षमार्ग पर न चले'; 'पुत्रों को' यों बहुवचन कहा है जो न्यूनतम तीन और अधिकतम अनंत संख्या कहता है ! लेकिन मानव न तीन और न अनंत पुत्र पैदा करने में स्वतंत्र है क्योंकि पुत्रलाभ बहुतेरी सामग्री पर निर्भर करता है जबकि विधि उसी की संभव है जिसमें अधिकारी स्वतन्त्र हो। ।६४१। ।

१. कः आक्षेपे, न कोऽपि शक्तो भविष्यतीत्यर्थः।

त्रिपुत्राश्च त्रियज्ञाश्च स्वशाखाध्यायिनोऽपि च। मोक्षस्येच्छामकुर्वाणा दृश्यन्ते बहवो द्विजाः।।६४३
नियमः परिसङ्ख्या वा द्वयमेतन्न सम्भवेत्। अशक्यत्वादिहेच्छां को भवन्तीं विनिवारयेत्।।६४४
एतत् त्रयं पुरा मर्त्यः कृत्वैवेच्छेन्न चान्यथा। नियमोऽयमशक्येऽर्थे व्यर्थ एव प्रजायते।।६४५
एतत् त्रयं च मोक्षेच्छा स्वरूपेण द्वयं यदा। तदेच्छायाः परित्यागात् परिसङ्ख्या प्रसज्जते।।६४६

ननु बहुवेदाध्ययनादिषु अपूर्वविधिः मनोर्नाभिप्रेतः किन्तु वेदपदेन स्वशाखा, तदवयवाभिप्रायेण बहुवचनं चाऽभिप्रेत्य वेदाध्ययनादीनाम् अन्वयव्यतिरेकसिद्धा कारणता मनुनाऽनूद्यते ? इत्याशंक्य; अन्वयव्यभिचारेण कारणत्वाऽसम्भवाद् अनुवादो न युक्त इत्याह—त्रिपुत्राश्चेति। यदि त्रिपुत्रत्वादीनां मोक्षेच्छां प्रति कारणत्वं स्यात् तर्हि त्रिपुत्रत्वादिशालिनो मोक्षपरा एव दृश्येरन्। न तु तथा दृश्यन्ते, किन्तु बहवः संसारसक्ता मोक्षविमुखा एव दृश्यन्त इत्यर्थः।।६४३।। अस्तु तर्हि नियमविधिः परिसंख्याविधिर्वा मनुना विवक्षितः ? इत्यपि न शंक्यम्। मोक्षसौन्दर्यज्ञानोत्थिताया मोक्षेच्छाया व्यावर्तयितुमशक्यत्वाद् इत्याह—नियम इति। नियमपरिसंख्यात्मकम् एतद् विधेः प्रकारद्वयम् अपि न सम्भवति, तयोः फलस्य मोक्षेच्छाव्यावर्तनस्य अशक्यत्वात्, यत इह मोक्षे सौन्दर्यज्ञानेन भवन्तीं जायमानाम् इच्छां को वारयेद् ? इत्यर्थः।।६४४।। तत्र नियमविधिमभिनीय तद्वैयर्थ्यमाह—एतत्त्रयमिति। एतद् वेदाध्ययन-त्रिपुत्रत्व-त्रियज्ञत्वात्मकं त्रयं कृत्वैव मोक्षम् इच्छेद् एतस्मात्पूर्वं प्रसक्तां मोक्षेच्छां निरुद्ध्य एतदेव कुर्याद् इति यावत्। एवमाकारो नियमः तदोपपद्येत यदीच्छायां पुरुषस्य स्वातन्त्र्यं स्यात्। सेच्छा तु अशक्या स्वातन्त्र्याऽनर्हा भवति। ततोऽयं नियमो व्यर्थ इत्यर्थः।।६४५।। परिसंख्याविधिमभिनीय तत्र दूषणं स्फुटयति—एतत्त्रयं चेति त्रिभिः। द्वयोर्युगपत् प्रसक्तौ एकव्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्येत्युच्यते। तथा चाऽत्र एतद् उक्तरूपं त्रयम् एका कोटिः, मोक्षेच्छा च द्वितीया कोटिः। एवंविधस्वरूपयुक्तं कोटिद्वयं यदा पुरुषे प्राप्नोति तदा 'एतत् त्रयमेव कुर्याद्' इत्येवं वाक्यविपरिणामेन मोक्षेच्छायाः परित्यागो वारणं क्रियते तदा परिसंख्या भवतीत्यर्थः।।६४६।। एवमिति। एवं परिसंख्याविधित्वेन मोक्षेच्छावारणे कृते सति मोक्षोऽनुपादेयोऽग्राह्यः पुंप्रयत्ना-

यही बात मनुप्रोक्त 'यज्ञों को' इस बहुवचन के बारे में है। और स्वतंत्रता से जिसे करने में मनुष्य अशक्त हो उसका विधान करे तो वह शास्त्र ही नहीं रह जायेगा (क्योंकि पुरुषों के करने लायक प्रवृत्ति-निवृत्ति बताना ही शास्त्र का कार्य है)।।६४२।।

ऐसा भी नहीं कि वेदाध्ययनादि और मोक्षार्थ प्रवृत्ति में कार्यकारणता है जिसका मनु ने अनुवादमात्र किया है क्योंकि ऐसे बहुत से ब्राह्मण दीखते हैं जिन्होंने अपनी वेदशाखा पढ़ी है, तीन पुत्र पैदा किये हैं और तीन यज्ञ भी किये हैं फिर भी मोक्ष की उन्हें कोई इच्छा नहीं होती। यदि कार्य-कारणभाव होता तो यह संभव नहीं था।।६४३।। मनु का अभिप्राय नियमविधि में या परिसंख्याविधि में हो यह भी संभव नहीं क्योंकि होती हुई इच्छा का निवारण किया नहीं जा सकता।।६४४।। (जिसे करना अन्य प्रमाणादि से प्राप्त है उसी की अवश्यकर्तव्यता बताने वाली नियमविधि होती है तथा जब विधितात्पर्य विधेय की कर्तव्यता में न होकर उससे अन्य की अकर्तव्यता में होता है तब उसे परिसंख्याविधि कहते हैं। प्रकृत में इनका स्वरूप और असंभवता स्वयं स्पष्ट करते हैं—) मनूक्ति को नियमपरक मानें तो अर्थ होगा : 'वेदाध्ययन-तीन पुत्रों का उत्पादन-तीन यज्ञों का अनुष्ठान—ये तीनों करके ही मोक्ष की इच्छा करे, इन्हें करने से पूर्व इच्छा हो भी तो उसे रोककर इन्हीं तीन को करे।' किन्तु ऐसा नियम तभी संगत हो जब इच्छा करने-न-करने में पुरुष स्वतंत्र हो जबकि इच्छा पर किसी का स्वातन्त्र्य होता है नहीं। इस प्रकार नियमविधि मानें तो वाक्य निरर्थक होगा। (उक्त तीन करके इच्छा ज़रूर करे—यह भी सबके लिये संभव नहीं और उक्त तीन से पहले ही इच्छा हो गयी तो रोकना भी संभव नहीं।)।।६४५।। मनुवाक्य को परिसंख्यापरक मानने का मतलब होगा कि उक्त तीनों कर्म तथा मोक्षेच्छा—ये दोनों पुरुष के संमुख कर्तव्यतया उपस्थित हो जाने पर वाक्य कहे 'मोक्षेच्छा न करो'। किन्तु तब मोक्ष कभी भी पुरुष-प्रवृत्ति का उद्देश्य नहीं बन पायेगा और वह बात एक तो सदोष है क्योंकि मोक्ष का सौंदर्य जानने से किसी-न-किसी को उसकी इच्छा हो ही सकती है और दूसरा, मनुको वैसा कहना इष्ट भी नहीं अन्यथा

एवं मोक्षोऽनुपादेयः सर्वदैव भविष्यति। तत्रोक्तं दूषणं पूर्वमनिष्टं च मनोरपि।।६४७

क्त्वाप्रत्ययस्य वैयर्थ्यं परिसंख्या करोति हि। व्यावर्त्यायाः कथं तु स्याद् इच्छायाः परता ततः।६४८

इच्छन् पतति चैवैतत् प्रत्यक्षं नैव दृश्यते। अर्थवादस्ततो ह्येष विध्यर्थासम्भवाद् भवेत्।।६४९

अनिच्छा न विधेयाऽत्र मोक्षस्याऽभावरूपतः। अभावो न हि केनाऽपि कर्तुं शक्यः पुरा स्थितः।६५०

नुद्देश्य इति यावत् तथाविधः स्यात्। यत्र पक्षे दूषणं सौन्दर्यज्ञाने इच्छाया निरोद्धुमशक्यत्वेन व्याघातरूपं पूर्वमुक्तम् एव तथेदं परिसंख्याविधिपरत्वं क्त्वाप्रत्ययं प्रयुञ्जानस्य मनोरनिष्टम् अपि भवति इत्यर्थः।।६४७।। मनोरनिष्टत्वमेव स्फुटयति—क्त्वाप्रत्ययस्येति। यदि मोक्षेच्छा व्यावर्त्या स्यात् तदा 'वेदाध्ययनादिकं कृत्वा मोक्षमिच्छेद्' इत्येवं ततो वेदाध्ययनादिभ्यः परत्वं कथम् उच्येत ? तथा च क्त्वाप्रत्ययस्य वैयर्थ्यं कुर्वती परिसंख्याऽयुक्तेत्यर्थः।।६४८।।

तस्माद् इदं मनुवाक्यं कर्मप्रशंसामात्रपरत्वाद् अर्थवादरूपमित्याह—इच्छन्निति। 'यो वेदाध्ययनादिभ्यः पूर्वं मोक्षमिच्छति स पतति अधो गच्छति' इति एतद् अनेन वाक्येनोक्तं नैव भवति, बाधितमिति यावत्, यतः प्रत्यक्षं श्रुतिवाक्यं 'यदि वेतरथा ब्रह्मचयदिव प्रव्रजेद्' (जाबा. ४) इत्यादिकं 'तद्धैतत् पूर्वे विद्वांस आहुः—किमर्था वयमध्येष्यामह' इत्यादिकं[1] च दृश्यते—इति पूर्वार्द्धे योजना। ततो बाधितार्थत्वेन विधियोग्यस्य अर्थस्य असंभवाद् इदं वाक्यम् अर्थवादमात्रं भवेदिति।।६४९।।

नन्वत्र निन्दार्थवादेन इच्छानिषेधः सूच्यते, निषेधवाक्येषु तु प्राभाकरैः 'न कलञ्जं भक्षयेद्' इत्यस्य 'कलञ्जभक्षणाभावविषयकं कार्यमि'ति बोधमभिलपद्भिः अभावो विधेयतयाऽङ्गी क्रियते, तथाऽत्र किं न स्याद्? इत्याशङ्कां वारयति—अनिच्छेति। मोक्षस्याऽनिच्छा इच्छाया अभावो न विधेयो विधियोग्यः। कुतः ? अभावरूपतः भावो धात्वर्थः, तद्भिन्नत्वात्; धात्वर्थ एव लिङर्थविधिसम्बन्धयोग्य इति भावः। यदि तु 'दध्ना जुहोति' इत्यादौ धात्वर्थसम्बद्धे[2]प्रागभावात्यन्ताभावान्योन्याभावा न विधेयाः, पूर्वमेव सिद्धत्वाद् इत्याह—अभावो न हीति।।६५०।।

उन्हीं के छठे अध्याय के वचनों का विरोध होगा।।६४६-७।।

किं च इसे परिसंख्या मानने पर आनंतर्यबोधक क्त्वा-प्रत्यय ('करके') का यहाँ प्रयोग व्यर्थ हो जायेगा; इच्छा जब निषिद्ध हो गयी—जैसा कि परिसंख्या में होता ही है कि अनभीष्ट अंश का निषेध करना—तब उसे अनंतरभावी कैसे कहेंगे, उक्त त्रितय के बाद कर्त्तव्यरूप से यही वाक्य कैसे कहेगा ?।।६४८।।

इस मीमांसा का निष्कर्ष है कि यह वाक्य कर्म की प्रशंसा से ही गतार्थ है। 'वेदाध्ययनादि से पूर्व मोक्षार्थ प्रयास करना अधःपतन का हेतु है' यह इस वाक्य का अर्थ हो नहीं सकता क्योंकि वैसा कहना श्रुतिबाधित है। स्पष्ट श्रुति हैं, 'वैराग्यसंपन्न हो तो ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण करे', 'प्राचीन विद्वानों ने कहा 'हम अध्ययनादि क्यों करे?'' इत्यादि, जो उक्त त्रितय से पूर्व ही मोक्षार्थप्रयत्न को मान्यता दे रही हैं। इसलिये विधिरूप संभव न होने से उक्त मनुवाक्य अर्थवाद ही है, कर्मप्रशंसा ही है।।६४९।।

कुछ कर्मतन्त्र-विचारक अभाव को भी विधेय मानते हैं, वे कह सकते हैं कि यहाँ 'मोक्ष की अनिच्छा' अर्थात् मोक्ष की इच्छा का अभाव कर्तव्यरूप से बताया जा रहा है। किंतु वह बात ही ग़लत है। प्रागभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव पहले से ही मौजूद हैं अतः विधिप्रेरित हो उन्हें कोई 'कर' नहीं सकता किं अभावविधायक विधि सार्थक हो।।६५०।।

१. भाष्यव्याख्यातात्पूर्वग्रन्थे ऐतरेयके २.३.६ तमे। सूत्रभाष्ये (३.४.६) दर्शितं वाक्यम्।

२. अत्र कश्चन ग्रन्थपातः। '..द्धे विधिर्भवति तदापि प्रा...' इत्यादि योज्यम्।

ब्रह्महत्यादिवद् नाऽयं मोक्षः शास्त्रैर्निषिध्यते। ध्वंसोऽपि च ततो नायमिच्छायाः प्रविधीयते। ।६५१
विहितोऽपि भवेद् व्यर्थः पुनरिच्छाजनौ नृणाम्। निसर्गसुन्दरे मोक्षे प्रसिद्धे लोकवेदयोः। ।६५२
कर्मणां स्तुतिरेवैषा क्रियते मनुना ततः। संसाररागिणां वीक्ष्य कर्मणोऽत्राधिकारिताम्। ।६५३
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। पश्यन्नात्मतया जीवः स्वाराज्यमधिगच्छति। ।६५४
एवं वदन् मनुर्धीमान् वेदान्तार्थविशारदः। सर्वज्ञो मोक्षकामं तं कथमेष निवारयेत्। ।६५५
ततो मनोरभिप्रायमज्ञात्वा बालिशैरिह। उदाहृतं वचः कर्मस्तावकं न्यायसंयुतम्। ।६५६

भोगान्न वैराग्यम्

सर्वभोगोपलाभेन वैराग्यं समुपागतः। मुक्तिमेतीति यत् प्रोक्तं तत्तु कामाग्निजृम्भितम्। ।६५७

ननु क्षेमसाधारणकारणताम् अभ्युपेत्य मोक्षेच्छाप्रागभावः कर्तव्यः संरक्ष्य इति यावत्—इत्येवं बोधो भविष्यतीति चेत् ? स्यादेवं यदि ब्रह्महत्यादिवद् मोक्षेच्छा निषिद्धा स्याद् ! न तु तथा दृश्यते, प्रत्युत 'क्षणमेकं क्रतुशतस्य' इत्यादिश्रुतिभिः मोक्षेच्छा प्रशस्यत इत्याह—ब्रह्मेति। तत इच्छायाः क्षणभङ्गुरत्वेन स्वतः सिद्धत्वादेव तदिच्छाध्वंसोऽपि न विधेय इति द्वितीयदलार्थः। ।६५१। । किं च मोक्षेच्छाध्वंसस्य विधानं व्यर्थं, मोक्षसौन्दर्यस्य लोकवेदप्रसिद्धस्य ज्ञानेन पुनरिच्छोत्थानस्य आवश्यकत्वाद् इत्याह—विहितोऽपीति। ध्वंस इत्यनुषङ्गः। ।६५२। ।

किमर्थं तर्हि मनुना तदिच्छा निन्द्यत इति चेद् ? अज्ञान् प्रति कर्म विधातुमित्याह—कर्मणामिति। तत इच्छाऽभावस्य विध्यनर्हत्वात् संसारसक्तानां कर्माधिकारितामालोच्य एषा मोक्षेच्छानिन्दाद्वारिका कर्मस्तुतिः एव मनुना क्रियत इत्यर्थः। ।६५३। । किं च मोक्षेच्छानिषेधे मनोस्तात्पर्यं न भवति इत्येतद् मनुवाक्यादेव आयातीत्याह—सर्वेति द्वाभ्याम्। य आत्मयाजी अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं सत्कर्मकारी वेदान्तवाक्यैरात्मनः कारणतया सर्वत्रानुगमं, सर्वभूतानाम् आत्मनि कल्पितत्वं च सम्पश्यति स स्वाराज्यं गच्छतीत्यर्थकं वाक्यं द्वादशाध्याये (श्लो. ९१) कथयंस्तम् अधिकारिणं मोक्षकामं कथं मोक्षेच्छातो वारयेद्। इति द्वयोरर्थः। ।६५४-५। । फलितमाह—तत इति। 'न हि निन्देति' न्यायेन यद् वचः कर्मस्तावकं मनोः अभिप्रेतं तदेव मोक्षनिषेधाय उपन्यसद्भिः बालिशत्वं स्वस्य आविष्कृतं, मनोरभिप्रायाऽज्ञानाद् इत्यर्थः। ।६५६। ।

यच्च तैरुक्तं[1]—'सर्वविषयभोगेनैव मोक्षार्हो भवति' इति; तद् दूषयति—सर्वेत्यादिना। कामाग्निजृम्भितं कामाग्नितापकृतधातुवैषम्यप्रयुक्तप्रलापरूपम् इत्यर्थः। ।६५७। । तत्र सहस्रशो वेदान्तानां शास्त्राणां च मोक्ष-

जैसे ब्रह्महत्यादि करने का निषेध है ऐसे शास्त्र द्वारा मोक्ष निषिद्ध तो है नहीं कि मोक्षेच्छा का प्रागभाव बनाये रखने की विधि हो ! (ब्रह्महत्या हो न जाये इसके लिये कोशिश करना 'ब्राह्मण को न मारो' इसका अर्थ उक्त विचारक मानते हैं। वैसे ही इस मनुवचन से समझते हैं कि 'मोक्षेच्छा हो न जाये यह कोशिश करते रहो'! किंतु मोक्षेच्छा पाप न होने से ऐसी व्याख्या मूर्खतापूर्ण ही है।) यों तीन तरह के अभावों का विधान तो असंभव है ही, इच्छा के ध्वंसरूप अभाव का विधान भी मानना व्यर्थ है क्योंकि इच्छा तो स्वयं ही क्षणभंगुर होती है। कथंचित् विधि मानें तो व्यर्थ भी होगी क्योंकि स्वभावतः सुंदर मोक्ष की इच्छा पुनः हो जायेगी। लोक में व वेद में मोक्ष का महत्त्व प्रसिद्ध ही है जिससे उसे पाने की इच्छा दुर्लभ नहीं है। ।६५१-२। ।

इसलिये संसार में आसक्त कर्माधिकारियों को दृष्टि में रखकर मनु महाराज इस वाक्य से कर्मों की प्रशंसा ही कर रहे हैं। ।६५३। । 'सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को आत्मरूप से देखता हुआ जीव स्वाराज्य पा लेता है'—यों कहते हुए बुद्धिमान्, वेदान्तों के अर्थ में पारंगत, सर्वज्ञ मनु मोक्षेच्छुक अधिकारी को मोक्षार्थ प्रयत्न से रोकेंगे कैसे ! ।६५४-५। । एवं च कर्मस्तुतिरूप से युक्तियुक्त मनुवाक्य को मोक्ष के निषेधक रूप में उद्धृत करने वालों ने अपना अज्ञान और बचपना ही प्रकट किया है। ।६५६। ।

---
१. श्लो ६१५ आदिना।

सर्वेषां विषयाणां चेल्लाभान्मुक्तिर्नृणामिह। विरक्त्या जायते तेन भवेद् मुक्तेरसम्भवः।।६५८
अनन्तभेदसम्भिन्ना जीवानां योनयः स्मृताः। तत्राऽपि शतधा भेदो वर्ततेऽवान्तरस्त्विह।।६५९
एकैकस्याः शरीरस्य व्यक्तेः सन्ति सहस्रशः। विषयाः संख्यया शून्यास्तान् कथं समुपाव्रजेत्।।६६०
अपि मोक्षं यियासुः सन् पुमान् नरकमाव्रजेत्। नरकेऽपि यतः सन्ति विषया बहुभेदिनः।।६६१
अपि स्वर्गादिसंस्थाना विषया दुर्लभा हि ये। सर्वे ते केन लभ्याः स्युर्यज्ञानामयुतैरपि।।६६२
हिरण्यगर्भसम्प्राप्तौ भोगः कोऽपि न शिष्यते। यस्मादस्मान्न कोऽप्यन्यो भोग्योऽर्थोऽनेन दृश्यते।।६६३
हिरण्यगर्भसम्प्राप्तिर्दुर्लभा प्रथमं त्विह। साधनैर्विविधैः सत्यां चास्यां नास्ति प्रयोजनम्।।६६४

पराणाम् अप्रामाण्यापत्तिः स्यात्, तदर्थस्य मुक्तिरूपस्य असम्भवाद् इत्याह—सर्वेषामिति। इह सर्वविषयेषु विरक्त्या तेन उक्तार्थाङ्गी कारेण मुक्तेरसम्भवः स्यादिति।।६५८।। असम्भवमेव स्फुटयति—अनन्तेत्यादिना। जन्तूनां योनयः तावदनन्ताः। तासां योनीनां प्रत्येकं व्यक्तयः सुतरामनन्ताः। प्रत्येकं व्यक्तीनामपि रुचिभेदेन विषयाः सुतमामनन्ताः! तेषां सर्वेषां मानुषदेहे लाभोऽसम्भवी। इति द्वयोरर्थः।।६५९-६०।। किं च यथा कण्टकभक्षणास्वाद उष्ट्रजातावेव लभ्यः तथा सर्वविषयलाभार्थं नारकयोनिस्वीकारापत्तिः, सर्वलोकभ्रमणापत्तिश्च स्यादित्याह—अपि मोक्षमिति। स्पष्टं द्वयम्।।६६१-२।। ननु हिरण्यगर्भलोकप्राप्तिसम्पादनेन सर्वविषयभोगं सम्पादयिष्याम इति शङ्कते—हिरण्येति। यतः अस्माद् एनं हिरण्यगर्भभावं प्राप्य कोऽपि भोग्यः पदार्थः अनेन अधिकारिणा स्वस्माद्भिन्नो न दृश्यते—इत्युत्तरार्द्धार्थः।।६६३।। एतां शङ्कां दोषद्वयेन परिहरति—हिरण्यगर्भसम्प्राप्तिर्दुर्लभेति। सम्भावितबहुविघ्नकत्वेन दुर्लभब्रह्मलोकप्रतीक्षया ऐहिकसुकरमोक्षयत्नपरित्यागेन उपहास्यत्वम् एको दोषः। ब्रह्मलोकप्राप्तानां मोक्षस्य नान्तरीयकत्वेन मोक्षशास्त्रस्य तदधिकारिकत्ववर्णनेन निष्प्रयोजनत्व-लक्षणाप्रामाण्यापादनं द्वितीयो दोष इति भावः।।६६४।।

इसी प्रकार रागियों का यह कहना भी कि 'सारे भोग भोगकर वैराग्य होता है और तब व्यक्ति मोक्ष पा सकता है', यही बताता है कि कामना की आग से त्रिधातु कुपित होकर उनसे संनिपात का प्रलाप करा रहे हैं।।६५७।।

सब विषयों का भोग कर विषयों से वैराग्य होने पर मोक्ष होता हो तो मोक्ष असंभव ही हो जायेगा (जिससे मोक्षपरक शास्त्र अप्रमाण हो जायेगा)।।६५८।। जीवों को प्राप्य योनियाँ ही पहले अनंत भेदों वाली हैं। प्रत्येक योनि में सैकड़ों अवान्तर भेद हैं। उन भेदों वाली योनियों में हज़ारों व्यक्ति हैं और हर व्यक्ति के भोग्य असंख्य विषय हैं। दुनिया के सभी विषय कोई मनुष्य भोग सके यह सर्वथा असंभव है। (अतः भोगने से वैराग्य होगा यह कहने का अर्थ है कि वैराग्य होता ही नहीं है !)।।६५९-६०।। इतना ही नहीं, उक्त मान्यता वाला जो मोक्ष जाना चाहे उसे पहले नरक भी जाना पड़ेगा क्योंकि नरक में भी बहुतेरे विषय हैं ! (जैसे काँटों का स्वाद बिना ऊँट बने नहीं ले सकते ऐसे नारकीय भोगों को वहाँ गये बिना नहीं भोग सकते। 'सभी भोगों' में नरकभोग भी आ ही जायेंगे।)।।६६१।। स्वर्गादि लोकों के प्रत्येक विषय अत्यंत मुश्किल से मिलते हैं, दसों हज़ार यज्ञों से भी उन सबको कोई कैसे पा सकता है !।।६६२।।

यह ठीक है कि हिरण्यगर्भ बन जाने पर कोई भोग बच नहीं जाता क्योंकि हिरण्यगर्भ किसी भी भोग्य वस्तु को अपने से भिन्न नहीं समझता। अतः कहा जा सकता है कि हिरण्यगर्भ बनकर सारे भोग भोगे जा सकते हैं और तदनंतर ही वैराग्य होगा।।६६३।। किन्तु यह कल्पना भी अनुचित है : पहली बात तो यह है कि हिरण्यगर्भ बनना अति दुर्लभ है। उसकी आशा में यहाँ सुकर मोक्षोपाय छोड़ देना मूर्खता ही है। दूसरी बात यह कि अगर हिरण्यगर्भ बनने से ही मोक्ष संभव हो तो जो विवेक-वैराग्य-शमादि-श्रवणादि विविध साधन विहित हैं उनका कोई प्रयोजन नहीं रह जायेगा (जिससे उन साधनों का विधायक शास्त्र अप्रमाण हो जायेगा)।।६६४।।

न च कामस्तु सम्भोगाद् विनश्यति कदाचन। किन्तु सम्भोगतो भूयः पूर्वस्मादधिको भवेत्।।६६५

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते।।६६६

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं यच्चाऽस्ति वसु किञ्चन। एकस्याऽपि न पर्याप्तं तृप्त्यै पुंसोऽत्र कामिनः।।६६७

ततो विषयसम्भोगो न विरागस्य कारणम्। किन्तु रागस्य सततं सर्वेषामिह देहिनाम्।।६६८

ततोऽर्थतो भवेत् कामः कामाद् मोक्ष इतीरितम्। कामुकैरर्थलुब्धैश्च स्वप्रसिद्ध्यैव सर्वथा।।६६९

रागशमनोपायः

उपायस्त्वेक एवाऽत्र शान्त्यै रागस्य विद्यते। सर्वेषां देहिनां तस्माद् विषये दोषदर्शनम्।।६७०

दोषदृष्टिश्च बहुधा वर्णिता ते पुरा मया। ऐतरेयादिविज्ञाने संवादेऽप्यधिकारिणाम्।।
संक्षेपतस्त्विमां भूयः शृणु वक्ष्यामि तेऽधुना।।६७१

विषयः सर्वएवाऽयमनात्मा नश्वरस्तथा। दुःखोदर्कः पारतन्त्र्यग्रस्तस्तिष्ठति सर्वगः।।६७२

नरके ब्रह्मलोके वा शुनि वा परमेष्ठिनि। समो दारादिसम्भूतो विनाऽहन्तां मनोगताम्।।६७३

पञ्चभूतात्मको यद्वद् भूतावासः शुनो भुवि। ब्रह्मलोकेऽपि तद्वत् स ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः।।६७४

किञ्च भोगेन कामोपशमं ये प्रतिपादयन्ति त इतिहासादिविद्भिः उपहास्या इति सूचयन्नितिहासादिवाक्यानुसारेण भोगेन कामोपशमाभावम् आह—न च काम इति त्रिभिः। निगदव्याख्यातं त्रयम्।।६६५-७।। तत इति। यतो भोगाभ्यासेन कामो वर्द्धते ततो भोगो विरागस्य हेतुः न भवति किन्तु रागस्य एवेति।।६६८।। फलितमाह—ततोऽर्थत इति। एवं सति यत् कामुकैः इति उक्तम्; 'इति' किम् ? अर्थस्य फलं भोगः, तस्य फलं वैराग्यद्वारा मोक्ष इति; तत् स्वप्रसिद्ध्या स्वकीयव्यामोहानुसार्येवोक्तं न तु प्रमाणानुसारीत्यर्थः।।६६९।।

कस्तर्हि रागोपशमोपायः ? इत्याकांक्षायाम्; पूर्वं प्रपञ्चितं दोषदर्शनमेवेत्याह—उपायस्त्वेक इति।।६७०।। यद्यपि विषयदोषदर्शनं प्रथमाध्याये चतुर्थाध्याये च प्रपञ्चितं तथापि सुबोधाय पुनरुच्यत इत्याह—दोषेति।।६७१।। विषय इति। सर्वगः सर्वलोकेषु भवः[1], सर्वः समस्तविधः, विषयः अनात्मा निस्तत्त्वो, नश्वरो विनाशी, दुःखोदर्क उत्तरकाले दुःखरूपेण परिणामी, पराधीनश्च भवति इत्यर्थः।।६७२।। 'सर्व'-पदद्वयार्थमेव स्फुटयति—नरक इति। नरकादौ दारादिप्रयुक्तो विषयभोगः सम इत्यभिमानमात्रेण भेदः।।६७३।। तदर्थं शरीरसाम्यमाह—पञ्चेति।।६७४।।

सम्भोग से कामना कभी विनष्ट होती भी नहीं बल्कि पहले से बढ़ती ही है।।६६५।। प्राचीन आचार्य भी बता गये हैं कि काम्यविषयों के उपभोग से कामना शांत नहीं होती वरन् और भड़कती है जैसे हवि डालने से आग शांत नहीं होती, बढ़ती ही है।।६६६।। सारी पृथ्वी के सब चावल-जौ-धन आदि किसी एक कामी व्यक्ति की तृप्ति के लिये भी काफी नहीं हैं!।।६६७।। इसलिये विषय भोगना वैराग्य का जनक नहीं किन्तु राग का ही जनक है। संसार में सभी देहधारियों को यह प्रत्यक्ष है।।६६८।। 'अर्थ से काम व काम से मोक्ष होता हैं' यह कथन अर्थलोलुप कामुकों ने अपने व्यामोह के अनुसार ही कहा है।।६६९।।

राग की शांति का सब देहधारियों के लिये संसार में एक ही उपाय है : विषयों में दोष देखना।।६७०।। ऐतरेयादि के व्याख्यान में अधिकारिसंवाद के अन्तर्गत दोषदर्शन बता चुके हैं, अन्यत्र भी बताया था, फिर भी संक्षेप में पुनः बता

१. एतेन दिव्यलोकविषयाणाममिथ्यात्वादिकं कल्पयन्तो भेदरसिकाः तन्मोहिताश्च केचनास्मदीयाः परास्ताः।

जन्ममृत्यू शुनो यद्वत् तद्वत् पुंसः परस्य च। सशरीरो यथा दुःखी श्वा तथा प्रथमः पुमान्।।६७५
तस्मादित्यादि मनसा विचिन्त्य बहु धातुगान्। वान्तवद् विविधान् भोगांस्त्यजन्ति ब्रह्मवादिनः।।६७६
ततः प्रजननं नैतदुपायो ब्रह्मबोधने। किन्तु पुत्रादिलाभार्थं कामुकस्येह कीर्तितम्।।६७७
सत्यादयो भवन्त्यत्र ब्रह्मज्ञानस्य साधनम्। यथा प्रजननं लोके सुखपुत्रादिसाधनम्।।६७८
अपि चैतत् स्वतः सिद्धमाहारादिसमं सदा। पश्वादीनां कथं नाम वदेत् कार्यं श्रुतिस्त्विदम्।।६७९

सर्वानर्थसाम्यमाह—जन्मेति। पर-प्रथम-शब्दौ हिरण्यगर्भपरौ।।६७५।। विषयाणां दोषमयत्वं शिष्टप्रवृत्त्या स्फुटयति—तस्मादित्यादीति। तस्माद् विषयाणां निःसारत्वादेव ब्रह्मविद इत्यादि वर्णितविधं बहु दोषजातं मनसा विचिन्त्य विविधान् भोगांस्त्यजन्ति। कीदृशान् भोगान् ? धातुगान् धातवः पृथिव्यादिलोकाः तद्गतान्। 'धातू रसादौ श्लेष्मादौ भ्वादि-ग्रावविकारयोः। महाभूतेषु लोकेषु शब्दादाविन्द्रियेऽस्थनि।।' इति हैमः।।६७६।।

परमं फलितमाह—ततः प्रजननमिति। ततो रागप्रचयहेतुत्वेन संसारप्रयोजकत्वाद् एतत् प्रजननम् अपत्योत्पादनं यद्यपि ब्रह्मबोधस्य उपायो न भवति तथाऽपि इह ब्रह्मबोधनसाधनगणे कामुकस्य सकामस्य अभ्युदयार्थं कीर्तितम्।।६७७।। अस्य प्रकरण उपयोगस्तु दृष्टान्तसङ्गत्येति दर्शयति—सत्यादय इति। यथा प्रजननं लौकिकसुखसाधनं तथा सत्यादयो ब्रह्मबोधसाधनभूता इति सङ्गतिरित्यर्थः।।६७८।। किं चाऽस्मिन् प्रजनने शास्त्रेण लोकानां प्रवर्तनमयुक्तं, रागत एव भोजननिद्रादिवत् प्राप्तत्वाद् इत्याह—अपि चैतदिति। एतत् प्रजननं, सिद्धं प्राप्तम्।।६७९।।

देते हैं।।६७१।। संसार में कहीं भी होने वाला, किसी भी तरह का कोई भी विषय हो वह निस्तत्त्व, विनाशी, बाद में दुःखदायी और पराधीन ही होता है।।६७२।। नरक में हो या ब्रह्मलोक में, कुत्ते को हो या परमेष्ठी ब्रह्मा को, पत्नी आदि से मिलने वाला सुख समान ही है। केवल अपने-अपने मन के अभिमान से सुखों में तारतम्यादि माना जाता है।।६७३।। जैसे पृथ्वी पर कुत्ते का देह पांचभौतिक है ऐसे ही ब्रह्मलोक में अव्यक्तजन्मा ब्रह्मा का शरीर भी भौतिक ही है।।६७४।। जैसे कुत्ता जन्मता-मरता है ऐसे परम पुरुष ब्रह्मा भी जन्मते-मरते हैं। जैसे कुत्ता देहधारी व दुःखी है वैसे प्रथम शरीरी ब्रह्मा भी।।६७५।। यों क्योंकि विषय सारहीन हैं इसलिये ब्रह्मवेत्ता उक्त ढंग से बहुत दोषों का मन से निर्णय कर पृथ्वी आदि लोकों में होने वाले नाना प्रकार के भोगों को वमन किये हुए की तरह छोड़ देते हैं।।६७६।।

इस प्रकार राग बढ़ाने वाला अतः संसरण का ही प्रयोजक होने से पुत्रोत्पादन यद्यपि ब्रह्मज्ञान का उपाय नहीं है तथापि ब्रह्मबोध के साधन सत्यादि के गणन के प्रवाह में इसका उल्लेख कामुक को पुत्रादि प्राप्ति की अनुज्ञा के लिये कर दिया है। (वस्तुतस्तु यथानियम पुत्रोत्पादन व पुत्रानुशासन चित्तशोधक भी बन सकता है। ईसाई प्रजनन को पाप मानते हैं जबकि सनातन धर्म उसे पुण्य मानता है यदि प्रजनन यथानियम किया जाये। अतः जिसे उत्कट वैराग्य नहीं वह गृहस्थ भी मुमुक्षु हो ही सकता है, गार्हस्थ्यधर्म का निर्वाह करने से 'मैं पाप कर रहा हूँ' ऐसी कुण्ठा से वह ग्रस्त न हो इसलिये साधन-पर्यायों में प्रजनन का गणन संगत है।)।।६७७।। दृष्टांतरूप से भी इसका उपन्यास है : जैसे लोक में प्रजनन पुत्रादिसुख का हेतु है वैसे सत्यादि ब्रह्मावगति के साधन हैं।।६७८।। आहारादि की तरह पशु आदि तक को प्रजनन में प्रवृत्ति स्वतः प्राप्त है अतः श्रुति इसे कर्तव्य क्यों कहेगी ? (अतः दृष्टान्त मानना ठीक है। किन्तु विचारणीय है कि वैध प्रजनन स्वतः प्राप्त नहीं है। अग्निसाक्षिक विवाह से स्वीकृत स्वसजातीयादि स्त्री में ही प्रजनन करे यह बात स्वभावप्राप्त नहीं कही जा सकती। ऐसे ही काल, आधानांगभूत मंत्रादि, जातकर्मादि को शास्त्रीय मानना ही पड़ता है। विशेषण वैध होने पर विशिष्ट भी वैध होगा। मनु ने (४.३४) कहा है कि 'सामर्थ्य हो तो भूख का दुःख न सहे, वैभव हो तो पुराने गंदे कपड़े मत पहने' जबकि इसे भी सामान्यतः स्वाभाविक माना जाता है अतः आहार के लिये भी शास्त्रीय प्रेरणा स्वीकारी जा सकती है। किं च तैत्तिरीय में 'प्रजातन्तु मत तोड़ना' इस निर्देश पर

प्रजननपदस्यार्थान्तरम्

अथ वाऽस्तु श्रुतिप्रोक्तं कार्यं प्रजननं त्विदम्। अत्र प्रवचनस्यार्थं बिभ्रल्लब्धं च लोकतः।।६८०

यद्यप्यध्यापनं प्राप्तं वृत्त्यर्थं ब्राह्मणस्य हि। तथापि न विधेयं तदत्र वेदान्तबोधने।।

श्रवणं तत एवैतत् पारिशेष्याद् भविष्यति।।६८१

अस्मिन् पक्षे वयः स्त्र्यादि नापेक्ष्यं केनचित् क्वचित्। किन्तु संन्यास एवैकः शान्त्यादिगुणसंयुतः।

विवेकिनो विरक्तस्य मुमुक्षोरप्यपेक्ष्यते।।६८२

ननु निःश्रेयससाधनानां मध्ये रागप्राप्तस्य कीर्तनमयुक्तम् इत्यस्वरसात् पक्षान्तरमाह—अथ वेति। अथ वा इदं प्रजननपदं कार्यं विधेयप्रतिपादकमस्तु, विधेयगणप्रतिपादकश्रुत्यन्तर्गतत्वात्। कीदृशं प्रजननपदम्? प्रवचनपदस्य अर्थमध्यापनरूपं बिभ्रत् प्रकृतोपयोगाय अभिदधानम्। न चाऽयमर्थोऽयुक्तः; लोकतो 'वंशो द्विधा—विद्यया जन्मना च' इत्यादि लोकप्रसिद्धितो लब्धत्वाद् इत्यर्थः। तथा च हैमः 'प्रजननं प्रगते योनिजन्मनोः' इति; तत्र प्रगतपदस्य प्रकृष्टं गतं ज्ञानम् इति व्युत्पत्त्याऽध्यापनसामर्थ्यमर्थ इति।।६८०।। ननु अध्यापनपरत्वमप्ययुक्तं, जीविकार्थत्वेन याजनप्रतिग्रहवद् ब्राह्मणं प्रति वाक्यान्तरैः प्राप्तत्वाद्? इति शङ्कते—यद्यपीति। समाधत्ते—तथापीति। भवेदेषा शङ्का यदि अध्यापनमेव विधीयेत। तत्तु न विधीयते, वेदान्तस्य वेदसिद्धान्तस्य अद्वैतात्मतत्त्वस्य बोधकेऽत्र प्रकरणेऽसङ्गतत्वात्[1]। किन्तु तत प्रकरणानुरोधाद् अध्यापनफलभूतं श्रुत्यर्थावधारणरूपं श्रवणमेव लक्षणया एतत् प्रजननपदोक्तं भविष्यति इत्यर्थः।।६८१।।

यदाऽयमर्थो विवक्षितस्तदा प्रजननस्य सापेक्षत्वं वयःप्रभृतिषु यदुक्तं तत् परित्यज्य संन्याससापेक्षत्वं 'संन्यस्य श्रवणं कुर्याद्' ( ) इत्यादिवचनसिद्धं वर्णनीयमित्याह—अस्मिन्निति। अस्मिन् प्रजननस्य श्रवणरूपत्वात्मके पक्षे।।६८२।।

आचार्य ने स्पष्ट किया है 'अनुत्पद्यमानेऽपि पुत्रे पुत्रकाम्यादिकर्मणा तदुत्पत्तौ यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः'। इसलिये पुराणकार का यह अभिप्राय नहीं कि श्रुति ने प्रजनन को कार्य नहीं बताया वरन् यहाँ संन्यास की प्रशंसा के प्रसंग में जो प्रजनन का उल्लेख है वह विधायक नहीं इतना ही अभिप्राय है।)।।६७९।।

फिर भी मोक्षसाधन बताते हुए बीच में राग-प्राप्त पशुसाधारण चेष्टा का उल्लेख ठीक नहीं अतः प्रजनन के यथाश्रुत अर्थ को स्वरस न मानकर पुराणकार कहते हैं: अथवा यह प्रजनन-शब्द यहाँ 'प्रवचन' के अर्थ में प्रयुक्त है और उस प्रजननशब्दित प्रवचन को कर्तव्य कहा है। यह अर्थ असंगत नहीं क्योंकि लोक में भी जैसे पुत्रपरंपरा को वंश कहते हैं ऐसे शिष्यपरंपरा को भी। इस प्रकार अध्यापन को यहाँ प्रजनन समझना चाहिये।।६८०।।

किंतु अध्यापन (वेद पढ़ाना) भी ब्राह्मण के लिये कमाई के साधनरूप से अन्यत्र विहित ही है अतः वेदान्त समझने के उपाय रूप से अध्यापन का विधान व्यर्थ है। इसलिये प्रजनन-शब्द से श्रवण ही विहित है, वह प्रकरण के अनुकूल और अध्यापन से संबद्ध भी है क्योंकि अध्यापन का फल यही है कि सुने अर्थ का निश्चय हो जाये और शास्त्रतात्पर्य का निश्चय करना ही श्रवण है। प्रजनन के जितने अर्थ हो सकते हैं उनमें अन्य सब यहाँ असंगत हैं, बचा हुआ श्रवण ही यहाँ उपादेय है। श्रवण भी प्रजनन का उक्त रीति से लक्षणालभ्य अर्थ है।।६८१।।

---

१. मुण्डके (१.२.१३) 'प्रोवाच' इत्यत्र विधिमुपेत्य भाष्यम् 'आचार्यस्याप्ययं नियमो यन्न्यायप्राप्तसच्छिष्यनिस्तारणमविद्यामहोदधेः', इति तत्परं वाऽस्तु प्रजननपदम्। न च तथापि साधनेषु गणनमयुक्तं, ज्ञानिन आचार्यतयोपदेशकत्वाद् इति वाच्यम्; गृहस्थज्ञानी वेदान्तोपदेशं कुर्यात्तेन धर्मेण वैराग्योदये संन्यसेदिति तात्पर्यौचित्यात्। ज्ञानमात्रे गृहस्थादेरपि अधिकारात्। याज्ञवल्क्यादिनिदर्शनेन तेषां वेदान्तोपदेशकत्वावगमाच्च। 'सततं कीर्तयन्तो माम्' (९.१४) 'बोधयन्तः परस्परं कथयन्तश्च मां नित्यम्' (१०.९) 'मद्भक्तेष्वभिधास्यति' (१८.६८) आदि भगवद्गीताऽप्यत्र संगच्छते।

त्रैवर्णिकानधीतांस्तान् कृतदारानपेक्षते। अग्न्यादित्रयमत्रैतद् वक्ष्यमाणं हि वैदिकम्। ।६८३

'अग्नय' आदेर्व्याख्या

जातपुत्रः कृष्णकेशस्त्रिवर्णी दोषवर्जितः। विद्वान् सामर्थ्यसंयुक्त आदधीत विधानतः।
अग्नीन् पञ्चाऽपि च त्रीन् वा श्रौतान् कर्मप्रसाधकान्। ।६८४

जाययैव तु संयोगादेकमग्निं च केचन। स्मार्तं वदन्ति मुनयस्तेषां शक्तेरभावतः। ।६८५

दारादिसापेक्षत्वं तु आहितादिपदोदितेषु त्रिषु योज्यमिति दर्शयति—त्रैवर्णिकानिति। अग्नयः अग्निहोत्रं यज्ञाश्च—एतद्रूपं त्रयं कर्तृ अध्ययनदारसम्बद्धान् विप्रक्षत्रियवैश्यान् स्वाधिकारितया समाकांक्षते—इति अत्र किं प्रमाणम्? इत्यत आह—अत्रैतद् इत्यादि। अत्र उक्तार्थे वैदिकं वाक्यजातं वक्ष्यमाणमर्थत उपन्यस्यमानं मानमिति शेषः। ।६८३। ।

तत्र अग्नीनां तत्सापेक्षत्वादि प्रतिपादकं वाक्यजातमर्थतः संगृह्ण न् सफलं स्वरूपमाह—जातेति त्रिभिः। जातपुत्र-कृष्णकेशपदाभ्यां त्रिंशद्वर्षरूपः कालो लक्ष्यते। दोषा अन्धत्वादयः तद्वर्जितः। विद्वान् कर्मोपयोगिमन्त्रादिवेत्ता। सामर्थ्यं कर्मोपयोगिद्रव्यसम्पदादिरूपं तद्युक्तस्त्रैवर्णिकः। पञ्च दक्षिणाग्नि-गार्हपत्या-ऽऽहवनीय-सभ्या-ऽऽवसथ्यसंज्ञान्। त्रीन् आहवनीयान्तान् एव यथाशाखम् आदधीत आधानाख्यकर्मणा उत्पादयेत्। कीदृशानेतानग्नीन्? श्रुतिविहितान् श्रौतकर्मणां साधकांश्च इत्यर्थः। ।६८४। । जाययैवेति। केचन आथर्वणिका एकमग्निम् एकर्षिसंज्ञकं श्रौतं वदन्ति तस्याधानं जायायाः संयोगं विवाहकालमारभ्यैव तैरुक्तम् इति प्रथमदलार्थः। तेषां श्रौतानामग्नीनाम् आधानशक्त्यभावे तु स्मार्तम् औपासनाख्यम् 'एकमग्निमादधीत' इति गृह्यसूत्रकारा वदन्तीत्यर्थः। ।६८५। ।

(जब प्रजनन का प्रजोत्पादन अर्थ था तब उसे स्त्रीलाभादि के सापेक्ष कहा था (श्लो. ५६२) किन्तु) प्रजनन को श्रवणरूप स्वीकारने पर उम्र, स्त्री आदि की अपेक्षा किसी को कभी नहीं करनी पड़ती, अमुक उम्र में श्रवण करेंगे या स्त्री मिलेगी तब श्रवण करेंगे यों इन्तज़ार नहीं करनी पड़ती। विवेकी वैराग्यवान् मुमुक्षु को शमादि गुणों वाले एक संन्यास की ही अपेक्षा रह जाती है श्रवण करने के लिये। (यद्यपि श्रवण सभी आश्रमों में किया जा सकता है तथापि अप्रतिबद्ध साक्षात्कार रूप में परिणत होने वाला श्रवण संन्यास के बाद ही हो सकता है क्योंकि तभी दृष्टादृष्ट सारे कर्तव्यों से निर्मुक्त निष्ठामात्र के लिये तत्पर हो सकता है। किं च इतराश्रमी श्रवण करे यह ज़रूरी नहीं जबकि परमहंस के लिये श्रवण अनिवार्य धर्म है, श्रवण न करने से उसे प्रत्यवाय लगता है। अतः साधनरूप से सिर्फ श्रवण का अनुष्ठान करने के लिये संन्यास की अपेक्षा रहती है, अन्य आश्रमों में श्रवण के साथ नित्य-नैमित्तिक आदि कर्म करते ही रहने पड़ेंगे।)। ।६८२। ।

अग्नि, अग्निहोत्र और यज्ञ—ये तीन पूर्वोक्त साधन अपेक्षा रखते हैं ऐसे त्रैवर्णिकों की जिन्होंने नियमतः वेद पढ़ा हो और विधिवत् दारपरिग्रह किया हो। आगे जिनका अर्थ बतायेंगे वे वैदिक वाक्य इस बात में प्रमाण हैं। ।६८३। ।

अब आठवें साधन 'अग्नि' का वर्णन करते हैं। ८) 'जिसे पुत्रलाभ हो चुका हो, जिसके केश अभी काले हों, अंधता लंगड़ापन आदि दोषों से रहित हो, कर्मोपयोगी जानकारी रखता हो, कर्म करने में आर्थिकादि दृष्टि से समर्थ हो, ऐसा त्रैवर्णिक विधि के अनुसार उन पाँच या तीन अग्नियों का आधान करे जो श्रौतकर्म में काम आती हैं।' (—यह श्रौत वचन का अर्थ है। मंत्रादिपूर्वक प्रक्रिया-विशेष से अग्नि उत्पन्न कर उसको नियमतः आहुति आदि प्रदान करने का संकल्प लेने का जो कर्मविशेष वह अग्नि का आधान कहा जाता है। यह काफी विस्तृत कर्म है। मंथनलब्ध अग्नि विभिन्न कुण्डों में विभिन्न विधियों से विभिन्न प्रयोजनों से स्थापित की जाती है। अपनी-अपनी शाखा-सूत्र के अनुसार यह संख्या तीन या पाँच होती है। प्रकृत में अग्निरूप साधन उम्र आदि के सापेक्ष है यह द्योतित है। सपुत्र और काले बालों वाला कहने से प्रायः तीस वर्ष का व्यक्ति विवक्षित है।)। ।६८४। ।

अग्निभिः कर्मिणः स्वर्गं व्रजन्ति ज्ञानिनोऽपि च। ब्रह्मलोकं तथा कीर्तिं सर्वे लोकद्वयेऽपि च।।६८६

अग्निहोत्राऽभिधं कर्म सायं प्रातरुदाहृतम्। अग्न्याश्रयं विरागेण विनाऽत्र मरणावधि।।६८७

गृहस्थानां गृहे नित्यं सूनाः पञ्च वसन्ति हि। कण्डनी दलनी चुल्ली पेषणी मार्जनी तथा।।
आभिः कृतस्य पापस्य स्पर्शो नैवाऽग्निहोत्रिणः।।६८८

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।।
इत्थं विश्वस्य हेतुः स्यादग्निहोत्री पुमानिह।।६८९

तत्फलमाह[1]—अग्निभिरिति। उक्ताऽग्निभिः केवलकर्मानुष्ठानेन स्वर्गो भवति। ज्ञानिनाम् उपासनासमुच्चितकर्मपराणान्तु ब्रह्मलोको भवति लोकद्वये कीर्तिश्च तेषाम् इत्यर्थः।।६८६।।

अथ अग्निहोत्रस्वरूपं सफलं वर्णयति—अग्नीति। सायं प्रातः कालयोः उक्ताग्निषु विधिवदाहुतिप्रक्षेपरूपम् अग्निहोत्राख्यं कर्म यावज्जीवनम् अनुष्ठेयमुक्तम्। यदि वैराग्यं संन्यासाधिकारप्रयोजकं न जायेत तदेत्यर्थः।। अत्र 'अग्न्याश्रयम्' इति विशेषणेन अग्निषूक्तं सापेक्षत्वम् अत्रापि सम्बद्ध्यत इति सूचितम्।।६८७।। अस्य फलं प्रपञ्चयति—गृहस्थानामित्यादिना। सूना हिंसास्थानानि कण्डनादीनि सन्ति, तदुत्थपापस्य स्पर्शाभावोऽग्निहोत्रस्यैकं फलमिति सम्बन्धः।। तत्र कण्डनी उलूखली, दलनी विदारणसाधनं, पेषणी पेषणसाधनं शिलोपलादि, स्फुटमन्यत्। यद्यपि मन्वादिभिः दलनी साक्षाद् नोक्ता तथापि 'पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः। कण्डनी चोदकुम्भश्च बद्ध्यते यास्तु वाहयन्।।' (३.६८) इति मनुवाक्य उपस्करपदेन गृहोपकरणत्वरूपेण प्रदर्शिता। एतैस्तु उदकुम्भस्य उपलक्ष्यत्वमभिप्रेत्य स्फुटहिंसास्थानत्वेन दलन्येवोक्तेत्यविरोधः।।६८८।।

मनूक्तं (३.७६) विश्वतर्पणजन्यधर्मलाभरूपं फलं दर्शयति—अग्नाविति। हुताऽऽहुतिः अग्निद्वाराऽऽदित्यं गत्वा वृष्ट्यादिपरिणामेन प्रजाततिहेतुर्भवति इत्येवम् अग्निहोत्री पुमान् विश्वकारणमुक्त इत्यर्थः।।६८९।।

कुछ अथर्ववेदियों की परंपरा है कि पत्नी ग्रहण करने के बाद ही एकर्षि-नामक एक श्रौत अग्नि का आधान कर लिया जाता है। (अर्थात् पुत्रोत्पत्ति की इन्तज़ार नहीं करते और तीन या पाँच अग्नियाँ नहीं रखते।) गृह्यसूत्रों के अनुसार जो त्रैवर्णिक श्रौत कर्मों के निर्वाह में असमर्थ होने से श्रौत अग्नि का आधान न कर सके वह औपासन नाम की स्मार्तकर्मोपयोगी अग्नि का ही आधान करे।।६८५।। अग्निपरिचिर्या से कर्मानुष्ठाता स्वर्गाधिकारी बन जाते हैं। अग्निसेवा सहित उपासना भी करते हैं तो ब्रह्मलोक के अधिकारी बनते हैं और इहलोक-परलोक में कीर्ति पाते हैं।।६८६।।

(६) प्रातः-सायं पूर्वोक्त अग्नियों में विधिवत् आहुति प्रदान करना आदि नियमों वाला कर्म 'अग्निहोत्र' कहा जाता है। यह भी आहित अग्नियों पर ही निर्भर है क्योंकि आधान की हुई अग्नि में ही इस कर्म का अनुष्ठान होता है। वैराग्य न होने से संन्यास न ले तो त्रैवर्णिक को जीवनभर अग्निहोत्र करना चाहिये।।६८७।। गृहस्थों के घर में हमेशा पाँच हिंसाप्रसंग रहते हैं: १) कण्डनी—ऊखल। धान आदि कूटने पर अन्य सूक्ष्म प्राणी मरते हैं २) दलनी—मूँग आदि को दलने का साधन। ३) चुल्ली—चूल्हा। आग जलने पर अनेक कीटादि मरते हैं। ४) पेषणी—सिल-बट्टा आदि पीसने के साधन। ५) मार्जनी—झाड़ू आदि सफाई के साधन। अग्निहोत्री को इन हिंसाओं का पाप स्पर्श नहीं कर पाता। (पाँच की परिगणना में आग्रह नहीं, सामान्य जीवन में अनिवार्यतः अनेक पाप जानते हुए भी किये जाते हैं। यदि स्वयं अपने हाथ से न भी किया पर धनादि देकर अन्य से कराया तो भी पाप में हिस्सा रहेगा ही। इन पापों के प्रायश्चित्त रूप से स्मृतियों में पाँच महायज्ञों के नित्य अनुष्ठान का विधान है अतः गृहस्थ उन्हें अवश्य करे। उक्त एवं ऐसे कुछ

१. 'अग्निहोत्रं सायं प्रातर्गृहाणां निष्कृतिः स्विष्टं सुहुतं यज्ञक्रतूनां प्रायणं सुवर्गस्य लोकस्य ज्योतिस्तस्मादग्निहोत्रं परमं वदन्ति।'

देवानां जननीतुल्यः प्रोक्तोऽयं वेदवादिभिः। यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते।।
अग्निहोत्रिणमेवं ते देवा नाकसमाश्रयाः।।६६०
अग्निहोत्री जनः कीर्तिं धनमप्यधिगच्छति। यज्ञानपि करोत्येष दर्शादीनपरानपि।।६६१
नाकं प्रयाति मरणात् परं देवैर्नमस्कृतः। विद्वांश्च त्रिदिवं गत्वा ब्रह्मलोकं च गच्छति।।
यज्ञेऽप्येतत् फलं प्रोक्तं यच्च दाने प्रकीर्तितम्।।६६२

'मानसम्' आदेरर्थः

साधनं सर्वमेवैतद् वक्ष्यमाणं च सर्वदा। अपेक्षया भवेद् भूयः कस्यचित् किञ्चिदेव हि।।६६३

तथाऽग्निहोत्री देवानां मातृसम उक्त इत्याह—देवानामिति। मातृसमत्वप्रतिपादकं वाक्यमर्थतः पठति—यथेहेति।।६६०।।

अग्निहोत्रस्य दृष्टं फलं कीर्तिः दर्शपूर्णमासादियज्ञाधिकारश्च इत्येवंरूपं बोध्यम् इत्याह—अग्निहोत्री जन इति।।६६१।। आमुष्मिकं तदाह—नाकमिति। परम् अनन्तरं विद्वान् उपासकश्चेद् इति शेषः।

दशमे[1] यज्ञरूपसाधने तदेव फलं बोध्यं यद् दान उक्तमित्याह—यज्ञेऽपीति।।६६२।।

एकादशं मानसाख्यं[2] साधनं वक्तुमवतारयति—साधनमिति। एतद् उक्तं दशविधं साधनं तथा वक्ष्यमाणं सन्न्यासरूपं साधनं च कस्यचिद् एतद्भिन्नस्य साधनस्य योगात् पूर्वावस्थाऽपेक्षया किञ्चिद् भूयः अधिकं वीर्यवद् भवतीत्यर्थः।।६६३।। किन्तद् ? इत्याकांक्षायाम्; 'मानस'-पदोक्तं धैर्यशालिमन एव इत्याह—साधनानीति। एतानि उक्तानि दश साधनानि त्यागः संन्यासश्च एतत् सर्वं साधनजातं मानसाधीनफलकमित्यर्थः।।६६४।। मानसस्य

अन्य पाप सर्वथा छोड़े नहीं जा सकते; उन्हें करने से स्वयं को अपराधी मानकर अवसाद में न पड़े वरन् उस अपराध के दुष्परिणाम से बचने के लिये पंच महायज्ञ करे। प्रकृत में बताया कि अग्निहोत्ररूप साधन का यह प्रताप है कि अनिहोत्री को उक्त हिंसाओं का पाप छूता ही नहीं।)।।६८८।। अग्नि में सही तरह अर्पित आहुति सूर्य को प्राप्त होती है, सूर्य से बरसात होती है, वृष्टि से अन्न उपजता है, अन्न से प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं, पुष्ट होती हैं। इस प्रकार अग्निहोत्री पुरुष लोक में सारे विश्व का हेतु बन जाता है।।६८९।।

वेदवादी अग्निहोत्री को देवताओं की माता के समान कहते हैं: 'जैसे भूखे बच्चे माँ की ओर दौड़ते हैं ऐसे स्वर्गस्थ देवता अग्निहोत्री के भरोसे रहते हैं।'६६०।। अग्निहोत्री व्यक्ति कीर्ति व धन भी पाता है।

(१०) यज्ञ नामक साधन भी मुख्यतः अग्निहोत्री ही कर पाता है। दर्श आदि यज्ञ तो उसे अनिवार्यतः करने ही पड़ते हैं, सामर्थ्य रहते अन्य बड़े यज्ञ भी वही कर सकता है क्योंकि वैदिक यज्ञ वैदिक अग्नियों में ही किये जाते हैं। (स्मार्त यज्ञ स्मार्तादि अग्नियों में संभव हैं अतः 'मुख्यतः' कह दिया। अथवा 'अग्निहोत्री दर्शादीन्, जनः अपरान्' यह अन्वय है। गैर अग्निहोत्री स्मार्त-पौराणिक आदि यज्ञ कर सकता है। अथवा अन्य यज्ञों से गीता पंचमाध्याय में कहे यज्ञ समझने चाहिये।)।।६६१।। यज्ञी (और अग्निहोत्री) मरने के बाद स्वर्ग जाता है जहाँ देवता उसे प्रणाम करते हैं ! यदि कर्मों सहित उपासना भी करता रहा तो स्वर्ग जाकर ब्रह्मलोक भी चला जाता है। दान का जो फल बताया था वह सब भी यज्ञानुष्ठाता पा लेता है।।६६२।।

(११) उक्त दसों साधन और आगे कहा जाने वाला संन्यासरूप साधन, ये सभी एक अन्य, साधन के संबंध से कुछ अधिक सामर्थ्यशाली हो जाते हैं। त्याग समेत कथित दसों साधन एक 'मानस' नामक साधन से संबद्ध

१. 'यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवं गता यज्ञेनाऽसुरानपानुदन्त यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति।'
२. 'मानसं वै प्राजापत्यं पवित्रं मानसेन मनसा साधु पश्यति मनसा ऋषयः प्रजा असृजन्त मानसे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मान्मानसं परमं वदन्ति।'

साधनानि दशैतानि त्यागेन सहितान्यपि। एकस्माद् मानसाद् नित्यं प्रभवन्ति न चान्यथा। ।६६४
मनस्वी धैर्यसम्पन्नः पुमान् पुण्यरतः सदा। अनुतिष्ठति सर्वं तन्नापरो दीनमानसः। ।६६५
मनोमूलमिदं सर्वं लौकिकं वैदिकं तथा। प्रवृत्तं च निवृत्तं च कर्म सिद्ध्यति देहिनाम्। ।
मानसं तत एवैतदुक्तमेकादशं त्विह। ।६६६
प्रजापतिः पुरा सृष्ट्वा मनसैव जगत्त्रयम्। पवित्रः प्रथमः पूज्य आसीत् सर्वशरीरिणाम्। ।६६७
प्रजापतिर्यथा तद्वद् मुनयो देवता अपि। मनुजाश्चाऽभवन् सर्वे मानसस्य प्रसादतः। ।६६८
इदं ततोऽधिकं सर्वसाधनेषु प्रकीर्तितम्। मानसं सर्वभूतानां स्वर्गं मोक्षं च गच्छताम्। ।६६९

संन्यासभेदाः

लिङ्गधारणरूपोऽयं त्यागो ब्राह्मणजन्मनः। अलिङ्गः क्षत्रियादेः स्यात् सम एवाऽत्र धर्मतः[1]। ।७००
आद्यश्चतुर्विधः प्रोक्तो मुनिभिर्वेदवादिभिः। त्रिदण्डो द्विविधस्तद्वद् एकदण्डोऽपि तादृशः। ।७०१

सर्वोपचयहेतुत्वमेव अन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्फुटयति—मनस्वीत्यादिना। मनस्वीत्यस्य व्याख्यानं धैर्यसम्पन्न इति। तत् श्रेयःसाधनजातम्। ।६६५। । मनोमूलमिति। यतः सर्वं कार्यजातं लौकिकादिकं मनोऽधीनं ततो मनस एकादश-साधनत्वेन उपन्यासः श्रुत्या कृत इत्यर्थः। ।६६६। । मानसस्य सर्वमूलत्वे उदाहरणं हिरण्यगर्भ एव तावद् इत्याह—प्रजापतिरिति। धैर्यशालिमनःप्रभावादेव हिरण्यगर्भो विश्वं सृजति पवित्रः स्मरणेन पापहन्ता प्रथमं पूज्यः श्लाघ्यश्चे आसीद् इति। ।६६७। । प्रजापतिर्यथेति। न केवलं प्रजापतिः एव तथा, किन्त्वन्येऽपि मुनिप्रभृतयो मानसबलाद् अभवन् पवित्राः पूज्याश्च इति वचनविपरिणामेन सम्बन्धः। ।६६८। । फलितमाह—इदमिति। ततो विश्वमूलत्वाद् मानसं सर्वतः श्रेष्ठं साधनं स्वर्गादिगन्तुमिच्छताम् उक्तमित्यर्थः। ।६६९। ।

अथ संन्यासस्य द्वादशसाधनस्य उत्कर्षं यथाश्रुति वर्णयिष्यंस्तद्भेदान् स्मृतिप्रसिद्धांस्तावदाह—लिङ्ग-धारणेति त्रयोदशभिः। संन्यासस्तावद् द्विविधः—दण्डादिलिङ्गधारणसहितः, तद्रहितश्च। तत्राद्ये विप्रस्यैवाधिकारः, अन्यत्र क्षत्रियादीनाम् इत्यर्थः। ।७००। । आद्य इति। आद्यो लिङ्गधारणरूपस्तु द्विविधः—त्रिदण्डः, एकदण्डः चेति। तत्र त्रिदण्डस्य भेदौ—कुटीचक-बहूदकौ। एकदण्डस्य—हंस-परमहंसाख्यौ। इति द्वयोरर्थः। ।७०१-२। ।

हुए ही पूर्ण प्रभावी होते हैं, उसके बिना नहीं। 'मानस' का अर्थ है धैर्य वाला मन। ।६६३-४। । मनोबल वाला धैर्यवान् पुरुष ही हमेशा पुण्यरत रहते हुए सारे साधनों का अनुष्ठान कर सकता है, दुर्बल मन वाला व्यक्ति निज कल्याण के उपायों का अनुष्ठान नहीं कर सकता। (कल्याणार्थ प्रवृत्ति में हर तरफ से हर तरह के विघ्न आते हैं और स्फुट प्रगति या फललाभ नहीं दीखता अतः कमज़ोर मन वाला ऐसी प्रवृत्ति कथंचित् प्रारंभ करे तो भी शीघ्र छोड़ देता है।)। ।६६५। । देहधारियों के लौकिक और वैदिक प्रवृत्तिरूप एवं निवृत्तिरूप सारे इस धर्म का मूल मन है। धैर्यशाली मन सहित किया धर्म ही पूर्ण हो पाता है। ।६६६। । प्रजापति ने पहले मन से ही त्रिलोकी पैदा की थी, अत एव वे सब देहधारियों के लिये सर्वप्रथम पूज्य हैं और उनकी स्मृति भी पाप निवृत्त करती है। ।६६७। । प्रजापति की तरह ही मुनि, देवता, मनुष्य आदि भी मानस के बल पर ही पवित्र और पूज्य हुए हैं। ।६६८। । इसलिये स्वर्ग व मोक्ष पाने वाले सब प्राणियों के लिये इस मानस को ही सब साधनों से श्रेष्ठ कहा गया है। ।६६९। ।

उक्त ग्यारह साधनों के बाद बारहवाँ साधन श्रुति ने बताया है संन्यास। त्यागात्मक यह संन्यास दो तरह का है—एक जिसमें दण्ड आदि लिंग धारण किये जाते हैं व दूसरा जिसमें लिंग नहीं धारण किये जाते। लिंगयुक्त संन्यास

१. एवं च कुटीचकादिधर्मानुष्ठानपरस्त्रिदण्डादिलिङ्गरहितः क्षत्रियादिरलिंगकुटीचकादिः स्यादित्यभिप्रेयते। लिंगस्याऽदृष्टोपयोगादन-धिकारे धारणानुपपत्तेः, धर्मान्तराणामनिषेधात्पालनोपपत्तेः वृथैव केषाञ्चिद् विवादोऽविप्राणां संन्यासाधिकार इति प्रतीमः।

कुटीचको बहूदश्च द्वौ त्रिदण्डौ प्रकीर्तितौ। हंसः परमहंसश्च द्वावुक्तावेकदण्डिनौ। ।७०२
पुत्री गृही धनी तद्वद् भार्यया च विवर्जितः। जरसा व्याधिना चैव ग्रस्तः स्निग्धः सुतादिषु। ।७०३
भिक्षाया भोजने तद्वदशक्तो मृदुलः पुमान्। त्रिदण्डं धारयेदेष गृहे कृत्वा कुटिं सदा। ।७०४
पुत्रदत्ताशनो नित्यं स्वधर्मपरिपालकः। कुटीचको भवेद् भिक्षुः प्रणवादिजपे रतः। ।७०५
विदारो यः पुनर्दारान् सम्पादयितुमक्षमः। ब्रह्मचर्यरतः कर्मश्रद्धावांश्च जरादिना। ।७०६
पुत्रादिषु गतस्नेहो वृद्धभार्योऽथ वा स्वयम्। त्रिदण्डं परिगृह्यैष भवेद् विप्रो बहूदकः। ।७०७
कमण्डलुं त्रिदण्डं च शिक्यं पात्रं पवित्रकम्। दधानः पञ्चमात्रास्ताः कीटवत् पर्यटेद् यतिः।।
यतिधर्मानशेषांस्तान् अनुतिष्ठेत् सदैव सः। ।७०८
वैराग्यं परमं प्राप्तो य ईषत्कर्मवासनः। यज्ञोपवीती विशिखः सामगोऽत्र यथा बटुः। ।७०९
एकदण्डधरो नित्यं कीटवत् पर्यटन् महीम्। प्रणवादिजपे युक्तो भवेद्धंसो यतिः स्वयम्। ।७१०

तत्र कुटीचकस्य अधिकारिणं धर्मांश्च दर्शयति—पुत्रीति त्रिभिः।। स्निग्धः स्नेहवान् मृदुलः क्लेशाऽसहिष्णुः। स्फुटमन्यत्। ।७०३-४।। पुत्रदत्तेति। पुत्रेण दत्तम् अशनम् अन्नादिकं यस्मै स तथा। ।७०५।। बहूदकाधिकारिणमाह—विदार इति द्वाभ्याम्। यो मृतदारः, पुनस्तत्सम्पादनेऽक्षमः अनुत्सुकः, कर्मसु सन्ध्योपासनादिषु श्रद्धावान्, जरया पुत्रादिषु स्नेहहीनो, वृद्धदारो वा भवेत् स बहूदको भवेद्। इति द्वयोरर्थः। ।७०६-७।। तद्धर्मानाह—कमण्डलुमिति। शिक्यं भिक्षान्नधारणार्थं, पात्रं भोजनार्थं, पवित्रकं जलशोधनवस्त्रं, 'वस्त्रपूतं जलं पिबेद्' (मनु ६.४६) इति वचनात्; एताः पञ्चमात्रा उपकरणानि दधानः कीटवद् मन्दं मन्दं भूमिं पर्यटेद् अन्यांश्च यतिधर्मान् कुर्याद् इत्यर्थः। 'मात्रा परिच्छदे' इति हैमः। ।७०८।।

हंससंन्यासस्य तानाह—वैराग्यमिति। यः परमवैराग्यवान् अपि कर्मसु किञ्चित् श्रद्धावान् भवति स हंसो यतिर्भवेत्। कीदृशः ? सामवेदाध्यायिब्रह्मचारिवद् विशिखो यज्ञोपवीती च। स्फुटमन्यत्। ।७०९-१०।। परमहंसस्य में उसीका अधिकार है जो जन्म से ब्राह्मण है। क्षत्रियादि लिंगरहित संन्यास के ही अधिकारी हो सकते हैं यदि वैराग्यादिवान् हों। लिंगधारण करने-न-करने का भेद होने पर भी शमादिपूर्वक श्रवणादि धर्म तो दोनों संन्यासों में समान हैं। ।७००।। लिंगधारणरूप संन्यास वेदवेत्ता मनु आदि द्वारा चार तरह का बताया गया है जिनमें दो प्रकार 'त्रिदण्ड' कहलाते हैं और दो ही 'एकदण्ड'। कुटीचक व बहूदक त्रिदण्ड हैं (ये तीन दण्ड धारण करते हैं)। हंस व परमहंस एकदण्डी हैं (ये एक ही दण्ड धारण करते हैं)। ।७०१-२।।

जो पुत्रवान् गृहस्थ धनी हो, पत्नी-रहित हो चुका हो, बुढ़ापे और रोगों से ग्रस्त हो, पुत्रादि पर स्नेह रखता हो, भिक्षा लेकर खाने में असमर्थ हो, क्लेश सहन न कर पाये ऐसा ब्राह्मण पुरुष त्रिदण्ड धारण करे और घर में ही कुटिया बनाकर रहे व पुत्र के दिये भोजन से गुज़ारा करे। उसे अपने धर्म का हमेशा पूरी तरह पालन करते रहना चाहिये। प्रणवादि जपने में संलग्न यह संन्यासी 'कुटीचक' कहा जाता है। ।७०३-५।।

जो ब्राह्मण पत्नीरहित हो चुका हो, पुनः पत्नी ग्रहण करने में अक्षम हो, ब्रह्मचर्य का पालन करता हो, कर्मों में श्रद्धा रखता हो, बुढ़ौती आदि के कारण पुत्रादि पर विशेष स्नेह न रखता हो, यदि उसकी पत्नी हो पर बूढ़ी हो, या वही स्वयं बूढ़ा हो—ऐसे को त्रिदण्ड धारण कर 'बहूदक' संन्यासी बनना चाहिये। ।७०६-७।। कमण्डलु, (जलपात्र), त्रिदण्ड, शिक्य (भिक्षान्न रखने के लिये बर्तन या झोली), पात्र (भोजन करने का बर्तन) और पवित्रक (पानी छानने का कपड़ा)—ये पाँच उपकरण लेकर एवं सभी यतिधर्मों का अनुष्ठान करते हुए वह यति कीड़े की तरह धीरे-धीरे भूमि पर पर्यटन करता रहे। ।७०८।।

वैराग्यं परमं प्राप्त इहामुत्र सुखे यदा। आनन्दात्मानमेवैकं सम्प्रेप्सुर्हृदये स्थितम्।।७११

कर्मसंस्कारशून्यो यः स भवेत् परमः सदा। हंसो विधृत्य करत एकदण्डं हि वैणवम्।।७१२

एवं चतुर्विधः प्रोक्तश्चतुर्थाश्रमवासिनाम्। न्यासश्चतुर्थस्तत्रापि सर्वोत्कृष्ट उदाहृतः।।७१३

संन्यासोत्कर्षः

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः। चतुष्पादो बुद्धिमतां चतुष्पात्स्वपि गोगणः।।७१४

उत्तमा गोगणेभ्यश्च द्विपदाः सर्वजन्तवः। द्विपत्स्वपि तथा प्रोक्ताः शूद्रा वर्णसमाश्रमाः।।७१५

शूद्रेभ्यश्च तथा वैश्या वैश्येभ्यः क्षत्रवर्णिनः। क्षत्रियेभ्यस्तथा श्रेष्ठा ब्राह्मणा जन्मना हि ये।।७१६

ब्राह्मणैश्च समा देवा अग्न्याद्याः परिकीर्तिताः। ब्राह्मणेष्वपि विद्वांसो वेदवेदार्थवेदिनः।।७१७

विद्वत्स्वपि तथैव स्युरुत्तमा निश्चिता हि ये। शास्त्रार्थे संशयं हित्वा वर्तन्ते निश्चला इव।।७१८

तानाह—वैराग्यमिति। प्रेप्सुः साक्षाच्चिकीर्षुः, कर्मवासनाहीनश्च यः स करेण दण्डं वैणवं धृत्वा परमहंसो भवेत्। इति द्वयोरर्थः।।७११-१२।। एषु चरमोऽतिश्रेष्ठ इत्याह—एवमिति। स्पष्टम्।।७१३।।

न्यासस्य सर्वोत्कृष्टतां स्फुटयितुमुत्कृष्टपरंपरां पुराणादिप्रसिद्धामभिनयति—भूतानामिति सप्तभिः। भूतानां शरीरिणां मध्ये प्राणिनः स्फुटप्राणव्यापारकाः श्रेष्ठाः। तेभ्योऽपि स्फुटबुद्धयः सर्पादयः श्रेष्ठाः। एवमग्रेऽपि। चतुष्पादः पशवः, तेषु गावस्तथेति।।७१४।। उत्तमा इति। कीदृशाः शूद्राः ? वर्णेन समः समानकाले प्राप्त आश्रमो यैस्ते तथा; जन्मारभ्य आमरणं शूद्रस्य एकवर्णत्वम् एकाश्रमत्वं च; द्विजत्वाभाव इति यावत्।।७१५।। शूद्रेभ्य इति। स्पष्टम्।।७१६।। ब्राह्मणैश्चेति। अग्न्यादयो देवा माननीयत्वेन ब्राह्मणैः भूदेवत्वेन प्रसिद्धैः समा उक्ताः पुराणादिषु। विद्वांसो विद्यावन्तः, तेषु अपि वेदपाठविद्भ्योऽर्थविदोऽधिका इति भावः।।७१७।। विद्वत्स्वपीति। आपाततोऽर्थविद्भ्योऽपि मीमांसया कृतावधारणाः श्रेष्ठा इत्यर्थः।।७१८।। निश्चितेष्वपीति। शास्त्रावधारण-

जिसे थोड़ी-बहुत कर्मवासनाएँ हों पर पर्याप्त वैराग्य हो गया हो वह ब्राह्मण हंस नामक एकदण्डी संन्यासी बने। सामवेदी बटुक की तरह हंस शिखा न रखे, यज्ञोपवीत धारण करे। (उपनयन के समय सामवेदियों का शिखासमेत मुंडन होता है अतः बटुक शिखारहित यज्ञोपवीती हो जाता है।) एकदण्ड धारण कर वह कीड़े जैसे भूमि पर पर्यटन करे और प्रणवादि-जप में लगा रहे।।७०९-१०।।

जिस ब्राह्मण को परम वैराग्य हो जाये, ऐहिक-आमुष्मिक सुख की ओर आकर्षण न रहे, हृदय में स्थित एक आनन्दरूप आत्मा को ही पाना चाहे, कर्म-वासनाएँ मिटा चुका हो, वह हाथ में बाँस का एक दण्डा लेकर परमहंस संन्यासी बने। (इसके धर्म आगे बतायेंगे ही।)।।७११-१२।।

इस प्रकार चौथे आश्रम वालों का चार प्रकार का संन्यास बता दिया। इनमें भी चौथा, परमहंस संन्यास सबसे उत्कृष्ट है।।७१३।। यही समझाते हैं :

शरीरधारियों में वे श्रेष्ठ हैं जिनका प्राणव्यापार स्फुट प्रतीत होता है। प्राणधारियों में वे श्रेष्ठ हैं जिनके बारे में स्पष्ट पता चलता है कि वे अपनी जीवन-चेष्टाओं में बुद्धि का प्रयोग करते हैं। उनमें भी चौपाये और चौपायों में गाय-जाति के पशु श्रेष्ठ हैं। गायों से भी वे सब जंतु श्रेष्ठ हैं जो दो पैरों पर चलते हैं। दो पैरों वालों में शूद्र श्रेष्ठ हैं जिनका यावज्जीवन एक ही वर्ण और एक ही आश्रम रहता है। शूद्रों से वैश्य, उनसे क्षत्रिय तथा उनसे ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। वर्ण-निर्णय जन्म से ही होता है।।७१४-६।। अग्नि आदि देवताओं को भी ब्राह्मणों के समकक्ष की कहा गया है।

निश्चितेष्वपि विज्ञेया उत्तमा येऽत्र कर्मिणः। आश्रमाणां विभेदेन चतुर्धा ये प्रकीर्तिताः।।७१९

बटुभ्योऽत्र गृही ज्ञेय उत्तमो गृहिणोऽपि च। वनी ततो यतिः सोऽयं चतुर्धा परिकीर्तितः।।७२०

कुटीचको बहूदश्च हंसः परमहंसकः। चतुर्विधो यतिः प्रोक्तो यो यः पश्चात् स उत्तमः।।७२१

चतुर्थाः परमा हंसा वेदे ब्रह्मविदः स्मृताः। ब्रह्मनिष्ठा यतस्तेषां न्यासः स्यादात्मवेदने।।७२२

त्वंपदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम्। प्रकुर्वाणः पतत्येष तं त्यक्त्वा कर्म मोहतः।।
कुर्वाणश्च परं ब्रह्म भवत्येव न संशयः।।७२३

ब्रह्म सर्वात्मकं यस्मात् पूर्वमेव समीरितम्। विद्वांसो ब्रह्मविज्ञानात् ततः सर्वं भवन्ति ते।।७२४

पराणां मध्येऽपि ये आश्रमाणां सम्बन्धि कर्म यथावत् कुर्वन्ति ते श्रेष्ठाः; के आश्रमा इति चेद् ? ये चतुर्धा ब्रह्मचर्यगृहस्थवनस्थसंन्यासभेदैः उक्ता इत्यर्थः।।७१९।। आश्रमेष्वपि उत्तरोत्तरं श्रेष्ठत्वमित्याह—बटुभ्य इति। बटुभ्यो गृहिणोऽधिकत्वं सर्वोपजीव्यत्वादिभिरुक्तं श्रुतौ। सोऽयं यत्याश्रमः।।७२०।। कुटीचक इति। स्पष्टम्।।७२१।। यत्याश्रमं च चतुर्थभेदं सर्वोत्कृष्टं दर्शयन् 'न्यास इति ब्रह्म'[1] इत्यादिश्रुतिग्रन्थस्यार्ऽर्थमाह—चतुर्था इति षड्भिः। परमहंसा ब्रह्मविदो ब्रह्मनिष्ठाः चोक्ता यतस्तेषां संन्यासपरिग्रहो ब्रह्मसाक्षात्कारार्थमेवेत्यर्थः।।७२२।। ब्रह्मसाक्षात्कारार्ऽर्थत्वे वार्तिककृद्वचनम्[2] अर्थतः संगृह्णाति—त्वंपदार्थेति। त्वंपदार्थः सर्वान्तरमात्मतत्त्वं, तस्य सर्वोपाधिविवेकायैव सर्वकर्मणां संन्यासः श्रुत्या विधीयत इति शेषः। तं विवेकं मोहेन त्यक्त्वा कर्म प्रकुर्वाण एष यतिः पतति इति सम्बन्धः। एवमावश्यकत्वे परमहंसो यतिः आत्मज्ञानेन 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुं. ३.२.९) इति श्रुतिप्रसिद्धं ब्रह्मभावं यात्येवेत्याह—कुर्वाण इति। आत्मविवेकमिति शेषः।।७२३।। ब्रह्मभावे च सर्वात्मनः सर्वोत्कृष्टत्वमपि विदुषः सिद्धमित्याह—ब्रह्मेति। यतो ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वविज्ञानेन लाभश्च पूर्वमुक्तः ततस्ते विद्वांसः सर्वं भवन्ति इति युक्तमिति सम्बन्धः।।७२४।। सर्वपदार्थं स्फुटयन् फलितमाह—कालात्मकमिति। कालात्मकं

ब्राह्मणों में वे विद्वान् श्रेष्ठ हैं जो वेद और वेदार्थ जानते हैं।।७१७।। विद्वानों में भी वे उत्तम हैं जिन्होंने सब संशय मिटा कर शास्त्र के अर्थ का निश्चय कर लिया है जिस निश्चय पर वे स्थिर रहते हैं।।७१८।। निश्चय वालों में भी उन्हें श्रेष्ठ समझना चाहिये जो विभिन्न आश्रमों के लिये विहित कर्म का यथोचित आचरण करते हैं। आश्रम चार तरह के बताये गये हैं।।७१९।। ब्रह्मचारी से गृहस्थ उत्तम है, उससे वानप्रस्थ और उससे संन्यासी उत्तम है। संन्यासाश्रम चार तरह का बता चुके हैं।।७२०।। कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस—ये चार प्रकार के संन्यासी हैं। इनमें पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ है।।७२१।। चौथे जो परमहंस वे वेद में 'ब्रह्मवित्, ब्रह्मनिष्ठ' नामों से भी कहे गये हैं क्योंकि उनका संन्यास होता ही ब्रह्मात्मबोध के लिये है।।७२२।। त्वम्पदार्थ आत्मा का सब उपाधियाँ छोड़कर जो सत्य स्वरूप है उसके ज्ञान के लिये ही सारे कर्मों का संन्यास श्रुति में विहित है। जो परमहंस मोहवश उस ज्ञान के लिये प्रयास छोड़कर कर्म करने लग जाये वह पतित हो जाता है। जो उक्त ज्ञान पा लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है इसमें संशय नहीं।।७२३।।

यह पहले कह ही चुके हैं कि ब्रह्म सर्वरूप है। ब्रह्मविज्ञान से विद्वान् ब्रह्म हो जाने से सब हो जाते हैं, पूर्ण हो जाते हैं।।७२४।। ब्रह्मविद्यासंपन्न यति वह सब हो जाते हैं जो काल से उपहित है और जो नित्य है, जो सत् (कार्य)

१. 'न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मा तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्।'

२. उपदेशसहस्रिकायां १८.२२२ 'त्वंपदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम्। साधनत्वं व्रजत्येवं शान्तो दान्तानुशासनात्।।' इति। वार्तिकामृते 'प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानजन्मने श्रुतिवाक्यतः' (४.४.१२१९) इत्यारभ्य 'अनुष्ठेयतया श्रुत्या निवृत्तिः सर्वकर्मणाम्। यस्माद्धि-धीयते तस्मात्तत्यागी पतितो भवेत्।।' (१२२८) इत्युपसंहृतम्। मैत्रेयीब्राह्मणे च 'प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानजन्मनेऽतः श्रुतिः स्वयम्। विधित्सन्तीह संन्यासं' (२.४.३८)। इति।

कालात्मकमकालं च सदसच्च परापरम्। ब्रह्मविद्यास्ततस्तेभ्यो नासीन्नास्ति न भाव्यपि।।
उत्कृष्टं तत एवैते स्मृताः सर्वोत्तमा भुवि।।७२५

ब्रह्मविज्ञानदो न्यासः तत एव परः स्मृतः। परं च ब्रह्म तस्माद् यद् अन्यत् स्यात्साधनं भुवि।
तपआदि निकृष्टं तदयमेवाऽधिकस्ततः।।७२६

न्यासे ब्रह्मात्मके सर्वजगतो हेतुतां द्विजाः। विवक्षव इमां प्राहुर्युक्तिं वेदसमीरिताम्।।७२७

न्यासाद् ब्रह्मात्मविज्ञानं विदुषां जायते यतः। ततो न्यासः परं ब्रह्म कारणं हेतुवर्जितम्।।७२८

मूलकारणम् ब्रह्म

यतः सूत्रमिदं जातं ससूक्ष्मं पञ्चभूतकम्। हिरण्यगर्भ इत्येतद् उच्यते वेदवादिभिः।।७२९

अस्मात् प्रजापतिर्जातो विराट् संवत्सरश्च यः। आदित्य इति चाप्युक्तो वेदवादरतैर्द्विजैः।।७३०

कालोपाधिभूतं कार्यजातम् अकालं नित्यं च एतत्सर्वरूपा ब्रह्मविद्याः ब्रह्मणि विद्या येषां ते तथाभूता भवन्ति ततः तेभ्य उत्कृष्टं भूतादिकं नास्ति अतस्ते सर्वोत्कृष्टा इति।।७२५।। अतो विद्याद्वारा सर्वोत्कृष्टत्वप्रयोजकत्वात् संन्यासो ब्रह्मत्वेन परः श्रुत्योक्त इत्याह—ब्रह्मविज्ञानद इति। यथा च ब्रह्मापेक्षया सर्वं कार्यकारणजातम् अपरं तथा ब्रह्मरूपतयोक्ताद् न्यासात् सर्वमुक्तं साधनजातम् अपरमिति सिद्धमित्याह—परं चेत्यादिना।।७२६।।

अथ संन्यासपरमत्वे उपपत्तिप्रपञ्चकस्य 'न्यास इत्याहुर्मनीषिण' इत्यादिग्रन्थस्य[1] अर्थमाह—न्यास इति। न्यासे ब्रह्मरूपत्वं तत्प्रयुक्तां सर्वजगतो हेतुतां च विवक्षवो वक्तुमिच्छवः स्फुटी कर्तुमिच्छन्त इति यावत्, तथाभूता द्विजाः तित्तिरयः इमां वक्ष्यमाणां युक्तिम् आहुरित्यर्थः।।७२७।। तत्र ब्रह्मरूपतामुपपादयति—न्यासादिति। यतो न्यासाद् ब्रह्मात्मज्ञानं ब्रह्मभावप्रयोजकं भवति ततो न्यासो मूलकारणात्मकब्रह्मरूप उपचारेण उक्त इत्यर्थः।।७२८।। ब्रह्मणो मूलकारणतां स्फुटयति—यत इति। यतो ब्रह्मण इदं सूक्ष्मं स्थूलं च भूतपञ्चकं जातं तत्र सूक्ष्ममयो हिरण्यगर्भ इत्युच्यते, सूक्ष्मकार्यस्थूलसमष्ट्युपाधिकस्तु प्रजापतिः इति विराड् इति संवत्सर इति आदित्य इति च नामभिरुक्तः श्रुतौ। इति द्वयोरर्थः।।७२९-३०।।

है, असत् (कारण) है, पर (परोक्ष) है, अपर (प्रत्यक्ष) है। अतः वे व्यवहारभूमि में सर्वोत्तम हैं, उनसे उत्कृष्ट न कोई हुआ, न है, न होगा।।७२५।। ऐसी सनातन निरपेक्ष उत्कृष्टता के हेतुभूत ब्रह्मात्मानुभव का प्रदाता होने से संन्यास सब साधनों से श्रेष्ठ है। जैसे ब्रह्म की अपेक्षा सारा कार्य-कारण समूह निकृष्ट है ऐसे संन्यास की अपेक्षा तप आदि निकृष्ट हैं। संन्यास ही सबसे अधिक उत्कर्ष वाला है।।७२६।।

संन्यास को ब्रह्मरूप अत एव सारे जगत् का हेतु बताने के लिये द्विज यह वेदोक्त युक्ति कहते हैं।।७२७।। क्योंकि विद्वान् को संन्यास से ब्रह्मात्मा का दृढ विज्ञान प्राप्त होता है इसलिये उपचार से उसे पर ब्रह्म कहते हैं जो सर्वकारण व स्वयं हेतुरहित है। (उपचार अर्थात् गौणप्रयोग।)।।७२८।।

वास्तविक अंतिम मूल कारण तो ब्रह्म ही है। ब्रह्म से ही सूक्ष्म व स्थूल पाँचों भूत पैदा हुए हैं। वैदिक लोग सूक्ष्मभूतों की समष्टि उपाधि वाले को हिरण्यगर्भ कहते हैं (वह भी ब्रह्मजन्य ही है)। सूक्ष्म का कार्य जो स्थूल-समष्टि, उस उपाधि वाले को प्रजापति, विराट्, संवत्सर, आदित्य आदि नामों से वेदविचारक द्विज कहते हैं (वह भी ब्रह्मजन्य ही है।)।।७२९-३०।।

१. 'न्यास इत्याहुर्मनीषिणो ब्रह्माणम्। ब्रह्मा विश्वः कतमः स्वयम्भूः प्रजापतिः संवत्सरः। संवत्सरोऽसावादित्यो य एष आदित्ये पुरुषः स परमेष्ठी ब्रह्मात्मा।'

आदित्यमण्डले योऽयं स्वर्णवर्णः पुमान् स्थितः। स एव जगतो हेतुः प्रत्यक्षमिह दृश्यते।।७३१
रश्मिभिः स्वशरीरोत्थैर्यतो जलदसंश्रितम्। नीरं मुञ्चति लोकेऽस्मिन् सर्वेषामिह कारणम्।।७३२
स्थावरास्तत एवैते जायन्ते भूमिमाश्रिताः। ओषध्यः कीर्तिता याश्च ये वनस्पतयोऽपि च।।७३३
स्थावरेभ्यो भवत्यन्नं विविधं प्राणिनामिह। अन्नतः सर्वजन्तूनां प्राणा जीवनहेतवः।।७३४
प्राणतश्च तथैव स्याद् बलं तत्कर्मकारणम्। बलतस्तप एतत् स्याद् यत् कृतं भृगुणा पुरा।।७३५
कर्म शुद्धं ततः श्रद्धा परलोकास्तिधीरपि। श्रद्धातो जायते मेधा या स्याद् वेदार्थधारिणी।।७३६
मेधातो जायते बुद्धिर्मनसोऽपि नियामिका। यस्या नियमतो नित्यं शास्त्रार्थे तत् प्रवर्तते।।७३७

तत्रापि आदित्यमण्डलान्तस्थस्य भगवतो जगत्कारणत्वं प्रत्यक्षसिद्धान्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चीयत इत्याह—आदित्येति।।७३१।। प्रत्यक्षेण कारणतासिद्धिमेव श्रुत्युक्तपरम्परया[1] दर्शयति—रश्मिभिरिति नवभिः। यतोऽयम् आदित्यान्तस्थः पुरुषः स्वशरीरोत्थकिरणैः जलमाकृष्य मेघगतं कृत्वा च मुञ्चति। कीदृशं जलम् ? सर्वकारणम्।।७३२।। कथं तत् सर्वकारणम् ? इत्यत आह—स्थावरा इति। ततो वृष्टिजलादेव स्थावरजातयस्तत्र अन्नहेतुत्वेन प्रधानभूता ओषधिवनस्पतयश्च जायन्ते, तेभ्यः अन्नं, तस्मात् प्राणधारणं च जन्तूनां भवतीति प्रसिद्धम्। इति द्वयोरर्थः।।७३३-४।। एवम् अन्नसृष्ट्या सकलदृष्टहेतुत्वम् आदित्यमण्डलान्तस्थस्योक्तम्।

अथ तत्कार्येऽन्ने सकलाभ्युदयनिःश्रेयससाधनतोपन्यासेन आदित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणो विश्वहेतुत्वं स्फुटयन्नन्नादभ्युदयनिःश्रेयसयोः सिद्धिपरम्परामाह—प्राणत इति षड्भिः। अन्नजेभ्यः प्राणेभ्यः कर्मकरणसामर्थ्यरूपं बलं भवति। बलाच्च शुद्धकर्मरूपं तपो भवति यद् भृगुणा वरुणोपदेशेन कृतम् इत्युक्तम्। ततः शुद्धकर्मरूपात् तपसः श्रद्धा परलोकाऽस्तित्वबुद्धिरूपा भवति। ततश्च शास्त्रार्थधारणक्षमबुद्धिरूपा मेधा भवति। इति द्वयोरर्थः।।७३५-६।। मेधात इति। तस्या मेधातो बुद्धिः मनसो नियमनसमर्था बुद्धिवृत्तिः जायते यस्या नियमतो हेतोः तद् मनो नियमेन इतराकारपरिहारेण शास्त्रार्थे प्रवर्तत इत्यर्थः।।७३७।। मनीषयेति। तया मनीषया शास्त्रार्थवासनासंस्कृतान्तःकरणावस्था

आदित्यबिम्ब में जो यह सोने के रंग का पुरुष है वही जगत् का हेतु है यह यहाँ प्रत्यक्ष दीख जाता है।।७३१।। यही अपने शरीर से उत्पन्न किरणों से जल खींचकर बादलों में रख देता है और फिर सब प्राणियों के कारणभूत उस जल को सर्वत्र बरसा देता है। (बादलों का तत्र-तत्र गमन वायु से होता है और वायु की गति जगह-जगह के दबाव के कारण होती है एवं दबाव में परिवर्तन ताप से होता है तथा पृथ्वी के सारे ताप का मूलकारण सूर्य है।)।।७३२।। ओषधि-वनस्पति कहलाने वाले भूमिस्थित ये स्थावर उस बरसे हुए जल से ही उत्पन्न होते हैं। स्थावरों से विविध अन्न पैदा होता है जिसे प्राणी खाते हैं। अन्न से सभी जंतुओं के जीवनहेतु प्राण चलते हैं।।७३३-४।। इस तरह आदित्य पुरुष सकल दृष्ट पदार्थों का हेतु निश्चित हुआ।

अन्न सभी अभ्युदयों का व निःश्रेयस का उपाय बनता है जिससे अन्न-द्वारा आदित्यपुरुष ही उनके प्रति भी हेतु बन जाता है : अन्नजन्य प्राणों से कर्म करने की सामर्थ्य कहलाने वाला बल पैदा होता है। बल से वह तप होता है जिसे पहले भृगु ने किया था। (तप से यहाँ शुद्ध कर्म, वर्णाश्रमधर्म समझने चाहिये।)।।७३५।। तप से श्रद्धा होती है, यह निश्चय होता है कि परलोक है। श्रद्धा से मेधा मिलती है जिस क्षमता से वेद और उसका अर्थ याद रहता है।।७३६।। मेधा से वह बुद्धि मिलती है जो मन को नियंत्रित करने में समर्थ है, उससे नियमिति होने पर मन हमेशा

१. 'याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षति पर्जन्येनौषधिवनस्पतयः प्रजायन्त ओषधिवनस्पतिभिरन्नं भवत्यन्नेन प्राणाः प्राणैर्बलं बलेन तपः तपसा श्रद्धा श्रद्धया मेधा मेधया मनीषा मनीषया मनो मनसा शान्तिः शान्त्या चित्तं चित्तेन स्मृतिः स्मृत्या स्मारं स्मारेण विज्ञानं विज्ञानेनात्मानं वेदयति तस्मादन्नं ददन्त्सर्वाण्येतानि ददात्यन्नात्प्राणा भवन्ति भूतानां प्राणैर्मनो मनसश्च विज्ञानं विज्ञानादानन्दो ब्रह्म योनिः।'

मनीषया मनश्चैतज्जायते शास्त्रसंस्कृतम्। मनसो जायते शान्तिरात्मन्येव हि याऽत्र धीः।।७३८

शान्त्या च जायते चित्तमात्मज्ञानोन्मुखं हि यत्। चित्तात् स्मृतिर्भवेद् वेदवाक्यार्थे गुरुकीर्तिते।।७३९

स्मृत्या स्मारो भवेत्तस्य प्रकाशोऽवगमात्मकः। स्माराद् ब्रह्मात्मविज्ञानं श्रवणादिसमुद्भवम्।।
आनन्दात्मा ततः साक्षाद्भवतीह शरीरिणः।।७४०

एवं ब्रह्मात्मको न्यासो यस्मादन्नस्य कारणम्। तस्मादन्नं ददज्जन्तुः सर्वाण्येतानि यच्छति।।७४१

मनःपदोक्ता जायते। ततो मनस आत्माकारधीवृत्तिरूपा शान्तिः[1] भवतीत्यर्थः।।७३८।।

शान्त्या चेति। उक्तरूपायां शान्तौ सत्याम् आत्मन आनन्दादिविशेषनिर्णयोन्मुखान्तःकरणवृत्तिरूपं चित्तं जायते। ततश्च आनन्दत्वादिप्रतिपादक-गुरूपदिष्टवेदवाक्यार्थगोचरा स्मृतिः भवति। ततश्च शुद्धतत्त्वम्पदार्थप्रकाशः स्मारपदोक्तो जायते। ततः स्माराद् महावाक्यार्थभूतब्रह्मात्मज्ञानं परोक्षं भवति। ततश्च आनन्दात्मनोऽपरोक्षं संन्यासप्रयोजकं जायते। इति द्वयोरर्थः।।७३९-४०।। एवमिति। यत एवम् उक्तविधया ब्रह्मरूपः संन्यासोऽन्नस्य कारणं जनकं फलं च भवति; तत्रादित्यान्तःस्थरूपेण वृष्टिद्वारा जनकम्, प्राणादिपरम्पराजन्यसाक्षात्काराऽर्हत्वेन फलरूपं च भवति इति। तस्माद् उभयतो ब्रह्मसम्बद्धम् अन्नं जानन् योऽन्नं ददत् प्रयच्छन् भवति स जन एतानि वर्णितानि अन्नस्य कार्याणि कारणानि प्रयच्छन् भवतीत्यर्थः। दृष्टं हि कार्यदाने कारणदानं यथाऽऽम्रफलदाने तद्वृक्षदानम्, तथा कारणदाने कार्यदानमपि यथा गोदाने दुग्धदानमिति।।७४१।।

अन्य आकार छोड़कर शास्त्र का तात्पर्य समझने में ही प्रवृत्त होता है।।७३७।। उस मनीषा से—मनोनियामिका बुद्धि से—शास्त्र के प्रधान अर्थ के संस्कारों वाला मन उत्पन्न होता है जिससे शांति होती है। केवल आत्मा के ही आकार वाली निश्चयवृत्ति शांति है।।७३८।।

शांति से वह चित्त बनता है जो आत्मज्ञान की ओर उन्मुख रहता है। (आत्मा के सम्पूर्ण स्वरूप का निर्णय करने में तत्पर चित्त प्राप्त होता है।) चित्त से गुरुप्रोक्त वेदवाक्य के अर्थ की स्मृति होती है। (गुरु ने वेदानुसार आत्मा को जो अनंत आनंदादिरूप बताया था वह स्वयं किये अनुसंधान से याद आ जाता है।)।।७३९।। स्मृति से 'स्मार' होता है; शुद्ध तत्-त्वम् पदार्थों का ज्ञानरूप प्रकाश यहाँ 'स्मार' कहा जा रहा है। स्मार से श्रवणादि के द्वारा ब्रह्मात्मता का परोक्ष ज्ञान होता है। (शोधित पदार्थों के जानकार को ही महावाक्य का सही अर्थ पता चल सकता है। यहाँ 'परोक्ष' का मतलब 'अतीन्द्रिय' समझना चाहिये।) उससे शरीरधारी को आनंदरूप आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। (वृत्तिरूप 'परोक्ष' ज्ञान से अविद्या-निवृत्तिरूप 'अपरोक्ष' हो जाता है। उक्त परोक्ष से भिन्न है अतः इसे अपरोक्ष कहते हैं। यह साक्षात्कार होने पर नैष्कर्म्यरूप संन्यास स्वतः सिद्ध है।)।।७४०।। यों ब्रह्मरूप संन्यास क्योंकि अन्न का कारण है इसलिये अन्नदान करता व्यक्ति इन सभी का दान करता है। (ब्रह्म निष्क्रिय है, संन्यास भी सर्वकर्मराहित्य रूप है अतः संन्यास ब्रह्म है। ब्रह्म सब का कारण है ही। कारण का मतलब जनक लें तो आदित्यवर्ती पुरुषरूप से बरसात द्वारा कारणता है और 'कारण' से प्रयोजन समझें तो जीवनप्रयोजन चरमसाक्षात्कार का विषय होने से कारणता है। यों अन्न को दोनों तरह ब्रह्म से सम्बद्ध समझते हुए जो अन्नदान करता है वह अन्नकार्यभूत सभी चीज़ों का दाता बन जाता है।)।।७४१।।

जैसे अन्न बाह्य प्रपंच का कारण है वैसे अध्यात्म प्रपंच का भी : प्राणियों के अन्नमय कोश में प्राणमय का आविर्भाव होता है, प्राणमय से ही मनोमय कार्यकारी बनता है, कर्तृरूप मनोमय के कारण ही भोक्तृरूप विज्ञानमय बनता है और श्रद्धादिरूप विज्ञानमय से आनंदमय प्रकट हो जाता है। इस प्रकार अन्न ही पाँच कोशों में पाँच रूपों में स्थित

१. त्वंपदार्थबोधरूपा।

अन्नतः प्राणिनां प्राणः प्राणेभ्यश्च मनस्तथा। विज्ञानं मनसो ज्ञानात् सुखमत्र प्रजायते।।
अन्नं पञ्चात्मकं ह्येवं पञ्चकोशेषु कीर्तितम्।।७४२

पञ्चमो ज्ञानतो जात आनन्दः सुखशब्दभाक्। माययैवाऽयमात्माख्यो जायते न तु तत्त्वतः।।७४३

पुरुषो यस्त्रिलोक्याश्च दिशामपि च रूपभाक्। लोकत्रयीदिशस्तद्वद् अवान्तरदिशोऽपि च।।
इत्थं पञ्चात्मको जातः पुमान् भेदविवर्जितः।।७४४

पुरुषेणाऽमुना सर्वमोतप्रोतं जगत्त्रयम्। तन्तुनेव पटो भावि भवद् भूतं तथा पुमान् ![1]।।७४५

जिज्ञासया सदा गम्यः पुरुषो मननाख्यया। ऋतादेष पुमान् जातः फलरूपेण कर्मणः।।
सुवर्णेऽत्र समीचीने वस्तुन्येषोऽवतिष्ठते।।७४६

श्रद्धया तु तथा सत्यादेष गम्यो महेश्वरः। स्वयंज्योतिर्यतस्तेन तेजस्व्यपि च गीयते।।७४७

तत्रान्नस्य अध्यात्मप्रपञ्चकारणतां पूर्वोक्तकोशपञ्चकानुवादेन श्रुत्या दर्शितमनुवदति—अन्नत इति द्वाभ्याम्। अन्नादिशब्दाः कोशपराः। ज्ञानाद् विज्ञानमयात् सुखम् आनन्दमयाख्यं जायते आविर्भवति इति एवं पञ्चकोशरूपेण अन्नम् अवस्थितमित्यर्थः।।७४२।। पञ्चम इति। तेषु कोशेषु पञ्चम आनन्दो ज्ञानतो विज्ञानमयात् जातो भवति इति यदुक्तं तद् माययैव मायामयप्रियमोदादिविशिष्टरूपाभिप्रायेणैव इति बोध्यम्। यतः अयम् आनन्दः पुच्छभूतशुद्धात्मरूपेण वास्तवेन [न] जायत इत्यर्थः।।७४३।।

तस्य वस्तुतो जन्माऽयोग्यतां स्फुटयितुं 'स एष'[2] इत्यादिश्रुत्युक्ताम् आधिदैविकीं विभूतिमाह—पुरुष इत्यादिना। यः अयमानन्दरूपः पुरुषः स त्रिलोक्यादिभिः पञ्चभीरूपै रूपवान्—इति प्रथमदलार्थः। रूपपञ्चकमभिनयति—लोकेति। पृथिवी अन्तरिक्षं द्यौर्दिशः कोणाश्चैतै रूपैः अधिदैवं पञ्चविधो जात इत्यर्थः।।७४४।। न केवलमेतानि एवास्य रूपाणि किन्तु समस्तं जगद् इत्याह—पुरुषेणेति। अमुना पुरुषेण सर्वं कालत्रयावच्छिन्नं जगदोतप्रोतं सर्वतो व्याप्तमित्यर्थः।।७४५।। जिज्ञासाक्लृप्तपदस्य, ऋतजापदस्य, रयिष्ठपदस्य चार्थं दलत्रयेणाह—जिज्ञासयेति। विचाररूपया जिज्ञासया लभ्यः। अवश्यभाविफलकत्वेन ऋतपदोक्तात् कर्मणः सकाशात् फलरूपेण जातः, समस्तसत्फलरूप इति यावत्। तथा रयिपदेन धनवाचकेन सुवर्णं समीचीनं वस्तु लक्षितं, तत्र सर्वत्र अंशांशेन स्थित इति दलत्रयार्थः।।७४६।। श्रद्धादिपदत्रयार्थमाह—श्रद्धया सत्येन च लभ्यमानत्वात् श्रद्धासत्यपदाभ्यामुक्तः। तथा स्वयम्प्रकाशत्वात् तेजस्वीति कथ्यते महस्वत्पदेनेत्यर्थः।।७४७।। तपोऽपेक्षया

है।।७४२।। यह जो कहा कि विज्ञानमय से सुख-नामक पाँचवाँ कोश आनंदमय पैदा हुआ वह आनंदमय के प्रियादि विशिष्ट रूपों के ही अभिप्राय से कहा क्योंकि वे ही मायामय होने से जन्य हैं। जो आनंदमय की 'पूँछ' मुख्य आत्मरूप आनंद है वह जन्य नहीं, अज है।।७४३।।

(वह जन्य नहीं यह स्पष्ट करने के लिये उसकी आधिदैविक विभूति बताते हैं :) जो यह आनंदरूप पुरुष है यह पाँच रूपों से रूपवान् है। पाँच रूप हैं—पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्यु (स्वर्ग), दिशाएँ, अवान्तर दिशाएँ। इनसे अधिदैव में—व्यापक उपाधियों से—यह पाँच प्रकार का हो गया है।।७४४।। तन्तु से वस्त्र की तरह इस पुरुष से भूत-वर्तमान-भावी यह सारी त्रिलोकी ओत-प्रोत है। (वस्त्र को 'ताने' में ओत व 'बाने' में प्रोत कहते हैं। तात्पर्य व्याप्ति में है, धागे से अन्य वस्त्र नहीं, पुरुष से अन्य त्रिलोकी नहीं।)।।७४५।। मनननामक जिज्ञासा से ही पुरुष अवगत किया जा सकता है। जिसका फल अवश्य होता है उस 'ऋत' कहलाने वाले सत्कर्म से फलरूप में यह पुरुष ही पैदा होता है अर्थात् यह

१. पुमानिति पुराणश्रोता सम्बोध्यते।
२. 'स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मा येन सर्वमिदं प्रोतं पृथिवी चान्तरिक्षं च द्यौश्च दिशश्चावान्तरदिशश्च स वै सर्वमिदं जगत् स सभूतं स भव्यं जिज्ञासाक्लृप्त ऋतजा रयिष्ठाः श्रद्धा सत्यो महस्वान् तमसोपरिष्टात्।'

तपसो भृगुणा पूर्वं समनुष्ठितरूपिणः। वरोऽतिशयितो यस्माद् वरिष्ठस्तेन कथ्यते।।७४८

एवंभूतं पुरा प्रोक्तमानन्दात्मानमीश्वरम्। हृदयस्थेन मनसा ज्ञात्वा क्लेशविवर्जितः।।
भूयो न मरणं गच्छेदेतद्देहस्य पाततः।।७४६

मृत्वा न म्रियते यस्माद् न्यासाद् ब्रह्मात्मवेदनम्। अत्रैव ब्रह्मलोके वा सम्प्राप्याज्ञाननाशनम्।।७५०

तस्माद् न्यासं परं प्राहुः साधनं ब्रह्मवादिनः। सत्यादीनां पुरोक्तानामेषां साधनरूपिणाम्।।७५१

संन्यासप्राप्य आत्मा

न्यासेन गम्यते योऽयमानन्दात्मा स्वयंप्रभः। सत्यः सूक्ष्मो विभुः स्वान्तः प्राणापानव्यवस्थितः।
सन्धिं तयोः प्रकुर्वाणो वामनो व्यानरूपतः।।७५२

वरिष्ठत्वमाह—तपस इति। भृगुणाऽनुष्ठितं यत् तपः तत् साधनान्तरेभ्यो वरं, तस्मादपि साधनभूताद् अभिव्यंग्यफलरूपतयाऽत्युंत्कृष्टत्वाद् अयं पुरुषः तपसो वरिष्ठ इत्युक्त इत्यर्थः।।७४८।। तद्विज्ञानफलमाह—एवंभूतमिति। एवंभूतं वर्णितगुणैरुपलक्षितं तत्त्वम् एकाग्रेण मनसा ज्ञात्वा क्लेशवर्जितो भवति, देहपातादनन्तरं पुनर्न जायते चेत्यर्थः।।७४६।।

वर्णितात्मज्ञानं प्रत्यसाधारणकारणत्वाच्च न्यासस्य उक्तसाधनेभ्य उत्कृष्टत्वं सिद्धमित्याह[1]—मृत्वेति द्वाभ्याम्। यतो न्यासप्रभावाद् इह ब्रह्मलोके वाऽज्ञाननाशकं ब्रह्मात्मवेदनं प्राप्य मृत्वा न म्रियते मुच्यते ततो न्यास उक्तसाधनेभ्यः श्रेष्ठः। इति द्वयोरर्थः।।७५०-१।।

न्यासलभ्यात्मनः प्रतिपत्तिस्वरूपम् अभिनयतो 'वसुरण्व' इत्यादेः प्रणवान्तस्य[2] श्रुतिवाक्यस्य पदानामर्थं दर्शयति—न्यासेनेति नवभिः। योऽयं न्यासेन गम्य आत्मा स स्वयम्प्रकाशानन्दरूपत्वेन वित्तवद् निरतिशयप्रेमास्पदत्वाद् वसुपदेन श्रुत्योक्तः। अन्यपदेन तस्य विभोः वैलक्षण्यं सत्यत्वसूक्ष्मत्वरूपमुक्तम्। तथा स्वान्तः स्वस्य सङ्घातस्य अन्तः प्राणापानयोः नियन्तृत्वेन विशेषतो व्यवस्थितः संस्तयोः सन्धिं व्यानरूपं कुर्वाणः पूर्वोक्तवामनसंज्ञो भवति ततः प्राणसन्धातेत्युक्त इत्यर्थः।।७५२।। ब्रह्मेति। पुनः कीदृशः ? ब्रह्मरूपः पूर्णत्वात्। तथा विश्वस्य धारकः पोषकः। सारे सत्फलों का रूप धरता है। 'सुवर्ण' अर्थात् हर समीचीन वस्तु में यही अवस्थित है। (पुरुष की हीं सत्तादिकी तरह समीचीनता (ठीक-पन) भी दृश्यवर्ग में भासती है।)।।७४६।। यह महेश्वर श्रद्धा व सत्य से लभ्य है। स्वप्रकाश होने से इसे तेजस्वी कहते हैं।।७४७।। पूर्व में भृगु ने जिसका सम्यक् अनुष्ठान किया था वह तप अन्य साधनों से बेहतर है लेकिन क्योंकि यह उस तप का भी फल है, तप के फलरूप से ही निरावृत होता है, इसलिये यह उससे भी श्रेष्ठ है अतः वरिष्ठ कहा जाता है।।७४८।।

ऐसे महत्त्व वाले, पूर्व में विस्तार से वर्णित, आनंदरूप ईश्वर को हृदय में एकाग्र किये मन से जानकर साधक क्लेशरहित हो जाता है और यह शरीर छूटने पर पुनः मृत्यु नहीं पाता।।७४६।।

जिसके फलस्वरूप एक के बाद एक मौत का सामना नहीं करना पड़ता वह अज्ञाननाशक ब्रह्मात्मज्ञान क्योंकि संन्यास से यहीं या ब्रह्मलोक में मिलता है इसीलिये ब्रह्मवादी सत्यादि पूर्वोक्त साधनों से संन्यास को श्रेष्ठ बताते हैं।।७५०-१।।

संन्यास से आविष्करणीय आत्मा स्वप्रकाश आनंद है, सत्य, सूक्ष्म, व्यापक है। शरीर के अंदर प्राण-अपान के नियंता रूप से वही स्थित हुआ प्राण-अपान की संधि बनाये रखता है, व्यान को कार्यकारी रखता है। छोटे से शरीर

१. 'ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च भूयो न मृत्युमुपयाहि विद्वान्। तस्मान्न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः।'

२. 'वसुरण्वो विभूरसि प्राणे त्वमसि सन्धाता ब्रह्मन् त्वमसि विश्वसृत् तेजोदास्त्वमसि अग्नेरसि वर्चोदास्त्वमसि सूर्यस्य द्युम्नोदास्त्वमसि चन्द्रमस उपयामगृहीतोऽसि ब्रह्मणे त्वा महसे। ओमित्यात्मानं युञ्जीत।'

ब्रह्मरूपोऽत्र विश्वस्य धारकस्तेजसः प्रदः। सूर्यादीनां तथा वर्चो ब्राह्मणादेः प्रयच्छति।।७५३
तेजो दाहादिहेतुः स्याद् वर्चः सौष्ठवकारणम्। वर्चो ददाति भगवान् जाठरोऽग्निः शरीरिणाम्।।
पुरुषो दृश्यते येन नीरोगः कान्तिसंयुतः।।७५४
द्युम्नं स्याद् भास्वरं वस्तु सूर्यस्य किरणादिना। जाम्बूनदादिसंजातं तदप्येष प्रयच्छति।।७५५
अथ वा द्युम्नमुद्दिष्टं तेज एव मनीषिभिः। सूर्याचन्द्रमसोस्तद्वदग्नेर्वर्चः प्रकीर्तितम्।।७५६
अग्नेः सूर्यस्य सोमस्य वर्चो द्युम्नं च यच्छति। यः पुमान् सोऽत्र संन्यासाल्लभ्यते हृदयस्थितः।।७५७
उपयामोऽत्र संन्यासो यमास्तस्य समीपगाः। यतस्तेनाऽमुना देवो गृहीतो वेदवादिभिः।।७५८
उपयामगृहीतोऽयमानन्दात्मा निगद्यते। स्वप्रकाशं परं ब्रह्म सत्यज्ञानादिलक्षणम्।।७५९

प्रणवेन ध्यायेत्

जाबालादिश्रुतिप्रोक्तं न्यासं कृत्वा जितेन्द्रियः। तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थवाचकं प्रणवाक्षरम्।।७६०

सूर्यचन्द्रादीनां तेजसः प्रदायकः। ब्राह्मणादीनां वर्चसो दाता।।७५३।। तेजःपदस्य वर्चःपदस्य चाऽर्थभेदमाह—तेज इति। दाहप्रकाशयोः प्रयोजकं तेज इत्युच्यते। सौष्ठवस्य सौन्दर्यस्य कारणं प्रयोजकं यज्ज्योतिः तद् वर्च इत्युच्यते। तत्र वर्चोदायकत्वं यद् भगवत उक्तं तज्जाठराग्निरूपेण बोध्यम् यतो जाठराग्निकृतान्नपरिपाकवशाद् एव अङ्गसौष्ठवं दृश्यत इत्यर्थः।।७५४।। 'द्युम्नोदा' इति पदार्थमाह—द्युम्नमिति। सुवर्णदर्पणादिषु सूर्यकिरणसम्पर्केण यद् भास्वरं परप्रकाशकं ज्योतिरुद्भवति तद् द्युम्नम् इत्युच्यते, तस्य दायकोऽप्ययमेवेत्यर्थः।।७५५।। अथ वेति। अथ वा द्युम्नपदेन सूर्यचन्द्रयोः तेज उच्यते, अग्नेस्तेजः तु वर्च इत्युच्यते। तथा च अग्निसूर्यचन्द्राणां तेजो यो ददाति स पुमान् हृदयस्थः संन्यासेन लभ्यः। इति द्वयोरर्थः।।७५६-७।।

'उपयामगृहीता'-दिपदत्रयार्थमाह—उपेति। उप समीपे यमा अहिंसासत्त्यादयो यस्येति व्युत्पत्त्या संन्यास 'उपयाम'-पदेनोक्तः। तेन गृहीतत्वाल्लब्धत्वाद् अयम् आत्मा 'उपयामगृहीत' इत्युक्तः। 'अयं' कः ? यः स्वप्रकशत्वाद् महःपदेन, सत्यादिलक्षणत्वाद् ब्रह्मपदेन चोक्तः। इति द्वयोरर्थः।।७५८-९।।

उत्तराध्यायजिज्ञासामुत्थापयन् प्रणवालम्बनेन वर्णितपुरुषे चित्तैकाग्र्यं कुर्याद् इत्याह—जाबालादीति द्वाभ्याम्। जाबालाद्युपनिषदुक्तप्रकारेण न्यासं कृत्वा तथा महावाक्यार्थस्य ऐक्यस्य 'सोऽहम्' इत्यत्र सकारहकार-

में समा जाने से वह वामन भी कहा जाता है।।७५२।। पूर्ण होने से वह ब्रह्म है, सबका पोषक है, सूर्यादि को तेज प्रदान करता है और ब्राह्मणादि को वर्चस्वी बनाता है।।७५३।। जलाने आदि के हेतु को तेज कहते हैं और सौंदर्य की प्रयोजक दीप्ति को वर्चस् कहते हैं (जिसके होने से व्यक्ति वर्चस्वी कहलाता है)। उदरस्थ अग्नि बने भगवान् शरीरधारियों को वर्चस् देते हैं जिससे पुरुष नीरोग और कान्तिमान् दीखता है।।७५४।। सोने आदि पर सूर्य की किरणें आदि पड़ने पर जो चमक होती है, जिससे अन्य पदार्थ भी प्रकाशित हो सकते हैं, उसे द्युम्न कहते हैं, उसका भी यह आत्मा ही प्रदाता है।।७५५।। कुछ मनीषी सूर्य-चंद्र के तेज को द्युम्न और अग्नि के तेज को वर्चस् कहते हैं। तब भी अर्थ यही है कि अग्नि, सूर्य व चंद्र को वर्चस् और द्युम्न प्रदान करने वाला हृदय में स्थित पुरुष संन्यास से उपलब्ध हो जाता है।।७५६-७।।

संन्यास के निकटवर्ती हैं अहिंसादि यम अतः संन्यास 'उपयाम' है, जिससे वेदवादी महादेव को ग्रहण कर लेते हैं। इसलिये आनंदात्मा को 'उपयामगृहीत' कहा जाता है। यही सत्यज्ञानादि लक्षणों वाला स्वयम्प्रकाश पर ब्रह्म है।।७५८-९।।

मुमुक्षु को चाहिये कि इंद्रियाँ नियंत्रित कर जाबाल आदि उपनिषदों में कहा संन्यास करे। फिर उस प्रणवरूप अक्षर के बारे में रहस्यमय जानकारी प्राप्त करे जो प्रणव उसी अर्थ का बोधक है जो 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का

हंसादिश्रुतिसम्प्रोक्तं योगमास्थाय धैर्यवान्। गुरूपदिष्टमार्गेण युञ्जीतात्मानमात्मना।।७६१

ज्ञानफलम्

य एतां महतीं ब्रह्मविद्यां मोहविनाशिनीम्। देवानां गुह्यभूतां च निधिवत्तैस्तु रक्षिताम्।।
जानीते ब्रह्मणः सोऽयं महिमानं समाप्नुयात्।।७६२

यस्मादयं पुमान् गच्छेद् महिमानममुं तया। तत्कामस्तत एवाऽयमेनां कुर्वीत सर्वथा।।७६३

'इत्युपनिषत्'

सदेरुप-नि-पूर्वस्य शब्दोऽयमुदितः सदा। ब्रह्मविद्याभिधस्तेन सैवोक्तोपनिषद् द्विजैः।।
तस्यास्तु वाचकः सोऽयं ग्रन्थोऽप्युपनिषद् मतः।।७६४

एषोपनिषदत्रोक्ता तित्तिर्युक्ता मयाऽधुना। ब्रह्मविद्याऽधिका नातो ग्रन्थेऽस्मिन् विद्यते क्वचित्।।७६५

लोपनिष्पन्नतया वाचकं प्रणवं विदित्वेति शेषः। तथा हंसाद्युपनिषदुक्तविधं योगमास्थाय अवलम्ब्य धीर आत्मानं परमात्मना युञ्जीत ऐक्येन चिन्तयेद्। इति द्वयोरर्थः।।७६०-१।।

उक्तज्ञानस्य फलमाह[1]—य एतामिति। तैः देवैः वित्तवद् रक्षितत्वेन गुह्यभूताम्।।७६२।। फलितमाह—यस्मादिति। यस्मात् पुमान् अधिकारी तया उक्तविद्यया अमुं ब्रह्मसम्बन्धिनं महिमानं गच्छति ततस्तत्कामः ब्रह्ममहिमप्राप्तिकामः अयम् अधिकारी एनां विद्यां सर्वप्रकारेण सम्पादयेद् इत्यर्थः।।७६३।।

उपनिषत्पदेन मुख्यवृत्त्या ब्रह्मविद्यावाचकेन तदुपायभूतो ग्रन्थो लक्षणयोच्यत इत्याह—सदेरिति। उप-नि-इत्युपसर्गद्वयपूर्वकस्य सदि-धातोः उदितः समुद्भूतः अयम् उपनिषच्छब्दः उप सान्निध्येन नितरां सादयति विशीर्णं करोति अबोधम् इति व्युत्पत्त्या ब्रह्मविद्याया अभिधायकः तेन सैव ब्रह्मविद्यैवोपनिषद् इति वक्तव्या तस्या ब्रह्मविद्यायाः प्रापकत्वाद् ग्रन्थोऽपि तथोक्त इत्यर्थः।।७६४।। उपसंहरति—एषोपनिषदत्रेति। अत्र दशमाध्याये तित्तिरिशाखागता रहस्या ब्रह्मविद्या प्रोक्ता। अतो वर्णितरूपाया विद्याया अधिका विद्या अस्मिंस्तित्तिरिशाखाग्रन्थे नास्तीत्यर्थः।।७६५।।

अर्थ है।।७६०।। फिर हंस आदि उपनिषदों में विहित योग के सहारे धैर्य रखते हुए गुरु द्वारा बताये तरीके से इस तथ्य का चिंतन करे कि आत्मा परमात्मा से एक है।।७६०-१।। (जाबाल आदि नामोल्लेख अगले अध्याय के बीजरूप से है।)

यह महान् ब्रह्मविद्या मूलाज्ञान को नष्ट करती है। देवता इसे गोपनीय समझते हैं, खजाने की तरह इसे सुरक्षित रखते हैं। जो इस विद्या को पा लेता है वह ब्रह्म की महिमा पा जाता है।।७६२।। अधिकारी पुरुष क्योंकि उक्त विद्या से ब्रह्मस्वरूप महिमा प्राप्त कर लेता है इसलिये उस महिमा का इच्छुक सभी तरह यह विद्या संपन्न करे यही उचित है।।७६३।।

यह तैत्तिरीय उपनिषत् का उपदेश है। 'उप' औ 'नि' उपसर्गों सहित 'सत्' धातु के प्रयोग से उपनिषत् शब्द बनता है जो ब्रह्मविद्या का वाचक है अतः द्विज ब्रह्मज्ञान को ही उपनिषत् कहते हैं। विद्या का प्रतिपादक होने से ग्रंथ भी गौणी वृत्ति से उपनिषत् कह दिया जाता है। ('उप' = सबसे समीप जो प्रत्यगात्मा है उसके 'नि' = निश्चय से जो 'सत्' अज्ञान समाप्त करती है वह उपनिषत् है। अथवा 'उप' = सँनिहित होते ही जो अविद्या को 'नि' भलीभाँति समाप्त कर देती है वह उपनिषत् है। भाष्यकार एवं वार्तिककार ने इस शब्द को काफी समझाया है।)।।७६४।।

१. 'य एवं वेद ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानम्। इत्युपनिषत्।'

पुरुषस्याऽत्र यो यज्ञस्तस्योपासनमीरितम्। मन्दानामधिकारस्य सिद्ध्यै नैवात्मबुद्धये।।
इतः परं पुनः किन्त्वं श्रोतुमिच्छसि तद्वद।।७६६

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याऽऽनन्दात्मपूज्यपादशिष्येण
श्रीशङ्करानन्दभगवता विरचित उपनिषद्रत्न आत्मपुराणे
'तैत्तिरीयसारार्थप्रकाशो' नाम दशमोऽध्यायः समाप्तः।।१०।।

'तस्यैवं विदुष' इत्याद्यनुवाकस्य (६४ तमस्य)—यज्ञाङ्गानां साङ्गानां विद्वच्छरीरे समारोपोपन्यासद्वारेण ससंन्यासात्मविद्याप्रशंसनपरत्वाङ्गी कारे तदुपासनं मन्दैर्यज्ञादिबहिरङ्गसाधनवद् अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं कर्तव्यम्, न तु शमादिवद् अन्तरङ्गसाधनत्वाद् उक्तात्मविद्यावताऽपि कर्तव्यम्—इत्याशयेन आह—पुरुषस्येति। अत्र नारायणीयान्तिमानुवाके पुरुषस्य उक्तात्मविद्यावतः सम्बन्धी यो यज्ञो ज्ञाननिष्ठारूपः तस्य कर्ममययज्ञाङ्गानां यजमानपत्न्यादीनाम् आत्म-श्रद्धा-ऽऽदिषु समारोपरूपम् उपासनं चित्तशुद्ध्यै मन्दैः कर्तव्यम् इत्येतदर्थम् उक्तं, न त्वात्मसाक्षात्कारार्थमुक्तं येन विदुषाऽपि कर्तव्यं स्यादित्यर्थः।। अधिकमाकरेष्वनुसन्धेयम्।।७६६।।

यस्मिन्न्यस्तं मनोऽवस्थां भोगानौचित्यतोऽश्नुते। वाचामगोचरं देवं तं नारायणमाश्रये।।

अस्यार्थः—भगवति न्यस्तचित्तानां कृतकृत्यत्वेन मनसा कृत्यं नास्ति। भगवतोऽपि पूर्णकामत्वाद् न्यासापहारदोषोपदेष्टृत्वाच्च न तेन कृत्यम्। तथा चाऽऽनन्दसिन्धौ भगवति ज्ञानाग्निपरिहृतबीजभावे न्यस्तस्य चित्तस्य का नु गतिरिति भावः।।

इति श्रीदत्तकुलतिलककृष्णचन्द्रात्मजदिलारामसूरितनूज
रामकृष्णस्य श्रीविश्वेश्वराश्रमपूज्यपादनुगृहीतस्य कृतौ
आत्मपुराणटीकायां सत्प्रसवाख्यायां दशमोऽध्यायः
समाप्तः।।१०।।

(पुराणप्रवक्ता गुरु कहते हैं—) अभी मैंने यह तितिरिप्रोक्त उपनिषत् समझाई। तैत्तिरीय ग्रंथ में इससे अधिक ब्रह्मविद्या कहीं नहीं है।।७६५।।

(महानारायण के समापन में सांगोपांग यज्ञ का विद्वान् के शरीर में समारोप बताया गया है और उससे संन्याससमेत आत्मविद्या की प्रशंसा की है। यह उपासना अंतःकरणशोधनार्थ करनी चाहिये जैसे यज्ञादि किये जाते हैं। शमादि की तरह अंत तक कर्तव्य यह उपासना नहीं है। अतः उसका विस्तार न करते हुए उपसंहार करते हैं—) महानारायण के अन्तिम अनुवाक में पुरुषसम्बन्धी यज्ञ बताया गया है जिसका स्वरूप वह उपासना है जिसमें कर्ममय यज्ञ के अंगों का पुरुष में, उसके श्रद्धादि में, समारोप किया जाता है। (पुरुष के साक्षिस्वरूप में यजमानदृष्टि, श्रद्धा में पत्नीदृष्टि आदि ध्यान किया जाता है।) यह विधान इस प्रयोजन से है कि जिन मुमुक्षुओं को वैराग्य नहीं है वे इसके अनुष्ठान से वैराग्य प्राप्त करें। वह उपासना स्वयं आत्मज्ञान नहीं दे सकती। उपासना से वैराग्य होकर संन्यासपूर्वक श्रवणादि से ही ज्ञान होता है।

हे शिष्य ! इसके बाद तुम और क्या सुनना चाहते हो वह बताओ।।७६६।।

।। दसवाँ अध्याय सम्पूर्ण।।

ॐ

गर्भाद्युपनिषत्सारार्थप्रकाशः

एकादशोऽध्यायः

श्रुत्वैवं तित्तिरेर्ज्ञानं शिष्यो विस्मयमागतः। संन्यासं प्रष्टुकामः सन्निदं वचनमुक्तवान्।।१

शिष्यप्रश्नः

ऐतरेयो द्विजश्रेष्ठः तथा कौषीतकिर्मुनिः। आदित्यो भगवानेष स श्वेताश्वतरोऽपि च।।२
कठश्च तित्तिरिश्चैते यज्जानन्ति महाधियः। ज्ञानं तद्भवता प्रोक्तं दुःखसागरशोषकम्।।३
गुरो! यत्र श्रुता एताः कथाश्चित्रार्थसंयुताः। प्रजानां मुनिभिः सार्द्धं संवादो ब्रह्मबोधने।।४
तैरेव वामदेवस्य गर्भस्थस्य महात्मनः। प्रतर्दनस्य शक्रेण विप्रस्याऽजातशत्रुणा।।५

स्मृती रावणदर्पारिहरिरक्षाधिमन्थिनः। एकादशावतारस्य तारिण्येकादशाम्बुधेः।।

अस्यार्थः—रावणदर्पहरस्य अक्षं रावणपुत्रमधिष्ठाय मंथितुं शीलं यस्य तथाभूतस्य एकादशरुद्रावतारस्य च हरेः हनुमतः स्मृतिः एकादशाऽध्यायरूपसिन्धोस्तारिका—इत्यर्थः।। श्रीरामचन्द्रपक्षे—रक्षया ऋष्यादिप्रजानाम् आधिं मानसपीडां मन्थितुं शीलं यस्य स तथा तस्य दशावतारस्य च स्मृतिः एका असहाया तारिणी भवति यतोऽम्बुधेः एका विलक्षणा दशा भीतावस्थाऽभूद् इत्यर्थः।। शम्भुपक्षे—कैलासोत्थापनोद्यतरावणस्य पदाङ्गुष्ठनमनेन गर्वहरस्य, तथा हरेः विष्णोः सहस्राब्जैः पूजयतो यस्तत्सङ्ख्यापूरणार्थम् अक्षस्य नेत्रस्य अर्पणे आधिः क्लेशः तं मन्थितुं पुण्डरीकाक्षनाम-सुदर्शनयोर्दानेन परिहर्तुं शीलं यस्य स तथा तस्य एकादशमूर्तेः अत एव एकादशानाम् अम्बूनां गङ्गाप्रवाहाणाम् आधारस्य च स्मृतिः एका असहाया तारिणीत्यर्थः।। ग्रन्थप्रमेयपक्षे—रावणो नानाप्रलाप-हेतुः यो दर्प्पो देहाद्यभिमानः स एव अरिः शुत्रः, तस्य हरेः वृत्त्यारूढरूपेण हारकस्य अक्षाणाम् इन्द्रियाणाम् अधिमन्थिनो नियन्तुरन्तर्यामिन इति यावत्, एकादशसङ्ख्याभिः जाबालादिभिः अत्राध्याय उपात्तनामभिः उपनिषद्भिः अवतारो बुद्धिप्रसरो यत्र तत्तथा तस्य स्मृतिः दशाम्बुधेः संसारदशारूपसिन्धोः एकाऽसहाया तारिकेत्यर्थः।।जाबाल-गर्भ-ब्रह्म-परमहंस-हंसा-ऽऽरुणेय-क्षुरिका-ऽमृतनाद-महद्-आत्मप्रबोध-कैवल्येत्यादीन्युपनि-षत्पदान्तानि एकादशनामानि मूले कीर्तयिष्यमाणानि बोध्यानि। आरुणेयोपनिषद उपन्यास संवादोपन्यासेनैव कृत इति भावः।।

शिष्यप्रश्नमवतारयति— श्रुत्वैवमिति।।१।। संन्यासं सफलं सेतिकर्त्तव्यं च प्रष्टुकामो जिज्ञासुर्मेधावी संक्षेपेणोक्तम् अनुवदति— ऐतरेय इति द्वाभ्याम्।।२-३।। विशेषतोऽनुवादे हेतुमाह— गुरो! इति। यत्र यस्य ज्ञानस्योपबृंहणार्थम् एताः कथाः श्रुताः। 'एताः' काः? इत्यत आह—प्रजानामित्यादि। तैः मुनिभिः। संवाद इति त्रिवारमनुषङ्गः।।४-५।। चतुर्थार्थमनुवदति— काण्डेति द्वाभ्याम्। शक्रनिरूपिता गुरुता।।६-७।। पञ्चमोक्तमनुवदति

गर्भ आदि उपनिषदों के सारार्थ का प्रकाशक

ग्यारहवाँ अध्याय

श्रीगुरु से तैत्तिरीय शाखा की उपनिषत् में सांगोपांग विस्तार से कहे ब्रह्मात्मज्ञान को पूर्वाध्याय में विविध युक्तियों से उपबृंहित रूप में सुनकर पुराणश्रोता शिष्य का मुख प्रसन्नता से खिल उठा। आत्मस्वरूप की आपात प्रतिपत्ति भी कर्मप्रवृत्ति का निरोध ही करती है अतः श्रवण किये तत्त्व में परिनिष्ठा पाने के उपायभूत संन्यास के बारे में पूछना चाहते हुए उसने गुरु से निवेदन किया :।।१।। 'द्विजोत्तम ऐतरेय, मुनि कौषीतकि, ये भगवान् सूर्य, महामुनि श्वेताश्वतर,

काण्डत्रयस्य वंशश्च भेदाऽभेदस्वरूपवान्। अश्विभ्यामपि संवाद ऋषेः सर्वार्थदर्शिनः।।६
दध्यङ्ङाथर्वणस्याऽपि माहात्म्यं गुरुता तथा। शक्रस्य साहसं तद्वदश्विनोस्तस्य शिष्ययोः।।७
याज्ञवल्क्यस्य संवादो मुनिभिर्जल्पसंज्ञितः। विदग्धेन च यत्रेमे स्वस्य प्राणाः पणी कृताः।।८
जनकेन च तस्यैव वादसंज्ञो महात्मनः। द्विवारं यत्र शास्त्रार्थः सकलोऽपि निरूपितः।।६
मैत्रेय्याऽपि च तस्यैव विरक्तस्य महात्मनः। मुनीनामपि संवादः कारणस्य च निर्णयः।।१०
यमेन यह संवादस्तथैव नचिकेतसः। भृगोश्च वरुणस्याऽपि संवादोऽन्योऽपि कश्चन।।
एतत् सर्वं मया त्वत्तः श्रुतं ब्रह्मावबोधनम्।।११
अत्र तित्तिरिविज्ञाने साधनानां परम्परा। न्यासान्ता कीर्तिता न्यासो बहुशश्च श्रुतस्तथा।।१२
चातुर्विध्यं च संन्यासे तत्रैतद् भवतेरितम्। चतुर्थे परमे हंसे जिज्ञासा मम वर्तते।।१३
पृच्छाम्यत्र च तत् पृष्ट्वा जाबालाद्यैः समीरितम्। न्यासं योगं च हंसाद्यैस्त्वतस्तं पूर्वमीरय।।१४
कैरयं चरितः पूर्वैः कदा कस्याऽधिकारिणः। किंवेद्यः कीदृशाचारः किम्फलो मुनिसत्तम।।१५

—याज्ञवल्क्यस्येति। पणी कृता पणवद्धारिता। जल्पो विजिगीषया कृतः।।८।। षष्ठार्थमनुवदति—जनकेनेति। वादो निर्णयार्थः। द्विवारं कूर्चब्राह्मणे तदुत्तरग्रन्थे च।।६।। सप्तमादिचतुर्णामर्थं दर्शयति— मैत्रेय्येत्याद्यर्द्धचतुष्टयेन। तस्य याज्ञवल्क्यस्य। अन्योऽपि नारायणीयाख्यः। उपसंहरति— एतदिति।।१०-१।।

प्रश्नबीजमाह—अत्रेति। अत्र पूर्वाध्याये। न्यासान्ता संन्यासपर्यन्ता।।१२-३।। पृच्छामीति। उत्कटजिज्ञासागोचरत्वेन तत् परमहंसस्वरूपं प्राधान्येन पृष्ट्वा उपसर्जनतया जाबालाद्युक्तन्यासं हंसाद्युक्तं योगं च पृच्छामि। अत उत्कटजिज्ञासागोचरत्वात् तं परमहंसं प्रथमं वर्णय इत्यर्थः।।१४।। तत्प्रश्नमेवाऽभिनयति— कैरिति। अयं परमहंसधर्मः कस्याधिकारिणो योग्य इति शेषः। किं वेद्यं यस्मिन् स तथा।।१५।।

कठ और तित्तिरि—व्यापक वस्तु के बारे में निश्चय पाये ये आचार्य दुःखसागर सुखाने वाला जो ज्ञान जानते हैं वह आपने सुनाया।।२-३।। हे गुरो! उसी ज्ञान की सूक्ष्मताओं को प्रकाशित करने के लिये मन-मोहक कहानियाँ भी आपके श्रीमुख से सुनीं। प्रजाओं का मुनियों से संवाद, मुनियों से गर्भस्थ महात्मा वामदेव का संवाद, प्रतर्दन का इन्द्र से संवाद, ब्राह्मण बालाकि का राजा अजातशत्रु से संवाद—ये ऋग्वेद की कथाएँ सुनीं।।४-५।।

बृहदारण्यकोपनिषत् के तीनों काण्डों की वंशावलियाँ सुनीं जिन पर आपने अनुसन्धान कर समझाया कि कौन आचार्य उन वंशों में एक ही हैं और कौन पृथक्-पृथक् हैं। उसी उपनिषत् में आये अन्य विषय सुने—सर्वार्थदर्शी दध्यङ् ऋषि से अश्विनीकुमारों का संवाद, दध्यङ् की महत्ता, वे इंद्र के गुरु बने, उन्हीं के शिष्य अश्विनीकुमारों का साहस, याज्ञवल्क्य का मुनियों से जयिष्णु संवाद, उन्हीं का विदग्ध से संवाद जिसमें उसने अपने प्राणों की बाजी लगी दी, उन्हीं महात्मा याज्ञवल्क्य का जनक से तत्त्वनिर्णयार्थ दो बार किया संवाद जिसमें शास्त्र के समूचे तात्पर्य का निरूपण हो गया, उन्हीं वैराग्यवान् महात्मा याज्ञवल्क्य का मैत्रेयी से संवाद। श्वेताश्वतर महर्षि की अध्यक्षता में मुनियों का कारणविषयक संवादपूर्वक निर्णय, नचिकेता का यमराज से संवाद और भृगु-वरुण संवाद समेत नारायणोपनिषत् का विषय—ये सभी ब्रह्मबोधक प्रसंग आपसे मैंने सुने।।६-११।।

पिछले अध्याय में तैत्तिरीयोक्त प्रकरण के अनुसार आपने विद्यासाधनों का क्रम स्पष्ट किया जिसमें संन्यास को चरम साधन बताया। वहाँ तथा पहले भी आपने संन्यास का बहुत तरह से वर्णन किया था। अभी-अभी आपने

गुरोरुत्तरम्

इत्युक्तो गुरुराहैतच्छिष्यं वाक्यमुदारधीः। शिष्यबुद्धिं समालोक्य परं स्नेहमुपागतः।।१६

प्रश्नेऽस्मिन् भवतः सर्वं प्रष्टव्यं समवस्थितम्। जाबालाद्यैः परो हंसो यतः सर्वैः समीरितः।।१७

हंसाद्यैश्च तथा योगो ब्रह्मात्मैक्यावबोधने। उक्तः परमहंसस्य फलसिद्धिर्यतो भवेत्।।१८

एवं कौशलेन पृष्टो गुरुः प्रीतः सन्नुवाचेत्याह– इत्युक्त इति।।१६।।

वृद्धकुमारीवरन्यायेन भवता पारमहंस्यप्रश्न एव सर्वं संगृहीतमित्याह– प्रश्नेऽस्मिन्निति। अस्मिन्नुक्तरूपे भवत्प्रश्ने सर्वं जाबालादिनानोपनिषत्प्रतिपादितं प्रष्टव्यम् अर्थजातं सम्यगवस्थितम्, संगृहीतमिति यावत्। यथा कयाचिद् वृद्धया कुमार्या इन्द्रेण 'वरं ब्रूहि' इत्युक्ते, 'सुता मे दधिसम्पृक्तमोदनं सुवर्णपात्र्यां भुञ्जीरन्' इति वाक्येन सर्वमिष्टं संगृहीतं तद्वद् इत्यर्थः।। तत्संग्रहमेव विशदयति– जाबालाद्यैरिति। यतः परमहंसधर्माः जाबाल-ब्रह्माऽऽरुणेयपरमहंसाख्यासूपनिषत्सु प्रपञ्चिताः तथा योग आत्मसाक्षात्कारोपयोगी हंसक्षुरिकादिषु, तदुपयोगिवैराग्यं च गर्भोपनिषदि; अतः त्वत्प्रश्नसमाधाने सर्वासाम् एतासाम् अर्थो वर्णनीयतामापन्न इति भावः।।१७-८।।

कहा कि संन्यास चार तरह का होता है, उनमें जो चौथा परमहंस संन्यास है उसके बारे में मुझे जिज्ञासा है।।१२-३।। परमहंसाश्रम समझने की ज्यादा इच्छा है अतः प्रधानतः वही पूछ रहा हूँ लेकिन जाबालोपनिषत् आदि में कहे संन्यास को एवं हंसोपनिषदादि में कहे योग को भी जानना तो चाहता ही हूँ अतः पारमहंस्योपयोगी रूप से वे भी पूछ रहा हूँ। पहले आप परमहंस संन्यास बताइये।।१४।। प्राचीन काल में किन विशिष्ट लोगों ने संन्यास धर्म का आचरण किया? इसके लिये उचित काल और योग्य अधिकारी कौन है? इसे ग्रहण कर ज्ञातव्य क्या है? पारमहंस्य में कर्त्तव्य आचार क्या है? इस संन्यास का फल क्या है? आप स्वयं उत्तम परमहंस हैं अतः यथाशास्त्र, यथासम्प्रदाय और यथानुभव मुझे इन प्रश्नों का उत्तर देने की कृपा करें। जो कुछ और भी इस संदर्भ में ज्ञेय हो वह मैं न भी पूछ सका होऊँ तो भी आप कृपया बता दें।'।।१५।।

शिष्य की इस प्रार्थना से उसकी चित्तसामर्थ्य और लगन देखकर उस पर अधिक स्नेहिल हुए विशाल हृदय वाले गुरुदेव ने ये वाक्य कहे :।।१६।।

तुम्हारे इस प्रश्न में वह सभी कुछ एकत्र हो गया है जो संन्यास के सम्बन्ध में पूछा जा सकता है! जाबाल आदि सभी ग्रंथों में परमंहस का सम्यक् कथन है और परमहंस साधक को जिसके अनुष्ठान से फलप्राप्ति होती है वह जीव-ब्रह्माभेद के साक्षात्कार में उपयोगी योग हंस आदि ग्रंथों में विस्तार से बता दिया है।(जाबाल, ब्रह्म, आरुणेय और परमहंस नामक उपनिषदों में प्रधानतः संन्यास और हंस, क्षुरिका आदि में योग का कथन है। संन्यासाधिकार पाने के लिये आवश्यक वैराग्य गर्भोपनिषत् में बताया है। अतः शिष्यप्रश्न के समाधानार्थ इन सभी उपनिषदों की व्याख्या हो जायेगी। ईशादि प्रधान उपनिषदों में विधान उपलब्ध होन पर भी इतिकर्तव्यता वहाँ स्पष्ट नहीं है। तत्त्वनिश्चय पर पहुँचने के लिये साधक क्या-क्या क़दम ले इसका वर्णन अन्य उपनिषदों में ही है। ऐसे ही संन्यासी की जीवनचर्या का विस्तृत ब्यौरा भी अन्य उपनिषदों में ही मिलता है। इनकी जानकारी के अभाव में साधक अपना व्यवहार या समुचित प्रकार से निर्धारित नहीं कर पाता और या वह संप्रदायान्तर के धर्म पालने लगता है। अत एव संन्यासी भी देवपूजा, पौराणिक-तान्त्रिक जप-उपासना, हठयोग, तीर्थाटन आदि आचार अपनाते देखे जाते हैं और विचारसामर्थ्य न्यून होने पर क्योंकि प्रधान उपनिषदें समझ-समझा नहीं सकते इसलिये पुराण इतिहास आदि के ही चिंतन-कथन में संलग्न देखे जाते हैं। गृहस्थ साधक भी श्रद्धा अद्वैत पर रखने के बावजूद उसकी निष्ठा में उपयोगी साधन न जानते हुए अन्य ही साधनों के अनुष्ठान में लगकर तत्त्वबोध से दूर बने रहते हैं। अद्वैत सिद्ध वस्तु है इस तथ्य के स्पष्टीकरण के उत्साह में बहुधा प्रारंभिक साधन न केवल उपेक्षित होते हैं वरन् वे व्यर्थ हैं ऐसा भ्रम भी हो जाता है जिससे जो अभी ज्ञान

अत्र पूर्वं कृतः प्रश्नो जनकेन महात्मना। अत्रिणा मुनिना तद्वद् याज्ञवल्क्यं प्रति द्विजम्।।१६
प्रजापतिं प्रति तथा कृत आरुणिना पुरा। नारदेन च तद्वत् स यथाऽयं भवता कृतः।।२०
ब्रह्मोपनिषदि स्पष्टः स्वयमेव समीरितः। अयं स परमो हंसो जाबालादिश्रुतावपि।।२१
अतः सर्वैः समुक्तं तं स्वप्रश्नार्थं मयेरितम्। सावधानमना भूत्वा शृणु वक्ष्यामि तेऽधुना।।२२

एतासामर्थप्रदर्शनम् आर्थक्रमेण यथाकाङ्क्षम् एकवाक्यतामापाद्य करिष्यत इति सूचयन् संन्यासप्रतिपादिकासु जाबालादिषु कीर्तितानि प्रश्नकर्तॄणां वक्तॄणां च नामान्याह— अत्रेति द्वाभ्याम्। अत्र परमहंसधर्मे जाबालोपनिषच्चतुर्थखण्डे जनकेन याज्ञवल्क्यं प्रति प्रश्नः कृतः। **पञ्चमखण्डे तु अत्रिणा कृत इत्यर्थः।।१६।।** प्रजापतिमिति। **तथाऽऽरुणेयोपनिषदि** आरुणिना प्रजापतिं प्रति स प्रश्नः कृतः। **परमहंसोपनिषदि तु नारदेन तं प्रति** स कृतः।।२०।। **ब्रह्मोपनिषदीति। तथा यः अयं जाबालादौ परमहंसः समीरितः स ब्रह्मोपनिषदि स्वयमेव प्रश्नोपन्यासमन्तरेणैव वेदेनोक्त इत्यर्थः।।२१।। फलितमाह—अत इति। सर्वैः जाबालाद्यैः प्रपञ्चितं स्वप्रश्नगोचरम् अर्थं** शृणु इति।।२२।।

का अधिकारी ही नहीं वह तत्त्ववेत्ता के आचार का अनुसरण करना चाहता है अतः सर्वथा भ्रष्ट हो जाता है। श्रवणादि व्यंजक साधन अत्यंत शुद्ध, विरक्त, श्रद्धालु और एकाग्रचित्त द्वारा ही अनुष्ठेय हैं। ऐसा जो नहीं वह सुन-सुना लेने पर भी *श्रवण* नहीं कर सकता, निश्चय पर नहीं पहुँच सकता। भाष्यकार ने इन अन्य उपनिषदों का सार अपने प्रकरणग्रन्थों में निहित किया है। आचार्य शंकरानंद ने अथर्वशिर, अमृतनाद, अमृतबिंदु, आरुणेयी, कैवल्य, कौषीतकी, गर्भ, जाबाल, परमहंस, ब्रह्म, हंस आदि साधनप्रधान उपनिषदों पर दीपिकाएँ भी लिखी हैं तथा आत्मपुराण में भी उनका संग्रह कर लिया है ताकि साधक को साधना की पद्धति उपलब्ध रहे। नारायण नामक आचार्य ने भी बहुत-सी ऐसी उपनिषदों पर व्याख्यान किया है। उपनिषद्ब्रह्मयोगी ने तो सारी १०८ उपनिषदों पर ही संक्षिप्त टिप्पण रच दिया है। यद्यपि विद्वानों ने माना है कि भगवान् भाष्यकार ने ब्रह्मात्मावबोध के लिये योग के उपयोग का कहीं व्युत्पादन नहीं किया तथापि उपनिषदों में जहाँ कहीं सूचित है वहाँ भाष्य में संयम की — धारणादिकी—साधनता मानी ही है और योगप्रत्युक्त्य-धिकरण में स्वीकारा है कि श्वेताश्वतर, कठ आदि में योग विहित है। पतंजलिप्रोक्तक्रम अनावश्यक होने पर भी *योग* का अनुपयोग भाष्यसंमत नहीं प्रतीत होता। भगवद्गीता-भाष्य में भी योग को निरुपयोग नहीं माना है वरन् ज्ञाननिष्ठा के साधनों में 'ध्यानयोगपरो नित्यम्' को स्पष्ट स्वीकारा है। प्रकरणों में तो अनेक जगह यह विषय उपलब्ध है। ज्ञाननिश्चय के अधिकार और ढंग में योग प्रधान सहायक है। योगशब्द से तुरंत पातंजलोक्त साधना ही नहीं समझ लेनी चाहिये, उपनिषदों में ही बहुत जगह योग व उसके अंग समझाकर बताये हैं। अतः पुराणकार इस अध्याय में साधनप्रधान उपनिषदों का उपदेश व्यक्त करेंगे। कुछ विचारक इन उपनिषदों को श्रौत मानने में संकोच करते हैं किंतु शंकरानंद स्वामी आदि अनेक आचार्य इन्हें श्रुति कहकर ही उद्धृतादि करते हैं और जिस न्याय से किसी भी वाक्यसंदर्भ को वेद माना जाता है उसी से ये वेद मानी जा सकती हैं। इनका कोई स्मर्यमाण रचयिता नहीं, इनकी पौरुषेयता प्रसिद्ध भी नहीं, परंपरा से ही ये उपलब्ध भी हैं तो इन्हें श्रौत न मानने का कोई आधार स्पष्ट नहीं होता। हर हालत में ये श्रुतिविरुद्ध नहीं वरन् श्रुति के अनुसारी, श्रुति को समझने के लिये ज़रूरी और श्रुतिविहित साधनों का विस्तार करने वाली हैं। अतः इनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। इस अध्याय में जाबाल, गर्भ, ब्रह्म, परमहंस, हंस, आरुणेय, क्षुरिका, अमृतनाद, महत्, आत्मप्रबोध और कैवल्य उपनिषदों का व्याख्यान होगा।)।।१७-८।।

हे शिष्य! जाबालोपनिषत्के चतुर्थ-पंचम खण्डों में बताया है कि प्राचीन काल में महात्मा जनक ने और अत्रिमुनि ने द्विज याज्ञवल्क्य से परमहंस-धर्मो के बारे में जिज्ञासा की थी।।१६।। आरुणेयोपनिषत् में बताया है कि आरुणि ने प्रजापति से इसी बारे में पूछा था। परमहंसोपनिषत् में कहा है कि भगवान् से देवर्षि नारद ने भी ऐसा ही प्रश्न किया

परमहंसाः

बृहस्पतेः सुरगुरोर्भ्राता यस्तु सहोदरः। विप्र आङ्गिरसो नाम्ना संवर्तक इतीरितः।।२३

आरुणस्य सुतो धीमानारुणिः सर्वशास्त्रवित्। उद्दालकः सुतस्तस्य श्वेतकेतुश्च सत्तमः।।२४

दुर्वासाः शङ्करस्यांशस्तपसां पतिरूर्जितः। ऋभुः प्रजापतेः पुत्रो मानसः सनकादिवत्।।२५

निदाघः स्याद् ऋभोः शिष्यः पुरा यः कर्मठोऽभवत्। भरतो जडनामापि भूपालो योन्यजन्मनि।।२६

विष्णोरंशस्तथैवैष दत्तात्रेयो महामुनिः। तथा रैवतकः कश्चिद् ब्राह्मणो गुणसंयुतः।।२७

भारद्वाजादयश्चान्ये विप्राः शास्त्रविशारदाः। अहं ब्रह्मेति विज्ञानात् परिक्षीणात्मबन्धनाः।।२८

अथ 'फलार्थं प्रवृत्तेच्छा साधनमपि गोचरयति' इति न्यायेन साधनानि निरूपयिष्यंस्तावत् फलावस्थविद्वत्संन्यासशालिनः परमहंसान् जाबालपञ्चमखण्डे दर्शितान् सह तद्धर्मैः वर्णयति—बृहस्पतेरित्यादि द्विचत्वारिंशता श्लोकैः। तत्र संवर्तो नाम बृहस्पतेर्भ्राता यस्य महिमा भारतेऽश्वमेधपर्वणि अपि[1] वर्णितः।।२३।। आरुणस्येति। द्वितीयः परमहंस आरुणाऽपत्यत्वाद् आरुणिसंज्ञो यस्य उद्दालक इति नामान्तरम्। तत्पुत्रः श्वेतकेतुसंज्ञस्तु तृतीय इत्यर्थः।।२४।। चतुर्थपञ्चमौ वर्णयति—दुर्वासा इति। शङ्करस्य[2] कालाग्निरुद्रस्य अवतारो महातपाश्च दुर्वासाः प्रसिद्धः। तथा ऋभुः ब्रह्मणो मानसः पुत्रः पुराणेषु ख्यात इति।।२५।। निदाघ इति। षष्ठः परमहंसो निदाघो नाम यः कर्मासक्तोऽपि ऋभुणा बहुशः प्रदर्शितात्मतत्त्वतया विष्णुपुराणे[3] वर्णितः। तथा भरतः सप्तमो यो मृगयोनिव्यवहितेऽतीतजन्मनि[4] राजाऽभूद् यन्नाम्ना भारतवर्षप्रसिद्धिरिति।।२६।। अष्टमो दत्तात्रेयः प्रसिद्धः। नवमस्तु रैवतकनामा कश्चिद् ब्राह्मणो, न तु क्षत्रियः, ब्राह्मणसाहचर्यविरोधाद् इत्याह— विष्णोरिति।।२७।।

श्रौत-'प्रभृति'-पदेन भारद्वाजशुकादयो ज्ञेया इति दर्शयंस्तेषां ब्रह्मभावप्राप्ततामाह— भारद्वाजादय

था जैसा अभी तुमने उठाया है। ब्रह्मोपनिषत् में एवं जाबाल आदि कई अन्य श्रुतिप्रसंगों में इस परमहंस धर्म का वेद ने अपनी ओर से खुलासा किया है।।२०-१।। इसलिये तुम्हारा प्रश्नक्षेत्र वह सभी है जिसका उक्त स्थलों पर वर्णन है। मैं भी वेदों में बिखरे हुए संन्यास-प्रसंगों को एकत्र कर तुम्हें अब सुनाऊँग, मन एकाग्र कर सुनो।।२२।।

तुमने पूछा था कि अब तक कौन विशिष्ट लोग परमहंस हुए हैं? सुरगुरु बृहस्पति के सहोदर भाई थे संवर्तक आंगिरस। वे ब्राह्मण विद्वान् परमंहस हो गये थे।।२३।। सारे शास्त्रों के जानकार आरुणि उद्दालक और उनका अतियोग्य पुत्र श्वेतकेतु—ये भी दोनों संन्यासी हो गये थे।।२४।। साक्षात् शंकर के अंशावतार, तपोधन, ऊर्जस्वी दुर्वासा सुप्रसिद्ध परमहंस हो गये हैं। सनकादि की तरह ब्रह्माजी के मानसपुत्र ऋभु अद्वैतनिष्ठ एवं कुशल उपदेशक संन्यासी थे। उन्हीं के शिष्य थे निदाघ जो पहले कर्मनिष्ठ ही थे पर अनेक तरह ऋभु द्वारा समझाये जाने पर ज्ञाननिष्ठ होकर संन्यस्त हो गये थे। पूर्वजन्म में जो राजा थे वे ब्राह्मण योनि में पैदा होकर जड भरत कहलाये, वे भी संन्यासियों में आदर्श पुरुष माने जाते हैं।।२५-६।। भगवान् विष्णु के अंश से उत्पन्न अत्रिपुत्र महामुनि दत्त तो मानो पारमहंस्य धर्म के चलते-फिरते रूप ही हैं। एक सद्गुणसंपन्न रैवतक नामक ब्राह्मण भी निष्ठावान् परमहंस हुए हैं।।२७।।

१. दशमाध्याये। अनुशासने ८५.३०, शान्तौ २६.२० अन्यत्र चोल्लेखः।
२. ब्रह्माण्डपुराणे अ.४४।
३. अंश. २ अध्या.१५-१६।
४. भागवतपञ्चमे।

न मुण्डा नैव जटिला नैकदण्डादिधारिणः। न श्वेतवसना नैव एते ते रक्तवाससः। ।२९
आचारोऽपि तथैवैषामव्यक्तो ब्रह्मवादिनाम्। अव्यक्ताचारवान् नित्यं पुमानेवं व्यवस्थितः। ।३०
अव्यक्तमतिरव्यक्ताकृतिरव्यक्तलिङ्गकः। जातोपेक्षः स सर्वत्र प्रसक्त इव च क्वचित्। ।३१
सर्वज्ञवत् क्वचिद् भाति त्वज्ञवच्छ्रुतहीनवत्। बहुश्रुतवदेकत्र जडवद् मूकवत् क्वचित्। ।३२
रागान्धवत् क्वचिद् भाति विरक्त इव च क्वचित्। असतां चरिते सक्तः क्वचित् सुमहतामपि। ।३३
अयं सन्नथ वाऽसन् वा ह्यश्रुतो वा बहुश्रुतः। सुवृत्तो वाऽपि दुर्वृत्तो जनैर्ज्ञातुं न शक्यते। ।३४
ब्राह्मणो वा श्वपाको वा यतिर्वाऽप्यथ वा गृही। निपुणेनाऽपि न ज्ञातुं शक्यो वर्णाश्रमादिना। ।३५
दत्तात्रेयो यथा पूर्वं रेवायां जलमध्यगः। अर्जुनेन वितर्क्याऽपि न ज्ञातश्चक्रवर्तिना। ।३६

इति। ।२८। । तेषामव्यक्तलिङ्गतामाह— न मुण्डा इति। मुण्डा मुण्डिताः। ते प्रसिद्धाः एते न रक्तवाससः। ।२९। । तथैतेऽव्यक्ताचारा इत्याह— आचार इति। अव्यक्ताचारः कीदृशो भवतीति चेद्? इत्थमित्याह— अव्यक्ताचारवानिति। एवम् इत्थम्। ।३०। । 'एवम्'-पदार्थं प्रपञ्चयति— अव्यक्तेत्यादिना। अव्यक्ताऽलक्षिता मतिर्यस्य स तथा। ।३१। । सर्वज्ञवदिति। श्रुतं शास्त्रम्। 'श्रुतमाकर्णिते शास्त्रे' इति हैमः। एकत्र क्वचित्। ।३२। ।

रागान्धेति। स्पष्टम्। ।३३। । 'यं न सन्तं न चाऽसन्तं नाऽश्रुतं न बहुश्रुतम्। न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः। ।' इति स्मृतावपि एष एवोक्त इत्याह— अयमिति। अयम् अव्यक्तलिङ्गः पुरुषः सन् सज्जनः, असन् तद्विपरीतः, सुवृत्तः सदाचारः। ।३४। । ब्राह्मणो वेति। अयं कुशलेनाऽपि ब्राह्मणादिवर्णैः ब्रह्मचर्याद्याश्रमैश्च विशिष्टतया न ज्ञातुं शक्य इति। ।३५। ।

उक्तेऽर्थे दत्तात्रेयवृत्तं दत्तात्रेयसंहितायां प्रसिद्धमुदाहरणतया आह— दत्तात्रेय इति त्रिभिः। रेवा नर्मदा। शास्त्र-मर्म के ज्ञाता भारद्वाज आदि अन्य ब्राह्मण भी हो गये हैं जिन्होंने 'मैं ब्रह्म हूँ' इस विज्ञान से अपने बंधन खोल लिये थे। ये भी थे सर्वकर्मसंन्यासी पर इस बात का कोई चिह्न ये प्रदर्शित नहीं करते थे। न ये नियमतः सिर मुँडाते ही थे और न जटाएँ ही बढ़ाये थे। एकदण्ड आदि शास्त्रीय यतिचिह्न भी इन्होंने धारण किया नहीं था। न इनका नियम सफेद कपड़ा पहनने का था न लाल कपड़ा। ।२८-९। । इन ब्रह्मवादियों का आचार भी अव्यक्त था। अव्यक्ताचार वाला पुरुष हमेशा इस तरह रहता है :। ।३०। । अपनी बुद्धि का प्रदर्शन नहीं करता, एकांतवासी होने से उसकी आकृति भी छिपी ही रहती है, उसके धर्म को प्रकट करने वाला कोई चिह्न नहीं होता। सारे अनात्मवर्ग की ओर उसे उपेक्षा ही रहती है, भले ही कभी किसी विषय में संलग्न जैसा दीख जाये। ।३१। । अत्यन्त योग्य अधिकारी पर कृपा कर दे तो कभी लगता है मानो वह सर्वज्ञ है। वैसे अज्ञानी-सा, वेद न जानने वाले जैसा वह प्रतीत होता है। शास्त्रीय मर्यादाओं की, संप्रदाय की सुरक्षा आदि के मौके पर पता चलता है कि उसने बहुत अध्ययन किया है लेकिन यों वह अनजान गूँगे जैसा रहता है। ।३२। । प्रारब्ध से आक्षिप्त व्यवहार में कभी लगता है कि वह राग से मानो अंधा है तो कभी वैराग्यवान् जैसा प्रतीत होता है जबकि वह तो वीतराग है। कभी असज्जनों के चरित्र में उसकी रुचि प्रतीत होती है व कभी अतिश्रेष्ठ महापुरुषों के! ।३३। । जनसामान्य यह निश्चय नहीं कर पाता कि ऐसा पुरुष सज्जन है या दुर्जन, अनपढ़ है या विद्वान्, सदाचारी है या दुराचारी, ब्राह्मण है या चाण्डाल, संन्यासी है या गृहस्थ। व्यवहारकुशल व्यक्ति भी उसके वर्ण आश्रम आदि को सही नहीं पहचान सकता। ।३४-५। । उदाहरणार्थ जब दत्तात्रेय नर्मदा के बीच थे तब चक्रवर्ती सहस्रार्जुन सोच-विचार कर भी सहसा उन्हें समझ नहीं पाया। वे सूर्य-से आभामण्डित युवा लाल कपड़े धारण किये थे, एक हाथ में पान-पात्र (पीने का बर्तन) व दूसरे में दण्ड लिये थे। उनके वामांग पर

रक्ताम्बरधरः श्रीमान् युवा सूर्यसमप्रभः। पानपात्रं करे बिभ्रदेकस्मिन् दण्डमन्यतः।।३७
वामाङ्गे वामनयनां मदघूर्णितलोचनाम्। वीक्ष्यमाणो मुहुर्ब्रह्म वदन् वाचा सनातनम्।।३८
एतेषां पदवीमज्ञो गच्छन् शीघ्रमधो व्रजेत्। इयं जन्मसहस्रान्ते दुर्लभा मानुषैः सदा।।३९
एते ब्रह्मात्मविज्ञानाद् ब्रह्मीभूता यतीश्वराः। पुण्यपापे उभे तीर्त्वा वर्तन्ते परमे पदे।।४०
एतेषु येऽत्र सम्प्रीताः पुरुषा भक्तिसंयुताः। तेभ्यः स्वसुकृतं सर्वं प्रयच्छन्ति सुखप्रदम्।।४१
य एतेषु सदा द्वेषं दुरात्मानः प्रकुर्वते। तेभ्यस्ते पातकं सर्वं प्रयच्छन्त्यत्र दुःखदम्।।४२

अर्जुनः सहस्रबाहुः।।३६।। रक्ताम्बरेति। एकस्मिन् करे पानपात्रम्, अन्यस्मिन् यतिचिह्नं दण्डं धारयन्।।३७।। वामाङ्ग इति। वामाङ्गे स्थितां योषितं पश्यन् सनातनं ब्रह्म श्रुतिवाक्यैः वदंश्च अर्जुनेन न ज्ञात इत्यधस्तात् सम्बन्धः।।३८।।

लोकसङ्घट्टवारणार्थं, दोषाऽस्पर्शलक्षणविद्याफलाभिव्यक्तये वा ईश्वरैरेतादृशमाचरणं क्रियते तथापि अनीश्वरेण तथा न कर्तव्यम्, अरुद्रस्य विषादनवद् अनर्थहेतुत्वाद् इत्याह— एतेषामिति। एतेषां सिद्धानां; इयं सिद्धावस्था जन्मसहस्रान्ते'ऽपि' इति शेषः।।३९।। एषां तु अयुक्ताचरणे न दोषः ब्रह्मविद्याप्रभावाद् इत्याह— एत इति।।४०।। एतेषां सुकृतं भक्तिमत्सु गच्छति, दुष्कृतं तु द्वेषवत्सु, 'सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्'[1] इति श्रुतेरित्याह — एतेष्विति द्वाभ्याम्। एतेषु विद्यासिद्धेषु। ते विद्वांसः। इति द्वयोरर्थः।।४१-२।।

सुंदर नेत्रों वाली सुंदरी बैठी थी जिसकी आँखें नशे से घूम रही थीं और श्रीमान् दत्त उस पर टकटकी लगाये बार-बार श्रुतिवाक्यों द्वारा सनातन ब्रह्म के बारे में बोल रहे थे!।।३६-८।।

इन सिद्धों के पदचिह्नों पर अज्ञानी चले तो तुरन्त अधोगति ही पाता है जैसे रुद्र की देखा-देखी विष खाने वाला मर जाता है। हज़ारों जन्मों की लगातार साधना के बाद भी मानवों को यह अवस्था दुर्लभ ही है।।३९।। ये यतीश्वर ब्रह्मात्मविज्ञान से ब्रह्म हो चुके हैं, पुण्य व पाप दोनों को लाँघ कर परम पद में स्थित हैं। (इनका अव्यक्त आचारादि तो भीड़-भाड़ दूर रखने के लिये और ब्रह्मविद्या का यह प्रताप दिखाने के लिये है कि आत्मा दोषों से सदा अस्पृष्ट है। किं च आचार आदि नियम देहादि में अभिमान वाले पर लागू होते हैं। साधारण ब्रह्मवेत्ता भी बालकपन से पड़े संस्कारों के कारण ही आचारादि पालन कर पाता है। इन सिद्धों का अभिमान तो न जाने कितने जन्म पूर्व ही स्थगित हो गया था! अतः इन पर सामान्य मानवीय नियम लागू ही नहीं होते कि ये उन्हें करते हैं या नहीं यह सोचा जाये। प्रायः ब्रह्मज्ञ में तो मनुष्याभिमान भी माना जाता है, भले ही उसकी अवास्तविकता भी भासती रहे। 'न खल्वयं सर्वथा मनुष्याभिमानरहितः, किन्तु अविद्यासंस्कारानुवृत्त्याऽस्य मात्रया तदभिमानोऽनुवर्तते' (भाम.पृ.५९) ऐसा वाचस्पति ने बताया है। जबकि पूर्वोक्त सिद्धों में ऐसा भी अभिमान नहीं होता। अतः उनका अव्यक्ताचार आदि ही उचित है।)।।४०।।

संसार में जो लोग इन सिद्धों पर भक्ति रखते हैं उन पर प्रसन्न होकर ये अपना सुखप्रद सारा पुण्य प्रदान कर देते हैं। जो दुरात्मा इन पर सदा द्वेष रखते हैं उन्हें ये अपना सारा दुःखद पाप दे देते हैं।।४१-२।। इस प्रकार अनंत जन्मों में इकट्ठे किये पुण्य-पाप फल समेत अन्यों को देकर कर्मफल की भूमिका से परे हुए रहते हैं।।४३।।

---

१. 'एकेषां शाखिनाम् 'सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति' इति।'—सूत्राभाष्ये ४.१.१७। तत्रैव ३.३.२७ तमे'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति। कौषीतक्यां 'तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्ति अप्रिया दुष्कृतम्'(१.४), पुराणे (६.११२२) सन्दर्भोऽस्य दर्शितः।

एवं पुण्यं तथा पापं जन्मकोटिशतार्जितम्। दत्वा फलेन सहितं लोकातीताः समासते।।४३
आशाम्बराः क्वचिच्चैते दुकूलवसनाः क्वचित्। विण्मूत्रलेपनाः क्वाऽपि क्वाऽपि चन्दनचर्चिताः।।४४
क्वचिद्धसन्ति सहसा क्वचिद्गायन्ति वल्गिताः। आस्फोटयन्ति धावन्ति पिशाचा इव च क्वचित्।।
क्रीडन्ति बालकैः सार्धं क्वचिदेते गतस्पृहाः।।४५
अकारणं रुदन्त्येते क्वचिल्लोके प्रताडिताः। बद्धाश्च सुखमागत्य गर्जन्ति जलदा इव।।४६
एवमुन्मत्तवच्चेष्टां कुर्वन्तो लोकमोहकाः। अनुन्मत्ता महाभागा यमानामविलोपकाः।।४७
तथा चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन्। जना यथाऽवमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम्।।४८
एतद्वचनमालोक्य प्रवर्तन्ते महाधियः। चेष्टासु विविधास्वत्र सर्वचेष्टाविवर्जिताः।।४९
यथा ज्वलन् महावह्निः शुष्कमार्द्रं च निर्दहेत्। तथा शुभाऽशुभं कर्म तेषां ज्ञानाग्निरप्ययम्।।५०

फलितमाह—एवमिति। इत्थं फलसहितं कर्मजातं परत्र क्षिप्त्वा स्वयं लोकं कर्मफलमतिक्रामन्ति इत्यर्थः।।४३।।

अथ तेषाम् अनुन्मत्तानाम् उन्मत्तवद् आचरणमभिनयति—आशाम्बरा इति चतुर्भिः। आशाम्बरा दिगम्बराः।।४४।। क्वचिद्धसन्तीति। वल्गिता इत्यर्शआद्यजन्तम्; तथा च वल्गितमश्वगतिविशेषः तद्वन्तः, इतस्ततः कूर्दन्त इति यावत्। आस्फोटनं स्फालनम्।।४५।। अकारणमिति। प्रताडिता बद्धाश्च गर्जन्ति इति।।४६।। एवमिति। स्वतत्त्वे लोकानां व्यामोहार्थम् उक्तविधचेष्टां कुर्वन्तः अप्येते अनुन्मत्ता एव, यमानाम् अहिंसासत्याऽस्तेय-ब्रह्मचर्याणाम् अलोपकत्वाद् इत्यर्थः।।४७।।

स्वतत्त्वगोपनार्थम् एतादृशाचरणं योगशास्त्रे विहितम् इति दर्शयितुं तद्वचनं पठति— तथेति। धर्मं यमनियमादिरूपम् अदूषयन् रक्षयन्।।४८।। एतद्वचनमिति। एतद्वचनानुसारेणैव विविधाः क्रियाः कुर्वन्ति महात्मान इत्यत एव दत्तात्रेयचरिते पानपात्रस्य करे धारणमेवोक्तं, न तु पानम् इत्यादि बोध्यम्।।४९।। एतेषां दोषस्पर्शाऽभावं सदृष्टान्तमाह— यथेति। स्पष्टम्।।५०।।

सिद्ध महात्मा कभी दिगम्बर तो कभी दुकूल पहने रहते हैं, कभी विष्ठा-मूत्र लपेटे तो कभी चंदन से सज्जित रहते हैं।।४४।। कभी अचानक हँस पड़ते हैं, कभी कूदते हुए नाचते हैं, कभी पिशाचों की तरह ताली पीट कर भाग जाते हैं। ये निरीह सन्त कभी बालकों से ही खेलने लगते हैं।।४५।। बिना कारण ही ये कभी रो भी देते हैं। संसार में कभी प्रताडित होने पर, बाँधे जाने पर या सुखी होकर बादल जैसे गर्जने लगते हैं।।४६।। साधारण लोगों को उनके बारे में सही-सही न पता लगे ऐसा उन्मादी जैसा आचरण करते हुए ये महोदय कभी उन्मादी नहीं होते, अहिंसादि यमों का इनके जीवन में कभी लोप नहीं होता।।४७।। अध्यात्मशास्त्रों में कहा है 'सत्पुरुषों के यमादि धर्म का पालन करते हुए योगी वैसा आचरण करे जिससे लोग उसका अवमान करें अतः उससे संगति न रखें।' महाबुद्धिमान् सिद्ध इन वचनों का विचार कर उक्त प्रकार की चेष्टाओं में प्रवृत्त होते हैं जबकि सभी चेष्टाओं से रहित हैं।।४८-९।। जैसे धधकती हुई बड़ी भारी आग सूखा-गीला सब जला डालती है वैसे उनका शुभ-अशुभ कर्म यह ज्ञानाग्नि भस्मसात् कर देती है।।५०।।

सब कुछ खा जाने वाली अग्नि को देखकर जैसे कोई मोह में पड़कर स्वयं वैसे ही सब खाने लग जाये तो

सर्वभक्षं यथैवाग्निं दृष्ट्वा कश्चिद् विमोहितः। स्वयं तथा प्रवृत्तः संस्तत्क्षणादेव नश्यति।।५१
एवं परमहंसानां वृत्तिमेतामलौकिकीम्। अन्योऽत्र परमो हंसः साक्षात्कारविवर्जितः।
कुर्वन् विनाशमायाति दुःखं लोकद्वयेऽपि सः।।५२
विदुषामेष संन्यासः स्वयं जातः फलात्मकः। कर्तव्यता न काऽप्यत्र विद्यते फलजन्मनि।।५३
त्रिसन्ध्यं नैव च स्नानं न समाधिश्च विद्यते। यतस्तेषां सदैवाऽस्ति समाधिर्ब्रह्मवेदिनाम्।।५४
आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् पिबन्। शयानो ब्रह्मविन्नित्यं तिष्ठत्येव समाहितः।।५५
देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि। यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।।५६
आपञ्चमाद् यथा वर्षाद् न विधिर्न निषेधनम्। शिशोस्तथैव विदुषां न निषेधो विधिर्न च।।५७

एतेषामाचरणं दृष्ट्वा मन्दोऽपि तथाऽऽचरन् पततीति सदृष्टान्तमाह—सर्वेति द्वाभ्याम्। तथा अग्निवत् सर्वभक्षणे प्रवृत्तो नश्यति पतति। एवं दत्तात्रेयादिवद् वर्तमानोऽन्यः साक्षात्कारहीनत्वेन तद्विलक्षणः परमहंसो यतिः पततीत्यर्थः।।५१-२।।

एतेषां तु शास्त्रातिक्रमेऽपि न दोष इत्यत्र हेतुतया विधिगोचरत्वाऽभावमाह—विदुषामिति। विदुषां साक्षात्कारवताम् एष उक्तविधसंन्यासः स्वयं जातः विधिप्रयुक्तो न भवति, फलरूपत्वेन अनुपादेयत्वात्। कृतिसाध्यत्वलक्षणोपादेयत्वशालि हि विधेयं भवति—इति सिद्धान्तः। यथा चाऽस्मिन् संन्यासे विधियोग्यतालक्षणा कर्तव्यता न अस्ति, तथा बहिरङ्गान्तरङ्गेषु साधनेषु अपि नास्ति, फलोत्पत्तौ साधनैः प्रयोजनाऽभावाद् इत्याह—कर्तव्यतेति। फलजन्मनि सति अत्र साधनजाते कर्तव्यता काऽपि शास्त्रसिद्धा न्यायसिद्धा वा न विद्यत इत्यर्थः।।५३।। साधनेषु कर्तव्यताऽभावमेव स्फुटयति—त्रिसन्ध्यमिति। एतान् प्रति त्रिकालस्नानं न विधीयते, तत्फलस्य शुद्धेः सिद्धत्वात्। न अपि समाधिः, तस्य स्वरूपतः फलतश्च सिद्धत्वाद् इत्यर्थः।।५४।। तत्र समाधेः स्वरूपतः सिद्धिमभिनयति— आसीन इति। आसीनो बद्धासनः। संविशन् प्रसारितकायः। तिष्ठन्नुत्थितः। शयानो निद्रितः। एतास्ववस्थासु समाहितः समाधिमानेव विद्वांस्तिष्ठति इत्यर्थः।।५५।।अत्रार्थे साम्प्रदायिकवाक्यं[1] संवादयति—देहाभिमान इति।।५६।।

एतेषु प्रमातृत्वाभिमानाभावादेव न प्रमाणप्रवृत्तिरिति सदृष्टान्तमाह—आपञ्चमादिति।शिशोर्यथा पञ्चमवर्षपर्यन्तं विध्याद्ययोग्यत्वं तथाऽस्याऽपीत्यर्थः।।५७।। तत्र हेतुतया प्रमातृत्वोपपादिकाया भेददर्शनलक्षणाया अविद्याया

उसी क्षण नष्ट हो जाता है वैसे परमहंसों के लोकातीत व्यवहार को देखकर ऐसा परमहंस जिसे साक्षात्कार नहीं हुआ है वह करने लग जाये तो इहलोक व परलोक में दुःख और विनाश ही प्राप्त करता है।।५१-२।। ब्रह्मविद्यासम्पन्न ऐसे सिद्धों का फलरूप संन्यास स्वयमेव होता है। फल उत्पन्न हो चुकने पर साधनों की कोई कर्तव्यता शास्त्र-युक्ति से सिद्ध नहीं। (विधिप्रयुक्त संन्यास में धर्मपालन रहता है। सिद्धों ने किसी विधि से प्रेरित होकर तो संन्यास किया नहीं, अकर्त्रात्मबोध से स्वतः उनके समस्त कर्म छूट गये हैं। अतः उन पर कोई कर्तव्य का बोझ नहीं है।)।।५३।। ब्रह्मवेत्ता हमेशा ही समाधिमग्न हैं अतः उनके लिये जब समाधि लगाने की ही विधि नहीं तब सुबह-दोपहर-शाम स्नान करने आदि की विधि कैसे होगी?।।५४।। बैठता, लेटता, खड़ा होता, खाता, घूमता, पीता, सोता— हमेशा ही ब्रह्मज्ञ समाहित ही रहता है।।५५।। सम्प्रदाय के जानकार कह गये हैं कि परमात्मा का विज्ञान होने पर जब देहाभिमान समाप्त हो गया तब जहाँ-जहाँ मन जाता है वहीं-वहीं समाधि है।।५६।। पाँच वर्ष की उम्र तक के बच्चे पर जैसे विधि-निषेध लागू नहीं होते वैसे परमात्मवेत्ता पर भी वे लागू नहीं होते।।५७।। पूर्वोक्त जैसे परमहंस अपने देह और कुत्ते की टट्टी में कोई विषमता नहीं देखते, क्रिया-मन-वाणी से कोई विषम व्यवहार नहीं करते।।५८।। विविध बेशकीमती

1. 'तत्र तत्र परामृतम्' इति चतुर्थपादं पठित्वाऽयं सरस्वतीरहस्योपनिषदि (५५) दृश्यते।

निजं देहं तथा विष्ठां शुन एते द्वयं हि तत्। विषमं नैव पश्यन्ति कर्मणा मनसा गिरा।।५८
दुकूलैर्विविधैस्तद्वल्लेपनैश्च मनोरमैः। सुगन्धैः सुमनःसङ्घैरन्नाद्यैश्चाऽपि पूजिताः।।
अणुमात्रमिमे हर्षं नैव यान्ति कदाचन।।५९
छेदे भेदे तथा देहे बन्धने ताडनेऽपि च। भर्त्सनादौ विषादं च मनसाऽपि न यान्ति ते।।६०
लिम्पेद्यश्चन्दनैरेतांश्छिन्द्याद् योऽपि च वास्यया। तयोस्तथा स्वदेहे च सदा ते समबुद्धयः।।६१
शत्रुर्मित्रमुदासीनः स्वः परश्च न विद्यते। तेषां ब्रह्मात्मनां नित्यमभेदमनुपश्यताम्।।६२
न शीतं नाऽपि चोष्णं वा पिपासा न क्षुधा न च। शोकमोहारयो नैव न जरामरणादयः।।६३
मानापमानौ द्वावेतौ प्रीत्यप्रीतिकरौ नृणाम्। तेषामेते च कुरुतो नैतेषां समचेतसाम्।।६४
एवं ते परमा हंसा उक्ता एते ह्यलौकिकाः। फलावस्था महाभागा विद्वांसः समदर्शिनः।।
यैरयं चरितः पूर्वं धर्मोऽत्यन्तं सुदुश्चरः।।६५

अभावमाह—निजमिति। एते परमहंसाः स्वकीयदेहं, शुनो मलं च विषमं न पश्यन्ति अत एव ते हर्षादिरहिता इत्याह—कर्मणेत्यादिना। कर्मणा शरीरव्यापारेण, वाङ्मनसव्यापारेण च, तथा दुकूलादिभिश्च आराधिताः किञ्चिदपि न हृष्यन्ति। इति द्वयोरर्थः।।५८-६।। द्वेषाभावमाह—छेद इति। देहनिष्ठे छेदनादौ सति न विषीदन्तीति।।६०।। लिम्पेदिति। वास्या तक्षोपकरणम्। तयोः पूजक-च्छेदकयोः। स्वदेहे प्रेमास्पदत्वेन प्रसिद्धे च समं निर्दोषम् आत्मतत्त्वमेव पश्यन्तीत्यर्थः।।६१।। अत एव तेषां शत्रुमित्रादिकं नास्तीत्याह—शत्रुरिति। स्वः स्वकीयः।।६२।। अत एव ते द्वन्द्वातीता इत्याह— न शीतमिति।।६३।। मानापमानाविति। मानापमानौ नृणां प्रीत्यप्रीतिकरौ प्रसिद्धौ। तेषां नृणां कार्यत्वेन सम्बन्धिनौ मानापमानौ एतेषां परमहंसानाम् एते प्रीत्यप्रीति न कुरुतः समदर्शित्वाद् इत्यर्थः।।६४।। फलावस्थपरमहंसवर्णनम् उपसंहरति—एवं त इति। ते संवर्तादयः। धर्मो ज्ञाननिष्ठात्मकः।।६५।।

वस्त्रों से, मनोरम सौन्दर्य प्रसाधनों से, सुगंधित पुष्पगुच्छों से, अन्न आदि से पूजे जाकर भी इन्हें कभी उससे अणु जितना भी हर्ष नहीं होता।।५९।। देह में छेद हो जाये या आर-पार गड्ढा हो जाये, उसे बाँध दिया जाये, पीटा जाये या उसकी भर्त्सना की जाये, इन महापुरुषों के मन में भी उससे कोई विषाद नहीं होता।।६०।। जो इन पर चंदन का लेप करे और जो इन्हें बसूले से छील डाले, उन दोनों को और अपने शरीर को ये हमेशा समभाव से ही देखते हैं, इन्हें सर्वत्र सम निर्दोष ब्रह्म ही भासता है। (ऐसा नहीं कि पूजक-छेदक-निजदेह का भेद देखकर विवेकपूर्वक आत्मदर्शन करें वरन् इन्हें भासता ही केवल ब्रह्म है।)।।६१।। हमेशा अभेद का अनुदर्शन करने वाले ब्रह्मस्वरूप उन महात्माओं का शत्रु, मित्र, उदासीन, अपना, पराया कोई नहीं होता।।६२।। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-मृत्यु आदि सभी द्वन्द्वों से ये परे हैं।।६३।। लोगों को सम्मान प्रसन्नता और अपमान अप्रसन्नता देता है किंतु इन समचेता संन्यासियों को लोगों द्वारा किये सम्मान या अपमान से न प्रसन्नता होती है न दुःख।।६४।। संवर्तादि जिन परमहंसों का उल्लेख किया वे इसी ढंग के अलौकिक सिद्ध थे। सारी चेष्टाओं का चरम फल मोक्ष ही उनकी अवस्था थी, उन्हें जगा-सोया आदि हम लोगों की अवस्थाओं वाली नहीं समझना चाहिये। अनंत जन्मों के पुण्यों के प्रताप से वे विद्वान् समदर्शी हुए थे। उन्होंने जो यह परमहंसधर्म का आचरण किया उसका आचरण वह कभी नहीं कर सकता जो उन्हीं की स्थिति पा नहीं चुका है। सामान्य तत्त्वनिष्ठ भी कोशिश करके भी उनके धर्म का पालन नहीं कर सकता तो अन्यों की बात क्या!।।६५।।

वैराग्य को भूले बैठे लोग सोचते हैं के सत्ययुग, त्रेता आदि में ही संन्यास धर्म व्यवस्थित रूप से होता था,

अथ गर्भोपनिषद्व्याख्या

काले च नियतिर्नैव विद्यते कस्यचित् क्वचित्। एवं विरागं सन्त्यज्य जातं सर्वत्र निश्चितम्।।६६

गर्भोपनिषदि प्रोक्तशरीरस्थितिबोधनात्। प्रायः संजायते सोऽपि विशुद्धमनसां नृणाम्।।६७

सर्वेषामपि देहोऽयं ब्रह्मणश्च शुनस्तथा। पञ्चभूतात्मको नित्यं भौतिकैः समधिष्ठितः।।६८

पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च। महाभूतानि पञ्चैव कीर्तितानि मनीषिभिः।।६९

स्थूलसूक्ष्मदेहः

एतानि कथितो देहः स्थूलः सूक्ष्मश्च देहिनाम्। स्थूलसूक्ष्मस्वरूपेण वर्तमानानि सर्वशः।।७०

अस्य साधनं पर वैराग्यमिति व्यतिरेकमुखेनाह—काले चेति। विरागं सन्त्यज्य वर्तमानेषु जनेषु एवं निश्चयो जातः। 'एवं' कथम्? यतः काले कृतत्रेतादिरूपे नियतिः व्यवस्थितधर्मप्रवर्तकत्वरूपा विद्यतेऽत इदानीमयं पारमहंस्यधर्मः क्वापि न अस्तीत्यर्थः। विरक्तास्तु तं धर्ममपरोक्षं कुर्वन्तीति भावः।।६६।। तादृशवैराग्याय च गर्भोपनिषदोऽर्थो विचार्य इत्याह—गर्भोपनिषदीति। स पारमहंस्यप्रयोजको विरागः अपि शुद्धधियां गर्भोपनिषदुक्तशरीर-व्यवस्थाऽऽलोचनाद् भवतीत्यर्थः।।६७।।

अथ गर्भोपनिषदि शरीरस्थितिप्रतिपादकस्य 'पञ्चात्मकम्' इत्यादिमन्त्रस्य[1] 'नवकपालम्' इत्यादेरन्त्यग्रन्थस्य चार्थं श्लोकानां पञ्चषष्ट्युत्तरत्रिशतेन उपबृंहयन्; तत्र पञ्चात्मकत्वं पञ्चसु वर्तमानत्वं च स्थूलसूक्ष्मशरीरारम्भकाणां भूतानामाह—सर्वेषामित्यादिना 'अयं पञ्ची कृतो देहः' (श्लोक. १०१) इत्यतः पूर्वेण ग्रन्थेन। हिरण्यगर्भशरीरमारभ्य शुनः शरीरपर्यन्तं सर्वदेहानां पञ्चभूतात्मकत्वं भौतिकैः इन्द्रियादिभिः अधिष्ठितत्वं च सममित्यर्थः।।६८।। एतदेव स्फुटयति—पृथिव्याप इति। पृथिव्यादीनि पञ्च भूतानि प्रसिद्धानि। एतन्मयान्येव सर्वाणि स्थूलानि सूक्ष्माणि च शरीराणि। इति द्वयोरर्थः।।६९-७०।।

आज कहीं नहीं है! किंतु वैराग्यवान् अब भी उस धर्म को अपरोक्ष जानते हैं। (यद्यपि उक्त ढंग से व्यक्त करने में अक्षम हैं तथापि आत्मा को क्रिया-कारकवर्जित जानते ही नैष्कर्म्य स्वतःसिद्ध ही है। न केवल संन्यास धर्म वरन् सभी धर्मों में यही न्याय है : झूठों को लगता है कि हरिश्चंद्र-युधिष्ठिर के साथ ही सत्य का समय चला गया पर सच्चे लोग आज भी स्वयं की सचाई के गवाह हैं। शास्त्रीय मर्यादा अत्यन्त कठिन हो सकती है, लगभग असंभव भी हो सकती है किंतु बिल्कुल असंभव कभी नहीं होती। व्यायामादि करने वाले नट आदि के कुछ करतब (सर्कस आदि में) देखने पर असंभव लगते हैं : असंभव हों तो दीखें कैसे! संसारभर में चाहे दो-एक लोग ही वैसा कर पायें पर किये जा *सकते* अवश्य हैं। यही बात शास्त्रोक्त धर्म की है, उसके पालन में अनंत कठिनाइयाँ आ सकती हैं पर नहीं कर *सकते* कहना ग़लत है। स्वयं की योग्यता परख कर इतना समझ सकते हैं कि हम किस हद तक कर सकते हैं पर 'कोई नहीं करता या कर सकता' कहना ठीक नहीं। अतः परमहंसधर्म सदा सामयिक है, विवेक वैराग्यादि बढ़ाकर तत्त्वबोध पाकर उसे पूर्णतः परिपक्व कर ले तो आज भी परमहंसवृत्ति उपलब्ध हो जायेगी। जो तो कलियुग में अकर्तव्य बताया जाता है वह तत्त्वज्ञान का फलभूत संन्यास नहीं वरन् पुराणादि-प्रसिद्ध संन्यास ही हैं। कलिवर्ज्यता स्मृति-पुराणादि में विहित धर्मों पर ही लागू हो सकती है, सनातन वैदिक धर्म पर नहीं। वैदिक धर्म कोई न करे यह हो सकता है पर उसे करना नहीं *चाहिये*—यह नहीं हो सकता! ग़लत ढंग से तो नहीं करना चाहिये पर वह सर्वथा अकर्तव्य नहीं हो सकता)।।६६।।

जिससे संन्यास संभव है वैसा वैराग्य पाने के लिये गर्भोपनिषत् के अर्थ का विचार करना चाहिये : विशुद्ध मन वाले पुरुषार्थियों को गर्भोपनिषत् में बतायी शरीर की स्थिति के ज्ञान से प्रायः वह वैराग्य प्राप्त हो जाता है जो संन्यासमार्ग पर ले चलता है।।६७।।

---

१. 'पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानं षडाश्रयं षड्गुणयोगयुक्तम्। तं सप्तधातुं त्रिमलं द्वियोनिं चतुर्विधाऽऽहारमयं शरीरम्।'

चक्षुः श्रोत्रं तथा घ्राणं रसनं स्पर्शनं त्वपि। ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च स्युः पञ्च कर्मेन्द्रियाण्यपि।।
वागुपस्थो तथा वायुः करौ पादौ च पञ्चमौ।।७१
अन्तःकरणमत्रोक्तं द्विविधं वेदवादिभिः। ज्ञानस्य च क्रियायाश्च हेतुः सर्वत्र संस्थितम्।।७२
क्रियाहेतुरयं प्राणः पञ्चधा दशधाऽपि वा। प्राणोऽपानस्तथोदानः समानो व्यान एव च।।
नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः।।७३
चतुर्विधं भवेज्ज्ञानहेतुरन्तः स्थितं च तत्। हार्दस्य देहे पद्मस्य सर्वेषामपि देहिनाम्।
मनो बुद्धिस्तथा चित्तमहङ्कार इतीरितम्।।७४
सूक्ष्मैर्भूतैः समं सूक्ष्मं सूक्ष्मदेहमिदं शृणु। स्थूलैर्भूतैस्तथा स्थूलं स्थूलं देहं वदन्त्यपि।।७५

तत्र सूक्ष्मभूतारब्धान् सूक्ष्मशरीरावयवानाह—चक्षुरिति चतुर्भिः। सात्त्विकभूतांशारब्धानि चक्षुरादीनि। राजसैस्तैरारब्धानि तु वागादीनि कर्मेन्द्रियाणीति विभागः।।७१।। भूतानां सात्त्विकांशसमुदायाद् राजसांशसमुदायाच्च उत्पन्नत्वेन ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्तिनामकं द्विविधमन्तःकरणं बोध्यमित्याह—अन्तःकरणमिति। अत्र सूक्ष्मशरीरे सर्वत्र सर्वस्मिन् घटकतया सम्यक् स्थितम् अन्तःकरणं ज्ञान-क्रियारूपकार्यद्वयहेतुत्वेन द्विविधमित्यर्थः।।७२।। तत्र क्रियाशक्तेः प्राणस्य भेदानाह— क्रियाहेतुरिति। पञ्चधा व्यानान्तैर्भेदैः; धनञ्जयान्तैस्तु दशधेति।।७३।। ज्ञानशक्तेश्चातुर्विध्यमाह— चतुर्विधमिति। सर्वेषां देहे यद् हार्दं पद्मं तस्य अन्तः स्थितम् अन्तःकरणं मनःप्रभृतिभेदैश्चतुर्विधम्।।७४।।

शरीरद्वये सूक्ष्मस्थूलपदयोः प्रवृत्तिनिमित्तद्वयं दर्शयति—सूक्ष्मैरिति। सूक्ष्मैः सायंप्रातराहुत्यादिकर्मणां सूक्ष्मपरिणामात्मकैः भूतैः पृथिव्याद्यैः समं सह वर्तमानं तथा सूक्ष्मं सूक्ष्मचक्षुराद्यवयवसमुदायात्मकं यतो भवति ततः सूक्ष्मसंज्ञम् आन्तरं देहं शृणु अवधारय। स्थूलभूतसम्पृक्तत्वाद् इन्द्रियगोचरत्वलक्षणस्थूलत्वशालित्वाच्च बाह्यं स्थूलसंज्ञमित्यर्थः।।७५।।

अब विरक्ति उपजाने के उद्देश्य से गर्भोपनिषद् की व्याख्या द्वारा शरीर का विचार कराते हैं : ब्रह्मा का हो या कुत्ते का, सभी का यह दृश्यमान देह सदा पंचभूतों का ही कार्य है और भूतकार्य इंद्रियादि इसमें रहकर कार्यरत रहती हैं।।६८।। पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश ये पाँच ही महाभूत मनीषियों ने बताये हैं। देहधारियों के स्थूल-सूक्ष्म शरीर इन्हीं भूतों से बने हैं।।६९-७०।। चक्षु-श्रोत्र-घ्राण-रसना-त्वक् ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वाक्-उपस्थ-पायु-हाथ-पैर ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। (सूक्ष्म भूतों के सात्त्विकांशों से ज्ञानेंद्रियाँ एवं राजसांशों से कर्मेन्द्रियाँ तथा सात्त्विकांशों को ही मिलाकर अंतःकरण बनता है।) सारे सूक्ष्म शरीर में घटक रूप से भली भाँति स्थित अन्तःकरण वेदवादियों द्वारा दो प्रकार का कहा जाता है—ज्ञानहेतु और क्रियाहेतु। केवल क्रियामात्र का हेतु यह प्राण पाँच या दस तरह बँटकर शरीर में कार्यरत है। पाँच विभाग हैं— प्राण-अपान-उदान-समान-व्यान। इनमें ये पाँच विभाग जुड़ जाने से दस प्रकार संपन्न होते हैं—नाग-कूर्म-कृकल-देवदत्त-धनंजय। (मुखसंचारी प्राण, मलविसर्जक अपान, खड़ा रखने आदि वाला उदान, अन्नरसादि को शरीर में फैलाने वाला समान और ताकत के कार्य कराने वाला व्यान है। वमन कराने वाला नाग, आँखें झपकाने वाला और होंठ हिलाने वाला कूर्म, छींक कराने वाला कृकल, जँभाई दिलाने वाला देवदत्त और शरीर फुलाने वाला धनंजय है।)।।७१-३।। सभी शरीरधारियों के शरीर में जो हृदय कमल है उसमें स्थित ज्ञानसाधनभूत अंतःकरण चार तरह का है—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। (विचारक मन, निश्चायक बुद्धि, स्मारक चित्त और तादात्म्यबोध कराने वाला अहंकार। ये चारों—विचार, निश्चय, स्मृति, अभिमान—ज्ञानविशेष ही हैं। विचार में क्रियारूपता भी मान सकते हैं पर ज्ञानात्मकता छोड़ नहीं सकते।)।।७४।। प्रातः-सायं समर्पित आहुति आदि सत्कर्मों के सूक्ष्म परिणामरूप पृथ्वी आदि

अध्यात्ममधिदैवं च भेदस्तु स्याच्चतुर्विधः। सूक्ष्मं हिरण्यगर्भोऽयमधिदैवं समीरितः।।
स्थूलं तथा विराडेष पुमान् लोकवपुःस्थितः।।७६

अतलं चैव पातालं वितलं सुतलं तथा। रसातलं पञ्चमं स्यात् तत्र षष्ठं तलातलम्।।
महातलं सप्तमं तु पादद्वयमिदं स्मृतम्।।७७

भूर्लोको जघनं तस्य पुरुषस्य महात्मनः। अन्तरिक्षं तथा नाभिः स्वर्गो हृदयमीरितम्।।७८

महर्लोको मुखादर्वाग्गलादारभ्य संस्थितः। मुखतो नेत्रपर्यन्तं जनलोक इति स्मृतः।।७९

ललाटं तु तपः प्रोक्तं शिरः सत्यमितीरितम्। चतुर्दशानां लोकानामेवं स्थानं विराट् स्मृतः।।८०

अनयोः शरीरयोः पञ्चीकरणवार्तिकाद्युक्तमध्यात्मादिविभागमाह—अध्यात्ममिति षड्भिः। अध्यात्मत्वाऽधिदैवत्वाभ्याम् उक्तयोः शरीरयोः प्रत्येकं द्वैविध्यात् शरीरस्य भेदाः चत्वार उक्ताः। तत्र तत्पदार्थमधिकृत्य उपाधितयाऽवच्छिद्य स्थितमधिदैवम् इत्युच्यते यथा सूक्ष्मसमष्टिरूपो हिरण्यगर्भः स्थूलसमष्टिरूपो विराट् लोकमयशरीराभिमानी अधिदैवमिति उच्यत इत्यर्थः।।७६।। तत्र विराजो लोकमयं शरीरमभिनयति—अतलमिति चतुर्भिः। अतलादिसंज्ञानि सप्त पातालानि विराजः पादत्वेन ध्येयानीत्यर्थः।।७७।। भूर्लोक इति। जघनम् ऊर्वोरन्तरदेशः। शिष्टं त्रयं निगदव्याख्यातम्।।७८-८०।।

भूतों सहित वर्तमान होने के कारण एवं इंद्रियादि सूक्ष्म वस्तुओं का समुदाय होने के कारण भीतरी देह को सूक्ष्मशरीर समझना चाहिये। स्थूल भूतों से निर्मित होने के कारण एवं स्वयं इन्द्रियगोचर होने के कारण बाह्य शरीर को स्थूल समझना चाहिये। (पुर्यष्टक में सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म महाभूतों के साथ रहता है। पुण्यव्यापार अपूर्व भी महाभूतरूप से रहता है। सूक्ष्म देह बना भी सूक्ष्म भूतों से है। सूक्ष्म अर्थात् अपंचीकृत, जिन्हें इन्द्रियों से विषय नहीं किया जा सकता। ऐसे भूत शास्त्रसिद्ध हैं। वैसे इंद्रियों की विषयनियति के आधार पर इंद्रियाँ भौतिक सिद्ध होती हैं तथा इंद्रियाँ इंद्रियविषय हैं नहीं अतः सूक्ष्म भूत युक्ति से भी समझ आ सकते हैं। शरीर में दीखने वाले आँख, कान आदि गोलक हैं, स्थूल देह के अंग हैं, वे इंद्रियाँ नहीं वरन् इंद्रियों के कार्य करने का स्थान हैं। भेजे आदि पर्यन्त स्थूल शरीर के जो भी अंश हैं वे इंद्रिय नहीं, गोलक के ही हिस्से हैं।)।।७५।।

उक्त दोनों शरीरों के अध्यात्म व अधिदैव दो भेद हैं जिससे शरीरों के कुल चार भेद हो जाते हैं। तत्पदार्थ (ईश्वर) की उपाधि बन कर स्थित को अधिदैव कहते हैं। उसे समष्टि भी कहते हैं। त्वम्पदार्थ (जीव) की उपाधि बने हुए को— जिसे जीव 'मैं' के घेरे में समझता है — अध्यात्म या व्यष्टि कहते हैं। अधिदैव सूक्ष्मशरीर यह हिरण्यगर्भ बताया गया है और अधिदैव स्थूल यह विराट् पुरुष है जिसका देह सारे लोक हैं। अतल, पाताल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल—इन सातों लोकों को विराट् के चरण समझना चाहिये। उस महात्मा पुरुष के जघन हैं भूलोक, अंतरिक्ष उसकी नाभि है, स्वर्ग हृदय है, महर्लोक मुख व गले के बीच का हिस्सा है और मुँह से आँखों तक का हिस्सा जनलोक है। तपोलोक उसका ललाट है और सत्यलोक सिर है। यों चौदहों लोक जिसके शरीर के घटक हैं वह विराट् है।(हिरण्यगर्भ, विराट् प्रायः चेतनप्रधान नाम हैं अर्थात् समष्टि सूक्ष्म-स्थूल के अभिमानी को इन नामों से ज्यादातर कहा जाता है किंतु क्योंकि इन नामों के प्रवृत्तिनिमित्त वे शरीर ही हैं इसलिये यहाँ शरीरभेदों को इन नामों से कहा। ऐसे ही कहीं विराट्-हिरण्यगर्भ को जीव के रूप में वर्णित कर देते हैं तो कहीं ईश्वर के रूप में। 'कार्योपाधि में अभिमानी जीव है' इस परिभाषा से वे जीव कहलाते हैं और 'जगज्जन्मादिहेतु ईश्वर है' इस लक्षण से ईश्वर कहे जाते हैं। हर हालत में हम लोगों की तरह सावरण वे हैं नही। जैसे सुषुप्ति वाला ही सपना देखता और जग जाता है वैसे ईश्वर ही सूक्ष्म-स्थूल उपाधियाँ ग्रहण करता है यही सम्प्रदाय है।)।।७६-८०।।

अध्यात्मं सूक्ष्मसंज्ञं यत्तैजसं तत् प्रकीर्तितम्। विश्वं स्थूलं समुद्दिष्टमात्मना समधिष्ठितम्।।८१

अधिभूतं च देहस्य द्वन्द्वम् अध्यात्मवत् स्थितम्। अध्यात्ममधिभूतं च मिलित्वा स्थिरजङ्गमम्।।८२

चतुर्विधस्थूलदेहाः

चतुर्विधा भवन्त्येते देहाः सर्वशरीरिणाम्। उद्भिज्जाः स्थावराणां स्युः केषाञ्चिच्च शरीरिणाम्।।

देवादीनां न ये योनिं प्राप्ताः पुण्याधिका जनाः।।८३

आत्मनि त्वम्पदार्थे उपाधितया 'अहम्'-इति गृह्यमाणलक्षणम् अध्यात्मं सूक्ष्मं स्थूलं च नामभेदेनाह— अध्यात्ममिति। यत् सूक्ष्मम् अध्यात्मं व्यष्टिरूपेण अहमिति गृह्यमाणं तत् तैजससंज्ञम्। तथाभूतं स्थूलं तु विश्वसंज्ञम् इत्यर्थः।।८१।।

उक्तेष्वेव अधिभूतादिभेदान्तर्भाव इति दर्शयति—अधिभूतमिति। देहस्य द्वन्द्वं स्थूलसूक्ष्मरूपम् अध्यात्मवद् यथाऽध्यात्मावस्था तद्वदपरोक्षम् इदन्तया भासमानतालक्षणविशेषवच्च यदा भवति तदा अधिभूतम् इत्युच्यते; भूतं विषयम् अधिकृत्य वर्तमानम्—इति व्युत्पत्तेः। इति पूर्वदलार्थः। तथा एषां शरीराणाम् अध्यात्मत्वम् अधिभूतत्वं च मिलित्वा व्यवहारारूढं यदा भवति तदा स्थिरजङ्गमभेदो भवतीत्यर्थः। स्थावरजङ्गमानां शरीराणि हि तदभिमान्यपेक्षयाऽध्यात्मतां भजन्ते, द्रष्ट्रन्तरापेक्षया त्वधिभूतत्वम् इति भावः।।८२।।

व्यष्टिस्थूलशरीराणाम् उद्भिज्जादिभेदेन चातुर्विध्यमपि प्रसिद्धमित्याह— चतुर्विधा इति। एते स्थूलाः। तत्र स्वबीजस्य ऊर्ध्वाकारपरिणामप्रयोजकत्वेन उद्भिज्जसंज्ञानुदाहरति—उद्भिज्ज इति। स्थावराणां देहा उद्भिज्जा इति प्रसिद्धाः। केषाञ्चिद् देवादीनां च देहा उद्भिज्जा इति सम्बन्धः। के ते देवादयः? ये पुण्योत्कर्षेण देहधारणे योनिव्यवधानं न सहन्त इत्यर्थः। एतेन उद्भिज्जा देहा द्विविधाः—अधर्मजाः, धर्मजाश्चा। आद्या—वृक्षाणां, नारकीयाणां च। अन्त्या—देवानाम्, आदिपदग्राह्यकायव्यूहकृतां च इति सूचितम्।।८३।।

जीवात्मा जिनमें तादात्म्याध्यास किये रहता है वे अध्यात्म सूक्ष्म शरीर तैजस एवं अध्यात्म स्थूल शरीर विश्व कहे जाते हैं।।८१।। जैसे अध्यात्मरूप से स्थित है वैसे ही देहों का यह जोड़ा अधिभूत रूप से भी स्थित है। अध्यात्म-अधिभूत मिलाकर स्थिर-चर प्राणिनिकाय कहे-समझे जाते हैं।(स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में 'मैं'-अध्यास रहते वे अध्यात्म हैं किंतु एक का शरीर दूसरों के लिये तो अध्यात्म नहीं वरन् अधिभूत अर्थात् विषय ही है। यों हर शरीर अपने अभिमानी की दृष्टि से अध्यात्म और अन्य द्रष्टाओं की दृष्टि से अधिभूत है। अन्यदीय सूक्ष्म शरीर को अनुमेय समझना चाहिये। इंद्रियविषय अधिभूत कहा जाता है। इंद्रियविषयजातीय होने से इंद्रियादि भी अधिभूत कह दी गयी हैं।)।।८२।।

सब शरीरियों के (व्यष्टि) स्थूल देह चार प्रकार के होते हैं। स्थावर शरीरधारियों के, पेड़-पौधों के देह उद्भिज्ज नाम से प्रसिद्ध हैं। कुछ देवताओं के शरीर भी उद्भिज्ज हैं। जिनका पुण्य उत्कृष्ट होता है वे योनि के व्यवधान के बिना ही देह धारण कर लेते हैं, ऐसे देवता उद्भिज्ज शरीर वाले माने जाते हैं।(ऐसे ही नरक में मिलने वाले कुछ शरीर भी उद्भिज्ज हैं। योगी जो कायव्यूह रूप से देह तैयार करते हैं वे शरीर भी उद्भिज्ज ही माने जाते हैं। ध्यान रखना चाहिये कि इस चतुर्विधता में परिगणन का आग्रह नहीं है। सब स्थूल देहों को एकत्र समझने की सुविधा के लिये ये कोटियाँ प्रायः सभी प्राचीनों ने मानी हैं। स्मृति, पुराण, आयुर्वेद, साहित्य आदि में प्रचलित विभाजन को ही दार्शनिकों ने स्वीकारा है। अतः इस व्यवस्था में कमी खोजना या इससे बहिर्भूत शरीरों को समझकर इसमें उनका अंतर्भाव करना दोनों व्यर्थ प्रयास हैं। यदि इन चार से अन्य भी कोटियाँ उपलब्ध शरीरों के संग्रहार्थ आवश्यक लगें तो उन्हें मानने में कोई विरोध नहीं। किंतु जो कोई भी स्थूल शरीर है वह आत्मा की उपाधि ही है, स्वयं अनात्मा है यह निश्चय है।)।।८३।।

स्वेदजाश्चाऽपि विज्ञेया मत्कुणाद्याः सहस्रशः। अण्डजास्तेऽपि केचित्तु केचिदन्ये जले चराः।।८४
अण्डजाः पक्षिणस्तद्वत् सर्पाद्याश्च बिलेशयाः। जरायुजा मानुषाद्याः प्रसिद्धाः सर्वदेहिनाम्।।८५

भूतभौतिकव्यापारः

तेषु सर्वेषु देहेषु पृथिवी धारणे स्मृता। आपः संक्लेदने तद्वत्तेजः पाकादिकर्मणि।।८६
संयोगे च वियोगे च वायुराकाश ईरितः। अवकाशे सदा हेतुश्चक्षू रूपग्रहे तथा।।८७
श्रोत्रं शब्दग्रहे तद्वद् घ्राणं गन्धग्रहे तथा। स्पर्शग्रहे त्वगुद्दिष्टा रसनं तु रसग्रहे।।८८
वक्तव्ये वाग् भवेद्धेतुर्हस्तावादानकर्मणि। प्रजोत्पादे तथानन्दे उपस्थः परिकीर्तितः।।
पायुर्विसर्गे सम्प्रोक्तः पादौ गत्यां समीरितौ।।८९
प्राणाद्याः कथिता देहे सर्वे विविधकर्मणि। जीवने मरणे तद्वद्धेतवः सर्वदेहिनाम्।।९०
संशयादेर्भवेद्धेतुर्मन्तव्यस्य मनः सदा। अहंकर्तव्यहेतुः स्यादहङ्कारो वपुःस्थितः।।
चित्तं सामान्यविज्ञाने बुद्धिः सर्वत्र निश्चये।।९१

स्वेदजादीन् उदाहरति—स्वेदजा इति द्वाभ्याम्। मत्कुणः खट्वादिगतः प्रसिद्धः, तत्प्रभृतयः क्षुद्रजन्तवः प्रायशः स्वेदजा भवन्ति। अण्डजाः तु केचित् ते स्थलगतक्षुद्रजन्तवोऽपि भवन्ति यथा पिपीलिकादयः। केचितु जलेचराः, यथा मत्स्यादयः। अन्येऽन्तरिक्षगाः यथा पक्षिणः। तद्वद् बिलेशयाः सर्पाद्याश्च अण्डजा इति सम्बन्धः। अन्त्यं दलं स्फुटम्।।८४-५।।

अथ भूतानां पञ्चसु व्यापारेषु वर्तमानत्वं प्रपञ्चयन् भूतानां भौतिकानां च स्वस्वव्यापारान् दर्शयति—तेष्विति षड्भिः। उक्तदेहेषु पृथिव्या धारणव्यापारो, जलस्य क्लेदनम् आर्द्रीकरणम्, तेजसः पचनादिकम्, वायोः संयोजनादिकम, आकाशस्य अवकाशदानमिति। तथा भौतिकेषु चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियाणां रूपग्रहणादिरूपा व्यापाराः। इति त्रयाणामर्थः।।८६-८।। कर्मेन्द्रियाणां तानाह—वक्तव्य इति। वक्तव्ये वचने वाग् इन्द्रियं हेतुः। आदाने ग्रहणे पाणीन्द्रियं, प्रजोत्पादने आनन्दे च उपस्थेन्द्रियं, मलोत्सर्गे पाय्विन्द्रियं, गमने पादेन्द्रियं च हेतुरिति।।८९।। प्राणाद्या इति। तथा प्राणादीनाम् उच्छ्वासादयोऽसाधारणव्यापारा जीवनोत्क्रान्त्यादिरूपाः साधारणव्यापाराश्च प्रसिद्धा इत्यर्थः।।९०।। अन्तःकरणचतुष्टयस्य तानाह—संशयादेरिति। संशयादिरूपस्य मन्तव्यस्य मननस्य हेतुः मनो भवति। अहंकरणेऽहङ्कारः, सामान्याकारविज्ञाने चित्तम्, अवधारणे बुद्धिः इति।।९१।।

मत्कुण (खटमल) आदि हज़ारों छोटे जंतु प्रायः स्वेदज होते हैं (स्वेद अर्थात् पसीने से या गीलापन रहते ही पैदा होते हैं)। चींटी आदि छोटे जन्तु अण्डज भी होते हैं। जलचर मछली आदि, पक्षी और बिलों में सोने वाले साँप आदि प्रायः अण्डज होते हैं। मनुष्यादि जरायुज हैं यह सभी जानते हैं।।८४-५।।

इन सभी देहों में उपस्थित पृथ्वी का व्यापार है धारण करना, जल का व्यापार है गीला रखना, तेज का व्यापार है भोजन पचाना आदि, जोड़ना-अलग करना वायु का व्यापार है और जगह देना आकाश का व्यापार है। (जोड़ना आदि अर्थात् शरीरवर्ती सभी क्रियाएँ। जगह देना जैसे भोजन शरीर में घुसता है क्योंकि वहाँ खाली स्थान है।) चक्षु का व्यापार रूप ग्रहण करना, श्रोत्र का शब्द ग्रहण करना, घ्राण का गंध लेना, त्वक् का छूना और रसना का स्वाद लेना व्यापार है।।८६-८।।

बोलने में हेतु वाक् इंद्रिय है, हाथ-इंद्रिय लेने में, पकड़ने आदि में हेतु है, उपस्थ प्रजोत्पादन और संभोगानंद में हेतु है, मलत्याग में हेतु है पायु और गति में, चलने आदि में पैर-इंद्रिय हेतु है।।८९।। शरीर में विविध कार्य करने वाली हैं प्राणादि सभी वृत्तियाँ। सब देहधारियों के जीवन में और उत्क्रमण में—मरते समय शरीर से निकलने में— भी

कठिना पृथिवी ज्ञेया गन्धादिगुणसंयुता। द्रवस्नेहयुता आपो रसादिगुणसंयुताः।।६२
उष्णप्रकाशवत्तेजो रूपादिगुणसंयुतम्। क्रियावान् कथितो वायुः स्पर्शशब्दगुणो हि सः।।
नभः सुषिरमुद्दिष्टं शब्दैकगुणमेव तत्।।६३
एकद्वित्रिचतुःपञ्चगुणयुक्ता उदाहृताः। विषयाः श्रोत्रमुख्यानां खाऽनिलाऽनलवार्भुवः।।
हस्तादीनां त एव स्युर्विषया नियतिं विनः।।६४

भूतानां स्वरूपलक्षणभूतांस्तटस्थलक्षणभूतांश्च 'यत्कठिनम्'[1] इत्यादिश्रुत्युक्तान् धर्मानाह— कठिनेति। काठिन्यं पृथिव्याः स्वरूपलक्षणं, द्रवस्नेहौ जलस्य, उष्णत्वप्रकाशौ तेजसः, चलनं वायोः, छिद्रत्वमाकाशस्येति। गन्धादयः शब्दान्ताः पञ्च पृथिव्यास्तटस्थलक्षणम् एवं जलस्य रसादयश्चत्वारः, तेजसो रूपादयस्त्रयः, वायोः स्पर्शशब्दौ, आकाशस्य एकः शब्दः। इति द्वयोरर्थः।।६२-३।।

एकेति। इत्येवम् एकद्वित्रिचतुःपञ्चगुणयुक्ता आकाशादिभूपर्यन्ता भूतसंज्ञाः पदार्थाः क्रमेण श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणानां विषया उक्ताः, गुणगुणिनोस्तादात्म्याद् इति भावः। ये च श्रोत्रादीनां क्रमेण विषयास्त एव हस्तादिकर्मेन्द्रियाणां विषया भवन्ति, नियतिं व्यवस्थां विना—न हि हस्तेन पृथिव्येव आदीयते किन्तु जलादिकमपीति भावः।।६४।।

प्राण ही हेतु हैं।।६०।। संशय आदि स्वरूप वाले मनन का हेतु मन है। उपाधि में तादात्म्यनिश्चय, स्थूल-सूक्ष्म उपाधि को 'मैं' समझना, इसका हेतु अहंकार है। विशेष स्वरूप का निश्चय न करने वाले सामान्य ज्ञान का हेतु चित्त और निश्चय में हेतु बुद्धि है। शरीर में वर्तमान अन्तःकरण ही अलग-अलग कार्य करते हुए ये विभिन्न नाम पाता है।।६१।। ('कामः संकल्पः' (बृ.१.५.३) आदि सभी अंतःकरणवृत्तियाँ ही हैं अतः यहाँ भी चार की परिगणना नहीं। इसीलिये चित्त को कहीं स्मरणहेतु (मानसोल्लास-वार्तिक), कहीं संशयहेतु (न्यायरत्नावली पृ. ३२२ प्र. द्वा.), कहीं 'चेतव्य'-हेतु (पंचीकरणवार्तिक २७), कहीं चिन्तनकर्ता (तत्त्वबोध), कहीं 'अवधान-कर्ता' (लघुवासुदेव. पृ. ४४२ वेदांतसंदर्भ) आदि बता दिया जाता है। सभी व्यापारों को अंतःकरण का बताना है, नामों में या चार की संख्या में आग्रह नहीं।)

महाभूतों को भी जान लेना चाहियेः

महाभूत	स्वरूप लक्षण	तटस्थ लक्षण
१. पृथ्वी	कठोरता	गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द।
२. जल	द्रव और स्नेह (तरलता और गीलापन)	रस, रूप, स्पर्श, शब्द।
३. तेज	गर्मी और प्रकाश	रूप, स्पर्श, शब्द।
४. वायु	चलन (क्रिया)	स्पर्श, शब्द।
५. आकाश	छिद्रता (जगह)	शब्द।

(स्वरूप-तटस्थ भेद टीकानुसार किया है। छांदोग्यभाष्य में भूतत्रय का स्वरूप कहा है 'तेज इति प्रसिद्धं लोके दग्धृ पक्तृ प्रकाशकं रोहितं चेति।... आपो द्रवाः स्निग्धाः स्यन्दिन्यः शुक्लाश्चेति... अन्नं च गुरु स्थिरं धारणं कृष्णं च रूपतः।'(६. २.३-४)। तैत्तिरीयभाष्य में आकाश के लिये कहा है 'आकाशो नाम शब्दगुणोऽवकाशकरो मूर्तद्रव्याणाम्।' तथा अन्य भूतों के कारण गुणों सहित निजी गुण भी बताये हैं अतः वायु आदि के स्व-गुण क्रमशः स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। (तै. २.१)।।६२-३।। इस प्रकार एक, दो, तीन, चार, पाँच गुणों वाले आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी

१. 'यत्कठिनं सा पृथिवी यद् द्रवं तदापो यदुष्णं तत्तेजो यत्संचरति स वायुः यत्सुषिरं तदाकाशमित्युच्यते। तत्र पृथिवी नाम धारण आपः पिण्डी करणे तेजो रूपदर्शने वायुर्व्यूहन आकाशमवकाशप्रदाने पृथक्।'

पञ्चीकरणम्

भूतभौतिकमेतत् स्यात् सूक्ष्मदेहे शरीरिणाम्। अधिदैवादिभिन्नानामतिसूक्ष्मतमं सदा।।९५
सूक्ष्मताऽस्य तु विज्ञेया पञ्चीकरणवर्जनात्। पञ्ची करणमप्येवं भूतानामिह कीर्तितम्।।९६
एकैकं हि महाभूतं पञ्चधा प्रविभज्य च। पञ्चमं पञ्चमं भागं सर्वेषां पञ्चधा पुनः।
विभज्यैकैकमेतेषां सर्वेषामर्पयेदिह।।९७

एवं 'पञ्चात्मकम्' इत्यादिमन्त्रस्य सूत्रत्वेन अनेकार्थसूचकत्वाऽविरोधात् प्रथमपादेन यथा पञ्चभूतरूपेण धारणादिपञ्चव्यापारकं, प्राणादिरूपेण प्राणनादिपञ्चव्यापारकं, पञ्चेन्द्रियरूपेण पञ्चविषयकं, पञ्चभूतसात्त्विकांशमयान्तःकरणरूपेण पञ्चभूतमयमन्तव्यादिविषयकम् इत्येवंविधा अर्थाः संगृहीताः, तथा पञ्चीकरणमपि सूच्यत इति दर्शयन्; पञ्चीकरणमवतारयति—भूतेति द्वाभ्याम्। उक्तं भूतभौतिकानां वृन्दम्, अधिदैवमध्यात्मं वा सूक्ष्मदेहे घटकतया वर्तमानम् अतिसूक्ष्मम् इन्द्रियैर्ग्रहणाऽयोग्यं भवतीत्यर्थः।।९५।। सूक्ष्मतेति। सूक्ष्मशरीरघटकानां या सूक्ष्मता तत्र हेतुः पञ्चीकरणाऽभावः, तस्य पञ्चीकरणस्य स्वरूपमपि एवं वक्ष्यमाणविधम् इह प्रकृतमन्त्रे कीर्तितम् आवृत्त्या सूचितमित्यर्थः।।९६।। इदं शरीरं स्वकारणानां भूतानाम् एकैकस्य पञ्चमांशेन पञ्चात्मकेन पञ्चसु भूतेषु वर्तमानं सम्पृक्तम् इति योजनां सूचयन् पञ्चीकरणमभिनयति—एकैकमिति। प्रथमम् एकैकं भूतं पञ्चधा पञ्चधा विभज्य तेषामवयवचतुष्टयपञ्चकम् एकतोऽवस्थाप्य, अवशिष्टान् पृथिव्यादीनां पञ्च पञ्चमांशान् प्रत्येकं पञ्चधा विभज्य, यथाक्रमं प्रथमावस्थापितेऽवयवचतुष्टयसमुदायपञ्चके योजनं पञ्चीकरणम् इत्यर्थः।

एतेन त्रिवृत्करणवत् पञ्चीकरणस्य अश्रौतत्वाद् अप्रामाणिकत्वम् इति केषाञ्चिदुक्तिः[1] परास्ता।।९७।।

को श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण का विषय बताया जाता है। ये ही हाथ आदि के भी विषय हैं लेकिन जैसे ज्ञानेंद्रियों के निश्चित विषय हैं—आँख रूप ही देखेगी, शब्द नहीं देख सकती आदि—ऐसे कर्मेन्द्रियों का महाभूतों से निश्चित सम्बन्ध नहीं।।९४।।

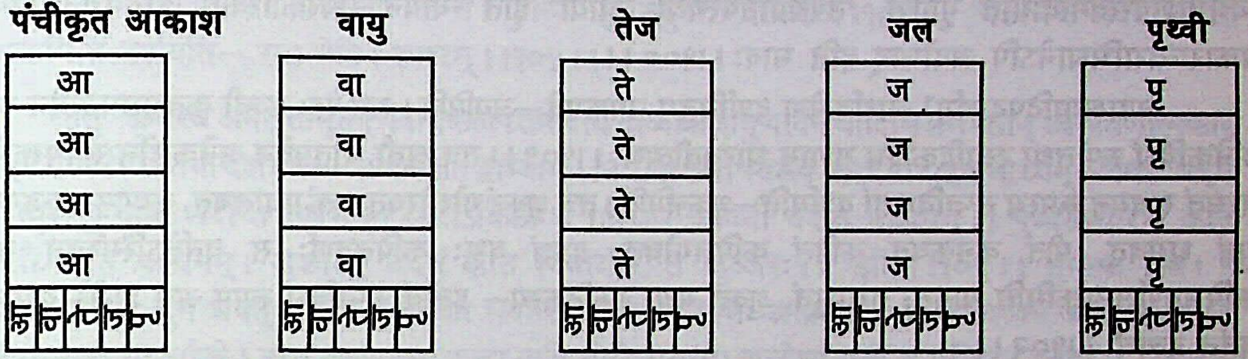
समझाई जा रही गर्भोपनिषत् में शरीर को 'पंचात्मक' कहा जिससे कई बातें पता चलीं—१) पाँच भूत हैं जिनके धारण करना आदि पाँच व्यापार हैं; २) पाँच प्राण हैं, इनके व्यापार भी पाँच हैं; ३) पाँच ज्ञान की व पाँच कर्म की इंद्रियाँ हैं। सभी इंद्रियों के विषय पाँच भूत ही हैं; ४) पाँच भूतों के सात्त्विकांशों से अंतःकरण बना जो पाँच भूतों के बारे में ही मननादि करता है। अब बताते हैं कि पंचात्मक कहने से पंचीकरण भी सूचित है।

सभी शरीरियों के अधिदैव तथा अध्यात्म भेदों वाले सूक्ष्म देह में जो यह भूत-भौतिक समुदाय है वह अतिसूक्ष्म है, इंद्रियविषय नहीं है। (सूक्ष्मभूतों के तत्तद् अंशों से बने इंद्रियादि भौतिक हैं तथा उनके उपादान रूप से भूत भी सूक्ष्मदेह के घटक हैं।)।।९५।। सूक्ष्मदेह के घटक भूतों की सूक्ष्मता इसलिये है कि वे पंचीकृत नहीं हैं। भूतों का पञ्चीकरण इस प्रकार बताया गया है :।।९६।। प्रत्येक महाभूत के पाँच-पाँच हिस्से कर ले। सबके पंचमांशों के फिर पाँच-पाँच हिस्से कर ले और हर भूत के चार-चार पंचमांशों में ये एक-एक पंचमांशों के पंचमांश मिला दे। यों तैयार पंचीकृत महाभूत में इक्कीस अंश एक भूत के व बाकी चारों का एक-एक अंश होगा अतः जिस भूत की मात्रा अधिक है उसी के नाम आदि का व्यवहार होगा, दूसरों के अंश आ जाने से स्थूलता का लाभ हो गया। (प्रसिद्ध पंचीकरण से यहाँ विलक्षण ढंग अपनाया गया है। सूक्ष्मावस्था के भूत को एक रुपया मानें तो पहले बीस-बीस पैसों के पाँच विभाग और फिर बीस पैसे के पाँच विभाग करने से चार-चार पैसे के विभाग उपलब्ध होंगे। फिर आकाश के अस्सी पैसे अंश में पाँचों भूतों के चार-चार पैसे मिला देंगे जिससे आकाश पुनः एक रुपया हो जायेगा लेकिन इसमें चौरासी पैसे आकाश

१. वाचस्पत्यनुयायिनाम्। ब्र.सू.१.१.५ पृ.१६८ कल्पतरावुक्तिर्द्रष्टव्या।

एकविंशतिसङ्ख्याका भागा एवं भवन्ति ते। एकैकस्य स्वकीयास्तु चतुर्णामपि चेतरे।
चत्वारश्च भवन्त्यस्माद् आधिक्यात् समता न च।।६८

यच्च पञ्ची करणे कैश्चिद् दूषणमभ्यधायि—वायोरपि रूपवदंशसम्पर्कात् प्रत्यक्षत्वापत्तिः — इति; तद् परिहरन्नितरांशानाम् अनुद्भूतत्वप्रयोजकमल्पत्वमाह—एकविंशतीति। एवम् इत्थं योजने कृते सति प्रत्येकं भूतानां स्वरूपे स्वकीया भागा एकविंशतिर्भवन्ति, पूर्वावस्थापितानां चतुर्णाम् अवयवानां प्रत्येकं पञ्चावयवयोगित्वात्, एकस्य अवयवस्य संविभागतो लाभाच्च; इतरे चत्वारः अंशास्तु परकीया इत्येवंरूपात् स्वांशाधिक्यात् स्व-परांशानां साम्यं न भवतीत्यर्थः।।६८।। साम्याऽभावे फलितमाह— तत एवेति। ततः स्वांशानामधिकतरत्वात् पृथिव्यादौ
होगा तथा वायु आदि चार-चार पैसा होंगे। ऐसे ही पंचीकृत वायु में चौरासी पैसा वायु तथा आकाशादि के चार-चार पैसा अंश होंगे। 'इक्कीस अंश' का अभिप्राय है कि सभी बीस-पैसा अंशों को पाँच भागों में बाँटें तो अस्सी पैसा अंश में बीस चार-पैसे हो जायेंगे और ज़ब उसमें मिलावट के समय चार-पैसा आकाश भी डाला जायेगा तब कुल चार पैसों के इक्कीस अंश हो जायेंगे। चित्र से समझना चाहियेः



प्रतिशत की भाषा में पंचीकृत भूत में चौरासी प्रतिशत स्वकीय अंश तथा सोलह प्रतिशत परकीय अंश हैं जिनमें स्वभिन्न भूतों के चार-चार प्रतिशत भाग हैं। इस प्रक्रिया में हर कार्य पाँच की संख्या से संबद्ध है : पाँचों भूतों को पाँच-पाँच हिस्सों में बाँटा; हर पाँचवें हिस्से को फिर पाँच भागों में बाँटा; पाँचों भूतों में पाँचों भूतों के पंचमांश के पंचमांश मिलाये। इस प्रकार यह स्वनामधन्य पंचीकरण है। प्रसिद्ध पंचीकरण में प्रत्येक भूत पहले दो भागों में बँटता है फिर हर एक के आधे हिस्से के चार भाग होते हैं तब आठ आना एक भूत में बाकी चार भूतों के दो-दो आना भाग मिलाने से एक रुपया जितना पंचीकृत भूत तैयार होता है। प्रतिशत की दृष्टि से पंचीकृत भूत में पचास प्रतिशत स्वांश तथा बाकी भूतों के प्रत्येक के साढ़े बारह प्रतिशत अंश होते हैं। यों 'पंचीकरण' संज्ञा शंकरानंद जी के अनुसार बिल्कुल उचित है। वाचस्पति के अनुयायी छांदोग्य में व सूत्रों में त्रिवृत्करण के उल्लेख की तरह उपनिषदों में पंचीकरण का नाम न सुनकर इसे अश्रौत, अप्रामाणिक कहते हैं पर शंकरानंद जी ने गर्भोपनिषत् में 'पंचात्मकं पंचसु वर्तमानम्' से पंचीकरण खोजकर उन पर अनुग्रह कर दिया है, अब वे इसे अश्रौत नहीं कहेंगे। वे यह भी शंका करते हैं कि आकाश-वायु में तेज आदि के अंश हों तो आकाश-वायु भी दीखा करें! उसका समाधान भी हो गया कि चौरासी प्रतिशत नीरूपांश है अतः सोलह प्रतिशत सरूपांश उससे अभिभूत होकर अदृश्य हो जाता है। यह नहीं पूछना चाहिये कि प्रसिद्ध पंचीकरण ठीक है या शंकरानंद जी का! यह तो अध्यारोप प्रकरण है जिसके लिये भगवान् सुरेश्वराचार्य बता गये हैं 'प्रक्रियानियमो नाऽपि पुंव्युत्पत्तिप्रधानतः। प्रतिश्रुति विगीतिश्च प्रक्रियाणां समीक्ष्यते।।' बृ.वा.१.४.४०१।। वेदांतों में अध्यारोप केवल अपवादार्थ है अतः अध्यारोप या अपवाद के कदमों का कोई बंधन नहीं, जैसे भी अद्वैत समझ आये, समझ लेना चाहिये। पंचीकरण नामक प्रकरणग्रंथ के किसी हस्तलेख में प्रारंभ में तीन-चार पंक्तियाँ अधिक हैं जिनमें पंचीकरण का तरीका कहा है पर उन पंक्तियों की प्राचीन टीकाकारों ने व्याख्या नहीं की है अतः 'ॐ पंचीकृतपंचमहाभूतानि' से ही उस ग्रंथ का प्रारंभ माना जाता है। उन पंक्तियों को छोड़कर अन्यत्र भाष्यादि में तो पंचीकरण के तरीके का विस्तार भगवान् शंकराचार्य जी ने किया नहीं है अतः शंकरानंद जी पर भाष्यविरोध का आक्षेप

तत एव पृथिव्यादावन्यबुद्धिर्न जायते। पञ्ची कृतेऽपि बाहुल्यं स्वभागेषु यतः स्थितम् ।।९९
पञ्चविंशे यतो भागो भूते भूतान्तरैः कृतः। भूतान्तराणि तेनातो दृश्यन्ते न परत्र हि।।१००

स्थूलदेहः

अयं पञ्ची कृतो देहः स्थूलो रूपमनेकधा। दधाति मध्यतस्तद्वद् रसादीनपि देहिनाम् ।।१०१
शुक्लं रक्तं तथा कृष्णं धूम्रं पीतं तथैव च। कपिलं बभ्रुशं शुक्लं रूपमस्मिन् हि वर्तते।।१०२
स्पर्शाश्च मृदुलास्तद्वत् कठिना मध्यमा अपि। उष्णाः शीता द्वयं तद्वदनुष्णाशीतला अपि।।१०३

जलत्वादिप्रकारिका धीर्न भवति। 'ततः'-पदार्थमेव स्फुटयति—पञ्ची कृतेऽपीति।।९९।। निगमयति—पञ्चविंश इति। यतः पञ्चविंशे यथा पञ्चविंशाख्यः स्तोमः पञ्चविंशतिऋक्समुदायरूपः तथा उक्तविधया पञ्चविंशत्यवयव-समुदायरूपे भूते एकत्र भाग एव अवयवचतुष्टयात्मको भूतान्तरैः कृतः, एकविंशतिभागास्तु स्वकीया एव, ततो भूतान्तरबुद्धिर्भूतान्तरे न जायत इत्यर्थः।। ननु वार्तिकोक्तस्य स्वार्द्धाधिक्यस्य कथमुपपत्तिरिति चेद्? अर्धशब्दस्य विषमांशपरत्वमादायेति गृहाण, 'उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया' इति न्यायेन (हरिकारिका) अनिर्वचनीयप्रपञ्चे प्रकारान्तराभिधानेऽपि अदोषाद् इति भावः।।१००।।

षडाश्रयादिपदार्थम्[1] आर्थक्रमेण दर्शयितुम् उपक्रमते—अयमिति। अयं देहः पञ्ची कृतभूतमयत्वेन स्थूलः अनेकविधं रूपं तथा रसादिकांश्च गुणान् धारयतीत्यर्थः।।१०१।। तत्र श्रुतौ धातुपदेन अनेकार्थेन रूपमुक्तमिति परमतं सूचयन् रूपस्य सप्तविधतां दर्शयति—शुक्लमिति। तत्र शुक्लं गोक्षीरवत्, रक्तं प्रवालवत्, कृष्णम् अञ्जनवत्, धूम्रं धूमवत्, पीतं कनकवत् कपिलं कपिलगोवत्, ब्रभ्रुशं बभ्रुः कपिलवर्णः स वर्ततेऽस्मिंस्तत् तथा; कपिलवर्णसम्पृक्तमिति यावत्; तथाभूतं, शुक्लं यथा स्फटिकस्य— इत्येवं सप्तविधं रूपम् अत्र शरीरे यथादृष्टं वर्तत इत्यर्थः।।१०२।।

षड्भिः स्पर्शैः सह तथा गुणेन गन्धेन सह योगेन उपायेन युक्तम् इत्याकारं 'षड्गुणयोगयुक्त'-पदार्थं दर्शयति—स्पर्शा इति द्वाभ्याम्। कोमलकठिनमध्यमभेदेन त्रयः, उष्णः शीत इति द्वयम्, अनुष्णाशीतः षष्ठः—इत्येवं षट् स्पर्शा अत्रेत्यर्थः।।१०३।। गंधा इति। योग उपायः ततो यः पुण्यस्य विपाकः फलाभिमुख्यं तस्माद् ये प्रकटी नहीं किया जा सकता। वार्तिककार ने अवश्य तरीका बताया है, उससे अलग ढंग ही यहाँ पुराणकार ने दिखाया है।)।।९७-९८।।

उक्त विधि से विषमता के कारण ही पंचीकृत पृथ्वी आदि को जल आदि नहीं समझ लिया जाता, पाँचों भूत उसमें होने पर भी अपना ही हिस्सा ज्यादा है। पंचीकृत भूत में चार-चार पैसे के पच्चीस हिस्से हैं जिनमें इक्कीस हिस्से तो स्वयं उसी भूत के हैं, बचे हुए चार हिस्से ही अन्य भूतों के हैं। इतने कम होने से वे हिस्से दीखते आदि नहीं।।९९-१००।।

पंचीकृत महाभूतों से देहधारियों का यह स्थूल शरीर बना है जो अनेक प्रकार के रूप-रसादि गुण धारण करता है।।१०१।। इस शरीर में सातों रंग मिलते हैं—१) शुक्ल (गाय के दूध का रंग); २) रक्त (पीपल आदि के नवीन पत्तों का रंग); ३) कृष्ण (काजल का रंग); ४) धूम्र (धुएँ का रंग) ५) पीत (स्वर्ण का रंग); ६) कपिल (कपिला गाय का रंग, भूरा); ७) बभ्रुश शुक्ल (स्फटिक जैसा रंग जिसमें कपिल रंग मिला हो)। (ये रंग केवल त्वचा पर खोजने की ज़रूरत नहीं, शरीर के तत्तद् अंगों के ये रंग हैं।)।।१०२।। छह प्रकार के स्पर्श भी स्थूल शरीर में उपलब्ध हैं: १) मृदुल (कोमल), २) कठिन (कठोर) ३) मध्यम (न अधिक कोमल, न बिल्कुल कठोर), ४) उष्ण ५) शीत, ६) अनुष्णाशीत (न गर्म, न ठंडा)।।१०३।।

१. 'षडाश्रयमिति कस्मात्? मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायरसान् विन्दते। षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाश्चेति इष्टाऽनिष्टशब्दसञ्ज्ञाः प्रतिविधाः सप्तविधा भवन्ति। शुक्लो रक्तः कृष्णो धूम्रः पीतः कपिलः पाण्डुरः। सप्तधातुमिति कस्मात्? यथा देवदत्तस्य द्रव्यविषया जायन्ते।'

गन्धाः सुरभयस्तद्वत् प्रच्छन्ना येऽत्र योगतः। भवन्ति प्रकटा देहे भूरिपुण्यविपाकतः।।
दुर्गन्धा नित्यमेवैते लभ्यन्ते वदनादिगाः।।१०४

रसाश्च षड्विधास्तद्वद् एते सर्वशरीरगाः। कटुतीक्ष्णकषायाख्यक्षाराम्लमधुरा अपि।।१०५

शब्दाश्च विविधा एते प्राणिनां वपुषि स्थिताः। निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः।।
पञ्चमश्चेति सम्प्रोक्ता ध्वनिरूपा मनीषिभिः।।१०६

सुगन्धा इव ते लभ्याः पुण्यपुञ्जविपाकतः। अन्तर्देहे योगदृशां गायकानां हि ये मुखे।।
वर्णात्मकाश्च बहुशो वक्त्रे स्पष्टा भवन्ति ये।।१०७

त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः। सप्त दन्तास्तथैवोक्ता द्वात्रिंशत्त्वस्थिभेदतः।।१०८

भवन्ति ते सुगन्धा अत्र देहे प्रच्छन्नाः सन्ति। दुर्गन्धाः तु स्फुटा एवेत्यर्थः।।१०४।। 'षडाश्रय'-पदेन षड्रसा अत्रेत्युक्तमिति दर्शयति— रसाश्चेति। स्पष्टम्।।१०५।।

'धातु'-शब्दस्य अमरोक्तभूतगुणवाचकत्वपक्षमादाय वाय्वाकाशगुणत्वेन वादिभिरभिमतान् ध्वनिवर्णात्मकान् शब्दान् देहे वर्तमानतया दर्शयति— शब्दाश्चेति द्वाभ्याम्। निषादादीनां स्वरूपं नारदेनोदाहृतं बोध्यम्—यथा 'षड्जं रौति मयूरस्तु गावो नर्दन्ति चर्षभम्। अजाऽविकौ च गान्धारं क्रौञ्चो नदति मध्यमम्।। पुष्पसाधारणे काले कोकिलो रौति पञ्चमम्। अश्वस्तु धैवतं रौति निषादं रौति कुञ्जरः।।' इति।।१०६।। सुगन्धा इति। ते उक्तविधा ध्वनयः सुगन्धवत् पुण्येन सुविवेका भवन्ति य एते योगिभिः अनाहताख्यशब्दभेदत्वेन अन्तरनुभूयन्ते, गायकैश्च मुखे प्रदर्श्यन्ते। तथा वर्णात्मकाः शब्दा अपि योगिनामन्तः अन्येषां मुखे च प्रसिद्धा इत्यर्थः।।१०७।।

श्रुत्या गैरिकादिषु प्रयोगरूपहेतुना धातुशब्दस्य द्रव्यवाचकत्वमेव सिद्धान्ती कृत्य तत्पदार्थतया प्रोक्तांस्त्वगादीन् सप्त दर्शयंस्तत्प्रसङ्गेन उपस्थितानां शरीरान्तरपदार्थानां संख्यां परिमाणं चोपनिषदन्तोक्तं[1] वर्णयति—त्वगसृगित्यादिना। त्वग्रुधिरमांसानि प्रसिद्धानि; मेदः श्वेतवर्णो मांसावस्था विशेषः; तत्रैव च अस्थि-बन्धनरूपस्य तदवस्थाविशेषस्य स्नायुपदोक्तस्यान्तर्भावः; अस्थीनि प्रसिद्धानि; मज्जा तदन्तर्गतः स्नेहः; शुक्रं रेतः; एतानि सप्त धातुपदवाच्यानि। तथा दन्तानां स्वरूपभूतानि अस्थीनि भेदेन द्वात्रिंशद् भवन्तीत्यर्थः।।१०८।।

इस शरीर में गंध भी है। विभिन्न सुगंधियाँ तो इसमें छिपी रहती हैं, अत्यधिक पुण्य फलीभूत हों तो योग से वे शरीर में प्रकट होती हैं। दुर्गन्ध तो मुख आदि में हमेशा ही सुलभ है!।१०४।। कटु, तीक्ष्ण (तीखा), कषाय (कसैला), क्षार (खारा), अम्ल (खट्टा), मधुर (मीठा)— ये छहों प्रकार के रस सारे शरीर में मौजूद हैं।।१०५।। मनीषियों ने जो ये ध्वनिरूप विविध शब्द बताये हैं वे भी प्राणिशरीरों में स्थित हैं; वे शब्द हैं—निषाद (हाथी की चिंघाड़ का स्वर), ऋषभ (साँड के हुंकार का स्वर), गांधार (भेड़-बकरी का स्वर), षड्ज (मोर का स्वर), मध्यम (क्रौंच-पक्षी का स्वर), धैवत (घोड़े का स्वर) और पंचम (वसंत में कोयल का स्वर)। लोक में इन्हें 'स रे ग म प ध नि' – रूप में कहा-समझा जाता है।।१०६।। जैसे सुगंध वैसे ये स्वर शरीर में पुण्य परिपाक से ही प्रकट होते हैं। योगदृष्टि वाले तो देह के भीतर अनाहत नाद रूप से इनका श्रवण करते हैं और गायक लोग मुख में—कण्ठादि में—इन्हें व्यक्त कर लेते हैं। सही स्वर से गा सकना पुण्यफल है। ध्वनिरूप की तरह वर्णरूप शब्द (क, ख आदि) भी योगियों के भीतर एवं अन्यों के मुखादि में व्यक्त होते हैं। सही उच्चारण भी पुण्यफल है।।१०७।।

१. 'षोडश पार्श्वदन्तपटलानि अष्टोत्तरं मर्मशतम् अशीतिसन्धिशतं नवस्नायुशतम् अष्टसहस्रो रोमकोट्यो हृदयपलान्यष्टौ द्वादशपलानि जिह्वा पित्तप्रस्थं कफस्याढकं शुक्लं कुडवं मेदःप्रस्थौ। द्वावनियतं मूत्रपुरीषयोः अहरहः पानपरिमाणम्।'

आपादमस्तकं तद्वत्त्वचि ह्यष्टोत्तरं शतम्। मर्माणि यैर्मृतिं गच्छेद्भिन्नैः शस्त्रादिना पुमान्।
व्याधिं वा दुःसहं याति वैद्या जानन्ति सर्वदा।।१०९

अशीत्यभ्यधिकं तद्वच्छतं देहेऽत्र सन्धयः। अस्थ्नां नव च नाडीनां स्थूलानां स्युः शतानि वै।।
केशरोम्णां तथैव स्युरशीतिशतकोटयः।।११०

जिह्वा वक्त्रस्थिता नृणां पलानि द्वादशेरिता। कण्ठे हृदयमध्यस्य रक्तोत्पलनिभस्य हि।
पलान्यष्टौ तु विज्ञेयं पद्मं हार्दं सदैव तत्।।१११

पित्तं प्रस्थमितं प्रायो हृदये संस्थितं हि तत्। श्लेष्मणो गलसंस्थस्य देहे प्रस्थचतुष्टयम्।।११२

मर्मणां संख्यां लक्षणं चाह—आपादेति। पादमारभ्य मस्तकपर्यन्तं व्याप्तायां त्वचि अष्टोत्तरशतसंख्यानि स्थानानि मर्मसंज्ञानि। तल्लक्षणं तु—'शस्त्रेण भेदने कृते सति मरण-दुर्वारव्याध्यन्यतरप्रयोजकत्वं' तत्र वैद्यशास्त्रे प्रसिद्धमित्यर्थः।।१०९।।

अशीत्यभ्यधिकमिति। अस्थ्नां सन्धयः शरीरेऽशीत्यधिकशतसंख्या भवन्ति स्थूलानां नाडीनां नव शतानि भवन्ति इत्यर्थः। केशेति। केशानां रोम्णां च संख्या अशीतिःशतानि—अष्टौ सहस्राणि इति यावत्, तावत्यः कोटय इत्यर्थः। अष्टसहस्राणि कोट्य इति पाठमादाय केशादीनां सूक्ष्मावयवाऽभिप्रायेण याज्ञवल्क्यवदुक्तम्। सार्द्धत्रिकोटिप्रसिद्धिस्तु रोमकूपाभिप्रायेण। वस्तुतस्तु[1] 'अर्द्धचतस्र' इति श्रुतिपाठः प्रायः पुस्तकेषु दृश्यते; तथा च अर्द्धन्यूनाश्चतस्रः— इति शाकपार्थिवादित्वेन व्युत्पत्तौ प्रसिद्ध्यविरोध एवेति बोध्यम्।।११०।। जिह्वेति। मुखे दृश्यमाना कण्ठमभिव्याप्य स्थिता जिह्वा द्वादशपलपरिमिता भवति। तथा हृदयमध्यस्य रक्तवर्णस्य परिमाणम् अष्टौ पलानि; तदेव हृदयमध्यं हार्दं पद्मम् इति प्रसिद्धमित्यर्थः।।१११।। पित्तमिति। पित्ताख्यो धातुः हृदये बहुधा स्थितत्वेन प्रसिद्धः। तस्य हि सर्वतो नाडीद्वारनिरोधकत्वेन निद्राप्रयोजकत्वं श्रुत्यादिषु प्रोक्तम्। अस्य परिमाणं प्रस्थः। तस्य रूपं तु पञ्चगुञ्जात्मको माषः;[2] ते माषाः षोडशकर्षः कर्षचतुष्टयं पलं, तच्चतुष्टयं कुण्डवः, तच्चतुष्टयं प्रस्थ इति। तथा कफधातोः गले स्फुटमनुभूयमानस्य देहव्याप्तस्य परिमाणं प्रस्थानां चतुष्टयमिति।।११२।।

शरीर में सात धातु हैं—त्वक्, असृक (खून), मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा (अस्थिसार) और शुक्र। दाँत रूप हड्डियाँ पूर्ण विकसित शरीर में बत्तीस होती हैं।।१०८।। पैरों से मस्तक तक की त्वचा में एक सौ आठ 'मर्म' हैं जिनका शस्त्रादि से भेदन हो जाये तो प्रायः पुरुष मर ही जाता है या उसे असह्य व्याधि हो जाती है। मर्मस्थलों के बारे में आयुर्वेद के जानकार वैद्य जानते हैं।।१०९।।

शरीर में प्रधान हड्डियों के जोड़ एक सौ अस्सी हैं। स्थूल नाडियाँ नौ सौ हैं। केश-रोमों की संख्या तो आठ हज़ार करोड़ है! (इस संख्या पर कुछ मतभेद हैं लेकिन वास्तव में इनकी अनंतता, अनगिनतता अभिप्रेत होने से मतभेद महत्त्वहीन है। संख्या आदि सभी सूक्ष्म बिंदुओं के बारे में यही याद रखना चाहिये कि देह से वैराग्य कराने के लिये यह वर्णन है, न कि शरीरविज्ञान का पाठ्यक्रम! अतः उन बिंदुओं पर न प्रश्न उठाना चाहिये, न आग्रह रखना चाहिये।)।।११०।। मनुष्यों के मुख में कण्ठपर्यन्त स्थित जिह्वा का वजन बारह पल है। (एक पल लगभग ३५.८४ ग्राम का होता है, अतः लगभग ४३०.ग्राम जीभ का वज़न औसतन होता है।) हृदय के मध्य जो लाल रंग के कमल जैसा हार्द पद्म है उसका वज़न आठ पल है (लगभग २८७ ग्राम)।।१११।। प्रायः हृदय में रहने वाला पित्त एक प्रस्थ-भर होता है। (सोलह पल का एक प्रस्थ होता है।) गले में जिसका स्पष्ट अनुभव होता है वह श्लेष्मा शरीर भर में चार

१. नारायणस्य 'अर्धचतस्रो रोमाणि' इति पाठः। पुराणकृता तु दीपिकायामपि 'अष्टसहस्रो रोमकोट्य' इत्येव पठितम्। प्रत्येकं रोमकूपे पंचषाणां रोम्णामुपलंभादानन्त्याभिप्रायं च व्याख्यातं; विकल्पतः—'अष्टाधिकं सहस्रं कोटिश्च' इत्युक्तम्।
२. 'गुंजाभिरष्टभिर्माष' इत्यपरे।

सर्वाङ्गसंश्रयं शुक्रं कण्ठे हृदि च मूर्द्धनि। विशेषतः स्थितं यत्तु मथनेन विनिःस्रवेत्। ।११३
प्रस्थस्य च चतुर्थांशं तस्य देहे वदन्ति हि। मेदसश्चाऽपि सम्प्रोक्तौ प्रस्थौ द्वौ परिमाणतः। ।११४
मूत्रं चैव पुरीषं च बस्ति-संग्रहणीगतम्। अन्नपानग्रहस्याऽत्र वृद्ध्या ह्रासेन चानिशम्। ।११५
वर्द्धते क्षीयते यस्मात् तस्माद् नियतिवर्जितम्। पिप्पलादेन कथितं मुनिना सर्ववेदिना। ।११६
शरीरं सर्वजन्तूनां षण्णवत्यङ्गुलं स्मृतम्। स्वाङ्गुलैः केशपर्यन्तं पादान्तावधि दैर्घ्यतः। ।
देहे द्वात्रिंशदस्थीनि वंशाः स्युः पार्श्वयोर्द्वयोः। ।११७
द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीनामपि सन्धितः। एकैकस्यास्तु नाडीनां शतमेकोत्तरं हि याः। ।११८
शाखाः प्रश्ने समाख्याताः प्रतिशाखा इमाः स्मृताः। तासां सर्वत्र देहेऽस्मिन् व्याप्तिरापादमस्तकम्। ।११९

सर्वाङ्गेति। शुक्राख्यः सप्तमो धातुः सर्वाङ्गसंस्थितोऽपि कण्ठहृदयमूर्द्धसु विशेषेण स्थितः, क्षोभेन निःसरणशीलः, प्रस्थचतुर्थांशसंमितः। मेदःसंज्ञधातोस्तु परिमाणं प्रस्थद्वयमित्यर्थः। ।११३-४। । मूत्रमिति। बस्तिः मूत्राशयः, संग्रहणी पुरीषाशयः तद्गतयोः मूत्रपुरीषयोः परिमाणमनियतं यतोऽन्नपानग्रहणेन अनियतेन तयोर्वृद्धिह्रासौ भवतः। एवंविधं जिह्वादीनां परिमाणं गर्भोपनिषद्द्रष्ट्रा पिप्पलादाख्यमुनिना प्रोक्तम्। रसरुधिरादिपरिमाणं तु नवाञ्जल्यादिकं याज्ञवल्क्याद्युक्तं द्रष्टव्यमिति भावः। ।११५-६। ।

अथ शाखान्तरगुणोपसंहारन्यायेन प्राप्तान् देहस्य आन्तरान् विशेषानाह—शरीरमित्यादिना। सर्वेषां शरीरं पादाग्रमारभ्य केशपर्यन्तं दैर्घ्ये स्वाङ्गुलैः तच्छरीरीयाऽङ्गुलैः मीयमाने सति षण्णवत्यङ्गुलं षडधिकनवत्यङ्गुलिपरिमितं भवतीत्यर्थः। देह इति। अत्र देहे द्वयोः पार्श्वयोः प्रत्येकं षोडश षोडश अस्थीनि गृहमण्डपस्य वंशभूतानि। तानि सङ्कलने द्वात्रिंशद् भवन्तीत्यर्थः। ।११७। ।

प्रश्नोपनिषदुक्तां (३.६) सूक्ष्मनाडीसङ्ख्यामाह—द्वासप्ततीति द्वाभ्याम्। अत्र देहे नाडीनां द्वासप्ततिः सहस्राणि, द्व्यधिकसप्ततिसहस्रसङ्ख्या नाड्य इति यावत्, ता अत्र सन्तीत्यर्थः। किमेतावत्य एव नाड्य इति चेद्? नेत्याह—सन्धित इत्यादिना। प्रश्ने प्रश्नोपनिषदि या नाडीनां 'शतं चैके' त्यादिश्रुतिप्रसिद्धानाम् (कठ.६.१६) एकाधिकसङ्ख्यानां मध्ये एकस्या एकस्याः सन्धितो जातत्वेन शाखाभूताः शतं शतं नाड्य उक्ताः तासाम् एकैकस्याः प्रतिशाखात्वेन इमा द्वासप्ततिसहस्रसङ्ख्याः स्मृताः प्रोक्ता इति सम्बन्धः। ताभिर्जीवस्य व्याप्तिः सर्वत्र शरीरे भवति। इति द्वयोरर्थः। अयं हि प्रश्नवाक्यस्य ग्रन्थकृदभिमतो निर्गलितार्थः—एका मूलभूता नाडी। तस्याः स्कन्धोपस्कन्धभूताः शतं नाड्यः। अयुतं शाखानाड्यः। तासां सम्बन्धिन्यः प्रतिशाखाख्या नाड्यो द्वासप्ततिकोट्यो भवन्ति। सङ्कलने—द्वासप्ततिकोट्यो दशसहस्रं शतम् एका च—एतावत्यो भवन्ति। इति सप्तदशे स्फुटी भविष्यतीति। ।११८-९। ।

प्रस्थ जितनी होती है। ।११२। । शुक्र नाम का सातवाँ धातु शरीर के सभी अंगों में स्थित रहने पर भी कण्ठ, हृदय और मूर्धा में विशेषकर रहता है और मन्थन से क्षुब्ध होने पर निःसृत होता है। एक-चौथाई प्रस्थ जितना शुक्र देह में होता है। शरीर में दो प्रस्थ मेदा होती है। ।११३-४। । मूत्राशय में मूत्र और मलाशय में मल एकत्र रहता है। खान-पान के बढ़ने-घटने से मल-मूत्र की मात्रा भी बढ़ती-घटती है अतः उसका निश्चित माप सब शरीरों में सदा नहीं रहता। ये माप और वज़न सर्वज्ञ पिप्पलाद मुनि ने गर्भ नामक उपनिषत् में बताये हैं। ।११५-६। ।

पैर के पंजे से केश तक सब जंतुओं का (मनुष्यों का) शरीर अपनी-अपनी अंगुली से छियानबे अंगुल लम्बा होता है। देह के दोनों पसवाड़ों में सोलह-सोलह हड्डियाँ होती हैं जैसे घर का छप्पर धारण करने वाले बाँस होते हैं। ।११७। ।

प्राणः

शरीरादधिकः प्राणो द्वादशाङ्गुलमानतः। बहिर्नासिकया याति तस्मात् प्राण इतीरितः।।१२०

तेजःस्थानम्

चत्वारिंशत्तथैवाऽष्टावङ्गुलानि पदाग्रतः। केशाग्राच्चाऽभवन् मध्यं शरीरस्य नृणामिह।।१२१
देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम्। चतुरस्रं शिरोऽन्तं तत् तिष्ठत्याचन्द्रमण्डलम्।।१२२
चतुरस्रे स्थितं तेजः शक्तिसंज्ञं सुदुर्गमम्। अतिसूक्ष्मं सदा जन्तून् जीवतो न जहाति च।।१२३
गुदातु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्राद् द्व्यङ्गुलतोऽप्यधः। एकाङ्गुलप्रमाणं तच्चतुरस्रमवस्थितम्।।१२४

उक्तनाडीभ्योऽप्यधिकप्रचरणशालित्वाद् आध्यात्मिकवायोः प्राणत्वं युक्तमित्याह—शरीरादिति। प्राण आध्यात्मिकवायुः शरीरात् षण्णवत्यङ्गुलाद् अधिकोऽष्टोत्तरशताङ्गुलप्रमाणो भवति, यतो नासिकाद्वारेण बहिः द्वादशाङ्गुलदेशेऽपि गच्छन्नुपलभ्यते। अत एव च तस्य प्राणसंज्ञाऽपि—प्रकर्षेण आधिक्यलक्षणेन अनिति इति व्युत्पत्तिसमन्वयाद् इत्यर्थः।।१२०।।

देहे तेजःस्थानं दर्शयितुं तदुपयोगिमध्यदेशस्वरूपमाह—चत्वारिंशदिति। पादाग्रमारभ्य केशाग्रमारभ्य वा अष्टचत्वारिंशदङ्गुलिमितो देशो देहस्य मध्यत्वेन बोध्य इत्यर्थः।।१२१।।

तत्र तेजःस्थानं दर्शयति—देहमध्य इति द्विपञ्चाशत् श्लोकैः। तस्मिन् देहमध्ये चतुरस्रं चतुष्कोणम् अग्निस्थानं भवति। तस्याऽग्नेः नाडीद्वारा व्याप्तिस्तु शिरःपर्यन्तम्, तत्राऽपि मस्तकस्थित-चन्द्रमण्डलपर्यन्तं बोध्येत्यर्थः। तथा चोक्तमागमे भगवता महादेवेन 'सर्वेषामपि जन्तूनां मूर्ध्नि तिष्ठति चन्द्रमाः। अधो भागे रविः प्रोक्तो मृत्युकाले विपर्ययाद्।।' इति।।१२२।। चतुरस्र इति। तस्मिंश्चतुरस्रे स्थाने स्थितं तेजो देहेन्द्रियादिसामर्थ्य-प्रयोजकत्वात् शक्तिसंज्ञं भवति, अतिसूक्ष्मत्वाद् दुर्लक्ष्यम्, औष्ण्यरूपेण जीवनलक्षणं च भवतीत्यर्थः। जीवतः प्राण-धारकान् न त्यजतीति।।१२३।। तदेव तेजःस्थानं विशेषतोऽवधारयति—गुदात्त्विति। गुदात् पायुस्थानाद् ऊर्ध्वं द्व्यङ्गुलमिते देशे, तावत्येव च उपस्थाद् अधो देशे तत् तेजसः स्थानभूतं चतुरस्रं स्थितं भवतीत्यर्थः।।१२४।।

प्रश्नोपनिषदुक्त एक सौ एक नाडियों में प्रत्येक की संधियों से उत्पन्न सौ-सौ शाखानाडियों में प्रत्येक की प्रतिशाखा नाडियाँ बहत्तर हज़ार हैं जो पैरों से मस्तक तक इस सारे शरीर में व्याप्त हैं। (सत्रहवें अध्याय में पुराणकार नाडियों की विस्तृत चर्चा करेंगे। तदनुसार संक्षेप है : एक मूल नाडी है जिससे सौ नाडियाँ निकली हैं। उन सौ में हरेक से सौ-सौ शाखा नाडियाँ निकली हैं अर्थात् दस हज़ार शाखा नाडियाँ हैं। हरेक शाखा नाडी से बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाडियाँ निकली हैं अर्थात् बहत्तर करोड़ प्रतिशाखा नाडियाँ हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर संख्या है—बहत्तर करोड़ दस हजार एक सौ एक।)।।११८-९।।

शरीर से बारह अंगुल अधिक परिमाण वाला है प्राण जो नासिका से बाहर निकलता है। (छियानबे अंगुल के शरीर में तो व्याप्त रहता ही है, नासिका से निकल कर बारह अंगुल की दूरी तक जाता है अतः कुल एक सौ आठ अंगुल उसका परिमाण हुआ।) क्योंकि यों वह अधिक स्थल में गति कर लेता है इसीलिये उसे प्राण कहते हैं। (प्र=अधिक, अन=गति करता है।)।।१२०।।

चाहे केशस्थान मस्तक से नापें या पैर के अग्रभाग से, मनुष्यों के शरीर का मध्य उन्हीं की अंगुली से अड़तालीस अंगुल पर होता है।।१२१।।

देह के मध्य में चौकोर अग्निस्थान होता है। नाडियों द्वारा वह अग्नि सिर तक अर्थात् मस्तक में स्थित चन्द्रमण्डल तक व्याप्त रहती है। अग्निस्थान की प्रभा तपे सोने जैसी होती है।१२२।। वह तेज देह-इंद्रियादि के सामर्थ्य का प्रयोजक होने से शक्ति कहलाता है। वह अतिसूक्ष्म अतः दीखना मुश्किल तेज जब तक जंतु जीवित रहते हैं तब तक उन्हें नहीं छोड़ता।।१२३।। वह चौकोर अग्निस्थान गुदा से दो अंगुल ऊपर और उपस्थ से दो अंगुल नीचे है। उसका स्वयं का माप एक अंगुल है।।१२४।।

द्वादशारम्

अत्र मध्ये शरीरस्य ह्यवकाशे नवाङ्गुले। उत्सेधाच्च तथाऽऽयामात् कन्दोऽस्ति चतुरङ्गुलः।।१२५

नवाङ्गुलपरीणाहो दण्डाकारस्त्वगादिना। वेष्टितो नाभिनालः स्याद् मूलभूतः शरीरिणाम्।।१२६

अस्य मध्य इदं नाभिचक्रमुक्तं मनीषिभिः। द्वादशारन्तु तन्नित्यं देहेन परिवेष्टितम्।।१२७

अत्र चक्रे भ्रमत्येष जीवो हृदयमाश्रितः। कर्मणा तन्तुजालस्थो यथा भ्रमति लूतिकः।।१२८

नाभिश्च हृदयं कण्ठश्चक्षुर्मूर्द्धा च पण्डितैः। आपादमस्तकं देहे स्थितस्याऽपि शरीरिणः।।
हेतुना केनचिन्नित्यमुच्यन्ते स्थानकानि हि।।१२९

जीवस्याद्ये मूलचक्र आधार इति कीर्तिते। तत्र प्राणयुतो जीवश्चतुरस्रेऽस्ति सर्वदा।।१३०

कुण्डलिनी

नाभेरधस्तथाऽऽधारादूर्ध्वं तिर्यगवस्थिता। अस्ति कुण्डलिनी शक्तिर्भुजङ्गीव शरीरगा।।१३१

एवं नाडीलतानां जनिस्थानस्य कन्दस्य वृत्तमप्यागमे प्रपञ्चितं दर्शयति—अत्रेति। उक्तरूपे शरीरस्य मध्ये योऽवकाशो नवाङ्गुलिमितः तस्मिन् दैर्घ्याऽऽयामयोः चतुरङ्गुलः कन्दः कन्दसमो मांसपिण्डविशेषोऽस्तीत्यर्थः।।१२५।। नवाङ्गुलेति। तस्मात् कन्दाद् उत्थितो नाभिनालो नाभिचक्रात्मकपङ्कजस्य नालभूतोऽवयवोऽस्ति। कीदृशः? नवाङ्गुलविस्तारको दण्डसदृशः शरीरिणां सकलशरीरावयवानां मूलभूतः त्वगादिसप्तधातुभिः वेष्टितः चेत्यर्थः।।१२६।। अस्येति। अस्य नाभिनालस्य मध्य इदं योगिभिरनुभूयमानं नाभिचक्रं भवति। कीदृशम्? द्वादशारम् अरा रथचक्रावयवविशेषाः ते द्वादश यस्य तत्तथा।।१२७।। इदमेव चक्रं हार्दपद्मेऽन्तर्भावितं श्रुत्यादिष्वित्याह—अत्र चक्र इति। हृदयवासित्वेन प्रसिद्धो जीव उक्तचक्रे कर्मरूपतन्त्वाश्रितो लूताकीटवद् भ्रमतीत्यर्थः।।१२८।।

यद्यपि जीवः सर्वत्र देहे प्राप्तः तथाऽपि विशेषाऽभिव्यक्तिविवक्षया हृदयादीनां तत्स्थानत्वव्यवहार इत्याह—नाभिश्चेति। केनचिद् हेतुना विशेषाभिव्यक्तिलक्षणेन नाभ्यादीनि जीवस्य स्थानानि उच्यन्त इति सम्बन्धः।।१२९।। फलितमाह—जीवस्येति। तत्र जीवस्थानानां मध्ये आद्ये प्रथम आधाराख्ये चक्रे चतुरस्रतया वर्णिते प्राणेन सहितो जीवः सर्वदाऽस्ति सन्निहित इत्यर्थः।।१३०।।

अत्रैव चक्रे कारणोपाधिप्रधानां कुण्डलिनीसंज्ञाम् आगमोक्तां ब्रह्ममूर्तिं वर्णयति—नाभेरिति। नाभिचक्राद्

पूर्वदर्शित जो शरीर का मध्य वहाँ नौ अंगुल जितनी खाली जगह है। उसमें चार अंगुल लंबा व इतना ही चौड़ा कंद जैसा मांसपिण्ड है। (कंद अर्थात् आलू आदि जैसा या गाँठ जैसा।)।।१२५।। उस कंद से नौ अंगुल लंबी दण्डी-सी नाभिनाल निकली है—नाभिचक्ररूप कमल की वह नाल है। शरीर के सब अवयवों की वह नाल मूल है और त्वक् आदि सातों धातुओं से घिरी हुई है।।१२६।। मनीषियों ने इस नाल के मध्य में वह नाभिचक्र बताया है जिसका योगी अनुभव करते हैं। देह से घिरे उस चक्र के बारह अरे हैं (ताड़ियाँ हैं)।।१२७।। हृदय में आश्रित जीव कर्मवश इसी द्वादशार (बारह अरों वाले) चक्र में भ्रमण करता रहता है जैसे जाले में मकड़ी घूमती रहती है।।१२८।।

शरीरधारी पैर से सिर तक सारे शरीर में स्थित है फिर भी किसी हेतु से पंडित उसके पाँच स्थान हमेशा बताते हैं—नाभि, हृदय, कण्ठ, चक्षु और मूर्द्धा। (हेतु है विशेष अभिव्यक्ति, इन जगहों पर जीव की विशेष अभिव्यक्ति होती है। वस्तुतस्तु ध्यानादि के उपयोग के ये स्थान हैं, वहाँ विशिष्ट धारणाएँ विहित हैं अत एव इन स्थानों का पृथक् उल्लेख होता है। ऐसे अन्य भी विशेष स्थान बताये जाते हैं। सर्वत्र शास्त्रप्रसिद्धि के अनुसार ही समझ लेना चाहिये, दृष्ट या यौक्तिक विशेषता खोजना व्यर्थ है।)।।१२९।। जीव के उक्त विशेष स्थानों में प्रथम है पूर्ववर्णित द्वादशार जिसे आधारचक्र भी कहते हैं। प्राण समेत जीव वहाँ हमेशा रहता है।।१३०।।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इति प्रोक्तैस्तत्त्वैरष्टविधा कृता।।१३२

इयं शब्दौघजननी वायुना स्फालिता सती। अनयाऽत्र निरुद्धोऽयं वायुर्जठरगो महान्।।१३३

आगत्य दशमद्वारं बहिरेवाभिधावति। सुषुम्ना दशमद्वारे ब्रह्मरन्ध्रं प्रतिष्ठिता।। तस्या मुखं

तस्या मुखं निरुध्यास्ते स्वमुखेनेयमुज्ज्वला।।१३४

योगकालात् पवनतः प्रबुद्धा श्वासवह्नितः। स्फुरत्याहृदयाकाशं नागरूपा महोज्ज्वला।।१३५

वायुर्वायुसखेनैति सहान्तः स सुषुम्नया। यदैषा स्वमुखेनास्या मुखे रोधं करोति न।।१३६

नाड्यः

कन्दमध्ये स्थिता नाडी सुषुम्नेति प्रकीर्तिता। तिष्ठन्ति परितः सर्वाश्चक्रेऽस्मिन्नाडिकाः पराः।।१३७

अधः आधारचक्रादुपरि च देशे भुजङ्गवत् त्रिवलयावस्थानात् तिर्यगवस्थिता कुण्डलिनीसंज्ञा शक्तिः कारणरूपब्रह्मणो मूर्तिरस्तीत्यर्थः।।१३१।। इयमेवाऽष्टमूर्तिरपरप्रकृतित्वेन गीतासु सप्तमाध्याय उक्तेत्याह—भूमिरिति। भूम्यादिरूपस्य बाह्यस्य, मनःप्रभृतेरान्तरस्य चाऽर्थप्रपञ्चस्य इयमेव हेतुरिति भावः।।१३२।। शब्दप्रपञ्चस्याऽपीयमेव हेतुरित्याह—इयमिति। इयं कुण्डलिनी वायुना प्राणेन ताडिता सती शब्दवृन्दस्य जनिका। अस्या व्यापारान्तरमाह—अनयेति। प्राणस्य बहिर्ब्रह्मलोकं प्रति गमनप्रतिबन्धोऽपि अस्या व्यापार इत्यर्थः।।१३३।। एतदेव स्फुटयति—आगत्येति। यतो जाठरो वायुः दशमद्वारं गत्वा बहिः गन्तुमेवोद्यतो भवति परन्तु तत्र निःसरणपन्थाः सुषुम्नाख्यनाडीरूपो भवति, इयं कुण्डलिनी तु तस्याः सुषुम्नायाः मुखं स्वमुखेन निरुध्य उक्तदेशे तिष्ठति शेत इति यावत्। इत्थमस्याः प्राणमार्गनिरोधकत्वमित्यर्थः।।१३४।। कदा इयं प्रबुद्धय सुषुम्नामुखं मुञ्चति? इत्याकांक्षायामाह—योगेति द्वाभ्याम्। योगेन कालः कालनं चालनमिति यावत् तद्यस्य तथाभूतेन प्राणवायुना यदा प्रबुद्धा भवति तदा हृदयाकाशम् अभिव्याप्य स्फुरति दशमद्वारान्तं प्रसरति। कीदृशी? शेषनागवद् उज्ज्वलमूर्तिरित्यर्थः।।१३५।। वायुरिति। तदा एषा कुण्डलिनी प्रबुद्धा सती अस्याः सुषुम्नाया मुखरोधं न करोति। 'तदा' कदा? यदा स प्राणो वायुसखेन अग्निनाऽऽन्तरेण सह सुषुम्नया मार्गभूतया अन्तः देहमध्यम् एति प्रविशति सुषुम्नामुखरूपद्वारेणेत्यर्थः।।१३६।।

तत्तत्स्थाने प्राणस्थापनरूपप्रत्याहारस्य वसिष्ठोक्तस्य[1] उपयोगिनाडीनां स्वरूपादिकमाह—कन्देति सप्तदशभिः। वर्णितकन्दस्य मध्ये सुषुम्नाख्या नाडी तिष्ठति। तस्याः परितः समन्ताद् अन्याः तिष्ठन्ति इत्यर्थः।।१३७।।

नाभिचक्र से नीचे एवं आधारचक्र से ऊपर कुडलिनी नामक शक्ति तिरछी पड़ी है मानो तीन बार गोल घेरा बनाकर सर्पिणी पड़ी हो!।।१३१।। (कारण ब्रह्म की ही यह मूर्ति है अतः) भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश—इस बाह्य प्रपंच और मन, बुद्धि, अहंकार—इस आन्तर प्रपंच के घटक आठ तत्त्वों के आकार में बन गयी है। (कुंडलिनी की ही ये आठों मूर्तियाँ हैं अर्थात् उक्त सारे प्रपंच की यही हेतु है।)।।१३२।। प्राण वायु से ताडित होने पर यही शब्दवृंद की जननी है। जठरस्थित यह महान् वायु इसी ने शरीर में रोके रखा है।।१३३।। उदरस्थ वायु दसवें द्वार पर (सिर में) आकर बाहर निकलने की कोशिश करता है लेकिन निकलने का रास्ता तो सुषुम्ना नाडी ही है जो ब्रह्मरंध्र में प्रतिष्ठित है और उस सुषुम्ना के मुख को यह उज्ज्वल कुण्डलिनी अपने मुख से रोके हुए है अतः प्राण को इसने देह में निरुद्ध किया हुआ है।।१३४।। योग से चालित प्राणाग्निरूप वायु द्वारा जगाई जाने पर कुंडलिनी हृदयाकाश तक फैल जाती है, शेषनाग जैसी अत्यधिक उज्ज्वल हो जाती है।।१३५।।

आंतर अग्नि सहित प्राण जब सुषुम्ना के रास्ते देहमध्य पर पहुँचता है, सुषुम्ना के मुख से वहाँ प्रवेश करता है, तब जगी हुई कुण्डली उस सुषुम्ना के मुख को रोकना छोड़ देती है।।१३६।।

१. दक्षिणामूर्तिस्तोत्रस्य मानसोल्लासवार्तिके ४.१२ आदौ चोक्ता नाड्यः।

नाडीनामपि सर्वासां मुख्याः स्युस्ताश्चतुर्दश। सुषुम्नेडा पिङ्गला च परा तद्वत् सरस्वती।।१३८
कुहूश्च वारणा चैव सप्तमी च यशस्विनी। पूषा पयस्विनी तद्वत् शङ्खिनी दशमी स्मृता।।१३९
गान्धारी हस्तिजिह्वा च तथा विश्वोदराऽपि हि। अलम्बुषा च सर्वासां मुख्याः प्रोक्ताश्चतुर्दश।।१४०
तासु मुख्यतमास्तिस्र एका तास्वपि कीर्तिता। मुक्तिमार्गः सुषुम्ना सा ज्वलन्ती विश्वधारिणी।१४१
कन्दस्य मध्यमे भागे सुषुम्ना सम्प्रतिष्ठिता। पृष्ठमध्यस्थितेनास्थ्ना सह मूर्द्धनि सा गता।।१४२
इडा च पिङ्गला तद्वत् तस्याः सव्ये च दक्षिणे। पृष्ठतः पुरतस्तद्वन्नाडीनां हि द्वयं द्वयम्।
सुषुम्नेडापिङ्गलानां विज्ञेयं क्रमतः सदा।।१४३
सरस्वती कुहूश्चैव गान्धारी हस्तिजिह्विका। पूषा यशस्विनी चैव त्रिपंक्त्या नव नाडिकाः।।१४४
हस्तिजिह्वा कुहूश्चैव तृतीया च यशस्विनी। सव्यायाः प्रथमा पंक्तिर्द्वितीयाऽपि तथैव सा।
इडा चैव सुषुम्ना च पिङ्गला पंक्तितः स्थिता।।१४५

नाडीनां मध्ये चतुदर्श मुख्याः सनामंग्रहं दर्शयति—नाडीनामिति। त्रयं निगदव्याख्यातम्।।१३८-४०।। तास्विति। तासु इतरापेक्षया मुख्यत्वेन दर्शितासु चतुर्दशसु तिस्रः सुषुम्नेडापिङ्गलाः प्रधानतमाः। तास्वपि एका सुषुम्ना सर्वोत्तमा यतो ज्वलन्ती प्रसिद्धमाहात्म्या विश्वप्रपञ्चाधारत्वाद् इत्यर्थः। तच्च दहरादिविद्यासु प्रसिद्धमिति भावः।।१४१।। एतासां संस्थानमभिनयति—कन्दस्येत्यष्टभिः। वर्णितकन्दस्य मध्ये सुषुम्ना तिष्ठति पृष्ठवंशाख्यपृष्ठ-मध्यगताऽस्थिरूपद्वारेण मूर्द्धानं गच्छति चेत्यर्थः।।१४२।। इडेति। तस्याः सुषुम्नायाः सव्ये वामतः इडा तिष्ठति, दक्षिणतः पिङ्गलेति। एवं स्थितानां सुषुम्नेडापिङ्गलानां यथाक्रमं वक्ष्यमाणा युगलत्रयघटिकाः षण्नाड्यः पृष्ठेऽग्रे च बोध्या इत्यर्थः।।१४३।। तद्युगलत्रयं दर्शयति—सरस्वतीति। तत्र सुषुम्नायाः पृष्ठे सरस्वती, अग्रे कुहूः; इडायाः पृष्ठे गान्धारी अग्रे हस्तिजिह्वा; पिङ्गलायाः पृष्ठे पूषा, अग्रे यशस्विनी—इत्येवं संस्थानेऽग्रिममध्यमपश्चिमासु त्रिषु पंक्तिषु नव नाड्य उपविष्टाः। त्रिपंक्त्या इत्यस्य त्रिविधायाः पंक्तेः सम्बन्धिन्य इत्यर्थः।।१४४।।

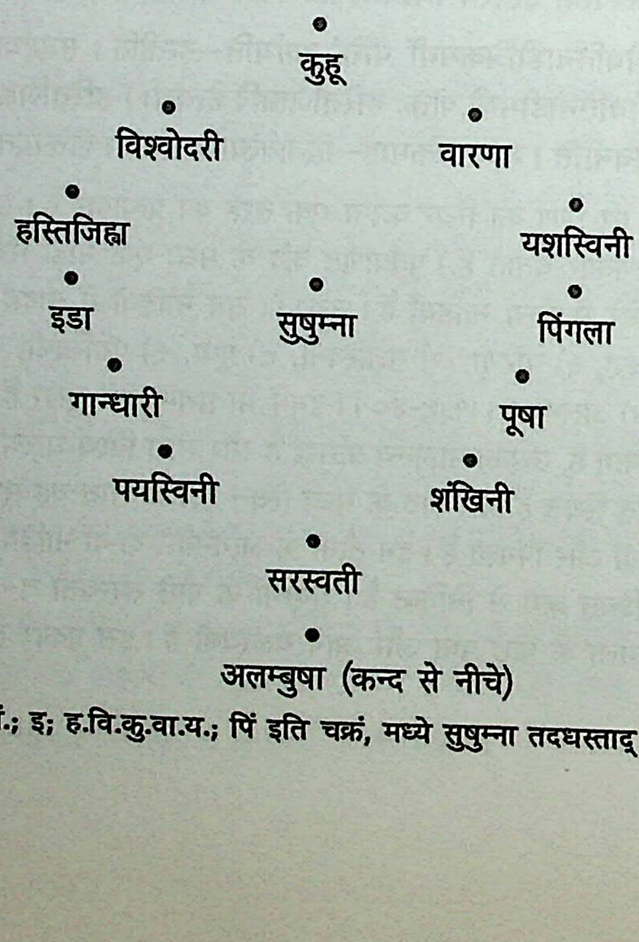
पंक्तित्रयमभिनयंस्तत्र पुरोवर्तिनाडीत्रिकमयीं पंक्तिं दर्शयति—हस्तीति। सव्याया इति पञ्चमी ल्यब्लोपे; तथा च सव्यां वामाम् आरभ्य पुरोवर्तिनाडीमयी पंक्तिः हस्तिजिह्वादिकेत्यर्थः। हस्तिजिह्वा हि इडायाः पुरोवर्तिनी, सुषुम्नायाः कुहूः, पिङ्गलाया यशस्विनीति। मध्यपंक्तिमाह—द्वितीयेत्यादिना। सा पंक्तिर्द्वितीयाऽपि तथैव वामादिकैव

(शरीर के विभिन्न स्थानों पर प्राण को स्थिर करना एक तरह का प्रत्याहार है। उस अभ्यास के उपयोग में आने वाली नाडियों का स्वरूप पुराणकार बताते हैं:) पूर्ववर्णित कंद के मध्य एक नाडी स्थित है जो सुषुम्ना नाम से प्रसिद्ध है। उसके चारों ओर एक घेरे में अन्य नाडियाँ हैं।।१३७।। सब नाडियों में चौदह प्रमुख हैं—१) सुषुम्ना, २) इडा, ३) पिंगला, ४) सरस्वती, ५) कुहू, ६) वारणा, ७) यशस्विनी, ८) पूषा, ९) पयस्विनी, १०) शंखिनी, ११) गांधारी, १२) हस्तिजिह्वा, १३) विश्वोदरा, १४) अलम्बुषा।।१३८-४०।। इनमें भी प्रथम तीन मुख्य हैं और तीन में भी प्रथमोक्त सुषुम्ना ही मुख्य है। वह मुक्ति का मार्ग है, उसका माहात्म्य प्रसिद्ध है और सारा विश्व धारण करती है।।१४१।। पूर्वोक्त कंद के बीचों-बीच सुषुम्ना भलीभाँति स्थित है और पीठ के मध्य स्थित हड्डी के साथ वह मूर्धापर्यन्त गयी है।।१४२।। सुषुम्ना के बायीं ओर इडा और दायीं ओर पिंगला हैं। इन तीनों के आगे-पीछे दो-दो नाडियाँ हैं (अर्थात् हरेक के आगे एक व पीछे एक)। ये नाडियाँ निश्चित क्रम से निविष्ट हैं। सुषुम्ना के पीछे सरस्वती व आगे कुहू हैं। इडा के पीछे गांधारी व आगे हस्तिजिह्वा हैं। पिंगला के पीछे पूषा और आगे यशस्विनी हैं। इस प्रकार तीन पंक्तियों में नौ नाडियाँ स्थित हैं।।१४३-४।।

गान्धारी प्रथमा तद्वद् द्वितीया च सरस्वती। पूषा पंक्तौ तृतीया स्यात् तृतीयस्यां सदैव हि।।१४६
कुह्वाश्च हस्तिजिह्वाया मध्ये विश्वोदरी स्थिता। कुह्वाश्चैव यशस्विन्या वारणा मध्यतः
स्थिता।।१४७
पूषायाश्च सरस्वत्याः स्थिता मध्येऽत्र शङ्खिनी। सरस्वत्याश्च गान्धार्या मध्येऽस्तीह पयस्विनी।।
अलम्बुषा च विज्ञेया कन्दमध्यादवःस्थिता।।१४८
पुरतोऽपुरतः पंक्तावेवं नाड्यो व्यवस्थिताः। पञ्च पञ्च च मध्येऽपि मुख्याः स्युस्तिस्र एव हि।।
एका कन्दादधःस्थाना ता एवं स्युश्चतुर्दश।।१४६

भवति यत इडादित्रयं मध्यपंक्तिरूपेण स्थितमित्यर्थः।।१४५।। पृष्ठगताभिः त्रिभिः घटितां तृतीयां पंक्तिमाह—गान्धारीति। तादृश्यां तृतीयायामपि पंक्तौ इडा पृष्ठगता गान्धारी प्रथमा, सुषुम्नापृष्ठगता सरस्वती द्वितीया, पिङ्गलापृष्ठगता पूषा तृतीया इत्यर्थः।।१४६।। वर्णितासु पंक्तिषु प्रथमा या पंक्तिः तस्यां विश्वोदरीवारणयोर्निवेश इत्याह—कुह्वा इति।।१४७।। तासु या तृतीया पंक्तिः तस्यां शङ्खिनीपयस्विन्योर्निवेश इत्याह—पूषाया इति। एवं त्रयोदशनाडीनां स्थानं दर्शितम्। अथ परिशिष्टाया अलम्बुषायाः स्थानमाह—अलम्बुषेति। अवः अधस्तात्।।१४८।। फलितमाह—पुरत इति। एवं सति पुरतः अग्रतः स्थितायां पंक्तौ पञ्च नाड्यः स्थिताः तथा अपुरतः पृष्ठतः स्थितायामपि पंक्तौ पञ्च नाड्यः स्थिताः। मध्यपंक्तौ तु तिस्र एव इडाद्याः। एका तु अधःस्थाना कन्दाद् अधो गता। एवं चतुर्दश स्थिता बोध्या इत्यर्थः। तथा चेदं चक्रं फलितम्—पूसंशयंगाम्[1]।।१४६।।

आगे की पंक्ति बायीं ओर से गिनें तो क्रमशः हस्तिजिह्वा, कुहू, यशस्विनी नाडियाँ उसमें हैं। मध्यम पंक्ति भी बायीं ओर गिनें तो उसमें इडा, सुषुम्ना और पिंगला हैं। पिछली पंक्ति भी बायीं ओर से गिनें तो उसमें गांधारी, सरस्वती और पूषा हैं।।१४५-६।। कुहू और हस्तिजिहवा के बीच विश्वोदरी है, कुहू और यशस्विनी के बीच वारणा है, पूषा और सरस्वती के बीच शंखिनी है, सरस्वती और गांधारी के बीच पयस्विनी है। कंदमध्य से नीचे चौदहवीं अलम्बुषा नाडी है। यों आगे-पीछे की पंक्तियों में पाँच-पाँच नाडियाँ हैं, मध्य-पंक्ति में तीन ही नाडियाँ है; वे ही प्रमुख नाडियाँ हैं; और एक नाडी कन्द से नीचे है। इस प्रकार चौदह नाडियाँ व्यवस्थित हैं।।१४७-६।। चित्र से समझें तो—



१. उत्तक्रमात्तु—पू.शं.स.प.गां.; इ; ह.वि.कु.वा.य.; पिं इति चक्रं, मध्ये सुषुम्ना तदधस्ताद् (कंदादधः) अलम्बुषा। 'पू.' आदिना पूषादिनाड्य उक्ताः।

इडा च पिङ्गला तद्वद् गान्धारी सह पूषया। नासाक्षिकर्णयुग्मस्था शङ्खिनी च यशस्विनी।।
[1]क्रमतः षडिमास्तद्वद् रसने च सरस्वती।।१५०।।

हस्तिजिह्वायशस्विन्यौ वामदक्षिणपादयोः। अङ्गुष्ठतः स्थिते नित्यं सर्वदा स्थितिहेतुके[2]।।१५१।।

अलम्बुषा प्रयात्यत्र पायुं मेढ्रं कुहूस्तथा। विश्वोदरावारणा च वामदक्षिणहस्तयोः।।१५२।।

शेषाः सर्वाश्च सर्वत्र नाड्यो देहेऽत्र संस्थिताः। असंख्याता हि वायूनां मार्गभूता व्यवस्थिताः।।१५३

प्राणस्थानानि

प्राणो मुख्यतमो वायुः कन्दस्याधः प्रतिष्ठितः। आस्यनासिकयोर्मध्ये हृदये नाभिमण्डले।
पादाङ्गुष्ठे च सततं यस्य भेदाः परे स्मृता।।१५४

नाभ्यादि जानुजङ्घान्तमपानोऽत्र व्यवस्थितः। विशेषतः शिश्नपायुद्वारे तिष्ठति सर्वदा।।१५५

एवं कन्ददेश एतासां स्थितिरुक्ता अथ तत उत्थाय यत्र यत्र गत्वा विशेषतो व्यापारं कुर्वन्ति तानि स्थानान्याह—इडा चेति चतुर्भिः। इडापिङ्गलयोः वामदक्षिणनासापुटयोः विशेषतो व्यापारः। गान्धारीपूषयोः अक्षियुग्मे। शङ्खिनीयशस्विन्योः कर्णयुग्मे। सरस्वत्यास्तु रसनायामित्यर्थः।।१५०।।

हस्तिजिह्वायशस्विन्योर्वामदक्षिणपादाङ्गुष्ठयोः स्थित्वा गतिप्रवर्तनं व्यापार इत्याह—हस्तीति।।१५१।। अलम्बुषायाः पायौ व्यापारः, कुह्वास्तु मेढ्रे, विश्वोदरावारणयोः तु यथाक्रमं वामदक्षिणहस्तयोः व्यापार इत्याह—अलमिति।।१५२।। सुषुम्नायास्तु दशमद्वारं गच्छन्त्या विश्वधारणरूपो व्यापार उक्त एव इत्यभिप्रेत्य उक्तानुक्तानां सर्वासां नाडीनां प्राणभ्रमणद्वारी भवनरूपः साधारणो व्यापार इत्याह—शेषा इति।।१५३।।

उक्तासु नाडीषु चरतां प्राणादीनां स्थानविशेषानाह—प्राण इति। यस्य प्राणस्य परेऽपानादयो भेदा भवन्ति स मुख्यः प्रधानभूतः प्राणाख्यो वायुः मुखनासिकयोः हृदये नाभौ पादाङ्गुष्ठे च स्थित इति सम्बन्धः।।१५४।। नाभ्यादीति। अपानाख्यो वायुः नाभिमारभ्य जङ्घापर्यन्तं पायूपस्थयोः च विशेषतः स्थित इत्यर्थः।।१५५।। द्वारेति।

इस प्रकार कंद में नाडियों की स्थिति बतायी। वहाँ से निकली हुई जहाँ जाकर विशेष कार्य करती हैं वे स्थान कहते हैं—इडा-पिंगला का विशेष व्यापार बायें व दायें नथुनों में होता है। गांधारी-पूषा का विशेष व्यापार बाँयी व दायीं आँखों में होता है। शंखिनी-यशस्विनी का विशेष व्यापार दोनों कानों में और सरस्वती का रसना में (जीभ में) होता है।।१५०।।

हस्तिजिह्वा-यशस्विनी बाँये व दायें पैरों के अंगूठों में पहुँची हुई वहाँ गति को प्रवृत्त करती हैं।।१५१।। अलंबुषा का विशेष व्यापार पायु में, कुहू का उपस्थ में, विश्वोदरा-वारणा का बाँये-दायें हाथों में है।।१५२।। दसवें द्वार तक जाती सुषम्ना का व्यापार तो सारे विश्व को धारण करना बता ही चुके हैं। बाकी असंख्य नाडियाँ देह में फैल कर सर्वत्र स्थित हैं और प्राणवायु के लिये मार्ग बनती हैं, उन्हीं में प्राण वायु बहकर सारे शरीर को सप्राण रखती है।।१५३।।

प्राण मुख्यतम वायु है। वह उक्त कंद के नीचे प्रतिष्ठित है। अपानादि इसी के भेद हैं। प्राण के प्रमुख ठिकाने हैं मुँह व नासिका के अंदर, हृदय, नाभि और पैर का अंगूठा।।१५४।। अपान वायु का प्रधान क्षेत्र नाभि से जंघा के घुटने पर्यन्त भाग तक है एवं पायु व उपस्थ में विशेष कार्यकारी है।१५५।। व्यानवायु का कार्यक्षेत्र है दोनों कान, दोनों आँखें, टखने, दोनों पैर, दोनों हाथ, पीठ में स्थित लंबी हड्डी (रीढ की हड्डी), कमर और पेट। उदान वायु सभी जोड़ों में एवं हाथ-पैरों में कार्यरत रहती है।।१५६।। समान वायु हमेशा सारा देह व्याप्त कर व्यवस्थित है और खाये हुए सारे

---

१. पूर्वोक्तमानसोल्लासप्रसङ्गे कश्चन विशेषो द्रष्टव्यः।

२. स्थितिः प्रस्थितिः, गतिरित्यर्थः।

द्वारद्वन्द्वस्थितो व्यानो गुल्फयोः पादहस्तयोः। पृष्ठवंशे कटौ तद्वदुरस्यपि शरीरिणाम्।।
उदानः सर्वसन्धिस्थः पादयोर्हस्तयोरपि।।१५६

समानः सर्वदा देहं सर्वं व्याप्य व्यवस्थितः। भुक्तं सर्वं रसं गात्रे व्यापयत्यग्निना सह।।१५७

द्वासप्ततिसहस्रेषु नाडीष्वपि च सञ्चरन्। समानवायुरेवैको देहं व्याप्य व्यवस्थितः।।१५८

नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः। श्वासोच्छ्वासादिकं कर्म प्राणस्यैतत् प्रकीर्तितम्।।१५९

अपानवायोः कर्मैतद् विण्मूत्रादिविसर्जनम्। हानोपादानचेष्टादि व्यानकर्मेति कीर्त्यते।।१६०

उदानकर्म तत्प्रोक्तं देहस्योन्नयनादि यत्। पोषणादि समानस्य शरीरे कर्म कीर्तितम्।।१६१

उद्गारादिगुणं यत्तन्नागकर्मेति कीर्त्यते। निमीलनादि कूर्मस्य क्षुतं तत् कृकलस्य च।।
देवदत्तस्य तन्द्री स्यात् शोथादि तु धनञ्जयात्।।१६२

पादाङ्गुष्ठौ च गुल्फौ च जङ्घामध्ये तथैव च। चित्त्योर्मूले च जानू च मध्ये चोरुद्वयस्य च।।१६३

पायुमूलं तथा पश्चाद् मध्यदेशश्च मेढ्रगः। नाभिश्च हृदयं तद्वत् कण्ठकूपस्तथैव च।।१६४

द्वारद्वन्द्वं श्रोत्राक्षिरूपं तत्र, गुल्फादिषु च व्यानः स्थित इत्यर्थः। पृष्ठवंशः पृष्ठगतदीर्घास्थि। तथा उदानः सर्वसन्धिषु पादयोर्हस्तयोः च स्थित इत्यर्थः।।१५६।। समान इति। द्वयं निगदव्याख्यातम्।।१५७-८।। तथा नागकूर्मादिवायवस्त्वगादिषु यथायोगं स्थिता बोध्या इत्याह—नागादीति।

उक्तानां वायूनां व्यापारान् क्रमेण आह—श्वासोच्छ्वासादिकमिति। श्वासः कोष्ठ्यस्य वायोः बहिःकरणम्, उच्छ्वासो बाह्यस्य अन्तराकर्षणमिति।।१५९।। अपानेति। मलोत्सर्जनम् अपानस्य कर्म। हानोपानादिकं बलसाध्यं कर्म व्यानस्य बोध्यम्। देहस्य उत्थापनादिकं तु उदानस्य कर्मेति। पोषणादीति। प्राणस्पन्दादिकं सर्वशरीरव्यापि कर्म समानस्य बोध्यम्। इति द्वयोरर्थः।।१६०-१।। उद्गारादीति। उद्गारादयो गुणाः प्रकारभूता यस्य तथाभूतं कर्म नागाख्यस्य वायोरुक्तम्। आदिपदेन हिक्कादिग्रहः। निमीलनं नेत्रसङ्कोचः, क्षुतं छिक्का, तन्द्री जृम्भणादिरूपा, शोथादीत्यादिपदेन पिटकोदयादिग्रहः।।१६२।।

योगिभिः क्रियमाणस्य प्रत्याहारस्य प्राणस्थापनरूपस्य उपयोगीनि अष्टादशस्थानानि वसिष्ठोक्तानि अनुवदति—पादाङ्गुष्ठाविति। १) पादाङ्गुष्ठः २) गुल्फः ३) जङ्घामध्यं ४) चितिः जङ्घापृष्ठे मांसोपचयः तदीयं मूलम् उपचयप्रारम्भदेशः ५) जानु प्रसिद्धम् ६) ऊरुमध्यं च ७) पायोर्मूलम् अधोदेशः ८) तथा पायोः पश्चाद् वर्णितो देहमध्याख्यो देशः ९) मेढ्रमध्यं १०) नाभिः ११) हृदयं १२) कण्ठकूपो घण्टिकाधोगतो गर्तः १३) तालुमूलं

रस को शरीर में वह अग्नि सहित फैला देती है। सभी नाडियों में संचरण करती हुई एक समान-वायु ही सारे शरीर में व्यापक है।।१५७-८।। नाग आदि पाँच वायुएँ त्वक् अस्थि आदि में योग्यतानुसार रहकर कार्य करती हैं। प्राण का कार्य श्वास-प्रश्वास है।।१५९।। अपानवायु का काम है विष्ठा, मूत्र आदि का विसर्जन। धकेलना, फैंकना, उठाना, खींचना आदि बलसाध्य कर्म व्यान वायु का कहा जाता है। देह को उठाना, सीधा रखना आदि उदानवायु का काम है। पोषणादि समानवायु का कार्य है। सारे शरीर में जो प्राण का स्पंदनादि होता है वह भी समानवायु का ही कर्म समझना चाहिये।।१६०-१।। वमन, हिचकी आदि तरह के कर्म नागवायु के हैं। आँखें झपकना आदि कूर्मवायु के और छींकना कृकलवायु के कर्म हैं। जँभाई आदि तंद्रा-संबंधी कर्म देवदत्तवायु करता है तथा सूजन आदि धनंजय वायु से होते हैं।।१६२।।

तालुमूलं च नासाया मूलं चाक्ष्णोश्च मध्यगम्। भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च मूर्द्धा अष्टादश स्मृताः।।
अष्टोत्तरशतान्यत्र मर्माण्यन्तर्भवन्ति च।।१६५

देहमानम्

पादाङ्गुष्ठात्तु पादस्य पृथङ्मानं न विद्यते। पादात्तु मानं गुल्फस्य सार्द्धाङ्गुलचतुष्टयम्।।१६६
गुल्फात्तु जङ्घयोर्मध्यं तद्दशाङ्गुलमीरितम्। जङ्घामध्याच्चितेर्मूलं यत्तदेकादशाङ्गुलम्।।१६७
चितिमूलात्तथैवैतज्जानु स्यादङ्गुलद्वयम्। जानोर्नवाङ्गुलं तत् स्यादूरुमध्यं हि यत् स्मृतम्।।१६८
ऊरुमध्यात्तथैवैतत् पायुमूलं नवाङ्गुलम्। देहमध्यं तथा पायोर्मूलात् सार्द्धाङ्गुलद्वयम्।।
देहमध्यात् पुनर्मेढ्रं तद्वत्सार्द्धाङ्गुलद्वयम्।।१६९

मेढ्रान्नाभिश्च विज्ञेया तथा सार्द्धदशाङ्गुलम्। चतुर्दशाङ्गुलं नाभेर्हृन्मध्यमिह कीर्तितम्।।१७०

१४) नासामूलम् १५) अक्ष्णोर्मध्यं च १६) भ्रूमध्यं १७) ललाटं १८) मूर्द्धा दशमद्वारं च—एते अष्टादश देशाः प्रत्याहारस्य स्मृताः। यानि च अष्टोत्तरशतं संख्यानि मर्माणि वैद्यशास्त्रे प्रसिद्धानि तानि अत्र एषु अष्टादशसु अन्तर्भवन्ति एतत्सन्निहितत्वात्। इति त्रयाणामर्थः। अष्टोत्तरशतं संख्यात्वेन संबन्धि येषाम् इति विग्रहः।।१६३-५।।

पूर्वं देहस्य षण्णवत्यङ्गुलत्वं पादाग्रमारभ्य केशान्तं यावल्लोकदृष्ट्यनुसारेण उक्तम्। अथ तस्य वसिष्ठोक्तं प्रकारान्तरमभिनयति—पादाङ्गुष्ठात्विति नवभिः। पादाङ्गुष्ठमारभ्य पृथङ्मानवर्णनं न युक्तं, पादत्वेन सर्वस्य पादावयवजातस्य संग्रहात्। किन्तु पादमारभ्यैव मानवर्णनं युक्तम् इति पूर्वदलार्थः। पादमारभ्य गुल्फस्य सार्द्धाङ्गुलिचतुष्टयमितो देशो बोध्यः। एवमग्रेऽपि।।१६६।। गुल्फात्तु जङ्घयोः इत्यादीनामष्टानां पदानि प्रसिद्धानि, कानिचिद् व्याख्यातानि च। व्योमसंज्ञं मूर्द्धस्थानम्। एवम् उक्तपरिमाणसङ्कलनेन।।१६७-७४।।

प्राणस्थापनरूप प्रत्याहार के उपयोगी अठारह प्रधान स्थान हैं ; १) पैर के अंगूठे, २) टखने, ३) पिंडलियों का मध्य, ४) जाँघों के पीछे का मांस जहाँ से मोटा होना आरंभ होता है, ५) घुटने, ६) दोनों जाँघो का मध्य, ७) पायु का मूल, ८) देहमध्य, ९) लिंग का मध्य, १०) नाभि, ११) हृदय, १२) कंठकूप अर्थात् कंठ की घंटी के नीचे का गड्ढा, १३) तालु का मूल, १४) नासिका का मूल, १५) आँखों के बीच का स्थान, १६) भ्रूमध्य, १७) ललाट और १८) मूर्द्धा अर्थात् दसवाँ द्वार। वैद्यकशास्त्र में जो एक सौ आठ मर्म प्रसिद्ध हैं वे इन्हीं अठारह के अंतर्गत आ जाते हैं क्योंकि वे इन्हीं के आसपास उपस्थित हैं।।१६३-५।।

(शरीर का पहले छयानबे अंगुल परिमाण बताया था। वसिष्ठ महर्षि ने उसे अन्य ढंग से समझाया है, तदनुसार कहते हैं—) शरीर का नाप पैर से ही प्रारंभ करना पर्याप्त है, पैरे के अंगूठे तक अलग से नापने की ज़रूरत नहीं। अतः पैर (पादतल) से टखने तक का माप है साढ़े चार अंगुल।।१६६।। टखने से पिण्डलियों के मध्य तक दस अंगुल लंबाई है। पिंडलियों के मध्य से ग्यारह अंगुल ऊपर 'चिति' का मूल आ जाता है। (जहाँ से जाँघ के पिछली तरफ का मांस प्रारंभ होता है उसे 'चिति' कहते हैं।)।।१६७।। चिति से दो अंगुल ऊपर घुटना है, उससे नौ अंगुल ऊपर जाँघ का मध्य है।।१६८।। वहाँ से नौ अंगुल उपर पायु का मूल है। वहाँ से ढाई अंगुल ऊपर देहमध्य है। उससे ढाई अंगुल ऊपर उपस्थ है।।१६९।। उससे साढ़े दस अंगुल ऊपर नाभि है। नाभि से चौदह अंगुल ऊपर हृदयमध्य है।।१७०।। वहाँ से छह अंगुल ऊपर कंठकूप है। कंठकूप से चार अंगुल ऊपर जिह्वा का मूल है। वहाँ से चार अंगुल ऊपर नासिका का मूल है। उससे आधी अंगुल ऊपर नेत्र का स्थान है।।१७१-२।। उससे आधी अंगुल ऊपर भ्रूमध्य है। उससे तीन

षडङ्गुले हि हृन्मध्यात् कण्ठकूपः प्रकीर्तितः। कण्ठकूपात्तु जिह्वाया मूलं स्याच्चतुरङ्गुलम्।।१७१
नासामूलं तु जिह्वाया मूलात् स्याच्चतुरङ्गुलम्। नेत्रस्थानं च तन्मूलादर्द्धाङ्गुलमितीष्यते।।१७२
तस्मादर्द्धाङ्गुलं तद्वद् भ्रुवोरन्तरमात्मनः। ललाटाख्यं भ्रुवोर्मध्यादूर्ध्वं स्यादङ्गुलत्रयम्।।१७३
ललाटाद्व्योमसंज्ञं तदङ्गुलत्रयमेव हि। षण्णवत्यङ्गुलं त्वेवं वसिष्ठेनापि कीर्तितम्।।
शरीरं सर्वतो नृणां गृहीतं यदहंधिया।।१७४

शरीरवर्णनोपयोगः

भूतभौतिकरूपेण पिप्पलादेन कीर्तितम्। गर्भोपनिषदीत्थं यत् सर्वेषामिह देहिनाम्।।१७५
महाभूतानि विषयाः शब्दाद्या इन्द्रियाणि च। तथान्तःकरणं प्राणास्त्वगाद्या अपि धातवः।।१७६
नाड्यो मर्माणि सर्वाणि दोषाः पित्तादयस्तथा। कण्ठो हृदयपद्मं च जिह्वा नालेन संयुतम्।।
विण्मूत्रे च तथा लोमगणा एतच्छरीरकम्।।१७७
एतेषां हि पृथक्त्वे किं शरीरं नाम विद्यते। आत्मबुद्धिर्यदैतेषु नरकेषु कुतो न सा।
विद्यन्ते यत एतानि नरकेष्वपि सर्वशः।।१७८
आत्मबुद्धिर्वृथैवाऽत्र प्रत्येकं मिलितेष्वपि। न दृश्यते यतः केन शरीरेऽस्मिन् हि सा भवेत्।।१७९
केशदन्तादयो मार्गे प्रत्येकं मिलिता अपि। दृष्टाः कुर्वन्ति नैवात्मबुद्धिं नापि शिरःस्थिताः।
अन्यदेहस्य नैवान्यदेहसंस्थाश्च कर्हिचित्।।१८०

इत्थं कृतस्य शरीरवर्णनस्य विवेकवैराग्ययोः पर्यवसानं दर्शयति—भूतेति दशभिः। यद् इत्थं भूतभौतिकरूपाऽवयववर्णनद्वारा गर्भोपनिषदि पिप्पलादेन कीर्तितम् तत् शरीरम् एतावदवयवसमुदायात्मकमेव इति तृतीयेनाऽभिसम्बन्धः। के तेऽवयवाः? इत्याकांक्षायांताननुवदति—महाभूतानीत्यादिना लोमगणा इत्यन्तेन। कीदृशं हृत्पद्मम्? यस्याऽधोलम्बिनी नालस्थानीया जिह्वा भवति। स्फुटमन्यत्।।१७५-७।। एतावन्मात्रत्वे हेतुम् उक्तेभ्यः पृथगनुपलभ्यमानत्वमाह—एतेषामिति। एतेषां भूतादीनां पृथक्त्वेन विवेके कृते सति शरीरं न किञ्चिदपीत्यर्थः। तथा चात्मबुद्धिरयुक्तेत्याह—आत्मेति। यदा यदि एतेषु लोमगणान्तेषु आत्मबुद्धिः क्रियते तर्हि नरके बीभत्सदेशेषु सा आत्मबुद्धिः किं न क्रियते? इत्यर्थः।।१७८।। एतदेव स्फुटयति—आत्मेति। यतः अत्र लोमान्तेषु प्रत्येकं स्थितेषु मिलितेषु वा आत्मबुद्धिर्वृथा भ्रमरूपाऽपि न दृश्यते ततः सा आत्मबुद्धिः शरीरे कथं भवेद् उपपद्येतेत्यर्थः।।१७९।। केशेति। अन्यदेहस्य शिरसि कण्ठोर्ध्वावयवे स्थिता ये केशादयः ते, मार्गे वा अन्यदेहे वा स्थिताः आत्मबुद्धिं न जनयन्ति

अंगुल ऊपर ललाट है।।१७३।। ललाट से तीन अंगुल ऊपर मूर्द्धा का स्थान है। इस प्रकार वसिष्ठ जी ने पादांगुष्ठ की जगह पादतल से नाप कर छियानबे अंगुल का नाप बताया है। लोग जिसे 'मैं' समझते हैं वह शरीर इतना ही है।।१७४।। शरीर का यह वर्णन इसीलिये है कि विवेकपूर्वक उससे वैराग्य उत्पन्न हो। गर्भोपनिषत् में पूर्वोक्त ढंग से सभी देह-धारियों के शरीर को पिप्पलाद महर्षि ने भूत-भौतिक रूप वाला कहा और समझा दिया कि जिसे हम इतना महत्त्व देते हैं वह शरीर इतना ही तो है—महाभूत, शब्दादि विषय, इंद्रियाँ, अंतःकरण, प्राण, त्वग् आदि धातु, नाडियाँ, सारे मर्म, पित्तादि त्रिदोष, कंठ, हृदय कमल जिसके नीचे नाल-स्थानीय जीभ है, विष्ठा, मूत्र, रोम। यही सब हमारा कुत्सित शरीर है।।१७५-७।।

इन सब से पृथक् कर देखें तो शरीर नाम की क्या चीज़ है! जब इन्हें 'मैं' समझा जाता है तो नरक को भी 'मैं' क्यों नहीं समझते ? नरकों में भी सब तरफ ये ही चीज़ें फैली रहती हैं।।१७८।। उक्त पदार्थ अलग अलग पड़े हों या इकट्ठे, इन्हें भ्रम से भी कोई 'मैं' नहीं समझता तो शरीर को ही 'मैं' क्यों समझ रहा है?।।१७९।। ये सब चीज़ें

अपि देहे मृते तद्वच्छयाने मूर्च्छितेऽथ वा। नात्मबुद्धिं कुतो मध्य एषा जागरणेऽस्ति हि।।१८१
अपि व्रणेऽतिदुर्गन्धे व्याधिशस्त्रादिसम्भवे। जुगुप्सा जायते देहे तद्धेतौ केन सा न हि।।१८२
वर्चस्के वाऽथ वा वान्ते पूतिगन्धे चिरस्थिते। अन्ने यद्वद् भवेद् नृणां जुगुप्सा दोषदर्शनात्।।१८३
तद्वदेव कुतो नैषा देहेऽन्नमयरूपिणि। न जायतेऽतिदुःखघ्नी ममात्रेतिविवेकिनः।।
इत्यादि चिन्तयन् धीरो विरागमधिगच्छति।।१८४
अथवा चिन्तयेदेवं गर्भोपनिषदीरितम्। जन्म दुःखतमं नृणां विरागस्याऽत्र कारणम्।।१८५
सप्तधात्वात्मको देहः पितुर्मातुश्च देहिनाम्। योनिजानां हि सर्वेषां शुक्रशोणितसम्भवः।।१८६
पञ्चभूतात्मको योऽयं मर्मान्तं परिकीर्तितः। शरीरं शीर्यमाणत्वाद् देह एष प्रकीर्तितः।।१८७

विषयतयेत्यर्थः।।१८०।। किं च मरणमूर्च्छासुषुप्तिषु अदृश्यमानाया देहात्मबुद्धेः अकस्मादुद्भवन्त्या मिथ्यात्वं वक्तव्यमेवेत्याह—अपि देह इति।।१८१।।

अथ वैराग्ये पर्यवसानं स्फुटयन् देहकार्ये व्रणादौ जुगुप्सां कुर्वतामपि यद् व्रणाद्युपादाने देहे न भवतीत्यतिचित्रमित्याह—अपि व्रण इति। तद्धेतौ व्रणाद्युपादाने।।१८२।। वर्चस्क इति। किं च देहस्य कारणेऽन्ने वान्तभावपुरीषभावादिदुर्गन्धावस्थापन्ने यथा जुगुप्सा नृणां भवति तथा ममात्र देहेऽन्नविकारे एषा जुगुप्सा कुतो न जायते? कीदृशस्य मम? इति उक्तविधया विवेकिनः विवेकवतः। कीदृशी जुगुप्सा? अतिदुःखस्य संसारमयस्य हन्त्रीत्यर्थः।।१८३-४।।

अथ वेति। अथवा गर्भोपनिषदुक्तं नृदेहस्य जन्म दुःखरूपत्वेन विरागप्रयोजकं चिन्तयेद् इत्यर्थः।।१८५।।

तत्र बीजद्वारा[1] शरीरस्य बीभत्सतामाह—सप्तेति। सर्वेषां योनिजानां सम्बन्धिनोः मातापित्रोः देहः सप्तधातुमयः, शुक्रशोणितबीजकश्च इत्यविवादम्। तथा च तत्स्वभावतैव जायमानानां भवतीति भावः।।१८६।। अथ पितृदेहप्रवेशे दुःखं स्फुटयितुम् अग्निभिः शीर्यमाणत्वात् शरीरत्वं श्रुतौ प्रोक्तं वर्णयति—पञ्चेति चतुर्भिः। योऽयं देहो मर्मान्तं मर्माख्यावयवपर्यन्तं यथा भवति तथा वर्णितः स एव शरीरमित्युक्तः शीर्यमाणत्वात् प्रतिक्षणं विशरणं नीयमानत्वाद् इत्यर्थः।।१८७।।

सड़क पर पड़ी हों तो इन्हें देखकर कोई इन्हें 'मैं' नहीं मान लेता। किसी दूसरे के शरीर के सिर आदि के केशादि को भी कोई 'मैं' नहीं मानता।।१८०।। मृत, सोये या मूर्छित शरीर में कोई मैं-बुद्धि नहीं करता तो बीच में जाग्रत् में यह कैसे हो जाती है! (अन्यदा न होकर अकस्मात् जाग्रत् में प्रतीत होने से यह मिथ्या ही है।)।।१८१।।

रोग, शस्त्र आदि से हुए अत्यंत दुर्गंधयुक्त घाव के प्रति जुगुप्सा (घृणा) हो जाती है तो उस घाव के उपादानरूप शरीर के प्रति जुगुप्सा क्यों नहीं होती?।।१८२।। टट्टी, वमन किया अन्न देर तक पड़ा रहे तो सड़ाँध मारता है, उसे देखते ही लोगों को उसमें दोष प्रतीत होता है और उसके प्रति घृणा होती है। उसी तरह अन्नमय देह में दोषदृष्टिपूर्वक इस के प्रति घृणा क्यों नहीं होती? शास्त्रादि में कहे ढंग से विवेक में सक्षम होकर भी मुझे शरीर से वह घृणा नहीं होती जो फलतः महादुःखों का घात करने वाली है!—इस तरह विचार करते रहने वाले धीर को वैराग्यलाभ हो जाता है।।१८३-४।।

यों स्वरूपतः शरीरघटकों की घृणितता के साथ नृदेह के कष्टमय जन्म का चिंतन करना चाहिये, उससे भी शरीर के प्रति वैराग्य होता है। इसीलिये 'गर्भोपनिषत् में जन्म का वर्णन है।।१८५।।

---

१. 'स्थानाद् बीजाद् उपष्टम्भाद् निःस्यन्दाद् निधनादपि। कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः।।' इति योगभाष्यकारैः (२.५) प्रदर्शितम्।

तत्राग्नित्रयमुद्दिष्टं ज्वलदस्य हि कोटरे। जाठरो मानसश्चान्यो बाह्येन्द्रियसमुत्थितः।।१८८
मानसे शास्त्रजं तद्वदशास्त्रीयं च हूयते। सुखं दुःखं च शब्दाद्यास्तद्वदैन्द्रियकेऽपि च।।१८९
चतुर्विधं तथैवान्नं जाठरे जातवेदसि। लेह्यं पेयं तथा चोष्यं भोज्यमित्येव कीर्तितम्।।१९०

जीवस्य प्रवेशः

पयः सोमाज्यमुख्यानामाहुतीनामशेषतः। विकारः श्रद्धया युक्तो योऽग्निहोत्रादिकर्मणि।।१९१
सोमं राजानमासाद्य भूमौ पर्जन्यधारया। समागतः सदैवान्नं नाना जीवसमाश्रयः।।१९२
पितृभ्यामद्यमानं तत् क्षुत्पिपासासमाश्रयात्। जाठरे जातवेदाः स कोष्ठवायुसमीरितः।।१९३

कोऽस्य विशरणहेतुरिति चेद् ? अग्नित्रयमेवेत्याह—तत्रेति। तत्र देहकोटरेऽन्तर्ज्वलनशीलम् अग्नित्रयम् उक्तम्। किं तद् ? इत्यत आह—जाठर इति। जाठर औदर्याख्य एकः, मानसो मनसि भवो जिज्ञासादिरूपो द्वितीयः, बाह्येन्द्रियनिष्ठो विषयलोलुपत्वरूपः तृतीयोऽग्निरित्यर्थः।।१८८।। तेषां क्रमेण हवींष्याह—मानस इति। तत्र मानसेऽग्नौ शास्त्रजं शास्त्रानुसार्युपासनाद्यात्मकं ज्ञानम् अशास्त्रीयं च तत्; तथा सुखं दुःखं च हूयते। ऐन्द्रियकेऽग्नौ तु शब्दादयो विषया यथायोगं हूयन्त इत्यर्थः।।१८९।। तृतीये जाठराग्नौ तु चतुर्विधमन्नं हूयत इत्याह—चतुर्विधमिति। लेह्यं मधुप्रभृति; पेयं दन्तव्यापारमन्तराऽभ्यवहार्यं दुग्धादि; चोष्यम् इक्षुप्रभृति; भोज्यं भक्तादि।।१९०।।

तत्र जाठराग्नौ जनिष्यमाणस्य जीवस्य अन्नसम्पृक्तस्य प्रवेशः पञ्चाग्निविद्योक्तविधया भवतीत्याह—पय इति। दुग्धादिरूपाणाम् आहुतीनां यो विकारः सूक्ष्मावस्थाख्यः परिणामः सोऽग्निहोत्रादिकर्मगोचरश्रद्धासंस्कारसहितो जीवस्य कर्मिणः समाश्रयश्च संश्चन्द्रलोकात्मकद्युसंज्ञमग्निं प्राप्य तत्र भोगान्ते पर्जन्यस्य द्वितीयाग्नेः धारया सह भूमिं प्राप्य नानाविधम् अन्नं भवति। इति द्वयोरर्थः।।१९१-२।। पितृभ्यामिति। तद् अन्नं क्षुत्पिपासाप्रयुक्ताभ्यां मातापितृभ्याम् अद्यमानं भक्ष्यमाणं सज्जाठराग्नौ पततीति शेषः। स जाठरोऽग्निस्तु प्राणेन प्रेरितः संस्तद् भुक्तं

सभी योनिज देहधारियों के माता-पिता का शरीर शुक्र-शोणित से उपजा है और सात धातुओं से घटित है। (अतः ऐसे शरीरों से उत्पन्न बालशरीर भी इसी स्वभाव का हो सकता है।)।।१८६।। (जीव पिता के देह में प्रवेश के साथ ही दुःखों से पीडित हो जाता है, अग्नियों से जलता रहता है।) मर्म नामक अवयव पर्यन्त पूर्ववर्णित यह पांचभौतिक देह क्योंकि प्रतिक्षण विशीर्ण किया जाता रहता है इसीलिये इसे 'शरीर' कहते हैं।।१८७।। देहरूप कोटर में जलती हुई तीन अग्नियाँ हैं—पेट की आग, मन की आग, बाह्य इंद्रियों से लगी आग। (पहली अग्नि से शारीरिक आवश्यकताएँ, दूसरी से मन की कामनाएँ और तीसरी से इंद्रियों की लोलुपताएँ समझनी चाहिये। इन तीन आगों से यह देह जल रहा है अत एव प्रतिवासर क्षय हो रहा है।)।।१८८।। मन की आग में शास्त्रानुसारी और शास्त्रविरोधी दोनों तरह के विचार, ज्ञान, कल्पना, उपासना आदि की आहुति डाली जाती है और सुख-दुःख भी इसमें होमा जाता है। इंद्रियों की आग में भी शास्त्रानुमत और शास्त्रनिषिद्ध शब्दादि विषयों की और उनसे होने वाले सुख-दुःख की आहुति पड़ती रहती है।।१८९।। पेट की आग में लेह्य (चाटने योग्य), पेय (पीने योग्य), चोष्य (चूसने योग्य) और भोज्य (चबाने योग्य)—चारों तरह के अन्न की आहुति डाली जाती है।।१९०।।

इस अन्न से मिलकर ही जीव पिता के शरीर में प्रवेश करता है। (पूर्व में ६.११४४-५० बतायी पंचाग्निविद्या के परामर्श से समझाते हैं—) दूध, सोमरस, घी आदि आहुतियों का पूर्णतः सूक्ष्मावस्था में परिणत रूप जो अपूर्व (पुण्य) वही अग्निहोत्रादि कर्मविषयक श्रद्धा के संस्कार से युक्त होकर कर्मी जीव का आधार बनता है और उसे पहले द्युनाम की अग्नि में अर्थात् चंद्रलोक में पहुँचाता है। वहाँ का भोग पूरा होने पर पर्जन्य नामक दूसरी अग्नि की धारा (वर्षा) के साथ उसे भूमि पर वही अपूर्व ले आता है और उसे नाना प्रकार का अन्न बना देता है।।१९१-२।।

तेजोबन्नात्मकं भुक्तं पीतं वाऽखिलमेव तत्। त्रिधा नयति देहेऽस्मिन् सर्वेषां जीवनप्रदः।।१६४
असारं मूत्रविष्ठाऽऽख्यं बहिः क्षिपति नित्यशः। मध्यमं धातुरूपेण परिणामयतीश्वरः।
प्राणेन्द्रियमनांस्येष सूक्ष्मादाप्याययन् सदा।।१६५

धातुपरिणामः

तत्र यो मध्यमो भागः पच्यते रससंयुतः। रसरूपात्ततः पूर्वं पित्रोः शोणितसम्भवः।।१६६
शोणिताच्च घनी भूतात् तयोर्मांसं प्रजायते। पक्वाद् मांसात्ततो मेदो नीरक्तं मांसमीरितम्।।१६७
पक्वात्तस्मात्तु कठिनान्यस्थीनि च भवन्त्यपि। अस्थिभ्यो जायते मज्जा याऽस्थ्नामन्तश्च संस्थिता।। ईषद्विलीनसंशुद्धघृतवत् साऽपि कीर्तिता।।१६८
तस्मात्तु जायते वीर्यं यतः कामाग्निदीपनम्। पितरि श्लेष्मसदृशं रक्ताभं तच्च मातरि।।१६९

पीतं वाऽन्नं भूतत्रयात्मकं त्रिधाभावं नयति, जीवनहेतुत्वात्। इति द्वयोरर्थः।। तथा च छन्दोगश्रुतिः 'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते' (छां. ६.५) इत्यादिः।।१६३-४।। त्रेधाभावमभिनयति—असारमिति। सोऽग्निः ईश्वर ईश्वरेणाऽन्तर्यामिणाऽऽविष्टः स्वस्मिन् पतितस्य अन्नस्य असारांशं मलरूपं बहिः क्षिपति। मध्यमांशं सप्त-धातुरूपेण परिणतं करोति। सूक्ष्मांशेन तु प्राणादीन् आप्यायतीत्यर्थः।।१६५।।

सप्तधातुरूपेण परिणतिक्रमं प्रकृतश्रुत्युक्तमभिनयति—तत्रेति चतुर्भिः। तत्र तेषु भागेषु यो ऽन्नस्य मध्यमांशः स रसेन रसत्वेन संयुतो भवतीत्यर्थः, रसशब्दस्य भावप्रधानत्वात्। ततः अन्नाद् रसरूपाद् मातापित्रोः शोणितं जायत इत्यर्थः।।१६६।। शोणिताच्चेति। घनीभूतात् शोणिताद् मांसं, तस्माच्च नीरक्तं रक्तवर्णहीनं यद् मांसं तद्रूपं मेदो जायत इत्यर्थः।।१६७।। पक्वात्तस्मादिति। तस्माद् मेदसोऽपि पक्वाद् अन्तर्गताग्निना घनीकृताद् अस्थीनि भवन्ति इति। धातुषु अग्निस्थितिप्रकारो मोक्षधर्मे[१] याज्ञवल्क्यस्मृतौ उक्तो बोध्यः। तेभ्यो मज्जा भवति यस्या आकार ईषद्द्रुतघृतवद् भवतीति।।१६८।। तस्मात्त्विति। तस्माद् मज्जाख्यधातोः चरमधातुर्जायते यस्य रूपं पितृदेहे श्लेष्मनिभं, मातृदेहे रक्तसममित्यर्थः।।१६९।।

भूखे-प्यासे माता-पिता द्वारा खाया-पिया जाता वह अन्न (और उसके साथ मौजूद जीव) पेट की आग में गिर पड़ता है! पेट में कार्यकारी प्राणवायु से तेज़ की हुई वह आग खाये-पिये उस सारे अन्न को अग्नि-जल-पृथ्वी इन तीन तरह का बना देती है क्योंकि वह आग सबके स्थूल शरीर में है ही इसलिये कि खाये-पिये को उस रूप का बनाये जिससे शरीर का जीवन चलता रहे।।१६३-४।। अंतर्यामी ईश्वर से आविष्ट वह आग अपने में पड़े अन्न के निःसार अंश को—जिसे मूत्र और विष्ठा कहते हैं—रोज़ शरीर से बाहर कर देती है। अन्न के मध्यम अंश को सात धातुओं के रूप में परिपक्व कर देती है और अन्न के सूक्ष्म अंश से वह प्राण-इंद्रियाँ-मन को सदा पोषित करती रहती है।।१६५।।

अन्न के स्थूलादि तीन भागों में जो मध्यम अंश है वह पचकर रस से युक्त हो जाता है, रस के रूप में विकसित हो जाता है। उस रसरूप अन्न से माता-पिता का शोणित तैयार होता है।।१६६।। घनीभूत शोणित से उन दोनों का मांस उत्पन्न होता है और मांस का ही विकसित रूप मेद तैयार होता है। मेद एक तरह से मांस ही है पर वह लाल रंग का नहीं होता। (मेद से वसा भी समझी जाती है।)।।१६७।। मेद परिपक्व होकर कठोर हड्डियों को जन्म देता है एवं उनसे मज्जा निष्पन्न होती है जो हड्डियों के भीतर रहती है और कम पिघले शुद्ध घी जैसी होती है।।१६८।। मज्जा से वीर्य तैयार होता है जो कामनारूप अग्नि को दीप्त करता है। पिता के शरीर में वह श्लेष्मा-सा और माता के शरीर में रक्त-सा होता है।।१६९।।

१. अध्य. १८५।

स्वर्गिणो नारकास्तद्वद् ये चान्ये भूमिसंश्रिताः। पूर्वदेहपरित्यागाद् वीर्यं पित्रोर्व्रजन्ति ते।।२००
नानाविधं सुखं तद्वद् दुःखं चात्यन्तदुःसहम्। स्वर्गान्नीरेण सहिता भुवमायान्ति केचन।।
भूमिगा नारकास्तद्वदन्नं सर्वे भवन्ति ते।।२०१
स्थावराः केचिदेव स्युः केचित् स्थावरदेहगाः। सर्व एव तु भक्ष्याः स्युः पित्रोर्देहान्तरग्रहे।।२०२

शरीराद् दुःखम्

नरके भुवि वा दुःखं प्रसिद्धं च मृतौ तथा। स्वर्गेऽपि दुःखमखिलं प्राप्तं यत्सुखमत्र तैः।।
अधिकारिशरीरेण बहुक्लेशकरेण हि।।२०३
इष्टं पूर्तं तथा दत्तं कृत्वा क्लेशौघकारकम्। तपश्च विविधं कृत्वा यान्ति धूममनीश्वराः।।२०४

एवंविधो जाठराग्निप्रवेशद्वारा चरमधातुप्रवेशः सर्वेषां[1] योनिजशरीरग्रहणाय अवश्यमपेक्षित इत्याह—स्वर्गिण इति त्रिभिः। स्वर्गादिलोकत्रयवासिनः सर्वेऽपि जन्तवः पूर्वदेहपरित्यागानन्तरं योनिजदेहलाभाय उक्तविधया मातापित्रोः वीर्यं विशन्तीत्यर्थः।।२००।। नानेति। तेषां मध्ये केचन स्वर्गिणो नानाविधं सुखलेशं, दुःसहं दुःखं च अनुभूय इति शेषः, स्वर्गाद् मेघजलद्वारा भूमिं गच्छन्ति। केचित्तु भूमिगा एव देशान्तररूपां भूमिं जलधारया गच्छन्ति। तथा नारका अपि। एवमन्ने प्रवेशः सर्वेषां समान इत्यर्थः।।२०१।। स्थावरा इति। स्थावरपदं स्वेदजानामप्युपलक्षणं; तथा च—यद्यपि स्थावराः स्वेदजाश्च पूर्वदेहं परित्यज्य स्थावरस्वेदजदेहग्रहेऽन्नभावं नापेक्षन्ते तथापि देहान्तरस्य विजातीयस्य योनिजाख्यस्य ग्रहणे तेषामप्यन्ने प्रवेश आवश्यक इति 'सर्व'-पदस्य योनिजग्रहणयोग्यपरत्वेन शरीरान्तरग्रहाय सर्वे भक्ष्या भवन्तीत्यवधारणमुपपन्नमिति।।२०२।।

तत्र पूर्वदेहत्यागानन्तरं दुःखमनुभूय भुवमायान्ति इति यदुक्तं तद् विशदयति—नरक इति। यथा नरके भुवि मरणे च दुःखं प्रसिद्धं तथा स्वर्गेऽपि बोध्यम्, यद् यतः अत्र स्वर्गे तैः भोगिभिः अधिकारिणा भोगार्हेण शरीरेणैव प्राप्तं, शरीरं तु दुःखव्याप्यमेवेत्यर्थः।।२०३।। स्वर्गिणां दुःखसत्त्वं पितृयाणप्रतिपादकच्छन्दोगादिवाक्येन सम्प्रदर्शितमिति सूचयंस्तदर्थमनुवदति—इष्टमिति चतुर्भिः। येऽनीश्वरा ईश्वरोपासनहीनाः केवलमिष्टापूर्त्तादिकं कर्मैव कुर्वन्ति ते धूमोपलक्षितं पितृयाणं पन्थानं प्रविशन्तीत्यर्थः। अथ वा केवलकर्मिणो मरण-कालेऽनीश्वराः

स्वर्ग से आने वाले, नरकों से आने वाले और भूमि पर ही पुनरुत्पन्न होने वाले सब जीव पूर्व शरीर छोड़कर माता-पिता के वीर्य में प्रवेश करते हैं।।२००।। आने वालों में से कुछ जीव नाना प्रकार के सुख भोगकर, अत्यंत दुःसह दुःख भी भोगकर मेघजल द्वारा स्वर्ग से भूमि पर आते हैं। (स्वर्ग सुखप्रचुर होने पर भी निर्दुःख नहीं है। पुराणों में अत एव असुरादि से देवताओं को निरंतर त्रस्त ही बताया गया है। 'यन्न दुःखेन संभिन्नम्' आदि मीमांसकों का मनघड़न्त स्वर्ग अप्रामाणिक है। किं च स्वर्ग छूटने पर तो प्राणी को असह्य दुःख होना स्वाभाविक है ही।) भूमि पर पहुँचकर सभी जीव कोई-न-कोई अन्न बन जाते हैं।।२०१।। कुछ प्राणियों को—स्थावरों को और स्थावरतुल्य देह वाले स्वेदजों को—छोड़ दें तो बाकी सभी प्राणी अन्य देह ग्रहण करने के लिये माता-पिता के भक्ष्य बनते ही हैं। (अर्थात् घोर पापी जो वृक्षादि बनते हैं वे तो पृथ्वी पर पड़कर वहीं बीजादि में प्रवेश कर पौधे आदि शरीर वाले हो जाते हैं; उन्हें शरीर लेने के लिये किसी का भक्ष्य नहीं बनना पड़ता। योनिज शरीर वालों को तो भक्ष्य बनना पड़ता ही है।)।।२०२।।

जैसे भूमि पर मरते समय दुःख प्रसिद्ध है वैसे नरक और स्वर्ग में भी मरते समय पूरा दुःख होता ही है। स्वर्ग में भी भोगाधिकारी शरीर द्वारा ही सुख भोगा जाता है तथा शरीर कहीं भी हो बहुत क्लेशप्रद वस्तु है।।२०३।। यागादि इष्ट कर्म, सर्वोपयोगी पूर्तकर्म जैसे कुआ खुदवाना, दान और विविध तपस्याएँ—इन सबको करते समय तो क्लेश होता ही है, वास्तविक दृष्टि से संसार में भटकाने वाले होने से ये क्लेशसमूह के ही हेतु हैं। ईश्वरोपासना न कर जो केवल

१. प्राय इति शेषः क्वचिदग्निनैयून्यस्यापि सूत्रेषु (३.१.१८) स्वीकृतेः। अथवा न्यूनाग्नीनामयोनिजत्वमङ्गीकार्यम्। तथा च तत्रैव (१६) भाष्यम् 'द्रोणधृष्टद्युम्नप्रभृतीनां सीताद्रौपदीप्रभृतीनां चाऽयोनिजत्वम्' इति।

धूमाद्रात्रिं तथा कृष्णपक्षमस्माद् दिवौकसाम्। रात्रिं ततः पितृणां तं लोकं पिण्डोपजीविनाम्।।२०५
तस्मादाकाशतः सोमं राजानं देवतागणाः। अदन्ति कृष्णपक्षे यं शुक्ले संवर्द्धयन्ति च।।२०६
दासवद् भुज्यते चायं तत्र देवैः सवासवैः। पारतन्त्र्यं सदा तत्र भीतिः कर्मक्षयादपि।।२०७
बन्ध्वादीनां तथाऽप्राप्त्या भीतेर्दैत्यगणादपि। मरणादधिकं दुःखं बन्धूनां च वियोगजम्।।
एवमादीनि दुःखानि स्वर्गेऽपि शतकोटिशः।।२०८
एवं दुःखान्ययं प्राप्य स्वर्गादौ कालतः पुमान्। अन्नभूतोऽत्र जठरे पितुस्तातप्यते सदा।।२०९

परतन्त्राः सन्तः तं मार्गं यान्ति इति योजना।।२०४।। तं मार्गमभिनयति—धूमादिति। धूमादिपदानि तदभिमानिदेवतापराणि। दिवौकसां रात्रिं दक्षिणायनं, ततः पितृलोकमिति।।२०५।। तस्मादिति। तस्मात् पितृलोकाद् आकाशं गत्वा चन्द्रं गच्छन्ति यं चन्द्रं देवाः कृष्णपक्षे भक्षयन्ति, शुक्ले वर्द्धयन्ति चेति।।२०६।। दासवदिति। तस्य चन्द्रस्य तादात्म्यं गतः कर्म्यपि देवैः भुज्यते भोगोपकरणतां नीयते, यथा लोके दासः। तथा च पारतन्त्र्यादिदुःखं स्फुटमित्यर्थः।।२०७।।

शरीरित्वेनाऽऽक्षिप्तं दुःखान्तरमपि तत्र भवति इत्याह—बन्ध्वादीनामिति। बन्धुर्दारादिस्तस्य अप्राप्तिरूपाद्, दैत्यावधिकभयरूपाद् वा हेतोः उत्थितं दुःखं तत्र भवति। तथा 'संयोगा विप्रयोगान्ता' इति न्यायसिद्धो यो बन्धुवियोगः तज्जं दुःखं मरणाद् अपि अधिकम् इत्यर्थः।।२०८।।

एवमिति। अयं जन्तुः एवंविधानि दुःखानि स्वर्गादिषु प्राप्य कालवशेन पितुः अन्नभावद्वारा जठरं प्राप्य

इन्हीं कर्मों को करते हैं वे मरते समय परतन्त्र हुए धूम से उपलक्षित पितृयाण द्वारा गमन करते हैं।।२०४।। धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, देवताओं की रात अर्थात् दक्षिणायन पार कर वे उन पितरों के लोक में पहुँचते हैं जो श्राद्धादि में अर्पित पिण्ड के सहारे ही जीते हैं।।२०५।।

वहाँ से आकाश होते हुए वे राजा सोम पर, चंद्रलोक में, पहुँचते हैं। चंद्र को देवता कृष्णपक्ष में खा जाते हैं और शुक्लपक्ष में पुनः बढ़ाते हैं।।२०६।। उस चंद्र से तादात्म्य पाया हुआ कर्मी इंद्र समेत देवताओं द्वारा वैसे ही भोग का उपकरण बनाया जाता है जैसे दास। वहाँ हमेशा परतंत्रता और कर्म क्षीण होने का डर बना रहता है। (मालिक के भोग का उपकरण होने पर भी उस भोग-क्रिया से तथा तन्निमित्तक प्राप्य अन्न-वस्त्रादि वेतन से दास भी कुछ सुख पाता ही है। मालिक की हैसियत के अनुसार दास के भी सुख-सुविधा में अंतर होता है। ऐसे ही चंद्रलोक गये प्राणी देवताओं के दास जैसे होते हैं। पृथ्वी पर राजा आदि को उपलब्ध सुख से भी ज्यादा वहाँ दास को सुख होता है अतः वह लोक कमनीय है किंतु पारतंत्र्य, क्षयिष्णुता आदि का दुःख तो हमेशा रहता ही है। वस्तुतस्तु परतंत्रता की पीडा बाकी सब उपलब्ध सुखों का रस सुखा देती है अतः दासभाव से मिला सुख भी प्रसंनताप्रद नहीं हो पाता यह ध्वनित है। फिर भी जैसे सुविधा-परस्त लोग शहर, विदेश आदि में रहकर कष्ट भोगते रहते हैं—यह महसूस करके भी कि वहाँ का जीवन हर तरह से कष्टप्रद है उन स्थानों को इसीलिये नहीं छोड़ पाते कि वहाँ की सुविधाएँ अन्यत्र उपलब्ध नहीं—ऐसे ही चंद्रादि लोकों के प्रति आसक्ति बनी रहती है।)।।२०७।। स्वर्ग में भी बंधु आदि का वियोग होता है, दैत्यों का डर रहता है; बंधुवियोग का दुःख तो मरण से भी ज़्यादा कष्टप्रद होता है ! इस तरह स्वर्ग में भी अनंत तरह के दुःख बने ही रहते हैं।।२०८।। यों जीव स्वर्गादि में दुःख भोगकर समय होने पर अन्न बन जाता है और पिता के उदर में संताप पाता है।।२०९।।

जिसके उदर में जीव प्रवेश करता है वह पिता भी ताप का अनुभव करता है ! जिसे जन्म लेना है उस जीव से युक्त अन्न खाने वाले युवा जंतु (पिता) को काम नामक घड़ियाल अपने वश में कर लेता है। उस अवस्था में जब

पितृतापात्तापः

अन्नादोऽत्र युवा जन्तुः कामग्रहवशं गतः। शर्म नाप्नोति हि विना स्त्रियं रेतःप्रधारिणीम्।।२१०

विण्मूत्रस्य निरोधेन यावद् दुःखं प्रजायते। निरोधे रेतसस्तावत् ततो वाऽभ्यधिकं भवेत्।।२११

अग्निना पच्यमानोऽयं सप्तमं धातुमागतः। पुष्पेभ्योऽत्र यथा सारं नीरं यन्त्रे विनिःसरेत्।

अग्निना पीड्यमानेभ्यो ज्वलताऽत्र दिशो दश।।२१२

पुंसस्तथैव रेतस्तत्सारभूतं वपुःस्थितम्। योनियन्त्रे पतेत् सम्यग् योषिदग्निप्रपीडनात्।।

स्वस्मादपि करोत्येष पितुर्दीनतमां दशाम्।।२१३

मातृदैन्यम्

हसन्ती सा तदा नारी बहुहर्षमुपागता। रेतोऽग्निं स्वकुहूद्वारा गृह्णाति परिमोहिता।।२१४

तातप्यतेऽतिशयेन तप्तो भवतीति।।२०६।। तस्य तापमेव पितृतापपूर्वकमाह—अन्नाद इति चतुर्भिः। यथा अन्नादः पुमान् कामग्रहेण स्त्रियं स्मरंस्तां विना शर्म नाऽऽप्नोति, तप्यत इति यावत्।।२१०।। तद्दुःखं दृष्टान्तेन स्फुटयति—विण्मूत्रस्येत्यादिना भवेद् (श्लो. २२०) इत्यन्तेन।।२११।। रेतःप्रविष्टस्य तापमाह—अग्निनेति द्वाभ्याम्। अयं जीवः सप्तमं धातुं गतः पितृकामलक्षणेन तदुद्दीपकयोषिद्रूपेण वा अग्निना तप्यमानः सन् यन्त्रे पतेत्, यथा रक्तसेवन्तीप्रभृतिपुष्पाणां नलिकायन्त्रारूढानां रसोऽग्निसम्पर्कवशात् पृथक्पात्रे पतति तद्वदिति। किं च पितृदैन्यदर्शनेन तत्प्रयोजकस्य दैन्यमनुमेयमित्याह—स्वस्मादिति। एष सप्तमधातुगो जीवः स्वस्माद् आत्मीयाद् दैन्याद्धेतोः अधिकं दैन्यं करोतीत्यपि प्रसिद्धम्। इति द्वयोरर्थः।।२१२-३।।

न केवलं पितुरेव दैन्यं करोति किन्तु मातुरपि, परन्तु सा विभ्रमेण तदानीं दैन्यमभजमानाऽपि पश्चाद् गर्भक्लेशादिना तापं गच्छतीति नानादृष्टान्तैः प्रतिपादयति—हसन्तीति नवभिः। रेतोरूप चन्द्रस्य अन्तर्भाव-प्रयोजकत्वसाधर्म्यात् स्त्रीलक्षणस्य कुहूत्वम्। स्फुटमन्यत्।।२१४।। तत्र दृष्टान्तमाह—बाल इति। कीदृशं सर्पम्?

तक उसे अपना शुक्र धारण करने वाली स्त्री न मिले तब तक चैन नहीं होता।।२१०।। मल-मूत्र रुक जाये तो जितना दुःख होता है, उतना या उससे भी ज्यादा कष्ट रेतोनिरोध से होता है। (अत एव विवेक, वैराग्यादि के बिना ब्रह्मचर्यपालन कठिन होता है।)।।२११।। जनिष्यमाण जीव पिता के सातवें धातु तक पहुँच चुकता है, वहाँ पिता की कामाग्नि से तपाया जाता है। फूलों का अर्क निकालते हैं तो सब तरफ से जलती आग से फूल तपाये जाते हैं, उबाले जाते हैं, तब उनका सारभूत रस (अर्क) नली-नुमा यंत्र से दूसरे बर्तन में इकट्ठा हो जाता है। (अंतिशुद्ध जल पाने के लिये भी जल की भाप को इसी तरह ठण्डा कर अलग बर्तन में शुद्ध जल रूप में एकत्र करते हैं।)।।२१२।। इसी प्रकार पुरुषशरीर में स्थित सारभूत रेत काम रूप वायु से उद्दीप्त स्त्रीरूप अग्नि से सब तरफ से तप कर, पूर्णतः निष्पीडित होकर उपस्थनलिका द्वारा योनिपात्र में आ पड़ता है। साथ ही जीव भी वहाँ पहुँच जाता है। जनिष्यमाण जीव तो कष्ट में पड़ा ही है, वह अपने पिता की तो अपने से भी ज्यादा दीन दशा कर डालता है।।२१३।।

उस समय तो नारी हँसती हुई बहुत हर्षित होती है और परितः मुग्ध हो अपने कुहू के द्वारा रेतोरूप अग्नि को ग्रहण कर लेती है। (कुहू कहते हैं शुक्ला प्रतिपदा को। उसमें चंद्रमा मानो छिपा है, उसी में बढ़कर अगली तिथि में दीखने लगेगा। ऐसे ही रेतस् को अपने में छिपाकर पोषित करना स्त्री के प्रजननतंत्र की विशेषता होने से उसे कुहू शब्द से कहा।)।।२१४।। उक्त रेतःस्वीकार बाद में नारी को कष्ट देता है पर स्वीकारते समय उसे यह बोध नहीं रहता। जैसे बच्चा हँसते हुए अपने हाथ से फणधर साँप पकड़ लेता है; वह साँप उस बालक की मृत्यु जैसा ही है, और कभी-कभी

बालो यथा हसन्नाशीविषं गृह्णाति हस्ततः। स्वस्य मृत्युमिवापूर्वमथ वा मृत्युमेव तम्। ।२१५
चोराकुलितमध्वानं यथा पान्थो विमोहितः। गच्छन् प्रयाति सहसा तत्र स प्राणसंशयम्।।
कामिनी कामसंयुक्ता कामुकं याति सा तथा। ।२१६
गाढमालिङ्ग्य सुस्नेहा[1] यथा धूर्तः प्रयच्छति। आशीविषं प्रसुप्तं तं हैमे पात्रे निधाय च। ।२१७
सुगन्धैश्चन्दनैर्लिप्त्वा पुष्पैरपि मनोरमैः। समभ्यर्च्य स्वकार्यार्थी स्नेहं सन्दर्शयन् मुहुः। ।२१८
रेतो हि कामुकोऽप्येवं स्वयं सोढुमशक्नुवन्। योषितं परिमोह्याऽस्या देहे पापरतः क्षिपेत्। ।२१९
ब्रह्मस्वं सुखदं यद्वत् सेव्यमानं तदा नृणाम्। जठरस्थं तदेवैषामुदर्के दुःखदं भवेत्। ।२२०
रेतो हि सुखदं तद्वत् प्रवेशे योषितामिदम्। जठरान्निर्गमे भूयो मरणादपि दुःखदम्। ।२२१
क्षीरं विषेण संयुक्तं पानकाले यथा सुखम्। कुर्वच्च मृतिहेतुः स्यादेवं रेतोऽत्र योषिताम्। ।२२२

विलम्बे मृत्युसदृशं, त्वरायां मृत्युरूपम् इति। ।२१५।। द्वितीयं दृष्टान्तमाह—चोराकुलमिति। तथा सा कामिनी कामुकं प्राप्य प्राणसंशयं याति इति तृतीयदलयोजना। ।२१६।।

एवं सति दुःखदे व्यापारे नारीं नियोजयतो नरस्य धार्ष्ट्यं व्यक्तमेवेति सदृष्टान्तमाह—गाढमिति त्रिभिः।। यथा कश्चिद् धूर्तः सुष्ठुस्नेहसाध्यं गाढालिङ्गनं कस्यचित् कृत्वा सुप्तं सर्पं हैमपात्रे निधाय गन्धादिभिः समभ्यर्च्य च तस्मै समालिङ्गिताय दद्यात्; किं कुर्वत् ? स्वप्रयोजनविशेषाय स्नेहसाध्यमुपकारं दर्शयन्। इति द्वयोरर्थः। ।२१७-८।। दार्ष्टान्तिके योजयति—रेत इति। परिमोह्य चाटुभिर्विभ्रान्तां कृत्वा। ।२१९।। रेतसो नारीं प्रति दुःखदत्वं सदृष्टान्तमुपपादयति—ब्रह्मस्वमिति त्रिभिः। स्पष्टं द्वयम्। ।२२०-१।। क्षीरमिति। चकरोऽप्यर्थे। यथा सविषं क्षीरं पानकाले सुखं कुर्वद् अपि मृतिहेतुः तथा इदं रेतो नारीणामिति। ।२२२।। एवं सति कामुकस्य

तो साक्षात् मृत्यु ही है, लेकिन इससे बेखबर बच्चा उससे खेलने लगता है। यही स्त्री का हाल है। ।२१५।। अथवा जैसे कोई पथिक सारी जानकारी लिये बिना ऐसे रास्ते चल देता है जिस पर चोरों का आतंक होता है और सहसा उस यात्री के प्राण भी संकट में पड़ जाते हैं, ऐसे कामग्रस्त कामिनी कामुक पति को पाकर अपने लिये कष्ट बटोर लेती है। ।२१६।। धूर्त लोग स्वार्थवश शत्रु को मारने आदि के लिये उस पर बार-बार बहुत स्नेह दिखाते हुए, उसका गाढ आलिंगन कर मानो बड़े प्रेम से उसे एक सोने का बर्तन देते हैं; बर्तन को भी सुगंधित चंदनादि से सजा कर, मनोरम फूलों से मानो पूज कर भेंट करते हैं। लेकिन उस बर्तन में होता क्या है ? सोता हुआ जहरीला साँप ! ठीक इसी प्रकार कामुक स्वयं जब रेत को सहन नहीं कर पाता तब स्त्री को बहला-फुसलाकर, सब तरह से मोहित कर उसके देह में वह रेतस् डाल देता है ! क्योंकि उसे इसके परिणाम से सावचेत नहीं करता, अपना बोझा हलका करने के लिये ही ऐसा करता है इसलिये इस प्रक्रिया में वह स्वार्थितारूप पाप में ही संलग्न माना जाता है। ।२१७-९।। जब लोग किसी भी ब्राह्मण के धन का अपहरण कर उसका उपभोग करते हैं तब तो वह वैसा ही सुख देता है जैसा कोई भी धन, लेकिन उपभोग के बाद, जब वह खा-पी लिया गया तब वह भविष्य में दुःख देने वाला ही बनता है। (अन्यायप्राप्त सभी धनादि भविष्य में दुःखद है पर यदि ब्राह्मण की संपत्ति को अनीति से ग्रहण करे तो मनुष्य अधिक पाप का भागी होता है। जैसे आजकल गाली किसी को भी दें तो अपराध है पर अमुक-अमुक जाति वालों को गाली देना संज्ञेय अपराध है, तुरंत दण्ड मिल सकता है।) उसी प्रकार प्रवेश के समय तो रेतस् स्त्रियों को सुखद लगता है लेकिन वही जब कोख से निकलने लगता है तब उन्हें मरने से भी ज़्यादा कष्ट देता है। ।२२०-१।। जहरयुक्त दूध पीते समय सुख देते हुए भी मरणहेतु ही बनता है, ऐसे स्त्री के लिये रेत कष्टकर ही है। ।२२२।।

---

१. सुस्नेहाद्, सुस्नेहम् इति वा पाठो भवेत्। यथाश्रुते प्रथमपादः पूर्वश्लोकेन अन्वेति। किन्तु टीकामते तूक्तपाठयोः कश्चन स्यात्।

विषस्य दानतो यावत् पापं भवति पापिनः। जठरे रेतसो दातुर्योषितां तावदेव हि।।२२३

कारासूनादिशालानां यावत् कर्तुर्हि पातकम्। पुत्रादिदेहजनने पितुस्तावद्धि कीर्तितम्।।२२४

यद्ययं कुरुते नैव मैथुनं काममोहितः। पिता दुखकरः केन देहः पुत्रस्य सम्भवेत्।।२२५

'अपुत्रस्य न लोक' इत्यस्यार्थः

अपुत्रस्य न लोकोऽस्तीत्यादि कामुककीर्तनम्। मातरं च स्वसारं च ते यान्तीति यतोऽवदत्।।२२६

पशवः सर्व एवैते विदुः पुत्रजनिं यतः। ततः पुत्रेति किंनाम भवतोऽत्र भविष्यति।।२२७

पुत्रस्योत्पादनाज्जाया पत्युर्माता प्रजायते। यथा माता तथा भार्या स्प्रष्टव्या नैव कामतः।।२२८

पापं न्यायप्राप्तमभिनयति—विषस्येति। विषवद् मरणप्रयोजकस्य रेतसो योषिद्गर्भे निषेक्तुः विषदानसमं पापं न्यायादायातीत्यर्थः।।२२३।। कारेति। कारा बन्धनागारं, सूना वधस्थानं, तन्निर्मातुः यत् पापं तत्तुल्यं पुत्रादिदेहस्य तद्दुःखहेतोः करणे पितुः भवतीति कीर्तितम् निवृत्तिशास्त्रेषु कीर्तितप्रायमित्यर्थः। स्वदेहसम्बन्धस्य अनर्थ-प्रतिपादकैः 'न ह वै सशरीरस्य सत' इत्यादिवाक्यैः (छां. ८.१२.१) हि परदेहसम्बन्धकरणस्य अनर्थत्वं सूचित-मेवेति भावः।।२२४।। उक्तदोषप्रसङ्गं व्यतिरेकमुखेन स्फुटयति—यद्ययमिति। पितेति पदं पूर्वार्द्धान्वयि।।२२५।।

ननु ऋग्वेदब्राह्मणे हरिश्चन्द्रोपाख्याने पुत्रोत्पादनस्य प्रशंसनाद् विधेयत्वं गम्यते, विधिस्पृष्टे च निषेधाऽनवकाशात् कथं दोषावहत्वम्? इति शङ्कां तत्प्रकरणतात्पर्यप्रदर्शनेन परिहरति—अपुत्रस्येति। यद् अपुत्रस्य प्राप्तियोग्यः कश्चिद् लोको नास्ति इत्यादिकम् ऋग्वेदे प्रोक्तं तत् कामुकानामभिप्रायस्यैव कीर्तनम् अनुवादो वैराग्याय, न तु पुत्रोत्पादनप्रशंसनम्, यतः तद्वाक्यशेष इति अवदत्। 'इति' किम्? ते पशव उक्ताभिप्रायेण मातृगमनादिकमपि कुर्वन्तीति। तदुक्तं 'तं पश्यन्ति पशवो वयांसि तस्मात्ते मातर्यपि मिथुनी चरन्ति' इति; तं पुत्रिणां लोकम्। 'तस्मात् तु पुत्रो मातरं स्वसारं चाधिरोहति' इति च।।२२६।। किं च तत्र पश्वाचारस्य प्रमाणत्वेनोपन्यासाद् निन्दैव प्रतीयत इत्याह—पशव इति। यतः सर्वे पशवः पुत्रजन्मावश्यकर्तव्यतां जानन्ति इति तत्रोक्तं ततो नर! भवतः पशुवृत्तमनुसरतः 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (कौषी. २.११) इति श्रुत्यनुसारात् प्राप्त'पुत्रे'-त्याकारकं किंनाम निन्दासूचकत्वात् कुत्सितं नाम भविष्यति इत्यर्थः।।२२७।। पुत्रनामसूचितां निन्दाम् 'एषा वो जननी पुनः' इत्यादिश्रुतिप्रदर्शितां विशदयति—पुत्रस्योत्पादनादिति। भार्या श्रुतिगतैषापदोक्ता पुत्रस्योत्पादना-ज्जायापदसूचितमातृत्वका भवति ततः कामेन न स्प्रष्टव्येत्यर्थः।।२२८।। फलितमाह—अवश इति। कर्मवशो

किसी को विष देने से जितना पाप होता है, स्त्रियों के जठर में रेत डालने से भी पापी को उतना ही पाप होता है।।२२३।। जेल, बूचरखाना आदि के मालिक को जितना पाप लगता है पुत्रादि का शरीर उत्पन्न करने में पिता को भी उतना ही पाप लगता है (क्योंकि सशरीर बनकर पुत्र अनर्थ ही पायेगा)।।२२४।। काम से मोहित हुआ पिता यदि मैथुन न करे तो पुत्र के लिये दुःखप्रद शरीर कैसे संभव हो! (एवं च विवेकपूर्वक शरीर से वैराग्य करना चाहिये क्योंकि इसी के लिये हमने अपने पिता से ऐसा पाप कराया। हम बीजरूप से मौजूद थे तभी उक्त ढंग से पिता ने माता को दुःख देने वाला पाप किया। यहाँ यह प्रश्न नहीं करना चाहिये कि यथाविधि प्रजनन से पाप कैसे होगा? प्रकृत में शरीर से वैराग्य कराने में तात्पर्य है, उसी का यह सब अर्थवाद है, इससे वैध गर्भाधान को पापावह नहीं सिद्ध कर रहे।)।।२२५।।

(शास्त्र में पुत्रोत्पादन की प्रशंसा का अभिप्रेत तात्पर्य समझाते हैं—) 'पुत्रहीन को मिल सके ऐसा कोई लोक नहीं' आदि कामुकों का मत इसीलिये सामने रखा जाता है ताकि गार्हस्थ्य से वैराग्य हो, न कि वास्तव में पुत्रोत्पादन

अवशोऽत्र यथा मातुर्गर्भं प्राप्तोऽत्र दुःखदम्। स्ववशस्त्वं तथा मा गा जायागर्भं कदाचन।
एतावानेव तत्रार्थः शास्त्रस्याऽत्र प्रतीयते।।२२९
अपि पुत्राद् भवेल्लोको न परः कर्हिचिद्यतः। अयं लोक इति प्राह श्रुतिः पुत्राद् विशेषतः।।२३०
हरिश्चन्द्रादिकानां स्यादाख्याने यत्तु कीर्तनम्। तत्तु रागानुसारेण स्तुतिः पुत्रस्य जन्मनः।।२३१

निवृत्तौ श्रुतितात्पर्यम्

ततो रागान्धमालोक्य निखिलं सचराचरम्। श्रुतिर्विद्वांसमाहैतद् रागस्य विनिवृत्तये।।२३२

जीवस्य पुत्रभाविनो दुःखदगर्भप्रवेशः कर्मादिपरतन्त्रतया भवतु नाम हे नर ! तव स्वतन्त्रस्य पुत्ररूपेण जायागर्भप्रवेशोऽत्यन्तमनुचित इत्येतावदेव हरिश्चन्द्रोपाख्यानगतश्रुतिवाक्यस्य तात्पर्यमित्यर्थः। अत्र वस्तु-विचारे।।२२९।।

किं च पुत्रस्य लोकजयसाधनत्वाङ्गी कारेऽपि मनुष्यलोकजयसाधनत्वमेव अङ्गीकर्तव्यम्, 'पुत्रेणाऽयं लोको जय्य' इति बृहदारण्यकवाक्येन (बृ. १.५.१६) स्फुटी करणाद् इत्याह—अपि पुत्रादिति। अयं मनुष्यानुभवगोचरो, विशेषतः स्पष्टम्।।२३०।।

यानि तु हरिश्चन्द्रोपाख्यानादौ कानिचित् तत्प्रशंसापराणि वाक्यानि तानि वक्ष्यमाणविधया गुडजिह्विकान्यायेन मूढान् सन्मार्गे समानेतुमेवेत्याह—हरिश्चन्द्रादिकानामिति।।२३१।। निवृत्तौ श्रुतितात्पर्यमेवाऽभिनयति—तत इत्यादिना। विद्वांसं किञ्चिद् विवेकिनं प्रति एतद् वक्ष्यमाणप्रकारकं श्रुतिराह इति।।२३२।। तत्र श्रुत्युपदिष्टं मुख्यं कल्पमभिनयति—मा गच्छेति। हे वत्स ! तपोरूपवित्तस्य नाशप्रयोजकाः स्त्रियः प्रति तव गमनं नोचितं यतः

को प्रशस्त कर्म बताने के लिये। यह इसीसे स्पष्ट हो जाता है कि वेद में जहाँ उक्त बात कही है वहीं यह भी कहा है कि प्रजा पाने के लिये पशु माता व बहन से भी संपर्क कर लेते हैं। (अतः पाप में प्रेरक होने से प्रजाप्राप्ति की इच्छा की निंदा है।)।।२२६।। पशुओं के उदाहरण से निंदा स्फुट ही है : 'क्योंकि ये सब पशु पुत्रोत्पादन की आवश्यकता जानते हैं इसलिये हे नर ! यदि तू भी पशुओं के आचरण का अनुसरण करेगा तो तुझे भी 'पुत्र' यह कुत्सित नाम मिल जायेगा !'—यह शास्त्र का अभिप्राय है। (बाप ही बेटा बनता है अतः पिता को कहा कि 'तुझे पुत्र नाम मिलेगा'। वह नाम कुत्सित इसलिये कि वह घोषित करता है कि पितारूप से उस व्यक्ति ने पशुओं जैसा व्यवहार किया था।)।।२२७।। पुत्र उत्पन्न करने से पत्नी पति की माता हो जाती है अतः माता की तरह पत्नी भी कामनापूर्वक छूने योग्य नहीं।।२२८।।

एवं च शास्त्र कहता है 'हे नर ! माता के दुःखद गर्भ में तू परवश हुआ आया था किंतु अब स्वतंत्र है अतः पत्नीगर्भ में कभी प्रवेश मत कर।' प्रसंगादि का विचार करने पर शास्त्र का यही तात्पर्य समझ आता है न कि पुत्रोत्पादन के लिये प्रेरित करना।।२२९।।

किं च पुत्र से लोक प्राप्ति किसी तरह मान भी लें तो मनुष्यलोक का ही लाभ हो सकता है, किसी उत्तम लोक का नहीं क्योंकि श्रुति ने विशेषतः पुत्र का नाम लेकर कहा है कि 'पुत्र से यही लोक जीता जा सकता है'।।२३०।। इसलिये हरिश्चन्द्रोपाख्यान आदि में पुत्रप्रशंसा रागियों को सन्मार्ग पर चलाने के लिये एक प्रलोभन है। (जैसे कड़वी दवा गुड़ में मिलाकर खिला देते हैं ऐसे दुर्मार्गी को सन्मार्ग पर लाने के लिये शास्त्र कामनापूर्ति के साधन बता देता है। शास्त्र पहुँचाना तो चाहता कामना-निवृत्ति में है लेकिन एकाएक वैसा किया नहीं जा सकता। सर्वथा शास्त्र से विमुख को पहले शास्त्र का अनुसर्ता बनाना पड़ेगा तभी वह शास्त्र का अभिप्राय भी समझ सकेगा। पुत्रादिप्रशंसा से भी वस्तुतः नियंत्रण ही फलित होता है क्योंकि जो विवाहादि को विलासादि के लिये ही मान रहा है उसे पता लगता है कि वह विलासादि के लिये नहीं है, पुत्रादिलाभ के लिये ही है।)।।२३१।।

मा गच्छ योषितो वत्स तपःस्वार्थस्य नाशकाः। इहामुत्र च तासां ते गमनाद् दुःखमद्भुतम्।।२३३
विपाके देहकाराश्च जायन्ते भवता कृताः। साधूनां समचित्तानां नरकादपि दुःखदाः।।२३४
अथ चेद्व्रवतः कामो वर्तते योषितं प्रति। स्वर्गे वा ब्रह्मलोके वा भवते ब्रह्मचारिणे।।२३५
आभ्यो रूपादिसम्पन्ना अधिकाः कोटिशो गुणैः। वधूरञ्जनमालादिहस्ता[1] दास्याम्यसंशयम्।।
तत्र गर्भकृता हिंसा न ते नारीसुतादिजा।।२३६
भविष्यतीति सम्प्रोक्तः कामुकश्चेद् न तिष्ठति। तदैवं पुनरप्याह श्रुतिर्मातेव वत्सला।।
कामप्रसक्तं सततं निविवृत्सुरुपायतः।।२३७

तासां स्त्रीणां गमनाद् लोकद्वये दुःखं भवति। कीदृशम् ? अद्भुतं वर्णयितुमशक्यम्। तथा विपाके उक्तदुःखरूपफलारम्भकाले तदुपयोगिदेहरूपाः कारा बन्धनगृहाश्च भवन्ति यतो[2] विवेकिनः अक्षिपात्रकल्पा अत्यन्तं नरकवदुद्विजन्ते। इति द्वयोरर्थः।।२३३-४।।

एतावता स्त्रीगमनप्रयोजककामस्य यद् बीजं रमणीयत्वाऽध्यासात्मकसङ्कल्परूपं तन्निरोध उपदिष्टः। अथ तदशक्तौ कामवेगं निरुध्याऽपि ब्रह्मचर्यं दहराद्युपासनाङ्गं परिपालय, तेन तवाभीप्सितं परलोके पूरयिष्यामि यतः 'शतमञ्जनहस्ताः शतं माल्यहस्ता' (कौ. १.४) इत्यादिकौषीतकिशाखारूपमद्वचनेन त्वामानेतुम् अप्सरस आगमिष्यन्ति, तत्र च गर्भप्रयुक्ता पीडा नार्याः सुतद्वारा तेऽपि च न भविष्यन्ति इत्येवं श्रुतिरुपदिशतीत्याह—अथ चेदिति द्वाभ्याम्। वधूः अप्सरस आभ्यो मानुषीभ्योऽधिकाः तुभ्यं दास्यामीति। तासां गर्भाऽभावाच्च तत्प्रयुक्ता नारीसुतादिद्वारिका पीडा ते न भविष्यति इति।।२३५-६।।

अत्राप्यशक्तं प्रति वक्ष्यमाणाकारमनुकल्पं श्रुतिरुपदिशतीत्याह—भविष्यतीति। प्रथमपदं पूर्वान्वयि दर्शितम्। चेद् यदि उक्तविधया सम्प्रोक्त उपदिष्टोऽपि न तिष्ठति न संयतो भवति तदा तं कामसक्तम् उपायेन बालमिव फलोपन्यासरूपेण निविवृत्सुः विषयप्रवृत्तेः निवर्तयितुमिच्छन्ती श्रुतिः मातृसमा एवमाह इत्यर्थः।।२३७।। 'एवं'

चराचर प्राणियों को रागरोग से अंधा हुआ देखकर रागनिवारणार्थ श्रुति माता विद्वान् से यों कहती है :।।२३२।।
बेटा ! तू स्त्रीसमागम मत कर। तेरे तपोरूप निजी संपत्ति को स्त्रियाँ नष्ट कर देंगी। उनसे समागम करेगा तो तुझे इहलोक ही नहीं परलोक में भी अद्भुत दुःख सहना पड़ेगा।।२३३।। स्त्रीसमागम से तू अपने लिये शरीररूप जेलखाने बना लेगा। समचित्त सज्जनों को नरक से भी ज़्यादा दुःख उन जेलों से होता है। समागमफलभूत दुःख प्रारंभ ही उस जेल की प्राप्ति से होगा।।२३४।।

(इससे समझाया कि समागम को रमणीय समझने से उसकी कामना होती है अतः उसे रमणीय नहीं वरन् फलकाल में असीम दुःखरूप समझना चाहिये ताकि कामना न हो, समागम का संकल्प ही मन में न आये जैसे मधुमेह का प्रशिक्षित रोगी मिठाई खाने का संकल्प ही नहीं करता।)

(जो संकल्प को न रोक पाये वह भी कामवेग रोककर ब्रह्मचर्य का पालन करे ही। इस तात्पर्य से श्रुति परलोक में स्त्रियों की प्राप्ति का लालच देती है—) उक्त दोष सुनकर भी अगर तुझे स्त्रियों की तीव्र लालसा है तो भी तू अभी ब्रह्मचारी बना रहा। यदि यहाँ तूने ब्रह्मचर्यपालन कर लिया तो स्वर्ग में या ब्रह्मलोक में इन मानुषी स्त्रियों से करोड़ों गुणा अधिक रूपादियुक्त अप्सराएँ दूँगी। वे अंजन, माला आदि हाथ में लेकर तेरा स्वागत करेंगी। उनके गर्भ न होने से तुझे नारी व पुत्र को पीडा पहुँचाने का पाप भी नहीं लगेगा।।२३५-६।।

१. पुराणे ६.१११६ आदौ वर्णिताः।
२. देहकारातः।

परदारान् न गच्छेद्धि कर्मणा मनसा गिरा। तां गच्छन् भयमागच्छेद् इह लोके परत्र च।।२३८
ततस्त्वं कामुकश्चेत् स्याद् दारान् सम्पादयात्मनः। गृहस्थो भव तत्राऽपि यज्ञदानादिकं कुरु।।२३९
दिवा न मैथुनं याहि स्वदारेष्वपि कर्हिचित्। रात्रावपि च पर्वादिरात्रीर्वर्जय सर्वदा।।२४०
एवमुक्तेऽनिषिद्धासु रात्रिष्वेव प्रवर्तते। विद्वांस्तस्य निरोधार्थमुपायज्ञेयमब्रवीत्।।२४१
अनृतौ नैव गन्तव्यं भवता स्त्रीषु कर्हिचित्। प्रशस्यर्तुं वधूनां च लोभयन्तीव कामुकम्।।२४२
ऋतावेवावगन्तव्यं स्नातायां सुदिने तथा। कृत्वा शास्त्रीयसंस्कारान् न निषिद्धासु रात्रिषु।।२४३
एवं ते पुत्रलाभः स्यात् पुत्रश्चैतादृशो यतः। इत्यभिप्रायतः पुत्रप्रशंसां कुरुते हि सा।।२४४

कथम् ? इत्याकांक्षायामाह—परदारानिति। यतः शरीरादिभिः परदारगमनं लोकद्वये भयावहं तत आत्मीयदारसम्पादनेन गृहस्थतां प्राप्य यज्ञादिकं कार्यम्। इति द्वयोरर्थः।।२३८-९।।

तत्राऽपि स्त्रीसेवायामयं नियमः पालनीय इत्याह—दिवेति स्पष्टम्।।२४०।। एवमुक्त इति। एतावत् श्रुत्वा योऽधिकारी अनिषिद्धासु पर्वादिभिन्नासु रात्रिष्वेव स्त्रीषु सक्तो भवति तमपि निरोद्धुं श्रुतिः इत्थं नियमान्तरम् उपदिशति, यत उपायज्ञा उपायस्य बालधीविषद्याभिधानरूपस्य ज्ञात्री। 'इत्थं' कथम् ? ऋतुभिन्नकाले गमनं न योग्यमिति। किं कुर्वतीत्यमुपदिशति ? वधूनाम् ऋतुकालस्य प्रशंसया कामुकचेतसि लोभं जनयन्तीव। इति द्वयोरर्थः।।२४१-२।। तं प्रशंसामभिनयति—ऋतावेवेति द्वाभ्याम्। भार्यायाम् ऋतौ स्नातायां सत्यां सुदिने शोभनवारादियुक्त एव काले शास्त्रीयान् आभ्युदयिकादिरूपान् संस्कारान् कृत्वाऽनन्तरं, निषिद्धा आद्याश्चतस्रो मघा-मूलयुक्ता विषमाश्च रात्रीर्वर्जयित्वाऽपि च गन्तव्यम् इत्यर्थः।।२४३।। एवमिति। एतादृशनियमानुष्ठाने ते पुत्रलाभः स्याद् अयं च पुत्रार्थो यत्नः त्वयाऽवश्यं कार्यः यतः पुत्र एतादृशो हरिश्चन्द्रोपाख्यानादौ कीर्तितैः प्रख्यातिहेतुत्वादिभिः गुणैर्युक्तः इति एवं निवृत्तितात्पर्येण सा श्रुतिः पुत्रोत्पादनं प्रशंसतीत्यर्थः। तथा चोक्तं भागवतैकादशे 'लोके व्यवाये'त्यादिना।।२४४।।

इस उपदेश के बाद भी कामुक यदि संयत नहीं होता तो माता-सी वात्सल्य वाली श्रुति उपायपूर्वक उस निरंतर कामपूर्तिसंलग्न को निवृत्त करने की इच्छा से यह समझाती है :।२३७।।—तुम कम-से-कम दूसरों की पत्नियों से समागम मत करना। क्रिया से ही नहीं, मन-वाणी से भी वैसा न करना। परस्त्रीसमागम इह-परलोकों में भयप्रद होता है।।२३८।। तुझे यदि अधिक ही कामना है तो अपनी पत्नी ग्रहण कर, गृहस्थ बन, यज्ञादि कर, अपनी पत्नी से भी दिन के समय समागम कभी मत कर, पर्व आदि निषिद्धि रात्रियों में भी पत्नीसेवा मत कर।।२३९-४०।।

यों समझा देने पर जो अधिकारी अनिषिद्ध रात्रियों में ही स्त्रीप्रसंग करता है उस विद्वान् को भी संयत करने के लिये श्रुति और भी नियम बताती है। श्रुति यों श्रेणिशः उपदेश करती है क्योंकि 'उपायज्ञ' है : माता जानती है कि धीरे-धीरे बहलाते हुए बच्चे से सारी बात मनवायी जा सकती है जबकि पहली बार वह समूची आज्ञा नकार देता है। इस प्रक्रिया में मिठाई, खिलौने आदि देकर भी बच्चे द्वारा आज्ञा के अंश मनवाये जाते हैं। श्रुति भी मनुष्यों को तत्तत् फल आदि से प्रलुब्ध और भयभीत कर कर्तव्य में लगाती है।।२४१।। स्त्रियों के ऋतुकाल की प्रशंसा करते हुए वह कामुक को समझाती है कि ऋतुभिन्न काल में स्त्रीसमागम कभी नहीं करना चाहिये।।२४२।। रजोदर्शन के बाद यथाविहित समय बीतने पर जब स्त्री स्नान कर चुके तब शुभ वार आदि युक्त समय पर शास्त्रोक्त संस्कार करके अनिषिद्ध रात्रियों में ही भार्याभिगमन करना चाहिये। यों करने से ही 'पुत्र' प्राप्त होगा क्योंकि नियमतः उत्पन्न करने से ही वह औलाद मिलती है जो नरक से त्राण कराती है। इसी अभिप्राय से श्रुति ने पुत्रप्रशंसा की है।।२४३-४।।

उत्पादनं न पुत्राणां विधत्ते कर्हिचित् क्वचित्। अप्राप्तस्य विधानं स्यात् प्राप्तं नैव विधीयते ।।२४५
योषितां सङ्गमात् पुत्रजन्म प्राप्तं सदैव हि। विना शास्त्रेण कामाच्च नारीसङ्गस्तथा स्वयम् ।।२४६
पश्वादीनां विना शास्त्रं म्लेच्छादेश्चैव दृश्यते। प्रजोत्पत्तिश्च नारीणां सङ्गोऽप्यविदुषां तथा।
अत एव पशून् प्राह दृष्टान्ते रागवेदिनः ।।२४७
पुत्रोत्पत्तौ च संयोगं पुनर्वारयितुं स्थिता। अजाया जायते जायेत्येवमाह श्रुतिः स्वयम् ।।२४८
ततः कामस्य महिमा प्रजोत्पत्तिरिहास्ति या। सर्वेषामपि जन्तूनां नारीसङ्गादहर्निशम् ।।२४९
कामोऽत्र दुःखवृक्षस्य संसारस्यैव कारणम्। आनन्दात्मस्वरूपस्य हेतुरावरणे तथा ।।२५०

अपूर्वविधिस्त्वत्र न सम्भवति[1], रागादितः प्राप्तत्वाद् इत्याह—उत्पादनमिति त्रिभिः। स्पष्टम् ।।२४५।। योषितामिति। यतः शास्त्रं विनाऽपि नारीसङ्गिनां पुत्रजन्म प्राप्तं, कामप्रयुक्तो नारीसङ्गः च प्राप्त इत्यर्थः।।२४६।। अत्रोदाहरणं मुख्याः पशवोऽजादयो, मनुष्याकारकत्वेन गौणा पशवो म्लेच्छादयश्चेत्याह—पश्वादीनामिति। शास्त्रहीनानां पशुपक्षिमत्स्यादीनां म्लेच्छादीनां च शास्त्रमविदुषां प्रजोत्पत्तिः, नारीसङ्गश्च दृश्यत इत्यर्थः। एतदभिप्रायेणैव श्रुत्या पशवो दृष्टान्ततयोपन्यस्ताः। कीदृशाः ? रागवेदिनः रागं कामजां प्रवृत्तिं स्वस्मिन् वेदयितुम् अनुभावयितुं शीलं येषां ते तथा।।२४७।।

अत एव 'पतिर्जायां प्रविशति'[2] इत्यादिश्रुतिः पुत्रोत्पत्त्यनन्तरं तत्संयोगवारणपरेत्याह—पुत्रोत्पत्ताविति। स्थिता उद्यता या भार्या पूर्वम् अजाया जायापदवाच्या न भवति सा पुत्रोत्पत्तौ सत्यां जननीत्वसूचकेन जायापदेनोच्यत इति।।२४८।। फलितमाह—तत इति। ततः कामवशात् प्राप्तयोः नारीसङ्ग-प्रजोत्पत्त्योः विध्यनर्हत्वं स्फुटमिति भावः।।२४९।।

अयं कामस्तु श्रुत्या हेयतयैव विवक्षितोऽनर्थहेतुत्वादित्याह—काम इति। संसारलक्षणदुःखहेतुत्वं स्वरूपानन्दावरणप्रयोजकत्वं च कामस्य प्रसिद्धमित्यर्थः।।२५०।। किन्तर्हि श्रुत्या विधीयते ? इति चेत्;

श्रुति कहीं भी पुत्र उत्पन्न करने का विधान कभी नहीं करती। जिस कार्य में व्यक्ति हेत्वंतर से या स्वतः प्रेरित न होता हो उसमें प्रेरित करने के लिये विधि होती है, जिसमें प्रेरित हो ही रहा हो उसके लिये विधि नहीं होती।।२४५।। शास्त्रोपदेश के बिना ही यह सर्वविदित है कि स्त्रीसंगम से पुत्रजन्म होता है और कामनावश स्त्रीसंगम की भी सब को प्रेरणा उपलब्ध है।।२४६।। पशु, म्लेच्छ आदि बिना शास्त्रविधि से ही नारीसंग, पुत्रलाभ आदि कर लेते हैं। शास्त्र न जानने वाले आर्य भी पत्नी-पुत्रादि पा लेते हैं। इसीलिये शास्त्रादि नहीं वरन् राग को ही प्रेरक अनुभव करने वाले पशुओं का ही उदाहरण श्रुति ने पुत्रप्रशंसाप्रसंग में दिया।।२४७।।

पुत्रोत्पत्ति हो जाने पर फिर उस पत्नी से संयोग का निषेध भी श्रुति ने यह कह कर किया है कि 'जो अजाया थी वह जाया हो जाती है' अर्थात् जिसमें पैदा हुआ जाये उसे जाया कहते हैं; पति जब तक पत्नी में गर्भादिरूप से पैदा नहीं हुआ तब तक पत्नी अजाया है लेकिन जब पति उसमें पैदा हो गया तब वह जाया हो गयी, पति की जननी हो गयी, अतः उससे समागम अकर्तव्य हो गया। पति ही पुत्ररूप से पैदा होता है यह पुराण में प्रथमाध्याय में ही जता आये हैं।।२४८।।

इसलिये संसार में जो सभी जंतु अहर्निश नारीसंग से प्रजोत्पादन कर रहे हैं वह कामना की ही महिमा है (न कि शास्त्रविधि की)।।२४९।। संसाररूप दुःखवृक्ष का कारण कामना ही है। आनंदरूप आत्मा को ढाँके रखने वाली भी कामना ही है। (बहिर्मुखता रहने से ही व्यक्ति आत्मदर्शन नहीं करता यह कठ में भी कह आये हैं।)।।२५०।।

१. पूर्वं १०.६७९ अप्युक्तं द्रष्टव्यम्।
२. बह्वृचब्राह्मणम् 'पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम्। तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते।। तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः।।' इति कुलूकभट्टेन (मनु. ९.८) उद्धृतम्।

ब्रह्मचर्योपदेशः

ब्रह्मचर्यादयं देव आनन्दात्मा स्वयम्प्रभः। नीरागस्य स्फुरत्यन्तः प्रदीप इव निश्चलः।।२५१

सुखार्थिनो जनान् वीक्ष्य सुखशून्यांश्चतुर्विधान्। शिरस्ताडमिव प्राह दुःखिता विदुषः प्रति।।२५२

स्थावरा नैव जानन्ति मदुक्तं श्रोत्रवर्जिताः। बुद्धिहीनास्तथैवैते श्रोत्रयुक्ताश्च जङ्गमाः।।२५३

केचिन्मां नैव सर्पन्ति लोके ये नाधिकारिणः। भवन्तो गुणसंयुक्ताः सर्व एवाधिकारिणः।।२५४

त्रैवर्णिका विशेषेण ब्राह्मणा ये बहुश्रुताः। कामं त्यजथ चित्तोत्थं यदि यूयं सुखार्थिनः।।२५५

कामबन्धनमेवेदं दुःखं सर्वशरीरिणाम्। कामात्मता प्रशस्ता न क्वापि कस्यापि देहिनः।।

कामिनो दुःखमायान्ति यतः सर्वत्र संस्थिताः।।२५६

कामविजयलक्षणं ब्रह्मचर्यमेव परमपुरुषार्थरूपफलशालित्वाद् इत्याह—ब्रह्मचर्यादिति। ब्रह्मचर्येणोपलक्षितरागाभावकस्य अधिकारिणोऽन्तर्हृदयेऽयम् आत्मा यथावत् स्फुरति इत्यर्थः।।२५१।।

एतद् ब्रह्मचर्यं येन प्रकारेण श्रुतिरुपदिशति तमभिनयति—सुखार्थिन इति द्वादशभिः। चतुर्विधान् जरायुजादीन् जन्तून् सुखार्थं यजमानान् अपि सुखमलभमानान् वीक्ष्य दुःखिता सती श्रुतिरूपा माता विदुषः बोधाधिकारिणः प्रति इत्थं प्राह। कीदृशी ? कारुण्यदुःखातिशयसूचनाय शिरस्ताडनमिव कुर्वतीति शेषः।।२५२।। 'इत्थं' कथम् ? इत्यत आह—स्थावरा इति। हे त्रैवर्णिकाः ! तत्रापि ब्राह्मणाः ! भवन्तो यदि सुखार्थिनः तर्हि मदुक्तं कामत्यागरूपं कुरुत, गुणैः बुद्ध्यादिभिः युतत्वेन श्रवणक्षमत्वेन च भवतामेव मद्वचनाऽनुष्ठानाऽधिकारित्वात्। न हि मदुक्तानुष्ठाने स्थावराणामधिकारः, श्रोत्रहीनत्वेन मदुक्तस्यैव तैरपरिज्ञानात्। तथा केषांचित् पश्वादीनां जङ्गमानां श्रोत्रयुक्तानामपि नाऽधिकारो यतो बुद्धिहीना बुद्ध्या शास्त्रार्थावधारणशक्त्या हीनाः। केचित् तु शूद्रादयो बुद्धिमन्तोऽपि नाधिकारिणो यतस्ते प्रतिषेधेन मदुपसर्पणेऽपि अयोग्याः। इति त्रयाणां सम्बन्धः।।२५३-५।।

कामस्य हेयताप्रयोजकं बलवदनिष्टानुबन्धित्वं दर्शयति—कामबन्धनमिति। कामो बन्धनं निबन्धनं प्रयोजको यस्य तथाभूतमेव दुःखं लोकस्य यतः सर्वत्र कामिन एव दुःखम् आयान्तो दृश्यन्तेऽतः कामपरत्वं न प्रशस्तं कस्याऽपीत्यर्थः।।२५६।।

विधान किया जाने लायक है कामना पर विजय पाना। इसे ही ब्रह्मचर्य कहते हैं। परमपुरुषार्थरूप फल यही देता है। ब्रह्मचर्य से नीराग हुए साधक के हृदय में यह स्वप्रकाश आनंदात्मदेव निश्चल दीपशिखा-सा प्रस्फुरित हो जाता है।।२५१।। माता श्रुति देखती है कि चारों तरह के जंतु सुख से वंचित और सुख के ही प्रार्थी हैं तो दुःखी होकर मानो सिर पीट कर समझदार मनुष्य को समझाती है :।२५२।।

हे त्रैवर्णिको ! खासकर बहुत पढ़ने-लिखने वाले ब्राह्मणो ! मैं (श्रुति) जो कुछ कहती हूँ उसे पेड़-पौधे तो सुन ही नहीं सकते, बेचारों के पास कार्यकारी श्रोत्रेन्द्रिय ही नहीं है। जानवरों के पास कान तो हैं पर बुद्धि नहीं, मेरे अर्थ के अवधारण की, कार्याकार्य के निर्णय की शक्ति नहीं अतः वे भी मेरी बात समझ नहीं सकते। मनुष्यों में बहुतेरे मुझे सुनने-समझने के अधिकारी नहीं अतः वे मेरे पास भी नहीं आते, सांसारिक क्रियाकलापों में वार्ता आदि में ही लगे रहते हैं। तुम सब लोग तो अधिकारी हो, गुणवान् हो। यदि तुम वास्तविक सुख चाहते हो तो मेरी बात मानो, तुम्हारे चित्त में हमेशा उद्बुद्ध जो कामना इसे छोड़ दो।।२५३-५।।

(कोई वस्तु तभी हेय जँचती है जब उसमें प्रतीत होने वाली इष्टता से ज़्यादा उसमें अनिष्टता समझ आये। कामना हमें मीठी लगती है, उसमें नुकसानदायकता ज़्यादा है यह स्पष्ट करने के लिये श्रुति बोलती है—) सब शरीर-

आनन्दाः सार्वभौमादेरेकादश समीरिताः। शतोत्कर्षानमून् सर्वानकामो याति सर्वतः।।२५७

आनन्दवारिधेर्यस्य लेशमात्रं समीरिताः। आनन्दो ब्रह्मणो योऽत्र परमानन्द ईरितः।

अकाम एव तं याति ब्रह्मचर्यादिसाधनः।।२५८

पुत्रैषणादिकाः सर्वास्त्यक्त्वा नानाविधैषणाः।आनन्दात्मानमन्तस्थमिच्छन्त्यत्राधिकारिणः।।२५९

अन्यथा भवतां क्लेशः पापं चैव भविष्यति। पश्वादीनां यथा नारीप्रजानां बहुदुःखदम्।।२६०

उत्पादयन्ति पशवः प्रायो गच्छन्ति योषितः। भवन्तश्च तथा चेत् स्युर्विशेषो भवतां हि कः।।२६१

कामत्यागस्य पुरुषार्थहेतुत्वं तु तैत्तिरीयव्याख्याने पूर्वाध्याये (श्लो. २७७ आदौ) प्रोक्तमित्याह—आनन्दा इति। ये च सार्वभौमस्य सद्गुणस्य आनन्दमारभ्य हिरण्यगर्भानन्दपर्यन्ता एकादश आनन्दाः शतगुणोत्तरा उक्तास्तान् अमूंस्तत्र तत्र निष्कामः प्राप्नोतीत्युक्तं पूर्वाध्याय इत्यर्थः। सार्वभौम एवादिः प्रथमः तमारभ्य मानुषगन्धर्वदेव-गन्धर्वपित्राजानदेवकर्मदेवाऽऽधिकारिकदेवेन्द्रबृहस्पतिविराट्सूत्राणाम् आनन्दा उक्ताः।।२५७।।

यस्तु परब्रह्मण आनन्दः सिन्धुस्थानीय उक्तः तं प्राप्तुं योग्यो निष्काम एवोक्तो, न तु सार्वभौमादयस्तद्योग्याइत्याह—आनन्दवारिधेरिति।।२५८।। अस्य परमानन्दस्य साक्षात्करण एव मनुष्यदेहस्य साफल्यमित्याह—पुत्रैषणादिका इति। आदिपदेन लोकैषणावित्तैषणयोर्ग्रहः। अत्र मनुष्यदेहे इच्छन्ति ज्ञातुमिति शेषः।।२५९।।

विपक्षे दोषमाह—अन्यथेति। अन्यथा कामाऽपरित्यागे भवतां क्लेशो दुःखं तथा पापम् अश्लीलं कर्म भविष्यति अनुष्ठेयतामापत्स्यते पश्वादिवत्। कीदृशं तत् पापं कर्म ? नार्याः सन्ततेश्च उक्तविधया दुःखप्रयोजकमित्यर्थः।।२६०।। ननु पशुसाम्ये को दोष इति चेत् ? मनुष्यत्वात् परिच्युतिरेवेत्याह—उत्पादयन्तीति। प्रायः पशूनामुत्पादनं योषिद्गमनं च व्यापारः प्रसिद्धः स एव भवतामपि चेत्तर्हि पशुत्वापत्तिर्वः स्याद् इत्यर्थः।।२६१।।

धारियों को अपरोक्ष दुःख का प्रयोजक कामना ही है क्योंकि सर्वत्र स्थित दुःखी वे ही हैं जो कामनावान् हैं। इसलिये किसी भी देही के लिये कभी भी कामनापरायण होना अच्छा नहीं।।२५६।। सार्वभौम के आनंद से प्रारंभ कर सौ-सौ गुणा अधिक ग्यारह आनंद बताये गये हैं। उन सबको वह पूर्णतः पा लेता है जो कामना से आहत नहीं है। (अध्याय १०. श्लो २७७ आदि में यह प्रसंग आया था।)।।२५७।। ये ग्यारहों भी जिसका एक बिन्दु ही हैं वह आनंदसागर ब्रह्म है। उसीका स्वरूपभूत आनंद परम, पूर्ण आनंद है। वह आनंद और किसी को नसीब नहीं, ब्रह्मचर्य आदि साधनों से संपन्न कामनारहित को ही वह उपलभ्य है।।२५८।। 'पुत्रैषणा' आदि कहलाने वाली नाना प्रकार की सारी कामनाएँ छोड़कर स्वयं के भीतर स्थित आनंदरूप आत्मा की इच्छा—उसे जानने की इच्छा—जिन्हें हो वे ही परमानंद पाने में अधिकारी हैं।।२५९।। यदि मेरी नसीहत नहीं मानी और कामात्मा बने रहे तो तुम्हारा क्लेश बना ही रहेगा, अधिकाधिक पाप करोगे और अपना दुःख बढ़ाते जाओगे। जैसे पशु आदि अपनी नारी और बच्चे को अत्यंत दुःख देने वाला कार्य करते हैं प्रजनन, वैसे ही तुम लोग भी करते रह जाओगे।।२६०।। स्त्रीप्रसंग और प्रजोत्पादन तो प्रायः सभी पशु कर लेते हैं, वही तुमने किया तो पशुओं से तुम मनुष्यों की विशेषता क्या रही!।।२६१।।

(यह नहीं कह सकते कि विधि-पालन करने के लिये पुत्रोत्पादन करते हो, क्योंकि वह विधि नित्य तो है नहीं, काम्य है; उसका अनुसरण न करो तो कोई दोष होगा नहीं बल्कि लाभ ही ज्यादा है—) श्येन आदि की विधियाँ जैसे रागवान् के लिये ही कही गयी हैं वैसे कामुक के लिये ही प्रजोत्पादन की विधि है। (शत्रुवध का उपाय श्येन नामक याग है। उस पर विचार हुआ है कि 'विधि जो करने को कहे वह धर्म है' ऐसा स्वीकारें तो श्येनादि अभिचार कर्म भी धर्म होने चाहिये। सिद्धांत है कि धर्म के लिये इतना ही ज़रूरी नहीं कि विधि ने करने को कहा हो वरन् जो करने

श्येनादिविधयो यद्वत् कीर्तिता रागिणं प्रति। प्रजोत्पत्त्यादिविधयस्तथैते कामिनं प्रति।।२६२
प्रजोत्पत्तौ विशेषोऽयं मन्त्रसंस्कारलक्षणः। कालादिनियमस्तद्वद् विधेयो रागिणं प्रति।।२६३
रागोऽनर्थकरश्चायं स्वसृमात्रादिसङ्गदः। पश्वादिदर्शनादुक्तो वर्जनीयः सदा नृभिः।।२६४
रागान्धधिषणः कुर्यात् स्वस्याऽनर्थं परस्य च। तस्माद् दुःखमिदं कामी वध्वा गर्भं सुदुःसहम्।
करोति स्वात्मनः पापं देहदुःखं सुतस्य च।।२६५

गर्भप्रवेशकथा

रेत एतद्वधूगर्भ आर्तवेन च संयुतम्। उत्पादयति जन्तूनां देहकारागृहं त्विदम्।।२६६

ननु विधिवशात् पशुसाम्यमप्यङ्गी करिष्याम इति चेत्? स्यादेवं यदि पुत्रोत्पादनादिविधीनां नित्यत्वम् अकरणे दोषावहत्वलक्षणं भवेत्। तेषां तु काम्यत्वाद्[1] न वीतरागस्य तदुल्लङ्घने दोष इत्याह—श्येनादीति। यथा वैरिमरणादिषु रागशालिनं प्रति श्येनादिसंज्ञयागानां विधिः, न च तदकरणे प्रत्यवायः; तथा पुत्रोत्पादादिविधयोऽपि रागिणं प्रत्येव प्रवर्तन्त इत्यर्थः।।२६२।। एवं तदङ्गभूतो विवाहादिनियमोऽपि कामिनं प्रत्येव, अङ्गप्रधानयोः समानाधिकारकत्वाद् इत्याह—प्रजोत्पत्ताविति। यश्च अयं प्रजोत्पत्त्यर्थं विशेषो विवाहादिको मन्त्रकरणकसंस्काररूपः, तथा ऋतुकालादिनियमश्च स सर्वोऽपि रागिणं प्रति एव विधीयत इत्यर्थः।।२६३।। फलितमाह—राग इति। यतो रागः पशुपक्ष्याद्युदाहरणेन स्वस्रादिसङ्गप्रयोजकत्वाद् अनर्थकर उक्तः ततो वर्जनीय इति।।२६४।।

न केवलं शास्त्र एव कामस्य अनर्थकरत्वमुक्तं किन्तु दृश्यतेऽपीत्याह—रागान्धेति। यतो रागव्याकुलितमतौ सर्वानर्थकरत्वं सम्भाव्यते तस्मादिदमुपपन्नम्। 'इदं' किम्? कामी वध्वा गर्भरूपं दुःखम्, आत्मनः पापरूपं, सुतस्य देहसम्बन्धरूपं च दुःखं करोतीति।।२६५।। सुतदेहदुःखदत्वमेव कामिनः स्फुटयति—रेत इति। वधूगर्भे गत्वा, आर्तवं रजः तेन सम्पृक्तम् एतद् रेतोरूपं बन्धनागारं करोतीति।।२६६।।

को कहा वह 'अर्थ' (हितकारी) भी होना चाहिये। श्येन से हिंसा होगी और हिंसा निषिद्ध होने से अनर्थ है अतः श्येन को धर्म कहना ठीक नहीं। स्वतः ही नहीं फलतः भी जो अनर्थ हो उसे धर्म नहीं मान सकते। इसलिये जब कहा 'शत्रुमारण के लिये श्येन करो' तब 'करो' प्रवृत्त करने के लिये नहीं कहा क्योंकि प्रवृत्त तो व्यक्ति द्वेष से स्वयं है, उसे केवल एक तरीका बताया कि शत्रुमारण का एक तरीका है श्येन। जैसे फिनायल, कीटनाशक आदि पर 'जहर' लिखा रहता है; जो मरना चाहता है वह उस शब्द को पढ़कर समझ लेता है कि यह मरने का उपाय है, लेकिन वह शब्द उसे उस वस्तु को खाने के लिये प्रेरित नहीं करता। ऐसे ही श्येनवाक्य उपाय बता रहा है, प्रेरित नहीं कर रहा। सभी काम्य-विधियों में यही बात है।)।।२६२।। प्रजोत्पत्ति के लिये मंत्र, संस्कार, कालादि के नियम इत्यादि विशेषताएँ शास्त्र में कही हैं लेकिन वे सब विधियाँ रागी के लिये ही हैं। (विवाह, गर्भाधान आदि की विधियाँ भी कामुक अधिकारी के लिये ही हैं। जैसें श्येन स्वरूपतः पाप नहीं, फलतः ही अनर्थकर है ऐसे यथाविधि विवाहादि स्वरूपतः पाप नहीं, फलतः ही क्लेशकर हैं। यदि विधि के अनुसार वे नहीं किये गये तो संभव है कि जिन कर्मादि से जिन कालादि में प्रजोत्पादनादि किया जाये वे निषिद्ध हों अतः स्वरूपतः भी पाप हों। शास्त्र ने विधिकर यह कृपा कर दी कि कामनापूर्ति के वे ढंग बता दिये जो कम-से-कम स्वरूपतः तो अनर्थ नहीं हैं।)।।२६३।। (यहाँ तक श्रुतिमाता का कामुक के प्रति उपदेश समझना चाहिये।)

क्योंकि पशु-पक्षी आदि के उदाहरण से बताया (श्लो. २२६) कि बहन माता आदि के संग का प्रयोजक होने से कामना अनर्थकारी है इसलिये मनुष्यों को सदा उसका वर्जन ही करना चाहिये।।२६४।।

---

१. 'अशुद्धमिति चेन्न, शब्दाद्' (३.१.२५) इति सूत्रं विहितं कर्म स्वरूपतो नानर्थयित्याह न तु फलतोऽपि सर्वकर्मणामर्थतैवेति, काम्यानामतथात्वादिति द्रष्टव्यम्।

रक्तस्य श्लेष्मणा योगे सद्यो वर्णान्तरं यथा। आर्तवेण भवेत् तद्वद् वैवर्ण्यं रेतसोऽपि च। ।२६७

रेतसो निर्गमे चास्य क्रम एष उदीरितः। पितुः शरीरतो नित्यं सर्वेषामिह देहिनाम्। ।२६८

अन्नं शरीरमायातं यून उक्तप्रकारतः। सम्प्राप्य सप्तमं धातुमापादतलमस्तकम्। ।२६९

वधूस्मृत्यादिसंजातकृशानुपरितापितम्। सर्वाङ्गपुष्पसञ्जातरसरूपं हृदि स्थितम्। ।२७०

बलशौर्यादिकृद्धार्दं पद्मं कम्पयतीव तत्। महावायुर्यथा प्राप्तस्तरौ तं सर्वतो दिशम्। ।२७१

'शोक्रशोणितसंयोगाद्' इत्यादेः 'क्रमाद्'[1] इत्यन्तस्यार्थमाह—रक्तस्येति एकविंशतिश्लोकैः। रक्तस्य कफेन योगे यथा वर्णान्तरं भवति तथा यदाऽऽर्तवस्य स्त्रीरजसो रेतसा योगाद् वैवर्ण्यं रूपान्तरापत्तिलक्षणं तदेतत् श्रुतौ संयोगपदेनोक्तम् इत्यर्थः। तथा चोक्तरूपसंयोगनिमित्ताद् गर्भभावद्वारा जन्तुः पुनः शरीरप्राप्तिलक्षणाम् आवृत्तिं लभत इति श्रुत्यर्थः। ।२६७। ।

उक्तसंयोगात् पूर्वं रेतःसिचः पितुर्देहाद् रेतसो निर्गमप्रकारो 'हृदी'त्यादिश्रुतिग्रन्थेनोक्त इत्याह—रेतस इति। अस्य गर्भपरिणामिनो रेतसः पितुः शरीराद् येन क्रमेण निर्गमो भवति स क्रम इत्यमुक्त इत्यर्थः। ।२६८। । 'इत्थं' कथम् ? इत्याकांक्षां पूरयति—अन्नमित्यादिना। उक्तविधया यूनः शरीरं प्राप्तम् अन्नं सप्तमधातुभावं प्राप्य आपादतलमस्तकं व्याप्नोतीति शेषः। ।२६९। । वधूस्मृत्यादीति। तत् च रेतोभूतमन्नं नारीस्मृत्यादिरूपाऽग्निना तापितं सत् सर्वाङ्गरूपपुष्पेभ्य आकृष्टरसस्थानीयतां गत्वा हृदि व्यवतिष्ठते तत्र स्थित्वा च तद्रेतो हृत्पद्मं कम्पयतीव यथा महावायुः वृक्षम्। कीदृशं तद्रेतः ? निरोधे बलशौर्यादिकारणम्। इति द्वयोरर्थः। । एतेन श्रुतौ 'व्यवस्थापयति' इति पदस्य हृदये विशेषेण अवस्थानं नयति प्राप्नोतीत्यर्थो ध्वनितः। ।२७०-१। ।

(कामना अनर्थकर है यह शास्त्र से ही नहीं लोक में भी सिद्ध है—) राग से जिसकी बुद्धि पर पर्दा पड़ गया हो वह दूसरे का ही नहीं अपना भी अनर्थ कर डालता है। कामुक पिता भी राग से अंधा होने के कारण ही पत्नी को गर्भरूप असह्य दुःख देता है, पुत्र को देहरूप दुःख देता है और दोनों को दुःख देने का पाप स्वयं के लिये बटोरता है जिससे स्वयं भी दुःख पायेगा। ।२६५-६। । पुरुष का वह रेतस् ही स्त्री के गर्भ में रज से मिलकर जंतुओं का देहरूप यह कारागृह पैदा कर देता है। ।२६७। ।

श्लेष्मा से मिलते ही जैसे रक्त का रंग तुरंत बदल जाता है वैसे ही रज से मिलते ही रेतस् का भी रूप परिवर्तित हो जाता है। ।२६८। । पिता के शरीर से रेतस् के निर्गमन का यह क्रम बताया गया है, सब मनुष्यों के लिये हमेशा यही क्रम औत्सर्गिक है : पूर्वोक्त सोम-वृष्टि आदि क्रम से युवक के शरीर में पहुँचा अन्न सातवाँ धातु (वीर्य) बनकर पैरों से मस्तक तक सारे शरीर में फैला रहता है। ।२६९। । पुरुष के सारे अंग मानो फूल हैं। नारी की याद आना, संभोग की इच्छा होना आदि मानो आग है। इस आग से सारे अंग तपते हैं तो उनमें स्थित शुक्र—जो कि पुष्पों के रस की जगह है—हृदय में आकर इकट्ठा हो जाता है (जैसे पुष्पों को उबालने पर उनका रस (अर्क) अलग बर्तन में इकट्ठा हो जाता है)। जैसे बहुत तेज़ चलती हवा पेड़ को हर दिशा में कँपाती है (झकझोर डालती है) वैसे हृदय में पहुँच वह वीर्य हृदयकमल को मानो कँपा देता है। यदि रोका जा सके तो वह वीर्य पुरुष को बल, शूरता, ओज आदि प्रदान कर सकता है। ।२७०-१। । हृदय कमल के कंपन से युवा में थोड़ा भी धैर्य नहीं बचता, धैर्य बनाये रखने वाला प्रयत्न ही वह नहीं कर पाता और स्त्रियों का मानो खिलौना बन जाता है। यह देखकर सत्पुरुष उसे हमेशा के लिये शोचनीय समझ लेते हैं। ।२७२। ।

---

१. 'शुक्रशोणितसंयोगादा वर्तते गर्भः। हृदि व्यवस्थानीति। हृदयेऽन्तराऽग्निरग्निस्थाने पित्तं पित्तस्थाने वायुः वायुस्थाने हृदयं प्राजापत्यात् क्रमात्।'

हृत्पद्मकम्पनादेष धैर्यक्लेशविवर्जितः।[1] क्रीडामृगो वधूनां स्यात् सतां शोच्यश्च सर्वदा।।२७२
हार्दं पद्मं गते शुक्रे पुंसि दुःखं हि यत् स्मृतम्। तदेव शुक्रसंस्थस्य गर्भस्याऽपि प्रजायते।।२७३
समुद्रस्था यथा नौका महावातेन कम्पनात्। दुःखमायाति तद्वत् स देहस्थो हृदि कम्पनात्।।२७४
एवं हृदयसंस्थानः प्राप्य दुःखं सुदारुणम्। ततो हृदयनाडीभ्यो गत्वा देहे स्थितिं पितुः।।
अग्निं धातुप्रतिष्ठानमापादतलमस्तकम्।।२७५
महाग्नौ पतितस्तत्र दह्यमानोऽतिदुःखितः। मरणं नाऽग्नितस्तस्माद् निर्गमं चाऽधिगच्छति।।२७६
स्थित्वा तत्र चिरं दुःखमनुभूयातिदारुणम्। अग्नितः पित्तमायाति द्रुतताम्ररसोपमम्।।२७७
तस्मिंस्तीव्रतमे तप्ते क्षारेतिकटुके तथा। पतितो दुःखमायाति नरकादपि दारुणम्।।२७८

ततः किं भवति ? इत्यतआह—हृत्पद्मेति। एष युवा हृत्पद्मे कम्पिते सति वधूनां क्रीडामृगो, धीराणां शोच्यश्च भवेत्, यतो धैर्यप्रयोजकेण क्लेशेन विधारकप्रयत्नेन वर्जितः।।२७२।। एतेन सूचितं रेतोगतस्य जीवस्य दुःखं वर्णयति—हार्दमिति। रेतसि हृत्पद्मं गते सति यथा पितुः दुःखम् अनुभवसिद्धं तथा तद् रेतोगतजीवस्य अपि अनुमेयमित्यर्थः।।२७३।। तद् दृष्टान्तेन सम्भावयति—समुद्रस्येति। देहस्थः पितृदेहे स्थितो जीवः।।२७४।।

एवं हृदये स्थित्वा तदन्तर्गतमग्निस्थानं जीवो गच्छति। ततश्च पित्तभावं, ततो वायुभावं, ततः पुनर्हृदयमिति श्रुतियोजनां दर्शयति—एवमिति सप्तभिः। एवं हृदये संस्थानं यस्य तथाभूतः सन् दुःखं प्राप्य ततो हृदयोत्थितनाडीमार्गेण पितुर्देहे स्थितिम् आपादतलमस्तकं गत्वा तत्र धातुप्रतिष्ठानं सप्तधातुषु स्थितिमन्तम् अग्निं गच्छतीति शेषः।।२७५।। अग्निगतस्य दुःखं दर्शयति—महाग्नाविति।।२७६।। स्थित्वेति। तत्र अग्नौ स्थित्वा पित्तभावं गच्छति यत्पित्तं द्रुतताम्रसमानाकारम् इति।।२७७।। पित्तभावदुःखमाह—तस्मिन्निति। तस्मिन् पित्ते।।२७८।। पित्ताद् वातभावं तद्दुःखं च दर्शयति द्वाभ्याम्—पित्त एवमिति। वातं गच्छतीति शेषः।।२७९१।।

शुक्र हृदयकमल में पहुँचने पर पिता को जितना दुःख होता है उतना ही उस शुक्र में स्थित जनिष्यमाण प्राणी को भी होता है। (अन्याधिष्ठिताधिकरण में (३.१.६.२४-७) जो जनिष्यमाण को दुःखादिका निषेध कहा है उसका तात्पर्य है कि अन्य शरीर का दुःख उस जनिष्यमाण का दुःख नहीं। अपने पापवश उसे अन्य दुःख हो सकता है, उसका निषेध उक्त अधिकरण में मानना ज़रूरी नहीं। माता के भोजनादिव्यतिक्रम से गर्भस्थ शिशु दुःखी आदि होता है ऐसा प्रायः सब मानते हैं। इसी तरह पिता के दुःख से भी उसका दुःख समझ सकते हैं। जनिष्यमाण को दुःख अपने पाप के फलस्वरूप होता है, पिता की परेशान दशा उसमें निमित्त है। जैसे सरकार को जब भ्रष्टाचार आदि परेशानियाँ जकड़ लेती हैं तब सरकार के द्वारा शासित जनता को भी क्लेश भोगना पड़ता है या पिता के व्यापार का दिवाला निकल जाये तो बच्चे भी भूखे मरते हैं।)।।२७३।। तूफान आने पर समुद्र ही नहीं उसमें स्थित जहाज भी उथल-पुथल हो जाता है, ऐसे ही हृदय में कंपन से पितृदेह में स्थित जनिष्यमाण जीव भी दुःखी हो जाता है।।२७४।। हृदय में दारुण दुःख पाकर वह हृदय से निकली नाडियों द्वारा पिता के सारे शरीर में भटककर अग्निस्थान में पहुँचता है जो उसी अग्नि का मूल स्थान है जो पिता के सातों धातुओं में स्थित है।।२७५।।

उस तेज़ जलती आग में पड़ा जीव वहाँ जलते हुए अत्यंत दुःखी रहता है। उस तपन से न मरता है, और न उससे बचकर निकल ही पाता है।।२७६।। उस आग में दीर्घ काल तक अतिदारुण दुःख भोगकर अग्नि से पित्तरूपता में आता है जो पित्त पिघले ताँबे की तरह होता है।।२७७।। अति तीव्र ताप वाले, क्षारात्मक, अति कड़वे उस पित्त

१. 'धैर्यलेश' इति पिपठिषामि।

पित्त एवं तदा दुःखमनुभूयातिदारुणम्। वातं तीव्रतमं भूयो महावातोपमं पुमान्।।२७९

महागिरौ यथा शृङ्गे समुन्नततमे स्थितः। निरालम्बेऽतिवातेन प्रकम्पितवपुः पुमान्।।२८०

हार्दं पद्मं ततो गच्छेद्धृदयस्यान्तरस्थितम्। रक्तोत्पलसमं नित्यं भाति यन्मुकुली कृतम्।।२८१

हृदयं द्विविधं नित्यं प्राणिनां परिकीर्तितम्। अस्थिपञ्जररूपं च पद्मरूपं तदन्तरम्।
उरो वक्ष इति प्राहुर्बाह्यं यल्लौकिका जनाः।।२८२

अद्यमानः पुमान् गच्छेदन्नेन सह सर्वदा। पितुर्हृदयपद्मस्य समीपं प्रथमं ततः।।२८३

गच्छेद् देहगतं वह्निमाहारपरिपाचकम्। आहारेण समं तत्र पुनरूर्ध्वं प्रयात्यसौ।।
समानवायुना नीतो रसैर्नानाविधैः सह।।२८४

जाठरात् पित्तमायाति पित्ताद् वायुं पुनश्च सः। वायोः पद्मं शरीरस्य मध्ये कन्दुकवत् स्थितः।।२८५

याताऽऽयातं विधायैवम् अध ऊर्ध्वं शरीरके। पितुर्दुःखं परं प्राप्तः कर्मणा परिचोदितः।।२८६

रेतसा सह निर्याति देहादस्मात् कथञ्चन। प्राजापत्योऽयमध्वा स्यात् सदा संसरणे नृणाम्।।२८७

महागिराविति। यथा महागिरिशिखरगतो महावातकृतं दुःखमनुभवेत् तथाऽयमपि दुःखमनुभवतीत्यर्थः।।२८०।। ततो वाताच्च पुनर्हृदयमागच्छति इत्याह—हार्दमिति। स्पष्टम्।।२८१।। हृदयस्वरूपं निर्धारयति—हृदयमिति। हृदयपदार्थो द्विविधः प्रसिद्धः—अस्थिपञ्जरात्मकः प्रथमः, तदन्तर्मांसमयपद्मात्मको द्वितीयः। तत्र प्रथमस्य उर इति वक्ष इति च लोके प्रसिद्धिरित्यर्थः।।२८२।।

वर्णितं क्रमं पुनर्विशदी कुर्वन्नाह—अद्यमान इति त्रिभिः। अन्नेन सह भक्ष्यमाणो जीवः प्रथमं पितुर्हृदयपद्मस्य समीपं गच्छति। ततः आहारेण तेन भुक्तान्नेन सह जाठराग्निं गच्छति। ततो रसैः भुक्तान्नपरिणामैः नानाविधैः सह समानवायुना ऊर्ध्वं गच्छति। एवं जाठराग्नेः ऊर्ध्वं गच्छन् पित्तभावं गच्छति, ततो वायुभावं, ततः पुनर्हृदयम्।। इति त्रयाणामर्थः।।२८३-५।। यातायातमिति। एवं पितुः देहे अधऊर्ध्वं याताऽऽयातं भ्रमणं कृत्वा दुःखितः सन् कर्मवशेन रेतसा सह बहिर्गच्छतीत्येवंरूपः अध्वा मार्गो देहान्तरग्रहणलक्षणसंसरणार्थं प्रजापतिना निर्मितत्वात् प्राजापत्य इत्युच्यते। इति द्वयोरर्थः।।२८६-७।।

में पड़े जीव को नरक से भी ज़्यादा कष्ट होता है।।२७८।। यों पित्त में दुःख भोगकर जनिष्यमाण पुरुष फिर तीव्र गतिशील वायु में फँसता है जो महावात (तूफ़ान) की तरह है।।२७९।। बड़े पर्वत की ऊँची चोटी पर बिना सहारे खड़ा पुरुष तेज़ आँधी से जैसे झकझोर दिया जाता है ऐसे पिता के शरीर की वायु द्वारा उसमें गर्भरूप से स्थित जीव भी हिलाये जाते हुए दुःख पाता है।।२८०।। वात से जीव पुनः पिता के हृदय स्थित कमल में लौट आता है। बंद लाल कमल जैसा वह हृदय हमेशा भासमान रहता है।।२८१।। प्राणियों का हृदय दो तरह का बताया जाता है—एक, जिसका रूप है हड्डियों का ढाँचा और दूसरा जो उसके भीतर है जिसका रूप मांसमय पद्म है। पहले वाले अर्थात् बाहरी हृदय को सामान्य लोग उर, वक्ष, छाती, सीना आदि शब्दों से कहते हैं।।२८२।। अन्न सहित खाया जाता जनिष्यमाण जीव पहले हमेशा पिता के हृदयपद्म के पास पहुँचता है। वहाँ से भुक्त अन्न के साथ देहगत जठराग्नि में जाता है जो अग्नि आहार को पचाती है। वहाँ अन्न पचकर अनेक प्रकार के रस बनता है जिन रसों के साथ समान वायु द्वारा जीव भी अग्नि से ऊपर की ओर बढ़ जाता है।।२८३-४।। ऊपर उठते हुए पहले पित्त में आता है, फिर वायु में और वहाँ से उस पद्म में आ जाता है जो शरीर के बीच गेंद-सा स्थित है।।२८५।।

मलत्रयमिदं प्रोक्तं कारणं सवदेहिनाम्। रेतः पितुस्तथा मातुस्तयोर्गर्भस्तृतीयकः।।२८८
इति केचिद् वदन्त्यन्ये कर्म गर्भस्य तं द्विजाः। अवस्थैव तृतीयेयमपरे प्राहुरुत्तमाः।।२८९
शुक्रं च शोणितं तद्वत्तयोर्योगाच्च तत्क्षणात्। वर्णान्तरं तृतीयोऽयं मल उक्तो मनीषिभिः।।२९०
क्लेशकर्माशयैः सार्द्धं मलत्रयमुपागतः। पितुर्मातुश्च वा यादृक् तादृग्देहं समाप्नुयात्।।२९१
मलद्वयं यदा तुल्यं पित्रोः स्यादस्य देहिनः। नपुंसकं तदा देहमयं गृह्णात्यनीश्वरः।।२९२

अथार्थक्रमेण 'द्वियोनिम्' इति मन्त्रपदव्याख्यानभूतस्य 'पितूरेतोतिरेकाद्' इत्यादेः 'प्रजायन्त' इत्यन्तस्य[1] श्रौतग्रन्थस्य अर्थं विंशतिश्लोकैः उपबृंहयंस्तदुपयोग्यागमोक्तं बीजत्रयं दर्शयति—मलत्रयमिति त्रिभिः। इदं बुद्धिसंनिहितनामकं मलत्रयं सर्वयोनिजदेहानां कारणम् उक्तम् आगमविद्भिरिति शेषः। तथा चोक्तं प्रपञ्चसारे 'मायीयं नाम योषोत्थं पौरुषं कार्मणं मलम्। आणवं नाम सम्प्रोक्तं मिलितं तद् मलद्वयम्।।' इति। योषाया मलं शोणितात्मकं मायीयम् इत्युच्यते, पौरुषं मलं तु कर्मसंस्कृतत्वात् कार्मणम् इत्युच्यते, तदुभयं मिलितं सद् आणवम् इत्युच्यते, जीवस्य शरीरावच्छिन्नत्वलक्षणाऽणुत्वप्रयोजकत्वात्—इति तदर्थः। प्रथमं द्वितीयं चानूद्य तत्र तृतीयस्य स्वरूपे मतत्रयं दर्शयति—रेत इत्यादिना। पितृसम्बन्धिरेतोरूपः प्रथमो मलो, मातृसम्बन्धी द्वितीयो मलः, तयोः मातृपितृमलयोः गर्भः सन्धिः तद्रूपस्तृतीयो मल इति एवं केचिद् आगमिका द्विजाः प्रवदन्ति। 'गर्भः कुक्षौ शिशौ सन्धौ' इति हैमः। अन्ये तु गर्भस्य गर्भभावस्य प्रयोजकं कर्म अदृष्टं तं तृतीयं मलं वदन्ति। अपर उत्तमाः कुशलास्तु इत्थमाहुः। 'इत्थं' कथम्? इयम् आणवाख्यतृतीयमलरूपा प्रथमद्वितीययोः मलयोः अवस्थैव भवति। इति द्वयोरर्थः।।२८८-९।। अवस्थात्वमेव स्फुटयति—शुक्रमिति। शुक्रं प्रथमो मलः, शोणितं द्वितीयः, तयोः योगे सति यद् वर्णान्तरं तद्रूपः तृतीय आणवाख्यो मलः सिद्धान्तविद्भिरुक्त इत्यर्थः।। तथा च तृतीयस्य प्रथमद्वितीययोरेव अन्तर्भाव इति भावः।।२९०।। फलितं दर्शयन्नक्षरार्थमाह—क्लेशेत्यादिना। क्लेशैरविद्यादिभिः, कर्मभिः शुभाशुभैः, आशयैः वासनाभिः सहितो जीवः उक्तमलत्रयसम्बन्धद्वारा मातापित्रोः शरीरसदृशं देहं प्राप्नोतीत्यर्थः।।२९१।।

मायीयकार्मणयोः साम्ये नपुंसकत्वं, मायीयाधिक्ये स्त्रीत्वं, कार्मणाधिक्ये पुंस्त्वं च भवति इत्याह—मलद्वयमिति द्वाभ्याम्। अस्य देहिनः पित्रोः मलद्वयं यदा तुल्यं भवति तदाऽयं नपुंसकं देहं गृह्णाति अनीश्वरः कर्मपरतन्त्रः।।२९२।।

पितृदेह में नीचे-ऊपर यों गमन-आगमन कर, परम दुःख पाकर स्वप्रारब्ध से प्रेरित हुआ जीव रेतस् के साथ पिता के देह से किसी तरह बाहर निकल आता है। जीवों के संसरण का यह मार्ग 'प्राजापत्य' कहलाता है क्योंकि प्रजापति ने इसका निर्माण किया है।।२८६-७।।

सभी योनिज देहों का कारण ये तीन मल बताये गये हैं—पिता का शुक्र, माता का शोणित और दोनों के मिलन से बना गर्भ। (अज्ञान, कर्म और अध्यास के रूप में इन्हें कुछ लोग समझाते हैं) यों कुछ लोग गर्भ को तीसरा मल मानते हैं जबकि अन्य विद्वान् अदृष्टरूप कर्म को गर्भवास का हेतुभूत तीसरा मल कहते हैं। अन्य विचारशील बताते हैं कि पहले दोनों मलों की एक अवस्था-विशेष ही तीसरा मल है। शुक्र-शोणित मिलते ही अलग रंग का जो पदार्थ बनता है वही मनीषियों ने तीसरा मल कहा है।।२८८-९०।। अविद्यादि क्लेशों के, पुण्य-अपुण्य कर्मों के एवं शुभ-अशुभ वासनाओं के सहित जीव उक्त तीनों मलों से सम्बद्ध होकर वैसा शरीर प्राप्त कर लेता है जैसा माता-पिता का होता है।।२९१।।

---

१. 'पितूरेतोऽतिरिक्तात्पुरुषो भवति मातूरेतोऽतिरिक्तात्स्त्रियो भवन्ति उभयोर्बीजतुल्यत्वाद् नपुंसको भवति व्याकुलितमनसोऽन्धाः खञ्जाः कुब्जा वामना भवन्ति अन्योन्यवायुपरिपीडितशुक्रद्वैध्याद् द्विधा तनूः स्याद् युग्माः प्रजायन्ते।'

रेतो मातुर्यदा भूयस्तदा स्त्री परिजायते। यदा भूयः पितुस्तत्स्यात् तदा गर्भः पुमान् भवेत्।।२६३
सर्वेन्द्रियगुणैर्युक्तो भवति स्वच्छचित्तयोः। स्त्रीपुंसयोर्हि संयोगाद् यथाशास्त्रमनिन्दितात्।।
अनेकगुणसम्पन्नस्तत्तद्वर्णे प्रजायते।।२६४
यदा ह्यन्यतरस्य स्याद् द्वयोर्वा व्याकुलं मनः। रेतस्तयोस्तदा सम्यङ्नागच्छेत् सर्वगात्रतः।।२६५
आगतं वा विहन्येत कुहूमार्गविनिर्गमे। एकस्य वा द्वयोर्वापि युतं धात्वन्तरेण च।।२६६
ततो गर्भो भवेत् खञ्जः पङ्गुर्वा विगताङ्गुलः। हीनाधिकाङ्गुलो वाऽपि कुणिर्वैकपदादिकः।।२६७
इन्द्रियैर्नयनाद्यैर्वा वर्जितोऽन्यतरेण वा। वामनो वाऽतिकुब्जो वा द्राघीयान् वातिभीषणः।
अनेकत्वं तथा गर्भः प्राप्नोत्येवं कदाचन।।२६८
पित्रोर्वायुद्वयं क्षुब्धं गतं गर्भाशयं प्रति। वीर्यद्वयस्य सहसा मिलितस्यात्मवेगतः।
विभागं कुरुते तेन द्वित्र्यादेः सम्भवो भवेत्।।२६९

रेत इति। मातूरेतः शोणितात्मकं बीजं यदा भूयः अधिकं भवति तदा स्त्री भवति। यदा तु पितुः रेतोऽधिकं तदा पुमान् इत्यर्थः।।२६३।। गर्भस्येन्द्रियादिसाकल्यप्रयोजकं दर्शयति—सर्वेन्द्रियेति। यदा स्त्रीपुंसयोः स्वस्थचित्तयोः संयोगो भवति तदा गर्भः सर्वेन्द्रियैः अनेकगुणैश्च सम्पन्नो भवति। तत्तद्वर्णे ब्राह्मणादिजातौ।।२६४।। यदा हीति। यदा तु द्वयोः मातापित्रोः अन्यतरस्य मनो व्याकुलं भवति तदा तयो रेतः सर्वाङ्गेभ्यो न आगच्छति, आगतं वा उक्तमार्गनिःसरणकाले विहन्यते प्रतिरुद्ध्यते। अथ वा कफादिरूपधात्वन्तरेण सम्पृक्तं भवति। इति द्वयोरर्थः।।२६५-६।। तत इति। तत उक्तनिमित्ताद् गर्भः खञ्जत्वादिभिः अनेकत्वं नानाविधत्वं प्राप्नोति इति सम्बन्धः। तत्र खञ्जः चक्रपादः। कुणिः श्यामनखः। द्राघीयान् अतिदीर्घः। स्फुटमन्यत्।।२६७-८।। गर्भस्य युग्मादित्वे निमित्तमाह—पित्रोरिति। यदा पित्रोः अपानाख्यवायुद्वयं निमित्तविशेषवशेन क्षुब्धं सद् गर्भाशयं प्रति गत्वा शुक्रशोणितयोः मिलितयोः विभागं कुरुते तदा द्वयोः त्रयाणां चतुर्णां वा बालानां सम्भव उत्पत्तिर्भवति इति सम्बन्धः।।२६९।।

इस जायमन देही के माता-पिता के मल जब बराबर होते हैं तब यह कर्माधीन प्राणी नपुंसक शरीर पाता है।।२६२।। माता का शोणित ज़्यादा हो तो प्राणी स्त्री शरीर प्राप्त करता है और पिता का रेत अधिक होने पर पुरुष देह ग्रहण करता है।।२६३।। स्वच्छ चित्त वाले माता-पिता ने शास्त्रीय मर्यादा न तोड़ते हुए अनिंदित ढंग से संयोग किया हो तो अनेक गुणों से संपन्न एवं सभी इंद्रियों से युक्त औलाद होती है। केवल मानवादि आकार ही नहीं ब्राह्मणादि वर्ण भी माता-पिता के अनुसार ही प्राप्त होता है।।२६४।। संयोग के समय माता का, पिता का, या दोनों का मन यदि व्याकुल हो तब उनका शोणित या शुक्र उनके सारे अंगों से खिंचकर नहीं आता, यदि आ भी जाये तो योनिमार्ग में बहते समय प्रतिरुद्ध हो जाता है अथवा माता, पिता या दोनों के कफादि धातुओं से संमिश्रित होकर हीनबल हो जाता है।।२६५-६।। इनमें से कोई भी निमित्त हो जाये तो गर्भ टेढ़े पैरों वाला, लंगड़ा, बिना अंगुलियों वाला, कम या ज़्यादा अंगुलियों वाला, काले नाखूनों वाला, एक पैर आदि वाला, आँखादि सब इंद्रियों से रहित या किसी एक इंद्रिय से रहित, बौना, बहुत कुबड़ा, बहुत लंबा, बहुत डरावना आदि विकारों वाला हो जाता है। कभी गर्भ में एक से ज़्यादा शरीर तैयार हो जाते हैं।।२६७-८।। माता-पिता की अपान वायु किसी कारण असाधारण रूप से बढ़े वेग वाली हो तो गर्भाशय में जाकर अपनी तेज़ी से उस 'तृतीय मल' के टुकड़े कर देती है जो माता-पिता के वीर्यों का ताज़ा मिलित रूप है। इसीसे दो-तीन आदि शरीर गर्भ में विकसित होने लगते हैं।।२६९।।

एवं न्यूनाधिकैर्गात्रैरेकोवाऽनेक एव वा। गर्भो मातुस्तु जठरे जायते कर्मयोगतः।।३००

गर्भविकासः

एकरात्रेण कललं फेनवन्मण्डलद्वये। भवेज्जठरमायातं मातुः सर्वस्य देहिनः।।३०१
मातुरङ्गुष्ठमात्रेण मितमत्र तु तत् स्मृतम्। फेनतां तु परित्यज्य सप्तरात्रेण बुद्बुदम्।।
अण्डाभं जायते मांसं किञ्चिद्द्रवसमन्वितम्।।३०२
पक्षेण द्रवतां त्यक्त्वा पिण्डतां प्राप्य तद् भवेत्। चतुरस्रं हि सम्पर्कात् स्वमातृमरुदग्निभिः।।३०३
चतुरस्रे तु सम्पन्ने तस्मिन् वीर्यद्वये ततः। किट्टीभूतं द्वयं पूर्वं बीजयुग्मं पृथग्भवेत्।।३०४

गर्भप्रवेशकथामुपसंहरति—एवमिति। कर्मवशेन प्राप्तैः उक्तविधनिमित्तैः न्यूनत्वादिभाजिनो गर्भस्य मातुः उदरे स्थितिर्भवतीत्यर्थः।।३००।।

अथ कललादिगर्भावस्थाप्रतिपादकवाक्यानाम्[1] अर्थमाह—एकेत्यादिना। नद्यां वहन्तो मण्डलाकाराः फेनपुञ्जाः प्रसिद्धाः तत्र यथा मण्डलद्वये वर्तमानयोः फेनयोः शुक्रशोणयोः युगं मिश्रणेन कललं भवेत्। तथा तत् मातृजपितृजयोः मलयोः द्वयं सर्वस्य योनिजस्य देहिनो मातुः जठरे समागतं सद् एकरात्रेण कललावस्थं भवति। तस्य परिमाणमपि मातुः अङ्गुष्ठतुल्यमुक्तम्। तदेव च मलद्वयं सप्तरात्रेऽतीते फेनसाम्यं विहाय बुद्बुदसाम्यं भजते; तदेव विशदयति—अण्डाभमिति। किञ्चिद्द्रवसमन्वितस्य मांसस्य यदण्डवद् वर्तुलत्वमेतदेव बुद्बुदत्वेन अत्र विवक्षितम्। इति द्वयोरर्थः।।३०१-२।। पक्षेणेति। पञ्चदशदिनेषु अतीतेषु तद् बुद्बुदाकारं मांसं द्रवतात्यागेन पिण्डतां प्राप्य चतुरस्रं चतुष्कोणं भवति। तस्य पिण्डीभावे हेतुः स्वस्य मलद्वयस्य मातुश्च येऽन्तर्गता मरुदग्नयः तत्सम्पर्कः; आधारभेदाद् वाय्वग्न्योः बहुत्वमिति भावः।।३०३।।

अन्यस्मिन् काले सुषुम्नादिनाड्युत्पत्तिमागमोक्तां दर्शयति—चतुरस्र इति सप्तभिः। तस्मिन् मायीय-कार्मणसंज्ञे मातापित्रोर्वीर्यद्वये मात्राहारपरिणामसम्पर्केण चतुरस्रभावं गते सति तस्मिंश्चतुरस्रे समुदायरूपे घटकतयाऽनुगतं तन्मातापितृसम्बन्धि मलद्वयं ततः चतुरस्रात् पृथग्भवेद् अण्डकोशरूपेणेति शेषः। तत्र हेतुगर्भं विशेषणम्—किट्टीभूतमिति। 'किट्टं मलोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः; किट गताविति धातोरौणादिके ट-प्रत्यये निष्पन्नेन किट्टशब्देन अभिहितस्य उद्गमशीलत्वं युक्तमेवेति भावः।।३०४।।

इस प्रकार अपने कर्मों के अनुसार जीव माता के पेट में गर्भ बन जाता है। कम-ज़्यादा अंगों वाला, अकेला-दुकेला आदि जैसा भी वह पैदा होता है अपने कर्मों से ही होता है। (दो-तीन आदि जीवों के प्रारब्ध युगपत् एकत्र उत्पत्ति के हेतु बनते हैं तब जुड़वा बच्चे हो जाते हैं।)।।३००।।

नदियों में फेन के गोल पुंज बहते देखे जा सकते हैं। दो घेरों में बहते पुंज कभी मिलकर एक भी बन जाते हैं। इसी तरह माता-पिता के दोनों वीर्य माता के जठर में एक रात रहने पर आपस में दृढ बंधन वाले होकर 'कलल' नाम की अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं।।३०१।। कलल का माप प्रायः उतना ही होता है जितना माता का अंगूठा होता है। सात रातें बीतने पर वह फेनरूपता छोड़कर बुद्बुद के आकार का हो जाता है। थोड़े द्रवांश से युक्त मांस का अण्डे जैसा गोला यहाँ बुद्बुद शब्द से कहा जा रहा है।।३०२।। पंद्रह दिन बाद वह द्रवता (तरलता) छोड़कर चौकोर पिण्ड बन जाता है। पिण्डीभाव में हेतु बनती हैं वायु व अग्नि; स्वयं बुद्बुद में भी वायु अग्नि है ही (क्योंकि वह भी सप्राण

---

१. 'ऋतुकाले प्रयोगादेकरात्रोषितं कलिलं भवति सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति अर्धमासाभ्यन्तरेण पिण्डो भवति मासाभ्यन्तरेण कठिनो भवति मासद्वयेन शिरः कुरुते मासत्रयेण पादप्रदेशो भवति अथ चतुर्थे मासेऽङ्गुल्यजठरकटिप्रदेशो भवति पञ्चमे मासे पृष्ठवंशो भवति षष्ठे मासे नासाक्षिणी श्रोत्राणि भवन्ति सप्तमे मासे जीवेन सम्प्रयुक्तो भवति अष्टमे मासे सर्वसम्पूर्णो भवति।' कलिलमित्यत्र कललमपि बहुत्र पठ्यते।

ऊर्ध्वं तु मरुता नुन्नात् तस्मादपि मलद्वयात्। जायते कन्दमध्यस्था सूक्ष्मा वृत्ताप्यृजुस्तथा। ।३०५

सुषुम्ना नाम या नाडी पञ्चपर्वा प्रकीर्तिता। अवाङ्मुखी सा तस्याश्च भवेत् पार्श्वद्वये द्वयम्। ।३०६

या वाममुष्कसम्बद्धा सुषुम्नाश्लेषमागता। दक्षिणं पार्श्वमागत्य धनुर्वक्रा हृदि स्थिता। ।
वामांसजत्र्वन्तरगा नासां याऽदक्षिणां गता। ।३०७

तथा दक्षिणमुष्कोत्था नासायां वामरन्ध्रगा। इडा च पिङ्गला चैते पूर्वमेव समीरिते। ।३०८

नाभावेका स्थिता नाडी सुषुम्नापूर्वसम्भवा। बहिर्वक्रा सदा मातुर्हृदि सम्बद्ध्य तिष्ठति। ।
पुष्टिं गर्भो यया गच्छेत् केदार इव कुल्यया। ।३०९

ततः प्रथमं सुषुम्ना नाडी जायत इत्याह—ऊर्ध्वमिति। तस्मात् पृथग्भूताद् मलद्वयाद् आन्तरवायुना ऊर्ध्वाभिमुखं प्रेरितात् प्रथमं सुषुम्ना नाम नाडी जायते। कीदृशी ? कन्दमध्यस्थतया वर्णिता सूक्ष्मा दुर्लक्ष्या, वृत्ता वर्तुला, ऋजुः सरला, या नाभिहृदयगलतालुभ्रूमध्यैः अवच्छेदात् पञ्चपर्वा कीर्तिता आगमेष्विति शेषः। तदुक्तं—'पूर्वोक्तायाः सुषुम्नाया मध्यस्थायाः सुलोचने। नाभि-हृत्-कण्ठ-तालु-भ्रूमध्यपर्वसमुद्भवा। अधोमुखाः शिराः काश्चिद्' इत्यादि। सा सुषुम्ना अवाङ्मुखी वृक्षवदधोमुखी च बोध्या। तस्याः सुषुम्नायाः उभयोः पार्श्वयोः अपरं नाडीद्वयं भवति। इति द्वयोरर्थः। ।३०५-६। । या वामेति। तयोरपरनाड्योर्मध्य एका सा नाडी ज्ञेया या वाममुष्कदेशे सुषुम्नया आश्लेषं सम्पर्कं गता, दक्षिणपार्श्वमार्गेण हृदयदेशं गच्छति, अत एव धनुर्वद् वक्रा भवति। ततो हृदयादुत्थाय वामस्कन्धस्य जत्रुसंज्ञगलाधस्थास्थ्नश्चान्तर्गतेन मार्गेण अदक्षिणां वामां नासिकां गच्छतीत्यर्थः। ।३०७। । तथेति। तयोर्द्वितीया नाडी तु सा बोध्या या दक्षिणमुष्काद् उत्थाय वामपार्श्वगतेन रन्ध्रेण पूर्ववद् वक्रेण मार्गेण नासां गता दक्षिणामिति शेषः। तयोः क्रमेण नामनी इडा-पिङ्गलारूपे बोध्ये इत्यर्थः। ।३०८। । आप्यायनीसंज्ञाया गर्भोपचयप्रयोजिकाया नाड्याः स्वरूपं दर्शयति—नाभाविति। गर्भस्य नाभौ सम्बद्धा काचिद् नाडी जायते। कीदृशी? सुषुम्नायाः पूर्वात् प्रथमात् पर्वणो नाम्यवच्छिन्नरूपात् सम्भव उत्पत्तिर्यस्याः सा तथा; यस्या मुखं मातुः हृदयेन सम्बद्धं भवति। अनयैव कुल्याकेदारन्यायेन मातृभुक्ताऽऽहारेण गर्भः पोष्यत इत्यर्थः। अस्या नामान्तरं शङ्खिनीत्यपि

वस्तु है), माता के वायु-अग्नि भी उक्त कार्य में सहायक बनते हैं। ।३०३। । यों जब वीर्यद्वय चौकोर पिण्ड बन जाते हैं तब माता-पिता के दोनों बीज किट्ट बनकर उस चौरस से अलग हो जाते हैं, उसके ऊपर छिलके की तरह लिपट जाते हैं। (किट्ट अर्थात् मैल। जैसे अण्डा बनने पर उसके ऊपर सफेद छिलका तैयार होता है ऐसे यहाँ जो आवरण बनता है वह किट्ट है। यद्यपि माता-पिता का बीज ही भीतर भी गर्भरूप में बढ़ रहा है तथापि वह पृथक् जीव से अधिष्ठित है अतः बीजांश को उससे अलग होने वाला बताया।)। ।३०४। ।

गर्भ की आंतर वायु उस मलद्वय को ऊपर की ओर प्रेरित करती है जिससे सुषुम्ना नामक नाडी पैदा होती है जिसे पहले कंद के मध्य में स्थित कहा था (श्लो. १२५)। यह सूक्ष्म, गोल, सीधी तथा नीचे की ओर मुँह वाली है। इसमें पाँच पर्व (गाँठें) हैं जो नाभि, हृदय, गले, तालु और भ्रूमध्य में स्थित हैं। उस सुषुम्ना के दोनों ओर दो नाडियाँ बन जाती हैं। ।३०५-६। । इन दोनों में से एक नाडी इडा बाँये अण्डकोश के स्थल पर सुषुम्ना से चिपटी है और सुषुम्ना के दायें पसवाड़े के रास्ते हृदय तक गयी है अत एव धनुष की तरह गोल हो गयी है। हृदय से बाँये कंधे और जत्रु से (गले-कंधे के बीच की हड्डी जत्रु है) गुज़रते हुए बाँयी नासिका में पहुँच जाती है। ।३०७। । दूसरी नाडी पिंगला दायें अण्डकोष से उठकर बाँये पसवाड़े के रास्ते (इडा की तरह ही) दायीं नासिका में पहुँचती है। इन नाडियों के इडा-पिंगला नाम पहले भी बता चुके हैं। ।३०८। । गर्भ की सुषुम्ना के पहले पर्व से एक नाडी उत्पन्न होती है जो गर्भ की नाभि से सम्बद्ध होकर गर्भ से बाहर निकल कर वक्रमार्ग से माता के हृदय तक पहुँच जाती है, उसका मुँह हमेशा माता

पुंसो मुष्कद्वयं व्यक्तम् अव्यक्तं तत् स्त्रियोऽपि च। नपुंसकस्य किञ्चित्तद् व्यक्तमुक्तं मनीषिभिः।।३१०

मासमात्रेण कठिनः स्यात् पिण्डश्चतुरस्रकः। समुष्कात् कठिनात् तस्माद् द्विमासाज्जायते शिरः।।३११

मासत्रयेण जायेते हस्तौ पादौ च कोणतः। चतुर्थे मासि जायन्ते हस्तपादाङ्गुलीगणाः। कट्युरोजठरं तद्वत् पार्श्वास्थीनि च कानिचित्।।३१२

पृष्ठवंशो भवत्यस्य पञ्चमे मासि सर्वदा। षष्ठे द्वाराणि सर्वाणि सेन्द्रियाणि भवन्ति च।। सप्तमे प्राणसंयुक्त एष प्राणी प्रजायते।।३१३

अष्टमे मासि गर्भोऽयं सुप्तदेहसमो भवेत्। अन्तर्बहिश्च सम्पूर्णसर्वाङ्गो दोषवर्जितः। लोकद्वयं साधयितुं समर्थो निर्गतो यदि।।३१४

वदन्ति इति बोध्यम्।।३०९।। पुंस इति। उक्तनाडीलतानां मूलग्रन्थिस्थानीयम् अण्डकोशयुगलं पुरुषाणां प्रस्फुटमेव, नारीणां तद् अस्पष्टं, नपुंसकस्य तत् किञ्चिद् व्यक्तम् इति।।३१०।।

मासेति। एकस्मिन् मासेऽतीते स चतुरस्रः पिण्डः कठिनः स्यात्। तस्मात् जातमुष्ककात् कठिनात् पिण्डाद् मासद्वयेऽतीते शिर उत्पद्यत इति।।३११।। मासत्रयेणेति। मासत्रयेऽतीते चतुरस्रस्य कोणचतुष्टयात् क्रमेण द्वौ हस्तौ द्वौ पादौ च जायेते। चतुर्थे मासे तु हस्ताङ्गुलिप्रभृतयोऽस्थिपर्यन्ता अवयवाः प्रभवन्तीत्यर्थः। कटिश्च उरश्च जठरं च तेषां समाहारः तथा।।३१२।। पृष्ठवंश इति। पञ्चममासे पृष्ठगतं दीर्घास्थि जायते। षष्ठे नव द्वाराणि तद्गतेन्द्रियाणि[1] च जायन्ते। सप्तमे प्राणव्यापारः स्फुटो भवतीत्यर्थः।।३१३।।

अष्टम इति। अष्टममासे सर्वाङ्गैः पूर्णः चैतन्याऽनाविर्भावात् सुप्त इव गर्भो भवति। स च यदि दोषेण धातुवैषम्येण वर्जितः सन् गर्भाद् निःसरेत् तर्हि लोकद्वयम् अभ्युदयनिःश्रेयसरूपं साधयितुं क्षमः स्यादिति। एतेन अत्र मासे जीवनसंशयो ध्वनितः।।३१४।। अभ्युदयादिसाधनक्षमत्वे हेतुम् उपासन-निर्गुणविद्ययोः क्षमत्वमाह—

के हृदय से सम्बद्ध रहता है। जैसे तालाब का पानी नहर द्वारा खेत में सींचा जाता है ऐसे माता द्वारा खाये आहार का रस इसी नाडी द्वारा गर्भ तक पहुँचकर उसे पुष्ट करता है। (इसके आप्यायनी और शंखिनी दो नाम प्रसिद्ध हैं।)।।३०९।। उक्त नाडी-लताओं की मूल ग्रंथि हैं दोनों अण्डकोश। पुरुष में तो अण्डकोश स्पष्ट ही होते हैं, स्त्री के अण्डकोश यों स्पष्ट नहीं होते और नपुंसक के अण्डकोश थोड़े स्पष्ट होते हैं।।३१०।।

एक महीना बीतने पर वह चौरस पिण्ड कठोर हो जाता है। जिसमें अण्डकोष बन गये ऐसे उस कठोर पिण्ड से दो महीने में गर्भ का सिर उत्पन्न हो जाता है।।३११।। तीन महीने बाद उस चौरस के चारों कोनों से दोनों हाथ और दोनों पैर पैदा होते हैं। चौथे महीने में हाथ-पैरों की अंगुलियाँ, कमर, छाती, पेट और पसवाड़ों की कुछ हड्डियाँ तैयार हो जाती हैं।।३१२।। पाँचवे महीने में गर्भ की रीढ़ की हड्डी बनती है। छठे महीने में नवों द्वार और उनमें कार्य करने वाली इंद्रियाँ तैयार होती हैं। सातवें महीने में गर्भ का प्राणव्यापार स्फुट हो जाता है।।३१३।। आठवें महीने में यह गर्भ सोये शरीर जैसा हो जाता है। तब इसके बाहरी-भीतरी सब अंग बन चुकते हैं। यदि बिना किसी दोष के वह उस समय गर्भ से बाहर आ जाये तो इहलोक-परलोक संबंधी चेष्टाएँ कर सकता है। (प्रायः आठवे महीने में बाहर निकलना दोषवश ही होता है और तब बालक जीवित रहना कम संभव होता है अतः 'बिना दोष के' कहा।)।।३१४।।

---

१. कार्यकारीणि भवन्तीत्यर्थः। इंद्रियाणां पुर्यष्टके पूर्वदेहादेवागमनात्।

अनेन वपुषा कुर्यात् प्रणवादेरुपासनम्। निर्गुणं च तथा ब्रह्म जानीयाच्चेत् सुधीः पुमान्। ।३१५
अतोऽष्टमस्य मासस्य निर्गमे गर्भसंश्रितः। नवमे मासि सम्प्राप्ते सर्वज्ञो जायते हि सः। ।३१६
विनीतश्चाऽपि दान्तश्च ब्रह्मविज्ञानसाधनैः। सम्पन्नः सर्वगं ब्रह्म विजिज्ञासुरिव स्थितः। ।३१७

गर्भे स्मृतिः

जन्मकोट्यर्जितं पूर्वं पुण्यं पापं शुभाऽशुभम्। स्मरन्निन्दति दुःखार्त्तमात्मानं क्लेशभाजनम्। ।३१८
नानायोनिसहस्राणि पूर्वं प्राप्तान्यनेकधा। सुखदुःखकराण्यत्र संसारे दुःखसागरे। ।३१९
श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोऽजाऽविमृगपक्षिणाम्। गोधानामपि सर्पाणां कीटादीनां शरीरिणाम्। ।३२०
प्रतिलोमप्रजातानां चण्डालादिशरीरिणाम्। अनुलोमप्रजातानां विप्रादीनां च भूतले। ।३२१

अनेनेति। अनेन मानुषेण देहेन प्रणवाद्युपासनक्षमो यतो भवति अतो लोकद्वयं साधयितुं क्षम इति सम्बन्धः। अस्य अष्टममासस्य निर्गमे, नवममासस्य प्रवेशे सति गर्भः सर्वज्ञो भवति। इति द्वयोरर्थः। ।३१५-६। । विनीत इति। यथा कश्चित् साधनचतुष्टयसम्पन्नो ब्रह्मजिज्ञासया गुरुसमीपे तिष्ठेद् विनयादिमान् सन् तथाऽयं गर्भासने तिष्ठतीत्यर्थः। ।३१७। ।

तस्य सर्वज्ञताम् अनुतापपर्यवसन्नां प्रतिपादयतां 'जाती'रित्यादीनां 'परमुक्तिप्रदायकम्'[१] इत्यन्तानां वाक्यानामर्थमुपबृंहयति—जन्मकोट्यर्जितमिति त्रिंशता श्लोकैः। असंख्यजन्मार्जितानि कर्माणि स्मृत्वा आत्मानं निन्दति इति। ।३१८। । न केवलं कर्माणि एव स्मरति किन्तु नानाविधा जातीरपीत्याह—नानेति। नानाविधा असंख्याताश्च योनयो देहा मया लब्धाः। केषां ते योनिपदवाच्यदेहाः? इत्याकांक्षायामाह—श्वसूकरेत्यादि। प्रतिलोमा

आठवे महीने में भी उत्पन्न हुआ बालक यदि जीवित रहे तो उस शरीर से प्रणव आदि के सहारे निर्गुण उपासना कर सकता है और बुद्धिमान् हो तो ब्रह्म को जान भी सकता है। ।३१५। । यदि तब पैदा न हो तो यह आठवाँ महीना बीतने पर गर्भस्थ बालक नवाँ महीना लगने पर सर्वज्ञ हो जाता है। ।३१६। । जैसे व्यापक ब्रह्मानुभव का प्रार्थी विनय, दम आदि ब्रह्मानुभव के साधनों से संपन्न होकर गुरु के पास रहता है वैसे यह शिशु गर्भासन बाँधे मातृगर्भ में रहता है। ।३१७। ।

सर्वज्ञ हुए उस बालका को पूर्व के करोड़ों जन्मों में बटोरे शुभ-अशुभ पुण्य-पाप याद आते हैं और दुःख से आर्त व क्लेश का पात्र बने स्वयं ही वह निंदा करने लगता है। ।३१८। । कर्म ही नहीं पूर्वप्राप्त योनियाँ भी वह याद करता है। हरेक जीव को पूर्व में नाना प्रकार की हज़ारों योनियाँ मिल चुकी हैं। इस दुःखसागर संसार में उन योनियों वाले देहों ने सुख-दुःख दिये ही हैं। ।३१९। । कुत्ता, सूअर, गधा, ऊँट, गाय, बकरी, भेड़ हिरन, पक्षी, गोधा (गोह), साँप, कीट आदि शरीरधारियों की योनियाँ हम पा चुके हैं। प्रतिलोम क्रम से उत्पन्न चाण्डालादि देहियों की तथा अनुलोम क्रम से उत्पन्नों की तथा ब्राह्मणादि देहियों की योनियाँ भी पा चुके हैं। (पिता का वर्ण माता के वर्ण से उच्च हो तो अनुलोम क्रम और नीचा हो तो प्रतिलोम क्रम कहा जाता है। दोनों ही तरह से उत्पन्न प्रजा संकर जातियों की होती है।)। ।३२०-१। । स्थावरों की, जलचरों की, एक पैर वालों की, दो-तीन-चार पैरों वालों की, बिना पैर वालों की, विभिन्न भेदों वाले सभी प्राणियों की योनियों में हम भटक चुके हैं। ।३२२। । बिना हाथों वाले, हाथों वाले, एक या अधिक हाथों

१. 'अथ नवमे मासि सर्वलक्षणसम्पूर्णो भवति पूर्वजातीः स्मरति कृताकृतं च कर्म भवति शुभाशुभं च कर्म विन्दति।। नानायोनिसहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया। आहारा विविधा भुक्ताः पीताश्च विविधाः स्तनाः।। जातस्यैव मृतस्यैव जन्म चैव पुनः पुनः। अहो दुःखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम्।। यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम्। एकाकी तेन दह्यामि गतास्ते फलभोगिनः।। यदि योन्यां प्रमुञ्चामि सांख्यं योगं समभ्यसेत्। अशुभक्षयकर्त्तारं फलमुक्तिप्रदायिनम्।। यदि योन्यां प्रमुञ्चामि तं प्रपद्ये महेश्वरम्। अशुभक्षयकर्त्तारं फलमुक्तिप्रदायिनम्।।'

स्थावराणां झषाणां च ह्येकद्वित्रिचतुष्पदाम्। अपादानां च सर्वेषां नानाभेदविभेदिनाम्। ।३२२
अहस्तानां सहस्तानामेकाऽनेकादिसंस्थया। एकेन्द्रियाणां जीवानां नैकेन्द्रियवतामपि। ।३२३
हस्तवत्स्वपि तद्वच्च नेत्रश्रोत्रादिमत्स्वपि। ब्रह्मलोकेऽथ वा स्वर्गे गगने वा भुवः स्थले।।
ब्रह्माण्डोदुम्बरं चैतन्मद्देहैरिव पूरितम्। ।३२४।।
ग्राहं ग्राहं त्यजन्नन्यं देहं दैवेन चोदितम्। नरके भुवि वा स्वर्गे बम्भ्रमीमि यथा तृणम्। ।३२५
कर्मपाशैर्दृढैर्बद्धो मायासूत्रविनिर्मितैः। पुत्रदारादिकार्येषु पशुरत्र नियोजितः। ।३२६
अप्रशस्तानि नारीणां पूयानीव स्तनाग्रतः। निर्गतान्यपि पीतानि कष्टं दुःखकराणि भोः। ।३२७
आहारा विविधा भुक्ताः स्थिरजङ्गमदेहजाः। बीभत्सजनका नित्यं ये देहान्तरसंश्रयात्। ।३२८
जातोऽहं च मृतोऽहं च देहे सर्वत्र सर्वदा। माता पिता सुता दारा बान्धवा द्रविणादिकम्।
देहेऽतिरम्यं तज्जातमन्तेऽपि विगतं तथा। ।३२९

उत्तमवर्णायां मातरि अधमवर्णाज्जाताः, यथा शूद्राद् ब्राह्मण्यां चाण्डालः। अनुलोमाः तद्विपरीताः, यथा ब्राह्मणात् क्षत्रियायां मूर्द्धावसिक्तः। विप्रादयो विप्रादिसजातीयायां संस्कृतायां विप्रादेर्जाताः। चतुष्पदपदेन जलजन्तूनामुपलक्षणम्। एकानेकसंख्यया संस्था व्यवस्था तया विशिष्टहस्तानाम् एकेन्द्रियकाणाम् अनेकेन्द्रियकाणां च योनिसहस्राणि। इति पञ्चानां सम्बन्धः। स्फुटमन्यत्। ।३१९-२३।। हस्तवत्स्वपीति। तथा प्रशस्तहस्तनेत्रादिशालिषु देहेषु ब्रह्मलोकादिषु च मया गतमिति शेषः। नु इति वितर्के। एतद् ब्रह्माण्डरूपोदुम्बरफलं मदीयैरेव देहैः किं पूरितम्! इत्यर्थः। इवशब्दस्य उत्प्रेक्षापरत्वात्। ।३२४।। ग्राहमिति। दैववशागतम् अन्यं देहं गृहीत्वा गृहीत्वा नरकादौ विभ्रमामि तृणवदिति। ।३२५।। कर्मेति। मायारूपसूत्रनिर्मितैः कर्मरूपरज्जुभिः बद्धत्वात् पशुभूतोऽहं बान्धवकार्येषु एव प्रवर्तितः केनापि देवेनेति शेषः। ।३२६।।

अप्रशस्तानीति। तथा नानाजातीयमातॄणां स्तनेभ्यो निर्गतानि पयांसि पूयसदृशानि पीतानि विवेकिदृष्ट्याऽतिदुःखमयानीति। ।३२७।। आहारा इति। बीभत्सस्य ग्लानेः जनका देहान्तरवर्तिनामिति। ।३२८।। जातोऽहमिति। सर्वत्र देहे जातत्वं मृतत्वं च मम अभूत् तत्र तत्र देहे विद्यमाने सति तत् सर्वं मात्रादिकम् अतिरम्यम् अभात्, तद्देहान्ते तु तेषां स्वरूपं रम्यत्वं च विगतम् इत्यर्थः। ।३२९।। देहानां पित्रादीनां च असङ्ख्यत्वं

वाले, एक इंद्रिय वाले, अनेक इंद्रियों वाले नाना प्रकार के शरीर सब पा चुके हैं। गर्भस्थ को सभी याद आते हैं कि : मैं इन सब योनियों में घूम चुका हूँ। ।३२३।। पृथ्वी, गगन, स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदि में प्रशस्त हाथ-नेत्र-श्रोत्र आदि वाले शरीरों में भी रह चुका हूँ। ऐसा लगता है मानो यह ब्रह्माण्डरूप उदुम्बरफल मेरे ही शरीरों से भरा है ! (उदुंबर अर्थात् गूलर। उसके फल में बहुत-से कीड़े निकलते हैं।)। ।३२४।। दैव से प्रेरित होकर मैं एक-एक देह छोड़ता गया, नया-नया शरीर ग्रहण करता गया, इस प्रकार नरक, भूलोक व स्वर्ग में वैसे ही घूमता रहा जैसे आँधी में तिनका !। ।३२५।। मायारूप सूत्र से निर्मित कर्मरूप रज्जुओं से बँधा पशु-सा मैं पुत्र-पत्नी आदि के कार्यों में लगा रहा। ।३२६।।

अहो ! विवेकदशा में कितने कष्ट की बात समझ आती है : नारियों के स्तनाग्र से निकले दूध पीप जैसे ही होते हैं, न जाने ऐसे कितने प्रकार के दूध मैंने पिये ! उनकी याद भी दुःख देती है। ।३२७।। स्थिर-चर शरीरों से उत्पन्न विविध आहार भी मैंने खाये। खाते समय के शरीर में वे प्रिय लगते थे पर अब अन्य शरीर में आकर उनके बारे में सोचता हूँ तो ग्लानि होती है। ।३२८।। सब शरीरों में हमेशा मैं पैदा होता और मरता रहा। जिस देह में जब रहा तब उससे सम्बद्ध माता, पिता, पुत्र, पत्नी, बंधु, धन आदि अतिरमणीय प्रतीत हुए लेकिन वह शरीर छूटते ही न उनसे

यावन्तः पांसवो भूमौ यावन्त्यो दिवि तारकाः। तावन्ममात्र देहेन सह पित्रादि चाऽभवत् ।।३३०
जातस्यैव जनिस्तद्वन्मृतस्य मरणं पुनः। मम न्यायविरुद्धं तच्चित्रमासीत् सहस्रधा।।३३१
जातो बालो युवा वृद्धो मृतो जात इतीदृशम्। चक्रं मन्मस्तके नित्यं दुःखदं परिवर्तते।।३३२
सुखार्थं यानि कर्माणि कृतानि बहुधा मया। ब्रह्मघ्नस्येव तान्यासन् दुःखदान्येव सर्वतः।।३३३
कर्मणां करणे दुःखं पुण्यपापोभयात्मनाम्। अत्र लोकान्तरे वापि फलं पापस्य निश्चितम्।।३३४
अत्युत्कटे यदा स्यातां पुण्यपापे तदाऽत्र सः। कर्ता फलं समाप्नोति मान्द्ये लोकान्तरेऽपि तत् ।।३३५
उदर्के सुखदं पुण्यं व्यर्थमेतत् समीरितम्। सुखस्य नाशतो यस्माज्जायते मम दुःखदम्[1]।।३३६
दुःखोदधिरयं तेन संसारो मे प्रतीयते। अहो ! दुःखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम्।।
परं पारमतो यामि ह्यस्य दुःखोदधेरहम्।।३३७

दर्शयति—यावन्त इति।।३३०।। जातस्यैवेति। पिष्टपेषणन्यायेन अयुक्तमपि पुनः पुनः जननादिकमपि सहस्रधा दृष्टमिति चित्रमित्यर्थः।।३३१।। जातो बाल इति। तथा जन्माद्यवस्थाततिरूपं घटीयन्त्रं दुःखदं भोग्यत्वेन मम मस्तके वर्तत इति।।३३२।।

सुखार्थमिति। मया सर्वाणि कर्माणि सुखार्थम् एव कृतानि परन्तु तानि दुःखदानि जातानि यथा ब्रह्मघ्नेन ऐहलौकिकसुखाय कृता ब्रह्महत्या लोकद्वये दुःखयतीत्यर्थः।।३३३।। कर्मणां दुःखत्वमेव स्फुटयति—कर्मणामिति। सर्वकर्मणामनुष्ठाने दुःखदत्वं, तत्र पापानामामुष्मिकदुःखदत्वं च प्रसिद्धमेवेत्यर्थः।।३३४।। उत्कटपापस्येहाऽपि दुःखदत्वं दर्शयति—अत्युत्कटे इति। उत्कटत्वं विजातीयाभिभवक्षमत्वं, तद्विपरीतं मान्द्यम् इति।।३३५।। पुण्यस्याऽपि फलगतपरिणामादिभिर्दुःखदत्वं दर्शयति—उदर्क इति। पुण्यम् उत्तरकाले सुखदम् एव इति नियमो न युक्तः तत्फलनाशे दुःखस्याऽपि मयाऽनुभूतत्वादित्यर्थः।।३३६।। फलितमाह—दुःखोदधिरिति। यतः पुण्यस्याऽपि फलनाशद्वारा दुःखदत्वं तेन संसारो दुःखसिन्धुरिति सिद्धम्। अस्य दुःखस्य प्रतिक्रियां निवृत्त्युपायं न पश्यामि येन परः पारलाभः स्यादिति।।३३७।।

मेरा सम्बन्ध रहा और न उनकी रमणीयता ही रही।।३२९।। भूमि में जितने धूलिकण हैं, आकाश में जितने तारे हैं उतने ही पितादि से मेरे अगणित शरीरों का सम्बन्ध रहा।।३३०।। जो पैदा हो चुका उसका जन्म होना युक्तियुक्त नहीं, ऐसे ही जो मर चुका उसकी मृत्यु हो यह भी संगत नहीं किंतु मैं बारम्बार पैदा होता और मरता रहा हूँ ! हज़ारों तरह अनुभव किया यह घटनाक्रम अत्यंत आश्चर्य है।।३३१।। मेरे सिर पर यह दुःख चक्र हमेशा घूमता है—पैदा हुआ, बच्चा रहा, जवान हुआ, बूढ़ा हुआ, मर गया, पैदा हुआ...।।३३२।।

मैंने जो कुछ किया वह सुख के प्रयोजन से ही लेकिन वे सभी कर्म दुःख देने वाले ही निकले जैसे ऐहिक सुख के लिये की हुई ब्राह्मणहत्या यहाँ और परलोक दोनों जगह दुःख ही देती है।।३३३।। पुण्य हो या पाप, कर्म करने में दुःख ही होता है अतः इस लोक में तो सभी कर्म दुःखद हैं। पाप का फल लोकान्तर में भी दुःख ही मिलेगा यह निश्चित है।।३३४।। पुण्य या पाप अति उत्कट हों तो कर्त्ता उनका फल यहीं पा लेता है, यदि वे मंद हों तो लोकान्तर (जन्मान्तर) में फल पाता है।।३३५।। 'पुण्य बाद में सुख ही देता है' यह निरर्थक बात कही जाती है क्योंकि पुण्यफलभूत सुख के नाश से मुझे दुःख ही हो रहा है !।।३३६।।

क्योंकि पुण्य भी दुःखद ही है इसलिये मुझे लगता है कि यह संसार दुःख का ही समुद्र है। अहो ! इसमें डूबते हुए मैं बचने का कोई उपाय भी नहीं देख पा रहा जिससे मैं संसार के परले किनारे पहुँच सकूँ।।३३७।।

---

१. स्मरणादि ज्ञानमिति शेषः।

जितं द्यूतं मया पूर्वं त्रैवर्णिकवपुर्ग्रहात्। पराजितं तदेवाक्षाकौशलेन प्रमादिना। ।३३८
इतः परं तथा नाहं करिष्यामि कथञ्चन। यदि योन्याः प्रमुक्तोऽहमिदानीं पुण्यलेशतः। ।३३९
तथा ब्रह्मात्मविज्ञानं सर्वदुःखविनाशनम्। अष्टाङ्गयोगतः स्वस्य करिष्याम्येव शीघ्रतः। ।३४०
अथ वा पार्वतीनाथं जटिलं धूलिधूसरम्। शङ्करं वा मुकुन्दं वा प्रापत्स्येहं श्रियः प्रियम्। ।३४१
मया यत् स्वजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाऽशुभम्। एकाकिनं परित्यज्य मां कृतघ्ना गता हि ते। ।३४२
मत्प्रसादादवाप्तं यैः सुखं लोकद्वयेऽपि च। विष्ठावत् ते श्मशाने मां परित्यज्य गृहं गताः। ।३४३
मम ये कुर्वते नित्यं पादयोः शिरसा नतिम्। मत्स्पर्शनात् कृतं स्नानं शुद्ध्यर्थं तैर्दुरात्मभिः। ।३४४
मम ये कृतवन्तस्तु पूर्वं चन्दनलेपनम्। अग्नौ ते क्षिप्तवन्तो मां निर्घृणाः शूलहस्तकाः। ।३४५
न पिता नाऽपि माता वा न दारा न सुता अपि। मया सह समायाताः कस्मिन्नप्यत्र जन्मनि। ।३४६

जितमिति। यद्यपि साधनसम्पन्नत्रैवर्णिकदेहलाभकाले इदं विषयकितवैः सह अनादिकालप्रवृत्तं द्यूतं मया जितप्रायमासीत् तथापि यत् तदा मम इन्द्रियरूपाक्षेषु पाशकेषु अकौशलमभूत् ततो मया पराजितमिति। ।३३८।। इतः परमिति। तथा पूर्ववत् प्रमादं न करिष्यामि किन्तु इतः सङ्कटात् प्रमुच्य अष्टाङ्गयोगेन ब्रह्मविद्याम् एव शीघ्रं साधयिष्यामि। इति द्वयोरर्थः। ।३३९-४०।। तदशक्तौ हरिहरयोराराधनं करिष्य इत्याह—अथ वेति। ।३४१।।

बान्धवार्थम् आयुर्व्ययं न करिष्य इति दर्शयंस्तेषामुपकाराऽनर्हताप्रयोजिकां कृतघ्नतामाह—मया यदिति। यत्स्वजनस्य यस्य स्वजनवर्गस्य अर्थ उपकाराय, ते स्वजनाः। ।३४२।। मत्प्रसादादिति। यैः मदनुग्रहात् लोकद्वयं साधितं ते मां देहमलवत् श्मशाने प्रक्षिप्य गता इति। ।३४३।। तेषामन्यमपकारं दर्शयति—मम य इति। स्पष्टं द्वयम्। ।३४४-५।। किं च बान्धवानाम् आगमापायित्वात् स्नेहायोग्यत्वमित्याह—न पितेति। ।३४६।।

विषय-जुआरियों से मैं अनादिकाल से ही जुआ खेल रहा हूँ। जब-जब मुझे त्रैवर्णिक शरीर, मोक्षोपयोगी साधनों से संपन्न देह मिला तब-तब मैं जीत के बहुत करीब था लेकिन इंद्रियरूप पासों पर नियंत्रण न रख पाने की अकुशलता से मैं जीती हुई पारी भी हार गया!। ।३३८।। किंतु अब तक जो हुआ सो हुआ, अब मैं ऐसा प्रमाद किसी तरह नहीं करूँगा। थोड़े भी पुण्य के फलस्वरूप इस बार जब मैं योनि से छूट जाऊँगा तो शीघ्रतापूर्वक अष्टांग योग के अभ्यास से वह ब्रह्मात्मानुभव प्राप्त करूँगा जो सब दुःखों का विनाश करता है। ।३३९-४०।। यदि वह निर्विशेष वस्तु न समझ पाया तो जटाधारी भस्म रमाए पार्वतीनाथ शंकर की शरण लूँगा या लक्ष्मीपति मुकुंद की भक्ति करूँगा। ।३४१।।

अपना समझकर मैंने लोगों के लिये अच्छे-बुरे कार्य किये थे पर वे कृतघ्न लोग फल भोगने के लिये मुझे अकेला ही छोड़ गये ! ऐसों के लिये कुछ भी करना व्यर्थ है, अब अपनी आयु बांधवों के उपयोग में नहीं लगाऊँगा। ।३४२।। मेरी कृपा से जिन्हें दोनों लोकों में सुख मिला वे श्मशान में मुझे टट्टी की तरह छोड़ कर घर चले गये !। ।३४३।। जो रोज़ मेरे पैरों पर सिर झुकाकर प्रणाम करते थे उन्हीं दुरात्माओं ने मुझे छूकर स्वयं को अपवित्र समझा और शुद्धि के लिये स्नान किया !। ।३४४।। पहले जो मुझ पर चंदन का लेप करते थे उन्हीं निर्दयों ने हाथों में शूल लेकर मुझे आग में झोंक दिया!। ।३४५।। माता, पिता, पत्नी, पुत्र—कोई भी मेरे साथ किसी भी जन्म में नहीं आया, मैं एकाकी ही अगले-अगले जन्मों में जाता रहा। ।३४६।।

अर्थहस्तं यथा वेश्या अस्निग्धाः स्निग्धवत् स्थिताः। विमोहयन्ति तद्वन्मां बान्धवाः पापकारणम्। ।३४७

विमोह्य गणिकातुल्या मरणे व्यसने सति। परित्यज्य गता दुःखमहमेकः समाप्तवान्। ।३४८

जन्मदुःखम्

एवं नानाविधां चिन्तां प्राप्तो दुःखोदधिप्रदाम्। अधोमुखोऽसौ क्रियते प्रबलैः सूतिमारुतैः। ।३४९

मरुतां चलनात् क्षुब्धधातुर्व्याकुलमानसः। नात्मानं न परं चाऽपि जानीते भूरिदुःखितः। ।३५०

षण्णवत्यङ्गुले देहे योनिः स्याच्चतुरङ्गुला। तत्र सङ्कीर्णमार्गेऽस्मिन् पृथुदेहः प्रणीयते। ।३५१

मरुतां चलनाद् मातुर्बस्तिसंग्रहणीद्वयम्। क्षुब्धं विष्ठां तथा मूत्रं पातयेदस्य मस्तके। ।३५२

क्रकचेन यथैव स्याज्जठरस्य विदारणे। दुःखं गर्भविमोके स्याद् गर्भिण्याश्च शिशोस्तथा। ।३५३

योनियन्त्रमुखं गच्छेज्जननीं क्लेशयन् मुहुः। आत्मानं च यथा कीटो महानल्पव्रणस्थितः। ।३५४

केवलं स्वार्थं व्यामोहकत्वमेव तेषामित्याह—अर्थहस्तमिति। अर्थहस्तं धनिनम् पापकारणं पापे प्रवर्तयितुम्। ।३४७।। ते च मदर्थसिद्धिकाले मां विमोह्य प्रच्युतं कृत्वा तत्कर्मभोगकाले मां परित्यज्य गता इत्याह—विमोह्येति। दुःखं तत्कारितकर्मफलम् अहम् एव प्राप्त इति। ।३४८।। एवं गर्भदुःखं वर्णितम्।

अथ श्रुतिप्रदर्शितं[1] जन्मदुःखं वर्णयति—एवमित्यादिना। एवंविधां दुःखदां चिन्तां कुर्वन्नसौ गर्भस्थः प्रसूतिप्रयोजकैः वायुभिः अधोमुखः क्रियत इत्यर्थः। ।३४९।। मरुतामिति। मरुत्कृतात् चलनाद् विपरीतभावात्मकात् क्षुब्धं धातुत्रयं यस्य तथाभूतोऽसौ दुःखमग्नो न किञ्चिज्जानाति इति। ।३५०।। षण्णवत्यङ्गुल इति। वर्णितविधया षण्णवत्यङ्गुलिमिते मातृदेहे चतुरङ्गुलिमितं योनियन्त्रं तत्र मार्गे तदधिकदेहो गर्भः प्रणीयते प्राप्यते सूतिमारुतेनेति शेषः। ।३५१।। मरुतामिति। तदानीमुक्तवायुना क्षुब्धा मातुः बस्तिर्मूत्राशयः संग्रहणी पुरीषाशय एतद्द्वयकृतः स्वान्तर्गतमलप्रक्षेपोऽपि अस्य जायमानस्य शिरसि संभाव्यत इत्यर्थः। ।३५२।। गर्भनिःसरणदुःखमभिनयति—क्रकचेनेति। क्रकचेन जठरविदारणतुल्यं दुःखं गर्भविमोक्षकाले मातुः शिशोः च स्याद् इति। ।३५३।। तत्र शिशोर्दुःखं स्फुटयति—योनीति। मुखं द्वारम्। ।३५४।।

वेश्याओं को किसी पुरुष पर स्नेह नहीं होता। जिसके हाथ में पैसा हो उसे वे मोह में डाल लेती हैं और उसे लगता है कि वे उस पर स्नेह रखती हैं। इसी प्रकार बांधव जन वेश्यातुल्य हैं ! पाप में प्रवृत्त करने के लिये उन्होंने मुझे मोह में डाल लिया जिससे मैं उन्हें प्रिय समझता रहा लेकिन मृत्युरूप आपत्ति आने पर वे सब मुझे छोड़कर न जाने कहाँ चले गये ! पाप का फल दुःख मुझ अकेले को भोगना पड़ रहा है। ।३४७-८।।

प्रभूत दुःख देने वाली ऐसी नाना प्रकार की चिंता करते गर्भस्थ को जन्मप्रयोजक प्रबल वायुएँ औंधा कर देती हैं, उसका मुँह नीचे की ओर कर देती हैं। ।३४९।। वायुकृत उस हलचल से गर्भ के तीनों धातु कुपित हो जाते हैं, उसका मन व्याकुल हो जाता है, वह न स्वयं को समझ पाता है न और कुछ जानता है, केवल अत्यधिक दुःख अनुभव करता है। ।३५०।। छयानबे अंगुल के शरीर में योनियन्त्र कुल चार अंगुल का है, उस संकरे मार्ग पर गर्भरूप मोटा शरीर प्रसूतिवायु द्वारा पहुँचा दिया जाता है। ।३५१।। उन जन्मप्रयोजक वायुओं के चलने से माता के मूत्राशय और मलाशय में भी विचलन होता है और गर्भ के सिर पर वे मूत्र व मल गिरा देते हैं। (साक्षात् न गिराने पर भी संनिहित तो मल-मूत्र रहता ही है।)। ।३५२।। आरी से पेट चीरने पर जैसा दुःख हो, गर्भ बाहर निकलने पर वैसा दुःख माता और शिशु को होता है। ।३५३।। छोटे मुँह के घाव में बड़ा कीड़ा पड़ जाये, यही हाल गर्भ का होता है जब वह खुद को और माँ को क्लेश देते हुए योनि के द्वार पर पहुँचता है। ।३५४।।

१. 'जन्तुः स्त्रीयोनिशतं योनिद्वारि सम्प्राप्ते यन्त्रेणाऽऽपीड्यमानो महता दुःखेन।'

विदारयति मातुः स योनिं स्वात्मसमागमात्। नानाकारो यथाच्छागीयोनिं कार्य उपस्थिते।।३५५
क्रकचद्वयमध्यस्थयन्त्रे राजादिदूषकः। बलाद्धि नीयते तद्वद् योनियन्त्रेऽपि गर्भगः।।३५६
जरायुपटविश्लेषात् सद्योऽतिमृदुलस्तथा। गर्भगो योनिसंस्पर्शाद् अग्निनेव प्रदह्यते।।३५७
नवमे मासि सम्पूर्णे दशमे वा समागते। पूर्वकर्मोपभोगाय विवशो बहिराव्रजेत्।।३५८
स्त्रीयोनियन्त्रतो जन्तुर्दीनो देहधरः सदा। कण्टकैरिव तुन्नाङ्गः क्रकचैरिव दारितः।।
पूतिव्रणाद्धि पतितो धरण्यां कृमिको यथा।।३५९
गर्भाऽनिलबलात् स्त्रीणां धर्षितो दुःखसङ्कटः। पीडां भुक्त्वा च दत्वा च सङ्कीर्णाद् योनिनिर्गमात्।।
भूमौ पतनतश्चाऽयं वेत्ति किञ्चिन्न मोहितः।।३६०

विवेकविस्मृतिः

वैष्णवोऽयं बहिर्वायुर्योनेः सर्वत्र वर्तते। संसारचक्रनिर्वाहकारको निर्मितो हि यः।।३६१

मातृदुःखमाह—विदारयतीति। नानाकारः पश्ववयवानां विभागकर्त्ता सौनिकः छाग्या अजाया योनिमिव विदारयेत्तथेति।।३५५।। क्रकचद्वयेति। यथा क्रकचद्वयस्य मध्ये राजादीनामपकारी नीयते तथाऽयमपीति।।३५६।। जरायुपटेति। विश्लेषो विदीर्णत्वम्।।३५७।। नवम इति। नवमे दशमे वा मासि कर्मानुसारेण योनियन्त्राद् बहिः आगच्छेद् दीनः अतिदुःखितः यथा दुर्गन्धिव्रणात् कीटः। इति द्वयोरर्थः।।३५८-९।। गर्भाऽनिलेति। स्त्रीणां गर्भगतमारुतस्य बलेन प्रयुक्तं यद् धर्षणं तस्मात् तथा स्वपरपीडाद्वारा योनिमार्गाद् यद् अधः पतनं ततश्च मूर्च्छितोऽयं जन्तुः न किञ्चन वेत्ति इति।।३६०।।

मूर्च्छानन्तरं वैष्णववायुना[1] कृतां पूर्वविवेकविस्मृतिं दर्शयितुं तं वायुं वर्णयति—वैष्णव इति। गर्भाद् बहिः वायुर्वर्तते। कीदृशः ? व्यामोहद्वारा संसारचक्रनिर्वाहार्थं विष्णुना निर्मितत्वाद् वैष्णवाख्यः।।३६१।। एतद्भयात्

अपने आगमन से वह माता की योनि को मानो फाड़ देता है जैसे मौका आने पर कसाई बकरी की योनी को फाड़ देता है।।३५५।।

राजा आदि का अपकार करने वाले अपराधी को जैसे बलपूर्वक दो आरों के बीच फँसा दिया जाता है वैसे ही गर्भस्थ को योनियंत्र में फँसा दिया जाता है।।३५६।। गर्भ पर स्थित जरायु रूप झिल्ली उस समय फट जाती है, सद्योजात बालशरीर अत्यंत मृदुल होता ही है अतः योनिके स्पर्श से गर्भगत बालक मानो आग से जलने लगता है।।३५७।। नवाँ महीना पूरा होने पर या दसवाँ लग जाने पर पूर्वकृत कर्मों के फल भोगने के लिये बेबस हुआ जीव गर्भ से बाहर आ जाता है।।३५८।। देहधारी दीन जंतु मानो काँटों से बींधा जाता हुआ, आरों से चीरा जाता हुआ स्त्रीयोनि से बाहर आता है मानो सड़े घाव से निकला कीड़ा जमीन पर पड़ा हो !।।३५९।। माता के गर्भ की वायु के थपेड़ों से जिस पर दुःख का संकट आ पड़ा है वह जंतु खुद पीडा भोग कर एवं माता को पीडा देकर संकरी योनि से निकल कर भूमि पर गिर पड़ता है। इन कष्टों को झेलते-झेलते वह मानो बेहोश हो जाता है, उसे कुछ मालूम नहीं रहता।।३६०।।

माता की योनि से बाहर सर्वत्र यह वैष्णव वायु विद्यमान है जिसका निर्माण हुआ ही इसलिये है कि संसार का चक्कर चलता रहे।।३६१।। आठों अंगों वाले योग के अनुष्ठाता व्यासपुत्र शुकदेव गर्भ की वायु को नियंत्रित कर जो दीर्घ काल तक गर्भ के बाहर नहीं निकले थे वह इसी वायु के भय से !।।३६२।। सर्वज्ञ मानव की भी इस वायु

१. 'जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृश्य तदा न स्मरति जन्ममरणं न च कर्म शुभाशुभम्।'

यद्भयान्न बहिर्यातः शुको वैयासकिः पुरा। अष्टाङ्गयोगसम्पन्नो जित्वा गर्भस्य मारुतम्। ।३६२
अनेनं वायुना स्पृष्टः सर्वज्ञोऽपीह मानवः। मतिभ्रंशं प्रायत्यत्र सद्य एव न संशयः। ।३६३
दुरौषधैश्च दुर्मन्त्रैर्यथा पापिप्रयोजितैः। सर्वज्ञोऽपि नृमर्मज्ञो मूढो भवति तत्क्षणात्। ।३६४
अनेन वायुना स्पृष्टं मानसं पुच्छवत् शुनः। ऋजुभावं परित्यज्य वक्रतामुपयाति तत्। ।३६५
वक्रतां प्रति यातेऽस्मिंश्चित्ते संसारकारणे। पुमानपि भवेद् वक्रो ह्यलातस्थो यथाऽनलः। ।३६६
ततः पूर्वस्मृतं सर्वं विस्मृत्याशु स बालिशः। अवशो दुःखमापन्नः कोऽहं कोऽहमितीरयेत्। ।३६७

मृत्युसूचकानि

एवं गर्भोपनिषदि प्रोक्तजन्मविचारतः। विरागो जायते पुंसो मरणस्याऽपि बोधनात्। ।३६८
मरणस्य भवेद् बोधो जन्मना नियतो नृणाम्। जातस्याऽस्ति विनाशोऽयं सर्वस्यापि हि वस्तुनः। ।
स्वकीयपितृमात्रादिमरणादपि देहिनाम्। ।३६९

शुको मुनिः गर्भे चिरं तस्थौ योगबलेन प्रसूतिमारुतं जित्वेत्याह—यद्भयादिति। स्पष्टम्। ।३६२। । अस्य वायोः प्रभावमाह—अनेनेति। अनेन वैष्णवेन। ।३६३। । मतिभ्रंशे दृष्टान्तमाह—दुरौषधैरिति। यथा कश्चित् सर्वज्ञो नृमर्मज्ञो नृणां मर्मणां वेत्ताऽपि पापिभिः प्रयोजितैः दुरौषधादिभिः मूढो भवेत् तथाऽयं वैष्णववायुनाऽपीत्यर्थः। ।३६४। । अनेनेति। तद् गर्भे विवेकवत्तया कीर्तितं गर्भस्थस्य मानसम् अनेन वायुना स्पृष्टं सद् विवेकप्रवणतारूपम् ऋजुभावं परित्यज्य श्वपुच्छवद् वक्रं भवति। ।३६५। । एवं चित्ते दूषिते तद्धर्माध्यासात् तत्साक्षी पुरुषोऽपि सदोषतया व्यवह्रियत इत्याह—वक्रतामिति। अलातो दग्धकाष्ठं तद्भ्रमणे यथाऽग्नेर्भ्रमणमिति। ।३६६। । फलितमाह—तत इति। कोऽहं कोऽहमिति स्वतत्त्वे विस्मृतिर्दर्शिता। ।३६७। ।

गर्भोपनिषदर्थविचारफलं दर्शयंस्तत्रैवोपयुक्तं कालज्ञानम् ऋग्वेदे वसिष्ठसंहितायां च वर्णितमवतारयति—एवमिति त्रिभिः। उक्तविचारस्य फलं यो विरागः स एव मरणावस्थानुसन्धानस्यापि फलमित्यर्थः। ।३६८। । मरणस्येति। तत्र जन्तुभिः स्वमरणनिश्चयो 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' इति स्मृत्युपन्यस्तन्यायात् स्वबान्धवानां नाशदर्शनेन निश्चितव्याप्तिमूलकानुमानाद् वा सम्पाद्य इत्यर्थः। ।३६९। । आसन्नेति। ऐतरेयपदम् ऋग्वेदशाखाप्रवर्तकानां

का स्पर्श होते ही तुरंत बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है इसमें संदेह नहीं। ।३६३। । मनुष्यों के मर्मों का जानकार सर्वज्ञ भी पापियों द्वारा प्रयुक्त दुष्ट दवाओं, दुष्ट मंत्रों आदि से जैसे तत्काल मूर्ख बन जाता है वैसे वैष्णव वायु के स्पर्श से सद्योजात जन्तु भी गर्भ में किया सारा विवेक, प्रतिज्ञादि भूल जाता है, मूर्ख बन जाता है। ।३६४। ।

गर्भ में जीव का मन बिल्कुल सरल रहता है, सीधा रहता है लेकिन इस वायु के स्पर्श से वही मन कुत्ते की पूँछ की तरह टेढ़ा हो जाता है !। ।३६५। । जैसे मशाल के आकार के अनुसार उसमें जलती आग का आकार होता है वैसे संसारकारण चित्त जब टेढा हो जाता है तब उसमें अभिमानी पुरुष भी टेढा ही हो जाता है, कुटिल ही हो जाता है। ।३६६। । इसलिये बेचारा वह सब भूल जाता है जो गर्भ में उसने याद किया था और बेबस दुःखी हुआ 'कौन हूँ? कौन हूँ ?' चिल्लाने लगता है। ('कौन हूँ ?' पूछने से स्पष्ट है कि वह स्व की तात्त्विकता भूल चुका है। बालक के रोने की आवाज़ में ग्रंथकार को ये शब्द सुनाई दिये !)। ।३६७। ।

इस प्रकार गर्भोपनिषत् में बताये जन्म के विचार से पुरुष को विराग प्राप्त होता है। ऐसे ही मरणावस्था के अनुसंधान से भी संसार से वैराग्य होता है। ।३६८। । सारी ही वस्तुएँ जो पैदा हुई हैं उनका विनाश अवश्य होता है। अपने पिता, माता आदि के मरण से भी यही निश्चय हो जाता है कि उत्पन्न देहधारी मरता ज़रूर है। ।३६९। । मृत्यु

आसन्नमरणज्ञान उपायोऽयमनेकधा। ऐतरेयेण मुनिना वसिष्ठेन च कीर्तितः। ।३७०
आदित्ये दक्षिणे तद्वच्चक्षुष्येकः पुमान् स्मृतः। आसत्तिं मरणे प्राप्ते वियोगो जायते तयोः। ।३७१
वियोगात् पूर्ववद् नाऽयं सूर्यं पश्यति देहभाक्। चन्द्रवद् भाति सविता मुमूर्षोः शीतलस्तथा। ।३७२
मध्याह्ने रश्मिशून्यो वा यथैवाऽस्तमये तदा। सच्छिद्रोऽप्यथ वा सोऽयं मञ्जिष्ठाकाशगोऽथ वा ।३७३
दिशश्च प्रदिशस्तद्वदन्तरिक्षं सभागणम्। मुमूर्षो रक्तसदृशं प्रतिभाति दिवानिशम्। ।३७४
पायुर्मलविसर्गस्य कालेऽत्र विवृतो यथा। तथैव जायते तस्य मुमूर्षोरत्र देहिनः। ।३७५
काकनीडं यथा साण्डं दुर्गन्धमिह दृश्यते। तादृग्गन्धधरं तस्य मुमूर्षोर्मस्तकं भवेत्। ।३७६
आत्मनश्छिद्रसंयुक्तां छायां वैष प्रपश्यति। आदर्शे वा जले चायं छायायामथ वात्मनः। ।
सन्देहं शिरसः पश्येदभावं वा कदाचन। ।३७७

कौषीतक्यादीनाम् उपलक्षणम्। तथा च समीपागतस्य मरणस्य सूचकानि चिह्नानि ऐतरेयादिमुनिभिः ऋग्वेदे प्रोक्तानि, वसिष्ठसंहितायां वसिष्ठमुनिनाऽपीत्यर्थः। ।३७०। । तत्र कौषीतकिशाखायाम् आरण्यके षष्ठेऽध्याये 'यश्चाऽयमशरीर' इत्यादिश्रुतिग्रन्थोक्तानि जाग्रति दृश्यानि तच्चिह्नानि वर्णयति—आदित्य इति द्वादशभिः। आदित्यमण्डले दक्षिणनेत्रे च एक एव पुरुषो विग्रहद्वयेन स्थितः। तयोर्विग्रहयोः नाडीकरणद्वारेण परस्परं सम्पृक्तत्वं च प्रसिद्धं श्रुतिषु। जन्तोर्मरण आसत्तिं सान्निध्यं प्राप्ते सति तु तयोः पुरुषविग्रहयोः वियोगः सम्पर्काऽभावो भवतीत्यर्थः। ।३७१। । तद्वियोगस्य लक्षणान्याह—वियोगादिति। तद्वियोगप्रयुक्तानि इमानि मरणचिह्नानि। 'इमानि' कानि ? आदित्यस्य पूर्ववद् अदर्शनं, चन्द्रवत् शीतलतया भानम्, अस्तमयकालवद् रश्मिशून्यतया भानं, सच्छिद्रतया भानं, मञ्जिष्ठरक्तवस्त्रवद् रक्तवर्ण आकाशे स्थितस्य भानं वा। इति द्वयोरर्थः। ।३७२-३। । तथा विश्वस्य रक्तवर्णस्य भानं तल्लक्षणमित्याह—दिश इति। भानां नक्षत्राणां गणो भगणः, स एव भागणः, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोऽण्। व्युत्पत्त्यन्तरं तु दर्शितम्। मुमूर्षोः संनिहितमरणस्य। ।३७४। । मलोत्सर्गकालवत् पायुद्वारस्य यद् विवृतत्वम् असङ्कोचनीयत्वं तदपि मुमूर्षोर्लक्षणम् इत्याह—पायुरिति। ।३७५। । काकनीडमिति। काकाण्डयुक्तनीडस्य यो गन्धः तत्तुल्यगन्धस्य धरं धारकं मस्तकमपि तल्लक्षणमिति। ।३७६। । आत्मीयच्छायायां छिद्रदर्शनं तथा, आदर्शादिगतप्रतिबिम्बे च्छायायां वा शिरसः सन्देहोऽभावनिश्चयो वा तल्लक्षणमित्याह—आत्मन इति। ।३७७। ।

निकट है इस बात को जानने का यह नाना प्रकार का उपाय ऐतरेय, वसिष्ठ आदि ऋषियों ने बताया है। (कुछ चिह्न हैं जो निकट मृत्यु सूचित करते हैं। उन्हें अरिष्ट भी कहा जाता है। उनसे अपनी मृत्यु समीप जानकर मनुष्य संसार प्रवृत्ति छोड़कर निरंतर भगवदनुसंधान में लगे या काशी आदि मरने लायक स्थानों में वास करे यह शास्त्र का अभिप्राय है। ये चिह्न कोई भविष्यवाणी के लिये नहीं वरन् अपने कल्याण की प्रवृत्ति में प्रेरित करने के लिये हैं।) ।३७०। ।

पहले जाग्रदवस्था में उपलभ्य चिह्न बताते हैं : आदित्य और मनुष्य की दायीं आँख में रहने वाला पुरुष एक ही है। दो विग्रहों से वही दोनों जगह रहता है। यावज्जीवन दोनों विग्रह नाडी-रश्मि द्वारा आपस में सम्बद्ध रहते हैं। जब मृत्यु निकट होती है तब उनका परस्पर सम्पर्क टूट जाता है। ।३७१। ।

संपर्क टूटने से देहधारी पहले की तरह सूर्य को नहीं देख पाता। जो कुछ समय में मरने वाला है उसे सूर्य चंद्र की तरह शीतल प्रतीत होता है। ।३७२। । ऐसे व्यक्ति को दोपहर का सूर्य किरणों रहित दीखता है मानो सूर्यास्त के समय का हो। या उसे सूर्य विम्ब में छेद दीखते हैं। या उसे मंजीठे के रंग वाले आसमान में सूर्य दीखता है। ।३७३। । नक्षत्रों समेत दिशाएँ, अवान्तर दिशाएँ व अंतरिक्ष उसे रात-दिन लाल-से दीखते हैं। ।३७४। । मलविसर्जन के समय गुदद्वार जैसा थोड़ा खुला हो जाता है वैसा हमेशा खुला रहे, चौड़ा रहे तो भी देही के मरण की निकटता का सूचक है। ।३७५। । अण्डे समेत कउवे के घोसले जैसी गन्ध जिसके मस्तक से आये वह अब मरा ही चाहता है। ।३७६। । अपनी परछाई में छेद देखना अथवा दर्पण या जल में अपनी छाया देखकर यह संदेह होना कि 'छाया में मेरा सिर है या नहीं' या

कनीनिकागतं तद्वत् पुरुषमूर्ध्वपादकम्। यः पश्येत् तस्य सन्देहमादर्शादौ व्रजेच्च वा।।३७८
अङ्गुल्या चक्षुषस्तद्वद् दश्यते यत् प्रपीडनात्। तेजस्तदपि नैवाऽयं मुमूर्षुः परिपश्यति।।३७९
कर्णपिधानतो योऽन्तः श्रूयते प्राणसंरवः। न शृणोति तमप्येष मुमूर्षुः श्रोत्रपूरणात्।।३८०
मयूरकण्ठसदृशमग्निमेष प्रपश्यति। अमेघे विद्युतं तद्वत् समेघेऽपि च तां न सः।।३८१
वर्षुके जलदे तद्वत् सूर्यरश्मींश्च पश्यति। ज्वलन्तीमिव भूमिं च वह्निशून्यां विनाऽऽश्रमम्।।३८२
सन्ध्ययोरुभयोस्तस्य मस्तके यो विलोकयेत्। धूमं तस्य भवेद् भूरिभयं वा मरणं च वा।।३८३
पञ्चाहं चेदविच्छिन्नं शिरो धूमं विलोकयेत्। सन्ध्ययोरुभयोस्तस्य मरणं वत्सरत्रयात्।।३८४
एवं चतुर्दिनं चेत् स्याद् मरणं वत्सरद्वयात्। एकस्माद् वत्सराद् मृत्युस्त्रिदिनं धूमदर्शनात्।।३८५

कनीनिकेति। यः परचक्षुषि प्रतिबिम्बं विपरीतं पश्यति, अथवा तस्य प्रतिबिम्बस्य दर्पणादौ सन्देहं करोति, सोऽपि मुमूर्षुर्बोध्य इत्यर्थः।।३७८।। अङ्गुल्येति। तथा अङ्गुल्या नेत्रस्याक्रमणे कृते सति यत्तेजः किरणायमानं दृश्यते तस्याऽदर्शनमपि तल्लक्षणमित्यर्थः।।३७९।। कर्णपिधानेति। अङ्गुलिभ्यां कर्णपिधाने कृते यः प्राणजन्यो घोषः श्रूयते तदश्रवणमपि तल्लक्षणमित्यर्थः।।३८०।। मयूरेति। यो मयूरकण्ठवद् नीलवर्णम् अग्निं पश्यति, यश्च मेघं विना विद्युतं पश्यति, मेघे सति तु तां न पश्यति, सोऽपि मुमूर्षुर्बोध्य इत्यर्थः।।३८१।। वर्षुक इति। वर्षुके वर्षणशीले मेघे विद्युतं[1] यो न पश्येद्, यश्च ऋष्याश्रमादिव्यतिरिक्तदेशभूमिं वह्निशून्याम् अपि ज्वलन्तीमिव पश्येत् सोऽपि मुमूर्षुरित्यर्थः।।३८२।।

अथ वसिष्ठोक्तानि प्रत्यक्षाणि तल्लक्षणानि आह—सन्ध्ययोरित्यादिना। एकत्र दिने प्रातः सायं च स्वकीयशिरस उत्थितं धूमं यः पश्येत् तस्य महाभय-मरणयोः अन्यतरद्भवतीत्यर्थः।।३८३।। पञ्चाहमिति। उक्त-विधं धूमदर्शनं पञ्चाहं निरन्तरं चेद् भवेत् तदा वत्सरत्रयोत्तरकाले मरणं स्यात्। चतुर्दिनं तथा चेद्, वत्सरद्वयोत्तरे। त्रिदिनं चेद्, एकवत्सरोत्तरकाले तत्। इति द्वयोरर्थः।।३८४-५।। कर्णेति। कर्णघोषस्य अश्रवणमपि वत्सरपर्यन्तमरणसूचकम्। तथा अनिमित्तं कृशस्य स्थूलत्वं, स्थूलस्य कृशत्वं च तल्लक्षणम्। तथा यः कोपनः

यह निश्चय ही हो जाना कि 'छाया में सिर नहीं है'—ये सभी निकट मौत के लक्षण हैं।।३७७।। जो दूसरे की आँख में अपना प्रतिबिंब उलटा—पैर ऊपर-सिर नीचे—देखे या जिसे काँच आदि में पड़ते प्रतिबिम्ब के बारे में संदेह बना रहे कि प्रतिबिम्ब पड़ रहा है या नहीं, वह मरणासन्न होता है।।३७८।। अंगुली से आँख मसलने पर जो तेज सबको दीखता है वह उसे नहीं दीखता जो शीघ्र मरने वाला है।।३७९।। सामान्य व्यक्ति कान बन्द करने से भीतर ही भीतर प्राणजन्य घोष सुनता है पर जिसकी मौत पास हो वह उस घोष को नहीं सुन पाता।।३८०।।

ऐसा व्यक्ति आग को मोर के कण्ठ जैसी नीली देखने लगता है, बिना बादल बिजली देखता है, बादलों के रहते बिजली देख नहीं पाता।।३८१।। जलद काले बादल में वह सूर्य की किरणें देखता है, ऋषि आदि कर्मठों के आश्रम से अतिरिक्त भूमि को भी वह्निरहित होने पर भी जलती हुई-सी देखता है।।३८२।।

एक ही दिन प्रातःकाल और शाम को जो अपने मस्तक पर धुआँ देखे उसका या मरण होने वाला है या महान् भय का कोई प्रसंग होने वाला है।।३८३।। पाँच दिन लगातार जो सुबह-शाम अपने सिर पर धुआँ देखे वह तीन साल में मरने वाला होता है।।३८४।। उसी ढंग से चार दिन देखे तो दो साल में और तीन दिन देखे तो एक साल में मरने वाला होता है।।३८५।। कान का घोष सुनाई न देने पर साल भर में मौत हो जाती है। बिना निमित्त ही पतला व्यक्ति मोटा या मोटा व्यक्ति पतला हो जाये, गुस्सैल शांत या शांत व्यक्ति गुस्सैल हो जाये तो वह एक वर्ष में मरने वाला

---

१. अत्र मूलटीकयोः सङ्गतिर्न भाति।

कर्णघोषाश्रुतौ तद्वद् मरणं वत्सरादिह। कृशः स्थूलो भवेत् स्थूलः कृशो वा कोपनस्तथा।
शान्तः शान्तश्च कोपी वा वत्सराद् मरणे सति।।३८६
विण्मूत्रे क्षुत्पिपासे च मदेन सहिते यदि। एकहेलं दिने यस्मिंस्ततः स्याद् वत्सरान्मृतिः।।३८७
गन्धर्वनगरं पश्येद् वृक्षाग्रे यदि कश्चन। अकस्मादथ वा पश्येद् देहं स्वं कृष्णपिङ्गलम्।।३८८
गृध्राश्च काकगोमायुसारसा मांसगृध्नवः। खरोष्ट्रा वा विदंष्ट्रावाऽनिमित्तं दुष्टजन्तवः।।३८९
एको वाऽप्यथ वाऽनेके यं धावन्ति मुहुर्मुहुः। रक्षोभूतपिशाचा वा तथान्ये पिशिताशिनः।।
स्वप्नस्पर्शेऽपि तादृक् स्याद् गतिर्जागरणे यथा।।३९०
अरुन्धतीं ध्रुवं वाऽपि सोमच्छायां महापथम्। वीक्षमाणोऽपि यो नैव पश्येदन्यैर्विलोकितम्।।३९१
प्रत्येकमत्र विज्ञेयं मरणं वत्सराद् ध्रुवम्। अर्वाग्वा नैव जीवन् स तां तिथिं याति वत्सरात्।।३९२
असितं स्वात्मनो वस्त्रमुज्ज्वलं यः प्रपश्यति। उज्ज्वलं च तथा कृष्णं षण्मासात् स मरिष्यति।।३९३

कोपशीलः, अकस्मात् शान्तिशीलो भवेत्; शान्तो वा कोपशीलः तस्यापि वत्सराद् मृतिः इत्यर्थः।।३८६।। विण्मूत्रेइति। हेला विलासः प्रवृत्तिरिति यावत्, सा एका यत्र भवने—इति व्युत्पत्त्या एकहेलपदम् अध्याहृत-भवन-क्रियाविशेषणम्। तथा च यस्मिन् दिने विण्मूत्रे पुरीषमूत्रोत्सर्गे, क्षुत्पिपासे वा, एकहेलं युगपद् भवतः; ते च युगले यदि मदेन व्यामोहेन सह वर्तमाने स्याताम्, ततो दिनाद् वत्सरे मृत्युर्भवेद् इत्यर्थः।।३८७।। गन्धर्वेति। यः कश्चन अकस्माद् वृक्षाग्रे गन्धर्वनगरं पश्येद् अथ वा स्वं देहं कृष्णपिङ्गलवर्णं पश्येद् यत्र दिने, ततो वत्सराद् मृतिरिति पूर्वतोऽनुषङ्गः।।३८८।। गृध्राश्चेति। यम् अभिलक्ष्य गृध्राः काकादयश्च मांसस्य गृध्नवो लिप्सानिमित्तं धावन्ति, अथ वा खरा उष्ट्राश्च विदंष्ट्रा दंष्ट्राहीना वृश्चिकादयो वा राक्षसादयो वा मांसाशिनः, तेषां मध्य एको बहवो वाऽभिधावन्ति तस्याऽपि वत्सराद् मृतिर्बोध्या। एतेषाममिधावनस्य गतिः फलं जागरणे यथा भवति तादृक् फलं स्वप्नान्ते भवतीत्यर्थः।। स्वप्नस्पर्शपदस्य स्वप्नान्तार्थसमन्वयस्तु स्वप्नस्य स्पर्शे रुजि क्षीणतायाम् अन्ते इति यावत् इति व्युत्पत्त्या बोध्यः। तथा च विश्वप्रकाशः-'स्पर्शः स्पर्शाक्षरे दाने स्पर्शने स्पर्शके रुजि' इति। इति द्वयोरर्थः।।३८९-९०।। अरुन्धतीमिति। अरुन्धती-ध्रुवौ प्रसिद्धौ। सोमच्छाया पूर्णचन्द्रमध्यगता श्यामता। महापथो निर्मलाकाशे दक्षिणोत्तरं दीर्घो मन्दप्रभारूपः प्रसिद्धः। एतेषामन्यतमम् अन्यैः विलोकितम् अपि यो वीक्षमाणो दर्शनार्थं यतमानोऽपि न पश्येत्। अत्रादर्शने प्रत्येकसम्बन्धिनि सति वत्सरात् ततः अर्वाग्वा मृतिर्बोध्या। एतदेवावधारयति—नैवेत्यादिना। यस्यां तिथौ उक्तं निमित्तं पश्यति तां तिथिं वत्सराद् उत्तरां जीवन् सन् न याति। इति द्वयोरर्थः।।३९१-२।।

होता है।।३८६।। जिस दिन इकट्ठे ही भूख-प्यास लगे और साथ ही व्यामोह हो जाये अथवा टट्टी-पेशाब इकट्ठे ही निकल जाये और व्यामोह हो जाये, उस दिन से एक साल बाद मौत अवश्य आ जायेगी। (व्यामोह अर्थात् आश्चर्य से स्तब्ध हो जाना।)।।३८७।।

जिस दिन पेड़ के ऊपर अकस्मात् गंधर्वनगर दीख जाये या अपना शरीर काले व पिंगल रंग का दीख जाये उससे एक साल बाद मौत हो जाती है।।३८८।। मांस पाने की इच्छा से जिसकी ओर गीध, कौवा, सियार या सारस में से एक या अनेक बार-बार दौड़ते हुए आये; अथवा गधा, ऊँट, या बिना दाढ वाले बिच्छू आदि दुष्ट जंतु अकेले या अनेक बिना कारण ही जिसकी ओर बार-बार दौडें; अथवा राक्षास, भूत, पिशाच या अन्य मांसभक्षी प्राणी अकेले या अनेक जिसकी ओर बार-बार दौड़ें; वह व्यक्ति एक वर्ष में मर जाता है। उक्त घटनाएँ जाग्रत् में हों तो जैसे सूचक हैं वैसे ही सपने में हों तो भी सूचक हैं।।३८९-९०।। अरुंधती तारा, ध्रुवतारा, चंद्रमा के बीच की कालिमा, महापथ

पतन्तं भास्करं पश्येत् सोमं वा नभसो हि यः। भूमिष्ठं वा दिविष्ठं यो व्यस्तरूपमथाऽपि वा। ।३६४
ओष्ठौ तालुश्च सन्तापात् शुष्कतां यान्त्यकारणात्। चक्रवद् यस्य देहस्य भ्रमणं स्यादकारणम्। ।३६५
अन्येषां वाऽपि तत् पश्येद् गच्छतां वाप्यदर्शनम्। अत्र सर्वत्र विज्ञेयं षण्मासाद् मरणं नृणाम् ।३६६
एकैकस्याऽप्यरिष्टस्य दर्शने संशयं विना। षाण्मासिकीं तिथिं तां तु पुनर्जीवन्न पश्यति। ।३६७
सुतरां नाऽत्र घण्टाया नादं यः शृणुयादिह। पङ्के वा पांसुले वाऽपि यस्य खण्डं पदं भवेत्।।
अत्रापि मरणं ज्ञेयमर्वाक् षण्मासतो नृणाम्। ।३६८
अपीड्यमानयोरेव नेत्रयोर्यदि पश्यति। खद्योतद्युतिवत्तस्य त्रिमासाद् मरणं भवेत्। ।३६९
इन्द्रियाणि न गृह्णीयुः स्वकीयान् विषयान् यदि। मासान्ते मरणं तस्य भविष्यति न संशयः। ।४००

अथ षाण्मासिकमृत्युलक्षणानि आह—असितमिति षड्भिः। श्यामवस्त्रस्य उज्ज्वलत्वं श्वेतत्वम्, श्वेतस्य श्यामत्वं वा पश्येत् स षण्मासाद् म्रियत इत्यर्थः। ।३६३।। पतन्तमिति। यो नभसः पतन्तं सूर्यं चन्द्रं वा पश्येद्, अथ वा भूमिष्ठं पदार्थं दिविष्ठम् आकाशगं पश्येत्, दिविष्ठं तु भूमिष्ठमित्येवं विपर्यस्तरूपं पश्येत्, सोऽपि तथेत्यर्थः। ।३६४।। ओष्ठाविति। ओष्ठयोस्तालुनश्च शुष्कत्वं चक्रवद् देहभ्रमणं च यस्य भवति, अथ वाऽन्येषां पर्वतादीनां भ्रमणं पश्येद् अथ वा चलतामन्येषाम् अदर्शनं स्थिरत्वेन दर्शनमिति यावत् तद्यस्य भवति; एतानि सर्वाणि निमित्तानि षाण्मासिकमरणसूचकानि इत्यर्थः। ।३६५-६।।[1] एकस्यापीति। एतेषां निमित्तानां मध्ये एकस्यापि दर्शनं यस्यां तिथौ भवति तां तिथिं षण्मासोत्तरां जीवन् सन् न पश्यति इत्यर्थः। ।३६७।। सुतरामिति। सुतरां वादिताया घण्टाया नादस्य अश्रवणम्, पङ्कवति पांसुमति वा देशे पादचिह्नस्य खण्डितस्य भवनं, तल्लक्षणमित्यर्थः। ।३६८।।

अपीड्यमानयोरिति। अङ्गुल्या नेत्राद्यनाक्रमणेऽपि खद्योतद्युतितुल्यतेजःकणानां भानं त्रैमासिकमरणलक्षणमित्यर्थः। ।३६९।। चक्षुरादीन्द्रियैः स्वस्वविषयाणां यथावदग्रहणं मासकालिकमरणलक्षणमित्याह—इन्द्रियाणीति। ।४००।। अपराणि मासिकमरणसूचकानि दशनिमित्तानि आह—प्रलपन्तीति पञ्चभिः। शरीरेण

(निर्मल आसमान में दक्षिण से उत्तर की ओर मंद प्रभा की लंबी रेखा को महापथ कहते हैं)—इन्हें जब अन्य लोग देख रहे हों तब जो कोशिश करके भी इनमें से एक या अनेक को देख न सके वह एक साल में या उससे पूर्व ही मर जाता है। जिस तिथि को उक्त निमित्त हुआ, अगले वर्ष की उस तिथि तक जीवित नहीं रहता। ।३६१-२।।

अपना काला कपड़ा जिसे सफेद दीखे या सफेद कपड़ा काला दीखे वह छह महीने में मर जाता है। ।३६३।। जो सूर्य या चंद्र को आकाश से गिरता हुआ देखे या भूमि पर रखे पदार्थ को आसमान में देखे या आसमान की चीज़ ज़मीन पर देखे वह भी छह महीने में मर जाता है। ।३६४।। जिसके ओठ और तालु बिना कारण गर्मी से सूख जायें, बिना कारण जिसका शरीर चक्के की तरह घूमने लगे या जिनमें भ्रमण नहीं हो रहा ऐसे अन्य व्यक्तियों-वस्तुओं में जो अकस्मात् भ्रमण देखे, चलते हुओं को स्थिर देखे, वह व्यक्ति छह महीने में मर जाता है। ।३६५-६।। इनमें से एक भी अरिष्ट दीख जाने पर इसमें कोई संशय नहीं रह जाता कि जिस तिथि को वह दीखा वही तिथि जब छह महीने बाद आयेगी तब तक वह व्यक्ति जीवित नहीं बचेगा। ।३६७।। खूब घण्टा बज रहा हो पर जो सुन न पाये अथवा कीचड़ या धूल में जिसके पैरों की छाप साबुत न पड़े वह भी छह महीने में मर जाता है। ।३६८।।

आँखें मसले बिना जिसे जुगुनुओं-से प्रकाशकण दीखें वह तीन महीने में मर जाता है। ।३६९।। जब इंद्रियाँ अपने योग्य विषयों का ग्रहण छोड़ दें तब से एक महीने में मौत आ जाती है। ।४००।। अशरीरी वाणी जिससे बात

१. टीकाकृताम् 'एकैकस्यापीति' न पाठः।

प्रलपन्ति गिरो यस्य शरीरेण विवर्जिताः। शिरो ज्वलति वा सद्यो वह्निवज्ज्वालयावृतम्। ।४०१
दिवोल्का दृश्यते येन नक्तं चेन्द्रधनुस्तथा। अमेघेऽपि तथा विद्युत् समेघे नैव सा तथा। ।४०२
दर्पणादौ तथा च्छायामात्मनो वा न पश्यति। पश्येच्चेन्मैथुनं वापि काकहंसशिखण्डिनाम्। ।४०३
रुक्षशीतोष्णभावानां विपर्यासं तथैव च। स्नानमात्रेण यस्याऽपि हृत्पादौ च प्रशुष्यतः। ।४०४
मासमात्रेण मरणमुक्तानामेकमेव वा। सर्वाणि च भवन्त्यस्य मुमूर्षोः शुद्धचेतसः। ।४०५
भूमिच्छिद्रमकस्माद्यः पश्येच्छिद्ररवांस्तथा। अर्द्धमासात् स वै पश्येद् धर्मराजं न संशयः। ।४०६
सूर्यांशुः यस्य शीतः स्याद् उष्णश्चन्द्रस्य वाऽपि सः। रक्तपद्मोपमं वक्त्रं यस्य जिह्वा ज्वलच्छविः। ।
कर्णयुग्मं तथा स्तब्धं कम्पो हृन्नाभितालुजः। ।४०७
एतेषु च निमित्तेषु सर्वेष्वेकैकशोऽपि वा। अर्धमासाद् भवेदर्वाङ्मरणं संशयं विना। ।४०८
यस्यां तिथौ निमित्तानि जायन्ते तां पुनः पुमान्। पश्येत् पञ्चदशीं नाऽयं जीवन्निह कदाचन।४०९

विवर्जिता अनुपलभ्यमानशरीरका देवादयः कर्तारो यस्य श्रवणाऽर्हा गिरो वचनानि प्रलपन्ति कथयन्ति वा, अथ वा यस्य शिरो वह्निवज्ज्वलति, तस्य मासमात्रेण मरणमिति पञ्चमेनाऽभिसम्बन्धः। एवम् अग्रेऽपि। ।४०१। । दिवोल्केति। दिवस उल्कापातदर्शनं रात्रौ इन्द्रधनुर्दर्शनम्, अमेघाकाशे विद्युद्दर्शनं, समेघाकाशे सा विद्युद् यदि तथा न दृश्यते; एतन्निमित्तचतुष्टयं यस्य स्यात् तस्य तथेत्यर्थः। ।४०२। । दर्पणादाविति। दर्पणादौ प्रतिबिम्बाऽदर्शनं, काकादिमैथुनदर्शनं च इति निमित्तद्वयं यस्य तस्य तथेति। शिखण्डी मयूरः। ।४०३। । रूक्षेति। रूक्षादिपदार्थानां स्निग्धत्वादिरूपेण दर्शनं, स्नानोत्तरं सर्वाङ्गानाम् आर्द्रत्वेऽपि यद् हृदयस्य पादयोश्च शुष्कत्वम् एतन्निमित्तद्वयमपि यस्य स्यात् तस्य तथेत्यर्थः। ।४०४। । मासेति। प्रथमपदद्वयस्य पूर्वान्वयो दर्शितः। उक्तानां दशनिमित्तानां मध्य एकं द्व्यादिरूपेण सर्वाणि वा शुद्धान्तःकरणस्य मुमूर्षोः भवन्ति एवेत्यर्थः। ।४०५। ।

अर्द्धमासिकमरणसूचकानि तान्याह—भूमीति द्वाभ्याम्। अकस्माद् भूमौ छिद्रदर्शनं, छिद्ररवाणां भूमिच्छिद्रोत्थितशब्दानां श्रवणं वा तल्लक्षणमित्यर्थः। ।४०६। । सूर्यांशुरिति। यस्य सूर्यकिरणाः शीता भासन्ते, चन्द्रस्य तूष्णाः, तथा यस्य मुखं रक्तवर्णं जिह्वा च ज्वलदग्निवर्णा भवति, कर्णौ च स्तब्धौ तुरगकर्णवत्, तथा हृदयादिषु कम्पो भवति तस्याऽपि तथेति। ।४०७। । एतेष्विति। एतेषु भूमिच्छिद्रदर्शनादिषु मध्य एकस्मिन् बहुषु वा सत्सु अर्द्धमासादर्वाग् एव मरणं भवतीति। ।४०८। । अर्वाक्त्वमेव स्फुटयति—यस्यामिति। यस्यां तिथौ एतानि निमित्तानि भवन्ति ततः पञ्चदशीं तिथिं जीवन् सन् इह लोके न यातीति। ।४०९। ।

करे (अर्थात् बातें सुनायी दें पर बोलने वाला न दीखे), जिसका सिर अचानक यों जलने लगे मानो आग की ज्वाला से घिरा है, दिन में जिसे उल्का गिरती दीखे, रात में इंद्रधनुष दीखे, बिना मेघों के बिजली दीखे, बादलों के साथ बिजली न दीखे, वह भी महीने भर में मर जाता है। ।४०१-२। ।

दर्पणादि में जो अपनी छाया न देख पाये, कौवे-हंसों-मोरों का मैथुनकर्म देखे, रूखे को चिकना, ठंडे को गर्म, गर्म को ठण्डा देखे, स्नान के बाद सारा शरीर गीला रहते जिसका हृदय और पैर तुरंत सूख जायें,—इनमें से एक या अनेक निमित्त दीखने से पता चल जाता है कि एक महीने में मृत्यु हो जायेगी। ये सभी उसीके लिये निमित्त हैं जो शीघ्र मरने वाला किंतु शुद्धमना सज्जन है। ।४०३-५। ।

जो अकस्मात् भूमि में छेद देखे, उन छिद्रों से उठती आवाज़ सुने, सूर्यरश्मियाँ जिसे ठंडी लगें, चंद्रकिरणें गर्म लगें, जिसका मुँह लाल कमल के रंग का हो जाये, जीभ जलती आग के रंग की हो जाये, दोनों कान अकड़ जायें, जिसके हृदय नाभि और तालु में कंपन हो—इनमें से एक या अनेक अरिष्ट जो देख ले वह अवश्य पंद्रह दिन में मर ही जाता है। ।४०६-९। ।

यस्य वाऽऽकस्मिकी ज्वाला ज्वलन्ती जायते तनौ। स याति सप्तदिवसाद् मृत्त्योः स्थानं न संशयः।।४१०

ग्रहानृषींस्तथा सप्त स्वघ्राणरसने अपि। न पश्यति स्वयं कृत्वा विस्मृतिं चाऽधिगच्छति।।४११

यस्यार्धमुष्णं वपुषः शीतलं चार्द्धमेव च। स्यातां मण्डलवन्नेत्रे कर्णौ स्थानाच्च्युतावपि।।
नासिका वक्रवत् तद्वत् सप्तरात्रं हि जीवति।।४१२

निमित्तेष्वेषु किञ्चित्स्यादेकं वाऽनेकमेव च। यस्मिन् वारं भवेत्तं तु पुनर्जीवन्न यात्ययम्।।४१३

उत्तरस्थां निजां छायां दक्षिणे योऽत्र पश्यति। सद्य एव मृतिं सोऽयं शस्त्राद्यैर्हि गमिष्यति।।४१४

यस्यान्नं भुज्यमानं हि कयाचिद्भुज्यते स्त्रिया। भोजनस्याऽत्र काले तु यः पश्येद् वृषवाहनम्।।४१५

पुरुषं महिषस्थं वा दण्डपाणिं भयप्रदम्। योषितं पाशहस्तां वा मुक्तरक्तस्वमूर्द्धजाम्।।४१६

सद्योमरणहेतूनि कथितानि मनीषिभिः। एतदन्यतमं पश्यन् न पश्येदुदितं रविम्।।४१७

सप्तदिवसभाविमरणसूचकान्याह—यस्य वेति। अकस्मात् सर्वत्र देहे ज्वालोदयः सप्तदिवससमुदायाद् अर्वाग्भाविनो मरणस्य सूचकः।।४१०।। ग्रहानिति। ग्रहा आदित्यादिकेत्वन्तसंज्ञाः तारामण्डलगताः प्रसिद्धास्तान्। अथवा स्वकीयां नासिकां जिह्वां च यो न पश्येत्। अथ वा स्वयं कृतं कर्म विस्मरेद्, यस्य च शरीरपूर्वार्द्धम् उष्णम्, उत्तरार्द्धं तु शीतं भवेत्, नेत्रे चाऽतिविकासेन मण्डलाकारे स्याताम्, कर्णौ शैथिल्येन स्थानच्युतौ स्याताम्, नासिका च वक्रा भवेत्; एतानि सप्तरात्रावान्तरभावि मरण सूचकानि। इति द्वयोरर्थः।।४११-२।। सप्तरात्रावच्छिन्नतामेव स्फुटयति—निमित्तेष्विति। यस्मिन् वार उक्तनिमित्तान्यतमं भवेत् स वारो जीवता पुनर्न लभ्यत इत्यर्थः।।४१३।।

यस्मिन् दिने भवन्ति तस्मिन्नेव दिने मरणसूचकान्याह—उत्तरस्थामिति त्रिभिः। सूर्ये दक्षिणतः स्थिते उत्तरतः स्थितियोग्यां स्वदेहच्छायां दक्षिणतः स्थितां यः पश्येत् तस्य सद्यः तस्मिन्नेव दिने मृत्युरिति।।४१४।। यस्यान्नमिति। स्वस्य भोजनाय उपन्यस्तम् अन्नं कयाचिद् वर्णयितुमशक्यया स्त्रिया भुज्यमानं येन ईक्ष्यते, अथ वा भोजनकाले वृषभारूढं महिषारूढं वा दण्डपाणिं भयानकं च पुरुषं, मुक्ता रक्तवर्णाः केशा यया तां पाशहस्तां योषितं वा पश्येत् स उत्तरदिनोदयकालपर्यन्तं न जीवेद्, उक्तनिमित्तानां सद्योमरणहेतुत्वात्। इति त्रयाणां सम्बन्धः।।४१५-७।।

जिसके देह में अकस्मात् जलती हुई ज्वाला पैदा हो जाये, जो ग्रहों को व सप्तर्षियों को न देख पाये, अपनी नासिका और जीभ न देख पाये, खुद कुछ करके भी तुरंत भूल जाये, जिसका आधा शरीर गर्म और आधा ठण्डा हो जाये, जिसकी आँखें फैलकर गोल हो जायें, कान ढीले पड़कर अपने स्थान से हट जायें, नासिका टेढ़ी हो जाये—इनमें से एक या अनेक अरिष्ट एक हफ्ते में मौत के सूचक हैं।।४१०-३।।

जिसे अपनी जो छाया उत्तर में पड़नी चाहिये वह दक्षिण में दीखे, जो भोजन करते हुए देखे कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता ऐसी कोई स्त्री उसका भोजन खाये जा रही है, भोजन के समय जो साँड या भैंसे पर चढे भयानक पुरुष को देखे जिसके हाथ में दण्डा हो, या ऐसी स्त्री को देखे जिसके हाथ में पाश (फंदा) हो और जिसने लाल रंग के केश फैलाये हुए हों—इनमें से एक या अनेक अरिष्ट जिस दिन दीखें उसी दिन की मौत सूचित करते हैं।।४१४-७।। (अब तक जाग्रदवस्था में अनुभव किये जा सकने वाले अरिष्ट बताये। अब सपने में प्रतीत होने वाले अरिष्ट बतायेंगे :)

स्वप्ना अपि भवन्त्येते मरणस्याऽत्र सूचकाः। अचिरेणैव कालेन ध्रुवं स्वप्नावलोकिनः।।४१८
कृष्णदन्तं कृष्णवर्णं पश्येत् स्वप्ने नरं यदा। अविदूरे तदा मृत्युः स्वप्नद्रष्टुर्न संशयः।।४१९
वराहं मर्कटं वाऽपि घ्नन्तं खादन्तमेव वा। आत्मानं वा शुना तेन नीयमानं समन्ततः।।४२०
खादित्वा वा सुवर्णानि वान्ति च कुरुते पुनः। अश्नाति मधुसंयुक्तं मृदुलानि बिसानि वा।।४२१
पुण्डरीकं तथैवैकं धारयेन्मस्तकादिषु। खरैर्वाऽपि वराहैर्वा युक्तमुष्ट्रैरथाऽपि वा।।४२२
अधिगच्छेदयं यानं तेषु वाऽऽरोहणं व्रजेत्। कृष्णां धेनुं कृष्णवत्सां व्रजन्तीं दक्षिणां दिशम्।।४२३
जपाकुसुमजां मालां शैवालीं वोरसा वहन्। तैलाभ्यक्तोऽथ वा नग्न एकाकी वाऽपि याति ताम्।।४२४
काकैर्गृध्रैश्च परितो भक्ष्यमाणः करे स्थितैः। मुदितो रक्तवासाश्च रक्तगन्धानुलेपनः।।४२५
तैलाभ्यक्तस्तथा चान्यैर्बहुशोऽपि ह्युपद्रुतः। त्वरितो दक्षिणामाशां व्रजेद् वा क्षुत्पिपासितः।।४२६
कृकलासं च वा पश्येद् यानं स्वस्य विरूपिणम्। इत्येवमादि चेत् पश्येत् स्वप्ने षण्मासतो मृतिः।।४२७

'अथा स्वप्ना' इत्यादिना उक्तनामकश्रुतौ, वसिष्ठसंहितायां च वर्णितान् अरिष्टसूचकान् स्वप्नानाह—स्वप्ना अपीत्यादिना। एते वक्ष्यमाणरूपाः स्वप्ना अपि स्वप्नद्रष्टुः मरणसूचका[1] बोध्या इति।।४१८।।

कृष्णेति। कृष्णदन्तस्य कृष्णवर्णस्य च नरस्य दर्शनम् अतिसंनिहितमरणसूचकमिति।।४१९।। वराहमिति। यश्च आत्मानम् आत्मीयं शरीरं भक्षयन्तं वराहं मर्कटं वा पश्येदथ वाऽनेन आत्मानं भक्षयता शुना नीयमानं पश्येत् तस्य 'षण्मासतो मृतिः' इति सप्तमेन अभिसम्बन्धः।।४२०।। खादित्वेति। तथा यः स्वप्ने सुवर्णानि पीतवर्णद्रव्याणि भक्षयित्वा वमेत्; मधु माक्षिकं तत्प्रचुरमन्नम् अथ वा बिसानि कमलजटाः कोमलाः प्राश्नीयात् तस्य तथा फलमिति।।४२१।। पुण्डरीकमिति। पुण्डरीकं श्वेतकमलं मस्तके कण्ठादौ वा धारयेद्, गर्दभैः वराहैः उष्ट्रैर्वा युक्तं यानं रथादिकम् आरोहेत्, तेषु गर्दभादिषु एव वाऽऽरोहणं कुर्यात्, कृष्णवर्णां गां समानवर्णवत्ससहितां दक्षिणदिशं प्रति गच्छन्तीं वा पश्येद् इति शेषः, तस्य तथा। इति द्वयोरर्थः।।४२२-३।। जपेति। जपा अतिरक्तः कुसुमविशेषः तन्मयीं, शेवालमयीं वा मालां कण्ठे धारयन्, तैलाभ्यङ्गशाली नग्नो वा एकाकी तां दक्षिणां दिशं यो गच्छेद्; अथ वा करस्थितैः काकादिभिः भक्ष्यमाणो मुदितत्वादिविशेषणकः अन्यैः श्वप्रभृतिक्रूरजन्तुभिः उपद्रुतः तां दक्षिणां दिशं व्रजेत् तस्य तथा। इति त्रयाणामर्थः।।४२४-६।। कृकलासमिति। यः कृकलासं सरठं कुरूपं स्वस्य वाहनभूतं पश्येत् तस्याऽपि तथेत्यर्थः। आदिपदेन विवाहादिमङ्गलग्रहः।।४२७।।

स्वप्नद्रष्टा के शीघ्र मरण की सूचना इस प्रकार के सपने भी देते हैं :।।४१८।।

जो सपने में काले रंग के व काले दाँत वाले आदमी को देखता है उसकी मौत दूर नहीं है।।४१९।। सपने में जो देखे कि उसे सुअर या बंदर मार रहे हैं या खा रहे हैं या उसे (स्वयं स्वप्नद्रष्टा को) खाते हुए कुत्ता इधर-उधर घसीट रहा है, वह छह महीने में मर जाता है।।४२०।। जो सपने में स्वर्ण के रंग के पदार्थ खाकर वमन कर दे; (सपने में) बहुत शहद मिलाकर अन्न खाये; कमल की कोमल जटाएँ खाये; मस्तक पर या कंठादि में एक सफेद कमल धारण करे; ऐसे यान पर चढ़े जिसमें गधे या सुअर या ऊँट जुते हों; या इन प्राणियों पर ही सवारी करे; काले बछड़े वाली काली गाय को दक्षिण दिशा की ओर जाता देखे; जपापुष्प की या सेवाल की माला पहने तेल लगाकर या नंगा अकेले ही दक्षिण दिशा को जाये; हाथ पर बैठे कौवों और गीधों द्वारा सब ओर से खाया जाता हुआ प्रसन्न, लाल कपड़ा पहने हुए, लाल चंदन लेपे हुए, तेल मले हुए, कुत्ते आदि अन्य प्राणियों द्वारा भगाया जाता हुआ, भूखा-प्यासा, जल्दबाजी से दक्षिण दिशा को जाये; जो कुरूप गिरगिट को अपना वाहन देखे; इस प्रकार के अरिष्ट सपने में देखने वाला छह महीने में मर जाता है।।४२१-७।।

१. 'सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः' (३.२.४) इत्यत्र सूत्रभाष्यकारादिभिरेतत्स्वीकृतम्।

लोहदण्डधरं ह्रस्वं नरं कृष्णपरिच्छदम्। स्वप्ने पश्येत् पुमान् यस्तु त्रिदिनात् स मरिष्यति।।४२८

कृष्णाम्बरधरा नारी कृष्णगन्धानुलेपना। आलिङ्गयति यं स्वप्ने सस्नेहमरुणोदये।।
अर्वाग्दशाहतो मृत्युर्भवेत् सूर्योदयेऽपि च।।४२९

वातः पित्तं तथा श्लेष्मा दोषत्रयमुदीरितम्। दोषत्रयसमुद्रेकात् स्वप्नो व्यर्थः प्रकीर्तितः।।४३०

कामात् क्रोधात् तथा लोभाद् भयाद् वा निशि चिन्तनात्। दृष्टः स्वप्नो न फलदः प्राणिनामिह कर्हिचित्।।४३१

दोषकामाद्यभावे चेत् प्रथमे प्रहरे पुमान्। स्वप्नं विलोकयेत्तस्य फलं वत्सरतो भवेत्।।४३२

षण्मासतो द्वितीये स्यात् तृतीये तु त्रिमासतः। चतुर्थे घटिकानां स्याद् भेदात् सूर्योदयावधि।
मासात् पक्षाद् दिनेभ्यो वा स्यादेवाऽस्माच्च वासरात्।।४३३

स्वप्नं दृष्ट्वा यदा स्वप्नं पश्येदेष पुनः पुमान्। व्यर्थः स्वप्नस्तदा पूर्व इति स्वप्नविदो विदुः।।४३४

दिनत्रयावच्छिन्नमरणसूचकं स्वप्नमाह—लोहेति। यः पुमान् लोहदण्डाद्युपलक्षितां यममूर्तिं पश्येत् स दिनत्रयावच्छिन्नजीवन इत्यर्थः।।४२८।। दशदिनावच्छिन्नस्य तस्य सूचकमाह—कृष्णाम्बरेति। सद्यस्तद्दिने अरुणोदये तद्रात्र्यन्ते वा तथेति।।४२९।।

उक्तविधस्वप्नानाम् अदृष्टसामग्रीजन्यानामेव तत्तदर्थसूचकत्वमिति सूचयन् दृष्टसामग्रीजन्यस्य वैफल्यमाह—वात इति। कफादिधातूनां साम्यातिक्रमेण दोषभावं गतानां यः समुद्रेको विकारारम्भक्षमत्वं तज्जः स्वप्नो वृथेति।।४३०।। तथा कामादिप्रयुक्तोऽपि वृथेत्याह—कामादिति। चिन्तनं पुनः पुनः स्मरणम्।।४३१।। रात्रिप्रहरभेदेन फलविशेषमाह—दोषेति। दोषा वातादयः।।४३२।। षण्मासत इति। द्वितीये रात्रिप्रहरे, तत्फलं षड्भिर्मासैर्भवति। तृतीये, मासत्रयेण। चतुर्थे तु घटीयुगलचतुष्टयभेदेन फलं बोध्यम्। तथा हि—चतुर्थप्रहरस्य प्रथमघटीद्वये मासात् फलम्; द्वितीयघटीद्वये, पक्षात्। तृतीये, दशभिर्दिनैः। चतुर्थे घटीद्वये तु तस्मिन्नेव दिन इत्यर्थः।।४३३।।

स्वप्नवैय्यर्थ्यस्य प्रयोजकान्तरमाह—स्वप्नमिति। यस्य स्वप्नस्य दर्शनाद् अनन्तरं स्वप्नान्तरं दृश्यते, स पूर्वः स्वप्नो वृथा भवतीति स्वप्नमर्यादाविदो वदन्तीत्यर्थः।।४३४।। तथा च दोषशङ्काकलङ्कितत्वेन स्वप्नस्य

लोहे का दण्डा धारण किये, काले कपड़े पहने नाटे नर को जो पुरुष सपने में देखता है वह तीन दिन में मर जाता है।।४२८।। काले कपड़े पहनी, काले चंदन का लेप की हुई नारी अरुणोदय काल या सूर्योदय काल में जिसका सपने में आलिंगन करे वह दस दिनों के अंदर ही मर जाता है।।४२९।।

(उक्त ढंग के वे ही सपने सूचक बनते हैं जो अदृष्ट हेतु से आयें। दृष्ट हेतुओं से आये सपने सूचक नहीं होते। यह समझाते हैं :) वात, पित्त और कफ—ये शरीर में होने वाले तीन दोष कहे गये हैं। इनके हेर-फेर से आया सपना सूचना की दृष्टि से व्यर्थ बताया गया है।।४३०।। काम, क्रोध, लोभ, भय, रात में चिंतन करना आदि हेतुओं से दीखा सपना भी प्राणियों को कभी सही सूचना नहीं देता।।४३१।। त्रिदोष और कामनादि—शारीरिक व मानसिक—हेतुओं के बिना रात के पहले प्रहर में देखा सपना सालभर बाद की बात का सूचक होता है।।४३२।। दोषादि के बिना दूसरे पहर में दीखा सपना छह महीने बाद की घटना सूचित करता है, तीसरे पहर में दीखा सपना तीन महीने बाद की घटना बताता है। चौथे प्रहर की पहली दो घड़ियों में दीखे तो महीने बाद की, तीसरी-चौथी घड़ियों में दीखे तो पंद्रह दिन बाद की, पाँचवी-छठी घड़ियों में दीखे तो दस दिनों की और सातवी-आठवी घड़ियों में दीखे तो उसी दिन की सूचना

इत्यादिदोषतस्तेन स्वप्नो नैकान्ततः फलम्। प्रयच्छति विना सूक्ष्मदृष्ट्या स्वस्य विलोकनात्।।४३५
तत्तज्जागरणे यत् स्याद् निमित्तं तत्तु निश्चितम्। क्वाचित्कं च तथा स्वप्न इति न्यायविदो विदुः।।४३६
आसन्नमरणस्यैतैः सूचकैरपि वीक्षितैः। कामुकस्याऽपि वैराग्यं प्रायो भवति भूतले।।४३७
हंसादिश्रुतिसम्प्रोक्तं योगमास्थाय वा पुमान्। लोकद्वयेऽपि वैराग्यं दृढमत्र प्रपद्यते।।४३८

अमृतनादोपनिषद्व्याख्या

ब्रह्मचारी पुमान् दान्तो जितबाह्येन्द्रियः स्थिरः। गुरुभक्तः सदा योगमभ्यसेद्रागनाशनम्।।४३९

नावधारणहेतुत्वं किन्तु सम्भावनात्मकसंशयहेतुत्वमेव इत्याह—इत्यादीति। इत्यादिदोषतो जातेन तेन व्यभिचारसंशयेन स्वस्य स्वप्नद्रष्टुः सूक्ष्मया विवेकक्षमया बुद्ध्याऽऽलोचनमन्तरा स्वप्न एकान्ततो नियमेन तत्तद्वर्णितविधं फलं प्रयच्छति इति न निश्चितम्। जागरणकालिकनिमित्तं तु तत् फलं प्रयच्छतीति निश्चितं, दोषशङ्काऽनुदयात्। तथा च स्वप्ने तथा सूचकत्वं क्वाचित्कं सव्यभिचारमिति न्यायं कार्यकारणभावव्यवस्थां जानतां मतम्। इति द्वयोरर्थः।।४३५-६।।

अरिष्टवर्णनस्य प्रकृतोपयोगिफलमाह—आसन्नेति। वीक्षितैः जाग्रति दृष्टैः, अपिशब्दात् स्वप्नदृष्टैश्च मरणसूचकैः कामुकस्यापि वैराग्यं भवति इति।।४३७।।

परन्तूक्तोपायैः जातं वैराग्यं मन्दादिभेदेन अपरमेव भवति, परवैराग्यं तु योगेन आत्मसाक्षात्कारादेवेति दर्शयन् योगप्रतिपादक हंसाद्युपनिषदर्थजिज्ञासामुत्थापयति—हंसादीति। स्पष्टम्।।४३८।।

तत्र उपोद्घातसङ्गत्या प्रचुरयोगाङ्गप्रतिपादिकाया अमृतनामकोपनिषदोऽर्थम् आर्थक्रमेण द्विपञ्चाशता श्लोकैः उपबृंहयन्नादौ योग्यमधिकारिणं शाखान्तरप्रसिद्धमाह—ब्रह्मचारीति। ब्रह्मचारित्वेन अहिंसादियमसम्पत्तिः सूचिता, दान्तत्वेन मनोनियमनं, स्थिरत्वेन भगवद्गीतोक्ता सात्त्विकी धृतिः, गुरुभक्तत्वेन श्रद्धासम्पत्तिश्चेति। रागो विषयेषु गर्द्धः।।४३९।। योगस्य योग्यं देशं कालं चाह—स्ववर्णाश्रमेति द्वाभ्याम्। आश्रम-सम्बन्धेन

देता है। (चौवीस मिनट के समय को एक घड़ी कहते हैं। रात्रि के आरंभ से तीन-तीन घण्टे के प्रहर समझने चाहिये।)।।४३३।। अरिष्टभूत सपना देखकर उसके बाद कोई और सपना भी देख ले तो पहला सपना सूचक नहीं रह जाता ऐसा स्वप्नविद्या के जानकार समझते हैं।।४३४।।

क्योंकि इस प्रकार त्रिदोषजन्यतादि संभव हैं, सपना कब आया इसका निर्धारण मुश्किल है, सपने के बाद कोई और सपना नहीं ही आया यह निश्चय मुश्किल है इसलिये स्वप्नों की सूचकता शंकित रहती है। स्वप्न-द्रष्टा विवेकक्षम बुद्धि से विचार न करे तो स्वप्न से भावी-मरण का निश्चय नहीं किया जा सकता। जाग्रत् के निमित्त यों शंकित नहीं होते अतः उनसे निश्चित सूचना मिल जाती है। सपना कभी ही सही सूचना देता है।।४३५-६।।

जाग्रत् या स्वप्न में दीखे इन मरणसूचकों से कामुक को भी वैराग्यलाभ हो जाता है ऐसा प्रायः भूतल पर देखा गया है। (अरिष्ट का प्रसंग ही यहाँ मरणविचार से वैराग्यप्राप्ति के लिये आया है। 'अब मैं शीघ्र मरने वाला हूँ' ऐसा जिसे निश्चय हो जाये वह सज्जन प्रायः ग़लत काम नहीं करता बल्कि अधिकाधिक सत्कार्य, सच्चिंतनादि में ही लगता है। शुद्धचेता को ही ये अरिष्ट उपलब्ध होते हैं अतः वह तो अवश्य इनका यही उपयोग करेगा यह भाव है। इन सूचकों के बिना भी मुमुक्षु को प्रतिक्षण याद करना चाहिये कि 'संभव है अगले ही क्षण मैं मर जाऊँ'; ऐसा भाव बना रहे तो पापाचार कभी नहीं कर सकता, संसार की ओर लपक नहीं सकता, भगवद्भजन में ही एकाग्र हो जायेगा।)।।४३७।।

उक्त जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानुदर्शन से हुआ वैराग्य अपर वैराग्य ही होता है जिसे शतश्लोकी १४ में नैर्वेद्य कहा है। परम वैराग्य तो योग से हुए आत्मसाक्षात्कार का ही फल है। अतः अधिकारी पुरुष को चाहिये कि 'हंस' आदि उपनिषदों में कहे योग के अभ्यास से इह-पर लोकों के प्रति दृढ वैराग्य प्राप्त करे।।४३८।।

स्ववर्णाश्रमसम्प्राप्ता नित्यनैमित्तिकाः क्रियाः। कृत्वाऽरण्यादिके स्थानं शीतातपविवर्जिते।।४४०

वायुशून्ये तथा देशे सर्वोपद्रववर्जिते। मनसश्च दृशोस्तद्वद् नित्यमानन्दकारिणि।
योगाभ्यासरतस्तत्र स्वासनं परिकल्पयेत्।।४४१

दर्भान् कृष्णाजिनच्छन्नांस्त्वचं कृष्णाजिनस्थितम्। अन्यद्वा मृदुलं येन बाधा तस्य न सम्भवेत्।।४४२

नात्युच्छ्रितं नाऽतिनीचं देशे शब्दविवर्जिते। परिकल्प्यासनं तत्र संविशेद् योगदृक् पुमान्।।४४३

'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चाऽनवलोकयन्'।।४४४

अवश्यकर्तव्यानि नित्यनैमित्तिककर्माणि अनुष्ठाय, अरण्यं वनं तत्प्रभृतिके रहस्ये शीताभावादिविशेषणशालिनि च देशे स्थानं कुट्यादिरूपं कृत्वा तत्र योगं चिकीर्षुः आसनं स्थापयेत्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।४४०-१।। आसनं वर्णयति—दर्भानिति। प्रथमं दर्भान् कल्पयेत्। तदुपरि कृष्णाजिनम्। तदुपरि व्याघ्रादित्वचम् अन्यद् वस्त्रादिकं वा कल्पयेद् येन तस्य बाधा तेनासनेन कृता पीडा न स्याद् इत्यर्थः।।४४२।। नात्युच्छ्रितमिति। संविशेत् तिष्ठेत्।।४४३।। तत्र स्थित्वा आदौ कर्तव्यस्य प्रतिपादकं गीतावाक्यं (६.१३) पठति—सममिति। कायपदेन देह-मध्यमुच्यते; ग्रीवान्तः समाहारद्वन्द्वः; समम् अवक्रम्। प्राणायामान् कुर्वीत (श्लो. ४५१) इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः।।४४४।। अहिंसामिति। अहिंसादिरूपान् यमान्, तपःप्रभृतीन् नियमांश्च सेवमानः, ईशानप्रसाद ईश्वरे

(औपनिषद योग के बहुतेरे अंग अमृतनादउपनिषत् में बताये हैं अतः पहले उसीकी पौराणिक व्याख्या करने के लिये अन्यत्र प्रसिद्ध योग्य अधिकारी का वर्णन करते हैं—) अहिंसादि यमों का अनुष्ठाता ब्रह्मचारी, जिसने मन का दमन कर लिया है और बाह्य इंद्रियाँ नियंत्रण में रखता है, सात्त्विक धैर्य (गीता. १८.३३) वाला है, गुरु पर श्रद्धा-भक्ति रखता है, उसे रागनाशक योग का हमेशा अभ्यास करना चाहिये।।४३९।। अपने वर्णाश्रम के अनुसार नित्य-नैमित्तिक कर्तव्य संपूर्ण कर उसे जंगल आदि में वहाँ कुटिया आदि बना लेनी चाहिये जहाँ उसके प्रतिकूल सर्दी-गर्मी आदि न हों।।४४०।। उस स्थान पर आँधी-तूफान ज्यादा न आते हों या साँय-साँय हवा तेज़ी से बहती ही न रहती हो। चोर-व्याघ्र आदि भी वहाँ उपद्रव न करते हों। मन व आँखों को वह स्थान हमेशा आनंद दे, प्राकृतिक सौंदर्य वाला हो। योगाभ्यास के इच्छुक को ऐसी जगह अपना आसन स्थापित करना चाहिये। (यदि घर सर्वथा छोड़कर नहीं जा सकता तो घर के आस-पास ऐसी जगह ढूँढ कर रोज़ वहाँ कुछ समय जाकर योगाभ्यास करे या जब छुट्टी आदि मिले तब लगातार कुछ दिन तक वहाँ अभ्यास करे, बाकी दिन घर में ही यथासंभव प्रयास करता रहे।)।।४४१।।

जहाँ बैठना है वहाँ पहले कुशा बिछाये, उन पर काले मृग का चर्म और उस पर बाघ का चर्म या अन्य कोमल वस्त्रादि बिछाये ताकि उस पर लम्बे समय बैठने में कोई दिक्कत न आये।।४४२।। जहाँ आसन स्थिर करे वह जगह ज़्यादा ऊँची न हो (पहाड आदि की ऐसी चोटि न हो जहाँ आस-पास खुली जगह नहीं या ज़्यादा हवा बहती है), ज़्यादा नीची न हो (गड्ढा आदि न हो), ऊबड़-खाबड़ न हो, शोरगुल वाली न हो। योग करना चाहने वाले व्यक्ति को सद्गुरु से योगाभ्यास का ढंग समझकर—योग के बारे में जो ग्रंथादि देखने चाहिये वे देख-पढ़ कर—उक्त तरह की जगह आसन लगाना चाहिये। (हो सके तो वहाँ स्थायी रहे अन्यथा प्रतिदिन उसी स्थान पर अभ्यास करे।)।।४४३।। धड़-गला-सिर को एक सीध में रखते हुए बिना हिले-डुले बैठा रहे, इधर-उधर बिना देखे मानो अपनी नाक की नोक पर दृष्टि टिकाये और प्राणायामादि प्रारंभ करे। (नाक की नोक को देखना नहीं है वरन् आँख अन्यत्र न देखे और पूरी तरह मिच भी न जाये ऐसा आँख को रखना है। नाक पर केंद्रित करने से तो तुरंत सिरदर्द आदि होने लगेगा ! थोड़ी-सी खुली रहने पर आँख दूर तक देखेगी तब उसे उतना बंद कर ले जितने में वह नाक से ज़्यादा कुछ न देख पाये।)।।४४४।।

यमनियमौ

अहिंसां सत्यमस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहान्। सेवमानो यमान् नित्यं नियमानपि शक्तितः।।
तपःस्वाध्यायकेशानप्रसादादीन् हि बुद्धिमान्।।४४५

आसनानि

भूमौ दर्भासने रम्ये सर्वदोषविवर्जिते। यमी नियमयुक्तश्च स्थिरचित्तः शिवाश्रयः।।४४६
पद्मकं स्वस्तिकं वाऽपि भद्रासनमथाऽपि वा। बध्वा योगासनं सम्यगुत्तराभिमुखः स्थितः।।
प्राणायामांस्तथा कुर्याद् योगी जितपरिश्रमः।।४४७
जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे। ऋजुकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत् प्रचक्षते।।४४८

चित्तस्य तदाकारतालक्षणं वैशद्यम्, आदिपदेन सन्तोषादिग्रहः।।४४५।। कृष्णाजिनाऽलाभेऽपि दर्भासनमवश्यं सम्पादयेद् इति दर्शयन् योगिना योगसम्प्रदायप्रवर्तकस्य रुद्रस्य आराधनं प्रतिबन्धध्वंसायाऽवश्यं कार्यमित्याह—भूमाविति।।४४६।।

तथा पद्मकाद्यन्यतममासनं कृत्वा[1] वक्ष्यमाणविधया प्राणायामान् कुर्वीतेत्याह—पद्मकमिति। योगासनं योगोपकारकमासनं पद्मकादिसंज्ञं कृत्वेत्यर्थः। केचित्तु सिद्धासनं 'मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यगुल्फं तथोपरि। गुल्फान्तरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत्।।' इति लक्षितस्य सिद्धासनस्य 'योगासन'पदेन परिग्रह इति वदन्ति। तत्त्वग्रे तल्लक्षणाऽनुपन्यासाद् ग्रन्थकृतो न सम्मतमिति बोध्यम्।।४४७।। तत्र स्वस्तिकं लक्षयति—जानूर्वोरिति। जानुपदेन जान्वारभ्य जङ्घापर्यन्तो देशो लक्ष्यते। ऊरुः प्रसिद्धः। तयोर्मध्ये प्रथमं दक्षपादतलं कृत्वा ततो वामपादतलं तथा कुर्याद्, ऋजुदेहमध्यकश्च भवेद्, एतत् स्वस्तिकम् इत्युच्यत इत्यर्थः।।४४८।।

बुद्धिमान् योगाभ्यासी को हमेशा यथाशक्ति यम-नियम का पालन करना अनिवार्य है। अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, आवश्यकता से ज्यादा सामान-धनादि बटोर कर न रखना इत्यादि यम कहे जाते हैं जिनमें मानसिकता की प्रधानता है। तप, वेदादि का पाठ, सफाई, सन्तोष, ईश्वर की भक्ति आदि से उनकी कृपाप्राप्ति, इत्यादि नियम कहे जाते हैं जिनमें शारीरिकता प्रधान है। (यम-नियम को मन-स्थूलशरीर के संदर्भ में मानसोल्लासवार्तिक ६.२१-२४ में स्पष्ट किया है। पतंजलि-परिगणित यमों में बाकी तो स्पष्ट ही मनःसाध्य हैं, अपरिग्रह भी मनःसाध्य ही समझना चाहिये क्योंकि 'यह मेरा है' ऐसे मानसिक भाव से ही संचय आदि हो सकता है और न्यूनतम पदार्थों पर वह भाव रखना पतंजलि को अभिप्रेत है। ऐसे ही उनके द्वारा परिगणित नियमों में शौच-तप-स्वाध्याय स्पष्ट ही कायप्रधान हैं। संतोष भी अपरिग्रह का बाह्य अभिव्यक्तरूप होने से स्थूलशरीरप्रधान है तथा ईश्वरप्रणिधान से व्यासभाष्य में सब कर्मों को ईश्वरार्पण करना विवक्षित होने से क्योंकि कर्म स्थूलदेहप्रधान हैं इसलिये यह प्रणिधान भी देहप्रधान समझा जा सकता है।)।।४४५।।

यम-नियमसंपन्न तथा शिव पर आश्रित योगी को प्राणायाम करने के लिये भूमि पर बिछे रमणीय व सब दोषों से रहित कुशासन पर स्थिरचित्त होकर उत्तर की तरफ मुँह कर योगोपकारी इनमें से किसी आसन से बैठना चाहिये—पद्मासन, स्वस्तिकासन या भद्रासन। (ये संभव न हों तो सिद्धासन से भी बैठ सकता है।) आसन से बैठने में ज़ोर न पड़े, सहजता से बैठा जा सके इसके लिये नियमित अभ्यास, शारीरिक व्यायाम भी कर लेना चाहिये।।४४६-७।।

स्वस्तिकासन का स्वरूप है : पालथी इस तरह लगायें कि बायीं पिण्डली-जाँघ के बीच दाँयें पैर का तला फँस जाये और दाँयी पिंडली-जाँघ के बीच बाँयें पैर का तला फँस जाये, दोनों घुटने ज़मीन पर टिक जायें, रीढ की हड्डी बिलकुल सीधी रहे—यह स्वस्तिकासन है। इससे व्यक्ति आराम से बैठा रह सकता है।।४४८।।

१. उपनिषदि १८तमः पुराणे 'पद्मकं...स्थित' इत्युद्धृतः।

अङ्गुष्ठौ च निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु। ऊर्वोरुपरि पादौ द्वौ कृत्वा पद्मासनं भवेत्।।४४६

गुल्फौ च वृषणस्याऽधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्। पार्श्वे पादौ च पाणिभ्यां बध्वा भद्रासनं भवेत्।।४५०

एतेषां यदनेन स्यात् कर्तुं शक्यं सुखेन हि। कृत्वा तत्तु प्रकुर्वीत प्राणायामं हि योगवित्।।४५१

षडङ्गो योगः

प्राणायामस्तथा प्रत्याहारस्तर्कोऽथ धारणा। ध्यानं चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते।।४५२

प्राणायामः

यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते धमतां मलाः। तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात्।।४५३

पद्मकं लक्षयति—अङ्गुष्ठाविति। पादावूर्वोरुपरि कृत्वा पृष्ठतः प्रहितेन दक्षहस्तेन दक्षमङ्गुष्ठं गृहीत्वा, तादृशेन वामेन वामाङ्गुष्ठं गृह्णीयाद् ऋजुकायश्च भवेद्—एतत् पद्मासनम् इत्यर्थः।।४४६।। भद्रासनं लक्षयति—गुल्फाविति। पादगुल्फयोर्द्वयं वृषणाधः सीवन्याः पार्श्वद्वयेन संस्पर्शि यथा स्यात् तथा कृत्वा पार्श्वे पादयोः पृष्ठे, पादौ च पाणिभ्यां कच्छपाकाराभ्यां बध्वा समाक्रम्य यत् क्रियते तद् भद्रासनम् इत्यर्थः। तदुक्तं वाचस्पतिना—'पादतले वृषणसमीपे सम्पुटी कृत्य तस्योपरि पाणिकच्छपिकां कुर्याद् एतद् भद्रासनम्' (तत्त्ववैशा. २.४६) इति। तस्य सम्पुटस्य कच्छपिका परस्परं मणिबन्धसंलग्नयोः करयोर्योगः।।४५०।। एतेषामिति। एतेषां वर्णितासनानां मध्ये यद् आसनम् अनेन योगोन्मुखेन सुखेन कर्तुं शक्यं स्यात् तत् कृत्वा प्राणायामान् कुर्वीतेत्यर्थः।।४५१।।

अत्र श्रुतौ योगस्य अन्तरङ्गतया विवक्षितानि षट्[1] साधनान्याह—प्राणायाम इति। स्पष्टम्।।४५२।।

तत्र प्राणायामं सपरिकरं पञ्चभिर्वर्णयन्नादौ फलं दर्शयति[2]—यथेति। यथाऽग्निसंयोगरूपं धमनं लोहादिधातूनां शोधकं तथा प्राणायामो बाह्यान्तरिन्द्रियाणां शोधक इत्यर्थः।।४५३।। शोधकप्राणायामस्य मन्त्रमाह[3]—

पद्मासन इस प्रकार लगाया जाता है : पालथी लगाकर दोनों पादतलों को दोनों जंघाओं के ऊपर रख लें, दायें हाथ को पीठ की तरफ से ले जाकर दायें पैर के अंगूठे को उससे पकड़ लें, इसी तरह बायें पैर का अंगूठ बायें हाथ से पकड़े रहें, यह पद्मासन है। सीधे बैठे रहने के लिये यह अचूक आसन है।।४४६।। भद्रासन ऐसा होता है: दोनों टखने अण्डकोष के नीचे इस तरह रखें कि वे दोनों ओर से सीवनी को छूते रहें और पादतल के ऊपरी हिस्सों को हथेलियों से मानो बाँध दे तो भद्रासन होता है। (सीवनी शिश्न के ऊपरी चर्म को कहते हैं किंतु यहाँ अभिप्राय उसकी सीध में पादतल रखने से है। गुदा और अण्डकोष के मध्य के स्थान से दोनों एड़ियों का स्पर्श रहे तो यह आसन हो जाता है। सभी आसन जानकार से सीखकर ही करने चाहिये।)।।४५०।।

अभ्यासी इनमें से जो आसन लगाकर आराम से लंबे समय बैठ सके उसे अपनाकर प्राणायाम करे। (यद्यपि अन्य आसन भी योगशास्त्रों में कहे हैं तथापि पद्म, भद्र, स्वस्तिक, सिद्ध आदि कुछ ही आसनों को लंबे समय बैठकर अभ्यास के लिये उपयुक्त अधिकतर माना जाता है। मानसोल्लास वार्तिक (९.२४-६) में देवतासम्बन्धपूर्वक उपयोगी आसनों का उल्लेख है।)।।४५१।।

योग के छह अंग हैं : १) प्राणायाम, २) प्रत्याहार, ३) तर्क, ४) धारणा, ५) ध्यान और ६) समाधि।।४५२।।

१. 'प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा। तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते।।' अमृ. ६।

२. उपनिषदि सप्तमःश्लोको यथेत्यादिः।

३. उपनिषदि दशमश्लोकः।

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह। त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते।
त्रिविधः स तु विज्ञेयो रेचपूरककुम्भकैः।।४५४
उत्क्षिप्य वायुमाकाशं शून्यं कृत्वा निरात्मकम्। शून्यभावेन युञ्जीत रेचकस्येति लक्षणम्।।४५५
वक्त्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेद् यथा। एवं वायुर्ग्रहीतव्यः पूरकस्येति लक्षणम्।।४५६
गात्राणि चालयेन्नैव नोच्छ्वसेन्न च निःश्वसेत्। एवं भावं नियुञ्जीत कुम्भकस्येति लक्षणम्।।४५७

सव्याहृतिमिति। आदौ सप्रणवाभिः सप्तव्याहृतिभिः सहितां प्रणवेन संयुक्तां गायत्रीं त्रिपदां, तस्याः शिरश्च 'ॐ आप' इत्यादिकम्; तथा च प्रणवव्याहृतिशिरोयुक्तगायत्र्याः त्रिः आवृत्तौ षडशीत्यधिकशतसंख्यानि अक्षराणि भवन्ति, द्वितीयव्याहृतेः[1] 'सुव'रित्याकारत्वात्। यतिभिस्तु तावन्तः प्रणवा जप्या इति निर्णीतमन्यत्र[2]। त्रिविधे प्राणायामे प्रत्येकं त्रिवारं पठेत्। स प्राणायाम उक्तफलक इत्यर्थः। अन्त्ये सप्रणवं त्रैविध्यं स्फुटयति—त्रिविध इति। भेदैरिति शेषः। रेचो रेचकः।।४५४।।

रेचकादीनां लक्षणानि यथाश्रुति[3] दर्शयति—उत्क्षिप्येति त्रिभिः। वायुं शारीरम् उत्क्षिप्य आधारचक्रात् कुण्डलिनीमार्गेण ऊर्ध्वं नीत्वा आकाशं शरीरबाह्यं नभोभागमपि शून्यम् अस्यैव विवरणम्—निरात्मकमिति निःस्वरूपम् इव कृत्वा प्राणवायुं बहिर्देशे कारणलीनमिव कृत्वेति यावत्; शून्यभावेन नीत्वा।।४५५।। वक्त्रेणेति। यथा कमलनालद्वारा मुखेन अनायासेन जलमाकृष्यते तथा बाह्यवायोः आकर्षणे सति पूरको भवतीति।।४५६।। गात्राणीति। ग्रात्रकम्पाभावे सति यदा एवंविधं भावं प्राणस्य अवस्थाविशेषं युञ्जीत कुर्वीत। 'एवं' कथम् ? नोच्छ्वसेत् प्राणस्य बहिर्गतिं निरुन्ध्यात् तथा न निःश्वसेत् अन्तर्गतिं निरुन्ध्यात्; प्राणं तप्तोपलनिक्षिप्तजलबिन्दुवद् विलीनं कुर्याद् इति यावत्; इत्थं कृते सति कुम्भको भवतीत्यर्थः।।४५७।।

पहाड़ों अर्थात् खानों से प्राप्त धातुओं का मल जैसे अग्निसंयोग से जलाया जाता है ऐसे इंद्रियों द्वारा किये दोष प्राण के निग्रह से जलाये जाते हैं।।४५३।। प्रणव, व्याहृतियाँ और सिर सहित गायत्री—यह प्राणायाम का प्रसिद्ध मंत्र है। तीन बार उसके जप सहित पूरक, तीन बार जप सहित कुंभक और तीन ही बार जप सहित रेचक—यों प्राणायाम करने से इंद्रियकृत दोष जल जाते हैं। (प्रारंभ में इतना लंबा समय प्राणायाम में नहीं लगा सकते क्योंकि बिना अभ्यास के श्वास रोकना आदि असंभव है और अधिक ज़ोर-ज़बर्दस्ती से विविध रोग हो सकते है। जिन्हें गायत्री आदि में अधिकार नहीं वे स्वाधिकारानुरूप मंत्रों से अभ्यास करें। उक्त मंत्रावृत्ति करने पर कुल एक सौ छियासी अक्षर होते हैं। परमहंस इसी संख्या के प्रणवजप के साथ प्राणायाम करे क्योंकि वह गायत्री आदि में अनधिकृत है।)।।४५४।।

रेचक किसे कहते हैं ? शरीरस्थ वायु को आधारचक्र से कुण्डली के रास्ते ऊपर लाकर (नासिका से) बाहर निकालने को रेचक कहते हैं। शरीर से बाहर के आकाश को शून्य, निःस्वरूप-सा समझकर उसमें प्राणवायु छोड़नी चाहिये और समझना चाहिये कि वह मानो कारण में लीन होकर शून्यभाव को ही प्राप्त हो रही है।।४५५।। पूरक किसे कहते हैं ? जैसे कमल की नली द्वारा हम जल को अनायास मुख से खींच सकते हैं (शीतल पेय, हरे नारियल के पानी आदि को पीने के लिये काग़ज की नली आजकल भी प्रचलित है) वैसे बाह्य वायु को (नथुने से) भीतर आराम से खींचना पूरक कहा जाता है।।४५६।। कुंभक किसे कहते हैं ? शरीर हिले नहीं, काँपे नहीं, साँस न बाहर जाये न भीतर आये बल्कि तपे पत्थर पर पड़ी जलबूँद की तरह विलीन किया जाये—यह कुंभक है।।४५७।। इस प्रकार योग का प्रथम अंग बताया।

१. उत्तरमिति शेषः। तृतीयव्याहृतेरित्यर्थः।

२. परमहंसानां गायत्र्यादावनधिकाराद् उक्तसंख्याकप्रणवैरेव ते कुर्युरिति दीपिकायां पुराणकृत्।

३. उपनिषदि ११, १२ यथावदत्राप्युक्तौ। तत्र १३—'नोच्छ्वसेन्न च निश्वसेन्नैव गात्राणि चालयेत्। एवं भावम्' आदि पुराणवत्।

प्रत्याहार-तर्कौ

शब्दादिविषयाः पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम्। मनसस्तैरयोगो यः प्रत्याहारः स ईरितः।।
आगमस्याऽविरोधेन व्यूहनं तर्क उच्यते।।४५८

धारणा-ध्यान-समाधयः

मनः सङ्कल्परहितं संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान्। धारयेन्निश्चलं तत्र धारणा सा प्रकीर्तिता।।४५६

प्रत्याहारं[1] लक्षयति—शब्दादीति। शब्दस्पर्शादयः पञ्च विषयाः तदुपलक्षितानीन्द्रियाणि इति यावत्, तानि; तत्प्रेरकं मनश्च अतिचञ्चलं प्रसिद्धं, तत्र सर्वत्र निर्विशेषात्मतत्त्वानुसन्धानबलेन तैः इन्द्रियैः सह मनसोऽयोगः प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवर्जनरूपः मनोनिरोधेन इन्द्रियाणाम् अप्रवृत्तिरिति यावत्, तद्रूपः प्रत्याहार इत्यर्थः।। आदित्याद् रश्मीनामिव दृश्यानाम् अखण्डचिदात्मना सह अभेददर्शनेन करणोपसंहारात्मकत्वं प्रत्याहारस्य याज्ञवल्क्येनाऽप्युक्तम् 'यद्यत्पश्यति तत् सर्वं पश्येदात्मानमात्मनि। प्रत्याहारः स च प्रोक्तो योगविद्भिर्महात्मभिः।।' इति।

तृतीयं तर्कं लक्षयति[2]—आगमस्येति। वेदबाह्यमतानुसरणं परिहृत्य ध्येयस्य ज्ञेयस्य वा तत्त्वस्य विशेषेण वेदतात्पर्यविषयत्वरूपेण यद् ऊहनं चिन्तनं तत् तर्क इति उच्यत इत्यर्थः।।४५८।।

धारणादित्रयं लक्षयति[3]—मन इति त्रिभिः। चौरवदनवेक्षितं सद् मनः सङ्कल्पलक्षणमनर्थं करोति इति विज्ञाय तन्मनोवेक्षणबलेन सङ्कल्परहितं यथा भवति तथा आत्मनि मुख्ये सत्यादिलक्षणे, गौणे बुद्धिप्राणादिरूपे वा संक्षिप्य तदाकारं कृत्वा निश्चलं धारयेद् अवस्थापयेत्; एतद् धारणालक्षणमित्यर्थः।।४५६।। धारणेति। यत्र धारणा कृता

षडंग योग का दूसरा अंग प्रत्याहार है : शब्दादि विषयों की ग्राहक पाँचों इंद्रियाँ और मन—ये सभी अत्यन्त चंचल हैं। निर्विशेष आत्मतत्त्व के स्वरूप के चिंतन के बल पर मन का इंद्रियों से ऐसा सम्बंध न होने देना कि इंद्रियाँ प्रवृत्ति कर सकें, अर्थात् मनोनिरोध के द्वारा इन्द्रियों की प्रवृत्ति रोकना—यह उपनिषदों में प्रत्याहार कहा गया है। (पाँच इंद्रियों से अतिरिक्त कर्मेंद्रियाँ भी श्लोकस्थ 'च'-शब्द से समझनी चाहिये यह दीपिका में कहा है। वहीं व्युत्पत्ति बतायी है 'विषयं विषयं प्रति गच्छताम् इन्द्रियाणां बहिर्मुखत्वाद् अन्तरात्मनि आहरणं प्रत्याहारः')।

योग का तीसरा अंग तर्क है : वेदविरुद्ध मतों का अनुसरण छोड़कर वेद के तात्पर्य विषय ज्ञेय या ध्येय तत्त्व के बारे में चिंतन तर्क है। (यह अंग पातंजल-प्रक्रिया में है ही नहीं, उपनिषद्विहित योग की विशेषता है। योगी स्वमनीषा से आत्मा-मन के विवेक की बात तो करते हैं किंतु वेदार्थविचार को उनके यहाँ कोई स्थान नहीं है अत एव वे तर्कसमय सांख्य के ही पक्षधर हैं। यद्यपि कुछ लोग 'पतंजलि ने समाधि के सन्दर्भ में ही कहा है अतः उनका दार्शनिक पक्ष केवल योगसूत्रों से ही निर्धारित नहीं करना चाहिये' ऐसा मानते हैं तथापि वेदार्थ विचार को अपनी साधना पद्धति में न रखकर उन्होंने वेदार्थ से तटस्थता तो द्योतित कर ही दी है जिससे उनका दर्शन जैसा भी हो, उपनिषत्प्रमाणक तत्त्वज्ञान से मोक्ष मानने वाला नहीं है यह पता चलता है।)।।४५८।।

बाकी तीन अंग भी समझ लेने चाहिये : चोर पर निगरानी न रखें तो वह अनर्थ कर डालता है ! मन पर भी नियंत्रण न रखें तो वह संकल्परूप अनर्थ खड़ा कर देता है। अतः बुद्धिमान् को चाहिये कि मन प्रवृत्ति न करे इसके बारे में जागरूक रहकर उसे निःसंकल्प बनाकर पहले बुद्धि-प्राणादि के आकार का बनावे, फिर आत्मा के आकार का बना लेवे। आत्माकार बन जाये तब मन को उसी आकार में स्थिर रखे। इसका नाम धारणा है।।४५६।।

---

१. उपनिषदि ५—'शब्दादिविषयाः पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम्। चिन्तयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते।।'
२. उपनिषदि १६ तमस्य पादद्वयम्।
३. 'मनः सङ्कल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान्। धारयित्वा तथाऽऽत्मानं धारणा परिकीर्तिता।।' उपनिषदि १५।

धारणाविषये तुल्यबोधसन्ततिसम्भवः। नैरन्तर्यादन्यबोधागृहीतो ध्यानमीरितम्।।४६०
ध्यातृध्यानादिकं यत्र समभावाद् न लभ्यते। स समाधिरिति प्रोक्तः पण्डितैरात्मवेदिभिः।।४६१

योगिनो वर्ज्यानि

भयं क्रोधमथालस्यमतिस्वप्नातिजागरम्। अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत्।।४६२

प्राणायामक्रमः

प्राणायामक्रमं चेमं कथयन्ति मनीषिणः। नासिकापुटमङ्गुल्या पिधायैकेन मारुतम्। आकृष्य
आकृष्य धारयेद् वायुं मुञ्चेद्वापि शनैः शनैः।।४६३

तत्र विषये तुल्यानां समानाकाराणां बोधानां वृत्तीनां यः सन्तत्या धारारूपेण सम्भवः; कीदृशः ? नैरन्तर्यवशाद् अन्येन विजातीयेन बोधेन अगृहीतः अस्पृष्टः; एतद्रूपं ध्यानं भवतीत्यर्थः।।४६०।। ध्यात्रिति। यत्र यस्यामवस्थायां समभावात् समं ब्रह्म तस्य भावः स्वभाव आनन्दः तमादाय ध्यातृध्यानादिकं द्वैतजातं न लभ्यते, अनाद्रियत इति यावत्; तदुक्तं गीतासु 'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाऽधिकं ततः' (६.२२.) इति। अथ वा यथा शुद्धस्फटिको जले क्षिप्तः तत्साम्यापत्त्या पृथङ् न लभ्यते तथा चित्तस्य ध्येयसाम्यापत्तेर्हेतोः यत्र ध्यात्रादिविभागो न ज्ञायते साऽवस्था समाधिरिति उक्त इत्यर्थः।।४६१।।

योगिनोऽपथ्यवद् वर्ज्यान्याह[1]—भयमिति। अतिस्वप्नम् अतिनिद्राम्, अतिजागरम् अतिशयितं जागरणम्, अत्याहारं 'द्वौ भागौ पूरयेदन्नैः' इत्युक्तमर्यादाम् अतिक्रान्तं भोजनम्, अनाहारम् उपवासम्।।४६२।।

प्राणायामेति। तत्र प्रथमप्रवृत्तं योगिनं प्रति इमं प्राणायामस्य क्रमं प्रथममनुष्ठेयं प्रकारम् उपदिशन्ति[2]। 'इमं' कम् ? नासिकापुटं दक्षिणं प्रथमम् अङ्गुल्या अङ्गुष्ठेन पिधाय, एकेन अपरेण वामेन नासापुटेन वायुम् आकृष्य अन्तर्धारयित्वा दक्षिणपुटेन शनैः शनैः मुञ्चेत्। एवं वामपुटं पिधाय, दक्षिणेनाकृष्य, वामेन मुञ्चेद् इति। एतेन 'नासिकापुटे'त्यादिमन्त्रस्य पादत्रयं व्याख्यातम्।।४६३।।

धारणा के विषयभूत आत्मा के ही आकार की ज्ञानात्मक वृत्तियों का प्रवाह निरंतर बना रहे, बीच में कोई अन्य आकार का बोध न हो, इसका नाम ध्यान है। (ज्ञानात्मक अर्थात् ये वृत्तियाँ प्रमाणमूलक और यथाविषय हैं। अत एव ये अज्ञाननिवर्तन में सक्षम हैं। अज्ञाननिवारक वृत्ति ही ज्ञान है। यद्यपि आत्मा की ज्ञानाकार ये वृत्तियाँ मूलाज्ञान नहीं हटा पातीं—अत एव आगे समाधि आदि की ज़रूरत है—तथापि वह इसलिये नहीं कि ये ज्ञान नहीं वरन् इसलिये है कि वे प्रतिबद्ध हैं।)।।४६०।। आत्मवेदी पंडित कहते हैं कि ब्रह्मानंद के स्फुरणवश ध्याता-ध्यान आदि द्वैत की उपलब्धि न होना समाधि है। यहाँ ब्रह्म ही ध्येय है अतः जब मन उस ध्येय से पृथक् नहीं प्रतीत होता तब ध्याता-आदि विभाग का कोई बोध नहीं रहता। यही समाधि है।।४६१।।

योगी को कुपथ्य की तरह जिनका वर्जन करना चाहिये वे हैं—भय (शास्त्रोक्तरीति से साधन करने में आने वाले विघ्नों से डरना), क्रोध, आलस्य, अतिस्वप्न (ज़्यादा सोना), अतिजागर (ज़्यादा जगना), अतिभोजन, अनाहार (सर्वथा न खाना)। (सोना-जगने के बारे में अन्यत्र कहा है कि एक याम सोवे, अगले याम जगे, पुनः एक याम सोवे, फिर एक याम जगे आदि। कहीं यह भी बताया है कि ब्राह्ममुहूर्त में उठकर दिन भर न सोवे, रात का एक प्रहर बीतने पर सो जाये। वैयक्तिक अंतर काल में रहेगा ही अतः समय का माप प्रधान नहीं, आवश्यकता से ज्यादा सोना-जगना हानिकारक है। अतिभोजन के बारे में समझ लेना चाहिये कि एक दिन प्रातः यथेष्ट खाये, फिर चौबीस घंटे कुछ न खाये, पुनः यथेष्ट खाये; वह जो आहार की मात्रा है उससे आधी मात्रा का आहार रोज़ खाना चाहिये अर्थात् उस मात्रा से चौथाई भोजन प्रातः और चौथाई शाम को। इसी का नाम है आधा पेट भोजन करना। चौथाई उदरभाग जल के लिये रखना चाहिये। योगी कभी भी आकण्ठ भोजन न करे और सर्वथा अनाहार, उपवास न करे।)।।४६२।।

१. उपनिषदि २७ भयमित्यादि।
२. उपनिषदि १६, आद्यपादौ पुराणोक्तौ, ततः 'आकृष्य धारयेद् अग्निं शब्दमेवेति चिन्तयेत्।।'

प्राणायामं प्रणवतः कुर्याद् वाऽप्यविचक्षणः। एकद्वित्रिचतुःपञ्चमात्रावृद्ध्या शनैः शनैः।।४६४

खानिलानलवार्भूमीनामधीशत्वमीरितम्। एकमात्रादिके ह्यस्मिन् प्राणायामे विचक्षणैः।।४६५

अथ चतुर्थपादस्य औदर्याग्निना तादात्म्येन सह दृष्टं शब्दं प्रणवमेव आवर्तयेद् इत्यर्थकस्याऽर्थमाह– प्राणायाममिति। अविचक्षणो योगसिद्धान्तेषु अकुशलः अपि प्रणवमन्त्रेण षोडशादिवारं जप्तेन प्राणायामं पूरकादिरूपं कुर्याद् इति। कीदृशम् ? शनैः शनैः या एकादिसंख्यावच्छिन्नाया मात्राया वृद्धिः तयोपलक्षितम्। मात्रा नाम परिमाणम् 'मात्रा कर्णविभूषणे, अक्षरावयवे वृत्ते माने चाल्पे परिच्छदे' इति विश्वकोशात्। तच्च मानं तत्र तत्र नानाविधमुक्तं।

तथा हि–१) क्वचिद् द्वादशावृत्तनिमेषादिरूपम्ः तदुक्तं मार्कण्डेयपुराणे–'निमेषोन्मेषणे मात्रा तालो लघ्वक्षरं तथा। प्राणायामस्य संख्यार्थं स्मृतो द्वादशमात्रिकः।।' इति। द्वादशमात्रिको द्वादशगुणितो निमेषः, तालः करतलशब्दः, लघ्वक्षरोच्चारणं वा, एते पदार्थाः प्राणायामस्य संख्यापरिच्छेदः तदर्थत्वेन मात्रेत्युक्ता इति तदर्थः।२) अथ वा पूरकादिषु या प्रणवस्य षोडशादिवारावृत्तिः सैव मात्रापदेनोक्ता, वसिष्ठसंहितायां पूरकादौ 'षोडशमात्रया, चतुष्षष्टिमात्रया, द्वात्रिंशन्मात्रया' इति प्रयोगात्। ३) अथ वा योगियाज्ञवल्क्योक्तरूपा–'अङ्गुलिमोक्षत्रितयं जानोः परिमार्जनं वाऽपि। तालत्रयमपि तज्ज्ञा मात्रासंज्ञं प्रशंसन्ति।।' (८.१२) इति। अङ्गुलिमोक्षः छोटिकेति प्रसिद्धः। जानोः परिमार्जनं हस्तस्य तदुपरिवर्तनम्।। तत्र कुम्भके प्रणवसंख्यारूपमात्राया अवधिरपि दर्शितः 'प्रातर्मध्यन्दिने सायम् अर्धरात्रे च कुम्भकान्। शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत्।।' (नारायणदीपिकायाम् उद्धृतम्) इति। ४) माण्डूक्ये प्रश्ने च प्रणवस्य अवयवा अकारादयोऽर्धमात्रान्ताश्चत्वारो मात्रात्वेनोक्ताः। ५) नादबिन्दौ तु तासाम् अकारादिलक्षणानां मात्राणां प्रत्येकम् उदात्तादिना त्र्यवयवकत्वमभिप्रेत्य तासां द्वादशभेदा उक्ताः। इति।।

तथाऽपि प्रकृते ग्रन्थकृता प्रणवस्य पूरकादौ षोडशादिसंख्यस्य प्रत्येकोच्चारणे यस्तालत्रयावच्छिन्नः कालः सोऽत्र मात्रापदेन विवक्षितः। तस्य वृद्धिः द्वैगुण्यत्रैगुण्यादिरूपा। यद्यपि साम्प्रदायिकाः त्रिमात्रं प्रणवम् उच्चारयन्ति तथापि उच्चारणविशेषात् तस्य पञ्चमात्रत्वमपि सम्भवति इत्यर्थिकायास्तदुक्तेः दीपिकायाम्[1] दृश्यमानत्वाद् इति बोध्यम्।।४६४।।

एवमभ्यासकौशले सति 'पार्थिवः पञ्चमात्राणी'ति मन्त्रोक्तं[2] पञ्चभूतवशीकारहेतुं योगं कुर्याद् इति दर्शयति–खानिलेति द्वाभ्याम्। अस्मिन् प्रणवमन्त्रके प्राणायाम एकां मात्रामनुसन्धाय अनुष्ठिते सति आकाशतत्त्वस्य अधीशत्वम् आधिपत्यं योगिनो भवति। मात्राद्वयानुसन्धाने वायुतत्त्वस्य। तासां त्रयानुसन्धाने तेजस्तत्त्वस्य। चतुष्टयानुसन्धाने जलतत्त्वस्य। पञ्चकानुसन्धाने तु भूमितत्त्वस्य तदित्यर्थः। कीदृशमधीशत्वम्? विचक्षणैः अभ्यासकुशलैः लभ्यमिति शेषः। तथा च प्राणायामाभ्यासशैथिल्ये भूतजयोद्योगं न कुर्यादिति भावः।।४६५।।

प्राणायाम का अभ्यास प्रारंभ करने वाले योगी के लिये शुरुआत में प्राणायाम करने का मनीषी यह ढंग बताते हैं : दाँये हाथ के अंगूठे से दाँयें नथुने को बंद करे, बाँयें नथुने से धीरे-धीरे साँस खींचे, बाँयें नथुने को भी दाँयें हाथ की मध्यमा-अनामिका से बंद कर साँस कुछ देर भीतर ही रोके, फिर अंगूठा हटाकर दाँयें नथुने से धीरे-धीरे साँस बाहर छोड़े। फिर बाँये नथुने को पूर्ववत् बंद कर दाँयें से साँस खींचे, दोनों नथुने बंद कर साँस रोके और बाँयें से छोड़े।।४६३।।

योग के सिद्धांतों में प्रवीण न हो तो भी प्रणव से प्राणायाम करने चाहिये। प्रणव की मात्राओं को धीरे-धीरे एक से आरंभ कर पाँच तक बढ़ावे। (सोलह प्रणवावृत्ति से साँस भीतर ले तो चौसठ प्रणवावृत्ति तक भीतर रोके और

१. अमृतनादोपनिषदः शंकरानन्ददीपिकायां श्लो. ३० तमे।

२. 'पार्थिवः पञ्चमात्रः रूपाच्चतुर्मात्रस्तु वारुणः। आग्नेयस्तु त्रिमात्रो हि वायव्यस्तु द्विमात्रकः।। एकमात्रस्तथाकाशो ह्यमात्रं तु विचिन्तयेत्। सन्धिं कृत्वा तु मनसा चिन्तयेदात्मनात्मनि।।'३०-३१।।

प्रणवैर्व्युत्क्रमादेता मात्रा अभ्यासहेतवः। कथिता मात्रया हीने परोभ्यासः प्रकीर्तितः।।४६६
प्राणादींश्चिन्तयेद् वाऽयं प्राणायाम उपस्थिते। एवंप्रकारतो धर्माश्चित्तनैश्चल्यहेतवः।।४६७

तासु प्रणवमात्रासु संख्यानियामको ध्येयतत्त्वधर्मारोपोऽपि कर्तव्य इत्याह—प्रणवैरिति। व्युत्क्रमोऽध्यास आहार्यारोपरूपः तं प्रणवैः सह विधाय चिन्त्यमाना एताः शब्दादिविषयरूपा मात्राः तन्मात्रा आकाशादिक्रमेण एकादिसंख्याका अभ्यासस्य नूतनप्रयत्नस्य उपयोगिन्यो द्वारविधया कथिताः। एतासां चिन्तनस्य फलरूपोऽभ्यासस्तु निर्विशेषब्रह्मारोपगोचरो योऽर्द्धमात्रात्मकः प्रणवस्तद्रूप एवेत्यर्थः। तथा च पृथिवीतत्त्वधारणायां चिन्त्यमानत्वात् पार्थिवः प्रणवः पृथिवीनिष्ठगन्धादिपञ्चतन्मात्राभिः तादात्म्यापन्नो ध्येयः। जलधारणायां चतसृभिः मात्राभिः तादात्म्यापन्नः। एवं तैजस्यां तिसृभिः, वायवीयायां द्वाभ्याम्, आकाशीयायामेकया शब्दरूपया तथेति। एवं विधाभ्यासेन चित्तस्थैर्ये सति ब्रह्मरूपार्द्धमात्रात्मकप्रणवचिन्तने परं यत्नं कुर्याद् इति मन्त्रार्थः।।४६६।।

वक्ष्यमाणव्यापारादिविशिष्टानां प्राणापानादीनां ध्यानमपि चित्तशुद्धिद्वारा योगोपकारकमित्याह—प्राणादीनिति। अथ वा प्राणायाम उपस्थिते कर्तव्यतयोपक्रान्ते सति प्राणादीन् ध्यायेत्। ननु कः प्राणादिचिन्तनस्य उपयोगः ? इत्यत आह—एवमिति। एवंप्रकाराः प्राणचिन्तनसदृशा धर्माः चित्तस्य अशुद्धिपरिहारद्वारा नैश्चल्यप्रयोजका भवन्तीत्यर्थः।।४६७।।

बत्तीस प्रणवावृत्ति से शनैः शनैः छोड़े। प्रारंभ में आवृत्ति कम ही कर सकेगा किंतु अनुपात यही रखे। सोलह की संख्या पर पहुँचकर फिर प्रणव की मात्रा बढाये। प्रारंभ में एक मात्रा के प्रणव का प्रयोग करेगा। तीन ताली बजाने में लगने वाला समय एक मात्र होता है। पहले एक से बढ़ाकर दो मात्रा के प्रणव की आवृत्ति करे। रेचक आदि तीनों में दो ही मात्राओं के प्रणवों की आवृत्ति करे। फिर तीन मात्राओं के प्रणवों की आवृत्ति से रेचकादि करे, फिर चार और अंत में पाँच मात्राओं तक पहुँचे। यहाँ तक पहुँचना सहज नहीं, काफी प्रयाससापेक्ष है। प्राणायाम भी जानकार की देखरेख में ही करना चाहिये अन्यथा ग़लत अभ्यास नुकसान भी दे सकता है।) जो प्राणायाम के अभ्यास में कुशल होते हैं वे इससे महाभूतों पर जीत हासिल कर लेते हैं। एक मात्रा के प्रणव के अभ्यास से किये प्राणायाम प्रयोग द्वारा योगी आकाशतत्त्वपर आधिपत्य पा लेता है। इसी तरह दो-तीन-चार-पाँच मात्राओं से किया अभ्यास वायु-तेज-जल-पृथ्वी पर आधिपत्य प्रदान कर देता है। (भूतजय से अणिमा आदि सिद्धियाँ आ जाती हैं, महाभूतों का कार्य रोका जा सकता है अर्थात् उसे आग जलायेगी नहीं, पानी भिगायेगा नहीं आदि और शरीर कांतिमान् एवं बलशाली हो जाता है। मानसोल्लास वार्तिक ६.३४-८ में विस्तार से बताया है कि किस भूत पर जीत का क्या फल है।)।४६४-५।।

प्रणवों के साथ अध्यास कर सोची जाती ये शब्दादि तन्मात्राएँ भूतजयप्रद अभ्यास में उपयुक्त होती हैं। (तात्पर्य है कि जब पृथ्वीतत्त्व पर धारणा की जाये तब पाँच मात्राओं वाले प्रणव का प्रयोग बता ही चुके हैं, उन मात्राओं को पृथ्वी में उपलब्ध गंधादि पाँचों तन्मात्राओं से तादात्म्य वाला समझते हुए प्रयोग करना चाहिये। ऐसे ही जलधारणा में चार मात्रा वाले प्रणव की मात्राओं पर जल में उपलब्ध चार तन्मात्राओं का अध्यास करे, तेजोधारणा में तीन तन्मात्राओं, वायुधारणा में दो का और आकाशधारणा में केवल एक शब्दतन्मात्रा का आरोप करे। यद्यपि उक्त विविध फल इस अभ्यास से मिलते हैं तथापि इसका उद्देश्य है चित्त की स्थिरता जिससे ब्रह्मध्यान हो सके।) जिसमें कोई तन्मात्रा नहीं उस ब्रह्म पर ध्यान एकाग्र करने के लिये अत्यधिक अभ्यास करना चाहिये। ब्रह्म पर एकाग्र होते समय आधी मात्रा के प्रणव का प्रयोग रह जाता है जिस पर ब्रह्म का आरोप करना चाहिये, प्रणव को ही ब्रह्मरूप समझना चाहिये। इसमें अत्यधिक यत्न ज़रूरी है।।४६६।।

अथवा जब प्राणायाम प्रारंभ करे तब आगे बताये ढंग से प्राणादि का ही चिन्तन भी साथ ही करे ताकि वैसे धर्म चित्त में आयें जो अशुद्धि हटाकर उसे निश्चल बना दें।।४६७।। प्राणादि हरेक व्यापार पहले बता ही चुके हैं।

व्यापाराः कथितास्तेषामेकैकस्य वपुष्यथ। अन्तः सहस्रनाडीषु षट्त्रिंशदधिकं तथा ।।४६८
हकारश्च मकारश्च अकारः सविसर्गकौ। पञ्चानां हंसमन्त्रेऽस्मिन् लक्षं साष्टसहस्रकम् ।।४६९
त्रिंशदङ्गुलमानेन गुदादागलमान्तरम्। सुषिरं सर्ववायूनामेकतां प्रति कारणम् ।।४७०

'अशीतिः षट्शतं चे' त्यादिमन्त्रस्य[1] हंसोपनिषदनुसारिण्या योजनया सिद्धमर्थं दर्शयति—व्यापारा इति। तेषां प्राणादीनां प्रत्येकस्य ये व्यापाराः ते 'श्वासोच्छ्वासादिकं कर्म प्राणस्यैतत् प्रकीर्तितम्' इत्यादिना गर्भोपनिषद्व्याख्याने कथिता इति पुनर्न वक्तव्याः। अथ प्रकृते तेषां समस्तानामेको यो व्यापारः स उच्यत इत्यर्थः। देहस्य अन्तः षट्त्रिंशदधिकसहस्रसंख्याका नाड्यो भवन्ति, 'शतं चैके' त्यादिश्रुत्युक्तानां शतनाडीनां प्रत्येकं दशभेदसङ्कलने सहस्रभावस्य, शताधिकाया एकस्या इडापिङ्गलासुषुम्नारूपभेदानां प्रत्येकं द्वादशाङ्गुलप्राणावच्छेदकत्वेन षट्त्रिंशत्संख्यायाः तावदुपपत्तिः इति। तदुक्तं 'षट्त्रिंशदङ्गुलो हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः' इति। तासु सर्वासु नाडीषु चरतां पञ्चानां प्राणापानव्यानोदानसमानानां हंसमन्त्ररूप एको व्यापारः। अस्य मन्त्रस्य हकारादिपञ्चावयवकस्य संख्या यद्यपि षट्शताधिकैकविंशतिसहस्ररूपा प्रसिद्धा, तथापि औपाधिकभेदेन प्रक्रान्तश्रुत्युक्ता संख्या भवति। तथा हि—एतन्मन्त्ररूपव्यापारशालिनां प्राणादीनां सम्बन्धिन्या पञ्चसंख्यया एकविंशतिसहस्रगुणने पञ्चसहस्राधिकं लक्षं भवति। तया पञ्चसंख्यया षट्शतगुणने त्रीणि सहस्राणि भवन्ति। सङ्कलनेऽष्टसहस्राधिकं लक्षमिति। तथा नाडीनां संख्यया षट्त्रिंशदधिकसहस्ररूपया तन्निष्ठप्राणादीनां पञ्चसंख्याया गुणने पञ्चसहस्राणि अशीत्यधिकं शतं च भवति। सर्वसङ्कलने लक्षं त्रयोदशसहस्राणि अशीत्यधिकं शतं च भवतीत्याशयः।।४६८-९।।

'त्रिंशत्पर्वाङ्गुल' इति[2] मन्त्रस्यापि त्रिंशदङ्गुलिमितः प्राणस्य देशो देहस्य अन्तः अस्ति यत्र स्थितः प्राणो हंसमन्त्रारम्भरूपां प्रतिष्ठां गतो भवति। एतन्मन्त्रारम्भेण परमात्मसूचनरूपोत्कर्षादिव स एष बाह्योऽनात्मरूपोऽपि प्राणः प्राणपदेनोक्तः अस्य गोचर आश्रयस्तु स परमात्मैव 'प्राणस्य प्राणम्' (बृ. ४.४.१८) इति श्रुतेः—इति योजनया सिद्धमर्थमाह—त्रिंशदङ्गुलेति द्वाभ्याम्। गुदमारभ्य गलपर्यन्तम् आन्तरं छिद्रं ग्रीवायाम् उन्नतायां कृतायां त्रिंशदङ्गुलरूपमानावच्छिन्नं प्रसिद्धम्। तच्च सर्वेषां प्राणादिभेदभिन्नानाम् आन्तरवायूनां या एकता एककार्यारम्भकता तस्याः कारणं प्रयोजकमित्यर्थः।।४७०।। हंसेति। तत उक्तसुषिरस्य प्राणानामेकव्यापार-

अब बताते हैं कि वे सब मिलकर कौन-सा एक महत्त्वपूर्ण व्यापार करते हैं : शरीर के भीतर की एक हज़ार छत्तीस नाड़ियों में संचरण करते हुए प्राणादि पाँचों मिलकर 'हंस' मंत्र संपन्न करते हैं, यही उनका महत्त्वपूर्ण व्यापार है। इस मंत्र के पाँच अवयव हैं—ह्, म् (अनुसार), अ, स, विसर्ग। दिन-भर में कुल मिलाकर पाँचों की आवृत्ति एक लाख आठ हज़ार होती है। (स्मृतियों में बताया है कि इक्कीस हज़ार छह सौ साँस प्रतिदिन मनुष्यदेह में चलते हैं। हर श्वास में हंसमंत्र संपन्न होता है। मंत्र के पाँच अवयव हैं। अतः २१,६०० × ५ = १,०८,०००। प्रसंगवश जानना चाहिये कि जिसकी व्याख्या चल रही है उस अमृतनादोपनिषत् में एक लाख तेरह हज़ार एक सौ अस्सी की संख्या का उल्लेख है। उसे समझाने के लिये उसकी दीपिका में पुराणकार ने बताया है : इक्कीस हज़ार छह सौ बार पाँचों प्राणों के व्यापार होने से एक लाख आठ हज़ार की संख्या आती है। शरीर में एक हज़ार छत्तीस नाडियाँ हैं उनमें पाँचों प्राणों का व्यापार होता है अतः व्यापार संख्या है १,०३६ × ५ = ५,१८०। दोनों योग जोड़ लें तो उपनिषत्कथित संख्या आ जाती है १,०८,००० + ५१८० = १,१३,१८०। उसी उपनिषत् की नारायणदीपिका में किंचित् पाठान्तर के कारण संख्या में थोड़ा फ़र्क है। नाडीसंख्या यों समझनी चाहिये कि सौ प्रधान नाडियों के दस भेद हैं अतः एक हज़ार प्रधान नाडियाँ हैं और इडा-पिंगल-सुषुम्ना ये तीन नाडियाँ बारह अंगुल के प्राण को परिसीमित करती हैं अतः इन्हें छत्तीस गिन लिया गया

१. 'अशीतिश्च शतं चैव सहस्राणि त्रयोदश। लक्षश्चैकोऽपि निःश्वासो अहोरात्रप्रमाणतः।।' अमृत. ३३।। हंसोपनिषद्वाक्यमिदं विवक्षितम् 'षट्संख्ययाऽहोरात्रयोः एकविंशतिसहस्राणि षट्शतान्यधिकानि भवन्ति।' इति।
२. 'त्रिंशत्पार्थाङ्गुलः प्राणो यत्र प्राणः प्रतिष्ठितः। एष प्राण इति ख्यातो बाह्यः प्राणस्य गोचरः।।' अमृत. ३२।। पर्वेति नारायणपाठः।

हंसमन्त्रस्ततः सर्ववायुव्यापार ईरितः। प्राणस्तत्र प्रधानं स्यादन्ये स्युरुपसर्जनम्।।४७१
प्राण आद्यो हृदिस्थाने ह्यपानस्तु पुनर्गुदे। समानो नाभिदेशे स्यादुदानः कण्ठमाश्रितः।
व्यानः सर्वशरीरेषु ह्येवं सर्वे व्यवस्थिताः।।४७२
रक्तवर्णमणिप्रख्यः प्राणो वायुः प्रकीर्तितः। अपानः तस्य मध्ये स्याद् इन्द्रगोपसमप्रभः।।४७३
समानस्तस्य मध्ये स्याद् गोक्षीरस्फटिकप्रभः। आपाण्डुर उदानश्च व्यानो ह्यर्चिःसमप्रभः।।४७४
मनो यत्र स्थितं पुंसः प्राणस्तत्र प्रधावति। अतस्तं चिन्तयेन्नित्यं यो मार्गो देहनिर्गमे।।४७५

प्रयोजकत्वाद् हंसमन्त्रः सर्वेषां वायूनां व्यापारभूतः। तत्र व्यापारे प्रधानत्वात्मकप्रकर्षाद् नासादिसञ्चारी वायुः प्राण इत्युक्तः। इतरेऽपानादयस्तु उपसर्जनत्वाद् न प्राणपदेन अभिधानार्हा इत्यर्थः।।४७१।। प्राणादीनां स्थानानि रूपाणि च यथाश्रुति[1] दर्शयति—प्राणइति चतुर्भिः। पञ्चानां प्राणानां मध्ये प्रथमस्य प्राणस्य हृदयं स्थानम्। एवमग्रेऽपि।।४७२।। प्राणादीनां रूपाणि दर्शयन्नुत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वाधीनत्वमाह—रक्तेति द्वाभ्याम्। प्राणस्य रूपं रक्तमणिसमं ध्येयम्। तस्य प्राणस्य मध्ये स्थितः तदधीन इति यावत्, तथाभूतः अपानः इन्द्रगोपसमवर्णो ध्येयः। तस्य अपानस्य पूर्ववद् मध्ये स्थितः समानः क्षीरादिवत् स्निग्धश्वेतवर्णो ध्येयः। उदानः तु ईषत्पाण्डुरो ध्येयः। व्यानो वह्निशिखासमो ध्येयः। इति द्वयोरर्थः।।४७३-४।।

तत्र तत्र प्राणनयनोपायप्रतिपादकस्य 'येनासा'वित्यस्य[2] अर्थमाह—मन इति। ज्ञानशक्तिक्रियाशक्त्योः सहचारित्वं 'सह हि एते समुत्क्रामतः सह तिष्ठत' इति कौषीतकिश्रुतौ (३.३) प्रसिद्धम्। एवं सति मनो विज्ञानशक्तिरूपं यत्र स्थाने मूलाधारादौ तिष्ठति तत्र एव प्राणः तिष्ठति। अत इमं प्राणस्य मनःसाहचर्यरूपं स्वभावं विज्ञाय योगी तम् एव मार्गं ध्यायेद् येन देहान्निर्गम्य ब्रह्मलोकं गच्छेद् इत्यर्थः।।४७५।। तमेव मार्गं प्रदर्शयतो

है। यद्यपि शास्त्रोक्त संख्या विज्ञेय है तथापि निरन्तर होते जप पर एकाग्रता ही अभिप्रेत है अतः संख्या की उधेड़बुन में नहीं फँसना चाहिये।)।।४६८-९।। गुदा से गले तक का भीतरी छिद्र तीस अंगुल लंबा है और वही इस बात का प्रयोजक है कि पाँचों वायुएँ मिलकर हंसमंत्र-संपादनरूप एक कार्य करती हैं। इसी छिद्र के कारण हंसमंत्र सब अध्यात्म-वायुओं का व्यापार बनता है। इस व्यापार में प्रधान है नासिकादि-संचारी प्राण, अन्य अपानादि गौण हैं।।४७०-१।।

प्राणादि के स्थान और रूप इस प्रकार हैं :

प्राण	हृदय	लाल मणि
अपान	गुदा	इंद्रगोप की तरह (इंद्रगोप लाल रंग का कीट विशेष है)
समान	नाभि	अत्यंत चमकदार धवलिमा (स्फटिक-सी चमक, गोदुग्ध-सी सफेदी)
उदान	कण्ठ	थोड़ा पीला
व्यान	सारा शरीर	आग की लौ की तरह

।।४७२-४।।

पुरुष का विज्ञानशक्तिरूप मन मूलाधारादि जिस स्थान पर स्थिर होता है वहीं प्राण भी पहुँचकर स्थिर हो जाता है। इसलिये देह से निकलकर ब्रह्मलोक जाने के रास्ते का ही योगी को हमेशा चिंतन करना चाहिये।।४७५।।

१. 'प्राण..।।३४।। व्यानः सर्वेषु चाङ्गेषु आवृतस्तिष्ठते सदा। अथ वर्णास्तु पञ्चानां प्राणादीनामनुक्रमात्।।३५।। रक्त....मध्ये तु इन्द्रगोपस्य संनिभः।।३६।। ....मध्ये च गो.....प्रभः।।३७।।' इत्यमृतनादे विन्यासः।
२. 'येनासौ पश्यते मार्गं प्राणस्तेन हि गच्छति। अतस्तमभ्यसेन्नित्यं यन्मार्गगमनाय वै।।' अमृत. २५।।

पायोरुपरि नाभिः स्याद् नाभेरपि हृदम्बुजम्। हृदयं द्वारमुद्दिष्टं सुषुम्नामार्गमागतम्।।४७६

वायोर्मार्गः स विज्ञेयो मोक्षस्याऽपि महात्मनः। यो गतो दशमद्वारं सुषुम्ना विवराभिदम्।।४७७

अध्वनाऽनेन यो गच्छेदविरक्तोऽपि मानवः। ब्रह्मलोके विरक्तः सन् मुक्तो भवति वाऽत्र वा।।
प्राणादिचिन्तनादत्र मार्गमेतं ततो व्रजेत्।।४७८

प्राणायामं प्रणवतः कुर्वन् प्रणवचिन्तनम्। मात्रापादादिभेदेन कुर्वीतैवमथाऽपि वा।।४७९

'हृद्द्वारम्'[1] इत्यादेर्मन्त्रस्याऽर्थमाह—पायोरिति त्रिभिः। पायोः मूलाधाराद् उपरि नाभिचक्रं भवति। तस्याप्युपरि हृदयकमलं प्रसिद्धम्; तच्च हृदयाम्बुजं द्वारत्वेन उद्दिष्टम् उक्तं श्रुतौ यतः सुषुम्नारूपेण मार्गेण सम्बद्धम्। ननु सुषुम्ना कस्य मार्गः ? इत्याकांक्षायामाह—वायोरिति। सुषुम्नारूपो मार्गो वायोः प्राणस्य सम्बन्धी भवति। तथा महात्मनो योगिनो मोक्षस्य मोक्षार्थं प्रस्थितस्य मनसोऽपि सम्बन्धी भवति। कीदृशः सुषुम्नात्मको मार्गः ? यो दशमद्वारं प्रति गच्छन् प्रसिद्धः। कीदृशं दशमद्वारम् ? विवराभिदं विवरेण च सूर्यमण्डलगतेन मूर्द्धस्थितचन्द्रमण्डलगतेन बहिःस्थच्छिद्रेण अभिदा अभेदो यस्य तत्तथा। दशमद्वारेण उत्क्रान्तो हि रविमण्डलं भित्वा ब्रह्मलोकं गच्छतीति प्रसिद्धेः। इति द्वयोरर्थः।। एतेन—हृद्द्वारं मनसो द्वारभूतं वायोः द्वारभूतं च सुषुम्नारूपमूर्द्धद्वारमस्ति यतो मोक्षद्वारभूतं बिलं दशमद्वारं चन्द्रमण्डलरूपं सूर्यमण्डलच्छिद्रं च लभ्यते—इति श्रुतियोजना सूचिता।।४७६-७।। अनेन मार्गेण गच्छन्नविरक्तोऽपि ब्रह्मलोके गत्वा विरज्य मुच्यते। स विरागश्चेदत्र उत्क्रमणकाल एव मुच्यत इत्याह—अध्वनाऽनेनेति। पूर्वं यत् प्राणादीनां सव्यापाराणां चिन्तनमुक्तं तस्यापि इदमेव फलं यत् सुषुम्नात्मके मार्गे प्रवेश इति तृतीयदलार्थः।।४७८।।

[2]द्वितीयमन्त्रार्थमवतारयति—प्राणायाममिति। प्रणवेन प्राणायामकरणे मात्राणाम् अकारोकारमकारार्धमात्रात्मकानां, तथा पादानां क्रमेण तद्वाच्यानां वैश्वानरहिरण्यगर्भेश्वरतुरीयात्मकानाम् आदिपदग्राह्यस्य देवलोकादितादात्म्यस्य च चिन्तनं कुर्यात्। अथ वा एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण द्वितीयमन्त्रप्रदर्शितेन प्रणवचिन्तनं

मूलाधार (पायु) से ऊपर नाभिचक्र है, उससे ऊपर हृदयकमल है। सुषुम्नारूप मार्ग से सम्बद्ध होने के कारण हृदय को द्वार कहते हैं। सुषुम्ना ही प्राणवायु का रास्ता है। योगी का मन भी उसी रास्ते जाता है तब योगी को मोक्ष मिलता है। सुषुम्ना मार्ग शरीर के दसवें दरवाज़े तक गया है जिसे मूर्द्धा में स्थित विवर कहते हैं। मूर्द्धा में जो चंद्रमंडल है वहाँ से सूर्यमंडल पर्यन्त वह एक ही छिद्र है। (इस रास्ते निकला प्राणी सूर्यमंडल का भेदनकर ब्रह्मलोक जाता है अतः मानो सूर्य में छेद है। योगी मार्गविशेष से गति पाकर ही मोक्षलाभ करता है। इस संदर्भ में ब्रह्मसूत्र ४.२. अधि. ९-११ देख लेने चाहिये।)।।४७६-७।।

पूर्णतः विरक्त न हो सका मुमुक्षु साधक भी सावधानीपूर्वक प्रयासरत रहकर इस मार्ग से ब्रह्मलोक जा सकता है जहाँ वह विरक्त होकर मोक्ष पा जायेगा। प्राणादि की धारणाओं का मुख्य यही प्रयोजन है कि अभ्यासी सुषुम्ना मार्ग से प्रयाण करे।।४७८।।

प्रणव मंत्र से प्राणायाम करते हुए प्रणव का चिंतन भी करना चाहिये, मात्रा पाद आदि के तादात्म्य की भावना करनी चाहिये। (इसमें पंचीकरण नामक प्रकरण का अथवा माण्डूक्योपनिषत् का या 'त्रयीं तिस्रो' आदि शिवमहिम्नःस्तोत्रश्लोक का उपयोग कर लेना चाहिये।) अथवा अभी जो ढंग बताने जा रहे हैं उससे प्रणवचिंतन करे : ।।४७९।। ओंकार को रथ समझे। विष्णुनामक परमात्मा अन्तर्यामी होने से प्रेरक है अतः उसे सारथि समझे।

---

१. 'हृद्द्वारं वायुद्वारं च मूर्धद्वारं तथा परम्। मोक्षमार्गबिलं चैव सुषिरं मण्डलं विदुः।।' अमृत. २६।।
२. 'ओङ्काररथमारुह्य विष्णुं कृत्वाऽथ सारथिम्। ब्रह्मलोकपदान्वेषी रुद्राराधनतत्परः।।' अमृत. २।।

ओङ्कारोऽत्र रथः स्वस्य परमात्माऽथ सारथिः। विष्णुस्तेन स गन्तव्यो ब्रह्मलोकः परोऽथ वा।।४८०
रुद्रं संचिन्तयंस्तद्वत् पार्वतीशं सनातनम्। अहमस्मीति च ध्यानाद् विघ्नैर्नैवाऽभिभूयते।।४८१
प्राणायामेषु वायोः स्यात् सूक्ष्ममाकर्षणं त्विदम्। पदाङ्गुष्ठाग्रतः स्थूलमुक्तमत्र गुदाग्रतः।।४८२

योगफलम्

अनेन विधिना सम्यङ्नित्यमभ्यसतः क्रमात्। स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं दूरे विषयसम्भवम्।।४८३
मासैस्त्रिभिस्तथा देवांश्चतुर्भिरवलोकयेत्। पञ्चभिः सर्वमेवैतत् सुखं देवादिसम्भवम्।।४८४
हेयत्वेन विजानाति षष्ठे योगप्रसादतः। संन्यस्य सर्वकर्माणि विशुद्धहृदयः पुमान्।।४८५

कुर्यादित्यर्थः।।४७६।। 'एवं'-पदोक्तमभिनयति—ओङ्कार इति द्वाभ्याम्। प्रणवो रथत्वेन ध्येयः, अभीष्टलोकगति-साधनत्वात्। विष्णुसंज्ञः परमात्माऽन्तर्यामित्वेन प्रेरकत्वात् सारथित्वेन ध्येयः। ब्रह्मलोकः कार्यब्रह्मरूपः शुद्धब्रह्मरूपो वा गन्तव्यत्वेन ध्येयः इत्यर्थः।।४८०।। तत्र च भगवतो रुद्रस्य ध्यानं सुतरां विघ्नतूलप्रभंजनभूतमित्याह—रुद्रमिति। तच्च रुद्रध्यानमभेदेन कार्यम् इति तृतीयपादेन उक्तम्।।४८१।। एतावता 'पश्चाद् ध्यायेद्' इति मन्त्रस्य[1] प्रथमपादो व्याख्यातः, तत्र पूर्वोक्तपादेन रथादिभावस्य विवक्षितत्वात्।।

अथ द्वितीयपादे मन्त्रपदेन प्रणव उच्यते। क्रमपदेन मन्त्रोच्चारणप्रणवगोचरवक्ष्यमेदानु-सन्धानयोरानुपूर्वी कथितेत्यभिसन्धाय उत्तरार्द्धे स्थूलातिस्थूलसंज्ञायां मात्रायां प्राणाकर्षणमर्यादायाम् अभ्यस्यमानायां नाभेरूर्ध्वमेव वायोः आकर्षणस्य उपक्रमः प्रारम्भः कर्तव्य इत्यर्थं दर्शयन्; प्रतियोगिनिरूपणपूर्वकं स्थूलातिस्थूलमात्रामभिनयति—प्राणायामेष्विति द्वाभ्याम्। प्राणायामकाले पादाङ्गुष्ठाग्रमारभ्य वायोराकर्षणं सूक्ष्मं दुष्करत्वात्। गुदाग्राद् मूलाधारादारभ्य तदाकर्षणं स्थूलं तदपेक्षया सुकरत्वात्। नाभिचक्रमारभ्य तदाकर्षणं स्थूलातिस्थूलं भवति सर्वैः सुकरत्वात्, तदनुष्ठातॄणां बहुशो दर्शनाच्च। इति द्वयोरर्थः[2]।।४८२।। अथ 'अनेन'[3] इत्यादिमन्त्रद्वयप्रदर्शितं सिद्धिक्रमं दर्शयति—अनेन विधिनेति चतुर्भिः। उक्तविधिना योगाभ्यासं कुर्वतो योगिनो मासत्रये पूर्णे दूरस्थानामपि दिव्यविषयाणां ज्ञानं जायते। चतुर्भिः मासैस्तु देवानां दर्शनक्षमो भवति। पञ्चभिः मासैः सर्वेषु विषयजन्य सुखेषु हेयत्वेन विज्ञानरूपं वैराग्यं भवति। षष्ठे मासे तु योगप्रभावाच्छुद्धहृदयः सन्

ब्रह्मलोक को या परब्रह्म को गंतव्य समझे।।४८०।। इस योगाभ्यास में कोई विघ्न बाधा नहीं डाल सकता अगर साधक पार्वतीपति सनातन रुद्र का चिंतन करते हुए स्वयं को उनसे एक समझकर ध्यान करे। (ब्र. सू. ४.१.३ में स्पष्ट किया है कि ईश्वर को मैं समझकर उपासना करना ही प्रधान है।)।।४८१।।

प्राणायामों में यह जानना चाहिये कि पैरों के अंगूठे की नोक से वायु को आकृष्ट करना सूक्ष्म है, दुष्कर है। गुदाग्र अर्थात् मूलाधार से वायु का आकर्षण स्थूल है, पूर्वोक्त की अपेक्षा सुकर है। नाभिचक्र से वायु का आकर्षण स्थूलातिस्थूल है, सभी वैसा कर सकते हैं। अतः प्रारंभिक साधक नाभिचक्र से ही आकर्षण करे यह उचित है।।४८२।।

जो योगी उक्त ढंग से रोज़ समीचीन अभ्यास करता रहता है उसे तीन महीने में यह सिद्धि प्राप्त होती है कि दूरस्थ दिव्य विषयों का उसे स्वयमेव ज्ञान हो जाता है। चार महीने के अभ्यास से वह देवदर्शन पा लेता है। पाँच महीने का निरंतर अनुष्ठान उसे यह अनुभव करा देता है कि देवता आदि को भी जो मिल सकता है उस समेत यह सारा ही वैषयिक सुख त्यागने लायक ही है। छह महीने के योग के प्रभाव से उस पुरुष का हृदय विशुद्ध हो जाता है और

---

१. 'पश्चाद् ध्यायेत पूर्वोक्तं क्रमशो मन्त्रविद् बुधः। स्थूलातिस्थूलसंज्ञायां नाभेरूर्ध्वमुपक्रमः।।' अमृत. २१।।
२. एषां मूले श्लोकोऽधिको भवेत्।
३. 'अनने विधिना सम्यङ् नित्यमभ्यस्यतः क्रमात्। स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं त्रिभिर्मासैर्न संशयः।। चतुर्भिः पश्यते देवान् पञ्चभिर्वितताक्रमः। इच्छयाप्नोति कैवल्यं षष्ठे मासि न संशयः।।' अमृत. २८-२९।।

गुरुवाक्यात् सकृत् श्रुत्वा ह्यानन्दात्मानमीश्वरम्। साक्षात्करोति मनुजः संशयादिविवर्जितः।।
साक्षात्कृतेऽथ तस्मिन् स जीवन् कैवल्यमाप्नुयात्।।४८६
जीवन्मुक्तोऽत्र रूपाणि पश्यन्नपि न पश्यति। शृण्वन्नपि तथा शब्दान् न शृणोति कदाचन।।
शुष्के काष्ठे स्वदेहे वा न भेदमधिगच्छति।।४८७
अत्रोपायेषु सर्वेषु ज्ञातव्यमिदमेव हि। उपेयाधिगतौ प्रोक्ता उपायाः पण्डितैः सदा।।४८८
उपेयप्राप्तितो जह्यादुपायं क्लेशकारणम्। नावं यथा परे पारे गत्वा पान्थः परित्यजेत्।।४८९

अथ हंसोपनिषद्व्याख्या

एतत् त्वमृतनादोक्तं कथितं योगसाधनम्। हंसोक्तमिदमद्य त्वं शृणु सम्यङ्मयेरितम्।।४९०

मूलाधारादिस्वरूपम्

गुदादारभ्य नेत्रान्तं चक्रषट्कं वपुःस्थितम्। आधारचक्रं देहस्य मध्ये यत् पूर्वमीरितम्।।४९१

सर्वकर्माभिमानं परित्यज्य गुरोः सकृत् श्रुताद् वेदान्तवाक्याद् आत्मसाक्षात्कारं लभते ततो जीवन् मुक्तो भवति। इति चतुर्णामर्थः।।४८३-६।।

'अन्धवद्'[1] इत्यादिमन्त्रोक्तानि जीवन्मुक्तलक्षणानि आह—जीवन्मुक्त इति। जीवन् मुक्तः सर्वत्राऽधिष्ठानात्मतत्त्वं पश्यन् सन्निन्द्रियैः उपस्थापितमपि विषयजातं न पश्यति यतो देहोऽपि तेन शुष्ककाष्ठवद् उपेक्ष्यत इत्यर्थः।।४८७।।

एवं फलसिद्धौ नानाशास्त्रप्रतिपादितं साधनजातं परित्यजेद् इत्याकारं प्रथममन्त्रार्थमाह[2]—अत्रेति द्वाभ्याम्। अत्र फलप्राप्तौ सत्यां सर्वेषूपायेषु इदं वक्ष्यमाणविधं हेयत्वं ज्ञातव्यम्। तां विधामभिनयति—उपेयेति। उपेयस्य फलस्य अधिगतिः प्राप्तिः तदर्थमेव उपाया विधीयन्ते। उपेयलाभे तु उपायानां परित्याग एव युक्तः, यथा नदीं तीर्णा नावं परित्यजन्त एव दृष्टाः। इति द्वयोरर्थः।।४८८-९।।

अमृतनादोनिषदर्थमुपसंहरन् हंसोपनिषदर्थप्रदर्शनं प्रतिजानीते—एतत्त्विति।।४९०।।

तत्र वक्ष्यमाणोपयोगाय[3] मूलाधारादिचक्राणां स्वरूपाण्यागमप्रसिद्धानि दर्शयति—गुदादारभ्येति नवभिः। नेत्रपदेन भ्रूमध्यं लक्ष्यते। गुदोपान्तदेशादारभ्य भ्रूमध्यं यावत् षट् चक्राणि देहे प्रोक्तानि। तेषु प्रथमम् आधारचक्रं

वह सारे कर्म छोड़कर, कर्माभिमान त्याग कर गुरु की शरण लेता है और उनके वाक्य से आनंदात्मा ईश्वर का एक बार श्रवण करते ही उसे निःसंशय साक्षात्कार हो जाता है। परमात्मा का साक्षात्कार करते ही वह जीवन्मुक्ति पा लेता है।।४८३-६।। जीवन्मुक्त व्यवहारभूमि में रूप देखता हुआ लगने पर भी उन्हें देखता नहीं, सर्वत्र अधिष्ठान आत्मतत्त्व ही देखता है। शब्दादि अन्य विषय भी वह आत्मव्यतिरेकेण कभी ग्रहण नहीं करता। सूखी लकड़ी और अपने शरीर में उसे कोई भेद नहीं प्रतीत होता।।४८७।।

फललाभ हो जाने पर सभी उपायों की हेयता समझ लेनी चाहिये क्योंकि पंडितों ने हमेशा माना है कि उपाय-कथन उपेयप्राप्ति के लिये ही होता है। उपेय पाकर उपाय छोड़ देने चाहिये क्योंकि स्वरूपतः उपाय क्लेशकर होते हैं। लोक में भी परले किनारे पहुँचकर नाव छोड़ ही दी जाती है।।४८८-९।।

१. 'अन्धवत्पश्य रूपाणि शब्दं बधिरवच्छृणु। काष्ठवत् पश्य वै देहं प्रशान्तस्येति लक्षणम्।।' अमृत. १४।।
२. 'शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः। परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत्।।' अमृत. १।।
३. तत्र हंसोपनिषदि 'गुदमवष्टभ्याऽऽधाराद्वायुमुत्थाप्य स्वाधिष्ठानं त्रिः प्रदक्षिणी कृत्य मणिपूरकं गत्वाऽनाहतमतिक्रम्य विशुद्धौ प्राणान् निरुध्य आज्ञामनुध्यायन् ब्रह्मरन्ध्रं ध्यायंस्त्रिमात्रोऽहमित्येवं सर्वदा ध्यायन्नथो नादमाधाराद् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं शुद्धस्फटिकसंकाशः स वै ब्रह्म परमात्मेत्युच्यते।।'१।। अस्योपयोगः श्लो. ५१६ आदौ।

चतुर्दलमलक्ताभं वादिवर्णचतुष्टयात्। विराजितं कुण्डलिनीभुजङ्गीपुच्छसंश्रयम्।।४६२
स्वाधिष्ठानं तु तस्य स्यादुपरिष्टादवस्थितम्। षड्दलं पीतवर्णं च तेजसां राशिमूर्जितम्।।
यरलाबभमास्तत्र षड् वर्णा दलसंस्थिताः।।४६३
मणिपूरकसंज्ञं स्याच्चक्रं तस्योपरि स्थितम्। इन्द्रनीलसमं सूर्यचन्द्रतेजोविराजितम्।।४६४
डढणैस्तथदैस्तद्वद् धनपैः फेन चान्वितम्। वर्णैर्दशदलं तस्य स्यादुपर्यपरं पुनः।।४६५
चक्रं यद् द्वादशदलम् अनाहतमितीरितम्। वर्णैः काद्यैश्च ठान्तैस्तैर्युक्तं द्वादशभिस्तथा।।
गोक्षीरसदृशं सम्यङ्मनोनयननन्दनम्।।४६६
विशुद्धं षोडशदलं कण्ठदेशे व्यवस्थितम्। स्वरैः षोडशभिर्युक्तं चित्रवर्णमुदीरितम्।।४६७

बोध्यं यत् पूर्वं देहमध्यत्वेनोक्तम्। कीदृशम्? दलचतुष्टयवत्; अलक्ताभं लाक्षारससमवर्णम्। पुनः कीदृशम्? वकारेण आदिपदग्राह्यैः श-ष-सैश्च प्रदक्षिणक्रमेण दलचतुष्टये वर्तमानैः विराजितम्। कुण्डलिनीरूपाया भुजङ्ग्याः पुच्छेन सम्बद्धं च। इति द्वयोरर्थः।। अत्र मूषकवाहनदेवतासम्बद्धत्वं वर्णानां सबिन्दुकत्वं च बोध्यम् एवमग्रेऽपि।।४६१-२।।

तदुपरि लिङ्गमूले प्रजापत्यधिष्ठितस्य स्वाधिष्ठानाख्यचक्रस्य स्वरूपमाह—स्वाधिष्ठानमिति। यवर्गस्याद्यास्त्रयः पवर्गस्य अन्त्याश्च त्रयः प्रादक्षिण्येन अस्य षट्सु दलेषु स्थिताः। स्फुटमन्यत्।।४६३।।

तदुपरि नाभौ मणिपूरकाख्यं चक्रमिन्द्रनीलमणिवर्णम् अतितेजस्वि विष्णुदैवतं डकारमारभ्य फकारान्तैः दशभिर्वर्णैः विराजितदशदलं भवतीत्याह—मणिपूरकेति द्वाभ्याम्। द्वितीयस्य चतुर्थपादोऽग्रिमान्वयी।।४६४-५।।

तस्य उपरि हृदयेऽनाहताख्यं श्वेतवर्णं चक्रं द्वादशदलं रुद्रदैवतं ककारादिठकारान्तैः द्वादशवर्णैः प्रादक्षिण्येन विराजितदलं च बोध्यमित्याह—चक्रमिति।।४६६।।

तदुपरि कण्ठदेशे विशुद्धाख्यं जीवस्थानं चित्रवर्णं षोडशदलं चक्रं भवति यस्य दलेषु क्रमेण षोडश स्वरा अकाराद्या अःकारान्ताः प्रतिष्ठिता इत्याह—विशुद्धमिति।।४६७।।

यहाँ तक (श्लो. ४३९-८९) अमृतनादोपनिषत् में बताये योगसाधनों का वर्णन किया। अब हंसोपनिषत् का प्रतिपाद्य विषय बताता हूँ, सही तरह समझो।।४६०।।

गुदा से भ्रूमध्य तक शरीर में छह चक्र हैं। देह के मध्य में आधारचक्र है यह पहले बता चुके हैं। अब इन छहों का विन्यास स्पष्ट कर देते हैं :

	चक्रनाम	स्थान	दलसंख्या	रंग	दलों पर अक्षर	देवता
१.	आधार (मूलाधार)	देहमध्य, गुदा के पास	४	पिघली लाख-सा	वं शं षं सं (प्रदक्षिणाक्रम से)	गणेश
२.	स्वाधिष्ठान	उपस्थ के पास	६	तेजस्वी पीत वर्ण	यं रं लं बं भं मं	प्रजापति
३.	मणिपूरक	नाभि	१०	इंद्रनील मणि जैसा, सूर्य-चंद्र के तेज वाला	डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं	विष्णु
४.	अनाहत	हृदय	१२	गोदुग्ध जैसा श्वेत तथा सुन्दर	कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं	रुद्र
५.	विशुद्ध	कण्ठ	१६	चित्रवर्ण (सब रंग मिले हुए)	अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अं अः	जीव
६.	आज्ञा	भ्रूमध्य	२	हलका लाल दोनों दल सूर्य-चंद्र की आभा वाले हैं	हं क्षं	परमात्मा

नेत्रयुग्मे तु विज्ञेयमारक्तं द्विदलं सदा। हक्षवर्णद्वयस्थानं सूर्यसोमद्वयात्मकम्।।४९८

चन्द्रगर्भं शिरस्यस्ति सहस्रदलमत्र यत्। पद्मं तस्य हि सम्प्रोक्ता शिरोद्वारं तु कर्णिका।।
चक्रेषु षट्सु सुहितं हंसो जीव इतीरितम्।।४९९

उपनिषद्विवरणम्

वायुना सहितस्तिष्ठन् हृदयाब्जेऽपि सर्वदा। जीवो हंस इति श्वाससहस्राण्येकविंशतिम्।।५००

मुञ्चत्यहर्निशं सर्वः सर्वदा षट्शताधिकम्। यतस्ततोऽत्र हंसोऽयं कथ्यते वेदवादिभिः।।५०१

भ्रूमध्य आज्ञासंज्ञं द्विदलम् ईषद्रक्तं परमात्मस्थानभूतं चक्रं भवति यस्य दलयोः सूर्यचन्द्राभयोः हकारक्षकारौ स्थितावित्याह—नेत्रेति।।४९८।।

सहस्रदलं वर्णयति—चन्द्रेति। अत्र देहे शिरसि यत् सहस्रदलं पद्ममस्ति, कीदृशम्? चन्द्रगर्भं चन्द्रोऽमृतस्रावी गर्भे यस्य तत्तथा; तस्य कर्णिका दशमद्वारं सम्बद्धा बोध्या। तथा तस्य सुहितं—भावप्रधानो निर्देशः—तदीयेनाऽमृतेन कृता तृप्तिरिति यावत्, सा षट्सु चक्रेषु बोध्या। जीवः तु तस्य पद्मस्य हंसत्वेन बोध्यः, तन्मकरन्दतृप्तत्वादि-साधर्म्यात्; इतीरितं प्रोक्तमागमेष्वित्यर्थः।।४९९।।

अथार्थक्रमेण प्रकृतोपनिषदर्थं सप्तविंशतिश्लोकैः दर्शयंस्तत्र हंस इत्याकारस्य पुनः पुनः क्रियमाणस्य रुतस्याऽपि जीवस्य हंसत्वे लिङ्गत्वं पक्षिनाम्नां प्रायशो रुतानुसारितायाः प्रसिद्धेरिति सूचयन्नाह—वायुनेति द्वाभ्याम्। यतो जीवः सर्वजातीयो हृदयाब्जेऽपिशब्दादाधारचक्रादिषु वायुना प्राणेन सहितः तिष्ठन् सन् 'हकारेण बहिर्याति सकारेणाविशेत् पुनः' इत्युक्तविधया हंस इति मन्त्रघटितान् षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्यान्[1] श्वासान् मुञ्चति सृजति ततोऽयं हंस इत्युक्तः। इति द्वयोः सम्बन्धः।।५००-१।।

(योगशास्त्रानुसारी वर्णन और तंत्रशास्त्रानुसारी वर्णन में अंतर है। तत्तच्छास्त्र के अन्तर्गत भी यत्किंचित् मतभेद हैं। उसके ऊहापोह से लाभ नहीं। किसी भी एक वर्णन का अनुसरण कर धारणासहित प्राणायाम से चित्त एकाग्र कर परमात्मसाक्षात्कार कर लेना चाहिये। इस प्रयोजन को सभी प्रक्रियाएँ संपन्न करेंगी।)।।४९१-८।।

इस मानव देह के अन्तर्गत सिर में हज़ार दलों का ऐसा पद्म है (संहस्रार) जिसके गर्भ में अमृत बहाने वाला चंद्र है। सिर में होने वाला दसवाँ द्वार उस पद्म की कर्णिका (बीजकोश) से सम्बद्ध है। इसीके अमृत से छहों चक्रों में तृप्ति होती है। उस पद्म का हंस जीव है, यही उसके मकरंद से तृप्त होता है।।४९९।।

केवल उक्त कारण से ही नहीं, 'हंस'—यह ध्वनि करने से भी जीव हंस है : सभी जीव प्राणवायु सहित हृदय कमल आदि चक्रों में निवास करते हुए सर्वदा श्वास-प्रश्वास की क्रिया करता है जिससे 'हंस' यह मंत्र गूँजता रहता है। एक अहोरात्र में इक्कीस हज़ार छह सौ प्राण चलते हैं अतः इतनी बार 'हंस' ध्वनि करने के कारण वेदवादी जीव को ही हंस कह देते हैं।।५००-१।। जीव का 'हंस' यह नाम व्यर्थ न हो इसलिये वेदसम्बंधी वाद में रति वाले द्विज इसके वैसे रूप की भी कल्पना करते हैं।।५०२।। पंडितों ने जीवरूप हंस के पंख अग्नि और सोम बताये हैं। अग्नि भोक्ता है, सोम भोग्य है, भोक्ता-भोग्य को त्वंपदार्थ के दो पक्ष समझना चाहिये। ॐकार उसका सिर है तथा बिन्दु उसका हृदय है। (विंदु अर्थात् व्यक्तक्रिया की हेतुभूत सूक्ष्म दशा।)।।५०३।।

---

१. 'षट्संख्ययाऽहोरात्रयोरेकविंशतिसहस्राणि षट्शतान्यधिकानि भवन्ति।' हंस. २।

हंस इत्यस्य नाम्नः स्याद् वैयर्थ्यं न यथा तथा। कल्पयन्त्यस्य तद्रूपं वेदवादरता द्विजाः।।५०२
अग्नीषोमौ हि कथितौ पक्षौ हंसस्य पण्डितैः। ओङ्कारः शिर उद्दिष्टमुरो बिन्दुश्च कीर्तितम्।।५०३
त्रिनेत्रस्येव वदनं त्रिनेत्रात्मकमेव तत्। चरणौ कथितौ रुद्रो रुद्राणी च महात्मभिः।।५०४
एषोऽसौ परमो हंसो निर्गुणः सगुणोऽपि च। वामदक्षिणतो योऽयमग्नीषोमात्मकः स्मृतः।।
भानुकोटिप्रतीकाशो देहं व्याप्य व्यवस्थितः।।५०५

तस्य ध्यानमवतारयति—हंस इत्यस्येति। हंस इति नाम्नोऽन्वर्थत्वाय पक्षिरूपमेनं वैदिकाः प्रवदन्तीत्यर्थः।।५०२।। श्रौतं[1] तद्रूपमभिनयति—अग्नीषोमाविति त्रिभिः। हंसत्वेन कल्पितस्य त्वंपदार्थभूतस्य आत्मनो अग्नीषोमौ भोक्तृभोग्यलक्षणौ पक्षत्वेन ध्येयौ। प्रणवस्तु शिरस्त्वेन। तथा बिन्दुः मूलशक्तेः क्रियाशक्तिप्रधानपरिणामविशेषः। तदुक्तमागमे-'सा तत्त्वभूता चिन्मात्रज्ज्योतिषः सन्निधेस्तथा। विचिकीर्षुर्घनीभूता क्वचिदभ्येति बिन्दुताम्।।' इति। तद्रूपम् उरो हृदयं हंसस्य ध्येयमित्यर्थः।।५०३।। त्रिनेत्रस्येवेति। यथा त्रिनेत्रस्य शम्भोः वदनं सूर्याग्निसोमात्मकनेत्रत्रयशालि तथाऽस्यापीत्यर्थः। अस्यैकश्चरणो रुद्रमयः, अपरो रुद्राणीमयो ध्येय इत्यर्थः।।५०४।।

अस्य परमहंसपदेनोक्त[2] तत्पदार्थरूपतामाह—एष इति। एष यस्त्वंपदार्थरूप उक्तः सः असौ परोक्षप्रभावो हंसः परमो ब्रह्मरूपो भवति, वृत्त्यारूढाऽद्वितीयरूपेण सविलासाऽज्ञानं हन्तीति हंस इति व्युत्पत्तेः। कीदृशः ? निरुपाधिकदृष्ट्या निर्गुणः सोपाधिकदृष्ट्या तु सगुणः। तत्र सगुणमस्य रूपं वामभागेऽग्न्यात्मकम्, दक्षिणभागे सोमात्मकम् इत्यर्थः। पुनः कीदृशः ? असंख्यातरवितुल्यतेजाः। एतं देहं नखाग्रपर्यन्तम् अभिव्याप्य स्थित इत्यर्थः।।५०५।।

इस हंस का मुख शंभुमुख की तरह सूर्य-अग्नि-चंद्र रूप तीन नेत्रों वाला है। महात्माओं ने कहा है कि रुद्र-रुद्राणी इसके चरण हैं।।५०४।।

इस हंस को ईश्वर से भिन्न नहीं समझ सकते, यही परमहंस है, तत्पदार्थ भी इसीका रूप है : जो हमें अपरोक्ष तत्पदार्थ है वही परोक्ष प्रभाव वाला ब्रह्मरूप हंस भी है। उस ब्रह्मरूप को हंस इसलिये कहते हैं कि अद्वैताकार वृत्ति पर आरूढ होकर वह सविलास अज्ञान का हनन कर डालता है ! उपाधिसापेक्ष वही सर्वगुणसंपन्न है, उपाधि-निरपेक्ष वह निर्गुण है। सगुणरूप में अग्नि-सोम उसके वाम-दक्षिण भाग हैं ही। असंख्या सूर्यों-सा उसका तेज है। इस पूरे शरीर को व्याप्त कर वह हंस इसमें मौजूद है।।५०५।। शरीर में सर्वत्र होने पर भी इसके विशिष्ट कार्य इसीसे संपन्न होते हैं कि यह मन से विशिष्ट है और उस रूप में यह हृदयकमल के दलों पर घूमता रहता है जिससे इसके आठ प्रकार के व्यापार संभव हो जाते हैं :

हंस के स्थानभूत हृदय कमल के दल		वृत्ति
१.	पूर्व	पुण्य बुद्धि
२.	आग्नेय	निद्रा, आलस्य आदि
३.	दक्षिण	क्रूरता की बुद्धि

१. 'अग्नीषोमौ पक्षौ, ओङ्कारः शिरो, बिन्दुस्त्रिनेत्रमुखो, रुद्रो रुद्राणी चरणौ, बाहू कालश्चाग्निश्चोभे पार्श्वे भवतः पश्यत्यनाकारं च शिश्नोभे पार्श्वे भवतः।।' हंस. ३। पुराणकृतामु उपनिषत्पाठे कश्चन भेदः स्यात्। तद्दीपिकामूलतयाऽऽनन्दाश्रममुद्रित इह दर्शितः।

२. 'एषोऽसौ परमहंसो भानुकोटिप्रतीकाशो येनेदं व्याप्तम्' हंस. ४।

हंसस्य वृत्तयः

अस्मिन् देहे भवेत्तस्य वृत्तिरष्टविधा सदा। स्वप्ने जागरणे यस्याः पुण्यबुद्ध्यादिसम्भवः ।।५०६

हार्दं पद्मं यदेतत् स्याद् अष्टदिग्दलशोभितम्। तस्य पूर्वे दले स्थित्वा पुण्यबुद्धिः प्रजायते ।।५०७

आग्नेये च तथैव स्युर्निद्रालस्यादयो गुणाः। याम्ये क्रौर्यमतिस्तद्वत् पापे नैर्ऋतदिग्गते ।।५०८

क्रीडारतिर्वारुणे स्याद् वायव्ये गमने रतिः। रतौ प्रीतिर्भवेत् सौम्ये दाने त्वीशानकोणगे ।।५०९

कर्णिकोपान्तगो हंसो हंसो वैराग्यमिच्छति। केसराणि यदा गच्छेत् तदा जागरणं स्मृतम् ।।५१०

कर्णिकायां स्थितो हंसः स्वप्नमेति न संशयः। कर्णिकायां हि रक्तस्य पिण्डो यो लोहितोऽस्ति हि।। तत्र स्थितस्य सुप्तिः स्याद्धंसस्य परमात्मनः ।।५११

अस्मिन्निति। तस्य हंसस्य अत्र देहे सर्वत्र व्याप्तस्याऽपि मनोविशिष्टस्य विशेषतो वृत्तिः कार्यविशेषारम्भप्रयोजकः सम्बन्धो हृत्कमलदलरूपस्थानभेदाद् अष्टधा[1] भवति यस्याः प्रोक्तवृत्तेः प्रभावात् स्वप्नजागरणयोः पुण्यबुद्ध्यादीनां कार्याणाम् उत्पत्तिः भवतीत्यर्थः।।५०६।। एतदेव यथाश्रुति स्फुटयति—हार्दमित्यादिना। हृत्पद्मस्य अष्टदिगवच्छिन्नानि अष्टौ पत्राणि। तेषु पूर्वदले स्थितिः पुण्यगोचरबुद्धिप्रयोजिका। अग्निकोणगतदले स्थितिः निद्रादिप्रयोजिका। याम्ये दक्षिणे दले सा क्रौर्यशालिमतेः। नैर्ऋते तु पापगोचरमतेः। इति द्वयोरर्थः।।५०७-८।। क्रीडेति। क्रीडायां विहारे रतिः प्रीतिः पश्चिमदले स्थितस्य भवति। रतौ स्त्रीसंसर्गे सौम्य उत्तरदले। स्फुटमन्यत्।।५०९।। कर्णिकोपान्तेति। कर्णिकाया उपान्तेषु दलाष्टकान्तरालदेशेषु श्रुतौ 'मध्य'-पदोक्तेषु अयं गतः सन् हंसो हंसो भवति हंसस्य यत् कर्म क्षीरनीरविभागायमानं सदसद्विवेकरूपं तत् करोतीति यावत्, यतः तत्र गतो वैराग्यं लोकद्वयविषयवैतृष्ण्यरूपं गच्छतीत्यर्थः। कर्णिकायाः परितो वर्तमानकेसरेषु स्थितस्य जागरावस्था भवतीत्यर्थः।।५१०।। कर्णिकायामिति। कर्णिकायां धत्तूरपुष्पाकारायां यो मण्डलाकारो भागस्तत्र स्थितस्य स्वप्नावस्था वासनामयविषयोपलब्धिरूपा भवति। यस्तु हृत्पद्मकर्णिकामध्यगतो लोहितो रक्तवर्णो रक्तस्य रुधिरस्य पिण्डः अस्ति तत्र गतस्य हंसस्य सुषुप्त्यवस्था भवतीत्यर्थः।।५११।।

४.	नैर्ऋत्य	पाप-बुद्धि
५.	पश्चिम	क्रीडा में रति
६.	वायव्य	गमन में रति
७.	उत्तर	स्त्रीसंसर्ग में रति
८.	ईशान	दान में रति
९.	कर्णिका के पास	वैराग्य (यहीं वस्तुतः हंस बनता है क्योंकि सदसत् का विवेक कर विरक्त होता है।)
१०.	केसर	जाग्रत् अवस्था
११.	कर्णिका में धतूरे के फूल जैसा गोल भाग	स्वप्न अवस्था
१२.	कर्णिका का लाल पिण्ड	सुषुप्ति

।।५०६-११।।

१. 'तस्याष्टधा वृत्तिर्भवति। पूर्वदले पुण्ये मतिः आग्नेये निद्रालस्यादयो भवन्ति। यामे क्रौर्ये मतिः। नैर्ऋते पापे मनीषा। वारुण्यां क्रीडा। वायव्ये गमनादौ बुद्धिः। सौम्ये रतिप्रीतिः। ईशाने द्रव्यादानम्।।४।। मध्ये वैराग्यं, केसरे जाग्रदवस्था, कर्णिकायां स्वप्नं, लिंगे सुषुप्तिः; पद्मत्यागे तुरीयम्। यदा हंसो नादे विलीनो भवति तदा तुरीयातीतमुन्मना जपोपसंहार इत्यभिधीयते।' हंस.।

अहं ब्रह्मेति विज्ञानाद्धार्दं पद्मं यदा त्यजेत्। चतुर्थी सा तदाऽवस्था पूर्वाऽपेक्षा प्रजायते।।५१२
चतुर्थ्यां हि भवेद् वेद्यमवस्थायां समाधितः। द्वैविध्यात् स सविज्ञानो निर्विज्ञानश्च जायते।।
सविज्ञानस्तुरीयाख्यो निर्विज्ञानः पुमान् स्वयम्।।५१३
विलीयते यदा सर्वो ध्यातृध्यानादिलक्षणः। भेदो नादाऽभिधे नित्ये परब्रह्मणि निर्द्वये।।५१४
निर्विज्ञानस्तदा सोऽयं तुरीयातीतलक्षणः। उच्यते यो विरक्तानां मध्ये कस्याऽपि सम्भवेत्।।५१५

हंसोक्तो योगः

एवं व्यवस्थिते हंसे सचक्रेऽस्मिन् वपुष्यथ। कल्पयेद् व्यापकं हंसं ध्येयं नादं तथैव च।।
आधाराद् ब्रह्मरन्ध्रान्तं स्थितं श्वेततमं सदा।।५१६

यदा तु हृत्पद्मस्य अविदुषां परिच्छेदम् 'अहमिहैवाऽस्मि जानान' इत्यभिमानरूपं कुर्वतः परित्यागं 'ब्रह्माऽस्मीति' परिपूर्णदृष्टिलक्षणं करोति तदा पूर्वोक्तजाग्रदाद्यवस्थात्रयमपेक्ष्य तुरीयत्वेन अभिधानयोग्या काचिद् अवस्था भवतीत्याह—अहं ब्रह्मेति।।५१२।।तुरीयातीताख्यां पञ्चमीमवस्थां स्फुटयंश्चतुर्थ्यास्ततो विशेषमाह—चतुर्थ्यां हीति। या चतुर्थी अवस्था प्रोक्ता तस्यां हि निश्चयेन वेद्यं भवेत्, वेत्तुः पृथगुपलभ्येत; यतः स समाधितः सविज्ञानः त्रिपुटीभेदज्ञानवांस्तथा निर्विज्ञानो विलीनत्रिपुटीभेदश्च भवति। तत्र हेतुः—समाधेः संप्रज्ञाताऽसंप्रज्ञातभेदेन द्वैविध्यमिति। तत्र सम्प्रज्ञातसमाधिना 'ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहङ्कृतिं विना सम्प्रज्ञातसमाधिः स्याद् ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः।।' (मुक्तिको. २.५३) इत्युक्तलक्षणेन यदा सविज्ञानो विद्यमानब्रह्माकारवृत्तिको भवेत्तदा तुरीयावस्थ उच्यते योगीत्यर्थः।।५१३।। यदा तु सा वृत्तिरपि लीयते, उक्तवृत्तेरपि विलयेन असंप्रज्ञाताख्यः समाधिर्भवति, तदा निर्विज्ञानो योगी तुरीयातीत उच्यत इत्याह—विलीयत इति द्वाभ्याम्। यदा त्रिपुटीरूपो भेदो ब्रह्मणि विलीयते तदा विद्वांस्तुरीयातीत उच्यत इत्यन्वयः। कीदृशे ब्रह्मणि ? नादाऽभिधे नादोऽभिधा यस्य तत्तथा तस्मिन्। प्रणवस्य हि अकारोकारमकार बिन्दुनादाः पञ्चावयवाः तेष्वाद्यास्त्रयो विश्वतैजसप्राज्ञानां वाचकाः, अन्त्यावर्धमात्रात्मकौ ब्रह्मणो वाचकौ, तत्रापि बिन्दुः सविशेषब्रह्मणो वाचकः, नादस्तु निर्विशेषस्येति भावः। तुरीयातीतभावस्य दौर्लभ्यमाह—य इति। यः तुरीयातीताख्यो भावः स विरक्तानां कस्याऽपि प्रादुर्भवतीति। तदुक्तं गीतासु 'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' (७.३) इति।।५१४-५।।

एवं वस्तुवृत्तमभिधाय अथ तुरीयातीतभावप्राप्त्युपायभूतं योगमभिनयति—एवमिति। एवम् उक्तविधयाऽस्मिन् शरीरे सह चक्रैः हंसस्वरूपे व्यवस्थिते विज्ञाते सति योगी हंसं ध्यातुरात्मनः स्वरूपं चिन्तयेत्। नादं वाचकेन नादेन अभिन्नं परमहंसं तु ध्येयं कल्पयेत्। तस्य नादस्य स्वरूपं च आधारचक्रमारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं व्याप्तम् अतिश्वेतवर्णं च चिन्तयेदित्यर्थः।।५१६।। अस्मिन्निति। अस्मिन् नादे मनो विनिक्षिप्य तत्परं कृत्वा योगी

अज्ञदशा में हृदयपद्म जीव को सीमित किये है क्योंकि जीव स्वयं को हृदयदेश में ही केन्द्रित महसूस करता है। जब 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अनुभव से, परिपूर्णता की दृष्टि से हंस उस हृदयपद्म को छोड़ देता है तब वह अवस्था पूर्वोक्त जाग्रद् आदि की अपेक्षा से चौथी कही जाती है।।५१२।। इस चौथी अवस्था में भी वेद्य तत्त्ववेत्ता से पृथक् उपलब्ध होता है क्योंकि उक्त हृदयत्याग रूप समाधि में त्रिपुटीभेद का ज्ञान रहता है। समाधि दो तरह की प्रसिद्ध हैः संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात। सम्प्रज्ञात दशा में ब्रह्माकारवृत्ति रहती है अतः वह चौथी अवस्था है जिसमें जीव सविज्ञान कहा जाता है। असंप्रज्ञात दशा में वह वृत्ति भी विलीन हो जाती है, तब योगी को निर्विज्ञान और चौथी अवस्था से परे कहा जाता है। उसमें ध्याता-ध्यान-ध्येय यह त्रिपुटी भी नहीं रहती। सारा ही भेद उस नित्य अद्वय परब्रह्म में विलीन हो जाता है जिसे नाद कहते हैं। (प्रणव के पाँच अवयव और उनके वाच्य समझ लेने चाहिये : अ-विश्व; उ-तैजस; म-प्राज्ञ; बिंदु-सविशेष ब्रह्म; नाद-निर्विशेष ब्रह्म।) वैराग्यवानों में भी कोई ही ऐसा हो सकता है जो इस चौथी दशा से परे निर्विज्ञान स्थिति पाये।।५१३-५।। इसीकी प्राप्ति के लिये संन्यासी योगानुष्ठान करते हैं।

अस्मिन् मनो विनिक्षिप्य वायुं योगी प्रचालयेत्। सङ्कोच्य च गुदद्वारं शिश्नद्वारसमन्वितम्।।
पदद्वन्द्वेन मेधावी सर्वतो विजितश्रमः।।५१७

आधारचक्रतो वायुं धीमानुत्थापयेच्छनैः। उत्थाप्य च ततः पश्चात् स्वाधिष्ठानं समानयेत्।।
स्वाधिष्ठानस्य कुर्यात् त्रिः पुमानत्र प्रदक्षिणम्।।५१८

मणिपूरकमागच्छेत् ततश्चक्रं ततोऽपि च। अनाहतं विनिर्भिद्य विशुद्धं शनकैर्व्रजेत्।।
विशुद्धादाव्रजेदाज्ञाम् आज्ञातो ब्रह्मरन्ध्रकम्।।५१९

एवं प्रकुर्वतो नित्यं चिन्तनाद्धंसनादयोः। ऋष्यादिसहितस्याऽस्य हंसमन्त्रस्य संजपात्।।५२०
कोटिमात्रात् ततो नादाभ्यासस्य प्रत्यया इमे। नादा दशविधा अन्तर्जायन्ते वपुषः क्रमात्।।५२१
चिणीति प्रथमो नादो द्वितीयश्चिणिचिणीति च। घण्टानादस्तृतीयः स्याच्चतुर्थः शङ्खनादकः।।५२२

सर्वतः पादाङ्गुष्ठाग्रमारभ्य वायुं प्रचालयेद् आधारचक्रे समानयेद् इति यावत्। किं कृत्वा ? पायूपस्थरूपं द्वारद्वयं, पदद्वन्द्वसम्बन्धिपार्ष्णिद्वयनिपीडनेन सङ्कोच्य विजितश्रमो जिताभ्यास इत्यर्थः।।५१७।। आधारादुत्थापितस्य वायोर्ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं नयनस्य विधां वर्णितचक्रमार्गेण दर्शयति—आधारेति द्वाभ्याम्। अत्र वायोरूर्ध्वनयने वायोः त्रिवारं स्वाधिष्ठानस्य चक्रस्य परितः प्रदक्षिणं भ्रामणं कुर्याद् इति तृतीयदलार्थः।।५१८।। मणिपूरकमिति। ततः स्वाधिष्ठानाद् मणिपूरकं प्राप्य ततो मणिपूरकाद् अनाहत-विशुद्धा-ऽऽज्ञाख्यचक्रत्रयद्वारा ब्रह्मरन्ध्रं गच्छेदित्यर्थः।।५१९।।

एवमिति। उक्तविधया वायुचालनं कुर्वतो योगिनः अन्तः वपुषि इमे वक्ष्यमाणरूपा नादाः प्रजायन्ते। कुतः? हंसनादयोः ध्यायकत्वध्येयत्वाभ्यां चिन्तनात्, तथा हंसमन्त्रस्य कोटिसंख्याकजपात्। कीदृशस्य हंसमन्त्रस्य ?[1] हंस ऋषिः, अव्यक्तगायत्री छन्दः, परमात्मा देवता, परमात्मप्राप्तौ विनियोग इत्युक्तैः ऋष्यादिभिर्युक्तस्य। कीदृशास्ते नादाः ? नादाभ्यासस्य नादगोचराभ्यासस्य प्रत्ययाः फलसिद्धौ विश्वासप्रयोजकाः। इति द्वयोरर्थः।।५२०-१।।

दशनादानभिनयति[2]—चिणीति द्वाभ्याम्। प्रथमं चिणीत्याकारको नादो हृदि प्रादुर्भवति। द्वितीयः चिणिचिणीत्याकारकः। तृतीयो घण्टाध्वनिसमः। चतुर्थः शङ्खध्वनिनिभः। पञ्चमो वीणाध्वनिनिभः। षष्ठः तालस्य

चक्रों समेत इस शरीर में जीवरूप हंस के रहने का ढंग समझकर योगी को चाहिये कि स्वयं को, ध्याता आत्मा के स्वरूप को हंस समझे और वाचकभूत नाद से अभिन्न वाच्यभूत 'परमहंस' (ब्रह्म) को ध्येय समझे। उस शब्द-अर्थरूप नाद को मूलाधार से ब्रह्मरंध्र तक फैला हुआ और अतिश्वेत वर्ण का समझना चाहिये।।५१६।। इस नाद में मन लगाकर योगी को चाहिये कि पैर के अंगूठे से आरंभ कर सारे शरीर की वायु आधारचक्र में खींच लाये। इसके लिये ज़रूरी है कि वह अपने दोनों पैरों से गुदद्वार और शिश्नद्वार को दबा कर संकुचित कर दे। दीर्घ अभ्यास से ही यह प्राण को एकत्र करना अनायास हो सकता है।।५१७।। बुद्धिमान् योगी आधारचक्र से वायु को धीरे-धीरे ऊपर ले चले। स्वाधिष्ठान पर लाकर वायु को तीन बार उसके चारों ओर प्रदक्षिणाक्रम से घुमाये।।५१८।। और ऊपर लेता चले और मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा चक्रों से होते हुए ब्रह्मरंध्र में पहुँचा दे।।५१९।।

जो इस प्रकार रोज़ वायुचालन करता है, साथ ही ध्याता-ध्येय रूप से हंस और नाद का चिंतन करता है और हंसमंत्र का एक करोड़ जप करता है, उसके शरीर के भीतर ही क्रमशः ये दस प्रकार के नाद उत्पन्न होते हैं। हंस मंत्र के ऋषि-छंद-देवता-विनियोग के स्मरणपूर्वक ही जप करना चाहिये।।५२०-१।।

१. 'अथ हंस ऋषिरव्यक्तं गायत्री छन्दः परमहंसो देवता।' हंस. २।

२. 'अस्यैव जपकोट्या नादमनुभवति। स च दशविध उपजायते—चिणिति प्रथमः। चिण चिणिति द्वितीयः। घण्टानादस्तृतीयः। शङ्खनादश्चतुर्थः। पञ्चमस्तन्त्रीनादः। षष्ठस्तालनादः। सप्तमो वेणुनादः। अष्टमो भेरीनादः। नवमो मृदङ्गनादः। दशमो मेघनादः। नवमं परित्यज्य दशममेवाभ्यसेत्।।' हंस. ५।।

तन्त्रीनादः पञ्चमः स्यात् तालनादस्तथाऽपरः। सप्तमो वेणुनादः स्याद् भेरीनादस्तथाऽष्टमः।।
मृदङ्गनादो नवमो दशमो मेघनादकः।।५२३
मेघनादः सदाऽभ्यासाद् वैराग्यज्ञानकारणम्। नवनादांस्ततः त्यक्त्वा मेघनादं समभ्यसेत्।।५२४
मेघनादस्य चाऽभ्यासाद् मनो लयमुपाव्रजेत्। लीने मनसि लीयेते उभे ते पुण्यपातके।।
सङ्कल्पश्च विकल्पश्च धर्मा येऽन्येऽपि मानसाः।।५२५
एतेषु प्रविलीनेषु स्वात्मनो दुःखहेतुषु। आनन्दात्मा स्वचिच्छक्त्या सर्वदाऽऽस्ते स्वभासया।।५२६
एवं हंसोपनिषदि प्रोक्तो योगः प्रकीर्तितः। क्षुरिकायां यथा प्रोक्तस्तथा वच्मि हितं शृणु।।५२७

अथ क्षुरिकोपनिषदुक्तयोगः

निःशब्दं देशमास्थाय तत्राऽऽसनमुपाश्रितः। कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य मनो हृदि सहेन्द्रियैः।।५२८

कांस्यस्य ध्वनितुल्यः। सप्तमो वेणुध्वनिसमः। अष्टमो भेरीध्वनिनिभः। नवमो मृदङ्गध्वनिनिभः। दशमो मेघनादाभः। इति द्वयोरर्थः।।५२२-३।। तत्र चरमे विशेषतः प्रणिधानं कर्तव्यं, तस्य वैराग्यादिप्रयोजकत्वाद् इत्याह—मेघेति।।५२४।।

तस्याऽभ्यासस्य वैराग्यादिहेतुतां स्फुटयन् फलवाक्यार्थमाह[1]—मेघनादस्येति। लयं वैराग्येण निर्विषयत्वम्। ततश्च संसारप्रयोजकानां सङ्कल्पादीनां मनोधर्माणां लयः। तत्र सङ्कल्पो नाम 'रमणीयमिदं मम स्याद्' इत्यभिलाषः। विकल्पः संशयः।।५२५।। ततश्च निरर्गलमात्मतत्त्वभानम् इत्याह—एतेष्विति। एतेषु सङ्कल्पादिषु विक्षेपरूपेषु लीनेषु स्वप्रकाशचिद्रूपेण सर्वदाऽऽस्त आविर्भवतीत्यर्थः।।५२६।।

उक्तोपसंहारपूर्वकं क्षुरिकाख्योपनिषदर्थप्रदर्शनं प्रतिजानीते—एवमिति। क्षुरिका शस्त्री, तद्वद्बन्धच्छेदिकाया धारणायाः प्रदर्शकत्वादुपनिषत् क्षुरिकेत्युक्ता।।५२७।। अस्या अर्थं विंशतिश्लोकैः प्रदर्शयन्; प्रथमं योगाङ्गेषु यमनियमौ सिद्धवत् कृत्वा, आसनाद्यङ्गप्रदर्शकानां[2] द्वितीयादिश्लोकानामर्थमाह—निःशब्दमिति। शब्दादिविक्षेपरहिते देशे आस्थाय उषित्वा तत्रासनं चैलाजिनकुशोत्तरं विधाय, तत्र वर्णितपद्मासनादिभिस्तिष्ठेत्। ततः सेन्द्रियमनसो हृत्पुण्डरीके विषयेभ्य उपसंहारलक्षणं प्रत्याहारं कुर्याद् इति।।५२८।।

हृदय में होने वाले दस नाद इस तरह होते हैं: १) चिणी; २) चिणिचिणी; ३) घण्टा-ध्वनि के समान; ४) शंख-ध्वनि के समान; ५) वीणाध्वनि के समान; ६) कांसे के मंजीरे की ध्वनि की तरह; ७) बाँसुरी की ध्वनि की तरह; ८) भेरी (नगाड़े) की ध्वनि की तरह; ९) मृदंग-ध्वनि की तरह; १०) बादलों के नाद की तरह।।५२२-३।। इनमें प्रारंभिक नौ नादों को छोड़ते जाना चाहिये और सदा मेघनाद सुनने का ही अभ्यास करना चाहिये क्योंकि वैसा अभ्यास वैराग्य और ज्ञान का कारण बनता है।।५२४।। मेघनाद के अभ्यास से मन लीन होता है, वैराग्यवश निर्विषय होता है। मन लीन होने पर पुण्य-पाप, संकल्प-विकल्प तथा सभी मनोधर्म विलीन हो जाते हैं। ('यह रमणीय व्यक्ति-वस्तु-परिस्थिति मुझे प्राप्त हो' इसे संकल्प एवं संशय को विकल्प कहते हैं।)।।५२५।। स्वात्मा के दुःखहेतु इन सबके प्रविलीन हो चुकने पर आनंदात्मा अपनी स्वप्रकाश चिच्छक्ति से सर्वदा आविर्भूत रहता है।।५२६।।

इस प्रकार (श्लो. ४६१-५२६) हंसोपनिषद् में उपदिष्ट योग बताया। अब क्षुरिकोपनिषत् में बताया हितकर विषय कहता हूँ, सुनो। (क्षुरिका अर्थात् छुरी। जैसे छुरी काट देती है ऐसे बंधन काटने वाली धारणाएँ जिसमें बतायी

१. 'तस्मिन् मनोविलीने मनसि गते संकल्पविकल्पे दग्धे पुण्ये पापे सदा शिवोऽहं शक्त्यात्मा सर्वत्रावस्थितः शान्तः प्रकाशयतीति वेदवचनं भवति वेदवचनं भवति।।' हंस. ६।।

२. 'निःशब्दं देशमास्थाय तत्रासनमवस्थितः। कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य मनो हृदि निरुध्य च।।' क्षु. २

मात्राद्वादशयुक्तेन प्रणवेन शनैः शनैः। पूरयेत् सकलं देहं सर्वद्वारं निरुध्य च।।५२९
उरोमुखकटिग्रीवं किञ्चिदत्र समुन्नतम्। प्राणान् सन्धारयेत् तस्मिन्नासाभ्यन्तरचारिणः।।५३०
भूत्वा तत्रायतप्राणः सर्वैरेव समुच्छ्वसेत्। स्थिरं वायुं दृढं कृत्वा पादाङ्गुष्ठे समाहितः।।
ध्यात्वा ततः प्रकुर्वीत ह्येवं मात्रां जपन् सदा।।५३१
द्वे गुल्फयोः प्रकुर्वीत तिस्रस्तिस्रस्तु जङ्घयोः। जानुनोर्द्वे तथा चोर्ध्वे तिस्रस्तिस्रः प्रकीर्तिताः।।
गुदे लिङ्गे च मात्रास्तु वायोः स्थापनकर्मणि।।५३२

मात्रेति[1]। मात्रासंज्ञैः द्वादशभिरवयवैः युक्तेन प्रणवेन शनैः शनैः अत्वरया सकलं देहं बाह्यवायुना पूरयेत्, ततः सर्वं द्वारं—जातावेकवचनम्—सर्वद्वाराणि निरुध्य; उरो हृदयं, तत्प्रभृत्यङ्गजातं समुन्नतं समं कृत्वा, अत्र एषु हृदयं किञ्चित् समुन्नतं चिबुकस्पर्शि विधाय, तत्र हृदये प्राणान् सन्धारयेत्। कीदृशान् ? नासाद्वारेणैव आभ्यन्तरप्रवेशशालिनः। एतेनमुखेन वायोः आकर्षणं निषिद्धम्। इति द्वयोरर्थः। मात्राद्वादशकं तु नादबिन्दावुक्तम्; तथा हि—अकारोकारमकारार्द्धमात्राः प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन द्वादश भवन्ति। तासां द्वादश नामानि घोषिण्यादीनि, तच्चिन्तनफलानि भूमीश्वरत्वादीनि च तत्रैवोक्तानि। अत्रेदमपरं साम्प्रदायिकशासनं बोध्यम्—पूरके यावन्तः प्रणवाः—अष्टौ, द्वादश, षोडश वा—ततश्चतुर्गुणाः कुम्भके जप्या, द्विगुणास्तु रेचके—इति।।५२९-३०।। एवं पूरककुम्भकावुक्तौ।

अथ रेचकमाह—भूत्वेति। तत्र देहमध्ये, आयतप्राणः निरुद्धप्राणो भूत्वा अथ सर्वैरेव द्वारैः समुत्सृजेद् रेचयेदिति। श्रुतौ तु 'प्राण' इत्यनन्तरं तिष्ठतीति शेषो बोध्यः।

कुम्भको द्विविधिः—पूरकादिसापेक्षो, निरपेक्षश्च। तत्राद्य उक्तः। द्वितीयं दर्शयन् वायोः स्थानविशेषेषु निरोधं धारणाप्रत्याहारशब्दाभ्यां योगियाज्ञवल्क्यादिभिर्व्यवहृतं दर्शयति—स्थिरमित्यादिना। दृढम् इत्यस्य विवरणं स्थिरम् इति। तथा च वायुं स्थिरं पूरकमनपेक्ष्य अपि स्थितियोग्यं प्रथमं पादाङ्गुष्ठयोर्ध्यानबलेन कृत्वा सावधानः संस्तत एवं वक्ष्यमाणविधया धारणाः प्रकुर्वीत। किं कुर्वन् ? मात्रां प्रणवाष्टकादिरूपां जपन् इत्यर्थः।।५३१।। तत्र धारणासंख्यां सूचयन् मात्रासंख्यामाह—द्वे इति। गुल्फयोः वामदक्षिणयोः वायोः स्थापनकर्मणि द्वे मात्रे उक्तरूपे प्रकुर्वीत जपेत्। जङ्घयोः प्रत्येकं तिस्रस्तिस्रो मात्रा जप्तव्याः। तत्र आदिमध्यान्तभागेषु धारणात्रयस्य कर्तव्यत्वात् जानुनोस्तथा तदूर्ध्वे—ऊर्वोरिति यावत्—ते द्वे कुर्वीत। गुदलिङ्गयोस्तु प्रत्येकं तिस्रस्तिस्रस्ता इत्यर्थः।।५३२।।
हैं वह क्षुरिकोपनिषत् है। इस पर संभवतः शंकरानंदीदीपिका नहीं है। नारायणदीपिका अवश्य है।)।।५२७।।

शब्दशून्य स्थान पर पूर्वोक्त ढंग के आसन पर बैठकर इंद्रियों समेत मन को वैसे ही हृदय में एकत्र कर ले जैसे कछुआ अपने अंगों को आवरण के भीतर कर लेता है।।५२८।।

प्रणव के बारह अवयव हैं जिन्हें मात्रा कहते हैं। (अ-उ-म्-अर्धमात्रा के उदात्त-अनुदात्त-स्वरित भेदों से बारह की संख्या होती है।) योगी बारहों मात्राओं से युक्त प्रणव से धीरे-धीरे अपना सारा शरीर वायु से भर ले (पूरक कर ले)। फिर सारे द्वारों को निरुद्ध कर ले। हृदय, मुख, कटि और ग्रीवा को बिलकुल एक सीध में करे, हृदय थोडा ऊँचा रखे और हृदय में ही उन प्राणों का संधारण करे जो नासिका से—न कि मुख से—भीतर आये हैं। (जितने समय में पूरक किया हो उससे चौगुणे समय तक कुंभक करे फिर पूरक से दो गुणे समय में आगे बताया रेचक करे।)।।५२९-३०।। उचित मात्रा तक प्राण रोकने के बाद शनैः शनैः सभी द्वारों से वायु का रेचन कर दे। (निश्वास से तो रेचन करे ही, बाकी द्वार जो रोके रखे थे उन्हें भी ढीला छोड़ दे।) इस प्रकार पूरक सापेक्ष कुंभक बता दिया।

---

१. उपनिषदि—'मात्रा द्वादशयोगेन...येत्सर्वमात्मानं सर्वद्वारान्निरुध्य च।।३।। उरो...किंचिद्धृदयमुन्नतम्। प्राणान् संचारयेत्तस्मि ...।।४।। भूत्वा तत्र गतः प्राणः शनैरथ समुत्सृजेत्।।५।। स्थिरमात्राद्दृढं कृत्वा अंगुष्ठेन समाहितः। द्वे तु गुल्फे प्रकुर्वीत जंघे चैव त्रयस्त्रयः। द्वे जानुनी तथोरुभ्यां गुदे शिश्ने त्रयस्त्रयः।।६।।'

वायोरायतनं कन्दो नाभिदेशे समाश्रितः। पृष्ठवंशसमीपस्थः सर्वेषामिह देहिनाम्। ।५३३
समाव्रजेत् शनैर्धीमान् मात्रातो विजितानिलः। तत्र नाडी सुषुम्नाऽस्ति नाडीभिर्दशभिर्वृता। ।५३४
अत्र पीताश्च रक्ताश्च कृष्णास्ताम्रा विलोहिताः। अतिसूक्ष्माश्च तन्व्यश्च विना त्याज्याः सुषुम्नया।। कन्दमागत्य मेधावी सुषुम्नां च समाश्रयेत्। ।५३५
ऊर्णनभिर्यथा तन्तौ संचरन् स्वात्मनः प्रिये। परित्यज्येतरांस्तन्तूंस्तत्र जाले स्थितानपि।। एवं संचारयेत् प्राणान् सुषुम्नायां हि कन्दगः। ।५३६
ततो रक्तोत्पलाभासं हृदये विततं महत्। अत्यल्पं पुण्डरीकं तद् वेदान्तेषु निगद्यते। ।५३७
तद्भित्त्वा कण्ठमायाति ततो मूर्द्धानमाव्रजेत्। आधारकन्दतो नाडीमाशिरः पूरयेद्धिताम्। ।५३८

[1]'वायोरिति। तत्र गुदलिङ्गयोर्मध्ये वायोरायतनभूतो विशिष्टस्थलभूतः कन्दः अस्ति। कीदृशः ? नाभिदेशे ऊर्ध्वभागेन सम्बद्धः। तथा सर्वेषां पृष्ठवंशस्य पृष्ठगतदीर्घास्थ्नः सुषुम्नाया दशमद्वारगतौ मार्गभूतस्य समीपस्थः। तं कन्दं योगी प्राणरूपेण समागच्छेत्। कीदृशः ? मात्राजयेन वशीकृतानिलः। अथ तत्र कन्दे वर्णितनामिकाभिः दशनाडीभिः वेष्टिता सुषुम्नाऽन्वेष्येत्याह—तत्रेति। ।५३३-४। [2]अत्रेति। अत्र कन्दे रक्तादिवर्णाः सूक्ष्माः लघ्व्यश्चान्या बह्व्यो नाड्यः सन्ति। ताः सर्वाः परित्याज्या। एका सुषुम्ना शुक्लवर्णा समाश्रयणीयेत्यर्थः। ।५३५।। एतद् दृष्टान्तेन स्फुटयति—ऊर्णेति। यथोर्णनाभिः स्वात्मनः प्रिये तन्तौ संचरन् भवति इतरान् अप्रियांस्तन्तून् परित्यजति, तथेतरा नाडीः परित्यज्य कन्दगतो योगी सुषुम्नायां प्राणान् संचारयेद् इत्यर्थः। ।५३६।।

ततो दहराख्यं हृत्पुण्डरीकमागच्छेदित्याह—[3] तत इति। स्पष्टम्। ।५३७।। तद्भित्वेति। तद् हृदयचक्रं भित्त्वा कण्ठगतं विशुद्धं प्राप्य, तदपि भित्त्वा आज्ञाचक्रभेदनद्वारा मूर्द्धगतं सहस्रारं गच्छेदित्यर्थः। तत आधारगतचक्रमारभ्य आशिरः शिरोगतं सहस्रारं यावत् तां सुषुम्नाख्यां नाडीं पूरयेद् अनुसन्ततां ध्यायेदित्यर्थः। ।५३८।।

पूरक से निरपेक्ष भी कुंभक होता है जिसमें विभिन्न स्थानों पर प्राणनिरोध होता है : पहले वायु को पैर के अंगुठों में दृढता से स्थिर करे। इसमें ध्यान का बल काम आता है। फिर सावधानीपूर्वक आगे बतायी धारणाएँ करे। इस अभ्यास में प्रणवमात्राएँ हमेशा जपता रहे। ।५३१।। कितनी मात्रा के काल तक कहाँ धारणा करनी चाहिये यह बताते हैं : दोनों टखनों में दो मात्राओं तक, एक-एक जंघा में (पिण्डली में) तीन-तीन मात्राओं तक, दोनों घुटनों में दो मात्रा तक, दोनों ऊरुओं में भी दो मात्राओं तक, गुदा में तीन मात्राओं तक व लिंग में तीन मात्राओं तक। इन्हीं स्थलों पर इतने ही समय तक प्राण स्थापित रखना चाहिये। ।५३२।।

अध्यात्म वायु का एक खास आश्रयस्थल गुदा व लिंग के मध्य में कंद जैसा है। सभी मनुष्यों की रीढ की हड्डी के पास नाभि की सीध में वह स्थित है। ।५३३।। मात्रा-प्रयोग से जिसने प्राण पर नियंत्रण कर लिया उस बुद्धिमान् को वहाँ प्राण-द्वारा धीरे से पहुँचना चाहिये। वहाँ दस नाडियों से घिरी सुषुम्ना नाडी है। ।५३४।। उस कंद में पीली, लाल, काली, ताँबे के रंग की, खून के रंग की अत्यंत सूक्ष्म छोटी बहुत-सी नाडियाँ हैं, उन्हें छोड़कर मेधावी सुषुम्ना में ही प्रवेश करे। ।५३५।। मकड़ी जाले के अन्य तंतुओं को छोड़कर अपने किसी प्रिय तंतु पर ही संचरण करती है। इसी प्रकार कंद तक पहुँच योगी केवल सुषुम्ना में प्राण का संचार करावे। ।५३६।।

१. 'वायोरायतनं चाऽत्र नाभिदेशे समाश्रयेत्। तत्र नाडी सुषुम्नातु नाडीभिर्बहुभिर्वृता।। अणुरक्ताश्च पीताश्च कृष्णास्ताम्रविलोहिताः।।' क्षु. ७।।
२. 'अतिसूक्ष्मां च तन्वीं च शुक्लां नाडीं समाश्रयेत्। ततः संचारयेत् प्राणान् ऊर्णनाभीव तन्तुना।। क्षु. ८।।
३. 'ततो रक्तोत्पलाभासं पुरुषायतनं महत्। दहरं पुण्डरीकेति वेदान्तेषु निगद्यते।। तद्भित्वा कण्ठमायाति तां नाडीं पूरयन् यतः।।' क्षु. ९।।

खड्गेन मनसा वायुलोहगात्रेण योगवित्। धीशाणकषितेनात्र च्छिन्द्यान्मर्माणि देहिनाम्। ।५३९
पादस्योपरि यन्मर्म च्छिन्द्यात् तद् रूपनामकम्। मनोधारेण तीक्ष्णेन स्वाधीनपवनासिना। ।५४०
इन्द्रवज्रमिति प्रोक्तं मर्म जङ्घानुगं हि यत्। तद्ध्यानबलयुक्तेन मानसेन निकृन्तयेत्। ।५४१
ऊर्वोर्मध्ये तु यत् प्रोक्तं मर्म प्राणविमोचनम्। चतुरभ्याससंयोगाच्छिन्द्यादनभिशङ्कितः। ।५४२
गुदे शिश्ने च कन्दे च हृदि पद्मे तथैव च। कण्ठदेशेऽपि मर्माणि च्छिन्द्याद्योगबलात् सदा। ।५४३

एवं षट्चक्रभेदने कृते सति तदनन्तरं कर्तव्यमाह[1]—खड्गेनेति। मनोरूपेण खड्गेन दीर्घक्षुरेण देहाभिमानिनां बन्धप्रयोजकानि मर्माणि च्छिन्द्यात् शास्त्रदृष्ट्या बाधितानि कुर्यात्। कीदृशेन मनोरूपेण खड्गेन? प्राणरूपलोहमयं गात्रं शरीरं यस्य स तथा तेन। पुनः कीदृशेन ? धीः परापरब्रह्मविद्या तद्रूपशाणतः कषितेन निर्मली कृतेनेत्यर्थः। ।५३९। ।

पादस्योपरीति। पादस्य चरणतलस्य उपरि यद् मर्म अङ्गुष्ठगुल्फादिकं तच्छ्रुतौ रूपपदेनोक्तं, तत् छिन्द्यात्। केन ? मनो धारास्थानीयं यस्य तथाभूतेन वशीकृतवायुरूपखड्गेनेत्यर्थः। दीपिकाकृदनुसरणे[2] तु पादस्य ब्रह्मपादचतुष्टयस्य स्थूलसूक्ष्मकारणतुरीयात्मकस्य उपरि तदघटकं यद् मर्मतुल्यं रूपं नाम चेति द्वयं तत् शोधितेन मनःक्षुरेण च्छिन्द्याद् इत्यर्थः। । स चोत्तरग्रन्थस्वारस्याद् ग्रन्थकृतो नाभिमत इति बोध्यम्। ।५४०। ।
[3]इन्द्रेति। जङ्घानुगं जङ्घाप्रभृति यद् मर्म तद् इन्द्रवज्रपदेन श्रुतौ प्रोक्तम् अयोगिभिर्दुरतिक्रमत्वसाधर्म्यात्। तदपि ध्यानरूपबलशालिना मानसखड्गेन छिन्द्याद् इत्यर्थः। ।५४१। ।[4] ऊर्वोरिति। तथा ऊरुदेशमध्ये यद् मर्म तच्छ्रुतौ प्राणविमोचनपदेन भङ्गे सति प्राणो विमुच्यते देहाद् वियुक्तः क्रियतेऽनेनेति व्युत्पत्तिकेन उक्तं, तदपि छिन्द्यात्। केन ? चतुर्वारं प्रातर्मध्याह्ने सायं निशीथे च योऽभ्यासः तद्वता योगेन। अत्र च 'नाऽहमत्र स्थित' इत्याकारबाधलक्षणे मर्मच्छेदने देहपातशङ्का न कार्या, देहधारणस्य प्रारब्धायत्तत्वाद् इत्यर्थः। ।५४२। । ततो गुदादिदेशगतानि मर्माणि पूर्ववच्छेदयेद् इत्याह—गुद इति। स्पष्टम्। ।५४३। ।

वहाँ से हृदयकमल में आना चाहिये। हृदय में अतिसूक्ष्म कमल विकसित है जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, उपनिषदों में प्रसिद्ध है। ।५३७। । उसका भेदन कर कण्ठ से होते हुए आज्ञा चक्र का भी भेदन कर मूर्धा के सहस्रार में पहुँच जाये। तब यह ध्यान करना चाहिये कि आधार से सहस्रार तक सुषुम्ना नाडी लगातार आ रही है। ।५३८। ।

यों छहों चक्रों का भेदनकर मनोरूप क्षुरिका से, तलवार से, देहधारियों के मर्म काट डालने चाहिये। उस खड्ग (क्षुरिका) का शरीर प्राणरूप लोहा है। प्राणात्मक लोहे से मन रूप क्षुरिका बनी है। अपरब्रह्म की उपासना एवं परब्रह्म का ज्ञान वह पत्थर है जिससे उस तलवार पर धार की गयी है। (देहाभिमान बना रखने वाले उन-उन अंगों के अध्यास को मर्म समझना चाहिये और इन्हें काट डालने का अर्थ है शास्त्रानुसारी दृष्टि से इनका बाध कर देना।)। ।५३९। ।

पैर के ऊपर जो मर्म है उसे 'रूप' कहते हैं। मन ही जिसकी तेज़ धार है उसी वशीकृत वायुरूप खड्ग से उक्त मर्म को काट देना चाहिये। ।५४०। । पिण्डलियों में जो मर्म है उसे 'इंद्रवज्र' कहते हैं। ध्यान के बल से युक्त मन से उसे भी काट देना चाहिये। ।५४१। । दोनों ऊरुओं के बीच जो मर्म है उसे 'प्राणविमोचन' कहते हैं। प्रातः, मध्याह्न, शाम, रात यों चार समय अभ्यास किये जाते योग से उसे भी काट दे। वहाँ से अध्यास हटाते समय यह शंका न करे कि फिर शरीर ही नहीं रहेगा; क्योंकि शरीर तो अध्यास नहीं वरन् प्रारब्ध से बना रहता है। ।५४२। । गुदा, शिश्न, मूलाधार, हृदयकमल, और कण्ठ के मर्म भी योगबल से काट दे। ।५४३। ।

१. 'मनसस्तु क्षुरं गृह्य सुतीक्ष्णं बुद्धिनिर्मलम्। पादस्योपरि मर्मृज्य तद्रूपं नाम कृन्तयेत्। ।' क्षु. १०। ।
२. दीपिकाकृद् नारायणः। अस्याः शङ्करानन्ददीपिका नास्तीति प्रतीयते।
३. 'मनोधारेण तीक्ष्णेन योगमाश्रित्य नित्यशः। इन्द्रवज्र इति प्रोक्तं मर्मजंघानुकर्तनम्। । तद्ध्यानबलयोगेन धारणाभिर्निकृन्तयेत्। ।' क्षु. ११। ।
४. 'ऊरोर्मध्ये तु संस्थाप्य मर्मप्राणविमोचनम्। चतुरभ्यासयोगेन छिन्देदनभिशङ्कितः। ।'

एकोत्तरं शतं मुख्या नाड्य उक्ता मनीषिभिः। द्वासप्ततिसहस्राणि ह्येकैकस्याः प्रकीर्तिताः।।
शाखास्तत्र तु मुख्यैका सुषुम्ना ब्रह्मरन्ध्रगा।।५४४
योगाभ्यासेन नाडीस्ताः सुषुम्नापरिवर्जिताः। छेदयेत्तु सुषुम्नायां परिसंचार्य मारुतम्।।५४५
एवं छिन्नान्यनाडीकः पुमानस्मिन् हि जन्मनि। जन्मान्तरेऽथ वा गच्छेद् विरक्तो वैष्णवं पदम्।।५४६
यत एवं ततो धीरश्छिन्द्याद् नाडीगणं सदा। योगनिर्मलसारेण क्षुरेणानलवर्चसा।।५४७
ततो विरक्तचित्तस्तु निःशब्दं देशमास्थितः। निःसङ्गः सर्वयोगज्ञो निरपेक्षः शनैः शनैः।।५४८
पाशं छित्वा यथा हंसो निर्विशङ्कः समुत्पतेत्। तथा नाडीगणं छित्वा पुमान् मोक्षं समाव्रजेत्।।५४९
यथा निर्वाणकाले तु दीपो दग्ध्वा लयं व्रजेत्। तथा सर्वाणि कर्माणि योगी दग्ध्वा लयं व्रजेत्।।५५०

एवं मर्माणि छित्वा नाडीश्छिद्यादिति वक्तुं नाडीसंख्यां स्मारयति[1]—एकोत्तरमिति। एकोत्तरशतसंख्याः प्रधाननाड्यः। तासामेकस्या द्वासप्ततिद्वासप्ततिसहस्राणि शाखाभूता नाड्यः प्रश्नोपनिषदीरिताः। तासु सर्वासु मुख्यायां सुषुम्नायां प्राणं प्रवेश्य इतराश्छेदयेत्। इति द्वयोरर्थः।।५४४-५।।

उक्तयोगस्य फलमाह—एवमिति। उक्तविधया छिन्नाः सुषुम्नेतरा नाड्यो येन स तथाभूत इह जन्मनि जन्मान्तरे वा परं वैराग्यमधिगम्य मुच्यत इत्यर्थः।।५४६।। फलितमाह[2]—यत इति। यत एवम् उक्तविधं फलमतो लभ्यते तत एतन्नाडीनां छेदनं कुर्यात्। केन ? योगेन निर्मलं यत् सारं मनः तद्रूपेण क्षुरेण। मनसः सारत्वं तु सात्त्विकभूतांशारब्धत्वादिति। कीदृशेन ? अनलवर्चसा ज्ञानाग्निदीप्तेनेत्यर्थः।।५४७।।

उक्तयोगशीलिनो मोक्षप्रकारमभिनयति[3]—तत इति द्वाभ्याम्। तत उक्ताभ्याससिद्ध्यनन्तरं विरक्तचित्त एकान्तदेशवासी सर्वसङ्गपरित्यागी सर्वेषां योगानां मनःप्राणयोर्निरोधप्रकाराणां वेत्ता च मुनिः शनैः शनैः उक्त-साधनेष्वपि निरपेक्षः सन् नाडीगणरूपाध्यात्मपरिच्छेदं विहाय मोक्षं व्रजेत्। तत्र साधननिरपेक्षत्वे दृष्टान्तो हंसः। स हि प्रतिबन्धाभाव उड्डयनव्यापारे वा करणाऽनपेक्षः। इति द्वयोरर्थः।।५४८-९।।

एवं क्रममोक्षे दृष्टान्तोऽभिहितः। अथ सद्यो मोक्षे तमाह—यथेति। यथा दीपस्य तेजोविशेषरूपस्योपशमकाले तेजःसामान्यभावेन विलयः तथा सर्वोपाधिविनिर्मुक्तस्य योगिनो ब्रह्मभाव इत्यर्थः।।५५०।। उक्तमर्थजातं

मर्मछेदन के बाद नाडीछेदन करना चाहिये। मनीषियों ने एक सौ एक मुख्य नाडियाँ बतायी हैं जिनमें प्रत्येक की बहत्तर हज़ार शाखाएँ हैं। सबसे प्रमुख एक सुषुम्ना ही है जो ब्रह्मरंध्र तक गयी है।।५४४।। सुषुम्ना में प्राण के परिसंचरण से बाकी सब नाडियों का छेदन कर लेना चाहिये।।५४५।। इस प्रकार सुषुम्ना-भिन्न नाडियों का जिसने छेदन कर लिया वह पुरुष इसी जन्म में या अन्य किसी जन्म में वैराग्यवान् होकर विष्णु के परम पद मोक्ष को पा लेता है।।५४६।। इसलिये धैर्यपूर्वक योग से निर्मल किये और ज्ञानाग्नि से गर्म किये मन रूप खड्ग से नाडियों का छेदन कर देना चाहिये।।५४७।।

इस अभ्यास की सिद्धि के बाद विरक्त चित्त वाला, सभी योगप्रकारों का जानकार, सारी आसक्ति छोड़ा हुआ, साधनों की जिसे अपेक्षा नहीं रह गयी ऐसा योगी शब्दहीन स्थान में स्थित हो जाये और नाडीगणरूप शरीरपरिच्छेद छोड़ कर वैसे ही मुक्त हो जाये जैसे पाश का छेदन कर हंस बिना शंका के उड़ जाता है।।५४८-९।।

१. 'ततः कण्ठान्तरे योगी समूहं नाडिसंचयम्। एकोत्तरं नाडिशतं तासां मध्ये वराः स्मृताः।।१३।।'
२. 'योगनिर्मलधारेण क्षुरेणामलवर्चसा। छिन्देन्नाडीशतं धीरः प्रभावादिह जन्मनि।।१६।।
३. 'ततो विदितचित्तस्तु...निःसंगस्तत्त्वयोगज्ञो....।।१९।।...ङ्कः खमुत्पतेत्। छिन्नपाशस्तथा जीवः संसारं तरते तदा।।२०।।....।।२१।।...वैराग्योपलघृष्टेन छित्वा तन्तुं न बध्यते।।२२।।' इति क्षुरिकायाम्।

प्राणायामसुतीक्ष्णेन मात्राधारेण योगवित्। वैराग्यकरणेनाऽयं तन्तूंश्छिद्यात् क्षुरेण हि।।
इत्येवं क्षुरिकाप्रोक्तं योगं चारु समभ्यसेत्।।५५१

अथ जाबालव्याख्या

वैराग्यं करणं नित्यं सर्वेषामिह देहिनाम्। सर्वथैव तु सम्पाद्यं वैराग्यं प्रथमं ततः।।५५२

विरक्तः संन्यसेत्

भवेत् परमहंसाख्यो यतिः पश्चात् सुधीः पुमान्। यतो विराग एवाऽस्य कालो नान्यः कथंचन।।
ततो विनाऽत्र वैराग्यं कोऽपि नाऽयं भवेद् यतिः।।५५३
यस्मिन् दिने क्षणे वा स्याद् वैराग्यं सुदृढं हितम्। तदैव सर्वकर्माणि संन्यसेदविचारयन्।।५५४
बालो वाऽप्यथ वा वृद्धो विरागरहितः पुमान्। न भवेत् परमो हंसो मनसाऽपि कदाचन।।
ततो विराग एवाऽस्य काल उक्तो मनीषिभिः।।५५५

संक्षिप्याह—प्राणायामेति। क्षुरेण मनोरूपेण तन्तून् नाडीरूपान् जालतन्तुवद् बन्धकान् छिन्द्यात्। कीदृशेन मनोरूपक्षुरेण ? प्राणायामतः सूक्ष्मी कृतेन, मात्रा द्वादशप्रणवादिरूपा आधार आलम्बनं यस्य स तथा तेन; वैराग्यं करणं शाणवद् घर्षणसाधनं यस्य स तथा तेन। क्षुरिकार्थमुपसंहरति—इत्येवमिति।।५५१।।

अथ साधनभूतं संन्यासं सपरिकरं त्रिंशच्छ्लोकैः निरूपयन्नादौ जाबालचतुर्थखण्डे प्रोक्तं कालम् अधिकारिणं चाह—वैराग्यमिति। वैराग्यम् एव करणम् असाधारणं कारणं पारमहंस्यस्येति शेषः। नित्यं सर्वास्ववस्थासु इति। ततः सर्वैः देहिभिः पारमहंस्यकामैः प्रथमं वैराग्यं सम्पाद्यम् इति योजना।।५५२।। भवेदिति। ततो वैराग्यात् पश्चाद् एव परमहंसो यतिर्भवेत्। वैराग्यस्य पारमहंस्यकालोपाधितामेव अन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्फुटयति—यत इति दलद्वयेना।।५५३।। अत्रार्थे प्रमाणभूतां 'यदहरेव विरजेद्' इत्यादिश्रुतिम्[1] अर्थतः पठति—यस्मिन्निति। यदैव वैराग्यं स्यात् तदैव बालो युवा वृद्धो वा संन्यसेत्। विरागरहितः तु तथा न कुर्यात्। फलितमाह—तत इति।।५५४-५।।

जैसे बुझते समय दीपक जलकर विलीन हो जाता है वैसे सारे कर्म जलाकर योगी (ब्रह्म में) लीन हो जाता है।।५५०।। प्रणवमात्राएँ जिसका आधार हैं, वैराग्य जिसे घिसकर तेज़ करने का साधन है, प्राणायाम द्वारा जो नोकीला बनाया गया है ऐसे मन रूप खड्ग से (क्षुर से, छुरे से) योगज्ञ नाडी-तन्तुओं को काट डाले—यही क्षुरिकोपनिषत् में बताया योग है जिसका सम्यक् अभ्यास संन्यासी के लिये कर्तव्य है।।५५१।।

अब जाबाल उपनिषत् के आधार पर संन्यास के संदर्भ में विस्तृत जानकारी देंगे :

परमहंसता का असाधारण अर्थात् विशेष कारण वैराग्य है अतः जो भी देही परमहंस भाव चाहे उसे हर तरह वैराग्य सम्पन्न करने को ही प्राथमिकता देनी चाहिये।।५५२।।

प्रभूत विरक्ति के बाद ही बुद्धिमान् पुरुष परमहंस संन्यासी बने। इस संन्यास का उचित काल वैराग्य ही है। उम्र, निमित्त आदि अन्य कोई काल इस संन्यास के लिये शास्त्रसंमत नहीं। वैराग्य के बिना किसीको संन्यास ग्रहण नहीं करना चाहिये।।५५३।। हितकारी वैराग्य जिस दिन, जिस क्षण सुदृढ हो जाये तभी अन्य कोई विचार किये बिना सभी कर्म छोड़ देने चाहिये। बच्चा हो या बुड्ढा, वैराग्य होने पर संन्यासी हो जाये और बिना वैराग्य के मन से भी परमहंस बनने की न सोचे। क्योंकि पर्याप्त निमित्त वैराग्य ही है इसलिये इसीको मनीषी संन्यास का उचित काल कहते हैं। (जैसे प्रातःकाल के समय का परिचायक अरुणोदय है ऐसे संन्यास के उचित समय का परिचायक वैराग्य है।)।।५५४-५।। पहले मैं वैराग्य प्राप्ति के विविध उपाय बता चुका हूँ। जिन्हें मैंने नहीं कहा उन्हें अपनी परिस्थिति

१. 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेद्, यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा वनाद् वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्।'

विरागे कारणं पूर्वमुक्तं नानाविधं मया। अनुक्तं वाऽपि विज्ञेयम् अविमुक्ताद्युपासनम्।।
सर्वश्रुतिषु सम्प्रोक्तं बहुभेदमनेकधा।।५५६

उपासनाः

उपासनानां हेतुः स्यादध्यासोऽत्र विपर्ययः। आनन्दात्मा स्वयंज्योतिर्नामादिपरिवर्जितः।।
नामरूपक्रियास्थानगुणैर्यस्मादुपास्यते।।५५७
क्वचित् स एव कुत्राऽपि ह्युपास्यास्तद्विभूतयः।कार्यकारणरूपिण्योऽप्यधिदैवादिसंस्थिताः।।५५८
क्वचित्प्रणवमुख्यैस्तैर्मन्त्रैर्नानाविधैरपि। अभेदेनाऽपि भेदेन देव एष उपास्यते।।५५९
अथर्वणः शिरस्यत्र शिखायां तापनीययोः। माण्डूक्ये स्वात्मबोधे च तद्वन्नारायणीययोः।
तथैवाऽमृतनादादौ मन्त्रप्राधान्यमिष्यते।।५६०

विरागे कारणमिति। अस्य वैराग्यस्योत्पत्तावेवोक्तं गर्भदुःखानुसन्धानादिकं योगान्तरङ्गोपासनानि कर्माणि च उपयुक्तानि इति प्रतिपादयति—विराग इत्यादिना। पूर्वमुक्तं गर्भदुःखचिन्तनादिकम्। अविमुक्तोपासनम् अध्यात्मं भ्रूमध्ये, अधिदैवं वैराजशरीरे च स्थिताया वाराणस्या ब्रह्मभावेन चिन्तनरूपं जाबाले (खं. २) तापनीये (रामोत्तरता. ४) चोक्तम्। आदिपदेन हृदयग्रहः। विज्ञेयं विरागकारणमित्यनुषङ्गः।।५५६।। उपासनानां साक्षाद् मुक्तिसाधनत्वं तु न बोध्यं, विपर्ययघटितत्वेन बन्धविरोधिप्रमाभिन्नत्वाद् इत्याह—उपासनानामिति। अत्र वस्तुतत्त्वे यो विपर्ययः विपरीतविज्ञानं तद्रूपः अध्यासः उपासनानां हेतुः स्वरूपनिर्वाहको भवति, यतो नामरूपादिवर्जितोऽपि स्वयंप्रकाशानन्दरूप एक एव आत्मा नामादिसम्बद्धतया उपास्यत इत्यर्थः। यथा आदित्यमण्डलान्तःस्थस्य 'उद्' इति नाम (छां. १.६.७), सुवर्णवद् रूपम्, ऊर्ध्वलोकपालनं क्रिया, आदित्यमण्डलं स्थानं, 'परो वरीयः'-पदोक्तं (छां. १.९.२) सर्वापेक्षया श्रेष्ठत्वं गुणः। एवमन्यत्राऽपि।।५५७।। उपासनासु विशेषान्तरमाह—क्वचिदिति। क्वचिद् दहरविद्यादौ स परमात्मैव साक्षादुपास्यत्वेनोक्तः। क्वचिद् 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेश' इत्यादिषु (छां. ३.१९.१) तस्य परमात्मनो विभूतयः कल्पितैकदेशा उपास्यतयोक्ताः। कीदृश्यः ? काश्चित् कारणरूपाः समष्टिरूपा अधिदैवस्थिताः यथा हिरण्यगर्भादित्यादयः। काश्चित्तु कार्यरूपा व्यष्टिगता अध्यात्मस्थिताश्च यथा प्राणवागादय इत्यर्थः।।५५८।।

क्वचित्प्रणवादिकैर्मन्त्रैः सह तादात्म्यारोपेण तस्योपासनमित्याह—क्वचित् प्रणवेति। अभेदेन भेदेन च तादात्म्येनेति यावत्।।५५९।। मन्त्रार्थयोः तादात्म्यचिन्तनेऽपि द्वयी गतिः — क्वचिद् मन्त्रस्य प्राधान्यं

आदि के अनुसार स्वयं व गुरुजनों से समझ लेना चाहिये। सभी श्रुतियों में नाना प्रकार के बहुतेरे साधन कहे हैं। मसलन, अविमुक्त आदि की उपासना ही वैराग्य का उपाय बताया गया है। (अविमुक्त से भ्रूमध्य समझ सकते हैं। वहाँ ईश्वर का ध्यान करना चाहिये। अथवा अविमुक्त कहते हैं काशीनगरी को। नियमतः सत्संग-शिवपूजनादि करते हुए वहाँ वासमात्र भी शनैः शनैः वैराग्यप्रद है। उस काशी को प्रतीक बनाकर विश्वनाथ का ध्यान भी कुछ लोगों ने माना है।)।।५५६।।

उपासना स्वयं ही मोक्ष नहीं दे सकती, ज्ञानहेतु बनकर ज्ञान द्वारा ही दे सकती है। जो जैसा नहीं उसे वैसा समझना—ऐसा विपरीत ज्ञान, अध्यास उपासनाओं का स्वरूप है। यह इसीसे स्पष्ट है कि नामादि-रहित स्वप्रकाश आनंदात्मा की उपासना ऐसे ही की जाती है कि वह नाम-रूप-क्रिया-स्थान-गुण आदि से सम्बद्ध है।।५५७।। कहीं सीधे परमात्मा ही उपासनीय कहा गया है (जैसे दहर विद्या में) और कहीं उसकी विभूतियाँ (अर्थात् उसके कल्पित हिस्से) उपासनीय बतायी हैं (जैसे आदित्य में ब्रह्म दृष्टि आदि)। विभूतियों में कुछ कारणरूप अर्थात् समष्टिरूप हैं जो आधिदैविक हैं जैसे हिरण्यगर्भादि, और कुछ कार्यरूप अर्थात् व्यष्टि हैं, अध्यात्म में स्थित हैं (जैसे प्राण, वाक् आदि)।।५५८।।

प्रश्ने च मुण्डके तद्वद् बृहदारण्यके[1] तथा। छान्दोग्ये कठवल्ल्यादावोङ्कारस्याऽप्युपासनम्।।५६१
रुद्राध्याये तथेशस्य मण्डलब्राह्मणेऽपि च। स्तुत्यादि सहितोपासा सर्वासूपनिषत्स्वपि।।५६२
सर्वोपनिषदो ब्रह्म निर्गुणं स्वात्मरूपतः। प्रतिबोधयितुं नृणां प्रवृत्ता आदरेण हि।।५६३
मन्दाधिकारिणो दृष्ट्वा स्वबोध्यान् बुद्धिमाश्रिताः। नानोपायैरिदं ब्रह्म नृणामावेदयन्ति ताः।।५६४
सर्वरूपं यतो ब्रह्म जगत्यस्मिन् व्यवस्थितम्। नामरूपक्रियाद्यैस्तु ततस्ता बोधयन्ति तत्।।५६५

विशेष्यत्वरूपम्, क्वचित्तु अर्थस्य; इति दर्शयंस्तत्र मन्त्रप्राधान्येनोपासनं यासूपनिषत्सु विहितं तासां नामानि पठति—अथवर्ण इति। अथर्वशिरःसंज्ञायामुपनिषदि, तथाऽऽथर्ववेदे वर्तमानायां शिखायां योगशिखाख्यायां, तापनीययोः पूर्वोत्तरयोः, माण्डूक्या-ऽऽत्मबोधयोः, नारायणीययोः अथर्वगतत्वतैत्तिरीयगतत्वेन द्विविधयोः, अमृतनादे, आदिपदग्राह्याऽमृतबिन्द्वादौ च मन्त्रस्य प्रणवस्य नृसिंहमन्त्रादेश्च प्राधान्यं श्रुतेरिष्टमित्यर्थः।।५६०।। प्रणवस्योपसर्जनतया यत्रोपासनविधानं ता उपनिषदो दर्शयति—प्रश्न इति। प्रश्नोपनिषदादौ प्रणवाऽर्थस्य प्राधान्येनोपासनं, प्रणवस्य तु उपसर्जनतयेत्यर्थः।।५६१।।

कुत्रचित् स्तुतिसहिता परमेश्वरोपासना विहिता, यथा रुद्राध्याये, मण्डलब्राह्मणे, पुरुषसूक्तादौ चेत्याह—रुद्राध्याय इति। स्तुत्यादीति आदिपदेन रहस्यनाम्नां मन्त्राणां च ग्रहः। न केवलम् उक्तोदाहरणेष्वेवोपासना विहिताः, किन्तु सर्वशाखागतासूपनिषत्सु अपि इति तुरीयपादार्थः।।५६२।।

ननु निर्विशेषवस्तुप्रदर्शनपरासु उपनिषत्सु उपासनविधानं किमर्थम् ? इति शङ्कते—सर्वोपनिषद इति। स्वात्मरूपतः प्रत्यग्रूपेण निर्गुणं ब्रह्म बोधयितुं यतः प्रवृत्ताः ततः तासूपासनविधानमयुक्तमिति भावः।।५६३।। स्थूलारुन्धतीन्यायेन मन्दानुग्रहाय तद्युक्तमिति समाधत्ते—मन्दाधिकारिण इति। ता उपनिषदः कर्त्र्यः, मन्दान् प्रत्यक्प्रवणताहीनान् अधिकारिणोऽपि स्वेन उपनिषत्स्वरूपेण बोधनीयान् आलोच्य बुद्धिं स्थूला-रुन्धतीन्यायसिद्धमुपदेशकौशलम् आश्रिता दधानाः सत्यो नानाविधवर्णनरूपैः उपायैः इदं निर्गुणं नृणाम् अधिकारिणां हिताय आवेदयन्ति चेतस्यवतारयन्तीत्यर्थः।।५६४।।

ननु ब्रह्मणो नानाविधं वर्णनं न सम्भवति, तस्यैकरसत्वात् ? इत्याशंक्य; कल्पितोपाधिनिबन्धनं तस्य नानाविधं वर्णनं सम्भवतीत्याह—सर्वेति। ब्रह्म यतः सर्वरूपं सर्वस्याऽधिष्ठानतयाऽऽत्मभूतं ततः सर्वत्र जगति

कभी प्रणवादि विविध मंत्रों से तादात्म्यापन्न इस महादेव की उपासना की जाती है।।५५९।। इन उपासनाओं में कहीं वे बतायी हैं जिनमें मंत्र की प्रधानता रहती है जैसे अथर्वशिर उपनिषत् में, अथर्ववेद में आयी शिखोपनिषत् (योगशिखोपनिषत्) में, (नृसिंह) पूर्वतापनीय एवं उत्तरतापनीय उपनिषदों में, माण्डूक्य में, आत्मबोधोपनिषत् में, अथर्ववेद में आयी और तैत्तिरीय संहिता में आयी नारायणीय उपनिषदों में, अमृतनादोपनिषत् में, तथा अन्यत्र भी अनेक जगह विहित उपासनाओं में मंत्र की प्रधानता है।।५६०।। कुछ जगह वे उपासनाएँ करने को कहा है जिनमें मंत्र गौण हैं, अर्थ ही प्रधान है जैसे प्रश्नोपनिषत् (५) में, मुण्डकोपनिषत् (२.२.३ आदि) में, बृहदारण्यक (५.१) में, छान्दोग्य (२.२३) में, कठोपनिषत् (१.२.१५ आदि) में, तथा अन्यत्र भी जहाँ प्रणव द्वारा ब्रह्मोपासना कही है।।५६१।। कहीं स्तुतिसहित परमेश्वर की उपासना विहित है जैसे रुद्राध्याय में ('नमस्ते रुद्र !' आदि शतरुद्रिय में), मण्डलब्राह्मण में, तथा पुरुषसूक्तादि अन्यत्र भी। स्तुति, रहस्यभूत नाम आदि मंत्रों सहित ईश्वरोपासना का प्रसंग प्रायः सभी उपनिषदों में आया है।।५६२।।

सब उपनिषदें निर्गुण ब्रह्म को प्रत्यग्रूप से तात्पर्यतः समझाने में प्रवृत्त हैं।।५६३।। जो शास्त्राधिकारी मंद हैं, प्रत्यक्स्वरूप की ओर ही रुझाव वाले नहीं हैं उन्हें नानाविध वर्णनों से उपनिषदें निर्गुण तक पहुँचाती हैं जैसे अनेकाग्र नेत्र वाले को स्थूल तारे दिखा कर अरुंधती दिखाते हैं।।५६४।।

---

१. 'अत्र च ब्रह्मेति विशेष्याभिधानं खमिति विशेषणम्' इत्यादि भाष्यम्। (५.१.१ पृ. ३६४)

क्वचिदत्रैव संलीनव्यापाराः प्रतिपादनात्। प्रयान्त्युपरतिं क्वाऽपि प्रतिबोधयितुं पुनः।।
निर्गुणं ब्रह्म शतधा वदन्ति हितकारिकाः।।५६६
बृहदारण्यकाद्यास्ता व्याख्याता भवते मया। शेषाश्च व्याकरिष्यामि प्रसङ्गात् सकला अपि।।५६७
एवं नानाविधोपायैरुपास्य परमेश्वरम्। शुद्धचेता विरक्तोऽयं पुमानत्र प्रजायते।।५६८

निष्कामकर्म

अथ वा कर्मकाण्डोक्तं कुर्वाणः कर्म चाऽखिलम्। निजवर्णाश्रमप्रोक्तं फलाशापरिवर्जितः।।
विरक्तोऽत्र पुमान् भूयात् कालतो नैव संशयः।।५६९
ब्रह्मविज्ञानसिद्ध्यर्थमथ वा कर्म कुर्वतः। विरक्तिर्जायते पुंसो भोगे लोकद्वयस्थिते।।५७०

व्यवस्थितं रजते शुक्तीदमंशवत् सद्रूपेण अनुगतं भवति। ततः तेन कल्पितोपाधिसान्निध्येन तद् निर्विशेषमपि ब्रह्म नाम-रूप-क्रिया-स्थान-गुणैः विशिष्टतया प्रतिपादयन्ति उपनिषद इत्यर्थः।।५६५।। तत्र सविशेषप्रतिपादने द्वेधा प्रवृत्तिः—बाधावसाना, तदनवसाना च। तत्रान्त्या तदा भवति यदा श्रुतेरित्थमाशयः—एतेऽधिकारिणः शुद्धचित्ताः सन्तः स्वयमेव उपाधिसम्बन्धमपहाय निर्विशेषमवगमिष्यन्तीति। यदा तु कारुण्यातिशयेन अधिकारिणाम् अनुसन्धानक्लेशं न सोढुं शक्नुवन्ति, तदा निर्विशेषमपि ता वर्णयन्तीत्याह—क्वचिदिति। ता उपनिषदः क्वचिदत्र सविशेषरूप एव संलीनव्यापाराः सत्यो निर्विशेषस्य प्रतिपादनादुपरतिं विरामं यान्ति। क्वापि पुनः क्वचित्तु प्रति आभिमुख्येन बोधयितुं निर्गुणं ब्रह्म शतधा वर्णयन्ति, यतो हितकारिका अनुग्रहाकुला इत्यर्थः।।५६६।। तासां निर्गुणप्रतिपादनप्रकारः प्रायशो बृहदारण्यकादीनां निर्दिष्टः, अवशिष्टानान्तु प्रदर्शयिष्यत इत्याह—बृहदिति। ता उपनिषदः। व्याकरिष्यामि स्फुटाशयाः करिष्यामि।।५६७।।

उक्तं विचारं प्रकृते सङ्गमयति—एवमिति। एवंविधया श्रुतिसिद्धैः नानाविधोपासनारूपैः उपायैः परमेश्वरम् आराध्य विरागलक्षणां चित्तशुद्धिं प्राप्नोति पुमानित्यर्थः।।५६८।।

उपासनाऽशक्तौ भगवद्गीतोक्तविधया निष्कामकर्मानुष्ठानमपि विलम्बेन चित्तशुद्धिहेतुरित्याह—अथ वेति। स्पष्टम्।।५६९।। अथ वा 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' (बृ. ४.४.२२) इत्यादिश्रुत्या सकलानि सत्कर्माणि ब्रह्मज्ञानार्थतया विहितानि। तदालोच्य ब्रह्मविद्यार्थतया यागादिकर्माणि कुर्वंश्चित्तशुद्धिं लभत इत्याह—ब्रह्मविज्ञानेति। लोकद्वयस्थिते ऐहिके, आमुष्मिके च।।५७०।। अथ वा 'यत्करोषि

यद्यपि स्वरूप से ब्रह्म निर्विशेष एकरस है तथापि सभी का अधिष्ठान होने से सभी का आत्मा है अतः रजत में सींप के 'यह'-पने की तरह सारे जगत् में सद्रूप से अनुस्यूत है। अतः कल्पित उपाधियों की संनिधिवश वह निरुपाधि ब्रह्म भी नाम-रूप-क्रिया-स्थान-गुणों से मानो विशिष्ट है यों उसका वर्णन उपनिषदें कर देती हैं ताकि सविशेषरूप में ही सही, ब्रह्म पर बुद्धि तो टिके।।५६५।। कहीं उपनिषदें सविशेषरूप बताकर ही चुप हो जाती हैं क्योंकि मानती हैं कि उस रूप की उपासना से चित्त शुद्ध हो जाने पर अधिकारी स्वयं ही उपाधिविवेक कर स्वरूपमात्र समझ सकते हैं। प्रारंभ में ही सविशेषवर्णन के साथ निर्विशेष वर्णन कर देने से सामान्य साधक सविशेष पर दृढ नहीं हो पायेगा। इससे विपरीत कहीं उपनिषदें सविशेष कह कर निर्गुण ब्रह्म समझाने के लिये स्वयं सैकड़ों तरह से वर्णन करती हैं, सविशेष की विशेषताओं का विवेककर अपवाद कर देती हैं क्योंकि हितकारी होने से उनका मानना है कि कहीं भी यदि सविशेष का अपवाद नहीं किया तो अधिकारी को यह दिशानिर्देश कैसे मिलेगा कि विशेषताओं का बाध करना चाहिये!।।५६६।। बृहदारण्यक आदि उपनिषदें मैं तुम्हें समझा चुका हूँ। बाकी उपनिषदों के भी प्रधान प्रसंग लेकर मैं सभी का आशय स्फुट कर दूँगा।।५६७।। यहाँ इतना ही अभिप्राय है कि अनेक तरह के उपायों से परमेश्वर की उपासना करने से पुरुष शुद्ध मन वाला अतः संसार के प्रति वैराग्य वाला हो जाता है जिससे वह संन्यास में अधिकार पा लेता है।।५६८।।

ईश्वरार्पणबुद्ध्या वा कर्मजातं प्रकुर्वतः। पुंसो विरक्तिसिद्धिः स्यात् सर्वथैवाऽपि कामिनः।।५७१

एवं नानाविधोपाया विरक्तौ तेषु कञ्चन। आस्थाय तां विधायाथ कुर्यात् संन्यासमात्मवान्।।५७२

यदश्नासि' (९.२७) इति गीतोक्तविधया ईश्वरार्पणेन कर्म कुर्वतः सकामस्याऽपि चित्तशुद्धिर्भवतीत्याह—ईश्वरेति। स्पष्टम्।।५७१।। फलितमाह—एवमिति। एवम् उक्तविधया नानाप्रकारा उपाया विरक्तेः प्रयोजकाः सन्ति, तेषां मध्ये यं कंचन उपायम् आस्थाय आलम्ब्य अथ तां विरक्तिं सम्पाद्य संन्यसेद् इत्यर्थः।।५७२।।

जो व्यक्ति उपासना में सक्षम न हो—क्योंकि उपासना सूक्ष्म क्रिया होने से मन-बुद्धि की बहुत एकाग्रता एवं निष्ठा चाहती है—वह शास्त्र के कर्मविधायक काण्ड में विहित वर्ण-आश्रम-निमित्तक तथा अन्य आवश्यक सब कर्म उनके फलों की इच्छा छोड़कर करे। इस निष्काम कर्मानुष्ठान से भी पुरुष अवश्य संसार से वैराग्यवान् होगा लेकिन इस प्रक्रिया में विलम्ब होना स्वाभाविक है। (उपासना तो कर्मसमुच्चित ही होती है अतः उससे फल शीघ्र होना उचित है। किं च उपासना मन-बुद्धिप्रधान होने से वैराग्यरूप बौद्धिक-मानसिक फल भी उससे शीघ्र होना संगत है। कर्म क्योंकि दृष्ट साधनों की प्रधानता वाले ही होते हैं अतः कर्म से उन सब सांसारिक चीज़ों के प्रति और उनके साधनों के प्रति उपादेयताबुद्धि रहती ही है जिससे उनके प्रति वैराग्य होने में विलम्ब स्वाभाविक है। शास्त्रोक्त कर्म करने वाले को अवश्य बहुत-से सांसारिक कर्म करते ही रहने पड़ते हैं अतः संसारसंस्कार कम होना मुश्किल रहता है। यद्यपि उपासक भी प्रधानतः तो गृहस्थादि कर्मी ही होगा तथापि वह अधिक यत्नशील होने से शीघ्र फल पा सकता है। वस्तुतः तो पूर्वदर्शित योगात्मक उपासना प्रधानतः वैराग्यप्रद है जिसे ब्रह्मचर्य दशा में कर लेने से सीधे ही संन्यासाधिकार प्राप्त हो सके। एक बार गार्हस्थ्य ग्रहण कर लेने के बाद विवेकपूर्ण वैराग्य साधनों से भी प्राप्त करना अत्यन्त कठिन होता है और कथंचित् होने पर भी इतने विलंब से होता है कि फिर संन्यासोचित साधनों के अनुष्ठान का बल और समय रहता नहीं। अतः प्रारंभ से ही सावधानी रखना उचित है)।।५६९।। सर्वथा फलासक्ति छोड़कर कर्म न कर सके तो ब्रह्मज्ञानरूप फल के लिये सारे शुभ कर्म करे, उससे भी इह-परलोकों के भोगों से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। (एक कर्म अलग-अलग फलों में विनियुक्त हो सकता है पर एक बार किये कर्म का एक ही फल होगा, जिसके उद्देश्य से कर्त्ता ने उसे किया है। वाहन से अनेक जगह जा सकते हैं पर एक बार की यात्रा से तो एक ही जगह पहुँचेंगे ! वेद ने कर्मों के स्वर्ग, पशु आदि बहुतेरे फल बताये हैं और सभी कर्मों का एक फल यह भी बता दिया है कि उनसे ब्रह्मज्ञान हो सकता है। कर्त्ता यदि स्वर्गादि के लिये करेगा तो कर्म से स्वर्गादि पायेगा और ब्रह्मज्ञान के लिये कर्म करेगा तो वैराग्य पायेगा क्योंकि ज्ञान का यही प्रधान द्वार है। बिना वैराग्य के ज्ञान हो नहीं सकता। वैराग्य के बाद श्रवणादि में प्रवृत्ति के उपयुक्त साधन आदि का लाभ भी वे पूर्वकृत कर्म ही करा देते हैं। श्रवणादि तो दृष्टफलक होने से ज्ञान के लिये अनिवार्य हैं। श्रवणादि हो सकें, इनमें विघ्न न आये और इनसे ज्ञान हो जाये यह अदृष्टव्यवस्था पूर्वकृत कर्म करता है। अतः समस्त वैध कर्म ब्रह्मज्ञान के लिये किये जा सकते हैं। ब्र. सू. ४.३.२६ आदि में यह निर्णीत है।)।।५७०।।

जो कर्मों के अलग-अलग फलों की कामना भी छोड़ नहीं पाये वह कुछ-न-कुछ कर्म इस भाव से करे कि 'यह कर्म मैं ईश्वर के लिये कर रहा हूँ'। यों करने से भी विरक्ति सिद्ध हो जाती है। (जैसे धन किसीको अर्पित करते हैं अर्थात् उस पर से अपना ममत्व हटा लेते हैं और जिसे अर्पित किया उसका उस पर स्वातंत्र्य मान लेते हैं कि वह उस धन का चाहे जो विनियोग करे या न करे इससे दाता को कोई मतलब नहीं। ऐसे ही कर्म ईश्वर को अर्पित करना चाहिये। यहाँ कामनावान् की बात है अतः सारे कर्म तो अर्पित नहीं करेगा, कुछ कर्म अर्पित कर सकता है। अर्पण कर दिया अर्थात् उस कर्म का कोई उपयोग वे करें न करें इससे कर्त्ता को (अर्पण करने वाले को) कोई सरोकार नहीं। श्रेष्ठ व्यक्ति को श्रेष्ठ वस्तु ही अर्पण की जाती है। भगवान् सर्वश्रेष्ठ हैं अतः अपना सर्वश्रेष्ठ कर्म ही उन्हें अर्पण करना चाहिये। कर्म करने से पूर्व भी संकल्प किया जा सकता है कि 'इसे भगवदर्पण करुँगा' और कर्म अपने लिये करके

इति ते काल आख्यातः संन्यासे च वदामि ते। अधिकारिणमत्रोक्तमोक्षशास्त्रेषु सर्वतः।।५७३

संन्यासाधिकारी

वित्तलोकसुतानां स्युरिच्छा नृणां हि सर्वदा। यास्ताभिः परिशून्यो यः सोऽधिकारी प्रकीर्तितः।।५७४

सैषणस्याश्रमक्रमः

तासां सत्त्वे भवेत् पूर्वं ब्रह्मचारी ततो गृही। ततो वनी ततो न्यासं हंसोऽतो न चतुर्थकः।।५७५

चतुर्थः परमो हंसो लोकद्वयगतस्पृहः। यः कश्चित् स तु विज्ञेयो मायापाशवशङ्गतः।।५७६

तीव्रतर-वैराग्यरूपस्य संन्यासकालस्य वर्णनमुपसंहरंस्तदधिकारिणं वक्तुं प्रतिजानीते—इति त इति। अत्र संन्यासे योग्यो योऽधिकारी सर्वेषु मोक्षशास्त्रेषु वर्णितः तं ते वदामि इति।।५७३।। तत्र बृहदारण्यके—'एषणाभ्यो व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृ. ३.५.१) इति वाक्येनोक्तं मुख्यमधिकारिविशेषणमाह—वित्तेति। वित्तं दैवं विद्यात्मकं, लौकिकं हिरण्यादिरूपम्; लोको देवपितृमनुष्यसम्बन्धित्वेन त्रिविधः; सुतः पुत्रः; एतेषां त्रयाणां याः तिस्र इच्छाः पञ्चमाध्याये वर्णिताः, ताभिः वर्जितत्वलक्षणं वैराग्यं मुख्यमधिकारिविशेषणमित्यर्थः।।५७४।।

अथ जाबालचतुर्थखण्डवाक्यार्थं वर्णयंस्तत्रोक्तं विरागाऽभावे क्रमेण आश्रमचतुष्टयानुष्ठानं दर्शयति—तासामिति। तासां वित्तादिगोचरेच्छानां सत्त्वे तु ब्रह्मचर्यं, गृहस्थत्वं, वनस्थत्वं कृत्वा ततो वनस्थत्वादनन्तरं न्यासं कुर्यात्। तत्राऽयं विशेषः—अत एतमाश्रमचतुष्टयक्रममाश्रित्य चतुर्थो हंसः परमहंसो न भवेत्, किन्तु कुटीचकादित्रयान्यतममेव न्यासं कुर्याद् इत्यर्थः।।५७५।। तत्र हेतुतया पारमहंस्यस्य उत्कटवैराग्यमात्रतन्त्रत्वमाह—चतुर्थ इति। यतो लोकद्वयाद् गतस्पृहो यः स एव न्यासभेदेषु चतुर्थं पारमहंस्यं गन्तुं योग्यो, नान्तःस्थकामजट' इत्यर्थः।।५७६।।

भी बाद में उसे भगवदर्पण किया जा सकता है। 'इस अर्पण से भगवान् अवश्य प्रसन्न हों' यह भी आशा नहीं रखे तभी अर्पण है; वे प्रसन्न हों, न हों, मैंने जो सर्वश्रेष्ठ समझा वह उन्हें अर्पण कर दिया—यही अर्पण की दृष्टि है। इससे भी कृपा कर भगवान् साधक को वैराग्य करा देते हैं। यह विशेषतः भगवद्गीता के आधार पर बताया साधन है। सीधे ही उपनिषदों में इसका उल्लेख अन्वेषणीय है।)।।५७१।।

इस प्रकार वैराग्यलाभ के नाना उपाय हैं। इनमें से अपनी योग्यतानुसार कोई भी उपाय अपना कर वैराग्य पा लेना चाहिये, तब पुरुषार्थी को संन्यास ग्रहण करना चाहिये।।५७२।। यह तो हुआ संन्यास के काल का विचार। अब संन्यास के अधिकारी का वर्णन करता हूँ। मोक्ष सम्बंधी उपदेशों में सभी जगह अधिकारी के लिये जो आवश्यक अर्हता कही है वह बताता हूँ।।५७३।।

नरों को हमेशा वित्त की, लोक की और पुत्र की इच्छा होती है। पाँचवें अध्याय श्लो. २३२ आदि में यह समझा चुके हैं। जो उन इच्छाओं से रहित है वह संन्यास में अधिकारी है। (वित्त अर्थात् धन। इहलोक का धन सुवर्णादि संपत्ति है, परलोक का धन उपासनाप्राप्त अदृष्ट है। लोक से मनुष्यलोक, पितृलोक, देवलोक तीनों समझने चाहिये। मनुष्यों की सारी इच्छाएँ, इन्हीं तीन श्रेणियों में बँट सकती हैं। जिसे ये इच्छायें नहीं, इनकी पूर्ति को जो अहमियत नहीं देता बल्कि उसे तुच्छ, निर्मूल्य समझता है वही आत्मलोक चाहने वाला है, वही परमहंस संन्यास का अधिकारी है। इच्छा रखते यदि कोई संन्यास लेगा तो या नैराश्यादि से दुःखी रहेगा और या पथभ्रष्ट होकर कर्म में संलग्न हो जायेगा। 'कारक साधन' अर्थात् कर्म अपनाना भिक्षु का पतन है ऐसा सर्वज्ञ आचार्य ने बताया है।)।।५७४।।

उक्त इच्छाएँ रहते तो साधक को पहले ब्रह्मचारी बनना चाहिये, फिर गृहस्थ, फिर वानप्रस्थी और तब संन्यास ग्रहण करे किंतु परमहंस न बनें, कुटीचकादि जो संन्यास निभा सके वही ग्रहण करे। चौथा जो परमहंस संन्यास है उसका वही अधिकारी है जिसे इहलोक-परलोक के बारे में कोई स्पृहा नहीं है। जो माया के कामना-पाश के वशीभूत है वह इस संन्यास का अधिकारी नहीं।।५७५-६।।

---

१. तथा च मूले 'न' इत्यध्याहार्यम्। यथाश्रुते त्वमायेति छित्वाऽधिकारी विशेषणतया योजनीयम्।

विरक्तः संन्यसेत्

ब्रह्मचर्याद् गृहाद् वाऽपि वनाद् वा प्रव्रजेदयम्। सर्वैषणाविनिर्मुक्तो नैष्कर्म्यप्राप्तसंस्पृहः।।५७७

वर्णाश्रमादिसंयुक्तः सर्वेन्द्रियगुणैर्युतः। विपरीतोऽथ वा यस्माद् निराशोऽत्राधिकारवान्।।५७८

वेदव्रतैर्विहीनो वा सहितस्तैश्च वा पुमान्। अधीत्य वेदं वेदौ वा वेदान् वा स्नानमागतः।।

एतदध्ययनाभावाद् अथ वा स्नानवर्जितः।।५७९

उत्सन्नाग्निर्निमित्तेन केनचिद् वाऽप्यनग्निकः। श्रौतस्मार्त्ताग्निवित्तेषु स्वीकाराऽभावतश्च तौ।।५८०

वैराग्योत्कर्षे सति क्रमनियमो नास्ति, किन्तु ब्रह्मचर्याद्याश्रमान्यतमानन्तरम् अपि पारमहंस्यं श्रयेदित्याह—ब्रह्मेति। नैष्कर्म्ये मोक्ष एव प्राप्ता प्रवृत्ता सम्यक् स्पृहा यस्य स तथा; वित्ताद्येषणाविनिर्मुक्तः चेत् स्यात्, तर्हि ब्रह्मचर्यानन्तरमेव संन्यसेदित्यर्थः। अत्र ब्रह्मचर्यस्य अवधित्वोपन्यासेन ततः पूर्वं न संन्यासाधिकार इति सूचितम्।।५७७।। वैराग्योत्कर्षस्य न्यासाधिकारसम्पादकतां विशदयंस्तस्य विधुरादीनामपि न्यासयोग्यता-प्रयोजकत्वमाह—वर्णाश्रमादीति। वर्णाश्रमाणाम् आदयः कारणानि लिङ्गानि—यथा ब्रह्मचर्यस्य गुरुकुलवासादि, गृहस्थस्य दारसंयोगो, वनस्थस्य जटाधारणादि, कुटीचकादीनां त्रिदण्डधारणादि,—तैः संयुक्तः सर्वेन्द्रियसम्पन्नश्च वा भवतु, तद्विपरीतो वर्णाश्रमादिधर्महानिरूपविधुरत्ववान् इन्द्रियवैकल्यादिमांश्च वा भवतु, स निराशो विगतैषणः स्यात् तर्हि अत्र पारमहंस्येऽधिकारवान् भवत्येवेत्यर्थः।।५७८।।

संक्षिप्योक्तं प्रपंचयन् श्रौतानाम् 'अव्रती' त्यादिपदानामर्थमपि दर्शयति—वेदेति। वेदव्रतानि वेदाध्ययनाङ्गभूतानि व्रतानि ब्रह्मचारिधर्मरूपाणि तैर्युक्तो व्रतीत्युक्तः तदभावोऽव्रतित्वम् इत्यर्थः। उक्तव्रतैः एकं द्वौ बहून् वा वेदान् अधीत्य यः स्नानं समावर्तनं प्राप्तः स स्नातक इत्युक्तः तद्विलक्षणो वेदैकदेशमात्रपाठी तु अस्नातकः। एतेषु अन्यतमोऽपि संन्यसेद् इति तृतीयेनाऽभिसम्बन्धः।।५७९।। उत्सन्नाग्निरिति। केनचिद् दारमरणादिरूपनिमित्तेन संगृहीतोऽप्यग्निर्यस्य विनष्ट स उत्सन्नाग्निः इत्युक्तः। तादृशनिमित्तेन अपरिगृहीताग्निकस्तु अनग्निक इत्युच्यते। अथ वा तौ उत्सन्नाग्न्यनग्निपदवाच्यौ श्रौतानां दक्षिणाग्न्यादीनां स्मार्तस्य औपासनाख्यस्य चाग्नेः, तद्ग्रहणोपयोगिनो वित्तस्य वा स्वीकाराभावरूपनिमित्तकौ बोध्यौ। तत्र श्रौतस्मार्ताग्निस्वीकाराऽभावे-उत्सन्नाग्नित्वम्, उत्सन्नः अलब्धमूलकः अग्निर्यस्य स तथा इति व्युत्पत्तिसमन्वयात्। आधानसंस्कृताग्निर्हि तत्तत्कर्मोपयुक्ताऽग्नीनां मूलम् इति प्रसिद्धम्। याज्ञिकानां वित्तस्वीकाराभावे तु—अनग्नित्वम् इति विवेकः।।५८०।।

यद्यपि सामान्य मुमुक्षु के लिये उक्त आश्रमक्रम है तथापि जिसे निष्कर्मतारूप मोक्ष की उत्कट अभिलाषा हो जाने से बाकी सारी सांसारिक इच्छाएँ छूट जायें वह ब्रह्मचर्य से भी संन्यास ले सकता है। यदि यह स्थिति गृहस्थदशा में प्राप्त हो तो बिना वानप्रस्थ बने भी संन्यास ले सकता है और वनी होने पर यह स्थिति मिले तो कुटीचकादि क्रम छोड़कर सीधे ही परमहंस संन्यास ले लेवे।।५७७।। (संन्यास श्रौत संस्कार है अतः मंत्रादिपूर्वक द्विज को ही इसमें अधिकार है जिससे यह भी नियम बन जाता है कि ब्रह्मचर्य के बाद ही संन्यास किया जा सकता है क्योंकि द्विज को उपनयनपूर्वक ब्रह्मचर्य अवश्य करना पड़ता है।) पारमहंस्य में अधिकारी वही है जो एषणाओं से छूट चुका। भले ही वह वर्णों के व आश्रमों के चिह्नों से युक्त हो या विधुर आदि होने से उन चिह्नों से वर्जित हो, उसकी सारी इंद्रियाँ ठीक हों या न हों, इनसे उसके अधिकार का मतलब नहीं; अधिकारी वह तब होगा जब सांसारिक कोई आशा न रखे। ('प्रधानोपकाराय चांगं विधीयते' यह भाष्य है (ब्र. सू. ३.४.५०) अतः वही इंद्रियविकल संन्यासाधिकारी है जो संन्यास में किये जाने वाले श्रवणादि में समर्थ है। इंद्रियविकल अतः कर्मानधिकारी के लिये संन्यास की विधि भाष्यादिकारों ने मानी है, उसी के आधार पर उन्होंने कहा है कि केवल उसी के लिये संन्यास नहीं है, सभी विरक्तों के लिये है, इंद्रियविकल भी विरक्त होने पर ही संन्यासाधिकारी है।)।।५७८।।

वैराग्यं परमं प्राप्तो ह्यथ वाऽपि कुटीचकः। बहूदकोऽथ वा हंसः परो हंसो भवेदिह।।५८१

संन्यासात्प्राक् श्राद्धम्

विधानं तत्र वक्ष्यामि परहंसाश्रमग्रहे। संन्यासग्रहणात् पूर्वे दिवसे मङ्गलैर्युतः।।५८२
विवाहादौ यथा श्राद्धं कुर्यान्नान्दीमुखं तथा। सत्याश्च वसवस्तद्वद् विश्वे देवा इहेरिताः।।५८३
श्राद्धाष्टकं भवेदत्र नवमं वैश्वदैवकम्। मातुर्मातामहानां च विभेदाद् दशमं पुनः।।५८४
केचिदाहुः परे त्वैक्यं मुनयः प्रवदन्त्यपि। अनयोस्तु कुलाचाराद् भेदाभेदौ व्यवस्थितौ।।५८५
भेदे क्रमोऽयं विज्ञेयो ह्यनयोः श्राद्धयोः सदा। माता पितामही तद्वत्तृतीया प्रपितामही।।५८६

परवैराग्ये कुटीचकादीनामपि पारमहंस्याधिकार इत्याह—वैराग्यमिति। स्पष्टम्।।५८१।।

अथ पारमहंस्यग्रहणस्य इतिकर्तव्यताविशेषं वक्तुमुपक्रमते—विधानमित्यादिना। 'अधिकारप्रसङ्गात् ते' (श्लो. ७६८) इत्यतः पूर्वग्रन्थेन। तत्र वर्णितकालाधिकारके पारमहंस्यग्रहणे यद् विधानम् इतिकर्तव्यताख्यं तद् वदामि इति। आदौ नान्दीमुखश्राद्धं कर्तव्यतया विहितं; तथा चोक्तं वृद्धगर्गेण 'अग्न्याधानाभिषेकेषु इष्टापूर्तक्रियाक्रतौ। वृद्धिश्राद्धं प्रकुर्वीत चाश्रमग्रहणे तथा।।' इति। सत्याश्चेति। इह न्यासाङ्गभूते नान्दीमुखे वसुसत्यनाम्ना विश्वे देवाः पूज्याः। इति द्वयोरर्थः।।५८२-३।।श्राद्धाष्टकमिति। तथाऽत्र न्यासग्रहणाङ्गे नान्दीमुखेऽन्तर्गतं श्राद्धानामष्टकं भवति। तन्नामानि शौनकेनोक्तानि 'दैवं चैवार्षकं चैव दिव्यं मानुष्यमेव च। भूतश्राद्धं पितृश्राद्धं मातॄणामात्मनस्तथा।।' इति। अस्य श्राद्धाष्टकस्य आदौ कर्तव्यं विश्वेदेवसम्बन्धिश्राद्धं नवमं भवतीत्यर्थः। मातुरिति। अन्तेऽनुष्ठेयं दशमम् अपि केचित् शौनकादयो वदन्ति। किं कृत्वा ? मातुः इति जातावेकवचनम्, मातॄणां मातामहानां च श्राद्धयोः विभेदम् अभिसन्धाय। मूले पञ्चमी ल्यब्लोपे। परे आपस्तम्बादयो मातॄणां मातामहानां च ऐक्यम् अभेदं वदन्ति। तथा च तन्मते विश्वेदेवपूर्वकं श्राद्धाष्टकमेवेत्यर्थः। एवं सति अनयोः मातृमातामहश्राद्धयोः भेदेन अभेदेन चानुष्ठानं यथाकुलाचारं व्यवस्थितं व्यवस्थां गतम्। इति द्वयोरर्थः।।५८४-५।। भेदपक्षेऽपि मातृश्राद्धदेवतानां भेदं दर्शयति—भेद इति। क्रमो नाम्नामानुपूर्वी; मतभेदेनेति शेषः। मातृश्राद्धस्य

वेदाध्ययन के अंगभूत व्रतों का पालन करने वाला हो या न हो, वह एक, दो या तीनों वेद पढ़कर स्नातक बन गया हो या न बना हो, वेद पढ़ न पाया हो,—जैसा भी हो, यदि विरक्त है तो संन्यास ले सकता है।।५७९।। उत्सन्नाग्नि हो या अनग्नि हो, वैराग्य होने पर संन्यास में अधिकारी है ही। पत्नी-मृत्यु आदि निमित्त से जिसका अग्नि-कर्म छूट चुका वह उत्सन्नाग्नि कहा जाता है। जिसने अग्नि ग्रहण ही नहीं की वह अनग्नि है। अग्निपरिचर्या वित्तसाध्य है। जिसने वित्त ही नहीं स्वीकारा वह भी अनग्नि ही है।।५८०।। कुटीचक, बहूदक, हंस भी जब उन्हें परम वैराग्य हो जाये तब परमहंस बनें यह उचित है।।५८१।।

परमहंसाश्रम ग्रहण करने के क्रमभूत शास्त्रोक्त संस्कार बताता हूँ : जिस दिन संन्यास संस्कार होना हो उससे एक दिन पूर्व मांगलिक कृत्यों सहित नान्दीमुख श्राद्ध करना चाहिये जैसे विवाहादि शुभ अवसरों पर करते हैं। संन्यास के अंगरूप से किये जाने वाले नांदीमुख में वसु-सत्य नाम से विश्वेदेवों का पूजन होता है।।५८२-३।। संन्यासांगभूत आठ श्राद्ध करने ज़रूरी हैं जिनसे पूर्व विश्वेदेव-संबंधी श्राद्ध नवाँ हो जाता है। किसी परंपरा में माता और नाना के श्राद्ध अलग-अलग मानकर दस श्राद्ध भी कहे जाते हैं। आपस्तम्बादि तो उक्त दोनों को अलग-अलग नहीं गिनते जिससे आठ ही श्राद्ध होते हैं। अपने-अपने कुलाचार-अनुसार श्राद्धसंख्या निर्धारित कर लेनी चाहिये।।५८४-५।। उक्त श्राद्धों को विभिन्न मानने वालों के भी दो मत हैं : एक के अनुसार मातृश्राद्ध में माता-पितामही-प्रपितामही की गणना है व दूसरे के अनुसार माता-मातामही-प्रमातामही की।।५८६-७।। मातामह-श्राद्ध के तीन पुरुष हैं—मातामह-प्रमातामह-

मातुः श्राद्धे वदन्त्येके केचिन्मात्रा समन्विते। मातामही तृतीया च प्रकृष्टा सा च ते उभे।।५८७
श्राद्धे मातामहेऽप्याहुः पुरुषांस्त्रीन् महाधियः। मातामहो द्वितीयः स्यात् प्रमातामहकस्तथा।।५८८
तृतीयश्च तथा वृद्धप्रमातामहकः स्मृतः। इति भेदे समुद्दिष्टं त्रिकं श्राद्धद्वयेऽपि हि।।५८९
मातृमातामहश्राद्धे यदा द्वैधं न विद्यते। तदाऽपि त्रिकभेदः स्यात् कुलाचारस्य भेदतः।।५९०
माता पितामही तद्वत् तृतीया प्रपितामही। एवमेके त्रिकं प्राहुरन्य एवं वदन्ति च।।५९१
[1]माता मातामहीत्यादि मातृश्राद्धे त्रिकं भवेत्। कुलाचारोऽत्र सर्वत्र प्रमाणं कीर्तितो द्विजैः।।५९२
माता पितामहीत्यादिमातृश्राद्धे त्रिकं भवेत्। कुलाचारानभिज्ञत्वे बहुलं तद् यतो जने।।५९३
ब्रह्मा विष्णुर्महेशश्च देवश्राद्धे त्रयं स्मृतम्। देवक्षत्रमनुष्याश्च ऋषिश्राद्धे मुनीश्वराः।।५९४
वसुरुद्रादित्यसंज्ञा दिव्यश्राद्धे प्रकीर्तिताः। सनकः सनन्दनः सनत्कुमारो मानुषेऽपि च।।५९५
पृथिव्यादिमहाभूतपञ्चकं नयनादिकः। तथैव करणग्रामः स्वेदजादिचतुष्टयम्।।
भूतश्राद्धे त्रिकं प्रोक्तम् एतद्देवतया सदा।।५९६

देवता मातृ-पितामही-प्रपितामह्यः केषांचिन्मते भवन्ति। केषांचित्तु मात्रा समन्विते ते उभे; 'ते' के ? मातामही द्वितीया, तृतीया तु सा मातामही प्रकृष्टा प्रमातामहीति यावत्। इति द्वयोरर्थः।।५८६-७।। मातामहश्राद्धेऽपि मातामहादयः त्रयो देवा इत्याह—श्राद्ध इति। मातामहे मातामहसम्बन्धिनि। भेदपक्षे विशेषप्रदर्शनमुपसंहरति—इतीति।।५८८-६।। मातृमातामहश्राद्धयोरैक्यपक्षेऽपि मतभेदेन नामत्रयोच्चारणं व्यवस्थितमित्याह— मात्रिति। द्वैधं भेदः। त्रिकस्य मातृश्राद्धदेवतात्रयस्य भेदो वैलक्षण्यम्।।५६०।। त्रिकभेदमभिनयति—मातेति। मात्रादि-प्रपितामह्यन्तं त्रिकं केषाञ्चिन्मते। केषाञ्चित्तु मात्रादि-प्रमातामह्यन्तम् इति। तदनुष्ठानं यथाकुलाचारम्। इति द्वयोरर्थः।।५६१-२।। यस्तु विस्मृतकुलाचारकः तेनाऽपि 'बहूनामनुग्रहो न्याय्यः' इति न्यायेन मातृ-पितामही-प्रपितामहीरूपं त्रिकमेव मातृश्राद्धे समर्च्यम् इत्याह—मातेति। यतः तत् प्रपितामह्यन्तत्रिकानुष्ठानं जने लोके बहुलं बहुभिरनुष्ठितमिति तुरीयपादार्थः।।५६३।।

अथोक्तश्राद्धानां क्रमेण सम्बन्धीनि देवतात्रिकाणि शौनकोदितानि अनुष्ठानसौकर्याय प्रदर्शयति—ब्रह्मेति। प्रथमानुष्ठेये देवश्राद्धे क्रमेण ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा देवताः। द्वितीये ऋषिश्राद्धे तु देवर्षयो राजर्षयो मनुष्यर्षयश्च देवता इत्यर्थः।।५६४।। वस्विति। तृतीये दिव्ये श्राद्धे क्रमेण वसवो रुद्रा आदित्याश्च देवताः। तुर्ये मानुषश्राद्धे तु सनकः सनन्दनः सनत्कुमारश्च इत्येते त्रयो मनुष्यत्वेन स्मृतिप्रसिद्धा देवा इत्यर्थः।।५६५।। पृथिव्यादीति। पञ्चमे भूतश्राद्धे एतत् त्रिकं देवतया देवत्वेनोक्तम्। 'एतत्' किम्? पृथिव्यादिभूतपञ्चकं प्रथमा देवता। चक्षुरादिकरणग्रामो द्वितीया देवता। स्वेदजादियोनिचतुष्टयं तृतीयेति। आदिपदेन जरायुजाण्डजोद्भिज्जानां ग्रहणम्।।५६६।। षष्ठे वृद्धप्रमातामह। इस प्रकार माता-नाना के श्राद्धों के भेद मानने वालों के अनुसार दोनों श्राद्धों के त्रिक बता दिये।।५८८-६।।

जो लोग उक्त भेद नहीं मानते उनके भी कुलाचार के भेद से त्रिक में अंतर है : कुछ बताते हैं माता-पितामही-प्रपितामही ये तीन गिनने चाहिये जबकि अन्यों का कहना है कि माता-मातामही-प्रमातामही ये तीन गिनने चाहिये। ऐसे सब प्रसंगों में कुलाचार ही प्रधान है।।५६०-२।। जिन्होंने अपना कुलाचार भुला दिया हो वे माता-पितामही-प्रपितामही इस त्रिक को ही स्वीकारें क्योंकि जनता में इसी का अधिक प्रचार है।।५६३।। इस प्रकार आठ श्राद्धों का यह क्रम है :

१. 'माता मातामहस्तद्वत् प्रमातामहकोऽपरः' इत्यपि पाठः किन्तु स टीकाप्रतिकूलः।

पिता पितामहस्तद्वत् तृतीयः प्रपितामहः। पितृश्राद्धेऽपि सम्प्रोक्तम् अत्रेदं देवतात्रयम्।
माता पितामहीत्यादि मातृश्राद्धे पुरेरितम्।।५९७
दशमं तु यदा श्राद्धं पृथङ्मातामहोदितम्। मातृश्राद्धात् परस्तात् स्याद् न तु पूर्वं कदाचन।।५९८
सर्वान्ते त्वात्मनः श्राद्धं कुर्यात् श्रद्धासमन्वितः। आत्मनो यस्य यन्नाम तन्नाम परिगृह्य हि।।
अनन्तरं पितुः स्वस्य पश्चात्पैतामहं तथा।।५९९

पितृश्राद्धे पितृपितामहप्रपितामहाः। सप्तमे मातृश्राद्धे तु मातृपितामहीप्रपितामह्यो देवता बहुसम्मतत्वादित्याह—पितेति।।५९७।। ततो दशमत्वेनोक्तं मातामहादिवृद्धप्रमातामहान्तत्रयदेवताकं मातामहश्राद्धं कार्यम्। तस्य मातृश्राद्धोत्तरकालतायाः सर्वत्र सिद्धत्वाद् इत्याह—दशममिति। मातमहसम्बन्धित्वेन उदितम् उक्तं दशमस्थाने पूर्वं निर्दिष्टं च यत् श्राद्धं तद् मातृश्राद्धात् परस्ताद् अनन्तरमेव स्यान्न पूर्वम् इत्यर्थः। एतेन अन्यत्र नान्दीमुखे मातृश्राद्धस्य पितृश्राद्धात् पूर्वभावित्वेऽपि, न्यासाङ्गभूते तत्र पितृश्रद्धोत्तरत्वं स्मृतावुक्तम् इति सूचितम्।।५९८।। पूर्वमष्टमत्वेन निर्दिष्टम् आत्मश्राद्धं त्वन्ते कर्तव्यं शौनकादिभिः तथोक्तेः इति दर्शयन्नस्य इतिकर्तव्यतामाह—सर्वान्त इति। आत्मनः स्वकीयम्। तत्र संन्यासकर्ता स्वकीयं नाम प्रथममुच्चार्य ततः पितुः ततः पितामहस्य नाम कीर्तयेद् इत्यर्थः।।५९९।।

श्राद्धनाम		त्रिक	
वैश्वदेवश्राद्ध	इसमें तीन पिंड नहीं दिये जाते		
१. देवश्राद्ध	ब्रह्मा	विष्णु	महेश
२. ऋषिश्राद्ध	देवर्षि	राजर्षि	मनुष्यर्षि
३. दिव्यश्राद्ध	वसु	रुद्र	आदित्य
४. मानुषश्राद्ध	सनक	सनन्दन	सनत्कुमार
५. भूतश्राद्ध	पृथ्व्यादि पाँच भूत	चक्षु आदि इंद्रियाँ	स्वेदजादि योनिचतुष्टय
६. पितृश्राद्ध	पिता	पितामह	प्रपितामह
७. मातृश्राद्ध	माता	पितामही	प्रपितामही
(इसके मतभेद पहले बता चुके हैं।)	(यही सर्वाधिक प्रचलित त्रिक है)		
मातामहश्राद्ध	मातामह	प्रमातामह	वृद्धप्रमातामह
८. आत्मश्राद्ध	अपना नाम	पिता का नाम	पितामह का नाम

मातृश्राद्ध से नानाका श्राद्ध अलग करना हो तो मातृश्राद्ध के बाद ही करना चाहिये, पहले नहीं। आत्मश्राद्ध सबसे अंत में होता है। प्रायः नांदीमुखश्राद्ध में पितृश्राद्ध से पहले मातृश्राद्ध करते हैं किंतु संन्यासांग श्राद्धों के क्रम में पहले पितृश्राद्ध फिर मातृश्राद्ध करना चाहिये।५९४-९।।

सबसे पहले वैश्वदेव श्राद्ध करना चाहिये तदनंतर उक्त क्रम से स्वपरंपरानुसार आठ या नौ श्राद्ध श्रद्धापूर्वक करने चाहिये।।६००।। विश्वदेव-श्राद्ध में पिण्डत्रय प्रदान नहीं किये जाते। जिन्हें पिण्ड देते हैं उनका देवतारूप से

वैश्वदेवं पुरः कृत्वा श्राद्धं देवादिकं क्रमात्। अष्टकं नवकं वाऽपि कुर्याच्छ्रद्धासमन्वितः।।६००
श्राद्धाऽष्टकेऽत्र पिण्डाः स्युश्चतुर्विंशतिसंख्यकाः। सप्तविंशतिसंख्याः स्युर्नवकं तु यदा भवेत्।६०१
यावत्यो देवताः श्राद्धे विश्वेदेवविवर्जिताः। तावन्तोऽत्र प्रदातव्याः पिण्डा ब्राह्मणसन्निधौ।६०२
दधि लाजाऽक्षतास्तद्वत् कुवलानि मधूनि च। दूर्वादि मङ्गलद्रव्यं पिण्डान्ते संक्षिपेत् पुमान्।।६०३
पिण्डान्ते मधुरं भूरि कुर्यान्नान्दीमुखे सदा। युग्मांश्च भोजयेद् विप्रान् सर्वदैवाऽप्रमादवान्।।६०४
अष्टादशैव विप्राः स्युर्विंशतिर्वाऽत्र सर्वदा। ततो न्यूनाधिका न स्युः श्राद्धे नान्दीमुखेऽत्र हि।६०५
विभवे सति विप्रेभ्यो दुकूलवलयादिकम्। छत्रोपानत्प्रभृत्यन्यत् स्वशक्त्या परिवेदयेत्।।६०६
अतिश्रीमान् यदा कर्ता तदा भूमिगृहादिकम्। सर्वोपकरणैर्युक्तं दद्याद् दारिद्र्यनाशनम्।।६०७
ब्राह्मणेषु तु भुक्तेषु पिण्डदानादनन्तरम्। दक्षिणासु च दत्तासु त्यक्त्वोच्छिष्टं ततो धनी।।६०८
यथाशक्ति प्रकुर्वीत ह्यन्नदानमनेकधा। अन्यान्यपि च दानानि कुर्यात् स विभवे सति।।६०९

नवमत्वेनोक्तं वैश्वदेवश्राद्धं तु प्रथमं कृत्वा वर्णितानि अष्टौ नव वा श्राद्धानि कुर्याद् इत्याह— वैश्वदेवमिति।।६००।। तत्र वैश्वदेवश्राद्धव्यतिरिक्तेषु एव प्रत्येकं पिण्डत्रयदानस्य विहितत्वाद् अर्थसिद्धां पिण्डसंख्यामाह—श्राद्धाष्टक इति।।६०१।। तत्र हेतुभूतं वैश्वदेवश्राद्धस्य पिण्डराहित्यमाह—यावत्य इति। यतो वैश्वदेवभिन्नानामेव श्राद्धदेवानां पिण्डदानार्हत्वम् अत उक्ता पिण्डसंख्या युज्यत एवेति भावः।।६०२।। दधीति। दध्यादिकं दूर्वान्तम् आदिपदग्राह्यं कुंकुमादिकं च पिण्डान्ते पिण्डमध्ये निक्षिपेदिति। तत्र कुवलानि बदरीफलानि।।६०३।।

पिण्डान्ते मधुरमिति। तथाऽत्र नान्दीमुखे पिण्डमध्ये मधुरं मधुशर्करादि भूरि प्रचुरं क्षिपेद् इत्यर्थः। तथा प्रत्येकं युग्मब्राह्मणविधानाद् नवसु श्राद्धेषु सत्सु अष्टादश, दशसु तु विंशतिः ब्राह्मणा निमन्त्रयितव्या इत्याह— युग्मानित्यादिना।।६०४-५।। शक्तौ सत्यां दुकूलादिकमपि श्राद्धीयद्विजेभ्यो दद्यादित्याह—विभव इति। परिवेदयेद् दद्यात्।।६०६।। अतिसम्पत्तौ भूमिप्रभृत्यपि देयमित्याह—अतिश्रीमानिति। दारिद्र्यनाशनं पात्रस्य दारिद्र्यहरम्।।६०७।। श्राद्धान्त उच्छिष्टव्यतिरिक्ताऽन्नेन दीनानाथादयोऽपि तर्पणीया इत्याह— ब्राह्मणेष्विति। स्पष्टं द्वयम्।।६०८-९।।

व्यवहार होता है, जितने 'देवता' श्राद्ध में बुलाये जाते हैं उतने ही पिण्ड अर्पित किये जाते हैं (विश्वदेवों को छोड़कर)। अतः आठ श्राद्धों में चौबीस पिंड अर्पित होते हैं। जिस कुल में नौ श्राद्ध होते हैं (माता-नाना के अलग श्राद्ध होते हैं) उसका सदस्य संन्यास से पूर्व श्राद्ध करते हुए सत्ताइस पिण्ड अर्पित करता है।।६०१-२।।

दही, लाजा (खील), अक्षत, बेर का फल, शहद, दूर्वा कुंकुमादि मंगल द्रव्य—ये पिंडों पर चढाने चाहिये ।।६०३।। नांदीमुख श्राद्ध करते हुए पिण्डों पर मधु-शक्कर आदि मीठा प्रभूत चढ़ाना चाहिये। प्रत्येक श्राद्ध के निमित्त से ब्राह्मणों के एक-एक जोड़े को भोजन कराना चाहिये अतः विश्वदेव समेत नौ श्राद्ध करने वाला आठरह ब्राह्मणों को तथा माता-नाना के भेद से दस श्राद्ध करने वाला बीस ब्राह्मणों को निमंत्रणपूर्वक भोजन करावे। नांदीमुख के अंगभूत ब्राह्मण-भोजन में इससे कम या ज्यादा ब्राह्मण नहीं होने चाहिये।।६०४-५।।

जो धनादिसंपन्न हो वह ब्राह्मणों को वस्त्र, वलय आदि अलंकार, छाता, पादुका आदि अपनी सामर्थ्यानुसार भेंट दे।।६०६।। संन्यास ग्रहण करने वाला अधिक धनी हो तो सभी उपकरणों से सज्जित घर जमीन आदि भी ब्राह्मणों को अर्पित करे। किंतु ऐसा दान न दे जो दानग्रहीता पर बोझ पड़े वरन् उसका दारिद्र्य मिटाने वाला दान देवे।।६०७।। पिंडदान के बाद जब ब्राह्मण खा चुकें, दक्षिणा दी जा चुके, तब धनी को चाहिये कि उच्छिष्ट से अतिरिक्त अन्न दीन,

स्वगृह्योक्तप्रकारेण श्राद्धं कुर्याद् विचक्षणः। नान्दीमुखं हि देवादेः पितृवच्चाऽविचारयन्।।६१०
एतस्मिन् दिवसे ह्येतत् कृत्वा निर्वृतिमागतः। स्वजनैः सह सम्भाष्य दारादिसहितैरपि।।६११
दायं दत्वा च पुत्राणां होमार्थं किञ्चिदेव हि। संस्थाप्य द्रव्यमात्मीयं कौपीनाच्छादनानि च।।६१२

उपवासवपनादि

पुण्याहं वाचयित्वाथ भुञ्जीत स्वजनैः सह। अभावे व्यग्रतायास्तु वैयग्र्ये वर्जयेद् भुजिम्।।६१३
आघ्राणेन प्रकुर्वीत ह्युपवासं विचक्षणः। तस्मिन्नेव दिने नो चेद् द्वितीयदिवसे सुधीः।।६१४
पिण्डदानं दिने तस्मिन्नुपवासः परेऽहनि। मुख्यमेतज्जघन्यं स्यादेकस्मिन् दिवसे द्वयम्।।६१५
उपवासदिने प्राप्ते कक्षोपस्थशिखात्रयम्। वर्जयित्वा तु वपनं कुर्वीत मतिमान्नरः।।६१६

एतच्च देवादीनां नान्दीमुखं स्वस्वगृह्यसूत्रानुसारेण पितृश्राद्धवत् कर्तव्यमित्याह—स्वगृह्येति। अविचारयन् देवादीनां पितृभ्यो विशेषमपश्यन्नित्यर्थः।।६१०।। एतस्मिन्निति। एतन्नान्दीमुखशालिनि दिने एतद् उक्तं दानादिकं कृत्वा निर्वृतिं प्रसादं प्राप्तः सन् भुञ्जीत इति तृतीयेनान्वयः। दाराद्यैः स्वजनैः सह सम्भाष्य, पुत्रादिभ्यो दायं विभज्य द्रव्यं दत्वाऽपि किञ्चिद् द्रव्यं होमोपयोगि तथा कौपीनादिकं संस्थाप्य। इति द्वयोरर्थः।।६११-२।।

पुण्याहमिति। यदि व्यग्रता चेतसो निवृत्तिसक्तता न स्यात् तदा पुण्याहवाचनपूर्वकं भुञ्जीत। तादृशे वैयग्र्ये सति तु भुजिं भोजनं वर्जयेद् इत्यर्थः।।६१३।। यदा भोजने रुच्यभावः तदाऽपि श्राद्धशेषस्य आघ्राणं गन्धग्रहं कृत्वा उपवसेत्। भोजनपक्षे तु द्वितीयदिवस इत्याह— आघ्राणेनेति।।६१४।। द्वितीयदिवसोपवासपक्ष एव तु मुख्य इत्याह—पिण्डदानमिति। तस्मिन् पूर्वे।।६१५।।

मुख्यपक्षे प्रथमदिनकृत्यमुक्तम्—उपवासेति। कक्षोपस्थगतलोमानि, शिखां च विहाय सर्वाणि केशलोमानि मुण्डयेदिति।।६१६।। स्नात इति। ततः स्नानोत्तरं वस्त्रान्तरं परिधाय होमार्थस्थापितद्रव्यभिन्नं स्वकीयपरिग्रह-
अनाथ आदि को बाँटे तथा अन्य भी जो दान कर सके वह करे। धनादि संपत्ति वाले के लिये ही यह प्रभूत दान कर्त्तव्य है। (अर्थात् उधार या प्रतिग्रह आदि लेकर यों दान न करे। श्राद्ध व उक्त संख्या का ब्राह्मण भोजन तो संस्कारांग होने से अवश्य करना पड़ेगा। उतने धनादि की व्यवस्था कर लेनी चाहिये किंतु संन्यास के बाद चुकाया जाये ऐसा उधार नहीं लेना चाहिये। ब्राह्मण कर्त्ता तो प्रतिग्रह से श्राद्धादि की व्यवस्था कर सकता है, अन्यों को प्रतिग्रह की अनुमति नहीं।)।।६०८-९।। देवता, पितर आदि में भेदभाव बिना किये अपने गृह्यसूत्र के अनुसार नांदीमुख श्राद्ध करना चाहिये।।६१०।। जिस दिन नांदीमुख करे उसी दिन ब्राह्मण-भोजन व दान भी कर ले, तब प्रसन्नतापूर्वक भोजन करे। पत्नी आदि नाते-रिश्तेदारों से भी उसी दिन बात चीत कर ले। संन्यासांग होमादि के लिये जरूरी द्रव्यादि तथा अपने कौपीन वस्त्रादि से अतिरिक्त अपनी सारी संपत्ति पुत्रों को बाँट दे। (पुत्र न हो तो जो न्यायसंमत उत्तराधिकारी हो उसे दे देवे। संन्यास से पूर्व अर्जित धन रखते हुए संन्यासी नहीं बनना चाहिये, वह धन यथोचित पात्र को प्रदान करने के बाद ही संन्यास ग्रहण करना चाहिये।)।।६११-२।। भोजन करने से पूर्व पुण्याहवाचन कर लेना चाहिये और स्वजनों समेत आहार ग्रहण कर लेना चाहिये। यदि व्यग्रता हो तो उस दिन भोजन नहीं भी किया जा सकता है।।६१३।। भोजन न करे तो भी श्राद्धशेष भोजन को सूँघ अवश्य ले। यदि श्राद्ध के दिन भोजन करे तो अगले दिन उपवास रखे। प्रधान पक्ष यही है कि एक दिन पिंडदान करे और अगले दिन उपवास। परिस्थितिवश पिंडदान व उपवास एक दिन भी किये ज़ा सकते हैं।।६१४-५।।

(पिण्डदान से अगले) उपवास के दिन काँख, उपस्थ और शिखा छोड़कर बाकी सब केश-लोम का मुण्डन कर लेना चाहिये।।६१६।। फिर स्नान कर शुद्ध होकर धुला वस्त्र पहन ले। संन्यासहोम के लिये रखे द्रव्य से अतिरिक्त

स्नातः शुचिस्ततो भूत्वा परिधायान्यदम्बरम्। यावत् संन्यासयोग्यं स्याद्धोमद्रव्यविवर्जितम्।।६१७
शालग्रामादिकं तद्वद्वसनं कम्बलादि च। ब्रह्मनिष्ठाय गुरवे बहुशोऽपि परीक्ष्य च।।६१८
संवत्सरादिकं कालं गुरुं सर्वगुणैर्युतम्। अङ्गीकृतेऽथ तेनाऽयमर्पयेदप्यपेक्षितम्।।६१९
आत्मनश्च विधायैव पृथक् शीतादिवारणम्। प्रक्षालितं ततो दण्डमव्रणं सौम्यदर्शनम्।।६२०
वैणवं संस्कृतं तद्वत् स्वात्मना संमितं तथा[1]। कौपीनादियुतं धीमान् स्थापयेदग्निसन्निधौ।।६२१

रात्रिकृत्यदेशः

रात्रौ जागरणे होमे देशाः शस्ता इमे सदा। महानद्यास्तटं तद्वद् देवतायतनं पुनः।
अरण्यं वाऽपि गोष्ठं वा गृहं वा जनवर्जितम्।।६२२

तत्र कर्तव्यजातम्

ब्रह्मेन्द्रसोमसूर्यात्म-चतुर्व्यूहस्वरूपिणम्। अन्तरं परमं तद्वद् विज्ञानं च विशेषणम्।।
आत्मनो निर्विशेषं च चतुर्व्यूहः प्रकीर्तितः।।६२३

मध्ये यावत् संन्यासयोग्यं संन्यासिनामपि अनिषिद्धपरिग्रहं, यथा शालग्रामादि, आदिपदेन पुस्तकादिग्रहः, कम्बलादीत्यादिना मृगाजिनादिग्रहः, तत्सर्वं स्वापेक्षितमपि तेन गुरुणा ग्रहणाङ्गीकारे सति तस्मै ब्रह्मनिष्ठाय गुरवेऽर्पयेत्। तं च गुरुं संवत्सरादिकालेन सर्वगुणैर्युतं परीक्ष्य एव वृणुयादिति शेषः। इति त्रयाणां सम्बन्धः।।६१७-९।। आत्मनश्चेति। तथा आत्मनः स्वस्योपयोगिशीतवारणं कन्थादिरूपं पृथग् गुरुसमर्प्यद्रव्याद् भिन्नं विधाय, अव्रणत्वादिशालिनं दण्डं कौपीनादिकं च अग्निकुण्डसमीपे स्थापयेदिति। तत्र दण्डस्य च स्वात्मना संमितत्वं संन्यसितुमिच्छतः शरीरपरिमाणत्वम्।।६२०-१।।

अत्र दिने रात्रौ कर्तव्यस्य जागरणस्योपयोगिनो देशान् दर्शयति—रात्राविति। गोष्ठं गोशाला। स्फुटमन्यत्।।६२२।। उक्तदेशे गत्वा बौधायनाद्युदीरितं कर्त्तव्यमाह—ब्रह्मेत्यादिना। ब्रह्मा चेन्द्रश्च सोमश्च सूर्यश्च आत्मसम्बन्धी चतुर्व्यूहश्च एतैरभीष्टरूपैः स्वरूपिणं स्वरूपवन्तं परमेश्वरं स्मरेदिति शेषः। तत्र आत्मचतुर्व्यूहम-भिनयति—अन्तरमिति। अन्तरं परमं विज्ञानम् इत्येतानि त्रीणि आत्मनो विशेषणानि। तथा निर्विशेषं विशेषणरहितम् आत्मस्वरूपं गृहीत्वा आत्मचतुर्व्यूहः प्रकीर्तितः। तथा च —आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, विज्ञानात्मा—इत्याकारता फलिता। तत्र आत्मपदेन सर्वाधिष्ठानमुच्यते। पदान्तरैः तस्य सर्वान्तरत्वम्, अद्वयत्वं, चिद्घनत्वं च क्रमेणोक्तम्

जो चीज़ें अपनी ज़रूरत की भी हों और संन्यासी के रखने योग्य भी हों—जैसे शालग्राम, पुस्तक, वस्त्र, कंबल, मृगचर्म आदि—वे ब्रह्मनिष्ठ गुरु को अर्पित कर देनी चाहिये। न्यूनतम एक संवत्सर तक गुरु की बहुत-सी परीक्षा करने के बाद जिस पर दृढ श्रद्धा हो जाये कि यह गुरूचित सब गुणों से संपन्न ब्रह्मनिष्ठ है उसी का गुरु रूप से वरण करना चाहिये। उसकी अनुमति से उक्त वस्तुएँ उसे समर्पित कर देनी चाहिये।।६१७-९।। उस दिन यदि ठण्ड आदि से बचने के लिये ज़रूरी हो तो गुरु को अर्पित से अलग ही गुदड़ी आदि रख लेनी चाहिये। (अथवा धूना जलाकर सर्दी से बच लेना चाहिये।) अपने बराबर लम्बा बाँस का साबुत सुंदर दण्ड भी धोकर कौपीन आदि के साथ अग्निकुण्ड के पास रख लेना चाहिये।।६२०-१।।

उस रात जागरण और होम किया जाता है जिस के लिये प्रशस्त स्थान हैं— गंगा आदि महानदी का किनारा,

१. 'दण्डं तु वैणवं सौम्यं सत्वचं समपर्वकम्। पुण्यस्थलसमुत्पन्नं नानाकल्मषशोधितम्।। अदग्धमहतं कीटैः पर्वग्रन्थिविराजितम्। नासादघ्नं शिरस्तुल्यं भ्रुवोर्वा बिभृयाद् यतिः।' इति दण्डलक्षणम्। प्रकृतपुराणप्रसंग आरुणेय्युपनिषद् द्रष्टव्या।

ब्रह्मादिनामकान् मन्त्रान् अष्टौ तान् प्रणवादिकान्। नमोऽन्तांश्च चतुर्थ्या च संयुतान् मनसा जपेत्।।६२४

बध्वांजलिं च संविश्य स्वासनं विजितेन्द्रियः। सक्तुमुष्टिं ततः प्राश्य त्रिराचम्य च मन्त्रयेत्।।६२५

आत्मने च तथैवाऽयं प्रवदेदन्तरात्मने। प्रजापतय इत्येतं तृतीयं मन्त्रमीरयेत्।।
स्वाहान्तं प्रणवादि स्यात् त्रयं नाभेस्तु मन्त्रणे।।६२६

पयो दधि तथा सर्पिस्त्रिवारं प्राशयेत् क्रमात्। सक्तूनां च त्रयस्याऽस्य प्राशने प्रणवेरणम्।।६२७

आचम्य च जपेत् पश्चात् संविश्य प्राङ्मुखः शुचिः। प्रणवं सह गायत्र्या यथाशक्ति द्विजोत्तमः।६२८

इति विवेकः।।६२३।। मन्त्रैरेव स्मर्तव्यमिति नियमाद् उक्तात्मस्मरणोपयोगिनो मन्त्रानभिनयति—ब्रह्मादीति। आदिपदेन इन्द्रसोमसूर्याणाम् आत्मचतुर्व्यूहस्य च ग्रहः। आदौ प्रणवमुच्चार्य ततो ब्रह्माद्यन्यतमं नाम उच्चार्य अन्ते नम इति ब्रूयाद्, एवमष्टौ मन्त्रा भवन्ति, तान् मनसा एव जपेद् इत्यर्थः।। 'धिया यदक्षरश्रेणिं वर्णस्वरविभूषिताम्। उच्चरेदर्थसंस्मृत्या स उक्तो मानसो जपः।।' इति मानसजपलक्षणं व्यासोक्तम्।।६२४।। बध्वाञ्जलिमिति। स्वासन उपविश्य अञ्जलिं बध्वा च मन्त्रान् मनसा जपेद् इति पूर्वेण सम्बन्धः। ततो मुष्टिपरिमितसक्तून् प्राश्य भुक्त्वा त्रिवारम् आचम्य च नाभौ निधाय च हस्तं मन्त्रान् पठेदित्यर्थः।।६२५।। तान्मन्त्रानाह—आत्मन इति। आत्माऽन्तरात्मप्रजापतिपदानि च प्रत्येकं प्रणवादीनि स्वाहापदान्तानि च सन्ति नाभिमन्त्रणोपयोगिमन्त्रत्रयात्मकानि भवन्तीत्यर्थः।।६२६।। पय इति। ततः पयः प्रसृतित्रयं प्रत्येकं त्रिवारं भक्षणीयम्। पूर्वोक्तसक्तुभक्षणेऽस्य त्रयस्य पयोदधिसर्पीरूपस्य च भक्षणे प्रणवरूप एव मन्त्र उच्चार्य इत्यर्थः। यद्यपि कल्पकाराः 'त्रिवृद्' इत्यादिकं मन्त्रं पठन्ति तथापि तत्र त्रिवृदादिपदानां प्रणवपरत्वात् प्रणवस्य अर्थविधया स्मरणं भवत्येवेति भावः।।६२७।।

तत आचम्य प्राङ्मुखेन द्विजेन प्रणवो गायत्री च यथाशक्ति जप्ये इत्याह—आचम्येति। अत्र उपवास-सङ्कल्पस्य कर्तव्यतामाहुरिति बोध्यम्।।६२८।।

देवता का मंदिर, जंगल, गोशाला या जिसमें कोई रह न रहा हो ऐसा घर।।६२२।।

यथोचित स्थान पर जाकर परमात्मा का स्मरण करना चाहिये। ब्रह्मा, इंद्र, चंद्र, सूर्य तथा आत्मा का चतुर्व्यूह—इनसे परमात्मा को सस्वरूप समझना चाहिये। आत्मा का चतुर्व्यूह है—आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और विज्ञानात्मा। आत्मा अर्थात् सबका अधिष्ठान। अंतरात्मा अर्थात् सबका प्रत्यग्भूत। परमात्मा अर्थात् अद्वैत और विज्ञानात्मा अर्थात् चिद्घन। एवं च ये चार स्वरूपात्मक और ब्रह्मा आदि चार विभूतिरूप हैं।।६२३।। उस समय परमात्मस्मरण मंत्रपूर्वक ही करना चाहिये। इंद्रियाँ संयत कर, आसन पर बैठ कर, अंजलि बाँध कर उक्त क्रम से ये आठ मंत्र मन में जपने चाहिये—'ॐ ब्रह्मणे नमः, ॐ इन्द्राय नमः, ॐ सोमाय नमः, ॐ सूर्याय नमः, ॐ आत्मने नमः, ॐ अन्तरात्मने नमः, ॐ परमात्मने नमः, ॐ विज्ञानात्मने नमः'। जपते हुए इनके अर्थ का भी चिंतन करे।।६२४।। फिर एक मुट्ठी सत्तु का प्राशन कर तीन बार आचमन करे और नाभि पर हाथ रख कर ये मंत्र पढे— 'ॐ आत्मने स्वाहा, ॐ अन्तरात्मने स्वाहा, ॐ प्रजापतये स्वाहा'। इस तरह नाभि का मंत्रण संपन्न होता है।।६२५-६।। तदनंतर तीन बार तीन-तीन अंजलि दूध, दही और घी का क्रमशः प्राशन करे। इस प्राशन में तथा पूर्वोक्त सत्तु-प्राशन में प्रणव का उच्चारण करना चाहिये। (यदि अपने कल्पसूत्र के अनुसार मंत्रांतर का पाठ करना हो तो भी प्रणव के अर्थ का तो स्मरण कर ही लेना चाहिये।)।।६२७।। फिर आचमनपूर्वक शुद्ध होकर पूर्व की ओर मुँह कर बैठ जाये और यथाशक्ति गायत्री सहित प्रणव का जप करता रहे।।६२८।।

ओङ्कारं सर्ववेदादिं वेदादीनथ वाऽखिलान्। उच्चार्य प्रविशेद् धीमान् सावित्रीं विधिनाऽमुना ।६२९
भूर्भुवः स्वरिति प्रोच्य व्याहृतीस्तिस्र आत्मवान्। सावित्रीं प्रविशामीति द्विर्मन्त्राः षड् समीरिताः। ।६३०
त्रिपदामत्र गायत्रीं पच्छो मन्त्रद्वये[1] पठेत्। अर्धतः पादतस्तद्वत् समग्रां च क्रमात् सुधीः। ।६३१

ब्रह्मान्वाधानम्

आदित्यास्तमयात् पूर्वं स्वगृह्योक्तप्रकारतः। श्रौतं स्मार्तं तथैवाऽग्निं लौकिकं वापि निक्षिपेत्।। कुण्डे वा स्थण्डिले वाऽपि सावधानमनाः पुमान्। ।६३२
यथाशास्त्रं ततः सायं होमं सम्यग् विधाय हि। आज्यभागान्तकं कर्म स्वगृह्योक्तप्रकारतः। ।६३३
कृत्वा तस्मिंस्ततः कुर्यादग्नावाज्याहुतिं पुमान्। भूः स्वाहेति च सम्पूर्णा पूर्णाहुतिरितीरितम्। ।६३४

ओङ्कारमिति। ततः सर्ववेदादित्वेन प्रसिद्धं प्रणवम् उच्चार्य, अथ वाऽखिलान् वेदादीन् त्रय्या आदिमान् मन्त्रान्, यथा 'इषे त्वे' ति यजुरादिः, 'अग्निमीळे' इति ऋगादिः, 'अग्न आयाही'ति सामादिः, तान् उच्चार्य अमुना वक्ष्यमाणविधिना सावित्रीप्रवेशमन्त्रं पठेद् इत्यर्थः। ।६२९।। 'अमुना' इत्युक्तमेव अभिनयति—भूरिति द्वाभ्याम्। भूरादिव्याहृत्यभिधानपूर्वकं 'सावित्रीकर्मकं प्रवेशं करोमि' इत्यर्थकं वाक्यं द्विः वारद्वयं वदेदिति शेषः। तस्य च द्विरावृत्तमन्त्रस्य व्याहृतित्रययोगे सति षण्मन्त्रा भवन्तीत्यर्थः। ।६३०।। तेषु षट्सु मन्त्रेषु गायत्रीपादानामुच्चारणक्रम-माह—त्रिपदामिति। अत्र उक्तमन्त्राणाम् आद्यमन्त्रत्रये त्रिपदां गायत्रीं पच्छः पादशः—तस्या एकैकं पादमिति यावत्—पठेत्, चतुर्थेऽर्धतः आद्यपादद्वयं पठेत्, पञ्चमे पादतः तृतीयं पादं पठेत् षष्ठे तु समग्राम् एव तां पठेत्। एतं गायत्रीपाठक्रममनुसृत्य पूर्वोक्तमन्त्रपाठ इत्यर्थः। ।६३१।।

ततो ब्रह्मान्वाधानाख्यं कर्म कर्तव्यतयाऽऽह—आदित्येति त्रिभिः। ततः सूर्यास्तमयात् पूर्वं श्रौतं त्रेताख्यं, स्मार्तम् औपासनाख्यं, लौकिकं पवित्रस्थानानीतं वाऽग्निं कुण्डे स्थण्डिले वा करिष्यमाणहोमार्थं निदध्यात्। तत्र चाऽग्नौ स्वगृह्यसूत्रानुसारेण सायंकालिकम् अग्निहोत्राख्यं होमं कृत्वाऽथ आघाराज्यभागपर्यन्तमङ्गजातं विधाय ततः ॐ स्वाहेति मंत्रेण आज्याहुतिं दद्यात्। अनेनैव मन्त्रेण पूर्णाहुतिः अपि सम्पूर्णा निष्पन्ना भवति। इत्येतत् कर्म ब्रह्मान्वाधानसंज्ञम् इतीरितं प्रोक्तं स्मृतिषु। इति त्रयाणामर्थः। ।६३२-४।।

तदनंतर सावित्रीप्रवेश-मंत्र का पाठ करना चाहिये। उससे पूर्व ओंकार का उच्चारण करना चाहिये जो सभी वेदों का आदि है (उसी का उच्चारण कर सब वेद पढ़े जाते हैं)। अथवा सभी वेदसंहिताओं के प्रथम मंत्रों का उच्चारण कर लेना चाहिये। ।६२९।। सावित्रीप्रवेश के छह मंत्र हैं जिनके मध्य में गायत्री का भी विशिष्ट क्रम से जप करना चाहिये : भूरादि तीन व्याहृतियाँ बोल कर 'सावित्री में प्रवेश कर रहा हूँ' इस अर्थ वाला वाक्य उच्चारित करने से तीन मंत्र हो जाते हैं जिनकी दो आवृत्तियों का विधान है अतः छह मंत्र संपन्न हो जाते हैं। पहले, दूसरे व तीसरे मंत्र के बाद त्रिपदा गायत्री के पहले, दूसरे व तीसरे पादों का पाठ करना चाहिये; चौथे मंत्र के बाद गायत्री के पहले-दूसरे पादों का पाठ करना चाहिये, पाँचवे मंत्र के बाद गायत्री के तीसरे पाद का पाठ करना चाहिये; छठे मंत्र के बाद समग्र गायत्री का पाठ करना चाहिये। यह सावित्रीप्रवेश की प्रक्रिया है। ।६३०-१।।

सूर्यास्त से पहले ही अपने गृह्यसूत्र के अनुसार श्रौत-स्मार्त-लौकिक अग्नियाँ कुण्ड में या स्थण्डिल पर वहाँ लाकर स्थापित कर लेनी चाहिये जहाँ रात्रि में होम करना है। सायंकालिक अग्निहोम वहीं करना चाहिये। फिर आघा-राज्य भाग तक के अंगों का अनुष्ठान कर 'ॐ स्वाहा' मंत्र से आज्य की आहुति समर्पित करनी चाहिये। इसी मंत्र से पूर्णाहुति भी संपन्न कर लेनी चाहिये। (श्रौताग्नि अर्थात् आहवनीयादि, स्मार्ताग्नि जिसे औपासन कहते हैं; लौकिकाग्नि अर्थात् पवित्र स्थान से लायी अग्नि।)। ।६३२-४।। यह 'ब्रह्मान्वाधान' नामक कर्म है।

१. मन्त्रत्रये—इति टीकानुसारी।

रात्रौ जागरणम् इष्टिश्च

सायं सन्ध्यामुपास्याऽथ वह्नेरुत्तरतस्ततः। आस्तीर्य दर्भानासीनः कुर्याज्जागरणं ततः।
तस्यां रात्रौ जपन् ब्रह्म गायत्र्याख्यं सनातनम्। ।६३५

अग्निहोत्री निजैरेव वह्निभिः श्रुतिचोदितैः। आग्नेयीं प्रविधायैव कुर्यात् त्रैधातवीं ततः। ।६३६

इष्टिम् औपासनी तद्वत् प्राजापत्यां समाचरेत्। निजाऽग्निनाऽपि विधुरस्तामेव विधुराग्निना। ।६३७

ब्रह्मचर्यादयः सर्वे लौकिके जातवेदसि। स्थानात् पवित्रादानीते कर्म कुर्युरिदं सदा। ।६३८

आहिताऽनाहिताग्नीनामनग्नीनां च केचन। प्राजापत्याभिधामिष्टिमिच्छन्ति न परे तथा। ।६३९

इष्टिं कृत्वाऽथ वाऽकृत्वा साग्निर्वाऽपि निरग्निकः। वक्ष्यमाणमिदं कर्म कुर्यात् सर्वं द्विजोत्तमः ।६४०

उत्तरदिनकृत्यम्

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय स्नात्वा विप्रो यथाविधि। जलतो मन्त्रतो वाऽपि भस्मना वा स्वशक्तितः। ।६४१

अग्नौ ततश्चरुं विद्वान् श्रपयेत् स्वात्मनस्सदा। प्राग् उदग् वाऽथ तं पक्वं चरुमुद्वासयेत्ततः। ।६४२

ततः सायं सन्ध्यामुपास्य अग्नेरुत्तरदेशे दर्भान् आस्तीर्य उपविष्टो गायत्रीप्रतिपाद्यं ब्रह्म स्मरेत्, तस्यां रात्रौ जागरणं च कुर्याद् इत्याह—सायमिति। ।६३५।।

तस्यामेव रात्राविष्टिरपि कार्येति दर्शयन्नग्न्यनुसारेणेष्टिव्यवस्थामाह—अग्निहोत्रीति। स यदि श्रुतिचोदितैः श्रौतैरग्निभिः अग्निहोत्री स्यात् तदा निजैरेव तैरग्निभिः आग्नेयीम् अग्निदेवताकां वैश्वानर्याख्याम् इष्टिं कुर्यात्। स यदि औपासनी औपासनाख्यस्मार्ताग्निमान् तदा प्राजापत्याख्याम् एवेष्टिं निजेन स्मार्तेनाऽग्निना कुर्यात्। यस्तु विधुरः पूर्वाश्रमं समाप्य अगृहीतोत्तराश्रमलक्षणः, सोऽपि तां प्राजापत्यमेव कुर्यात्। केन? विधुराग्निना विधुर-सम्बन्धिना 'पृष्ठो दिवी' त्यादिमन्त्रोत्पादितेनाऽग्निनेति द्वयोरर्थः।६३६-७।। ब्रह्मचारिवानप्रस्थादिभिस्तु पवित्रस्थानाहृतलक्षणलौकिकाऽग्नावेव प्राजापत्येष्टिरूपं कर्म कार्यमित्याह—ब्रह्मेति। ।६३८।। केचित्तु श्रौताग्निमतामपि प्राजापत्येष्टिः कर्तव्या इति वदन्ति। परे तु तथा न वदन्ति। किन्तूक्तां व्यवस्थामेवाङ्गी कुर्वन्तीत्याह—आहितेति। आहिताग्नयः श्रौताग्निमन्तः, अनाहिताग्नयः स्मार्ताग्नयः, अनग्नयः अग्निहीना विधुरादयः, तेषामिति। ।६३९।।

इष्टिनिर्णयमग्रे (श्लोक ६५२तः) करिष्यामि इत्यभिसन्धाय तद्व्यतिरिक्तं संन्यासाङ्गतयाऽवश्यकर्तव्यं तृतीयदिवसकृत्यमाह—इष्टिमित्यादिना। तिष्ठत्विष्टिविचारः, तथापि सर्वैः इदं वक्ष्यमाणं तु कर्तव्यमेवेत्यर्थः। ।६४०।। ब्राह्म इति। ब्राह्ममुहूर्ते तु दर्भासनाद् उत्थाय जलेन 'शन्न आप' इत्यादि मन्त्रैः, भस्मना वा यथाशक्ति स्नात्वा आत्मीयेऽग्नौ चरुपाकं कुर्यात्। तं च पक्वम् अग्नेः प्राग् उदग् वा देश उद्वासयेत्, ततोऽग्नेरवतार्य निदध्यात्। इति द्वयोरर्थः।। चरुर्नाम अनास्रावितान्तरूष्मपक्व ओदनः। ।६४१-२।। अभिघार्येति। तं चरुम् अभिघार्य क्षारितघृतं

सायं काल का संध्यावन्दन कर अग्नि के उत्तर भाग में कुशा बिछाकर बैठ जाये और गायत्रीप्रतिपाद्य सनातन ब्रह्म का स्मरण करते हुए गायत्री जपते हुए रात्रि जागरण करे। ।६३५।।

जो अग्निहोत्री हो, श्रौत अग्नियों का आधानपूर्वक पालन करता रहा हो, वह उस रात अपनी अग्नियों द्वारा आग्नेयी इष्टि (इसे वैश्वानरीष्टि भी कहते हैं) कर त्रैधातवीष्टि करे। यदि औपासन-नामक स्मार्त अग्नि का ही परिचारक रहा हो तो प्राजापत्य इष्टि ही संपन्न करे। जो विधुर हो—अर्थात् पूर्व आश्रम छोड़ चुका हो व अगला आश्रम लिया न हो—वह भी 'विधुराग्नि' द्वारा प्राजापत्येष्टि ही करे। (विशिष्ट मंत्रों के उच्चारण सहित उत्पादित अग्नि विधुराग्नि है।)। ।६३६-७।। ब्रह्मचारी आदि बाकी अधिकारी पवित्र स्थान से लायी लौकिक अग्नि में प्राज्यापत्येष्टि ही करें। ।६३८।।

अभिघार्य जपेत् पश्चाद् व्याहृतित्रयमात्मवान्। तथा पुरुषसूक्तं च मन्त्रानेतांश्च धर्मवित्।।६४३

इन्द्राय प्रवदेत् स्वाहाऽथ प्रजापतयेऽपि च। स्वाहा विश्वेभ्य एवेभ्यो देवेभ्या ब्रह्मणेऽपि च।।६४४

स्वाहान्तं द्वयमप्येतद्[1] उच्चरेत् पूर्ववद् द्विजः। चत्वारः कथिता मन्त्रा एत इन्द्रादिदेवताः।।६४५

इदं सर्वं जपित्वाऽथ पुण्याहं वाचयेत् पुनः। स्रुच्याऽऽज्यं परिगृह्याऽथ जुहुयाद्धि मुखाहुतिम्।
स्वाहान्तमग्नये मन्त्रमुच्चार्येदं समाहितः।।६४६

प्राणाहुतिसमुद्दिष्टैर्जुहुयाद् मन्त्रपञ्चकैः। पौरुषेणाऽपि सूक्तेन स्वशाखापठितेन हि।।
समिदाज्यचरूंस्तद्वज्जुहुयात् क्रमतो द्विजः।।६४७

अग्नये जुहुयादाज्याहुत्या स्विष्टकृते ततः। जपेच्च पौरुषं सूक्तं स्वशाखोक्तप्रकारतः।।६४८

कृत्वा व्याहृतीः, पुरुषसूक्तं 'सहस्रशीर्षे' त्यादि षोडशर्चं, वक्ष्यमाणमन्त्रांश्च पठेद् इत्यर्थः।।६४३।। तन्मन्त्रानाह—इन्द्रायेति। इन्द्राय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा, ब्रह्मणे स्वाहा इत्याकारा इन्द्रादिप्रकाशका मन्त्रा जप्याः। इति द्वयोरर्थः।।६४४-५।। इदमिति। ततः पूर्वदिवसे कारितमपि पुण्याहवाचनं पुनः कृत्वा स्रुचि होमपात्रविशेषे संस्कृतं घृतं निधाय अग्नये स्वाहा इति मन्त्रेण अग्निमुखसंज्ञाम् आहुतिं जुहुयाद् इत्यर्थः।।६४६।।

प्रधानाहुतीर्दर्शयति—प्राणेति। भोजनादौ क्रियमाणे प्राणाग्निहोत्राख्ये कर्मणि विनियुक्तैः प्राणादिनामघटितैः स्वाहान्तैः पञ्चभिः मन्त्रैः, तथा स्वशाखापठितपुरुषसूक्तेन प्रत्यृचं जुहुयाद् इत्यर्थः।। तत्र क्रमेण होतव्यद्रव्याणि तु समिदाज्यचरुलक्षणानीत्यर्थः।।६४७।। अग्नय इति। ततः स्विष्टकृतेऽग्नये—इति मन्त्रेण स्वाहान्तेन जुहुयात्, पुरुषसूक्तं जपेत् चेत्यर्थः।।६४८।।

कुछ लोग उक्त परंपरा मानते हैं जबकि अन्यों के अनुसार आहिताग्नि (अग्निहोत्री) तथा अनाहिताग्नि सभी के लिये प्राजापत्येष्टि ही कर्तव्य है।।६३९।। इस प्रसंग पर श्लोक ६५२ से निर्णय बतायेंगे। उक्त कार्यकलाप करने के बाद संन्यास ग्रहण करने वाले सभी अधिकारियों को निम्नोक्त कर्म करना चाहिये।।६४०।।

रात में जगते हुए जब ब्राह्म मुहूर्त का समय आ जाये तब कुशासन से उठ कर विप्र को विधिवत् स्नान करना चाहिये। जल, मंत्र, भस्म सभी से यथाशक्ति स्नान करे। फिर अपनी अग्नि में (जो अग्नि लाकर कुण्ड या स्थंडिल पर रखी थी उस में) चरु पका ले। जब वह पक जाये तब उतारकर अग्नि से पूर्व या उत्तर में उसे रख दे।।६४१-२।।

चरु पर घी का 'अभिघारण' (विशिष्ट ढंग से घी की धारा डालना) कर तीनों व्याहृतियाँ, पुरुषसूक्त और इन मंत्रों का जप करे—'इन्द्राय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा, ब्रह्मणे स्वाहा'।।६४३-५।। फिर पुण्याहवाचन करे। तदनंतर स्रुक् नामक पात्र में (स्रुवा में) आज्य लेकर 'अग्नये स्वाहा' मन्त्र से 'अग्निमुख' नामक आहुति का होम करना चाहिये।।६४६।। फिर प्राणाहुति कहलाने वाले पाँच मंत्रों से होम करे। (ये वे ही मंत्र हैं जिनसे भोजन के पूर्व प्राणग्निहोत्र किया जाता है, अर्थात् प्राणाय स्वाहा आदि।) फिर अपनी शाखा में पठित पुरुषसूक्त की प्रत्येक ऋचा से होम करे। समिद्, आज्य और चरु से होम करना चाहिये।।६४७।। फिर 'स्विष्टकृत् अग्नि' देवता को आज्याहुति अर्पित कर अपनी शाखानुसार पुरुषसुक्त का जप करे।।६४८।।

तदनंतर पुनः चरु तैयार कर सांगोपांग विरजाहोम नामक कर्म पूर्णाहुतिपर्यन्त करना चाहिये। फिर आचार्य संन्यास के लिये उद्यत व्यक्ति को हुतशेष चरु का प्राशन कराये।।६४९।।

---

१. व्याहृति-पुरुषसूक्तसमूहः, एतन्मन्त्रसमूहश्च।

उपरिष्टात्ततस्तन्त्रं विरजाहोमसंयुतम्। पूर्णाहुत्या च संयुक्तं प्रविधाय चरुं ततः।
प्राशयेत् क्रम एषोऽत्र ज्ञातव्यः शास्त्रवेदितः। ।६४९
आज्येन चरुणा सार्द्धं विरजाहोम ईरितः। विरजाहोमतः पश्चाच्चरुं सम्प्राश्य सर्पिषा। ।६५०
आचम्य जुहुयात् पश्चात् पूर्णाहुतिमतन्द्रितः। ॐ स्वाहेति च मन्त्रेण ब्राह्मणो नियतः शुचिः। ।६५१

इष्टिमीमांसा

इष्टिः सर्वाऽपि साग्नेः स्याद् निरग्नेर्नैव काचन। इति केचिद् वदन्त्यन्ये प्राजापत्या विवर्जितम्।
औपासनाग्निसंयोगात् प्राजापत्येष्टिरिष्यते। ।६५२
वचनादेव सर्वेषां चतुर्थाश्रमसंग्रहे। प्राजापत्येष्टिरुदिता निषादस्थपतीष्टिवत्।
ततः साग्नेर्निरग्नः स्यादिष्टिरेषेति केचन। ।६५३

ततो विरजाहोमं साङ्गं कुर्याद् इत्याह—उपरिष्टादिति। उपरिष्टाद् उक्तहोमानन्तरं पुनः चरुं विधाय विरजाहोमाख्येन कर्मणा संयुतं सम्बद्धं तन्त्रम् अङ्गजातरूपाम् इतिकर्तव्यतां पूर्णाहुतिपर्यन्तां प्रविधाय, हुतशेषं प्राशयेत् न्यासोद्यतं प्रति आचार्य इति शेषः। अत्र साङ्गविरजाहोम एष वक्ष्यमाणः क्रमः अपि ज्ञेयः। कीदृशः? शास्त्रेण विरजाहोमविधायकागमेन वेदितः प्रकाशित इत्यर्थः। 'तन्त्रं कुटुम्बकृत्ये स्यात् कारणे च परिच्छदे। इतिकर्तव्यतायां च' इति विश्वः। ।६४९। । तं क्रममभिनयति—आज्येनेति द्वाभ्याम्। आज्यविशिष्टेन चरुणा विरजाहोमं कृत्वा तच्छेषं सर्पिर्युक्तचरुरूपं सम्प्राश्य भक्षयित्वा, आचम्य, ॐ स्वाहेति मन्त्रेण पूर्णाहुतिं कुर्यात्। इति द्वयोरर्थः। ।६५०-१। ।

परिशिष्टम् इष्टेर्विचारं प्रवर्तयंस्तत्र मतभेदं दर्शयति—इष्टिरिति त्रिभिः। सर्वा सर्वप्रकाराऽपि इष्टिः साग्नेः श्रौताग्निमत एव कार्या, नेतरस्य— इति केषाञ्चिन्मतम्। अन्ये तु प्राजापत्याख्येष्टिपर्युदासेन प्रथममतम् अङ्गीकुर्वन्ति यत औपासनाख्यस्मार्ताग्निसंयोगमात्रेणाऽपि न्यासाङ्गप्राजापत्येष्ट्यधिकारः तैरिष्यत इत्यर्थः। ।६५२। । तृतीयं मतमाह—वचनादेवेति। यथा 'निषादस्थपतिं याजयेद्' इति वाक्येन श्रौतकर्मधारयसमाससंरक्षणाय सङ्करजातीयस्याऽपि निषादमुख्यस्य इष्ट्यधिकारः कल्प्यते,[1] तथा 'ब्राह्मीमिष्टिं निर्वपेद्' इत्यादिश्रुत्या 'प्राजापत्यां निरुप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्। आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहाद्। ।' इति स्मृत्या च इष्टिसंन्यासयोः समानकर्तृकत्वनिर्देशेन अनग्नीनामपि प्राजापत्येष्ट्यधिकारः कल्प्यत इत्यर्थः। ।६५३। । उक्तमतत्रयशालिनामा-

आज्य-मिश्रित चरु से विरजाहवन किया जाता है, उसीसे बचे आज्य-चरु के मिश्रण का प्राशन होता है फिर आचमनपूर्वक 'ॐ स्वाहा' इस मंत्र से पूर्णाहुति प्रदान की जाती है। तंद्राहीन, शुद्ध, संयत, ब्राह्मण को ये सभी कर्म सावधानी से करने चाहिये। ।६५०-१। ।

श्लोक ६३९ में जो इष्टि की चर्चा आयी थी उस पर अब विचार करते हैं: कुछ मानते हैं कि सभी इष्टियाँ उसी के लिये कर्तव्य हैं जो श्रौत अग्नि का आधान कर चुका है। अन्यों की मान्यता है कि यह नियम प्राजापत्येष्टि पर लागू नहीं होता, औपासनाग्नि (स्मार्ताग्नि) से भी संन्यासांगभूत प्राजापत्येष्टि करना उचित है। ।६५२। । तीसरा मत है कि निषादस्थपति-इष्टि की तरह संन्यासाश्रम ग्रहण करते समय प्राजापत्येष्टि भी सभी के लिये कर्तव्य है क्यों कि श्रुति ने ऐसा विधान कर दिया है। इस प्रकार श्रौतादि अग्नि वाला हो या न हो, जो भी संन्यास लेने को उद्यत है वह प्राजापत्येष्टि अवश्य करे। एवं च प्रथम मत के अनुसार श्रौताग्नि में ही प्राजापत्येष्टि होती है, दूसरे पक्ष के अनुसार स्मार्ताग्नि में भी हो सकती है तथा तीसरे मत में लौकिक अग्नि में भी हो सकती है। (पूर्वमीमांसा ६.१. अधि. १३

१. 'द्विजः स्थपतिरन्यो वा? द्विजः षष्ठीसमासतः। कर्मधारयमुख्यत्वाद् निषादो रौद्रयागकृत्। ।' इति जैमिनीयन्यायमाला ६.१.१३।

एवमेते त्रयः पक्षाः श्रौते स्मार्ते च लौकिके। वह्नाविष्टौ मयोक्तास्ते विप्राणां मतभेदतः।।६५४
त्रैधातवी तथाऽऽग्नेयी इष्टिरुक्ताऽग्निहोत्रिणः। भवेत् सा परहंसानां नान्यत्रेति च केचन।।६५५
परहंसाश्रमादन्यं न्यासं चेदग्निहोत्रिणः। कुर्युस्तत्र प्रकुर्वीरन् प्राजापत्येष्टिमादरात्।।६५६
एवं विषयतः प्राहुर्व्यवस्थां हि द्विजोत्तमाः। पौराणिकाः आहिताग्नेरन्यत्रेष्टिनिवारकाः।।६५७
त्रैधातवी तथाऽऽग्नेयी सर्वथैवाऽग्निहोत्रिणः। प्राजापत्या कृते वादो वर्ततेऽत्र द्विजन्मनाम्।।६५८

शयानाह—एवमिति। श्रौताग्नावेव प्राजापत्येष्टिर्भवति इत्याशयेन आद्यपक्षस्य प्रवृत्तिः। स्मार्तेऽग्नावपि सा भवतीत्याशयेन द्वितीयस्य। लौकिकेऽपि सा स्याद् इत्याशयेन तु तृतीयस्येत्यर्थः।।६५४।। जाबालादिवाक्यानुसारित्वेन[1] अभ्यर्हितं पक्षमाह—त्रैधातवीति त्रिभिः। त्रैधातवीसंज्ञा आग्नेयी वैश्वानरीसंज्ञा चेष्टिः अग्निहोत्रिणः श्रौताग्निमत एव। परमहंसानां धर्मभूते चतुर्थे संन्यासे करिष्यमाण एव च कर्तव्या भवेद्, नान्यत्र कुटीचकादिसंन्यास इति केचन द्विजोत्तमा आहुः इति तृतीयेनाऽभिसम्बन्धः।।६५५।।

कुटीचकादिन्यासग्रहणाङ्गतया तु श्रौताग्निमद्भिरपि प्राजापत्यैव कार्येति वदन्तीत्याह—परहंसाश्रमादिति। स्पष्टम्।।६५६।। एवमिति। विषयतः न्यासविशेषरूपम् अग्निहोत्रिरूपं च विषयम् अपेक्ष्य हि निश्चितां व्यवस्थां केचन द्विजोत्तमाः प्राहुः। तेषां द्विजोत्तमत्वे हेतुगर्भं विशेषणद्वयम्—पौराणिका इत्यादि। पुराणानां प्राचीनानां श्रुत्यादिवाक्यानां वेत्तारः। तेषां तर्ककुशलतामाह— आहिताग्नेरिति। आहिताग्निभिन्नस्य इष्ट्यधिकारो नास्तीति वदन्त इत्यर्थः।। अयं भावः— अग्निसाध्यानि इष्ट्यादीनि कर्माणि अग्निमन्तमधिकारिणं प्राप्य न निरग्नेरधिकारं कल्पयन्ति। न हि निषादस्थपतेरिव निरग्नेरधिकारं विना कस्याश्चिच्छ्रुतेरनुपपत्तिरिति।।६५७।।

निगमयति—त्रैधातवीति। अग्निहोत्रिणः पारमहंस्यग्रहणकाले आग्नेयी-त्रैधातव्योः अनुष्ठानं तु जाबालवाक्याद् निश्चितमेव। प्राजापत्यायास्तु श्रौताग्निमताऽपि कर्तव्यत्वं, स्मार्ताग्निमतैव कर्तव्यत्वं, लौकिकाग्नावपि कर्तव्यत्वम्—इत्येवमाकारो विवादो नानापक्षपरिग्रहो द्विजानां श्रुत्यादिविदां वर्तते। स च यथासम्भवं विकल्पेन समाधेय इति भावः।।६५८।।

में निर्धारित है कि सामान्यतः निषाद श्रौत कर्म में अनधिकृत होने पर भी जहाँ उसका नामोल्लेख है उस कर्म में उसी का अधिकार मानना होगा। ऐसे ही प्रकृत में जो संन्यास ले रहा है उसे प्राजापत्य-इष्टि करने को कहा है तथा संन्यास में अनग्नि का भी अधिकार कहा है अतः उसका भी प्राजापत्य में अधिकार सिद्ध होता है यह भाव है।)।।६५३-४।।

कुछ विद्वान् मानते हैं कि त्रैधातवीष्टि एवं आग्नेयीष्टि (वैश्वानरीष्टि) उसे ही करनी चाहिये जिसने श्रौत अग्नि का आधान किया हो तथा कुटीचकादि संन्यास लेते समय नहीं वरन् पारमहंस्य के समय ही इनका अनुष्ठान करना चाहिये।।६५५।। अग्निहोत्री भी जब पारमहंस्य से भिन्न कुटीचकादि संन्यास ग्रहण करे तब श्रद्धापूर्वक प्राजापत्येष्टि ही करे।।६५६।। इस प्रकार प्राचीन परंपराओं को समझने वाले द्विजोत्तमों ने सभी वाक्यों के क्षेत्र व्यवस्थित कर दिये हैं और जो आहिताग्नि नहीं उसके लिये इष्टि का विधान भी नहीं माना है। (व्यवस्था इस प्रकार हुई कि इष्टि करेगा तो आहितग्नि ही किंतु यदि परमहंस बन रहा है तो त्रैधातवी एवं आग्नेयी इष्टियाँ करेगा जबकि कुटीचकादि बन रहा है तो प्राजापत्येष्टि करेगा। इस पक्ष वालों का कहना है कि इष्टि क्योंकि अग्निसाध्य है इसलिये जिसने अग्नि-आधान कर रखा है उसी के लिये इष्टि का विधान उचित है, जिसके पास वैध अग्नि नहीं उसके लिये इष्टिविधि मानने का कोई आधार नहीं। निषाद का नाम लेकर विहित कर्म में उसका अधिकार न मानें तो वह विधि ही व्यर्थ हो जायेगी लेकिन निरग्नि का अधिकार न मानने पर भी इष्टिविधि व्यर्थ नहीं होगी क्योंकि साग्नि के लिये लागू रहेगी। अतः उक्त मीमांसान्याय का यहाँ प्रसंग नहीं।)।।६५७।।

१. 'तद्धैके प्राजापत्यमेवेष्टिं कुर्वन्ति, तदु तथा न कुर्याद् आग्नेयीमेव कुर्याद् अग्निर्ह वै प्राणः। प्राणमेवैतया करोति। पश्चात् त्रैधातवीयामेव कुर्याद्' इत्यादि चतुर्थखण्डे।

मुखाहुतिमुखं चैतत् पूर्णाहुत्यन्तमीरितम्। अविवादं परे हंसे सर्वेषां च द्विजन्मनाम्।।६५९

गृहान्निर्गत्याशिर्दानम्

अग्नौ श्रौते तथा स्मार्ते लौकिके वा विधाय तत्। कर्म सर्वं ततः कुर्यादौत्तरं परिसेचनम्।।६६०

ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां दद्याद् बलीवर्दं सकाञ्चनम्। चर्वाज्ययोस्तथा शेषमन्यच्चाऽपि स्वशक्तितः।।६६१

क्षमाप्य तांस्तथा बन्धूनन्यानपि विसर्ज्य च। पुत्रदारादिकान् सर्वान्निःसंगो यतिवद् भवेत्।।६६२

स्वजनाश्च ततः सर्वे स्नेहमात्रविवर्जिताः। स्वस्वस्थानानि गच्छेयुः प्रहृष्टमनसोऽपि वा।।
स्थितिं तत्रैव ते कुर्युः प्रेक्षका इव कौतुकम्।।६६३

यच्चेष्टिव्यतिरिक्तं 'ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय' (श्लोक.६४१) इत्यादिना पूर्वं वर्णितं तस्य सर्वेषां संन्यासग्रहणादावनुष्ठाने तु कस्याऽपि न विवाद इत्याह—मुखेति। मुखाहुतिमुखम् 'अग्नये स्वाहा' इति मन्त्रेण याऽऽहुतिः तत्प्रभृति पूर्णाहुतिपर्यन्तं च यत्कर्मोक्तं तस्य सर्वसाधारण्ये न विवाद इत्यर्थः।।६५९।।

प्रकृतमनुसरति—अग्नाविति। श्रौताद्यन्यतमेऽग्नौ उक्तं कर्म विधाय तत औत्तरम् उत्तरनारायणीयपाठेन अनुष्ठेयं सेचनं जलाशयं परि अभिलक्ष्य गृहान्निर्गमनं; सषत्वपाठे— उत्तरकालिकं परिषेचनं सर्वतोऽनुग्रहरूपामृतवृष्टिं; कुर्याद् इत्यर्थः । तत उत्तरनारायणेन गृहाद् निर्गच्छेत् ततस्तेभ्य आशिषं दद्याद्। इति हि पद्धतिकृद्भिरुक्तम् इति भावः।।६६०।। अनुग्रहमेव विशदयति—ऋत्विग्भ्य इति। ऋत्विग्भ्योऽध्वर्युप्रभृतिभ्यो बलीवर्दं 'गौर्दक्षिणे'ति विहितं, तथा काञ्चनं, चरुशेषम्, आज्यशेषम् अन्यच्च अन्नादिकं यथाशक्ति दद्यात्।।६६१।। क्षमाप्येति। तान् ऋत्विजो बन्धूनन्यांश्च स्वकीयात्युक्त्याद्यपराधान् क्षमाप्य, पुत्रादीन् सम्प्रत्तिसञ्ज्ञकर्मानुष्ठानेन अन्यांश्च आशीरादिभिः अभिनन्दनेन विसर्ज्य यतिवत् प्रैषोच्चारणानन्तरं यथा निःसङ्गेन भवितव्यं तथा पूर्वं भवेद् इत्यर्थः।।६६२।। बान्धवैश्च तदा गृहान् प्रति गन्तव्यं, तस्मिन् ममत्वं विहाय तद्देशे वा स्थतव्यम् इत्याह—स्वजना इति। प्रेक्षका इति भविष्यति ण्वुल्, कौतुकं दिदृक्षव इति तदर्थः।।६६३।।

सार यह है कि अग्निहोत्री जब परमहंस बनने लगे तब आग्नेयी और त्रैधातवी इष्टि अवश्य करे इसमें कोई मतभेद नहीं। प्राजापत्येष्टि के बारे में ही द्विजों में विवाद है कि केवल श्रौताग्निहोत्री ही उसे करे या स्मार्ताग्नि वाला भी करे या लौकिक अग्नि वाला भी करे। इस विवाद का भी समाधान यही है कि अपने-अपने सम्प्रदायानुसार अनुष्ठान कर लिया जाये।।६५८।। मुखाहुति से (श्लोक.६४६) पूर्णाहुति (श्लोक ६४९) तक के कर्म के बारे में तो कोई मतभेद नहीं। सभी द्विज जब परमहंस बनें तब उन कर्मों को अवश्य करें।।६५९।।

श्रौत, स्मार्त या लौकिक अग्नि में यथा-परंपरा पूर्वोक्त कर्म संपन्न कर उत्तरनारायणीय का पाठ करते हुए जलाशय की ओर चलना चाहिये।।६६०।।

ऋत्विजों को दक्षिणा अभी ही प्रदान कर देनी चाहिये। इस कर्म में विहित दक्षिणा है स्वर्ण सहित बैल। बचे हुए चरु, घी आदि भी उन्हें बाँट देने चाहिये।।६६१।। जो संन्यास ले रहा है उसे चाहिये कि उन ऋत्विजों से तथा अन्य बन्धु आदि से उनके प्रति जाने-अनजाने किये अपराधों के लिये क्षमायाचना करे और उन्हें विदा करे। 'सम्प्रत्ति' नामक कर्म का अनुष्ठान कर पुत्रादि को भी आशीर्वाद आदि देकर विदा कर देना चाहिये। (सम्प्रत्तिकर्म बृहदारण्यक १.५.१७ में बताया गया है। अपने नियम-धर्म पुत्र के सुपुर्द करना इसका प्रधान स्वरूप है।) पत्नी आदि को भी विदा कर यति की तरह संगहीन हो जाये।।६६२।। स्वजनों को भी चाहिये कि उस पर स्नेह न रखें और प्रसन्नता पूर्वक अपने-अपने घर लौट जायें। अथवा तमाशबीनों की तरह वहाँ भी रुक सकते हैं।।६६३।।

आत्मन्यग्न्यारोपः

प्रातर्होमादिकं तत्र कुर्यात् स स्नेहवर्जितः। समा सिञ्चन्तु मेत्यादिमन्त्रादग्नेरुपस्थितिम् ।।६६४

कृत्वा या ते ह्ययं ते वा तयोरन्यतरेण वा। त्रिवारं मन्त्रतः स्वीयमग्निमारोपयेद् द्विजः ।।६६५

यदा न विद्यते वह्निः श्रौतः स्मार्तोऽपि लौकिकः। अप्स्वेवात्र तदा होमं कृत्वा कुर्यात् स्वरोपणम् ।।६६६

उदरे स्वे समारोप्य वह्नींश्चित्वा ततो द्विजः। पूर्वमारोपितां तत्र सावित्रीं संस्मरेत् पुनः ।।६६७

जलाशयकृत्यम्

ततो गत्वा जलाभ्यासं प्रातः सन्ध्यामुपास्य च। नाभिदघ्ने जले स्थित्वा जपेद् मन्त्रानमूंस्ततः ।।६६८

प्राह तानूर्ध्वबाहुः सन्नहं वृक्षस्य रेरिवा। इत्यादि वच इत्यन्तं तद्वद् यश्छन्दसामिति ।।
नववाक्यान्यथो पुत्रैषणाया इति वा जपेत् ।।६६९

अग्नीनामात्मनि आरोपणस्य इतिकर्तव्यतामाह—प्रातरिति। तत्र उक्तहोमदेशे प्रातर्होमं नित्यं यथा क्रियते तथा कृत्वा 'समा सिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्र'[1] इत्यादिमन्त्रेण अग्नेरुपस्थितिम् उपस्थानं विधाय; 'या ते अग्ने यज्ञिया तनूः'[2] इत्यादिना, 'अयं ते योनिर्ऋत्वियो'[3] इत्यादिना वा मन्त्रेण त्रिवारं पठितेन स्वीयमग्निं स्वयमुत्पादितं श्रौताद्यन्यतममग्निम् ऊष्मपानपूर्वकम् उदरे समारोपयेद् इत्यर्थः।।६६४-५।। यस्य तु कोऽपि अग्निर्नास्ति तेन जल एव सर्वमग्निसाध्यं कर्म कार्यम् इत्याह—यदेति। स्वरोपणं भावनामयस्य अग्नेः स्वान्तरारोपणं कुर्याद् इति।।६६६।। उदर इति। बहिःस्थानग्नीन् स्वोदरे समारोप्य तत्र आगमोक्तप्राणाग्निहोत्रेतिकर्तव्यतया भावनामयकुण्डेषु तानग्नींश्चित्वा व्यवस्थाप्य, तत्र आध्यात्मिके वाग्रूपाऽग्नौ सावित्रीप्रवेशकाले समारोपितां सावित्रीं पुनः स्मरेत् प्रवेशमन्त्रान् पुनः पठेद् इति यावत्। सावित्रीं स्ववाचाग्नौ समारोपयेद् इति प्रोक्तं मुण्डकोपनिषदि(?)।।६६७।।

तत इति। ततो जलमसीपं गत्वा नाभिपरिमिते जले स्थित्वाऽमून् वक्ष्यमाणान् मन्त्रान् जपेद् इत्यर्थः।।६६८।। प्राहेति। तान् मन्त्रान् ऊर्ध्वबाहुः सन् प्राह व्यक्तं वदेदित्यर्थः। के ते मन्त्राः? इत्याकांक्षायामाह—अहमित्यादि। 'अहं वृक्षस्य' इत्यादि, 'वच' इत्यन्तं 'त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्' इत्यन्तं जपेत्—इति सम्बन्धः। तथा 'यश्छन्दसाम्' इति शान्तिमन्त्रे नववाक्यानि भवन्ति तानि जपेत्। तत्र 'सम्बभूव' इत्यन्तं वाक्यद्वयं परिशिष्टसप्तवाक्यानीति विवेकः। अथो तदनन्तरं 'पुत्रैषणाया वित्तैषणाया' इत्यादिकं जपेद् इत्यर्थः।।६६९।। प्रैषमन्त्रमाह—एतदन्त इति। तत

सब दूर हट जायें तब वैराग्यपूर्वक वहीं प्रातःकालिक होमादि करे, 'समासिंचन्तु' आदि मन्त्र से अग्नि का उपस्थान (समीप जाकर प्रणाम) करे। फिर 'या ते' आदि अथवा 'अयं ते' इत्यादि मंत्र का तीन बार पाठ कर अपनी अग्नि की गर्मी को मानो पीकर (सूँघकर) अग्नि को अपने उदर में समारोपित कर ले।।६६४-५।। जिसके पास श्रौत, स्मार्त, लौकिक कोई अग्नि नहीं वह अग्निसाध्य होमादि कर्म जल में ही संपन्न करे और भावना द्वारा ही अग्नि का अपने में आरोपण कर ले।।६६६।। अपने उदर में अग्निसमारोप करने के बाद अपने भीतर भावनामय कुण्डों में अग्नि को व्यवस्थित करे। अध्यात्म वाक्-रूप अग्नि में जिस सावित्री का समारोप किया था उसका पुनः स्मरण कर ले (क्योंकि अब गायत्री आदि का अधिकार उपवीतादि के साथ ही जाने वाला है।)।।६६७।।

---

१. 'सम्बृहस्पतिः। सं मायमग्निः सिंचत्वायुषा च बलेन चायुष्मन्तं करोतु माम्' इति मंत्रशेषः।

२. 'तयेह्यारोहात्मात्मानम्। अच्छा वसूनि कृण्वन्नस्मे नर्या पुरूणि। यज्ञो भूत्वा यज्ञमासीद स्वां योनिं जातवेदो भुव आ जयमानः सक्षय एहि' इति मंत्रशेषः।

३. 'यतो जातो अरोचथाः। तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धयारयिम्' इति शेषः। अयं जाबालचतुर्थखण्डेऽग्न्यारोपप्रसंगे व्याख्यातः।

एतदन्ते प्रकुर्वीत व्याहृतित्रयतः पुमान्। त्रिः संन्यस्तं मयेत्येवं मन्दमध्योत्तरस्वरैः।।६७०

आतुरसंन्यासः

आतुरस्य तु संन्यासे प्रैषमात्रं हि केवलम्। न श्राद्धादि न चान्यत् स्याज्जलमध्यादिसर्पणम्।।६७१
प्रैषं वक्तुमशक्तश्चेद् वाचाऽसौ मनसैव हि। प्रैषं कुर्यात् स्वयं धीरो मरणे समुपस्थिते।।६७२
आतुराणां तु संन्यासे न विधिर्नैव च क्रिया। मानसाद् वाचकाद्वाऽपि प्रैषादेवाऽत्र जायते।।६७३

संन्यासफलम्

तनुं त्यजेद्धि यो विप्रः कृत्वा संन्यासमात्मवान्। कालान्तरेऽथ वा सद्यो ब्रह्मलोकं स गच्छति।।६७४
संन्यस्तमिति यो ब्रूयात् प्राणैः कण्ठगतैरपि। स सूर्यमण्डलं भित्वा ब्रह्मलोके महीयते।।६७५

एकैकव्याहृतिपूर्वकं संन्यस्तपदं त्रिवारमुच्चारयेत् क्रमेण मन्दमध्यमोत्तमैः स्वरैरित्यर्थः तथा च नवधा प्रैषपाठः इति भावः।।६७०।।

आतुरसंन्यासस्तु श्राद्धादीतिकर्तव्यतां विनाऽपि प्रैषोच्चारणमात्रेणैव सिद्ध्यति इत्याह—आतुरस्येति। स्पष्टम्।।६७१।। उच्चारणेऽप्यशक्तौ सत्यां मनसैवोक्तं प्रैषमन्त्रं पठेत्, 'यद्यातुरः स्याद् मनसा वाचा संन्यसेद्'(जाबा.५) इति श्रुतेरित्याह—प्रैषमिति।।६७२।। आतुरस्य तावतैव संन्यासपूर्तिः श्रुतेरिष्टा यथा गृहमेधीयेष्टेः पूर्तिः 'आज्यभागौ यजति' इति वाक्यविहिताऽऽज्यभागाभ्याम् इत्याशयेनाह—आतुराणामिति। विधिः उत्पत्तिविधिविहितं प्रधानकर्म जले स्थित्वा सङ्कल्परूपम्। क्रिया तदुपकारकमङ्गजातं श्राद्धेष्ट्यादि। तत्सर्वं विनाऽपि केवलप्रैषवाक्योच्चारणादिना अत्र आतुरदशायां जायते संन्यास इति सम्बन्धः।।६७३।।

संन्यासफलमाह—तनुमिति। सति प्रतिबन्धके कालान्तरे, तदभावे सद्य इति विवेकः। 'संन्यासाद् ब्रह्मणः स्थानम्' इति स्मृतेरिति भावः।।६७४।। कपिलवाक्यमर्थतः[1] संगृह्णाति—संन्यस्तमिति द्वाभ्याम्। प्रयाणकालेऽपि

फिर जलाशय के पास जाकर प्रातःसन्ध्या करके नाभि जितने जल में स्थित होकर दोनों भुजाएँ उठाकर ये मंत्र उच्चारण करेः 'अहं वृक्षस्य रेरिवा....त्रिशंकोर्वेदानुवचनम्' (तै.१.१०.१),'यश्छन्दसाम् ऋषभो....गोपाय'(तै.१.४.१)। फिर 'पुत्रैषणाया' (बृ.३.५;४.४.२२) आदि का जप करे।।६६८-६।। इसके अनन्तर मन्द, मध्यम व उच्च स्वर से तीन बार व्याहृतित्रय पूर्वक 'मैंने पूर्णतः छोड़ दिया' इस अर्थ के वाक्यरूप प्रेष मन्त्र का उच्चारण करे।।६७०।।

मरणासन्न या अन्य परिस्थिति-विशेष में स्थित जिस आतुर व्यक्ति को संन्यास लेना हो उसके लिये श्राद्धादि, जल में उतरना आदि ज़रूरी नहीं, केवल प्रैष का उच्चारण पर्याप्त है।।६७१।। यदि वाणी से व्यक्तरूप में बोल भी न पाये तो मन से ही उसका कथन कर दे। विद्वान् ब्राह्मण मृत्यु के समय संन्यास ग्रहण करने की तीव्र अभिलाषा रखे और गुरु आदि न उपस्थित हों तो स्वयं भी प्रेष उच्चारण कर आतुरसंन्यास संपन्न कर सकता है।।६७२।। आतुरों के संन्यास में विधि (जलाशय में किया जाने वाला संकल्प), क्रिया (श्राद्ध, इष्टि) आदि नहीं होते, मन या वाणी से प्रैष का उच्चारण कर देने से ही वह संन्यास संपन्न हो जाता है।।६७३।।

जो आत्मवेत्ता विप्र संन्यास करके शरीर छोड़ता है वह तुरंत या कालांतर में ब्रह्मलोक चला जाता है। (प्रतिबंधक हो तो विलंब लगता है अन्यथा तुरंत जाता है। 'आत्मवेत्ता' अर्थात् निर्विशेष-उपासक या आत्मा का परोक्ष ज्ञानी।)।।६७४।।

प्राण छूटते समय भी जो दृढ भाव से 'मैंने त्रिलोकी का परित्याग कर दिया' यह संकल्प कर ले वह सूर्यमण्डल

---

१. शाट्यायन्युपनिषदि श्लोक ३२ चैवम्।

ब्रह्मणो मरणे तेन ब्रह्मणा सह धैर्यवान्। महाभूतलये प्राप्ते परं ब्रह्माऽधिगच्छति।।६७६
त्रिंशत्परांस्त्रिंशदवरांस्त्रिंशच्च परतः परान्। सद्यः संन्यसनादेव नरकात् त्रायते पितॄन्।।६७७
कुलानां च शतं पूर्वमपरं च शतत्रयम्। एतत् स्यात् सुकृते लोके संन्यस्तस्य कुलेऽस्ति यत्।।६७८
न्यासस्त्याग इति प्रोक्तः सम्यक्त्वं तस्य चेदृशम्। सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वत्र त्यजनं स्मृतम्।।
तच्च मुख्यं परे हंसे जघन्यमपरत्र हि।।६७९

संन्यासिमरणे कृत्यम्

परो हंस इति ज्ञानाद् द्विजस्तु म्रियते यदि। पुत्राद्यैरथ यस्तस्य संस्कारः परिकीर्त्यते।।६८०
सम्पादयेद् रथं चित्रं विमानं चाऽपि निर्मलम्। आन्दोलिकां च शिक्यं वा विस्तीर्णं मृदुलं ध्रुवम्।।६८१

संन्यस्तपदोच्चारणे ब्रह्मलोके पूज्यत्वं, तत्र हिरण्यगर्भमोक्षकाले तेन हिरण्यगर्भेण सह मोक्षश्च भवति। इति द्वयोरर्थः।।६७५-६।। दक्षवाक्यं पठति—त्रिंशदिति[1]। त्रिंशत्संख्याकान् परान् त्रिंशत् च तेभ्योऽवरान्, त्रिंशच्च तेभ्यः परेभ्यः परान्—नवतिसंख्याकान् इति यावत्; तावतः पितॄन् अतीतवंश्यान् नरकात् त्रायत इत्यर्थः।।६७७।। 'शतं कुलानां पुरतो बभूव तथा कुलानां त्रिशतं समग्रम्। एते भवन्ति सुकृतस्य लोके येषां कुले संन्यसतीह विप्रः।।' इति जाबालवाक्यम्(शाट्या.३०) अर्थतः संगृह्णाति—कुलानामिति। कुलानां वंश्यपुरुषाणां शतं पूर्वम् अतीतम्, तथा कुलानां शतत्रयम् अपरं भविष्यत्; एतत् सर्वं सुकृतसाध्ये लोके स्यात् तिष्ठेद् यद् यतः संन्यस्तस्य कुले वंशे भवतीत्यर्थः।।६७८।।

संन्यासपदार्थं वदन् परमहंसस्य मुख्यतामाह—न्यास इति। न्यासपदेन त्याग उच्यते; संपदेन च तस्य त्यागस्य सम्यक्त्वम् उच्यते। तच्च सम्यक्त्वम् ईदृशम् एवमाकारम्। 'ईदृशम्' कीदृशम्? इत्याकांक्षायामाह— सर्वथेति। सर्वथा शरीरवाङ्मनोभिः क्रियमाणस्य त्यजनस्य सर्वदा सर्वत्र सर्वदेशकालावच्छिन्नत्वं, तथा सर्वत्वं सर्वदृश्यविषयकत्वं यत् तदेव सम्यक्त्वम् इत्यर्थः।।६७९।।

अथ आतुरन्यासप्रसङ्गेन परमहंसस्य मृतौ सत्यां तद्बान्धवादिभिर्यत् कर्तव्यं शौनकबौधायनादिभिः दर्शितं तत् प्रपञ्चयति—परो हंस इति पंचाशता श्लोकैः। अयं द्विजः परमहंसतां गत इति ज्ञानाद् अनन्तरं स परमहंसो यदि म्रियेत, अथ तस्य पुत्राद्यैः नृपतिपर्यन्तैः अधिकारिभिः यत् तद्देहस्य संस्कारादिकं कर्तव्यं तदुच्यत इत्यर्थः।।६८०।। सम्पादयेदिति। तावत् तद्देहनयनार्थं रथाद्यन्यतमं सम्पादयेत्। तत्र विमानम् अधोलग्नदण्डसक्तस्कन्धैर्बहुभिर्वाह्यम्। आन्दोलिका मध्यप्रोतदण्डा द्वाभ्यां वाह्या। ध्रुवं दृढावयवम्।।६८१।। कर्तव्यमुत्सवमभिनीय

का भेदन कर ब्रह्मलोक जाकर आदर पाता है और धैर्यपूर्वक ब्रह्मा के साथ वहाँ तब परब्रह्म को पा जाता है जब ब्रह्मा का मरण आने पर महाभूत भी लीन हो जाते हैं।।६७५-६।। पूर्व की नब्बे पीढियों के पितरों को वह तुरंत नरक से तार देता है जो संन्यासी बनता है।।६७७।। संन्यास लेने वाले विप्र के सौ पूर्ववर्ती कुल और तीन सौ परवर्ती कुल पुण्य लोक प्राप्त करते हैं।।६७८।।

'संन्यास'-शब्द में 'न्यास' मायने त्याग और 'सम्' मायने भली भाँति; अर्थात् हर तरह, हर समय, हर जगह सब कुछ छोड़ देना यह संन्यास है। मुख्य रूप से यह कार्य परमहंस ही करता है, अन्य कुटीचकादि यथाशक्ति ही यत्किंचित् का त्याग करते हैं।।६७९।।

आतुरसंन्यास का प्रसंग आ चुका (श्लोक. ६७१) है जो मरणासन्न द्वारा ग्राह्य है अतः बता देते हैं कि जिस द्विज के बारे में यह निश्चित हो जाये कि वह परमहंस हो चुका है फिर वह मरे तो उसके पुत्रादि किस प्रकार संस्कार करें :।।६८०।। रंग-बिरंगा सजा हुआ रथ या स्वच्छ विमान या आंदोलिका या बड़ा मज़बूत, नरम शिक्य बना ले।

१. शाट्या. ३१।

वादित्रनृत्यघोषं च जयशब्दं च कारयेत्। महादेवस्य विष्णोर्वा भक्त्या यद्वत् समुत्सवे।
स्नाता दुकूलवसनास्तद्वच्चन्दनचर्चिताः।।६८२
ताम्बूलवदनाः सर्वे स्रग्विणो हर्षमागताः। हरिद्राचूर्णदुग्धाद्यैः फलैर्नानाविधैरपि।।६८३
सुगन्धैः सुमनःसङ्घैरन्योन्यकरसंस्थितैः। वसन्तोत्सववत् कुर्युरुत्सवं विभवे सति।।६८४
गृहाश्च राजमार्गाश्च सर्वतः परिमार्जिताः। सिक्ताश्चन्दनकर्पूरवारिभिर्गतपांसवः।।६८५
पञ्चामृतेन तद्देहं स्नापयेच्छिवविष्णुवत्। पुण्यैर्जलैः सुगन्धैश्च लेपयेच्चन्दनादिभिः।।६८६
अलङ्कुर्यात् तु मालाभिः सर्वतः प्रतिमामिव। चन्दनाऽगरुकपूरैर्धूपयेच्च मुहुर्मुहुः।
नीराजनैःसकपूरैश्चित्रैर्नीराजयेदपि।।६८७
संस्थाप्य पूर्वसम्प्रोक्तयाने सम्यगलङ्कृते। देववद् राजवच्चैनं वेदघोषैश्च संयुतम्।।
निःसारयेयुः संस्थानाद् वनादि स्थानकं प्रति।।६८८
पुण्यवृक्षे वने गत्वा निर्जने वा वनस्पतौ। देवालये वाऽथ वा गोष्ठे महानद्यास्तटेऽथ वा।
अन्यत्र वा शुभे देशे मलाऽस्थ्यादिविवर्जिते।।६८९
पुंप्रमाणं खनेद् भूमिं कूपवद्वर्तुलीकृताम्। पठेयुः खनितारश्च व्याहृतीरसकृत्ततः।।६९०

दर्शयति—वादित्रेति चतुर्भिः। महादेवादिभक्ता यथा शिवरात्र्यादौ वादित्रादिकं कारयन्ति तथा कारयेत्। तत्र वादित्रं वाद्यशब्दः, घोषो वेदादिशब्दः।।६८२।। ताम्बूलेति। वसन्तोत्सवो होलिका; तत्र यथोत्सवं कुर्वन्ति तथा स्नानादिशालिनः सन्त उत्सवं कुर्युः। हरिद्राचूर्णादिमङ्गलद्रव्यैः संयुक्तकराः। तथा विभवे सति गृहादयः चन्दनादिवारिभिः सिक्ता गतपांसवः परिहृतधूलिकाः कार्याः। इति त्रयाणामर्थः।।६८३-५।।

तद्देहपूजां देवप्रतिमावत् कर्तव्यतया वर्णयति—पञ्चामृतेनेति। तद्देहं परमहंसदेहम्। निगदव्याख्यातं द्वयम्।।६८६-७।। तन्नयनविधिमाह—संस्थाप्येति। पूर्वोक्तरथादिरूपे याने वाहने संस्थाप्य संस्थानाद् मृतिदेशाद् वनादिदेशाभिमुखं नयेयुरिति।।६८८।। पुण्येति। पुण्या अश्वत्थादयो वृक्षा यत्र तत्तया, तादृशवनादिदेशे गत्वा पुरुषप्रमाणं खातं कूपसमं भूमौ कुर्युरिति। तत्खननकर्तृभिः द्विजैः व्याहृतयः पठनीयाः। इति द्वयोरर्थः।।६८९-९०।।

(इस प्रकार की हौदा-नुमा पालकी जिसके तले में लम्बे दण्डे लगे हों जिनसे अनेक लोग एक-साथ उसे कंधों पर उठाकर चलें, विमान शब्द का अर्थ है। आंदोलिका अर्थात् पालकी। शिक्य अर्थात् झोली।)६८१।। उसका शरीर ले जाते समय बाजे बजाने चाहिये, नाचना चाहिये, वेदघोष करना चाहिये जैसे शिव-विष्णु आदि के भक्त बड़े उत्सवों पर किया करते हैं। उस यात्रा में शामिल होने वाले स्नान करके, दुकूल पहन कर, चंदन लगाकर पहुँचें।।६८२।। सभी के मुँह में पान होना चाहिये, पुष्पमाला पहने हों, प्रसन्न हों, हल्दी का चूर्ण, दूध, नानाविध फल, सुगंधित-द्रव्य, गुलदस्ते आदि मांगलिक पदार्थ हाथों में लिये हों। वैभव हो तो वैसा उत्सव करें जैसा होली पर किया जाता है।।६८३-४।। घर और राजमार्ग हर तरफ से साफ कर देने चाहिये, धूल न रह जाये तथा चंदन कर्पूर से युक्त पानी का छिड़काव कर दिया जाये।।६८५।।

जैसे शिव या विष्णु का अभिषेण करते हैं ऐसे पंचामृत से मृत संन्यासिदेह को स्नान कराना चाहिये, फिर पुण्य तीर्थों के जल से स्नान कराकर चंदनादि सुगंध का लेपन कर देना चाहिये।।६८६।। मूर्ति की तरह सब तरफ से शव को मालाओं से सजा देना चाहिये। चंदन, अगरु, कर्पूर से बारंबार धूप करनी चाहिये तथा कर्पूर आदि से आरती करनी चाहिये।।६८७।। तदनंतर उक्त यान सजाकर शव उसमें वेदघोष पूर्वक वैसे संस्थापित कर देना चाहिये जैसे देवतामूर्ति

सप्तव्याहृतिभिः खातं सम्प्रोक्ष्याऽत्र द्विजोत्तमः। दर्भासनं प्रकुर्वीत प्रणवेन भुवस्तले।।६९१

सावित्र्या तत्र तद्देहं प्रक्षाल्य मलवर्जितम्। पौरुषेणाऽपि सूक्तेन स्नापयेद् विष्णुबुद्धितः।
गन्धमाल्यादिभिश्चैतदलं कुर्याद् यथा पुरा।।६९२

विष्णो हव्यं रक्षस्वेति मन्त्रमुच्चार्य निक्षिपेत्। खाते तस्मिंस्ततो दण्डमर्पयेद् दक्षिणे करे।।६९३

त्रिधा कृत्वा भवेद् दण्ड आतुरस्य न विद्यते। सम्पाद्य तं तदा सद्यो दद्यात् संन्यासधर्मवित्।।
अमुना मन्त्रतो विद्वान् इदं विष्णुर्विचक्रमे।।६९४

हंस इत्यादिकं मन्त्रं जपेद्धृदयदेशतः। भ्रूमध्ये पौरुषं सूक्तं ब्रह्मजेत्यादि मूर्द्धनि।।६९५

भूमिर्भूमिमगाद् इत्थं मन्त्रतो दृढमश्मना। भिन्द्याद् मूर्द्धनि मध्ये च मेधावी ब्राह्मणोत्तमः।।६९६

सप्तेति। तत् खातं सप्तव्याहृतिभिः सम्प्रोक्ष्य तत्र खातगतभूमौ प्रणवमन्त्रेण दर्भासनं स्थापयेदिति।।६९७।। सावित्र्येति। तत्र खातबहिर्देशे तद्देहं सावित्रीमन्त्रप्रयुक्तस्नानेन मलवर्जितं कृत्वा पुरुषसूक्तेन विष्णुबुद्ध्या स्नापयेद्, गन्धादिभिः अलं कुर्याच्चेति।।६९२।।

विष्णो! इति। ततः तद्देहं तस्मिन् खाते 'विष्णो हव्यं रक्षस्वे' ति मन्त्रेण निक्षिपेत्। ततः तदीयदण्डं त्रिधा कृत्वा दक्षिणे करे दद्यात्। यद्यपि आतुरस्य दण्डो विधिना सम्पादितो न विद्यते तथापि तं दण्डम् 'इदं विष्णुर्विचक्रम' इत्यनेन मन्त्रेण सम्पाद्य संन्यासधर्मवित् कश्चित् तत्करे दद्यात्। इति द्वयोरर्थः।।६९३-४।। हंस इत्यादीति। तस्य हृदयदेशे हस्तं निधाय 'हंसः शुचिषद्' इत्यादि मन्त्रं जपेत्। भ्रूमध्ये तं निधाय च पुरुषसूक्तं जपेत्। मूर्द्धनि हस्तं निधाय च 'ब्रह्मज ज्ञानम्' इत्यादि मन्त्रं जपेद् इत्यर्थः।।६९५।। भूमिर्भूमिरिति। ततो 'भूमिमगाद्'[1] इत्यादिमन्त्रेण तस्य मूर्द्ध-मध्ये अश्मना पाषाणेन प्रहारं दद्यात् कुशलो विप्र इत्यर्थः।।६९६।। उच्चारयन्त इति। ततः प्रणवं व्याहृतीश्चोच्चारयन्तो

या राजा को शिबिकादि पर बैठाते हैं। फिर वनादि जहाँ समाधि देनी हो उधर ले चलना चाहिये।।६८८।। समाधिस्थान किसी अश्वत्थादि पुण्य वृक्ष के पास हो, या देवालय के निकट हो, या गोशाला के पास हो, या महान् नदी के तट पर हो या और किसी शुभ जगह हो जहाँ मल, हड्डी आदि न पड़े हों।।६८९।। वहाँ कुए जैसा गोल आदम-कद गड्ढा खोदना चाहिये। खोदने वाले द्विज बार-बार व्याहृतियों का उच्चारण करते रहें।।६९०।।

गड्ढे का सातों व्याहृतियों के उच्चारणपूर्वक संप्रोक्षण कर ज़मीन पर प्रणव से कुश का आसन बिछा दे।।६९१।। सावित्रीमन्त्रपूर्वक शव को साफ करे और पुरुषसूक्त का उच्चारण करते हुए उसे यह समझ कर स्नान कराये कि वह विष्णु है और सुगंध, माला आदि से पुनः अलंकृत करे।।६९२।। 'हे विष्णु! हव्य की रक्षा करो' इस मन्त्र से शव को गड्ढे में उतार दे और तीन टुकड़े कर उसके दायें हाथ में दण्ड दे देवे। यद्यपि आतुर संन्यासी ने विधिवत् दण्ड नहीं ग्रहण किया है तथापि संन्यास धर्म के किसी जानकार को चाहिये कि 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' आदि मंत्र पूर्वक तत्काल उस शव को दण्डयुक्त कर दे।।६९३-४।। फिर शव के हृदय देश पर हाथ रखकर 'हंसः शुचिषत्' आदि मंत्र जपे, भ्रूमध्य पर हाथ रखकर पुरुषसूक्त जपे, मूर्द्धा पर हाथ रखकर 'ब्रह्मज ज्ञानम्' आदि मंत्र जपे।।६९५।। फिर किसी कुशल ब्राह्मण को चाहिये कि 'भूमिर्भूमिम्' आदि मंत्र पढ़ते हुए मज़बूत पत्थर से शव का कपाल फोड़ दे।।६९६।।

---

१. 'भूमिर्भूमिमगाद् माता मातरमप्यगात्। भूयास्म पुत्रैः पशुभिर्यो नो द्वेष्टि स भिद्यताम्।।' आचारस्तु-शिरसि गुडपिण्डमन्यद् वा फलं नारिकेलादि निधाय तद्भेदनम् इति।

उच्चारयन्त ओङ्कारं व्याहृतीश्च द्विजोत्तमाः। अवटं पूरयेयुस्ते पाषाणैश्च मृदा दृढम्।।६९७
श्वसृगालादयो यद्वद् भक्षयेयुर्न तं तथा। कुर्युरेवं न चेदेवं दुर्भिक्षादि प्रजायते।।६९८
संन्यासिनो न कोऽप्येष संस्कारः परिकीर्तितः। कर्तॄणाममुना यस्माद् भवेदभ्युदयः सदा।
प्रत्यवायोऽप्यकरणे ततस्तेष्वेव संस्मृतः।।६९९
देहः परमहंसस्य देयश्छित्वाऽत्र खण्डशः। भूतेभ्य इति चेच्छन्ति विरक्ता न परे तथा।।७००
यतः परमहंसस्य पूरणं वृद्धिकारणम्। अन्येषां वर्णिनां तेन पूरणीयः स सर्वदा।।७०१
कुटीचकादयो दाह्याः पूरणीयाश्च वा द्विजैः। दाहः परमहंसस्य नैव कार्यः कथञ्चन।।७०२
अस्मिन् दग्धे प्रदग्धाः स्युराशिषः प्राणिसंश्रयाः। भक्षिते भक्षितास्तद्वत् तस्मात् तं पूरयेत् सदा।।७०३

द्विजाः तं गर्तं पूरयेयुः इति।।६९७।। श्वसृगालेति। यथा तद्देहं श्वानः सृगालादयः च न भक्षयेयुः तथा कर्तव्यम्, यतः तद्देहस्य सृगालाद्यैर्भक्षणे दुर्भिक्षादिदेशोपद्रवाणाम् उत्पत्तिः बौधायनेनोक्तेत्यर्थः।।६९८।।

संन्यासिन इति। एष उक्तविधः संस्कारः संन्यासिनो मुक्तस्योपकाराय न भवति। किन्तु कर्तॄणाम् एव तत्करणेऽभ्युदयः सत्फलाप्तिः, अकरणे प्रत्यवायः च भवति, तत इदं सिद्धम्। 'इदं किम्'? यद्यपि विरक्ता इतीच्छन्ति यन्मम परमहंसस्य देहः श्वप्रभृतिभ्यो देय इति तथाऽपि परेऽभ्युदयार्थिनो जनाः तथाभावं न इच्छन्ति। इति द्वयोरर्थः।।६९९-७००।। फलितमाह—यत इति। यतः परमहंसदेहस्य उक्तविधया भूमौ खनित्वा पूरणम् अन्येषां कर्तॄणां चातुर्वर्णिकानां वृद्धेरभ्युदयस्य कारणं तेन पूरणं प्रशस्तम् इत्यर्थः।।७०१।। अकरणे प्रत्यवायमभिनयति—कुटीचकादय इति। यद्यपि कुटीचकबहूदकादीनां दाहादिकमपि मुनिभिरुक्तं, तथाऽपि परमहंसविषये तैरेव दाहनिषेधाद् दाहो न कार्यः सर्वथाऽनिष्टसाधनम् इति यावत्। तथा च कपिलः 'अनग्नेर्दहनं कार्यं पूर्वभिक्षोर्यथाविधि। विदुषस्तु न तत् कार्यमेकोद्दिष्टादि कर्हिचित्।।' पूर्वभिक्षुः कुटीचकः। विद्वान् परमहंसः।।७०२।। ततः किमनिष्टम्? इत्यत आह— अस्मिन्निति। अस्मिन् परमहंसदेहे देवप्रतिमावत् सर्वकामोपादानभूते दग्धे सति प्राणिनाम् आशिष एव दग्धाः स्युः इत्युपचारः। एवमग्रेऽपि।।७०३।।

तदनंतर उत्तम द्विज व्याहृतियाँ और प्रणव बोलते हुए (पहले नमक से फिर) पत्थर व मिट्टी से गड्ढा पक्की तरह भर दें।।६९७।। शव को कुत्ते, सियार आदि खोद कर खा न सकें इस प्रकार उस गड्ढे को भरना चाहिये (अर्थात् ऊपर कुछ भारी पत्थर बिछाकर काँटों की झाड़ियाँ डाल देनी चाहिये)। यदि यों न किया तो दुर्भिक्ष आदि उपद्रव देश में होते हैं।।६९८।।

मुक्त संन्यासी को उक्त किसी संस्कार से कोई उपकार नहीं प्राप्त होता किन्तु जो पुत्रादि यों संस्कार करते हैं उन्हें उससे हमेशा के लिये सत्फल की प्राप्ति हो जाती है और वे न करें तो उन्हें दोष भी लगता है।।६९९।। विरक्त तो चाहते हैं कि उनका शव टुकड़ों में काटकर कुत्ते, बाज आदि प्राणियों को दे देना चाहिये लेकिन पुत्रादि की ऐसी इच्छा न होने से लोक में यों किया नहीं जाता।।७००।। क्योंकि परमहंस को गड्ढे में समाधि देना अन्य वर्णियों की बढ़ोतरी का हेतु है इसलिये उसे मृत्यूपरान्त हमेशा गड्ढे में डालना चाहिये। (वर्तमान शिष्टाचार में परमहंसों की जल-समाधि बेहतर मानी जा रही है।)।।७०१।। कुटीचकादि को गड्ढे में भी डाला जा सकता है और जलाया भी जा सकता है लेकिन परमहंस को कभी नहीं जलाना चाहिये।।७०२।। परमहंस का शव जल जाये तो प्राणियों की आशाएँ जल जाती हैं, उसे कुत्ते आदि खा जायें तो प्राणियों की आशाएँ खा ली जाती हैं। अतः उसे गड्ढे में ही समाधि देनी चाहिये।।७०३।। गड्ढा भर जाने पर 'अग्निनाग्निः' तथा 'सूर्या त' इत्यादि मंत्रों का पाठ द्विजोत्तम को करना चाहिये।।७०४।। शोकरहित हो प्रसन्नता से सब नमस्कार और परिक्रमा करें और वैसा माहौल रखें जैसा ब्याह आदि उत्सव पर होता है।।७०५।।

अग्निनाऽग्निरिति प्रोच्य सूर्या त इति चापरम्। पठेन्मन्त्रं हि सम्पूर्णे खाते तस्मिन् द्विजोत्तमः ।।७०४

प्रहृष्टवदनाः सर्वे शोकलेशविवर्जिताः। विवाहाद्युत्सवे यद्वत् तद्वदेव व्यवस्थिताः।।
कुर्युः प्रदक्षिणं तद्वद् नमस्कारांश्च शक्तितः।।७०५

अवटस्योर्ध्वमास्थाप्य देवालयमथाऽपि वा। अश्वत्थं वा वटं वाऽपि शस्यं वाऽन्यं वनस्पतिम्।।७०६

वैष्णवीं प्रतिमां तत्र लिङ्गं वा शैवमेव च। आदित्यं वा गणेशं वा भवानीं वा श्रियं तथा।
प्रतिष्ठाप्य च पूजां च तत्र कुर्युर्महाधियः।।७०७

किं बहूक्त्या तथा कुर्युर्यथा कालान्तरेऽपि च। मलास्थ्यादि पतेद् नाऽस्य ह्युपरिष्टात्
कथञ्चन।।७०८

प्रेतस्य दर्शनात् स्पर्शाद् बुद्धिर्या जायते नृणाम्। न तां कुर्यः परं विष्णोः स्पर्शदर्शनसम्भवाम्।।७०९

कृत्वा स्नानं च कुर्वीरन्नाशुचित्वनिवारणम्। परं तत्स्नानसम्भूततीर्थबुद्ध्या मनीषिणः।।
कुर्युर्वाऽप्यथ वा नैव स्नानं स्वेच्छावशादिह।।७१०

पूरणानन्तरं कर्तव्यमाह—अग्निनेति। 'अग्निनाऽग्निः समिध्यत' इत्यादिकं 'सूर्या त' इत्यादिकं च मन्त्रं पूरणानन्तरं द्विजोत्तमः पठेत् इति।।७०४।। प्रहृष्टेति। तत उत्सव इव प्रहृष्टाः सन्तः प्रदक्षिणादिकं कुर्युरिति।।७०५।।

अवटस्योर्ध्वमिति। तस्य गर्तस्य ऊर्ध्वम् उपरि देवालयम् अश्वत्थादिकं वा आस्थाप्य निवेशयित्वा तस्मिन् विष्णुप्रतिमाद्यन्यतमं प्रतिष्ठाप्य तत्पूजा प्रवर्तनीया महामतिभिः। इति द्वयोरर्थः।।७०६-७।। महामतित्वे प्रयोजकमाह—किं बहूक्त्येति। यथा तत्स्थानोपरि अशुचिद्रव्यसम्पर्को न स्यात् तथा करणस्याऽऽवश्यकत्वात् तत्र देवालयादि सम्पादनेन तदिष्टसाधनम् 'आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणीता' इति न्यायानुसरणेन महामतित्वं स्फुटयतीति भावः। यथा कालान्तरेऽप्यस्य पूरणस्थानस्य उपरिष्टाद् मलादिकं कथञ्चन अपि न पतेत्तथा कुर्युः इत्यन्वयः।।७०८।।

ततः स्नानं तीर्थबुद्ध्या कार्यमित्याह—प्रेतस्येति। प्रेतस्य मृतशरीरस्य दर्शने स्पर्शे च सति या स्वस्मिन्नशुचित्वबुद्धिः प्रसिद्धा सा न कार्या, परं किन्तु विष्णोः प्रतिमायाः स्पर्शादौ या बुद्धिः तां कृत्वा स्नानं तैः कर्तव्यम्। परं तु तत् स्नानं अशुचित्वनिवारकं न भवति अशुचित्वस्यैव अभावाद्! इति भावः। ततो मनीषिणः तस्य परमहंसस्य स्नानेन सम्भूतं यत् तीर्थं तद्भावनया स्नानं कुर्युर्न वा कुर्युः यत इह परमहंसदेहस्य स्पर्शादौ स्नानस्य इच्छैव नियामिका। इति द्वयोरर्थः।।७०९-१०।।

गड्ढे पर अश्वत्थ, वट या अन्य कोई अच्छा पौधा रोप देना चाहिये या मंदिर बना देना चाहिये जिसमें विष्णु की प्रतिमा या शिवलिंग या सूर्य, गणेश, भवानी, लक्ष्मी में से किसी की मूर्ति प्रतिष्ठित कर पूजा करनी चाहिये।।७०६-७।। इस प्रकार की व्यवस्था कर देनी चाहिये कि कालांतर में भी मल, हड्डी आदि उस पर न पड़े।।७०८।।

सामान्यतः शव को देखने-छूने से लोगों को जो स्वयं में अशुद्धि का निश्चय होता है, यति के शव के दर्शनादि से वैसा अनुभव नहीं करना चाहिये वरन् विष्णु प्रतिमा के दर्शनादिसे जैसा लगता है वैसा अनुभव करना चाहिये।।७०९।। फिर जिन्होंने उक्त कर्म में भाग लिया है उन्हें स्नान करना चाहिये। वह स्नान किसी अशुचिता को मिटाने वाला नहीं (क्योंकि अशुचिता हुई ही नहीं)। 'परमहंस के शरीर के स्नान से वह जल तीर्थ हो गया है' इस बुद्धि से मनीषियों को स्नान करना चाहिये। यदि इच्छा न हो तो स्नान नहीं भी करे, कोई दोष नहीं।।७१०।। जीवित रहते परमहंस-शरीर

प्राणनिर्गमनादूर्ध्वं प्रतिमा वैष्णवी तु सा। देहः परमहंसस्य जीवन् विष्णुरयं स्वयम्।।७११
अत एव पुराणज्ञा एवमाहुर्मनीषिणः। वैष्णवीं प्रतिमां दृष्ट्वा यतिं दृष्ट्वैव दण्डिनम्।।
प्रणिपातमकुर्वाणो नरकं प्रतिपद्यते।।७१२
दुर्वृत्तो वा सुवृत्तो वा मूर्खः पण्डित एव वा। काषाय-दण्डमात्रेण यतिः पूज्यो द्विजैः सदा।।७१३।।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च शक्रो लोकपसंयुतः। वस्वाद्याश्च गणाः सर्वे यतिदेहे वसन्ति हि।।७१४
पूजिते पूजिता एते सर्व एव सुरोत्तमाः। भवन्ति च तिरस्कारात् सर्वेऽपि च तिरस्कृताः।।७१५
भिक्षुर्यत्र च तत्राऽयं विश्वरूपधरो हरिः। नित्यं तिष्ठति सर्वात्मा स्वदेह एव चक्रधृक्।।७१६
यत्किञ्चित् क्रियते ह्यस्य जनैरेतैः शुभाशुभम्। दीयते चान्नपानादि स दद्यात् पुरुषोत्तमे।।७१७
यतीनां च गुरुः शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम्। इह प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः।।७१८

उक्तार्थे हेतुतया अत्रिवाक्यद्वयम्—'द्वे रूपे वासुदेवस्य चलं चाऽचलमेव च। चलं संन्यासिनां रूपमचलं प्रतिमादिकम्।। देवताप्रतिमां दृष्ट्वा यतिं दृष्ट्वैव दण्डिनम्। प्रणिपातमकुर्वाणो नरकं रौरवं व्रजेत्।।' इत्याकारम् अर्थतो निबध्नाति—प्राणेति द्वाभ्याम्। परमहंसदेहः प्राणनिर्गमनोत्तरं विष्णुप्रतिमातुल्यः, पूर्वं तु साक्षाद् विष्णुः इत्यर्थः।।७११।। अत एवेति। पुराणज्ञाः पुरातनार्थस्मर्तारः अत्र्यादयः।।७१२।।

भारतवाक्यं पठति—दुर्वृत्त इति। स्पष्टम्।।७१३।। 'अपमाने कृते तेषां देवाः सर्वेऽपि कारिता' इत्यादिनारदवाक्यानां तात्पर्यमाह—ब्रह्मेति चतुर्भिः। स्पष्टं द्वयम्।।७१४-५।। भिक्षुरिति। स्वदेहे स्वप्रतिमायां यथा विष्णुः संनिहितः तथा भिक्षुदेहेऽपि इत्यर्थः।।७१६।। यतेर्देवप्रतिमासाम्यं स्फुटयति—यत्किञ्चिदिति। उत्तरार्द्धे तद् इति शेषः। अस्य यतेः शुभाशुभं स्तुतिनिन्दादिरूपं यत्किञ्चित् क्रियते, यच्च अन्नपानादिकं दीयते तदा स यतिः तत्सर्वं लोककृत्यं पुरुषोत्तमे विष्णौ दद्यात् प्रापयेदित्यर्थः। तत्फलं विष्णुरेव ददातीति भावः।।७१७।। यतेर्धर्मातिक्रमदर्शनेऽपि चातुर्वर्णिकैः तद्दण्डसङ्कल्पो न कार्य इति परिसंख्यामुखेनाह—यतीनामिति। यतीनां गुरुः, राजा, यमः चेत्येते त्रय एव प्रशास्तारः। तत्र धर्मसन्देहे गुरुः प्रशास्ता। तदुक्तं जमदग्निना 'अथ वा यद् गुरुर्ब्रूयात् तत् कार्यमविशङ्कया। निग्रहेऽनुग्रहे चाऽपि गुरुः सर्वत्र कारणम्।।' इति। दुरात्मनां प्रस्फुटपापानां राजा शास्ता। तदुक्तं दक्षेण 'पारिव्राज्यं गृहीत्वा तु यः स्वधर्मे न तिष्ठति। श्वपदेनाङ्कयित्वा तं राजा शीघ्रं प्रवासयेत्।।' इति। इह लोके प्रच्छन्नपापानां तु यमः प्रशास्तेति तु प्रस्फुटमेवेति।।७१८।। फलितमाह—एवमिति। एवम् उक्तविधां

स्वयं विष्णु है और प्राण निकलने के बाद विष्णु की प्रतिमा है।।७११।। इसलिये पुराण के जानकार विद्वान् कहते हैं कि वैष्णव प्रतिमा और दण्डी यति को देखकर नमस्कार न करता हुआ नरक जाता है।।७१२।। दुराचारी हो या सदाचारी, मूर्ख हो या पण्डित, काषायवस्त्र और दण्ड धारण किये है इतने मात्र से यति द्विजों के लिये हमेशा पूजनीय होता है।।७१३।। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इंद्रादि, लोकपाल, वसु आदि सभी यतिशरीर में निवास करते हैं।।७१४।। यतिपूजा से इन सभी उत्तम देवताओं की पूजा हो जाती है और यति को तिरस्कृत करने से इन सभी का तिरस्कार हो जाता है।।७१५।। जिस शरीर में भिक्षु है वहाँ विश्वरूप धारण करने वाले सर्वात्मा हरि हमेशा रहते हैं जैसे वे चक्रधारी अपने शरीर में रहते हैं।।७१६।। यति के प्रति जो शुभ-अशुभ किया जाता है, उसे जो अन्न-जल आदि दिया जाता है वह पुरुषोत्तम के प्रति ही किया गया व उन्हें ही दिया गया समझना चाहिये।।७१७।।

यतिद्वारा धर्मोल्लंघन किया जाता दीखे तो भी चातुर्वर्णिकों को उसे दण्डित करने का संकल्प नहीं करना चाहिये : यति पर तीन का ही प्रशासन है—गुरु, राजा और यम। धर्मविषयक संदेहादि होने पर गुरु निर्णायक है। यति से जो

एवं विज्ञाय सततं कर्मणा मनसा गिरा। अनुकूलं यथाशक्ति कुर्युः पुण्यार्थिनो जनाः।।७१६
यतिमात्रस्य किं भूयः परहंसस्य सर्वदा। जीवतोऽपि मृतस्याऽत्र स्वयं वृद्धिमभीप्सवः।।७२०
ततोऽस्य मरणे न स्यान्नाशौचं नोदकक्रिया। न घृतप्राशनं ज्योतिःस्पर्शनादि कदाचन।।७२१
पदे पदेऽश्वमेधस्य फलं तद्वहने भवेत्। स्पर्शने दर्शने विष्णोः स्पर्शदर्शनसम्भवम्।।७२२
यतीनां परहंसानां मनसा वचसाऽपि च। प्रैषे स्यात् खननं त्वेतदन्येषां दहनं भवेत्।।७२३
सर्वकर्मनिवृत्तस्य परहंसस्य सर्वदा। यतेर्न दहनं कार्यं नाशौचं नोदकक्रिया।।७२४
ये वहन्ति महात्मानः स्पृष्ट्वा चैव च हर्षतः। अश्वमेधफलं तेषां द्विजानां स्यात् क्षणे क्षणे।।७२५
अनुगच्छन्ति ये ह्येनं वहन्ति च खनन्ति च। पूरयन्ति च ते सर्वे सदा शुद्धाः प्रकीर्तिताः।।७२६

शास्त्रसिद्धां मर्यादां विज्ञाय पुण्यार्थिनो धर्मकामाः वृद्धिमभीप्सवः अभ्युदयार्थिनो वा जनाः यतिमात्रस्य सर्वप्रकारस्य यतेः जीवतो मृतस्य वा शरीरादिभिः अनुकूलम् एव कुर्युः किम् उत परमहंसस्य पुरुषोत्तमस्य। इति द्वयोः सम्बन्धः।।७१६-२०।।

ततोऽस्येति। ततो दाहाऽयोग्यत्वाद् अस्य परमहंसस्य मरणे अशौचादिकं न अस्ति। तत्र उदकक्रिया तिलाञ्जलिदानम्। घृतप्राशनं घृतपानम्। ज्योतिःस्पर्शोऽग्निप्रतपनम्। आदिपदेन निम्बपत्रभक्षणग्रहः। तथा च बौधायनः—'न तत्र शेषसंस्कार' इति।।७२१।। बौधायनोक्तं तद्वहनादौ अश्वमेधफललाभं दर्शयति— पद इति। तस्य परमहंसस्य वहने पूरणादिदेशप्रापणे प्रतिपादन्यासम् अश्वमेधफलं, स्पर्शादौ तु विष्णुप्रतिमास्पर्शादिजन्यफलसमं फलं भवेदिति।।७२२।। यतीनामिति। मानसेन वाचिकेन अपि वा प्रैषोच्चारणेन पारमहंस्यं प्राप्तानां मरणे खननम् एव कार्यं, न दाह इत्यर्थः।।७२३।। अत्र बौधायनवाक्यमेव पठति—सर्वेति। स्पष्टम्।।७२४।। 'अश्वमेधफलं सर्वे प्राप्नुवन्ति पृथक् पृथक्' इति वाक्यार्थमाह—ये वहन्तीति। हर्षेण स्पृष्ट्वा ये वहन्ति इति सम्बन्धः।।७२५।। अनुगच्छन्तीति। स्पष्टम्।।७२६।।

व्यक्त पाप हो जाते हैं उन पर निर्णय राजा कर सकता है। (स्मृतिकारों ने बताया है कि पारिव्राज्य ग्रहण करके जो अपने धर्म पर स्थित न रहे उसे कुत्ते के पैर से चिह्नित कर राजा शीघ्र देशनिकाला दे दे।) संसार में जो यति ने छिपे पाप किये हैं उन पर वैवस्वत यम निर्णायक हैं।।७१८।। यह मर्यादा समझकर पुण्य और अपनी बढ़ोतरी चाहने वाले लोगों को केवल परमहंस ही नहीं सभी तरह के यतियों के अनुकूल ही अपने कर्म-मन-वाणी से यथाशक्ति व्यवहार करना चाहिये। यति के जीवित रहते एवं उसके मरने के बाद भी उसके प्रतिकूल कुछ नहीं करना चाहिये।।७१६-२०।।

इस प्रकार परमहंस के मरने पर अशौच, तिलांजलि देना, घी पीना, अग्निस्पर्श, नीम का पत्ता खाना आदि वे सब नहीं होते जो साधारण द्विज के मरने पर होते हैं।।७२१।। उसके शव को ढोने से पग-पग पर अश्वमेध का फल होता है, उसके स्पर्श-दर्शन से विष्णु के स्पर्श-दर्शन का पुण्य होता है।।७२२।। मन से और वाणी से भी जो प्रैषोच्चारणपूर्वक परमहंस यति हो गया है उसके शव को गड्ढे में डालना चाहिये। अन्यों का शव जलाया जाता है।।७२३।। सारे कर्मों से निवृत्त परमहंस यति के शव को जलाना नहीं चाहिये। उसकी मृत्यु अशौचप्रयोजक नहीं और न ही उसे सतिल जल की अंजलि प्रदान की जाती है।।७२४।। जो महात्मा द्विज प्रसन्नता से उसका शव छूते व ढोते हैं उन्हें प्रतिक्षण अश्वमेध का फल मिलता है।।७२५।। जो उस शोभायात्रा में शव के पीछे चलते हैं, शव ढोते हैं; गड्ढा खोदते-भरते हैं वे सभी हमेशा शुद्ध कहे जाते हैं।।७२६।।

यतियों का दाहसंस्कार, पिण्डदान, तिलांजलिदान आदि नहीं होता किंतु ग्यारहवें दिन पुत्र को पार्वण श्राद्ध

यतीनां नैव संस्कारो नैव पिण्डोदकक्रिया। अहन्येकादशे प्राप्ते पुत्रः कुर्याद्धि पार्वणम्।।७२७
विष्णुनाम समुच्चार्य स्वपितुः स्नेहवर्जितः। सङ्कल्पविधिना यद्वद् विवाहाद्युत्सवे तथा।।७२८
पुत्रादन्ये प्रकुर्वीरन् ज्ञातयोऽज्ञातयोऽपि वा। नारायणबलिं सर्वे पुरुषोत्तमतुष्टये।।७२९
द्वादशे दिवसे प्राप्ते पुत्रोऽपि च तथैव सः। पार्वणं प्रतिदायाऽऽदौ ये चान्ये च द्विजातयः।।७३०
कृत्वा विष्णोर्महापूजां पायसं च निवेदयेत्। भूर्भुवः स्वरिति प्रोक्तैर्जुहुयात् पायसं पुनः।।
संस्कृतं त्वथ नैवेद्यं ब्राह्मणेषु निवेदयेत्।।७३१
यतीन् गृहस्थान् साधून् वा गृहीत्वा द्वादशावरान्। आराध्य गन्धपुष्पाद्यैर्मन्त्रैर्द्वादशनामभिः।।७३२
सम्पूज्य भोजयित्वाऽथ वासांसि विविधानि च। यतिभ्योऽत्र प्रदेयानि गृहिभ्यो दक्षिणा अपि।।७३३
त्रयोदशं यतीन्द्रं तमात्मज्ञं विजितेन्द्रियम्। सम्पादयेदभावेऽपि यतीनामत्र सर्वथा।।७३४

यतेः संस्काराणां दाहादीनामभावेऽपि एकादशाहे पुत्रेण पार्वणं कर्तव्यतया स्मृतिषूक्तम् इत्याह—यतीनामिति।।७२७।। तत्र श्राद्धे विशेषमाह—विष्णुनामेति। विष्णुशब्दपूर्वकं पितुर्नाम समुच्चार्य विधिवत् सङ्कल्प्य च विवाहाद्युत्सववद् एकादशेऽह्नि पुत्रः पार्वणं कुर्याद् इति पूर्वेण सम्बन्धः।।७२८।। पुत्रभिन्नास्तु परमहंसभक्त्या नारायणबलिं वक्ष्यमाणविधया विष्णुप्रीत्यै कुर्युरित्याह—पुत्रादिति। अज्ञातय इतिच्छेदः।।७२९।। द्वादश इति। तं च नारायणबलिं पुत्रोऽपि द्वादशे दिवस एव कुर्यात्। किं कृत्वा? आदौ द्वादशात् प्रथमेऽह्नि पार्वणं प्रतिदाय विधायेति। तद्वत् पुत्रवद् अन्येऽपि द्विजा द्वादशदिवस एव नारायणबलिमेव च कुर्युरिति सम्बन्धः।।७३०।।

बौधायनोक्तं नारायणबलिविधानं दर्शयति—कृत्वेति दशभिः। विष्णोः महतीं षोडशाद्युपचारसम्पन्नां पूजां कृत्वा पायसमयं नैवेद्यं दद्यात्। अथ व्याहृतित्रयेण व्यस्तेन समस्तेन च पायसं जुहुयात्। एवं होमेन संस्कृतं विष्णोर्नैवेद्यभूतं पायसं ब्राह्मणेभ्यो दद्यादित्यर्थः।।७३१।। यतीनिति। अत्र त्रयोदश प्राधान्येन पूज्याः। तत्राऽयं क्रमः—द्वादशाऽवरान् द्वादशसंख्यातो न्यूनसंख्याहीनान् यतीन् साधुगृहस्थान्वा गृहीत्वा गृहे समानीय केशवादिद्वादशनामात्मकैर्नमोन्तैर्द्वादशमन्त्रैः तान् गन्धाद्युपचारैः आराध्य, मानपूर्वकं भोजयित्वा च, ते यदि यतयः तदा तेभ्यो वासांसि देयानि, यदि तु गृहस्थाः स्युस्तदा दक्षिणासहितानि वासांसि देयानि। इति द्वयोरर्थः।।७३२-३।। त्रयोदशमिति। द्वादशयतीनामभावे अलाभेऽपि त्रयोदशसंख्यापूरकं यतीन्द्रं सर्वथाऽवश्यं सम्पादयेत् पूजार्थं समानयेद्

कर लेना चाहिये।।७२७।। 'विष्णु'-शब्द बोलकर फिर अपने पिता का नाम लेते हुए उसे संकल्पादिपूर्वक पार्वण करना चाहिये किंतु उस समय पिता के प्रति स्नेह का भाव उद्रिक्त न होने दे। विवाहादि उत्सव की तरह वह समायोजन करना चाहिये।।७२८।। पुत्र से अन्य जो निकट के व दूर के रिश्तेदार हैं वे पुरुषोत्तम की प्रसन्नता के लिये बारहवें दिन नारायण बलि करें।।७२९।। पुत्र ग्यारहवें दिन पार्वण करके बारहवें दिन नारायणबलि भी करे।।७३०।।

नारायणबलि इस प्रकार करनी चाहिये : भगवान् विष्णु की षोडशोपचार पूजा कर खीर का नैवेद्य चढाये। खीर से ही व्याहृतिमंत्रों द्वारा आहुति दे और फिर वह खीर का प्रसाद ब्राह्मणों को बाँटे।।७३१।। बारह यतियों या सज्जन गृहस्थ ब्राह्मणों को निमंत्रण देकर बुलावे और केशव आदि बारह नामों द्वारा गंध-पुष्प आदि से उनकी पूजा कर भोजन करावे। यतियों को विविध वस्त्र दे, गृहस्थों को दक्षिणा भी दे। बारह से अतिरिक्त तेरहवा व्यक्ति भी निमंत्रित कर बुलाना चाहिये व पूजनपूर्वक उसे भोजन कराना चाहिये किंतु यह तेरहवाँ जितेंद्रिय आत्मवेत्ता यतीन्द्र ही होना चाहिये अर्थात् तेरहों यति उपलब्ध न होने पर भी कम से कम एक संन्यासी तो अवश्य होना चाहिये।।७३२-४।। यदि एक परमहंस

एको न यदि लभ्येत यतिः परमहंसकः। तदा गृहस्थं धर्मज्ञमुत्तमं सर्वसम्मतम्।
विष्णुबुद्ध्या समभ्यर्च्य पाद्याद्यैश्च विधानतः।।७३५
दद्यात् पुरुषसूक्तेन धूपादिकमनुक्रमात्। वस्त्रालङ्करणादीनि यथाशक्ति तथाऽऽस्तिकः।।७३६
उच्छिष्टसन्निधौ दर्भान् आस्तीर्याऽन्नैर्मनोरमैः। चतुर्विधेभ्यो भूतेभ्यो बलिं व्याहृतिभिर्हरेत्।
प्रत्येकं तिसृभिः पश्चाद् मिलिताभिः स्वधा पुनः।।७३७
विभवाऽभावतो ह्यत्र यतयस्तु त्रयोदश। विप्रा वा विभवे स्थाप्या नात्र कश्चिद् विधीयते।।७३८
यावतां वसनादीनां दाने शक्तिर्हि विद्यते। तावतां समसंख्यास्ते भोज्याः प्रथममेव हि।।७३९
अनन्तान् भोजयेत् पश्चाद् मृष्टैरन्नैस्तु सादरम्। सर्वेभ्योऽपि यथाशक्ति दद्यादेवाऽत्र दक्षिणाः।।७४०
एवं यः कुरुते विद्वान्नारायणबलिं द्विजः। अभीष्टमर्थमाप्नोति जीवन्नत्र न संशयः।।
विष्णुलोकं मृतो गच्छेत् स्वकीयैः पूर्वजैः सह।।७४१

इत्यर्थः।।७३४।। एको नेति। यदि तु एकः अपि परमहंसो यतिर्न लभ्येत तदा सर्वगुणसम्पन्नं गृहस्थं द्विजोत्तमं त्रयोदशस्थाने निवेशयेत्, तं च पुरुषसूक्तगतषोडशर्चमयमन्त्रैः विष्णुबुद्ध्या पाद्याद्युपचारैः समभ्यर्च्य धूपादिकं वस्त्रादिकं च तस्मै क्रमेण दद्याद् आस्तिकः सन्। इति द्वयोरर्थः।।७३५-६।।

उच्छिष्टेति। ततस्तेषाम् उच्छिष्टसमीपदेशे दर्भान् आस्तीर्य जरायुजादिचतुर्विधभूतानां मध्य एकैकं नामक्रमेण गृहीत्वा प्रणवादि-स्वधान्तप्रत्येकव्याहृतिमयेन मन्त्रत्रयेण तादृशसमुदितव्याहृतिमयेन चतुर्थमन्त्रेण च बलिचतुष्टयं पायसमयं दद्याद् इत्यर्थः।।७३७।। विभवेति। विभवस्य सामर्थ्यस्य अभावे सति त्रयोदश यतय एव वसनाशनमात्रतोषिणोऽभ्यर्च्याः। विभवे सति तु त्रयोदशस्थानेषु अलङ्कारादिदानयोग्याः त्रयोदश विप्रा एव स्थाप्याः। अतः शास्त्रस्य शक्त्यनुरोधित्वाद् अत्र उक्तेषु पक्षेषु कश्चित् पक्षो न विधीयते न नियम्यते—इत्यर्थः।।७३८।।

उक्तानुष्ठानेऽप्यशक्तौ शक्त्याधिक्ये वा यावतां वस्त्राद्यैः विशेषपूजायां शक्तिः तावतो यत्यादीन् प्रथमं भोजयित्वा पश्चादनन्तान् अनियतसंख्याकान् मृष्टैः शुद्धैः अन्नैः सदक्षिणं भोजयेद् इत्याह—यावतामिति द्वाभ्याम्। स्पष्टं द्वयम्।।७३९-४०।। उक्तनारायणबलेः फलमाह—एवमिति। इह लोकेऽभीष्टसिद्धिः परलोके पितृभिः सह विष्णुलोकाप्तिश्च फलमित्यर्थः।।७४१।।

यति भी न मिले तो जिसे सभी शिष्ट इस योग्य समझें ऐसे किसी धर्मज्ञ उत्तम गृहस्थ ब्राह्मण को ही तेरहवाँ भी मान लेना चाहिये। 'यह विष्णु है' ऐसा समझकर उसकी पाद्य आदि से अर्चना कर पुरुषसूक्त द्वारा धूपादि, वस्त्र, अलंकारादि यथाशक्ति अर्पित करने चाहिये।।७३५-६।।

जब वे तेरहों भोजन कर चुकें तब उनके उच्छिष्ट के पास कुशा बिछा कर व्याहृतियों द्वारा चारों प्रकार के प्राणियों को बलि देनी चाहिये। पायस आदि मनोरम अन्न बलिरूप से देने चाहिये। प्रणव और स्वधा आदि-अंत में बोलकर पहले एक-एक व्याहृति से फिर तीनों व्याहृतियों से बलि दी जाती है।।७३७।। धनादि कम हो तो तेरहों संन्यासी पूजकर जिमा देने चाहिये और धनादि ज़्यादा हो तो ब्राह्मणों को बुला कर पूजादि करने चाहिये। दोनों में से कोई भी पक्ष अपना सकते हैं, इसमें किसी एक पर शास्त्र का आग्रह नहीं।।७३८।। तेरह को भी पूजनपूर्वक भोजन न करा सके तो जितनों को वस्त्रादि दे सके उतने समसंख्याक (दो, चार आदि) यतियों या ब्राह्मणों को पूजनादि पूर्वक पहले भोजन कराकर बाकी लोगों को आदरपूर्वक मिठाई आदि बाँट दे और जो कुछ दक्षिणा दे सकता है वह दे दे।।७३९-४०।। जो विद्वान् द्विज इस प्रकार नारायणबलि करता है उसे यहाँ जीवित रहते ही अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है और मरकर अपने पूर्वजों सहित विष्णुलोक जाता है।।७४१।।

एवं परमहंसस्य संस्कारस्ते मयेरितः। आतुरस्य प्रसङ्गेन प्रकृतं त्वमतः शृण।।७४२

कुटीचकादेः पारमहंस्यग्रहणम्

कुटीचको बहूदो वा हंसो वाऽपि यदा भवेत्। यतिः परमहंसाख्यः श्राद्धं होमादिकं तदा।।७४३

न कुर्याद् आतुरो यद्वत् प्रैषमात्रात् प्रपूरयेत्। संन्यासं तद्वदेतेऽपि पूरयेयुः सदैव हि।।

प्रैषमात्रेण विद्वांसः परवैराग्यमाश्रिताः।।७४४

उपवीतादित्यागः

अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहेति कीर्तयेत्। मन्द मध्योत्तमैः शब्दैः प्रत्येकं व्याहृतित्रयात्।।७४५

त्रिःकृत्वाऽद्भिस्तु सम्पूर्यस्वाञ्जलिं ह्युत्तरां दिशम्। प्राचीं वा प्रव्रजेद् विद्वान् यथाजातवपुर्नरः।।७४६

यज्ञोपवीतं सशिखम् उत्कृत्याञ्जलिसंस्थितम्। विसृजेदप्सु भूमौ वा ततो गच्छेदुदङ्मुखः।।

नग्नो भूत्वा विरक्तो वा गुरुमेकं परिग्रहेत्।।७४७

प्रासङ्गिकमुपसंहरन् प्रकृतां न्यासग्रहणेतिकर्तव्यताम् अनुसरति—एवमिति। आतुरसंन्यासप्रसङ्गे परमहंसमरणोत्तरं कर्तव्यमुक्तम्। अथ प्रकृतम् आतुरसंन्यासवाक्यानन्तरं जाबालोक्तं परमहंससंन्यासग्रहणप्रकारमेव शृणु इत्यर्थः।।७४२।। कुटीचक इति। कुटीचकः त्रिदण्डशिखाद्युपलक्षितः पुत्रगृहे भिक्षाशीलः। बहूदकोऽपि तादृशः सप्तागारभिक्षाशीलो देशाटनपरः। हंसः तु एकदण्डः सशिखः सकृदष्टग्रासभोजीत्यादिलक्षणः। एते यदा पारमहंस्यं परवैराग्येण प्राप्तुमिच्छन्ति तदा एतैः श्राद्धादिकं न कार्यं, किन्तु प्रैषोच्चारणमात्रेण संन्यासः पूरणीयः। इति द्वयोरर्थः।।७४३-४।।

तेषां प्रैषोच्चारणविधिमाह—अभयमिति। स्वाञ्जलिं जलैः प्रपूर्य, अभयम् इत्यादि-स्वाहाऽन्तमन्त्रम् एकैकव्याहृतिपूर्वकं मन्दादिस्वरत्रयेण त्रिवारं कीर्तयेत्। तथा च नववारं प्रयोगः फलितः। तत उत्तरां प्राचीं वा दिशं व्रजेत्। कीदृशः? यथाजातवपुः यादृशं जातस्य रूपं तादृग्रूपो नग्न इति यावत्। इति द्वयोरर्थः।।७४५-६।। यज्ञोपवीतादिप्रतिपत्तिं दर्शयन्नुक्तं स्फुटयति—यज्ञोपवीतमिति। उत्कृत्य उद्धृत्य अञ्जलिस्थं कृत्वा च 'भूः स्वाहा' इति मन्त्रेण जले भूमौ वा विसृजेत्। ततो विरक्तो नग्नो भूत्वोदङ्मुखो गच्छेत्। तत्त्वजिज्ञासायां तु एकं गुरुं परिग्रहेत् श्रयेदित्यर्थः। परिग्रहेद् इति विकरणव्यत्ययः श्रुत्यनुसारादिति बोध्यम्।।७४७।। पञ्चेति। दण्डः, कमण्डलुः शिक्यं,

इस प्रकार आतुर का प्रसंग आ गया था अतः यति के मरणोत्तर संस्कार का मैंने (श्लोक ६८०-७४१) वर्णन कर दिया। मुख्य प्रसंग संन्यास ग्रहण का चल रहा था, अब उसी सन्दर्भ में कहता हूँ :।७४२।।

कुटीचक, बहूदक और हंस भी जब परम वैराग्य होने पर परमहंस बनने लगें तब श्राद्ध, होम आदि न करें। जैसे आतुर का संन्यास प्रेषोच्चारण से पूरा हो जाता है वैसे ही उक्त तीनों यतियों का भी प्रेषमात्र से पारमहंस्य संन्यास संस्कार पूर्ण हो जाता है।।७४३-४।। उनके लिये प्रेष के उच्चारण का तरीका है कि अंजलि में जल लेकर एक-एक व्याहृति पूर्वक इस अर्थ का मंत्र बोलें 'सब प्राणियों को मेरी ओर से अभय हो' और स्वाहापूर्वक अंजलि जल में ही छोड़ दें। ऐसा तीन बार करें और पहले मंद स्वर से फिर मध्यम स्वर से और अंत में उच्च स्वर से उक्त मंत्र बोलें। फिर नग्न ही उत्तर या पूर्व दिशा में चल दें।।७४५-६।। शिखा व यज्ञोपवीत काट कर अंजलि में लेवे और जल में या भूमि में उसका विसर्जन कर दे। विरक्त यदि विद्वान् हो तो नग्न ही उत्तर दिशा में चला जाये। यदि तत्त्वजिज्ञासु हो तो एक गुरु की शरण ले।।७४७।। पाँच मुद्राएँ जिसकी आत्मा हैं ऐसे दण्ड का, जिसे अब तक हंस धारण किये था, परमहंस बनने पर परित्याग कर देना चाहिये। ऐसे ही कुटीचक-बहूदक को त्रिदण्ड का परित्याग परमहंस बनने पर कर देना चाहिये। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी भी उक्त तरह से ही यज्ञोपवीतादि का त्याग करें।।७४८।।

पञ्चमुद्रात्मकं दण्डं त्रिदण्डं वा परित्यजेत्। ब्रह्मचर्याद् गृहाद् वाऽपि वनाद् वा प्रव्रजेदिह।।७४८
यज्ञोपवीतं पूर्वेण दण्डेन सह हंसकः। भूः स्वाहेति च मन्त्रेण जुहुयादप्सु सादरम्।।७४९

अब्राह्मणानां स्त्रीणां च वीराध्वना गमनम्

क्षत्रियो वाऽपि वैश्यो वा संन्यसेत्तु यदा तदा। अनावृत्तिं व्रजेदेष दण्डादिपरिवर्जितः।।७५०
जडोन्मत्तपिशाचाभो नग्नोऽविद्वानिव स्वयम्। विद्वान् वाऽप्यथ वाऽविद्वान् परं वैराग्यमाश्रितः।।७५१
नाना योगाश्रमे तुर्ये लिङ्गधारणमिष्यते। वैष्णवं धारयेल्लिङ्गं विप्र एव न चापरः।।७५२

भिक्षापात्रं, जलशोधनार्थं वितस्तिपरिमितवस्त्रात्मकं पवित्रं च—एतानि पञ्च कुटीचकादीनां मुद्रास्थानीयानि, भेदे प्रायश्चित्तलक्षणदण्डप्रयोजकत्वात्। एतादृशपञ्चमुद्राघटकमेकं दण्डं हंसः, त्रिदण्डं कुटीचको बहूदकश्च परित्यजेद् इत्यर्थः। 'नागमुद्रा-शङ्खमुद्रा-धेनुमुद्रास्तथैव च। ब्रह्म-परशुमुद्रे च पञ्च मुद्राः प्रकीर्तिताः।।' इत्युक्तास्तु नेह ग्राह्याः, तासामुपादेयत्वाद्[1] इति बोध्यम्। अयमेव च यज्ञोपवीतादिपरित्यागविधिः ब्रह्मचर्याद्यनन्तरं क्रियमाणे पारमहंस्येऽपि बोध्य इत्याह—ब्रह्मेति। इह पारमहंस्ये प्राप्तव्य इत्यर्थः।।७४८।। हंसस्य शिखाया अभावेऽपि यज्ञोपवीतादेरेव भूरादिमन्त्रेण त्यागस्तेन कार्य इत्याह—यज्ञोपवीतमिति। पूर्वेण हंसावस्थायां गृहीतेन, एतदुपलक्षणं शिक्यादीनाम्।।७४९।।

जाबालादौ वीराध्वना[2] देहत्यागो य उक्तः स क्षत्रियादिसंन्यासाभिप्रायेणैव[3] इति दर्शयति—क्षत्रिय इति नवभिः। यदि क्षत्रियो वैश्यो वा यदा संन्यसति तदा दण्डादिसंन्यासलिङ्गवर्जितः सन्ननावृत्तिं पुनरावृत्तिहीनम् अध्वानं गच्छेदित्यर्थः। कीदृशः? जडादितुल्याभः नग्नः अविद्वान् इव दृश्यमानो वस्तुतो विद्वान् परवैराग्यशाली; अविद्वान् वा सन्। इति द्वयोरर्थः।।७५०-१।।

नानेति। यद्यपि तुर्ये पारिव्राज्यरूपे योगप्रधान आश्रमे नानाविधलिङ्गानां धारणम् इष्टं प्रच्छन्नत्वाय तथापि वैष्णवस्य लिङ्गस्य दण्डरूपस्य धारणे विप्र एव अधिकारीत्यर्थः। तदुक्तं 'मुखजानामयं धर्मः' इत्यादि। दण्डे वैष्णवत्वं च षड्प्रभृतिग्रन्थिविशेषेण सुदर्शनादिसंज्ञत्वात्। तदुक्तं 'षड्भिः सुदर्शनं प्रोक्तं वासुदेवं तथाष्टभिः' इत्यादीति।।७५२।।

हंस की शिखा तो होती नहीं, वह हंसावस्था में स्वीकृत दण्डादि का यज्ञोपवीत के साथ जल में त्याग करे। इसमें 'भूः स्वाहा' मंत्र का प्रयोग करना चाहिये।।७४९।।

क्षत्रिय या वैश्य जब संन्यास ले तब दण्ड आदि से रहित रहते हुए ही वह ऐसे रास्ते चला जाये जो लौटकर न आता हो।।७५०।। मूर्ख, पागल, पिशाच की तरह वह नग्न रहे और यदि विद्वान् है तो भी अविद्वान् की तरह रहे। यदि है ही अविद्वान् तो परम वैराग्य पर आश्रित होकर उक्तविध मार्ग अपनाये।।७५१।। योगप्रधान चौथे आश्रम में विविध लिंगों का धारण स्वीकारा जाता है उनमें वैष्णव लिंग विप्र ही धारण करे, क्षत्रियादि न धारण करें। (सुदर्शनादिमुद्राओं से युक्त दण्ड को वैष्णव लिंग कहते हैं।)।।७५२।। क्षत्रियादि जब दिगंबर हो उत्तरादि की ओर चले तब अध्वर्यु उससे रुकने की, वस्त्र ग्रहण करने की प्रार्थना भी न करे। बिना अध्वर्यु की प्रार्थना के संन्यासी कौपीनादि ग्रहण करे यह

---

१. दण्डे मुद्राणां श्रौतमूलाऽभावमेव केचित् प्रतिजानते।

२. 'अयं विधिः परिव्राजकानां वीराध्वाने वाऽनाशके वाऽपां प्रवेशे वाऽग्निप्रवेशे वा।' पंचमखण्डे।

३. जाबालदीपिकायामपि ग्रंथकृता 'क्षत्रियविशोः परमहंसलिंगधारणस्य स्मृतौ विरोधात् 'मुखजानाम्'', तद्विषयमिदं वक्ष्यमाणम्' इति तयोर्वीराध्वगतिरुक्ता।

प्रार्थयेताऽपि नाध्वर्युरेनं यान्तं दिगम्बरम्। कौपीनादि न गृह्णीयादध्वर्युप्रार्थनां विना।
संन्यासे तत एव स्यादनावृत्तिर्द्वयोरपि।।७५३
क्षत्रियो वाऽपि वैश्यो वा संन्यासी ऋषभादिवत्। वीरमार्गेण देहं स्वं त्यजेदेवाऽविचारयन्।।७५४
अभीतः सर्वतो गच्छेच्छब्दाग्निजलदंष्ट्रितः। आनिपातं शरीरस्य वीरमार्गोऽयमीरितः।।७५५
बुद्धिपूर्वं जले चाऽयं वह्नौ वाऽपि वपुः क्षिपेत्। अन्नोदकपरित्यागाद् अथ वा सततं गतैः।।
एकस्यामेव दिश्यात्मदेहं धीरः परित्यजेत्।।७५६
श्राद्धादिप्रैषपर्यन्तमकृत्वा मनसैव हि। सङ्कल्प्य परमं प्राप्तो विरागं पूर्वपुण्यतः।।७५७
स्त्रीशूद्रादिरपि प्रायः कुर्यात् त्यागं तथा सदा। स्वदेहनाशहेतुं तं किमु येऽत्र द्विजातयः।।७५८

विप्रस्य दण्डादिग्रहः

यदा विप्रः परो हंसो भूयाद् नग्न उदङ्मुखः। शिखायज्ञोपवीतादिरहितः परितो व्रजेत्।।७५९

तयोरनावृत्तिपथगतौ हेतुमाह—प्रार्थयेताऽपीति। अध्वर्युः यजुर्वेत्ता ऋत्विक् तत्कर्तृकं पादपतनपूर्वकं वक्ष्यमाणविधं प्रार्थनं विप्रं प्रत्येव सम्भवति इत्यतः सोऽध्वर्युः एनं क्षत्रियं वैश्यं वा दिगम्बरं यान्तं सन्तं न प्रार्थयेत। लोकव्यवहारोपयोगिनां कौपीनादीनां ग्रहणं च संन्यासिना प्रार्थनां विना क्रियमाणं सम्प्रदायविरुद्धम्। ततो द्वयोः क्षत्रियवैश्ययोः अनावृत्तिः फलितेत्यर्थः।।७५३।। तथा च क्षत्रियादिः संन्यस्य ऋषभदेवादिवद् वीरमार्गेण शीघ्रं देहं त्यजेद् इत्याह—क्षत्रिय इति। आदिपदेन पाण्डवग्रहः।।७५४।। वीरमार्गं लक्षयति—अभीत इति। शब्दः सिंहनादादिः, दंष्ट्रिणो व्याघ्रादयः तेभ्यो भयरहितस्य शरीरपतनपर्यन्तं यद् गमनमेतद् वीरमार्गपदेनोक्तमित्यर्थः।।७५५।। अत्रानुकूलस्य जाबालवाक्यस्य अर्थमाह—बुद्धीति। जलपातेन, वह्निपातेन, अन्नादिपरित्यागेन, एकस्यां दिशि सततं बुद्धिपूर्वं गमनेन वा देहः संन्यस्तक्षत्रियादिना परित्यक्तव्य इत्यर्थः।।७५६।।

एतादृशसंन्यासेन देहत्यागे शूद्रादीनामप्यधिकारं दर्शयति—श्राद्धादीति। श्राद्धमारभ्य व्याहृतिघटित-प्रैषमन्त्रपर्यन्तम् इतिकर्तव्यताजातं विना केवलं मानसं संन्याससङ्कल्पं विधाय स्त्री शूद्रः सङ्करजातीयो वा पूर्वपुण्यलब्धवैराग्यशाली तथा क्षत्रियादिवत् स्वदेहनाशहेतौ त्यागेऽधिकारी भवति किमुत द्विजजातीयाः। इति द्वयोरर्थः।।७५७-८।।

अथ विप्रस्य अध्वर्युप्रार्थनादिना दण्डादिग्रहणप्रकारं दर्शयति—यदेति नवभिः। विप्रः तु पारमहंस्यं गृहीत्वा परितः सर्वतो वर्तमानै[1] रहित उदङ्मुखो गच्छेत्।।७५९।। अध्वर्युस्त्विति। ततोऽध्वर्युः संन्यासेतिकर्तव्यतायामाचार्यत्वेन संप्रदाय के विरुद्ध है। इसलिये यह अर्थसिद्ध है कि क्षत्रिय-वैश्य संन्यास ले तो दिगंबर ही उत्तर या पूर्व की ओर जाता चला जाये। उन्हें लौटकर नहीं आना चाहिये।।७५३।। क्षत्रिय और वैश्य संन्यासी ऋषभदेव आदि की तरह विचार न करते हुए वीरमार्ग से अपना देह छोड़ दें। 'वीरमार्ग' का मतलब है सिंहनाद, बाघ, आग, जल आदि से बिना डरे तब तक चलते जाना जब तक शरीर गिर न पड़े, मृत्यु न हो जाये।।७५४-५।। क्षत्रिय-वैश्य संन्यासी जान-बूझकर जल में या आग में कूद जाये या अन्न-जल छोड़कर मर जाये, या एक ही दिशा में चलते-चलते अपना शरीर छोड़ दे। (हर हालत में क्षत्रिय-वैश्य संन्यासी बनकर यथाशीघ्र मर जाये।)।।७५६।।

ऐसे संन्यास से देहत्याग में शूद्रादि भी अधिकृत हैं : श्राद्ध से प्रैष पर्यन्त के कृत्य केवल मन से करके और संन्यास का संकल्प करके अपने शरीर के नाश का हेतुभूत संन्यास वह स्त्री शूद्रादि भी कर सकता है जिसे पूर्वार्जित पुण्य के परिपाक से परम वैराग्य हो गया है तो जो द्विजाति क्षत्रिय-वैश्य हैं वे ऐसा कर सकते हैं इसमें कहना ही क्या

१. सर्वतो वर्तमानैः शिखादिभिरित्यर्थः। उत्तरदिग्गमनविधेः परितइत्यस्य व्रजेदित्यनेन नान्वयइति भावः। शिखादेः प्रायः सर्वावस्थासु वर्तमानत्वात् सर्वतो वर्तमानतोक्तिः संगतैव।

अध्वर्युस्तु ततो गत्वा दण्डवत् प्रणिपत्य तम्। प्रार्थयेत्तं कराभ्यां तत्पादौ धृत्वा मुहुर्मुहुः।।७६०
वेदविद् भगवान् विप्रः सर्वदेववपुर्यतः। ततो वपुरिदं त्यक्तुं न त्वमर्हसि धर्मवित्।।७६१
अपि ते न वपुर्विप्र! किमु लोकस्य तद्यतः। परकीयं कथं वित्तं विनाशयसि बुद्धिमान्।।७६२
आत्मनः श्रवणं कृत्वा मननं ध्यानमेव च। साक्षात्कारं हि सम्पाद्य पश्चात् कुरु यथेप्सितम्।।७६३
गुरुस्त्वया चिरं कालं सेवितो ब्रह्मवित्तमः। अनुज्ञापितवान् मां स बहुशोऽपि निवारणम्।।
गुर्वाज्ञां तत एव त्वं कुर्वात्मज्ञानहेतवे।।७६४

इत्यादिवचनैर्भूरि सम्प्रार्थ्य द्विजसत्तमः। दद्याद् दण्डादिकं तस्मै तिष्ठ तिष्ठेति कीर्तयन्।।७६५
दत्तं दण्डमृजुं सौम्यं सत्वचं वैणवं द्विजः। इन्द्रस्येत्यादिमन्त्रेण गृहीत्वा प्रणवेन तु।।७६६
दोरकौपीनवासांसि प्रणम्य गुरुमादरात्। सेवेत तं यथा तद्वदात्मविद्या न[1] लभ्यते।।७६७

वृतो ऋत्विक्, गत्वा धावित्वा पादौ धृत्वा च इत्थं प्रार्थयेत्।।७६०।। तत्प्रार्थनामभिनयति—वेदविदिति। वेदवेत्ता विप्रो भगवान् ईश्वरो भवति यतः सर्वदेवनिवासभूतशरीरः तत एतादृशप्रभावकस्य देहस्य परित्यागः तव न उचित इत्यर्थः।।७६१।। किं च तवाऽयं देहो दर्शनश्रवणादिना कृतार्थी भविष्यतां लोकानां स्वं भवति। ततः परकीयपदार्थस्य नाशनं तवानुचितमित्याह—अपि त इति। किमु किन्तु तत् तव वपुः यतो लोकस्य भवति इति सम्बन्धः। तद्वत इति पाठे श्रद्धादिमत इत्यर्थकं लोकविशेषणम्।।७६२।। अतस्त्वयाऽनेन देहेन अमृतत्व-साधनं ज्ञानं सम्पाद्यमित्याह—आत्मन इति। स्पष्टम्।।७६३।। किञ्च गुरुनिदेशादपि त्वया देहत्यागाऽऽग्रहाद् निवर्तितव्यमित्याह—गुरुरिति। यः त्वया गुरुः सेवितः स मां प्रति भवतो निवारणानुकूलव्यापारानुष्ठानम् आज्ञापितवान्। ततस्त्वं गुर्वाज्ञामेवात्मज्ञानहेतवे कुरु इति।।७६४।। इत्यादीति। इत्थं सम्प्रार्थ्य 'तिष्ठ तिष्ठ' इति कीर्तयन् स द्विजः तस्मै परमहंसाय दण्डादिकं दद्यात्।।७६५।।

दत्तमिति। स च परमहंसः तेन दत्तम् ऋजुत्वमनोहरत्वशालिनं वेणुप्रभवं दण्डम् 'इन्द्रस्य वज्रोऽसि' इत्यादिमन्त्रेण गृहीत्वा दोरादिकं तु प्रणवमन्त्रेण गृहीत्वा, गुरुं प्रणम्य तं ब्रह्मविद्यार्थं सेवेत। तत्र दोरः सूत्रमयी रज्जुः। इति द्वयोः सम्बन्धः।।७६६-७।।

।।७५७-८।। (वर्तमान में गैरदण्डी संन्यास सम्प्रदाय गैरब्राह्मण को संन्यास लेने पर भी जीवित रहने की अनुमति दिये हुए है।) जब विप्र परमहंस बने और नंगा होकर शिखा-यज्ञोपवीत से रहित हुआ उत्तर की ओर चल दे तब अध्वर्यु उसकी ओर जाकर उसे दण्डवत् प्रणाम करे और दोनों हाथों से उसके दोनों पैर पकड़कर उससे प्रार्थना करे—'वेदवेत्ता विप्र ईश्वर होता है, सभी देव उसके शरीर में निवास करते हैं, आप स्वयं धर्म जानते हैं अतः यह उचित नहीं कि आप यह शरीर छोड़ें। हे विप्र! यह शरीर आपका है भी नहीं क्योंकि यह उन श्रद्धालुओं का है जो इसके दर्शन-श्रवनादि से कृतार्थ होंगे। आप बुद्धिमान् होकर पराये धन का विनाश कैसे कर रहे हैं? आत्मा का श्रवण-मनन-ध्यान कर आप साक्षात्कार संपन्न कीजिये फिर इच्छानुसार जा सकते हैं।।७५९-६३।। आपने लंबे समय तक ब्रह्मवित्तम जिस गुरु की सेवा की उन्होंने मुझे अनुज्ञा दी है कि आपको जाने से बहुत बार रोकूँ। अतः आत्मज्ञान पाने के लिये आप गुरु की आज्ञा का ही अनुसरण कीजिये।।७६४।।' इत्यादि अनेक वचनों से बहुत प्रार्थना कर 'रुको रुको' कहते हुए अध्वर्यु उस परमहंस को दण्ड आदि प्रदान करे।।७६५।। अध्वर्यु द्वारा प्रदत्त सीधा, सुंदर, छिलके सहित, बाँस का दण्ड ब्राह्मण संन्यासी 'इन्द्रस्य' आदि मंत्र से ग्रहण करे। फिर प्रणव से डोरा, कौपीन और कपड़े ग्रहण करे, तब आदरपूर्वक गुरु को प्रणाम करे और इस प्रकार उसकी सेवा करे कि आत्मविद्या प्राप्त हो जाये।।७६६-७।।

---

१. 'न' इत्यस्य स्थाने तुकारचकारैवकारादिः कश्चित् स्यात्। यथा लभ्यते तद्वत् सेवेत-इत्यन्वयः। यथाश्रुते, आत्मविद्येत्यस्य आत्मनो भ्रमज्ञानमित्यर्थः। तस्य लोपो यथा स्यात् तथा सेवेतेति योज्यम्।

अधिकारप्रसङ्गात्ते संन्यासविधिरीरितः। एवं परमहंसस्य शृणु वक्ष्यामि तेऽधुना।।७६८

परमहंसधर्माः

दधानो वैणवं दण्डं सौम्यं पूर्वोक्तलक्षणम्। शिखायज्ञोपवीताभ्यां रहितो विकसन्मुखः।।७६९

कौपीनयुगलं कन्थां तद्वच्छीतनिवारणीम्। भिक्षाटनाय शाटीं च ह्यखण्डां वाऽपि खण्डिताम्।।७७०

अलाबुं दारुपात्रं वा वैणवं मृन्मयं च वा। वहन् करेण शौचादिकार्यार्थं कार्यवर्जितः।।७७१

न पाणिपादचपलो न वाग्भेदादिचापलः। गच्छन् विलोकयेद् भूमिं युगमात्रां पुरः सदा।
आसीनो नासिकां तद्वत् पुस्तकं वा विलोकयेत्।।७७२

शून्यागारे देवगृहे वल्मीके तृणकूटके। वृक्षमूले कुलालस्य शालायामग्निहोत्रके।।७७३

संन्यासग्रहणविधिमुपसंहरन् परमहंसस्य धर्मान् श्रुत्या सिद्धान् वक्तुमुपक्रमते—अधिकारेति। संन्यासाधिकारिवर्णनेन श्रुतिस्मृत्यारूढः संन्यासविधिः उक्तः। अथ एवम् उक्तविधिना परमहंसभावं गतस्य धर्मान् जाबालाद्युक्तान्[1] शृण्विति।।७६८।। दधान इति। पूर्वोक्तानि ऋजुत्वादीनि लक्षणानि यस्य तं दण्डं दधानो भवेत्। शिखादिराहित्येन मुण्डः, सदा प्रसन्नमुखश्च भवेदिति।।७६९।। अपरिग्रहत्वं परिसंख्यामुखेनाह—कौपीनेति। वहन्-इत्युत्तरादनुषङ्गः। भिक्षाटनं कर्तुं शाटीं कौपीनोपरि धार्यवस्त्ररूपाम्।।७७०।। पात्रभेदानाह—अलाबुमिति। अलाबुं तुम्बिकाम्। कार्यवर्जितः वस्तुत इति शेषः।।७७१।। न पाणीति। पाण्यादिचालनशीलो न भवेत्। वाग्भेदः अन्यथोक्तस्याऽन्यार्थपरत्वेन योजनम्; तत्प्रभृतिव्यापारलक्षणचापलशाली न भवेत्। तथा गमनकाले युगमात्रां चतुर्हस्तमितां भूमिं पश्येत्। आसीन उपविष्टस्तु नासिकां पुस्तकं वा पश्येदिति। एतेन 'तिष्ठतो व्रजतो वापि' (नारद. परि. ३.६६) इत्यादिवाक्योक्तम् अन्धत्वानुष्ठानं सूचितम्।।७७२।।

श्रुत्याद्युक्तानि तस्य वासस्थानानि आह — शून्यागार इति। तृणकूटकं पलालादि पुञ्जः। अग्निहोत्रकम्

हे पुराणश्रोता शिष्य! संन्यास में कौन अधिकारी—इसका प्रसंग आने पर (श्लोक.५८१) मैंने संन्यास की विधि भी समझा दी। अब तुम्हे परमहंस के धर्म बताता हूँ, सुनो।।७६८।।

संन्यासी को बाँस का सुंदर, सीधा, छिलके समेत अपने जितना लंबा, समसंख्याक गाँठों वाला, पुण्य स्थल में उत्पन्न, बिना दाग मैल आदि वाला, अदग्ध, कीटादि से रहित, पोरों पर गाँठों वाला, दण्ड धारण करना चाहिये। शिखा-यज्ञोपवीत से संन्यासी को रहित रहना चाहिये। संन्यासी का मुख खिला रहना चाहिये।।७६९।। दो कौपीन, ठण्ड से बचने के लिये एक गुदड़ी, भिक्षार्थ घूमने के लिये कौपीन के ऊपर लपेटा जाये ऐसा एक लंबा कपड़ा या कपड़े के दो टुकड़े, तुम्बी या लकड़ी का पात्र या बाँस का या मिट्टी का बर्तन जिससे शौच आदि कार्य किया जा सके—इतना ही सामान संन्यासी रखे, अधिक न रखे। वास्तविक दृष्टि से संन्यासी के लिये कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है।।७७०-१।।

संन्यासी के हाथ-पैर चपल नहीं होने चाहिये। उसकी वाणी में भी चपलता न हो तथा 'वाग्भेद' न करे अर्थात् बात किसी अभिप्राय से कह दे और बाद में उसका अन्य ही मतलब निकाल दे ऐसा न करे। चलते हुए सामने चार हाथ जितनी भूमि ही देखे, इधर-उधर देखता हुआ न चले। जब बैठा हो तब अपनी नासिका से आगे न देखे या पुस्तक का अवलोकन करता रहे।।७७२।। संन्यासी ऐसे स्थानों पर ही निवास करे—सूना घर, देवालय, दीमक आदि द्वारा

---

१. 'अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवति।' पंचमखंडे जाबाले। आरुणेय्युपनिषदि (४), परमहंसोपनिषदि अन्यत्र च वर्णिताः तद्धर्माः।

पुलिनेषु नदीनां वा गिरीणां कुहरादिषु। कोटरेषु तरूणां वा स्थण्डिले निष्कुटेऽपि वा।।७७४
निवासनिरतो नित्यं सदा शौचपरायणः। भिक्षार्थं च व्रजन् ग्रामं प्रीतिमान्निर्जने सदा।।७७५
प्रादक्षिण्येन भिक्षायां गृहानेष व्रजेत् सदा। उदरं वाऽपि पाणिं वा पात्रं कृत्वाऽथ वाऽपरम्।।७७६
यथौषधं तथैवान्नं प्राशयत्येष सर्वदा। न निन्दति न च स्तौति कमप्येष कदाचन।।७७७
अलाभे वाऽपि लाभे वा भिक्षाया एकरूपभृत। असम्यक्त्वेऽपि सम्यक्त्वे विकारं नाधिगच्छति।।७७८
सुखादिषु समो नित्यमुपकार्यपकारिणोः। न स्थूलो न कृशश्चायमाहारेण क्वचिद्भवेत्।।७७९
केशश्मश्रुनखानां च कुरुते वपनं सदा। ऋतुसन्धिषु वर्षासु कुरुते वा न वाऽपि सः।।७८०

व्यासपूजा

आषाढ्यां पौर्णमास्यां च कुरुते व्यासपूजनम्। कृष्णद्वैपायनं पैलं वैशम्पायननामकम्।।
जैमिनिं च सुमन्तुं च पूजयेद् व्यासपञ्चकम्।।७८१

अग्निगृहम्। निष्कुटो गृहवाटिका। 'गृहारामास्तु निष्कुटा' इत्यमरः। सप्तम्यन्तानां निवासपदेन सम्बन्धः। शेषं स्फुटं त्रिषु।।७७३-५।।

प्रादक्षिण्येनेति। स्वस्थानात् प्रचलितस्य प्रदक्षिणक्रमेण ये गृहाः समायान्ति तेषु भिक्षां गृह्णीयात्। उदरं पाणिं वा पात्रं कृत्वा, तदशक्तौ अपरं वस्त्रादिमयम् इत्यर्थः।।७७६।। यथौषधमिति। तथा चारुणिकश्रुतिः—'औषधवदशनमाचरेत्' (आरुणेय.४) इति।।७७७।। अलाभ इति। एकरूपभृत् समः। असम्यक्त्वम् आदरेण रसादिगुणेन च राहित्यं, विकारं मुखमालिन्यादिरूपम्।।७७८।। सुखादिष्विति। आदिपदेन दुःखशीतोष्णादिद्वन्द्वग्रहः। तथा उपकारिणि अपकारिणि च समः। तथा आहारेण समीचीनासमीचीनरूपेण प्रयुक्तं स्थूलत्वं कृशत्वं च न भवेद् इति।।७७९।।

तथा मासद्वयपूर्तौ पूर्णमास्यां क्षौरविधिं कुर्यात्। श्रावणदिमासद्वये तूक्तस्य क्षौरस्य ऐच्छिको विकल्प इत्याह—केशेति। कक्षोपस्थगतकेशान् वर्जयित्वेति शेषः।।७८०।।

आषाढपूर्णमास्यां विष्णुधर्मोत्तरविहिता व्यासपूजा कार्या—इत्याह—आषाढ्यामिति। तत्र पूजनीयानां देवानां पञ्चव्यूहांस्तावद् दर्शयति—कृष्णेत्यादिना। मध्ये स्थितो द्वैपायनः, पूर्वादिदिग्गतैः वैशम्पायन-सुमन्तु-जैमिनि-पैलैःवेष्टितः सन् व्यास उच्यते। एवमग्रेऽपि।।७८१।। मध्ये स्थितः श्रीकृष्णः पूर्वादिगतैर्वासुदेवादिभिर्वेष्टितः

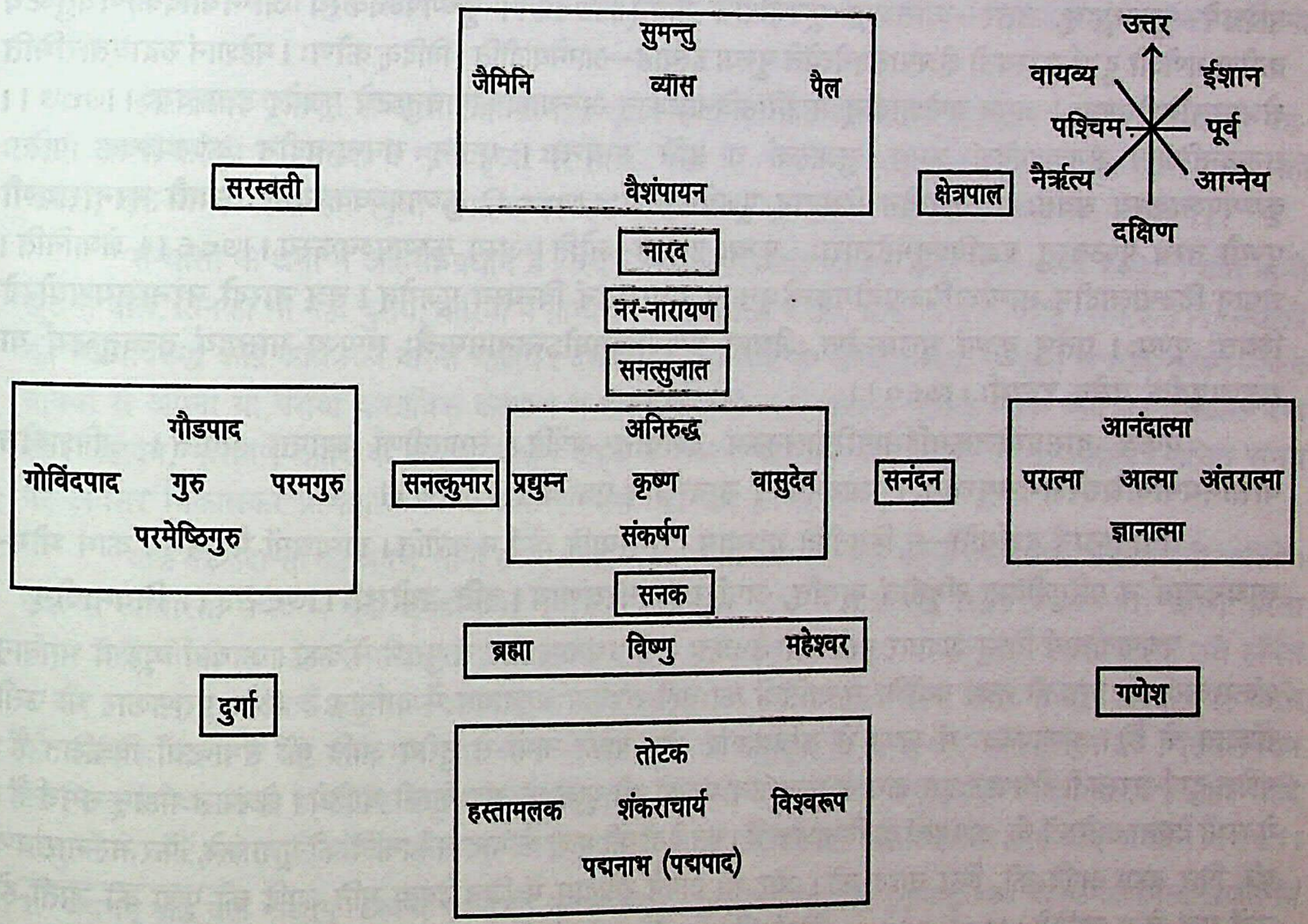
बनाकर छोड़ दी बांबी, पुआल आदि का ढेर, वृक्ष का मूल, कुम्हार की शाला, अग्निहोत्री जहाँ अग्नियाँ रखता है, नदीतट, पहाड़ों की कंदरा, पेड़ों के कोटर, स्थण्डिल (पेड़ों के पास बने चबूतरे), गृहवाटिका आदि। उसे हमेशा शुद्धि रखनी चाहिये। सदा निर्जन स्थान में रहे, केवल भिक्षा के लिये गाँव में जाये।।७७३-५।।

अपने वासस्थान से चलकर प्रदक्षिणाक्रम से जो घर आयें उनसे भिक्षा लेता जाये। भिक्षा के लिये केवल पेट ही बर्तन रखे, या हाथ से बर्तन का काम ले या और झोली आदि पात्र रखे।।७७६।। जैसे दवा ली जाती है वैसे संन्यासी को अन्न का प्राशन करना चाहिये (स्वाद आदि के लोभ में खाना नहीं चाहिये)। वह किसी की स्तुति या निंदा कभी न करे।।७७७।। भिक्षा मिले या न मिले, संन्यासी को समभाव ही रखना चाहिये। ऐसे ही अच्छी भिक्षा मिले या अच्छी न मिले इससे उसमें असंतोष, क्रोध आदि मनोविकार नहीं आना चाहिये।।७७८।। सुखादि, उपकारी, अपकारी आदि के प्रति भी एक-सा रहे। ज्यादा खाकर मोटा न हो जाये या बहुत कम खाकर कमज़ोर न हो जाये।।७७९।। छहों ऋतुओं की संधियों पर सदा केश, दाढ़ी-मूँछ और नखों को कटा ले। वर्षा में क्षौर करे चाहे न करे।।७८०।।

कृष्णं च वासुदेवं च सङ्कर्षणमथाऽपरम्। प्रद्युम्नमनिरुद्धं च पूजयेत् कृष्णपञ्चकम्।।७८२
शङ्करं विश्वरूपं च पद्मनाभं तथैव च। हस्तामलकनामानं तोटकाख्यं च पञ्चमम्।
आचार्यपञ्चकं प्रायः पूजयेच्छाङ्करे मते।।७८३
गुरुं च परमं तद्वदात्मनः परमेष्ठिनम्। गोविन्दं गौडनामानं पूजयेद् गुरुपञ्चकम्।।७८४
आत्मानमन्तरात्मानं ज्ञानात्मानं परात्मकम्। आनन्दात्मानमित्येतत् पूजयेदात्मपञ्चकम्।।७८५

कृष्णव्यूह इत्याह—कृष्णमिति। तत्र कृष्णपदेन सदानन्दवाचिना निरुपाधिकं पूर्णत्वं प्रतिपाद्यते। पदान्तरैस्तु तुरीयादि-समष्ट्य इति निर्णीतमन्यत्र।।७८२।। पूर्वादिगतैर्विश्वरूपादिशिष्यैः संवीतः शङ्कराचार्य आचार्यव्यूह इत्याह—शङ्करमिति। प्रायो बहुधा प्रवृत्ते शाङ्करे श्रीशङ्कराचार्यसम्बन्धिनि मते सम्प्रदाये वर्तमान एतद् आचार्यपञ्चकं पूजयेद् इति सम्बन्धः।।७८३।। तथा पूर्वादिगतैः परमगुरुपरमेष्ठिगुरुगोविन्दपादगौडपादैः संवीत आत्मीयो गुरुः गुरुव्यूह इत्याह—गुरुमिति।।७८४।।। तथा पूर्वादिगतैः अन्तरात्मादिभिर्वेष्टित आत्मा आत्मव्यूह इत्याह—आत्मानमिति।।७८५।। एतेषां पञ्चानां व्यूहानां पूजामण्डले देशविशेषानाह—आत्मेति। मध्ये कृष्णपञ्चकं विन्यस्य

आषाढ पूर्णिमा पर व्यासपूजा करनी चाहिये। चौकी पर अन्न से मण्डलनिर्माण कर प्रदर्शित दिशादि के अनुसार तत्तत् स्थान पर सुपारी रखकर तत्तत् आचार्य, देवता आदि का पूजन करना चाहिये। उक्त आचार्यादि के नाम से पूजा की जाती है (जैसे ॐ कृष्णाय नमः, ॐ वासुदेवाय नमः आदि)। मध्यमंडल में कृष्ण से प्रारंभ कर पूर्व-दक्षिण आदि क्रम से व्यूह पूजा कर फिर पूर्वादि क्रम से तत्तत् व्यूह की पूजा करनी चाहिये। संक्षेप में मंडल का यह रूप है :



आत्माचार्यगुरुव्यासपञ्चकानि चतुष्टये। पूर्वादीनां दिशां मध्ये कथितं कृष्णपञ्चकम्।।७८६

आग्नेयादिविदिक्संस्थान् पूजयेच्चतुरो ह्यमून्। गणनाथं तथा दुर्गां देवीं चैव सरस्वतीम्।
क्षेत्रपालं महेशानं सर्वारिष्टविनाशकान्।।७८७

सनन्दनं च सनकं कुमारं च सुजातकम्। सनत्पदादिकं कृष्णपञ्चकं परितोऽर्चयेत्।।७८८

नरनारायणौ कृष्णपञ्चकात् पुरतः स्थितौ। ब्रह्मादित्रयमस्यैव पृष्ठतस्तु समर्चयेत्।।७८९

शेषान् देवान् मुनीन् सर्वान् यथायोगं प्रपूजयेत्। नरनारायणाग्रस्थं नारदं मुनिसत्तमम्।
एवं सम्पूज्य वसति मासौ द्वौ चतुरोऽपि वा।।७९०

वर्षाकाले मही सर्वा स्थिरजङ्गमदेहिभिः। निरन्तरं समास्तीर्णा लक्षकोट्यादिसंख्यया।
तेषां रक्षार्थमेषोऽपि वसत्येकत्र सर्वदा।।७९१

यमाद्यनुष्ठानम्

न हिंसति कमप्येष स्थिरजङ्गमदेहिनाम्। वदत्यसत्यं नैवाऽयं न च चौर्यं करोति सः।।७९२

तृणस्याऽपि च नारीषु ग्राम्यधर्मं प्रयाति न। कामं न परिगृह्णीयाद् भवेदत्राऽपरिग्रहः।।७९३

तदपेक्षया पूर्वादिदिशां चतुष्टये, आत्मपञ्चकादिकं पूजयेदिति। कृष्णव्यूहात् पूर्वे—आत्मव्यूहम्, दक्षिणे—आचार्यव्यूहं, पश्चिमे—गुरुव्यूहम्, उत्तरे—व्यासव्यूहं पूजयेदिति यावत्।।७८६।। कृष्णपञ्चकस्य आग्नेयादिकोणचतुष्टये क्रमेण गणेशो दुर्गा सरस्वती क्षेत्रपालश्चेत्येते पूज्या इत्याह—आग्नेयादीति। विदिक् कोणः। महेशानं रुद्रावतारमिति क्षेत्रपालविशेषणम्। अमून् गणेशादीन् सर्वारिष्टविनाशकान् अग्न्यादिकोणचतुष्टये पूजयेद् इत्यन्वयः।।७८७।। सनन्दनमिति। सनत्पदादिकं कुमारं, सुजातकं च इति सम्बन्धः। एतान् सनन्दनादीन् कृष्णपञ्चकं परितः कृष्णपञ्चकस्य सर्वतः परिवारत्वेन स्थितान् पूजयेदित्यर्थः।।७८८।। कृष्णपञ्चकस्याग्रे स्थितौ नरनारायणौ पूज्यौ तस्य पृष्ठतस्तु ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः पूज्या इत्याह—नरेति। अस्य कृष्णपञ्चकस्य।।७८९।। शेषानिति। शेषान् दिक्पालादीन् साम्प्रदायिकप्रयोगग्रन्थेषूक्तान् यथास्थानं विन्यस्य पूजयेत्। तत्र नारदो नरनारायणयोरग्रे स्थितः पूज्यः। एतेषु कृष्णं मूलमन्त्रेण, शेषान् प्रणवादिनमोऽन्तनाममन्त्रैः सम्पूज्य मासद्वयं तच्चतुष्टयं वा सङ्कल्पपूर्वकं वसेद् इत्यर्थः।।७९०।।

एकत्र वासप्रयोजकमहिंसापरिपालनरूपं दर्शयति—वर्षेति। समास्तीर्णा व्याप्ता भवति। अपिशब्देन वासनियमविधिसंरक्षणसमुच्चयः। रक्षार्थमपीति सम्बन्धः। एष यतिः।।७९१।।

यमानुष्ठानं दर्शयति—न हिंसतीति द्वाभ्याम्। तृणस्यापि चौर्यं न करोति। ग्राम्यधर्मो मैथुनम्। कामं भोग-साधनजातं न परिगृह्णीयात् संगृहीतं कुर्यात्, अपरिग्रहत्वसंरक्षणाय। इति द्वयोरर्थः।।७९२-३।। नियमादीन्

पद्मपादाचार्य विष्णु-अवतार माने जाते हैं अतः उन्हें पद्मनाभ नाम से पुराण में कहा। आचार्य व्यूह में भगवान् शंकराचार्य का व्यूह ही कहा क्योंकि संन्यासियों का वही संप्रदाय बहुतायत में वर्तमान है (और पुराणकार भी उसी संप्रदाय के हैं)। कृष्णपंचक में कृष्ण से सच्चिदानंद और बाकी नामों से तुरीय आदि की समष्टियाँ विवक्षित हैं। गणेश-दुर्गा-सरस्वती-क्षेत्रपाल इस क्रम से पूजा सब पंचकों की पूजा के बाद करनी चाहिये। क्षेत्रपाल महान् समर्थ हैं। ये सभी देवता अरिष्टों के, अमंगलों के विनाशक हैं। इन देवों की पूजा के बाद सनंदनादि की पूजा करे, फिर नर-नारायण की, फिर ब्रह्मा आदि की, फिर नारद की। और भी अपने संप्रदाय में जिन देवता मुनि आदि की पूजा की जाती हो उन्हें पूज लेना चाहिये।।७८१-७९०।। (निर्णयसिंधु आदि धर्मग्रंथों में तथा यतिधर्मसंग्रह आदि संन्यासग्रंथों में इस

तथा समायिकीं चेष्टां न कुर्यात् प्रलपेन्न च। नियमांश्च यथाशक्ति देवनारायणादिकान्।
कुर्वाणः प्राणरोधं च स्वात्मनोऽवसरे सति।।७६४
वेदान्तश्रवणे[1] स्नानं त्रिसन्ध्यादौ तथैव च। गुरुभक्तिं यथा प्राह वर्षाकालातिरेकतः।।७६५
एकत्र च वसेन्नैव तत्र रागादिवर्जितः। अलाभे न विषादी स्याल्लाभश्चैनं न हर्षयेत्।।७६६
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। आत्मवत् सर्वभूतानां कर्मणा मनसा गिरा।।
अनुकूलं हि कुर्वाणः प्रतिकूलं न चाचरेत्।।७६७
हिरण्यादीनि वस्तूनि वधूस्तद्वन्मनोरमाः। विष्ठावन्मनसा नित्यं भावयेन्न स्मरेच्च वा।।७६८

दर्शयति—तथेत्यादिना। माया दम्भः, तद्वतीं चेष्टां भावसंशुद्धिलक्षणशौचविपरीतां न कुर्याद्, अनर्थकवाक्यरूप-प्रलापं मौनलक्षणतपोविरोधिनं न कुर्याद् इति। तथा देवो महादेवो, नारायणश्च एतौ आदी सम्बन्धित्वेन प्रयोजकौ येषां ते यमाः स्मरणकीर्तनादयः तान् कुर्वाणः। प्राणायामं च स्वात्मनः प्राणरोधस्य कालेऽपररात्रादौ कुर्वाणो भवेद् इत्यर्थः।।७६४।। वेदान्तेति। वेदान्तश्रवणं, त्रिकालस्नानं, यथा गुरुः प्राह तथाऽनुष्ठानरूपां गुरुभक्तिं च कुर्वाणो वर्षाकालभिन्ने काले एकत्र न वसेत्, तत्र वासदेशे रागद्वेषवर्जितो भवेत्। स्फुटमन्यत्।।७६५-६।। सम इति। स्पष्टम्।।७६७।। कान्ताः कनकादीनि च काकविष्ठावद् दूराद्धेयत्वेन पश्येद् इत्याह—हिरण्यादीनीति।।७६८।।

व्यासपूजन का वर्णन है। वहाँ से प्रकृत पुराण में यत्किंचित् भेद है। मठ आदि में प्रचलित पूजा पद्धतियों में और भी मतभेद हैं। अपनी गुरुपरंपरा में प्रचलित प्रक्रिया से ही पूजा कर लेनी चाहिये, सभी को ठीक समझना चाहिये।)

इस प्रकार पूजाकर संन्यासी उसी ग्रामादि स्थान में दो या चार महीने निवास करे। बरसात में स्थिरचर देह-धारी लाखों-करोड़ों की संख्या में सारी पृथ्वी पर बिखरे रहते हैं, उनकी रक्षा के लिये यति भी उन दिनों यात्रा नहीं करता, एक जगह रहता है। (पूजा समाप्ति पर एक जगह रहने का संकल्प भी किया जाता है।)।।७६१।।

संन्यासी के धर्मों में अहिंसा प्रधान है। स्थिर-जंगम किसी देही की इसे हिंसा नहीं करनी चाहिये। यति कभी झूठ न बोले, तिनका भी नहीं चुराये, नारियों में ग्राम्यधर्म (मैथुनाचार) न करे, भोगसाधन न बटोरे।।७६२-३।। संन्यासी को न्यायविरुद्ध कोई कार्य नहीं करना चाहिये। दंभादि अशुद्ध भावों से भी कोई कार्य न करे। अनर्थक वाक्य—जिन वाक्यों से अपना या पराया वास्तविक कल्याण न होता हो उन्हें—नहीं बोलना चाहिये ताकि मौन का अभ्यास बना रहे। महादेव, नारायण आदि के स्मरण, कीर्तन आदि के नियमों का यथाशक्ति पालन करना चाहिये। उचित समय पर अवसर निकालकर प्राणायाम का अभ्यास संन्यासी का धर्म है।।७६४।।

यति को वेदान्तों का श्रवण, तीनों संध्याओं के समय स्नान और गुरु जैसे बतायें वैसे उनकी भक्ति करनी चाहिये। वर्षा से अतिरिक्त समय में एक जगह न रहे (गाँव में तीन रात, नगर में पाँच रात आदि नियमानुसार भ्रमण करता रहे)। जहाँ भी रहे राग-द्वेष से रहित रहे। आवश्यक वस्तुएँ न मिलने पर विषाद न करे और उनकी प्राप्ति उसे हर्षित न करे।।७६५-६।। मित्र-शत्रु, मान-अपमान के प्रति एक-सा रहे। जैसे अपने लिये व्यक्ति हमेशा अनुकूल ही करने की कोशिश करता है वैसे कर्म, मन और वाणी से सब भूतों के अनुकूल ही क्रिया करे, प्रतिकूल न करे। (इस नियम का निष्कर्ष नैष्कर्म्य ही है क्योंकि प्रवृत्ति ऐसी कोई संभव नहीं जो सब भूतों के अनुकूल ही हो।)।।७६७।। हिरण्यादि वस्तुओं के और मनोरम स्त्रियों के प्रति मन में वही भावना रखे जो टट्टी के प्रति रखता है और उन्हें याद न करे।।७६८।।

१. °श्रवणम् इति युक्तं पठितुम्। अथवा श्रवणेइति श्रवणद्वयमुक्तं—गुरुमुखाद्वेदान्तान् शृणुयात्, स्वयं चोपक्रमादिभिस्तात्पर्यनिर्णयं कुर्यादिति।

विण्मूत्रसम्भवो देहो मलभाण्डो विनिर्मितः। कामाद्यनेकरोगार्तः सर्वावस्थासु नश्वरः।।
किमर्थं वहसे गर्वं मनो देहस्य सर्वदा।।७९९
अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थं शृण्वानो गुरुवाक्यतः। मननं च तथा ध्यानं कुर्यादात्मावबोधनम्।।८००
यावन्न साक्षादात्माऽयं ज्ञायते तेन सर्वगः। ओङ्कारमपि तावत्तु जपेच्छक्त्यनुसारतः।।८०१
प्रणवाद्यविरोधेन मन्त्रानन्यांश्च सञ्जपेत्। आरोहेन्नैव याने च न च किञ्चित् परिग्रही।।८०२
यावता न भवेद् देहत्यागोऽत्र वसनादिना। स्वीकुर्यात् तावदेवाऽयं नाधिकं तु कदाचन।।८०३

सन्ध्या

सन्ध्यात्रये समाधिस्थो न कुर्यात् सन्धिनाशनम्। जीवात्मनोरिहैक्येन स्वात्मनो ब्रह्मबोधनात्।८०४

हे मनः! त्वं दोषनिलयस्य देहस्य गर्वं तादात्म्याभिमानरूपं किं धारयसि? इत्येवं सदा चिन्तयेद् इत्याह—विण्मूत्रेति।।७९९।।श्रवणाद्युपायैः आत्मसाक्षात्काराय यतेतेत्याह—अहमिति। अवबोधनम् इति करणे ल्युट्।।८००।।

आत्मसाक्षात्कारप्रतिबन्धाऽपनयाय प्रणवोपासनं फलपर्यन्तं कुर्यादित्याह—यावन्नेति।।८०१।।प्रणवादीति। प्रणवस्य आदिपदग्राह्यस्य हंसमन्त्रस्य चाऽविरोधेन उपसर्जनत्वेन इतरानपि मन्त्रान् जपेत्। प्राधान्येन प्रणवादिकमेव जपेद् इति यावत्। यानेऽश्वादिवाहने, आरूढो न भवेत्। किञ्चिद् अपि परिग्रही परिग्रहशाली न भवेद् इति।।८०२।। परिग्रहाभ्यनुज्ञास्थलमाह—यावतेति। यावता वस्त्राऽशनादिना विना देहत्यागप्रसक्तिः तावदेव स्वी कुर्याद् इत्यर्थः।।८०३।।

परमहंसोपनिषदुक्तान् धर्मान् प्रपञ्चयंस्तत्र परमात्मनोरेकत्वज्ञानेन सन्ध्यासम्पत्तिरुक्ता[1], तां दर्शयति—सन्ध्यात्रय इति। अयं परमहंसः प्रातरादिषु त्रिषु सन्ध्यासु समाधिस्थः सन् सन्धेः सन्धौ कर्तव्यायाः सन्ध्याया नाशनं विलोपनं न कुर्यात्—सम्भावनायां लिङ्—किन्तु सन्ध्यां करोत्येवाऽयम्। कुतः? इह समाधौ जीवस्य त्वम्पदार्थस्य आत्मनः तत्पदार्थस्य च ऐक्यज्ञानेन आत्मनो ब्रह्मत्वस्य अवधारणाद् इत्यर्थः।। तथा च ऐक्यनिष्ठारूपः समाधिः सन्ध्याकालेऽवश्यं कार्यः, अन्यथा सन्ध्याविलोपदोषप्रसङ्ग इति भावः।।८०४।।

संन्यासी हमेशा यह चिंतन करे 'रे मन! मल का भांड यह शरीर विष्ठा-मूत्र से ही उत्पन्न हुआ है, कामना आदि अनेक रोगों से दुःखी है, सभी अवस्थाओं में भटक रहा है, नाशशील है; तू इस शरीर का गर्व किस लिये करता है?'।।७९९।। गुरुवाक्य से 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वाक्य का अर्थ यति को सुनते रहना चाहिये। आत्मसाक्षात्कार के उपायभूत मनन और ध्यान भी संन्यासी हमेशा करे।।८००।। संन्यासी को जब तक व्यापक आत्मा का अप्रतिबद्ध साक्षात्कार न हो जाये तब तक वह यथाशक्ति प्रणव का भी जप करता रहे।।८०१।। प्रधानतः तो संन्यासी के लिये प्रणव ही जपनीय है(क्योंकि 'ब्रह्मसंस्थ' पद से यह अभिप्राय निकलता है) पर यदि उस पर एकाग्रता में कठिनाई हो तो उसी अर्थ वाले अन्य शास्त्रोक्त मंत्रों का जप करे। (प्रणव का अर्थ महावाक्यार्थ ही है। उसी अर्थ वाले हंस आदि मंत्र हैं। भेदार्थक मंत्रों का जप संन्यासी न करे। शनैःशनैः तो प्रणव में ही एकाग्र होवे और मंत्रांतर जपने पर भी प्रतिदिन प्रणवजप तो करे ही।)। संन्यासी को घोड़े आदि वाहन पर नहीं चढ़ना चाहिये। कोई भी सामान बटोर कर रखने की आदत न डाले। जितने के बिना मृत्यु संभव हो उतना ही वस्त्रादि स्वीकार कर ले, उससे अधिक पदार्थ कोई दे तो भी संन्यासी कभी न ले।।८०२-३।।

(अब 'परमहंसोपनिषत्' में बताये धर्म समझाते हैं :) तीनों संध्याओं के समय यति समाधि में स्थित रहे। (इस समाधि का ढंग पंचीकरण-वार्तिक में स्पष्ट कर संध्याकाल में वैसे अनुष्ठान का वहाँ भी विधान है।) संन्यासी

१. 'परमात्मात्मनोरेकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः सा सन्ध्या'(२)।

निंदादिहानम्

कस्याऽपि नैव कुर्वीत सदसद्दोषकीर्तनम्। आत्मनोऽधिकबुद्धिं वा मानसं वा विनाशनम्।।८०५
कर्मणा मनसा वाचा त्रिधा धर्मं स्वयं कृतम्। परेभ्यः प्रकटं नैव कुर्याद् दम्भो हि तत् सदा।।८०६
ऊहज्ञानेन कस्याऽपि पक्षं चैव न दूषयेत्। अभिलाषं च कुत्राऽपि सुखे कुर्याद् न धीधनः।
दुःखे द्वेषं च तद्वत् स न कुर्याद्धि ससाधने।।८०७
मैथुनेच्छां च नैवाऽयं कुर्यात् स्वप्नेऽपि कुत्रचित्। कर्मणा मनसा वाचा भूतद्रोहं कदाऽपि न।।८०८
दैवाद् दृष्टं सुवर्णादि न गृह्णीयात् कदाचन। अनात्मभूते देहादावात्मबुद्धिं च वर्जयेत्।।८०९
सुखप्राप्तौ प्रहर्षं च वर्जयेत् सर्वदा यतिः। दुःखप्राप्तौ विषादं च तत्ते पूर्वमुदीरितम्।।८१०

निन्दा-गर्वादित्याग[१] दर्शयति—कस्यापीति। सतां विद्यमानानाम् असतां वा दोषाणां कीर्तनरूपां निन्दां कस्याऽपि न कुर्वीत। आत्मनो या इतरेभ्योऽधिकत्वेन बुद्धिः ज्ञानं, तद्रूपं गर्वं न कुर्यात्। तथा मानसं मनसा कृतं यत् परस्य विनाशनं—'कथमस्य अपकर्षो भवेद्!' इत्याकारं मत्सरपदामिधेयं—तदपि न कुर्यादित्यर्थः।।८०५।। दम्भस्त्याज्य इत्याह—कर्मणेति। शरीरवाङ्मनोभिः कृतं धर्मं परान् अनुकूलयितुं प्रकटं न कुर्याद् हि यतः तद् धर्मस्य प्रकटनं दम्भो भवति, स च निषिद्ध इति।।८०६।। भर्त्सनादिप्रवृत्तिप्रयोजकधीवृत्तिविशेषरूपं दर्पं न कुर्याद् इत्याह—ऊहेति। ऊहः तर्कः, तत्प्रधानेन ज्ञानेन परपक्षखण्डनं न कुर्याद् इति प्रथमदलार्थः। रागद्वेषयोः हेयत्वमाह—अभिलाषमिति दलद्वयेन। दुःखे तत्साधने च द्वेषं न कुर्याद् इति।।८०७।। कामक्रोधलोभमोहानां परित्यागमाह—मैथुनेच्छामिति द्वाभ्याम्। न कदापि इति योजना। व्यवायेच्छा कामः, द्रोहोऽपकारः; क्रोधोऽकार्यं, सुवर्णादिग्रहणे प्रवृत्तिः लोभः, देहादावहंममाभिमानो मोहः, तान् न कुर्यात्। इति द्वयोरर्थः।।८०८-९।। मदत्यागमाह—सुखेति। प्रहर्षो मदः। दुःखप्राप्तौ वैमनस्यलक्षणविषादत्यागो द्वेषपरिहाराभिधानेन उक्तप्राय इत्यर्थः।।८१०।। क्षुद्राणामिति। क्षुद्राणाम् अल्पेऽत्यादरवतां देहिनां धर्मेषु विद्याऽभिजनादिषु यद् असहिष्णुत्वं

संधि को कभी नष्ट न करे, समाधि में जीव और आत्मा की एकता के ज्ञान से आत्मा की ब्रह्मरूपता का निश्चय रखने से संधि की सुरक्षा रहती है। (संधि अर्थात् जोड़, जीव-ब्रह्म की संधि उक्त निश्चय से स्थिर रहती है। यह निश्चय हमेशा रखने की कोशिश करे पर प्रातः-मध्याह्न-सायम् तो अवश्य उक्त समाधि का अभ्यास करे ताकि सन्धा के विलोपका दोष न हो।)।।८०४।। किसी के भी सच्चे या झूठे दोषों का कथन नहीं करना चाहिये। खुद को अन्यों से अधिक नहीं समझना चाहिये अर्थात् गर्व करना अनुचित है। मन में किसी के प्रति मत्सर न करे, किसी के अपकर्ष की कामना भी न करे, कोशिश तो दूर की बात है।।८०५।।

स्वयं जो धर्म कर्म, वाणी या मन से किया है उसे अन्यों के सामने प्रकट करना ताकि वे हमारे अनुकूल हो जायें या बने रहें, इसका नाम दंभ है। संन्यासी ऐसा कभी न करे।।८०६।। तर्कज्ञान के आधार पर किसी के पक्ष को सदोष न सिद्ध करे। (अर्थात् दर्प न करे। जो मनोवृत्ति दूसरे की भर्त्सना करने में प्रवृत्त करती है वह दर्प है। परपक्ष का खण्डन उसकी भर्त्सना है अतः इसकी हेतुभूत वृत्ति दर्प है जो अकार्य है। 'तर्कज्ञान के आधार पर' इसलिये कहा कि शास्त्र के आधार पर परपक्षों के दोष शिष्यादि जिज्ञासु को समझाना यतिधर्म के विरुद्ध नहीं।)। बुद्धिमान् किसी भी सुख की अभिलाषा न रखे और साधनसमेत दुःख के प्रति द्वेष न करे।।८०७।। सपने में भी यति मैथुन की इच्छा न करे। कर्म-मन-वाणी से किसी प्राणी के प्रति द्रोह न करे।।८०८।। अचानक दीखे सुवर्णादि को कभी ग्रहण न करे। अनात्मा जो शरीर उसे कभी 'मैं' न समझे।।८०९।। सुख मिलने पर अधिक हर्ष से यति हमेशा बचे और दुःख मिलने पर विषाद से भी हमेशा बचे। यह बात पहले भी कही जा चुकी है।।८१०।।

---

१. 'न दण्डं न शिखां न यज्ञोपवीतं नाच्छादनं चरति परमहंसः। न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न मानावमाने च षडूर्मिवर्जम्। निंदा-गर्व-मत्सर-दम्भ-दर्पे-च्छा-द्वेष-सुख-दुःख-काम-क्रोध-लोभ-मोह-हर्षा-ऽसूया-ऽहंकारादींश्च हित्वा।'(२)।

क्षुद्राणामसहिष्णुत्वं न कुर्याद् देहिनामिह। अहंमानं च देहे स्वे ममत्वं वसनादिषु।
नैव कुर्वीत मेधावी क्षेममिच्छन्निजात्मनः।।८११

अनृतं वचनं तद्वद् मानसं विषयैरपि। लोकरञ्जनमुख्यांश्च त्यजेत् सर्वात्मना यतिः।
विण्मूत्रकुणपैस्तुल्यं शरीरं स्वं विलोकयेत्।।८१२

नस्तुतिर्ननमस्कारो निःस्वधाकार एव च। चलाचलनिकेतस्तु यतिर्यादृच्छिको भवेत्।।८१३

क्षमाराहित्यं गुणेषु दोषारोपात्मकाऽसूयाप्रयोजकं तद् न कुर्यात्। तथा देहे देहमध्ये यः अहंमानः परिच्छिन्नोऽस्मीत्यभिमानः तं, तथा श्रुतिगता-ऽऽदि-पदसंगृहीतं वस्त्रादिषु ममत्वं स्वामित्वाभिमानं च न कुर्याद् यदि आत्मनः श्रेय इच्छेद् इत्यर्थः।।८११।। आदिपदार्थमेव प्रपञ्चयति—अनृतमिति। वचनं मानसं च यद् विषयैः कृत्वा अनृतम् असत्यार्थविषयकत्वेन अनृततामापन्नमिति यावत्, तत् त्यजेद् इति सम्बन्धः। तथा लोकानां यद् रञ्जनम् अनुकूलनेन स्वस्मिन् प्रणयोत्पादनं तत्प्रभृतीन् व्यापारान् न कुर्यात्। तथा विवेकेन परिहृतात्मभावं स्वं देहं शवादिवद् दूराद्धेयं पश्येद् इत्यर्थः।।८१२।।

शरीरात् पृथग्भूतस्य आशाम्बरत्वं सिद्धप्रायम् इत्यभिप्रेत्य[1] 'न स्तुति'रित्यादिवाक्याऽर्थमाह—नस्तुतिरिति। न विद्यते स्तुतिः कर्तव्यतया यस्य स तथा। एवं ननमस्कार इत्यत्राऽपि नैकधेतिवद् न-शब्देन समासः। चलाचलोऽस्थिरो निकेतो वासो यस्य तथाभूतत्वाद् यादृच्छिको यदृच्छायाः स्वैरिताया हेतोः समागतः, आकस्मिक इति यावत्, एतादृशस्वभावो यतिर्भवेद् इत्यर्थः।।८१३।। न चाऽर्हेच्चेति। कञ्चिदपि न चाऽर्हेद् न पूजयेत्। कस्याऽपि

संसार में जो क्षुद्र देही हैं उनके प्रति असहिष्णु न होवे। (अर्थात् मच्छर आदि छोटे प्राणियों को सहन कर ले। अथवा क्षुद्र से मानसिक क्षुद्रता समझनी चाहिये : जो देही छोटी-छोटी बातों को बहुत महत्त्व देते हैं उन लोगों की विशेषताएँ विद्या, अभिजन आदि रूप ही होती हैं। ऐसे लोग अपनी ये विशेषताएँ बखानने लगें तो यति सहन कर ले और उन पर किसी मूर्खतादि दोष का आरोप न करे।) अपने शरीर में 'यही मैं हूँ' या 'मैं इससे सीमित ही हूँ' ऐसा अहंमान न करे। जो अपना कल्याण चाहे वह मेधावी वस्त्रादि किसी पर ममत्व तो कभी रखे ही नहीं।।८११।। असत्यविषयक बात, झूठी बात, न मन में सोचे, न मुँह से बोले। यति ऐसी चेष्टाएँ हर तरह छोड़े जो लोकरंजन आदि के लिये हों। (लोगों को खुश करने के लिये कुछ न करे। कथाप्रवचनादि भी कैवल्योपाय के प्रदर्शनार्थ ही करे न कि लोगों को खुश करने के लिये। अतः उपनिषद् आदि वेदान्तों का ही प्रचार करे, लोगों को प्रिय लगती हैं इसलिये अन्यान्य कथाएँ न बाँचे। 'लोकरंजन आदि'—आदि से भीड़ बटोरना, यश पाना आदि समझने चाहिये। इन प्रयोजनों से कुछ न करे।) यति अपने शरीर को टट्टी, पेशाब और मुर्दे की तरह समझे।।८१२।।

स्तुति, नमस्कार, स्वधाकार—ये संन्यासी का कर्तव्य नहीं है। (यह सामान्य नियम है। ईश्वर, गुरु आदि की स्तुति आदि करना विविदिषु यति का भी धर्म है। लौकिक लोगों की स्तुति आदि नहीं करनी चाहिये।) यति अपना कोई स्थिर वासस्थान न रखे और अकस्मात् ही आया-जाया करे। (गौडपादकारिकाभाष्य में बताया है कि यति स्वयं को अचल निकेत परमात्मा में ही समझे, प्रारब्धवेग से चल निकेत शरीर में स्वयं को व्यवहार काल में बलात् समझ भी ले पर बाह्य विषयों पर स्वयं को आश्रित न समझे यह चलाचलनिकेत का मतलब है। यथाप्रारब्ध जो मिल जाये उसी से देहस्थिति का कार्य निकाल ले, पदार्थों के लिये कोई प्रयास न करे—यह यादृच्छिक का मतलब है।)।।८१३।। अपने से पृथक् समझकर यति न किसी की पूजा करे ओर न किसी का 'विवर्जन' करे (अर्थात् जिसका अभिप्राय

---

१. 'आशाम्बरो न नमस्कारो न स्वधाकारो न निंदा न स्तुतिर्यादृच्छिको भवेद्भिक्षुः।' (परम. ४)। 'निस्तुतिरि'त्यादिपाठेन गौडपादकारिकासु (२.३७) श्लोकोयं प्रसिद्धः।

न चाऽर्हेच्च प्रकुर्वीत न कस्याऽपि विवर्जनम्। मन्त्रांश्च न जपेद् नैव ध्यानं कुर्वीत कस्यचित्।।
आत्मनो व्यतिरिक्तस्य नाऽपि चोपासनं यतिः।।८१४

लक्ष्यं तस्य न किञ्चित् स्याद् व्यापारेषु यतेः सदा। अलक्ष्यं च न किञ्चित्तु बालवत्
समदर्शिनः।।८१५

आत्मनो व्यतिरिक्तं न वेदनं नाऽप्यभेदवत्। प्रयोजनं किमप्यस्य विद्यते समदर्शिनः।
अहं त्वं सर्वमित्यादिभेदोऽप्यस्य न विद्यते।।८१६

सर्वेषामात्मभूतं यद् आश्रयेण विवर्जितम्। ब्रह्म तत् स्थितिहेतुः स्यादस्य नित्यं महात्मनः।।८१७

सुवर्णादीनि वस्तूनि सुवर्णं च विशेषतः। रागतो न स्पृशेन्नैव पश्येत् कुर्यान्न च ग्रहम्।।८१८

विवर्जनं निषेधपर्यवसायिदोषकीर्तनं न कुर्यात्। तथाऽऽत्मव्यतिरिक्तस्य प्रकाशकान् मन्त्रान् न जपेत्, तस्य ध्यानम् उपासनं च न कुर्याद् इति।।८१४।। [1]लक्ष्यमिति। व्यापाराणां कर्मणां मध्ये किञ्चिद् अपि लक्ष्यम् 'अवश्यमिदं मया कर्तव्यम्' इत्यभिप्रायविषयी भूतं न अस्ति। अलक्ष्यं हेयत्वाभिमतं च न अस्ति। सर्वस्य आत्मत्वेन दर्शनादिति भावः।।८१५।। 'न पृथग्' इत्यादिवाक्यार्थमाह—आत्मन इति। आत्मनो व्यतिरिक्तम् आत्मव्यतिरिक्तभावाऽवगाहि वेदनं ज्ञानम् अस्य परमहंसस्य न अस्ति, तथाऽभेदवद् अभेदावगाहि च वेदनं न अस्ति। तथाऽस्य समदर्शिनोऽखण्डात्मदर्शिनः प्रयोजनम् इष्यमाणं न अस्ति, अहमादिभेदराहित्यादित्यर्थः।।८१६।। अनिकेते स्वप्रतिष्ठे ब्रह्मणि स्थित इति व्युत्पत्तिकस्य 'अनिकेतस्थित' पदस्य अर्थमाह—सर्वेषामिति। यत् स्वप्रतिष्ठं सर्वात्मकं ब्रह्म तत्रैव अस्य विदुषो ब्रह्मभूतस्य स्थितिरित्यर्थः। एतेन मठादौ ममत्वं निषिद्धम्।।८१७।।

[2]सुवर्णपात्रादिग्रहवारकवाक्यस्यार्थमाह—सुवर्णादीनीति। रागतो रागेण। एतेन बिडालादिवत् प्रमादेन स्पर्शे न दोष इति सूचितम्।।८१८।। तत्र दोषमभिनयति—स्पर्शनादिति। रागेण हिरण्यादिस्पर्शात् पुष्कसो

निषेध निकलता हो ऐसा दोषकथन न करे)। आत्मा से भिन्न अर्थ वाले मंत्रों का जप और ऐसे किसी अर्थ का ध्यान या उपासना भी संन्यासी को नहीं करने चाहिये।।८१४।। यति बच्चे की तरह समदर्शी रहे, कर्मों के बारे में 'मुझे यह अवश्य करना है' या 'यह मेरे लिये अवश्य हेय है' ऐसे आग्रह न रखे। (इसका अर्थ यह नहीं कि पापादि करे ! तात्पर्य है कि नैष्कर्म्य में स्थिर रहे। परमहंसोपनिषत् की नारायणदीपिका में कहा है कि 'साक्षिचैतन्य लक्ष्य है, देहादिविशिष्ट चैतन्य लक्ष्य नहीं वाच्य है' आदि व्यवहार भी संन्यासी के लिये नहीं है क्योंकि वह ब्रह्म में ही स्थिर रहे। शंकरानंदी दीपिका में बताया है कि लक्ष्य अर्थात् विकार संसार रूप का यह चिंतन न करे और अलक्ष्य अर्थात् मिथ्याज्ञान का चिंतन भी न करे।)।।८१५।।

संन्यासी आत्मा से अतिरिक्त कुछ न जाने, अभेद को भी विषय करता हुआ ज्ञान न रखे। (स्वरूपस्थित में अभेद *विषय* नहीं रहता लेकिन जब उसे शब्दादि में प्रकट करते हैं तब वह विषय बन जाता है। यति समाहित रहे, शब्दव्यापार आदि से आत्मा को विषय न बनाये।) इस समदर्शी का कोई इच्छाविषय नहीं होना चाहिये, 'मैं' 'तुम' आदि भेदों का भी इसके लिये कोई मायने नहीं।।८१६।। सभी का आत्मा और स्वयं आश्रय से रहित जो ब्रह्म वही इस महात्मा की स्थिति का सनातन हेतु है।।८१७।।

१. 'न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथग्नापृथगहं न न त्वं न सर्वं चानिकेतस्थितिरेव।' (परम. ४)

२. 'भिक्षुः सौवर्णादीनां नैव परिग्रहेत्...।...भिक्षुर्हिरण्यं रसेन दृष्टं च स ब्रह्महा भवेत्। यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन स्पृष्टं च स पौल्कसो भवेत्।...ग्राह्यं..आत्महा भवेत्। तस्माद् भिक्षुर्हिरण्यं रसेन न दृष्टं च न स्पृष्टं च न ग्राह्यं च।' (४)।

स्पर्शनात् पुष्कसस्तस्य चण्डालो दर्शनादपि। आत्महा च भवेदेव तत्परिग्रहतः सदा।।८१९

आत्मन्यत्र हते सर्वं निहतं स्याच्चराचरम्। सर्वरूपो यतः स्वात्मा सर्वेषामिह देहिनाम्।।८२०

ज्ञानमुपवीतादि

दान्तसर्वेन्द्रियः शान्तमानसो विगतस्पृहः। उपवीतं शिखां तद्वज्ज्ञानमेव दधद् भवेत्।।

यस्माद् ब्रह्मोपनिषदि श्रूयतेऽन्यत्र चेदृशम्।।८२१

ब्रह्मोपनिषद्व्याख्या

हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणः प्रतिष्ठितः। हृदि ज्योतिः परं तद्वत् त्रिवृत्सूत्रमिदं स्मृतम्।।८२२

निषादाच्छूद्र्यां जातः सङ्करजातिः तत्तुल्यो भवति। चण्डालो ब्राह्मण्यां शूद्राज्जातः। तत्परिग्रहतः सुवर्णादिसंग्रहाद् यतिरात्मघाती भवेदिति।।८१९।। आत्मघातस्य सर्वानर्थमयत्वं दर्शयति—आत्मनीति। आत्मनः सर्वरूपत्वात् तद्घाते सर्वहिंसाऽन्तर्भवतीत्यर्थः।।८२०।।

दान्तेति।[1] वैराग्यशमदमैः सम्पन्नः सन् परमहंस उपवीतस्थाने शिखास्थाने च तत्त्वज्ञानमेव दधद् धारयमाणो भवेत्। न चेदं ज्ञानरूपेण उपवीतशिखयोर्धारणम् अप्रामाणिकं, ब्रह्मोपनिषदि तथाऽन्यत्र परमहंसोपनिषदि आरुणिकोपनिषदि च श्रूयमाणत्वाद् इत्यर्थः।।८२१।।

तत्र ब्रह्मोपनिषद्गतानाम् उक्तार्थपरवाक्यानाम्[2] अर्थमाह—हृदिस्था इत्येकादशभिः। उपवीतस्योपादानभूतं सूत्रं स्मृतिषु त्रिवृत् त्रिधा त्रिगुणत्वेन नवतन्त्वात्मकं प्रसिद्धम्। तद् विदुषो हृदयनिष्ठतत्त्वात्मकमेव। तथा हि—सर्वाः समष्टिरूपत्वेन सर्वात्मभूता देवता ईशसूत्रविराट्संज्ञा हृदि हृत्कमले सन्निहिताः, आत्मत्वेन वेदान्तेषु तत्प्रसिद्धेः। तथा प्राणापानौ तत्सन्ध्यात्मको व्यानश्च इत्येवं त्रिविधः प्राणोऽपि हृदि स्थितः। तथा स्थूलसूक्ष्मकारणलक्षणोपाधिभेदेन विश्वादिसंज्ञताम् आपद्यमानं परं ज्योतिः चिदात्मतत्त्वमपि सर्वसत्ताप्रदत्वात् श्रुतौ प्राणपदोक्तं हृदि स्फुटम्। एवं प्रत्येकं त्रिविधानां देवताप्राणज्योतिषां समुदायो नवतन्त्वात्मकसूत्ररूपः सिद्ध इत्याशयः।।८२२।। यज्ञोपवीतमिति। यथा नवतन्तुमयसूत्रात् प्रादुर्भूतो भावो यज्ञादिकर्माङ्गभूतं यज्ञोपवीतमित्युच्यते

सुवर्णादि वस्तुएँ, खासकर सुवर्ण यति को रागपूर्वक छूना नहीं चाहिये और उसे ग्रहण नहीं करना चाहिये। (बेध्याने स्पर्श हो गया तो कोई पाप नहीं, राग से उसका स्पर्शादि न करे।)।।८१८।। राग से यति सुवर्ण छुए तो पुष्कस (निषाद बाप व शूद्र माता की संतान) बनता है, रागपूर्वक देखे तो चण्डाल (शूद्र बाप व ब्राह्मणी माता की संतान), यदि सोने का परिग्रह कर ले तो संन्यासी आत्महत्यारा होता है। आत्मा मर जाने पर सारा चराचर मर जाता है क्योंकि सभी देहियों का आत्मा सर्वरूप है। (यद्यपि स्वर्ण के दर्शनादि का स्पष्ट निषेध है तथापि अन्य भी ऐसे पदार्थों के रागपूर्ण दर्शनादि का निषेध ही अभिप्रेत है। यह मतलब नहीं कि सोना न छुए पर हीरे-जवाहरात रागपूर्वक बटोर ले ! आत्महत्या का तात्पर्य है कि ऐसे रागपोषण से आत्मनिष्ठा हो नहीं पायेगी और पुरुषार्थ से वंचित ही रहेगा जिससे 'आत्मा से ही आत्मा की हिंसा' (गी. १३.२८) होती रहेगी, जैसे अनादिकाल से परिच्छिन्नता समझते हुए मरता रहा है ऐसे ही मरता रहेगा। स्वयं को परिच्छिन्न समझते ही बाकी सब को भी परिच्छिन्न समझनारूप सर्वहिंसा भी हो जायेगी।)।।८१९-२०।।

संन्यासी अपनी सारी इंद्रियाँ नियंत्रित रखे, मन शांत रखे, स्पृहा छोड़े रहे। ज्ञान ही उसके शिखा-यज्ञोपवीत है। ब्रह्मोपनिषद् में तथा अन्यत्र यह बात सुनी गयी है अतः ज्ञान ही उसके शिखादि हैं इसे अप्रामाणिक नहीं समझना चाहिये।।८२१।।

---

१. 'शान्तमचलमद्वयानन्दविज्ञानघन एवाऽस्मि, तदेव मम परमधाम तदेव शिखा च तदेवोपवीतं च' (२)।
२. 'हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः। हृदि प्राणश्च ज्योतिश्च त्रिवृत्सूत्रं च यन्महत्।।' ब्रह्मो. २।।

यज्ञोपवीतं चैतन्यं हृदि तिष्ठति यत्ततः। सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद् बुधः।।८२३
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत्। सूचनात् सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम्।
तत् सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः।।८२४
येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। तत् सूत्रं धारयेद् योगी योगवित् तत्त्वदृष्टिमान्।।८२५

तथा प्रोक्तत्रिवृत्सूत्रानुसन्धानेन प्रादुर्भूतमखण्डं चैतन्यं ज्ञानयज्ञाङ्गभूतं यज्ञोपवीतम् इच्युत्यते। 'यज्ञोपवीतं परमम्'[1] इत्यादिमंत्रस्याऽपि तत्रैव मुख्यवृत्त्या समन्वयात्। तत्र हि सहज-पदेन स्वाभाविकत्वमुक्तम्, प्रतिमुञ्च-पदेन तु उपाधिविमोक इति। यद् यतः चैतन्यरूपं यज्ञोपवीतं हृदि तिष्ठति इति निर्धारितं ततः[2] सुधीः शास्त्रोक्तसशिखवपनपूर्वकं बहिःसूत्रं बाह्यद्रव्यसाध्यमुपवीतं त्यजेद् इत्यर्थः।।८२३।। यदक्षरमिति। बहिःसूत्रं तदुपलक्षितं दृश्यजातं च त्यक्त्वा यदक्षरम् आकाशान्तप्रपञ्चाधिष्ठानभूतं परं ब्रह्म तद् एव सूत्रमिति धारयेद् निश्चिनुयादिति। कथं तत्र सूत्रपदप्रवृत्तिः? इत्याकांक्षायामाह—सूचनादिति। सूचनात् प्रकाशनाद्धेतोः सूत्रम् इति नाम प्राहुः लोके। तन्तवोऽपि स्वान्तर्गतपटप्रकाशनात् 'सूचयतीति सूत्रम्' इति व्युत्पत्तिकेन सूत्रपदेन उक्ताः। तथा स्वान्तर्गतजगत्पट-प्रकाशकत्वात् परं पदं ब्रह्म सूत्रसंज्ञमित्यर्थः। एतद्विज्ञानफलमाह—तत्सूत्रमिति। वेदः शब्दराशिः तस्य पारम् अगोचरमपि प्राप्तः सर्वज्ञ इति यावत्।।८२४।। सूत्रशब्दस्य तन्त्वादिषु रूढत्वेऽपि विधारकत्वलक्षणगुणेन चित्तत्त्वे प्रवृत्तिं निश्चित्य तत्परो भवेद् इत्याह—येनेति। येन सर्वाधारेण चिदात्मना सर्वं दृश्यजातं प्रोतं व्याप्तं यत्र स्थितमिति शेषः, तद् वस्तु सूत्रत्वेन धारयेद् योगी तत्त्वम्पदार्थैक्यदर्शी। तत्र साधनसम्पत्तिमाह—योगविदित्यादि पदद्वयेन। योगोऽष्टाङ्गः, अमृतनादोक्तषडङ्गो वा, तद्वेत्ता। तत्त्वदृष्टिः नित्यानित्यवस्तुविवेकः तद्वान् इति तदर्थः।।८२५।।

द्विज जो उपवीत धारण करते हैं उसके उपादानभूत धागे को तीन-गुणा किया जाता है अर्थात् जनेऊ के प्रत्येक डोर में तीन तंतु होते हैं, पूरे जनेऊ में नौ तंतु हो जाते हैं। विचार करें तो विद्वान् के हृदय में निहित तत्त्व ही उस धागे का वास्तव स्वरूप है। सारे देवता हृदय में स्थित हैं। ईश्वर-सूत्रात्मा-विराट् ये समष्टिरूप सर्वात्मा त्रिदेव हृदयकमल में संनिहित हैं क्योंकि वेदांतों में ऐसा ही कहा है। प्राण भी हृदय में प्रतिष्ठित हैं। प्राण-अपान और इनकी सन्धिरूप व्यान—यों तीन तरह का प्राण प्रमुख रूप से हृदय में रहता है। परम ज्योति भी हृदय में है। स्थूल-सूक्ष्म कारण उपाधियों से विश्व-तैजस-प्राज्ञ कहलाने वाली चेतन ज्योति हृदय में ही स्फुट बनी रहती है। यों तीन देव, तीन प्राण, तीन ज्योति इन नौ का ही रूप पूर्वोक्त धागा है।।८२२।। नौ तंतुओं के धागे से बना जो यज्ञादि कर्मों का अंगभूत जनेऊ वह जैसे यज्ञोपवीत है वैसे पूर्वदर्शित देवादिमय सूत्र के अनुसंधान से प्रकट हुआ अखण्ड चैतन्य ज्ञानयज्ञ का अंगभूत यज्ञोपवीत है। वास्तविक यज्ञोपवीत वही है, उसी का वर्णन करते हुए यज्ञोपवीत को 'परम पवित्र, प्रजापति का सहज' आद आदि कहा गया है, उसके प्रतीकरूप में ही साधारण द्विज सूत का जनेऊ लटकाते हैं। क्योंकि चैतन्यरूप मुख्य यज्ञोपवीत विद्वान् यति के हृदय में सदा स्फुरमाण है इसलिये सुधी शास्त्रोक्त नियमानुसार शिखा-समेत सिर मुँडा कर बाह्य-द्रव्य से निर्मित गौण यज्ञोपवीत का त्याग करें यह उचित ही है। (सर्वत्र नियम है कि मुख्य उपलब्ध होने पर गौण का त्याग हो जाता है।)।।८२३।। केवल बाहरी सूत का जनेऊ ही नहीं, सारे ही दृश्यवर्ग को छोड़कर आकाशपर्यन्त प्रपंच का अधिष्ठान जो परब्रह्म, उसी सूत्र को धारण करना चाहिये, ब्रह्मनिश्चय पर स्थिर रहना चाहिये। लोक में भी सूत्रशब्द सूचक के लिये, प्रकाशक के लिये प्रचलित है, कपड़े को प्रकट कर देता है इसी से धागा भी सूत्र कहलाता है। अपने में निहित जगत् का प्रकाशक होने से, प्रकट करने वाला होने से परम पद अर्थात् ब्रह्म ही प्रधानतः 'सूत्र' है। इस सूत्र को जिसने जान लिया वह विप्र ही उसे पा लेता है जो वेद से भी परे परमार्थ तत्त्व है।।८२४।।

---

१. अयं ब्रह्मोपनिषदि द्वितीयखण्डे द्वितीयः श्लोकः।
२. 'सशिखमि' त्यादिवाक्यानि (८२३-५) तत्र यथावद् दृश्यन्ते। 'तत्त्वदर्शिवान्' इति तु तत्र पाठः। पुराणे (श्लो. ८२५) तत्त्वदृष्टिमान् इति कृतः।

बहिः सूत्रं त्यजन् विद्वान् योगमुत्तममास्थितः। ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद् यः स चेतनः।।८२६

धारणात् तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाऽशुचिर्भवेत्। सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते।।८२७

अग्नेरिव शिखा तद्वद् यस्य ज्ञानमयी शिखा। स शिखीत्युच्यते विद्वान् नेतरे केशधारिणः।।८२८

कर्मण्यधिकृता ये वै वैदिके ब्राह्मणादयः। तैर्विधार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम्।।८२९

उक्तवेत्तारं प्रशंसति[1]—बहिःसूत्रमिति। उत्तमम् ऐक्यदर्शनलक्षणं योगम् आस्थित आलम्ब्य स्थितो विद्वान् कुशलो यो बहिः सूत्रं त्यक्त्वा इदं वर्णितं सूत्रं धारयेत् स एव चेतनो लब्धचेतनत्वफलः, इतरे तु विद्वांसोऽपि रङ्गकुड्याश्मसमाः ! इत्यर्थः। कीदृशमिदं सूत्रम् ? ब्रह्मभावं ब्रह्मणो भावः प्रादुर्भावरूपा सत्ता यत्र तत्तथा।।८२६।। उक्तसूत्रेण सदा पवित्रतामागेव भवतीत्याह—धारणादिति। येषाम् उक्तं सूत्रमन्तर्गतं हृदि प्रकाशमानं भवेत्तेषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनां ज्ञानमेव परं प्रधानं, न कर्म। तेषां शारीराद्येनसां पवित्रं शोधकमपि ज्ञानम् एवेत्यर्थः। तथा च स्मृतिः—'न हि ज्ञानेन सदृशम्' इत्यादिः।।८२७।।

उपवीतन्यायं शिखायां दर्शयति—अग्नेरिवेति। यथाऽग्नेः शिखा अग्नेः स्वरूपाद् अन्या न भवति तथा यस्य नित्यविज्ञानरूपा शिखा स्वरूपाद् अन्या न भवति स एव मुख्यः शिखी। ज्ञानस्य शिखात्वं च 'शिरसि मूर्द्धनि ख्याता' इति व्युत्पत्त्या पृषोदरादित्वाच्च निष्पन्नेन शिखाशब्देन सर्वोत्तमत्वाऽभिधानाद्; उत्तमत्वगुणयोगाद् वा बोध्यम्। इतरे ज्ञानहीनास्तु न शिखिनः, केशधारित्वस्य स्त्रीशूद्रादावतिप्रसक्तत्वेन शिखित्वाऽप्रयोजकत्वाद् इत्यर्थः।।८२८।।

तर्हि सर्वैः बाह्यशिखोपवीते हातव्ये इति चेद् ? न। 'यादृशो यक्ष' इतिन्यायेन बाह्यकर्माधिकारिभिः तत्तत्कर्माङ्गत्वेन बाह्योपवीतादीनां धारणमेव कर्तव्यम् इत्याह—कर्मणीति। विधार्यं विशेषेण धार्यम्। इदं बाह्यम्।।८२९।।

सबके आधार जिस चिदात्मा से सारा दृश्य व्याप्त है, जिसमें स्थित है, उस व्यापक वस्तु को योगी धारण करे। मणियाँ जैसे धागे में स्थित रहती हैं, धागा उनमें व्याप्त रहता है वैसे नाम-रूप-कर्म आत्मा में स्थित हैं, आत्मा उनमें व्याप्त है। पूर्वोक्त (श्लो. ४५२) छहों अंगों वाले योग का अनुष्ठाता तथा नित्यानित्यवस्तुविवेक से संपन्न योगी उस आत्मा में ही निष्ठा रखे।।८२५।। एकता का दर्शनरूप उत्तम योग के सहारे स्थित जो कुशल साधक बाहरी सूत्र छोड़कर उक्त आत्मसूत्र को धारण करता है उसी ने चेतन होने का फल पाया है, बाकी लोग तो चेतन होकर भी जड जैसे ही हैं। वास्तविक सूत्र वही है जिसमें व्यापकता सुव्यक्त रहे।।८२६।। आत्मसूत्र जिनके हृदय में प्रकाशमान रहता है उन ज्ञानयज्ञोपवीतियों के लिये ज्ञान ही प्रमुख है, कर्म नहीं। उस सूत्र को धारण कर लेने पर व्यक्ति उच्छिष्ट और अशुचि नहीं होता। शरीरादि से होने वाले पापों का वह ज्ञान ही शोधक भी बनता जाता है क्योंकि स्वयं भगवान् ने बताया है कि ज्ञान जैसा पवित्र कुछ नहीं है।।८२७।। जैसे अग्नि की शिखा (लौ का ऊपरी-छोर) अग्नि के स्वरूप से अन्य नहीं होती वैसे नित्य-विज्ञानरूप शिखा जिसके स्वरूप से अन्य नहीं होती वही प्रधानरूप से शिखावान् है। केवल केशपुंज धारण कर लेने से कोई शिखाधारी नहीं हो जाता। (शिखा सर्वोत्तम को कहते हैं, ज्ञान ही सर्वोत्तम होने से शिखा है।)।।८२८।।

---

१. 'बहिः सूत्रं त्यजेद् विद्वान्..यज्ञोपवीतिनाम्।' इत्यनंतरं ब्रह्मोपनिषदि एकः श्लोकः। ततः 'ज्ञानमेव..। अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य...।।...ये तु..। तैः सन्धार्य...।। शिखा...।। इदं..परायणम्। स विद्वान् यज्ञोपवीती स्यात् स यज्ञस्तं यज्विनं विदुः।।' इति तत्र श्लोकाः।

शिखा ज्ञानमयी यस्य ह्युपवीतं च तन्मयम्। ब्राह्मण्यं सकलं तस्येत्येवं ब्रह्मविदो विदुः।।८३०
इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत् परायणम्। सर्वदा विधृतं येन विदुषा स्वात्मबोधतः।
स विद्वान् उपवीती स्याद् यज्वा यज्ञश्च देहिनाम्।।८३१

ज्ञानमावश्यकम् (परमहंसोपनिषद्व्याख्या)

संन्यासेऽपि कृते तद्वद् विधृते वैणवेऽपि च। दण्डे नैव तु दण्डित्वं मुख्यं ज्ञानं विना भवेत्।।
यस्मात् परमहंसाख्या श्रुतिरेवं जगौ हि सा।।८३२
'ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते। काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः।
स याति नरकान् घोरान् महारौरवसंज्ञकान्'।।८३३
यस्मादेवं ततो ज्ञानं करणीयं सदाऽमुना। आत्मनो ब्रह्मणो येन भेदधीर्नैव जायते।।८३४

उपवीतस्य मुख्यत्वगौणत्वाभ्यां तत्प्रयुक्तब्राह्मण्यस्याऽपि मुख्यत्वगौणत्वे दर्शयन् मुख्यं ब्राह्मण्यं ज्ञानिनामाह—शिखेति। यस्य पुरुषस्य शिखा उपवीतं च इत्युभयं ज्ञानमयं तस्य एव ब्राह्मणत्वं सकलं पूर्णं मुख्यम् इति यावत्। इत्थं वेदतात्पर्यविदः प्राहुरिति।।८३०।। तत्र हेतुतया ब्राह्मणपदस्य व्युत्पत्तिम्—आत्मानं ब्रह्म सर्वात्मकं वेत्ति—इत्याकारां सूचयन्नाह—इदमिति। इदं ज्ञानरूपम् उपवीतं परमं सर्वोत्कृष्टं परायणं ब्रह्मरूपेण सर्वाधिष्ठानभूतं च यद् भवति तद् येन विदुषा स्वात्मसाक्षात्कारलक्षणव्यापारेण विधृतं स विद्वान् एव उपवीती प्रशस्तोपवीतवान् भवेत्। एतदुपलक्षणम्—पदार्थान्तरात्मताया अपीति।।८३१।।

ज्ञानात्मकोपवीतादिलक्षणं ब्राह्मण्यं परमहंसेन अवश्यं सम्पाद्यम् इत्यर्थस्य दण्डोदाहरणेन प्रदर्शनपरं परमहंसोपनिषद्वाक्यमवतारयति—संन्यासेऽपीति। संन्यासे प्रैषोच्चारणलक्षणे कृतेऽपि वैणवे दण्डे धारितेऽपि च सति अस्य यतेः ज्ञानं विना दण्डित्वं दण्डमात्रेण न भवति यतः परमहंसधर्मप्रतिपादिका श्रुतिः उपनिषद् एवमाहेति।।८३२।। 'एवं' कथम्? इत्याकांक्षायां तद्वाक्यं पठति—ज्ञानेति। ज्ञानरूपो दण्डः। एकदण्डी परमहंसः। सर्वाशी विषयलम्पटः। स्फुटमन्यत्। एतेन 'खल्वहं ब्रह्म सूत्रम्' इत्यादिकारुणिकवाक्यार्थोऽपि संगृहीत इति बोध्यम्।।८३३।। फलितमाह—यस्मादिति। यस्माद् एवं श्रुतयः प्रतिपादयन्ति तस्माद् अमुना परमहंसेन ज्ञानं श्रवणादिद्वारा सम्पाद्यमिति। तच्च ज्ञानम् ऐक्यविषयकमेवेत्याह—आत्मन इति।।८३४।।

जो ब्राह्मणादि विवेकादि साधनसंपत्ति से रहित हैं अतः वैदिक कर्मकाण्ड के ही अधिकारी हैं उन्हीं को बाहरी शिखा-सूत्र धारण करना चाहिये क्योंकि बाह्य सूत्रादि कर्म के अंगरूप से आवश्यक हैं। (अर्थात् ज्ञानात्मक प्रधान है सुनकर अनधिकारी गौण शिखादि न छोड़ दे वरन् गौण के सहारे प्रधान का अधिकारी बनने की कोशिश करे और अधिकारसंपन्न होकर बाह्य का परित्याग करे।)।।८२६।।

ब्रह्मवेत्ताओं का मानना है कि संपूर्ण ब्राह्मणता उसी की है जिसके शिखा-उपवीत ज्ञानमय हैं।।८३०।। जो ज्ञानात्मक उपवीत सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिष्ठान है उसे जिसने स्वात्मरूप से साक्षात् अपरोक्ष कर लिया वही विद्वान् श्रेष्ठ उपवीत से विभूषित है। समस्त देहधारियों में वही मुख्य यज्ञकर्ता तथा स्वयं भी यज्ञरूप है।।८३१।। (यहाँ तक ब्रह्मोपनिषत् समझायी। अब परमहंसोपनिषत् का विषय स्पष्ट करेंगे।)

संन्यास-संस्कार संपन्न कर लेने पर एवं बाँस का दण्डा धारण कर लेने पर भी तत्त्वज्ञान के बिना मुख्य दण्डिता प्राप्त नहीं होती। 'परमहंसोपनिषत्' में यह तथ्य प्रकाशित किया गया है।।८३२।। जिसने ज्ञानरूप दण्ड धारण किया है वह एक दण्ड धारण करने वाला परमहंस कहलाता है। ज्ञान के बिना केवल लकड़ी का दण्डा धारण कर जो विषयलम्पट है वह महारौरव नामक नरकों को जाता है।।८३३।। अतः परमहंस को वह ज्ञान अवश्य प्राप्त कर हमेशा स्फुरमाण रखना चाहिये जिसके रहते आत्मा और ब्रह्म में भेदबुद्धि उत्पन्न न हो।।८३४।।

आत्मा ब्रह्म

आत्मनो ब्रह्मरूपत्वम् असकृत् कथितं मया। तुभ्यं पुनश्च वक्ष्यामि ज्ञानाद्यस्य कृती भवेत्।।८३५
अविद्यया सदा शून्यं परब्रह्मेति कीर्तितम्। आनन्दात्मस्वरूपं यत् स्वस्मिन्नेव सदा स्थितम्।।८३६
अद्वयं भेदगन्धेन रहितं तत एव हि। पूर्वदोषविनिर्मुक्तं निश्चलं गगनोपमम्।।८३७
इदमेवाहमात्माऽस्मीत्येतद् मे स्थानकं परम्। इदमेव स्वयं ज्योतिर्मत्तो भेदविवर्जितम्।।८३८
इदं शिखोपवीतं च तथा दण्डक एव च। न ब्राह्मो वैणवो दण्डो मुख्यो मेऽद्य कदाचन।।८३९
पूर्णानन्दैकरूपेऽस्मिन् यदैवमवतिष्ठते। कृतकृत्यस्तदा पश्येत् परं ब्रह्मात्मरूपतः।।८४०

पारमहंस्यसम्पाद्यस्य ब्रह्मात्मैक्यज्ञानस्य अभिनयपरं यत् 'स स्वयमेवावस्थितिः'[1] इत्यादिपरमहंसोपनिषद्वाक्यं, तस्यार्थमवतरणपूर्वकमाह—आत्मनो ब्रह्मेति सप्तभिः। कृती कृतार्थः।।८३५।। अवतारितवाक्यार्थं दर्शयति—अविद्ययेत्यादिना। यद् नित्यबोधरूपत्वेन अविद्यया सदा हीनमिति कीर्तितं तद् ब्रह्म आनन्दमय आत्मन्येवैक्येन सदा स्थितं न तटस्थमित्यर्थः।।८३६।। अद्वयमिति। कीदृशं तद् ब्रह्म ? प्रशान्तसर्वभेदत्वाद् अद्वयम्। अत एव सर्वविकारैः क्रियया च वर्जितमिति।।८३७।। इदमेवेति। यद् 'अविद्यया सदा शून्यम्' इत्यादिना (८३६) वर्णितं तद् इदम् अपरोक्षं वस्तु अहम् एवाऽस्मि आत्मत्वाद् इति पूर्वेण सम्बन्धः। तत आत्मरूपाद् भिन्नत्वे हि मम अनात्मत्वं स्याद् इति भावः। अभेदफलमाह—एतन्म इति। तथा इदमेव तत्त्वं मत्तो भेदविवर्जितं स्वयंप्रकाशत्वात्। न हि प्रत्यग्भिन्नस्य दृश्यस्य स्वयं प्रकाशत्वं संभवतीति भावः।।८३८।।

न केवलमुक्तं ब्रह्म मम स्वरूपमेव किन्तु मम सर्वोपकरणात्मकं तदुपलक्षितसर्वप्रपञ्चात्मकं चेत्याह—इदं शिखेति। इदं ब्रह्मैव ज्ञानात्मकं मम शिखादिरूपमित्यर्थः। तत्र ज्ञानरूपब्रह्मण एव सविलासाऽज्ञानदमनाद् मुख्यं दण्डत्वं, काष्ठमयस्य तु मनोनियमनस्मारकस्य गौणं तद् इत्याह—न ब्राह्म इति। ब्राह्मः ब्राह्मणं प्रति धारणीयत्वेन विहितः।।८३९।। उक्तभावनाफलं तु ब्रह्मसाक्षात्कार एवेत्याह—पूर्णेति। कृतकृत्यो निवृत्तकर्माधिकारः सन् परं ब्रह्म पश्येद् आत्मरूपतयेत्यर्थः।।८४०।।

आत्मा ब्रह्मरूप है यह मैं कई बार बता चुका हूँ अब फिर बता देता हूँ क्योंकि इस तथ्य के ज्ञान से जन्तु कृतार्थ हो जाता है।।८३५।। नित्यज्ञानरूप जो ब्रह्म हमेशा अविद्यावर्जित है वह आनंदमय आत्मा से अभिन्न ही है। वह किसी सभेद भूमिका पर स्थित नहीं है।।८३६।। नाम-रूपात्मक द्वय उस तत्त्व में है नहीं अतः न उसे किसी से भिन्न समझ सकते हैं और न उससे किसी को भिन्न समझ सकते हैं। (भेद सप्रतियोगी होने से प्रतियोगियों का भेदेन उल्लेख चाहता है और वह भेद नाम-रूपात्मक ही हो सकता है; 'आकाश' यह नाम और 'सशब्दता' यह रूप छोड़ दें तो आकाश का भेदेन उल्लेख कैसे होगा ! अतः ब्रह्म भेद से तो क्या उसकी गंध से भी रहित है।) वह गगन-सा निष्क्रिय आत्मा उन सब दोषों से रहित है जो तत्त्वज्ञान के उदय से पूर्व प्रतीत होते हैं।।८३७।। यही आत्मवस्तु मैं हूँ, यही मेरा पारमार्थिक अधिष्ठान है। यही स्वप्रकाश है, मुझसे इसमें कोई भेद नहीं।।८३८।। मेरा ही स्वरूप नहीं, सारा प्रपंच ही यह ब्रह्म ही है : यह ज्ञानात्मक ब्रह्म ही मेरी शिखा है और उपवीत है तथा यही मेरा दण्ड है क्योंकि सकार्य अज्ञान का यही दमन करता है। ब्राह्मण के लिये धारणयोग्य बताया दण्ड मुख्य रूप से दण्ड कभी नहीं हो सकता क्योंकि वह अज्ञानदमनरूप दण्डप्रयोजन सिद्ध करने में असमर्थ है।।८३९।। जब साधक उक्त निश्चय से इस पूर्ण आनंदस्वरूप में बना रहता है तब उसका कर्म में अधिकार समाप्त हो जाता है और तभी वह परब्रह्म का आत्मरूप से दर्शन पा सकता है।।८४०।। कवि जिसे देखते हैं वह सर्वोत्कृष्ट अन्वेषणीय वस्तु भूमा है। सभी देहधारियों के हृदय में स्थित

१. 'यतस्तद्पुरपध्वस्तं संशयविपरीतमिथ्याज्ञानानां यो हेतुस्तेन नित्यनिवृत्तस्तन्नित्यबोधः तत्स्वयमेवावस्थितिः' (परम. २)।

सूरयो यत्तु पश्यन्ति व्याप्तं तत् परमं पदम्। चक्षुर्वद्देहिनां ज्योतिः स्वप्रकाशं हृदि स्थितम्।।८४१

परिशिष्टब्रह्मोपनिषद्व्याख्या

आत्मनोऽस्याऽवगत्यर्थं त्वंपदार्थस्य तेऽधुना। ब्रह्मोपनिषदि प्रोक्ता अवस्थाः कथयाम्यहम्।।८४२
निरवस्थः पुमानेष आनन्दात्मा स्वयंप्रभः। मायामयीरवस्थास्ताश्चतुर्धा याति सर्वदा।।८४३
तासां स्थानानि चैतानि कथितानि मनीषिभिः। नाभिश्च हृदयं तद्वत् कण्ठो मूर्द्धा तथैव च।।८४४
नाभेर्नेत्रान्तमुद्दिष्टं स्थानं जागरणे सदा। सुप्तिस्वप्नतुरीयाणि हृदि कण्ठे च मूर्द्धनि।।८४५
अत्र जागरणे स्वप्ने सुप्तौ चैव तुरीयके। ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च परमात्मा च देवताः।।८४६

'तन्नित्यबोध' इत्यस्याऽर्थमाह—सूरय इति। यद् ब्रह्म विदुषामपरोक्षं सर्वत्र व्याप्तम् आनन्दरूपत्वेन परमं सर्वोत्कृष्टं पदम् अन्वेषणीयं वस्तु, यच्च अविदुषामपि हृदि स्थितं सत् ज्योतिः सर्वार्थप्रकाशकं तस्याऽज्ञायमानत्व-लक्षणनिलीनत्वेन प्रकाशकत्वे दृष्टान्तः चक्षुः। तद्धि स्वरूपसदेव प्रकाशयतीत्यर्थः।।८४१।।

त्वम्पदार्थशोधनप्राधान्येन ब्रह्मप्रतिपादिकाया ब्रह्मोपनिषदोऽर्थं वर्णयति—आत्मन इति ऊनत्रिंशत् श्लोकैः। त्वम्पदार्थस्य प्रत्यग्रूपस्य अवगतिः स्फुटत्वं तदर्थं ब्रह्मोपनिषदुक्ताश्चतस्रः अवस्थाः शृण्विति।।८४२।। निरवस्थइति। अयं य वस्तुतो निरवस्थः अवस्थाख्यपरिणामरहितोऽपि मायावशेन ताः प्राप्नोतीत्यर्थः। तत्र तुरीयस्य परमार्थत्वेऽपि तुरीयतायाः पूर्वपिक्षत्वेन कल्पितत्वमिति भावः।।८४३।। तासामिति। तासाम् अवस्थानां जाग्रदादीनां चतसृणां नाभ्यादीनि[1] क्रमेण स्थानानि बोध्यानि इत्यर्थः।।८४४।। नाभेरिति। 'नेत्रस्थं जागरं विद्याद्' इत्यन्यत्र (ब्रह्मोप. ४) उक्तेस्तदुपसंहारेण नाभिनेत्रपर्यन्तदेशे विज्ञानशक्त्युपाधिको जीवो यदा विशेषतः स्थितो भवति तदा विश्वसंज्ञाप्रयोजिकां जागरावस्थां भजत इति प्रथमदलार्थः। हृत्कमले तिष्ठन् प्राज्ञत्वप्रयोजिकां सुषुप्तिं, कण्ठे तैजसत्वप्रयोजकं स्वप्नं, मूर्द्धनि तु समाधिना तिष्ठंस्तुरीयतां भजत इत्यर्थः।।८४५।। अत्र जागरण इति। क्रमो विवक्षितः। देवता अधिदैवरूपाणि। तथा च जागरणशालिनो विश्वस्य ब्रह्मा विराड्रूपोऽधिदैवं, स्वप्नस्य विष्णुः हिरण्यगर्भरूपः, सुप्तेः रुद्रः, तुरीयस्य परमात्मा इत्यर्थः।।८४६।।

वही स्वप्रकाश सारे अर्थों का प्रकाशक है। स्वप्रभ होकर भी वह शास्त्रकृपा से वंचित बहिर्मुखी लोगों को अज्ञात रहता है। स्वयं अज्ञात रहकर सारे संसार को कैसे प्रकाशित कर सकता है—यह नहीं पूछना चाहिये क्योंकि हम सब की चक्षुरिंद्रिय सब रूपों को प्रकाशित करने पर भी खुद को प्रकाशमान रूप से उपलब्ध नहीं करा पाती ! ऐसे ही परमात्मा है इतने से ही वह सबका प्रकाशन कर देता है, वह जाना जाये तभी प्रकाशन करे ऐसा नियम नहीं। बल्कि उसे जानने पर तो प्रकाश्य कुछ रहेगा ही नहीं जिसे वह प्रकाशित करे !।।८४१।।

(श्लो. ८३२-४१ तक परमहंसोपनिषत् के अनुसार वर्णन किया, अब पुनः श्लो. ८२२ में प्रक्रांत ब्रह्मोपनिषत् का व्याख्यान करेंगे।)

तत्त्वबोध के लिये त्वम्पदार्थ का शोधन ज़रूरी है। अतः इसमें उपयोगी अवस्थाचिंतन तुम्हें ब्रह्मोपनिषत् में कहे ढंग से समझाता हूँ :।।८४२।। यह स्वयम्प्रकाश आनंदस्वरूप पूर्णचैतन्य अवस्थाओं से रहित है पर अज्ञदशा में हमेशा यह चार तरह की मायिक अवस्थाएँ पाता रहता है।।८४३।। उन अवस्थाओं के स्थान नाभि, हृदय, कंठ और मूर्द्धा हैं।।८४४।। नाभि से नेत्र तक के स्थान में जब विज्ञानशक्तिरूप उपाधि वाला जीव विशेषतः स्थित होता है तब उसकी जाग्रद् अवस्था होती है जिसकी अपेक्षा से उसका 'विश्व' नाम पड़ता है। उक्त उपाधि वाला जीव हृदयकमल में रहने

१. 'अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति नाभिर्हृदयं कण्ठं मूर्धेति। तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति। जागरितं स्वप्नं सुषुप्तं तुरीयमिति। जागरिते ब्रह्मा, स्वप्ने विष्णुः, सुषुप्ते रुद्रः, तुरीये परमाक्षरम्' (ब्रह्मो. २)।

परमात्मरूपम्

परमात्मा चतुर्थो वै सर्वदेवादिरूपभाक्। कार्यकारणहीनोऽयमवाङ्मनसगोचरः।।८४७

आनन्दात्मा स्वयंज्योतिः स उक्तो वेदवादिभिः। यस्मिन् लोकाः कर्मफलं नलोका भेदवर्जिते।।८४८

देवा वेदास्तथा यज्ञा माताऽपि च पिताऽपि च। स्नुषेत्यादि ममाध्यासा न स्युस्तेऽप्यत्र लोकवत्।।८४९

चण्डालः पुष्कसस्तद्वत् संन्यासी च वनी तथा। इत्यादिकोऽयमध्यासो[1] मम नास्ति स्वभावतः।।८५०

अधमस्तूत्तमो वाऽहमेतानि करणानि मे। दुःखस्य च सुखस्याऽपि इह वाऽपि परत्र च।।८५१

तत्र परमात्मरूपं यथाश्रुति प्रतिपादयति[2] उपादानाय—परमात्मेत्यादिना। यः चतुर्थः परमात्मा स मायया सर्वरूपो वस्तुतः कार्यादिविशेषरहितो वागाद्यगोचरश्च बोध्य इत्यर्थः।।८४७।। आनन्दात्मेति। तथा स स्वयंप्रकाशानन्दरूप उक्तः। तत्र हेतुतयाऽद्वितीयत्वमाह—यस्मिन्निति। यस्मिन् कर्मफलरूपा लोका विषयाः नलोकाः लोकभावं परित्यजन्ति भेदवर्जितत्वाद् इत्यर्थः।।८४८।। देवा इति। यथा लोकैः अत्र तुरीये स्वभावस्त्यक्तः तथा देवादिभिरपि स त्यज्यते यतः ते मम त्वम्पदार्थस्य सम्बन्धिनोऽध्यासा आरोपितरूपा भवन्ति, न वास्तवा इत्यर्थः।।८४९।। चण्डाल इति। ब्राह्मण्यां क्षत्रियायां च क्रमेण शूद्राज्जातौ चण्डाल-पुष्कसौ। चण्डालान्ता जातयः, संन्यासादय आश्रमाश्च अत्र तुरीये मत्स्वरूपे न सन्तीति।।८५०।। अधम इति। अधमादि-कर्तृविशेषरूप, पर सुषुप्ति अवस्था और 'प्राज्ञ' नाम होता है तथा कण्ठ में रहने पर स्वप्न अवस्था एवं 'तैजस' नाम होता है। समाधि द्वारा जब जीव मूर्धा में रहता है तब उसकी अवस्था तुरीय है और उसे भी तुरीय नाम से ही कहते हैं।।८४५।। देवताओं समेत इनका संग्रह यह है—

	अवस्था	स्थान	नाम	देवता
१.	जाग्रत्	नाभि से नेत्र तक	विश्व	ब्रह्मा (विराट्)
२.	स्वप्न	(केवल) कण्ठ	तैजस	विष्णु (हिरण्यगर्भ)
३.	सुषुप्ति	हृदयकमल	प्राज्ञ	रुद्र (ईश्वर)
४.	तुरीय (समाधि)	मूर्धा	तुरीय	परमात्मा (ब्रह्म) ।।८४६।।

उक्त देवताओं में चौथे स्थान पर बताया परमात्मा ही अपनी माया शक्ति से सभी देवतादि रूप धारण किये है। वस्तुतः यह मन-वाणी से परे एवं कार्य-कारणभाव और स्थूल-सूक्ष्म आदि विशेषों से वर्जित है।।८४७।। वेदवादी उसे ही स्वप्रकाश आनंदात्मा कहते हैं। कर्मफलरूप समस्त विषय उस अभेदरूप आत्मा की भूमिका में विषयभाव छोड़ देते हैं। (अर्थात् पारमार्थिक स्थिति में कोई विषय नहीं है।)।।८४८।।

देव, वेद, यज्ञ, माता, पिता, स्नुषा (पुत्रवधू) आदि जिस किसी को 'मेरा' समझा जाता है वह इस परब्रह्म में वैसे ही नहीं है जैसे विषय नहीं है।।८४९।। चण्डाल, पुष्कस, संन्यासी, वानप्रस्थ इत्यादि जो कुछ 'मैं' समझा जाता है यह भी स्वभाव से मुझ परमार्थ आत्मा में नहीं है।।८५०।। अधम-उत्तम आदि कर्त्ता, अहंकारयुक्त मैं, मेरे इंद्रियादि करण, ऐहिक-आमुष्मिक सुख-दुःख के उपाय, स्वयं सुख-दुःख; संक्षेप में कहें तो जिस किसी का भी भेद कहा जाता है उस रूप वाला यह अनर्थरूप संसार मुझ तुरीय तत्त्व में नहीं है।।८५१-२।। सविलास महामोह रूप शरीर जिसमें

१. 'कोऽहमध्यास इति पिपठिषामि।

२. 'स आदित्यश्च विष्णुश्चेश्वरश्च स पुरुषः स प्राणः स जीवः सोऽग्निः सेश्वरश्च जाग्रत्तेषां मध्ये यत्परं ब्रह्म विभाति स्वयममनस्कमश्रोत्रमपाणिपादं ज्योतिर्वर्जितं न तत्र लोका नलोका वेदा न वेदा देवा न देवा यज्ञा न यज्ञा माता न माता पिता न पिता स्नुषा न स्नुषा चाण्डालो न चाण्डालः पौल्कसो न पौल्कसः श्रमणो न श्रमणः पशवो न पशवः तापसो न तापस इत्येकमेव परं ब्रह्म विभाति।' (२)

सुखं वाऽप्यथ वा दुःखं भेदश्चैव प्रकीर्तितः। संसारोऽयमपार्थोऽयं मयि तुर्ये न विद्यते।।८५२
एकमेव तु तद्ब्रह्म परं निर्वाणसंज्ञितम्। विशुद्धचेतसां नित्यं भाति स्वेनैव तेजसा।।८५३
ऋषयः पितरो देवास्तथाऽन्येऽपि महौजसः। तत्र केऽपीशते नैव तुर्ये देवे महेश्वरे।।८५४
यश्च जानाति तं देवं सर्वज्ञः कोऽपि कर्हिचित्। ऋष्यादीनां भवेन्नैव किङ्करोऽयमनाथवत्।।८५५
जगदीशस्तथा ज्ञाता ह्यस्माभिः कल्पितं द्वयम्। वस्तुतो नैव तद् द्वैतं पुरुषे विद्यते यतः।।८५६
एक एव स्वयंज्योतिर्गूढः काष्ठाग्निवत् सदा। चतुर्विधेषु भूतेषु कार्यकारणरूपिषु।।८५७
सर्वव्यापी यथाऽऽकाशो बुद्धेरप्यन्तरा स्थितः। अधिष्ठाय च भूतानि वसत्यत्र स राजवत्।।८५८

ऐहिकामुष्मिकसुखादि-साधनरूपः, सुखादि-फलरूपश्च यस्य भेद उक्तः स संसारो मयि तुरीये नास्तीति द्वयोरर्थः।।८५१-२।। एकमिति। निर्वाणं निर्गतं वाणं शरीरं सविलासाऽज्ञानरूपं यस्मात् तद् निर्वाणसंज्ञम्, शुद्धधियां स्वयंज्योतिष्ट्वेन भातीति।।८५३।।[1] ऋषय इति। अत्र तुरीये ऋष्यादयः केऽपि न ईशते नियमनं कर्तुं न शक्नुवन्ति इत्यर्थः।।८५४।। प्रतिबुद्धादिपदद्वयार्थमाह—यश्चेति। यस्तं कोऽपि कर्हिचिज्जानाति स सर्वज्ञः सन् सर्वविद्याफलम् ऋष्यादीनां कैङ्कर्याऽभावरूपं प्राप्नोति इत्यर्थः। 'यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत' (बृ. १.४.१०) इत्यादि श्रुत्युक्तसर्वविद्यापदे प्रथमा द्वितीयार्थे इति भावः।।८५५।।

उपवीतग्रन्थस्य प्रदर्शितार्थत्वात् तमतिक्रम्य 'एको देवे'[2] त्यादिमन्त्रार्थमाह—जगदीश इति। जगच्च ईशश्च ज्ञाता भ्रमप्रमयोराश्रयो जीवश्च एवंरूपं द्वयं द्वैतम् अस्माभिः मायामोहितैरेव कल्पितम्। वस्तुतः तु अत्र पुरुषे न अस्ति यतोऽयं काष्ठेषु अग्निवत् सर्वोपाधिषु गूढ एकः च भवति। तस्योपाधयस्तु जरायुजादिचतुर्विधभूतरूपाः। तत्र भूतविशेषणस्य कार्यकारणरूपित्वस्य अयमर्थः—दृष्टाऽदृष्टद्वारा पूर्वदेहं प्रति कार्यत्वम् उत्तरदेहं प्रति च कारणत्वम्। इति द्वयोरर्थः।।८५६-७।। सर्वेति। आकाशवत् सर्वव्यापी बुद्धेः अपिशब्दात् कारणशरीरस्याऽपि अन्तरा मध्ये प्रत्यक्त्वेन स्थितः। तथा सर्वभूतानि राजवदधिष्ठाय वशीकृत्य अत्र एषु भूतेषु स्थितः।।८५८।।

बाधित हो चुका है अतः जो 'निर्वाण' नाम से कहा जाता है वह अकेला अद्वैत परब्रह्म अपने ही ज्ञानतेज से उन्हें हमेशा भासता है जिनका चित्त विशुद्ध है।।८५३।। ऋषि, पितर, देव तथा अन्य महातेजस्वी लोग कोई ऐसे नहीं जो उस तुरीय महेश्वर देव पर शासन कर सकें।।८४४।। जो कोई भी उस देव को कभी भी जान लेता है वह सर्वज्ञ हो जाता है और अनाथों की तरह वह ऋषि आदि का किंकर (नौकर) नहीं बनता। (उनकी आज्ञारूप विधियाँ उस तत्त्वज्ञ पर लागू नहीं होतीं।)।।८५५।।

जगत्, ईश्वर और भ्रम-प्रमा का आश्रयभूत ज्ञाता—यह द्वैत माया से मोहित हमने ही कल्पित किया है। वास्तव में पूर्ण आत्मा में द्वैत है ही नहीं। जैसे काठ-खंडों में आग रहती है ऐसे सभी उपाधियों में इकलौता स्वयंज्योति ही छिपा है। जरायुजादि चारों तरह के प्राणियों में विद्यमान आत्मा एक ही है। वे प्राणी अपने ही कर्मों से पैदा होते रहते हैं अतः वे अपने ही पूर्व-पूर्व शरीरों की दृष्टि से कारण भी हैं और उत्तरोत्तर शरीरों की दृष्टि से कार्य भी हैं। अर्थात् पूर्वदेह की अपेक्षा उत्तरदेह कार्य है अतः पूर्वदेह कारण है। (जगत् आदि 'हमने' कल्पित किया है में 'हम' से समस्त प्रमाताओं का आधारभूत निर्विभाग चेतन ही समझना चाहिये।)।।८५६-७।। वह महान् आत्मा आकाश-सा सर्वव्यापक है, सूक्ष्मशरीर व कारण-शरीर से भी प्रत्यक् है तथा राजा की तरह सब भूतों को वश में कर उन भूतों में स्थित है। (राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी राजा के वश में भी होते हैं और 'शासन' के रूप में 'राजा' ही उन अधिकारियों में भी रहता है। ऐसे सब भूत प्रशासित भी हैं और सब में आत्मा है भी।)।।८५८।। मध्यस्थ, तटस्थ व्यक्ति की तरह वह

१. 'न तत्र देवा ऋषयः पितर ईशते प्रतिबुद्धः सर्वविदिति।' (२)
२. ब्रह्मोपनिषदि चतुर्थभागेऽयं मंत्रः श्वेताश्वतरवत्।

मध्यस्थ इव भूतानां व्यापाराननुपश्यति। चिद्घनः केवलो जाड्यलेशेनाऽपि विवर्जितः।।८५९
चेतनोऽपि पुमान्नाऽयं चैतन्यादिगुणः सदा। स्वभावान्निर्गुणो यस्माद् भेदगन्धविवर्जितः।।८६०
स्वामी सर्वस्य जगतः सर्वदा यो नियामकः। एकमेवाऽऽत्मनो रूपं कुरुते बहुधा च यत्।।८६१

विज्ञानोपायः

तस्यात्मनोऽत्र विज्ञान उपायं प्राहुरीदृशम्। स्वदेहं वाऽपि बुद्धिं वा ह्यरणिं प्रविचिन्तयेत्।।
चतुर्मात्रं तथोङ्कारमात्मानमुत्तरारणिम्।।८६२

मध्यस्थ इति। मध्यस्थः साक्षी। चेतृपदार्थमाह—चिद्घन इति।।८५९।। तृच्प्रत्ययान्तं चेतृपदं तस्य ज्ञानरूपस्य ज्ञानाश्रयत्वं वक्तुं न क्षमते; प्रमेयतन्त्रत्वाद्, निर्गुणपदसमभिव्याहाराच्च इत्याशयेनाह—चेतन इति। चेतनः चैतन्याश्रयवाचकेन चेतृपदेनोक्तोऽपि चैतन्येच्छादिगुणाश्रयो न भवति, निर्गुणत्वाद्; अद्वितीयत्वाच्च अस्मिन् गुणगुणिभावस्य असम्भवाद् इत्यर्थः।।८६०।।

'एको वशी'[1] त्यादिमन्त्रपूर्वार्द्धस्य अर्थमाह—स्वामीति। यद् यतः स्वरूपमेव बहुधा कुरुतेऽतः सर्वस्य स्वामी नियामक इति यावत्, विकारस्य उपादानाऽधीनताया न्याय्यत्वाद् इति भावः।।८६१।। 'आत्मानम्' इत्यादेरर्थमाह—तस्येति। तस्यात्मनः साक्षात्कारेऽयमुपाय उक्तः। 'अयं' कः ? आत्मपदोक्तं देहादिसङ्घातं बुद्धिं वाऽधरारणिं चिन्तयेत्। अकारोकारमकारार्द्धमात्रारूपमात्राचतुष्टयशालिनं प्रणवम् आत्मानं मात्राभिः विश्वेत्यादिचतुरवस्थस्य आत्मनः प्रतिपादकम् उत्तरारणिं चिन्तयेद् इति।।८६२।। मात्रेति। पादा विश्वादयः

चिद्घातु भूतों के व्यापारों का अनुदर्शन ही करता रहता है। उसमें जडता की एक रेखा भी नहीं है।।८५९।। यह आत्मपुरुष चेतन है लेकिन चैतन्यादि कोई इसका 'गुण' नहीं है क्योंकि यह स्वभाव से निर्गुण और अद्वितीय है। ('गुण' अर्थात् जो किसी अन्य 'का' प्रतीत हो, जैसे घड़े का गुण लाल रंग होता है। गहन विचार करें तो यह 'का'-प्रतीति (सम्बंधप्रतीति) निराधार ही है क्योंकि परस्पर स्वतंत्र दो अर्थों का कोई सम्बंध इस प्रतीति का विषय नहीं, एक ही वस्तु को 'घड़ा' और 'लाल' समझ कर उन दो अनुभवों की उपाधियों से घड़ा और लाल में भेद मानकर फिर उनका सम्बंध समझा जा रहा है ! एवं च सभी वस्तुएँ केवल स्व-भाव से तो निर्गुण ही होती हैं, गुणगुणिभाव औपाधिक ही होता है। अतः निरुपाधिक पारमार्थिक स्तर पर आत्मा निर्गुण ही हो सकता है। परमात्मा ही ज्ञान है। घड़े में बेर की तरह परमात्मा में ज्ञान नहीं।)।।८६०।।

क्योंकि अपने रूप को बहुत प्रकार का बनाये हुए यह एक ही है इसलिये यही सारे जगत् का नियंता, मालिक है। (कार्य अपने उपादान कारण के अधीन प्रसिद्ध ही है।)।।८६१।। उस आत्मा के अनुभव के लिये उपनिषदों में ऋषियों ने ऐसा उपाय बताया है : अपने देहादि-संघात को अथवा अपनी बुद्धि को अधरारणि समझे और आत्मप्रतिपादक मात्रा चतुष्टयवान् ओंकार को उत्तरारणि समझे। (मात्राचतुष्टय अर्थात् अकार-उकार-मकार-अर्धमात्रा। इनसे विश्वादि चार अवस्थाओं वाले आत्मा को कहते हुए समस्त प्रणव अखण्ड आत्मा का बोधक है। यज्ञार्थ अग्नि उत्पन्न करने के लिये शमी की लकड़ी से दो हिस्सों का यंत्र बनाया जाता है, एक हिस्सा नीचे स्थिर रखकर दूसरे हिस्से को उसके ऊपर रखकर दही मथने की तरह यों चलाया जाता है कि दोनों टुकड़े आपस में रगड़ें ताकि चिनगारी निकले जिससे रुई जला ली जाये और उस आग से यज्ञकाष्ठ जलाये जायें। उक्त यन्त्र का निचला भाग अधरारणि तथा ऊपर का भाग उत्तरारणि कहा जाता है। शरीर या बुद्धि और प्रणव में ये दृष्टियाँ करनी हैं।)।।८६२।। मात्राओं और पादों को

१. 'एको मनीषी निष्क्रियाणां बहूनामेकं सन्तं बहुधा यः करोति। तमात्मानं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।। आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येद् निगूढवत्।।' (४)। इति नारायणपाठः। पुराणकृद्दीपिकापाठस्तु 'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा' इत्यादिः। अयं च कठ. ५.१२ सदृशः। नारायणीयश्च श्वेताश्व. ६.१२ सदृशः।

मात्रापादाद्यभेदेन ध्यानेन मथनेन हि। अभ्यस्यतोऽयमात्मा स्याद् निगूढः प्रकटः सदा।।८६३
अरण्योर्मथनाद् यद्वदग्निः सर्वप्रदाहकः। अविश्वासो न कर्तव्य आविर्भावे निजात्मनः।।८६४
यथा यन्त्रादिपीडात उपायाल्लभ्यते नृभिः। तैलादिकं तथात्माऽपि तपःसत्यादिसंयुतैः।।
आत्मज्ञैर्लभ्यते शश्वद् बुद्धौ स्वस्य निजात्मतः।।८६५
जीवतां परिगृह्याऽयम् आनन्दात्मा स्वयंप्रभः। संसारे वर्तते ज्ञातो जीवोऽजीवः प्रजायते।।८६६
ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून् सृजते संहरत्यपि। जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवः सृजत्यत्ति च सर्वदा।।८६७
अजीवता तदा तस्य जीवस्याऽस्य भविष्यति। आनन्दात्मानमात्मस्थं यदाऽयमवलोकयेत्।।८६८

तुरीयान्ताः प्रत्येकम् अधिदैवादिभिन्ना माण्डूक्ये प्रोक्ताः तेषां मात्राभिः यथाक्रमम् अभेदेन चिन्तनमेव मथनं, प्रकृत्यादित्वात्तृतीया; तथा चोक्तध्यानात्मकमथनरूपाऽभ्यासेन अयमात्मा गूढोऽपि प्रकटः स्याद् अत्र न संशयः। इति द्वयोरर्थः।।८६३-४।।

'तिलेषु'[1] इत्यादेरर्थमाह—यथेति। यथा यन्त्रादिना निपीडनमथनादिरूपोपायवद्भिः तैलं घृतं च लभ्यते तथा तपःसत्यविवेकाद्युपायवद्भिः बुद्धिसाक्ष्यात्माऽपि निजात्मतः स्वरूपत्वेन; निजात्मभिः—इति पाठे—निजे स्वरूपे आत्मा मनो येषां ते तथा तैरित्यर्थः।।८६५।। 'ऊर्णे'[2] त्यादेरर्थमाह—जीवतामिति द्वाभ्याम्। अयम् आत्माऽविद्यया जीवत्वं परिगृह्य संसारे जाग्रदादिरूपे भ्रमति। ज्ञातस्तु पूर्वं जीवोऽपि सन् अजीवो ब्रह्मरूपः प्रजायत इत्यर्थः।।८६६।। जाग्रदादयोऽवस्थाः तद्गताः पदार्था उपलक्षिताः तेऽनेनैव कल्पिता इति सदृष्टान्तमाह—ऊर्णेति। अत्ति संहरति।।८६७।।

ज्ञेयप्रतिपादकमन्त्यवाक्यमवतारयति[3]—अजीवतेति। यदा अद्वयमात्मानं पश्येत् तदा एव अजीवता ब्रह्मताऽस्य भवति इत्यर्थः।।८६८।। अस्यात्मनो विज्ञानमपि अविषयतया आनन्दरूपतया चेत्याह—यत इति। अभिन्न समझने का ध्यान यहाँ मन्थन है जिसके अभ्यास से यह छिपा आत्मा हमेशा प्रकट होता है। (मात्राएँ अकारादि और पाद विश्वादि हैं जो अधिदैव आदि रूप में बँटे हैं। इनका वर्णन माण्डूक्य या पंचीकरण-प्रकरण से समझ लेना चाहिये। सभी विभाजनों वाले पादों का तत्तद् मात्रा से अभेद-चिंतन कर फिर मात्राओं का क्रमशः अभेदचिंतन करते हुए आत्ममात्र का ध्यान कर्तव्य है।)।।८६३।। अरणियों के मंथन से सर्वदाहक वह्नि जैसे प्रकट होती है ऐसे उक्त मंथन से अज्ञानघस्मर विद्योपाधि आत्मा प्रकट होता है। निज स्वरूप के उस अनावरण पर अविश्वास नहीं करना चाहिये। (निश्चित आशापूर्वक यत्नशील रहना चाहिये एवं आविर्भाव होने पर संशयादि से उसे ग्रस्त नहीं कर देना चाहिये। संशयनिवारण श्रवणमनन से होगा, ध्यान से नहीं अतः श्रवणमनन से संशय मिटाकर ध्यान में प्रवृत्त होना उचित है। श्रवणादि के साथ-साथ भी ध्यान करना उपकारी है पर संशयनिवृत्ति ध्यान से नहीं होगी यह भाव है।)।।८६४।।

जैसे कोल्हू आदि यंत्र में पेरने आदि उपाय से लोग तेल आदि प्राप्त कर लेते हैं वैसे आत्मज्ञ साधक तप सत्य आदि उपायों से आत्मा को अपनी बुद्धि में आत्मरूप से सदा विराजमान जान लेते हैं।।८६५।। यह आत्मा अविद्यावश जीवरूपता ग्रहणकर जाग्रदादि संसार में भ्रमण कर रहा है। जब यह जान लिया जाता है तब यह अजीव अर्थात् ब्रह्म 'हो' जाता है। ज्ञानमात्र से यह अजीव इसीलिये हो पाता है कि पहले यह भ्रम से ही जीव था, वास्तव में तब भी अजीव ही था।।८६६।। मकड़ी जाला उत्पन्न और नष्ट स्वयं ही कर लेती है, ऐसे ही जीव जाग्रत्-स्वप्न को (और इन अवस्थाओं के पदार्थों को) स्वयम् ही उत्पन्न और उपसंहृत करता रहता है। (जीव अर्थात् प्रत्यगात्मा। इस विषय में संक्षेपशारीरक २.२२२ आदि सन्दर्भ दर्शनीय है। पुराणकार प्रथमाध्याय में एकजीववाद, दृष्टिसृष्टि आदि प्रसंगों में

१. अयमपि ब्रह्मचतुर्थखण्डे श्वेताश्वतरवत्।
२. 'ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून् सृजते संहरत्यपि। जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः।।' (४)।
३. 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दमेतज्जीवस्य यं ज्ञात्वा मुच्यते बुधः।।'(४)।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दत्वं च जीवस्य तज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः।।८६९
सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिव स्थितम्। आत्मविद्यातपोमूलं जीवो ज्ञात्वा विमुच्यते।।
मनसो निग्रहे नित्यं नान्यथा जन्मकोटिभिः।।८७०

अमृतबिन्दूपनिषद्व्याख्या

एतत्तेऽमृतिबिन्दूक्तमहं वक्ष्यामि तच्छृणु। मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाऽशुद्धमेव च।।
अशुद्धं कामसहितं शुद्धं कामविवर्जितम्।।८७१
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयाऽऽसक्तं मोक्षे निर्विषयं स्मृतम्।।८७२

वाचः वागादीन्द्रियाणि मनश्च एतानि अप्राप्य अविषयी कृत्य यतो निवर्तन्ते, यतश्च ज्ञातात् जीवस्यानन्दत्वम् आनन्दरूपत्वं प्रकटी भवति तज्ज्ञात्वा बुधो विवेकी मुच्यते मुक्तो भवतीत्यर्थः।।८६९।।

उत्तराकाङ्क्षामुत्थापयन्नुपसंहारवाक्याऽर्थमाह[1]—सर्वेति। आत्मविद्या उपासना, तपः शास्त्रोक्तं कर्म ताभ्यां कर्मोपासनफलात्मकः संसारः उपलभ्यते। तस्य सर्वस्य मूलं कारणं क्षीरे सर्पिरिव सर्वत्रानुगतम् आत्मानं ज्ञात्वा मनसो निग्रहे कृते सति विमुच्यते, नान्यथेत्यर्थः। क्षीरसर्पिर्दृष्टान्तेन च मुक्तस्य पुनर्बन्धाभावः सूचितः। यद्वा आत्मविद्या च तपश्च एते मूलं प्रादुर्भावसाधनं यस्य तमिति; तदुक्तं 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' (ई. ११.) इति।।८७०।।

उक्तार्थे मानभूताया ब्रह्मबिन्दूपनिषदोऽर्थं गौडपादवाक्यादिभिः त्रिचत्वारिंशदधिकश्लोकशतेन उपबृंहयितुं प्रतिजानीते—एतत्त इति। एतद् आत्मज्ञान-मनोनिग्रहयोः मोक्षप्रयोजकत्वम् अमृतबिन्दुर्नाम[2] ब्रह्मबिन्दूपनिषत्, अमृतशब्द-ब्रह्मशब्दयोः समानार्थत्वात्। तत्र यथा प्रतिपादितं तच्छृणु। तत्र निग्रहयोग्यं मनो निर्धारयितुं तद्-द्वैविध्यं सलक्षणमुच्यते—मनो हीत्यादिना। शुद्धिः सत्कर्मोपासनाभ्यां मलक्षयः तल्लक्षणं कामनिवृत्तिः[3]। कामो विषयरागः।।८७१।। तत्र शुद्धस्य मोक्षोपयोगितामन्वयव्यतिरेकाभ्यामाह—मन एवेति। बन्धोऽहंममेत्यादि-रध्यासः। मोक्ष[4] आत्मयाथात्म्यावभासः। निर्विषयं वीतरागं मोक्षे प्रयोजकमिति शेषः।।८७२।। फलितमाह—यत

भी यह स्पष्ट कर चुके हैं।)।।८६७।। जब यह आत्मरूप से स्थित आनंदात्मा का अवलोकन कर लेता है तभी इस जीव की अजीवता हो जाती है।।८६८।। इस आत्मा का विज्ञान भी विषयरूप से नहीं होता, व्यापक आनंद रूप से ही होता है। वाणी आदि इंद्रियाँ और मन इसे विषय करने की कोशिश करके भी इसे विषय किये बिना ही रह जाते हैं। इसीके ज्ञान से जीव की आनंदरूपता प्रकट होती है। उसी आत्मा को जानकर विवेकी मुक्त होता है।।८६९।। दूध में घी की तरह आत्मा सर्वव्यापक है। आत्मज्ञान और तप उसकी प्राप्ति का मूल उपाय है। मन का निग्रह करने पर ही जीव उसे जान पाता है और ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त करता है। ज्ञान के बिना करोड़ों जन्मों में भी मोक्ष संभव नहीं।।८७०।।

(यहाँ तक ब्रह्मोपनिषत् समझायी। अब गौडपादकारिकाओं से उपबृंहित करते हुए ब्रह्मबिंदूपनिषत् समझायेंगे। इसी का अमृतबिंदु भी नाम है।)

आत्मज्ञान और मनोनिग्रह मोक्ष के हेतु हैं यह बात अमृतबिन्दूपनिषत् में स्पष्ट की गयी है। अब मैं उसी का विषय समझाता हूँ, सुनोः। मन दो तरह का बताया गया है—शुद्ध और अशुद्ध। कामनायुक्त मन अशुद्ध है और कामनारहित

१. 'सर्व...मूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम्। सर्वात्मैकत्वरूपेण तद्ब्रह्मोपनिषत्परमिति' इत्यन्तवाक्यम्।

२. पुराणकार उक्तोपनिषद्दीपिकामंगलेऽपि 'व्याख्यास्येऽमृतबिन्द्वाख्याम्' तत्पुष्पिकायां च 'अमृतबिन्दूपनिषद्दीपिका' इति लिलेख। नारायणस्तु ब्रह्मबिन्दुनाम्नैव व्यवहरित।

३. उक्तोपनिषदि 'मनो हि' इत्यादिश्लोकः पुराणवत्, कामसहितमित्यस्य स्थाने 'कामसंकल्पम्' इति पाठः। प्रायः श्लोकाः पुराणे मूलवत्।

४. मुक्तमिति उपनिषत्पाठः। श्लोकः पुराणवत्।

यतो निर्विषयस्याऽस्य मनसो मुक्तिरिष्यते। ततो निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा।।८७३
निरस्तविषयासङ्गं सन्निरुद्धं मनो हृदि। यदा यात्यात्मनो भावं तदा तत् परमं पदम्।।८७४

मनोनिरोधः (गौडपादीयव्याख्या)

[1]यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः। तथा जाग्रद्द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः।।८७५
अद्वयं च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः। अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः।।८७६
आत्मसत्यानुबोधेन न सङ्कल्पयते यदा। अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम्।।८७७

इति। यतो विषयरागलक्षणाऽशुद्धिहीनस्य मनसः फलभूता मुक्तिः इष्टा वेदविद्भिः ततः[2] शुद्धमनसः सफली कर्तुं निर्विषयं निरुद्धं कार्यमित्यर्थः।।८७३।। मनोनिरोधस्य मोक्षपर्यवसायितामेव दर्शयति—निरस्तेति। निरस्तो विषयेषु आसङ्ग आसक्तिर्येन तत्तथाभूतं मनो यदा हृदि निरुद्धं सद् आत्मनो भावं स्वभावं महावाक्यप्रतिपाद्यम् ऐक्यरूपं याति अवधारयति तदा तद् मोक्षरूपं परमं सर्वोत्कृष्टं पदं प्राप्यं फलं सिद्धम् इति बोध्यमित्यर्थः।।८७४।।

आत्माकारतया मनोनिरोधप्रकारं गौडपादैः सोपपत्तिकमुक्तं, तद्वाक्यानां प्रायश उपन्यासेन विशदयति—यथा स्वप्न इत्यादिना 'अकथ्यं सुखमुत्तमम्' (श्लो. ६६१) इत्यन्तेन ग्रन्थेन। यथा स्वप्नाऽवस्थायां मनः कर्तृ द्वयाभासं मिथ्याभूतग्राह्यग्राहकरूपद्वैताकारं सत् स्पन्दते विकारं भजते तथा जाग्रत्—सप्तमीलोप आर्षः—जाग्रदवस्थायामपि बोध्यमित्यर्थः।।८७५।। द्वैतस्य मिथ्यात्वमेव स्फुटयति—अद्वयमिति। यथा मनः स्वप्ने द्वयाभासम् अपि वस्तुतोऽधिष्ठानचिद्रूपेण अद्वयं द्वैतरहितमेव, तथा जाग्रत्यपीत्यर्थः।।८७६।। अधिष्ठानचित्तत्त्वदृष्ट्यैव च सविलासमनसो बाधरूपा अमनस्ता भवतीत्याह—आत्मेति। आत्मैव सत्यम् अधिष्ठानं तस्य अनुबोधः शास्त्राचार्योपदेशानुसारेण साक्षात्कारः तेन यदा न सङ्कल्पयते द्वैताकारवृत्तीः परित्यजति तदा द्वैताभावे सति द्वैताऽग्रहणरूपाम् अमनस्तां मनोरहिततां याति तत्त्वविदित्यर्थः।।८७७।।

मन शुद्ध है।।८७१।। 'मैं-मेरा' इत्यादि अध्यासरूप बंधन का तथा आत्मयथात्मता के अवभासरूप मोक्ष का कारण मन ही है। विषयों में आसक्त मन मनुष्यों का बंधन दृढ करता है तथा उनके मोक्ष के लिये वही मन पर्याप्त होता है जिसमें विषयराग नहीं है।।८७२।। क्योंकि विषयरागरूप अशुद्धि से रहित इस मन का फल मोक्ष है इसलिये मुमुक्षु को हमेशा मन निर्विषय बनाने का प्रयास करना चाहिये। पहले विषयराग हटाये फिर निरोधपूर्वक बाह्य विषय का आकार भी मन में न बनने दे।।८७३।। विषयों के प्रति आसक्ति जिसमें से निरस्त हो चुकी है ऐसा मन जब हृदय में एकाग्र होकर महावाक्यबोधित आत्मा की अखण्ता का अवधारण करता है तब समझ लेना चाहिये कि मोक्षरूप सर्वोत्तम प्राप्तव्य सिद्ध हो गया। ('उन्मनीभाव', 'अमनीभाव' आदि से भी मन की इस स्थिति को कहा जाता है।)।।८७४।।

परमाचार्य श्री गौडपाद ने माण्डूक्यकारिकाओं में मन को आत्माकार में निरुद्ध करने का प्रकार युक्तियुक्त ढंग से बताया है अतः उनके वचन समझाते हुए पुराणकार उक्त विषय का विस्तार करते हैं :

जैसे सपने में मन ग्राह्य-ग्राहक इस द्वैत के आकार का बन जाता है वैसे ही जाग्रत् अवस्था में मन ही माया द्वारा सारे द्वैत जैसा बनकर प्रतीत हो रहा है। इसमें किसी को संशय नहीं कि स्वप्न में ग्राह्य-ग्राहकादि द्वैत के रूप में प्रतीत होने पर भी वहाँ अकेला मन ही होता है, मन से स्वतंत्र कोई ग्राह्य-ग्राहकादि द्वैत नहीं होता। इसी आधार पर यह निःसंदिग्ध कर लेना चाहिये कि जाग्रत् में भी सारा द्वैत आभासमात्र ही है, वास्तविकता तो अद्वय शिव ही है। (कारिकाओं के गंभीर अर्थों पर विवेचन भाष्य में देखना चाहिये। स्वप्न के दृष्टांत से जाग्रत्प्रपंच के मिथ्यात्व को और अद्वय अधिष्ठान को निर्धारित करना अभीष्ट है।)।।८७५-६।।

---

१. मां. का. ३.२९-३०,३२।
२. उपनिषदि 'अतः'।

अमनस्ता यदा तस्य मनसस्तद्वदीदृशम्। [1]अकल्पकमजं ज्ञानं ज्ञेयाऽभिन्नं प्रचक्षते।
ब्रह्म ज्ञेयमजं नित्यमजेनाजं विबुद्ध्यते।।८७८

सुषुप्तिवद् यदा तत् स्यादमनस्ता तदा भवेत्। केचिदेवं समिच्छन्ति न युक्तं तद्विभेदतः।।८७६
[2]निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः। प्रचारो जागरे चैव सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः।।
[3]लीयते हि सुषुप्ते तद् निगृहीतं न लीयते।।८८०

तदानीं कीदृशमात्मरूपमवशिष्यते ? इत्याकांक्षायामाह—अमनस्तेति। यदा तस्य भ्रमसिद्धस्य मनसः अमनस्ता बाधरूपा निवृत्तिर्भवति तदा तद्वद् मनसोऽभाववत् तत्त्वम् ईदृशम् एभिः विशेषणैरुपलक्षितं प्रचक्षते कथयन्ति तत्त्वविद इति सम्बन्धः। 'ईदृशं' कीदृशम् ? अकल्पकं सर्वकल्पनारहितम् अजं जन्मादिविकारहीनं ज्ञेयाभिन्नं स्वप्रकाशं च यद् ज्ञानं तद्रूपमिति। तस्य अकल्पकत्वादौ क्रमेण हेतुगर्भं विशेषणत्रयं—ब्रह्मज्ञेयमित्यादि। ब्रह्मैव ज्ञेयं यस्य तत्तथा तस्माद् अकल्पकम्। नित्यत्वाद् अजम्। यतश्च अजेन तेन ज्ञानेन अजं स्वरूपमेव विबुद्ध्यते न त्वन्यत् ततो ज्ञेयाऽभिन्नम् इति सम्बन्धः।।८७८।।

अत्र भ्रान्तमतमनूद्य निरस्यति—सुषुप्तिवदिति। तद् मनो यदा सुषुप्तिवत् सुषुप्तौ यादृशं भवति तादृशं भवेत् तदा अमनस्तासिद्धिर्बोध्येति केचिद् वदिन्त। तद् मतं न युक्तं यतः सुषुप्तिनिरोधयोः विभेदो विशेषो वक्ष्यमाणविधया भवतीत्यर्थः।।८७६।। तमेव विशेषमभिनयति—निगृहीतस्येति। निगृहीतस्य निरुद्धस्य अत एव निर्विकल्पस्य कल्पनारहितस्य धीमतो महावाक्यजविद्यासंस्कृतस्य च मनसो य एषोधिष्ठानावशेषरूपः प्रचारः अवस्थाविशेषः स जागरे निद्राऽभावे भवति। सुषुप्तौ तु यो मनसः प्रचारः सः अन्यो विलक्षणः तामसत्वात्। अत उक्तः प्रचारो न तत्समः न सुषुप्तिसम इति, यतः सुषुप्ते तत् चित्तं लीयते कारणे सूक्ष्मभावेन अवतिष्ठते, अत्र समाधौ तु बाध्यत इत्यर्थः।।८८०।। सुप्तिसमाध्योर्विशेषान्तरमाह — तदेवेति। तद् ग्राह्यग्राहकभेदरहितं निरुद्धं चित्तं

अधिष्ठान चित्तत्त्व के दर्शन से ही वृत्तियों समेत मन का बाध होता है जिसे 'अमनस्ता' कहते हैं। शास्त्र-आचार्य के उपदेश के अनुसार सत्य आत्मा के साक्षात्कार से जब मन द्वैत के आकर ग्रहण करना छोड़ देता है तब ग्राह्य द्वैत भी रह नहीं जाने के कारण तत्त्ववेत्ता का मन भी अ-मन हो जाता है क्योंकि द्वैत ग्रहण करना ही मन-पना है। (द्वैतग्रहण के बिना द्वैत है नहीं जैसे सर्पग्रहण के बिना कल्पित सर्प है नहीं।)।।८७७।। भ्रमसिद्ध मन की बाधरूप निवृत्ति हो जाने पर बिना मन का तत्त्व ऐसा बताया जाता है—वह सब कल्पनाओं से रहित है, जन्मादि विकारों से रहित है, स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप है, ब्रह्म ही उसका ज्ञेय है, नित्य है, ज्ञेय से अभिन्न है क्योंकि अजायमान ज्ञान से ही अज स्वरूप का अविद्यानिवारक बोध होता है।।८७८।।

कुछ लोग मानते हैं कि जैसा सुषुप्ति में मन रहता है वैसा जब (जाग्रत् में) बन जाये तब अमनस्ता सिद्ध हो जाती है। किंतु यह मान्यता ग़लत है क्योंकि सुषुप्ति और निरोध में अन्तर है।।८७६।। जिस मन में महावाक्यजन्य अखण्ड ज्ञान का संस्कार है उसका निरोध होने पर वह सब कल्पनाओं से रहित हो जाता है और जाग्रत् में ही अधिष्ठानमात्र के आकार का रह जाता है। जबकि सुषुप्ति में मन की स्थिति ऐसी नहीं है, वहाँ तामसता का साम्राज्य है क्योंकि सुषुप्ति के समय मन अपने परिणामी कारण में सूक्ष्म रूप से रहता है। निरोध से मन यों लीन नहीं होता वरन् स्वसमेत सारे द्वैत का बाधक बन जाता है। (अतः अखण्डबोध से रहित समाधि भी यहाँ निरोध नहीं कही जा रही और उससे भी वह 'अमनस्ता' दुर्लभ है जिसे श्रुति कह रही है।)।।८८०।।

१. मां. का. ३.३३।
२. मां. का. ३.३४। 'प्रचारः स तु विज्ञेयः' इति तृतीयपादः।
३. मां. का. ३.३५-६। '...सर्वज्ञं नोपचारः कथंचने' ति तत्र।

तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः। अजमुन्निद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम्।।
सकृद्विभातं सर्वज्ञं सुषुप्तौ न च तादृशम्।।८८१
अमनस्तां गते चित्ते प्राप्योऽयं भूरिपुण्यतः। [1]सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः।।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः।।८८२

निर्भयत्वादिशालि ब्रह्म एव सम्पन्नम्। सुषुप्तौ तु तादृशं निर्भयब्रह्मात्मतामापन्नं चित्तं न भवति, दोषबीजाऽविद्याशबले लयाद् इति भावः। तत्र निर्भयत्वं भयहेतुद्वितीयग्रहणाऽभावात्। न च तत्र भासकापेक्षेत्युक्तं ज्ञानालोकम् इति। स्वरूपभूतं ज्ञानमेव आलोकः प्रकाशो यत्र तत्तथा, चिदेकरसमिति यावत्। समन्ततः सर्वतः स्थितं व्यापकमिति यावत्। अत एव अजम्, जन्मादिविकारहीनम्। तत्र हेतुः उन्निद्रं निद्राया अबोधरूपाया उद्गतं निष्क्रान्तम् अत एव स्वप्नरूपेण अध्यासजातेन हीनम्। तस्याऽविषयत्वमाह—अनामकमरूपकमिति। नामरूपराहित्यात् सर्वेन्द्रियाऽग्राह्यमित्यर्थः। बाधिताया अविद्यायाः पुनरप्रसक्तेः सकृद् एकवारमेव विभातम् आविर्भूतम्। अत एव सर्वज्ञं सर्वं च तज्ज्ञं चैतन्यमात्रमित्यर्थः।।८८१।।

अयं दुर्लभ इत्याह—अमनस्तामिति। चित्ते मनसि भूरिपुण्यपरिपाकात् प्रतिबन्धापहारेण अमनोभावं गते सति अयं समाधिः प्राप्यो भवति। कीदृशः? सर्वेऽभिलापाः शब्दा वागिन्द्रियविषया विगता यस्मात् स तथा। तथा चिन्ता अन्तःकरणवृत्तयस्ताभ्यः समुत्थितो व्यावृत्तः। शिष्टानि पदानि व्याख्यातानि।।८८२।। ग्रह इति। अस्मिन्

सुषुप्ति व समाधि में (निरोध में) और भी अंतर हैं : निरोध में मन ग्राह्य-ग्राहक के भेद वाला न रहने से निर्भय ब्रह्म ही हो जाता है जबकि सुषुप्ति में मन ब्रह्मरूप नहीं बल्कि दोषबीज अविद्या से शबलित में ही विलीन रहता है। वहाँ की निर्भयता स्वरूप से नहीं वरन् भयप्रद द्वितीय के अग्रहण से ही है। निरोध में किसी भासक की अपेक्षा नहीं, स्वरूपभूत ज्ञान ही वहाँ आलोक है। और सुषुप्ति में अविद्यावृत्ति बनी रहती है, अन्य भी वृत्तियाँ रहती हैं, जैसा सिद्धान्तबिंदु आदि में स्पष्ट किया है। निरोध में व्यापक स्वरूप का स्फुट भान है किंतु सुषुप्ति में घनघोर अज्ञान है ! निरोध में अज है, सुषुप्ति में स्वल्पकालिक आगमापायी शांति है। निरोध अबोधात्मक नींद से परे है, सुषुप्ति स्वयं नींद ही है, कारणावस्था ही है। निरोध में कोई स्वप्न अर्थात् अध्यास नहीं जबकि सुषुप्ति में समस्त अध्यास बीजरूप से मौजूद हैं। निरोध नाम-रूप से रहित है, सुषुप्ति के अनेक नाम हैं और अवस्थान्तरों से पृथक् कर उसका व्यवहार होता है अतः उसका 'रूप' भी है क्योंकि 'रूप' उसी 'आकार' को (असाधारण स्वरूप को) कहते हैं जो भेदव्यवहार संभव करे। बाधित अविद्या की पुनः प्रसक्ति ही नहीं अतः निरोध में एक ही बार का आविर्भाव है और सुषुप्ति तो प्रतिरात कृपाकृर दर्शन देती ही रहती है ! निरोध में चैतन्य पूर्ण है, निरुपाधि है जबकि सुषुप्ति में अविद्यासहित है। इस प्रकार निरोध व सुषुप्ति में इतने अन्तर रहते इन्हें एक-सा भी नहीं कह सकते तो एक कहना असंभव है ही। (इससे उनका भी मुँह बंद हो गया जो निरोध को जान-बूझ कर किया आत्मसंमोहन कहते हैं। संमोहन बाध्य होता है, निरोध अबाध्य है।)।।८८१।।

बहुत-से पुण्य फली भूत होने पर प्रतिबंधक हटने से मन जब अमन हो जाता है तब यह निरोध उपलब्ध होता है। इसमें कोई अभिलाप नहीं अर्थात् न निरोधकाल में न पहले-पीछे कोई शब्द ऐसा है जिसका निरोध से साक्षात् सम्बंध हो और न निरोध में ही कोई ऐसी विशेषता है जिसे शब्द कह सके। निरोध में अन्तःकरण का कोई व्यापार नहीं बचता। वहाँ आत्मा की स्थायी अकंप शांति है, अखण्ड अनुभूति है, कोई विक्षेप नहीं, कोई परिवर्तन नहीं, कोई भय नहीं।।८८२।। निरोध में कोई ग्रहण या त्याग नहीं है। वहाँ किसी विषय की चिन्ता नहीं रखी जाती। आत्मा

१. मां. का. ३.३७।

[१]ग्रहो नास्मिन्न चोत्सर्गश्चिन्तां वा कस्यचिद् वहेत्। आत्मसङ्कलनादात्मा यदा निश्चलतां गतः।।८८३

आत्मरूपं भवेच्चित्तम् अजाति समतां गतम्। तदा समाधिरेष स्यादमनस्ता भवो महान्।।
वेदान्तोदितसङ्गूढो दृश्यते गुरुवक्त्रतः।।८८४

अस्पर्शयोगः

[२]अस्पर्शयोगो नामाऽयं दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः। योगिनो बिभ्यति ह्यस्माद् अभये भयदर्शिनः।।८८५

जात्यन्धा इव रूपं तन्न लभन्ते कदाचन। अलब्ध्वान्तरमात्मानं वदन्ति स्वावबोधतः।।
अमनस्तां सुप्तितुल्याम् अतुल्यामपि सर्वदा।।८८६

भयकारणमेतेषां प्रथमं भ्रान्तिदर्शनम्। पश्चाद् नानाविधा प्रेक्षा तज्जन्या मानवर्जिता।।८८७

समाधौ ग्रहणत्यागौ न स्तः, द्वितीयाभावात्। अत एव च कस्यचिद् विषयस्य चिन्तां न वहेद् न धारयेत्। अस्य समाधेर्निदानतात्मतत्त्वसाक्षात्कार एवेत्याह—आत्मेति। आत्मनः सङ्कलनं याथात्म्यनिर्धारणं तस्माद् हेतोः आत्मा यदा निश्चलतां दृश्यभानात्मकक्षोभराहित्यं गतः भवेत्, चित्तं च आत्मरूपम् आत्मनि बाधितं भवेत्। कीदृशम् ? अजाति जातिभिः सकलविशेषैः वर्जितम् अतएव समतां परमसाम्यं गतं चेति; तदा एष समाधिः स्यात्। कीदृशः ? वेदान्तवाक्यैः गूढतयोपदिष्टोऽपि गुरूपदेशात् साक्षात्कार्यः। इति द्वयोः सम्बन्धः।।८८३-४।।

अस्य दौर्लभ्यमेव स्फुटयति—अस्पर्शेति। अयं समाधिः अस्पर्शयोगसंज्ञः सर्वसम्बन्धराहित्यात् समाधित्वाच्च। तथा सर्वैः वेदान्तविज्ञानहीनैः योगिभिः दुःखेन द्रष्टुं शक्यः। यतस्तेऽस्माद्बिभ्यति भयं यान्ति। यतोऽभयेऽपि रहसि बाला इव भयं भयहेतुं पश्यन्तीत्यर्थः।।८८५।। तेषां भयनिदानमपि स्वाऽज्ञानमेवेत्याह—जात्यन्धा इति। यथा जन्मान्धाः तत् प्रसिद्धमपि रूपं न लभन्ते तथा ते योगिन आन्तरम् अपि आत्मानं स्वाव बोधतः साक्षात्कारेण अलब्ध्वा अप्राप्य, सुप्त्या अतुल्यामपि अमनस्तां सुप्तितुल्यां वदन्ति इति सम्बन्धः।।८८६।। न केवलमविद्यैव भयकारणं किन्तु कुतर्का अपीत्याह—भयकारणमिति। एतेषाम् अश्रौतयोगिनाम् उक्तसमाधितो भयस्य कारणं प्रथमम् आद्यं भ्रान्तीनाम् अध्यासानां दर्शनम् उदयसाधनम् अज्ञानं भवति। द्वितीयं तु तत्प्रयुक्ता याः शास्त्रजालप्रसिद्धा विविधाः प्रेक्षाः कल्पनास्तर्का इति यावत्, तद्रूपमित्यर्थः।।८८७।।

के सत्यस्वरूप के निर्धारण से जब आत्मा दृश्य के भानरूप क्षोभ से वर्जित हो जाता है तथा सकल विशेषों से रहित और परम समभाव को (ब्रह्मभाव को) प्राप्त चित्त जब आत्मा में बाधित हो जाता है तब यह निरोधरूप समाधि संपन्न होती है जो अमनस्तारूप है, अभव अर्थात् संसारसमापक है, महान् है। वेदान्तों में गूढ ढंग से इसका उपदेश है ज़रूर पर इसका साक्षात् अनुभव गुरु के उपदेश से ही हो सकता है।।८८३-४।।

इस अद्वैत समाधि का नाम अस्पर्शयोग है क्योंकि इस समाधि में कोई सम्बंध नहीं रहता। वेदांतविज्ञान से रहित चेतोवृत्तिनिरोधक इसका अनुभव तब तक नहीं पा सकते जब तक अखण्डबोध न प्राप्त कर लें। वे तो इस निरोध से डरते हैं ! है यह अभय पर इसी में उन्हें भय लगता है। लोक में भी भय किसी अन्य का ही होता है किंतु बालक तब डरता है जब कोई अन्य न हो ! यही उन योगियों का हाल है।।८८५।।जैसे जन्मान्ध को रूप नहीं दीखता—उसे रूप की संकल्पना ही नहीं होती—वैसे ये योगी प्रत्यग् आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाते अत एव कहते हैं कि अमनस्ता सुषुप्ति जैसी है जबकि वास्तव में दोनों की कोई समानता नहीं।।८८६।। इस प्रकार अस्पर्शयोग से डरने का एक कारण तो है भ्रम; आत्मस्वरूप का भ्रम है और वह भ्रमगृहीत रूप जब छूटता है तब लगता है कि आत्मा ही हाथ से जा रहा है। डर का दूसरा कारण हैं भ्रमजन्य अप्रामाणिक विविध कल्पनाएँ, कुतर्क।।८८७।।

---

१. 'ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते। आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजाति समतां गतम्'।। मां. का. ३.३८।।
२. 'अस्पर्शयोगो वै नाम...।' मां. का. ३.३९।

कुतर्काः

आत्मा सर्वेषु भूतेषु सर्वभेदविवर्जितः। चिदानन्दवपुश्चैक इतीदं नोपपद्यते।।
जन्मादीनां सुखादीनां व्यवस्थायाश्च दर्शनात्।।८८८
पुरुषास्तत एवैते भिन्नाः सर्वशरीरगाः। एका प्रकृतिरित्यादि ह्युत्प्रेक्षन्ते ततो बहु।।८८९
मुक्तौ विनाशमायाति एका सा बहुधा तता। इयमित्थंप्रकारा वा रूपान्तरमथाऽपि वा।
मनः प्रयाति केनैतदात्मतादात्म्यमाव्रजेत्।।८९०
इत्यादिकं भयं दृष्ट्वा ह्यमनस्तां विमुच्य ताम्। अनुभूय च तां सुप्तिमविद्याया वशं गताः।।८९१

तेषां तर्कान् दर्शयन्नादौ सांख्यानुयायियोगिनां तानाह—आत्मेति त्रिभिः। यद् औपनिषदैः आत्मनो भासमानानन्दरूपत्वम् अद्वितीयत्वं चोच्यते, तद् न सम्भवति; जन्मादिविकाराणां सुखादिगुणानां च व्यवस्थाया नियतात्मसम्बन्धस्य, चकाराद् युगपत् प्रवृत्तेश्च दर्शनाद् अनुभवादित्यर्थः।।८८८।। पुरुषा इति। ततो व्यवस्थाद्यनुरोधात् प्रतिशरीरं पुरुषभेदः, तेषां भोगादिप्रयोजिका एका प्रकृतिः च स्वीकार्या, इत्यादिकं बहु यथा भवति तथा कल्पयन्तीत्यर्थः।।८८९।। तथा प्रकारान्तरेण मोक्षं वदन्तः ते चित्तस्य बाधरूपमात्मनि लयं न स्वीकुर्वन्तीत्याह—मुक्ताविति। सा प्रकृतिः एका सर्वपुरुषसाधारणी बहुभी रूपैः तताऽपि मुक्तौ विनाशम् अदर्शनं याति। यद् वा इयं प्रकृतिः इत्थंप्रकारा बन्धलक्षणाऽनुलोमपरिणामशालिनी सत्यपि मुक्तौ साध्यायां रूपान्तरं प्रतिलोमपरिणामात्मकं याति। अथ वा प्रकृतिः स्वरूपेण न बन्धिका, किन्तु मनोरूपेण; तथा च तन्मन एव मुक्तौ रूपान्तरं कृतार्थत्वे सति कारणभावलयरूपं याति। एतत् प्रकारत्रयं सम्भवति। यत्तु औपनिषदैः उच्यते आत्मनि तादात्म्यं बाधरूपं मनो व्रजतीति तत् कथं सम्भवेत् ? न ह्यकारणे कार्यस्य लयो युक्त इति भावः।।८९०।।

इत्यादिकमिति। इत्यादिकं वर्णितकारणकं भयं दृष्ट्वा प्राप्य तां श्रुतिविद्वदनुभवसिद्धाम् उक्ताम् अमनस्तां विमुच्य अनङ्गी कृत्य ताम् अमनस्तां सुप्तिं सुषुप्तिरूपाम् अनुभूय मत्वा च ते योगिनः स्वीयमानन्दरूपमात्मानं न लभन्त इति तृतीयेन अभिसम्बन्धः। यतस्तेऽविद्याया वशं गता इत्यर्थः।।८९१।। तेषां श्रमवैयर्थ्यं विशेषणैराह—योगिन

कपिल-पतंजलि के अनुयायी सांख्य-योगी कुतर्क करते हैं : औपनिषद लोग जो यह कहते हैं कि समस्त भेदों से रहित एक आत्मा सभी भूतों में (जड-चेतन वस्तुओं में) है और वह चेतनरूप व आनंदरूप है, वह बात युक्तिसंगत नहीं क्योंकि सबके अलग-अलग जन्मादि और सुखादि की व्यवस्था अनुभवसिद्ध है। इसलिये सभी शरीरों में स्थित पुरुष परस्पर भिन्न हैं। संसारहेतु एक प्रकृति है। इत्यादि उत्प्रेक्षाएँ वे करते रहते हैं। (उनके प्रश्न उपाधिभेद से ही उत्तरित हो जाते हैं किन्तु वे इतनी-सी बात समझने को तैयार नहीं।)।।८८८-९।।

मोक्ष का भी वे अन्य ही स्वरूप मानते हैं, आत्मरूप अधिष्ठान के ज्ञान से मन का बाध उन्हें स्वीकार नहीं। अपने को संमत मोक्ष के बारे में उनके नाना प्रकार के कथन हैं : संसारहेतु एक प्रकृति सभी आत्माओं के लिये एक-सी है और अनंतरूपों में फैली है फिर भी मुक्तिदशा में वह विनाश को प्राप्त कर जाती है, मुक्त को दीखनी बंद हो जाती है ! या वे कहते हैं कि अभी प्रकृति बंधन कर रही है फिर भी जब जिसके लिये मुक्ति साध्य होगी तब उसके लिये यह प्रकृति बंधन से प्रतिकूल परिणाम ग्रहण करने लगेगी। अथवा उनका कहना है कि निज रूप से प्रकृति बंधन नहीं करती वरन् मन रूप से बंधन करती है और मुक्ति में मन ही विलीन होता है। इस तरह वे विविध परस्पर विरुद्ध कल्पनाएँ कर उपनिषदनुयायियों के सिद्धांत में ही शंका करते हैं कि आत्मा में मन का बाध कैसे होगा ? कारण में कार्य लीन होता है, आत्मा अकारण है तो उसमें अविद्याकार्यभूत मन का विलय कैसे होगा ? (परिणामि-उपादान और विवर्तोपादान की व्यवस्था न समझ पाने से वे वेदसिद्धांत हृदयंगम नहीं कर पाते और तर्काश्रित होने से अपनी निर्मूल मान्यताओं के परिष्कारों में संलग्न रहते हैं।)।।८९०।। इस प्रकार के भयहेतु देखकर वे वह अमनस्ता ग्रहण नहीं करते जो वेद

योगिनः पण्डितंमन्या भस्रावच्छ्वासधारिणः। वृक्षवज्ज्ञानरहिता ह्यश्मवद् निश्चला अपि।।८६२

आनन्दात्मानमभयं सर्वदा हृदये स्थितम्। स्वीयं लभन्ते नैवैते यद्वदन्धाः करे निधिम्।।८६३

सुप्रसन्नं सदात्मानं ज्ञानहीनं च केचन। पश्यन्तः सुखविज्ञाने शून्ये एव वदन्ति हि।
भ्रान्ता अपि च ते मोक्षममनस्तां वदन्ति हि।।८६४

टिट्टिभवद्धैर्येण मनोनिरोधः

[1]मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम्। दुःखक्षयः प्रबोधश्चाऽप्यक्षया शान्तिरेव च।।
यतस्ततो मनोरोधः सर्वेषामपि सम्मतः।।८६५

जेतव्यं मन एवाऽऽदौ स्वात्मनः क्षेममिच्छता। जयं तस्य वदन्त्येव दुर्जयस्याऽपि चेतसः।।८६६

इति। वृक्षवत् ज्ञानरहिता अपि आत्मानं पण्डितं मन्यमानाः पाषाणवद् निश्चला अपि भस्रावद् वृथाश्वासाः।।८६२।। आनन्दात्मानमिति। स्पष्टम्।।८६३।।

इतरेषां तर्कान् संक्षिप्याह—सुप्रसन्नमिति। सुप्रसन्नं साक्षिरूपं सर्वोपाधिविविक्तमपि आत्मानं ज्ञानहीनं **स्वाभाविकज्ञानरहितं** पश्यन्तः केचन **वैशेषिकाः माध्यमिकाश्च सुखविज्ञाने सुखं विज्ञानं च एते द्वे अपि शून्ये असती** वदन्ति **प्रतिपादयन्ति। तत्र वैशेषिकादीनां मते मनःसंयोगविरहकाले तयोरसत्त्वं, माध्यमिकानान्तु स्वत इति विवेकः।** हि यतः ते भ्रान्ताः। **किञ्च ते** अमनस्तां **मोक्षकालिकीमेव** वदन्ति **मोक्षदशायामेव मनोविमोक आत्मनो भवति, न जीवत इत्याशयेनेत्यर्थः।।८६४।।**

तिष्ठतु प्रासङ्गिकम्। मुमुक्षून् प्रति यः साम्प्रदायिकैरुक्तो वर्णितविधो मनोनिग्रहस्तैः स एव कर्तव्य इत्याह—मनस इति। यतो मनोनिग्रहः सत्सम्प्रदायाध्वना सर्वेषाम् अभयादिप्रयोजकः ततः सर्वैः कर्तव्य इत्यर्थः। यदि ते कुयोगिनोऽपि सन्मार्गेण यतेरंस्तदा तेऽपि मुच्येरन्निति सर्वपदप्रयोक्तुराशयः।।८६५।। **उक्ताया अमनस्ताया लाभाय मनोजयः कर्तव्यः। न च सोऽशक्यः, शास्त्रविहितत्वात् तत्सिद्धेः, विद्वदनुभवसिद्धत्वाच्चेत्याह—**जेतव्यमिति। **वदन्ति विदधति शास्त्राणि, सिद्धम् आवेदयन्ति च विद्वांस इत्यर्थः।।८६६।। तत्र च दृढ उत्साह**

और विद्वानों के अनुभव से सिद्ध है तथा उसे सुषुप्तिरूप मानकर स्वयं अविद्या में ही पड़े रहते हैं।।८६१।। ऐसे योगी पेड़-पौधों की तरह ज्ञानरहित होने पर भी स्वयं को बड़ा विद्वान् मानते हैं ! धौकनी की तरह नाना प्रकार की श्वास-प्रश्वास क्रियाएँ करके और स्थिर आसन पर पत्थर-से निश्चल रहकर वे सोचते हैं कि कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हो गयी !।।८६२।। जैसे अंधों को हाथ लगा खजाना भी हासिल नहीं होता ऐसे ये योगी सर्वदा हृदय में स्थित अपने अभयरूप आनंदात्मा को प्राप्त नहीं कर पाते।।८६३।।

इनसे भिन्न कुतर्की अर्धवैनाशिक व पूर्णवैनाशिक हैं। सभी उपाधियों से विवेक कर प्रकट होने वाला साक्षिरूप सत् आत्मा निश्चलरूप से सुव्यक्त है पर ये कहते हैं कि उसमें स्वाभाविक ज्ञान है ही नहीं ! सुख और विज्ञान दोनों को वे असत् मानते हैं। (अर्धवैनाशिक मनःसंयोग न रहने पर उन्हें असत् कहता है और पूर्णवैनाशिक उन्हें स्वतः ही असत् कहता है।) वे भ्रान्त लोग अमनस्ता को मोक्ष कहते हैं : अर्धवैनाशिक कहता है कि मन जब आत्मा से कभी भी संयोग न करने का नियम ले लेगा तब मोक्ष होगा। कोई तो मन समेत इक्कीस दुःख गिनाते हैं जिनका ध्वंस मोक्ष बताते हैं। उनकी बुद्धिमानी इसी से व्यक्त होती है कि वे मन को नित्य भी मानते हैं ! पूर्णवैनाशिक मनोरूप विज्ञान-धारा के अनंत विराम को निर्वाण कहकर अमनस्तारूप मोक्ष स्वीकारता है। ये सभी कुतर्की अज आत्मा के अपरिचयवश अस्पर्शयोग से डरकर नाना कल्पनाजालों में फँसे रहते हैं।।८६४।।

---

१. मां. का. ३.४०।

'उत्सेक उदधेर्यद्वत् कुशाग्रेणैकबिन्दुना। मनसो निग्रहस्तद्वद् भवेदपरिखेदतः।।
ऐतिह्यतः समुत्सेक उदधेरेवमत्र सः।।८६७

सागरस्य पुरा कूले कल्लोलैः कठिनी कृते। अण्डानि टिट्टिभः कश्चिट्टिट्टिभीविनिवारितः।।
मुमोच गर्वमापन्नः कदर्थीकृत्य सागरम्।।८६८

टिट्टिभीमेवमाहाथ मा भयं तेऽस्तु भामिनि। हरेद्यदि ममाण्डानि सागरो मोहगर्वितः।।८६९

तदाऽहं मदमत्तं तं करिष्यामि गतोदकम्। सागरं पश्य मे सुभ्रूर्भयतः क्षीणवर्चसम्।।९००

एवमुक्ता तमाहैषा अशक्यं बहुधेति च। क्व समुद्रः क्व वा त्वं च प्रोक्त्वा वाक्यमुपारमत्।।९०१

एवमुक्त्वा मुमोचाऽथ तान्यण्डानि स टिट्टिभः। तत्रैव जायया सार्द्धमाहारार्थं क्वचिद् गतः।।९०२

एव हेतुरित्याह—उत्सेक इति। कुशाग्रतुल्येन एकबिन्दुग्राहकेण चञ्चुना उदधेः समुद्रस्य उत्सेको रिक्ती भावो यथा टिट्टिभेन कृतस्तथा मनोनिग्रहोऽपि अपरिखेदत उद्वेगपरित्यागेन स्यादिति। नन्वत्र दृष्टान्ते किं प्रमाणम् ? किं च तत्स्वरूपम् ? इत्याकांक्षायामाह—ऐतिह्यत इति। स दृष्टान्तीकृत उदधेः उत्सेक ऐतिह्यतः पारम्पर्योपदेशेन सिद्धः। एवं वक्ष्यमाणरूपश्च बोध्य इत्यर्थः।।८६७।।

'एवं'-पदोक्तं टिट्टिभवृत्तमेव प्रपञ्चयति—सागरस्येत्यादिना। कठिनी कृते गाढे पुनः पुनराक्रान्त इति यावत् तादृशे कूले टिट्टिभ्या वारितोऽपि कश्चिट्टिट्टिभो गर्वेण सागरं तुच्छं मत्वा अण्डानि मुमोच निदधौ।।८६८।। टिट्टिभीमिति। हे भामिनि ! कोपने ! मम भयेन क्षीयमाणतेजसं पश्येति।।८६९-९००।। एवमुक्तेति। एषा टिट्टिभी इति वाक्यं बहुधा प्राह उक्त्वा उपारमच्च। 'इति' किम् ? एतद् अशक्यं, तव सागरस्य च सुदूरवैषम्याद् ! इति।।९०१।। एवमुक्त्वेति। एवमुक्त्वा 'मा भयं तेऽस्तु' इत्यादि वाक्यं पुनरुक्त्वा तत्र तीर एव अण्डानि मुमोच, अथ आहारार्थं गतो बभूवेति।।९०२।।

सभी योगी अभय, दुःखक्षय, प्रबोध और अक्षय शान्ति पा सकें इसके लिये अनिवार्य आवश्यकता है मन के निग्रह की अतः इस विषय में सभी का ऐकमत्य है। (औपनिषद योगी तत्त्वबोधलाभार्थ और बोधपरिपाकार्थ उसका उपयोग बताते हैं जबकि अन्य योगी उसी को पर्याप्त उपाय कहते हैं पर सभी योगमार्गी मनोनिरोध का विधान करते ही हैं। वस्तुतस्तु सभी अध्यात्मसाधनाओं में समाहितता का महत्त्व परिपूर्ण है)।।८६५।। अपना कल्याण चाहने वाले को सबसे पहले अपने मन पर विजय हासिल करनी चाहिये। मन जीतना अति मुश्किल है पर संभव ज़रूर है।।८६६।।

कुशा की नोक से एक-एक बूँद कर पानी निकालते-निकालते समुद्र सुखाने जितना धैर्य रखकर खिन्नता लाये बिना प्रयास करता रहे तभी मन का निग्रह संभव है। समुद्र खाली करने के बारे में ऐसा इतिहास प्रसिद्ध है :।।८६७।।

प्राचीन काल की बात है। सागर की लहरों की मार से तट का जो हिस्सा कठोर हो जाता है ऐसे स्थान पर एक गर्वीले टिट्टिभ (टिटहरी) ने सागर का तिरस्कार करते हुए, टिट्टिभी के मना करने पर भी अपने अण्डे रख दिये।।८६८।। उसने अपनी पत्नी से कहा 'हे भामिनि ! तू डर मत। मोह से गर्वित सागर अगर हमारे अण्डे चुरायेगा तो उस मदमस्त सागर को मैं जलरहित कर दूँगा, मेरे भय से उसका तेज ही क्षीण हो जायेगा। तुम देख लेना !'।।८६९-९००।। पत्नी ने जवाब दिया 'यह असंभव बात है ! कहाँ महान् समुद्र और कहाँ तुम-जैसा छोटा पक्षी !' कई बार यह बात कह कर वह चुप हो गयी।।९०१।।

१. मां. का. ३.४१।

एवमुक्त्वा गते तस्मिंष्टिट्टिभे जायया सह। समुद्रः श्रुतवाक्यः सन् जहाराण्डानि तस्य सः।।
गिरिप्रवरकल्लोलात् प्रहसन्निव मानतः।।६०३

गृहीत्वा च तदाण्डानि टिट्टिभस्य सरित्पतिः। व्यचारयदिदं चित्ते जानानः परमेश्वरम्।।६०४

स्थावरा जङ्गमाः सर्वे परमेश्वरभूतयः। ततोऽत्र कस्य किं वा स्यात् कदा केन कथं च वा।।
न ज्ञायते यतस्तस्य माया लोकेऽतिदुर्घटा।।६०५

ततो देशोऽस्य को नाम तथा मित्राणि कानि वा। कः कालः का च वा शक्तिः स च को वेति टिट्टिभः।।६०६

न निश्चितं मया यस्मात् तस्मादण्डानि तस्य वै। सुगुप्तानि क्वचिद् देशे स्थापयिष्यामि पक्षिणः।।६०७

इति संचिन्त्य संस्थाप्य तान्यण्डानि महोदधिः। देशे सुरक्षिते गर्जन् यथापूर्वमवस्थितः।।६०८

पूर्णोदरो जगामाऽथ तं देशं जायया सह। टिट्टिभः स ह पुत्राणामण्डानि जलधेस्तटे।।६०९

अदृष्ट्वा तानि संरक्तनयनः क्रोधमूर्च्छितः। समुद्रशोषणायैव स चक्रे निश्चयं तदा।।६१०

टिट्टिमी तादृशं दृष्ट्वा स्वपतिं हितकारणम्। उवाच वचनं सम्यक् जाया युक्तमनिन्दितम्।।६११

एवमुक्त्वा गत इति। श्रुतानि वाक्यानि येन स तथा, गिरिवत् प्रवरम् उच्चं तरङ्गं विधाय जहार, मानतो गर्वेण हसन्।।६०३।। गृहीत्वेति। व्यचारयत् चिन्तयामास। जानानः भयहेतुं मन्वानः।।६०४।। समुद्रस्य विचारमभिनयति—स्थावरा इति त्रिभिः। सर्वजन्तूनां परमेश्वरविभूतित्वात् कस्यापि शक्तिः स्वरूपकालनिमित्त-प्रकारैरवच्छिन्ना न ज्ञातुं शक्या, सर्वशक्त्याश्रयभूतायास्तन्मायाया दुर्घटकारित्वाद् इत्यर्थः।।६०५।। तत इति। तत ईश्वरविभूतित्वाद् एव अस्य देशादिकं न निश्चितं तस्माद् अस्य अण्डानि सुरक्षितदेशे स्थाप्यानि। इति द्वयोरर्थः।।६०६-७।। इति संचिन्त्येति। सुरक्षिते देशे संस्थाप्य इति गर्जन् शब्दं कुर्वन् सन् पूर्ववत् स्थितः।।६०८।।

एवं सति तृप्तः टिट्टिम आगत्य अण्डानि अदृष्ट्वा समुद्रशोषाय निश्चयं कृतवानित्याह—पूर्णोदर इति द्वाभ्याम्। स्पष्टं द्वयम्।।६०९-१०।। टिट्टिभीति। तादृशं शोषाय उद्यतं हितकारणं हिताय; युक्तं नीतिमत्।।६११।।

लेकिन टिट्टिभ माना नहीं, अपनी बात ही पुनः कहकर उसने अण्डे वहीं रख दिये और पत्नी को साथ लेकर दाना चुगने चला गया।।६०२।।

समुद्र ने उसकी बात सुन तो ली ही थी। जब टिट्टिभ-दम्पती वहाँ से चले गये तब समुद्र ने अभिमानपूर्वक हँसते हुए पहाड़-सी ऊँची लहरों द्वारा टिट्टिभ के अण्डों का अपहरण कर लिया। किंतु परमेश्वर की अचिन्त्य माया जानते हुए उसने मन में यों विचार किया :।।६०३-४।। सभी स्थावर-जंगम जंतु परमेश्वर की ही विभूति हैं अतः किसकी क्या सामर्थ्य कब किस उपाय से कैसे प्रकट हो जाये यह नहीं जाना जा सकता। सर्वत्र उपलब्ध शक्तियों का आश्रय परमेश्वर की माया-शक्ति ही है और जो होना संभव नहीं लगता उसे कर देने में वह सक्षम है। मुझे इस टिट्टिभ का देश, इसका नाम, इसके कौन मित्र हैं, इसके अनुकूल समय कौन-सा होता है, इसकी क्या शक्ति है, यह स्वयं भी है कौन इत्यादि कुछ अभी पता है नहीं। अतः इस पक्षी के अंडे कहीं सुरक्षित रख लेता हूँ।।६०५-७।। यह सोचकर महोदधि ने वे अण्डे सँभालकर रख लिये और पूर्ववत् गरजते हुए अवस्थित हो गया।।६०८।।

क्व च त्वमण्डजः स्वल्पः क्व चाऽयं सरितां पतिः। तेन सार्धं कथं वैरं करोषि न्यायवर्जितम्।।६१२
मैत्री चाऽपि विवाहो वा तुल्ययोरेव कीर्तितः। समुद्रेण कथं तुल्यस्त्वं भवस्यण्डजोऽत्र हि।।६१३
दैर्घ्याद्धि भवतो देहः षोडशाङ्गुलमानतः। हस्तमात्रं च पत्राणामायामो द्वादशाङ्गुलः।।६१४
चूतवृन्तसमं पादयुग्मं ते वर्ततेऽण्डज ! चञ्चुः कुशाग्रसदृशी पक्षौ च मृदुलौ तव।।६१५
द्वादशाङ्गुलसंमानौ चीरपिण्डसमाविह। इतोऽधिको न ते देशो बाह्यो वाऽप्यान्तरोऽपि वा।।६१६
कालः सदैकरूपस्ते तिर्यग्योनिगतस्य हि। देवदैत्यमनुष्यादौ कालो वैषम्यकारणम्।।६१७
मित्राणि नैव तेऽन्यानि मां विना दीनमानसाम्। धनानामायतेस्तद्वद्व्यापाराच्च भवन्ति हि।।
अमित्राण्यपि मित्राणि न ते तदपि पक्षिणः।।६१८

टिट्टिभीवाक्यमभिनयति—क्व चेति पञ्चदशभिः। हे अण्डज ! त्वं स्वस्मादतिविषमेण समुद्रेण सह वैरं न्यायविरुद्धं कर्तुं कथं योग्यः, यतो मैत्रीवद् विवाहवच्च समयोरेव वैरं युक्तं, मैत्रीप्रतिद्वन्द्वित्वेन मैत्रीसमानयोगक्षेमत्वात्, अभावस्य प्रतियोगिसमानयोगक्षेमत्वप्रसिद्धेरिति भावः। 'अहं तुल्य एव!' इति मन्यमानं प्रत्याह—समुद्रेणेत्यादि। अत्र प्रत्यक्षादिसिद्धव्यवहारे।।६१२-३।। तत्र हेतुतया देशादिबलाभावमाह—दैर्घ्यादिति। दैर्घ्यं शिरःप्रभृतिपुच्छान्त-परिमाणम् आलोच्य तव देहः षोडशाङ्गुलिमितो व्यवह्रियते। तथा तिर्यङ्मानेन हस्तमात्रोऽपि भवति। यतः पक्षाणाम् आयामो विस्तारः प्रतिपार्श्वं द्वादशाङ्गुलो भवति। तथा च वामपक्षाग्रमारभ्य दक्षिणपक्षाग्रं यावद् माने हस्तमात्रता युक्तेति भावः।।६१४।। चूतेति। आम्रफलस्य यद् वृन्तं बन्धनं तन्निभौ पादौ।।६१५।। द्वादशेति। चीरं जीर्णवस्त्रं तत्पिण्डवत् शिथिलौ ते पक्षौ इति। त्वया हि शरीरसमो देश आक्रमणीयः स च एतावानेवेत्यर्थः।।६१६।। नाऽपि ते कालबलं, निकृष्टजातिषु कालस्यैकरूपत्वात्; देवाद्युत्कृष्टजातिष्वेव कालस्य उत्कर्षादिप्रयोजकताया दर्शनाद् इत्याह—काल इति।।६१७।। नापि मित्रबलं, तेषां मां दीनां विना तव असत्त्वात्। नाऽपि ते सम्भावना, यत उत्तरकाले धनलाभाशया तद्वतो धनघटितात् सत्कारादिव्यापारात् च वैरिणोऽपि मित्राणि भवन्ति। तद् धनं तु भवतो न अस्तीत्याह—मित्राणीति। आयतिः उत्तरकालः तस्मात्। तद्वतो धनवतो व्यापारात् सेवादिरूपात्।।६१८।। शारीरबलाभावमाह—बाणेति। बाणमात्रे यावति बलवता प्रयुक्तो बाणः पतति तावति।

पेट भर जाने पर टिट्टिभ-टिट्टिभी जहाँ अण्डे रख गये थे वहाँ लौटे। समुद्रतट पर अण्डे न देखकर टिट्टिभ क्रोध से संतुलन खो बैठा, उसकी आँखें लाल हो गयीं और उसने तत्काल निश्चय किया कि वह समुद्र सुखा डालेगा!।।६०९-१०।। उसकी पत्नी ने उसे इस असंभव-से कार्य में उद्यत देखकर उसके हित के लिये नीतिसंमत ये उचित बातें सही ढंग से कहीं :।।६११।।

हे अण्डज ! कहाँ तुम छोटे से प्राणी और कहाँ यह सब नदियों का पति ! उससे तुम दुश्मनी क्यों ले रहे हो ? यह नीतिविरुद्ध है। दोस्ती और ब्याह बराबरी वालों में ही उचित बताया जाता है। तुम समुद्र की बराबरी कैसे कर सकते हो ? तुम्हारा शरीर कुल सोलह अंगुल लंबा और हाथ भर चौड़ा है। तुम्हारे पंखों का फैलाव भी बारह अंगुल ही है। दोनों पैर तुम्हारे आम की डण्ठल-से हैं (आम का फल पेड़ से जिसके सहारे लटकता है वह डण्ठल या वृन्त है)। चोंच कुशा की नोक जैसी और पुराने कपड़े के ढेर जैसे मृदुल तुम्हारे बारह अंगुल के पंख हैं। इससे ज़्यादा तुम्हारा बाहरी-भीतरी कोई फैलाव नहीं है।।६१२-६।। तुम तिर्यक् योनि में हो अतः तुम्हारे लिये समय हमेशा एक-सा रहता है। देव-दैत्य-मनुष्य आदि के लिये ही काल उत्कर्ष-निकर्ष आदि का हेतु बनता है।।६१७।। मुझ दुःखी मन वाली के अतिरिक्त तुम्हारे कोई दोस्त भी नहीं हैं। धनसाध्य सत्कारादि से दुश्मन भी धनलाभ की आशा से दोस्त बन सकते हैं लेकिन तुम्हारे पास तो धन भी नहीं है।।६१८।। एक बाण जितनी दूरी भी आकाश में तुम उड़ नहीं सकते और

बाणमात्रेऽपि चाकाशे गन्तुं शक्तो भवान्न हि। जन्मना टिट्टिभस्तद्वद् भवानत्राण्डजाधमः।।६१९

समुद्रस्याऽस्य देशोऽयं लक्षयोजनमायतः। अर्वाक्तीरे परे तद्वद् द्विलक्षमिति कीर्तितः।।
अधस्ताच्च भुवो यद्वद् तावन्मानमुदीरितम्।।६२०

अयं संहारकालेऽस्मिंस्त्रिलोकीमखिलामपि। आप्लावयति कल्लोलैः कुल्ययेव महीं सरः।।६२१

यावन्ति भूमौ भूतानि तावन्त्येव महोदधौ। वसन्ति सर्वदा तस्मिन् रत्नानि विविधानि च।।६२२

अस्य मित्राणि देवाश्च मुनयोऽपि तपोधनाः। अयं यच्छति देवानां मनुजानां च सर्वदा।
रत्नजातमशेषं च जातः साक्षाद् महेश्वरात्।।६२३

मैनाकाद्या महाशैला अनेकशतयोजनाः। शक्राद् भीताश्च सन्त्राता अमुना वारिराशिना।।६२४

इत्थं त्वमात्मनः सर्वं समुद्रस्य च चिन्तय। व्यर्थं विरोधं मा कार्षीरात्मनो नाशकारणम्।।६२५

हतपुत्रा च या पूर्वं कृता मौर्ख्यादिहाऽण्डज ! तव नाशादिदानीं मां मा कृथा दीनदर्शिनीम्।।६२६

इत्यादि बहुशः प्राह टिट्टिभी टिट्टिभं तदा। क्रोधसंरक्तनयनं प्रस्फुरद्रोमकूपकम्।।६२७

श्रुत्वा स टिट्टिभीवाक्यं टिट्टिभः कृतनिश्चयः। इदं वचनमाहैतत् स्त्रियं दैन्यमुपागताम्।।६२८

नाऽपि जातिबलमित्याह—जन्मनेति।।६१९।।

अथ समुद्रस्य देशबलादिसम्पत्तिमाह—समुद्रस्येति। अर्वाक्तीरे लक्षयोजनः, परतीरे प्लक्षद्वीपस्पर्शिनि तु द्विलक्षयोजनः, अधस्ताच्च पातालपर्यन्तोऽस्य देश इत्यर्थः।।६२०।। संहारकाले तु सर्वा त्रिलोक्यस्य देश इत्याह—अयमिति। महीं क्षेत्रभूमिम्।।६२१।। वित्तबलमाह—यावन्तीति। भूतानि प्राणिजातयस्तुरगगजादयः।।६२२।। मित्रसम्पत्तिमाह—अस्येति। आयतिं दर्शयति—अयं यच्छतीति। कुलबलमाह—जात इति।।६२३।। शारीरबलमाह—मैनाकाद्या इति। सन्त्राताः पालिताः।।६२४।। फलितमाह—इत्थमिति।।६२५।। अग्रे तव मौढ्येन पुत्रवियोगातुरां मां स्ववियोगेन दीनां मा कुर्वित्याह—हतेति।।६२६।।

एवं जाययोक्तस्य टिट्टिभस्य वाक्यमवतारयति—इत्यादीति द्वाभ्याम्।। प्रस्फुटन्तश्चलन्तो रोमकूपा यस्य स तथा तम्।।६२७।। श्रुत्वेति। एतत् उक्तविधं दैन्यमुपागतां प्राप्ताम्।।६२८।। 'इदं'-पदोक्तं टिट्टिभवाक्यमभिनयति—

न तुम्हारी जाति ही बलवान् है क्योंकि टिट्टिभ अंडजों में भी अधम होते हैं।।६१८।। यह तो तुम्हारा हाल है।

जिससे तुम झगड़ा करने जा रहे हो वह समुद्र इस किनारे एक लाख योजन और परले किनारे दो लाख योजन लंबा है और पाताल पर्यन्त गहरा है। संहार के समय यह अपनी लहरों से सारी त्रिलोकी डुबा देता है जैसे सरोवर नहर से खेत को डुबा देता है। भूमि पर जितने प्राणी हैं उतने ही समुद्र में हैं। विविध रत्न भी उसमें हमेशा रहते हैं। तपोधन मुनि और देवता भी इसके मित्र हैं। स्वयं यह साक्षात् महेश्वर से पैदा हुआ है और देवता, मनुष्य आदि को सारे रत्न देता रहता है। अनेक सैकड़ों योजन बड़े महापर्वत मैनाक आदि इंद्र से डर गये थे, तब इस समुद्र ने ही उनकी रक्षा की।।६१९-२४।। तुम्हें इस प्रकार अपने और सागर के बारे में सब कुछ सोचना-समझना चाहिये, व्यर्थ ऐसा विरोध नहीं करना चाहिये जो अपना ही नुकसान करे। पहले ही तुमने मूर्खता से मुझे पुत्रवियोग से दुःखी कर दिया है अब ऐसा कुछ मत करो जिससे तुम्हारा भी नाश हो जाये और मैं अनाथ विधवा दुःख ही देखती रहूँ।।६२५-६।।

इस प्रकार और भी उसने क्रोध से लाल नेत्रों वाले और फड़कते रोमकूपों वाले अपने पति को बहुत समझाया।।६२७।।

उसकी बातें सुनकर भी टिट्टिभ अपने निश्चय पर दृढ रहा और उस दुःखिया से बोला :।।६२८।।

सम्पत्काले च मित्राणि सन्ति कोटिसहस्रशः। आपत्काले तु यन्मित्रं तन्मित्रं परिकीर्तितम्॥६२९
व्यसने समनुप्राप्ते योग्यं त्यजति देहभाक्। स तस्य शत्रुर्विज्ञेयो ह्यपि जायासुतादिकः॥६३०
पुण्यं वाऽप्यथ वा पापं सुखं वा दुःखमेव वा। निश्चितं योऽनुवर्तेत तन्मित्रमिति कीर्तितम्॥६३१
आत्मवत् सम्मतो दर्पाद् यः प्राज्ञो बहु भाषते। व्यसने समनुप्राप्ते स तु शत्रुसमो मतः॥६३२
आत्मनोऽभ्युदयाकांक्षिशत्रुं मित्रस्वरूपिणम्। निहत्य प्रथमं हन्यात् साक्षात् शत्रुं ततः परम्॥६३३
अतस्त्वं मित्ररूपापि शत्रुवत् प्रतिभाषसे। अवध्या स्त्रीति मत्वाऽहं न करोम्यघ पातकम्॥६३४
अपि सप्तपदं मित्रं वदन्त्यत्र विपश्चितः। त्वया सह चिरं कालं स्थितोऽहं स्वस्थमानसः॥६३५
करिष्यामि कथं द्रोहं स्त्रियो मित्रस्य तेऽधुना। ततो याहि त्वमेतस्मात् स्थानादन्यत्र मा चिरम्॥६३६

सम्पत्काल इति नवभिः। स्पष्टम्॥६२९॥ व्यसन इति। यो देही यं व्यसने विपदि त्यजति स त्यक्ता जायादिरूपोऽपि तस्य त्यक्तस्य शत्रुः एवेत्यर्थः॥६३०॥ तर्हि कीदृङ्मित्रम्? इत्याकांक्षायामाह—पुण्यमिति। पुण्याद्यन्यतमविषयकं कर्तव्यत्वभोग्यत्वाऽन्यतरप्रकारकं निश्चयं यः अनुसरति, न प्रतिहन्ति, स लोके मित्रत्वेन प्रसिद्ध इत्यर्थः॥६३१॥ आत्मवत् सम्मत इति। यः प्राज्ञत्वेन आत्मवद् विश्वासपात्रं सम्यङ्मतो निश्चितोऽपि व्यसनकाले दर्पाद् दर्पं चित्तोत्साहम् अत्ति भक्षयति तत् तथाविधं वाक्यं कर्णस्य शल्यवद् बहु यथा भवति तथा भाषते स शत्रुतुल्य इत्यर्थः॥६३२॥ आत्मन इति। य आत्मन एव अभ्युदयं योगक्षेमम् आकांक्षते, न तु सुहृदः स आत्मनोऽभ्युदयाकांक्षी तद्रूपं शत्रुं मित्रस्वरूपिणं मित्ररूपेण प्रच्छन्नं प्रथमं हत्वा पश्चात् साक्षात् प्रकटं शत्रुं हन्याद् इत्यर्थः॥६३३॥ अतस्त्वमिति। यतः त्वं शत्रुवद् भाषसेऽतो मित्राभासत्वेन ज्ञाताऽसि। तथापि त्वद्वधरूपं पातकं यद् न करोमि तत्र हेतुः 'स्त्री अवध्येति' शास्त्रानुसन्धानमेवेत्यर्थः॥६३४॥ किं च तव अवधे हेतुः लक्षणान्तरेण प्राप्तं मित्रत्वमपि इत्याह—अपि सप्तपदमिति। सप्तपदानि वाक्यानि पादन्यासा वा सह कृताः कारणं यस्य तत् तथाभूतं मित्रं मित्रपदार्थं वदन्ति। के? अत्र मित्रपदार्थे ये विपश्चितः कुशलाः। त्वया सह चिरं स्थितेन मया त्वयि मित्रत्वस्य सुतरां ज्ञेयत्वात् तव द्रोहं शारीरदण्डं न करोमि। किन्तु पूर्वोक्तलक्षणैः शत्रुत्वं विज्ञाय 'मत्सन्निधेः गच्छ' इत्युक्तिरूपं धिग्दण्डमेव। इति द्वयोरर्थः॥६३५-६॥

सम्पत्काल में तो करोड़ों मित्र होते हैं, वास्तव में मित्र तो वही कहा जाता है जो विपत्ति के समय मित्रता निभाये। जिस पर विपत्ति पड़ी हो उसे जो देही छोड़ देता है वह छोड़ने वाला चाहे पत्नी, पुत्र आदि हो तो भी उसका शत्रु ही समझना चाहिये। पुण्य-पाप-सुख-दुःख आदि कर्तव्य-भोक्तव्य के बारे में जो जिसके निश्चय का अनुसरण करे वही उसका मित्र है। जिसे हमने स्वयं जैसा भी निरतिशय विश्वास का पात्र समझा हो वह विपत्तिकाल आने पर प्राज्ञ बनकर बहुत बोलने लगे, उत्साह नष्ट करने लगे तो उसे शत्रु जैसा ही माना गया है। जो अपना ही कल्याण चाहे न कि मित्र का, ऐसा शत्रु चाहे मित्र बना बैठा हो, पहले मार डालने योग्य है; जो खुले-आम शत्रु है उसे बाद में मार सकते हैं॥६२९-३३॥ क्योंकि इस आपत्काल में तू शत्रु की तरह मेरे निश्चय का प्रतिवाद कर रही है इसलिये मुझे समझ आ गया कि तू नकली मित्र ही है! स्त्री है अतः मारने के अयोग्य समझकर तेरी हत्या का पाप नहीं कर रहा। विद्वान् कहते हैं कि जिसके साथ सात कदम चल ले या सात बातें कर ले वह मित्र हो जाता है। तेरे साथ तो मैं बहुत समय तक रह चुका हूँ। मेरा मन अपने धर्मनिश्चय पर स्थिर रहता है। तू स्त्री है, उक्त लक्षण से मित्र भी है अतः तुझे शारीरिक दण्ड कैसे दे सकता हूँ! तुझे धिग्दण्ड ही देता हूँ—तू इस स्थान से, मेरे पास से कहीं अन्यत्र चली जा, देर मत कर॥६३४-६॥

एक एव स्ववीर्येण शोषयिष्यामि सागरम्। चञ्च्वा पक्षद्वयेनाऽपि संगृह्याऽस्य जलं बहिः।
अचिरेणैव कर्ताऽहमन्धकूपं पयोनिधिम्।।६३७

एवमुक्त्वा ततो जायाम् उत्प्लुत्य च नभस्तथा। समुद्रशोषणायासौ प्रवृत्तष्टिट्टिभस्तदा।।६३८

समुद्रशोषणे तस्य निश्चयं वीक्ष्य सा तदा। पतिव्रता क्षमाप्यैनं तद्वदेवाऽकरोत् स्वयम्।।६३९

टिट्टिभी टिट्टिभश्चोभौ दिवा रात्रौ च सर्वदा। समुद्रशोषणे यत्नं कुर्वाते श्रमवर्जितौ।।६४०

चञ्चुद्वयेन पक्षैश्च नीरमादाय सागरात्। गच्छतोर्मारुतादेव तन्नीरमुपशुष्यति।।६४१

तथाऽपि तज्जले गत्वा गत्वा गत्वाऽप्यनेकशः। नीरमादाय तद् भूमौ क्षिपतस्तावनेकधा।।६४२

एवं प्रवृत्तौ तौ वीक्ष्य टिट्टिभीटिट्टिभौ ततः। टिट्टिभा अपरे प्रोचुः तस्यास्तस्य निवारणे।।
वाक्यं बहुविधं तौ च प्रोचतुष्टिट्टिभानिति।।६४३

सागरं शोषयिष्यावः सर्वथा चाऽत्र पक्षिणः। मित्रता चेत् सहायत्वं कुर्वन्त्वस्य विनाशने।
अथ नैवं स्वनीडानि व्रजन्तु च यथागतम्।।६४४

एवमुक्ते तथा सर्वे टिट्टिभाश्चक्रुरुद्यमम्। समुद्रशोषणे यद्वत् पूर्वमेतौ समुद्यतौ।।६४५

अण्डजा एवमेवैते नानाभेदाः समागताः। सर्व एव समुद्रस्य शोषणाय कृतोद्यमाः।।६४६

तर्हि मां विना किं करिष्यसि ? इति वदन्तीं प्रत्याह—एक एवेति। शोषणप्रकारमाह—चञ्च्वेति। बहिः प्रक्षिपन्निति शेषः। अन्धकूपं तत्समम्।।६३७।। एवमुक्त्वेत्यादि त्रयं निगदव्याख्यातम्।।६३८-४०।। चञ्चुद्वयेनेति। यद्यपि चञ्चुद्वयेन पक्षैश्च नीरमादाय गच्छतोः तयोः वेगोत्थिताद् मारुतादेव हेतोः तद् उपात्तं नीरं शुष्यति तथापि तज्जले समुद्रजले पुनः पुनः गत्वा तद् नीरं तौ दम्पती बहिः क्षिपतः स्म। इति द्वयोः सम्बन्धः।।६४१-२।।

एवं प्रवृत्ताविति। एवं शोषणाय प्रवृत्तौ तौ दम्पती वीक्ष्य तयोर्वारणार्थं वाक्यम् अपरे टिट्टिभा ऊचुः। तौ च तान् प्रति इत्थमूचतुः। 'इत्थं' कथम् ? यदि यूयं मित्राणि तर्ह्यत्र कर्मणि साहाय्यं कार्यम्। अथ पक्षान्तरे एवम् अस्मद्वद् न क्रियते तर्हि भवन्तः स्वनीडानि गच्छन्तु। इति द्वयोरर्थः।।६४३-४।। तयोरुक्तवाक्यनियन्त्रिताः सर्वे टिट्टिभाः तथा प्रवृत्ता इत्याह—एवमुक्त इति।।६४५।। एवमन्यजातीया अपि पक्षिणस्तैर्मित्रत्वसम्बोधनेन स्वव्यापारे योजिता इत्याह—अण्डजा इति।।६४६।।

मैं अकेले ही अपनी ताकत से सागर सुखा डालूँगा। चोंच में और दोनों पंखों में इसका पानी भर कर बाहर लाकर डालूँगा। इस समुद्र को जल्दी ही अँधियारा कुआ बना दूँगा।।६३७।।

यों पत्नी को फटकार कर वह आकाश में उड़ा और उक्त प्रक्रिया से समुद्र सुखाने में तत्काल प्रवृत्त हो गया।।६३८।। उस पतिव्रता टिट्टिभी ने उसका दृढ निश्चय देख कर उसकी डाँट का बुरा नहीं माना और वह भी पति की तरह ही समुद्र सुखाने में जुट गयी। दिन-रात वे दोनों थके बिना परिश्रम करते रहे। अपनी दोनों चोंचों और चारों पंखों में सागर से जल लेकर वे उड़ते तो हवा से ही उतना पानी सूख जाता था ! फिर भी वे निरंतर जल में जा-जाकर पानी लाकर ज़मीन पर डालते ही रहे।।६३९-४२।। उन्हें यों करते देख अन्य बहुतेरे टिट्टिभ-टिट्टिभियों ने उन्हें ऐसा करने से रोकने के लिये बहुत-कुछ समझाया पर उन दोनों ने जवाब दिया :।।६४३।। हे पक्षियो ! हम दोनों यह सागर पूरा सुखा डालेंगे ! यदि तुममें मित्रता हो तो इसे नष्ट करने में सहायता दो और मित्रता न हो तो जैसे आये हो वैसे अपने घोसलों में लौट जाओ।।६४४।।

त्रिलोकीं पर्यटन् क्वाऽपि स्वेच्छया नारदो मुनिः। पक्षिणस्तान्निरीक्ष्याऽथ बहुधा च न्यवारयत्।।६४७
निवारिता यदा नैतच्चक्रुर्दुःखातुराः खगाः। तदोपायमुवाचैतान् गरुडस्यागमं प्रति।।६४८
गतेषु तेषु गरुड आगतो भयवर्द्धनः। तस्य दर्शनमात्रेण सागरोऽतीव विह्वलः।।
भीत्या वै टिट्टिभस्यात्तान्यदाद् अण्डानि तानि सः।।६४९
एवं खेदेन रहितः पुरुषोऽपि मनोजयम्। कुर्वीत टिट्टिभो यद्वत् समुद्रस्य विशोषणम्।।६५०
निश्चये तु कृते पुंसो देवास्तस्य सहायिनः। भवन्ति टिट्टिभस्याऽभूत् सहायो गरुडो यथा।।६५१
पुण्ये कर्मणि साहाय्यं प्रायः सर्वेऽपि कुर्वते। रामस्य वानरा यद्वत् स्वदारान् प्रतिविन्दतः।।६५२

अभीष्टसिद्धये गुणाः

उद्यमः साहसं धैर्यं बलं बुद्धिः पराक्रमः। षडिमे यस्य तिष्ठन्ति स सर्वं प्राप्नुयात् पुमान्।।६५३

ततो नारदो मुनिरेत्य निवारणाऽनङ्गीकारेण तन्निश्चयदार्ढ्यं विज्ञाय गरुडागमनरूपमुपायं तान् प्रति उवाचेत्याह—त्रिलोकीमिति। क्वापि कुत्रचित् समुद्रैकदेशे समुदितान्। एतद् निवारणाङ्गीकरणं यदा न चक्रुः तदा एतान् प्रति गरुडागमरूपम् उपायमुवाच। इति द्वयोरर्थः।।६४७-८।। गतेष्विति। तेषु पक्षिषु पक्षिराजं गरुडमानेतुं गतेषु सत्सु गरुड आगमत्। तस्य दर्शनमात्रेण भीत्या विह्वलः सागरः तानि आत्तानि गृहीतानि अण्डानि अदाद् इति सम्बन्धः।।६४९।।

दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति।।६५०।। निश्चये त्विति। दृढे निश्चये कृते सति देवाः सहायिनः साहाय्यकरा अवश्यं भवन्ति इत्यत्रापि उक्तमुदाहरणमित्यर्थः।।६५१।। सजातीय एवाऽनुगृह्णाति यथा टिट्टिभस्य पक्षित्वेन गरुड इति न भ्रमितव्यम्; यतो विजातीयानामपि साहाय्यदर्शनात् या या सत्कर्मणि दृढा प्रवृत्तिः सा सर्वाऽपि देवानुग्रहवतीत्येव व्याप्तिशरीरं लाघवेन विवक्षितमित्याह—पुण्य इति। सर्वे विजातिरूपा अपि यथा भार्यार्तिहरणे प्रवृत्तस्य रघुपुङ्गवस्य वानररूपा देवाः सहाया इति प्रसिद्धमित्यर्थः।।६५२।।

तत्र अभीष्टसिद्ध्यर्थम् एते गुणाः सम्पाद्या इत्याह—उद्यम इति। उद्यमः पौरुषम्। साहसं दमो यतेन्द्रियत्वरूपः—'साहसं दमे दुष्कृतकर्मणी'ति हैमः। धैर्यं विघ्ने सत्यपि चित्ताऽवैक्लव्यम्। बलं दृष्ट-साधनसम्पत्तिः। बुद्धिः कौशलम्। पराक्रमो विक्रमः; परस्य इतरस्य प्रकृताऽनुपयोगिनो व्यापारस्य अक्रमः अनारम्भो

इस पर सब टिट्टिभ भी मित्रता निभाते हुए उन्हीं की तरह समुद्र सुखाने में लग गये। और भी नाना प्रकार के अण्डज यह अनोखा प्रयास सुनकर पक्षिसमाज की एकजुटता प्रकट करते हुए वहाँ पहुँचे और सभी ने अपने-अपने तरीके से समुद्र सुखाने की कोशिशें चालू कर दीं।।६४५-६।।

स्वेच्छा से त्रिलोक का पर्यटन करते हुए महामुनि नारद भी वहाँ पधारे ! पक्षियों को ऐसा असंभव प्रयास करते देख उन्होंने कई तरह से उन्हें रोकने की कोशिश की लेकिन अण्डों की चोरी से दुःखातुर पक्षी रुकने को तैयार ही नहीं हुए। तब नारद जी ने उन्हें वह तरीका बताया जिससे गरुड का वहाँ आगमन हो। पक्षियों ने उसी प्रकार जाकर प्रार्थना की तो पक्षिराज गरुड वहाँ आ गये। वे शत्रु को अधिकाधिक डराने में समर्थ हैं ही। उन्हें देखते ही सागर बहुत विह्वल हो गया। डर कर उसने टिट्टिभ के अंडे लौटा दिये।।६४७-९।।

इसी प्रकार मनुष्य को चाहिये कि जैसे टिट्टिभ समुद्र सुखाने में तत्पर रहा (और अपने अण्डे पुनः प्राप्त करने में सफल हो गया) वैसे खिन्न हुए बिना मन जीतने के लिये प्रयासशील रहे। पुरुष निश्चय पर अटल रहे तो देवता उसकी सहायता को आ जाते हैं जैसे गरुड टिट्टिभ की सहायता को आ गये थे। पुण्य कर्म में प्रायः सभी सज्जन सहायक बन जाते हैं जैसे जब रामजी अपनी चुराई पत्नी ढूँढ रहे थे तब बंदर भी उनके सहायक हो गये थे।।६५०-२।।

प्रभूतं वाऽथ वा स्वल्पम् उपक्रान्तं न सन्त्यजेत्। कार्यं यथा पदं सिंहः पृष्ठतो निदधाति न।।६५४
कालकूटं हरस्तद्वत् समुद्रो वडवानलम्। कूर्मो भूमिं च सततं दधात्येवाऽपरित्यजन्।।६५५
इत्यादि चिन्तयित्वाऽयं निग्रहे मनसः पुमान्। प्रवृत्तो न निवर्तेत मरणान्तेऽपि सङ्कटे।।६५६

निग्रहप्रकारः

[1]उपायेन निगृह्णीयाद् विक्षिप्तं कामभोगयोः। सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा।।६५७
दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत्। अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति।।६५८
लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः। सकषायं विजानीयात् समप्राप्तं न चालयेत्।।६५९

वा। एते षड् गुणा यस्य सन्ति स सर्वम् इष्टं साधयेद् इत्यर्थः।।६५३।। तत्र पराक्रमं सिंहात् शिक्षेद् इत्याह—प्रभूतमिति। प्रभूतं बहु, स्वल्पं वा कर्म यद् आरब्धं तद् न त्याज्यं यथा सिंहः पुरतो निहितं पादं शस्त्रादिसम्पातेऽपि पृष्ठतो न निदधाति इति प्रसिद्धमित्यर्थः।।६५४।। अङ्गी कृताऽपरित्यागे महात्मानो बहव उदाहरणम् इत्याह—कालकूटमिति। तथा च प्रमुक्तकं पद्यम्—'अद्यापी'त्यादि[2]।।६५५।। फलितमाह—इत्यादीति। इत्यादि न्यायजातम्।।६५६।।

मनोनिग्रहः कथं कर्तव्यः ? इत्याकांक्षामपि साम्प्रदायिकवचनैरेव परिहरति—उपायेनेति चतुर्भिः। उपायेन वक्ष्यमाणेन चित्तं निगृह्णीयाद् निरुन्ध्यात्। कीदृशम् ? कामभोगयोः कामे इच्छारूपे रजःकार्ये भोगे वैषयिकसुखानुसन्धानरूपे सात्त्विके च विक्षिप्तं तत्परमित्यर्थः। तथा लये निद्रारूपे तामसे सुप्रसन्नं जाग्रत्स्वप्नविक्षेपरहितमपि निगृह्णीयाद् इति सम्बन्धः। यतो यथा कामोऽनर्थहेतुः तथा लयोऽपि दोषबीजात्मकत्वाद् इति भावः।।६५७।। उपायमभिनयति—दुःखमिति। सर्वं द्वैतजातं दुःखं परितापादिभिर्योगसूत्रप्रसिद्धैः (२.१५) हेतुभिः, ब्रह्मानन्दाच्छादकत्वाद्वा दुःखरूपम् इति शास्त्राचार्योपदेशानुसारेण चिन्तयन् कामविशिष्टाद् भोगात्—जातावेकवचनम्—निवर्तयेद् मन इत्यनुषङ्गः। एतेन वैराग्यं प्रथम उपाय इत्युक्तम्। अथ ज्ञानाभ्यासरूपं द्वितीयमुपायमाह—अजं सर्वविकारहीनं ब्रह्मैव सर्वम् इत्येवं तत्त्वस्य पुनः पुनः स्मरणेन जातं विकारि द्वैतं नैव पश्यति विद्वानित्यर्थः।।६५८।। अनेनोपायद्वयेन चित्तस्य योगविरुद्धास्तिस्रोऽवस्थाः लय-विक्षेप-कषायाख्याः प्रतिहन्याद्, ब्रह्माकारतां च परिपालयेद् इत्याह—लय इति। लये निद्रारूपे प्रवर्तमानं चित्तं सम्बोधयेद् उक्तबोधाभ्यासे तल्लग्नं कुर्यात्। विक्षिप्तं कामभोगाकारं तु शमयेत् ततो व्यावर्तयेत्। कषायो नाम रागादिसंस्कारेण आत्माऽनात्मोभयाकारताराहित्यरूपा स्तब्धाऽवस्था, तत्सहितं विजानीयाद् अवेक्षेत। अवेक्षितं च तं दोषम् उपायेन युगपत् प्रवृत्तेन परिहरेद् इति भावः। यदा तु मनः समप्राप्तं ब्रह्माकारं भवेत्, तदा न चालयेत् ताम् अवस्थां परिपालयेदिति यावत्।।६५९।। नास्वादयेदिति। यथा तत्र

जिसके पास ये छह गुण हों वह सभी कुछ प्राप्त कर सकता है—१) उद्यम—अर्थात् पौरुष, मेहनत; २) साहस—इंद्रियों को नियंत्रित रखकर उनसे अधिकाधिक कार्य लेने की हिम्मत; ३) धैर्य—विघ्नों से घबराना नहीं; ४) बल—धन, उपकरण आदि सहायक-संपत्ति; ५) बुद्धि—कुशलता, मौके के अनुरूप निर्णय लेने की सामर्थ्य; ६) पराक्रम—जिस काम में लगा है उससे अन्य कामों में न उलझना।।६५३।।

जैसे शेर पैर बढ़ाकर एक कदम भी पीछे नहीं हटता ऐसे बड़ा कार्य हो या छोटा, प्रारंभ किये कार्य को पूरा किये बिना छोड़ना कभी नहीं चाहिये।।६५४।। महादेव गले में कालकूट विष को, समुद्र वडवाग्नि को, कूर्म पृथ्वी को लगातार बिना छोड़े धारण किये ही रहते हैं।।६५५।। इस प्रकार के उदाहरणों पर विचार कर मनोनिग्रह में प्रवृत्त पुरुष को मरणपर्यंत का संकट आने पर भी निवृत्त नहीं होना चाहिये।।६५६।।

१. मां. का. ३.४२-४६।
२. 'अद्यापि नोज्झति हरः किल कालकूटं, कूर्मो बिभर्ति धरणीं खलु पृष्ठभागे। अम्भोनिधिर्वहति दुर्वहवाडवाग्निम्, अङ्गी कृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति।।'

नास्वादयेत् सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्। निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकी कुर्यात् प्रयत्नतः।।६६०

गौडपादीयोपसंहारः

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः। अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा।।
[1]स्वच्छं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्।।६६१

निरोधावधिः

तावदेव निरोद्धव्यं हृदि यावत् क्षयं व्रजेत्। क्षयोऽपि मनसः पूर्वं समताभाव ईरितः।।६६२

समाधिसत्त्वोत्कर्षात् प्रादुर्भवन्तं सुखविशेषं नास्वादयेत् तत्र न सज्जेत्; यदा निश्चलं ब्रह्माकारमपि चित्तं निश्चरद् बहिर्गमनाभिमुखं भवति तदा प्रयत्नविशेषेण एकी कुर्यात् ततो निरुद्ध्य सन्मात्रतां नयेद् इत्यर्थः।।६६०।। मनसो ब्रह्माकारताया लक्षणमाह—यदेति। यदा लयविक्षेपाभ्यां चकारात् कषायेण च रहितं चित्तम् अनिङ्गनम् इङ्गनेन चलनेन रहितं, तथा अनाभासम् आभासेन कल्पितरूपेण दृश्यजातेन रहितं च भवति तदा तद् ब्रह्म सम्पन्नं ब्रह्मभावं गतमिति बोध्यम्। ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणमाह—स्वच्छमित्यादिना। स्वच्छं शुद्धं, शान्तं सर्वानर्थोपशमरूपं, सनिर्वाणं मोक्षसहितं नित्यमुक्तमिति यावत्, अकथ्यं वागाद्यगोचरम्, उत्तमं सुखं भूमाख्यानन्दरूपम् इत्यर्थः।।६६१।।

उक्ताभिप्रायेणैव 'तावदेव'[2] इत्यादिमन्त्रेण निरोधावधिरुक्त इति दर्शयंस्तदर्थमाह—तावदेवेति षड्भिः। मनोनिरोधस्य एतावानेव अवधिः यो हृदि हृदयसाक्षिणि तस्य मनसः क्षयो बाधः। तत्प्रकारस्तु समताभावो ब्रह्मतालाभरूपः साम्प्रदायिकवचनैर्दर्शित इत्यर्थः।।६६२।। अयं निरोध एव सांख्ययोगयोः फलभूत इत्याह—एतदिति।

वैषयिक कामना या सुखभोग में तत्पर मन को उपाय से निरुद्ध करना चाहिये। लय अर्थात् नींद में निर्विक्षेप हुए मन का भी निग्रह ही करना चाहिये क्योंकि जैसे कामना अनर्थहेतु है ऐसे लय भी पुरुषार्थसाधक नहीं है।।६५७।। सारा द्वैत दुःख है यह याद रखते हुए कामना और विषयभोग से मन को रोके अर्थात् मनोनिरोध का एक उपाय वैराग्य है। 'सारा दृश्य वस्तुतः अज ब्रह्म ही है' इस विचार के अभ्यास से विकारात्मक द्वैत दीखता ही नहीं कि मन को विचलित करे; अर्थात् मनोनिग्रह का दूसरा उपाय अभ्यास है।।६५८।। मन नींद में जाने लगे तो उसे उक्त विचाररूप अभ्यास में लगाना चाहिये और कामना या भोग का आकार ग्रहण करने लगे तो दुःखादि-अनुस्मरणपूर्वक उससे उसे रोकना चाहिये। रागादि के संस्कारों के कारण मन का स्तब्ध हो जाना कषायावस्था है, तब आत्माकार या विशिष्ट किसी अनात्मा के आकार की वृत्ति नहीं बनती; जब मन इस स्थिति में हो तब सावधानी से उसका निरीक्षण कर उसे यत्नपूर्वक आत्माकार बनाना चाहिये। जब मन ब्रह्माकार बने तब उसे चंचल न करे, वह अवस्था बनाये रखे।।६५९।।

समाधि की गंभीरता में स्फुरने वाले सुख में भी आसक्त न हो जाये वरन् प्रज्ञापूर्वक संगहीन बना रहे। ब्रह्माकार होकर भी जब मन बाहर की ओर अभिमुख हो तो उसे प्रयत्न कर एकाग्र करे, अन्तर्मुख बना कर सन्मात्राकार में ले जाये।।६६०।। मन जब लय-विक्षेप-कषाय से रहित हो जाये, स्थिर रहे, दृश्याकार न ले तब समझना चाहिये कि वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गया है। ब्रह्म शुद्ध है, सभी अनर्थों का उपशमरूप है, नित्यमुक्त है, वाणी आदि का अविषय है, उत्तम सुख है। (इसी आकार का मन बनता है यह भाव है। यहाँ तक गौडपादीय वचनों का संग्रह पुराणकार ने किया। अब पुनः अमृतबिंदु का क्रम चलाते हैं।)।।६६१।।

तभी तक मन का निरोध करना चाहिये जब तक वह हृदय अर्थात् बुद्धिसाक्षी में विलीन न हो जाये। विलय का मतलब यही है कि मन वही रूप ग्रहण कर ले जो ब्रह्म का रूप है।।६६२।। मनीषियों के अनुसार वेदांतवाक्यों

---

१. 'स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्। अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते।।' मां. का. ३.४७।।

२. 'तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदि गतं क्षयम्। एतज्ज्ञानं च ध्यानं च शेषो न्यायश्च विस्तरः।।' अमृत. ५।।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं शास्त्रजन्यं मनीषिभिः। ध्यानं चैतत् फलं तद्वद् नातोऽन्यद् विद्यतेऽधिकम्।।६६३

शास्त्राण्यभ्यस्यतो नित्यं वाग्मित्वमधिकं भवेत्। उरःकण्ठादिशोषश्च नैतस्मादधिकं परम्।। इदं विज्ञाय मेधावी ह्यल्पग्रन्थे सुखी भवेत्।।६६४

ज्ञातोऽपि सुखदो न स्यात् शेषो ग्रन्थस्य विस्तरः। मनसो निग्रहं हित्वा तस्मात् कार्यः स एव हि।।६६५

दानमिज्या तपः शौचं तीर्थं वेदाः श्रुतं तथा। अशान्तमनसः पुंसः सर्वमेतद् निरर्थकम्।।६६६

मनोनिरोधतः सर्वं लोकद्वयफलं भवेत्। शुभं निरोधेन विना न किञ्चिदपि लभ्यते।।६६७

निरोधो मोक्षोपयोगी

मोक्षार्थिना यदा सम्यङ्निरुद्धं तद् मनो भवेत्। अचिन्त्यं ब्रह्म मनसा न चिन्त्यं विषया यथा।।६६८

शास्त्रं वेदान्तवाक्यं तत्फलभूतं ज्ञानम् अपि एतद् उक्तनिरोधात्मकमेव, तथा ध्यानं योगोऽप्युक्तरूप एव यत उक्तनिरोधाद् अधिकं फलं किञ्चिद् न अस्तीत्यर्थः।।६६३।। 'शेषो न्यायस्य विस्तर' इति पाठं सूचयंस्तदर्थमाह—शास्त्राणीत्यादिना। यत एतन्निरोधं विहाय शास्त्राभ्यासं कुर्वतो जनस्य वाग्मित्वं न्यायपदोक्तव्यवहारोपयुक्तं वाक्कौशलं भवेत्, न च एतस्माद् निरोधात् परं भिन्नम् अधिकं किञ्चित् फलं लभ्यते, इदं निरोधस्वरूपं विज्ञाय तु अल्पग्रन्थे पाठेनाऽपि सुखी परमपुरुषार्थं गतो भवेद् इत्यर्थः।।६६४।। ज्ञातोऽपीति। यतो मनसो निग्रहं तदुपयोगिनं ग्रन्थभागं च हित्वा शेषो ग्रन्थः सुविज्ञातोऽपि न सुखदः, विस्तरत्वात् शब्दप्रपंचमात्रत्वात्। तस्मात् स मनोनिग्रह एव सम्पाद्य इत्यर्थः।।६६५।

ननु शेषग्रन्थोक्तदानाद्यनुष्ठानादभीष्टसिद्धिः स्याद् इति चेत् ? न, तेषां मनःशान्तिं विना कुञ्जरस्नानसमत्वाद् इत्याशयेनाह—दानमिति।।६६६।। तत्र हेतुतया लौकिकसत्फलानामपि चित्तैकाग्र्यं विना न प्रसिद्धिरित्याह—मन इति। सर्वं शुभं लोकद्वयवर्ति फलं मनःसंयमेनैव भवतीति प्रसिद्धम् इत्यर्थः।।६६७।।

अस्य मोक्षोपयोगितां 'नैवे' त्यादिमन्त्रेण[1] ब्रह्मस्वरूपावेदनपूर्वकमुक्ताममभिनयति—मोक्षार्थिनेति। यदा मोक्षकामेन मनो निरुद्धं भवति तदा पुमांस्तद् ब्रह्म अनायासात् सम्पद्यते—ऐक्येन लभते। 'तत्' किम् ? यदचिन्त्यादिरूपम् इति तृतीयेनाऽभिसम्बन्धः। तत्र मनसाऽचिन्त्यं चिन्ताविषयतां नेयं न भवतीत्याशयेन श्रुतौ 'नैव चिन्त्यम्' इत्युक्तम्। यतश्च विषया यथा पराक्त्वेन चिन्त्यन्ते तथा न चिन्त्यं किन्तु प्रत्यक्त्वेन चिन्त्यमेव, ततः श्रुतौ 'न चाऽचिन्त्यम्' इत्युक्तमित्यर्थः।।६६८।। अचिन्त्य-चिन्त्यपदयोः क्रमेण पूर्वोत्तरार्धाभ्यामर्थमाह—

का फलभूत ज्ञान यह निरोध ही है और योग का भी यही स्वरूप है। इस निरोध से बेहतर कोई फल नहीं है।।६६३।। इसका अभ्यास बिना किये हमेशा शास्त्रों का ही अभ्यास करता रहे तो अच्छा प्रवक्ता बन सकता है, छाती-कंठ आदि में शुष्कता आ सकती है, इससे अधिक कोई मूल्यवान् फल नहीं हो सकता। इस बात को समझकर मेधावी को चाहिये कि थोड़ी-सी शब्दराशि से तथ्य ग्रहण कर निरोध में ही संलग्न होवे।।६६४।। मन का निग्रह और उसके उपयोगी ग्रंथभाग को छोड़कर बाकी विस्तृत ग्रंथ समझने से भी सुख नहीं दे सकता। इसलिये मनोनिग्रह ही सम्पन्न करना चाहिये।।६६५।।

दान, यज्ञ, तप, शौच, तीर्थ, वेद, पुराणादि सुनना—ये सभी निरर्थक हैं यदि पुरुष का मन अशान्त रह जाये।।६६६।। इह-परलोकों में होने वाले सभी शुभ फल मन को संयत रखने पर ही हो पाते है।। मन नियंत्रित न हो तो कोई महत्त्वपूर्ण कार्य ढंग से सम्पन्न नहीं किया जा सकता।।६६७।।

---

१. 'नैव चिन्त्यं न चाचिन्त्यं न चिन्त्यं चिन्त्यमेव तत्। पक्षपातविनिर्मुक्तं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।।' अमृत. ६।।

मनसाऽत्र यतोऽचिन्त्यं न चिन्त्यं तेन जन्तुभिः। न चिन्त्या विषयास्ते वै मनसा तु मुमुक्षुभिः।६६९

शत्रुमित्रादिसञ्जातपक्षपातविवर्जितम्। अनायासात् पुमानेष ब्रह्म सम्पद्यते तदा।।६७०

मनसश्च विशेषेण भाव एव विशेषकम्। अविशेषाऽऽत्मभावेन सतो भावो भविष्यति।।६७१

मनसाऽत्रेति। यतो मनसाऽत्र संसारे प्रवृत्तेन अचिन्त्यं तेन जन्तुभिः अविवेकिभिः न चिन्त्यम् इत्याशयेन अचिन्त्यम् इत्युक्तम्। मुमुक्षून् विवेकिनः प्रति तु 'युष्माभिः विषया न चिन्त्या' इत्युपदेशाय 'चिन्त्यम्' इत्युक्तम् इत्यर्थः।।६६९।। शत्रुमित्रेति। यथा जीवानां शत्रुमित्रादिषु संजायमानः पक्षपातः प्रसिद्धः सोऽत्र ब्रह्मणि नास्ति सर्वत्रोपाधिषु समत्वाद् इत्यर्थः। तथा च श्रुतिः 'समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन' (बृ. १.३.२२) इत्यादिः।।६७०।।

निरोधे मनसः शून्यतापत्तिभ्रमं व्युदस्यतः 'स्वरेण' इत्यादिमन्त्रस्य[1] भावम् आह—मनसश्चेति। मनसो योऽयं विशेषेण शब्दार्थरूपेण सह भावः सम्पृक्ततया सत्ता विद्यमानतेति यावत्, एतद् एव विशेषकं विशेषयति व्यावर्तयति इति तथा, कर्तरि ण्वुल्; ब्रह्मणः सकाशाद् व्यावर्तको धर्म इति यावत्। यदा तु अविशेषात्मनो भावेन भावनया युक्तं मनो भवेत् तदा सतः सन्मात्रस्य ब्रह्मण एव भावो भविष्यति प्रादुर्भविष्यति, न शून्यत्वं, न हि विशेष एव वस्तुस्वरूपं किन्तु सामान्यमपीति भावः।।६७१।। तच्चावशिष्टं सामान्यस्वरूपं ब्रह्मैवेत्याह—अविशेषेति।

जब मुमुक्षु उस मनको सही ढंग से निरुद्ध कर लेता है तब अनायास ही वह उस ब्रह्म को अभेदेन पा लेता है। ब्रह्म अचिंत्य है, मन से जैसे विषयों का चिंतन हो सकता है वैसे ब्रह्म का विषयतया चिंतन नहीं हो सकता।।६६८।। संसार की ओर प्रवृत्त मन से ब्रह्म का चिंतन संभव नहीं अतः अविवेकियों के लिये वह अचिन्त्य ही रहता है किंतु मुमुक्षु विवेकियों के लिये निर्देश है कि उन्हें मन से विषयों का चिंतन नहीं करना चाहिये इसलिये उनके लिये ब्रह्मचिन्तन ही कर्त्तव्य है।।६६९।। जीवों में शत्रु-मित्र आदि के प्रति जैसा पक्षपात अनुभवसिद्ध है वैसा ब्रह्म में कोई पक्षपात है नहीं क्योंकि समस्त उपाधियों के प्रति वह एक-समान है। निरोध का अभ्यासी बिना आयास के—समस्त आयास त्यागने से ही—वह सम ब्रह्म हो जाता है।।६७०।।

निर्विषय मनःस्थिति को शून्यावस्था नहीं समझना चाहिये। नाम-रूप से एकमेक हुए रहना ही मन को ब्रह्म से भिन्न किये है : मन स्वरूपतः सात्त्विक स्वच्छ वस्तु है और सदा शुद्ध आत्मा हमेशा मन के निकट है अतः स्वाभाविक यही है कि मन आत्माकार बना रहे। किंतु मन क्योंकि नाम-रूप का आकार ग्रहण किये रहता है इसलिये वह आत्माकार ग्रहण कर नहीं पाता। सर्वथा नाम-रूप का आकार छूटते ही मन नींद में पहुँच जाता है। और जाग्रत् में एक आकार समाप्त होकर अन्य आकार लेने के मध्य के स्वल्प काल में यद्यपि नामादि के आकार का वह नहीं है तथापि व्यग्र है अतः शांत आत्मा का आकार नहीं ले पाता। इस प्रकार स्पष्ट है कि नाम-रूप के आकार—जो स्फुट या संस्कार रूप से मन में रहते हैं—ही मन को ब्रह्म से अलग किये हैं। नाम-रूप 'विशेष' हैं अर्थात् अनेक, विभिन्न, व्यावृत्त हैं। ब्रह्म अविशेष है। मन जब ब्रह्मभावना से युक्त होता है तब सन्मात्र ब्रह्म की ही विद्यमानता प्रकट हो जाती है। इसलिये नाम-रूप आकार छूटने पर शून्यता नहीं वरन् पूर्णता की अवस्था होती है लेकिन तभी जब मन में ब्रह्मभावना हो। अशिक्षित श्रोत्र षड्ज सुनते हुए भी उसे षड्ज नहीं जानने से 'षड्ज सुन रहा हूँ' ऐसा नहीं समझता या रत्नतत्त्व से अनभिज्ञ रत्न देखते हुए भी 'रत्न देख रहा हूँ' नहीं समझता; इसी प्रकार शास्त्रादि से ब्रह्मभावना दृढ नहीं हो तो मन में ब्रह्म का प्रतिफलन होने पर भी 'ब्रह्म जान रहा हूँ' ऐसा अनुभव न होकर शून्यभाव बन जाता है। जैसे उदाहरणों में षड्जादि का स्वरूपसत् ज्ञान उनके अज्ञान का निवारक नहीं वरन् 'मैंने षड्ज जाना' यों ज्ञान होने पर ही 'अब मेरा षड्ज-अज्ञान

---

१. 'स्वरेण सन्धयेद्योगमस्वरं भावयेत्परम्। अस्वरेणानुभावेन भावो वाऽभाव इष्यते।।' अमृत. ७।।

अविशेषे हि यज्ज्ञातं मनसा परमं पदम्। [1]तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम्।।६७२

तद् ब्रह्माऽहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म सम्पद्यते ध्रुवम्। [2]निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम्।।

अप्रमेयमनादेयं यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः।।६७३

तस्मिन्नात्मनि विज्ञाते चित्ते च विलयं गते। एवंभूतो विभात्येष निर्मनस्कस्य योगिनः।।६७४

[3]न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।।६७५

एवंरूपं विजानाति स्थानत्रयविलक्षणम्। स्थानत्रयच्युतस्तस्य पुनर्जन्म न विद्यते।।६७६

अविशेषे विशेषपरित्यागे यद् मनसा ज्ञातं लब्धं स्वरूपं तदेव ब्रह्म इत्यर्थः।।६७२।। तद् ब्रह्माऽहमिति। अहंतद् ब्रह्मेति ज्ञानेन ब्रह्मभावो भवति। 'तत्' किम् ? यद् निर्विकल्पादिलक्षणं ज्ञात्वा बुधः कुशलो मोक्षं बन्धध्वंसं यातीति सम्बन्धः। हेतुदृष्टान्ताभ्यामुपलक्षितेन तर्केण वर्जितं तदयोग्यम्; अप्रमेयं प्रमायाः फलचैतन्यस्य अगोचरम्; अनादेयम् आदातुमयोग्यं प्रत्यक्त्वाद् इत्यर्थः।।६७३।।

'न निरोध' इत्यादिमन्त्रस्य सङ्गतिं दर्शयति—तस्मिन्निमिम्। वर्णितात्मज्ञानेन विलीनचित्ततया निर्मनस्कपदव्यवहार्यस्य योगिन एष आत्मा एवंभूतो वक्ष्यमाणविधया सर्वविशेषाभावरूपः प्रस्फुरतीत्यर्थः।।६७४।। 'एवंभूतः' कथम् ? इत्याकांक्षायामाह—न निरोध इति। नाशोत्पत्त्युपलक्षितं जडमत्र नास्तीति प्रथमपादार्थः। तथा बन्धः कर्तृत्वादिरूपसंसारित्वं, साधकत्वं यागादिबहिरङ्गसाधनानुष्ठातृत्वं, मुमुक्षुत्वं शमाद्यन्तरङ्गसाधनसम्पन्नत्वं, मुक्तत्वं ज्ञानभागित्वं च—एते धर्मा अत्र न सन्ति इति परमार्थता वस्तुगतिरित्यर्थः।।६७५।। ननु जाग्रदादिभेदे प्रत्यक्षसिद्धे कथं निरोधाद्यभावोऽवसेय इति चेद् ? न, आगमापायित्वेन मिथ्याभूतं जाग्रदादित्रयं बाधित्वाऽवस्थितेन उक्तार्थस्य सुज्ञेयत्वाद् इत्याशयेनाऽऽह—एवंरूपमिति। उक्तमात्मरूपं स्थानत्रयाद् अवस्थात्रयाद् विलक्षणं भवति, तच्च स एव जानीयात् साक्षात्कुर्याद्यः स्थानत्रयात् च्युतो व्यावृत्तो भवेत्, तस्य साक्षात्कृतात्मनस्तु जन्मादिकं न सम्भवति इत्यर्थः।।६७६।।

मिटा' यों अज्ञान-निवृत्ति होती है, वैसे 'ब्रह्म को जाना' यह अवबोध होने पर ही मूलाविद्या भी मिटती है अन्यथा नहीं। अतः समाधि आदि में निरुपाधि आत्मावगति होने पर भी अविद्या बनी रहती है। इसीलिये प्रमावृत्ति को ही अविद्यानिवृत्ति के लिये अनिवार्य माना गया है। उस वृत्ति में यही खासियत है कि वह ब्रह्मज्ञान को प्रमिति के रूप में प्रकट करती है। जब तक हम 'विशेष' को ही स्वरूप समझेंगे तब तक विशेष न होने पर हम निःस्वरूप या शून्य मानेंगे ही किंतु जब सामान्य (अविशेष) को स्वरूप समझ लेंगे तब उक्त गलती नहीं होगी। अत एव शास्त्रानुसार ब्रह्मभावना रहने पर निरोध से शून्यता की जगह पूर्णता प्राप्त होती है।।६७१।।

समस्त विशेषों का तिरस्कार कर देने पर मन से जो स्वरूप ग्रहण होता है वही अंतिम प्राप्तव्य ब्रह्म है, अंशहीन, अनिवार्य, निरविद्य वस्तु है।।६७२।। उसी को 'मैं' यों समझकर आत्मा अवश्य ब्रह्म हो जाता है। ब्रह्म निश्चित सच्चिदानंदस्वरूप है; उसके बारे में ये विकल्प नहीं हो सकते कि वह चाहे सत् है चाहे असत् ! इत्यादि। ऐसे ही उसकी त्रिविध सीमाएँ असंभव हैं। न उसमें कोई हेतु है और न दृष्टांत अतः वह तर्क के अयोग्य है। प्रमा अप्रमित को ही विषय करती है अतः शुद्ध ब्रह्म अप्रमित न होने से प्रमागोचर भी नहीं, साज्ञान ब्रह्म ही अखण्डवृत्तिरूप प्रमा का विषय है। प्रत्यग्रूप होने से ब्रह्म आदेय, ग्राह्य भी नहीं है। ब्रह्म वही वस्तु है जिसे जानकर कुशल साधक बंध को ध्वस्त कर देता है।।६७३।। उस आत्मा का विज्ञान हो जाने पर, मन विलीन हो जाने पर उस निर्मना योगी को ब्रह्मात्मा यों प्रतीत होता है कि वास्तविकता यह है कि निरोध, उत्पत्ति, बँधा, साधक, मुमुक्षु, मुक्त—यह सब कुछ नहीं है ! (जैसे सपने

१. अमृत. ८।
२. अमृत. ९। अनादेयमित्यत्र 'अनादिं च' उपनिषदि।
३. अमृत. १०। माण्डू. का. २.३२।

एक आत्मा

'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।।६७७
एवं चेज्ज्ञायते पुंसा वेदवाक्यं गुरोः सदा। मन्तव्य एक एवात्मा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।।६७८
स्थानत्रयव्यतीतो यो वर्तते सर्वदेहिनाम्। स्थानत्रयव्यतीतस्य ज्ञाता सोऽपि तथा भवेत्।।६७६

युक्तिः

अथ चेज्ज्ञायते पुंसा सर्वभेदविवर्जितः। बहुत्वं जीवसंलग्नं युक्तितो नाशमाव्रजेत्।।
युक्तिरेषा विभात्यस्य विज्ञाने परमात्मनः।।६८०

यदि एवम् एक एवात्मा तर्हि कथं तत्र भेदानुभवः ? इत्याकांक्षायामाह—एक एवेति। यथा चन्द्र उपाधिभूतजलपात्रैक्ये एकधा दृश्यते, तद्बहुत्वे तु बहुधा, तथाऽयमात्मा कारणरूपैकोपाध्यवच्छिन्न एकधा दृश्यते, कार्योपाधिगतस्तु बहुधा; स्वतस्तु सर्वविशेषहीन इत्यर्थः।।६७७।। अस्य तात्पर्यं विशदयति—एवं चेदिति। एवम् उक्तविधम् 'एक एवे' त्यादिकं वाक्यं गुरोः सकाशात् तात्पर्येण विज्ञातं यदि भवेत् तर्हि तेन विदुषा जाग्रदादिकालेऽपि एक एवाऽऽत्मा मन्तव्यः संवीक्ष्यो भवति य आत्मा स्थानत्रयाद् व्यतीतः परस्ताद् भवति। ततः किं फलम् ? अत आह—स्थानत्रयव्यतीतस्येति। स्थानत्रयहीनस्य आत्मनो यो ज्ञाता सोऽपि तथा ज्ञेयवत् स्थानत्रयव्यतीतो भवेत्। इति द्वयोरर्थः।।६७८-६।।

'घटे' त्यादिमन्त्रमवतारयति—अथ चेदिति। यदा सर्वभेदरहित आत्माऽनेन पुंसाऽधिकारिणा ज्ञायते तदा जीवे संलग्नं सम्बद्धतया भासमानं बहुत्वं युक्त्या विचारेण निवर्तते। सा च युक्तिरेषा वक्ष्यमाणा बोध्येत्यर्थः।।६८०।। घटसंवृतमिति[२]। घटेन संवृतम् अवच्छिन्नम् आकाशं प्रसिद्धम्। तच्च यथा घटगतं गमनादिकं

से जगने पर लगता है। निरोध से पूर्वोक्त समाधि भी समझ सकते हैं या निरोध का मतलब है विनाश। अतः नाश और उत्पत्ति के निषेध से समस्त जड का निषेध हो गया। बँधा अर्थात् स्वयं को कर्ता-भोक्ता मानने वाला। साधक अर्थात् यागादि कारक-साधनों का अनुष्ठाता। मुमुक्षु अर्थात् शमादि अंतरंग साधनों से सम्पन्न। मुक्त अर्थात् जिसे अप्रतिबद्ध आत्मप्रतिपत्ति प्राप्त हो चुकी। इस श्लोक पर गौडपादकारिका में आचार्य श्रीशंकर ने गंभीर विस्तार किया है।)।।६७४-५।। इस प्रकार का आत्मा जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं से विलक्षण है और इसे जान भी वही सकता है जिसने स्वयं को जाग्रदादि तीनों से पृथक् कर लिया है ! ऐसे जानकार का फिर जन्म नहीं होता।।६७६।।

वास्तविक आत्मा एक ही है। जो कुछ 'है' लगता है उस सबमें आत्मा ही उस रूप से (है-रूप से) बना है। जैसे एक जल में चंद्र एक और अनेक जलों में चन्द्र अनेक दीखता है जबकि जलगत एक या अनेक चंद्रों से वास्तविक चंद्र की न एकता है न अनेकता वैसे आत्मा कारणात्मक एक उपाधि में एक प्रकार का अर्थात् ईश्वर दीखता है और कार्यात्मक (मनोरूप) अनंत उपाधियों में बहुत प्रकार का (जीव) दीखता है। तात्पर्य है कि सर्वात्मा अभिन्न है, भेदानुभव औपाधिक है। (ब्रह्मसूत्र ३.२.१८, २.३.५० आदि में इस श्लोका का अभिप्राय विवेचित है।)।।६७७।।

गुरुमुख से वेदवाक्य का इस तरह अखण्ड अर्थ समझ लिया जाये तो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में एक ही आत्मा स्फुरने लग जाता है। जाग्रदादि अवस्थाओं से अतीत जो सब शरीरधारियों का आत्मा है उसे जानने वाला भी अवस्थाओं से अतीत है। (यथार्थ स्वरूप का अज्ञान ही उसका वियोग है और उसका ज्ञान ही उस स्वरूप की प्राप्ति है। कुछ मूर्ख पूछते हैं कि जब गधे का जानकार गधा नहीं बनता तब ब्रह्म का जानकार ब्रह्म कैसे बन जायेगा ? उन्हें समझना चाहिये कि जैसे कौंतेय का जानकार कौन्तेय 'बन' जाता है या दसवें का जानकार दसवाँ 'बन' जाता है वैसे ब्रह्म का जानकार ब्रह्म बन जाता है।)।६७८-६।।

१. अमृत. १२।
२. अमृत. १३। 'तथा जीवो नभोपमः' इति तत्र तुरीयपादः।

घटसंवृतमाकाशं नीयमाने घटे यथा। घटो नीयेत नाकाशं देशाद् देशान्तरं प्रति।।६८१

एवं देहस्य गमने ह्यात्मा देहेन संवृतः। न कुत्रचित् प्रयात्येष देहो देशान्तरं व्रजेत्।।६८२

[1]घटवद् विविधाकारो भिद्यमानः पुनः पुनः। भेदं स्वस्य न जानाति जीवो जानाति तं सदा।।६८३

आत्मनो नैष भिन्नोऽयं जीवो नानाविधोऽपि वा। तद्भेदे नात्मनो भेदो न तस्याऽपि तु कश्चन।।६८४

[2]आत्मा ह्याकाशवज्जीवो घटाकाश इवोदितः। घटादाविव सङ्घाते जातं चेदं निदर्शनम्।।६८५

न भजते—इत्यर्थः।।६८१।। एवमिति। एष देह एव स्थूलः सूक्ष्मो वा देशान्तरं गच्छेद् इति तुरीयपादार्थः।।६८२।। अयं दृष्टान्त उपाधिधर्माऽस्पर्श एव, न तु जडत्वेऽपि इति दर्शयन्, जीवस्य चैतन्यं ब्रह्माऽभेदयोग्यताप्रयोजकमाह—घटवदिति। जडत्वेन घटतुल्यो देहः पुनः पुनर्भिद्यमानो विनाशान्तान् विकारान् भजमानः स्वस्य धर्मभूतं भेदं विनाशादिकं न जानाति। जीवः तु तं देहधर्मं भेदं विनाशान्तं विकारं जानाति साक्षितया पश्यति इत्यर्थः। तथा च चिद्रूपेण दृष्टान्ताद् आकाशाद् विशेषः, साक्ष्यवर्गात् पृथक्त्वं च जीवस्य सिद्धमिति भावः।।६८३।।

तस्य निर्विकारब्रह्माऽभेदं साधयति—आत्मन इति। किं जीव एकः स्वीक्रियते ? नानाविधो वा ? आद्ये, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ' (श्वे. ६.११)[3] इत्यादिश्रुतिवर्णिताद् एकस्मादात्मनः कथं भिद्येत ! एकत्वलक्षणस्याऽविशेषात्। अन्त्येऽपि, कथम् आत्मनो भिद्येत ? आत्मा हि स्वरूपं, तत्परिहारे निःस्वरूपत्वापत्तेः इति पूर्वार्द्धार्थः। नन्वनेकजीवपक्षे तदभिन्नस्यात्मनः कथमेकत्वमिति शङ्कां परिहरति—तद्भेद इति। तेषां जीवानां भेदेऽपि आत्मनः सर्वानुगतस्य न भेदः, नानाव्यक्त्यनुस्यूताया जातेरिवेति भावः। वस्तुतस्तु 'एक एव न जीवोऽस्ति जीवानां राशयः कुतः ?' इति सिद्धान्तानुसरणे जीवभेदो दुर्वच इत्याह—तस्यापीति। तस्य जीवपदार्थस्य कोऽपि भेदः सम्बन्धी न भवति, किन्तूपाधीनामेव स इत्यर्थः। यदा तूपाधिभ्योऽप्यधिष्ठानसदंशविमोकः क्रियते तदा कस्याऽपि भेदो नास्तीति तुशब्दाशयः।।६८४।। भेदासम्भवे हेतुतया प्रकृतदृष्टान्तान्यथानुपपत्तिमाह—आत्मा हीति। हि यतो घटादितुल्ये सङ्घाते शरीरत्रयरूपोपाधौ आत्मा महाकाशवत्, जीवः तु घटाकाशवदुदितः कथितः, ततो जीवस्य आत्मनो भेदो न सम्भवति इति पूर्वेण सम्बन्धः। न हि घटीयभेदमनादाय घटाकाशस्य महाकाशाद् भेदो निरूपयितुं शक्य इति भावः। न केवलमनेनोदाहरणेन उक्तार्थः सूचितः, किन्तु अर्थान्तराण्यपीत्याह—जातमिति। इदम् उदाहरणं निदर्शनम् अर्थान्तराणामपि उपलक्षणं जातमित्यर्थः।।६८५।।

सभी भेदों से रहित आत्मा को जब अधिकारी जान लेता है तब जीवसम्बद्धरूप से प्रतीयमान बहुत्व (अनेकता, 'जीव अनेक हैं' यह अनुभव) युक्ति-अनुसारी विचार से निवृत्त हो जाता है। परमात्मानुभव के संदर्भ में शास्त्रसंस्कारयुक्त साधक को यह युक्ति समझ आती है :।।६८०।। जब घड़ा एक जगह से अन्यत्र ले जाया जाता है तब भले ही आकाश घट से परिसीमित है पर ले जाया घट ही जाता है न कि आकाश। ऐसे ही आत्मा शरीर से घिरा है परंतु गमनागमनादि समस्त परिवर्तन देह में ही होते हैं न कि आत्मा में। देह चाहे जहाँ जाये, आत्मा कहीं नहीं जाता।।६८१-२।। कोई पूछ सकता है कि जब सारा व्यवहार देह से ही है, आत्मा में व्यवहारशब्दित कोई परिवर्तन है नहीं तब आत्मा है यह कैसे समझें ? जवाब है कि शरीर अपने विविध विकारों से अनभिज्ञ रहता है, जो देह और उसके सारे विकारों को जानता है वह देहविलक्षण आत्मा है। साक्षीरूप से जानने वाला सभी को स्वानुभूत है और ज्ञेय से ज्ञाता विलग ही होता है अतः देह से पृथक् आत्मा समझना सरल है।।६८३।।

---

१. 'घटवद्विविधाकारं भिद्यमानं पुनः पुनः। तद्भग्नं न च जानाति स जानाति च नित्यशः।।' अमृत. १४।।
२. 'आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः। घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम्।।' मां. का. ३.३।
३. अधस्तात् श्लो. ८५७ तमे ब्रह्मोपनिषद्गततयाऽपि व्याख्याता श्रुतिः।

[1]घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा। आकाशे सम्प्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि।।६८६
यथैकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते। न सर्वे सम्प्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः।।६८७
[2]रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र वै यथा। आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः।।६८८

अर्थोपलक्ष्यान् अर्थानाह—घटादिष्विति अष्टादशभिः। यथा घटाकाशमठाकाशादय उपाधिविवेककाल एव महाकाशतां प्राप्ता उच्यन्ते तथा जीवा उपाधिविवेककाल एव इह परिपूर्ण आत्मनि निलयं मोक्षरूपं यान्तीत्यर्थः।। एतेन ज्ञानसमकालिकी मुक्तिरिति सूचितम्।।६८६।। तथा कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंसारधर्माणां व्यवस्थाऽपि सूचितेत्याह—यथैकस्मिन्निति। एकस्मिन् घटाकाशे धूलिप्रभृतिभिः संसृष्टे इतरे घटाकाशास्तथा न भवन्ति, तत्कुतः? तद्धर्मिणामुपाधीनामननुगमात्। तथा जीवेष्वपि बोध्यमित्यर्थः।।६८७।। रूपेति। यथा च तत्र दृष्टान्ते रूपाणि वर्तुलदीर्घादय आकाराः, कार्याणि जलानयनधारणवासादीनि, समाख्या यौगिकनामानि घटाकाशशरावाकाशमठाकाशादीनि, तेषां भेदेऽपि नाकाशस्य भेदः तथा जीवतत्त्वेऽपि बोध्यमित्यर्थः।।६८८।। एतेन जीवस्य

नाना प्रकार का प्रतीत होता भी यह जीव आत्मा से भिन्न नहीं है। जीवों में—उपाधिसापेक्ष चेतनों में, जो घटाकाश-स्थानीय हैं—प्रतीयमान भेद रहते भी आत्मा में—आकाशस्थानीय में—भेद नहीं है। वस्तुगति तो यह है कि जीवों में भी भेद कहा नहीं जा सकता क्योंकि जब जीवभेद की प्रतीति उपाधिभेद से ही गतार्थ है तब जीव में भेद नहीं सिद्ध होगा और उपाधियाँ भी जब तक 'है' लगती हैं तभी तक उनमें भेद रहता है, जब वे 'है' नहीं भासतीं तब उनमें भेद भी प्रतीत होता नहीं अतः उपाधि और भेद का भी वास्तविक सम्बंध कहा नहीं जा सकता अतः सच्चा भेद कहीं नहीं है।।६८४।। आकाश, घट और घटाकाश की तरह हैं आत्मा, शरीरत्रय और जीव। इसलिये जीव और आत्मा में कुछ भी भेद संभव नहीं, शरीरत्रय 'में' प्रतीत होता आत्मा ही जीव-व्यवहार का गोचर है। इसी दृष्टांत से अन्य बातें भी स्पष्ट होती हैं :।।६८५।।

घटाकाश, मठाकाश आदि प्रतीतियों से सिद्ध सोपाधिक आकाशों का विवेक कर जब उपाधियों से आकाश को पृथक् समझते हैं तब वे सभी आकाश महाकाश रूप ही निकलते हैं, ऐसे ही जीवों का विवेक करने पर उपाधि जब हटा ली जाती है तब जीव परिपूर्ण आत्मा ही सिद्ध होते हैं। इसी बात को यों भी कहते हैं कि दृष्टांत में घटाकाश महाकाश में लीन हो गया और दार्ष्टान्त में जीव ब्रह्म में लीन हो गया।।६८६।। (इस प्रकार पूर्वोक्त उदाहरण से मोक्ष कैसे होता है यह स्पष्ट हुआ। अब उसी के आधार पर स्पष्ट करते हैं कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि संसारधर्मों की व्यवस्था कैसे बनी रहती है :) एक घटाकाश धूल, धुएँ आदि से युक्त हो जाये तो सभी घटाकाश वैसे नहीं हो जाते! इसी प्रकार एक जीव के कर्तृत्व सुख दुःखादि धर्म सब जीवों के नहीं हो जाते। अर्थात् जैसे एक घटाकाश का मैलापन अन्य घटों से सीमित घटाकाशों में नहीं होने पर भी आकाश का अभेद बना ही रहता है, कोई यह नहीं मानता कि कहीं स्वच्छता व कहीं धूल युगपत् है तो आकाश ही अनेक होंगे, वैसे किसी को पाप किसी को पुण्य करते देखकर या किसी को सुखी व अन्य को दुःखी देखकर यह नहीं कह सकते कि आत्मा ही अलग-अलग मानो !।।६८७।।

(उक्त उदाहरण से यह भी स्पष्ट होता है कि सामान्यतः जिन्हें भेदहेतु माना जाता है वे भी आत्मभेद के स्थापक नहीं हैं :) जैसे घटाकाश, मठाकाश आदि के रूप अलग-अलग होते हैं, उनसे संपन्न कार्य अलग होते हैं—किसी में आधा मन अनाज ही मुश्किल से आता है तो अन्य में हज़ारों लोग एक-साथ भोजन कर लेते हैं !—और उनके नाम भी अलग-अलग होते हैं; रूप-कार्य-नाम अलग हों तो सामान्यतः मानते हैं कि पदार्थ ही अलग है किंतु घटाकाशादि में ये तीनों अलग-अलग होने पर भी आकाश में कोई भेद नहीं है; ऐसे ही जीवों के बारे में भी निर्णय है कि जीवों के रूप-कार्य-नाम विभिन्न होने पर भी आत्मा में कोई भेद नहीं।।६८८।। (उक्त उदाहरण यह विवाद भी निपटाता

---
१. मा. का. ३.४-५।
२. मां. का. ३.६। 'भिद्यन्ते तत्र तत्र वै' इति द्वितीयपादः।

[1]आकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा। नैवात्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा।।६८६
[2]यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः। तथा भवत्यबुद्धानाम् आत्माऽपि मलिनो मलैः।।६६०
[3]मरणे सम्भवे चैव गत्यागमनयोरपि। स्थितः सर्वशरीरेष्वप्याकाशो न विलक्षणः।।६६१
यत एवं ततो भिन्नः स्वात्मनोऽभिन्न एव वा। न कश्चिज्जायते जीवो देहस्यैव जनिर्यतः।।
जातो मृत इति प्रोक्तो व्यपदेशो वृथैव तु।।६६२

विकारत्वम् अवयवत्वं च निरस्तमित्याह—आकाशस्येति। यथा महाकाशस्य निर्विकारस्य निरवयवस्य च घटाकाशो विकारोऽवयवो वा नैव वक्तुं शक्यः तथाऽखण्डात्मनिरूपितं विकारत्वम् अवयवत्वं च जीवे नैव इति।।६८६।। तथा बन्धादीनामारोपितत्वमपि दर्शितमित्याह—यथा भवतीति। बालानां मते इति शेषः। स्फुटम्।।६६०।।

तथा अनेन दृष्टान्तेन जीवस्य अजत्वमपि सिद्धमित्याह—मरण इति द्वाभ्याम्। यथा शरीराणां मरणादौ सत्यपि तद्गत आकाशो विलक्षणो विकारी न भवति एवमात्माऽपि भवति यतः ततः तस्मात् कश्चिद् अपि जीवो न जायते। कीदृशो जीवः ? स्वात्मनः सकाशाद् भिन्नत्वेन अभिन्नत्वेन वा मतः। तत्र भिन्नत्वपक्षेऽपि यैरुपाधिभिः अयं भिन्नः त उपाधय एव विकारैर्योग्यत्वाद् आलम्ब्यन्त इति भावः। यत उक्तविधया देहस्यैव जनिमृती ततो जीवे जात इत्यादिव्यवहारो वृथा मिथ्या। इति द्वयोरर्थः।।६६१-२।। तत्र भिन्नत्वपक्षे जीवस्य जन्माद्यभावमाह—स्वप्न

है कि जीव ब्रह्म का टुकड़ा या कार्य है :) जैसे घटाकाश को निर्विकार निरवयव महाकाश का न कार्य और न टुकड़ा माना जाता है वैसे जीव भी आत्मा के न कार्य हैं और न टुकड़े ही हैं। (वैष्णवों का भागवत सम्प्रदाय जीव को ब्रह्म का कार्य मानता है और रामानुज-संप्रदाय जीव-ईश्वर में अवयव-अवयविभाव मानता है। दोनों मान्यताएँ शास्त्र व युक्ति से विरुद्ध हैं। अखण्ड अविकारी परमात्मा पर भ्रम से ही जीव उपलब्ध हैं। यह तथ्य घटाकाश पर विचार करने से पता चल जाता है क्योंकि घटाकाश को महाकाश का अवयव या कार्य भी कहा-समझा जा सकता है किंतु वस्तुतः वह न अवयव है, न कार्य वरन् महाकाश को ही घट के संदर्भ में देखने पर प्रतीत होने वाला आकाश ही है। आत्मा को भी उपाधि-परिधि में देखते हैं तो वही जीव दीखता है।)।।६८६।। (उक्त उदाहरण बंधनादि को आरोपित भी समझाता है :) जैसे बच्चों के अनुसार गगन मलों से मलिन 'हो' जाता है वैसे नासमझों के अनुसार आत्मा भी मलों से मलिन है ! (गगन में मैल, धूल, धुआँ आदि दीखते हैं तो बच्चे सोचते हैं कि आकाश मैला हो गया, वर्षा आदि से धूल बैठ जाती है तो समझते हैं आसमान साफ हो गया। इसी प्रकार अज्ञानी को कर्तृत्वादि बंधन दीखता है तो समझता है कि आत्मा बँधा है और वैसा दीखना बन्द हो जाता है तो समझता है कि आत्मा मुक्त हो गया जबकि आत्मा कभी बँधा ही नहीं कि मुक्त होवे ।)।।६६०।। (उक्त उदाहरण ही जीव को अज भी सिद्ध करता है :) घटादि बनने-बिगड़ने पर भी आकाश न बनता न बिगड़ता है; शरीरों के भी जन्म लेने या नष्ट होने से, जाने-आने से आत्मा जन्म-नाश वाला, जाने-आने वाला नहीं हो जाता। सभी घटादि में स्थित होने पर भी जैसे आकाश उन घटादि के विकारों से विकारी नहीं है वैसे सब शरीरों में स्थित होने पर भी आत्मा निर्विकार अज है।।६६१।। क्योंकि यह वस्तुस्थिति है इसलिये कोई भी जीव पैदा नहीं होता। जीव को यदि आत्मा से भिन्न मानें तो भेदक उपाधियाँ ही जन्मवान् होती हैं, उससे जीव सजन्मा नहीं हो जाता। और यदि आत्मा से उसे अभिन्न ही मानें तो जन्म का प्रसंग ही नहीं। अतः जीव अजात है। इसलिये यह मिथ्या व्यवहार ही है कि जीव पैदा हुआ या मरा।।६६२।। सपने में दृष्ट जीव, ऐंद्रजालिक द्वारा दिखाया गया जीव, मंत्रादि से रचित जीव—ये जीव जन्मते-मरते लगते जरूर हैं पर वास्तव में ये ही नहीं हैं तो इनके जन्म आदि

१. नाकाशस्येत्यादि मां. का. ३.७।
२. मां. का. ३.८।
३. मां. का. ३.६। 'आकाशेनाविलक्षणः' इति तुरीयपादः।

[1]स्वप्नो मायामयो वाऽपि जीवो वाऽपि च कृत्रिमः। जायते म्रियते यद्वद् मृतिजन्मविवर्जितः।।६६३
एवं जीवा अमी सर्वे मृतिजन्मविवर्जिताः। जायन्ते च म्रियन्ते च भ्रान्तिदृष्ट्याऽवलोकिताः।।६६४
जन्मादिकं ततो जीवः कोऽपि नैव प्रयाति हि। किन्तु चित्तं तथाभूतं दर्शयेद् मरणादिकम्।।६६५
एवं जीवाः सदा ज्ञेया जन्मादिपरिवर्जिताः। चित्तयोगात्तथाभूता दृश्यन्ते तत्तदात्मकाः।।६६६

अलातदृष्टान्तः

[2]ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा। ग्रहणग्राहकाभासं मनसः स्पन्दितं तथा।।६६७
[3]अस्पन्दमानमालातमनाभासमजं यथा। अस्पन्दमानं चित्तं स्यादनाभासमजं तथा।।६६८

इति। स्वप्नः स्वप्ने दृष्टो मायामय ऐन्द्रजालिकदर्शितः कृत्रिमः प्रतिकृतिमयो वा जीवो जन्माद्याश्रयत्वेन भ्रान्तैर्दृष्टोऽपि यथा वस्तुतो जन्मादिवर्जित इत्यर्थः।।६६३।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति। अमी व्यावहारिकाः।।६६४।।

फलितं दर्शयन्नात्मनि जन्माद्यारोपप्रयोजकम् उपाधिं निरूपयति—जन्मादिकमिति। तथाभूतं मरणाद्याकारतां भजत् सत् चित्तम् एव स्वगतं मरणादिकम् आत्मनि दर्शयेत् प्रतीयमानं कुर्यात्—इत्युत्तरार्धार्थः।।६६५।। एतदेव स्फुटयति—एवमिति। एवं सति जीवाः स्वतो निर्विकारा अपि तत्तदात्मका जातमृतादिरूपा दृश्यन्ते यतः तथाभूताः चित्ततादात्म्याध्यासं गता इत्यर्थः।।६६६।।

उक्तार्थमलातशान्तिप्रकरणगतैः साम्प्रदायिकवाक्यैः दृढी कुर्वन् वस्तुतो मनोऽपि पूतिकूष्माण्डाभं चिन्मात्रमित्याह—ऋजुवक्रेति पञ्चभिः। यथा अलातस्य ज्वलत्काष्ठस्य स्पन्दितं भ्रमणादिरूपचलनम् ऋजुवक्रैः दण्डचक्राद्याकारैः भासमानं प्रसिद्धम्, तथा मनसः स्पन्दितं मायाशबलादात्मनः सकाशादुन्मेषरूपं ग्रहणग्राहकरूपेण मिथ्या भासते। तत्र ग्रहणपदेन कर्मकरणव्युत्पत्त्या विषयो ज्ञानं चोक्तम्, ग्राहकपदेन ज्ञातेति त्रिपुटीसंग्रहः। तत्र ग्रहीतुर्मिथ्यात्वं विशेषणस्य ग्रहणकर्तृत्वस्य मिथ्यात्वाद् इति बोध्यम्।।६६७।। वस्तुतश्चित्तं शान्तं चिन्मात्ररूपम् इति दृष्टान्तेनाह—अस्पन्दमानमिति। यथाऽस्पन्दमानं प्रोक्तस्पन्दनरहितं तद् आलातं—स्वार्थिकोऽण्—आभासैः कल्पितचक्रादिरूपैः हीनं, तथाऽजं कल्पितरूपेण जन्मरहितं च भवति तथा चित्तम् अपीत्यर्थः।।६६८।।

की संभावना कहाँ ! इसी तरह व्यवहारदृष्ट ये सभी जीव भ्रांतिदृष्टि से देखने पर ही जन्मते-मरते हैं, वास्तव में कोई जन्म-मृत्यु वाला जीव हो ऐसी बात नहीं। (सपने आदि वाले जीव अर्थात् जो जीवित व्यक्ति अनुभव में आते हैं। ऐंद्रजालिक भी हाथी आदि जीवित प्राणी दिखाता है। मंत्रादि से भी ऐसी प्रतीतियाँ कराई जाती हैं। योगी भी अनेक शरीर रच लेते हैं ऐसा प्रसिद्ध है।)।।६६३-४।।

इस प्रकार कोई भी जीव जन्मादि ग्रहण नहीं करता, चित्त ही जन्म-मरण आदि आकार लेता है और अपने उन जन्मादि को आत्मा में प्रतीत करा देता है।।६६५।। जीव स्वतः जन्मादि विकारों से हमेशा रहित हैं पर चित्त से तादात्म्याध्यास के कारण जन्मवान् मरणवान् आदि दीखते हैं।।६६६।।

(उक्त रहस्य ही अलात, मशाल के दृष्टांत से भगवान् गौडपाद ने सुस्पष्ट किया है :) अलात अर्थात् मशाल जल रही हो और उसे हाथ में लेकर सीधा, गोल, टेढा आदि आकारों में शीघ्रता से चलाया जाये तो दूर से लगता है कि आग की सीधी, गोल, टेढी आदि वैसी ही आकृतियाँ हैं जबकि वस्तुतः वहाँ कोई आकृति नहीं होती, केवल अलात का स्पन्दन ही है। इसी प्रकार माया-शबल आत्मा से मन का उन्मेषरूप स्पंदन ही इस मिथ्या रूप में भासता है कि

---

१. पश्यतु मां. का. ४.६८-७१।
२. मां. का. ४.४७। 'विज्ञानस्पन्दितं तथे' ति चतुर्थपादः।
३. मां. का. ४.४८। '..मानं विज्ञानमनाभा...' तत्र।

¹अलाते स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतो भुवः। न ततोऽन्यत्र निष्पन्दान्नालातं प्रविशन्ति ते।।९९९

²न निर्गता अलातात्ते द्रव्यत्वाभावयोगतः। मनस्यपि तथैव स्युराभासस्याऽविशेषतः।।१०००

मनसि स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतो भुवः। न ततोऽन्यत्र निष्पन्दाद् न मनः प्रविशन्ति ते।।१००१

दोषाद् द्वैतदृष्टिः

नरि शृङ्गं यथा शब्दाद् मायया नगरं च खे। प्रतीयते तथा सर्वमात्मनोऽन्यदसत् स्मृतम्।।१००२

आभासपदोक्तानाम् आगन्तुकरूपाणां मिथ्यात्वमेव स्फुटयति—अलात इति। तस्मिन्नलाते स्पन्दमाने सति आभासा ऋजुवक्राद्याकारा अन्यतो भुवः अन्यत आगत्य भवनशीला न भवन्ति, आगमाऽनुपलम्भादिति भावः। तथा पुनः निःस्पन्दात् ततः तस्मादलातात् ते निर्गच्छन्तीति न, तत्रैवालाते प्रविशन्तीत्यपि न, अनुपलम्भादेवेति भावः।।९९९।। न निर्गता इति। ते आभासा अलाताद् निर्गत्य क्वचित् तिरोहिताः स्थिता इति च न वक्तुं शक्यं, द्रव्यत्वस्य वस्तुत्वस्य अभावाद् इत्यर्थः। वास्तवानां प्रवेशनिर्गमादि कल्प्येत, तत्र तु वास्तवत्वमेव दुर्वचमिति भावः। दार्ष्टान्तिके योजयति—मनस्यपीति। आभासस्य इति भावप्रधानो निर्देशः—आभासत्वस्य मिथ्यात्वस्य अविशेषात् तुल्यत्वाद् इत्यर्थः।।१०००।। एतत् स्फुटयति—मनसीति। आभासा ग्रहणाद्याकारा एवम्। उक्तार्थमन्यत्।।१००१।। तर्हि कथमेते प्रतीयन्ते? इति चेद्; दोषवशादित्याह—नरीति। यथा 'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' (श्लोक.वा.चोदना.६) इति प्रसिद्धप्रभावात् शब्दरूपदोषाद् नरि मनुष्ये शृङ्गं प्रतीयते, मायारूपदोषाद् गन्धर्वनगरं च, तथा एतद् द्वैतं शब्दमाययोः बलात् प्रतीयते, वस्तुतस्तु आत्मनोऽन्यदसदेवेत्यर्थः।।१००२।। तथापि विश्वभावप्रयोजकयोः माया-शब्दयोः कथमसत्त्वमिति चेद्? 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयमि'ति श्रुत्युक्तस्य

ग्राहक-ग्रहण-ग्राह्य की त्रिपुटी है। (ग्राहक स्वरूप से भले ही आत्मा है पर ग्राहकता मिथ्या ही है।)।।९९७।। अलात जब स्पन्दन नहीं करती तब वे कल्पित लम्बे, चौकोर, गोल आदि आग के रूप भी रहते नहीं अतः कह सकते हैं कि कल्पित रूपों वाली अलात का ही जन्म नहीं हो रहा है। ऐसे ही जब मनःस्पन्दन नहीं रहता तब त्रिपुटी का आभास नहीं रहता और त्रिपुटीमान् रूप से आत्मा का जन्म नहीं होता।।९९८।। अलात के स्पंदन करने पर जो चौकोर, गोल आदि आभास प्रतीत होते हैं वे कहीं अन्यत्र पैदा होकर नहीं आते, अलात से अतिरिक्त किसी हेतु से उत्पन्न नहीं होते, एवं जब अलात स्पन्दनरहित हो जाती है तब वे आकार अलात से निकल कर कहीं नहीं जाते और न उसी में घुस ही जाते हैं !।।९९९।। वे अलात से निकलकर कहीं छिप गये ऐसा नहीं क्योंकि वे कोई वस्तु हैं ही नहीं, वे तो केवल भ्रमसिद्ध हैं। मन में भी ऐसी ही भ्रमसिद्धता है अतः मन जब स्पंदन करता है तब प्रतीयमान त्रिपुटी-आभास ऐसा नहीं कि कहीं और से पैदा होकर आते हों या किसी और हेतु से जन्म लेते हों तथा मन का स्पंदन समाप्त होने पर वे न अन्यत्र जाते हैं, न मन में घुसते हैं क्योंकि वे कोई वस्तु हैं ही नहीं।।१०००-१।।

ग्रहणादि-आकार तो इसीलिये प्रतीत होते है कि हममें अविद्यारूप दोष है। शब्दात्मक दोष से मनुष्य पर सींग प्रतीत हो जाता है, मायादोष से आसमान में शहर प्रतीत हो जाता है, ऐसे ही आत्मा से अलग जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह अज्ञानदोष से ही है, स्वयं सारा द्वैत असत् ही है। (शब्द की यह प्रसिद्ध सामर्थ्य है कि जो तीन कालों में है नहीं उसे प्रतीत करा देता है जैसे कोई कह दे 'आदमी का सींग' तो ऐसी ही प्रतीति हो जाती है चाहे उस प्रतीति के साथ यह भी स्पष्ट रहे कि आदमी के सींग होते नहीं। जो है नहीं उसका मानो प्रत्यायक होने से शब्द 'दोष' है।)।।१००२।। माया भी क्योंकि 'माया, अज्ञान, नहीं-जानता' आदि शब्दों से ही विद्यमान लगती है, प्रमाण-तर्क आदि

१. मां. का. ४.४९।

२. मां. का. ४.५०। 'विज्ञानेऽपि तथैव स्यु' रिति तृतीयपादः तत्र।

मायाऽपि शब्द तो यस्मात् सती तस्माद् न सा सती। शब्दश्चात्मा तु नैवं स्यादवाङ्मनसगोचरः।।१००३
[1]शब्दमायावृतो नात्मा स्वात्मानमुपयात्ययम्। निगूढो नीरमध्यस्थो महानपि यथा घटः।।
एतन्नाशात् स्वयंज्योतिरेकत्वमुपयाति हि।।१००४
[2]शब्दस्थं यत् परं ब्रह्म तस्मिन् क्षीणे यदक्षरम्। तदेकत्वमिति प्रोक्तं सर्वभेदविवर्जितम्।।१००५

शब्दमात्रत्वरूपस्य मिथ्यात्वप्रयोजकस्य योगादिति गृहाण इत्याशयेन आह—मायाऽपीति। यस्मान्मायाऽपि शब्दतः स्ववाचकं मायादिशब्दमाश्रित्यैव सती शशशृङ्गवद्, न तु प्रमाणानुगृहीतं तर्कं सहते, तस्मात् सा माया सती न भवति। शब्दश्च तथा; शब्दोऽपि नाममात्रत्वाद् न सन्। न चाऽऽत्मन्यतिप्रसक्तिः, तस्य स्वयम्प्रकाशस्य शब्दाद्यगोचरत्वाद् इत्यर्थः। अयं भावः—'वाचारम्भणम्' इत्यादिश्रुतौ विकारपदेन परापेक्षरूपविवर्तवाचकेन दृश्यजातम् उद्दिश्य नाममात्रत्वम् असत्त्वप्रयोजकं विधीयते। तच्च विवर्तत्वं शब्दमाययोरपि अविशिष्टम्। अतस्तयोरपि अधिष्ठानविविक्तयोः असत्त्वम्। आत्मनि निरपेक्षे तु विवर्तत्वस्य उद्देश्यताऽवच्छेदकस्याऽभावाद् न शब्दमात्रत्वम् असत्त्वप्रयोजकं विधेयमवतरति—इति। श्रुत्यर्थस्तु—'विकारो' विवर्तरूपं घटशरावादिकं वाङ्मयनाममात्रमेव, न तत्र सत्त्वगन्धोऽपि, उपादानभूतं मृत्तिकाद्येव तु सत्यमिति।।१००३।।

अथ 'शब्दमाये'त्यादि 'नामा'ऽन्तवाक्यानां क्रमेण अर्थं द्वादशभिःसंगृह्णंस्तत्र असद्भ्यामपि शब्दमायाभ्यां परमार्थस्याऽप्यात्मनो भानप्रतिबन्धः प्राग्विवेकात् कृत इत्याह—शब्देति। शब्दः शब्दमात्रात्मको विकारो, माया च तत्कारणभूता, ताभ्याम् आवृत आच्छादितोऽयमात्मा जीवरूपः स्वात्मानं स्वं तत्त्वं न याति न जानाति किन्तु निगूढः सन् परिच्छिन्नरूपेण भाति। तत्र महतोऽप्यल्परूपेण भाने दृष्टान्तो जलमध्यस्थो घटः, स हि महानपि स्वल्प उपलभ्यते इत्यनुभवसिद्धम्। एतेन श्रुतौ पुष्करशब्दो जलवाचको गौण्याऽन्तःकरणाद्युपाधौ वर्तत इति सूचितम्। एतयोः शब्दमाययोः नाशे बाधे तु स्वरूपभूतमेकत्वं लभत इत्यर्थः।।१००४।। एकत्वस्य उपलब्धिसाधनं योगं सूचयन्नेकत्वमुपलक्षयति—शब्दस्थमिति। शब्दे प्रणवे स्थितं वाच्यतया तादात्म्येन सम्बद्धं परं सर्वोत्कृष्टं ब्रह्म स्थूलसूक्ष्मकारणसमष्ट्युपाधि तस्मिन् मात्रात्रयवाच्ये सह मात्राभिः क्रमेण क्षीणे सति यत् तुरीयम् अक्षरम् अविनाशि अवशिष्टं तद् एव सर्वभेदाभावद्वारा एकत्वपदेनोक्तमित्यर्थः।।१००५।।

से वह 'है' नहीं सिद्ध होती इसलिये वह कोई वस्तु नहीं। मायाप्रत्यायक शब्द तो आत्मा हो ही नहीं सकता क्योंकि आत्मा वाणी मन से अतीत है जबकि शब्द तो मन-वाणी का ही विषय है।(श्रुति ने दृश्य को विवर्त मानकर उसकी असत्ता में हेतु दिया है कि वह सिर्फ कहने भर को है। विवर्त अर्थात् जिसका स्वरूप स्वतंत्र न हो, अन्य किसी पर निर्भर करे। घट का स्वरूप मिट्टी पर निर्भर करने से घट विवर्त है और घट है भी कहने भर को क्योंकि मिट्टी से अलग कर उसे कोई 'वस्तु' नहीं समझा जा सकता। इस प्रकार विवर्त होना और कहने भर को होना साथ-साथ मिलते हैं। शब्द और माया भी कहने भर को ही हैं अतः विवर्त हैं, अधिष्ठान से अलग उनकी कोई सत्ता नहीं है। आत्मा कहने भर को है नहीं अतः विवर्त नहीं सत्य है।)।।१००३।।

बड़ा घड़ा भी जल में डूब कर छोटा लगता है, ऐसे ही शब्द और माया से आवृत आत्मा अपनी वास्तविकता नहीं जानता बल्कि परिच्छिन्न ही प्रतीत होता है। जब माया नष्ट होती है तब स्वप्रकाश वस्तु अखण्डरूप से आविर्भूत हो जाती है।।१००४।। शब्दरूप प्रणव में उसका वाच्य ब्रह्म स्थित है क्योंकि अर्थ शब्द में तादात्म्य से रहता है ऐसा माना जाता है। प्रणव की तीनों मात्रायें और उनका वाच्य वह ब्रह्म जब क्रमशः क्षीण हो जाता है तब 'चौथा' अविनाशी आत्मा रह जाता है जो सब भेदों से रहित अतः अखण्ड है। ('क्रमशः क्षीण' अर्थात् पंचीकरणोक्त प्रक्रिया से प्रविलापन करते हुए आत्ममात्र रहना। यही समाधि आत्मा की अखण्डता उपलब्ध कराती है।)।।१००५।।

---

१. 'शब्दमायावृतो नैव तमसा याति पुष्करे। भिन्ने तमसि चैकत्वमेक एवानुपश्यति।' अमृत. १५।।
२. 'शब्दाक्षरं परं ब्रह्म तस्मिन् क्षीणे यदक्षरम्। तद्विद्वानक्षरं ध्यायेद्यदिच्छेच्छान्तिमात्मनः।।'अमृत.१६।।

शब्दब्रह्मद्वारा परब्रह्माधिगमः

एकत्वं परमं ब्रह्म ज्ञातुकामस्त्वतः पुमान्। शब्दब्रह्म पुरा विद्वानवगच्छेद्गतश्रमः।।१००६

[1]द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च तत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माऽधिगच्छति।।१००७

[2]शाब्दं ब्रह्म समभ्यस्य त्यजेज्ज्ञाते परे सति। पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः।।१००८

[3]गवामनेकरूपाणामेकरूपं यथा पयः। नानाविधानां देहानामेक आत्मा तथेरितः।।१००९

मन्थनम्

अतः सर्वेषु भूतेषु एक आत्मा व्यवस्थितः। मनसैव स विज्ञेय आत्मनः सुखमिच्छता।।१०१०

तदेकत्वं जिज्ञासुः प्रथमं प्रणवादिशब्दतादात्म्यापन्नं ब्रह्म चिन्तयितुम् अभ्यसेदित्याह—एकत्वमिति। एकत्वम् एकपदोक्तम्।।१००६।। तत्र शब्दब्रह्मण्यपि आदरः परब्रह्मवत् कर्तव्य इत्याह—द्वे इति। अधिकारिणा द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये आदरेण विज्ञेय। द्वे के? शब्दब्रह्म प्रणवादिरूपं, परं निर्विशेषं च। तत्र प्रथमं शब्दब्रह्मणि निष्णातः कुशलः सन्नेव परं साक्षात् करोतीत्यर्थः।।१००७।। परब्रह्मविज्ञाने सति तु शब्दब्रह्मचिन्तनाभ्यासो हेय इत्याह—शाब्दमिति। शाब्दं शब्दतादात्म्यापन्नं समभ्यस्य समीचीनस्य सत्फलस्य अभ्यासस्य गोचरं कृत्वा परे ब्रह्मणि ज्ञाते सति त्यजेत्। तथा ग्रन्थं शब्दप्रपञ्चं त्यजेत्, पलालं व्रीहिकाण्डं, धान्यार्थी व्रीहिकाम इति चेत्यर्थः।।१००८।। ज्ञेयस्य आत्मनः सर्वोपाधिष्वेकरूपत्वे दृष्टान्तमाह—गवामिति। कृष्णपीताद्यनेकरूपाणाम् अपि गवां पयः शुक्लमेव यथा, तथा नानाविधदेहानां मध्ये ज्ञानलक्षण आत्मा एकरूप एवेत्यर्थः। श्रुतौ लिङ्गिपदेन ज्ञानलिङ्गचेष्टाधारवाचकेन जातावेकवचनान्तेन च देहा उक्ता इति भावः।।१००९।।

जो पुरुष 'एक' कहलाने वाले ब्रह्म का साक्षात्कार चाहे उस विद्वान् को समस्त प्रवृत्ति छोड़कर पहले शब्द ब्रह्म का अवगम करना चाहिये अर्थात् प्रणव से तादात्म्य को प्राप्त ब्रह्म का चिंतन करना चाहिये। अधिकारी को दो ब्रह्म जानने चाहिये—प्रणवादिरूप शब्द ब्रह्म और परम अर्थात् निर्विशेष ब्रह्म। पहले शब्द ब्रह्म में जो कुशल हो चुका वही परम ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। (अर्थात् प्रणवादि के सहारे समाहित होकर पदार्थशोधन हो चुकने पर ही महावाक्य से सफल बोध संभव है।)।।१००६-७।। समाधि समीचीन और सत्फल देने वाला अभ्यास है। पहले साधक शब्द से तादात्म्य को प्राप्त ब्रह्म को समाधि का विषय बनाये यह ज़रूरी है। जब परब्रह्म का प्रामाणिक साक्षात्कार द्रढिष्ठ हो जाये तब शब्द के सहारे किया जाने वाला अभ्यास छोड़ देना चाहिये। धान्य चाहने वाला जैसे पुआल छोड़ता है ऐसे शब्द का प्रतिपाद्य तात्पर्य हृदयंगत कर लेने पर समस्त शब्दों का परित्याग उचित है। (वेदादि सच्छास्त्रों का इतना ही प्रयोजन है कि ब्रह्मात्मानुभूति होवे,वह अनुभूति हो जाने पर वे शास्त्र निष्प्रयोजन हैं। सिद्ध का अत एव शब्दत्याग स्वतः है, जैसे किसी की बात समझने के बाद उसके वाक्य दुहराते नहीं रहा जाता। साधक को निर्देश है कि शास्त्रों की पारिभाषिक उलझनों में मत उलझे वरन् उनका निष्कृष्ट अर्थ सही-सही समझे और अनुभावरूढ करे। तदनंतर संप्रदायरक्षा के लिये चाहे तर्क पढे चाहे खेती करे, किंतु तत्त्वानुभव पाये बिना शब्दजाल में भटकता रहा तो चित्त भ्रांत ही बना रहेगा भले ही अच्छा व्याख्याता बनकर खूब घी-दूध खा ले!)।।१००८।। गायें अनेक रंगों की होती हैं किंतु सबका दूध एक ही रंग का होता है, ऐसे ही देहादि उपाधियाँ अनेक प्रकार की हैं किंतु सबमें आत्मा एक ही है।।१००९।।

---

१. 'द्वे विद्ये वे..' अमृत.१७।

२. 'ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः। पलाल'....अमृत.१८।।

३. 'गवामनेकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता। क्षीरवत्पश्यते ज्ञानं लिंगिनस्तु गवां यथा।।' अमृत.१९।।

[1]दधि सर्वाणि भूतानि मनो मन्थाः प्रकीर्तितः। अहं ब्रह्मेति विज्ञानं नेत्रं मन्थनकारणम्। ।१०११
नवनीतं ततश्चैतदानन्दात्मानमद्वयम्। [2]उद्धरेदुद्धरंस्तस्मात् स्वात्मानं भवसागरात्। ।१०१२
निष्क्रियं निष्कलं शान्तं यदनेन समुद्धृतम्। तद् ब्रह्मात्माऽहमस्मीति साक्षात् कुर्यात् सदा पुमान्। ।१०१३

वासुदेवः

वासुदेवस्तदेवैतत् पठ्यते वेदवादिभिः। नाम्नस्तस्य निरुक्तं च कुर्वाणैस्त्वेवमेव हि। ।१०१४
[3]सर्वभूताधिवासो यो यो भूतेषु वसत्यपि। सर्वानुग्राहकत्वेन तदेवास्म्यहमद्वयम्। ।१०१५
इति तेऽमृतबिन्दूक्तं मनोनिग्रहसंयुतम्। उक्तं ब्रह्माऽथ वक्ष्यामि पुनः क्षुद्रतयेरितम्। ।१०१६

तस्य विज्ञानसाधनं श्रवणादिसंस्कृतं मन एवेत्याह—अत इति। अत उक्तदृष्टान्तसमन्वयात् सर्वत्रैकरूपेण स्थितोऽपि आत्मा मनसैव तत्परेण ज्ञेय इत्यर्थः। ।१०१०। । अत्र श्रुत्युक्तं रूपकम् अभिनयति—दधीति। सर्वाणि भूतानि उपाधयो दधिस्थानीयाश्चिन्त्याः, मनस्तु मन्थाः मन्थनदण्डश्चिन्त्यः, तस्य आवृत्तिरूपभ्रमणसाधनं ब्रह्मात्मैक्यज्ञानं तु नेत्रं मन्थनरज्जुस्थानीयं चिन्त्यमित्यर्थः। ।१०११। । नवनीतमिति। अद्वय आत्मा तु नवनीतस्थानीयः। स्वात्मनः संसाराद्युद्धरणं मोक्षाख्यं तदेव नवनीतस्य उद्धरणस्थानीयम् इति चिन्तयेद् इत्यर्थः। ।१०१२। । एवमुद्धृतस्य तत्पदार्थरूपस्य नवनीतस्य त्वम्पदार्थैक्यचिन्तनरूपं हृदि धारणं तापोपशमाय कुर्याद् इत्याह—निष्क्रियमिति। ।१०१३। । वासुदेव इति। तद् ब्रह्म वासुदेवसंज्ञं वैदिकैरुक्तम्। कीदृशैर्वैदिकैः? एवं वक्ष्यमाणविधया तद्व्युत्पत्तिं विवरणं कुर्वद्भिः। ।१०१४। । व्युत्पत्तिं दर्शयंश्चरमवाक्यार्थमाह—सर्वेति। वसन्त्यत्र भूतानि इति व्युत्पत्त्या वासुदेवपदेन सर्वभूताधिवासतयोक्तः, वसति सर्वत्रेति व्युत्पत्त्याऽन्तर्यामितया च य उक्तो नारायणः तद्रूपं ब्रह्म अद्वयलक्षणम् अहमस्मि इति बुद्ध्येतेत्यर्थः। ।१०१५। ।

ब्रह्मबिन्दुव्याख्यानसमाप्तिं दर्शयन्नुत्तरग्रन्थप्रवृत्तिप्रकारमाह—इति त इति। मनोनिग्रहसंयुतं ब्रह्म तत्त्वम् अमृतबिन्दौ ब्रह्मबिन्दौ यथोक्तं तथा तुभ्यमभिहितम्। अथ नारायणीयस्य तैत्तिरीयशाखागतस्य संक्षेपरूपे

आत्मरूप सुख चाहने वाला मनसे उस एक आत्मा का विज्ञान प्राप्त करे जो सब भूतों में व्यवस्थित है। श्रवणादि से प्राप्त संस्कारों वाला मन ही उसके विज्ञान का साधन है। ।१०१०। । सभी भूतों को अर्थात् उपाधियों को दही की जगह समझना चाहिये, मन को मथनी की जगह और मथनी चलाने के लिये जो रस्सी काम में ली जाती है उसकी जगह ब्रह्म-आत्मा की एकता का ज्ञान समझना चाहिये। मंथनलब्ध मक्खन की जगह है अद्वय आनंदात्मा। इस दिव्य मक्खन को निकालना चाहिये जिससे भवसागर से स्वात्मा का उद्धार हो जाये। ।१०११-२। ।

क्रियाहीन निरवयव शान्त जो तत्त्व उक्त मंथन से प्राप्त हो वह ब्रह्म मैं हूँ ऐसा सदा साक्षात्कार करना चाहिये। ।१०१३। ।

उस ब्रह्म को ही वैदिकों ने वासुदेव कहा है। वासुदेव-शब्द का यों निर्वचन है : जो सब भूतों का अधिवास (अधिष्ठान) है तथा जो सब भूतों में बसा है, सब पर अनुग्रह करने वाला है, वह वासुदेव है। वही अद्वय मैं हूँ ऐसी निष्ठा रखनी चाहिये। ।१०१४-५। ।

१. 'घटमिव पयसि निगूढं भूते भूते वसति विज्ञानं सततं मन्थ भंग मनसा मन्थानभूतेन' अमृत. २०। । नारायणानुसारिपाठे 'घृतमिव' 'मन्थयितव्यम्' इति च भेदः।
२. 'ज्ञाननेत्रं समादाय उद्धरेद् वह्निवत् परम्। निष्कलं निश्चलं शान्तं तद्ब्रह्माऽहमिति स्मृतम्।'। अमृत.२१। ।
३. 'सर्वभूताधिवासं यद् भूतेषु च वसत्यपि सर्वानुग्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेवः। ।' अमृत.२२। ।

नारायणाथर्वशिरोविषयः

नारायणीयसंज्ञेये महोपनिषदीरिते। आत्मप्रबोधसंज्ञे च शृणु तत्त्वं क्रमादिह। ।१०१७

येन पूर्णमिदं विश्वं यश्चाऽयं सर्वदेहिनाम्। शेते पुरेषु भगवान् पुरुषः पुरुषोत्तमः। ।१०१८

विराड्रूपधरो यश्चान्ते लोकान्निखिलानपि। संगृह्य शिशुवत् शेते शेषार्द्धोज्ज्वलमध्यगः। ।१०१९

हिरण्यगर्भो भगवान् जीवानां बिम्बवच्च यः। वर्तते शयने मायातल्पे गर्भे यथा शिशुः। ।१०२०

यश्चेश्वरोऽत्र भगवान् वैषम्यादिविवर्जितः। अविद्याकन्दुकः सोऽयमुक्तो नारायणः पुमान्। ।१०२१

नारायणीयोपनिषत्संज्ञे ग्रन्थे, तथा महोपनिषद् इति ईरिते उक्ते ग्रन्थे, तथा आत्मप्रबोधोपनिषत्संज्ञे ग्रन्थे च क्षुद्रतया संक्षिप्ततया ब्रह्म ईरितं वर्णितं तन्मया वक्ष्यमाणं सावधानः क्रमेण शृणु। इति द्वयोरर्थः। ।१०१६-७। ।

तत्र[1]पुरुषपदव्युत्पत्तिं द्विधा सूचयंस्तदर्थमाह—येनेति। यः सर्वविश्वपूरकत्वात् सर्वदेहरूपपूर्षु अन्तर्यामित्वेन वासशीलत्वाच्च पुरुष इत्युक्तः, पूरयति पूर्षु वसति इति व्युत्पत्तिसम्भवाद् इत्यर्थः। ।१०१८। । नारायणपदार्थमाह—विराडिति त्रिभिः। यो भगवान् विराड्रूपः अन्ते प्रलये निखिलान् लोकान् उदरे संगृह्य शेषस्य फणासहस्रेणच्छायाकर्तुर्यदर्धरूपम् उज्ज्वलं मध्यं तदात्मकशय्यां गतः सन्नप्सु शेत इत्यर्थः। एतेन नरसृष्टा आपोऽयनं वासस्थानं यस्य स तथेति व्युत्पत्तिः सूचिता। ।१०१९। । हिरण्यगर्भ इति। यः च भगवान् हिरण्यगर्भरूपो जीवानां तैजसानां सूक्ष्मव्यष्ट्युपाधिकानां प्रतिबिम्बकल्पानां बिम्बस्थानीयो मायारूपे तल्पे शय्यायां वर्तते यथा मातृगर्भरूपे शयने शय्यायां शिशुः इत्यर्थः। एतेन नरस्य जगत्कर्तुः शक्तिरूपतया सम्बन्धित्वाद् नारं मायातत्त्वं तदयनं यस्य स तथा। अथ वा नराणां जीवानां समूहो नारं तस्यायनं स्वरूपलाभो यतो बिम्बभूतात् स तथेति व्युत्पत्तिद्वयं सूचितम्। ।१०२०। । यश्चेश्वर इति। यश्च भगवान् वैषम्यनैर्घृण्यादिदोषरहित ईश्वरः अन्तर्यामी अविद्यायाः कार्यकारणरूपायाः कन्दुकवद् दूरतः प्रक्षेप्ता च स नारायणः इत्युक्त इत्यर्थः। । तथा च अराणां संसार-चक्रावयवानां रागादीनाम् अयनं प्राप्तिर्यत्र न विद्यते स तथा; यद्वा नराणां जीवानाम् अयनं प्रवृत्तिर्यस्माद् अन्तर्यामिणः स तथा; अथ वा नरसम्बन्धिनोऽविद्यातत्त्वस्य अयनं प्रक्षेपो यतस्तुरीयत्वेन ज्ञाताद् बदरिकाश्रमव[illegible]सिगुरुरूपाद् वा स तथेति व्युत्पत्तित्रयं सिद्धम्। व्युत्पत्त्यन्तराण्यपि दशमे (श्लोक.५२३ आदौ) दर्शितानि स्मर्तव्यानि इति। ।१०२१। ।

अमृतबिन्दूपनिषत् में आया मनोनिग्रहरूप उपाय सहित ब्रह्म का वर्णन मैंने तुम्हें समझा दिया। अन्य उपनिषदों में भी संक्षिप्त तत्त्ववर्णन बिखरा हुआ है, अब वह सुनाऊँगा। नारायणीय या नारायणाथर्वशिर नामक उपनिषत्, महोपनिषत् और आत्मप्रबोधोपनिषत् के अनुसार वर्णन कर फिर कैवल्योपनिषत् समझाऊँगा। ।१०१६-७। ।

पहले नारायणीय का वर्णन सुनो : जिससे यह विश्व परिपूरित है और जो सब शरीरधारियों के देहपुरों में सोता है वही पुरुषोत्तम भगवान् 'पुरुष' कहा जाता है। ।१०१८। । जो भगवान् विराट् रूप धरकर प्रलय में निखिल लोकों को अपने उदर में इकट्ठा कर शेषशय्या पर बच्चे की तरह सो जाते हैं वे नारायण कहे जाते हैं। शेष अपने हज़ार फणों से तो उन भगवान् पर छाया करता है और अपना उज्ज्वल धड़ भगवान् के लिये शय्यारूप से निवेदित करता है। ।१०१९। ।

उस पर सोने वाले भगवान् हिरण्यगर्भ हैं जो उस बिम्ब की जगह हैं जिसके प्रतिबिंबों की जगह सूक्ष्म-व्यष्टि-उपाधि वाले सब तैजस (जीव) हैं। जैसे बच्चा गर्भ में रहता है ऐसे माया-शय्या पर वे विद्यमान हैं। ।१०२०। । जो भगवान् भेदभाव नहीं रखते वे अन्तर्यामी ईश्वर कार्य-कारणरूप अविद्या को मानो गेंद बनाकर खेलते हैं! उन्हीं पुरुष को नारायण कहते हैं। (संसारचक्र के अरों की—राग आदि की—जहाँ प्राप्ति नहीं तथा जिससे नरों की समस्त गतियाँ नियंत्रित हैं एवं जिस तुरीय के ज्ञान से अविद्या का निरास होता है वह नारायण है। वही बदरिकाश्रम में तपोरत है।)। ।१०२१। ।

१. नारायणोपनिषदि। इयं नारायणाथर्वशिर उपनिषन्नाम्ना प्रचलति।' अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति।' इत्यादि तस्या आरम्भः।

अकामयत देवोऽयं सिसृक्षुर्निखिलं जगत्। प्रजाः सृजेयेति पुरा ह्येक एव व्यवस्थितः।।१०२२
सङ्कल्प्येत्थं जगत् सर्वं सृष्टवान् पुरुषः परः। देवानिमांश्च निखिलान्नानासामर्थ्यसंयुतान्।।१०२३
ब्रह्मा शक्रस्तथाऽऽदित्यो रुद्राश्च वसवस्तथा। विश्वे देवाश्च साध्याश्च तथाऽन्या देवयोनयः।।१०२४
नारायणात् प्रजायन्ते सह सर्वैश्चराचरैः। वर्तन्ते तत्र लीयन्ते तस्मिन्नेव महात्मनि।।१०२५
यत एवं ततो देव एको नारायणः स्मृतः। ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च शक्रोऽन्ये देवतागणाः।।१०२६
आदित्याद्याश्च दस्रौ च ये चान्ये देवयोनयः। दिशश्च प्रदिशस्तद्वदधश्चोर्ध्वं च मध्यमम्।।१०२७
महाभूतानि भूतानि स्थावराणि चराणि च। भूतं भव्यं भवत् सर्वं सकलं सदसद्गतम्।
यदस्ति यच्च नास्त्येतत् सर्वं नारायणात्मकम्।।१०२८
यदात्मकमिदं विश्वं पुमान्नारायणस्तु सः। विनाशरहितस्तद्वत् प्राणाद्यैः परिवर्जितः।।१०२९

अकामयतेति। अयं देवः सृष्टेः पुरा एकः अद्वितीयो जगत्सिसृक्षुः जगत्सृष्ट्यभिमुखः सन् 'अहं सृजेय' इत्याकारां कामनां कृतवानित्यर्थः।।१०२२।। सङ्कल्प्येति। इत्थं सङ्कल्प्य देवादिकं सर्वं जगत् सृष्टवान् इत्यर्थः।।१०२३।। देवान् अवयुत्यानुवदति—ब्रह्मेति। यथा जायन्ते तथा तत्र नारायणे वर्तन्ते लीयन्ते चेत्यर्थः।।१०२४-५।।

तथा च यथा मृदो घटादयो न भिन्नास्तथा सर्वं जगन्नारायणाद् इत्याह—यत एवमिति त्रिभिः। यत एवं नारायणाज्जन्मस्थितिभङ्गशालित्वं जगतः ततो नारायणो देव एकः अद्वितीयः, एतत् सर्वं तु नारायणात्मकम्। 'एतत्' किम्? अत आह—ब्रह्मेत्यादि। ब्रह्मादयो गुणत्रयाभिमानिनः;दस्रौ अश्विनौ। सदसद्गतं स्थूलसूक्ष्मावस्थागतम्; एतदेव स्फुटयति—यदिति। यदस्ति प्रत्यक्षं, नास्ति परोक्षम्। इति त्रयाणामर्थः।।१०२६-८।।

एवं कण्डिकाद्वयं व्याख्यातम्। 'अथ नित्य'[1] इत्यादेः तृतीयकण्डिकाया अर्थमाह—यदात्मकमिति सपादचतुर्भिः। स सर्वात्मा नारायणो विनाशराहित्यरूपनित्यत्ववान् प्राणादिषोडशकलाभिर्विर्जितश्च। षोडशकलास्तु—प्राणः श्रद्धा, आकाशादिपञ्चभूतानि, इन्द्रियं, मनः, अन्नं, वीर्यं, तपो, मन्त्रः, कर्म, लोका, नाम चेति प्रश्नोक्ताः।।१०२९।। आख्यातवाच्यक्रियाराहित्यरूपनिराख्यातत्वस्य अर्थात् सिद्धिमभिप्रेत्य निर्विकल्पादिप-

यह नारायण देव सृष्टि से पूर्व अद्वितीय ही थे। सकल जगत् की सृष्टि के इच्छुक उसी एक देव ने कामना की 'मैं प्रजाएँ उत्पन्न करूँ'।।१०२२।। यह संकल्प कर उस परम पुरुष ने नाना सामर्थ्यों से संपन्न इन सब देवताओं की सृष्टि कर दी।।१०२३।। ब्रह्मा, इंद्र, सूर्य, ग्यारहों रुद्र, आठों वसु, विश्वे देव, साध्य आदि सभी देवयोनियाँ तथा अन्य सभी चराचर नारायण से ही उत्पन्न होते हैं, उन्हीं में रहते हैं और उन्हीं महात्मा नारायण में लीन होते हैं।।१०२४-५।। जैसे मिट्टी से घटादि भिन्न नहीं होते वैसे ब्रह्मादि देव, दिशाएँ, अवांतर दिशाएँ, ऊपर-नीचे, महाभूत, चराचर प्राणी, भूत-वर्तमान-भावी, स्थूल-सूक्ष्म, प्रत्यक्ष-परोक्ष—सभी कुछ एकमात्र नारायणात्मक है।।१०२६-८।।

इस विश्व का आत्मा जो नारायण पुरुष वह नष्ट नहीं होता और प्राणादि सोलहों कलाओं से रहित है। (पाँच भूत, इंद्रियाँ, मन, प्राण, श्रद्धा, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम—ये सोलह कलाएँ हैं।)।।१०२९।। यह

---

१. 'अथ नित्यो नारायणः। ब्रह्मा नारायणः। शिवश्च...शक्रश्च....कालश्च...दिशश्च...विदिशश्च....ऊर्ध्वं च...अधश्च...अन्तर्बहिश्च नारायणः। नारयण एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। निष्कलंको निरंजनो निर्विकल्पो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्।'—नारा.।

कार्यजातमिदं सर्वं विकल्प इति कीर्तितम्। अज्ञानं कारणं तद्वत् ताभ्यां च परिवर्जितः।।१०३०

मायया जडरूपिण्या सर्वशुद्धिविहीनया। कालत्रयेऽपि रहितः सर्वभेदविवर्जितः।।१०३१

अस्मान्नारायणाद् देवाद् भिन्नः कोऽपि न वस्तुतः। शुद्धसत्त्वाद् द्वितीयोऽर्थो नासीन्नास्ति न भाव्यपि।।१०३२

एवं यो वेद पुरुषः स कृत्वा सारथिं धियम्। रुद्राभिधां स्वबोधाख्यां सोऽहमस्मीतिरूपिणीम्।।१०३३

प्रग्रहं च मनः शान्तं शरीररथगोचरः। इन्द्रियाश्वैर्भृशं दान्तैर्गच्छेद् विष्णुपदं परम्।।१०३४

एवं नारायणस्यात्मविद्यां यो वेद वेदवित्। तीर्त्वा स आपदः सर्वाः प्राप्य भोगांस्तथेप्सितान्। अत्र मृत्वा ब्रह्मलोकं गत्वा मोक्षं च विन्दति।।१०३५

द्वयार्थमाह—कार्येति। सर्वं कार्यं विकल्पपदेनोक्तं, तत्कारणम् अज्ञानं तु अञ्जनपदेन, ताभ्यामयं वर्जितो भवतीत्यर्थः।।१०३०।। 'शुद्ध'-पदार्थमाह—माययेति। सर्वशुद्धिविहीनया मलरूपया मायया तत्प्रयुक्तभेदैश्च रहित इत्यर्थः।।१०३१।। अस्मादिति। अस्मात् शुद्धसत्त्वात्मकाद् भिन्नः कोऽपि भावो न भवति, द्वितीयस्याऽसम्भवाद् इत्यर्थः।।१०३२।। एवमिति। एवं यो वेद स विष्णुभावयोग्य इति पूर्वेण सम्बन्धः। कथम्? इत्याकांक्षायाम् चतुर्थ्या[1] अर्थं दर्शयति—स इत्यादिना। स विद्वान् रुत् संसारदुःखं द्रावयति हरति इति व्युत्पत्त्या रुद्रपदोक्तां श्रौतविज्ञानसम्पन्नां बुद्धिं सारथिं कृत्वा मननादिव्यापारकं मनः प्रग्रहम् अश्वरश्मिवत् सारथिवशं च कृत्वा संयतेन्द्रियरूपाश्वैः युक्ते शरीररूपरथे स्थितो विष्णुपदं मोक्षरूपं गच्छेद्। इति द्वयोरर्थः।।१०३३-४।। पञ्चम्यर्थमाह[2]—एवमिति। एवम् उक्तविधां नारायणस्यात्मत्वप्रतिपादिकां विद्याम् उपनिषदं योऽर्थतो वेद जानाति सः अत्र जीवदवस्थायाम् आपत्तरणपूर्वकम् इष्टभोगान् प्राप्य अन्ते ब्रह्मलोकाप्तिद्वारा मोक्षं गच्छेद् इत्यर्थः।।१०३५।।

सारा कार्यसमूह 'विकल्प' कहा जाता है और इसका कारण अज्ञान है जिसे कहीं-कहीं 'अंजन' कहा जाता है। नारायण विकल्प और अंजन दोनों से रहित है।।१०३०।। जो जड रूप वाली एवं किसी भी शुद्धि से रहित है उस माया से नारायण तीनों कालों में अस्पृष्ट है तथा सभी भेदों से रहित है।।१०३१।। इस नारायण देव से वास्तव में कोई भिन्न नहीं। शुद्धसत्त्वरूप नारायण से अन्य कोई पदार्थ न था, न है, न हो सकता है।।१०३२।। जो पूर्वोक्त तथ्य समझता है वही विष्णुभाव का अधिकारी है।

उस साधक को चाहिये कि बुद्धि को सारथि बनाये। संसार-दुःख का हरण करने वाली होने से श्रौत-विज्ञान से संपन्न बुद्धि 'रुद्र' कही जाती है, वही सारथि बनाने लायक है। उसी को आत्मज्ञान भी कहते हैं क्योंकि 'वही मैं हूँ' यह अखण्डाकार ही उस बुद्धि का रूप है। शान्त मन को लगाम बनाकर सारथि के सुपुर्द कर देना चाहिये। पूर्णतः जिन्हें दमन किया जा चुका है ऐसी इंद्रियों को घोड़ा बनाकर शरीररूप रथ में जोतना चाहिये। तभी विष्णु के परम पद तक, मोक्ष तक पहुँचा जा सकता है।।१००३-४।।

नारायण की आत्मरूपता की प्रतिपादक विद्या को जो समझ लेता है वह जीवित अवस्था में ही सारी आपत्तियाँ तर जाता है और इष्ट भोग पा लेता है। मरकर वह ब्रह्मलोक जाता है और क्रममोक्ष प्राप्त करता है।।१०३५।। 'नमो नारायणाय' यह मंत्र सब पुरुषार्थ सिद्ध करता है। निखिल देही इसका प्रयोग कर सकते हैं। द्विज इससे पूर्व प्रणव

१. 'प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं प्रणवस्वरूपम् अकार उकारो मकार इति'—नारा.।

२. 'य एवं वेद स विष्णुरेव भवति' इति द्वितीयकंडिकायाम्। चतुर्थकण्डिकायां मंत्रोपासकफलमुक्तम्, पंचम्यामथर्वशिरसोऽध्येतुः फलमुक्तम्।

नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः। देहिनां निखिलानां स द्विजानां प्रणवादिकः।।१०३६
यादृङ्नारायणज्ञानात् फलं तादृक् प्रकीर्तितम्। अस्यापि ज्ञानतो यस्माज्ज्ञायते पुरुषोऽमुना।।१०३७
उपायः प्रणवो यद्वद् नारायणगतिं प्रति। तद्वदष्टाक्षरोऽप्येष उपायः सर्वदेहिनाम्।।१०३८
अमुं जपेद् नरो नित्यं नारी वा पाप्मनः क्षये। आनन्दात्मानमात्मस्थं पश्येन्नारायणं परम्।।१०३९
किं पुनर्योऽधिकारी स्यात् सर्वपापविवर्जितः। सम्पश्यति जपन्नेतद् आनन्दात्मानमद्वयम्।।१०४०
इति नारायणीयाया ब्रह्मविद्या समीरिता। सोक्ता महोपनिषदि प्रोक्तां तां शृणु नामतः।।१०४१

महोपनिषदर्थः

एवमाहुःपुरा विप्रा विद्वांसो वेदवादिनः। एको नारायणः पूर्वमासीद्विश्वजनेः पुरा।।१०४२।।
तदा ब्रह्मादयो देवा नासन् भूतानि तानि च। चरस्थिराणि चान्यानि नैव किञ्चित् तथा परम्।।१०४३
एकाकी स पुमान् पूर्वो नैव रेमें निरञ्जनः। द्वितीयं ध्यायतस्तस्य पुरुषस्य महात्मनः।।१०४४

षष्ठ्या भावार्थमाह—नम इति पञ्चभिः। नमआदिको मन्त्रः स्त्रीशूद्रपर्यन्तानां सर्वेषां हितः। द्विजैस्त्रैवर्णिकैस्तु प्रणवादिको जप्य इत्यर्थः।।१०३६।।अस्य मंत्रस्य नारायणसाम्यमाह—यादृगिति। ज्ञायते लभ्यते। अमुनाऽधिकारिणा।।१०३७।।अस्य प्रणवसाम्यमाह—उपाय इति। गतिर्लाभः।।१०३८।।जपफलमाह—अमुमिति। अमुं मन्त्रं यदि नरो नारी वा जपेद् अर्थावबोधपूर्वकमभ्यसेत्तर्हि प्रत्यग्रूपं नारायणं पश्येत् किम् उत अधिकारसम्पन्नः! इति द्वयोरर्थः।।१०३९-४०।। उपसंहरन् महोपनिषदर्थं प्रतिजानीते—इति नारायणीयाया इति। नारायणीयाया उपनिषदोऽर्थभूता विद्या समीरिता इति। तां विद्यां नामतो महोपनिषदि[1] महोपनिषत्संज्ञे श्रुतिग्रन्थे प्रोक्तां शृणु इति।।१०४१।।

एवमिति। पुरा प्राचीनवृत्तं विद्वांसो वैदिका विप्रा एवमाहुः। 'एवं' कथम्? पूर्वं नारायण एव आसीत्। 'पुरा' इत्यस्य विवरणम्—विश्वजनेः पुरेति।।१०४२।। तदेति। तदा सृष्ट्यादौ ब्रह्मादयो देवा नासन्, तानि महान्ति भूतानि च नासन्, तथाऽन्यानि भूतपदस्य अर्थान्तररूपाणि स्थावरजङ्गमशरीराणि नासन्, तथा परं द्यावापृथिव्यादिकं कार्यजातं नासीदित्यर्थः।।१०४३।। एकाकीति। स पूर्वः सृष्टिपूर्वकाले स्थितः पुमान् पुरुषः एकाकी सन् न रेमे अरतिरूपं क्षोभं प्राप। ततो रतये द्वितीयं ध्यायतः तस्य पुरुषस्य मायारूपयुवत्या नासिकोपलक्षितप्राणसूक्ष्मावस्थारूपत्वात्

भी जोड़ सकते हैं। (तभी यह अष्टाक्षर बनेगा)।।१०३६।। नारायण के ज्ञान का जैसा फल बताया गया है वैसा इस मंत्र की उपासना से भी हो जाता है क्योंकि इसके सहारे अधिकारी परमपुरुष को पा सकता है।।१०३७।। जैसे नारायणलाभ का उपाय प्रणव है वैसे यह अष्टाक्षर भी सब देहियों के लिये नारायणप्राप्ति का सुलभ उपाय है।।१०३८।। नर हो या नारी, पापक्षय के निमित्त इसका नित्य जप करे तो मन शुद्ध होने पर आत्मरूप से स्थित आनंदात्मा परम नारायण का दर्शन पाना सरल है।।१०३९।। जब सभी इससे यह फल पा सकते हैं तब जो सब पापों से रहित अधिकारी इसे जपता है वह अद्वैत आनंदरूप आत्मा का सम्यक् दर्शन करता ही है इसमें क्या कहना!।।१०४०।।

इस प्रकार नारायणीयोक्त ब्रह्मविद्या का सम्यक् संक्षिप्त वर्णन कर दिया। अब उस ब्रह्मविद्या को सुनो जो महोपनिषत् में कही गयी है।।१०४१।।

वेदविचारक विद्वान् बताते हैं कि विश्व के प्रादुर्भाव से पूर्व एक अद्वितीय नारायण ही थे। तब न ब्रह्मा आदि देवता थे, न महाभूत थे, न कोई चराचर प्राणी ही था, न और ही कुछ था। वे नारायण पुरुष उस अकेलेपन में रमण

१. इयं षट्स्वध्यायेषु; प्रथमः गद्यात्मकः, ततः पद्यात्मकाध्यायपंचके षट्त्रिंशदधिकपंचशतं श्लोकाः। प्रारंभे-पूर्वं नारायण एव बभूव ततः चतुर्दश पुरुषा एका कन्या जज्ञिर इत्यादि वर्णितम्।

त्रयोदश सुतास्तस्य कन्या चैकाऽभवत्तदा। असङ्गस्यासती मायायुवत्या सङ्गतः सतः।।१०४५

त्रिधा साऽकुरुतात्मानं कन्या पुरुषकांक्षिणी। अधिदैवमथाध्यात्ममधिभूतं च भामिनी[1]।।१०४६

वीक्षमाणः पुमानेकस्तामेतामसतीं सुताम्। आत्मानं बहुधा मेने तद्बहुत्वेन मोहितः।।१०४७

तेषां च कारणान्यत्र पूर्वं सृष्ट्वा च तान् प्रभुः। असृजच्च क्रियाशक्तिं तेषां कार्यं च कारणम्।।१०४८

पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च। पञ्चकं कारणं प्रोक्तं स्थूलं सूक्ष्मं च मध्यमम्।

तद् द्वैविध्यात् कारणस्य कार्यं च द्विविधं भवेत्।।१०४९

क्रियाशक्तिस्तु या प्रोक्ता स प्राण इति कीर्तितः। कार्यरूपोऽत्र भूतानां कारणं वाऽपरस्य च।।१०५०

श्रुतौ[2] नस्तोम-पदोक्तया सह सङ्गो जातः। ततः त्रयोदश सुता जाता, एका कन्या च असती नानापुरुषाभिलाषिणी जाता। कीदृशस्य पुरुषस्य? वस्तुतः सतः निर्दोषस्य, असङ्गत्वात्। इति द्वयोरर्थः।।१०४४-५।। त्रिधेति। सा कन्या बुद्धिरूपा नानापुरुषाभिलाषिणी आत्मानम् अधिदैवादिरूपैः त्रिधाऽकरोद् इत्यर्थः। कार्यविभागस्य बुद्धिमात्रतन्त्रत्वाद् इति भावः। न केवलं कन्यैव त्रिधा जाता किन्तु तत्सुता अपीत्याह—यथेति। तत्र अधिदैवत्वं समष्टिघटकत्वम्, अध्यात्मत्वं व्यष्टिघटकत्वम्, अधिभूतत्वम् इदन्तया दृश्यमानत्वम् इति वर्णितप्रायम् इत्यर्थः।।१०४६।। वीक्षमाण इति। एकः अपि स पुमान् ताम् असतीं सुतां तादात्म्येन वीक्षमाणः पश्यन् सन्नात्मानं बहुरूपं मेने, तस्याः कन्याया बहुत्वलक्षणधर्माऽध्यासात्। तत्राऽध्यासे हेतुस्तु मोहोऽविवेक एवेत्यर्थः।।१०४७।।

तेषां चेति। तेषां त्रयोदशसुतानां सुतायाश्च यानि कारणानि शरीरोपादानभूतानि अत्र व्यवहारे प्रसिद्धानि तानि प्रथमं सृष्ट्वा ततः तान् सुतासहितान् सुतान् सृष्ट्वा च पश्चात् क्रियाशक्तिं सृष्टवान्। कीदृशीं क्रियाशक्तिम्? तेषां प्रथमसृष्टानां मध्ये केषांचित् कार्यभूतां, केषांचित्तु स्थितिकारणभूतामित्यर्थः।।१०४८।। तत्र कानि कारणानि? इत्याकांक्षायामाह—पृथिव्याप इति। प्रथमसृष्टतया यत् कारणजातमुक्तं तत् पृथिव्यादिपञ्चकरूपं बोध्यम्। तच्च द्विविधम्—स्थूलं महाभूताख्यं सूक्ष्मं च तन्मात्राख्यम्। तत्र सूक्ष्मस्य विशेषणं मध्यममिति। मध्ये भवं मध्यमं स्थूलस्यान्तः स्थितिशीलमिति यावत्। एवं कारणद्वैविध्ये सति तद् उक्तं कार्यम् अपि स्थूलसूक्ष्मत्वाभ्यां द्विधा भवेदित्यर्थः।।१०४९।। 'क्रियाशक्तिम्' इत्यादि(१०४८) विवृणोति—क्रियेति। क्रियाशक्तिपदेन प्राण उक्त इति। तत्र हेतुतया प्राणे कार्यत्वकारणत्वयोरुक्तयोः समुच्चयमाह—कार्येति। यः प्राणः पञ्चभूतानां कार्यरूपः अपरस्य सुतादिप्रपञ्चस्य कारणं च भवति इत्यर्थः।।१०५०।।

नहीं कर पाये। उन निरंजन महात्मा पुरुष ने रमण-योग्य द्वितीय का ध्यान किया। उस असंग निर्दोष नारायण का तब मायारूप युवती से संग हुआ जिससे उन्हें तेरह पुत्र व एक असती पुत्री उत्पन्न हुए। बुद्धिरूप उस कन्या को नाना पुरुषों की अभिलाषा थी अतः उसने स्वयं को अधिदैव, अधिभूत और अध्यात्म इन तीन प्रकारों में बाँट लिया। पुत्री ही नहीं, पुत्र भी उक्त तीनों तरह बँट गये।(अधिदैव अर्थात् जो समष्टि का घटक हो; अध्यात्म अर्थात् जो व्यष्टि का घटक हो और अधिभूत अर्थात् जो 'यह'—यों विषयरूप से प्रतीत हो।)।।१०४२-६।। वह अनादि इकलौता पुरुष बहुत रूप धारण करने वाली अपनी असती पुत्री को तादात्म्यभाव से (अभेददृष्टि से) देखता रहा अतः पुत्री की बहुतायत से विवेक न कर पाने के कारण खुद को ही नाना प्रकार का मान बैठा। (वैविध्य बुद्धि में है, अभेदाध्यास से आत्मा स्वयं में समझ रहा है।)।।१०४७।।

१. एतदग्रे 'यथा कन्या तथा जातास्त्रिविधास्तत्सुता अपि' इत्येवमर्थकमर्धमपेक्ष्यते टीकानुरोधादिति प्रतीयते। इति पुरा मुद्रितग्रंथसम्पादकः।

२. 'तस्य ध्यानान्तःस्थस्य यज्ञस्तोममुच्यते' इति प्रचलितपाठः (महो.)।

अहङ्कारो मनश्चित्तमिन्द्रियाणि दशैव हि। त्रयोदश सुताः प्रोक्ताः कन्या बुद्धिश्चतुर्दशी।।१०५१
हिरण्यगर्भः सम्प्रोक्तो विभागस्याधिदैवकः। अधिभूतं विभास्य जङ्गमानि स्थिराणि च।
भूतान्याध्यात्मिकश्चाऽयं प्रत्येकं सर्वदेहिनाम्।।१०५२
कालश्च सर्वभूतानां सृष्टिस्थितिविनाशकृत्। पुरुषेण परेणाऽयं सृष्टः सर्वस्य हेतुना।।१०५३
सृष्ट्वा तदखिलं विश्वं सूत्ररूपमुपाश्रितः। पुरुषो देवतासृष्टिमेवं नारायणोऽकरोत्।।१०५४

के त्रयोदश सुतत्वनोक्ताः का च सुतात्वेन? इत्याकांक्षायामाह—अहङ्कार इति। अहङ्कारादित्रयं ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं च एते भावाः त्रयोदश सुतत्वेनोक्ताः। बुद्धिः तु नानारूपा सुतात्वेन सा च चतुर्दशीत्यर्थः। एतेन तन्मात्रपञ्चकस्य भूतपञ्चकस्य एकस्य प्राणस्य च संयोजने पञ्चविंशको गणः सम्पन्न इति सूचितम्।।१०५१।। हिरण्यगर्भ इति। अस्य विभागस्य पञ्चविंशकगणरूपस्य अधिदैवकः अधिदैवं रूपं कायति शब्दयति अभिमन्यत इति यावत्—तथाभूतो हिरण्यगर्भो बोध्यः। अधिभूतं स्थितस्य तु तस्य विभागस्य अभिमन्तॄणि स्थिरजङ्गमानि भूतानि बोध्यानि। तत्रैतावान् विशेषः—अयम् अधिभूतत्वेनोक्तः प्रत्येकं तत्तच्छरीरिणं प्रति आध्यात्मिकः अहमिति प्रतीयमानत्वात्, शरीर्यन्तरं प्रति तु अधिभूतरूप एव, इदन्तया प्रतीतेरित्याशयः।।१०५२।।

'नास्य प्रजा' इत्यादिवाक्यस्य[1] 'आसंवत्सर' पदोक्तकालसहिता एव प्रजा अजायन्त इति अर्थमभिसन्धायाह—कालश्चेति। प्रजापतिसृष्ट्यवच्छेदकः कालोऽप्यनेन सृष्ट[2] इत्यर्थः।।१०५३।। सृष्टेष्विति। सूत्रात्मरूपः सन् एवं पूर्ववत् देवानां सूत्रात्मविभूतित्वेन बृहदारण्यके प्रसिद्धानां सृष्टिम् अकरोद् इत्यर्थः।।१०५४।।

उन तेरहों पुत्रों के और उस एक पुत्री के शरीरों के उपादानरूप कारणों को नारायण ने पहले उत्पन्न किया, फिर पुत्री सहित पुत्रों को पैदा किया व उसके बाद क्रियाशक्ति का निर्माण किया। प्रथमोत्पन्न वस्तुओं में से कुछ के प्रति वह क्रियाशक्ति कार्य है तथा अन्यों के प्रति कारण है। प्रथमोत्पन्न कारणसमुदाय पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश ये पंचभूत हैं। इनका स्थूलरूप महाभूत कहा जाता है, सूक्ष्मरूप तन्मात्रा कहा जाता है। सूक्ष्मरूप की स्थिति स्थूल भूत के भीतर समझनी चाहिये (क्योंकि स्थूल के प्रति भी सूक्ष्म कारण है)। कारण क्योंकि सूक्ष्म-स्थूलभेद से दो प्रकार का है इसलिये कार्य में भी स्थूल-सूक्ष्म यह दो तरह का भेद रहता है।।१०४८-९।। 'क्रियाशक्ति'-शब्द से प्राण कहा जा रहा है। वह पंचभूतों का तो कार्य है और जो पुत्रादि प्रपंच पैदा हुआ उसका कारण है।।१०५०।।

तेरह पुत्र हैं—अहंकार, मन, चित्त और दस इंद्रियाँ। इनसे चौदहवी जो नाना रूपों वाली पुत्री वह बुद्धि है।।१०५१।। उक्त चौदह में पाँच तन्मात्राएँ, पाँच भूत और एक प्राण जोड़ देने से जो पच्चीस तत्त्वों का समूह है उसका अधिदैवक है हिरण्यगर्भ, वही इन पच्चीसों में अभिमान किये रहता है। उसी समूह का जो अधिभूत रूप से स्थित हिस्सा है उसमें अभिमानी सब स्थिर-जंगम प्राणी हैं। जिस प्राणी को जिस संघात में अभिमान है वह संघात उस प्राणी के लिये अध्यात्म है क्योंकि उसे लगता है 'यह मैं हूँ', तथा अन्य प्राणियों के लिये वही संघात अधिभूत है क्योंकि उन्हें वह 'मैं'-रूप से नहीं वरन् 'यह'-रूप से प्रतीत होता है।।१०५२।।

सब भूतों के जन्म-स्थिति-भंग करने वाले काल को भी इस सर्वकारण परमपुरुष ने उत्पन्न किया।।१०५३।। सूत्रात्मरूप धारण कर अखिल विश्व उत्पन्न करने के बाद नारायण पुरुष ने पूर्वकल्पानुरूप ढंग से देवता भी उत्पन्न किये।।१०५४।। विश्वहेतु नारायण ने स्वेच्छा से स्वयं को क्रोधयुक्त किया, उस क्रोध में क्या निमित्त था यह कहा

१. मोतीलालप्रकाशितोपनिषत्संग्रहे 'नास्य प्रधानसंवत्सरा जायन्ते' इति मुद्रितम्।
२. एतेन 'दिक्कालौ त्वप्रामाणिकत्वात् श्रुतिषु सृष्टिप्रक्रियायां नोक्तौ' इति बिन्दुरलावल्यौ निरस्ते।

केनचिद्धि निमित्तेन क्रोधमाहार्य विश्वकृत्। भृकुटीकुटिलात् स्वस्य ललाटाद् दीप्ततेजसः।।
कोपाविष्टं स्वयं देवो रुद्रं तमुदपादयत्।।१०५५
नीलकण्ठं लोहिताङ्गं त्रिनेत्रं शूलधारिणम्। बिभ्रद्वीर्याणि यस्याऽत्र न कोऽप्यस्ति समः
पुमान्।।१०५६
ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव एक एव समाश्रयः।।१०५७
सत्यस्य ब्रह्मचर्यस्य मनसो निग्रहस्य च। तपसश्च समस्तस्य शब्दराशेस्तथैव च।।१०५८
अस्मादेव समस्तानां देवादीनां शरीरिणाम्। ऐश्वर्याद्या गुणाः सर्वे जायन्ते गुणराशितः।।१०५९
अयं समस्तदेवानां मुनीनां च महात्मनाम्। नानाविधासु विद्यासु कथितः परमो गुरुः।।१०६०
एनं सम्प्राप्य संहारकाले लोकत्रयी त्वियम्। तूलराशिर्यथा वह्निं प्राप्य नाशं व्रजेत् स्फुटम्।।१०६१
पुनश्च ध्यानमाविष्टो देवः स सर्वदृक् स्फुटम्। श्रान्तस्य ध्यानयुक्तस्य ललाटात् स्वेदबिन्दवः।।
ब्रह्माण्डजनिका आपः शक्ता भुवनसर्जने।।१०६२

रुद्रसृष्टिमाह—केनचिदिति। विश्वकृद् नारायणः केनचिद् वक्तुमशक्येन निमित्तेन विशिष्टं क्रोधम् आहार्य इच्छामात्रेण सम्पाद्य भृकुटीविशिष्टात् स्वललाटाद् रुद्रं प्रादुरकरोद् इत्यर्थः। अत्र भृकुटीशब्द शैवव्याकरणे[1] सिद्धः। तदुक्तमभियुक्तैः—'यान्युज्जहारमाहेशाद् व्यासो व्याकरणार्णवात्। तानि किं पदरत्नानि मान्ति पाणिनिगोष्पदे।।' इति। 'ब्रह्मभ्रूमध्यजो हर' इति पुराणविरोधस्तु कल्पभेदेन समाधेयः।।१०५५।।

रुद्रस्य ध्येयां मूर्तिमभिनयति—नीलेति। वीर्याणि बलसाध्यानि कर्माणि बिभ्रद् धारयिता पोषिता च यत्समोऽन्यो नास्तीत्युत्तरार्धार्थः।।१०५६।। तस्मिन् कोपलिङ्गानि नियमनाय आहार्याणीति दर्शयन्नैक्यस्फुटीकरणाय नारायणगुणान् वर्णयति—ऐश्वर्यस्येति। ऐश्वर्यादीनां भगवद्गुणानां समाश्रय आधार एव यत एको नारायणादभिन्न इत्यर्थः।।१०५७।। सत्यस्येति। सत्यादीनां च समाश्रय इत्यनुषङ्गः। मनसो ज्ञानस्य, इन्द्रियनिग्रहलक्षणतपसश्च, शब्दराशेः वेदादिशास्त्राणाम्। अन्त्यचकार उत्तरान्वयी।।१०५८।। अस्मादिति। अस्माद् रुद्राद् एव च गुणसिन्धोः सकाशात् सर्वेषां सद्गुणलाभ इत्यर्थः।।१०५९।। अयं स रुद्र एव च सर्वविद्यासम्प्रदायप्रवर्तक इत्याह—अयमिति। स्पष्टम्।।१०६०।। एवं रुद्रस्य सृष्टिस्थितिहेतुत्वमुक्तम्। अथ भङ्गहेतुत्वमाह—एनमिति। एनं रुद्रम्।।१०६१।।

अथ कमलासनसृष्टिमाह—पुनश्चेति। पुनश्च सर्वदृग्देवो नारायणो ध्यानरूपं तपोऽकरोत्, तस्य तपसा श्रमं प्राप्तस्य ललाटात् स्वेदस्य बिन्दवः अपतन्। ते स्वेदबिन्दव एव ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्वर्तिलोकानां च सर्जनसमर्थ-
नहीं जा सकता। क्रुद्ध नारायण की भृकुटी टेढ़ी हो गयी थी और ललाट पर दीप्तिमान् तेज था। उस ललाट से स्वयं देव ने उस कोप से आविष्ट रुद्र को उत्पन्न किया।।१०५४-५।।

वे श्रीरुद्र नीले कण्ठ वाले रोहित देह वाले हैं। उनकी तीन आँखें हैं। वे शूल धारण किये रहते हैं। बलसाध्य कर्मों को धारण और पोषण करने में उनके समान कोई पुरुष नहीं है। (संसार-नियमन के लिये क्रोधचिह्न धारण करने पर भी रुद्र हैं नारायण से एक ही:) समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य के एकमात्र आश्रय वे नारायणाभिन्न रुद्र हैं। सत्य, ब्रह्मचर्य, मनोनिग्रह, तप (इंद्रियनिग्रह), सारी शब्दराशि (वेदादिशास्त्र) आदि सबके वे ही समीचीन आधार हैं। इन गुणराशि रुद्र से ही सब देवादि देहधारियों के ऐश्वर्यादि गुण पैदा होते हैं।।१०५६-९।। समस्त देव-मुनि-महात्माओं के परम गुरु रुद्र ही हैं। उन्होंने नानाविध विद्याएँ देवादि को सिखाई हैं। (इस प्रकार रुद्र ही सृष्टि-स्थिति के हेतु हैं।)।।१०६०।। यह त्रिलोकी संहारकाल में इस रुद्र को पाकर वैसे ही स्फुट नाश को प्राप्त हो जाती जैसे दावानल में रुई का एक रेशा! (अतः रुद्र ही भंगहेतु भी हैं।)।।१०६१।।

१. अमररामाश्रमीकारस्तु पृषोदरादित्वात्साधुतां मेने।

अप्सु स्वेदस्वरूपासु तासु वीर्यमवाऽसृजत्। आत्मनो यत् परं तेजो देवो नारायणः पुमान्। ।१०६३
वीर्यं तदण्डमभवत् तत्र क्षिप्तं महात्मना। हैमं मनोरमं चित्रं सूर्यकोटिसमप्रभम्। ।१०६४
अण्डस्याऽन्तरभूद् ब्रह्मा भूतानामादिमः स्मृतः। छन्दोव्याहृतिवेदानां हेतुर्योऽत्र चतुर्मुखः। ।१०६५
पूर्वापरोत्तराऽसव्यवक्त्रतस्त ऋगादयः। ब्रह्मणो विश्वमेतद्धि जातं सर्वं चराचरम्। ।१०६६
एवमेव जगत्स्रष्टा ह्येक एव स्वमायया। नाना भवत्यनाना तु भेदभ्रमविवर्जितः। ।१०६७

नाराख्यजलरूपाः सम्पन्ना इत्यर्थः। ।१०६२। । अप्स्विति। स देवो नारायणः तासु स्वेदरूपासु अप्सु आत्मीयं यद्वीर्यं परं सर्वोत्कृष्टं तेजोरूपं तद् अवासृजत् क्षिप्तवांस्तच्च ब्रह्माण्डाकारेण परिणतमिति द्वयोरर्थः। ।१०६३-४। । अण्डस्येति। तस्य अण्डस्य मध्ये नाभिसरोरुहाद् ब्रह्मा अजायत यो ब्रह्मा चतुर्मुखः प्रागादिमुखक्रमेण च्छन्दसां गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुभाम्, व्याहृतीनां महश्चतुर्थीकानां, वेदानां च ऋगादीनामथर्वान्तानां हेतुः इत्यर्थः। ।१०६५। । क्रममेव स्फुटयति—पूर्वेति। ते पूर्वोक्ता ऋग्वेदादयः प्रतिलोमक्रमेण च्छन्दोन्ताः पूर्वपश्चिमोत्तरदक्षिणमुखेभ्य उत्पन्ना ज्ञेया[1] इत्यर्थः। न केवलमेत एवोत्पन्नाः किन्त्वन्यदपि विश्वं ब्रह्मणः सकाशात् स्वायंभुवादिरूपाज्जातम् इत्यर्थः। ।१०६६। ।

एवं जगज्जन्मादिलक्षणैः नारायणोऽद्वितीयत्वेन ज्ञेय इत्याह—एवमेवेति। तुशब्दोऽवधारणे। तथा च यद्यपि मायया स नाना भवति तथापि अनानैव वस्तुतो भेदभ्रमैः सनिदानैर्वर्जितत्वाद् इत्यर्थः। ।१०६७। ।

सर्वदर्शी नारायण देव ने पुनः ध्यान किया। वे स्पष्ट ही थक गये। ध्यानरत रहते हुए ही उनके ललाट पर पसीने की बूँदें आ गयीं। वे ही वह जल हैं जो ब्रह्माण्ड का जनक और लोकों को उत्पन्न करने में समर्थ हैं। पसीनारूप उस जल में नारायण देव ने अपना सर्वोत्कृष्ट वीर्य, परम तेज छोड़ा। उनके द्वारा छोड़ा वह वीर्य ब्रह्माण्ड बन गया। वह ब्रह्माण्ड करोड़ों सूर्यों के समान प्रभामंडित स्वर्णिम, नाना रंगों वाला और मनोरम था। उस ब्रह्माण्ड के अंदर ब्रह्मा पैदा हुए। वे भूतों में (प्राणियों में) प्रथम कहे जाते हैं। वे चार मुँह वाले ब्रह्मा जी ही ब्रह्माण्ड में छंदों, व्याहृतियों और वेदों के हेतु हैं। (अर्थात् ब्रह्माण्ड-अंतर्वर्ती प्राणियों को छंद आदि की प्राप्ति ब्रह्मा जी से होती है।)। पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण की ओर के उनके मुखों से वे ऋगादि वेद उत्पन्न हुए हैं। सारा चराचर विश्व ब्रह्मा जी से पैदा हुआ (क्योंकि उनसे स्वायंभुव मनु पैदा हुए और उन्हींने सारे प्राणी पैदा किये)। ।१०६२-६। ।

इस प्रकार जगत्स्रष्टा नारायण एक ही हैं, वे भेदभ्रम से रहित हैं, अनेक नहीं हैं पर अपनी माया से नाना तरह के प्रतीत हो जाते हैं। (ध्यान रहे कि औपनिषद भाषा में शिव, नारायण, भगवती आदि शब्दों में कोई आग्रह नहीं, इनसे अभिप्रेत अर्थ एकरूप ही होता है। अतः कहीं शिव को अद्वितीय 'चौथा' कह देते हैं तो कहीं नारायण को व कहीं गणपति को! सर्वत्र कहा एक को ही जा रहा है। इससे विपरीत तथाकथित वैष्णव या शैवादि नाम-रूपों का आग्रह रखकर ईश्वर-अनीश्वर भेद करते हैं जो शास्त्रविरुद्ध अतः दोषावह है। इस पर श्रीमान् अप्पय दीक्षित ने काफी विचार किया है)। ।१०६७। ।

---

१. एतच्च महोपनिषद्येवमुक्तम्—

मुखदिशा	व्याहृतिः	छन्दः	वेदः	देवता
पूर्वा	भूः	गायत्री	ऋक्	अग्निः
पश्चिमा	भुवः	त्रिष्टुप्	यजुः	वायुः
उत्तरा	स्वः	जगती	साम	सूर्यः
दक्षिणा	महः	अनुष्टुप्	अथर्वः	सोमः

यदेवं शक्यते ज्ञातुं नैवायमधिकारिणा। तदा नारायणीयोक्तमुपायं चाऽत्र कीर्तितम्।।१०६८
सहस्रशीर्षमित्यादि स्वराडन्तोक्तमेव[1] हि। आश्रित्यैवं स हृदये ज्ञातव्योऽत्राधिकारिणा।।१०६९
अस्य ग्रन्थस्य माहात्म्यमप्यत्र विविधं स्मृतम्। विज्ञानस्य तु किं भूयो यतो माया लयं व्रजेत्।।१०७०
एवं महोपनिषदि कथितं ज्ञानमीरितम्। आत्मप्रबोधे कथितं शृणु वक्ष्यामि तेऽधुना।।१०७१

आत्मप्रबोधोपनिषद्व्याख्या

उपायं प्रथमं प्राहुरत्रोपेयस्य लब्धये। आत्मावाप्तावुपायौ द्वौ प्रणवोऽष्टाक्षरस्तथा।।१०७२
प्रणवो वाचकस्तस्य प्रत्यगानन्दरूपिणः। अष्टाक्षरोऽपि नैवं वै वाच्यवाचकयोर्भिदा।।१०७३

अयं विवेकेन नारायणलाभविधिरुक्तः। तदशक्तौ तु दशमे नारायणीयव्याख्याने व्याख्यातेन 'सहस्रशीर्षम्' इत्यादिना 'स्वराड्' इत्यन्तेन ग्रन्थेन प्रोक्तं योगं कृत्वा तं साक्षात्कुर्यादित्याह—यदेवमिति द्वाभ्याम्। यदा एवम् उक्तविवेकविधया अयं नारायणो ज्ञातुं न शक्यते तदा नारायणीयप्रकरणे उक्तं प्रदर्शितं सहस्रशीर्षम् इति आरभ्य स्वराड् इत्यन्तेन ग्रन्थेन अत्र उपनिषदि अप्युक्तम् उपायं योगरूपम् आश्रित्य एवं विवेकवदेव स नारायणो ज्ञातव्यः साक्षात्कर्तव्यः अधिकारिणा भवति। इति द्वयोरर्थः।।१०६८-९।।

फलवाक्यतात्पर्यमाह—अस्येति। अस्य महोपनिषत्संज्ञस्य माहात्म्यं श्रोत्रियत्वादिगुणप्रयोजकत्वलक्षणं विविधं बहुधोक्तं यदा सिद्धं तदा फलभूतविज्ञानस्य दोषबीजाऽविद्याया उच्छेदहेतोः माहात्म्यं किमु वक्तव्यम्! इत्यर्थः।।१०७०।।

उपक्रान्तसमाप्तिं दर्शयन् 'ॐ नम' इत्यन्तानि[2] आत्मप्रबोधोपनिषद्वाक्यानि एकपञ्चाशच्छ्लोकैः उपबृंहयितुं प्रतिजानीते—एवमिति।।१०७१।। तत्रादौ मन्त्रद्वयात्मक उपायो ब्रह्मज्ञानायोक्त इत्याह—उपायमिति। अत्र आत्मप्रबोधोपनिषदि प्रथमम् उक्तमिति शेषः। प्राहुः पठन्ति। उपेयस्य ब्रह्मात्मविद्यारूपफलस्य।।१०७२।। प्रणव इति। तथा च प्रत्यगानन्दः सर्वान्तरमद्वितीयं च वस्तु तद्रूपस्याऽऽत्मनः प्रणवो वाचक एवमष्टाक्षरोऽपि[3] वाचकः। अत्र वाच्यवाचकयोः भिदा भेदो न चिन्त्यः, श्रुतौ सामानाधिकरण्यनिर्देशेन वाच्यवाचकयोरभेदानुसन्धानस्य

जब अधिकारी उक्त विवेकपूर्वक नारायणतत्त्व को न प्राप्त कर सके तब वह योगरूप उपाय का सहारा ले। योग को नारायणीय में बता आये हैं, महोपनिषत् में 'सहस्रशीर्षम्' से 'स्वराट्' तक के ग्रंथभाग में भी वही योग वर्णित है। योगानुष्ठान से भी समझना नारायण को वैसा ही है जैसा अभी विवेक से समझने के लिये कहा।।१०६८-९।। इस महोपनिषत् ग्रंथ का ही बहुत तरह का माहात्म्य है तो इससे प्राप्त विज्ञान के माहात्म्य का क्या कहना जिस विज्ञान के प्रभाव से माया भी सद्यः विलीन हो जाती है।।१०७०।।

इस प्रकार महोपनिषत् में बताया ज्ञान मैंने सुना दिया। अब आत्मप्रबोधोपनिषत् में कहा ज्ञान बताता हूँ, सुनो :।।१०७१।।

आत्मप्रबोधोपनिषत् के प्रारंभ में आत्मलाभरूप उपेय के लिये दो उपाय बताये हैं—प्रणव और अष्टाक्षर मंत्र। प्रत्यक्, आनंद, सर्वान्तर, अद्वितीय वस्तु ही आत्मा है तथा उक्त दोनों मंत्र उस आत्मा के बोधक हैं। मंत्र-मंत्रार्थ में भेद की प्रधानता यहाँ श्रुति को इष्ट नहीं, अभेदानुसंधान अभिप्रेत है।।१०७२-३।।

१. 'सहस्रशीर्षं देवं सहस्राक्षं विश्वशंभुवम्। विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम्। विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति। पतिं विश्वेश्वरं देवं समुद्रे विश्वरूपिणम्। पद्मकोशप्रतीकाशं लम्बत्याकोशसंनिभम्। हृदयं चाप्यधोमुखं सन्तत्यै सीत्कराभिश्च तस्य मध्ये महानर्चिर्विश्वार्चिर्विश्वतोमुखम्। तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता। तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः। स ब्रह्मा स ईशानः सेन्द्रः सोक्षरः परमः स्वराड् इति महोपनिषत्'—इति तत्र ग्रंथः।
२. इयं मुक्तिकोपनिषदि ऋग्वेदगतोक्ता 'ॐ प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं प्रणवस्वरूपम्' इत्यारभ्य 'ॐ नम' इत्यत्रास्याः प्रथमोनुच्छेदः पूर्णः। तत आर्याभिः स्वात्मनो वर्णनम्।
३.'ॐ नमो नारायणाय' इत्यष्टाक्षरः।

अकारश्चाप्युकारश्च मकारो मिलितं त्रयम्। ओङ्कारस्तेन सहितो नमो नारायणाय च।।
अष्टाक्षरस्तु सम्प्रोक्तः सर्वसिद्धिविधायकः।।१०७४
एतयोर्जपतो योगी यजनात् समुपासनात्। ब्रह्मविज्ञान उत्पन्ने संशयादिविवर्जिते।।
मुच्यते स्वं स विज्ञाय जन्मसंसारबन्धनात्।।१०७५
यावन्न निर्गुणं ब्रह्म मोक्षालम्बनमद्वयम्। आविः स्याद् हृदये तावत् सगुणं ब्रह्म चिन्तयेत्।।१०७६
सगुणं ब्रह्म सम्प्रोक्तं विष्णुरुद्रादिभेदतः। नानाविधं नारदाद्यैरिदमत्यन्तमादरात्।।१०७७

कर्तव्यतासूचनाद् इति भावः।।१०७३।। मन्त्रयोः स्वरूपमाह—अकार इति। संहताकारादिवर्णत्रयात्मकः प्रणवमन्त्रः। तदादिकं नमः-पदं, चतुर्थ्यन्त-नारायण-पदं च—एतदुभयात्मकोऽष्टाक्षरः। एतद् मन्त्रद्वयं सर्वेप्सितप्रदमित्यर्थः।।१०७४।। अनयोः परमपुरुषार्थे विनियोगमाह—एतयोरिति। एतयोः उक्तमन्त्रयोः जपात्, तथा एतयोर्मन्त्रविधया कार्यभूतं यद् यजनं बाह्यान्तरदेवतापूजनं तस्मात्, तथा एतयोः मात्रापादा द्य-भेददर्शनावृत्तिरूपोपासनाच्च ब्रह्मतत्त्वनिश्चय उत्पद्यते। ततः स्वम् आत्मानं ब्रह्मत्वेन साक्षात्कृत्य स योगी मुच्यत इत्यर्थः।।१०७५।।

यावन्नेति। अनयोर्मन्त्रयोर्वाच्यस्य ब्रह्मणो यद् निर्गुणं रूपम्, कीदृशम्? मोक्षस्य सविलासाज्ञान-रूपबन्धध्वंसस्य आलम्बनम् अधिष्ठानम् अत एव अद्वयम् तद् यावत् साक्षाद् न भवेत् तावत् तस्य ब्रह्मणः सगुणं रूपं ध्यायेदित्यर्थः।।१०७६।। तच्च सगुणं रूपं 'ब्रह्मण्य' इत्यादिमन्त्रेण[1] उक्तमित्याह—सगुणमिति। यद्यपि सगुणं ब्रह्म विष्णुरुद्रादिरूपैः बहुविधं प्रसिद्धं श्रुतिस्मृत्यादौ तथापीदं रूपं नारदाद्यैः अत्यन्तादरेण उक्तत्वान्निरति-शयमित्यर्थः।।१०७७।। 'इदं' किम्? अत आह—यज्ज्योतिरिति। यज्ज्योतिः चिद्घनं देवकी वसुदेवद्वारा स्वस्मिन्नागतं प्रादुरकरोत्, किमर्थम्? भौमस्य भूलोकगतस्य ब्रह्मणो वेदस्य ब्राह्मणजातेस्तपसश्च वा गुप्त्यै रक्षायै

अकार-उकार-मकार इन तीनों का मिला हुआ रूप ओंकार है। 'ॐ नमो नारायणाय' यह अष्टाक्षर मंत्र है। दोनों ही मंत्र सब सिद्धियाँ देने में सशक्त हैं।।१०७४।।

इनका जप, इनसे किया जाने वाला बाह्य पूजन और आंतर पूजन, इनके सहारे इनके अभेदरूप अर्थ के अनुसांधन की आवृत्तिरूप उपासना—इन सभी से संशयादिशून्य ब्रह्मविज्ञान उत्पन्न होता है जिससे साधक स्वयं को जानकर जन्मादि संसारबंधन से मुक्त हो जाता है।।१०७५।।

जब तक मोक्षहेतु अद्वैत निर्गुण ब्रह्म हृदय में प्रकट न हो तब तक अधिकारी को सगुण ब्रह्म का चिंतन करते रहना चाहिये।।१०७६।। सगुण ब्रह्म विष्णु, रुद्र आदि भेदों से नानाविध बताया गया है। नारद आदि ऋषियों ने प्रभूत श्रद्धा-भक्ति से सगुण ब्रह्म का वर्णन किया है। (जो भी नाम-रूप-कर्म ईश्वरता प्रकट करते हैं उन्हें सगुण ब्रह्म का रूपादि कहा जाता है। विष्णु, रुद्र, दुर्गा, सूर्य आदि ऐसे अनेक नाम-रूपादि हैं जो सगुण-ब्रह्म की अभिव्यक्तियाँ हैं। श्रुतियों में व पुराणों में इनका विस्तृत उल्लेख है। अपने मन-बुद्धि जिस भी नामादि पर प्रेमभाव से एकाग्र हो जाये उसी के चिंतन में तत्पर होना चाहिये। इन नाम-रूपों में 'वस्तुतः' कौन ईश्वर है इस व्यर्थ जिज्ञासा में फँसना बेकार है क्योंकि 'वस्तुतः' तो सभी नामादि मिथ्या ही हैं और व्यवहारतः इनमें से किसीमें भी ईश्वरता का निषेध नहीं कर सकते। प्रकृत पुराण में पहले श्रीकृष्ण का फिर उमामहेश्वर का सगुण रूप से वर्णन किया जायेगा क्योंकि स्मार्त संप्रदाय में ये ही प्रधान ऐश्वर रूप प्रसिद्ध हैं)।।१०७७।।

१. 'अथ यदिदं ब्रह्मपुरं पुण्डरीकं तस्मात् तडिदाभमात्रं दीपवत्प्रकाशम् ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः। ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युतः।।' (आत्म.)।

श्रीकृष्णवर्णनम्

यज्ज्योतिर्देवकी देवी वसुदेवादजीजनत्। भौमस्य ब्रह्मणो गुप्त्यै दीप्तमग्निमिवारणिः।।१०७८
घोर आङ्गिरसो यस्मै विद्यां तां पौरुषीमदात्। स एष पुरुषः साक्षाद् विश्वरूपधरो हरिः।।१०७९
वेदव्यासेन कथितः शुकेन च महात्मना। नारदाद्यैरनेकैश्च मुनिभिस्तत्त्ववेदिभिः।।१०८०
यद्यप्यस्यैव सर्वाः स्युर्नानारूपा विभूतयः। तथापि मायावशगास्ता विना देवकीसुतम्।।१०८१

ज्वलन्तम् अग्निमरणिरिव इत्यर्थः। 'ब्रह्म तत्त्वं तपो वेदा ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः' इत्यमरः।।१०७८।। यत्कर्तृकपरिग्रहेण पुरुषविद्याच्छान्दोग्य-तृतीयप्रपाठकोक्ता(छां.३.१७) वैतृष्ण्यहेतुतालक्षणां प्रशंसां गतेत्याह—घोर इति। गोत्रेण आङ्गिरसो घोरनामकः कश्चिद् ब्राह्मणो यस्मै देवकीपुत्राय श्रीकृष्णाय तां प्रसिद्धां विद्यां पौरुषीम् पुरुषे यज्ञभावनात्मिकां षोडशाधिकशतवर्षायुषो निरन्तरायताप्रयोजिकाम् अदात् दत्तवानित्यर्थः। किं च यस्य परमेश्वरत्वाय न प्रमाणान्वेषणा, प्रत्यक्षसिद्धत्वाद् इत्याह—स एष इति। साक्षात् प्रत्यक्षेणैव पुरुषः सिद्धसर्वात्मताको यतो विश्वरूपधरः 'जनन्या कुरुभिः सख्याऽथोत्तङ्कमुनिनाऽपि यः। विश्वरूपधरोऽलोकि निरुद्धोऽपि स नो गतिः।।' अत एव स्मृतिमात्रेण समस्तानर्थहर इत्यर्थः।।१०७९।।

अस्य प्रभावः स्मृतिषु बहुधा प्रसिद्ध इत्याह—वेदेति। प्रथमपादे 'भारतादौ,' द्वितीये 'श्रीभागवते', तृतीये 'पुराणेषु आगमेषु च' इति शेषः।।१०८०।। यद्यपीति। यद्यपि सर्वा देवता अस्यैव श्रीकृष्णस्य विभूतयो रूपाणि तथापि ताः सर्वाः प्रतिबिम्बस्थानीया बिम्बस्थानीयमेनं देवकीसुतं विहाय मायाया वशं धर्मसम्बन्धं प्राप्ताः, उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वाद् इत्यर्थः।।१०८१।। मायावशगत्वमेव स्फुटयति—क्वचित् काम इति। क्वचिद्

नारदादि ने जिस पर निःसीम श्रद्धा रखकर जिसका सगुण ब्रह्म रूप से वर्णन किया है वह विष्णु का अवताररूप श्रीकृष्ण है : जैसे दीप्त अग्नि को अरणि प्रकट करती है वैसे वसुदेव से प्राप्त कर देवकी देवी ने जिस ज्योति को प्रकट किया था वही श्रीकृष्ण है। भूमि पर स्थित ब्रह्म—वेद, ब्राह्मण जाति और तप—की रक्षा के लिये नारायण अंशतः कृष्णरूप में आविर्भूत हुए थे। (भगवान् भाष्यकार ने गीताभाष्य के उपोद्घात में भीष्मस्तवराज के अनुसार यही बताया है।) घोर आंगरिस ने उन्हीं श्रीकृष्ण को पौरुषी विद्या का उपदेश दिया था। (पुरुष में यज्ञ की भावना करना इस विद्या का रूप है और एक सौ सोलह साल का जीवन पाना इसका फल है। यह छांदोग्योपनिषत् में वर्णित है। यद्यपि कुछ लोग शंका करते हैं कि कृष्णावतार द्वापरान्त में हुआ और छांदोग्य अनादि वेद है अतः अवतार कृष्ण का उल्लेख उपनिषत् में संगत नहीं तथापि जो वेदोक्त याज्ञवल्क्य, जनक, वशिष्ठ आदि के बारे में माना जाता है वही कृष्ण के बारे में मान लेना चाहिये। प्रतिकल्प कृष्ण को घोर से यह उपदेश मिलता है यह सरल मान्यता है।) श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं इसमें किसी प्रमाण की गवेषणा नहीं करनी पड़ती, हरि ने विश्वरूप धारण कर प्रत्यक्ष ही करा दिया कि वे ही सर्वात्मा पूर्ण चैतन्य हैं। (देवकी, यशोदा, दुर्योधनादि कौरव, अर्जुन और मुनि उत्तंक ने विभिन्न मौकों पर विश्वरूप का दर्शन किया था यह महाभारत में वर्णित है। द्रौपदीशाक चखकर त्रिलोकी को तृप्त करना भी उनकी ईश्वरता का द्योतक है।)।।१०७८-९।।

महाभारतादि में व्यास जी ने, श्रीमद्भागवत में महात्मा शुक ने, पुराण आगमादि में नारदादि अनेक मुनियों ने श्रीकृष्ण के महान् प्रभाव का नाना प्रकार से वर्णन किया है।।१०८०।। यद्यपि नाना रूपों वाली सारी देवादि विभूतियाँ श्रीकृष्ण के ही रूप हैं तथापि देवकीपुत्र से अन्य जो रूप हैं वे माया के वशीभूत हैं। श्रीकृष्ण बिम्बस्थानीय हैं व अन्य विभूतियाँ प्रतिबिम्बस्थानीय। अतः उनमें प्रभाव तो बिम्ब के कारण अवश्य है लेकिन अपनी-अपनी दर्पणस्थानीय उपाधियों के दोष भी उन्हें घेरे रहते हैं जब कि श्रीकृष्ण में दोष कोई नहीं है। अन्यों में कहीं कामना तो कहीं क्रोध, कहीं लोभ व कहीं मद मात्सर्यादि दोष उपलब्ध हैं पर श्रीकृष्ण में इनमें से कोई दोष नहीं है।।१०८१-२।। अर्जुन

क्वचित् कामः क्वचित् क्रोधः क्वचिल्लोभः क्वचित् परम्। मदादिकं न कृष्णेऽस्ति किञ्चिदेतत् कदाचन।।१०८२

अर्जुनस्य सहायोऽयं पाण्डवानां च दैवतम्। भ्राता च बलभद्रस्य कनिष्ठो मदनस्य च। पिता ब्रह्मण्य इत्युक्तो निखिलेऽपि जगत्त्रये।।१०८३

देहे यस्य परिक्षीणं कौशलं विश्वकर्मणः। रूपलावण्यसौभाग्यगुणादिविषयो महान्।।१०८४

गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः। सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहात् पाण्डवा द्रौपदी तथा। नारदाद्याश्च मुनयो भक्त्या यस्य दिवं गताः।।१०८५

विभूतौ। परम् उक्तेभ्योऽन्यद् मदप्रभृतिदूषणम्। कृष्णे तु एतद् उक्तजातीयं दूषणं न किञ्चिद् अस्ति कालत्रयेऽपीत्यर्थः।।१०८२।। तत्रोक्तदोषाणामभावं प्रतिलोमक्रमेण लोकदृष्ट्याप्याह—अर्जुनस्येति। पार्थस्य सारथ्याद् न मदादिकम्। दुर्योधनं विहाय पाण्डवपक्षपाताद् न लोभः। बलभद्राऽत्युक्तीरनुजत्वेन तितिक्षतः कः क्रोधः! मदनताते किं मदनस्य बलमिति भावः। किं च महाभारते स्कन्दोपाख्याने 'मदीयां शक्तिं निखातामब्रह्मण्यः कः समुद्धरेद्' इति स्कन्देनोक्ते सति इन्द्रे तत्र बलक्षयेण मूर्च्छितेऽपि भगवतोपेन्द्रेण वामहस्तेन तस्याः शक्तेश्चालनात्स्कन्दस्य ब्रह्मण्यतागर्वः परिहृत इति प्रसिद्धम्। तत्स्मारयन्नाह—ब्रह्मण्य इति। तथा च सत्यरूपतपसः संरक्षणाय देवकीपुत्रतां भजतो, हयग्रीवादिरूपैः मधुप्रभृतिदैत्यान् वेदसंरक्षणाय निघ्नतो, हरपूजायां सत्यपालनाय अक्ष्णा पुण्डरीकसङ्ख्यां पूरयतो, विष्णुरूपेण भृगुपादाङ्कं च धारयतः श्रीकृष्णात् कोऽन्यो ब्रह्मण्यः! इति भावः।।१०८३।।

देह इति। विश्वकर्मणो विधातुः कौशलं यस्य देहे परिक्षीणं कुण्ठतां गतं, न प्रवृत्तमिति यावत्; भगवदिच्छामात्रतन्त्रत्वाद् इति भावः। यश्च भगवान् रूपादिगुणानां विषयो निवासः, महान् सर्वोत्कृष्टः। तत्र रूपं वर्णः, लावण्यं मुक्तावद् अङ्गेषु कान्तिः, सौभाग्यं मनोहरत्वम्।।१०८४।।

किं च यस्मिन् कामादिनाऽपि मनो लग्नं मोक्षफलं प्रसूत इत्याह—गोप्य इति। यस्य विषयतया यत्सम्बन्धिनः कामात् सक्तचित्ता गोप्यो दिवं गता इति सम्बन्धः। एवमग्रेऽपि। चैद्यः शिशुपालः। सम्बन्धो बान्धवत्वबुद्धिः। स्नेहः सख्यम्। भक्तिः आराध्यत्वबुद्धिः। दिवम् इति पदं विवृणोति—वैकुण्ठमिति। कीदृशं

के ये सहायक अर्थात् सारथि बन गये थे अतः स्पष्ट है कि इनमें मद नहीं था। दुर्योधन की अपेक्षा पाण्डवों का पक्ष ग्रहण किया, पाण्डवों के लिये तो ये देवता ही थे; दुर्बल पक्ष लेने से पता चलता है कि इनमें लोभ नहीं था। बलराम जी के ये छोटे भाई थे और बलराम की अनेक कड़वी बातें कृष्ण ने हँस कर सहीं जिससे इनका अक्रोध स्फुट है।(शिशुपाल-वध के प्रसंग में क्रोध पर विजय का दुर्लभ प्रदर्शन है।) कामदेव के तो कृष्ण पिता ही हैं अतः इन पर कामदेव का कोई असर हो यह संभव नहीं । सारी त्रिलोकी में श्रीकृष्ण ही अद्वितीय 'ब्रह्मण्य' घोषित हुए थे। (ब्रह्म के लिये हितकारी को ब्रह्मण्य कहते हैं। ब्रह्म से तप, वेद, तत्त्व, ब्राह्मण जाति सभी समझने चाहिये। एक बार कार्तिकेय ने अपने शक्ति नामक आयुध को गाड़कर गर्व से कह दिया कि 'कोई अब्रह्मण्य इसे नहीं उखाड़ सकता'। कार्तिकेय की ब्रह्मण्यता 'सुब्रह्मण्य' नाम से प्रख्यात ही है। इंद्र ने शक्ति पर अपना ज़ोर आजमाया तो बेहोश ही हो गया! तब भगवान् ने अपने बायें हाथ से ही शक्ति को हिला डाला जिससे कार्तिकेय का घमण्ड टूट गया। वैसे भी कृष्ण की ब्रह्मण्यता स्पष्ट है : सत्यरूप तप की रक्षा के लिये ही वे देवकी के पुत्र बने। वेदों की रक्षा के लिये मधु आदि दैत्यों का हयग्रीवादि रूपों में वध किया। चरम तत्त्व महादेव की पूजा करते हुए कमल कम पड़ने पर अपना नेत्रकमल ही चढ़ा दिया! ब्राह्मण भृगु ने लात मारी तो उसे सहर्ष सहा ही नहीं उस चरणचिह्न को ही अपना लिया! ऐसे श्रीकृष्ण-सा ब्रह्मण्य कहाँ मिलेगा!)।।१०८३।।

विश्वरचयिता विधाता की कुशलता भगवान् का देह बनते समय कुण्ठित हो गयी। (क्योंकि वह शरीर भगवान् की स्वेच्छा से ही बना था, उस अलौकिक देह को ब्रह्मा भी बना नहीं सकते थे।) सौंदर्य, लुनाई, मनोहरता आदि गुणों के वे निवासस्थान हैं तथा सभी से उत्कृष्ट हैं।।१०८४।।

वैकुण्ठं ब्रह्मलोकाख्यं यतो नावर्तते गतः। ब्रह्मणा सह संन्यासी ब्रह्मैव परमं पदम्।।१०८६
स देवो द्वारकावासो माथुरो गोपबालकः। सजलो जलदो यद्वत् तद्वन्नीलोऽतिशोभनः।।१०८७
इन्द्रनीलमणिप्रख्यः सूर्यकोटिसमप्रभः। आजानुबाहुः सुशिराः कम्बुग्रीवो महाहनुः।।१०८८
कर्णान्तनयनस्तीक्ष्णनासो रक्तोष्ठसुस्मितः। सुललाटकपोलश्च सुकर्णो नीलकुन्तलः।।१०८९
नखदन्तसमुद्भूतभाभिर्भर्त्सितचन्द्रमाः। विशालोन्नतवक्षःस्थविप्रपादविराजितः।।१०९०
वृत्तपीनोन्नतकरपादपद्मद्वयाञ्चितः। मांसलो गुल्फजान्वंसकूर्परादिस्थलेष्वपि।।१०९१

वैकुण्ठम्? ब्रह्मलोकेत्याकाराऽऽख्या प्रसिद्धिर्यस्य स तथा तम्। तथा च हिरण्यगर्भलोकसंसृष्टस्तदुपरिष्टाद् वैकुण्ठलोक इति भावः। यतो ब्रह्मलोकाद् ब्रह्मणा हिरण्यगर्भेण सह परब्रह्मभावं गतः संन्यासी नावर्तते पुनः संसारे न पतति। इति द्वयोरर्थः।।१०८५-६।।

तस्य देशं वर्णं सौभाग्यं चाह— स देव इति। द्वारकायां, मथुरायां, गोपबालकत्वेन गोकुलादौ च स्थितो ध्येय इति पूर्वदलार्थः। उत्तरार्द्धं स्फुटम्।।१०८७।। लावण्यमाह—इन्द्रेति। अङ्गानि वर्णयति—आजान्वित्यादिना। कम्बुवत् त्रिरेखा ग्रीवा यस्य स तथा; महाहनुः इत्यनेन गण्डयोरुन्नतत्वं ध्वनितं च।।१०८८।। कर्णान्तेति। कर्णपर्यन्तविस्तृतनयनः। तीक्ष्णोन्नता नासा यस्य स तथा। रक्तयोरोष्ठयोः प्रतिफलितं स्मितं यस्य स तथा। शोभनं ललाटं कपोले च यस्य स तथा।।१०८९।। नखेति। नखेभ्यो दन्तेभ्यश्च समुद्भूताभिर्दीप्तिभिश्चन्द्रस्य जेता। विशालमुन्नतं च यद् वक्षः तद्गतेन विप्रस्य भृगोः पादाङ्केन विराजितः।।१०९०।। वृत्तेति। वृत्तं मण्डलाकारं पीनमुन्नतं च यत् करद्वयं पादद्वयं च तद्रूपाभ्यां पद्मद्वयाभ्यामञ्चितो राजितः। गुल्फादिदेशेषु मांसलः पीनः। कूर्परो भुजसन्धिः।।१०९१।।

भगवान् में निश्छल भक्ति से ही नहीं कामनादि से भी मन लग जाये तो वे मोक्ष प्रदान कर देते हैं। उन्हीं की ओर कामना से जिनका चित्त आसक्त था वे गोपियाँ भी क्रममोक्ष के मार्ग पर ही गयीं। कंस भगवान् को भयहेतु मानकर उनका चिंतन करता रहा, शिशुपाल आदि राजा द्वेष से उनका चिंतन करते रहे, वृष्णिकुल वाले भगवान् को अपना रिश्तेदार मानकर उनमें मन लगाये रहे, पाण्डव और द्रौपदी उनसे स्नेह रखते रहे, नारदादि मुनि उन्हें आराधनीय समझकर भक्ति करते रहे; सबके भावों में फर्क था पर क्योंकि सबका मन भगवान् में लगा रहा इसलिये ये सभी मोक्षमार्ग पर ही आगे बढ़े। उक्त एवं अन्य वे समस्त लोग जिनका मानस श्रीकृष्ण में ही संलग्न रहता है, प्रारब्ध समाप्त होने पर वैकुण्ठ जाते हैं। वैकुंठ को ब्रह्मलोक भी कहते हैं। (सगुण ब्रह्म का लोक ब्रह्मलोक है। ईश्वरोपासक उस लोक में जाते हैं। जिस नाम-रूप में उन्होंने उपासना की है वहाँ जाकर उन्हें सगुण ब्रह्म का वही नाम-रूप उपलब्ध होता है। अतः वैकुण्ठ, कैलास आदि अनेक शब्दों से उसी लोक को कहा जाता है। स्थान एक ही है, वहाँ गये साधकों के अनुभव विभिन्न हैं। उपनिषदादि में प्रायः उसे ब्रह्मलोक कहते हैं।) जो भक्त वैकुण्ठ चला जाये वह लौटकर नहीं आता वरन् हिरण्यगर्भ के साथ ही ब्रह्मरूप परम पद पाकर सभी कर्मों से निवृत्त हो जाता है। (यद्यपि कुछ साधक ब्रह्मलोक से भी मुक्त नहीं हो पाते तथापि भक्तों के लिये यह समस्या नहीं, उन्हें भगवान् उचित बुद्धि देकर मुक्त कर ही देते हैं।)।१०८५-६।।

उन देव का ध्यान द्वारकावासी रूप में, मथुरावासी रूप में या गोकुल के ग्वाल बाल के रूप में करना चाहिये। उनकी वदनशोभा वैसी नीलिमा वाली है जैसी जलभरे बादल की होती है। इंद्रनील मणि-सा लावण्य और करोड़ों सूर्यों-सी आभा है। सीधे खड़े होने पर उनके हाथ की मध्यमा-अंगुलि घुटने तक पहुँचती है। सिर सुंदर है, ग्रीवा शंख-सी गोल और वलीयुक्त है, ठोड़ी बड़ी है, आँखें मानो कानों तक लंबी हैं, नासिका उठी हुई और नोकीली है, होठ लाल हैं, चेहरे

कृशोदरोऽतिपीनाङ्गो वज्रसंहननो युवा। पीनोन्नतमहाशोभजघनेन विराजितः।।१०६२
वर्त्तुलाभिः सुदीर्घाभिः स्वाङ्गुलीभिश्च शोभितः। करयोः पादयोर्युग्मे शाखाभिरिव पादपः।।१०६३
चतुर्भुज[1] उदाराङ्गः पीतकौशेयवस्त्रधृक्। काञ्चीगुणसमाबद्धघण्टिकामाधुरस्वरः।।१०६४
अनेकरत्नसंयुक्तवलयाङ्गदनूपुरः। नानाऽङ्गुलीयसंलग्न-रत्नकोटिविराजितः।।१०६५
ग्रैवेयेण समं कण्ठे दधानः कौस्तुभं मणिम्। हारं वक्षसि मुक्तानां सहितं वनमालया।
कर्णयोर्दीर्घयोर्देवो बिभ्रन्मकरकुण्डले।।१०६६
मयूरपिच्छसदृशं हेमरत्नादिनिर्मितम्। बिभ्राणो मुकुटं तद्वत् तिलकं चाऽतिशोभनम्।।१०६७
रक्षां हेममयीं चित्रवर्णाकारां च मूर्द्धनि। धम्मिल्लेऽनेकपुष्पौघमध्यगां रत्नराजिताम्।
बिभ्रल्लोकत्रयीनारीमनोनयननन्दनः।।१०६८

कृशोदर इति। वज्रसंहननो घनाङ्गविन्यासः। युवा षोडशवर्षावस्थः। पीनेन उन्नतेन महाशोभेन च जघनेन विराजितः।।१०६२।। अङ्गुलीर्वर्णयति—वर्त्तुलाभिरिति। स्पष्टम्।।१०६३।। चतुर्भुज इति। उदारं महद् अङ्गं शरीरं यस्य स तथा; 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः। 'कौशेयं कृमिकोशोत्थम्' इति च। काञ्च्या गुणे समाबद्धानां घण्टिकानां मधुरः स्वरो यस्य स तथा।।१०६४।।

अनेकेति। अनेकरत्नघटितानि वलयादीनि भूषणानि यस्य स तथा; वलयं प्रकोष्ठभूषणम् अङ्गुलीयानि अङ्गुलिभूषणानि। कोटिशब्दो वृत्तौ असंख्यातवचनः।।१०६५।। ग्रैवेयेणेति। ग्रैवेयं ग्रीवाभूषणम् तेन सह कौस्तुभं कण्ठे दधानः। मुक्ताहारं वनमालां पत्रपुष्पमयीं मालां च वक्षसि दधानः। मकराकारे कुण्डले च कर्णयोर्दधानः।।१०६६।। मयूरेति। मयूरपक्षैः सदशं प्रान्ततोव्याप्तम्; सदृशम् इति पाठे—समानवर्णम्; हेमादिमयं मुकुटं तथा केसरतिलकं च दधानः।।१०६७।। रक्षामिति। तथा रक्षां केशबन्धिनीं हेममयतन्तुलक्षणां मूर्द्धनि धम्मिल्ले बिभ्रद् इति सम्बन्धः। कीदृशीं रक्षाम्? चित्रवर्ण आकारो यस्याः सा तथा। तस्याश्चित्रवर्णत्वे हेतुगर्भं विशेषणद्वयम्—अनेकेत्यादि। नानाविधपुष्पप्रभया रत्नानां प्रभया च चित्राम् इति भावः। त्रिलोकीवर्तिनारीणां मनो-नयनयोः हर्षदः।।१०६८।। शंखमिति। दक्षिणाधस्तनकरमारभ्य प्रदक्षिणक्रमेण शङ्खादिकं दधद् इति पर मुस्कान है, ललाट-कपोल-कान सुंदर हैं, घने काले केश हैं, नखों और दाँतों की चमक चंद्रमा को भी फीका कर देती है, विशाल और फूला उनका वक्ष है जिस पर ब्राह्मण (भृगु) के चरण का चिह्न अंकित है, उनकी हथेलियाँ और पंजे उलटी तरफ से मण्डलाकार, पुष्ट व उठे हुए हैं मानो चार कमल हों, टखने, पिंडलियाँ, कंधे और भुजसन्धि (कोहनी) सभी मांसल हैं, पेट पतला है, सभी देहावयव अत्यंत परिपुष्ट और ठोस हैं, सोलह वर्ष की-सी अवस्था है, जंघा भी मोटी, उठी हुई और महाशोभा वाली है, पेड़ की शाखाओं की तरह हाथ-पैरों की अंगुलियाँ गोल, लंबी अतिशोभायुक्त हैं, चार भुजाएँ हैं, शरीर लम्बा और तदनुसार चौड़ा है।।१०८७-६३।।

वे पीला रेशमी वस्त्र पहने हैं, करधनी की लड़ियों से बँधी घण्टियों की मधुर ध्वनि हो रही है, उनके वलय (हाथों के कड़े) अंगद (भुजबंध) और नूपुरों में अनेक रत्न जड़े हैं, अनेक अंगूठियाँ पहने हैं जिनमें करोड़ों रत्न सज्जित हैं। कण्ठ में कौस्तुभ मणि सहित कण्ठहार है, छाती तक झूलती मोतियों की माला सहित वनमाला है, लंबे कानों में मकराकृति के कुण्डल हैं, स्वर्ण-रत्न आदि से बना मुकुट पहने हैं जिसका ऊपरी छोर मोरपंख से सजा है, अत्यंत शोभा वाला तिलक धारण किये हैं। भगवान् के केश फूलों से सजे हैं और मीनाकारी की हुई व रत्नजड़ित सोने की जंजीर से बँधे हैं। त्रिलोकी की सभी नारियों के मन-नयनों को भगवान् आनंद देते हैं।।१०६४-८।। निचले दायें हाथ से परिक्रमा के क्रम से देखें तो उनके हाथों में शंख, गदा, पद्म और चक्र हैं। (अतः निचले दायें में शंख, ऊपर के दायें में गदा,

---

१. पूर्वं करपादपद्मद्वयेति (१०६१) करयोः (१०६३) इति चोक्तेर्विकल्पतश्चतुर्भुजरूपं ध्येयमिति भावः।

शङ्खं चैव गदां चैव पद्मं चक्रं तथैव च। दक्षिणाधःकरात् कृष्णः प्रादक्षिण्याद् दधत् सदा।।१०९९
गो-भू-विप्र-सतामार्तिनाशनश्चार्तिदः सदा। धर्मदेवद्रुहां तद्वद् भूभुजां दैत्यजन्मनाम्।।११००
यदा यदा हि धर्मसय ग्लानिः स्याद्धि तदा तदा। अवतारमसौ कृष्णः कुरुते देवकीसुतः।।११०१
एष नारायणः साक्षात् सर्वदेववपुः पुमान्। ध्येयः सगुणरूपोऽयं मन्त्रयोरधिदैवतम्।।
यावन्न निर्गुणं ब्रह्म भाति चित्तेऽत्र योगिनः।।११०२

कृष्णध्यानफलम्

सूर्यमण्डलमध्यस्थे हृदि पद्मेऽथ वा पुनः। गोकुलादौ च वा बाह्ये देशे तत्तद्गुणैर्युतम्।।
ब्रह्मण्यं देवकीपुत्रं ध्यायतो मधुसूदनम्।।११०३
हार्दे पद्मे यदा चित्तस्थित आत्मतया तदा। दीपवत् स्वात्मनो भाने हेतुर्भवति सर्वथा।।११०४
एतद्ध्यानादयं योगी सर्वभूतस्थितं हरिम्। ब्रह्मैकं कारणं नित्यं शोकमोहविवर्जितम्।।११०५
यत आत्मतया याति शुद्धान्तःकरणः पुमान्। कृष्णं ध्यायंस्ततो योगी न सीदति कदाचन।।११०६

सम्बन्धः। तथा च दक्षिणेऽधस्तने करे शङ्खम्, ऊर्ध्वे गदाम् वामोर्ध्वे करे पद्मं, तदधस्तने चक्रम् इत्यर्थः।।१०९९।। गोविप्रेति। गवादीनामार्तिहरः। दैत्यांशत्वेन देवादिद्रुहां राज्ञामार्तिदः।।११००।।

अवतारकालमाह—यदेति। यदा यदा सतामार्तिः तदा एव प्रादुर्भावशील इत्यर्थः।।११०१।। फलितमाह—एष इति। एष देवकीनन्दनरूपः सर्वदेवविभूतिक उक्तमन्त्रयोः प्रतिपाद्यः सगुणरूपः तावद् ध्येयः यावद् निर्गुणब्रह्मरूपेण न साक्षाद् भवति इत्यर्थः।।११०२।। 'अथ' इत्यादेः 'प्रकाशम्' इत्यन्तस्य अर्थक्रमेण[1] अर्थमाह— सूर्येति द्वाभ्याम्। हृदयकमले तदुपलक्षितसूर्यमण्डलमध्यदेशे, गोकुलादिदेशे वा स्थितं, तत्तल्लीलादिगुणैर्युतम् एनं ध्यायतो योगिनो हार्दपद्मगते चित्ते आत्मतया स्थितः प्रयत्नमन्तराऽपि भासमानो भवेत् तदा निर्गुणात्मनो भाने दीपवद् हेतुर्भवति। इति द्वयोरर्थः।।११०३-४।।

'सर्वभूतस्थम्' इत्यादेः 'सीदति'[2] इत्यन्तस्य अर्थमाह—एतदिति द्वाभ्याम्। यत एतस्य श्रीकृष्णस्य ध्यानात् शुद्धान्तःकरणः पुमान् सर्वान्तरादिलक्षणं ब्रह्म आत्मत्वेन याति लभते तत इदं वाक्यम् अनुपचरितार्थमेव। 'इदं' किम्? कष्णं ध्यायन् न सीदति। इति द्वयोरर्थः।।११०५-६।।

ऊपर के बायें में पद्म और निचले बायें में चक्र है।) गाय, भूमि, वेदपाठी, सत्पुरुषों के वे दुःख नष्ट कर देते हैं। धर्मद्रोही, देवद्रोही, दैत्यराजाओं को वे हमेशा दुःख (भय) देते हैं।।१०९९-११००।।

जब-जब धर्मानुष्ठान क्षीण होता है, सज्जन पीडित होते हैं तब-तब देवकीपुत्र कृष्ण अवतार लेते हैं। वे साक्षात् नारायण हैं, सारे देवता उनके शरीर के मानो अवयव हैं, वे ही पूर्ण पुरुष हैं। प्रणव-अष्टाक्षर मन्त्रों के वे अधिदैव हैं। योगी के चित्त में जब तक निर्गुण ब्रह्म का प्रतिभान न हो तब तक इन्हीं सगुण ब्रह्म श्रीकृष्ण का ध्यान करना चाहिये।।११०१-२।।

सूर्यमण्डल के बीच में, हृदय कमल में, या गोकुलादि बाह्य देश में उक्त गुणों से युक्त देवकीपुत्र ब्रह्मण्य श्रीमधुसूदन का ध्यान करते-करते जब वे हृदय कमल में एकाग्रचित्त में आत्मरूप से प्रकट हो जायें तब स्वात्मा के भान में वैसे ही समर्थ हेतु बन जाते हैं जैसे रूपभान में दीपक। इनका ध्यान करने से शुद्ध मन वाला योगी सभी भूतों में स्थित अद्वितीय ब्रह्म, सर्वकारण, नित्य, शोक-मोहरहित श्रीहरि को आत्मरूप से प्राप्त कर लेता है। कृष्ण का ध्याता योगी कभी अवसाद को प्राप्त नहीं होता।।११०३-६।।

---

१. श्रुतिः श्लोक.१०७७ टिप्पणे दर्शिता।
२. 'सर्वभूतस्थमेकं नारायणं कारणपुरुषमकारणं परं ब्रह्मोम्। शोकमोहविनिर्मुक्तो विष्णुं ध्यायन्न सीदति।'—आत्मप्र.।

द्वैतमद्वैतमेवं स्याज्ज्ञाते द्वैतं न विद्यते। संसारादपि संसारं दुःखदादपि दुःखदम्।।
स याति पुरुषो भेदं य आत्मनि विलोकयेत्।।११०७
यतो मायामयेऽप्यत्र भेदः कोऽपि न विद्यते। भेदवच्च ततः पश्यन् दुःखं यात्यतिदारुणम्।।११०८
विपरीतदृशा सर्वः क्लेशं लोकोऽधिगच्छति। अद्वैते द्वैतदृष्टिश्च विपरीता प्रकीर्तिता।।११०९
मृत्योर्मृत्युस्ततस्तस्य द्वैतवद्दर्शिनो भवेत्। नैवानुचितरूपोऽयं फलं बीजोपमं यतः।।१११०
ततो हृदयपद्मस्य मध्ये भेदविवर्जितम्। आनन्दात्मानमद्वैतं सर्वबुद्धिप्रकाशकम्।।११११
आधारभूतं जगतां प्रकाशानां च कारणम्। एनमात्मतया जानन्न दुःखं किञ्चिदाव्रजेत्।।१११२

'द्वैताऽद्वैतम्'[1] इत्यादेरर्थमाह—द्वैतमिति। एवं श्रीकृष्णध्यानस्य संसिद्धौ सत्यां सर्वं द्वैतम् अद्वैतभावं गच्छेद् यतः परमार्थे ज्ञाते सति द्वैतं न तिष्ठति कल्पितत्वाद् इत्यर्थः। अद्वैतस्य अभयतां स्फुटयितुं द्वैतस्य अनर्थतामाह—संसारादिति। पुनः पुनः संसारम् अतिदुःखदं स याति य आत्मनि भेदं पश्यतीत्यर्थः।।११०७।। भेददर्शनस्य अनर्थत्वमपि अनृतविषयेत्याह—यत इति। मायामये मायाप्रधाने सगुण इति यावत्, एतादृशेऽप्यत्र आत्मरूपे कोऽपि भेदो न अस्ति, सर्वस्य आत्मविवर्तत्वात् प्रकृतिविकाराऽभेदन्यायेन अपि भेदस्य अयुक्तत्वाद् इति भावः। ततो भेदस्य कुत्राऽपि असत्त्वाद् भेदविशिष्टमात्मरूपं पश्यन् सन् अतिदारुणं दुःखं याति इति युक्तमित्यर्थः।।११०८।। युक्तमेव स्फुटयति—विपरीतेति। सर्वः सर्वजातीयो लोकः जनो विपरीतेन विषादौ अमृतत्वाद्यवगाहिना दर्शनेन दुःखं यातीति प्रसिद्धं, तथाऽऽत्मनि अद्वैतस्वभावे द्वैतदर्शनमपि विपरीतं भ्रमरूपमित्यर्थः।।११०९।। अत्र यथापराधं दण्डमाह—मृत्योरिति। द्वैतवद् भेदविशिष्टं यथा भवति तथाऽऽत्मनि दर्शनशीलस्य पुनःपुनः मृत्युः फलं भवति। अयं भेददर्शिनं प्रति प्रसक्तः पुनः पुनर्मृत्युः अनुचितः अन्याय्यो न भवति यतो बीजस्वभावानुसार्येव फलं प्रसिद्धम् इत्यर्थः।। एतदुक्तं भवति—गौणात्मानं पुत्रादिकं, मिथ्यात्मानं देहादिकं वा परस्य घ्नन् राज्ञा एकवारं वधेन दण्ड्यते। मुख्यात्मानं विदारणात्मकेन भेदेन घ्नन् कथं न पुनः पुनर्मृत्युं गच्छेत्! इति। तदुक्तम् 'अन्यथासन्तमात्मानम्' (मनु.४.२५५) इत्यादि।।१११०।। ततोऽस्य सर्वान्तराऽद्वितीयरूपस्य कृष्णस्याऽऽत्मत्वेन दर्शनमेव सर्वदुःखप्रहाणहेतुरित्याह[2]—तत इति। एनं श्रीकृष्णम्।।११११-२।।

इस प्रकार श्रीकृष्ण का ध्यान परिपक्व हो जाने पर सारा द्वैत अद्वैतभाव पा जाता है क्योंकि परमार्थबोध होते ही द्वैत की अवस्थिति समाप्त हो जाती है। जो आत्मा में भेद समझता है वह वर्धमान दुःखरूप संसार में भटकता रहता है।।११०७।।

आत्मा के मायाप्रधान सगुण रूप में भी क्यों कि कोई भेद है नहीं अतः जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप को भेदयुक्त समझता है वह अपनी कुमति से अतिदारुण दुःख पाता है।।११०८।। संसार में भी विपरीत ज्ञान दुःखदायी प्रसिद्ध है। अद्वैत को द्वैत समझना उलटा ही ज्ञान है अतः अपराधानुसार दण्ड मिलना उचित है : आत्मा को सद्वैत समझने का यही दण्ड है कि बार-बार मौत के मुँह में पड़ता रहे। जैसे बीज के अनुसार ही फल होता है वैसे दोषानुसार दण्ड होता है! (गौणात्मा पुत्रादि व मिथ्यात्मा देहादि की एक बार हत्या करें तो राजा मृत्युदण्ड सुना देता है। जो मुख्यात्मा की विदारण रूप भेद से हत्या करता रहे, अद्वैतात्मा को सद्वैत समझता रहे, उसे निरंतर मृत्युदंड मिलना उचित ही है।)।।११०९-१०।।

इसलिये हृदयकमल में भेदरहित, अद्वैत, सभी बुद्धियों के प्रकाशक, जगत्के आधार, प्रकाशों के कारण इस आनंदात्मा को जो, प्रत्यक् जान लेता है उसे कोई दुःख नहीं होता।।११११-२।।

१. 'द्वैताद्वैतमभयं भवति मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'—आत्मप्र.।
२. 'हृत्पद्ममध्ये सर्वं यत्तत्प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्। प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म।'—आत्मप्र.।

संक्षिप्तमहावाक्यार्थः

य आत्मा कथितः प्रज्ञा स एवेह न चापरः। प्रज्ञा या सा प्रतिष्ठा स्याज्जगतोऽस्याऽखिलस्य हि।
प्रतिष्ठा यत्र सम्प्रोक्ता तद् ब्रह्म परिकीर्तितम्।।१११३

प्रज्ञा प्रतिष्ठा ब्रह्मैतज्ज्ञातमात्मतया यदा। तदा सर्वां परित्यज्य देहाद्यात्मधियं पुमान्।।१११४

स्वर्गादिलोकसंस्थानान् कामान् नानाविधानपि। उपभुज्य परं ब्रह्म यात्यसौ ब्रह्मणा सह।।
अत्रैव वा परं ब्रह्म गच्छेत् कुशलभावनात्।।१११५

यस्मिन् ब्रह्मणि तज्ज्योतिरजस्रं स्वप्रकाशनम्। आनन्दश्च सदैवैकरूपातिशयवर्जितः।
तस्मिन् ब्रह्मणि सोऽभीष्टं प्रार्थयेत् शान्तधीः सदा।।१११६

देहि स्वरूपं भगवन् वासुदेवस्वरूपधृक्। देवकीनयनानन्द सर्वदा नन्दनन्दन।।१११७

एवं सम्प्रार्थ्य मेधावी भगवन्तमधोक्षजम्। एवं च जायते बोधो ब्रह्माहमिति योगिनः।।
आत्मप्रबोधोपनिषदुक्तं ब्रह्म समीरितम्।।१११८

महावाक्यार्थस्य प्रथमाध्याये व्याख्यानं कृतमिति सूचयन् संक्षिप्याह—य आत्मेति। य आत्मा प्रज्ञारूपः कथितः प्रथमेऽध्याये स एवेह ऐतरेयशाखागतायाम् आत्मप्रबोधोपनिषदि 'प्रज्ञानेत्रम्' इति वाक्येन उक्त इत्यर्थः। तथा च प्रज्ञा संविद्रूपा नेत्री निर्वाहिका यस्य विश्वस्य इत्यादिरक्षरार्थस्तत एव विस्तरेण ज्ञेय इति भावः। या इयं प्रज्ञा सा सर्वस्य प्रतिष्ठा आधारः यत्र च विश्वस्य प्रतिष्ठा कालत्रयेऽपि स्थितिरूपा तद् ब्रह्म इति प्रकीर्तितम् लक्षितं वेदान्तेष्वित्यर्थः।।१११३।। प्रज्ञेति। प्रज्ञारूपत्वेन सर्वान्तरं, प्रतिष्ठात्वेन अद्वितीयं च एतद् उक्तमन्त्रार्थभूतं ब्रह्म यदा आत्मत्वेन ज्ञातं तदा सर्वां सर्वप्रकारां देहाद्यनात्मसु आत्मधीरूपाम् अविद्यां परित्यज्य ब्रह्मभावं याति इत्युत्तरेण सम्बन्धः।।१११४।। तस्य रागेण भावनाशैथिल्ये क्रममुक्तिः, वीतरागस्य तु सद्योमुक्तिः इति द्वयीं गतिमाह—स्वर्गादीति। असौ विद्वान् सरागश्चेत् स्वर्गादिगतान् भोगान् उपभुज्य अपि ब्रह्मणा हिरण्यगर्भेण सह परं ब्रह्म याति। कुशलस्तु इहैव तद् यातीत्यर्थः।।१११५।।

'यत्र ज्योति' रित्यादेरर्थमाह— यस्मिन्नित्यादिना। यस्मिन् ब्रह्मणि स्वयंप्रकाशं प्रज्ञारूपं ज्योतिः निरतिशय आनन्दश्च स्वरूपतया तिष्ठति तस्मिन् ब्रह्मणि प्राप्तुमिष्टे सति शान्त इत्थं श्रीकृष्णं प्रार्थयेद् इत्यर्थः।।१११६।। 'इत्थं' कथम्? इत्याकांक्षायामाह—देहीति। हे भगवन्! वासुदेव! हे देवकीनयनानन्द! हे नन्दनन्दन! सर्वदा सनातनमच्युतादिलक्षणं स्वरूपं देहि इत्यर्थः।।१११७।। एवं प्रार्थनया मेधा धारणावती बुद्धिर्जायते तथा ब्रह्मबोधश्चेत्याह—एवमिति। मेधावी भवतीति शेषः। उपसंहरति—आत्मेति।।१११८।।

पुराण-प्रथमाध्याय में जिस आत्मा को प्रज्ञारूप बताया था उसी को आत्मप्रबोधोपनिषत् में 'प्रज्ञानेत्र' कहा है। जो यह प्रज्ञा है वही इस सारे जगत् का आधार है। विश्व की त्रैकालिक स्थिति जहाँ है वही वेदांतों में ब्रह्म कहा गया है।।१११३।।

प्रज्ञात्मक होने से सर्वांतर और प्रतिष्ठारूप (अधिष्ठानरूप) होने से अद्वितीय इस ब्रह्म को जब प्रत्यग्रूप से जान लिया जाता है तब सब प्रकार की अविद्या छोड़कर साधक ब्रह्मभाव पा जाता है। देहादि अनात्मा को आत्मा समझना अविद्या है, अनात्मा कई प्रकार के हैं अतः अविद्या के अनंत प्रकार हैं। उपासक भोगलालसा वाला हो तो स्वर्गादि लोकों

१. 'यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोकेऽभ्यर्हितं तस्मिन् मां देहि स्वमानमृते लोके अक्षते अच्युते लोके अक्षते अमृतत्वं च गच्छत्यों नमः।'—आत्मप्र.।

कैवल्योपनिषद्व्याख्या

कैवल्योपनिषत्प्रोक्तं शृणु तत्त्वमिहाऽधुना। आश्वलायननामात्र पृष्टवान् यत् स्वयंभुवम्।।१११९
ब्रह्माणं सर्वपितरमाश्वलायन एत्य तम्। इदं पप्रच्छ मेधावी ब्रह्मविद्येच्छया पुरा।।११२०
जानीहि भगवन् विद्यां ब्रह्मणः श्रेष्ठरूपिणीम्। सेव्यमानां सदा सद्भिर्निगूढां हृदयाम्बुजे।।११२१
सर्वपापं यया जन्तुरचिरात् प्रत्यपोह्य च। परात्परं महेशानं पुरुषं यात्यसंशयम्।।११२२
एवं पृष्टस्तदा तेन भगवान् प्रपितामहः। तस्मा उवाच यां विद्यां तां वक्ष्याम्यहमद्य ते।।११२३

हरिहरयोरैक्यं स्फुटयितुं हरिवद् हरस्य प्रभावबोधिकां निगमनस्थानीयां कैवल्योपनिषदम् आऽन्तग्रन्थेन व्याख्यातुं प्रतिजानीते—कैवल्योपनिषदिति। यद् आश्वलायननामा ब्रह्माणं प्रति पृष्टवांस्तत् कैवल्योक्तं तत्त्वं शृणु इत्यर्थः।।१११९।। तत्र प्रथमाया[1] ऋचोऽर्थमाह—ब्रह्माणमिति। आश्वलायनो नाम ऋग्वेदाचार्यो ब्रह्माणं पितामहं जिज्ञासया एत्य प्राप्य इदं पृष्टवान् इत्यर्थः।।११२०।। 'इदं' किम्? अत आह—जानीहीति। ज्ञा-धातुरन्तर्भावितण्यर्थोऽयम्। तथा च ब्रह्मणो विद्यां ज्ञापयेत्यर्थः। कीदृशीम्? सर्वविद्याभ्यः श्रेष्ठां, सद्भिः शमादिसम्पन्नैः हृदयाम्बुजे सेव्यमानां निगूढाम् अनधिकारिभ्यो गोपितां चेत्यर्थः।।११२१।। सर्वेति। यया विद्यया जीवः सर्वपापं परिहृत्य पराद् अव्याकृतात् परं निर्विशेषं पुरुषं याति इत्यर्थः।।११२२।।

'तस्मै' इत्यादेरर्द्धर्चस्य[2] अर्थमाह—एवमिति द्वाभ्याम्। स्पष्टम्।।११२३।। तत्र श्रद्धा भक्तिः चित्तवृत्ते-

में स्थित नानाविध काम्य विषयों का उपभोग कर ब्रह्माजी के साथ पर ब्रह्म को प्राप्त करता है। जो विवेक का उपयोग करने में कुशल है वह भोगों से सर्वथा विरक्त रहता है अतः यहीं तत्त्व का अवगम प्राप्त कर लेता है।।१११४-५।।

जिस ब्रह्ममें स्वप्रकाश प्रज्ञात्मक ज्योति और निरतिशय आनंद स्वरूपतः स्थित हैं उस ब्रह्म को पाने की इच्छा वाला अपनी बुद्धि की चंचलता मिटाकर सदा श्रीकृष्ण से यों प्रार्थना करे—'हे भगवन् ! वासुदेव ! देवकी को प्रसन्न करने वाले, नंद को सर्वदा सुख देने वाले ! आप मुझे अपना स्वरूप प्रदान कीजिये।' इस प्रर्थ ना से मेधा मिलती है और योगी को 'मैं ब्रह्म हूँ' यह बोध हो जाता है।।१११६-७।।

इस तरह मैंने उस ढंग से ब्रह्म समझाया जिस ढंग से आत्मप्रबोधोपनिषत् में वर्णित है।।१११८।। अब इस अध्याय की समाप्ति तक कैवल्योपनिषत् का उपदेश समझाऊँगा। हरि-हर में कोई भेद नहीं है। जैसे सगुणध्यान हरिमूर्ति का कर सकते हैं वैसे हरमूर्ति का। हरि का प्रभाव जैसा बताया है वैसा ही हर का। अपने मानस के अनुसार इष्टचयन कर उपासना करनी चाहिये। अतः हरिवर्णनानंतर हरवर्णन से अध्यायोपसंहार करते हैं :

ब्रह्मविद्या के इच्छुक, मेधावी आश्वलायन नामक मुनि ने सर्वपिता स्वयंभू ब्रह्मा के पास जाकर निवेदन किया 'हे भगवन् ! सभी विद्याओं में श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या का मुझे उपदेश दीजिये। शमादिसंपन्न सज्जन हृदयकमल में उस विद्या का सेवन करते हैं और अनधिकारियों के हाथ में पड़ने से उसे बचाते हैं। जंतु उस विद्या द्वारा सारे पापों से छूटकर परात्पर महेश पुरुष को निःसंदेह पा जाता है।'।।१११९-२२।।

इस प्रार्थना पर प्रपितामह भगवान् ब्रह्मा ने आश्वलायन को जो विद्या सुनाई वह मैं अब तुम्हें सुनाता हूँ।।११२३।।

---

१. 'अथाश्वलायनो भगवन्तं परमेष्ठिनमुपसमेत्योवाच। अधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां सदा सद्भिःसेव्यमानां निगूढाम्। यथाऽचिरात्सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुषं याति विद्वान्।।'—कै.१
२. 'तस्मै स होवाच पितमहश्च श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि। न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनेक अमृतत्वमानशुः।।' कै.२।।

परमेष्ठिन उपदेशः

आस्तिक्यबुद्धिसंयुक्तो गुरुभक्तिसमन्वितः। आत्मनो ध्यानयोगेन ब्रह्मविच्च प्रजायते।।११२४

न कर्मणा न प्रजया न धनेन कदाचन। ब्रह्मज्ञानमिदं किन्तु पारोक्ष्येणैव जायते।।११२५

स्वर्गादप्यधिकं प्रोक्तमानन्दात्मस्वरूपकम्। स्वप्रकाशामृतं यत्तु प्रयान्ति यतयोऽमलाः।।११२६

वेदान्तज्ञानसम्पन्ना निश्चितार्थाः सदैव हि। विशुद्धधिषणा ब्रह्मलोके वाऽत्र न चाऽपरे।।११२७

ब्रह्मलोके यदा यान्ति परं ब्रह्म सनातनम्। ब्रह्मणा सह ते सर्वे तदा यान्ति न चान्यथा।।११२८

ध्यानयोगः

योगमेवं प्रकुर्वीत पुरुषो ब्रह्मवित्तये। एकान्ते निर्मले देशे सुखमासनमाश्रितः।।११२९

ब्रह्माकारतालक्षणं ध्यानं च —एतानि त्रीणि साधनानीत्याह—आस्तिक्येति।।११२४।। यथा च श्रद्धादीनि त्रीणि साधनानि तथा संन्यासोऽपीत्याह—न कर्मणेति। कर्मणा श्रौतादिना, प्रजया पुत्रादिना, धनेन दैवमानुषवित्तेन च इदम् अपरोक्षं ब्रह्मज्ञानं न जायते किन्तु तैरुपायैर्जातमपि परोक्षमेव जायते इत्यर्थः। कर्मत्यागलक्षणसंन्यासेनैव अपरोक्षसिद्धिरिति भावः।।११२५।।

तस्य संन्यासलभ्यतामेव स्फुटयन् 'परेण'[1] इत्यादेरर्थमाह—स्वर्गादिति। स्वर्गाद् नाकात् परम् अपि अमृतं ब्रह्म गुहानिहितत्वेन स्वप्रकाशं भवति। तथां च परोक्षतया तज्ज्ञानं प्रमेयाऽननुगुणत्वाद् भ्रम एवेति भावः। अतः सर्वदोषहीना यतय एव तदपरोक्षयन्तीत्याह—यत्त्वित्यादिना। अमलाः सर्वप्रतिबन्धहीना यतय एव यद् ब्रह्म प्रयान्ति साक्षात् कुर्वन्तीत्यर्थः।।११२६।। यतीन् विशिनष्टि—वेदान्तेति। वेदान्ता महावाक्यानि तेषां ज्ञानं तात्पर्यावधारणं, तद्रूपश्रवणसम्पन्नाः, निश्चितार्था मननसम्पन्नाः, विशुद्धधिषणाः निदिध्यासनपराश्च ते यतयो ब्रह्मलोकेच्छालक्षण-प्रतिबन्धसत्त्वे ब्रह्मलोके, तदभावे त्विहैव तत् प्रयान्तीति पूर्वेण सम्बन्धः।।११२७।। तत्र ब्रह्मलोके गतानां परब्रह्माप्तिस्तु हिरण्यगर्भान्तकाल एव भवतीत्याह—ब्रह्मलोक इति।।११२८।।

अथ ध्यानयोगाभिनयपराणां[2] 'विविक्ते'त्यादिवाक्यानामर्थमाह—योगमेवमिति। एवं वक्ष्यमाणविधया। वित्तिः लाभः। अङ्गानि सूचयति—एकान्त इत्यादिना। सुखं क्षोभनिमित्तरहितम् आसनं चैलाजिनकुशोत्तरलक्षणम्।

जिस साधक में आस्तिकता का निश्चय है, वेदोक्त तथ्य की विद्यमानता में शंका नहीं है, गुरु के प्रति सद्भावनापूर्ण प्रेम है और आत्ममात्रविषयक ध्यानरूप योग का जो अनुष्ठान करता है वह ब्रह्मज्ञ हो जाता है।।११२४।। श्रौतादि क़र्म करने से, प्रजोत्पादन से, दैव और मानुष वित्त से यह ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं होता। कर्म-प्रजा-वित्त के साथ जो ब्रह्मज्ञान होता है उससे 'ब्रह्म परोक्ष है' यह भ्रम नहीं मिटता। जो स्वप्रकाश अमृत आनन्दात्मा प्रत्यङ्मात्र स्वर्ग से भी अधिक श्रेष्ठ बताया गया है उसे कर्म-प्रजा-वित्तादि को त्यागने वाले वे संन्यासी ही साक्षात् अपरोक्ष करते हैं जिन्होंने सारे संशय-विपर्यय रूप प्रतिबन्ध हटा लिये हैं। जिन्होंने महावाक्यों के तात्पर्य का निश्चय कर लिया है, मननपूर्वक प्रमाण-प्रमेयगोचर संदेह मिटा लिये हैं, निदिध्यासन में तत्पर रहकर बुद्धि के विपरीत भावों पर नियंत्रण कर लिया है वे संन्यासी यदि ब्रह्मलोक के इच्छुक हैं तो वहाँ जाकर और इच्छुक नहीं हैं तो यहीं, अधिकारिशरीर में ही ब्रह्मसाक्षात्कार पा लेते हैं।।११२५-७।।

१. 'परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति। वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे।।' कै. ३।।

२. 'विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरःशरीरः। अत्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य। हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम्।।'-४-५।।

शौचं यथाविधानं च विधाय विगतश्रमः। समं कृत्वा शिरोग्रीवाशरीरं च जितासनः।।११३०
संन्यासी संनिरुध्यैव सर्वं बाह्यान्तरेन्द्रियम्। गुरुं च भक्तिसहितः प्रणिपत्य यथाविधि।।११३१
हृत्पुण्डरीकं विमलं विचिन्त्यार्कादिसंयुतम्। रागद्वेषादिसंशून्यं तन्मध्ये चिन्तयेत् पुनः।।११३२
अशेषदुःखसंशून्यम् आनन्दात्मानमद्वयम्। अचिन्त्यमव्यक्तमजं शिवं मायाविवर्जितम्।।११३३
अनन्तं वेदजनकं मरणादिविवर्जितम्। एकं तथा स्वयंज्योतिः सर्वशक्तिसमन्वितम्।।
रूपादिरहितं तद्वद् अद्भुतं परमेश्वरम्।।११३४
एवं चिन्तयितुं चेतो यदि शक्तं भवेद् न हि। तदैवं चिन्तयेदेनं सगुणं परमेश्वरम्।।११३५

उमामहेश्वरवर्णनम्

उमा भगवती येयं ब्रह्मविद्येति कीर्तिता। रूपयौवनसम्पन्ना वधूर्भूत्वाऽत्र सा स्थिता।।११३६

अत्र चतुर्थगतक्रियापदेन सम्बन्धः।।११२९।। शौचमिति। यथाविधानं यथाशास्त्रम्। विगतश्रमः शौचाद्यनुष्ठानश्रमादनुद्विग्नः। शिरश्च ग्रीवा च शरीरं देहमध्यं च—एतानि ऋजूनि कृत्वा, यतो जितासनो बद्धपद्माद्यासनकः।।११३०।। संन्यासीति। स्पष्टम्।।११३१।। हृत्पुण्डरीकमिति। अर्कादिसंयुतं सूर्यचन्द्राऽग्निमण्डलैः युक्तं, रागादिभी राजसधर्मैः, मलैः तामसैर्मोहादिभिश्च रहितं, हृत्पुण्डरीकं पञ्चच्छिद्रादिलक्षणं विचिन्त्य ध्यात्वा तन्मध्ये वक्ष्यमाणरूपं परमेश्वरं चिन्तयेत्।।११३२।। तत्रादौ[1] निराकारं ध्येयमाह—अशेषेति। अव्यक्तं शब्दादिभूतगुणरहितम्। स्फुटमन्यत्।।११३३।। अनन्तमिति। वेदस्य ब्रह्मपदोक्तस्य निःश्वासविधया जनकम्। अद्भुतम् आश्चर्यकरम्।।११३४।। एवं निराकारध्यानाऽशक्तौ वक्ष्यमाणविधया साकारं[2] ध्यायेदित्याह—एवमिति।।११३५।। उमेति। उमा नाम देवी केनोपनिषदि ब्रह्मविद्यारूपत्वेन या वर्णिता साऽत्र परमेश्वरविग्रहे वधूरूपेण स्थितेत्यर्थः।।११३६।।

ऐसे यति जब ब्रह्मलोक जाते हैं तब ब्रह्मा जी के साथ वे सनातन पर ब्रह्म में संप्रतिष्ठित हो ही जाते हैं, उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती।।११२८।। ब्रह्मलाभार्थ योगानुष्ठान इस तरह करना चाहिये : यथाविधि शौचाचार संपन्न कर उसकी थकान मिट जाने पर प्राकृत जनों से असम्बाधित, स्वतः व संस्कारतः शुद्ध स्थान पर संन्यासी पहले कुशासन उस पर मृगादि चर्म व उस पर वस्त्र बिछाकर स्थिर-सुख आसन से बैठे ताकि सिर, ग्रीवा व धड़ एक सीध में रहें। बाह्य-आन्तर सारी इंद्रियों को बहिर्मुख होने से रोके और भक्तिपूर्वक गुरु को विधिवत् प्रणाम करे।।११२९-३१।। पहले हृदय-कमल का ध्यान करे—वह सूर्य-चंद्र-अग्निमंडलों से युक्त है रागादि राजस मलों से और मोहादि तामस मलों से रहित है, उसमें पाँच छिद्र हैं इत्यादि पूर्वाध्याय में बताये धर्मों वाला उस कमल को समझना चाहिये। फिर उस कमल के मध्य परमेश्वर का चिंतन करे; हो सके तो निराकार तत्त्व का ध्यान करे : वह समस्त दुःखों से रहित है, आनंदात्मा है, अद्वय है, चिन्तन से परे है, महाभूतों के शब्दादि गुणों से रहित है, जन्मशून्य, माया से असम्बद्ध, कल्याणरूप, अनंत, निःश्वासमात्र से वेद को भी उत्पन्न करने वाला, मरणादि धर्मों से रहित, एक, स्वप्रकाश, सब शक्तियों वाला निज के किसी रूपादि से रहित, आश्चर्यमय परमेश्वर है।।११३२-४।।

निराकार का चिंतन-न कर सके तो सगुण परमेश्वर का इस प्रकार ध्यान करना चाहिये :।।११३५।। इस परमेश्वर-विग्रह में अर्धांगिनी होकर वह ब्रह्मविद्या स्थित है जिसे केनोपनिषत् में भगवती उमा कहा है। वे अत्यंत सुंदर रूप और षोडशवर्षीय यौवन से संपन्न हैं। वे महेश्वरी उस बिम्ब की जगह हैं जिसके प्रतिबिम्ब की जगह सभी योनियों

---

१. 'अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्। तथादिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्।।'६।।

२. 'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्। ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्।।'७।।

नानाजातिवधूनां हि बिम्बभूता महेश्वरी। सर्वशक्तिमयी देवी सर्वतत्त्वमयी तथा।।११३७
यस्याः प्रसादतः सर्वः स्वर्गं मोक्षं च गच्छति। इह लोके सुखं तद्वज्जन्तुर्देवादिकोऽपि वा।।११३८
ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रः शक्राद्याः सर्वदेवताः। कटाक्षपाततो यस्या भवन्ति न भवन्ति च।।११३९
पीनोन्नतस्तनी प्रौढजघना च कृशोदरी। चन्द्रानना मीननेत्रा केशभ्रमरमण्डिता।।११४०
सर्वाङ्गसुन्दरी देवी धैर्यपुञ्जविनाशिनी। काञ्चीगुणेन चित्रेण वलयाङ्गदनूपुरैः।।११४१
हारैर्मुक्तादिसञ्जातैः कण्ठाद्याभरणैरपि। मुकुटेनाऽपि चित्रेण कुण्डलाद्यैः सहस्रशः।।११४२
विराजिता ह्यनौपम्यरूपा भूषणभूषणा। जननी सर्वजगतो द्व्यष्टवर्षा चिरन्तनी।।११४३
तया समेतं पुरुषं तत्पतिं तद्गुणाधिकम्। ब्रह्मादीनां प्रभुं नानासर्वभूषणभूषितम्।।११४४
द्वीपिचर्मावृतं शश्वदथ वाऽपि दिगम्बरम्। भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं ब्रह्ममूर्द्धौघमालिनम्।।११४५
तथैव चन्द्रखण्डेन विराजितजटातटम्। गङ्गाधरं स्मेरमुखं गोक्षीरधवलोज्ज्वलम्।।११४६

तस्या आगमोक्तं रूपं वर्णयति—नानेति। सर्वा नार्यो यस्याः प्रतिबिम्बभूता, या च सर्वशक्तिरूपा, सर्वमहदादितत्त्वरूपा च।।११३७।। यस्या इति। यस्या अनुग्रहेण सर्वः अभीष्टं लभते। सर्व-पदार्थविवरणम्—जन्तुः इत्यादिना। जन्तुः निकृष्टः, देवादिः उत्तम इत्यर्थः।।११३८।। ब्रह्मेति। ब्रह्मादिपदैः सृष्ट्यादिकर्माणि लक्ष्यन्ते। तथा च विश्वसृष्ट्यादिकम् इन्द्राद्यैश्वर्यं च सानुग्रहनिरनुग्रहयोः यत्कटाक्षयोः अधीनस्थित्यपायकम् इत्यर्थः।।११३९।। पीनोन्नतेति। प्रौढत्वं विशालत्वम्। जघनं नितम्बपुरोभागः। केशरूपभ्रमरैः नेत्रात्मकमीनाभ्यां च विलसितमुख-चन्द्रत्वेन विस्मयजनिका।।११४०।। सर्वाङ्गेति। शम्भोर्धैर्यहरा। तृतीयान्तानां 'विराजिते'ति तृतीयगतेन सम्बन्धः। काञ्च्या गुणेन सूत्रेण।।११४१।। हारैरिति। मुक्तादिरत्नमयैः हारैः। अनौपम्यम् उपमानानर्हं रूपं यस्याः सा तथा। भूषणान्यपि भूषयतीति सा तथा, नन्द्यादित्वाल्ल्युः। सर्वजगज्जननीत्वात् चिरन्तनी अपि षोडशवर्षवेशा। इति द्वयोरर्थः।।११४२-३।।

तयेति। तया उमया समेतं सहितं तस्याः सकाशाद् गुणैरधिकं, नानाविधैः सर्वाङ्गगतैः भूषणैर्युतम्।।११४४।। द्वीपीति। व्याघ्रचर्माम्बरं दिगम्बरं वा। ब्रह्मणः चतुर्मुखस्य सुताया अनुगमनापराधेन नानाकल्पेषु हतानां मूर्ध्नां समूहेन कलितमालालङ्कृतम्।।११४५।। तथैवेति। स्पष्टम्।।११४६।।

की स्त्रियाँ हैं। सारी शक्तियाँ और महद् आदि सारे तत्त्व उन देवी के ही स्वरूप हैं। सभी लोग उन्हीं की कृपा से स्वर्ग या मोक्ष पाते हैं, देवादि किसी भी जंतु को इस लोक या अन्य लोकों में जो कोई सुख मिलता है वह इन महादेवी का ही प्रसाद है। इन्हीं के कृपाकटाक्ष से ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्रादि सब देव अपने-अपने कार्य संपन्न करते या नहीं करते हैं (अर्थात् कृपादृष्टि रहते कार्य करने में सक्षम और कृपा न रहने पर अक्षम हो जाते हैं)।।११३६-९।।

उन जगन्माता के स्तन पीन-उन्नत हैं, जघन विशाल है, उदर कृश है, मुख चंद्र-सा है, नेत्र मछली-से हैं, केश मानो भ्रमर बनकर उनके मुखकमल को सजा रहे हैं। वे देवी सभी अंगों से सुंदर हैं, शंभु के भी धैर्य का वे हरण कर लेती हैं। कांची की नाना रंगों वाली लड़ियों से, कडों से, बाजूबंदों से, पैजेबों से, मोती आदि के हारों से, कण्ठ आदि के आभूषणों से, मीनाकारीयुक्त मुकुट से, कुण्डलादि हज़ारों अलंकारों से सुसज्जित हैं। उनका सौंदर्य बेजोड़ है। भूषण उन्हें नहीं वरन् वे ही भूषणों को विभूषित करती हैं। सारे जगत् की जननी अतः सबसे चिरन्तन होते हुए वे सोलह वर्ष की ही हैं।।११४०-३।।

उमा सहित उनके पति का ध्यान करना चाहिये। वे ही इकलौते पुरुष हैं, गुणों में उमा से भी बढ़े-चढ़े हैं। ब्रह्मा आदि के प्रभु हैं। उनके सारे अंगों पर नानाविध आभूषण हैं। उन शाश्वत पुरुष का दिगंबर रूप में या व्याघ्रचर्म

कन्दर्पकोटिसदृशं सूर्यकोटिसमप्रभम्। सृष्टिस्थित्यन्तकरणं सृष्टिस्थित्यन्तवर्जितम्।।११४७
पूर्णेन्दुवदनाम्भोजं सूर्यसोमाग्निवर्चसम्। सर्वाङ्गसुन्दरं कम्बुग्रीवं चाऽतिमनोहरम्।।११४८
आजानुबाहुं पुरुषं नागयज्ञोपवीतिनम्। पद्मासनसमासीनं नासाग्रन्यस्तलोचनम्।।११४९
वामदेवं महादेवं गुरूणां प्रथमं गुरुम्। स्वयंज्योतिःस्वरूपं तमानन्दात्मानमद्वयम्।।११५०
यतो हिरण्यगर्भोऽयं विराजो जनकः पुमान्। जातः समस्तदेवानाम् अन्येषां च नियामकः।।११५१
नीलकण्ठममुं देवं विश्वेशं पापनाशनम्। हृदि पद्मेऽथ वा सूर्ये वह्नौ वा चन्द्रमण्डले।।
कैलासादिगिरौ वाऽपि चिन्तयेद् योगमाश्रितः।।११५२
एवं चिन्तयतस्तस्य योगिनो मानसं स्थिरम्। यदा जातं तदा सर्वप्रपञ्चरहितं शिवम्।।११५३
प्रपञ्चकारणं देवमवाङ्मनसगोचरम्। प्रयाति स्वात्मना योगी पुरुषं दिव्यमद्भुतम्।।११५४
तमसः स्वात्ममोहस्य परं तेन विवर्जितम्। साक्षिणं सर्वबुद्धीनां बुद्ध्यादिपरिवर्जितम्।।११५५

कन्दर्पेति। चतुर्थपादे स्वयम् इति शेषः।।११४७।। पूर्णेन्द्विति। पूर्णेन्दुसममुखाब्जम्। सूर्यसोमाग्निषु लोचनभूतेषु वर्चः अतिशयितं तेजो यस्य स तथा तम्।।११४८।। आजान्विति। नागः शेषो यज्ञोपवीतं यस्य तम्। पद्माख्येन ऊरुस्थोत्तानचरणत्वलक्षणेन आसनेन स्थितम्। नासाग्रदत्तदृष्टिं चेत्यर्थः।।११४९।। वामेति। वामः सुन्दरो देवः, अनुग्राहकत्वात्। ईशानतत्पुरुषाऽघोरसद्योजातवामदेवाख्याः पञ्चमूर्तयः क्रमेण सृष्टिस्थितिसंहारप्रवेशानुग्रहप्रयोजिका इति हि शैवागमेषु प्रसिद्धम्। महादेवं देवसमष्टिरूपस्य प्राणस्यापि जनकत्वात्। गुरूणां सनकादीनामपि गुरुं, सच्चिदानन्दघनं चेत्यर्थः।।११५०।। यत इति। यतः कारणरूपात् सूक्ष्मसमष्टिरूपो हिरण्यगर्भो जातो यः स्थूलसमष्टिजनकः। सर्वदेवानां जात्यन्तराणां च वशे स्थापयितेत्यर्थः।।११५१।। नीलकण्ठमिति। अमुं देवं हृदब्जाद्यन्यतमदेशे योगी चिन्तयेद् इति।।११५२।।

'ध्यात्वे' त्यादेः उत्तरार्द्धस्य अर्थमाह—एवमिति त्रिभिः। एवं ध्यानेन यदा मनः स्थिरं जातं स्थिरतामापन्नं तदा योगी प्रपञ्चाऽभावाद्युपलक्षितं निर्विशेषं स्वात्मना अभेदेन प्रयाति साक्षात्करोति। इति त्रयाणां सम्बन्धः। तमसः श्रुतौ तमःपदोक्तस्य स्वात्ममोहस्य अज्ञानस्य स्वरूपात् परं परतो वर्तमानम्, तेन मोहेन सदा हीनम्, साक्षिरूपेण सर्वभासकं चेत्यर्थः।।११५३-५।।

ओढ़े रूप में ध्यान करना चाहिये। उनका सारा शरीर भस्म से उद्धूलित है। वे ब्रह्मा के मुण्डों की माला पहने हैं। उनकी जटा का तट चंद्रखण्ड से शोभित है। गंगाधर शंकर मुस्करा रहे हैं, गाय के दूध-सा चमकदार श्वेत उनका वर्ण है।।११४४-६।।

करोड़ों कामदेवों की तरह सुंदर, करोड़ सूर्यों की तरह प्रभावान्, जगत् के जन्म-स्थिति-भंग करने वाले और खुद जन्मादि से रहित हैं। उनका मुखकमल पूर्णिमा के चंद्र सा विकसित और आह्लादक है, सूर्य-सोम-अग्नि उनके लोचन हैं जिनके कारण मुख पर अतिशय तेज चमकता है, उनके सभी अंग सुंदर हैं, ग्रीवा शंख-सी है तथा सारा रूप अत्यन्त मनोहर है। उनके बाहु घुटनों तक पहुँचते हैं, शेषनाग उनका यज्ञोपवीत है, पद्मासन लगाये बैठे हैं और उनकी दृष्टि अपनी नासिका के अग्रभाग से अन्यत्र नहीं जाती। वे अति सुंदर देव हैं; देवताओं की समष्टि जो प्राण उसके भी जनक हैं, सन कादि गुरुजनों के भी उपदेशक हैं। स्वप्रकाश प्रत्यग्रूप अद्वय आनंदात्मा हैं। विराट् के जनक ये हिरण्यगर्भ पुरुष जो समस्त देवों के व अन्य प्राणियों के नियामक हैं, वे भी महादेव से ही प्रादुर्भूत हुए हैं। पापनाशक इन नीलकण्ठ विश्वनाथ देव का ध्यान हृदयकमल में, सूर्यमंडल में, वह्नि में, चंद्रबिम्ब में या कैलासादि पर्वतों पर स्थित-रूप में करना चाहिये।।११४७-५२।।

उमासहायो भगवान् सगुणः परिकीर्तितः। निर्गुणश्च स एवायं न यतोऽन्योऽस्ति कश्चन।।११५६

ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रः शक्रो देवसमन्वितः। अग्निः सूर्यस्तथा चन्द्रः कालः सृष्ट्यादिकारणम्।।११५७

एकादशेन्द्रियाण्यन्तःकरणं च चतुर्विधम्। प्राणाः पञ्च महाभूतपञ्चकेन समन्विताः।।११५८

दिशश्च प्रदिशस्तद्वद् उपरिष्टादधोऽपि च। स्वेदजादीनि भूतानि ब्रह्माण्डं च विराड्वपुः।।११५९

विराट् हिरण्यगर्भश्च जीव ईश्वर एव च। माया तत्कार्यमखिलं वर्तते सदसच्च यत्।
यच्च भूतं यच्च भव्यं तत् सर्वं स महेश्वरः।।११६०

एक एव यथा स्वप्ने पुमान् नानाविधो भवेत्। एक एव तथा देव इह नानाविधः स्थितः।।११६१

गन्धर्वनगरं यद्वद् गगने तद्विवर्जिते। उत्पद्यते लीयते च दृश्यतेऽप्यवतिष्ठते।
आनन्दात्मनि निर्भेद एवं भिन्नमिदं जडम्।।११६२

अद्वितीयात्मविज्ञानाद् नान्यः पन्था विमुक्तये। विद्यते नाप्यभून्नैव भविष्यति कदाचन।।११६३

अस्याऽद्वितीयतामेव स्फुटी कुर्वतः 'स ब्रह्मे'[1]त्यादेरर्थमाह— उमेति अष्टभिः। य उमासहायरूपेण सगुणः प्रकीर्तितः स एव निर्गुण उक्तः यतोऽन्यः कोऽपि नास्ति इत्यर्थः।।११५६।। ब्रह्मेति। ब्रह्मादिकं यत् तत् सर्वं महेश्वर एव इति चतुर्थेन सम्बन्धः। स्पष्टम्।।११५७।। एकादशेति। पञ्च प्राणा भूतपञ्चकसहिताः, दिशश्च प्रदिशः कोणाश्च उपरिष्टाद् ऊर्ध्वम् अधः अधरं, विराजः शरीरभूतं ब्रह्माण्डं चेति।।११५८-९।। [2]विराडिति। विराट् च, जीवघनाख्यो हिरण्यगर्भश्च, ईश्वरश्च, सदसत् स्थूलं सूक्ष्मं च।।११६०।। अस्य सर्वभावं दृष्टान्तेन स्फुटयति—एक एवेति। निगदव्याख्यातं द्वयम्।।११६१-२।। उक्ताऽद्वैतज्ञानस्य मोक्षाऽसाधारणकारणतामाह—अद्वितीयात्मेति।।११६३।।

इस प्रकार चिंतन करते रहने वाले योगी का जब मन स्थिर हो जाये तब योगाभ्यासी अपने से अभिन्न निर्विशेष तत्त्व का साक्षात्कार कर पाता है। वह तत्त्व सारे प्रपंच से अतीत है, कल्याणरूप है, प्रपंच का हेतु है, मन-वाणी से परे है, दिव्य है, अद्भुत है। स्वात्मा के अज्ञानरूप तम से परे, तम से रहित सब बुद्धियों का साक्षी, बुद्धि आदि उपाधियों से अस्पृश्य वह वस्तु प्रपंचबाध से उपलक्षित हो अपरोक्ष होने पर ही कैवल्य प्रदान करती है।।११५३-५।।

उमासहाय रूप से जो सगुण बताये गये हैं वे भगवान् ही निर्गुण हैं क्योंकि उनसे अन्य कुछ नहीं है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इंद्र, सब देवता, अग्नि, सूर्य, चंद्र, सृष्टि आदि का कारणभूत काल, ग्यारहों इंद्रियाँ, चारों तरह का अंतःकरण, पाँचों प्राण, पाँचों महाभूत, दिशाएँ, विदिशाएँ, ऊपर, नीचे, स्वेदजादि प्राणी, विराट् का शरीर यह ब्रह्माण्ड, विराट्, हिरण्यगर्भ, जीव, ईश्वर, माया, उसका सब कार्य, स्थूल, सूक्ष्म, भूत, भावी जो कुछ है वह सब महेश्वर ही है। अतः सद्वितीयता संभव नहीं।।११५६-६०।। सपने में जैसे एक ही पुरुष नाना प्रकार का हो जाता है वैसे ही एक महादेव व्यवहारभूमि में नाना प्रकार का हुआ स्थित है। गंधर्वनगर से रहित गगन में जैसे गंधर्वनगर उत्पन्न होता है, रहता है, दीखता है, लीन होता है वैसे निर्भेद आनंदात्मा में यह भिन्न जड जगत् जन्म-स्थिति-भंग प्राप्त करता है, उपलब्ध होता है।।११६१-२।।

अद्वितीय आत्मा के साक्षात्कार से अन्य कोई मार्ग न था, न है, न कभी होगा जो मोक्ष तक पहुँचाये। सब भूतों में स्थित आत्मा को और सब भूतों को आत्मा में सम्यक् ढंग से देखते हुए साधक परब्रह्म तक चला जाता है, और किसी हेतु से कोई उस तक नहीं जा सकता।।११६३-४।। (आत्मा सबमें है अतः प्रत्यक् है। सब आत्मा में हैं अतः कल्पित हैं अतः आत्मा अद्वितीय है यह भाव है।)

१. 'स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्। स एव विष्णुः स प्राणः स कालाग्निः स चन्द्रमाः।।'८।।
२. 'स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम्। ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये।।'९।।

ज्ञानमेव पन्थाः

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। सम्पश्यन् ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना'।।११६४

एवं चेदयमात्मानं पुमान् ज्ञातुं न शक्नुयात्। अमुना वा प्रकारेण विजानीयात् स बुद्धिमान्।।११६५

पाशदाहः

अधरारणिमात्मीयं देहं कुर्वीत पण्डितः। त्रिमात्रं प्रणवं तद्वद् उत्तरारणिसंज्ञितम्।।११६६

मन्थानं च मनो ध्यानं नेत्रं कृत्वा विलोडयेत्। एवं विलोडनात् पुंस आनन्दात्माऽभिधोऽनलः।।११६७

सकृत्सञ्जातमात्रोऽपि पाशान् कामादिनामकान्। दहेत्तेषु प्रदग्धेषु स्वयमेकोऽवतिष्ठते।।११६८

त्वमर्थशुद्धिः

पाशान् दहति यो जीवः स्वात्मनो ब्रह्म बोधतः। न भिन्नो ब्रह्मणः सोऽयं किन्तु ब्रह्मैव केवलम्।
निगूढं मायया स्वस्य शयानः पुरुषो यया।।११६९

ज्ञानाभिनयेन उक्तार्थविशदी कारकं मन्त्रं (कै.१०) पठति—सर्वेति। प्रथमपादेन सर्वान्तरत्वमुक्तम्। द्वितीयेन तु सर्वोपाधीनां कल्पितत्वसूचनद्वाराऽद्वितीयत्वमिति। एवं पश्यन्नेव ब्रह्मभावं यातीत्यर्थः।।११६४।।

'आत्मानम्' इत्यस्यार्थमवतारयति—एवं चेदिति। उक्तविधयाऽऽत्मज्ञानाशक्तौ वक्ष्यमाणविधया प्रणवालम्बनेन तत् सम्पादयेदित्यर्थः।।११६५।। तदर्थमाह—अधरारणिमिति। श्रुतौ 'आत्म'-पदोक्तं स्वं देहं सङ्घातम् अधरारणिरूपं चिन्तयित्वा, ऊर्ध्वारणिरूपं प्रणवं चिन्तयेत्।।११६६।। मन्थानमिति। तत्र मन्थदण्डरूपं मनो ध्यात्वा, ध्यानक्रियां च नेत्रम् आकर्षणरज्जुभूतां चिन्तयित्वा ध्यानावृत्तिरूपं विलोडनं मन्थनं कुर्यादिति। एवमिति। ततोऽद्वैतात्मरूपोऽग्निः सकृद् एकवारमपि सञ्जातः प्रादुर्भूतः सन् सर्वान् कामादिरूपान् पाशान् दहेत्। ततो ब्रह्मभावेन तिष्ठति। इति द्वयोरर्थः।।११६७-८।।

एवं वर्णिततत्पदार्थपर्यवसन्नताप्रदर्शनेन त्वंपदार्थशोधनपरस्य 'स एव' इत्यादिऋक्चतुष्टयस्य अर्थमाह—पाशानिति ऊनविंशतिश्लोकैः। य उक्तविज्ञानाग्निना पाशदाहस्याधिकारी प्रोक्तः स जीवः तत्पदार्थभूतकेवल-ब्रह्मरूप एवेति। कुतस्तस्य संसार इति चेत्? स्वाभिन्नाश्रयविषयकाऽज्ञानेनैवेत्याह—निगूढमिति। स्वस्य मायया निगूढम् आवृतं ब्रह्मैव जीव इति सम्बन्धः।। का माया? इत्याकांक्षायामाह—शयान इति। यया मायया शयान आवृतः पुरुषो नानोपाधिषु वसनशीलश्च अयमात्मा व्यवह्रियते— इत्यर्थः।।११६९।। तया पुरुषतां गतस्य संसारं

जो साधक पुरुष उक्त प्रकार से आत्मा को न समझ सके वह बुद्धिमान् इस तरह अनुसन्धान करे:।।११६५।।

समझदार को चाहिये कि अपने शरीरसंघात को अधरारणि समझे और तीन मात्राओं वाले प्रणव को ऊर्ध्वारणि समझे। (यज्ञार्थ वह्नि उत्पादक काष्ठ-यन्त्र अरणि होता है जिसमें एक अंग नीचे व दूसरा उस पर स्थापित कर दोनों आपस में रगड़े जाते हैं जिससे चिनगारी निकलती है।) मंथन करने वाला दण्ड मन को समझे और ध्यानक्रिया को वह रस्सी समझे जिससे मंथन किया जाता है। ध्यान की आवृत्ति ही यहाँ मंथन है जिससे आनंदात्मा रूप वह्नि प्रकट होती है। वह अखण्डानुभव एक बार भी उत्पन्न हो जाये तो कामना आदि प्रसिद्ध सब पाशों को भस्मसात् कर देता है। पाश जल जाने पर अद्वितीय अखण्ड आत्मतत्त्व ही रह जाता है।।११६६-८।।

---

१. 'आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पाशं दहति पण्डितः।।'११।।

२. 'स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम। स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत्परितृप्तिमेति।। स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पितजीवलोके। सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति। पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः। पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम्। आधारमानन्दमखण्डबोधं यस्मिँल्लयं याति पुरत्रयं च।। एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथिवी विश्वस्य धारिणी।।'१२-१५।।

जीवनं प्राप्य कर्माणि कुरुते विविधानि हि। कृत्वा च फलमात्माऽयं भुंक्ते जीवः कृतं स्वयम् ।।११७०
स्वप्ने जागरणे देहान् गृह्णन् नानाविधानपि। तृप्तिं च विविधैर्भोगैर्याति तृप्तिविवर्जितः। ।११७१
सुषुप्तो मूर्च्छितो भूत्वा विक्षेपेण विवर्जितः। आनन्दं स्वात्मनस्तावद् भुञ्जानोऽपि न वेत्त्ययम्। ।११७२
मन्त्रौषधैर्यथा मूढ आत्मानं नैव वेत्ति हि। माययैवं विमूढोऽयं वेत्ति किञ्चिन्न संसृतौ। ।११७३
निर्दोषोऽपि यथा कश्चिद् दोषवानिव सङ्गतः। मायासङ्गात्तथा जीवः संसारीव प्रतीयते। ।११७४
रूपशून्ये यथाऽऽकाशे रूपं वेत्ति विमोहितः। मायाशून्ये तथा जीवे माया भातीव मायया। ।११७५

दर्शयति—जीवनमिति। ययेत्यनुषङ्गः। जीवनं प्राणधारणं प्राप्य कर्मणां कर्ता तत्फलानां भोक्ता च भवतीत्यर्थः। ।११७०।। तया प्रयुक्तमवस्थात्रयं च भुंक्त इत्याह—स्वप्न इति। स्वप्नावस्थायां जाग्रदवस्थायां च नानाविधदेहान् गृह्णन् संस्तत्तज्जातिगतैर्भोगैस्तृप्तिं च याति। कीदृशः? तृप्तिवर्जितः वस्तुत आगन्तुकतृप्तिरहितो नित्यतृप्तब्रह्मरूपत्वाद् इत्यर्थः। ।११७१ सुषुप्त इति। स एव तमसा मूर्च्छासमां सुप्तिं गतः सन् विक्षेपलक्षणप्रतिबन्धापायेन स्फुरन्तं स्वरूपानन्दं भुञ्जानोऽपि 'मया स्वरूपानन्दो भुक्त' इति न जानातीत्यर्थः। ।११७२।।

तत्र सर्वत्र हेतुर्मूलाऽज्ञानमेवेति सदृष्टान्तमाह—मन्त्रौषधैरिति। यथा मन्त्रौषधादिभिः स्वरूपविस्मृतिः प्रसिद्धातथा संसृतौसांसारिकसर्वावस्थासुआत्मनःस्वरूपविस्मृतिरित्यर्थः। ।११७३।।नकेवलं स्वतत्त्वविस्मृतिर्मायाप्रयुक्ता किन्तु सकलः संसारोऽपीत्याह—निर्दोष इति। यथा निर्दोषस्याऽपि चोरादिसङ्गाद् बन्धादिकं भवेत् तथाऽस्यात्मनः संसारोऽपि मायासङ्गादित्यर्थः। ।११७४।। सा च माया संसारस्येव स्वस्यापि कल्पिका। न चात्माश्रयः, अनादित्वात्; तदुक्तं 'मायायामेव चासित्वा मायाऽस्तीति प्रकल्प्यते। ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं नासीदस्ति भविष्यति।।'[1] इति। तदेतत् स्मारयन्नाह—रूपेति। आकाशे रूपम् इव मायाऽप्यात्मनि कल्पिता भातीव मिथ्याभूतां कल्पनां याति। तत्र च मायाकल्पने मायैव प्रयोजिकेत्यर्थः। ।११७५।। मिथ्याभूतमोहप्रयोजकत्वं मायाया निद्रादृष्टान्तेन

स्वात्मा की ब्रह्मरूपता के उक्त विज्ञानरूप अग्नि से पाश जलाने वाला अधिकारी जीव ही वास्तव में केवल ब्रह्मरूप है। अद्वितीय ब्रह्म होने पर भी स्वयं को अपने बारे में जो अज्ञान है, जिसे माया आदि शब्दों से कहा जाता है, उससे ढका होने के कारण ही स्वयं को जीव समझ रहा है। व्यापक सच्चिदानन्द खुद को नाना उपाधियों में परिच्छिन्न समझ रहा है, यह ग़लत समझ जिस कारण से है वही माया है। ।११६९।। उसीसे आत्मा प्राणधारी बनकर अच्छे-बुरे कर्मों का कर्त्ता और उनके प्रिय-अप्रिय फलों का भोक्ता बन जाता है। स्वप्न व जाग्रत् में वह प्राणधारी नानाविध शरीर ग्रहण करते हुए विविध भोगों से तृप्त होता लगता है किन्तु वस्तुतः वह भोगों के कारण तृप्त होता नहीं वरन् तृप्त वह स्वरूप से ही है; भोग तो पहले अतृप्ति पैदा करते फिर उसे मिटाते हैं जिससे भ्रम होता है कि तृप्ति में भोगों का विनियोग है जबकि बात उलटी है। सुषुप्तिरूप मूर्छा में जीव विक्षेपरहित होकर स्वात्मा के आनंद का भोग करता है किंतु तब तमोगुण का साम्राज्य होने से 'मैं स्वरूपानंद भोग रहा हूँ' यह स्फुट अनुभव नहीं कर पाता। ।११७०-२।।

मंत्र, दवा आदि से मुग्ध व्यक्ति जैसे स्वयं को सही नहीं जानता वैसे ही माया से मूढ बना जीव सांसारिक सभी अवस्थाओं में आत्मस्वरूप भुलाये ही रहता है। निर्दोष पुरुष भी सदोषों के संग से सदोष जैसा ही माना जाता है; चोरों का संग करने वाला न चोर हो तो भी पकड़ा जाता ही है। इसी तरह आत्मा निर्दोष है पर माया के संग से जीव बनकर संसरण करता-सा लगता है। ।११७३-४।। नीरूप आकाश में जैसे बालकादि तल-मलिनता आदि का अध्यास कर लेते हैं वैसे ही मायारहित जीव में माया से ही लगता है मानो माया हो! ('मैं अज्ञ हूँ' यह प्रतीति मायिक

१. 'नाऽविद्याऽस्येत्यविद्यायामेवाऽऽसित्वा प्रकल्प्यते। ब्रह्मदृष्ट्या..' इत्यादि बृहदारण्यकसम्बन्धवार्तिकम् श्लोक.१७६।

विद्वानपि यथा मोहं स्वप्ने गच्छत्यमूढधीः। एवमात्माऽपि संसारे मोहं गच्छत्यमोहितः।।११७६
शयानः पुरुषो दुःखं यावन्निद्राक्षयं व्रजेत्। यथा तथाऽत्र जीवोऽपि यावन्मायाक्षयं व्रजेत्।।११७७

गुरुकृपा

यथा प्रबोधयेत् कश्चित् शयानं करुणावृतः। रुदन्तं बहुहिक्कादिमुञ्चन्तं बहुदुःखितम्।।११७८
गुरुस्तथा कृपाविष्टः संसारस्वप्नपीडितम्। तापत्रययुतं कञ्चिद् बोधयेत् करुणावृतः।।११७९
प्रतिबुद्धो यथा स्वाप्नं नरो दुःखं न पश्यति। प्रतिबुद्धस्तथा जीवो नैतद् दुःखं प्रपश्यति।।११८०
जीवस्य प्रतिबोधो यो जायते भाग्ययोगतः।साऽवस्था दुर्लभा[1] नृणां चतुर्थी कस्यचिद् भवेत्।११८१
स्थूलं सूक्ष्मं तथाऽज्ञानं पुरत्रयमुदीरितम्। जीवस्य तत्तुरीयाप्तौ नाशमेति न चाऽन्यथा।।११८२
मारं मारं च गृह्णीते स्थूलं देहं सदैव सः। कर्मानुसारतस्तद्वद् ग्राहं ग्राहं जहाति च।।११८३

स्फुटयति—विद्वानपीति। यथा विद्वान् पण्डितः सर्वशास्त्राऽर्थबोधेन अमूढधीः अपि निद्रादोषेण मोहं गच्छति तथाऽयं माययेत्यर्थः।।११७६।। विक्षेपे दृष्टान्तमाह—शयान इति। यथा सुप्तः पुरुषो निद्राक्षयपर्यन्तं दुःखं स्वाप्निकविक्षेपं गच्छति तथाऽऽत्माऽपि मायापर्यन्तं सांसारिकदुःखं यातीत्यर्थः।।११७७।।

तस्याश्च मायानिद्रायाः क्षयः करुणातन्त्रगुरूपदेशरूपभेरीशब्देन भवतीति सदृष्टान्तमाह—यथेति द्वाभ्याम्। यथा कश्चित् सुप्तं स्वप्ने विकृतं दृष्ट्वा दुःखेन रुदन्तम् अत एव हिक्काशब्दसदृशं रोदनशब्दं मुञ्चन्तं करुणया बोधयेत् तथा गुरुः अपि मायया निद्रया संसारदुःखमनुभवन्तम्। इति द्वयोरर्थः।।११७८-९।। यथा दृष्टान्ते प्रतिबोधमात्रेण सर्वदुःखनाशः तथाऽत्राऽऽत्मबोधेऽपीत्याह—प्रतिबुद्ध इति। स्वाप्नं स्वप्नसम्बन्धि। एतत् सांसारिकम्।।११८०।।

सा प्रबोधावस्था तुरीयावस्थेत्युच्यत इत्याह—जीवस्येति। स्पष्टम्।।११८१।। अस्याः किमपेक्षया तुरीयत्वमत आह—स्थूलमिति। क्रमेण स्थूलाद्यभिमानरूपम् अवस्थात्रयं जीवविहारस्थानत्वेन पुरत्रयम् इत्युक्तं प्रबोधे नश्यतीत्यतः तदपेक्षया तुरीयत्वं युक्तमिति भावः।।११८२।। तुरीयाप्तेः पूर्वं पुरत्रये क्रीडाम् अभिनयति—मारं मारमिति त्रिभिः। पुनः पुनः मरणेन शरीरग्रहणं पुनः पुनः ग्रहणपूर्वकं तत्त्यागं च कुर्वता जन्माद्यवस्थानां यत् परिशीलनं तदेव पुरत्रये भ्रमणम्। इति द्वयोरर्थः।।११८३-४।। इदं भ्रमणमज्ञाने सति है। माया संसार को ही नहीं खुद को भी आत्मा में प्रतीत कराती है।) जो विद्वान् सारे शास्त्रार्थ को जानता है वह भी स्वप्नावस्था में मोहग्रस्त प्रतीत होता ही है। इसी तरह अमोहित आत्मा भी संसार में मोह को प्राप्त हुआ लग ही रहा है। सपना देखता पुरुष जब तक जग न जाये तब तक स्वप्नदुःख भोगता ही है; जीव भी माया के क्षयपर्यन्त संसार दुःख भोगता ही है।।११७५-७।।

सोया व्यक्ति भयानक सपना देखे तो रोने लगता है, उसके स्थूल शरीर में भी रोना दीखता है, हिचकियाँ बँध जाती हैं, बड़ा दुःखी होता है। कोई करुणावान् सज्जन उसे तब जगा दे तो उसका सारा दुःख तत्क्षण निवृत्त हो जाता है। जीव भी संसाररूप स्वप्न में पीडाग्रस्त है, त्रिताप से संतप्त है। कृपा की प्रेरणा से ही कोई श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु उसे उपनिषद्वाक्यों द्वारा प्रबोधित करे तभी उसका दुःख समूल दूर हो सकता है।।११७८-९।।

जगकर जैसे स्वाप्नपीडा तुरंत समाप्त हो जाती है वैसे जीव प्रतिबोध पाते ही दुःखों से अतीत हो जाता है। जीव को यह प्रतिबोध सौभाग्य से ही प्राप्त होता है। 'चौथी' कही जाने वाली यह अवस्था नरों के लिये दुर्लभ है, किसी-किसी को ही मिलती है। स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह, अज्ञान (कारणशरीर)—ये जीव के तीन 'पुर' कहे गये हैं। इनसे जो चौथा अधिष्ठान है उसी के ज्ञान से ये तीनों नष्ट होते हैं; अन्य किसी तरह नहीं। जीव अपने कर्मों के अनुसार एक-एक

१. दौर्लभ्योक्तिः सर्वप्रयत्नेन प्राप्तुं प्रेरणायै, न तु जीवबहुत्वाभिप्रायेणेति द्रष्टव्यम्।

जातो बालो युवा वृद्धो मृतो जातः पुनस्तथा। बम्भ्रमीत्येष संसारे घटीयन्त्रसमोऽवशः।।११८४

उच्चावचान् अयं देहान् आत्मज्ञानविवर्जितः।प्राप्नोत्येवानुभोगान्ते नाशमेति पुनः पुमान्।।११८५

तुरीयं प्राप्यते रूपं यज्जीवेनात्मनः सदा। आधारभूतं निर्देश्यमानन्दात्मस्वयम्प्रभम्।।११८६

सर्वस्य जगतो हेतुं कार्यकारणवर्जितम्। एतस्माज्जायते प्राणो मनः कर्मेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापो वै भूमिर्विश्वस्य धारिणी।।११८७

महावाक्यम्

एततुरीयं गुरव एवमात्मतया सदा। आदिशन्ति महात्मानः शिष्यान् विगतकल्मषान्।।११८८

यत्परं ब्रह्म सर्वात्म विश्वस्यायतनं महत्। सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं नित्यं तदेव त्वं त्वमेव तत्।।११८९

अवश्यं भवतीत्याह—उच्चावचान् इति। अज्ञो नाना देहान् प्राप्नोत्येव। अनु—अस्यैव विवरणम्—भोगान्त इति; प्रारब्धभोगान्ते नाशं मरणम् एति एव चेत्यर्थः।।११८५।।

एवं वर्णितस्य त्वम्पदार्थस्य तत्पदार्थे पर्यवसानं दर्शयति—तुरीयमिति द्वाभ्याम्। यज्जीवेन तुरीयं स्वरूपं प्राप्यते तत् स्वरूपं जगदाधारत्वेन निर्देश्यं प्रतिपाद्यं श्रुतिभिः। अत एव स्वयम्प्रकाशानन्दरूपम् अद्वितीयत्वात्।।११८६।। अद्वितीयत्वस्फुटीकाराय तस्य जगदुपादानतामाह—सर्वस्येति। कार्याणां कारणैरुपकरणादिभिः वर्जितं, सहकार्यनपेक्षमिति यावत्। एतस्मात् तुरीयरूपादेव प्राणादिकं जायत इत्यर्थः।।११८७।।

'यत् परम्' इत्यादिऋक्त्रयं[1] शोधितपदार्थकं शिष्यं प्रति पदार्थयोरैक्योपदेशरूपत्वाद् महावाक्यस्थानीयमिति दर्शयन्नाह—एतदिति। एतत् पदार्थविधयोक्तम् आदिशन्ति वाक्यार्थविधया प्रतिपादयन्तीति।।११८८।। तदेव पठति—यत् परमितित्रिभिः। यत् परं ब्रह्म कीदृशम्? सर्वरूपं विश्वाधारत्वेन, महत् परिच्छेदातीतं, दुर्लक्ष्यं च, तदेव सर्वान्तरं ते स्वरूपं, यच्च ते स्वरूपं तेदव तद् ब्रह्मणः स्वरूपमित्यर्थः।।११८९।। एतत्स्फुटयन्फलमाह—जाग्रदिति।

स्थूलदेह को मार-मार कर अगला-अगला स्थूल देह ग्रहण करता ही रहता है। हर ग्रहण किये देह को छोड़ता अवश्य है। पैदा होकर बाल-युवा-वृद्ध होता है फिर मरकर अन्यत्र पैदा हो जाता है ! रेहट की तरह यों संसार में लगातार जीव बेबस हुआ भटक रहा है। आत्मबोध से वंचित रहते यह ऊँचे-नीचे शरीर पाता है और उनमें कर्मानुसार मिले भोग समाप्त होने पर पुनः मर जाता है।।११८०-५।।

जीव आत्मा के जिस 'चौथे' रूप को शास्त्रादि के अनुसार समझता है उसे श्रुतियाँ नित्य, जगत् का आधार, स्वप्रकाश आनंदात्मा बताती हैं। वही सारे जगत् का हेतु है, जगत्-उत्पादन में वह किसी उपकरण पर निर्भर नहीं। (माया भी उससे स्वतंत्र कुछ नहीं कि उससे अतिरिक्त कोई उपकरण उसे माना जाये।) प्राण, मन, इंद्रियाँ, महाभूत; सारा द्वैत प्रपंच इस 'चौथे' से ही उत्पन्न होता है।।११८६-७।।

(शोधित तत्-त्वम् अर्थों का अभेद बताने वाले वाक्य ही महावाक्य हैं। कैवल्योपनिषत् में 'तत्त्वमेव त्वमेव तत्' यह स्पष्ट महावाक्य है। इसे स्पष्ट करते हैं—) पद के अर्थ रूप से कहे इस 'चौथे' का ही वाक्य के अर्थ रूप से उपदेश महात्मा गुरुजन उन शिष्यों के लिये करते हैं जिनके बुद्धिदोष मिट चुके हैं। (तत्-त्वम् पदों के, शब्दों के अर्थ का वर्णन करने से अवस्थादि त्रय में अनुस्यूत अतः चौथा आत्मा समझ आता है। वास्तव में वह चौथा नहीं क्योंकि जिन तीन

१. 'यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्। सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत्।। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते। तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते।। त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्। तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः।।'१६-१८।।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यप्रपञ्चं यत् प्रकाशते। तद्ब्रह्माऽहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते।।११६०
त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यो भवेत्। तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं
सदा शिवः।।११६१

प्राप्त आत्मा

एवं सद्गुरुणादिष्टमात्मानं प्रतिपद्यते। अणोरणुतमं तद्वद् महतोऽपि महत्तरम्।।११६२
मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्। मयि सर्वं लयं याति विश्वमेतच्चराचरम्।।
सर्वभेदविनिर्मुक्तं तद् ब्रह्माऽद्वयमस्म्यहम्।।११६३
विश्वरूपं पुराणं च पुरुषं तेजसां निधिम्। इन्द्रियैः सकलैः शून्यं ज्ञानकर्मद्वयात्मकैः।।११६४

जाग्रदादिप्रपञ्चं यत् प्रकाशते प्रकाशयति तत् चैतन्यं ब्रह्म एव, यच्च ब्रह्म तद् अहम् इति ज्ञानात् समूलं बन्धध्वंस इत्यर्थः।।११६०।। चैतन्यस्य मायया प्रपञ्चरूपत्वेऽपि वस्तुतः शुद्धबुद्धमुक्तादिस्वभावतामाह—त्रिष्विति। एवं जानीहि इति शेषः।। 'एवं' कथम्? त्रिषु धामसु जाग्रदाद्यवस्थासु यद् भोग्यं स्थूलं सूक्ष्ममानन्दश्च, भोक्ता विश्ववैश्वानरादिसंज्ञो, भोगः तदाकारवृत्तिलक्षणः तेभ्यो मलिनादिरूपेभ्यः शुद्धादिरूपेण विलक्षणोऽहं चिदेकरूपः सदा सर्वदा शिवः तुरीय एवाऽस्मि इति।।११६१।।

एवमुपदिष्टस्याऽधिकारिणो मननाभिनयपरं 'मय्येवे'त्याद्यृक्चतुष्टयम् अर्थतः संगृह्णाति-एवं सद्गुरुणेति षड्भिः। सद्गुरुणाऽऽदिष्ट उपदिष्टः शिष्योऽतिदुर्लक्ष्यं परिपूर्णं च आत्मानम् एवं प्रतिपद्यते मनुत इत्यर्थः।।११६२।। 'एवं' कथम्? इत्याकांक्षायामाह—मय्येवेत्यादिना।[1]स्पष्टम्।।११६३।। विश्वरूपमिति। द्वितीयान्तानां 'मां वदन्ति श्रुतयः' इति शेषेण सम्बन्धः। ज्ञानकर्मलक्षणव्यापारभेदेन द्व्यात्मकैः द्विविधैः इन्द्रियैः तद्वत् प्राणादिभिश्च शून्यम् इति सम्बन्धः। निगदव्याख्यातमन्यत् त्रिषु।।११६४-६।। प्रपञ्चवर्जितत्व उपपत्तिमाह—भूतेति द्वाभ्याम्। यतः

की अपेक्षा उसे चौथा समझते हैं वे तीन ही वास्तव में हैं नहीं; यह बात शब्द से नहीं वाक्य से ही समझ आ सकती है क्योंकि नवीन ज्ञान वाक्य से ही मिल सकता है, शब्द से नहीं।)।।११८८।। विश्व का आधार, परिच्छेद से अतीत, अत्यंत सूक्ष्म, सदा एकरूप सर्वात्मा जो परब्रह्म, वही तू (जीव) है, तू ही वह है। (दोनों तरह कह देने से अत्यंत अभेद ही इस वाक्य का अभिप्राय है यह निर्णीत माना जाता है।)।।११८९।। 'जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति नामक प्रपंच को जो प्रकाशित करता है वह चैतन्य ब्रह्म ही है और वह ब्रह्म मैं ही हूँ' यह जानकर आत्मा सारे बंधन से समूल छूट जाता है। जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं में जो क्रमशः स्थूल-सूक्ष्म-आनंदरूप भोग्य हैं, जो विश्व-तैजस-प्राज्ञरूप भोक्ता हैं और जो भोग हैं अर्थात् तत्तद् आकारों की साभास वृत्तियाँ हैं, उन सभी से—भोग्य-भोक्ता-भोगों से—मैं आत्मा विलक्षण हूँ क्योंकि वे मलिनादि हैं जबकि मैं शुद्ध ही हूँ; मैं उनका साक्षी हूँ; साक्षिता भी व्यवहार के लिये है, मैं तो केवल चिद्धातु हूँ; हमेशा ही शिव हूँ।।११६०-१।।

अणु से अधिक अणु और महान् रूप से समझे पदार्थों की अपेक्षा अधिक महान् जिस आत्मा का सद्गुरु उपदेश देते हैं उसे अधिकारी यों समझता है : सारा सांश संसार मुझ में ही पैदा हुआ है, मुझ में ही सब प्रतिष्ठित है, मुझ में ही यह चराचर विश्व लीन होता है। मैं ही वह ब्रह्म हूँ जो सभी भेदों से रहित है।।११६२-३।। मुझे ही श्रुतियाँ इस तरह का बताती हैं—सर्वरूप, प्राचीन, पूर्ण, ज्ञानरूप, ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेंद्रियों से रहित, प्राण-बुद्धि आदि से रहित, भगवान्, महेश्वर, सर्वज्ञ, द्वैत से—दोपने से—रहित, मन-वाणी का अविषय, अनेक वेदों द्वारा आवेदित, वेदान्तों के अर्थ का प्रकाशक, सब विद्याओं का गुरु, स्वप्रकाश, प्रपंच से विवर्जित।।११६४-६।।

१. उपनिषदि 'तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्' इति चतुर्थपादः। ततः 'अणोरणीयान्' इत्यादिना 'निष्कलमद्वितीयम्' इत्यन्तेन मनननिदिध्यासनप्रकारः प्रादर्शि।

प्राणबुद्ध्यादिभिस्तद्वद् भगवन्तं महेश्वरम्। सर्वज्ञं द्वैतरहितमवाङ्मनसगोचरम्।।११९५
वेदैरनेकैः संवेद्यं वेदान्तार्थप्रकाशकम्। सर्वविद्यागुरुं देवं प्रपञ्चेन विवर्जितम्।।११९६
भूतभौतिकरूपोऽयं मायया सहितोऽपि च। आनन्दात्मनि निर्द्वैते यतोऽध्यस्तोऽखिलोऽपि च।।११९७
गन्धर्वनगरं यद्वद् अध्यस्तं गगनेऽमले। ततो न कोऽपि भेदोऽत्र भूतो भवति भाव्यपि।।११९८
एवं ज्ञात्वा परं रूपमानन्दात्मानमद्वयम्। सर्वबुद्धिस्थितं सर्वबुद्धिसाक्षिणमीश्वरम्।।
प्रयाति पुरुषः शुद्धं नित्यं सदसतः परम्।।११९९

उपायः

सगुणं ब्रह्म चेज्ज्ञातुं निर्गुणं च न शक्नुयात्। पुरुषो न तदा न्यासं कुर्वीताशुद्धमानसः।।१२००
किन्तु नित्यं जपेदेतं रुद्राध्यायमनिन्दितम्। सर्वपापहरं यस्माज्जपो नान्योऽधिकोऽस्ति हि।।१२०१
स जपाच्छुद्धहृदयो वैराग्यं परमं गतः। उपायैर्वाऽपि पूर्वोक्तैश्चतुर्थाश्रममाव्रजेत्।।१२०२
तत्राऽपि यावन्नैव स्यात् साक्षात्कारः परात्मनः। रुद्राध्यायं जपंस्तावद् उमानाथं विचिन्तयेत्।।१२०३

सर्वः प्रपञ्चः आकाशे गन्धर्वनगरवद् मयि अध्यस्तः ततो मयि वस्तुतः कोऽपि भेदः कालत्रयेऽपि नास्तीति तदर्थः।।११९७-८।।

फलवाक्यार्थमाह[1]—एवमिति। तथा च श्रुत्यन्तरं 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'(मुं.३.२.७) इति।।११९९

उक्तविज्ञानाऽशक्तस्य अन्तःकरणशुद्ध्युपायमाह—सगुणमिति। सगुणम् उमासहायलक्षणं निर्गुणम् अद्वयादिलक्षणं वा ज्ञातुं साक्षात्कर्तुं न शक्तो भवेत्तदा झटिति साक्षात्कारकामनया संन्यासं न कुर्यात् किन्तु चित्तशुद्धये यतेत।

चित्तशुद्धिसाधनानां मध्ये 'नमस्त' इत्यादिरुद्राध्यायपाठसमं नास्तीत्यर्थः।।१२००-१।। वैराग्यातिशयलक्षणचित्तशुद्धिदार्ढ्ये सति संन्यसेदित्याह—स जपादिति।।१२०२।। तत्रापीति। तत्र संन्यासग्रहणेऽपि यावत् साक्षात्कारो न भवति तावद् उमानाथध्यानम् उक्तजपसहितमवश्यं कुर्याद् इत्यर्थः।।१२०३।।

जैसे निर्मल गगन में गंधर्वनगर अध्यस्त होता है ऐसे निर्द्वैत आनंदात्मा में माया समेत यह सारा भूत-भौतिक प्रपंच क्योंकि अध्यस्त है इसलिये मुझ आत्मा में कोई भी भेद न था, न है, न हो सकता है। सब बुद्धियों में स्थित, सब बुद्धियों के साक्षी, ईश्वर, अद्वय, आनंदात्मा, परम स्वरूप को उक्त ढंग से (प्रमाणपूर्वक प्रत्यग्रूप से) जानकर पुरुष उस नित्य शुद्ध को पा जाता है जो कार्य-कारण से परे है।।११९७-९।।

सगुण या निर्गुण ब्रह्म के ध्यान या ज्ञान में जो अशक्त हो वह अशुद्ध मन वाला पुरुष सर्वकर्मसंन्यास न करे। उसे चित्तशोधन के लिये यत्नशील रहना चाहिये। इसमें अत्यंत सामर्थ्यवान् उपाय है अनिंदित रुद्राध्याय का प्रतिदिन जप करना। रुद्रजप सब पाप हर लेता है। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण कोई जप नहीं है। जप के प्रभाव से हृदय शुद्ध हो जाने पर परम वैराग्य उपजता है। अन्य भी पूर्वदर्शित उपायों से साधक जब मन में तीव्र वैराग्य महसूस करे तब चौथा आश्रम ग्रहण करे। संन्यासी बनकर भी जब तक परमात्मा का साक्षात्कार न मिले तब तक रुद्राध्याय का जप और उमानाथ का चिंतन लगातार करते रहना चाहिये।।१२००-३।।

१. 'समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम्' इति।।

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं चतुर्भुजं नीलकण्ठं प्रशान्तम्। ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्।।१२०४

यथाकालं हि वेदान्तश्रवणादीनि सर्वदा। कुर्वीत च गुरोर्भक्तिं परमास्तिक्यमाश्रितः।।१२०५

एवं हि कुर्वतो नित्यं यतेरत्र प्रबोधनम्। ब्रह्मोपनिषदाद्युक्तं जायते यदिहेरितम्।।१२०६

उत्तराकांक्षयोपसंहारः

श्वेतकेतुर्हि सर्वज्ञो यतीनां प्रथमो हि सः। विज्ञातवान् परं तत्त्वमात्मोपनिषदाऽपि हि।।१२०७

तस्मादात्मैष विज्ञेयः परहंसेन सर्वदा। अस्य मुख्योऽयमाचारो जघन्योऽन्यः प्रकीर्तितः।।१२०८

इति ते कथितं सर्वं पृष्टं यद्धि त्वयाऽधुना। परहंसाश्रमे भूयः किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि।।१२०९

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादशिष्येण शङ्करानन्दभगवता विरचित उपनिषद्रत्न आत्मपुराणे गर्भाद्युपनिषत्सारार्थप्रकाशो नाम एकादशोऽध्यायः समाप्तः।।११।।

उमानाथध्यानस्य साक्षात्कारद्वारा मोक्षसाधनताप्रतिपादिकां श्रुतिं (कैव.७) पठति। उमेति। भूतयोनिं सर्वोपादानत्वेन अद्वयं, समस्तसाक्षिरूपेण सर्वान्तरं च; श्रुतौ नकारलोपश्छान्दसः; तमसो मूलाज्ञानात् परं चेति।।१२०४।। यथाकालमिति। आस्तिक्यं श्रद्धाम्।।१२०५।। एवमिति। ब्रह्मोपनिषत्प्रभृतिभिरुपदिष्टमत्राध्याये प्रदर्शितं ज्ञानमुक्तोपायैः शुद्धान्तःकरणस्य जायत इत्यर्थः।।१२०६।।

उत्तराकांक्षामुत्थापयन् श्वेतकेतुरत्रोक्तविधसंन्यासेन आत्मलाभनिदर्शनभूत इत्याह—श्वेतेति। हि जाबालेऽपि प्रसिद्धः। आत्मोपनिषदा आत्मतत्त्वप्रतिपादिकया उपनिषदा छान्दोग्यषष्ठाध्यायरूपया अपिशब्दाद् उक्तसाधनैश्च आवश्यकैः परं तत्त्वं ज्ञातवानित्यर्थः।।१२०७।। तस्मादिति। अस्य परमहंसस्य अयं ज्ञाननिष्ठारूप आचारो मुख्य आवश्यकः अन्य एतद्विरुद्धस्तु जघन्यः अपकृष्टत्वाद् हेय इत्यर्थः।।१२०८।। उपसंहरति— इति त इति।।१२०९।।

उत्तीर्याम्बुधिमादग्धासुरपत्तनरोचिषे। प्रमोदिताधिनाथाय नमो मारुतसूनवे।।

इति श्रीदत्तकुलतिलककृष्णचन्द्रात्मज-दिलारामसूरितनूज-रामकृष्णस्य श्रीविश्वेश्वराश्रमपूज्यपादानुगृहीतस्य कृतावात्मपुराणटीकायां सत्प्रसवाख्यायाम् एकादशोऽध्यायः समाप्तः।।११।।

उमा जिनकी सहायक हैं, जो सर्वथा स्वतंत्र नियामक हैं, सत्तामात्र से प्रशासन करते हैं, चार भुजाओं वाले हैं, नीले कंठ वाले हैं, स्वरूप से शांत व अशांति के कारण से भी रहित हैं, सबके उपादान हैं, सबके साक्षी सर्वान्तर हैं, मूलाज्ञान से परे हैं, उनका ध्यान कर मुनि उन्हीं को प्राप्त कर लेता है।।१२०४।। पूर्ण श्रद्धा का सहारा लेकर गुरु की भक्ति और सर्वदा वेदांतों का श्रवणादि करता रहे यह मुमुक्षु का कर्तव्य है। यदि गैरसंन्यासी होने से कोई कर्तव्य है तो जितना समय मिले उतने समय वेदान्तचिंतन करे ही। संन्यासी तो शरीरयात्र के लिये भिक्षाटनादि से जो भी समय बचे वह सारा समय श्रवणादि में लगाये। यों हमेशा करता रहता है तो यति को इसी जन्म में वह प्रबोध मिल जाता है जो ब्रह्मोपनिषदादि और पुराण के इस अध्याय में बताया गया है।।१२०५-६।।

सर्वज्ञ श्वेतकेतु यतियों में प्रथमगण्य था, उसने आत्मविषयक उपनिषत् से तथा अन्य आवश्यक साधनों से आत्मतत्त्व को जाना था।।१२०७।। परमहंस का मुख्य आचार होने से उसे हमेशा इस आत्मा का विज्ञान प्राप्त कर लेना ही उचित है। विज्ञानलाभ से अन्य जो कोई आचार परमहंस के लिये बताया वह इसकी अपेक्षा गौण है और यदि इसका विरोधी बने तो त्याज्य ही है।।१२०८।।

हे शिष्य! परमहंसाश्रम के विषय में तूने जो कुछ पूछा था वह मैंने सब बता दिया। अब और क्या सुनना चाहता है?।।१२०९।।

।। ग्यारहवाँ अध्याय संपूर्ण।।